भारत की सम्पदा

प्राकृतिक पदार्थ

द्वितीय खण्ड : क



पब्लिकेशंस एण्ड इन्फार्मेशन डाइरेक्टोरेट, हिलसाइड रोड
नई दिल्ली — 12
1972

वैज्ञानिक एवं औद्योगिक अनुसंधान परिषद्, नई दिल्ली द्वारा प्रकाशित
एवं कथोलिक प्रेस, राँची (बिहार) द्वारा मुद्रित

प्राक्कथन

'भारत की सम्पदा: प्राकृतिक पदार्थ' का प्रथम खण्ड हमने अगस्त 1971 में आपको भेंट किया था. अब इसका द्वितीय खण्ड आपके समक्ष प्रस्तुत है. प्रथम खण्ड में **'अ'** से लेकर **'औ'** तक के अक्षरों से प्रारम्भ होने वाले समस्त शीर्षकों की सामग्री भेंट की गयी थी. इस खण्ड में इससे आगे के **'क'** से प्रारम्भ होने वाले समस्त शीर्षकों की सामग्री संकलित है. इस खण्ड में कुल 446 पृष्ठ हैं जिनमें 650 शीर्षकों के अन्तर्गत 93 वंशों और 450 जातियों का वर्णन हुआ है. इसमें 14 फलक हैं जिनमें कुछ रंगीन हैं तथा 110 अन्य सादे चित्र हैं.

हम वैज्ञानिक एवं औद्योगिक अनुसंधान परिषद् के भूतपूर्व महानिदेशक डा. आत्माराम के आभारी हैं जिनके आग्रह पर हिन्दी संस्करण का यह कार्य इस परिषद् ने लिया. हम इस परिषद् के अपने वर्तमान महानिदेशक डा. येलवर्ति नायडुम्मा के परम् अनुगृहीत हैं, जिनके प्रोत्साहन और निदेशन में यह कार्य हम अब सम्पन्न कर रहे हैं. अंग्रेज़ी संस्करण के भूतपूर्व प्रधान सम्पादक श्री ए. कृष्णमूर्ति एवं वर्तमान प्रधान सम्पादक श्री योगराज चड्ढा के हम विशेष आभारी हैं, जिनसे हमें इस हिन्दी संस्करण के सम्पादन और प्रकाशन में सदा सहयोग मिलता रहा. सम्पादक मंडल के अन्य सदस्यों के भी हम अनुगृहीत हैं जिन्होंने समय-समय पर हमें उचित परामर्श दिये और प्रकाशन कार्य में विशेष रुचि ली. हम श्री आर. एस. चक्रवर्ती, श्रीमती के. रामाचन्द्रन और श्री टी. सी. एस. शास्त्री के विशेष आभारी हैं जिन्होंने विभिन्न वानस्पतिक नामों के प्रचलित तमिल, तेलगू, कन्नड़ और मलयालम नामों के उच्चारण में हमारी सहायता की. मुद्रण में भरपूर सहयोग के लिए हम कैथोलिक प्रेस, राँची, के आभारी हैं. अन्त में हम सभी सम्पादन सहयोगियों के कृतज्ञ हैं जिन्होंने इस खण्ड के प्रकाशन में सहयोग दिया है.

आशा है कि प्रथम खण्ड की भाँति इस खण्ड का भी विज्ञान-जगत में अच्छा स्वागत होगा और अगले खण्ड भी शीघ्र प्रकाशित होंगे.

स्वामी डा. सत्य प्रकाश
अध्यक्ष
सम्पादक मण्डल एवं प्रधान सम्पादक

विजयादशमी
अक्टूबर 17, 1972

इस खण्ड के अनुवादक

श्री अजित नारायण महरोत्रा, डी-1/45 लोहारी टोला, वाराणसी-1

श्री आत्माराम भट्ट, ग्राम–तुसराड, डाकखाना–ओखल कांडा, जिला–नैनीताल (उ. प्र.)

डा. उजागिर सिंह, रसायन विभाग, गोरखपुर विश्वविद्यालय, गोरखपुर (उ. प्र.)

डा. ओम प्रभात अग्रवाल, रसायन विभाग, कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय, कुरुक्षेत्र (हरियाणा)

श्री ओ. पी. अग्रवाल, ए–2/23 राजौरी गार्डन, नई दिल्ली-27

श्री कमलाप्रसाद श्रीवास्तव, विज्ञान तथा कृषि अध्यापक, केन्द्रीय हिन्दी स्कूल, कमच्छा, वाराणसी (उ. प्र.)

डा. कृपा नारायण सक्सेना, अनुसंधान अधिकारी, वैज्ञानिक एवं तकनीकी शब्दावली आयोग (शिक्षा मंत्रालय), नई दिल्ली

डा. श्रीमती कृष्णा मिश्रा, रसायन विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद (उ. प्र.)

डा. गंगाशरण शुक्ल, प्राणि विज्ञान विभाग, गोरखपुर विश्वविद्यालय, गोरखपुर (उ. प्र.)

डा. जी. एस. राव, रसायन विभाग, एस. एम. एम. टी. डी. कालेज, बलिया (उ. प्र.)

श्रीमती छाया थाम, बी–1/22 सफदरजंग एनक्लेव, नई दिल्ली-16

डा. छैल विहारी लाल श्रीवास्तव, प्राणि विज्ञान विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद (उ. प्र.)

डा. जगदीश सिंह चौहान, रसायन विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद (उ. प्र.)

डा. जटा शंकर द्विवेदी, प्रकाशन एवं सूचना निदेशालय (वै.औ.अ.प.), हिलसाइड रोड, नई दिल्ली-12

डा. ज्ञानेन्द्र नाथ, प्राणि विज्ञान विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद (उ. प्र.)

डा. त्रिगुणानन्द मिश्र, रसायन विभाग, गोरखपुर विश्वविद्यालय, गोरखपुर (उ. प्र.)

डा. दिव्य दर्शन पन्त, अध्यक्ष, वनस्पति विज्ञान विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद (उ. प्र.)

डा. कुमारी दीपिका कौल, प्राणि विज्ञान विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद (उ. प्र.)

श्री देवेन मेवाड़ी, प्रकाशन एवं सूचना केन्द्र, उत्तर प्रदेश कृषि विश्वविद्यालय, पन्तनगर (उ. प्र.)

डा. डी. डी. नौटियाल, वनस्पति विज्ञान विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद (उ. प्र.)

डा. डी. एन. विश्नोई, प्राणि विज्ञान विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद (उ. प्र.)

श्री ध्रुवदेव शर्मा, लालपुर, विजनौर (उ. प्र.)

डा. नरेन्द्र सिंह रावत, इण्डियन स्कूल आफ़ माइन्स, धनवाद (विहार)

श्री एन. पी. मिश्र, 52 सी.आई.एफ.टी. विल्डिंग, पी. एण्ड टी. डिवीजन, सिन्द्री (बिहार)

श्री प्रेमानन्द चन्दोला, रावत गाँव, पौड़ी गढ़वाल (उ. प्र.)

डा. बी. प्रसाद, प्राणि विज्ञान विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी-5 (उ. प्र.)

श्री भारत सिंह भदौरिया, गाँव खिल्ला, डाकखाना–होलीपुरा, जिला–आगरा (उ. प्र.)

श्री मनमोहन चन्द्र मिश्र, भारतीय भाषा एकक (वै.औ.अ.प.), पी.आई.डी. भवन, हिलसाइड रोड, नई दिल्ली-12

श्री माध्वाचार्य, डी–36/72 अगस्त्य कुण्ड, वाराणसी (उ. प्र.)

श्री मितान प्रसाद, ए–97, किदवई नगर, नई दिल्ली-23

श्री मोहन लाल शर्मा, प्रकाशन एवं सूचना निदेशालय (वै.औ.अ.प.), हिलसाइड रोड, नई दिल्ली-12

श्री रमेश दत्त शर्मा, संपादक (खेती), भारतीय कृषि अनुसंधान परिषद्, नई दिल्ली

डा. रवीन्द्र प्रताप राव, रसायन विभाग, गोरखपुर विश्वविद्यालय, गोरखपुर (उ. प्र.)

डा. राजाराम यादव, रसायन विभाग, गोरखपुर विश्वविद्यालय, गोरखपुर (उ. प्र.)

श्री राजेन्द्र प्रकाश गोयल, प्रकाशन एवं सूचना निदेशालय (वै.औ.अ.प.), हिलसाइड रोड, नई दिल्ली-12

डा. रामचन्द्र राय, रसायन विभाग, सागर विश्वविद्यालय, सागर (म. प्र.)

डा. आर. के. मेहता, रसायन विभाग, जोधपुर विश्वविद्यालय, जोधपुर (राजस्थान)

डा. आर. डी. सक्सेना, प्राणि विज्ञान विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद (उ. प्र.)

डा. आर. सी. सिन्हा, सहायक तकनीकी सलाहकार, खाद्य विभाग, खाद्य एवं कृषि मंत्रालय, कृषि भवन, नई दिल्ली-1

श्री वासुदेव कविमंडन, वैज्ञानिक अधिकारी, रेडियो रसायन विभाग, भाभा एटॉमिक रिसर्च सेंटर, ट्रॉम्बे, बम्बई-85

डा. शिवगोपाल मिश्र, 25 अशोकनगर, इलाहाबाद-1 (उ. प्र.)

डा. शुभकरण नाथ, केमिकल रिसर्च विंग, प्लानिंग एण्ड डेवेलपमेण्ट डिवीजन, सी.आई.एफ.टी. विल्डिंग, सिंदरी, धनवाद (विहार)

डा. श्रीमती शोभा लक्ष्मी, क्षेत्रीय अनुसंधान प्रयोगशाला, जोरहाट-6 (असम)

डा. (कुमारी) श्रीरमा शुक्ला, रसायन विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद (उ. प्र.)

डा. सन्त प्रसाद टंडन, अध्यक्ष, रसायन विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद (उ. प्र.)

डा. सुधीर चन्द्र, वनस्पति विज्ञान विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद (उ. प्र.)

श्री सुरेशचन्द्र बहल, रसायन विभाग, गोरखपुर विश्वविद्यालय, गोरखपुर (उ. प्र.)

डा. एस. वी. सक्सेना, वनस्पति विज्ञान विभाग, सागर विश्वविद्यालय, सागर (म. प्र.)

डा. एस. एस. सिंह, वनस्पति विभाग, महाराजा कालेज, छतरपुर (म. प्र.)

डा. हरिशरण विश्नोई, प्राणि विज्ञान विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

श्री हरी शंकर शर्मा, सराय कुतुब, अलीगढ़ (उ. प्र.)

श्री एच. पी. सक्सेना, कीट विज्ञान विभाग, भारतीय कृषि अनुसंधान संस्थान, हिलसाइड रोड, नई दिल्ली-12

संक्षेप और संकेत

अं. इ.	अंतर्राष्ट्रीय इकाई	सं.	संस्कृत
अ. घा. मा.	अल्पतम घातक मात्रा	हिं.	हिन्दी
असाबु.	असाबुनीकृत	ब्रि. थ. इ.	ब्रिटिश थर्मल इकाई
आ. घ.	आपेक्षिक घनत्व	मा.	माइक्रो (μ)
आयो. मान	आयोडीन मान	मिग्रा.	मिलीग्राम
कठो.	कठोरता	मिमी.	मिलीमीटर
किग्रा.	किलोग्राम	मिली.	मिलीलीटर
किमी.	किलोमीटर	मी.	मीटर
किली.	किलोलीटर	रु.	रुपए
कैं.	कैलोरी	ली.	लीटर
क्व. विं.	क्वथन बिन्दु	वकिमी.	वर्ग किलोमीटर
ग. विं.	गलन बिन्दु	वमी.	वर्ग मीटर
ग्रा.	ग्राम	वसेंमी.	वर्ग सेंटीमीटर
ग्रे.	ग्रेन	वि. घ.	विशिष्ट घनत्व
घ.	घनत्व	साबु. मान	साबुनीकरण मान
घमी.	घन मीटर	सेंमी.	सेंटीमीटर
घसेंमी.	घन सेंटीमीटर	हे.	हेक्टर
अर.	अरबी	n	अपवर्तनांक
अ.	असमिया	ϵ	एप्सिलान, असाधारण किरण का अपवर्तनांक
उ.	उड़िया	α	ऐल्फा
क.	कन्नड़	β	बीटा
गु.	गुजराती	γ	गामा
त.	तमिल	$[\alpha]_D$	ध्रुवित सोडियम प्रकाश चक्रण
ते.	तेलगू	%	प्रतिशत
ने.	नेपाली	μg	माइक्रोग्राम
पं.	पंजाबी	ω	ओमेगा, साधारण किरण का अपवर्तनांक
फा.	फारसी	$<$	से कम
बं.	बंगाली	$\nless$	से कम नहीं
म.	मराठी	$>$	से अधिक
मल	मलयालम	$\ngtr$	से अधिक नहीं

चित्र-सूची

सन्दर्भ पुस्तकों की सूची

Ainsworth	..	Medical Mycology, by C. C. Ainsworth (Sir Issac Pitman & Sons, Ltd., London), 1952.
Allport	..	Chemistry and Pharmacy of Vegetable Drugs, by N. L. Allport (George Newnes Ltd., London), 1943.
Bailey, 1944	..	Manual of Cultivated Plants, by L. H. Bailey (Macmillan Company, New York), 1944.
Bailey, 1947	..	Standard Cyclopaedia of Horticulture, by L. H. Bailey (The Macmillan Company, New York), 3 vols., 1922, reprinted 1947.
Bald & Harrison	..	Indian Tea, its culture & manufacture, by C. Bald; revised by C. J. Harrison (Thacker Spink & Co., Calcutta), 1940.
Bamber	..	Plants of the Punjab, by C. J. Bamber (Govt. of Punjab), 1916.
Baron	..	Handbook of Antibiotics, by A. L. Baron (Reinhold Publishing Corp., New York), 1950.
Benthall	..	The Trees of Calcutta and its neighbourhood, by A. P. Benthall (Thacker, Spink & Co., Calcutta), 1946.
Bhat	..	Economic Utilization of Indian Limes, by S. S. Bhat (Govt. of Baroda), 1943.
Blatter	..	Palms of British India & Ceylon, by E. Blatter (Oxford University Press, London), 1926.
Blatter I Blatter II	..	Beautiful Flowers of Kashmir, by E. Blatter (John Bale, Sons & Danielson Ltd., London), 2 vols., 1927-29.
Blatter & McCann	..	Bombay Grasses, by E. Blatter & C. McCann (Imperial Council of Agricultural Research, Delhi), 1935.
Blatter & Millard	..	Some Beautiful Indian Trees, by E. Blatter & S. Millard (John Bale, Sons & Curnow Ltd., London), 1937.
Bolton	..	Oils, Fats & Fatty Foods, by E. R. Bolton (J. & A. Churchill, London), 1928.
Bourdillon	..	The Forest Trees of Travancore, by T. F. Bourdillon (Govt. of Travancore), 1937.
B.P.	..	The British Pharmacopoeia (Constable & Co., London), 1948.
B.P.C., 1934	..	The British Pharmaceutical Codex (The Pharmaceutical Press, London), 1934.
B. P. C., 1949	..	The British Pharmaceutical Codex (The Pharmaceutical Press, London), 1949.
Brady	..	Materials Handbook, by G. S. Brady (McGraw Hill Book Co., New York), 1947.
Brandis	..	Indian Trees, by D. Brandis (Archibald Constable & Co., London), 1906.
Bressers	..	The Botany of Ranchi District, Bihar, by J. Bressers (Catholic Press, Ranchi), 1951.
Brown	..	Minor Products of Philippine Forests, by W. H. Brown (Bureau of Forestry, Manila), 3 vols., 1920-21.
Burkill	..	A Dictionary of the Economic Products of the Malay Peninsula, by I. H. Burkill (Crown Agents for the Colonies, London), 2 vols., 1935.
Burkill, 1909	..	A Working List of the Flowering Plants of Baluchistan, by I. H. Burkill (Superintendent, Govt. Printing, Calcutta), 1909.
Burns	..	Technological Possibilities of Agricultural Development in India, by W. Burns (Govt. of Punjab), 1944.
Butler	..	Fungi and Disease in Plants, by E. J. Butler (Thacker, Spink & Co., Calcutta), 1918.
Cameron	..	The Forest Trees of Mysore & Coorg, edited by J. Cameron (Govt. Press, Bangalore), 3rd edn. 1894.
Chopra	..	Indigenous Drugs of India, by R. N. Chopra (The Art Press, Calcutta), 1933.

Chopra *et al.*	Poisonous Plants of India, by R. N. Chopra, R. L. Badhwar & S. Ghosh (Manager of Publications, Delhi), 1949.
Colthurst	Familiar Flowering Trees in India, by Ida Colthurst (Thacker, Spink & Co., Ltd., Calcutta), 1937.
Conant *et al.*	Manual of Clinical Mycology, by N. F. Conant, D. S. Martin, D. T. Smith, R. D. Baker & J. C. Callaway (W.B. Saunders Co., Philadelphia), 1949.
Corner	Wayside Trees of Malaya, by E. J. H. Corner (Govt. Printing Office, Singapore), 2 vols., 1952.
Cowan & Cowan	The Trees of Northern Bengal, by A. M. Cowan & J. M. Cowan (Govt. of Bengal, Calcutta), 1929.
C.P.	The Commercial Products of India, by G. Watt (John Murray, London), 1908.
Dallimore & Jackson	A. Handbook of Coniferae, by W. Dallimore & A. B. Jackson (Edward Arnold & Co., London), 1948.
Dalziel	The Useful Plants of West Tropical Africa, by J. M. Dalziel (Crown Agents for the Colonies, London), 1948.
Darwin	On Humus and Earthworm, by C. Darwin (Faber & Faber Ltd., London), 1948.
Denston	A Textbook of Pharmacognosy, by T. C. Denston (Sir Issac Pitman & Sons, Ltd., London), 1945.
D.E.P.	A Dictionary of the Economic Products of India, by G. Watt (Govt. Press, Calcutta), 6 vols., 1889-1893; Index, 1896.
Drury	The Useful Plants of India, by Col. H. Drury (W. H. Allen & Co., London), 1873.
Dutt	Commercial Drugs of India, by N. B. Dutt (Thacker, Spink & Co., Calcutta), 1928.
Dutt & Pugh	Principles & Practices of Crop Production of India, by Pugh & Dutt (Allahabad Agricultural Institute), 1940.
Dymock, Warden & Hooper	Pharmacographia Indica, by W. Dymock, C. J. H. Warden and D. Hooper (Trubner & Co., London), 1889-91; Index, 1893.
Encyclopaedia Britannica	Encyclopaedia Britannica (Encyclopaedia Britannica Ltd., London), 25 vols., 1951.
Finnemore	The Essential Oils, by H. Finnemore (Ernest Benn Ltd., London), 1926.
Firminger	Firminger's Manual of Gardening for India, by T. A. Firminger (Thacker, Spink & Co., Calcutta), 1947.
Fl. Assam	Flora of Assam (Govt. of Assam, Shillong), 5 vols., 1934-40.
Fl.Br.Ind.	Flora of British India, by J. D. Hooker (Secretary of State for India, London), 7 vols., 1872-1897.
Fl. Delhi	Flora of Delhi State, by J. K. Maheshwari [Thesis (Unpublished), University of Delhi), Mimeograph, 1957.
Fletcher	Some South Indian Insects and other Animals of Importance, by T. B. Fletcher (Govt. Press, Madras), 1914.
Fl. Madras	Flora of the Presidency of Madras, by J. S. Gamble & C. E. C. Fischer (Adlard & Sons Ltd., London), 3 vols., 1915-36.
Fuller	Chemistry & Analysis of Drugs & Medicines, by H. C. Fuller (John Wiley & Sons, New York), 1920.
Ghosh	Directory of Indian Mines and Metals, compiled by P. K. Ghosh (Mining, Geological and Metallurgical Institute of India, Calcutta), 1952.
Gollan	Gollan's Indian Vegetable Garden (Thacker, Spink & Co., Calcutta), 6th edn, 1945.
Gopalaswamiengar	Complete Gardening in India, by K. S. Gopalaswamiengar (The Hosali Press, Bangalore), revised edn, 1951.
Guenther	The Essential Oils, by E. Guenther (D. Van Nostrand Co., New York), 6 vols., 1948-52.
Gupta	Forest Flora of the Chakrata, Dehra Dun and Saharanpur Forest Divisions, United Provinces, by B. L. Gupta (Central Publications Branch, Calcutta), 1928.

Heilbron & Bunbury	..	Dictionary of Organic Compounds, edited by I. Heilbron, H. M. Bunbury and others (Eyre & Spottiswoode, London), 4 vols., 1953.
Hill	..	Economic Botany, by A. F. Hill (McGraw-Hill Book Co., Inc., New York), 1937.
Howard	..	A Manual of the Timbers of the World, by A. L. Howard (Macmillan & Co. Ltd., London), 1948.
Howes, 1953	..	Vegetable Tanning Materials, by F. N. Howes (Butterworths Scientific Publications, London), 1953.
Hutchinson & Melville	..	The Story of, Plants and their uses to Man, by J. Hutchinson & R. Melville (P. R. Gawthorn Ltd., London), 1933.
I.P.L.	..	The Indian Pharmacopoeial List (Manager of Publications, Delhi), 1946.
Jacobs	..	The Chemistry & Technology of Food & Food Products (Interscience Publishers, Inc., New York), 2 vols., 1944.
Jacobs, 1951	..	The Chemistry and Technology of Food and Food Products, edited by M. B. Jacobs (Interscience Publishers, Inc., New York), 3 vols., 2nd edn, 1951.
Jamieson	..	Vegetable Fats & Oils, by G. S. Jamieson (Reinhold Publishing Corp., New York), 1943.
Kanjilal	..	Forest Flora of the School Circle, N.W.P., by U. Kanjilal (Govt. Press, Calcutta), 1901.
Kanny Lal Dey	..	The Indigenous Drugs of India, by Kanny Lal Dey, 1896.
Kingzett	..	Chemical Encyclopaedia, by Kingzett (Bailliere, Tindall and Co., London), 1945.
Kirk & Othmer	..	Encyclopaedia of Chemical Technology, edited by R. E. Kirk & D. F. Othmer (The Interscience Encyclopaedia, Inc., New York), vols. 1-15, 1947-56.
Kirt. & Basu	..	Indian Medicinal Plants, by K. R. Kirtikar & B. D. Basu (Lalit Mohan Basu, Allahabad), 4 vols., 1935.
Knott	..	Vegetable Growing, by J. E. Knott (Henry Kimpton, London), 1941.
Koman, 1918 Koman, 1919 Koman, 1920	..	Report on the Investigation of Indigenous Drugs, by M. C. Koman (Govt. Press, Madras). First Rep., 1918; Second Rep., 1919, Third Rep., 1920.
Kraemer	..	Kraemer's Scientific & Applied Pharmacognosy (John Wiley & Sons, New York), 1925.
Krishnamurti Naidu	..	Commercial Guide to the Forest Economic Products of Mysore, by G. Krishnamurti Naidu (Govt. Press, Bangalore), 1917.
Krishnan	..	Iron Ores of India, by M. S. Krishnan (Indian Association for the Cultivation of Science, Calcutta), 1955.
Krumbiegel	..	List of Economic Plants imported in Lal Bagh Botanic Gardens, Bangalore, by G. H. Krumbiegel (Govt. Press, Bangalore), 1948.
La Touche	..	Index of Minerals of Economic Importance, by La Touche (Geological Survey of India, Calcutta), 1918.
Lewis	..	The Vegetable Products of Ceylon, by F. Lewis (The Associated Newspapers of Ceylon Ltd., Colombo), 1934.
Macmillan	..	Tropical Planting and Gardening, by H. F. Macmillan (Macmillan & Co. Ltd., London), 1946.
Macmillan, 1914	..	Tropical Planting and Gardening with special reference to Ceylon, by H. F. Macmillan (Macmillan & Co. Ltd., London), 1914.
Martindale	..	The Extra Pharmacopoeia, by Martindale (The Pharmaceutical Press, London), 2 vols., 1941-43.
Matthews	..	Matthews' textile Fibres; their Physical Microscopic and Chemical Properties, edited by H. R. Mauersberger (John Wiley & Sons, Inc., New York), 6th edn, 1954.
Mayer & Cook	..	The Chemistry of Natural Colouring Matters, by F. Mayer; translated and revised by A. H. Cook (Reinhold Publishing Corporation, New York), 1943.

McCance & Widdowson .. The Chemical Composition of Foods, by R. A. McCance & E. A. Widdowson (H.M.S.O., London), 1946.

Modi .. A Text book of Medical Jurisprudence and Toxicology, by J. P. Modi (Tripathi Ltd., Bombay), 1945.

Mooney .. Supplement to the Botany of Bihar & Orissa, by H. Mooney (Catholic Press, Ranchi), 1950.

Mukerji .. Handbook of Indian Agriculture, by N. G. Mukerji (Thacker, Spink & Co., Calcutta), 3rd edn, 1915.

Mundkur .. Fungi and Plant Diseases, by B. B. Mundkur (Macmillan & Co., Ltd., London), 1949.

Nadkarni .. The Indian Materia Medica, by K. M. Nadkarni (K. M. Nadkarni, Bombay), 1927.

Naidu .. Common Commercial Timbers of the U.P., by S. B. Naidu (Govt. Press, Allahabad), 1934.

Naik .. South Indian Fruits and their Culture, by K. C. Naik (P. Varadachary Co., Madras), 1949.

Naves & Mazuyer .. Natural Perfume Materials, by Y. R. Naves & G. Mazuyer (Reinhold Publishing Corp, New York), 1947.

Neal .. In Gardens of Hawaii, by M. C. Neal (Bishop Museum, Honolulu), 1948.

Nelson, 1951 .. Medical Botany, by A. Nelson (E. & S. Livingstone Ltd., Edinburgh), 1951.

Nicholls & Holland .. A Text Book of Tropical Agriculture, by H. A. Nicholls & J. H. Holland (Macmillian & Co. Ltd., London), 1940.

Parker .. A Forest Flora for the Punjab with Hazara and Delhi, by R. N. Parker (Superintendent, Govt. Printing Press, Lahore), 1918.

Park & Fernando .. Diseases of Village Crops in Ceylon, by M. Park & M. Fernando (Govt., Press, Colombo), 1941.

Parry .. The Chemistry of Essential Oils and Artificial Perfumes, by E. J. Parry (Scott., Greenwood & Sons, Ltd., London), 1921-22.

Parry, J. W. .. The Spice Hand Book, by J. W. Parry (Chemical Publishing Co., New York), 1945.

Patel .. The Coconut — A Monograph, by J. S. Patel (Govt. Press, Madras), 1938.

Pearson & Brown .. Commercial Timbers of India, by R. S. Pearson & H. P. Brown (Govt. Press, Calcutta), 2 vols., 1932.

Pennell .. The Scrophulariaceae of the Western Himalayas, by F. W. Pannell (The Academy of Natural Sciences of Philadelphia, Philadelphia), Monograph No. 5, 1943.

Perkin & Everest .. The Natural Organic Colouring Matters, by A. G. Perkin and A. E. Everest (Longmans, Green & Co., London), 1918.

Popenoe .. Manual of Tropical and Sub-Tropical Fruits, by W. Popenoe (The Macmillan Co., New York), 1920.

Porter .. Bacterial Chemistry and Physiology, by J. R. Porter (John Wiley & Sons, Inc., New York), 1950.

Poucher .. Perfumes, Cosmetics and Soaps, with special reference to Synthetics, by W. A. Poucher (Chapman & Hall Ltd., London), 3 vols., 5th edn, 1950.

Prescott & Dunn .. Industrial Microbiology, by S. C. Prescott & C. G. Dunn (McGraw-Hill Book, Inc., New York), 1949.

Purewal .. Vegetable Gardening in the Punjab, by S. S. Purewal (Govt. of Punjab, Lahore), 1944.

Quisumbing .. Medicinal Plants of the Philippines, by Edwardo Quisumbing (Department of Agriculture and Natural Resources, Manila), 1951.

Raghavan .. A note on the possibilities of Camphor Cultivation in South India, by M. S. Raghavan (Govt. Press, Madras), 1940.

Ramakrishna Ayyar .. Handbook of Economic Entomology for South India, by T. V. Ramakrishna Ayyar (Govt. Press, Madras), 1940.

Rama Rao	Flowering Plants of Travancore, by M. Rama Rao (Govt. Press, Trivandrum), 1914.
Ramsbottom	Poisonous Fungi, by J. Ramsbottom (Penguin Books, Ltd., London), 1945.
Record & Hess	Timbers of the New World, by S. J. Record and R. W. Hess (Yale University Press, New Haven), 1944.
Redgrove	The Cream of Beauty, by H. S. Redgrove (W. Heinemann Ltd., London).
Richharia	Plant Breeding and Genetics in India, by R. H. Richharia (The Patna Law Press, Patna), 1945.
Ries	Economic Geology, by H. Ries (John Wiley & Sons, Inc., New York), 1942.
Riley & Johannsen	Medical Entomology, by W. A. Riley and O. A. Johannsen (McGraw-Hill Book Company, New York), 1938.
Roberts & Kartar Singh	Textbook of Punjab Agriculture, by W. Roberts & S. B. S. Kartar Singh (Civil & Military Gazette Ltd., Lahore), 1947.
Rodger	A Handbook of the Forest Products of Burma, by A. Rodger (Times of India Press, Bombay), 1943.
Sampson	The Coconut Palm, by H. C. Sampson (John Bales Sons, Daniels Sons Ltd., London), 1923.
Santapau	Plants of Saurashtra: A Preliminary List, by H. Santapau (Saurashtra Research Society, Rajkot), 1953.
Schery	Plants for Man, by R. W. Schery (Prentice-Hall, Inc., New York), 1952.
Sekharan & Sarathy	Cytogenetics and Plant Breeding, by S. N. Chandrasekharan & S. V. Parthasarathy (P. Varadachary & Co., Madras), 1948.
Sherman	Chemistry of Food and Nutrition, by H. C. Sherman (The Macmillan Co., New York), 1947.
Shivnath Rai	Foodstuffs of India, by Shivnath Rai (Corporation of Calcutta, Calcutta), 1940.
Smith	An Introduction to Industrial Mycology, by G. Smith [Edward, Arnold (Publishers) Ltd., London], 1954.
Smith, 1949	Cryptogamic Botany, by G. M. Smith (McGraw-Hill Book Co., Inc., New York), 2 vols., 1949.
Steinmetz	Materia Medica Vegetabilis, by E. F. Steinmetz (Holland), 3 vols., 1954.
Sterndale	Sterndale's Mammalia of India, by F. Finn (Thacker, Spink & Co., Calcutta), 1929.
Stewart	Punjab Plants; Comprising Botanical and Vernacular Names, and uses, by J. L. Stewart (Govt. Press, Lahore), 1869.
Swain	Insect Guide, by R. B. Swain (Doubleday & Co., New York), 1948.
Talbot	Forest Flora of Bombay Presidency and Sind, by W. A. Talbot (Govt. of Bombay), 2 vols., 1909-11.
Tauber	The Chemistry and Technology of Enzymes, by H. Tauber (John Wiley & Sons, Inc., New York), 1950.
Thompson	Vegetable Crops, by H. C. Thompson (McGraw-Hill Book Co., New York), 1939.
Thorpe	Thorpe's Dictionary of Applied Chemistry (Longmans, Green & Co., London), vols. 1-10, 1945-50.
Thorpe	Thorpe's Dictionary of Applied Chemistry (Longmans, Green & Co., London), 12 vols., 4th edn, 1945-56.
Trease	A Text Book of Pharmacognosy, by G. E. Trease (Bailliere, Tindall & Co., London), 1945.
Trotter, 1944	The Common Commercial Timbers of India and their Uses, by H. Trotter (Govt. Press, Delhi), 1944.
Troup	The Silviculture of Indian Trees, by R. S. Troup (Oxford University Press, Oxford), 3 vols., 1921.
Ukers: Coffee	All about Coffee, by W. H. Ukers (The Tea & Coffee Trade Journal Co., New York), 1935.
Ukers: Tea	All about Tea, by W. H. Ukers (The Tea & Coffee Trade Journal Co., New York), 2 vols., 1935.

U.S.D.	..	The United States Dispensatory (J. B. Lippincott, Philadelphia), 1947.
U.S.D., 1955	..	The United States Dispensatory (J. B. Lippincott, Philadelphia), 25th edn, 1955.
U.S.P.	..	The Pharmacopoeia of the United States of America (Mack Printing Co., Easton, Pa.), 1942.
Vageler	..	An Introduction to *Tropical Soils, by P. Vageler* (Macmillan & Co., Ltd., London), 1933.
von Loesecke	..	Outlines of Food Technology, by H. W. von Loesecke (Reinhold Publishing Corporation, New York), 1942.
Wallis	..	Textbook of Pharmacognosy, by T. E. Wallis (J. & A. Churchill Ltd., London), 1946.
Watt & Breyer-Brandwijk	..	The Medicinal & Poisonous Plants of Southern Africa, by J. M. Watt & M. G. Breyer-Brandwijk (E. & S. Livingstone, Edinburgh), 1932.
Webber & Batchelor	..	The Citrus Industry (University of California Press, California), 2 vols., 1946.
Wehmer, I Wehmer, II Wehmer, suppl.	..	Die Pflanzenstoffe: 2 vols.—1929-31 & supplement—1935.
Wickizer	..	Tea under International Regulation, by V. D. Wickizer (Stanford University, California), 1944.
Wilcox	..	Tropical Agriculture, by E. V. Wilcox (D. Appleton & Co., New York), 1916.
Winton & Winton	..	The Structure and Composition of Foods, by A. L. Winton & K. B. Winton (John Wiley & Sons, Inc., New York), 4 vols., 1935.
Wolf & Wolf	..	The Fungi, by F. A. Wolf & F. T. Wolf (John Wiley & Sons, Inc., New York), 1949.
Wren	..	Potter's Cyclopaedia of Botanical Drugs and Preparations, by R. C. Wren (Potter & Clarke Ltd., London), 1941.
Yegna Narayan Aiyar	..	Field Crops of India, by A. K. Yegna Narayan Aiyar (Govt. Press, Bangalore), 1944.
Youngken	..	Text Book of Pharmacognosy, by H. W. Youngken (The Blakiston Co., Philadelphia), 6th edn, 1950.

सन्दर्भ अनुसंधान पत्रिकाओं की सूची

(The abbreviations are those given in the World List of Scientific Periodicals, 1934)

Advanc. Sci., Lond.	..	Advancement of Science. London.
Agric. Americas	..	Agriculture in the Americas. Washington.
Agric. & Anim.Husb.India	..	Agriculture and Animal Husbandry in India. Delhi.
Agric. J. India	..	Agricultural Journal of India. Pusa.
Agric. Ledger	..	Agricultural Ledger. Calcutta.
Agric. Res. Bull. Indian cent. Jute Comm.	..	Agricultural Research Bulletin: Indian Central Jute Committee. Calcutta.
Amer. J. Bot.	..	American Journal of Botany. Lancaster.
Amer. Potato J.	..	American Potato Journal. Washington, DC.
Analyst	..	Analyst, London.
Ann. appl. Biol.	..	Annals of Applied Biology. Cambridge.
Ann. R. bot. Gdns Peradeniya	..	Annals of the Royal Botanic Gardens. Peradeniya.
Annu. Rep. agric. Res. Scheme, Indian cent. Jute Comm.	..	Annual Report of the Agricultural Scheme of the Indian Central Jute Committee, Calcutta.
Annu. Rep. Coconut Res. Scheme, Ceylon.	..	Annual Report of the Coconut Research Scheme. Ceylon.
Biochem. J.	..	Biochemical Journal, Liverpool.
Biol. Abstr.	..	Biological Abstracts. Menasha, Philadelphia.
Biol. Rev.	..	Biological Reviews and Biological Proceedings of the Cambridge Philosophical Society. Cambridge.
Bot. Bull. Acad. sinica	..	Botanical Bulletin of Academia Sinica. Shanghai.
Bot. Gaz.	..	Botanical Gazette. Chicago.
Bot. Mus. Leafl. Harv.	..	Botanical Museum Leaflets, Harvard University. Cambridge, Mass.
Bot. Rev.	..	Botanical Review. Lancaster, Pa.
Brit. agric. Bull.	..	British Agricultural Bulletin. London.
Bull. agric. Congo belge	..	Bulletin agricole du Congo belge, Bruxelles.
Bull. agric. Res. Inst.	..	Bulletin of the Agricultural Research Institute. Pusa.
Bull. appl. Bot. Genet. Pl. Breed.		Bulletin of Applied Botany, Genetics & Plant Breeding Leningrad.
Bull. cent. Fd technol. Res. Inst. Mysore		Bulletin Central Food and Technological Research Institute. Mysore.
Bull. Coconut Res. Scheme, Ceylon	..	Bulletin Coconut Research Scheme. Ceylon.
Bull. Dep. Agric. Bombay	..	Bulletin of the Department of Agriculture, Bombay.
Bull. Dep. Agric. Gold Cst	..	Bulletin. Department of Agriculture. Gold Coast Colony. Acra.
Bull. Dep. Agric. Madras	..	Bulletin of the Department of Agriculture. Madras.
Bull. Dep. Agric. S. S. & F.M.S.	..	Bulletin of the Department of Agriculture, Straits Settlements and F.M.S. Kuala Lumpur.
Bull. Dep. Industr. Comm. U.P.	..	Bulletin of the Department of Industries & Commerce. United Provinces.
Bull. Dep. Industr. Travancore	..	Bulletin of the Department of Industries, Travancore. Trivandrum.
Bull. econ. Indoch.	..	Bulletin economique de l'Indochine. Hanoi.
Bull. ent. Res.	..	Bulletin of Entomological Research. London.
Bull. geol. Surv. India, Ser. A.	..	Bulletin of the Geological Survey of India. Series A, Economic Geology. Calcutta.
Bull. Hawaii agric. Exp. Sta.	..	Bulletin. Hawaii Agricultural Experiment Station. Washington.
Bull. Hyderabad geol. Ser.	..	Bulletin. Hyderabad Geological Series. Hyderabad.
Bull. imp. Inst., Lond.	..	Bulletin of the Imperial Institute. London.
Bull. Indian Industr. Res.	..	Bulletin of the Indian Industrial Research. Delhi.
Bull. Jard. bot. Buitenz.	..	Bulletin du Jardin botanique de Buitenzorg. Buitenzorg.
Bull. Minist. Agric., London	..	Bulletin Ministry of Agriculture and Fisheries. London.
Bull. sci. industr. Res. Org., Melbourne	..	Bulletin. Commonwealth Scientific and Industrial Research Organization. Melbourne.
Bull. Univ. Philipp.	..	Bulletin of the University of Philippines.

Capital	..	Capital. Calcutta.
Ceylon Tr.J.	..	Ceylon Trade Journal. Colombo.
Chem. Abstr.		Chemical Abstracts. New York.
Chem.Engng News	..	Chemical & Engineering News. New York.
Chem. & Ind.	..	Chemistry & Industry. London.
Chem. metall. Engng	..	Chemical & Metallurgical Engineering. New York.
Chemurgic Dig.	..	Chemurgic Digest. New York.
Circ. U.S. Dep. Agric.	..	*Circular*, U.S. *Department of* Agriculture. Washington.
Curr. Sci.	..	Current Science. Bangalore.
E. Afr. agric. J.	..	East African Agricultural. Journal, Nairobi.
Econ. Bot.		Economic Botany. Lancaster, Pa.
Econ. Res. Bull. Indian cent. Jute Comm.	..	Economic Research Bulletin, Indian Central Jute Committee. Calcutta.
E.M.B. (Bull.)	..	Empire Marketing Board, Bulletin. London.
E.M.B. (Publ.)	..	Empire Marketing Board, Publication. London.
Emp. J. exp. Agric.	..	Empire Journal of Experimental Agriculture. Oxford.
Engng Min. J.	..	Engineering & Mining Journal. New York.
Fmg in S. Afr.	..	Farming in South Africa. Pretoria.
Fmrs' Bull. U.S. Dep. Agric.	..	Farmers' Bulletin, U.S. Department of Agriculture. Washington.
For.Abstr.	..	Forestry Abstracts, Oxford.
Gdns' Bull.		Gardens' Bulletin, Straits Settlements, Singapore.
Hedwigia	..	Hedwigia. Dresden.
Hlth.Bull.	..	Health Bulletin. New Delhi.
Indian Coconut J.	..	Indian Coconut Journal. Enrakulam.
Indian Cott.Gr.Rev.	..	Indian Cotton Growing Review. Bombay.
Indian Fmg	..	Indian Farming, New Delhi.
Indian For.	..	Indian Forester. Dehra Dun.
Indian For.Bull. (N.S.)	..	Indian Forest Bulletin (New Series). Delhi.
Indian For. Leafl.	..	Indian Forest Leaflets. Dehra Dun.
Indian For. Mem.	..	Indian Forest Memoirs. New Delhi.
Indian For. Rec. (N.S.)	..	Indian Forest Records (New Series). Delhi.
Indian For. Rec., N.S., Chem. & Minor For. Prod.	..	Indian Forest Records, New Series. Chemistry and Minor Forest Products. Dehra Dun.
Indian J. agric. Sci.	..	Indian Journal of Agricultural Science. Delhi.
Indian J. Genet.	..	Indian Journal of Genetics & Plant Breeding. Delhi.
Indian J. Hort.		Indian Journal of Horticulture. Delhi.
Indian J. med. Res.	..	Indian Journal of Medical Research. Calcutta.
Indian J. Pharm. Banaras	..	Indian Journal of Pharmacy. Banaras.
Indian J. Pharm. Bombay	..	Indian Journal of Pharmacy. Bombay.
Indian J. vet. Sci.		Indian Journal of Veterinary Science and Animal Husbandry. Delhi.
Indian med. Gaz.	..	Indian Medical Gazette. Calcutta.
Indian Minerals	..	Indian Minerals. Delhi.
Indian Phyto path.	..	Indian Phytopathology. New Delhi.
Indian Pulp Pap.	..	Indian Pulp and Paper. Calcutta.
Indian Soap. J.	..	Indian Soap Journal. Calcutta.
Indian Text. J.	..	Indian Textile Journal. Bombay.
Indian Tr. Bull.	..	Indian Trade Bulletin. Delhi.
Indian Tr. J.	..	Indian Trade Journal, Calcutta.
Industr. Engng Chem.	..	Industrial & Engineering Chemistry Easton, Pa.
Int. Rev. Agric.	..	International Review of Agriculture. Rome.
J. Amer. chem. Soc.	..	Journal of the American Chemical Society. Easton, Pa.
J. Amer. pharm. Ass.	..	Journal of the American Pharmaceutical Association. Columbus.
J. Amer. Soc. Agron.	..	Journal of the American Society of Agronomy. Washington.
J. Annamalai Univ.	..	Journal of the Annamalai University. Annamalainagar.

J. Asiat.Soc. Beng., N.S.	..	Journal of the Asiatic Society of Bengal. New Series. Calcutta.
J. biol. Chem.	..	Journal of Biological Chemistry. Baltimore.
J. Bombay nat. Hist. Soc.	..	Journal of the Bombay Natural History Society. Bombay.
J. chem. Soc.	..	Journal of the Chemical Society. London.
J. Coconut Industr.	..	Journal of Coconut Industries, Ceylon.
J. Coun. sci. industr. Res. Austr.		Journal of the Council for Scientific and Industrial Research. Australia, Melbourne.
J. Gujarat Res. Soc.	..	Journal of the Gujarat Research Society, Bombay.
J. Indian bot. Soc.	..	Journal of the Indian Botanical Society, Poona.
J. Hered.	..	Journal of Heredity. Washington. D.C.
J. Indian chem. Soc.	..	Journal of the Indian Chemical Society. Calcutta.
J. Indian chem. Soc. industr. Edn.	..	Journal of the Indian Chemical Society. Industrial and News Edition. Calcutta.
J. Indian Inst. Sci.	..	Journal of the Indian Institute of Science Bangalore.
J. Indian med. Ass.	..	Journal Indian Medical Association. Calcutta.
J. Inst Chem. India	..	Journal & Proceedings of the Institute of Chemistry. India.
J. int. Soc. Leath. Chem.	..	Journal of the International Society of Leather Trades Chemists. London.
J. N. Y. bot. Gdn	..	Journal of the New York Botanical Garden. New York.
J. Sci. Fd Agric.	..	Journal of the Science of Food and Agriculture. London.
J. sci. industr. Res.	..	Journal of Scientific & Industrial Research. Delhi.
J. Soc. chem. Ind., Lond.	..	Journal of the Society of Chemical Industry. London.
J. Text. Inst.	..	Journal of the Textile Institute. Manchester.
J. Publ. imp. agric. Bur.	..	Joint Publications. Imperial Agricultural Bureau. Aberystwyth.
Jute Bull.	..	Jute Bulletin. Calcutta.
Kew Bull.	..	Bulletin of Miscellaneous Information. Royal Botanic Gardens. Kew.
Leafl. Coconut Res. Scheme, Ceylon	..	Leaflet, Coconut Research Scheme. Colombo.
Leafl. Dep. Agric. Assam	..	Leaflet. Department of Agriculture. Assam.
Leafl. Dep. Agric. Bombay	..	Leaflet of the Department of Agriculture. Bombay.
Leafl. Dep. Agric., Ceylon	..	Leaflet of the Department of Agriculture. Ceylon, Colombo.
Madras agric. J.	..	Madras Agricultural Journal. Madras.
Malay. agric. J.	..	Malayan Agricultural Journal. Kuala Lumpur.
Mem. Dep. Agric. India	..	Memoirs of the Department of Agriculture in India. Pusa.
Mem. geol. Surv. India	..	Memoirs of the Geological Survey of India. Calcutta.
Mem. Tocklai exp.Sta.	..	Memoirs of the Tocklai Experimental Station. Tocklai.
Miner. Ind.	..	Mineral Industry. New York & London.
Miner. Ind. Brit. Emp.	..	Mineral Industry of the British Empire & Foreign Countries. London.
Miner. Surv. Rep., Jammu & Kashmir	..	Mineral Survey Report. Jammu & Kashmir.
Miner. Yearb., Wash.	..	Minerals Yearbook. Washington. D.C.
Misc. Bull. I.C.A.R.	..	Miscellaneous Bulletin, Indian Council of Agricultural Research. Delhi.
Mysore agric. Cal.	..	Mysore Agricultural Calendar. Bangalore.
Mysore agric. J.	..	Mysore Agricultural Journal. Bangalore.
Nagpur agric. Coll. Mag.	..	Nagpur Agricultural College Magazine. Nagpur.
Nat. geogr. Mag.	..	National Geographic Magazine. Washington.
Nat. Hist. N.Y.	..	Natural History. American Museum of Natural History. New York.
Nature, Lond.	..	Nature. London.
N.Z.J. Sci. Tech.	..	New Zealand Journal of Science and Technology. Wellington.
Oils & Oilseeds J.	..	Oils & Oilseeds Journal. Bombay.
Oil Paint Drug Rep.	..	Oil, Paint & Drug Reporter. New York.
Paint Varn. Prod.	..	Paint and Varnish Production. New York.
Pap.Unit.Plant.Ass. S. India	..	Papers. United Planters' Association of Southern India. Coonoor.
Philipp. Agric.	..	Phillippine Agriculturist. Los Banos.

Philipp. J. Agric.	..	Philippine Journal of Agriculture. Manila.
Philipp. J. Sci.	..	Philippine Journal of Science. Manila.
Phytopathology	..	Phytopathology. Lancaster, Pa.
Plant. Chron.	..	Planters' Chronicle. Coimbatore.
Plant Breed. Abstr.	..	Plant Breeding Abstracts. Cambridge.
Plant Prot. Overseas Rev.	..	Plant Protection Overseas Review. London.
Proc. Amer. Soc. hort. Sci.	..	Proceedings. American Society for Horticultural Science. College Park. Md.
Proc. Indian Acad. Sci.	..	Proceedings of the Indian Academy of Sciences. Bangalore.
Proc. Indian Sci. Congr.	..	Proceedings of the Indian Science Congress. Calcutta.
Proc. nat. Acad. Sci. India	..	Proceedings of the National Academy of Sciences, India, Allahabad.
Proc. nat. Inst. Sci.	..	Proceedings of the National Institute of Sciences. Delhi.
Proc. nat. Inst. Sci.	..	Proceedings of the National Institute of Sciences of India, Calcutta.
Proc. roy. Soc.	..	Proceedings of the Royal Society. London.
Quart. J. geol. Soc. India	..	Quarterly Journal of the Geological, Mining & Metallurgical Society of India, Calcutta.
Rec. geol. Surv. India	..	Records of the Geological Survey of India, Calcutta.
Rep. agric. Res. Sta., Madras	..	Report of Agricultural Research Stations. Madras.
Rep. Bd. sci. Adv. India	..	Report of the Board of Scientific Advice for India. Calcutta.
Rep. Dep. Munition, Aust.	..	Report of the Department of Munition. Australia.
Rep. imp. bot. Conf.	..	Report of the Imperial Botanical Conference. London.
Rep. imp. Inst., Lond.	..	Annual Report of the Imperial Institute. London.
Rep. Indian Coun. agric. Res.	..	Report. Indian Council of Agricultural Research. Calcutta.
Rev. Bot. appl.	..	Revue de Botanique appliquee et d'agriculture coloniale (Tropicale).
Schimmel Rep.	..	Schimmel Report. New York.
Sci. & Cult.	..	Science & Culture. Calcutta.
Science	..	Science. New York.
Sci. Monogr. Coun. agric. Res. India		Scientific Monograph. Indian Imperial Council of Agricultural Research. India. Calcutta.
Sci. Rep. agric. Res. Inst., Pusa		Scientific Reports of the Agricultural Research Institute. Pusa.
Seas. & Crop Rep. Madras	..	Season & Crop Report. Madras.
Soil Sci.	..	Soil Science. New Brunswick, N.J.
Tanner	..	Tanner, Bombay.
Tea Quart.	..	Tea Quarterly. Ceylon.
Tech. Bull. U.S. Dep. Agric.	..	Technical Bulletin, U.S. Department of Agriculture. Washington.
Tech. Commun. Bur. Soil Sci., Harpenden		Technical Communication, Imperial Bureau of Soil Science, Harpenden
Tech. Res. Mem. Indian cent. Jute Comm.		Technological Research Memoirs, Indian Central Jute Committee, Calcutta.
Text.Res.	..	Textile Research, Lancaster, Pa.
Trans. Bose Res.Inst.	..	Transactions of the Bose Research Institute. Calcutta.
Trans. Brit. mycol. Soc.	..	Transactions of the British Mycological Society. Worcester.
Trans. Fed. Inst. Min. Eng.	..	Transactions of the Federal Institute of Mining and Engineering.
Trans. Indian ceram. Soc.	..	Transactions of the Indian Ceramic Society. Banaras.
Trans. Linn. Soc. Lond. (Bot.)	..	Transactions of the Linnean Society of London (Botany). London.
Trans. Min. geol. Inst. India	..	Transactions of the Mining & Geological Institute of India. Calcutta.
Trop. Agriculture, Trin.	..	Tropical Agriculture. Trinidad.
Trop. Agriculturist	..	Tropical Agriculturist and Magazine of the Ceylon Agricultural Society, Peradeniya.
Trop. Woods	..	Tropical Woods, New Haven. Connecticut.
World Crops	..	World Crops. London.
Yearb. Dep. Agric., Madras	..	Yearbook, Department of Agriculture. Madras.
Yearb. U.S. Dep. Agric.	..	Yearbook of the U.S. Department of Agriculture. Washington.

प्राकृतिक पदार्थ

द्वितीय खण्ड : क

क

ककाओ – देखिए थियोब्रोमा

कटेरी इंद्रायन – देखिए एक्वैलियम

कडरानिया ट्रेकुल (यूफ़ोर्बिएसी) CUDRANIA Trec.

ले.–कुडरानिया

Fl. Br. Ind., V, 538.

यह फैलने वाली या आरोही झाड़ियों की लगभग 10 जातियों का वंश है जो एशिया, ऑस्ट्रेलिया और न्यू कैलेडोनिया में पाया जाता है. इसमें तीव्र कक्षीय काँटे होते हैं. **क. जावानेन्सिस** ट्रेकुल (हि.–माँडा, मँगेई, कंगू) हिमालय की तराई में जम्मू से पूर्व की ओर, असम तथा श्रीलंका में पाई जाने वाली जाति है. यह मलय में वस्त्रों तथा चटाइयों को रँगने के लिए रंजक के रूप में प्रयुक्त होती है. इसके लिए नारंगी-पीले अन्तःकाष्ठ की छोटी-छोटी चैलियों को पानी में रात भर सीझने दिया जाता है और उबाला जाता है. इस प्रकार से प्राप्त काढ़े को छान कर उसमें फिटकरी मिला देते हैं. जिस वस्त्र को रँगना होता है, उसे उबलते हुए काढ़े में डुबाया जाता है जिससे वस्त्र पीले रंग में रंग जाता है. साथ में सप्पन काष्ठ मिलाने पर इससे लाल रंग प्राप्त होता है. हल्दी तथा नील के संयोग से यह क्रमशः नारंगी-हरे तथा हरे शेड देता है (Burkill, I, 700).

इसकी लकड़ी ईंधन की तरह इस्तेमाल की जाती है (भार, 752 किग्रा./घमी.). पके फलों तथा कोमल पत्तियों का उपयोग खाद्य पदार्थ के रूप में किया जाता है (Gamble, 652; Burkill, loc. cit.).
Euphorbiaceae; C. javanensis Trec.

कडिया गोंद – देखिए स्टरकूलिया

कतीरा गोंद – देखिए काक्लोस्पर्मम

कत्था – देखिए अकेशिया

कत्था, काला – देखिए अकेशिया

कत्था, पीला – देखिए अनकेरिया

कदम – देखिए ऐंथोसिफैलस

कनाडा बालसम – देखिए एबीज़

कनिंघामिया आर. ब्राउन (पाइनेसी)
CUNNINGHAMIA R. Br.

ले.–कन्निंघामिया

Gamble, 703; Bailey, 1947, I, 912.

यह चीन में पाये जाने वाले सदाहरित कोनिफर की दो जातियों का वंश है जिनमें से **क. लेन्सियोलेटा** (लैम्बर्ट) हूकर पुत्र सिन. **क. साइनेन्सिस** आर. ब्राउन भारत में शोभाकारी वृक्ष के रूप में उगाया जाता है. यह ऊँचा, सुन्दर, विवृत सूची स्तम्भीय वृक्ष है. इसका प्रवर्धन बीजों, कल्लों अथवा कलमों से किया जाता है. यह हल्की दुमट मिट्टी में गर्म तथा खुले स्थानों में भलीभाँति पल्लवित होता है.

इसकी लकड़ी सुगन्धित, पीताभ, हल्की, कोमल और टिकाऊ होती है. इसके भाप-आसवन से एक सौरभिक तेल प्राप्त होता है जिसमें 7·37% एस्टर तथा 29·39% ऐल्कोहल रहते हैं. चीन में इसका उपयोग मकान बनाने, भीतरी नक्काशी करने, मस्तूलों, और बक्सों के बनाने में किया जाता है. शवपेटिका के लिए भी इसे उपयोगी लकड़ी मानते हैं. कागज की लुगदी बनाने के लिए भी इसका उपयोग किया जाता है (Wehmer, I, 7; Dallimore & Jackson, 259; *For. Abstr.*, 1946, 7, 497).
Pinaceae; C. lanceolata (Lamb.) Hook. f. syn. *C. sinensis* R. Br.

कपास – देखिए गॉसीपियम

कमक्वाट – देखिए फोर्च्यूनेला

कमेला – देखिए मैलोटस

कमेलिया लिनिअस **(थीएसी; टर्नस्ट्रोमिएसी)** CAMELLIA Linn.

ले.–कामेल्लिआ

यह सदाबहार झाड़ियों एवं वृक्षों की लगभग 45 जातियों का वंश है जो एशिया के उष्णकटिबन्धीय तथा उपोष्णकटिबन्धीय भागों मे पाया जाता है. इनमें सबसे महत्वपूर्ण **क. साइनेन्सिस** है जो पत्तियों के लिए उगायी जाती है और जिनसे व्यापारिक चाय प्राप्त की जाती है.

क. साइनेन्सिस के अतिरिक्त भारत में तीन अन्य जातियाँ, **क. कैडुका** सी. बी. क्लार्क, **क. कॉडेटा** वालिश तथा **क. किसी** वालिश (सिन. क. ड्रूपीफेरा) जंगली रूप में उगती हैं. **क. जपोनिका** तथा **क. ससान्क्वा** शोभाकारी पौधों के रूप में उगायी जाती हैं.
Theaceae; Ternstroemiaceae; C. caduca C. B. Clarke; *C. caudata* Wall.

क. किसी वालिश सिन. **क. ड्रूपीफेरा** डायर नान लौरिरियो C. kissi Wall. ब्रह्मा की लटपट चाय

ले.–का. किस्सी

D.E.P., II, 69; C.P., 237; Fl. Br. Ind., I, 293.

नेपाल–किसी; खासी पहाड़ी–डींग-टायरनम-भाई.

यह एक वृहद् सदाबहार झाड़ी या वृक्ष है जिसकी पत्तियाँ आयताकार-भालाकार; फूल श्वेत महकदार; सम्पुटिकाएँ लगभग

2·5 सेंमी. मोटी, 1–3 कोशिका वाली जिनमें से प्रत्येक कोशिका में एक बीज रहता है.

यह पौवा नेपाल, पूर्वी हिमालय, असम तथा खासी पहाड़ियों में 1,500–2,400 मी. की ऊँचाई तक पाया जाता है. नागा पहाड़ियों में इसकी पत्तियाँ चाय के स्थान पर प्रयुक्त की जाती हैं. बीजों से न सूखने वाला तेल (28–33%) प्राप्त होता है जिसके गुणधर्म क. **ससान्क्वा** से प्राप्त तेल की तरह होते हैं (Bald & Harrison, 140).

C. drupifera Dyer non Lour.

क. जपोनिका लिनिअस C. japonica Linn.

गार्डेन कमेलिया

ले.–का. जापोनिका

यह सदावहार वृक्ष या झाड़ी लगभग 12 मी. ऊँची, चमकीली पत्तियों वाली एवं श्वेत से लेकर लाल रंग तक के सुन्दर पुष्पों वाली होती है. भारत में इसे शोभाकारी पौधे के रूप में लगाया जाता है. यह नीलगिरि तथा अन्य पर्वतीय केन्द्रों में भलीभाँति उगती है.

यह पौधा जापान में अत्यधिक उगाया जाता है. इसकी गिरी से लगभग 66·7% तेल प्राप्त किया जाता है, जिसमें निम्नांकित विशेषताएँ होती हैं : साबु. मान, 197·2; आयो. मान, 78·0; थायोसायनोजन मान, 76·1; अम्ल मान, 1·05; तथा असाबुनीकृत पदार्थ, 0·2%. इसके अवयवी वसा अम्ल हैं : ओलीक, 82·6; लिनोलीक, 2·1; तथा संतप्त अम्ल (पामिटिक तथा स्टियरिक), 10·6; ग्लिसरोल, 4·5%. यह तेल विशुद्ध ओलीक अम्ल तैयार करने के लिए सुगम स्रोत है. इस तेल की श्रेष्ठतर कोटियाँ बालों में लगाने तथा घड़ियों के स्नेहन के लिए प्रयुक्त की जाती हैं. इसकी पत्तियाँ चाय के स्थान पर काम में लाई जाती हैं (*Chem. Abstr.*, 1938, **32**, 4810; Jamieson, 168).

इसके बीजों से कमेलिन नामक एक ग्लाइकोसाइड प्राप्त हुआ है, जो हृदय सम्बंधी उत्तेजना में अंतर्हृत् शोथ तथा हृदयावरण शोथ में प्रयोग किया जाता है. यह जल में विलेय श्वेत तिक्त चूर्ण है (U.S.D., 1380).

क. ससान्क्वा थनबर्ग C. sasanqua Thunb.

ले.–का. सासांकुआ

Bailey, 1944, 501.

यह 3 से 6 मी. तक ऊँची सदावहार झाड़ी या पेड़ है जो मुख्यतः चीन, जापान तथा हिन्द-चीन में बीजों के लिए उगाया जाता है. बीजों से प्राप्त तेल व्यापारिक चाय के बीज-तेल का प्रमुख स्रोत है. असम में इस पौधे के उगने की सूचना है. इसके फल गोलाकार (2.5–5.0 सेंमी. व्यास वाले) एवं 3–4 बीजों वाले होते हैं. बीजों की गिरी में 58–59% पीले तिनके के रंग का तेल होता है जिसे व्यापारिक पैमाने पर निष्कर्षित किया जाता है. यह स्नेहक, रेशम उद्योग में वस्त्र तेल के रूप में तथा साबुन बनाने के काम और परिष्कृत किये जाने के बाद खाने के काम आता है. जैतून के तेल में मिलावट के लिए भी इस तेल का व्यवहार किया जाता है. इस तेल की निम्नांकित विशेषताएँ हैं : वि. घ.$^{25°}$, 0·909–0·920; $n^{25°}$, 1·466–1·470; साबु. मान, 188–196; आयो. मान, 80–90; असाबुनीकृत पदार्थ, 1·5%; वसा अम्लों का जमनांक, 13–18°. इसके अवयवी वसा अम्ल इस प्रकार हैं : ओलीक, 83–85; पामिटिक, 5·8; लिनोलीक, 7–9; स्टियरिक, मिरिस्टिक तथा ऐराकिडिक अम्ल की लेश मात्राएँ (*Bull. imp. Inst. Lond.*, 1948, **46**, 237).

बीजों की खली, सैपोनिन पाये जाने के कारण पशुओं के खिलाने के लिए अनुपयुक्त है. नाइट्रोजन, पोटैश तथा फास्फोरस की न्यून मात्राएँ पाई जाने के कारण खाद के रूप में इसका महत्व कम है. इसका प्रमुख उपयोग बागवानी के लिए लाभदायक कृमिनाशकों के उत्पादन में किया जाता है.

क. साइनेन्सिस (लिनिअस) ओ. कुंट्जे सिन. **क. थिया** लिंक; **क. थिएफेरा** ग्रिफ़िथ C. sinensis (Linn.) O. Kuntze

चाय का पौधा

ले.–का. सिनेन्सिस

D.E.P., II, 65; VI (pt 3), 417; C.P., 209; Fl. Br. Ind., I, 292; Ukers, Tea, I, 409.

हिं., बं. और म.–चा, चाय; त.–थायिलाई; ते.–तेथाकू.

यह एक सदावहार पेड़ या झाड़ी है, जो अपने आप उगने पर 10–15 मी. ऊँची होती है. जब खेती की जाती है तो इसे काट-छाँट कर 0·6–1·5 मी. ऊँची झाड़ी के रूप में रखा जाता है. इसकी पत्तियाँ एकान्तर, चिरहरित, अंडाकार अथवा भालाकार और दंतुर होती हैं. इनकी निचली सतह चिकनी अथवा कभी-कभी रोएँदार होती है. नई पत्तियाँ न्यूनाधिक रोमिल होती हैं. प्रौढ़ पत्तियाँ चमकीले हरे रंग की चर्मिल तथा चिकनी और 5–30 सेंमी. तक लम्बी होती हैं. पुष्प अकेले अथवा 2 से 4 के गुच्छों में पाये जाते हैं; ये श्वेत सुगंधित तथा 2·5–3·75 सेंमी. व्यास के होते हैं. सम्पुटिकाएँ भूराभ हरित, 1–4 पालियों वाली जिनमें से प्रत्येक पाली में 1–3 बीज होते हैं; बीज गोलाकार (1·25–2 सेंमी. व्यास) अथवा चिपटे और भूरे रंग के होते हैं.

विभिन्न लेखकों ने इस पौधे की अनेक जातियों तथा प्रजातियों को भिन्न-भिन्न प्रकार से वर्गीकृत किया है. वाट ने चार मुख्य जातियाँ बताई हैं : **विरिडिस, बोहिया, स्ट्रिक्टा** तथा **लेसीओकेलिक्स**. प्रथम जाति के अंतर्गत निम्नलिखित प्रजातियाँ उल्लेखनीय हैं : (1) असम देशज, (2) लुशाई, (3) नागा चाय, (4) मणिपुर, (5) ब्रह्मा तथा शान, एवं (6) यूनान तथा चीन.

हार्लर ने कोहेन स्टुआर्ट के सुझावों को ध्यान में रखते हुए निम्नलिखित चार जातियाँ बताई हैं : (1) **बोहिया**, (2) **मैक्रोफ़िला**, (3) **शान प्ररूप**, (4) **असामिका** (Harler, 10).

व्यापारिक चायों के वर्गीकरण के सम्बन्ध में टोकलाई में हाल ही में जो कार्य हुआ है उससे पता चलता है कि वरण किये गये कायिक अभिलक्षणों के अनुसार प्ररूपों से क्लाइन बनते हैं. यह क्लाइन असंदिग्ध चीनी उद्भव के पौधों तक विस्तृत हैं. इनके भौगोलिक वितरण की दो प्रमुख शाखायें प्रतीत होती हैं : एक लगभग पूर्व से पश्चिम तक असम से होकर चीन तक जाती है तथा दूसरी उत्तर से दक्षिण, असम से हिन्द-चीन तक फैली हुई है. ये दोनों शाखायें ब्रह्मपुत्र, इरावदी, सालवीन, मीकांग तथा यांगटि-सीक्यांग की घाटियों के साथ-साथ चलती हैं. असम, चीन तथा



त्र 1 – कमेलिया साइनेन्सिस

हिन्द-चीन (कम्बोडिया) में पाये जाने वाले तीन प्ररूपों को पृथक् करके उन्हें फिलहाल उपविशिष्ट पद प्रदान किये गये है जिनके नाम **असामिका, साइनेन्सिस** तथा **कम्बोडिया** हैं. इन प्रकारों में से किसी एक या अधिक के गुण समस्त व्यापारिक चायों में उपस्थित रहते हैं. इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि व्यापारिक चाय इन तीनों उप-जातियों की संकर है. इनके अतिरिक्त एक चौथी अनपहचानी **कमेलिया** जाति माखा तथा सालवीन नदियों के बीच के क्षेत्र में, 2,100 मी. की ऊँचाई पर बीजों से उगाई गई है. यह जाति चाय के साथ परनिषेचित है किन्तु इसके पेय गुण अत्यधिक हानिकारक होते है (*Annu. Rep., Indian Tea Ass., Sci. Dep.*, 1947; *Pl. Br. Abstr.*, 1949, **19**, 358).

खेती की जाने वाली चाय को व्यावहारिक दृष्टियों से दो वर्गो में बाँटा जा सकता है—चीन की चाय तथा असम की चाय. इनके साथ संकर चाय का तीसरा वर्ग मान सकते है. चीनी प्ररूप मन्द गति से बढ़ने वाला ठिगना वृक्ष है जिसमें छोटी, सीधी गहरे हरे रंग की चर्मिल पत्तियाँ होती हैं. ये पत्तियाँ असम चाय की अपेक्षा शीत एव प्रतिकूल परिस्थितियों के लिए प्रतिरोधी होती हैं किन्तु उससे उपज कम मिलती हैं. असम चाय ऊँचा, शीघ्र बढ़ने वाला पेड़ है जिसमें बड़ी, शिथिल, नीचे को झुकी हुई पत्तियाँ होती हैं जो उष्णकटिबन्धी परिस्थितियों के लिए सर्वथा अनुकूल हैं. असम चाय के अंतर्गत दो प्रकारों को मान्यता प्राप्त है : पहली हरी तथा दूसरी गहरी हरी पत्तियों वाली, किन्तु असम चाय नाम पहले तक ही सीमित है. दूसरे का नाम मणिपुरी चाय है. असम चाय कम सहिष्णु है. इसकी खेती ब्रह्मपुत्र नदी की घाटी तक ही सीमित है जहाँ की जलवायु, सुरमा घाटी तथा दुआरों की अपेक्षा जहाँ गहरे रंग की पत्तियों वाली जाति उगाई जाती है, कम कष्टप्रद है. हल्के रंग की पत्तियों वाली चाय से सूखाग्रस्त एवं गहरी पत्तियों वाली मणिपुरी चाय की अपेक्षा अधिक उपज एवं अच्छे गुणों वाली चाय प्राप्त होती है.

चीन तथा असम चाय के मध्य असंख्य संकर ज्ञात हैं जिनमें दोनों के उपयोगी लक्षण विद्यमान होते है. व्यापारिक शुद्ध जातियों की चाय दुर्लभ है. चाय का पौधा बहुत कम स्वनिषेचित होता है तथा बीजों की बहुत कम मात्रा प्राप्त होती है. पर-परागण सामान्य घटना है. इससे विषमांग बीज बनते हैं. बीजों से उगाई जाने के कारण व्यापारिक चाय की झाड़ियों में भिन्नता होनी स्वाभाविक है. इस भिन्नता को कम करने के लिए मातृ पेड़ों को वरण करने के प्रयास असफल रहे हैं. इससे झाड़ी के वानस्पतिक गुणों के साथ चाय की विशेषता को सम्बन्धित करने की समस्या हल नहीं हो पाई. अब उपयुक्त व्यष्टि के वरण करने और उनकी कलम लगाने तथा चश्मा चढ़ाने की ओर ध्यान दिया जा रहा है. भारत तथा श्रीलंका में पौधे की जड़ की एकाकी कलमों को बाँस के छप्पर के नीचे या फर्न के नीचे जहाँ पर्याप्त जल-निकास होता है उगने देने की सामान्य प्रथा है. इस प्रकार 75–80% पेड़ों में सफलतापूर्वक जड़ें लगती देखी गई हे. इस प्रकार भारत में तैयार एक ही प्रकार के पदार्थ का क्लोन व्यापारिक उपयोगिता का रूप धारण कर चुका है (Eden, *World Crops*, 1949, **1**, 66).

वितरण – कुछ लोगों का विचार है कि चाय का पौधा असम तथा ब्रह्मा के निकटवर्ती क्षेत्रों का देशज है. कोहेन स्टुअार्ट तथा कुछ अन्य लोगों के अनुसार यह दक्षिणी यूनान एवं ऊपरी हिन्द-चीन का वासी है. इन दोनों ही क्षेत्रों में चाय जंगली अवस्था में पाई जाती है. चीन वह पहला देश है जहाँ चाय की खेती की गई और पेय के रूप में इसकी उपयोगिता को समादरित किया गया. अब चाय उष्णकटिबन्धी, उपोष्णकटिबन्धी क्षेत्रों मे, रूसी ट्रांसकाकेशिया में 42° उत्तर से लेकर उत्तरी अर्जेण्टाइना में 33° दक्षिण तक उगायी जाती है. इसके सबसे महत्त्वपूर्ण क्षेत्र एशिया के दक्षिण-पूर्वी भागों में सीमित है, जिनमें चीन, जापान, फार्मोसा, जावा, सुमात्रा, श्रीलंका तथा भारत है (*Bull. Jard. Bot. Buitenz., 3rd Ser.*, 1918/20, **1**, 193).

भारत में चाय की खेती उत्तर तथा दक्षिण भारत के पहाड़ी जनपदों में 2,100 मी. की ऊँचाई तक की जाती है. उत्तर भारत के चाय उगाने वाले प्रमुख क्षेत्र असम की ब्रह्मपुत्र, सुरमा घाटियाँ, उत्तरी बंगाल के दार्जिलिंग एवं जलपाइगुड़ी जनपद है. चाय उगाने वाले अन्य क्षेत्र राँची, देहरादून, काँगड़ा तथा कुमायूँ के जिले है. दक्षिणी भारत में पश्चिमी घाट के पहाड़ी क्षेत्रों में चाय की खेती की जाती है जिसके अन्तर्गत त्रावनकोर तथा कोचीन के राज्य तथा दक्षिणी मालाबार, कोयम्बटूर एवं नीलगिरि के जनपद हैं.

यद्यपि चाय सहिष्णु वृक्ष है किन्तु यदि जलवायु आर्द्र तथा उष्ण हो तो संसार के किसी भी भाग में उगायी जा सकती है. इसको उगाने के लिए सर्वाधिक अनुकूल दशाएँ निम्नांकित है : (1) ताप में सीमित परिवर्तन का होना; (2) वर्ष पर्यन्त पर्याप्त मात्रा में वर्षा होना; (3) तेज शुष्क हवा तथा जमने वाले तापों का अभाव. ऊपरी असम के, उत्तर-पूर्वी बंगाल तथा दक्षिण भारत में नीलगिरि एवं अन्नामलाई के कम ऊँचाई वाले जनपद चाय की खेती के लिए सर्वथा उपयुक्त हैं. दार्जिलिंग तथा दक्षिण भारत के अधिक ऊँचाई



चित्र 2—कमेलिया साइनेन्सिस—असम प्ररूप

वाले जनपद भी इसके लिए अनुकूल हैं किन्तु चाय की उपज कम होती है. फिर भी इन क्षेत्रों की चाय सर्वोत्तम गुणों वाली होने के कारण उपज की कमी की पूर्ति हो जाती है. अन्य चाय वाले क्षेत्रों की स्थिति, यथा राँची तथा देहरादून की, अत्यन्त अनुकूल नहीं है क्योंकि इन क्षेत्रों में वर्षा की तीव्रता एवं उसका विभाजन अनुकूल नहीं है.

इसके लिए अनुकूलतम मासिक अधिकतम ताप 21° से 32.2° तक है. जब अधिकतम छाया-ताप 24° से कम या औसत न्यूनतम 18.3° से कम होता है तो चाय की वृद्धि काफी मन्द होती है. चाय इससे कुछ उच्च ताप पर भी वृद्धि कर सकती है यदि साथ ही अत्यधिक आर्द्र परिस्थितियाँ हों. असम में कभी-कभी छाया-ताप 35° से 37.3° तक पहुँच जाता है किन्तु ऐसा वर्षा ऋतु में ही होता है. निःसंदेह चाय उष्णकटिबन्धीय या उपोष्णकटिबन्धीय जलवायु में जहाँ वर्षा में अधिक समय तक पर्याप्त आर्द्र वायुमण्डल हो, ठीक से बढ़ती और उपज देती है.

चाय की पैदावार के लिए अत्यधिक वर्षा की, जो वर्षभर में समान रूप से वितरित हो, आवश्यकता होती है. न्यूनतम आवश्यकता 150 सेंमी. प्रतिवर्ष है. इसकी अधिकतम सीमा का ज्ञान नहीं है. असम के चाय इलाकों में औसत वर्षा 125 से लेकर लगभग 375 सेंमी. तक होती है जबकि दुआरों तथा दार्जिलिंग के इलाकों में इसका औसत लगभग 250–500 सेंमी. तक है. दक्षिण भारत में चाय उपजाने वाले इलाकों में प्रतिवर्ष औसत वर्षा 250–270 सेंमी. तक होती है. वर्ष के किसी भी भाग में सूखा पड़ने से चाय की फसल को बहुत नुकसान पहुँचता है इसलिए राँची में चाय की पैदावार अधिक सफल सिद्ध नहीं हो सकी है.

चाय का पौधा छाया पसंद करता है इसलिये खुले स्थानों की अपेक्षा छाया में यह अधिक तेजी से बढ़ता है. इसके लिए आर्द्र जलवायु की आवश्यकता होती है. इसकी पैदावार का घनिष्ट सम्बंध वायुमंडल में उपस्थित जल-वाष्प-तनाव से होता है. जब जलवायु शीतल तथा शुष्क होती है तो उस समय वृद्धि घट जाती है. पौधों पर तुषार का प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है.

चाय उद्योग के प्रारंभिक वर्षों में चाय का उत्पादन उत्तर-पूर्वी तथा उत्तर-पश्चिमी क्षेत्रों में और दक्षिण भारत में नीलगिरि के पहाड़ी क्षेत्रों तक ही सीमित था; किन्तु शीघ्र ही पता चल गया कि यदि मिट्टी का जल-निकास ठीक हो तो चाय निचले स्थानों पर भी उगाई जा सकती है. असम के कुछ उत्तम रोपण समुद्र तल से केवल 15–120 मी. की ऊँचाई पर पाए जाते हैं. उत्तरी बंगाल के दुआरों में चाय हल्के ढलान वाली भूमि पर हिमालय की पाद-पहाड़ियों की तली में 150–300 मी. की ऊँचाई तक ही उगाई जाती है.

चाय की सफल खेती के लिए मिट्टी गहरी, मुक्त जल-निकास वाली तथा पूरी गहराई तक खुली रचना वाली होनी चाहिए. इसे अम्लीय (पी-एच, 5.2 से 5.6 तक) होना चाहिए तथा कैल्सियम कार्बोनेट अथवा क्रियाशील कैल्सियम से मुक्त होना चाहिए. इसमें कार्बनिक पदार्थ तथा नाइट्रोजन की मात्राओं को

सीमित परास में होना चाहिए. उत्तर-पूर्वीय भारत में मिट्टी बलुई-जैसी हल्की से हल्की मिट्टी तक से लेकर कठोर से कठोर मृत्तिका (चिकनी मिट्टी) तक तथा कछार में पीट मिट्टियों के मिश्रण तक पाई जाती हैं. इस प्रकार की भिन्नता दक्षिण भारत की चाय उपजाने वाली मिट्टियों में भी पाई जाती है. अकृष्य जंगली मिट्टियाँ चाय की उपज के लिए अत्यधिक उपयुक्त होती हैं क्योंकि उनमें पौधों के लिए पर्याप्त भोजन संचित रहता है. चाय उगाने वाले पुराने इलाकों में या तो हरी खाद द्वारा या किसी अन्य प्रकार की खाद डाल कर कार्बनिक पदार्थ बनाए रखना होता है. भारत में चाय उगाने वाली मिट्टियों में फास्फोरस तथा पोटैश की प्रचुर मात्रा पाई जाती है क्योंकि फास्फेटी या पोटैसियम-युक्त उर्वरकों के डालने से उनका कम अनुप्रभाव दिखाई पड़ता है (*Tech. Commun., Bur. Soil Sci., Harpenden*, No. 32).

चाय की खेती

ऐसी कृषीय फसलें कम ही हैं जिन्हें पत्तियों के लिए उगाया जाता हो और ऐसी फसलें तो और भी कम होंगी जो बढ़ने वाली पूरी ऋतु में क्रमबद्ध एवं नियमित पत्तियों की चुनाई पर आश्रित हों. इस तरह चाय एक अद्वितीय फसल है. सुसंगठित उद्योग पूर्ण रूप से बराबर नये प्ररोहों की नियमित पूर्ति पर निर्भर है जिनमें सुगंध, सुवास, तीखापन इत्यादि वांछनीय लक्षण होते हैं. चाय उद्योग में प्रति हेक्टर उपज तथा तैयार माल की कोटि का काफी महत्व होता है.

प्रवर्धन – साधारणतः चाय का प्रवर्धन बीजों से किया जाता है. इसकी कलमों से भी पौधे उगाने में सफलता मिली है. अब असम में झाड़ियों से कलम काट कर उन्हीं क्षेत्र-खंडों का आपूर्णन किया जाता है. कलमें काटे जाने के समय पर ही प्रवर्धन की सफलता निर्भर करती है. उत्तरी भारत के लिये सर्वोत्तम समय अप्रैल से जून मास तक का है (*Annu. Rep., Indian Tea Ass.*, 1943, 2).

जो पौधे पर-निषेचित-बीज-झाड़ियों के बीजों से उगाये जाते हैं वे 4.5–6 मी. तक ऊँचे उठते हैं. उत्तर-पूर्वी भारत में बीजों की मुख्य फसल शीतकाल में (लगभग नवम्बर में) एकत्र की जाती है किन्तु दक्षिण में बीजों को मई से जून तक प्राप्त किया जाता है. अधिक समय तक रखने से बीजों की अंकुरण शक्ति जाती रहती है. इस कारण संग्रह के पश्चात् उन्हें शीघ्र ही बो देना चाहिए. बोने के पूर्व अच्छे बीजों का चुनाव चलनी से चाल कर तथा पानी पर तैराकर किया जाता है. जिन बीजों को दूसरी जगह बोने के लिए भेजना होता है, उन्हें सूर्य की रोशनी में सुखाकर सावधानीपूर्वक बक्सों में बन्द कर दिया जाता है.

यह आवश्यक है कि सर्वोत्तम उपलब्ध बीजों का ही उपयोग चाय के उत्पादन में किया जाय क्योंकि रोपण काफी महँगा पड़ता है तथा एक झाड़ी के उगने में इतना अधिक समय लगता है कि एक भी गलत बीज का चुनाव कालान्तर में अत्यन्त खर्चीला होगा. चाय की कोटि जटों के साथ बदलती रहती है इसलिये यह निश्चय कर लेना चाहिए कि बागानों में जो रोपण होता है वह उच्च कोटि की चाय प्राप्त करने की दृष्टि से होगा या घटिया किस्म की अधिक मात्रा में चाय उत्पन्न करने की दृष्टि से. इस बात का चुनाव हो जाने पर यह आवश्यक होता है कि केवल एक ही प्रकार के पौधों का रोपण किया जाए (Carpenter, *Sci. & Cult.*, 1936–37, 2, 239).

बीजों को 10 से 20 सेंमी. दूरी पर सतर्कतापूर्वक निर्मित तथा ढंग से छायादार रोपण क्यारियों में बो दिया जाता है. यदि बेहन को रोपण क्यारियों में 18–24 महीने तक रखना हो तो अन्तराल को बढ़ा देना चाहिए किन्तु यदि 6–12 महीनों में ही उखाड़ ली जानी हों तो दूरी कम रखनी चाहिए. जब तक बेहन 6 से 9 महीने की न हो जाए, खाद नहीं देनी चाहिए. एक क्विंटल बीज से (30,000–45,000 बीज) 1–2 हेक्टर में लगाने के लिये पर्याप्त बेहन प्राप्त होती है. रोपण क्यारियों में बेहन ईलवर्म (**हेटेरोडेरा मारियोनी**) के आक्रमण से ग्रसित हो सकती है. जो भूमि अधिक काल तक जंगलों से ढकी रहती है, सामान्यतया उस पर इनका आक्रमण नहीं होता किन्तु जिस भूमि पर पहले खेती हुई रहती है उस पर इस कृमि के आक्रमण का भय रहता है. ऐसी भूमियों पर लगभग 25 सेंमी. मोटी घास की तह बिछाकर आग लगा देते हैं. इससे मिट्टी की ऊपरी सतह पर उपस्थित ईलवर्म नष्ट हो जाते हैं. रोपण क्यारियाँ बनाने के पूर्व ही सावधानी से राख हटा दी जाती है. नौ महीने पुरानी बेहनों पर ईलवर्म का बहुत कम आक्रमण होता है.

झींगुर (**ब्रैकीट्रिपिस एकैटिनस** स्टॉल) भी छोटे पौधों को भूमि की सतह से काटकर हानि पहुँचाते हैं. रोपण क्यारियों के चारों ओर 60 सेंमी. ऊँची सघन बुनी टटिया लगाने से आक्रमण को रोका जा सकता है.

भूमि की तैयारी – चाय लगाने के लिए सबसे उपयुक्त भूमि अछूते वनों वाली है; घास के मैदानों का उपयोग भी किया जाता है किन्तु जंगली क्षेत्र अधिक उपयुक्त होते हैं. यदि भूमि पर जंगल हों तो पेड़ों को काट कर हटा देना चाहिए. लकड़ी के ठूँठों को भूमि पर नहीं जलाना चाहिए क्योंकि लकड़ी की राख मिट्टी को क्षारीय बना देती है और चाय ऐसे स्थानों पर नहीं उगती. घास के मैदानों में रोपाई के लिए उस क्षेत्र को साफ करके तथा घास की जड़ों को खोदकर या मशीन द्वारा नष्ट कर देना चाहिए. रोपण के पूर्व पार्श्वों में समोच्च रेखाएँ या बन्धियाँ और नालियाँ खोद लेना चाहिए.

मिट्टी द्वारा इष्टतम स्तर पर जल निग्रहण को बनाये रखने के लिए समुचित जल-निकासी की आवश्यकता होती है. चाय के लिए यह प्रायः निम्न प्रकार है : (1) बलुही मिट्टी, 15%; (2) अच्छी दुमट मिट्टी, 18–20%; (3) चिकनी मिट्टी, 25% या अधिक (Bald & Harrison, 19).

जल-निकासी में आमतौर से सँकरी निकास-नालियाँ होती हैं जो 22·5 सेंमी. चौड़ी तथा औसतन 90 सेंमी. गहरी होती हैं, जो हेरिंग मछली की अस्थियों के क्रम पर एक बड़ी नाली से जुड़ी रहती हैं. नालियों की गहराई मिट्टी के भीतर जितनी दूर तक चाय की जड़ें जाती हैं, वर्षा तथा सूखे मौसम में मिट्टी में उपस्थित जल-स्तर की गहराई पर तथा मिट्टी की आर्द्रता-ग्रहण शक्ति पर निर्भर करती है. ढालू भूमि में ढाल की समोच्च रेखा के साथ नालियाँ खोदी जाती हैं जिससे कटाव से रक्षा हो सके, मिट्टी की हानि तथा ऊपरी क्षेत्रों से निचली सतह वाले क्षेत्रों में बहकर आनेवाले पानी का जमाव न हो. नालियाँ ढाल के साथ ऐसे कोण पर बनाई जाती हैं कि उसमें पानी के साथ बहकर आने वाले मिट्टी के कण एकत्र हो जाएँ जहाँ से उन्हें वर्षभर में एक बार एकत्र करके पुनः भूमि में ऊपर से डाल दिया जावे. इस प्रकार ढाल के साथ कोण बनाकर काटी गई नालियों में कटाव का भय नहीं रहता. नालियों की माप एवं संख्या भूमि के ढाल, मिट्टी की प्रकृति तथा वर्षा की मात्रा के अनुसार बदलती रहती है. ये चिकनी दुमट मिट्टी में पास-पास तथा बलुही मिट्टी में दूर-दूर बनाई जाती हैं.



चित्र 3—दुआरों में एक चाय उद्यान

रोपण—रोपण की विधि मुख्य रूप से भूमि की प्रकृति पर निर्भर करती है. अल्प ढालू तथा समतल भूमियों पर चाय लगभग 1.35 मी. की दूरी पर या तो आधार रेखा से 90° या 60° पर लगाई जाती है. ये दोनों विधियाँ क्रमशः वर्गाकार तथा त्रिभुजाकार रोपण कहलाती हैं. खड़े ढालों तथा पहाड़ी भागों में समोच्च रेखाओं का अनुगमन करते हुए रोपाई की जाती है. वर्गाकार रोपण में प्रति हेक्टर 5,375 पौधे तथा त्रिभुजाकार में 6,207 पौधे लगाए जाते हैं. वेदिकाओं पर झाड़ियाँ 90 सेंमी. की दूरी पर लगाई जाती हैं.

बेहनों को पहले से खुदे हुए, लट्ठों द्वारा निशान लगे छेदों में लगाते हैं. बेहनों की जड़ों के चारों ओर क्यारी में अनझड़ी मिट्टी लगी रहती है. छेदों में भरने के लिये साधारणतः भलीभाँति सड़ी हुई पशुओं की कम्पोस्ट खाद मिट्टी की वापसा एवं आर्द्रता-ग्रहण शक्ति को बनाए रखने में सहायक बनती है. यह जड़ों की वृद्धि को भी प्रोत्साहित करती है (Bald & Harrison, 78).

चाय के पौधे पेड़ की छाया में सर्वाधिक विकसित होते हैं. इसके लिये जिन पौधों का उपयोग किया जाता है वे फलीदार जाति के होते हैं जैसे कि **अल्बिज़िया स्टीपुलेटा, अल्बिज़िया प्रोसेरा,** तथा **अल्बिज़िया मोल्युकाना.** रोपणों में जिन अन्य पेड़ों को उगाया जाता है वे हैं : **अ. लेबेक, डेल्बर्जिया असामिका, डेरिस रोबस्टा, ल्यूकेना ग्लाऊका, ग्रीविलिया रोबस्टा, ग्लिरीसिडिया मैक्यूलेटा, अकेशिया** जातियाँ तथा **एरिथ्रायना** जातियाँ. बेहनों को प्रतिरोपित करते समय खेतों में 15 मी. की दूरी पर लगाया जाता है.

हाल ही तक ऐसा विश्वास था कि मिट्टी को लगातार उलटते-पुलटते रहने से चाय की झाड़ियाँ ठीक प्रकार से बढ़ती हैं तथा इनसे अधिकतम उपज प्राप्त होती है किन्तु अब यह ज्ञात हो चुका है कि चाय की पैदावार पर मिट्टी के उलटने-पुलटने का नहीं, अपितु अपतृणों की वृद्धि की रोकथाम का अधिक प्रभाव पड़ता है. अब चाय के बागानों की निराई में मिट्टी को ऊपर ही ऊपर खुरच करके अपतृणों से मुक्त कर दिया जाता है. बाद में झाड़ियों को भूमि पर पूरी तरह बढ़ने दिया जाता है जिससे ये फैलकर भूमि को ढक लेती हैं. इस कारण अपतृण की वृद्धि स्वयं रुक जाती है. चाय की झाड़ियों द्वारा आच्छादित स्वच्छ मिट्टी पर चाय की अधिकतम उपज प्राप्त होती है.

परिस्थितियों के अनुसार अपतृण की वृद्धि को रोकने का उपाय करना चाहिए. गहरी जड़ों वाले दीर्घकाल से जमे हुए अपतृणों को दबाने का सबसे सुगम उपाय भलीभाँति गहरी जुताई करना है. वसंत या आर्द्र ऋतु में जब मिट्टी नम होती है तो 10–12 सेंमी. गहराई तक हल्की जुताई करके अपतृणों को बढ़ने से रोका जा सकता

हे. नई या भलीभाति कटी-छँटी चाय के लिए वर्षभर मे ऐसी कई जुताइयो की आवश्यकता होती ह, जबकि भलीभाँति बढी हुई चाय के लिए जुताई आवश्यक नही होती हे, केवल हाथ से निराई पर्याप्त होती हे. समतल भूमियो पर, जैसे कि असम मे, हाथ से निराई एवं अपतृणो का पूर्ण दमन सतोषप्रद हो सकता है किंतु खडे ढालो पर अपतृणो का उन्मूलन करने से मिट्टी का क्षरण हो जाता हे. ऐसी दशा मे केवल चुने हुए अपतृणो को उखाड़ा जाता हे जिससे घास जैसे अनिष्टकारी अपतृण साफ हो जाते है तथा रसीली झाडियाँ बची रहती है. ये झाडियाँ मिट्टी को पानी के साथ बहने से रोकती है तथा तेज धूप से भी रक्षा करती हैं.

भूमि पर झाडियो द्वारा भलीभाँति छाया करके तथा गिरी हुई पत्तियो को (नये चाय के पोधो की जडो की सुरक्षा के लिए) फैलाकर सूखे से रक्षा की जाती हे.

पत्तियो तथा कतरनो को सर्दी के मौसम मे मिट्टी मे गाड दिया जाता हे किन्तु अधिक गहराई पर नही. हो द्वारा कतरनो को अधिक गहराई पर गाडने से सतही पलवार की अपेक्षा कोई विशेष लाभ नही होता अपितु हो चलाने से पतली पोषक जडे कट जाती है तथा सर्दी के मौसम के बाद झाडियाँ देर से बढती हैं.

खाद देना—प्रति हेक्टर 1,000 किग्रा. चाय की उपज से प्रतिवर्ष लगभग 55 किग्रा. नाइट्रोजन 30 किग्रा पोटैश, तथा 10 किग्रा. फास्फोरिक अम्ल का ह्रास होता रहता ह. चाय द्वारा नाइट्रोजन की क्षति मिट्टी की औसत पुन प्राप्त करने की शक्ति से परे होती हे, अत. लगातार फसल प्राप्त करते रहने के लिये नियमित रूप से खाद देने की आवश्यकता पडती हे.

उत्तर-पूर्व भारत के चाय के इलाको मे किये गये अनेक प्रयोगो से यह सिद्ध हो गया हे कि चाय की स्वस्थ झाडियो के लिए और पत्तियों की पैदावार के लिए नाइट्रोजन-युक्त खादो की आवश्यकता होती हे. पोटैश तथा फॉस्फोरिक अम्ल के प्रयोगो से केवल कभी-कभी तथा कुछ ही वृद्धि हुई.

लगातार 20 सालों के प्रयोगों द्वारा यह सिद्ध हो गया हे कि नाइट्रोजन डालने की अपेक्षा उतने ही अमोनियम सल्फेट उर्वरक के प्रयोग से सदैव सर्वोत्तम पैदावार प्राप्त हुई हे. कार्बनिक स्थूल खादो का प्रयोग भी चाय वाली मिट्टियो पर किया गया हे किन्तु इनसे अमोनियम सल्फेट से बढकर लाभ नही होता. उर्वरा शक्ति बनाये रखने के लिये झाडियो की कतरनो (लगभग 1,000 किग्रा. प्रति हेक्टर प्रतिवर्ष) से जितना कार्बनिक पदार्थ चाहिए वह पर्याप्त होता हे. हरी खादो का भी प्रयोग किया गया हे तथा प्रयोगो द्वारा पता चला हे कि अरहर (**कैजानस कैजान**) अथवा बोगा मेडेलोवा (**टेफ्रोसिया केनडिडा**) की सालभर या अधिक की फसल को खेतो मे ही जोत देना लाभदायक होता हे (Cooper, *Mem Tocklai exp. Sta.*, No. 6, 1946; Carpenter, *Emp. J exp Agric.*, 1938, 4, 1)

चाय का पौधा अम्लीय मिट्टी मे बढता ह. मिट्टी मे अमोनियम सल्फेट डालने से मिट्टी अम्लीय बनती ह कैल्सियम सायनामाइड जैसी खादो से कुछ वर्षो तक खूब लाभ मिलता हे किन्तु धीरे-धीरे मिट्टी की अम्लता घट जाती है और चाय के पौधे की वृद्धि रुक जाती है. यद्यपि सोडियम नाइट्रेट से मिट्टी की अम्लता मे प्रचुर परिवर्तन नही होता किन्तु मिट्टी की भौतिक दशा प्रभावित होती हैं. इससे मिट्टी चिपकने लगती है, जल-निकास अवरुद्ध हो जाता ह और वातन का ह्रास होता रहता हे. ऐसी दशा में गंधक अथवा अमोनियम सल्फेट डालने से मिट्टी की दशा शीघ्रता से सुधर जाती हे.

नाइट्रोजनी उर्वरको के प्रयोग से चाय की पत्ती मे नाइट्रोजन की मात्रा बढ जाती हे किन्तु अत्यधिक मात्रा डालने से तैयार चाय की उत्तमता (गुण) प्रभावित होती है फास्फेटी उर्वरको के प्रयोग से चाय की उत्तमता बढती हे किन्तु पोटैश का कोई स्थिर प्रभाव नही पडता. श्रीलंका मे रोपण सम्बन्धी अनुभव से पोटैश का लाभकारी प्रभाव अनुमोदित होता हे किन्तु असम मे हानिकारक प्रभाव देखा गया हे. सम्भव हे कि पोटैश की एक अधिकतम मात्रा के ऊपर चाय के गुण पर उसका बुरा प्रभाव पडता हो (Bald & Harrison, 120)

2–3 वर्ष पुराने चाय के पौधे कम मात्रा मे डाले गये नाइट्रोजन (लगभग 20 किग्रा./हेक्टर) से ही अधिक लाभान्वित होते हैं किन्तु 4 वर्ष पुराने पोधो के लिये यह मात्रा लगभग 40 किग्रा./हेक्टर कर दी जानी चाहिए. ज्यो-ज्यों पोधे पुराने होते जाते है त्यो-त्यो उनके लिए अधिक मात्रा मे नाइट्रोजन की आवश्यकता पडती ह. नाइट्रोजनी उर्वरको से न केवल वृद्धि मे सहायता मिलती हे वरन् लाल किट्ट (**सेफैलियारास पैरासाइटिकस**) के प्रति प्रतिरोधकता भी उत्पन्न होती हे. फॉस्फेटी खादों से नये पौधो को लाभ पहुँचता हे किन्तु साथ ही इनसे खरपतवारों को बढने का अवसर मिल जाता ह. पोटैश का भी लाभकारी प्रभाव होता हे किन्तु यह तीसरे अथवा चौथे वर्ष तक ही सीमित रहता हे. नवीन रोपणो के लिये खादो का सम्यक मिश्रण संस्तुत किया जाता हे.

छँटाई—प्रबल वानस्पतिक वृद्धि लाने के लिए, चाय-उत्पादन के लिए चाय की पत्तियो की अविराम सपूर्ति बनाये रखने के लिए एव हाथ से चुनने के लिए चाय की झाडी को उपयुक्त ऊँचाई तक रखने के लिये उसकी छँटाई करनी आवश्यक हे. जब पोधा नितान्त किशोर होता हे तो उसे जमीन से कुछ इच ऊँचाई पर से छाँट देने की सामान्य प्रथा हे. इससे मुख्य तना बना रहता ह और पार्श्वीय प्ररोहो की बाढ को प्रोत्साहन मिलता हे जिससे यह हाथ द्वारा चुने जाने के लिए उपयुक्त झाडी के आकार-प्रकार मे विकसित हो जाता हे. इसकी सुविधाजनक ऊँचाई 90–120 सेमी. ह. पहले पहल की कुछ छँटाइयाँ 2 से 5 वर्ष पुराने पौधो मे की जाती हैं जब सुषुप्त अथवा मन्द विकास का काल होता हे और खाद्य-कोष चरमावस्था पर रहता हे.

प्रथम निम्न-कटाई के पश्चात् पाधो की नियतकालिक छँटाई की जाती हे. सुविधा की दृष्टि से छँटाई का वर्णन दो शीर्षको मे किया जा सकता हे — हल्की छँटाई तथा गहन या मध्यम छँटाई

हल्की छँटाई—जलवायु की दशाओ के अनुसार विभिन्न अन्तरालो पर हल्की छँटाई की जाती हे. उत्तर-पूर्व भारत मे शुष्क ठडे मौसम मे, जब झाडियाँ सुषुप्तावस्था मे रहती है, तभी उन्हे प्रतिवर्ष अथवा हर दूसरे वर्ष छाँटने का प्रचलन हे. दक्षिण भारत मे सुषुप्तावस्था सुनिर्दिष्ट न होने के कारण 2–3 वर्षो के अन्तराल मे छँटाई की जाती हे. अधिक ऊँचे स्थानो पर यह अन्तराल और भी विस्तृत होता हे. पिछली काष्ठ-वृद्धि पर ही इस प्रकार से कटाई की जाती हे कि पिछली कटाई मे 0 6 सेमी. से लेकर 5 सेमी ऊपर झाडी छूट जाती हे. यदि काष्ठ 2 वर्ष से अधिक पुराना न हो तो जो फसल तैयार होती हे वह छँटाई के समय छोडे गये काष्ठ की लम्बाई पर निर्भर नही करती.

गहन अथवा मध्यम छँटाई—जब झाडियाँ इतनी ऊँचाई ग्रहण कर लेती है कि उनकी चनाई नहीं हो सकती अथवा पौधे का कोई



चित्र 4 – चाय चुनने की विधि – A : मातृ स्तम्भ; B : प्रथम श्रेणी की पार्श्विका; C_1 और C_2 : द्वितीय श्रेणी की पार्श्विका

अंग रोगग्रस्त हो जाता है तो गहन अथवा मध्यम छँटाई का प्रश्रय लिया जाता है. रोगग्रस्त होने पर केवल कुछ तनों को हटाना पड़ सकता है अथवा मूल संधि-छँटाई की आवश्यकता पड़ सकती है. इसमें झाड़ी के पूर्ण ढाँचे को जमीन की सतह तक विलग करना पड़ सकता है. झाड़ियों को जमीन से 45–60 सेंमी. की ऊँचाई तक छाँटने की प्रथा है. बीच-बीच में हल्की छँटाई की जाती है. एक समय झाड़ियों की ऊँचाई कम करने के लिए 30 सेंमी. तक की छँटाई की संस्तुति की जाती थी जिससे गहन छँटाई की आवश्यकता पड़ने के पूर्व पौधे कुछ वर्षों तक बढ़ते रहें किन्तु अब यह प्रथा छूट गई है क्योंकि उग्र छँटाई से तमाम पौधे मर जाते हैं.

गहन छँटाई निम्नतम वृद्धि के समय की जाती है. उत्तर-पूर्व भारत में ठंडे मौसम में छँटाई करने से धूप से झुलसने वाली क्षति का निवारण हो जाता है. दक्षिण भारत में धूप से झुलसने के कारण प्रचुर हानि होती है. यद्यपि इससे छुटकारा मिल सकता है किन्तु रोगजनक सूक्ष्मजीवों की सतत उपस्थिति के कारण घाव-संक्रमण का भय बना रहता है.

चुनाई – चाय की कटाई के अन्तर्गत उगे प्ररोहों का संग्रह होता है जिसमें शीर्ष-कलिका तथा उससे नीचे की दो-तीन पत्तियाँ और बीच का डंठल सम्मिलित रहते हैं. दो पत्तियाँ एवं एक कलिका चुन लेने पर चुनाई 'पूर्ण' कहलाती है. यदि इसमें कुछ कमी रहे तो उसे "अत्यन्त उत्तम" कहते हैं. दो से अधिक पत्तियों की चुनाई "बेढंगी" कहलाती है. चुनी गई पत्तियों पर ही चाय की कोटि निर्भर करती है. पत्तियों में टैनिन की मात्रा आयु के अनुरूप बदलती रहती है. न्यून मात्रा में टैनिन की उपस्थिति से निकृष्ट चाय मिलती है. चाय के प्रफुल्लनों में टैनिन की निम्नांकित प्रतिशतताएँ पाई गई : कलिका, 28; प्रथम पत्ती, 28; द्वितीय पत्ती, 21; तृतीय पत्ती, 18; चतुर्थ पत्ती, 14; कलिका एवं द्वितीय पत्ती के बीच का डंठल, 12; तथा द्वितीय एवं चतुर्थ पत्ती के बीच का डंठल, 6. टैनिन की मात्रा के अतिरिक्त पत्तियों एवं चुने हुए प्ररोहों के पूर्ण भार का अनुपात भी तैयार माल की कोटि को प्रभावित करता है. तीन पत्तियों एवं एक कलिका से युक्त प्ररोह के औसत भार के विश्लेषण से पता चला कि सम्पूर्ण प्ररोह के भार का 6·55 कलिका में, 10·35 प्रथम पत्ती में, 20·86; द्वितीय पत्ती में, 30·98; तृतीय पत्ती में, और 31·23% डंठल में था (Carpenter, *Sci. & Cult.*, 1936–37, **2**, 239).

विभिन्न परिस्थितियों के अन्तर्गत चुनाई की अनेक उपयुक्त विधियों का विकास किया गया है. उन क्षेत्रों में जहाँ सुषुप्तकाल नियत है, जैसे कि उत्तर-पूर्व भारत में, वहाँ पर प्ररोह को 4 पत्तियों के निकल आने तक बढ़ने दिया जाता है. इनमें से कलिका एवं प्रथम दो पत्तियाँ तो चुन ली जाती है और शेष दो पत्तियों को झाड़ी में रहने दिया जाता है. सर्वोच्च छँटाई-चिह्न से आगे 15 सेंमी. लम्बाई तक नवीन वृद्धि को रहने दिया जाता है और चुनाई करते हुए इसी ऊँचाई को क्षैतिज सतह पर लाकर छोड़ दिया जाता है.

गहन चुनाई की अपेक्षा हल्की चुनाई अच्छी है क्योंकि इससे अच्छी किस्म की पत्तियाँ प्राप्त होती हैं और खेती करने की लागत एवं श्रम में काफ़ी बचत होती है. हल्की (विरल) चुनी गई झाड़ियाँ सघनता से चुनी गई झाड़ियों की तुलना में अधिक स्वस्थ होती हैं और सामान्यतः लाल किट्ट एवं बैंगनी मूल-गलन से मुक्त होती हैं. चाय उद्योग के प्रारम्भिक काल में, जैसे ही किसी प्ररोह में पत्तियों की आवश्यक संख्या उग आती थी कि प्रत्येक प्ररोह को चुन लिया जाता था. झाड़ी में लगातार नवीन प्ररोह उत्पन्न होते रहें इसके लिए यह आवश्यक है कि कुछ नवीन सक्रिय पत्तियों को बिना चुने छोड़ दिया जाए जिससे पौधा अपने ऊतकों के विकास के लिये आवश्यक वस्तुएँ संश्लेपित कर सके. आधुनिक प्रथा के अन्तर्गत झाड़ी की सामान्य सुरक्षा के अनुरूप अधिक से अधिक पत्तियाँ तोड़ ली जाती हैं (*Annu. Rep., Indian Tea Ass.*, 1945).

चुनाई के पश्चात् छोड़ी गई पत्तियों के कक्ष से नये प्ररोह विकसित होते हैं जिन्हें प्रफुल्लन कहा जाता है. दूसरे तथा उसके बाद के प्रफुल्लनों को इसलिये चुन लिया जाता है जिससे कि प्ररोह के आधार पर एक से अधिक अविकसित पत्ती, जिसे झानम कहते हैं, न रह पाये. किन्तु इस प्रकार की चुनाई दुर्बल झाड़ियों के लिये अनुपयुक्त है. इसकी संतोषजनक विधि होगी कि द्वितीयक प्ररोह पर और कभी-कभी पार्श्वीय प्ररोह पर भी एक पूर्णतया विकसित पत्ती को छोड़ दें. दक्षिण भारत में, जहाँ सालभर तक चाय की चुनाई होती रहती है, वहाँ पर द्वितीयक प्ररोहों पर पूर्णतया विकसित नवीन पत्तियों को छोड़ रखना आवश्यक है. किन्तु इससे बाद की चुनाई में असुविधा होती है, क्योंकि बीच में झाड़ियाँ इतनी ऊँची हो जाती है कि चुनने वाले नई पत्तियों तक नहीं पहुँच पाते. झानम तक चुनाई करने से झाड़ी की ऊपरी सतह एकदम सपाट रहती है जिससे चुनने में सुविधा होती है.

चाय में नये प्ररोह जल्दी ही विकसित हो जाते हैं जिससे 7–10 दिनों के अल्प समयान्तरों में चुनाई आवश्यक हो जाती है. ठंडी जलवायु में चुनाई का समयान्तर 14 दिन हो सकता है. गहन छँटाई की गई झाड़ियों की तब तक चुनाई नहीं की जाती जब तक कि नवीन वृद्धि जमीन से 75 सेंमी. की ऊँचाई प्राप्त नहीं कर लेती. चाय की चुनाई का काम औरतें हाथों से करती हैं. वे झाड़ियों के चारों ओर जा जाकर नवीन पत्तियों को टोकरियों में एकत्र करती जाती हैं.

उत्तर-पूर्व भारत में चाय की झाड़ी में एक ऋतु में 5–6 बार प्रफुल्लन लगते हैं और विभिन्न चुनाइयों के बीच का अन्तराल औसतन एक सप्ताह का होता है. विभिन्न बार के प्रफुल्लनों से तैयार की

गई चाय के गुण भिन्न-भिन्न होते हैं किन्तु द्वितीय एवं चतुर्थ बार के प्रफुल्लन श्रेष्ठ माने जाते हैं.

अब चुनाई को यांत्रिक बनाने के प्रयास भी हुए हैं और एक लघु डायनैमो द्वारा चालित चुनाई यंत्र उपयोगी पाया गया है (Kingdon-Ward, *Capital*, 1949, **122**, 582).

उपज – प्रत्येक प्रौढ़ झाड़ी से प्रतिवर्ष लगभग 100 ग्रा. हरे प्ररोह प्राप्त होते हैं जो प्रति हेक्टर प्रतिवर्ष 1,040 किग्रा. तैयार चाय के तुल्य होते हैं. अधिक ऊँचाइयों पर कम ऊँचाइयों की अपेक्षा एक-जैसी झाड़ियों से कम उपज मिलती है. उत्तर-पूर्व भारत में खरपतवारों से रहित रोपणों से बिना खाद डाले एवं छायादार वृक्षों के अभाव में प्रति हेक्टर प्रतिवर्ष लगभग 450 किग्रा. तैयार चाय अथवा लगभग 2,000 किग्रा. ताजी हरी पत्तियाँ प्राप्त होती हैं. इससे ऐसे रोपणों से सम्भावित उपज की न्यूनतम सीमा का संकेत मिलता है जिनमें मिट्टी को समुन्नत बनाने के लिये कोई उपचार नहीं किया जाता. अधिक उपज के लिये खाद डालना आवश्यक है. टोकलाई अनुसन्धान केन्द्र में यह देखा गया है कि प्रति हेक्टर 160 किग्रा. तक नाइट्रोजन डालने से उपज में वृद्धि होती है. इसके ऊपर भी ऐसा हो सकता है किन्तु इसे प्रयोगों द्वारा सिद्ध नहीं किया जा सका है. उपयुक्त जलवायु एवं भूमि परिस्थितियों में तथा समुचित प्रबंध होने पर प्रतिवर्ष प्रत्येक झाड़ी से 2 किग्रा. तक ताजी पत्तियाँ प्राप्त हो सकती हैं जो प्रति हेक्टर प्रतिवर्ष 2,500 किग्रा. तैयार चाय के तुल्य होंगी.

यद्यपि प्रति हेक्टर से प्राप्त होने वाली उपज अत्यन्त महत्वपूर्ण है किन्तु उपज के गुण (उत्तमता या कोटि) को दृष्टि से ओझल नहीं किया जा सकता. बाजार भाव के अनुसार मूल्यांकन करने पर ऊँचे स्थानों में उत्पन्न होने वाली चाय उष्ण अवस्थाओं में उगाई गई चाय से कहीं उत्तम कोटि की होती हैं. यहाँ तक कि झाड़ियों में भी परस्पर भिन्नता पाई जाती है. समान दशाओं में उगने वाली झाड़ियों से प्राप्त चाय के बाजार भाव में 2 रुपया प्रति किग्रा. से अधिक का अन्तर पाया जा सकता है.

किस्में – चाय की कोई विशुद्ध किस्म ज्ञात नहीं है. किसी एक नामांकित किस्म के बीज पृथक्-पृथक् झाड़ियों से प्राप्त बीजों का संग्रहमात्र होते हैं जो सामान्य आकारिकी-लक्षणों में समानता के कारण तथा पास-पास उगने के कारण चुन लिये जाते हैं. बीजों के ऐसे संग्रह को जट कहते हैं. यद्यपि एक जट के अन्तर्गत पर्याप्त व्यष्टिगत विभिन्नता पाई जाती है किन्तु सतर्कतापूर्ण चयन के द्वारा दूसरों की अपेक्षा उत्तम जट प्राप्त कर सकना सम्भव है. एक ही जट के अन्तर्गत चाय की झाड़ियाँ फसल-क्षमता एवं कोटि में भिन्नता प्रदर्शित करती हैं अतः इन दोनों कारकों को परस्पर सम्बन्धित नहीं किया जाता. अधिक उपज देने वाली झाड़ी उच्च-कोटि की पत्तियाँ प्रदान कर सकती है और नहीं भी. किन्तु यदि किन्हीं दशाओं के अन्तर्गत किसी झाड़ी से कोई उपज प्राप्त होती हो तो उस झाड़ी में नाइट्रोजन की खाद देने से उपज तो बढ़ जाएगी किन्तु उसकी कोटि में ह्रास भी होगा. खाद के द्वारा उपज में वृद्धि लाने के लिये कुछ हद तक सतर्कता बरतनी होगी.

लगभग 40 वर्ष बाद चाय की झाड़ियों से प्राप्त उपज में गिरावट होने लगती है. किन्तु मिट्टी के क्षीण होने, समुचित मात्रा में खाद न डालने अथवा रोगों के सूत्रपात के कारण भी ऐसा हो सकता है. कोई-कोई झाड़ी 150 वर्षों तक स्थिर उपज प्रदान करती देखी गई है.

रोग तथा नाशकजीव – नाशकजीवों एवं झुलसे के द्वारा चाय की झाड़ियों को होने वाली क्षति मुख्यतः खेती की परिस्थितियों द्वारा प्रभावित होती है. इनमें सुधार लाने पर क्षति में कमी आती है.

यद्यपि लाल किट्ट (**सिफैलियारास पैरासाइटिकस**) तथा भूरे झुलसे (**पेस्टालोटिया थीए** सवाडा) काफ़ी दूर-दूर तक फैलने वाले रोग हैं किन्तु इनसे गम्भीर क्षति नहीं होती. **एक्सोबैसिडियम वेक्सेंस** मैसी द्वारा फफोला झुलसा उत्पन्न होता है और यह दार्जिलिंग तथा ऊपरी असम में प्रचलित है. दक्षिण भारत तथा श्रीलंका में भी यह उग्र रूप धारण कर चुका है. इससे गहन छँटाई की गई झाड़ियों एवं किशोर पौधों की नूतन वृद्धि को गहरी हानि पहुँचती है. नियमित गहन छँटाई द्वारा तथा किशोर पौधों की रोगग्रस्त होने के कालों में ताम्र-फफूँदनाशियों द्वारा फुहार करके क्षतियों को काफी कम किया जा सकता है. पर्याप्त प्रौढ़ पत्तियों से युक्त बिना छँटाई की गई अथवा हल्की छँटाई की गई झाड़ियों में रोग से थोड़ी ही हानि पहुँचती है.

इधर के वर्षों में श्याम-गलन रोग अत्यन्त भयानक रूप धारण कर चुका है. यह **कोर्टिसियम इन्विसम** पेच तथा **कोर्टिसियम थीए** बर्न. द्वारा प्रसारित होता है. इससे बचने की प्रभावशाली विधि आसंजकों से युक्त ताम्र फफूँदनाशियों का योजनाबद्ध छिड़काव है.

मूल रोगों को उत्पन्न करने वाली कई फफूँदियाँ सड़ते हुए ठूंठों से सम्बंधित होती हैं. इनमें से **अस्टलिना जोनाटा** लेविल्ले, **फोमेस लिग्नोसस** क्लोट्ज़स्च तथा **रोज़ेलिनिआ अरकुएटा** पेच प्रमुख हैं. रोपणों के बीच से मृत झाड़ियों को नियमित रूप से उखाड़ते रहने से क्षति में कमी होती है. **डिप्लोडिया** जाति तथा **स्फेरोस्टिल्बे रिपेंस** बर्कले और ब्राउन जैसे अन्य मूल-रोग प्रतिकूल भूमि-दशाओं से संबद्ध हैं. इनकी रोकथाम सरलता से की जा सकती है. गहन छँटाई के पश्चात् झाड़ियों के क्षय से होने वाली हानि शायद ही किसी विशिष्ट परजीवी के कारण होती हो.

चाय की खेती की विधियों एवं झुलसों के आयतन में सम्बन्ध जानने के लिये किये गये अध्ययन से यह पता चला है कि उपचार में परिवर्द्धन करने से पोषी पौधा परजीवियों के द्वारा कम प्रभावित होता है.

चाय के असंख्य नाशकजीव हैं किन्तु उनमें से कइयों का प्रभावशाली नियन्त्रण उनके जीवनचक्रों के अनुरूप खेती की पद्धतियों को विकसित करके प्राप्त किया जा चुका है. कभी-कभी थोड़े-थोड़े समयान्तर पर चाय में महामारियाँ फैल जाती हैं किन्तु उन पर सरलतापूर्वक नियन्त्रण प्राप्त किया जा सकता है.

चाय का सबसे विनाशकारी नाशकजीव चाय का मच्छर (**हेलोपेल्टिस थिवोरा** वाटरहाउस) है. खेती की उन्नत विधियों एवं उपयुक्त जटों को रोप कर क्षति कम की जा सकती है. इस दिशा में इतनी उन्नति की जा चुकी है कि जो क्षेत्र पहले बुरी तरह ग्रस्त होते थे अब वे इस नाशकजीव से सर्वथा मुक्त हो चुके हैं. यह नाशकजीव उत्तर-पूर्व भारत की अपेक्षा दक्षिण भारत में सम्भवतः अधिक प्रचण्ड रूप धारण करता है क्योंकि वहाँ चाय की झाड़ियों को विश्राम नहीं मिलता. उत्तर-पूर्व भारत में ठंडे मौसम के कारण यही नाशकजीव विलुप्त हो जाता है और जलवायु के कारण नियन्त्रित रहता है. दक्षिण भारत में यह मच्छर एक मरमिथिड कीट तथा बर्र (**यूफोरस** जाति) द्वारा पोषित होता है.

चाय का सामान्य नाशीजीव लाल मकड़ा (**टेट्रॅनिक्स बायोकुलेटस**) है, जो एक छोटा लाल दीमक है और चाय की नवीन कोंपलों पर

आक्रमण करता है. यह सारे वर्ष उपस्थित रहता है किन्तु जब छँटाई के बाद झाड़ियों में नवीन प्ररोह निकलते रहते हैं या जब बिना छँटाई की गई झाड़ियों में पहली बाढ़ होती रहती है तो यह निकलता है और गम्भीर क्षति पहुँचाता है. यह क्षति प्रत्यक्षतः नाशकजीव के कारण उतनी नहीं होती जितनी कि पत्तियों के सक्रिय पृष्ठ-क्षेत्र में कमी हो जाने से. इससे पत्ती की स्वांगीकरण-क्षमता में एकाएक घटी हो जाती है. भलीभाँति अनुकूलित झाड़ियों की फसल को विशेष हानि नहीं पहुँचती, भले ही वह विलम्बित हो जाती है. फिर भी किशोर किन्तु दुर्बल पौधों में नाशकजीव के कारण गम्भीर क्षति पहुँच सकती है. यह ध्यान रखना होगा कि क्षतिग्रस्त पौधे की नई पत्तियाँ बढ़ कर काफ़ी बड़ी हो लें तभी उनको चुनकर पृथक् किया जा सकता है. इस नाशकजीव को नियन्त्रित करने के लिये नूतन तथा गहन छँटाई की गई झाड़ियों पर चूना-गंधक विलयन से छिड़काव करना चाहिए. जब चाय के पौधे प्रौढ़ हो जाएँ तभी मिट्टी में नाइट्रोजन उर्वरक डालना चाहिए जिससे झाड़ियों में अधिक पत्तियाँ उत्पन्न हो सकें.

तना छेदकों से भी थोड़ी हानि पहुँचती है. इनमें से सर्वसामान्य **जेयोज़ेरा काफिया** है. रोकथाम के उपायों द्वारा तथा ग्रस्त शाखाओं को प्रारम्भिक अवस्था में विलग कर देने से इन तना-छेदकों पर विजय प्राप्त की जा सकती है. दीमक भी चाय का प्रमुख नाशकजीव है.

चाय का उत्पादन

व्यापारिक चाय कई रूपों में उपलब्ध है : काली चाय, हरी चाय, ऊलांग चाय, ईटिया चाय तथा लटपट चाय. भारतवर्ष में चाय की उपज का ज्यादातर भाग काली चाय के रूप में परिणत कर लिया जाता है. हरी चाय का उत्पादन थोड़ी मात्रा में ही होता है और वह भी विशिष्ट क्षेत्रों में निर्यात करने के उद्देश्य से किया जाता है. अन्य रूपों का उत्पादन प्रयोगात्मक पैमाने पर ही किया जाता है.

चुनी हुई चाय की पत्तियाँ टोकरियों में संग्रह की जाती हैं और इन्हें जल्दी से जल्दी बन्द करके कारखानों में भेज दिया जाता है. यह ध्यान रखा जाता है कि पत्तियाँ न तो टूटें और न अधिक गरमावें.

काली चाय

काली चाय तैयार करने में चार प्रमुख क्रियाएँ निहित हैं : (1) मुरझाना, (2) ऐंठना या बेल्लित करना, (3) किण्वन, (4) सुखाना या दगधाना.

मुरझाना – कारखाने में पहुँचते ही पत्तियों को टाँडों में फैला दिया जाता है. इसका उद्देश्य पत्तियों को आंशिकतः किन्तु समान रूप से सुखाना होता है जिससे वे नरमा जाएँ. उत्तर-पूर्व भारत में सुखाने की क्रिया बगल से खुले घरों के भीतर पत्तियों के ऊपर से प्राकृतिक समीर प्रवाहित करके सम्पन्न की जाती है. दक्षिण भारत में पत्तियों को बन्द प्रकोष्ठों में, जिनमें उष्ण वायु प्रवाहित करने का प्रबन्ध होता है, मुरझाया जाता है. आवश्यकता पड़ने पर शक्ति-चालित पंखों का इस्तेमाल किया जाता है. मुरझाने के लिये 18 घंटे समय देने की प्रथा है. इस काल में पत्तियों में जल की मात्रा लगभग 40% कम हो जाती है. मानसून के समय जब गीली पत्तियाँ कारखाने में संसाधन के लिए आती हैं तो मुरझाने की परिस्थितियाँ ऐसी होनी चाहिए कि सतही जल तेजी से दूर किया जा सके. जिन इलाकों में भारी से भारी फसल के समय अधिक एवं लगातार वर्षा होती रहती है वहाँ मुरझाने की प्रक्रिया को त्याग देना ही श्रेयस्कर होता है. काली चाय के उत्पादन के लिये मुरझाना अत्यावश्यक नहीं समझा जाता, यद्यपि इसका प्रभाव तैयार उत्पाद के स्वरूप एवं कोटि पर अवश्य पड़ता है.

ऐंठना या बेल्लित करना – मुरझाई पत्तियों को बेलनों (रोलरों) में से होकर गुजारा जाता है जहाँ वे ऐंठ जाती हैं और उनकी कोशिकाएँ क्षतिग्रस्त होकर रस निकालती हैं जो बेल्लित राशि की सतह पर पुत जाता है. पहली बेलाई प्रायः हल्की होती है और 10 से 20 मिनट तक की जाती है. बेल्लित राशि को 'कच्चे' चलनों में डाल कर विलगाया जाता है और स्थूल अंश को खूब बेल्लित किया जाता है. प्रायः तीसरी बेलाई की आवश्यकता नहीं पड़ती किन्तु यदि आवश्यकता हुई भी तो वह लगभग दस मिनट तक की जाती है. विभिन्न कारखानों में बेलाई की अवधियों में काफी भिन्नता पाई जाती है.

किण्वन – बेल्लित पत्तियों के स्थूल तथा महीन प्रभाजों को किण्वन-कक्ष में ले जाया जाता है जहाँ उन्हें सीमेंट के साफ फर्श पर अथवा अन्य उपयुक्त चबूतरे पर फैला दिया जाता है. ऋतु एवं पत्तियों की अवस्था के अनुसार पत्तियों को 2·5–10 सेंमी. मोटी तहों में फैलाया जाता है और उन्हें 2–6 घंटे तक किण्वित होने दिया जाता है. इस प्रक्रम में उनका रंग हरे से बदल कर चटक लाल ताँबे जैसा हो जाता है. यह किण्वन उच्च आर्द्रता एवं निम्न ताप (25–27°) के अन्तर्गत अनुकूलित कक्षों में सम्पन्न किया जाता है. अत्यधिक ताप होने से अधि-किण्वन हो जाता है जिससे अन्तिम पदार्थ की कोटि गिर जाती है. वांछित अवस्था तक पत्तियों का किण्वन हो जाने पर आगे के परिवर्तन को रोकने के लिये उन्हें विशिष्ट शुष्ककों में सुखाया जाता है.

सुखाना या दगधाना – यह संतत प्रक्रम है और सामान्यतः स्वतःचालित मशीनों द्वारा सम्पादित किया जाता है. किण्वित पत्तियों को कम से कम 54·4° पर गरम वायु के घनिष्ट सम्पर्क में लाया जाता है. बाद में उन्हें शुष्कक में से होकर गुजरते समय ऐसी गरम वायु मिलती है जिसका ताप लगातार बढ़ता रहता है. यहाँ तक कि जब वे शुष्कक में से निकलने को होती हैं तो वायु का ताप 88–93° रहता है. इसमें लगने वाला समय स्थिर नहीं होता बल्कि बदलता रहता है. तब भी प्रायः 30 से 40 मिनट का समय लग जाता है. सुखाये गये पदार्थ में 3–4% आर्द्रता होती है.

हाल ही में यह सुझाव रखा गया है कि मुरझाने की क्रिया एकदम बहिष्कृत की जा सकती है क्योंकि यह पत्तियों में से आर्द्रता की मात्रा को कम करने की रूढ़ क्रियाविधि है. बिना मुरझाये एवं बेल्लित किये ही ऐंठी हुई चाय जैसी गुणोंवाली चाय तैयार की जा सकती है. सुझाये गये प्रक्रम में बिना मुरझाई गई पत्तियों को कुछ कुचल कर, किण्वित किया जाता है और सुखाकर छाँट लिया जाता है. इस पूरे प्रक्रम में समय भी कम लगता है और स्थान, उपकरण एवं श्रम में क़ाफी बचत होती है. इस प्रकार से तैयार की गई चाय यद्यपि हल्की, सौंठी तथा पीने में अच्छी होती है किन्तु इसका दोष यह है कि इसे भरने (पैक करने) के लिये परम्परागत विधि से तैयार की गई चाय की अपेक्षा बड़े-बड़े बक्सों की आवश्यकता पड़ती है. फिर भी बिना मुरझाई चाय के उत्पादन से नई समस्यायें उठ खड़ी होती हैं, भले ही श्रम एवं उपकरण

की लागत में कमी आती हो (*Capital*, 1949, **123**, 151; Eden, *World Crops*, 1949, **1**, 166).

एक और नवीन पद्धति सुझाई गई है जिसमें वेलाई के पूर्व ताजी अथवा मुरझाई गई पत्तियों को तम्बाकू-कर्तक से काटा जाता है.

यदि उत्पादन के प्रक्रमों पर विशेष ध्यान नहीं दिया जाता तो प्राय: चाय की कोटि पर बुरा प्रभाव पड़ता है. कतिपय सामान्य दोष निम्नांकित प्रकार हैं : (1) अधिक डंठलों का होना, (2) असमान छाँट, (3) अधिक चूरे वाली चाय, (4) पपड़ीदार चाय (ठीक से वेल्लित न होना), तथा (5) पानी के साथ गहरा रंग न आना. इन समस्त दोषों का परिहार उत्पादन के समय भलीभाँति नियन्त्रण रखने से हो सकता है (*Capital*, 1948, **120**, 1107).

छँटाई तथा श्रेणीकरण – सुखाये गये पदार्थ को साफ करके उसे निम्नांकित व्यापारिक श्रेणियों में छाँट लिया जाता है : (क) 'पत्ती' श्रेणी – यथा आरेंज पेको, पेको, पेको सूचोंग; (ख) 'टूटी' श्रेणी – यथा टूटी आरेंज पेको, टूटी पेको, टूटी पेको सूचोंग तथा फटकन; (ग) चाय की सफाई एवं श्रेणीकरण करते समय प्राप्त वेकार (रद्दी) पदार्थ जिसमें टूटी पत्तियाँ, पत्तियों के रेशे आदि मिले रहते हैं, वाजार में कैफ़ीन के निष्कर्षण के लिए फ्लफ़ नाम से विकता है (इसमें लगभग 3·5% कैफ़ीन रहता है).

टूटी श्रेणी की चाय में या तो ढेर में से छाँटी गई लघु आकार वाली पत्तियाँ रहती हैं अथवा वड़ी पत्तियों से काटी गई वांछित आकार वाली पत्तियाँ सम्मिलित रहती हैं. यदि अन्य सभी वातें एक-सी हों तो 'टूटी' श्रेणी से 'पत्ती' श्रेणी की अपेक्षा तेज चाय वनती है. एक किग्रा. आरेंज पेको से अच्छी चाय के 200 से अधिक प्याले वन सकते हैं जवकि एक किग्रा. टूटी चाय से 300 प्याले और फटकन से तो और भी अधिक प्याले वन सकते हैं. टूटी श्रेणी की चायों का व्यापारिक महत्व होटलों में देखा जा सकता है जहाँ जल्दी-जल्दी चाय की माँग होती है. यही नहीं, पत्ती चाय की अपेक्षा टूटी चाय की अधिक मात्रा किसी चाय की पेटी में भरी जा सकती है (Wickizer, 22).

उत्तम कोटि की काली चाय के नमूने के परीक्षण से यह पता चलता है कि उसमें सुनहली-पीली पत्तियों के अनेक कण मिले हुए होते हैं, ये कण चुने गये प्ररोहों की अनखुली शीर्ष कलिकाओं के होते हैं. इन पीले कणों अथवा शीर्षों की संख्या किसी ढेर में उत्तम पत्तियों की मात्रा की और तदनुसार तैयार की गई चाय की कोटि की भी सूचक होती है.

भराई अथवा पैकिंग – छँटाई के वाद चाय की विभिन्न श्रेणियों को प्लाईवुड के ऐसे वक्सों में (लगभग 60 × 47·5 × 74·5 सेंमी. आकार वाले) भरा जाता है जिनमें ऐल्युमिनियम पन्नी तथा चर्म पत्र (पार्चमेंट पेपर) का अस्तर लगा रहता है. इन वक्सों में लगभग 40·50–54 किग्रा. पत्ती चाय और 51·75–67·50 किग्रा. टूटी श्रेणी की चाय आती है. फटकन तथा चूरे को छोटे वक्सों में भरा जाता है जिनमें 36–40.50 किग्रा. चाय आती है.

छँटाई करते समय पत्तियाँ अवश्यमेव छँटाई कक्ष की आर्द्रता के अनुसार अतिरिक्त आर्द्रता अवशोषित कर लेती हैं. अत: यह आवश्यक है कि छँटाई का कार्य वायु-अनुकूलित कक्षों में सम्पन्न किया जाए. यह देखा गया है कि 65% आपेक्षिक आर्द्रता पर पत्तियाँ न तो आर्द्रता ग्रहण करती हैं और न त्यागती ही हैं यदि पैक करने के पूर्व पत्तियों में 6–7% से अधिक आर्द्रता रहती है तो उन्हें दुवारा गरम करने की आवश्यकता पड़ सकती है. जव चाय में 6–7% आर्द्रता रहती है तभी उसे पैक किया जाता है क्योंकि इस अवस्था में परवर्ती-किण्वन अथवा मृदुकरण होता रहता है. अत्यन्त न्यून आर्द्रता-युक्त चाय को पैक करने से चाय 'तैयार' नहीं हो पाती और यदि अधिक आर्द्रता वाली चाय को पैक किया जाता है तो वह विगड़ सकती है.

सम्मिश्रण – चाय जिस रूप में कारखानों में तैयार होती है उसी रूप में वह उपभोक्ताओं के पास नहीं पहुँच पाती. उसमें सम्मिश्रण कर दिया जाता है. विभिन्न इलाकों की चायों में भिन्न-भिन्न गुण पाये जाते हैं. यही नहीं, एक ही इलाके की चायों की कोटियों में ऋतु के अनुसार अन्तर देखे जाते हैं. सम्मिश्रण का उद्देश्य एक समान गुण वाला पदार्थ तैयार करना होता है जिससे उपभोक्ता को खरीदे गये प्रत्येक पैकेट में से एक-जैसा पदार्थ प्राप्त हो. सम्मिश्रण निश्चित रूप से कला है जिसमें निपुणता एवं दक्षता की आवश्यकता होती है.

हरी चाय

हरी चाय झाड़ियों से चुनी गई पत्तियों से ठीक उसी प्रकार तैयार की जाती है जिस प्रकार कि काली चाय. संसाधन में केवल इतना ही अन्तर रहता है कि इसमें मुरझाने एवं किण्वन की क्रियाओं का वहिष्कार किया जाता है. पत्तियों को ऊष्मा से उपचारित करके उन्हें ऐंठते और सुखाते हैं. ऊष्मा उपचार के अन्तर्गत कड़ाही में भुनाई करके अथवा वाष्पन द्वारा उपस्थित एंज़ाइमों को निष्क्रिय वनाया जाता है. यदि असम में वाष्पन सामान्य प्रथा है तो देहरादून तथा काँगड़ा घाटी में कड़ाही में भुनाई. गरम करने की क्रिया कुछ मिनटों के भीतर पूर्ण हो जानी चाहिए और उपचारित पत्तियाँ चटक हरे रंग की होनी चाहिए जिनमें झुलसने अथवा लाल पड़ने के कोई चिह्न न हों. इसके पश्चात् काली चाय तैयार करने के ही समान पत्तियों को ऐंठा जाता है और तुरन्त ही शुष्कक में पहुँचा दिया जाता है. कड़ाही पर भूनने से प्राप्त चाय वाष्पन से प्राप्त चाय की अपेक्षा श्रेष्ठतर कोटि की वतलाई जाती है (Ukers, Tea, I, 42).

हरी चाय का रूप पालिश करके सुधारा जाता है. इसके लिए सूखी पत्तियों को सेलखड़ी या फ्रांसीसी खड़िया जैसे पालिशकारी पदार्थ के साथ भर कर घूर्णी ढोल में घुमाया जाता है.

वाजार में वेचने के लिए प्राप्त पदार्थ की छँटाई की जाती है. हरी चाय की आम श्रेणियाँ इस प्रकार हैं : यंग हायसन, ट्वांके, फटकन या सूमी तथा चूरा. इसमें 90% प्रथम श्रेणी की चाय होती है और शेष 10% टूटन रहता है.

यदि सतर्कतापूर्वक हरी चाय तैयार की जाए तो इसकी संरचना वही होनी चाहिए जो ताजी पत्तियों की होती है. इसमें प्राय: विलेय टैनिनों की मात्रा में पर्याप्त कमी (ताजी पत्ती में 20% से लेकर तैयार पत्ती में 14% तक) आती है किन्तु हरी चाय में टैनिन की सम्पूर्ण मात्रा उन्हीं पत्तियों से तैयार की गई काली चाय की अपेक्षा अधिक होती है. इसमें कैफ़ीन की भी मात्रा अधिक रहती है. एक निश्चित भार की हरी चाय वनाने के लिये काली चाय की तुलना में अधिक मात्रा में हरी पत्तियों की आवश्यकता पड़ती है. इस प्रकार 100 किग्रा. हरी चाय के लिये 500 किग्रा. हरी पत्तियों की आवश्यकता पड़ती है जवकि उतनी ही मात्रा में काली चाय तैयार करने के लिये 400–550 किग्रा. हरी पत्तियाँ पर्याप्त होती हैं.

ऊलांग चाय

ऊलांग चाय अर्धकिण्वित पदार्थ है जिसका विशेष खरीददार अमेरिका है और यह फार्मोसा में ही तैयार की जाती है. ऊलांग चाय का विशिष्ट स्वाद फार्मोसा में उगने वाले चाय पौधों की विविधता एवं वहाँ पाई जाने वाली मिट्टी एवं जलवायु सम्बन्धी अवस्थाओं के कारण ही है. उत्पादन की विधि से इसका कोई सरोकार नहीं होता, इसके उत्पादन के लिये हरी चाय जैसी ही विधि का प्रयोग होता है. अन्तर केवल इतना ही रहता है कि पत्तियों को कुछ-कुछ मुरझा कर सुखाने के पूर्व उनका हल्का किण्वन किया जाता है (Bald & Harrison, 377).

ईंटिया चाय

ईंटिया चाय (ब्रिक टी) तिब्बत एवं मध्य एशिया में प्रयुक्त होती है. काली तथा हरी दोनों ही चायें ईंट के रूप में ढाल दी जाती हैं. काली चाय की ईंट उस अवशेष से बनाई जाती है जो काली चाय तैयार करने के पश्चात् बचा रहता है और जिसमें तलछट, चूरा एवं डंठल सम्मिलित रहते हैं. हरी चाय की ईंट केवल पत्तियों से तैयार की जाती है. माल को बॉयलर में रख कर भपाया जाता है और उसके मृदु हो जाने पर भारी साँचों में रख कर द्रवचालित दाब के अन्तर्गत निपीडित करके ईंटें बना ली जाती हैं. कभी-कभी साँचे में ढालने के पूर्व मोटी कतरनों के साथ उबाले हुए चावल की माँड़ से उपचारित की गई चाय के चूरे की कुछ मात्रा मिला दी जाती है जिससे कि ईंट की दृढ़ता में वृद्धि हो. प्रयोग में लाने के पूर्व ईंटिया चाय के किनारे चाकू से तराश दिये जाते है और उसे पीस लिया जाता है (Ukers, Tea, I, 294).

लटपट अथवा लटपट चाय

लटपट अथवा लटपट चाय ब्रह्मा, शान राज्य तथा ब्रह्मा एवं असम के कुछ पहाड़ी भागों में विशेष रूप से प्रयुक्त की जाती है. इसके उत्पादन में हरी पत्तियों को उबालने अथवा भपाने के बाद साइलो के सिद्धान्त पर बनाये गये गड्ढों में भर कर संरक्षित कर दिया जाता है. श्याम में इसी प्रकार की एक अन्य चाय, जिसे "ला टी" कहते है, तैयार की जाती है. साइलो में भरी गई चायें पेय के रूप मे प्रयुक्त न होकर चटनी अथवा तरकारी के रूप में प्रयुक्त होती है.

मिलावट – व्यापारिक चाय में काफ़ी मिलावट की जाती है. सामान्य मिलाये जाने वाले पदार्थ है : चाय की फोक, कंकड़ी तथा बालू. कभी-कभी घटिया चाय से अच्छा रंग प्राप्त करने के उद्देश्य से चूना मिला दिया जाता है. इधर चाय के साथ दूसरे पौधों की पत्तियों के मिलाये जाने की सूचना मिली है. इनमें जयन्ती (**सेस्बानिया एक्यूलिआटा**) तथा अवराई (**कैसिया औरिकुलेटा**) प्रमुख हैं. उड़द के छिलके (**फाजियो मुंगो**) भी मिलाये जाते हैं. चाय में राख की मात्रा उसकी विशुद्धता की विश्वसनीय सूचिका है. चाय में कुल राख की मात्रा 4 से 7% तक होती है जिसमें से विलेय राख 50% से कम नहीं रहती. फोक मिलाने से कुल राख तथा विलेय राख दोनों की ही मात्राएँ घट जाती हैं जबकि बजरी, बालू या चूना मिलाने से कुल राख की मात्रा तो बढ़ जाती हैं किन्तु विलेय राख की प्रतिशतता घट जाती है (*Plant. J. Agric.*, 1947, 39, 89; *Plant. Chron.*, 1942, 37, 342).

चाय की संरचना

जिन अत्यन्त महत्वपूर्ण अवयवों के कारण चाय में पेय पदार्थ के सुस्पष्ट गुण लक्षित होते हैं वे है : कैफ़ीन, पॉलिफ़ीनॉल तथा सौरभिक तेल. ये अपनी उपस्थिति के द्वारा तथा अन्य अवयवों के साथ मिलकर व्यापारिक चाय में अन्तर ला देते है. आजकल जो चाय की झाड़ी उगायी जाती है वह विशुद्ध पंक्ति-फसल नहीं है और यही कारण है कि चाय की पत्ती में वैश्लेपिक संरचना सम्बन्धी भिन्नताएँ पाई जाती हैं. फिर भी वैश्लेषिक परिणामों के आधार पर चाय के अवयवों एवं बाजारू कीमत अथवा चाय-चाखा की रिपोर्ट के बीच कोई सार्थक सहसम्बन्ध नहीं पाया जाता.

असम में उगाई गई चाय की ताजी पत्तियों के विश्लेषण से निम्नांकित मान प्राप्त हुए : पॉलिफ़ीनॉल, 22·2; प्रोटीन, 17·2; कैफ़ीन, 4·3; अशोधित तन्तु, 27·0; स्टार्च, 0·5; अपचायक शर्करायें, 3·5; पेक्टिन, 6·5; ईथर निष्कर्ष, 2·0; तथा राख 5·6%. चाय की पत्तियों में कैरोटीन, राइबोफ्लैविन, निकोटिनिक अम्ल, पैंटोथेनिक अम्ल तथा ऐस्कार्बिक अम्ल पाये जाते हैं. इनमें से पैंटोथेनिक अम्ल तथा राइबोफ्लैविन की मात्राएँ पर्याप्त होती हैं. हरी पत्तियों में उपस्थित ऐस्कार्बिक अम्ल काली चाय के बनाते समय नष्ट हो जाता है. चाय में मैलिक तथा ऑक्सैलिक अम्लों की उपस्थिति की भी सूचना प्राप्त है. ताजी पत्ती तथा हरी चाय दोनों में ही कैम्फ़ेरॉल तथा क्वर्सेट्रिन रहता है. चाय के अन्य अवयवों में थेयोफ़ाइलीन $C_7H_8N_4O_2$, थेयोब्रोमीन, जैंथीन, हाइपोजैंथीन, ऐडेनीन, गोंद, डेक्स्ट्रिन तथा इनॉसिटॉल उल्लेखनीय हैं (Drummond & Moran, *Nature*, 1944, **153**, 100; Bradford & Hughes, *Analyst*, 1945, **70**, 2; Sreerangachar, *J. Soc. chem. Ind., Lond.*, 1940, **59**, 272; *Chem. Abstr.*, 1937, **31**, 1407; Winton & Winton, IV, 109; Wehmer, II, 779; *Chem. Abstr.*, 1948, **42**, 6493).

हरी तथा काली चाय दोनों का ही सर्वाधिक महत्वपूर्ण रचक कैफ़ीन नामक क्षारक ऐल्कलॉयड है. यदि चाय में यह रचक न होता तो शायद ही यह इतनी लोकप्रिय पेय बन पाती. प्रफुल्लन के विभिन्न अंगों में कैफ़ीन वितरण निम्नांकित प्रकार है :

प्रथम पत्ती तथा कलिका में शुष्क-भार के अनुसार, 4·7; द्वितीय पत्ती में, 4·5; तृतीय पत्ती में, 3·7; चतुर्थ पत्ती में, 3·3; तथा डंठल में, 1·9%. चाय उत्पादन के समय पत्तियों में कैफ़ीन की मात्रा में कोई परिवर्तन नहीं होता.

टैनिन अथवा पॉलिफ़ीनॉल चाय का द्वितीय महत्वपूर्ण अवयव माना जाता है. अभी हाल तक चमड़ा कमाने के उद्योग में प्रयुक्त होने वाले प्रबल टैनिनों एवं चाय के अपेक्षतया मृदु पॉलिफ़ीनॉलीय अवयवों में, जिन्हें "चाय के टैनिन" कह कर पुकारा जाता था, के बीच संशय था किन्तु चाय के पॉलिफ़ीनॉलों के गुण सम्बन्धी शोधों से यह स्पष्ट हुआ है कि अल्प मात्रा में गैलिक अम्ल के साथ-साथ संघनित टैनिन उपस्थित रहते हैं. जापानी हरी चाय से त्सुजिमुरा ने *l*-एपि-कैटेकिन, *l*-गैलोकैटेकिन तथा एपिकैटेकिन का गैलिल एस्टर पृथक किया गया है. फार्मोसा, श्रीलंका, भारत तथा जावा की चायों से भी एपिकैटेकिन तथा गैलोकैटेकिन पृथक किये गये हैं. चाय के पॉलिफ़ीनॉलों को संश्लेपित करने के भी कई प्रयास हुए है और ओगिभा ने यह दावा किया है कि उसने फार्मोसा की चाय की पत्तियों में प्राप्त होने वाले पदार्थ की ही तरह

सारणी 1*

उत्पादन के समय अवस्था	जल विलेय टैनिन %
ताजी पत्ती	22·2
मुरझाई पत्ती	22·2
ऐंठी पत्ती	18·2
किण्वित पत्ती	12·9
तैयार पत्ती	12·0

*Harler, 134.

सारणी 2

	हरी पत्ती	ऐंठी पत्ती 16° पर 2 घंटे तक किण्वित	ऐंठी पत्ती 32° पर 5½ घंटे तक किण्वित
जल विलेय ठोस, %	45·6	43·2	38·5
जल विलेय पॉलिफीनॉल, %	22·0	19·2	15·1
ऐल्कोहल विलेय ठोस, %	47·0	38·0	25·5

का एक अक्रिस्टलीय पॉलिफीनॉल संश्लेषित कर लिया है, किन्तु इसकी पुष्टि नहीं हो सकी (*Chem. Abstr.*, 1930, **24**, 1640, 5757; 1931, **25**, 3637, 4249; 1934, **28**, 6141; 1935, **29**, 2941; Winton & Winton, IV, 107; *Chem. Abstr.*, 1937, **31**, 1902; 1940, **34**, 89; Lamb, *Tea. Quart.*, 1938, **11**, 103; Harris & Roberts, *Biochem. J.*, 1939, **33**, 1408; Lamb & Sreerangachar, ibid., 1940, **34**, 1472; *Chem. Abstr.*, 1936, **30**, 1139).

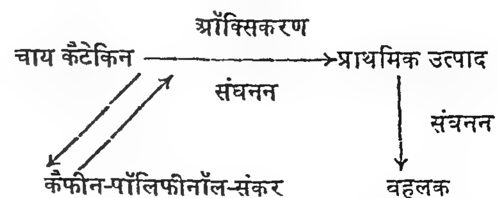
इधर के वर्षों में चाय के पॉलिफीनॉलों को सम्यक रूप से निर्धारित करने के लिये विभाजन-क्रोमैटोग्राफी का उपयोग किया गया है. श्रीलंका की हरी चाय के जलीय काढ़े के एथिल ऐसीटेट विलेय प्रभाज से विभिन्न कैटेकिनों की पहचान की गई है. इनकी सान्द्रता सम्पूर्ण निष्कर्पणीय पॉलिफीनालों के रूप में इस प्रकार है: *l*-गैलोकैटेकिन, 11·7; *d,l*-गैलोकैटेकिन, 5·8; *l*-एपिकैटेकिन, 3·2; *d,l*-कैटेकिन (?), 1·2; *l*-गैलोकैटेकिन-गैलेट, 36·0; एक नवीन गैलोकैटेकिन का गैलिल व्युत्पन्न, जिसके जलअपघटन से गैलिक अम्ल तथा एक नवीन प्रकाशतः अक्रिय गैलोकैटेकिन प्राप्त होता है, 4·7; तथा *l*-एपिकैटेकिन-गैलेट, 7·5%. इसी प्रकार के परिणाम असम की चाय से भी प्राप्त हुए हैं (Bradfield *et al.*, *J. chem. Soc.*, 1947, 32; Bradfield & Penny, 1948, 2249).

काली चाय के उत्पादन में पॉलिफीनॉल ही वे प्रमुख अवयव हैं जिनमें किण्वन के समय परिवर्तन होता है. हरी चाय के उत्पादन में किण्वन के निराकरण हो जाने से लेशमात्र अथवा तनिक भी परिवर्तन नहीं होता. सारणी 1 में काली चाय के उत्पादन के समय टैनिन की मात्रा में होने वाले परिवर्तन दिये जा रहे हैं.

ऐंठी पत्तियों का किण्वन होते समय पॉलिफीनॉलों का ऑक्सिकरण होता है जिससे उनके कैटेकॉल समूह ऑर्थो-क्विनोन में परिणत हो जाते हैं. इन आर्थोक्विनोनों के अस्थायी होने के कारण इनका संघनन होता है जिससे तैयार चाय में ऑक्सिकृत पॉलिफीनॉलों के अनेक संघनित पदार्थों का जटिल मिश्रण पाया जाता है. यह भी सम्भव है कि इनमें से कुछ पदार्थ प्रोटीनों से संयोग करके जल अविलेय यौगिक बनाते हों. ऑर्थो-क्विनोन द्वारा पत्तियों का क्लोरोफिल भूरे पदार्थ में परिणत हो जाता है जो तुरन्त किण्वित चाय के ताम्र जैसे रंग के लिये उत्तरदायी है. ऑक्सिकृत पॉलिफीनॉलों का कुछ अंश कैफ़ीन से संयोग करके ऐसे यौगिक बनाता है जो केवल गरम जल में विलेय होते हैं. इसके द्वारा गरम चाय के काढ़े को ठंडा करने पर "मलाई उठने" की घटना की विवेचना की जा सकती है. किण्वन की क्रिया अग्रसर होने के साथ जल विलेय एवं ऐल्कोहल-विलेय ठोस अंशों में ह्रास का कारण पॉलिफीनॉलों के ऑक्सिकृत संघनित पदार्थों की न्यूनतर विलेयता ही होती है (सारणी 2) (Bradfield, *Trop. Agriculture, Trin.*, 1946, **23**, 75; Eden, *World Crops*, 1949, **1**, 165; Bradfield & Penny, *J. Soc. chem. Ind., Lond.*, 1944, **63**, 306).

यद्यपि अनेक वर्षों से चाय-किण्वन की एंज़ाइमी प्रकृति स्वीकृत की जाती रही है किन्तु इस प्रक्रम के लिये उत्तरदायी एंजाइम-प्रणाली की सही-सही प्रकृति का पता आधुनिक अध्ययनों के द्वारा ही चला है. चाय के किण्वन के सम्बन्ध में समय-समय पर परऑक्सिडेस, ऐस्कॉर्बिक अम्ल ऑक्सिडेस तथा साइटोक्रोम ऑक्सिडेस सिद्धान्त अनुमोदित हुये हैं किन्तु वे पॉलिफीनॉल ऑक्सिडेस क्रियाविधि द्वारा स्थानान्तरित हो चुके हैं. इस नवीन सिद्धान्त में यह अभिकल्पना की गई है कि चाय में पॉलिफीनॉल ऑक्सिडेस नामक एंजाइम उपस्थित रहता है जो आर्थो-डाइहाइड्रिक फीनॉलों के साथ विशेष रूप से क्रिया करता है. यह एंज़ाइम ताम्र-प्रोटीन संकर है और इसकी उपस्थिति की पुष्टि प्रयोगों द्वारा की जा चुकी है (Roberts & Sharma, *Biochem. J.*, 1938, **32**, 1819; Roberts, ibid., 1939, **33**, 842; 1940, **34**, 500; Lamb & Sreerangachar, ibid., 1940, **34**, 1472; Sreerangachar, ibid., 1943, **37**, 667).

चाय के किण्वन में होने वाली अभिक्रियाओं को निम्नांकित प्रकार से दर्शित किया जा सकता है:



चाय की गंध एवं स्वाद कई पदार्थों के कारण है. सौरभिक तेल के कारण तो गंध होती ही है किन्तु यह स्वाद-गंध चाय

उगाये जाने वाले क्षेत्र एवं ऋतु के भी कारण होती है. स्वाद-गंध के लिये उत्तरदायी पदार्थों के सम्बन्ध में कोई रासायनिक जानकारी उपलब्ध नहीं है. जब यह कहा जाता है कि चाय 'स्वादिष्ट' है तो इसका तात्पर्य यह होता है कि यह स्वाद-गंध सौरभिक तेल के अतिरिक्त अन्य किसी कारण से है. चायों के मूल्यांकन में स्वाद एवं सुगंध गुणों को अत्यधिक महत्व प्राप्त है. दार्जिलिंग तथा श्रीलंका की श्रेष्ठ मानी जाने वाली कतिपय चायें टैनिन में अत्यन्त हीन हैं किन्तु उनका बाजारू दाम प्रमुखतया उनकी सुगंध एवं स्वाद के कारण है (Ukers, Tea, I, 513).

काली चाय तैयार करने में किण्वन प्रक्रम के समय सुगंध तथा स्वाद उत्पन्न होने का यह अर्थ लिया जा सकता है कि इनके लिये उत्तरदायी पदार्थ ताजी पत्ती में पहले से विद्यमान रहते हैं. अधिक ऊँचाई पर उगाई जाने वाली चाय में तथा वसन्त ऋतु में, जब चाय की सर्वाधिक वृद्धि होती रहती है, हरी मक्खी के उत्पात से अथवा अन्य कारणों से चाय की वानस्पतिक वृद्धि रुक जाने से भी ऐसे पदार्थ संचित होते है जिनसे स्वाद एवं गंध उत्पन्न होते हैं.

वाष्पशील तेल – वसंत ऋतु में प्राप्त चाय की ताजी पत्तियों से 0·014% और ग्रीष्म ऋतु की ताजी पत्तियों से 0·007% वाष्पशील तेल प्राप्त किया जा चुका है. हरी चाय से प्राप्त वाष्पशील तेल के प्रमुख रचक α-β-हेक्सेनॉल, β-γ-हेक्सेनॉल तथा निम्नतर ऐल्डिहाइड हैं. इनके अतिरिक्त अल्प मात्रा में ब्यूटिरैल्डिहाइड, आइसोब्यूटिरैल्डिहाइड तथा आइसोवैलेरैल्डिहाइड भी पृथक किये गए हैं. इनके साथ-साथ फ़ेनिल एथिल ऐल्कोहल, फीनॉल, क्रेसॉल, हेक्सोइक अम्ल, ऑक्टिल ऐल्कोहल, जेरैनिऑल, एक ऐल्कोहल (सम्भवत: β-मेथिल-ब्यूटान-α-ऑल), लिनैलूल, ऐसीटोफ़ीनोन, बेंजिल ऐल्कोहल तथा सिट्रैल-ए की भी पहचान हुई है. ताजी पत्तियों में पाये जाने वाले तेल में उपस्थित अम्लों में ऐसीटिक, प्रोपियानिक, ब्यूटिरिक, वैलेरिक, कैप्रोइक तथा पामिटिक अम्ल सम्मिलित हैं. तैयार हरी चाय के तेल में कैप्रोइक, पामिटिक तथा हेप्टोइक अम्ल के साथ-साथ मेथिल सैलिसिलेट पाया जाता है (*Chem. Abstr.*, 1934, **28**, 3178; 1935, **29**, 4895, 8229; 1936, **30**, 6889; 1937, **31**, 6814, 6815).

काली चाय के भाप-आसवन से एक सौरभिक तेल (0·003–0·006%) प्राप्त होता है. फार्मोसा की काली चाय के निकाले गये तेल में जो रचक पाये गये, वे इस प्रकार हैं : आइसोवैलेरैल्डिहाइड, α-β-हेक्सेनॉल, आइसोब्यूटिल ऐल्डिहाइड, बेंजैल्डिहाइड, ब्यूटिरैल्डिहाइड, आइसोब्यूटिरैल्डिहाइड, कैप्रोऐल्डिहाइड, क्रेसॉल, β-γ-हेक्सेनॉल, लिनैलूल, तथा फेनिल ऐथिल, ब्यूटिल, आइसोब्यूटिल, आइसोऐमिल, बेंजिल, हेक्सिल तथा ऑक्टिल ऐल्कोहल. इनके अतिरिक्त एक द्वितीयक टर्पीन ऐल्कोहल, सिट्रोनेलॉल तथा जेरैनिऑल भी पाये गये. सौरभिक तेल के क्षारकीय प्रभाज से क्विनोलीन की प्राप्ति की गई है. इसके अतिरिक्त तेल में मेथिल सैलिसिलेट, 2-ऐसीटिल पायरोल, मेथिल मरकैप्टन तथा गन्धक से युक्त रंगहीन द्रव (क्वथनांक 102–12°) जो वायु में खुला छोड़ देने पर पहले नीले-भूरे रंग वाला और अन्त में एक काले अवक्षेप में परिवर्तित हो जाता है, पाये जाते हैं (*Chem. Abstr.*, 1934, **28**, 7377; 1936, **30**, 3589; 1938, **32**, 1865; 1940, **34**, 1809; 1941, **35**, 3764).

चाय की पत्ती में विद्यमान स्टार्च का विखण्डन चाय कुम्हलाते समय जल-अपघटनी परिवर्तनों के कारण होता है. किशोर पत्तियों में स्टार्च की मात्रा लगभग 0·5% रहती है किन्तु कुम्हलाते समय इसका सर्वथा लोप हो जाता है. ताजी पत्ती में अल्प मात्रा में पाये जाने वाले स्टार्च, डेक्स्ट्रिन, गोंद तथा अन्य कार्बोहाइड्रेट चाय को दगवाते समय आंशिक रूप में कैरामेल में परिणत हो जाते हैं. काली चाय की जौ की शराब-सी गंध कुछ अंशों में कैरामेल बनने के ही कारण हो सकती है.

हरी चाय की कोटि पर ऐंथोसायन की मात्रा का प्रभाव पड़ता है. चाय की कोटि पत्तियों में पाये जाने वाले नाइट्रोजन की मात्रा के साथ बदलती है और यह नाइट्रोजन-मात्रा चाय के काढ़े में नाइट्रोजनी-पदार्थों की प्रतिशतता को प्रभावित करती है. किन्तु अब तक जितना ज्ञान संचित हो सका है उसके आधार पर, चाहे हरी चाय हो या काली चाय, उनकी अच्छाइयों एवं बुराइयों के लिये उत्तरदायी रचकों की पहचान संभव नहीं हो पाई.

चाय-चाखा चाय को लगभग पाँच मिनट तक तर रखता है और फिर निष्कर्ष का परीक्षण करता है जिसमें लगभग आधा टैनिन, तीन-चौथाई कैफ़ीन और संपूर्ण निष्कर्षणीय ठोसों का लगभग आधा रहता है. असम की चाय के निष्कर्पणों के परिणाम सारणी 3 में दिये जा रहे हैं.

चाय-चाखा की जाँच द्वारा चाय के काले लिकर के जो गुण निर्धारित किये जाते हैं, वे अपरिवर्तित चाय कैटेकिनों, मुख्य उत्पादों तथा बहुलकों के सापेक्ष अनुपात पर निर्भर करते हैं. मुख्य उत्पादों का अनुपात अधिक होने पर बढ़िया रंग और कसाव का लिकर मिलता है. बहुलकों का अनुपात ज्यादा होने पर फीके भूरे रंग का लिकर बनता है और उसमें तीव्रता की कमी पायी जाती है (Bradfield, *Trop. Agriculture, Trin.*, 1946, **23**, 75).

कड़े निष्कर्ष से जो मलाई उपलब्ध होती है उसमें ज्यादातर एथिल ऐसीटेट द्वारा निष्कर्पण योग्य पॉलिफीनॉलों के कैफ़ीन लवण होते हैं (Bradfield & Penny, *J. Soc. chem. Ind., Lond.*, 1944, **63**, 306).

चाय को बहुत समय तक संगृहीत रखने पर उसके समग्र निष्कर्षणीय पदार्थों में और क्लोरोफ़िल अंश में कमी आ जाती है (*Chem. Abstr.*, 1939, **33**, 8846).

चाय बीज – बीजों के विश्लेषण से निम्नलिखित मान प्राप्त हुये : एल्बुमिनॉयड, 8·5; स्टार्च, 32·5; अन्य कार्बोहाइड्रेट, 19·9; वसीय तेल, 22·9; सैपोनिन, 9·1; अशोधित तन्तु, 3·8; खनिज पदार्थ, 3·3%. जोरहाट टी कंपनी से प्राप्त चाय बीजों की वायु-शुष्क गिरियाँ, जिन्हें असम खासी कटिया कहते हैं, लंदन में इम्पीरियल इंस्टीट्यूट में जाँची गई. इनमें 10·4% आर्द्रता

सारणी 3*

अवयव	एक घंटा उबालने पर	5 मिनट तर रखने पर
टैनिन, %	12·4	7·3
कैफ़ीन, %	4·8	3·6
विलेय निष्कर्ष, %	44·5	23·2

*Ukers, Tea, I, 513.

और 17·3% सुनहरे रंग का एक स्वच्छ तेल प्राप्त हुआ जिसमें कुछ गंध और स्वाद था जो अरुचिकर नहीं था. तेल की विशेषताएँ थीं: आपेक्षिक घनत्व$^{15°}_{15°}$, 0·921; अम्ल मान, 3·6; साबु. मान, 194·2; आयो. मान, 93·2; हेनर मान, 95·2; असाबु. पदार्थ, 1·5%. तेल के अवयवी वसा अम्ल थे: पामिटिक, 7·6; स्टियरिक, 0·8; ओलीक, 83·3; लिनोलीक, 7·4; मिरिस्टिक, 0·3; और ऐराकिडिक अम्ल, 0·6%. मिश्रित वसा अम्लों में 0·8% हेक्साडेसीनोइक अम्ल भी होता है. असाबु. पदार्थ में थियसिन नामक रंगहीन क्रिस्टलीय पदार्थ रहता है जिसका सूत्र $C_{20}H_{34}O$, ग.बि., 168°–70° है (Wehmer, II, 780; Hilditch & Jones, *J. Soc. chem. Ind., Lond.*, 1934, **53**, 13T; Jamieson, 168; *Chem. Abstr.*, 1949, **43**, 1582).

चाय बीज का तेल न सूखने वाला होता है और गुणों तथा विशेषताओं में ससांकुआ तेल के समान होता हैं. भारतीय चाय बीज से कम तेल उपलब्ध होता है (17·3%, जबकि **क. ससान्क्वा** से 58–59% और **क. जपोनिका** से 66·7% मिलता है) और बीज की खली मवेशियों के लिए उपयुक्त नहीं है (इसमें सैपोनिन होता है). इस दृष्टि से चाय बीज से तेल का निष्कर्षण करना व्यापारिक दृष्टि से लाभदायक नहीं माना जाता (*Bull. imp. Inst., Lond.*, 1918, **16**, 454).

उपयोग – चाय पुष्टिकर और उद्दीपक पेय माना जाता है. यह प्रमस्तिष्क की अपेक्षा पेशी तंत्र के लिए ज्यादा उत्तेजक माना जाता है. मध्यम मात्रा में लेने पर यह शरीर की थकान दूर करता है. यह कषाय और मूत्रल होता है. पहला गुण टैनिनों की उपस्थिति के कारण होता है. कुछ लोगों का विचार है कि चाय पीने से पाचन पर हानिकारक प्रभाव पड़ता है. कैफ़ीन और टैनिन से रहित चाय तैयार करने के प्रयत्न हुए हैं परन्तु इन दोनों से रहित चाय पीने वालों को फीकी लगती है. बढ़िया किस्म की चाय में कैफ़ीन और टैनिन का अनुपात, कैफ़ीन टैनेट बनने के लिए उपयुक्त अर्थात् 1:3 होता है. बहुत बढ़िया किस्म की चाय में इन दोनों का अनुपात 1:4·5 और घटिया किस्म में 1:4·8 होता है (U.S.D., 1624; Martindale, II, 111; Yegna Narayan Aiyer, 442).

पोषण की दृष्टि से चाय का अपने आप में कोई महत्व नहीं है. पत्तियों में जो प्रोटीन होता है वह निर्माण की प्रक्रियाओं में गुज़रने समय अविलेय हो जाता है जिससे चाय के निष्कर्षण में प्रोटीन नहीं रहता. चाय के निष्कर्ष में भले ही कार्बोहाइड्रेट और वसा उपेक्षणीय परिमाण में रहते है फिर भी उनमें कुछ जल-विलेय विटामिन होते हैं. हैरिसन के अनुसार बनी हुई 1 किग्रा. चाय में 10 मिग्रा. राइबोफ्लैविन; 75 मिग्रा. निकोटिनिक अम्ल; और 25 मिग्रा. पैंटोथेनिक अम्ल होता है (*Plant. Chron.*, 1948, **43**, 262).

चाय की पत्तियों का निष्कर्ष नेत्रश्लेष्मला शोथ में अपने कसैलेपन के कारण उपयोग में आता है (U.S.D., loc. cit.).

उत्पादन और व्यापार

क्षेत्रफल और उत्पादन – संभवतः चीन को छोड़कर, जिसके क्षेत्रफल और चाय उत्पादन के आँकड़े उपलब्ध नहीं है, भारत ही चाय का सबसे बड़ा उत्पादक और विदेशी व्यापार करने वाला देश है. 1948 में विश्व में चाय का उत्पादन 42 करोड़ 21 लाख किग्रा. हुआ, जिसमें भारत में 25 करोड़ 54 लाख 48 हजार किग्रा., श्रीलंका में 13 करोड़ 45 लाख किग्रा., पाकिस्तान में 1 करोड़ 98 लाख किग्रा. एवं जावा और सुमात्रा में 1 करोड़ 26 लाख किग्रा. उत्पादन हुआ.

भारत में उत्पादन के प्रमुख क्षेत्र उत्तर-पूर्व में असम में ब्रह्मपुत्र और सुरमा की घाटियाँ तथा बंगाल में दार्जिलिंग और जलपाईगुड़ी जिले हैं. इस क्षेत्र में सम्पूर्ण भारत की लगभग 73% चाय उत्पन्न होती है. दक्षिण भारत में चाय की उपज नीलगिरि, मलाबार, मैसूर, त्रावनकोर के ऊँचे क्षेत्रों में होती है जो कुल मिलाकर सम्पूर्ण भारत की पैदावार की 20% के लगभग है.

प्रथम विश्वयुद्ध के बाद चाय के क्षेत्रफल में काफी वृद्धि हुई और 1933 में 300,000 हेक्टर हो गयी, किन्तु उसी वर्ष 'इण्टरनेशनल टी रेगुलेशन्स' ने इस क्षेत्रफल के विस्तार में रोक लगा दी.

इस शताब्दी के प्रारम्भ से चाय के क्षेत्रफल में कुल 60% की ही वृद्धि हुई है परन्तु चाय का उत्पादन दूना हो गया है. इसका कारण है प्रति हेक्टर वृद्धि 1900 में 384 किग्रा. से बढ़कर 1949 में 685 किग्रा. हो गई. यह वृद्धि चाय बागान प्रबंध में निरंतर सुधार के फलस्वरूप हो सकी है.

भारत की अधिकतर चाय काली चाय के रूप में तैयार की जाती है. हरी चाय का उत्पादन कम है और काँगड़ा घाटी तक ही सीमित है. द्वितीय विश्वयुद्ध के दौरान चीन और जापान से हरी चाय का आयात बंद हो गया. तब से भारत में हरी चाय काफी मात्रा में तैयार की जा रही है.

भारत में चाय का आंतरिक व्यापार विशाल है किन्तु उपज को देखते हुए भारत में चाय की खपत कम है. 1915 से पहले देश में कुल 1 करोड़ 35 लाख किग्रा. चाय की खपत थी. 'इंडियन टी मार्केट एक्सपैंशन बोर्ड' के निरंतर उद्योग से चाय की खपत बढ़ती गयी और 1948 में 6·25 करोड़ किग्रा. हो गयी जो तत्कालीन उपज की लगभग 25% थी.

निर्यात – चाय की घरेलू खपत कम होने से भारत से पर्याप्त चाय का निर्यात होता है (सारणी 4). महत्व को देखते हुए भारत के विदेश व्यापार में चाय का दूसरा नंबर है. इस शताब्दी के प्रारम्भिक वर्षों में इसका निर्यात निरन्तर बढ़ता ही रहा और 1929–30 में यह 17 करोड़ 35 लाख किग्रा. हो गया. उसी वर्ष दुनिया के सभी चाय-उत्पादक देशों में उपज का अतिरेक हो गया, जिसके कारण विश्व बाज़ार में चाय की कीमत आर्थिक स्तर से नीचे गिर गयी. पहली अप्रैल, 1933 को 'इण्टरनेशनल टी रेगुलेशन्स' लागू हुए, जिनसे निर्यात का नियमन हुआ, चाय के क्षेत्रफल में अबाध गति से विस्तार करने में रोक लगा दी गयी और माँग और पूर्ति में संतुलन स्थापित किया गया.

भारत की चाय का आयात करने वाले देशों में इंगलैंड अग्रणी है जो भारत की कुल चाय-उपज का 60–70% ख़रीदता है. रूस तथा अमेरिका दूसरे और तीसरे नंबर के ग्राहक हैं. कनाडा और ऑस्ट्रेलिया मिलकर 10% चाय लेते है. मध्य-पूर्व के देशों में ईरान हमारा स्थायी ग्राहक है.

अधिकांश चाय कलकत्ता, बम्बई, मद्रास और कोचीन के बन्दरगाहों से समुद्री मार्ग द्वारा निर्यात की जाती है. सर्वाधिक निर्यात कलकत्ता से और फिर मद्रास से होता है; बम्बई से काफी कम निर्यात होता है. कुछ चाय स्थल मार्ग से तिब्बत, अफ़गानिस्तान, ईरान तथा अन्य मध्य एशिया के देशों को निर्यात की जाती है.

सारणी 4 – भारत से विश्व के प्रमुख देशों को चाय का निर्यात
(काली चाय, निर्यात के रूप में, पत्तियाँ)
(मात्रा: किग्रा.; मूल्य: रु. में)

	अप्रेल 1965–मार्च 1966		जून 1966–मार्च 1967		अप्रेल 1967–मार्च 1968		अप्रेल 1968–मार्च 1969	
	मात्रा	मूल्य	मात्रा	मूल्य	मात्रा	मूल्य	मात्रा	मूल्य
इथोपिया	6,530	35,596	..	..	3,376	26,088	923	9,405
मारिशस	1,545	14,372	..	..	..	..	..	..
सूडान	1,512,979	6,877,431	1,469,959	9,577,169	2,949,760	19,209,854	5,281,231	27,311,877
अरब गणराज्य	12,315,197	64,673,293	12,146,413	80,913,031	11,346,207	72,603,832	9,287,093	56,095,968
कनाडा	3,494,790	20,866,135	3,645,089	31,994,256	3,748,492	32,313,298	3,750,193	28,220,114
अमेरिका	5,464,049	32,860,714	7,359,981	61,298,111	8,262,320	67,889,759	7,812,676	56,299,010
अफगानिस्तान	2,378,506	12,312,908	2,658,968	17,351,366	2,766,876	21,162,967	5,049,112	34,020,602
ऑस्ट्रेलिया	3,341,814	16,741,704	5,775,076	42,066,852	5,789,706	42,157,406	5,501,401	36,147,108
ईरान	2,559,286	23,492,431	1,668,729	21,689,214	2,055,647	29,365,401	..	..
नेपाल	358,445	2,918,154	457,480	3,542,662	431,483	3,858,930	473,670	4,244,389
बंगलादेश	271,519	1,620,188	..	..	..	..	..	..
इज़रायल	2,151,130	10,209,940	..	..	..	..	..	..
जोर्डन	1,086,603	5,035,068	916,565	6,353,276	1,131,371	8,132,088	1,499,276	8,832,196
पोलैण्ड	1,571,930	8,719,131	1,211,844	10,072,034	1,875,325	16,896,355	1,883,756	13,154,670
सोवियत देश	16,736,336	121,946,851	16,194,026	152,812,396	20,028,841	198,022,932	20,848,157	191,952,747
ब्रिटेन	95,524,345	549,169,901	92,520,597	801,459,341	106,291,510	996,295,661	95,478,062	764,231,731
जर्मन गणराज्य	602,278	3,543,363	1,596,391	14,487,526	726,433	7,063,408	424,408	3,568,071
जर्मन फेडरल रिपब्लिक	1,587,106	12,878,222	1,034,731	12,145,352	2,591,130	27,911,755	3,499,366	38,468,326

भारत से निर्यात की गयी अधिकांश चाय काली चाय होती है. हरी चाय का निर्यात कम है, हरी चाय स्थल मार्ग से मध्य एशिया के देशों को जाती है; थोड़ी मात्रा में संयुक्त राज्य अमेरिका और मिस्र को भी भेजी जाती है. 1943–44 से 1946–47 तक श्रीलंका ने भी भारत से पर्याप्त हरी चाय मँगवाई. 1946–47 में कुल 151.65 टन चाय भेजी गई जिसका मूल्य 1,68,000 रु. था. समस्त देशों को इसी वर्ष 285.30 टन हरी चाय भेजी गई जिसका मूल्य 6,61,000 रु. था.

काली और हरी चाय के अतिरिक्त चाय की रद्दी और झाड़न भी बहुतायत से, विशेषत: कैफ़ीन निर्माण के लिये, अमेरिका को निर्यात की जाती थी (सारणी 5). प्रारम्भ में इंगलैंड, जर्मनी और बेल्जियम भी प्रचुर मात्राएँ आयातित करते थे. युद्ध के काल में ऑस्ट्रेलिया और कनाडा भारत से चाय की रद्दी मँगाते थे.

चाय का बीज बहुत बड़ी मात्रा में भारत से जावा, सुमात्रा और श्रीलंका को निर्यात किया जाता था (सारणी 6). 'इंटरनेशनल टी रेगुलेशन्स' के अनुसार चाय के बीजों का निर्यात केवल प्रायोगिक कार्यों के लिए ही किया जा सकता है. 1934–35 और 1935–36 में थोड़ा-सा बीज केन्या और टांगानिका को निर्यात किया गया.

आयात – भारत अल्प मात्रा में काली चाय (अधिकतर श्रीलंका से), हरी चाय और कभी-कभी ईंटिया-चाय (चीन और जापान से) आयात करता है. इस आयातित चाय का कुछ अंश मध्यपूर्व के देशों को पुन: निर्यात कर दिया जाता है.

विपणन – विभिन्न इलाकों में निर्मित चाय को कलकत्ता और लंदन में सार्वजनिक नीलामी द्वारा व्यापार के लिये उपलब्ध बनाया जाता है. दक्षिण भारत की चाय की नीलामी नहीं की जाती बल्कि यह प्रचुर मात्रा में कोलम्बो के बाजार में बेची जाती है. दक्षिण भारत की चाय की नीलामी के लिए कोचीन को एक केन्द्र रूप में विकसित करने का प्रयास हुआ है.

भारतीय चाय बहुत बड़ी मात्रा में जहाज द्वारा लंदन भेजी जाती थी और लंदन के 'टी ब्रोकर्स ऐसोसियेशन' द्वारा नीलाम की जाती थी. चाय की बिक्री कारखानों द्वारा पूरी फसल या फसल के किसी हिस्से को बेचकर या आर्डर मिलने पर ग्राहक देशों को सीधे जहाज से माल भेज कर की जाती है.

द्वितीय विश्व युद्ध के छिड़ने पर लंदन में चाय की बिक्री बंद कर दी गयी और ब्रिटेन के खाद्य मंत्रालय ने भारतीय उत्पादकों से करार करके इंगलैंड और मित्र राष्ट्रों के लिए आवश्यक सम्पूर्ण

सारणी 5 – चाय की रद्दी का वार्षिक निर्यात

	परिमाण (हजार किग्रा. में)	मूल्य (हजार रु. में)
1929–30 से 1933–34 (औसत)	2,025	334
1934–35 से 1938–39 (औसत)	2,145	235
1939–40 से 1943–44 (औसत)	2,863	455
1944–45 (औसत)	3,026	807
1945–46 ,,	3,754	1,220
1946–47 ,,	1,972	677
1947–48 ,,	3,503	1,489
1948–49 ,,	3,016	1,430

सारणी 6 – चाय के बीजों का निर्यात*

वर्ष	परिमाण (टन में)	गंतव्य
1913–14	400·0	जावा, श्रीलंका, सुमात्रा
1918–19	64·7	,,
1931–32	6,436·0	जावा
1934–35	61·0	केन्या
1935–36	122·0	केन्या और टांगानिका

*Handbook of Commercial Information, 1937, 257.

चाय की खरीद आरम्भ कर दी. कलकत्ता की नीलामी आंतरिक उपयोग और भारत से सीधे ही आयात करने वाले बाहरी बाजारों तक सीमित कर दी गयी.

मूल्य – युद्ध के प्रारम्भिक वर्षों में (1933–34 से 1940–41 तक) भारतीय चाय का औसत मूल्य 10 आने 6 पाई (65 पैसे) प्रति पाउंड (450 ग्रा.) (निर्यात) और आंतरिक उपयोग के लिए 4 आने 7 पाई (29 पैसे) प्रति पाउंड (450 ग्रा.) था. युद्धकाल में अमेरिका जैसे देश जो ब्रिटेन के माध्यम से चाय मँगाते थे, भारत से सीधे चाय मँगाने लगे. फलतः माँग बढ़ी और 1938–39 में मूल्य 9 आने 7 पाई (59 पैसे) से बढ़कर 1941–42 में 1 रु. 9 पाई (1.03 रु.) हो गया. 1942 में भारत सरकार ने निजी निर्यात व्यापार पर प्रतिबंध लगा दिया और आयात के लिए उपलब्ध सारी चाय ब्रिटेन के खाद्य मंत्रालय के सुपुर्द कर दी. कलकत्ता की नीलामी बिक्री केवल आंतरिक उपभोग तक के लिए सीमित कर दी गई. चाय का मूल्य युद्ध-पूर्व के तीन वर्षों के औसत पर तय कर दिया गया और 1942 तक जो दाम बढ़ चुके थे उनकी उपेक्षा कर दी गई. इसके अतिरिक्त 1944 के बाद इंगलैंड को निर्यातित चाय पर से चुंगी हटा दी गई किन्तु भारत मे उपयुक्त चाय पर दो आना (12 पैसे) प्रति पाउंड (450 ग्रा.) चुंगी बिठा दी गयी. फलतः भारतीय बाजार में चाय की कीमत बहुत बढ़ गयी जबकि इंगलैंड को युद्ध-पूर्व मूल्य पर ही चाय मिलती रही.

यह विषमता 1947 तक चलती रही. उसी वर्ष के प्रारम्भ में ब्रिटेन के खाद्य मंत्रालय ने अपनी आवश्यकता-भर के लिए चाय खरीदना प्रारम्भ किया और शेष की बिक्री के लिए भारत को खुली छूट दे दी. परिणामस्वरूप कलकत्ता में निर्यातित चाय के लिए पाँच वर्षों के बाद पुनः नीलामी बिक्री आरम्भ हो गयी. आरम्भ में निर्यातित चाय के दामों में तेजी से वृद्धि हुई परन्तु 1947 के अंत तक आते-आते निर्यातित चाय की कीमत लगभग देशी बजार के स्तर पर पहुँच गयी. 1947 में सरकार ने चुंगी कर के अतिरिक्त दो आना (12 पैसे) प्रति पाउंड (450 ग्रा.) की दर से निर्यातित चाय पर उत्पादन कर भी लगा दिया जिसे बाद में 4 आना (25 पैसे) प्रति पौंड कर दिया गया.

चाय का मूल्य उसकी कोटि (पत्ती या चूर्ण की कोटि) और गुणता के अनुसार बदलता रहता है. दार्जिलिंग की चाय श्रेष्ठ होती है और उसका मूल्य भी अधिक रहता है.

अंतर्राष्ट्रीय चाय नियंत्रण – प्रथम विश्वयुद्ध के बाद चाय बाजार में बारी-बारी से अतिशय समृद्धि और अतिरेक मंदी की अवधियाँ उत्पन्न होने लगीं. 1930 और उसके आगामी वर्षों में चाय-उद्योग को कठिन संकट का सामना करना पड़ा. यह संकट अधिक उत्पादन के कारण चाय के भाव में गिरावट थी. फलतः एक ऐसे तंत्र की आवश्यकता का अनुभव हुआ जो चाय की माँग और पूर्ति में तालमेल बिठा सके. 1933 में अंतर्राष्ट्रीय चाय नियंत्रण योजना प्रस्तुत की गयी जिसके अनुसार प्रमुख चाय उत्पादकों, अर्थात् भारत, श्रीलंका, नीदरलैंड, पूर्वी द्वीप समूह, ईस्ट इंडीज़, ने आगामी 5 वर्षों तक चाय का क्षेत्रफल बढ़ाने और निर्धारित कोटा के अनुसार ही उत्पादन और निर्यात को नियंत्रित करने का निश्चय किया गया. नियंत्रणों को लागू करने के लिए अंतर्राष्ट्रीय चाय समिति गठित की गयी (International Tea Committee, *Memorandum relating to Tea Industry and Tea Trade of the World*, 1945, 48; Wickizer, 72).

1938 में पाँच वर्षों के लिए इस समझौते का नवीनीकरण किया गया. इसमें मलाया और ब्रिटिश पूर्वी अफ्रीका भी सम्मिलित हो गये. विश्वयुद्ध के छिड़ने पर अंतर्राष्ट्रीय चाय समिति ने शांति स्थापित होने के दो साल बाद तक योजना चालू रखने का निर्णय लिया.

1933 में, जब अंतर्राष्ट्रीय चाय नियंत्रण के नियमों की स्थापना हुई थी, माँग और पूर्ति के मध्य अपेक्षाकृत कम अन्तर था और भारत का निर्यात-कोटा 17 करोड़ 24 लाख 50 हजार किग्रा. अर्थात् तत्कालीन मानक निर्यात का 85% निर्धारित किया गया था. 1938 तक खपत बढ़ गई थी और 1938–39 में कोटा में 92.5% तक की वृद्धि के बावजूद माँग बढ़ती ही जा रही थी. 1942 में जब जापान ने नीदरलैंड पूर्वी द्वीप समूह पर धावा किया और चीन, जापान और फार्मोसा के निर्यात बंद हो गये तो निर्यात-कोटा को बढ़ाकर 125% करना पड़ा. चाय की माँग निरंतर बढ़ती ही जा रही थी.

इस योजना के क्रियान्वयन की अवधि में अंतर्राष्ट्रीय चाय समिति द्वारा भारत के लिए निर्धारित निर्यात-कोटा विभिन्न इलाकों में उचित रूप से बाँट दिया गया जिसका आधार 1929–1932 में इलाकों का स्वीकृत अधिकतम उत्पादन था. इससे उत्पादन का 'इलाका फसल आधार' बना. इसी प्रकार क्षेत्रफल का नियंत्रण इस प्रकार किया गया कि नियंत्रण की अवधि में

31 मार्च 1938 में जो क्षेत्रफल था उसमें 1.5% से अधिक वृद्धि न की जाए.

1947 में अंतर्राष्ट्रीय चाय समिति ने समझौते के नवीनीकरण पर विचार किया और 31 मार्च 1948 से दो वर्ष या इससे कम समय के लिए, जब तक कि नवगठित अंतर्राष्ट्रीय व्यापार संस्थान अंतर-सरकारी पदार्थ समझौते की शर्तें तय नहीं कर देता तब तक के लिए एक अंतरिम समझौता कर लेने का सुझाव दिया. इसी बीच मलाया और पूर्व अफ्रीका के उपनिवेशों ने इस योजना का समर्थन करना बंद कर दिया और वे अपने चाय के क्षेत्रफल का यथेच्छा और यथासामर्थ्य विस्तार करने के लिए स्वतंत्र हो गए. फलतः चालू समझौते में सुधार करना आवश्यक हो गया और 1938 में चाय के क्षेत्रफल के विस्तार पर 0.5% तक की जो पाबंदी लगायी गयी थी, उस पर विचार करना विशेष रूप से आवश्यक हो गया. श्रीलंका अपने अलाभकर रबड़ क्षेत्रों को चाय क्षेत्रों से प्रतिस्थापित करना चाहता था. पाकिस्तान ने अपना अलग बोर्ड स्थापित करने की अनुमति और चाय क्षेत्रों को पुनः रोपित करने के लिए चाय बीजों की माँग की. अतः शर्तों को उदार बनाया गया और अंतरिम समझौते की अवधि में 31 मार्च, 1938 को चाय के क्षेत्रफल में 2% विस्तार और 5% प्रतिस्थापन की छूट दी गयी. प्रतिस्थापन के साथ शर्त यह थी कि चाय के क्षेत्रफल में जितनी नयी जमीन सम्मिलित होगी उतनी ही पुरानी चाय भूमि से चाय-पौधों का उन्मूलन किया जायेगा. 1948 के प्रारम्भ में ही भारत ने नया करार मान लिया और श्रीलंका, नीदरलैंड पूर्वी द्वीप समूह तथा पाकिस्तान ने 1948 के अंतिम चरण में समझौते पर हस्ताक्षर कर दिए (*Adm. Rep. Indian Tea Licensing Comm.*, 1947–48; *Capital*, 1948, **120**, 1062; *Plant. Chron.*, 1949, **44** 513).

चाय कर – लंदन स्थित बाजार विस्तारण बोर्ड (टी मार्केट एक्सपैंशन बोर्ड) चाय उत्पादक देशों से जो चंदा प्राप्त करता है उससे वह विश्व-भर में चाय का प्रचार करता है. इस हेतु कर लगाया जाता है. कर की दर में समय-समय पर परिवर्तन होता रहा है. प्रारम्भ में यह 1 रु. 6 आना (1.37 रु.) प्रति पाउंड (450 ग्रा.) था. स्वतन्त्रता के कुछ काल बाद यही 1 रु. 10 आना (1.62 रु.) प्रति पाउंड कर दिया गया.

C. thea Link; *C. theifera* Griff.; *viridis*; *bohea*; *stricta*; *lasiocalyx*; *macrophylla*; *shan*; *assamica*; *sinensis*; *cambodia*; *Heterodera marioni* G.; *Brachytrypes achatinus* Stoll; *Albizzia stipulata*; *A. procera*; *A. moluccana*; *A. lebbek*; *Dalbergia assamica*; *Derris robusta*; *Leucaena glauca*; *Grevillea robusta*; *Gliricidea maculata*; *Acacia* spp.; *Erythrina* spp.; *Cajanus cajan*; *Tephrosia candida*

करंगा जसू (सैक्रोफुलेरिएसी) CURANGA Juss.

ले.–करंगा

Fl. Br. Ind., IV, 275.

यह इण्डो-मलायन क्षेत्र में पाई जाने वाली विकीर्ण अथवा विसर्पी झाड़ियों का अत्यन्त लघु वंश है. **क. फेलटेरी** (लौरियो) मेरिल (=**क. मेलीसिफोलिया** जसू) सिन. **क. अमारा** जसू सिक्किम, हिमालय प्रदेश तथा असम में पाई जाने वाली अरोमिल बिखरी हुई वार्षिक झाड़ी है. इसका उपयोग ज्वरहारी के रूप में किया जाता है (Kirt. & Basu, II, 1819).

पौधे में डिजिटैलिन के समान अक्रिस्टलीय, कड़वा ग्लाइकोसाइड, करंगिन, के पाये जाने का उल्लेख है (Wehmer, II, 1122).

Sacrophulariaceae; *C. felterrae* (Lour.) Merrill; *C. melissifolia* Juss.; *C. amara* Juss.

करकुलिगो गेर्टनर (अमरिलिडैसी) CURCULIGO Gaertn.

ले.–कुरकूलिगो

यह उष्णकटिबन्ध में पाई जाने वाली झाड़ियों की 12 जातियों का वंश है. इनकी जड़ें तथा तना कन्दिल होता है और पत्तियाँ बहुधा चुन्नटदार होती हैं. इसकी बहुत-सी जातियाँ शोभाकारी हैं.

Amaryllidaceae

क. आर्किआयडिस गेर्टनर C. orchioides Gaertn.

ले.–कु. आर्किओइडेस

D.E.P., II, 650; Fl. Br. Ind., VI, 279.

सं.–मूशली; हिं.–काली मूसली; कं.–तालमूली; ते.–नेलातैत्य-गड्डा; क.–नेलाताति-गड्डे.

यह छोटी बूटी है जिसका मूलकांड कंदिल, 30 सेंमी. तक लम्बा; जड़ें कुछ माँसल और पत्तियाँ चक्र में होती हैं. यह भारत में उपोष्ण हिमालय में कुमायूँ से पूर्व की ओर, और पश्चिमी घाट में कोंकण से दक्षिण की ओर पाई जाती है.

इसकी कंदिल जड़ें चिकित्सा में काम आती हैं. जब पौधा दो वर्ष का होता है तो जड़ें इकट्ठा की जाती हैं, धोई जाती है, छोटी जड़ें निकाल दी जाती हैं, और लकड़ी के चाकू से कतलों में काट कर छाया में सुखाई जाती हैं. वे कुछ कड़वी और श्लेष्मी होती हैं और टॉनिक, परिवर्ती, शामक, मूत्रल और नवीकारी समझी जाती हैं. वे आमतौर से सुगंधियों और तिक्तों के साथ मिलाकर बवासीर, अतिसार, पीलिया और दमे में दी जाती हैं तथा खुजली और त्वचा रोगों में पुल्टिस की भाँति प्रयुक्त होती हैं (Kirt. & Basu, IV, 2469; Dymock, Warden & Hooper, III, 462; Burkill, I, 703).

इस भेपज के चूर्ण के विश्लेषण से निम्नलिखित मान प्राप्त हुए: ईथर निष्कर्ष, 1·28; ऐल्कोहल निष्कर्ष, 4·14; जल निष्कर्ष, 39·92; स्टार्च, 43·48; अगोधित तन्तु, 14·18; राख, 8.60; और टैनिन, 4·15% (Dymock, Warden & Hooper, loc. cit.).

क. कैपिटुलेटा कुंटज़े सिन. क. रिकरवेटा ड्राइएण्डर C. capitulata Kuntze

ले.–कु. कापिटुलाटा

Fl. Br. Ind., VI, 278.

यह गुच्छेदार बूटी है, जिसकी पत्तियाँ चुन्नटदार तथा पुष्पगुच्छ सितारों के समान घने पीले होते हैं. यह उष्णकटिबन्धीय हिमालय

में नेपाल से पूर्व की ओर बंगाल तक पायी जाती है और अपनी सुन्दर पर्णावली के कारण बहुधा इसकी खेती की जाती है. वैर. वेरीगेटा हार्टोरम की पत्तियों में लम्बी श्वेत रेखायें होती हैं. पौधे के लिये प्रचुर जल तथा अच्छे जल-निकास की आवश्यकता होती है.

इसकी पत्तियों से एक रेशा प्राप्त होता है जिसे पहाड़ी आदिवासी नकली केशों के रूप में प्रयोग करते हैं. इसके फल खाद्य हैं (Burkill, I, 704).

C. recurvata Dry.; var. *variegata* Hort.

क. लटिफोलिया ड्राइएण्डर C. latifolia Dry.

ले.–कु. लाटिफोलिआ

Fl. Br. Ind., VI, 280.

यह ब्रह्मा तथा अण्डमान द्वीपों में पायी जाने वाली एक शोभाकारी बूटी है, जिसकी पत्तियाँ चौड़ी, सुन्दर तथा वक्र होती हैं. फूल चटक पीले रंग के होते हैं. यह लगभग एक वर्ष में फूलने लगती है. इसकी पर्णावली परिवर्तनशील है. पौधे में से असंख्य अंत:भूस्तारी उत्पन्न होते हैं, जिन्हें निकाल कर सरलता से उगाया जा सकता है.

इसकी कड़ी पत्तियों से एक रेशा निकाला जाता है जिसका उपयोग मछली मारने के जाल बनाने के लिए किया जाता है. फल मीठे तथा खाद्य हैं. इनसे भूख बढ़ती है (Burkill, loc. cit.).

करक्यूमा लिनिअस (**जिंजीबरेसी**) CURCUMA Linn.

ले.–कुरकूमा

यह लगभग 70 जातियों की प्रकंदीय बूटियों का एक वंश है जो भारत, श्याम, मलाया द्वीप समूह और उत्तरी ऑस्ट्रेलिया में पाया जाता है. लगभग 30 जातियाँ भारत में पाई जाती हैं जिनमें से कुछ आर्थिक महत्व की हैं.

Zingiberaceae

क. अंगुस्टीफोलिया राक्सबर्ग C. angustifolia Roxb.

पूर्वीय भारत का अरारोट, त्रावनकोर स्टार्च

ले.–कु. अंगुस्टिफोलिआ

D.E.P., II, 652; C.P., 444; Fl. Br. Ind., VI, 210; Kirt. & Basu, IV, 2418, Pl. 934A.

हिं.–तीखुर; म.–तवाखीरा; त.–अराख्ट–किझांगू; ते.–अराख्ट गड्दालू, पालगुन्दा.

यह जाति मध्य प्रदेश, बंगाल, महाराष्ट्र, तमिलनाडु के पहाड़ी भागों में और हिमालय की कुछ निचली श्रेणियों में पायी जाती है. इसके कन्दों या प्रकंदों में स्टार्च होता है जिसको **माराण्टा एरुण्डिनेसी** लिनिअस से प्राप्त वास्तविक अरारोट चूर्ण के स्थान पर प्रयोग में लाते हैं.

यह पौधा बहुत से स्थानों में जंगली उगता है. यह नम अथवा ठंडे स्थानों में लगभग 450 मी. की ऊँचाई पर पाया जाता है और इसकी खेती बहुत ही कम की जाती है. इसके कन्दों को शरद् के अन्त में बोते हैं और सूखे मौसम में कभी-कभी सिंचाई करते रहते हैं. जनवरी में फसल काट ली जाती है. मद्रास के प्रायोगिक क्षेत्रों में 3,900 किग्रा. प्रति हेक्टर तक उपज होने की सूचना है. कंदों को धोकर, कूटकर, लुगदी बना लेते हैं और तंतुओं और अन्य अशुद्धियों को बार-बार धोकर और कपड़े से छानकर उनसे स्टार्च को अलग कर लेते हैं. फिर धूप में सुखाकर इसका चूर्ण बना लेते हैं (उपलब्धि, 12·5%). यह पदार्थ अरारोट से कुछ-कुछ मिलता है. इसके स्टार्च कण बड़े, लम्बे, नाशपाती के आकार के या गदाकार होते हैं और शीघ्र ही पच जाते हैं. यह बच्चों एवं रोगियों के लिये दूध का हलवा बनाने के काम आता है. बाजार में मिलने वाले पदार्थ में बहुधा दूसरे स्टार्चों, जैसे टेपिओका, शकरकन्द और चावल के आटों की मिलावट रहती है. पूर्वी भारतीय अरारोट के स्टार्च की बहुत बिक्री है किन्तु व्यापार के आँकड़े प्राप्त नहीं हैं (Somayajulu, *Madras agric. J.*, 1939, **27**, 442; Winton & Winton, I, 52).

Maranta arundinaceae Linn.

क. अमाडा राक्सबर्ग C. amada Roxb. मैंगो-जिंजर

ले.–कु. अमाडा

D.E.P., II, 652; C.P., 443; Fl. Br. Ind., VI, 213; Kirt. & Basu, IV, 2422, Pl. 937A.

सं.–कर्पूर हरिद्रा; हिं.–आमा हल्दी; बं.–आमड़ा; म.–अम्बा हल्दी; ते.–मैमीडियालम; त.–मँगई इंजी.

इस जाति के प्रकंदों में कच्चे आमों जैसी लाक्षणिक गंध आती है. यह अधिकतर बंगाल, कोंकण और तमिलनाडु के कुछ भागों में जंगली उपजती है. इसका प्रकंद अधिकतर अचार और चटनी के प्रयोग में लाया जाता है. यह वातसारी है. इसे चोट और मोच पर लगाते हैं.

इसका पौधा उपजाऊ भूमि में, जहाँ पानी देने और निकास की सुविधा होती है, भलीभाँति उगता है. इसको बगीचों में बैंगन (**सोलैनम मेलांगेना** लिनिअस) और ओकरा (**हिबिस्कस एस्कुलेंटस** लिनिअस) जैसी शाकभाजियों के साथ उगाते हैं. इसके लिये पहले खेत को जोत कर और खाद देकर तैयार कर लेते हैं, फिर प्रकन्दों के छोटे-छोटे टुकड़े करके लगभग 45 सेंमी. की दूर पर मई और जून में बो देते हैं. प्रत्येक हेक्टर के लिये 90 से 112·5 किग्रा. प्रकंदों की आवश्यकता होती है. फसल को पानी काफी चाहिए. कटाई अक्टूबर में शुरू होकर जनवरी तक चलती रहती है. इसमें समूचे पौधे उखाड़ लिये जाते हैं और प्रकंदों को एकत्रित करके धोकर छाया में सुखा लेते हैं. बहुधा प्रति हेक्टर 4,050 किग्रा. उपज मिलती है (Sankaram, *Madras agric. J.*, 1942, **30**, 191).

क. अमाडा के प्रकंदों से 1·1% सौरभिक तेल प्राप्त होता है जिसमें *d-α* पिनीन, 18; ओसीमीन, 47·2; लिनैलूल, 11·2; लिनैलिल ऐसीटेट, 9·1; सैफरोल, 9·3; तथा अज्ञात पदार्थ, 3·5% होते हैं. आसवन से 1·7% की हानि होती है (*Chem. Abstr.*, 1941, **35**, 6393).

Solanum melongena Linn.; *Hibiscus esculentus* Linn.

क. एरोमैटिका सालिसबरी C. aromatica Salisb.

जंगली हल्दी, पीली हल्दी

ले.—कु. आरोमाटिका

D.E.P., II, 655; C.P., 443; Fl. Br. Ind., VI, 210; Kirt. & Basu, IV, 2419, Pl. 935.

हि.—जंगली हल्दी; बं.—वनहोलूद; म.—रन हालदा; त.—कस्तूरी-मांजल; ते.—कस्तूरी पैसूपु; क.—कस्तूरी अरिशीना.

यह भारत-भर में जंगली पाई जाने वाली जाति है किन्तु मुख्य रूप से बंगाल और त्रावनकोर में उगायी जाती है. इसके प्रकन्द हल्के पीले परन्तु काटने में नारंगी लाल रंग के होते हैं और उनमें से कपूर-जैसी गंध आती है. कभी-कभी इसका प्रयोग हल्दी (**क. लांगा**) के स्थान पर किया जाता है परन्तु मसाले के रूप में नहीं और मोच आने पर इन्हें अन्य कषायों, तिक्तों तथा सुगन्धियों के साथ मिलाकर ऊपर से लगाते हैं.

प्रकन्दों के विश्लेषण से निम्नलिखित मान प्राप्त हुए हैं: ईथर निष्कर्ष, 12·06; ऐल्कोहल निष्कर्ष, 1·14; जल निष्कर्ष, 6·50; आर्द्रता, 13·33; ऐल्बुमिनॉयड, 30·63; स्टार्च, 23·46; अशोधित तन्तु, 8·42; और राख, 4·46%; भाप आसवन से 6% हरे-भूरे रंग का कपूर-जैसी गंध का तेल प्राप्त होता है, जिसके स्थिरांक इस प्रकार हैं: $d^{30°}_{30°}$, 0·9139; $n_D^{30°}$, 1·5001; $(\alpha)^{30°}_D$, —12·5°; अम्ल मान, 0·9; एस्टर मान, 2·03; ऐसीटिलीकरण के पश्चात् एस्टर मान, 58·66. तेल में से टर्पीन (विशेषत: *l*-α और *l*-β करक्यूमीन), 65·5; दो मोनोसाइक्लिक तृतीयक सेस्क्वीटर्पीन ऐल्कोहल, 22·0; *d*-कैम्फर, 2·5; *d*-कैम्फीन, 0·8; *p*-मेथॉक्सि-सिनैमिक और अन्य अम्ल, 0·7; अज्ञात पदार्थ, 8·5% पाये जाते हैं. रंजक पदार्थ की पहचान करकुमिन के रूप में की गई है (Rao *et al.*, *J. Indian Inst. Sci.*, 1926, **9A**, 140; *J. chem. Soc.*, 1928, 2496; Rao & Shintre, *J. Soc. chem. Ind., Lond.*, 1928, 47, 54T).

क. केसिया राक्सबर्ग C. caesia Roxb.

काली ज़ेडोएरी (हल्दी)

ले.—कु. केसिआ

D.E.P., II, 658; C.P., 443; Fl. Br. Ind., VI, 212; Kirt. & Basu, IV, 2442, Pl. 936.

हि.—नर कचूरा; बं. और म.—काली हल्दी; ते.—मनुपसुपु.

यह बंगाल का मूलवासी है और थोड़ी मात्रा में उगाया जाता है. ताजे कन्दों का रंग हल्का पीला होता है और उनसे सुगंध आती है. उन्हें कांतिवर्धक पदार्थों में प्रयुक्त करते हैं. मोच और चोट लगने पर इसका लेप किया जाता है. कंदों के विश्लेषण से आर्द्रता, 9·76; सौरभिक तेल और रेज़िन तेल, 1·47; शर्करा, 1·21; स्टार्च, 18·75; ऐल्बुमिनायड, 22·94; अशोधित तन्तु, 25·20; गोंद और कार्बनिक अम्ल, 10·10; तथा राख, 7·57% प्राप्त हुई (Dymock, Warden & Hooper, III, 405).

सूखे कंद का भाप आसवन करने पर 1·6% सौरभिक तेल निकलता है जिसमें *d*-कैम्फर, 76·6; कैम्फीन और बोर्निलीन, 8·2; सेस्क्वीटर्पीन, 10·5; और अज्ञात अवशेष, 4·7% रहता है. सौरभिक तेल साधारण ताप पर *d*-कैम्फर के कारण कुछ-कुछ जम जाता है. शोधित तेल का घनत्व 0·845 है. यह दक्षिणावर्ती होता है और इसमें कपूर-जैसी तेज गंध आती है. यह कपूर का स्रोत है और इसके व्यापारिक उत्पादन पर ध्यान दिया जाना चाहिए (*Chem. Abstr.*, 1940, **34**, 6015; Malaviya & Dutt, *Proc. nat. Acad. Sci., India*, 1940, **10**, 64).

क. ज़ेडोएरिया रोस्को C. zedoaria Rosc. ज़ेडोएरी

ले.—कु. ज़ेडोआरिआ

D.E.P., II, 669; C.P., 444; Fl. Br. Ind., VI, 210; Kirt. & Basu, IV, 2420, Pl. 934B.

हि., बं., म., क. और गु.—कचूरा; त.—किचली-किज़ंघू; ते.—कचोरम, मल.—पुलाकिज़न्ना.

यह पूर्वी हिमालय एवं कनारा के समुद्री तट के पर्णपाती जंगलों में उगने वाली जंगली जाति है. यह उत्तर पूर्वी भारत की मूल वासी है और अब भारत, श्रीलंका तथा चीन के अधिकांश भागों में काफी मात्रा में उगाई जाती है. इस पौधे का प्रवर्धन कन्दों से किया जाता है. वर्षा होते ही कन्दों के छोटे-छोटे टुकड़े, जिनमें कलिका हों, पटेला किये हुए खेत में लगा देते हैं. सुपारी के पेड़ों को छाया और सिंचाई की नालियाँ **क. ज़ेडोएरिया** की खेती में सहायक होते हैं. कंदें दो वर्षों में काफी बड़ी हो जाती हैं (Dhaneshwar, *Indian For.*, 1940, **66**, 479).

क. ज़ेडोएरिया की आकृति **क. लांगा** से बहुत मिलती-जुलती है. पौधा लगभग 45 सेंमी. की ऊँचाई तक जाता है जिस पर हरी पत्तियाँ होती हैं जिसकी नसें लाल होती हैं. कन्दें बड़ी तथा मोटी होती हैं. इनको पतले कतलों में काटकर सुखा लेते हैं. सूखे कतले भूरे, मांस के रंग के होते हैं जिससे कस्तूरी-जैसी कपूर मिश्रित सुगन्ध आती है. यही इसका व्यापारिक रूप है. इसका स्वाद चरपरा और कुछ-कुछ कड़वा होता है.

कन्दों में स्टार्च की मात्रा अधिक होती है. बाजारू शोती स्टार्च इन्हीं कन्दों से निकाला जाता है. इसका प्रयोग अरारोट और जौ के स्थान पर भी होता है. यह बच्चों और पथ्य पाने वाले रोगियों के लिये महत्वपूर्ण खाद्य है. यह ठंडक और शान्ति देने वाला है और मिठाइयों में इस्तेमाल होता है. सप्पन की लकड़ी के साथ इसके चूर्ण का काढ़ा बनाने से एक लाल चूर्ण, अबीर, प्राप्त होता है.

शोती स्टार्च बनाने के लिये कन्दों को धोकर, साफ करके, पीस कर लुगदी बना लेते हैं. इसको पानी में मिलाकर खूब चलाते हैं जिससे स्टार्च नीचे बैठ जाता है. ऊपर से द्रव को निथार लेते हैं. अवशेष को पानी के साथ फिर चला कर कपड़े से छानकर स्टार्च को नीचे बैठने देते हैं. यह क्रिया बारम्बार तब तक की जाती है जब तक कड़वापन दूर नहीं हो जाए और सफेद पदार्थ प्राप्त न हो ले. अन्त में इस चूर्ण को धूप में सुखा लेते हैं (Das Gupta & Subrahmanyan, *Agric. & Live-Stk, India*, 4, 645; Dhaneshwar, loc. cit.).

शोती स्टार्च बंगाल में घरेलू धंधों द्वारा प्राप्त होता है. बाजारू पदार्थ के विश्लेषण से निम्नांकित फल प्राप्त हुए: आर्द्रता, 13.1; राख, 1·01; स्टार्च, 82·6%. स्टार्च का एक तिहाई भाग एमिलोस होता है. सूक्ष्मदर्शी परीक्षण से ज्ञात होता है कि शोती के कण अरारोट से प्राप्त स्टार्च से बहुत मिलते-जुलते हैं. पानी में



चित्र 5—करक्यूमा लांगा के सुखाये प्रकंद

लाभदायक है. खाद देने के पश्चात् खेत को 3 या 4 बार अच्छी तरह जोत कर 20–25 सेंमी. ऊँची मेड़ें बना लेते हैं जिनके बीच में सिंचाई की सुविधा के लिये 45–50 सेंमी. चौड़ी नालियाँ बनाते हैं. पिछली फसल से प्राप्त एक या दो आँखों वाले प्रकन्द 7.5 सेंमी. गहराई और 30–37.5 सेंमी. की दूरी पर अप्रैल से अगस्त तक 1,500 से 1,800 किग्रा. प्रति हेक्टर की दर से लगा दिये जाते हैं. श्रीलंका के खेतों में किये गये प्रयोगों से यह ज्ञात हुआ है कि 15 सेंमी. × 15 सेंमी. दूरी पर लगाए पौधों से 30 सेंमी. × 30 सेंमी. या अधिक दूरी वाले पौधों की अपेक्षा अधिक उपज मिलती है. पौधे छायादार स्थानों में अधिक वृद्धि करते हैं, परन्तु पूर्ण छाया से उपज घट जाती है. कभी-कभी खरपतवार निकालते और खेत की गुड़ाई करते रहना चाहिए. 9 या 10 महीने में जब निचली पत्तियाँ पीली पड़ जाती हैं तो फसल तैयार हो जाती है. कुदाली या खुरपी से प्रकन्द खोद कर निकाल लिये जाते हैं. प्रति हेक्टर 1,200 से 1,500 किग्रा. तक की उपज होती है परन्तु प्रति हेक्टर 2,500 किग्रा. हेक्टर तक के प्रमाण प्राप्त हैं (Rao, *Madras agric. J.*, 1949, **36**, 323; Nair, *Allahabad Fmr*, 1946, **20**, 146; Narasimham, loc. cit.; Lakshmanan, *Madras Agric. J.*, 1949, **36**, 267; Paul & Fernando, *Trop. Agriculturist*, 1944, **100**, 9; *Madras agric. J.*, 1937, **25**, 25; Ambekar, loc. cit.; Narasimham, loc. cit.).

हल्दी की पत्तियों में धब्बे पड़ने और प्रकन्दों के सड़ने की बीमारी हो जाती है. गुजरात और तमिलनाडु में उगने वाले पौधों की पत्तियों पर **टफरीना मकुलंस** बटलर द्वारा पीले धब्बे पड़ जाते हैं और पत्तियाँ सूख जाती हैं. यही बीमारी आन्ध्र प्रदेश और उड़ीसा में अधिकता से होती है. बोर्डो मिश्रण का छिड़काव या किसी अधात्विक फफूँदनाशक से रक्षा की जा सकती है. तने में छेद करने वाली इल्लियों (**डाइकोक्रोसिस पंक्टीफेरालिस**) से हल्दी के पौधों को हानि होती है. यह तने में घुस कर बीच के भाग को काट देती है जिससे पौधा सूख जाता है. ग्रस्त तनों को शुरू में ही काट कर फेंक देना और इल्लियों को मार देना, ये हल मात्र-रोकथाम के उपाय हैं. और कई कीट भी पत्तियों और तनों को हानि पहुँचाते पाए गए हैं (Yegna Narayan Aiyer, 288; Ramakrishna Aiyer, 339; Mundkur, 110).

बाजार के लिए उपचार एवं तैयारी—भूराभ पीले प्रकन्दों में एक पत्तीदार केन्द्रीय भाग होता है जिससे चारों ओर अंगुलियों-जैसे अनेक पार्श्व शाखायें निकली रहती हैं. पत्तीनुमा अंगुलियों-जैसे भाग को अलग कर लेते हैं. लम्बी-लम्बी अंगुलियाँ, जिनका बाजार में काफी दाम मिलता है, छोटे-छोटे टुकड़ों में काट ली जाती हैं और उन पर लगी मिट्टी और रेशेदार जड़ें साफ कर दी जाती हैं. इनका मूल्य अधिक होता है. पकाने के लिये उनको पानी में तब तक पकाते हैं जब तक वे मुलायम न हो जावें. हल्दी की कुछ पत्तियाँ भी पकाने के पानी में डाल दी जाती हैं. थोड़ा गोबर भी डाल देने से रंग गहरा हो जाता है. इनको भलीभाँति पकाना आवश्यक है, अन्यथा कीड़ों के लग जाने की आशंका रहती

है. भिन्न-भिन्न स्थानों में पकाने का समय अलग-अलग है जो 30 मिनट से 6 घंटे तक हो सकता है. पके हुए प्रकन्दों को धीरे-धीरे ठण्डा करते हैं और खुले स्थान में सूखने के लिये फैला देते हैं. कभी-कभी उलटते-पलटते भी रहते हैं जिससे वे समान रूप से सूख जाएँ. सूखे प्रकन्दों को किसी खुरदरी सतह पर रगड़ते हैं अथवा दबाकर ऊपरी छिलका निकाल देते हैं जिससे उनका रंग और पालिश आकर्षक बन जाय (*Leafl. Dep. Agric., Assam*, loc. cit.; Rajaratnam, loc. cit.; Narasimham, loc. cit.; Ramanna, *Mysore agric. J.*, 1935, **15**, 136).

इसे पकाने वाले बर्तनों तथा भट्टियों और पालिश करने की विधियों में सुधार करने का सुझाव दिया गया है. कुरनूल जिले में सिवबाही भट्टी, जो गुड़ बनाने में प्रयोग की जाती है, हल्दी के प्रकन्दों के पकाने के लिए काम में लाते हैं और हल्दी की सूखी पत्तियों की आग से ही भट्टी जलाते हैं. पालिश करने के लिये तमिलनाडु सरकार के कृषि विभाग ने 60 सेंमी. लम्बा तथा 90 सेंमी. व्यास वाले जालीदार ड्रम की रचना की है जो 30 चक्कर प्रति मिनट के हिसाब से हाथ से घुमाया जाता है. इस जाली के बाहर हल्के तार की जाली लगाई जाती है जिससे हल्दी के छोटे-छोटे टुकड़े गिरें नहीं. इस ड्रम में 31·5 किग्रा. हल्दी एक बार में आ सकती है जिसको पालिश करने में 6 मिनट लगते हैं. पालिश करते समय पानी छिड़कने से अच्छा रंग आता है. पालिश करने से प्राप्त पीला चूर्ण धान के खेतों में खाद के रूप में प्रयुक्त होता है (*Madras agric. J.*, 1938, **26**, 79, 444; Karunaratne, *Trop. Agriculturist*, 1937, **89**, 350; Rao, loc. cit.).

सूखी हल्दी की मात्रा प्रकन्दों के गुण और पक्वावस्था पर आधारित है जो 17 से 25 प्रतिशत तक हो सकती है. पकाई और पालिश की हुई हल्दी भंगुर होती है और उसका रंग चमकदार पीला होता है जिसपर उसका बाजार भाव निर्भर करता है. कुछ स्थानों में विशेष रीति से उसके स्वरूप को सुधारा जाता है. इसके लिये कन्दों को 10 मिनट तक इमली के जलीय घोल में, जिसमें कुछ हल्दी का चूर्ण मिला होता है, डालते हैं. कंद की कम बढ़ी हुई लाल शाखाओं को अलग करके टुकड़े-टुकड़े करके बिना पकाये ही कुमकुम बनाने के काम में लाते हैं (Yegna Narayan Aiyer, 265; Ramanna, loc. cit.).

उपयोग – हिन्दू घरों में हल्दी (गाँठ या चूर्ण) प्रत्येक धार्मिक अवसर पर मंगलकारी पदार्थ माना जाता है. यह मसालों, सब्जियों के चूर्णों तथा सरसों (तैयार) का आवश्यक अंग है. इसका प्रयोग ऊन, रेशम तथा अस्थायी सूत के रंगने में किया जाता है जिससे अम्लीय अवगाह में हल्का पीला रंग बनता है. यद्यपि इसका रंग कच्चा होता है फिर भी इसे सूत रंगने के काम में लाते हैं और कभी-कभी अन्य प्राकृतिक रंगों में, जैसे नील और कुसुम के साथ मिलाकर कई तरह के रंग प्राप्त किये जाते हैं. अभी तक इंगलैंड में हल्दी का प्रयोग ऊन और रेशम को रंगने के लिये, जैतून के रंग जैसे भूरे अथवा अन्य मिश्रित रंगों के बनाने में करते हैं. इसे औषधियों, मिठाइयों अथवा भोजन सामग्रियों के रंगने में भी काम में लाते हैं. हल्दी-पत्र ब्रिटिश फार्माकोपिया के अनुसार क्षारीयता बताने के लिये प्रयुक्त होता है. हल्दी का तनूकृत टिंचर प्रतिदीप्ति सूचक है, चाहे वह भूरे या पीले घोल में ही क्यों न हो (*Chem. Abstr.*, 1938, **32**, 6579).

भारतीय चिकित्सा प्रणाली में हल्दी का प्रयोग कुछ मात्रा में क्षुधावर्धक, शक्तिवर्धक अथवा रक्त शोधक की तरह किया जाता है. इसे प्रत्यावर्ती रूपांतरक की तरह भी प्रयुक्त करते हैं. साधारण सर्दी लग जाने पर इसको दूध में मिलाकर देने से लाभ होता है. ताजी गाँठों का रस त्वचीय परजीवी जीवाणुओं को मारने में उपयोगी है. मन्द फोड़ों में इसका लेप किया जाता है. इसके चूर्ण के साथ चूना मिलाकर लगाने से सूजे हुए जोड़ों को लाभ पहुँचता है. हल्दी के काढ़े से आँख की पीड़ा को शान्ति मिलती है. सूखे प्रकन्दों से आसवित, हल्दी के तेल में हल्का पूतिरोधी गुण पाया जाता है. यह अम्लरोधी है और थोड़ी मात्रा में पाचक, क्षुधावर्धक अथवा शक्तिवर्धक है. अधिक मात्रा में (2–4 मिलि. सान्द्र विलयन) ऐंठन को दूर करने वाला है और आंत्र के क्रमांकुचन में लाभ पहुँचाता है (Chopra *et al.*, *Indian J. med. Res.*, 1941, **29**, 769).

भारतीय हल्दी के विश्लेपण से निम्नांकित मान प्राप्त हुए हैं: आर्द्रता, 13·1%; प्रोटीन, 6·3%; वसा, 5.1%; खनिज पदार्थ, 3·5%; तन्तु, 2·6%; कार्बोहाइड्रेट, 69·4%; कैरोटीन एवं विटामिन ए, 50 अं. यू./100 ग्रा. सूखे प्रकन्दों के भाप आसवन से प्राप्त होने वाले सौरभिक तेल (5·8%) के स्थिरांक इस प्रकार हैं: $d_{20°}^{20°}$, 0·929; $n_D^{30°}$, 1.5054; $(\alpha)_D^{30°}$, –17·3°; एस्टर मान, 3·2; और अम्ल मान, 26·3. इसमें *d*-α-फिलैण्ड्रीन, 1; *d*-सैबिनीन, 0·6; सिनिओल, 1; बोर्निओल, 0·5; ज़िंजीबरीन, 25; सेस्क्वीटर्पीन (ट्यूमरोन्स), 58%. वाष्पशील आसुत से एक कीटोन $C_{13}H_{20}O$ और एक ऐल्कोहल, $C_9H_{11}OH$ जिसकी पहचान *p*-टोलीमेथिल कार्बिनाल के रूप में हो चुकी है, मिलते हैं. क्रिस्टलीय रंजक पदार्थ करकुमिन (उपलब्धि, 0.6%; ग.बि., 180–183°) डाइफैरुलिल मेथेन है जिसका सूत्र $C_{21}H_{20}O_6$ है. सांद्र सल्फ्यूरिक अम्ल में यह विलेय है और पीला-लाल रंग देता है. करक्यूमिन फीनालिक गुण के कारण ही करक्यूमा के चूर्ण में प्रतिऑक्सिकारी लक्षण हैं. सौरभिक तेल के गुण टोलिल मेथिल कार्बिनॉल के कारण ही हैं. रंजक पदार्थ पित्तवर्धी का कार्य करता है और पित्ताशय को संकुचित कर देता है (*Hlth Bull.*, No. 23, 1941, 37; Kelkar & Rao, *J. Indian inst. Sci.*, 1933, **17A**, 7; Mayer & Cook, 93; *Chem. Abstr.*, 1933, **27**, 4876; 1934, **28**, 3833; 1935, **29**, 1492; 1936, **30**, 6822; 1948, **42**, 8496).

हल्दी का रंजक पदार्थ उसके चूर्ण को या तो विलायक निष्कर्षण द्वारा या जलीय क्षार में घोल कर तथा अम्ल द्वारा अवक्षेपित करके अलग किया जाता है. हल्दी का समस्त सक्रिय अंग जो पित्ताशय की बीमारियों में लाभदायक है प्रकन्दों के जलीय घोल से प्राप्त किया जा सका है. चीन में करक्यूमिन का प्रयोग रेशम, कागज, लकड़ी और खाद्य पदार्थों के रंगने में किया जाता है (*Chem. Abstr.*, 1934, **28**, 4179; 1935, **29**, 5992; 1938, **32**, 6402; 1941, **35**, 7656; 1943, **37**, 3230; Mayer & Cook, loc. cit.).

व्यापार

हल्दी के उत्पादन का अधिकांश भाग देश में ही व्यय हो जाता है और जो बचता है उसी का निर्यात होता है. शोधित उत्पाद को अंगुलियों, पत्तियों, गोलों और टुकड़ों में अलग-अलग कर लिया जाता है. बाजार के हिसाब से उनको 'बड़ी' और 'छोटी' कोटियों में विभाजित कर दिया जाता है. अंगुलियों को विशेष

गुणों वाला माना जाता है. निर्यात की जाने वाली हल्दी की फिर से पालिश की जाती है और कभी-कभी रंगी भी जाती है. भारतीय हल्दी का आयात करने वाले देश पाकिस्तान, श्रीलंका, संयुक्त राज्य अमेरिका है.

हल्दी का व्यापार अन्तरप्रान्तीय होता है. इसकी थोक विक्री का मूल्य घटता-बढ़ता रहता है.
Taphrina maculans Butler; *Dichocrosis punctiferalis* Gd.

करमकल्ला – देखिए ब्रैसिका

कराया गोंद – देखिए स्टरकूलिया

करैत – देखिए साँप

करौंदा – देखिए कारिसा

कलमेघ – देखिए ऐंड्रोग्रैफिस

कलेनिया वाइट (बम्बेकेसी) CULLENIA Wight

ले.–कुल्लेनिआ

यह दक्षिण भारत तथा श्रीलंका में पाये जाने वाले वृक्षों का एकल प्ररूपी वंश है.
Bombacaceae

क. इक्सेल्सा वाइट = क. ज़ेलानिका (गार्डनर) वाइट एक्स के. शुमाखर C. excelsa Wight

ले.–कु. एक्सेल्सा
Fl. Br. Ind., I, 350.

त.–आनईपाला, पलावु, वेदबाला, मलाइककोञ्चिल; मल.–कारन्निन्नलि, कारनाई; सि.–काटूबोडा, कावोड्डा.
व्यापार–कारनी.

यह सीधे तने का बड़ा, सदाहरित वृक्ष है, जो आयु बढ़ने पर लम्बी धारी वाला हो जाता है. पश्चिमी तट में इसका घेरा 3 मी. या इससे अधिक और पहली शाखा तक इसका तना लगभग 18 मी. ऊँचा होता है. यह पश्चिमी घाटों के किनारों से लेकर कोचीन, और त्रावनकोर तक तथा श्रीलंका में पाया जाता है. इसकी लकड़ी हल्के गुलाबी से लाल भूरे रंग वाली, कोमल, हल्की (आ.घ., 0.50; भार, 496–672 किग्रा./घमी.), सीधी दानों वाली तथा मध्यम गठन वाली होती है. इस पर विवर्णन तथा कवक के आक्रमण की सम्भावना रहती है किन्तु यदि तुरन्त तख्ते बनाकर इसे भट्ठे में पका लिया जाय तो कवकों का आक्रमण नहीं होता. ठीक से पकाने पर यह छाया में रखने पर टिकाऊ होती है. इसे अपेक्षाकृत कम दाबों पर उपचारित किया जा सकता है और कम समय में परिरक्षक पूर्ण रूप से व्याप्त हो जाता है. इसे बिना कठिनाई के चीरा जा सकता है. भट्ठे में पकाई हुई लकड़ी हाथ तथा मशीन दोनों द्वारा गढ़ी जा सकती है. इमारती लकड़ी अथवा लट्ठे के रूप में सागौन की तुलना में इसकी उपयुक्तता को प्रतिशत के रूप में निम्न प्रकार से व्यक्त किया गया है: भार, 90; कड़ी के रूप में शक्ति, 95; कड़ी के रूप में दृढ़ता, 105; आकृति-स्थिरण-क्षमता, 70; खम्भे के रूप में उपयुक्तता, 100; आघात प्रतिरोध क्षमता, 105; कठोरता, 85; अपरूपण, 70 (Pearson & Brown, I, 143; Trotter, 1944, 242).

इसकी लकड़ी का उपयोग पेटियों तथा आन्तरिक गत्तों के लिये किया जाता है. यह गाड़ियों के बमों के लिये भी उपयोगी है. यह प्लाईवुड तथा सम्भवतः पेन्सिलों तथा होल्डरों के लिये भी उपयोगी है. परन्तु हावर्ड के अनुसार यह लकड़ी बहुत काम की नहीं है (Pearson & Brown, loc. cit.; Lewis, 58; Howard, 162).
C. zeylanica (Gardner) Wight ex K. Schum.

कवक FUNGI

कवक वनस्पति जाति में **थैलोफाइटा** का एक उपविभाग है. थैलोफाइटा की पहचान है थैलसनुमा देह जो जड़, तना, पत्ती आदि में विभेदित नही होती. कवक **थैलोफाइटा** के दूसरे उपविभाग 'शैवाल' से इस बात में भिन्न हैं कि कवकों में क्लोरोफिल नहीं होता, अतः ये अकार्बनिक यौगिकों से कार्बोहाइड्रेटों का संश्लेषण नहीं कर पाते. ये या तो एक-कोशिक होते हैं या बहु-कोशिक और इनमें रूपगत तथा कार्यगत विविधताएँ अनन्त हैं. कवकों को अनेक वर्गों में बाँटा गया है: जैसे कि **मिक्सोमाइसिटीज़** (श्लेष्म कवक), **शाइज़ोमाइसिटीज़** (जीवाणु) और **यूमाइसिटीज़** (असली कवक). यहाँ पर केवल **यूमाइसिटीज़** का विवरण दिया गया है.

कवक की वर्धी देह कवकजाल (माइसीलियम) कही जाती है जिसमें धागे-जैसे कवक तंतु (हाइफा) होते हैं, जो कि पटहीन या पटयुक्त, मोटे या बारीक, हवाई या जलमग्न, कड़े या ढीले हो सकते हैं और जिनमें कई प्रकार से शाखाएँ निकलती हैं. अन्य जीवों की कोशिकाओं की भाँति कवक-कोशिकाओं में भी कोशिका-द्रव्य, केन्द्रक और रिक्तिकाएँ होती हैं और उनकी भित्तियाँ काइटिन या अन्य जटिल कार्बोहाइड्रेटों की बनी होती हैं. ये एककेन्द्रकी या बहुकेन्द्रकी हो सकती हैं. खाद्य का संचय तैल-बिंदु और ग्लाइकोजन के रूप में किया जाता है.

कवक मृतजीवी या परजीवी दोनों प्रकार के हो सकते हैं. मृतजीवी कवक मृत जैव पदार्थ पर निर्भर रहते हैं, जैसे कि सड़ते हुए पौधों के अवशेष और जन्तु-अवशेष. जीवाणुओं के साथ मिलकर ये वनस्पति तथा जंतु द्रव्य को विघटित करके उनके अवयवी तत्व पृथक् करने और उन्हें वापस मिट्टी में मिला देने का महत्वपूर्ण कार्य करते हैं. परजीवी कवक अपने जीवन-यापन के लिए वनस्पति और जन्तुओं के ऊतकों पर निर्भर होते हैं. अनेक कवकों द्वारा परजीविता और मृतजीविता के भिन्न-भिन्न आयाम प्रदर्शित किए जाते है और उनमें से कुछ अन्य वनस्पतियों तथा जन्तुओं के साथ मिलजुल कर परस्पर साहचर्य का जीवन बिताते हैं.

कवक दो तरह के बीजाणु पैदा करते हैं: अलैंगिक बीजाणु तो वर्धी देह द्वारा पैदा किए जाते हैं और लैंगिक बीजाणु दो सम या असम युग्मों के मिलन से पैदा होते हैं. लैंगिकता और अन्य महत्वपूर्ण विशेषताओं के आधार पर कवकों को चार वर्गों में बाँटा गया है: उदाहरणार्थ **फाइकोमाइसिटीज़** (शैवालनुमा कवक), **एस्कोमाइसिटीज़** (कोश-कवक), **बैसिडियोमाइसिटीज़** (मुद्गर कवक) और **ड्यूटेरोमाइसिटीज़** (अपूर्ण कवक).

कवकों की विश्वव्यापी 75,000 जातियाँ कूती गई हैं जो 2,850 वंशों में विभाजित हैं. 1938 तक भारत में 3,480 जातियाँ ज्ञात थीं. विविध राज्यों से समय-समय पर विशद कवक-सूचियाँ प्रकाशित होती रहती है और भारत के कवक-फ्लोरा में वढ़ोतरी होती रहती है (Smith, 1949, I, 366; Butler & Bisby, *Sci. Monogr. Coun. agric. Res. India*, No. 1, 1931; Mundkur, ibid., No. 12, 1938).

कवकों में मनुष्यों की दिलचस्पी के अनेक कारण हैं. कुछ कवक वनस्पतियों और जन्तुओं में रोग पैदा करते हैं, कुछ खाए जाते हैं, तो दूसरों से अनेक ओषधियाँ और औद्योगिक रसायन निकाले गए हैं; अनेक कवक इमारती लकड़ी, वस्त्र, चमड़े के सामान, आदि को हानि पहुँचाते हैं; कुछ कवक कीटों तथा नेमैटोडों पर परजीवी हैं और इस तरह इन नाशकजीवों के नियंत्रण में सहायक हैं.

मिट्टियों में पादप-पोषकों के जैव-आमापन के लिए कवकों का इस्तेमाल किया गया हैं. **ऐस्पर्जिलस नाइजर** वान टीग मिट्टियों में मैग्नीशियम, ताँवा, जस्ता, और मालिब्डनम-न्यूनताओं के निर्धारण के लिए इस्तेमाल किया गया हैं और **ऐ. नाइजर, राइज़ोपस** जातियाँ और **कनिंघमेला** जातियाँ फास्फेट तथा पोटैसियम ज्ञात करने के लिए काम में लाई गई हैं (Brooks, *Advanc. Sci., Lond.*, 1948–49, **5**, 329; Nicholas, *J. Sci. Fd Agric.*, 1950, **1**, 339).

पादप रोगकारी कवक

अनेक कवक आर्थिक फसलों पर परजीवी हैं और रोग पैदा करते हैं जिसके गम्भीर परिणाम होते हैं. भारी होने पर भी हानियों को ठीक से कूता नहीं गया है. वताया गया है कि पादप रोगों और अपतृणों के कारण फसलों की पैदावार में 10% हानि होती है; जो देश कृषि की दृष्टि से पिछड़े हुए हैं उनमें नुकसान के आँकड़े और भी बड़े हैं [Russel, *Plant Prot. Overseas Rev.*, 1951, 2(4), 8].

भारत में गेहूँ के किट्ट रोग (रतुआ) की वजह से लगभग 4 करोड़ 90 लाख रु. की वार्षिक हानि होती हैं. 1942 का वंगाल दुर्भिक्ष आंशिक रूप से धान में **हेल्मिंथोस्पोरियम** रोग के कारण फैला था. ईख के लाल गलन रोग के महामारी रूप के कारण कई वार चीनी के कारखाने वंद होने की नौवत आ चुकी है.

कुछ महत्वपूर्ण कवक-रोगों का संक्षिप्त विवरण नीचे दिया जा रहा है.

फाइकोमाइसिटीज़ के कारण होने वाले रोग

फाइकोमाइसिटीज़ असली कवकों का निम्नतम वर्ग है और इसमें जलीय तथा स्थलीय कवकों की अनेक किस्में आती हैं. नियमतः कवकजाल पटहीन होता है किन्तु यह कम या अच्छी तरह विकसित हो सकता है. अलैंगिक जनन वीजाणुधानियों या चलवीजाणुओं द्वारा सम्पन्न होता है और लैंगिक जनन युग्मकों द्वारा होता हैं. ये समयुग्मकी या विषमयुग्मकी हो सकते हैं और युग्माणु (जाइगोस्पोर) या निषिक्तांड (ऊस्पोर) वनाते है. यह वर्ग दो उपवर्गों में वाँटा गया है : **ऊमाइसिटीज़** तथा **जाइगोमाइसिटीज़. प्लास्मोडिओफोरेलीज़, काइट्रिडिएलीज़** और **पेरोनोस्पोरेलीज़** नामक गण **ऊमाइसिटीज़** में आते हैं और रोग विज्ञान की दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं.

प्लास्मोडिओफोरा ब्रैसिकी वोरोनिन (गण, **प्लास्मोडिओफोरेलीज़**) पातगोभी में मुद्गरमूल रोग पैदा करता है (McRae, *Rep. agric. Res. Inst. Pusa*, 1927–28).

फाइसोडर्मा ज़िआ-मेडिस शा (गण, **काइट्रिडिएलीज़**) मक्का में भूरे चकत्ते (व्राउन स्पाट) पैदा करता है, यद्यपि भारत में इस रोग का इतना महत्व नही है. **सिनकाइट्रियम एंडोबायोटिकम** (शिल्व.) पर्सून आलू में वार्ट रोग पैदा करता है. कुछ छुटपुट मामलों के अलावा भारत में यह अज्ञात है.

पेरोनोस्पोरेलीज़ के अनेक सदस्य गंभीर दुष्परिणामों वाले रोग पैदा करते हैं. तीन कुल जिनके नाम **पिथिएसी, पेरोनोस्पोरेसी** और **एल्ब्यूजिनेसी** हैं महत्वपूर्ण हैं.

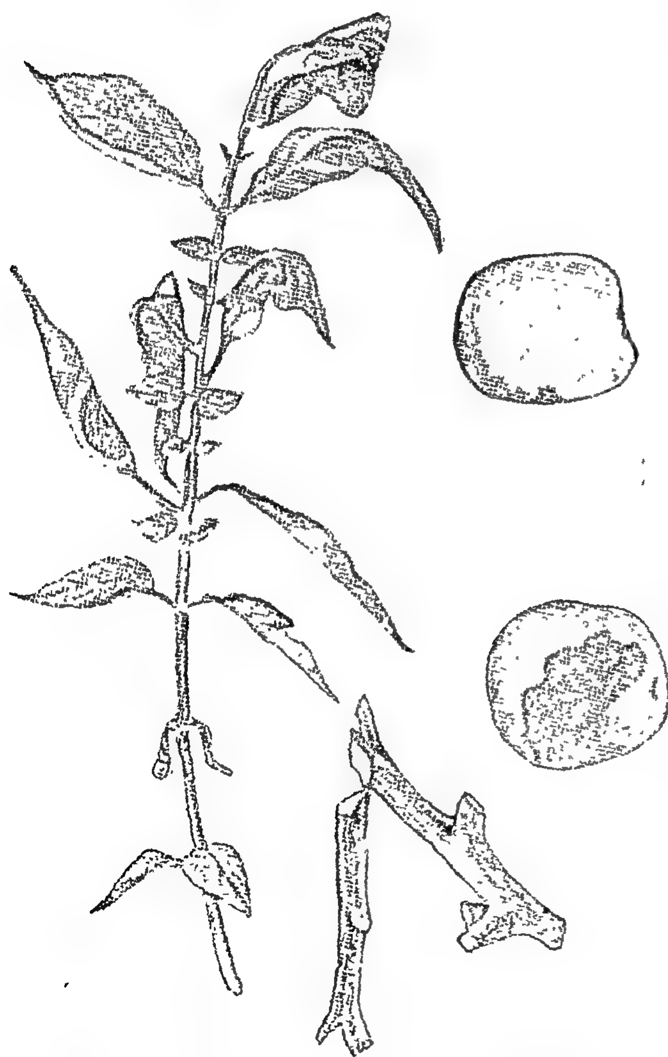
पिथिएसी मे दो वंश हैं: **पिथियम** और **फाइटोफ्थोरा** जिनका रोग विज्ञान की दृष्टि से बड़ा महत्व है. **पिथियम** तो मिट्टी द्वारा वहन होने वाला कवक है जो या तो मृतजीवी के रूप में या निम्नश्रेणी के परजीवी का जीवन विताता है. यह पौधों के कुछ महाविनाशकारी रोग पैदा करता हैं, जैसे कि आर्द्र-गलन और मूल-गलन. आर्द्र-गलन नवोद्भिजों का सामान्य रोग है और भारत में कई फसलें इसका शिकार वनती हैं. **पिथियम** की अनेक जातियाँ तने के तल-भाग या जड़ों के शीर्ष भाग पर आक्रमण करती हैं जिसके फलस्वरूप वहाँ के ऊतक कमजोर हो जाते हैं और नवोद्भिजें मर जाती हैं. आर्द्र-गलन नवोद्भिज फूटने के पहले या वाद में प्रकट हो सकता हैं. **पिथियम** की कुछ जातियाँ फल तथा अन्य खाद्य संग्राही भागों में गलन पैदा करती हैं. इसके साथ-साथ ये आर्द्र-गलन, मूल-गलन या पाद-गलन रोगों में भी भाग ले सकती हैं.

पिथियम डि वेरीएनम हेस तम्वाकू और मूली आदि में आर्द्रगलन पैदा करता हैं. **पि. एफेनिडर्मेटम** (एड्सन) फिट्जपैट्रिक तम्वाकू, पातगोभी, गोभी, नोलखोल और टमाटर में आर्द्रगलन पैदा करता है. यह कुकरविटों के फल-गलन, पपीता के तल-गलन, अदरक के प्रकंद-गलन या मृदु-गलन और अरहर के कालर-गलन के लिए उत्तरदायी हैं. **पि. ग्रेमिनीकोलम** सुब्रह्मण्यम् ईख में आर्द्रगलन और गेहूँ के नवोद्भिजों में तल गलन पैदा करते देखा गया है. **पि. मिरिओटाइलम** ड्रेशलर तम्वाकू में आर्द्रगलन और अदरक में प्रकंद-गलन पैदा करता है. **पि. वेक्सांस** डि वैरी भी अदरक के प्रकंद-गलन और म्लानता-रोग का जनक है. **पि. इंडिकम** वालकृष्णन् टमाटर के नवोद्भिजों में आर्द्रगलन और भिंडी (**हिबिस्कस एस्कुलेंटस** लिनिअस) में फल-गलन पैदा करता हैं (Mundkur, 53–61; Mahmud, *Curr. Sci.*, 1950, **19**, 67; Malik, *Indian J. agric. Sci.*, 1945, **15**, 92; Balakrishnan, *Proc. Indian Acad. Sci.*, 1948, **27B**, 161; Singh & Srivastava, *J. Indian bot. Soc.*, 1953, **32**, 1; Sundaram, *Madras agric. J.*, 1951, 38, 225).

पिथियम से होने वाले रोग भाप या रसायनों द्वारा, आंशिक मृदा-निर्जर्मीकरण, परिवर्तित कृषि विधियों और रोधी किस्मों के प्रयोग द्वारा नियंत्रित किए जा सकते हैं. वीजों को रक्षी-रसायनों से उपचारित कर दिया जाए तो नवोद्भिज फूटने से पहले होने वाला आर्द्र-गलन रोका जा सकता है. फलों और खाद्य-संग्राहक भागों को सँभाल कर रखने से जिससे खरोंच न लगे उनका गलन नियंत्रित हो सकता है.

पिथियम की भाँति **फाइटोफ्थोरा** भी जड़ों, निचले स्तंभों और संग्राहक भागों पर रोग उत्पन्न करता और वैसे ही लक्षण पैदा

करता है. इसकी अनेक जातियाँ ज्ञात हैं जिनमें आर्थिक दृष्टि से **फा. इन्फेस्टांस** (मांट.) डि बैरी सबसे प्रमुख है. यह आलू की विलंबित अंगमारी पैदा करता है जो दुनिया भर के आलू उत्पादक क्षेत्रों में फैली हुई है. भारत में यह रोग पहाड़ी इलाकों में सीमित है जहाँ मौसम मध्यम रहता है. मैदानों में यह शायद ही कभी होता है. इसके कारण पर्णमारी और खेत और गोदाम दोनों ही जगह कंदमारी हो सकती है. उच्च आर्द्रता और मध्यम ताप रोग को बढ़ावा देते हैं. रोकथाम के लिए नीरोग कंद, बोर्डो मिश्रण, पेरीनाक्स और बर्गंडी मिश्रण तथा रोगरोधी किस्मों का प्रयोग करना चाहिए. प्रेसीडेंट नामक किस्म इस रोग के प्रति बहुत कुछ रोधी सिद्ध हुई है (Vasudeva & Azad, *Indian Fmg*, 1949, **10**, 345; *Amer. Potato J.*, 1952, **29**, 61; Mundkur *et al.*, *Indian J. agric. Sci.*, 1937, **7**, 627).



चित्र 6 – फाइटोफ्थोरा इन्फेस्टांस द्वारा जनित विलम्बित अंगमारी

फाइटोफ्थोरा पामीवोरा बटलर अनेक उष्णकटिबंधीय वृक्षों पर परजीवी है. भारत में ताड़ का कलिका-गलन, फलियों का काला गलन, तनों का कैंकर, रबड़ के वृक्षों में पर्णपात, तथा **सिनकोना** और **हिबिस्कस एस्कुलेंटस** की नवोद्‌भिज-मारी इस कवक के कारण पैदा होती है. कलिका गलन को बोर्डो मिश्रण की फुहार देकर रोका जा सकता है. संशोधित बोर्डो मिश्रण के उपयोग से अपेक्षाकृत अच्छे परिणाम प्राप्त हुए हैं (Narasimhan, *Mysore agric. Cal.*, 1938, 7; Kheswalla, *Indian J. agric. Sci.*, 1935, **5**, 485; Balakrishnan, *Proc. Indian Acad. Sci.*, 1947, **26B**, 142).

फाइटोफ्थोरा की अनेक दूसरी जातियाँ अन्य फसलों के पौधों पर भी हमला बोलती देखी गई हैं, जैसे कि **फा. एरेकी** (कोलमैन) पेथीब्रिज सुपारी के पेड़ों में कोलेरोगा पैदा करती है, **फा. कोलोकेसिई, कोलोकेसिया एंटीकोरम** शाट में **फाइटोफ्थोरा ब्लाइट, फा. पैरासिटिका** दस्तूर अंडी की नवोद्‌भिजमारी और पान (**पाइपर बीटल** लिनिअस) का तल गलन और पर्ण गलन, अनन्नास का अंतःगलन या स्तंभ गलन और फराशबीन का फलीगलन रोग पैदा करता है (Mundkur, 66–68, 71; Uppal & Desai, *Curr. Sci.*, 1939, **8**, 122; Dastur, *Agric. Live-Stk India*, 1931, **1**, 26; McRae, *Indian J. agric. Sci.*, 1934, **4**, 585; Asthana, *Indian Fmg*, 1947, **8**, 394; Chowdhury, *Indian J. agric. Sci.*, 1945, **15**, 139; Venkatakrishnaiya, ibid., 1950, **20**, 391).

पेरोनोस्पोरेसी कुल में छः वंश हैं जिनमें से तीन रोगविज्ञान की दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं जिनके नाम हैं : **पेरोनोस्पोरा, स्क्लेरोस्पोरा** और **प्लास्मोपेरा.** ये अविकल्पी परजीवी हैं और मृदुरोमिल फफूँदी (डाउनी मिल्ड्यू) नामक रोग पैदा करते हैं.

पेरोनोस्पोरा इस कुल का सबसे बड़ा वंश है और उसके पोषी पौधों का क्षेत्र बहुत विस्तृत है. **पे. पाइसी** साइडो मटर में मृदुरोमिल फफूँदी रोग पैदा करता है जो गंगा के सम्पूर्ण तराई क्षेत्र में पाया जाता है. **पे. ब्रैसिकी** गौमन सरसों में मृदुरोमिल फफूँदी उत्पन्न कर देता है. पोस्त के पौधों में **पे. आर्बोरिसेंस** (बर्कले) डि बैरी मृदुरोमिल फफूँदी पैदा करता है. बिहार तथा पूर्वी उत्तर प्रदेश में जहाँ-जहाँ पोस्त की खेती होती है उन सारे इलाकों में हर साल यह रोग प्रकट होता है (Mundkur, 87–89; Butler, 344).

स्क्लेरोस्पोरा के कारण **ग्रेमिनी** कुल के अनेक पौधों में मृदुरोमिल फफूँदी लगती है. यह रोग नम क्षेत्रों में, विशेष रूप से उष्णकटिबंध में, बहुत व्यापक है और गेहूँ, मक्का, ज्वार, बाजरा, और ईख को प्रभावित करता है. **स्क्ले. ग्रेमिनीकोला** (सक्कारडो) बाजरा में मिट्टी द्वारा वहन होने वाले हरी बाली रोग पैदा करता है. **स्क्ले. सार्घाइ** वेस्टन और उप्पल ज्वार में मृदुरोमिल फफूँदी का जनक है; यह रोग महाराष्ट्र और तमिलनाडु राज्यों तक ही सीमित है. **स्क्ले. फिलिपाइनेंसिस** वेस्टन मक्का में मृदुरोमिल फफूँदी रोग पैदा करता है (Suryanarayana, *Indian Phytopath.*, 1952, **5**, 66; Mundkur, 78–83).

प्लास्मोपेरा विटीकोला (बर्कले और कुर्टिस) बर्लीज और डि टोनी अंगूरों में मृदुरोमिल फफूँदी पैदा करता है. यह भारत के अनेक भागों में देखा गया है पर कभी महामारी रूप में नहीं पाया गया. रोगग्रस्त पत्तियों पर पीले चकत्ते पड़ जाते हैं, लताओं के कोमल भागों — डंठल, प्रतानों और कभी-कभी फूलों पर भी धब्बे नजर आते हैं. फल ठीक से बढ़ नहीं पाते और उनमें रस की मात्रा कम

हो जाती है. सामान्य स्वच्छकारी उपायों से तथा लताओं पर बोर्डो मिश्रण छिड़क कर इस रोग की रोकथाम की जा सकती है (Mundkur, 84).

एल्बूजिनेसी में एकमात्र वंश **एल्बगो (सिस्टोपस)** है. यह अविकल्पी परजीवी है और कई पौधों में सफेद किट्ट रोग पैदा करता है. पत्तियों की निचली सतह पर मलाई के रंग के फफोले उभर आते हैं, रोगग्रस्त टहनियाँ विकृत होकर मुड़ जाती है या फूल जाती है और पुष्पांग अतिवृद्धि (हाइपरट्रोफी) के शिकार हो जाते हैं. **ए. कैंडिडा** कुंट्ज़े क्रूसीफरों यथा सरसों, मूली, शलजम और पत्तागोभी पर सफेद किट्ट पैदा करता है. यह रोग हल्के रूप में हर साल भारत-भर में प्रकट होता है (Mundkur, 75).

फाइकोमाइसिटीज़ का उपवर्ग **ज़ाइगोमाइसिटीज़** रोगविज्ञान की अपेक्षा कवकविज्ञान की दृष्टि से अधिक महत्व का है. **एंटोमोफ्थोरेसी** कुल का महत्व इसलिए है कि इसकी जातियाँ कीटों पर रोग उत्पन्न करती हैं. इनमें से अनेक मृतजीवी हैं और उनमें से कुछ औद्योगिक दृष्टि से उपयोगी हैं. यद्यपि पौधों के परजीवी विरल हैं पर उनमें से कुछ तो रोगों को, विशेषतः फल-गलन, पैदा करते हैं. **राइज़ोपस अर्हीज़स** फिशर बलूचिस्तान में सेबों में फल-गलन पैदा करता है. **कोएनोफोरा कुकरबिटेरम** (बर्कले और रैव.) थैक्सटर स्क्वैश और मिर्चों का परजीवी है (Mundkur, 95).

एस्कोमाइसिटीज़ के कारण पैदा होने वाले रोग

एस्कोमाइसिटीज़ या कोश-कवकों का एक बड़ा वर्ग है जिसमें लगभग 1,600 वंश और 12,000 से अधिक जातियाँ हैं. इनमें से बहुत-से उच्च श्रेणी के पौधों पर, विशेषतः अपनी अलैंगिक अवस्था में, परजीवी होते हैं, अनेक विकल्पी या अविकल्पी मृतजीवी हैं जिसकी पूर्णावस्था पादप अवशेषों पर प्रौढ़ता को प्राप्त होती है. इनको दो उपवर्गों में बाँटा गया है : **हेमीएस्कोमाइसिटीज़** और **यूएस्कोमाइसिटीज़**, जिनमें 16 गण हैं.

टैफ्राइनेलीज़ गण में दो कुल हैं : **प्रोटोमाइसिटेसी** और **टैफ्राइनेसी**, जिनके दस सदस्य रोग उत्पन्न करने वाले हैं. **प्रोटोमाइसीज़ मैक्रोस्पोरस** अंगर (कुल, **प्रोटोमाइसिटेसी**) धनिया में स्तम्भ-गुल्म पैदा करता है जिसकी पहचान यह है कि तने, डंठल, पुष्पवृन्त और पत्तियों पर छोटे-छोटे लंबोतरे अर्बुद फूट निकलते हैं. यह रोग बहुत व्यापक है और उग्रता की दशा में बिल्कुल ही बीज नहीं बनते. रोगग्रस्त भागों को इकट्ठा करके नष्ट कर देने से इस रोग की रोकथाम की जा सकती है.

टैफ्राइना डिफार्मंस (बर्कले) तुलास्ने (कुल, **टैफ्राइनेसी**) उत्तर भारत में कश्मीर, कुलू, कुमायूँ और शिमला तथा दक्षिण भारत की नीलगिरि तथा पलनी पहाड़ियों पर आड़ू के बागों में पर्ण-कुंचन रोग पैदा करता है. यद्यपि पत्तियाँ प्रभावित होती हैं किन्तु नई टहनियों और फूलों तथा फलों पर भी आक्रमण हो सकता है. ग्रस्त पत्तियाँ विरूपित, मोटी और झुर्रीदार होकर लाल-सी पड़ जाती हैं और अंत में झर जाती हैं. चूना-गंधक (1:15) या बोर्डो मिश्रण (5:5:50) की फुहार कलिकाओं के फूलने से पहले ही लाभप्रद होती है (Mundkur, 112).

टै. मैकुलांस बटलर भारत में बहुतायत में उगाए जाने वाले हल्दी के पौधों में पर्ण-चकत्ता पैदा करता है. गुजरात में और उत्तरी सरकार में यह काफी नुकसान पहुँचाता है और उड़ीसा तथा आँध्र प्रदेश से भी इस रोग के जानपदिक रूप में फैलने के समाचार मिले हैं. रोगग्रस्त पत्तियों पर दोनों सतहों पर, लेकिन खासतौर से ऊपरी सतह पर पीले चकत्ते पड़ जाते हैं. यह रोग बोर्डो मिश्रण या कोई अधातु-कवकनाशी इस्तेमाल करके रोका जा सकता है (Mundkur, 110).

प्लेक्टास्केलीज़ गण में चार कुल हैं जिनमें से **ऐस्परजिलेसी** पादप-रोग विज्ञान की दृष्टि से अधिक महत्वपूर्ण है. इस कुल में पाई जाने वाली कुछ फफूँदियाँ मनुष्य और जन्तुओं पर परजीवी हैं. कुछ जातियाँ फल-गलन उत्पन्न करती है और भंडार-गृहों तथा ढुलाई के समय खाद्य-पदार्थों को सड़ाने के लिए जिम्मेदार पाई जाती हैं.

ऐस्पर्जिलस नाइजर उत्तर प्रदेश में सेबों में मृदुगलन पैदा करता है. आयातित प्याज को भी यह गोदामों में सड़ा डालता है. **ऐ. जैपोनिकस** सैटो नाशपाती में मृदु-गलन उत्पन्न करता है. बरबादी से बचाने के लिए फलों की सँभाल, मालबंदी और श्रेणीकरण के समय सावधानी बरतनी चाहिए जिससे खरोंचें न लगें. एक सीमा तक **ऐस्परजिलस** जातियाँ संतरों को भी प्रभावित करती है. सड़ने से बचाने के लिए फल या तो शीतागारों में रखे जाएँ या भंडारण से पहले 8% बोरैक्स के घोल में डुबो दिए जाएँ (Mundkur, 114; Dey & Nigam, *Indian J. agric. Sci.*, 1933, **3**, 663; Venkatarayan & Delvi, *Curr. Sci.*, 1951, **20**, 243; Prasad, *Indian J. agric. Sci.*, 1938, **8**, 549; Singh, ibid., 1941, **11**, 902).

एरीसाइफेलीज़ गण में पाउडरी फफूँद (कुल, **एरीसाइफेसी**) आते हैं जो कि अविपादपी अविकल्पी परजीवी हैं और पोषी पौधे की बाह्य त्वचा से अपने चूषकांगों द्वारा पोषण प्राप्त करते हैं. **लेवीलुला** इस बात में अपवाद है कि उसका कवकजाल अंशतः अंतःपादपी होता है.

एरीसाइफी पालीगोनाइ द कन्दोल एक सामान्य फफूँद है जो मटर, मसूर, लैथाइरस जाति तथा अन्य फलीदार फसलों को प्रभावित करता है. विश्वास किया जाता है कि इस फफूँद की अनेक प्रजातियाँ हैं जो भिन्न-भिन्न पौधों में विभिन्न फफूँद रोग पैदा करने में भाग लेती हैं. सूखे मौसम में संक्रमण फैलता है. पत्तियों पर छोटे-छोटे धब्बों के रूप में रोग प्रकट होता है और फिर यही धब्बे बड़े होकर पूरी पत्ती घेर लेते हैं. इसके साथ ही फलियों और तनों पर भी चकत्ते फैल जाते हैं. फफूँदग्रस्त भागों का क्लोरोफिल नष्ट हो जाता है और वे पीले या काँसे के रंग के हो जाते हैं. रोगग्रस्त पत्तियाँ छोटी रह जाती है और अंत में झर जाती है, अपक्व फलियाँ मुरझाकर सूख जाती है जबकि पकी फलियों में बहुत छोटे-छोटे दाने पड़ते हैं. रोग प्रकट होने से एक या दो दिन पहले 25 किग्रा. प्रति हेक्टर की दर से गंधक-धूलि बुरक दी जाए तो पूर्ण नियंत्रण किया जा सकता है (Mundkur, 117–119).

ए. ग्रेमिनिस द कन्दोल या धान्यों का पाउडरी फफूँद पर्वतीय और पठारी इलाकों में गेहूँ और जौ की फसल को काफी नुकसान पहुँचाता है. जौ में **ए. ग्रेमिनिस** बेर. **होर्डिई** मार्चल द्वारा पैदा होने वाला रोग उत्तर प्रदेश और बिहार में विशेष उग्र रूप धारण करता है. यह रोग हल्के भूरे रंग के छितरे हुए चकत्तों के रूप में प्रकट होता है जो बाद में लहरदार हो जाते हैं और उनके स्थान पर काले बिंदु सरीखे पेरीथीसियम स्पष्ट हो जाते हैं. रोगग्रस्त पौधों की बाढ़ रुक जाती है, पत्तियाँ या तो झर जाती हैं या सूख कर

भुरभुरी, टूटी-फूटी सी और विरूपित हो जाती हैं. गंधक-धूलि से रोग का नियंत्रण किया जा सकता है. भारतीय परिस्थितियों में इसके उपचार की आर्थिक उपयोगिता नहीं कूती गई है (Mundkur, 119–121).

अंसीनुला निकेटर (श्वाइनित्स) बुरेट अंगूर लताओं में पाउडरी फफूँद लगाने के लिए उत्तरदायी है. सारे भारत में यह रोग पाया जाता है किन्तु जानपदिक स्तर पर नहीं. पत्तियाँ, तने, फूल और फल संक्रमित होते हैं. शुरू में रोगग्रस्त भागों पर सफेद धब्बे प्रकट होते हैं जोकि बाद में पीले पड़कर अंत में भूरे हो जाते हैं. रोगग्रस्त पौधों की बाढ़ रुक जाती है, फूल और फल नहीं बनते और बनते भी हैं तो अनियमित और भुर्रीदार होते हैं. बार-बार (2–6 बार) गंधक की धूलि बुरकने से रोग का नियंत्रण संभव है (Mundkur, 121–123).

लेवीलुला टौरिका (लेविल्ले) आर्नेट से **सोलेनम टोर्वम** स्वाट्र्ज में पाउडरी फफूँद पैदा होता है. यह रोग बंगलौर में देखा गया है (Venkatarayan & Delvi, *Curr. Sci.*, 1953, **22**, 215).

स्फीरिएलीज़ गण की विशेषता उसका असली पेरीथीसियम है जिसमें एक ऑस्टिओल होता है. **फाइसेलोस्पोरा टुकुमेनेंसिस** ईख में लाल-गलन पैदा करता है जो कि भारत में इस फसल का गंभीरतम रोग है. सभी हवाई हिस्से रोगग्रस्त हो जाते हैं पर विशेष असर तने और पत्तियों की मध्यशिराओं पर पड़ता है. रोग का प्रारंभिक लक्षण यह है कि चोटी की पत्तियाँ पीली पड़कर मुरझा और सूख जाती हैं. तने में संक्रमण आंतरिक होता है और पोर अन्दर से सड़ जाते हैं, छिलके का प्राकृतिक चमकीला रंग उड़ जाता है, झुर्रियाँ पड़ जाती हैं और पिन के सिर के बराबर काफी छोटी-छोटी बिंदियाँ (एसरवुलस) उभर आती हैं जिन्हें दबाने से एक गुलाबी स्राव निकलता है. गन्ने से किण्वनशील ऐल्कोहल जैसी गंध उठती है और फाड़ने पर सफेद और काली पट्टियाँ नजर आती हैं. रोगग्रस्त गन्नों के पोर बीज के रूप में इस्तेमाल किये जाते हैं, जिससे बीमारी पनपती रहती है और रोगग्रस्त गन्नों का ढेर और कभी-कभी उस खेत की मिट्टी भी संक्रमण का स्रोत बन जाती है. इसके लिए नियंत्रक उपायों में नीरोग गन्नों के ही पोरों का प्रयोग करना और रोगग्रस्त पोरों और ठूँठों को उखाड़कर जला देना, वांछित फसलों का हेर-फेर और रोधी किस्मों का इस्तेमाल सुझाया गया है (Chona, *Indian Fmg*, 1947, **8**, 630; *Indian J. agric. Sci.*, 1950, **20**, 363; Mundkur, 197).

माइकोस्फीरेला रैबिई कोव. = **एस्कोकाइटा रैबिई** लेविल्ले चना के पौधों में अंगमारी पैदा करता है जो उत्तरी भारत में चने का भयंकर रोग है. यह रोग बीज द्वारा वहन होता है और जब प्रकट होता है तो पहले तने, पत्ती और फलियों पर बादामी या काले धब्बे पड़ते हैं. रोगमुक्त बीजों का प्रयोग, रोगग्रस्त फसल की पूरी सफाई या इकट्ठा करके जला देना, ये रोग-नियंत्रण के उपाय हैं. गेहूँ और जौ के साथ मिश्रित खेती करने से रोग का प्रसार रुकता है. चना की एफ. 8 और सी. 12/34 किस्में रोगरोधी हैं (Luthra *et al.*, *Indian J. agric. Sci.*, 1941, **11**, 249; Luthra & Sattar, *Indian Fmg*, 1941, **2**, 66; Dutt & Pugh, 282).

लेप्टोस्फेरिया सैल्विनाई कैट. (**स्क्लेरोशियम ओराइज़ी** कैट.) धान में तना विगलन रोग उत्पन्न करता है. इस रोग के कारण पौधे का नीचे का भाग, जो पानी के सम्पर्क में रहता है, मुरझा जाता है और फिर अन्त में सूख कर नष्ट हो जाता है; पत्तियों के खोल और तने काले पड़ जाते हैं. जिन प्ररोहों पर यह रोग लग चुकता है उनको लम्बाई से काटने पर उनके भीतर इस कवक के सफेद-से माइसीलियम तथा काले रंग के चमकीले बूंदों की तरह के नन्हें स्क्लेरोशियम फैले हुये दिखलाई देते हैं. स्क्लेरोशियम मिट्टी में कई वर्षो तक जीवित रहते हैं और रोग इन्हीं के द्वारा मुख्य रूप से फैलता है. रोगग्रस्त पौधों को उसी स्थान पर जलाने, उन खेतों के चारों ओर ऊँची और मजबूत मेड़ बाँधने से, जिससे वायु तथा सिंचाई के पानी द्वारा रोग का संक्रमण इन खेतों के बाहर न हो सके, बुवाई के समय खेतों के रुके पानी को निकाल देने और मिट्टी को कभी-कभी ऊपर-नीचे पलट कर धूप में छोड़ देने से इस रोग के फैलाव की रोकथाम की जा सकती है. इस रोग के संचरण पर नियंत्रण के लिए पौधों की ऐसी जातियाँ लगाई जाती हैं जो इस रोग की प्रतिरोधी हैं (Mundkur, *Indian J. agric. Sci.*, 1935, **5**, 393; Luthra & Sattar, ibid., 1936, **6**, 973; Paracer & Luthra, ibid., 1944, **14**, 44).

ले. सैकैराई ब्रेडा डि हान ईख में वलय-धब्बा रोग उत्पन्न करता है. यह रोग भारतवर्ष के कई भागों में सामान्य रूप से पाया जाता है किन्तु असम, बंगाल, उत्तर प्रदेश और संभवतः महाराष्ट्र में विशेष रूप से व्यापक है. इस रोग का आरम्भिक लक्षण है पत्तियों की दोनों सतहों पर बदरंग किन्तु साधारणतः नीले-लाल रंग के धब्बों का उत्पन्न होना जिसके बाद बीच का भाग मुरझा कर सूख जाता है (Mundkur, 124).

कोक्लिओबोलस मियाबियेनस (इटो और कुरीबाया) ड्रेशलर एक्स दस्तूर (**हेल्मिंथोस्पोरियम ओराइज़ी** ब्रेडा डि हान) धान में पर्ण-धब्बा रोग उत्पन्न करता है. यह रोग बहुत व्यापक रूप से दक्षिण-पूर्व एशिया, जापान और फिलिपीन में तथा थोड़ी मात्रा में अमेरिका के दक्षिणी भाग में पाया जाता है. भारतवर्ष में यह रोग असम, बंगाल और तमिलनाडु के कुछ भागों में अधिक होता है. यह कवक पौधे के सभी भागों पर वृद्धि की प्रत्येक अवस्था में आक्रमण करता है. इसके आक्रमण से पत्तियों पर किनारों पर गहरे काले रंग लिए असंख्य अंडाकार भूरे रंग के धब्बे उत्पन्न होते हैं; पौधा सूख कर या तो एकदम नष्ट हो जाता है है या बीज नहीं पड़ने पाते. कुछ पौधों में तुष पर रोग का आक्रमण होता है जिससे दाने या तो खोखले हो जाते हैं या सिकुड़ कर भुर्रीदार हो जाते हैं. रोग का नियंत्रण रोगग्रस्त पौधों के ढेर को जला कर नष्ट कर देने, बीजों को कापर कार्बोनेट, उस्पुलन और गरम पानी के मिश्रण द्वारा जीवाणुहीन करने तथा रोग-प्रतिरोधी जातियों की बुवाई करने से किया जाता है. बुवाई का समय ठीक रखने और बीजों की क्यारियों में नमी का उचित नियंत्रण रखने से भी रोग कम फैलता है (Mundkur, 189; Ganguly, *Sci. & Cult.*, 1946–47, **12**, 220).

हेलोटिएलीज़ गण की विशेषता यह है कि ये ऐपोथीशियम उत्पन्न करते हैं जो बिम्ब, रकाबी या प्याले के आकार के होते हैं. ये सवृन्त तथा वृन्तहीन दोनों प्रकार के होते हैं. **स्क्लेरोटीनिया स्क्लेरोशिओरम** (लिब.) मास. बिहार में पटुवा (**हिबिस्कस सब्दरिफा** वेर. **अल्टिसीमा** वेस्टर) पर तना-विगलन रोग उत्पन्न करता है. मुख्य फसल को काट लेने के बाद बीज के लिए जो पौधे खेत में छोड़ दिये जाते हैं उन्हीं पर साधारणतः यह रोग लगता है. मुख्य



चित्र 7 – कावलियोबोलस मियाबियेनस द्वारा उत्पन्न धान का पर्ण-धब्बा रोग

तने या पुष्पक्रम की शाखाओं पर मटमैला भूरा चकत्ता उत्पन्न होना इस रोग का आरम्भिक लक्षण है. बीजों से स्क्लेरोशियम को हाथ से चुन कर निकाल कर भूमि में बहुत गहराई में गाड़ देना इसके नियंत्रण के उपायों में एक है. पौधे की ऐसी जातियों को बोने से जो शीघ्र पक जाती हैं और जो इस रोग की प्रतिरोधी हैं इस रोग के नियंत्रण में सहायता मिलती है (Mundkur, 126–128; *Indian J. agric. Sci.*, 1934, **4**, 758).

स्क्ले. स्क्लेरोशिओरम बंगाल में तम्बाकू पर भी तना-विगलन रोग उत्पन्न करता है. रोगग्रस्त पौधों को इकट्ठा करके जला देने से स्क्लेरोशियम मिट्टी में नहीं पहुँच पाते. कटाई के बाद पौधों को भूमि से निकाल कर धूप में खुला रख देना चाहिए जिससे स्क्लेरोशियम धूप की गरमी से नष्ट हो जाएँ. साथ ही खेत को गर्मी में बिना कुछ बोये छोड़ देना चाहिए जिससे गर्मी के कारण खेत में पड़े स्क्लेरोशियम अक्रिय हो जाएँ या मर जाएँ. पंजाब के पहाड़ी स्थानों के नीचे के जिलों में यही कवक चने में म्लानि-रोग उत्पन्न करता है. इस रोग में चने के डंठलों के जोड़ों पर काले, कड़े तथा मजबूत स्क्लेरोशियम साधारणत: अनियमित रूप से फैले हुए दिखाई देते हैं. चने की कुछ जातियों पर इस रोग का प्रभाव नहीं पड़ता. इस कवक को नियंत्रित रखने की ऊपर बतलाई गई विधियों के अतिरिक्त अन्य विधियाँ अभी ज्ञात नहीं की जा सकी हैं (Kheswalla, *Indian J. agric. Sci.*, 1934, **4**, 663).

बैसिडियोमाइसिटीज द्वारा उत्पन्न रोग

इस वर्ग के कवकों की विशेषता यह है कि ये लैंगिक स्पोर उत्पन्न करते हैं जो गदाकार कवक-तंतुओं के सिरों पर, जिन्हें बैसिडियम कहते हैं, चार-चार के समूह में बँधे रहते हैं. ये कवक तीन उप-वर्गों में विभाजित किये जाते हैं. ये हैं: **हेमीबैसिडियोमाइसिटीज, प्रोटोबैसिडियोमाइसिटीज** और **यूबैसिडियोमाइसिटीज.**

हेमीबैसिडियोमाइसिटीज में केवल एक गण, **अस्टिलेजिनेलीज** है जिसके अन्तर्गत दो कुल हैं: **अस्टिलेजिनेसी** और **टिल्लेटिएसी.** इस गण का मुख्य लक्षण यह है कि इसके पौधे, बड़ी मात्रा में काजल की तरह के काले स्पोर उत्पन्न करते हैं जिनके कारण ही इन रोगजनक कवकों का सामान्य नाम 'कंड' दिया गया है. इस गण के अधिकांश कवक पुष्पी पौधों पर परजीवी के रूप में जीवन व्यतीत करते हैं और बहुत से शस्य पौधों पर आक्रमण करते हैं.

अस्टिलैगो ट्रिटिसाइ (पर्सून) गेहूँ पर छिदरा-कंड रोग उत्पन्न करता है. जिन क्षेत्रों में गेहूँ पैदा होता है उनमें से अधिकांश क्षेत्रों में यह सामान्य रूप से पाया जाता है. यह रोग पौधों में उस समय दिखलाई देता है जब उनमें बालें निकलनी आरम्भ होती हैं. रोगग्रस्त पौधों की बालों में दानों के स्थान पर काले चूर्ण के रूप में स्पोर बड़ी मात्रा में भरे रहते हैं. प्रत्येक वर्ष लगभग 5% तक गेहूँ की फसल पर यह रोग लगता देखा गया है. रोग के नियंत्रण के लिये धूप में सुखाये गये बीजों को बुवाई के लिये उपयोग में लाना एक अच्छा उपाय है. इस विधि में बीजों को चार घंटे तक पानी में भिगोया जाता है और फिर इन भीगे बीजों को धूप में चार घंटे या अधिक समय तक सुखाया जाता है. वर्षा आरम्भ होने के पहले ही ऊपर की विधि द्वारा बीजों को उपचारित करके रख लिया जाता है — साधारणत: मई–जून के महीनों में जब तेज खुली धूप रहती है और ताप भी पर्याप्त ऊँचा रहता है. तेज धूप से बीजों के भीतर रहने वाले कवक नष्ट हो जाते हैं किन्तु बीजों की जीवन-क्षमता तथा क्रियाशीलता पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता. इस उपचार-विधि का एक परिवर्तित रूप भी है. इसमें भिगोये हुए बीजों को एक टीन की चद्दर के ऊपर फैला कर धूप में 1½–2 घंटे तक रख दिया जाता है. भारतवर्ष में गेहूँ के कुछ ऐसे विभेद विकसित किये गये हैं जो 'कंड' के प्रतिरोधी हैं और इन पर इस रोग का विशेष प्रभाव नहीं पड़ता. उदाहरणार्थ, आई. पी. 114, आई. पी. 120 और आई. पी. 165 (Luthra & Sattar, *Indian J. agric. Sci.*, 1934, **4**, 177; Patel *et al.*, *Curr. Sci.*, 1950, **19**, 324; Luthra, *Indian Fmg*, 1941, **2**, 416; Mundkur & Pal, *Indian J. agric. Sci.*, 1941, **11**, 675; Pal & Mundkur, ibid., 1945, **15**, 106).

ज्वार का अन्न कंड और लम्बा कंड क्रमश: **स्फैसिलोथीका सारघाई** (लिंक) क्लिंटन तथा **टालीपोस्पोरियम एहरेनबर्गाई** द्वारा उत्पन्न होता है. बाजरे का कंड **टा. पेनिसिलारिए** ब्रेफेल्ड द्वारा होता है, जौ का आवृत कंड **अस्टिलैगो होर्डिई** (पर्सून) लगेरहीम द्वारा होता है तथा आर्थिक फसलों पर लगने वाले अन्य कई कंड **अस्टिलैगोनेसी** परिवार के अंतर्गत आते हैं. अन्न कंड प्रत्येक वर्ष लगभग 5% या इससे कुछ अधिक ज्वार की फसल को हानि पहुँचाता है. रोग का नियंत्रण बीजों को गंधक, ऐग्रोसान जी. एन., कापर कार्बोनेट आदि से उपचारित करके किया जा सकता है (Padwick, *Emp. J. exp. Agric.*, 1948, **16/17**, 55; Mundkur, 138–140; Uppal & Desai, *Agric. Live-Stk India*, 1931, **1**, 396).

अस्टिलैगो कालेराई किल्ली और **अ. ऐवीनी** (पर्सून) जई के आवृत-कंड और छिद्रे-कंड के कारण बनते हैं. इनका नियंत्रण कवकनाशी पदार्थों के उपयोग द्वारा किया जाता है. कवकनाशी पदार्थों का उपयोग या तो महीन चूर्ण के रूप में या द्रव-फुहार के रूप में किया जाता है. बीजों पर फार्मेलिन की फुहार से भी रोग दूर किया जा सकता है (Bose & Mundkur, *Indian J. agric. Sci.*, 1941, **11**, 695).

ईख का कंड **अस्टिलैगो सिटैमिनिया** साइडो के कारण उत्पन्न होता है और भारतवर्ष में ईख उत्पादक क्षेत्र में बहुत व्यापक रूप से पाया जाता है. यह दलदली स्थानों तथा उन स्थानों में जहाँ पानी खेतों में रुका रहता है विशेषतया उग्र रूप में फैलता है. इस रोग का मुख्य लक्षण काले चाबुक की तरह लम्बे नुकीले प्ररोहों का उत्पन्न होना है. इन प्ररोहों में काले चूर्ण के रूप में स्पोर भरे रहते हैं और ये पुष्पक्रम के स्थान पर लग जाते हैं. नियमित रूप से ईख को रगड़ते रहना, तीन फसलों तक लगातार बुवाई के लिए अच्छी ईख का चुनाव करना, बुवाई के लिये कंड रहित ईख का प्रयोग, बोने के पहले ईख के टुकड़ों का फार्मेलिन द्वारा निस्संक्रमण या पेड़ी प्रथा को प्रोत्साहन न देना आदि उपचारों से रोग के नियंत्रण में सफलता प्राप्त हुई है (Chona, *Indian Fmg*, 1943, **4**, 27, 401; Luthra & Sattar, ibid., 1942, **3**, 594).

टिलेटिएसी के सदस्य साधारणत: 'बंट' या 'दुर्गन्धित कंड' कहलाते हैं. गेहूँ पर तीन प्रकार के बंट रोग होते हैं: रुक्ष-स्पोर का बंट [**टिलेटियाकैरीज़** (द कन्दोल) टुलास्ने], चिकने स्पोर का बंट [**टि. फोटिडा** (वालराथ) लिरो] और करनाल बंट या आंशिक बंट [**नियोवोसिया इंडिका** (मित्रा) मुंडकुर]. **टि. कैरीज़** बहुत कम पाया जाता है. **टि. फोटिडा** उत्तर भारत के पहाड़ी भागों में 1,800 मी. की ऊँचाई तक पाया जाता है. कुलू घाटी में 40% गेहूँ में बंट रोग इसी कवक से फैलता है. **नियोवोसिया इंडिका** पंजाब, दिल्ली तथा पश्चिमी उत्तर प्रदेश के विभिन्न पठारी भागों में बंट रोग के लिए उत्तरदायी है. बंट रोग में पौधों की समस्त बालें तथा बालों के समस्त दाने कंड बीजाणुधानियों (कंडवा) में परिवर्तित हो जाते हैं. बोने के पूर्व बीजों को गंधक, ऐग्रोसन जी. एन., सेरेसन आदि कवकनाशी पदार्थों से उपचारित करने से इस रोग पर कुछ नियंत्रण होता है. आंशिक बंट अन्य दोनों प्रकार के बंट रोगों की तुलना में दानों पर अपने आंशिक आक्रमण तथा काले रंग के स्पोर द्वारा पहचाना जा सकता है. अन्य दोनों बंट रोगों में पूरा दाना नष्ट हो जाता है, केवल बीज कवच ही बचता है. इनके स्पोर भी बहुत महीन, भूरे या मोरचे के रंग के होते हैं. आंशिक बंट रोग वायु द्वारा फैलता है किन्तु अन्य दोनों बंट रोग बीज द्वारा फैलते हैं. धान का बंट रोग, **नियोवोसिया होरीडा** पैडविक और अज़मतुल्ला, द्वारा उत्पन्न होता है, जो असम, बंगाल और उत्तर प्रदेश में बहुत व्यापक है. इसका संक्रमण वायु द्वारा होता है. इस रोग में एक बाल में केवल कुछ दाने ही रोग-ग्रसित होते हैं (Padwick, *Emp. J. exp. Agric.*, 1948, **16/17**, 55; Mitra, *Indian J. agric. Sci.*, 1935, **5**, 51; 1937, **7**, 459; Mundkur, *Trans. Brit. mycol. Soc.*, 1940, **24**, 312; *Curr. Sci.*, 1943, **12**, 230; Bedi *et al.*, *Indian Phytopath.*, 1949, **2**, 20; Mundkur, 150).

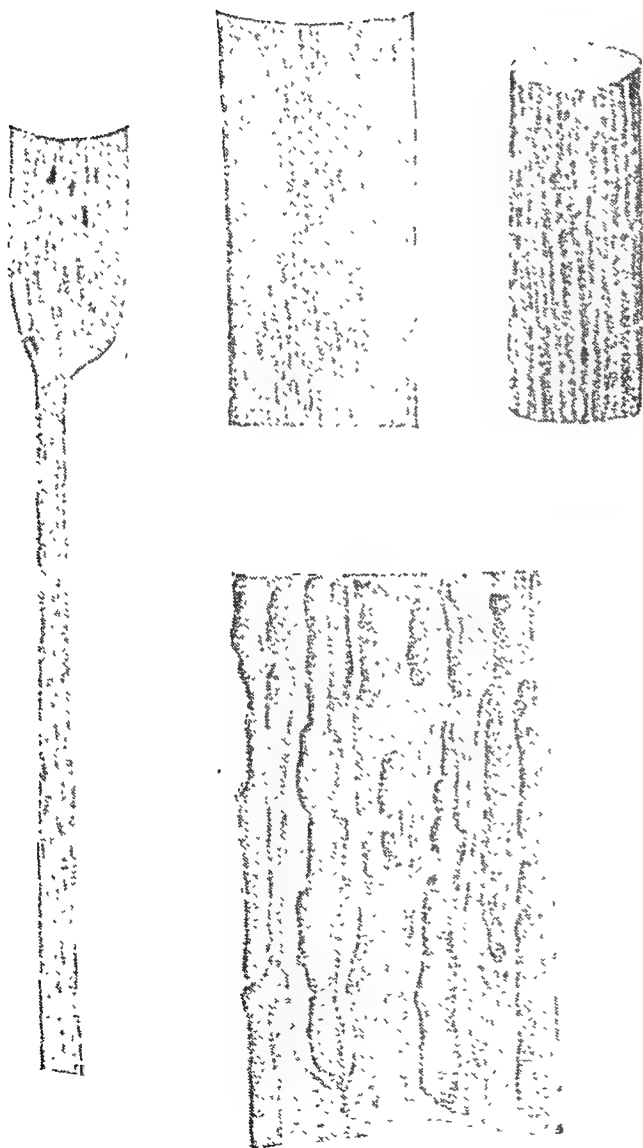
गेहूँ का ध्वज-कंड **यूरोसिस्टिस ट्रिटिसाइ** कोयरनिके द्वारा पंजाब में फैलता है. साधारणत: यह रोग पत्तियों के फलक और पर्णाच्छद पर और कभी-कभी तनों पर भी होता है, किन्तु बालों पर बहुत ही कम होते देखा गया है. इस रोग का आरम्भिक लक्षण पत्तियों पर लम्बी, भूरी, कुछ फूली पट्टियों का उत्पन्न होना है जो शिराओं के समान्तर रहती हैं. कुछ दिनों में पट्टियाँ फट जाती हैं जिनके भीतर से काले चूर्ण की तरह के स्पोर बड़ी मात्रा में निकलते हैं. जिन पौधों में यह रोग लगता है उनमें साधारण रीति से बालें नहीं निकलतीं. इस रोग का संक्रमण बीजों तथा मिट्टी दोनों ही माध्यमों से होता है. बोने के पूर्व बीजों को फार्मेलिन से उपचारित करने या बुवाई की रीति में परिवर्तन करने—जैसे कि बीज बोने की गहराई, बोने का समय, सिंचाई का समय तथा फसलों का हेर-फेर आदि उपचार से इस रोग के संक्रमण में कमी की जा सकती है. गेहूँ की आई. पी. 4 और आई. पी. 111 किस्में ध्वज-कंड रोग की प्रतिरोधी हैं(Butler, 171; Pal & Mundkur, *Indian J. agric Sci.*, 1941, **11**, 687).

यू. ब्रेसिकी मुंडकुर बिहार में सरसों की जड़ के पिटिका-कंड रोग का कारण है. इस रोग का संक्रमण मिट्टी द्वारा होता है (Mundkur, 151).

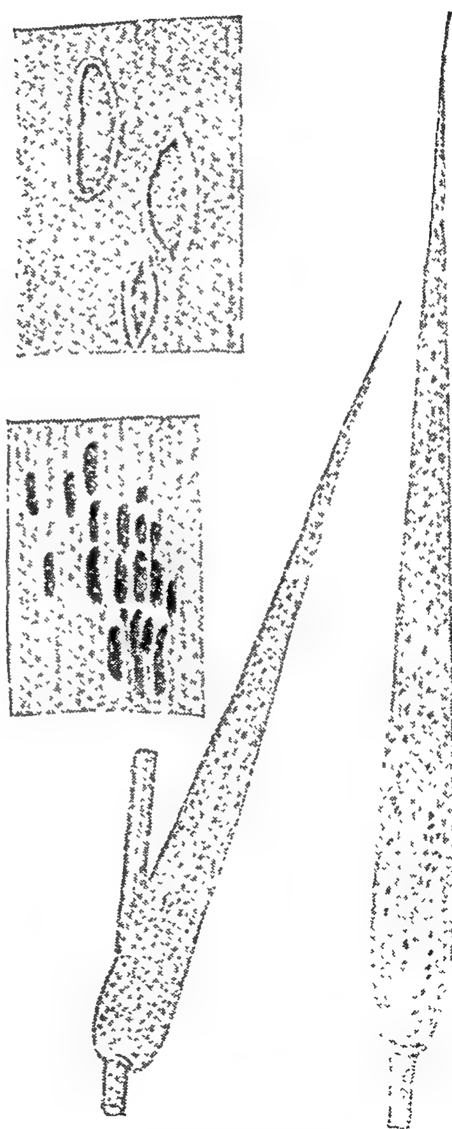
प्रोटोबैसिडियोमाइसिटीज़ के अन्तर्गत दो गण हैं जिनमें **यूरिडिनेलीज़** रोग-कारक के रूप में अधिक महत्व के हैं और इन्हें साधारणत: 'रस्ट' (मुर्चा) के नाम से पुकारा जाता है क्योंकि अपने जीवन-चक्र में किसी न किसी अवस्था में ये लाल या नारंगी रंग के दाने उत्पन्न करते हैं. रस्ट अविकल्पी पर-जीवी हैं और मुख्य रूप से शंकु वृक्षों और फूलने वाले पौधों में पाये जाते हैं. इनके कुछ सदस्य अनाज की फसलों पर आक्रमण करते हैं और बहुत हानि पहुँचाते हैं. एक प्रारूपिक रस्ट का पूरा जीवनचक्र या तो एक ही परपोषी पर या दो परपोषियों पर व्यतीत होता है. जब एक ही परपोषी पर किसी रस्ट का पूरा जीवन बीतता है तो इस रस्ट को एकाश्रयी और जब दो परपोषियों पर बीतता है तो उसे भिन्नाश्रयी कहते हैं. रस्ट कवक बहुरूपी होते हैं और निम्नांकित क्रम से पाँच प्रकार के स्पोर उत्पन्न करते हैं: पिक्नियो-स्पोर, इसियोस्पोर, यूरेडियोस्पोर, टेलियोस्पोर और स्पोरीडिआ. अन्तिम को छोड़ कर अन्य सभी स्पोर निश्चित संघठित बीजाणुधानी पुंज में उत्पन्न होते हैं.

भारत में गेहूँ की फसल को तीन प्रकार के रस्ट — काला, भूरा और पीला — हानि पहुँचाते हैं. काला रस्ट **पक्सीनिया ग्रैमिनिस** पर्सून द्वारा उत्पन्न होता है. यह भिन्नाश्रयी रोग-जनक है और इसका दूसरा परपोषी **बरबेरिस वल्गैरिस** लिनिअस है. किन्तु रोग फैलाने में इस परपोषी का विशेष हाथ नहीं रहता क्योंकि कवक गर्मी के महीनों में पहाड़ों पर 1,500 मी. या इससे अधिक ऊँचाई पर पहुँच जाता है. स्वयं उगे गेहूँ के पौधों पर यूरेडियल अवस्था में जीवित रहता है और आसपास के खेतों में बोई गई अग्रिम फसल पर आक्रमण करता है. यहीं से इनाकुलम को हवा उड़ा कर नीचे मैदान में पहुँचा देती है. काले रस्ट के संक्रमण के दो मुख्य केन्द्र हैं — एक उत्तर में मध्य नेपाल तथा दूसरा दक्षिण में नीलगिरि और पलनी पहाड़ियाँ. इस दूसरे केन्द्र में रस्ट गर्मी के महीनों में एक जंगली घास, **ब्राइज़ा माइनर** लिनिअस पर जीवन व्यतीत करता है. यह घास संपार्श्विक परपोषी का कार्य करती है.

प. ग्रैमिनिस की कई प्रजातियाँ हैं, जिनमें परपोषी संबंधों में अन्तर होता है और कुछ अन्तर इनके यूरीडियोस्पोर के आकार में भी होता है. अब तक दस प्रजातियाँ ज्ञात हो चुकी हैं. गेहूँ को काले रस्ट से बचाने के लिए केवल एक ही व्यावहारिक उपाय है और वह है ऐसी प्रजातियों का बोना



चित्र 8 – पक्सीनिया ग्रैमिनिस द्वारा उत्पन्न गेहूँ का काला रस्ट



चित्र 9 – पक्सीनिया ट्रिटिसिना द्वारा जनित गेहूँ का भूरा रस्ट

जो इस कवक की प्रतिरोधी हों. **प. ग्रैमिनिस** जौ पर भी सामान्य रूप से काफी फैलता है (Mehta, *Sci. Monogr. Coun. agric. Res. India*, No. 14, 1940; Mundkur, 161–164).

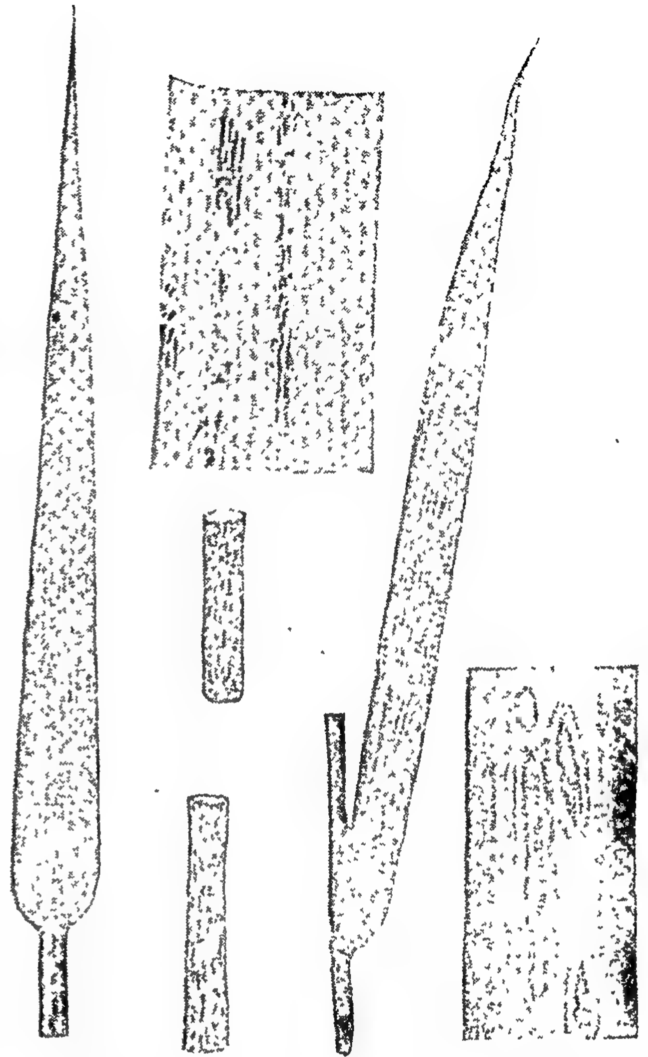
भूरा रस्ट **प. ट्रिटिसिना** एरिक्सन द्वारा उत्पन्न होता है. यह रोग भारतवर्ष के उत्तरी तथा पूर्वी भागों मे मध्य भारत की अपेक्षा अधिक होता है. यह कवक भी भिन्नाश्रयी है और गेहूँ के अतिरिक्त इसके अन्य परपोषी **थैलिक्ट्रम** और **आइसोपाइरम** है. इसीडीय अवस्था **थैलिक्ट्रम** पर नही देखी गई है. **आइसोपाइरम** केवल साइबेरिया में ही महत्वपूर्ण है. यह रस्ट, भारतवर्ष में गेहूँ पर लगने वाले अन्य रस्ट की भाँति, यूरीडीय अवस्था में पहाड़ों पर अपने आप उगे हुए गेहूँ के पौधों पर जीवित रहता है और हवा से उड़कर नीचे मैदान में पहुँचता है. भारतवर्ष में अब तक इस कवक की आठ कायिकीय प्रजातियाँ ज्ञात की जा चुकी है. इस रस्ट के नियंत्रण का एकमात्र उपाय गेहूँ की ऐसी किस्मों का बोना है जो इसकी प्रतिरोधी है.

पीला रस्ट **प. ग्लुमैरम** (श्मिड) द्वारा उत्पन्न होता है. यह रस्ट मुख्य रूप से उत्तर तथा पूर्व भारत तक ही सीमित है और भिन्नाश्रयी है किन्तु इसके एकान्तर परपोषी का पता अभी तक नही लग सका है. यह 2,100 मी. या इससे भी अधिक ऊँचे पहाड़ी स्थानों में ग्रीष्म ऋतु व्यतीत करता है. इसकी दस कायिकीय प्रजातियाँ अभी तक ज्ञात हो चुकी हैं. पीला रस्ट जौ पर भी आक्रमण करता है (Mehta, loc. cit.; Mundkur, 164–167).

मेलाम्पसोरा लाइनाई (पर्सून) लेविल्ले अलसी में रस्ट रोग उत्पन्न करता है और यह रोग उन सभी देशों में जहाँ अलसी बडी मात्रा में उगाई जाती हैं, देखा गया है. यह रस्ट एकाश्रयी है और मैदानों की तेज गरमी में जीवित नही रहता. पहाड़ों से हवा द्वारा उड़ कर यह मैदानों की फसलों पर फैलता है. इसकी चार कायिकीय प्रजातियाँ ज्ञात है. ऐसा अनुमान है कि जंगली अलसी (**लाइनम मैसुरेन्स** हाइने) इस रस्ट के संपार्श्विक परपोषी का काम करती है (Prasada, *Indian Phytopath.*, 1947, **1**, 1; Lele, ibid., 1952, **5**, 144).

हेमीलिया वस्टैट्रिक्स बर्कले और ब्राउन कहवा के रस्ट या पर्णअंगमारी रोग का कारण है. यह कवक पत्तियों पर पीले-नारंगी रंग के धब्बे उत्पन्न करता है. रोगग्रस्त पत्तियाँ शीघ्र ही झड जाती हैं, झाड़ियाँ कमजोर हो जाती है और उनकी बाढ रुक जाती हैं. वर्ष मे दो बार, एक बार वर्षा के पहले अप्रैल मे और दूसरी बार वर्षा के बाद सितम्बर में, पौधों पर बोर्डो मिश्रण की फुहार करने से रोग की तीव्रता और संक्रमण बहुत अंश तक घट जाते हैं. इस कवक की चार प्रजातियाँ अब तक पहचानी जा चुकी हैं. **काफिया अरैबिका** लिनिअस के ऐसे विभेद विकसित करने का प्रयत्न किया जा रहा है जो इस रोग के प्रतिरोधी हों. एक विभेद एस-228 उत्पन्न किया गया है जो इस कवक की सामान्य प्रजातियों का प्रतिरोधी बतलाया जाता है (Wlth India, II, 295).

यूरोमाइसीज साइसेरिस-अरिटिनाई चने के रस्ट रोग का कारण है. यह रोग बंगाल, बिहार और महाराष्ट्र के उन भागों में अधिक होता है जहाँ नमी रहती है. अभी तक इसके



चित्र 10 – पक्सीनिया ग्लुमैरम द्वारा जनित गेहूँ का पीला रस्ट

नियंत्रण का कोई उपाय ज्ञात नही हो पाया (Wlth India, II, 157).

यू. अपेंडिकुलेटस (पर्सून) लेविलिए **फैजियोलस** (**फै. मुंगो** लिनिअस, **फै. रेडियेटस** लिनिअस) की कई जातियों में कलियों का रस्ट उत्पन्न करता है. यह रोग भारतवर्ष मे व्यापक रूप से फैलता है और उन स्थानों मे विशेष रूप से अधिक होता है जहाँ फलियों के पकने के समय वायु में अपेक्षाकृत कुछ अधिक नमी रहती है. यह रस्ट एकाश्रयी है. इसकी कई कायिकीय प्रजातियाँ ज्ञात है. कभी-कभी गन्धक छिड़कने से या पौधों पर बोर्डो मिश्रण की फुहार से रोग पर काफी नियंत्रण हो जाता है. **यू. फैबी** (पर्सून) डि बैरी कवक द्वारा मटर, चौड़ी सेम तथा मसूर पर यह रोग फैलता है. यह

कुछ अन्य सम्बन्धित पौधों में भी, अधिकतर खर-पतवारों में, फैलता है (Mundkur, 167; Butler, 254).

शंकु वृक्षों पर भी कई प्रकार के रस्ट रोग लगते हैं. इन रोगों को उत्पन्न करने वाले कवक **पेरोडरमियम** जाति और **क्रोनेंसिमम** जाति के हैं. ये रोग नये पौधों को या तो काफी निर्बल बना देते हैं या बिल्कुल ही नष्ट कर देते हैं.

यूबैसिडियोमाइसिटीज में असली बैसिडियम उपस्थित रहते हैं जिनमें बैसिडियम-स्पोर प्रांगुलों पर स्थित रहते हैं. फलन के लक्षणों के आधार पर ये सात गणों में विभाजित किये जाते हैं जिनमें **ऐगैरिकेलीज** गण महत्वपूर्ण है. इस गण के अन्तर्गत सात कुल हैं जिनमें **एक्सोबैसिडिएसी** और **पालीपोरेसी** रोपित फसलों तथा जंगली पौधों पर रोग फैलाते हैं.

एक्सोबैसिडियम वेक्सेन्स मैसी चाय की फफोलेदार अंगमारी रोग का कारण है. यह रोग तीव्र रूप में उत्तरी असम, बंगाल (दार्जिलिंग), तमिलनाडु और श्रीलंका में फैलता है. नव पौधों पर तथा पौधों को उन झाड़ियों पर जिनकी छँटाई हो चुकती है यह रोग बहुत शीघ्र लगता है जिससे उनकी बाढ़ रुक जाती है. छँटाई के समय का ध्यान रखने से तथा नव पौधों पर उस समय ताम्र कवकनाशी की फुहार करने से जिसमें रोग के फैलने की संभावना अधिक रहती है, इस रोग पर नियंत्रण प्राप्त करके होने वाली हानि को कम किया जा सकता है. जिन झाड़ियों की छँटाई बिल्कुल नहीं की जाती अथवा बहुत हल्की की जाती है उन पर इस रोग से बहुत कम हानि होती है. बोर्डो मिश्रण या पेरीनाक्स द्वारा पत्तियों पर बीच-बीच में फुहार कर देने से रोग के संक्रमण पर नियंत्रण रखा जा सकता है (Wlth India, II, 35; Haworth, *Tea Quart.*, 1950, **21**, 28; Lamb, ibid., 1950, **21**, 33; Subbarao, *Pap. Unit. Plant. Ass., S. India*, 1946, 4).

पेलीकुलेरिया सैलमानीकलर (बर्कले और ब्राउन) दस्तूर (**कोर्टीसियम सल्मोनिकलर** बर्कले और ब्राउन) मध्य प्रदेश में संतरों के गुलाबी रोग का कारण है. अन्य रोपित फसलों, जैसे चाय, कहवा, रबड़, सिनकोना, आम, सेब, नाशपाती तथा खूबानी पर भी यह रोग व्यापक रूप से पाया जाता है. इस रोग में शाखाओं पर जगह जगह सफेद धब्बे पड़ जाते हैं और इन धब्बों पर सफेद या गुलाबी रंग के आलपीन की घुंडियों के बराबर महीन दाने उत्पन्न होते हैं. जिन पेड़ों पर यह रोग लगता है उनकी पत्तियाँ मुरझा जाती हैं और फिर पीली पड़कर झड़ जाती हैं. ग्रस्त भाग को छीलने और फिर घाव पर बोर्डो-लेई या क्रियोजोट तेल लगाने से रोग पर नियंत्रण रखा जा सकता है. सेब के पेड़ों में शाखाओं के जोड़ों पर सिन्दूर और कापर कार्बोनेट के मिश्रण को अलसी के तेल में फेंट कर लेई बनाकर इसका पेंट कर देने से तथा छँटाई की सतह पर सिन्दूर और कापर कार्बोनेट के मिश्रण को लैनोलीन में फेंट कर लेप कर देने से रोग के फैलने पर नियंत्रण प्राप्त हो जाता है. रोग लगे स्थान से 60 सेंमी. नीचे से संबंधित शाखा को काटकर निकालने और फिर जला देने से अथवा 50% तूतिया के विलयन में डुबोने के बाद भूमि में गाड़ देने से भी रोग की पर्याप्त रोकथाम हो जाती है (Mundkur, 175–77; Dastur, *Indian J. agric. Sci.*, 1941, **11**, 892; Singh, ibid., 1943, **13**, 528).

पे. कालेरोगा कुक दक्षिण भारत में काफ़ी के पौधों पर कालेरोगा रोग (विगलन रोग) उत्पन्न करता है. **पे. फिलामेंटोसा** रोगर्स आलू, मिर्च, बरसीम तथा अन्य कई फसलों में रोग फैलाता है. यही कवक **राइजोक्टोनिया** अवस्था (**रा. सोलानी** कुह्न) में कपास की जड़ में सड़न-रोग उत्पन्न करता है (Mundkur, 177; Garg, *Curr. Sci.*, 1948, **17**, 270).

पालीपोरेसी कुल में कई जातियाँ हैं जो जंगल के पेड़ों पर आक्रमण करती हैं. **गैनोडर्मा ल्यूसीडम** (लेस्सर) स्पंजी और हृद-विगलन रोग उत्पन्न करता है. यह रोग भारतवर्ष के विभिन्न भागों में निम्नलिखित पौधों पर होते देखा गया है: **कैजुआरीना इक्वीसेटीफोलिया** लिनिअस, **अरीका कटेचू** लिनिअस, **पोंगेमिया ग्लब्रा** वेण्टेनैट, **गौजूमा टोमेंटोसा** कुन्थ, **अकेशिया मेलैनोजाइलान** आर. ब्राउन, **अ. अरेबिका** विल्डेनो, **अ. आरीकुलीफारमिस**, **अल्बिजिया** जाति, **एरीथ्रायना** जाति, **टेरोकार्पस मारसूपियम** राक्सबर्ग, **कोकोस न्यूसीफेरा** लिनिअस, **टरमिनेलिया टोमेंटोसा** वाइट और आर्नेट, **डेलोनिक्स रिजिया** राफिनेस्क, **अजेडिरेक्टा इंडिका** ए. जसू, **मोरस अल्बा** लिनिअस, **ऐक्रोकार्पस फ्रेक्सिनीफोलियस** वाइट और आर्नेट, **कैसिया जावानिका** लिनिअस और **कै. स्यामिया** लामार्क. पौधों के रोपण के समय भूमि की ठीक से सफाई करने से इस कवक पर नियंत्रण रखा जा सकता है. **गै. अपलैनेटम** (पर्सून) निम्नलिखित पौधों पर आक्रमण करता है: **डाल्बर्जिया** जातियाँ, **मोरस अल्बा** लिनिअस, **अकेशिया अरेबिका** विल्डेनो (बबूल), **सीड्रेला टूना** राक्सबर्ग, **आर्टोकार्पस इंटिग्रा** (थनबर्ग) मेरिल, **मैलोटस फिलिप्पिनेन्सिस** म्यूलर, **सिनामोमम सेसीडोडॅफ्ने** माइसनर तथा बाँस (Bose, *Proc. Indian Sci. Congr.*, 1936, 25; Butler & Bisby, *Sci. Monogr. Coun. agric. Res. India* No. 1, 1931, 98; Bogchee, *Proc. Indian Sci. Congr.*, pt II, 1939; Venkatarayan, *Phytopathology*, 1936, **26**, 153; Bagchee & Bakshi, *Indian For.*, 1950, **76**, 244).

फोमेस वेडियस बर्कले, **अकेशिया अरेबिका**, **अ. कटेचू** और **अ. कुंड्रा** विल्डेनो पर आक्रमण करता है. **फो. रिमोसस** बर्कले, **टरमिनेलिया विलेरिका** राक्सबर्ग, **ट. टोमेंटोसा** वाइट और आर्नेट, **ऐनोजीसस लैटीफोलिया** वालिश, **लैगरस्ट्रोमिया पारवीफ्लोरा** राक्सबर्ग और **एलियोडेंड्रान ग्लौकम** पर्सून पर रोग फैलाता है. **फो. सेनेरस** और **मिलिया अजेडराक** लिनिअस, **सीड्रेला टूना**, **मोरस** जातियाँ, **चुक्रासिया टैबुलैरिस** ए. जसू, **ऐस्कूलस इंडिका** कोलब्रुक, **मिमूसाप्स इलेंगाई** लिनिअस, **पाइरस कम्यूनिस** लिनिअस, **पा. पशीआ** बुकनन-हैमिल्टन, और **प्रूनस परसिका** बेंथम और हुकर पुत्र पर रोग उत्पन्न करता है (Bagchee & Bakshi, loc. cit.).

ट्रैमिटिस पाइनाई (ब्रोटरो) कुछ शंकु वृक्षों में लाल वलय रोग उत्पन्न करता है. इन शंकु वृक्षों में मुख्य हैं: **पाइनस इक्सेल्सा** वालिश, **पा. राक्सबर्गाई** सार्जेण्ट; **पा. जिरारडिएना** वालिश; **सीड्रस देओदारा** (राक्सबर्ग) लाउडन, **एबीज पिंड्रो** राएल तथा **पाइसिया मोरिंडा** लिंक. आरम्भ में विगलन कुछ सीमित स्थानों पर केंद्रित रहता है किन्तु स्थायी रूप से लकड़ी पर बना रह सकता है. यदि उचित उपाय से इस रोग को रोका नहीं जाता तो ऐसी लकड़ी से बना सामान शीघ्र ही नष्ट होने लगता है. यह विगलन रोग सम्पर्क से नई लकड़ी

पर भी फैल जाता है. **पालीपोरस गिल्वस** श्वाइनिट्ज, **डाल्बर्जिया सिसू** राक्सवर्ग, **लैटीफोलिया** राक्सवर्ग, **अकेशिया अरैबिका, अ. कटेचू, टेरोकार्पस मार्सुपियम, अल्बीजिया प्रोसेरा** बेंथम, **टर्मिनेलिया कटाप्पा** लिनिअस, **कैसिया जावानिका, शोरिया रोबस्टा** गेर्टनर पुत्र और **क्वेरकस** जातियों पर आक्रमण करता है और सफेद रस विगलन रोग उत्पन्न करता हैं. **पालीपोरस पलस्ट्रिस** जो असम में अधिक होता है **पीसिया मोरिंडा** की लकड़ी के क्षय का कारण है. **पनेलस रूपीकोला सीड्रस देओदारा** पर रोग फैलाता है (Bagchee & Bakshi, loc. cit.; Bagchee, *Indian For.*, 1954, **80**, 373).

आरमिलैरिया मीलिया (वाल) फ्रीज जिसे साधारणतया मधु-छत्रक कहते हैं, अनेक प्रकार के वृक्षों में जड़ विगलन रोग उत्पन्न करता है. यह रोग समस्त संसार में फैला हुआ है और विभिन्न नामों से पुकारा जाता हैं, जैसे काला रज्जु रोग, शिखर विगलन, **आरमिलेरिया** जड़ विगलन तथा छत्रक जड़ विगलन आदि. यह कवक जड़ों की छाल तथा अन्दर की लकड़ी का विगलन और जड़ तथा प्ररोह के बीच के स्थान का विगलन करता है जिससे पेड़ों की मृत्यु हो जाती है. रस-काष्ठ तथा नष्ट छाल के बीच के स्थान में यह कवक विशेष प्रकार की काली मण्डलाकार रेखायें बनाता है. जड़ों की ठूंठ को, जहाँ कवक निवास करते हैं, जला देना ही इस रोग के नियंत्रण का एकमात्र उपाय है.

ड्यूटेरोमाइसिटीज़ द्वारा उत्पन्न रोग

वे कवक जिनकी पूरी अवस्थायें (लैंगिक अवस्थायें) अभी तक ज्ञात नहीं की जा सकी है इस वर्ग में रखे गये हैं. इन्हें 'फंजाई इम्परफेक्टाई' भी कहते हैं. इस वर्ग को तीन गणों में विभाजित किया गया है जिनके नाम हैं: **स्फीरोप्सिडेलीज़, मेलैंकोनिएलीज़** और **मोनीलिएलीज़**. प्रथम दो गणों में कोनीडिया फलन पर लगे रहते हैं जो या तो घट आकार के होते हैं (पिक्नीडिया), या रकाबी के आकार के. तीसरे गण में कोनीडिया या तो मुक्त रूप में माइसीलियम पर लगे रहते हैं या विशेष आकार के कोनीडियोफोरों पर लगे रहते हैं.

ओपरकुलेला पैंडविकाई खेसवाला (गण, **स्फीरोप्सिडेलीज़**) पंजाब और उत्तर प्रदेश के कुछ भागों में चने में तल-विगलन रोग उत्पन्न करता है. जिन पौधों में यह रोग लगता है, वे ऊपरी सिरे से सूखने लगते हैं. पत्तियाँ पीली-हरी होने लगती है और फिर बाद में पूर्ण रूप से पीली होकर झड़ जाती हैं. तने और जड़ के बीच का भाग गहरा भूरा हो जाता है. कुछ पौधों में मूल तथा मूलिकाओं में भी यह रोग फैलता है (Kheswalla, *Indian J. agric. Sci.*, 1941, **11**, 316).

सेप्टोरिया ट्रिटिसाई पंजाब में गेहूँ में पर्ण-चकत्ता रोग उत्पन्न करता है. इस रोग में पत्तियों पर जगह जगह धब्बे उत्पन्न होते हैं जिससे पौधे कमजोर हो जाते हैं. प्रायः तने तथा जड़ों पर भी यह रोग फैलता है (Luthra *et al.*, *Indian J. agric. Sci.*, 1937, 7, 271).

डिप्लोडिया कैजनाई रेचौवरी विहार और उत्तर प्रदेश में अरहर [**कैजानस कैजन** (लिनिअस)] में कैंकर रोग उत्पन्न करता है. कालर भाग का मोटा और विकृत होना इस रोग का आरम्भिक लक्षण है. पौधे के इस भाग में क्षत बन जाते हैं जो बाद में अन्दर घुसे कैंकर का रूप धारण कर लेते हैं. कालर क्षेत्र में कोई चोट न लगने पाये इसका ध्यान रखने से इस रोग से पौधों की बहुत अंश तक हानि घटाई जा सकती है (Raychaudhuri, *Indian J. agric. Sci.*, 1942, **12**, 837).

मेलैंकोनिएलीज़ गण के कवक बहुत सी आर्थिक फसलों पर रुक्ष-रोग उत्पन्न करते हैं. **कलेटोट्राइकम ग्रैमिनीकोलम** विल्सन से ज्वार में लाल पर्ण-चकत्ता रोग फैलता है. इस रोग में पत्तियों पर लम्बे या अंडाकार चकत्ते उत्पन्न होते हैं जिनके किनारे लाल भूरे रंग के रहते हैं और बीच का भाग तृण रंग का होता है जहाँ बिन्दु की तरह के नन्हें काले रंग के एसरवुलस उत्पन्न होते हैं. **क. इंडिकम** कपास के रुक्ष रोग का कारण है. नम मौसम से इस रोग के फैलने में सहायता मिलती है. यह रोग नये पौधों को भूमि से ऊपर उठने के पहले या बाद में नष्ट कर देता है, अथवा कपास की ढोंड का विगलन करता है जिससे वे प्रौढ़ होने के पूर्व झड़ जाती हैं, कपास के रेशे पीले या गहरे भूरे हो जाते है, या परस्पर गुँथ कर रेशों का एक भंगुर ठोस रूप बनाते हैं. इस रोग का संक्रमण बीज द्वारा होता है. बोने के पूर्व बीजों को एक घंटे तक 0.25% उस्पुलन में भिगोने से या इसी विलयन की पौधों पर फुहार करने से, या तनु सल्फ्यूरिक अम्ल द्वारा बीजों के रेशों को निकाल देने से इस रोग पर काफी अंश तक नियंत्रण प्राप्त हो जाता है. बोर्डो मिश्रण से नवोद्भिजों को दो बार उपचारित करने और बीजों को थोड़ा दूर-दूर बोने से नवोद्भिज के अंगमारी तथा ढोंडों के विगलन रोग के नियंत्रण में पर्याप्त सफलता मिली है. संपार्श्विक परपोषी, **ऐरिस्टोलोकिया ब्रैक्टियेटा** रेत्सियस और **हिबिस्कस डाइवर्सीफोलियस** जैक्विन को आसपास से निकाल देने से नवोद्भिज अंगमारी के नियंत्रण में सहायता मिलती है. **क. लिंडेमूथिएनम** (सक्कारडो) ब्रि. और कैवेनिलिस फली के रुक्ष रोग का कारण है. यह रोग विशेष रूप से फलियों को हानि पहुँचाता है. इस रोग में फलियों पर गोलाकार मुर्चे के रंग के दाने उत्पन्न होते हैं जो बाद में अन्दर घुस कर बीजों तक पहुँच जाते हैं. भारतवर्ष में यह बहुत कम होता है. केवल उत्तर की पहाड़ियों और नीलगिरि क्षेत्र में ही यह रोग सीमित है. स्वस्थ बीजों का बुवाई के लिए उपयोग, उपयुक्त फसल का हेर-फेर, आवश्यकतानुसार पौधों पर बोर्डो मिश्रण की फुहार तथा रोग प्रतिरोधी जातियों को बोना, इस रोग को नियंत्रित करने के उपायों में से हैं. **क. करवेटम** ब्रेण्ट और मार्टिन सनई के रुक्ष रोग का कारण है. बीजों को बोने के पूर्व रोगाणुनाशियों द्वारा उपचारित करने और फसलों पर कवकनाशियों द्वारा शुष्क मौसम में फुहार करने से इस रोग के नियंत्रण में सहायता मिलती है (Uppal, *Diseases of Cotton in India*, Indian Cott. Comm., 1948, 17; Dastur, *Indian J. agric. Sci.*, 1934, **4**, 100; Mitra, ibid., 1937, 7, 443).

पेस्टालोटिया थीए सवाडा चाय के पौधों में भूरा अंगमारी रोग उत्पन्न करता है. यह रोग भारतवर्ष में अत्यन्त सामान्य है. इस रोग में पुरानी पत्तियों की ऊपरी सतह पर जगह-जगह गहरे भूरे रंग के धब्बे पड़ जाते हैं जो धीरे-धीरे बढ़ते हैं और फिर एक दूसरे से मिल जाते हैं. धीरे-धीरे रोग समस्त झाड़ी पर फैल जाता है और पत्तियों को नष्ट कर देता

है जिससे वे झड़ जाती हैं. साफ छँटाई करने और सूखे ढेरों को जला देने से बहुत अंश तक रोग से बचाव हो जाता है. बोर्डो मिश्रण की फुहार भी रोग के नियंत्रण में सहायक होती है (Mundkur, 200).

मैक्रोफोमिना फासियोलाई के अनेक परपोषी हैं और यह अनेक फसलों के तना-विगलन और जड़-विगलन रोग का कारण है. कुछ फसलें जिन पर यह कवक रोग उत्पन्न करता है इस प्रकार हैं: कपास, जूट, मूंगफली, पटुवा और मूंग. यह ज्वार में नवोद्भिज अंगमारी तथा तने को पोला करने का रोग भी उत्पन्न करता है. यह मिट्टी द्वारा फैलने वाला रोगाणु है. यह कवक **राइज़ोक्टोनिया सोलैनाई** कुहन के साथ कपास में जड़-विगलन रोग उत्पन्न करता है. बुवाई का समय बदल देने और कपास के साथ मोथ (**फासियोलस एकोनिटीफोलियस** जैक्विन) मिलाकर बोने से रोग कम होता है. जूट का स्तम्भ-विगलन असम, बंगाल, बिहार और उड़ीसा में बहुत होता है. इस रोग से जूट के रेशों के गुणों तथा उत्पादन दोनों पर ही प्रभाव पड़ता है. यह रोग मिट्टी तथा बीज दोनों के ही द्वारा फैलता है, और इसका आक्रमण पौधों पर उनकी वृद्धि की प्रत्येक अवस्था में होता है. नवोद्भिज में बीजपत्राधार और बीजपत्रों पर काली भूरी या गहरी भूरी धारियों का उत्पन्न होना रोग का आरम्भिक लक्षण है. नवोद्भिजों में जब यह रोग लग जाता है तब थोड़ी भी नमी और ठंडक होने पर उन पर शीघ्र पाला लग जाता है. अधिक आयु के पौधों में रोग होने पर पौधे की पत्तियाँ झड़ जाती हैं, तने विगलित हो जाते हैं और अन्त में पौधे मर जाते हैं. रोग की तीव्र अवस्था में ढोंडों और बीजों पर प्रभाव पड़ता है. साफ किये गये स्वच्छ बीजों को बोने से रोग में काफी कमी हो जाती है (Uppal *et al.*, *Indian J. agric. Sci.*, 1936, **6**, 1323; Vasudeva, *Indian Fmg*, 1942, **3**, 536, 592; Varda Rajan & Patel, *Indian J. agric. Sci.*, 1943, **13**, 148).

मोनोलिएलीज गण के अन्तर्गत बहुत से रोगजनक पौधे हैं. **पिरीकुलेरिया ओराइज़ी** कैवेनिलिस धान में विस्फोट नामक भयंकर रोग उत्पन्न करता है जो संसार में सब जगह फैला हुआ है. पत्तियों पर तर्कुरूपी धब्बे उत्पन्न होते हैं और तने पर, विशेष रूप से गाँठों के पास, काले भूरे क्षत दिखलाई देते हैं. ग्रस्त पत्तियाँ कुंचित हो जाती हैं और पौधा ऐसा लगता है जैसे इसे मरोड़ दिया गया हो. तुषों पर हल्के नीले रंग के अनियमित धब्बे दिखलाई देते हैं और इन तुषों के बीच दाने या तो खोखले रहते हैं या उनमें थोड़े ही भरे रहते हैं. यह रोग फसलों में किसी भी समय लग सकता है किन्तु साधारणतः सबसे अधिक तब लगता है जब बालों के निकलने का समय पास रहता है. इस रोग से तमिलनाडु में फसलों को विशेष हानि, 30–35% तक, हो जाती है. बोर्डो मिश्रण या पेरीनाक्स की फुहार पौधों पर कर देने से रोग की तीव्रता में कमी हो जाती है किन्तु रोग के नियंत्रण का सबसे अधिक अच्छा उपाय प्रतिरोधी जातियों की ही बुवाई है. निम्नांकित विभेद जो तमिलनाडु कृषि विभाग द्वारा विकसित किये गये हैं, इस रोग के प्रतिरोधी हैं: को. 4, जी.ई.बी. 24, को. 25, को. 26 (Sundararaman, *Detailed Rep. Mycologist, Madras*, 1926–27, 1936–37; Thomas & Krishnaswamy, *Madras agric. J.*, 1948 (Jan.–Feb.), **35**, 147; *Indian Fmg*, 1949, **10**, 546).

आल्टरनेरिया सोलैनाई (इलियट और मार्शियस) आलू में आरम्भिक अवस्था में लगने वाली अंगमारी का कारण है. इस रोग में पत्तियों पर छोटे, पीले, ऊतक क्षयी धब्बे, जिनमें संकेन्द्री वलय रहते हैं, उत्पन्न होते हैं और फिर धीरे-धीरे पत्तियाँ सूख कर झड़ जाती हैं. बोर्डो मिश्रण, चूना-गंधक मिश्रण या पेरीनाक्स की फुहार से रोग पर सन्तोषप्रद नियंत्रण प्राप्त हो जाता है. यह कवक मिर्च में फल-विगलन रोग उत्पन्न करता है जिसमें फल के एक तरफ गहरे भूरे क्षत उत्पन्न होते हैं जिनके चारों ओर पीला परिवेश रहता है. वृद्धि करके ये क्षत अनियमित आकार के चकत्तों में परिणत हो जाते हैं. इन चकत्तों के किनारे गहरे भूरे और केन्द्र हल्के भूरे रहते हैं. बोर्डो मिश्रण की फुहार से पर्याप्त नियंत्रण प्राप्त हो जाता है. **आ. ब्रैसीकी** (बर्कले) सक्कारिडो बहुत-सी आर्थिक फसलों को हानि पहुँचाता है, विशेषकर **क्रूसीफेरी** कुल के गोभी और पातगोभी पौधों में यह पर्ण-चकत्ता तथा फली-अंगमारी उत्पन्न करता है (Mundkur, 181; Subramanian, *Madras agric. J.*, 1954, **41**, 96).

सरकोस्पोरा डॉलिकाई सेम (**डॉलिकास लबलब** लिनिअस वेर. **टाइपिकस** प्रेन) में पर्ण चकत्ता तथा फली-ऊतक क्षयी रोग उत्पन्न करता है. इस रोग का नियंत्रण केवल ऐसी जातियों से संभव है जो शीघ्र पकती हों. **स. सीसेमाइ** जिम्म असम में **सीसेमम ओरिंटेल** लिनिअस पौधों में अंगमारी उत्पन्न करता है. बोने से पहले बीजों को गरम पानी से उपचारित कर लेने से वे इन रोगजनक कवकों से मुक्त हो जाते हैं और तब रोग के फैलने में काफी कमी हो जाती है (Singh, *Indian J. agric. Sci.*, 1933, **3**, 496; Chowdhury, ibid., 1945, **15**, 140).

हेल्मियोस्पोरियम ट्रिटिसाई-रिपेण्टिस गेहूँ में पर्ण-चकत्ता उत्पन्न करता है. यह जीव **हे. सैटाइवम** के सहवास में रहता है जो साधारणतः जड़ में पौधे की नवोद्भिज अवस्था में तल और जड़-विगलन रोग उत्पन्न करता है. गेहूँ के पर्ण-चकत्ता रोग में पत्ती की सतह पर कई आकार के धब्बे निकलते हैं जो एक दूसरे से मिल कर पत्ती की पूरी लम्बाई को क्षत करते हैं. बोने से पहले बीजों को उस्पुलन और सेरेसन से उपचारित करने से बीज द्वारा होने वाले संक्रमण पर पूर्ण नियंत्रण प्राप्त हो जाता है. स्वच्छ और साफ बीजों का बुवाई के लिए उपयोग करने तथा फसल के हेरफेर से मिट्टी द्वारा फैलने वाले रोग में कमी हो जाती है (Mitra, *Indian J. agric. Sci.*, 1934, 4, 692; Mitra & Bose, ibid., 1935, **5**, 449).

फ्यूज़ेरिया जातियाँ विचित्र पादप-रोगजनकों में से हैं. सामान्य रूप से ये कवक मिट्टी में मृतजीवी के रूप में निवास करते हैं किन्तु उपयुक्त परपोषी उपलब्ध हो जाने पर ये उन पर परजीवी के रूप में निवास करते हैं. ये परपोषी जड़ों पर आक्रमण करते हैं और उनकी जाइलम नलियों का मार्ग अवरुद्ध कर देते हैं जिससे परपोषी पौधा मुरझा जाता है. ये तीन प्रकार के स्पोर पैदा करते हैं: मैक्रोकोनीडिया जो सतह पर उत्पन्न होते हैं तथा माइक्रोकोनीडिया और क्लैमीडोस्पोर जो

परपोषी के ऊतकों के भीतर उत्पन्न होते हैं. इनका संक्रमण मिट्टी के नीचे होता है.

फ्यूज़ेरियम ऊडम बटलर अरहर को नुक्सान का कारण है. यों तो यह रोग भारतवर्ष में उन सभी स्थानों में होता है जहाँ अरहर की फसल उगाई जाती है किन्तु यह महाराष्ट्र, मध्य प्रदेश, उत्तर प्रदेश और बिहार में विशेष रूप से अधिक होता है जिससे अरहर की फसल को बहुत हानि पहुँचती है. साधारणतः यह रोग उन पौधों पर लगता है जो 5-6 सप्ताह के होते हैं. रोग लगने पर पौधे की पत्तियाँ समय से पहले पीली पड़ जाती हैं और फिर मुरझा जाती हैं और पूरा पौधा सूख जाता है. लम्बे फसल के हेरफेर से इस रोग की तीव्रता कम हो जाती है. रोग प्रतिरोधी जातियों का उपयोग ही इस रोग को रोकने में सबसे प्रभावशाली उपाय है (Mundkur, 185–188, Padwick *et al.*, *Indian J. agric. Sci.*, 1940, 10, 707).

फ्यू. आर्थोसिरास वेर. **सिसेराइ** पैडविक पंजाब में तथा उत्तर प्रदेश के कुछ पश्चिमी जिलों में चने में म्लानि रोग का कारण है. विलम्बित बुवाई करने तथा खेत की गहरी जोताई करने से इस रोग की तीव्रता में कमी हो जाती है (Padwick & Bhagwagar, *Indian J. agric. Sci.*, 1943, 13, 289; Bedi, *Rep. Indian Coun. agric. Res.*, 1950–51).

फ्यू. वैसिनफेक्टम ऐटकिन्सन कपास में म्लानि रोग उत्पन्न करता है. यह रोग गुजरात तथा डेकन में काली मिट्टी वाले क्षेत्रों में अधिक फैलता है. इस रोग का मुख्य लक्षण पत्तियों का रुकना और मुरझाना है. मुरझान नीचे की ओर से सब पुरानी पत्तियों से आरम्भ होती है और धीरे-धीरे ऊपर की ओर बढ़ती है और अन्त में पूरे पौधे या पूरी शाखा में फैल जाती है. पौधे में यह रोग उसकी वृद्धि की किसी भी अवस्था में लग सकता है, किन्तु साधारणतः यह उस समय सबसे अधिक लगता है जब कायिक वृद्धि पूर्ण हो चुकती है. पौधे की ऐसी जातियों को बोने से ही जो इस रोग की प्रतिरोधी हैं, इस पर उचित नियन्त्रण प्राप्त होता है. इस प्रकार की रोग प्रतिरोधी किस्में निम्नांकित हैं: कर्नाटक में जयवन्त और जयधर, गुजरात में विजय, खानदेश में जारिला और विरनार, सूरत में विभेद 2,087, हैदराबाद में गावोरानी 12, और मध्य भारत में भोज (Kulkarni, *Indian J. agric. Sci.*, 1934, 4, 976; Uppal, *Diseases of Cotton in India*, Indian Cott. Comm., 1928, 2; Patel & Bhat, *Indian Cott. Gr. Rev.*, 1953, 7, 230).

फ्यू. सिरुलियम संचित आलू में शुष्क-विगलन रोग उत्पन्न करता है. आरम्भिक संक्रमण मिट्टी से होता है किन्तु रोग उस समय लगता है जब आलू संचित रखा रहता है. यह कवक आलू पर 2° से 30° ताप के बीच में किसी भी ताप की अवस्था में आक्रमण कर सकता है. 1% फार्मेलिन विलयन से आलू को उपचारित करने से रोग नहीं फैलता.

फंजाई इम्परफेक्टाई के अन्तर्गत **माइसिलिया स्टेरीलिया** की कुछ जातियाँ भी सम्मिलित हैं जो स्पोर नहीं उत्पन्न करतीं. इनके द्वारा उत्पन्न रोग इनके कवक जाल तथा स्क्लेरोशियम द्वारा फैलते हैं. स्क्लेरोशियम काले रंग के छोटे कड़े पिंड होते हैं जो कवक तंतुओं के परस्पर लिपटने और गुँथने के फलस्वरूप बनते हैं.

स्क्लेरोशियम रोल्फसाई सक्कारिडो गेहूँ, जौ, रागी, आलू तथा मूँगफली के जड़ विगलन तथा पान (**पाइपर बेट्ल**) के श्वेत-विगलन का कारण है. यह रोगजनक तल-विगलन और मृदु-विगलन के लक्षण उत्पन्न करता है और नम तथा उष्ण दशाओं में सक्रिय रहता है. उत्तर प्रदेश में मूँगफली की ऐसी किस्में विकसित की गई हैं जिनमें यह रोग नहीं लगता (Singh & Mathur, *Curr. Sci.*, 1953, 22, 214).

ओजोनियम टेक्सैनम नील और वेस्टर वेर. **पैरासाइटिकम** के संबंध में यह ज्ञात हुआ है कि यह पटना, भुवाली और शिमला में आलू को हानि पहुँचाता है. जिन पौधों पर इस कवक का आक्रमण होता है वे मुरझा जाते हैं. आलू की कुछ जातियाँ अन्य जातियाँ की अपेक्षा इस कवक के प्रति अधिक प्रतिरोधी सिद्ध हुई हैं (Thirumalachar, *Curr. Sci.*, 1951, 20, 244).

मनुष्य तथा जन्तुओं के परजीवी कवक

कवकों के संबंध में इस समय जितनी जानकारी प्राप्त है उसके अनुसार मनुष्य में रोग उत्पन्न करने वाली कवक की जातियाँ अत्यन्त सीमित हैं. इनमें से अधिकांश कवक **फंजाई इम्परफेक्टाई** के अन्तर्गत आते हैं. कुछ **एस्कोमाइसिटीज़** और **ऐक्टिनोमाइसिटीज़** भी रोगजनक हैं. किन्तु इन रोगजनकों का स्रोत क्या है और ये मनुष्य में किस प्रकार पहुँचते हैं इसकी बहुत कम जानकारी उपलब्ध है. जो थोड़ी जानकारी प्राप्त है उससे यह ज्ञात हुआ है कि इनमें से कुछ पौधों पर उत्पन्न होते हैं. कुछ जातियाँ विशेषकर, चर्मोद्भिज जंगली तथा पालतू जानवरों में पायी जाती हैं और मनुष्यों तक केवल इन जन्तुओं से आरोहण द्वारा ही पहुँचती हैं. कुछ कवक केवल ऊपर ही रहते हैं और त्वचा पर स्थानीय क्षत उत्पन्न करते हैं, कुछ अन्य गहरा क्षत उत्पन्न करते हैं या भीतरी अंगों जैसे फेफड़े, आन्त्र, प्लीहा और यकृत आदि, को हानि पहुँचाते हैं. इनके द्वारा सामान्य रूप से ऊतकों में जो परिवर्तन होते हैं उनमें रक्ताधिक्य, शोफ, निःस्राव, अतिविकसन, ऊतक-क्षय तथा क्षत-ऊतक का होना है. इनमें से कुछ कवकों के बहुरूपी होने के कारण उनकी पहचान करना कठिन होता है (Wolf & Wolf, II, 365).

डर्मेटोमाइकोसिस

बहुत से कवक त्वचा के रोग उत्पन्न करते हैं. ये कवक मनुष्य तथा जन्तुओं में केराटिनीकृत त्वचा में तथा त्वचा के कुछ परिवर्तित रूपों में जैसे बाल, नाखून, पर, खुर और सींगों में परजीवी के रूप में निवास करते हैं. इनके द्वारा दाद, टिनिया, धोबी-खाज, वट्टिट-खाज, सिलाडी-तल, हर्पीज़, फेवस या केरिआन रोग उत्पन्न होते हैं.

दाद अपने विभिन्न रूपों में सर्वव्यापी है. बहुत से **डर्मेटोमाइकोसिस** उन कवकों द्वारा उत्पन्न होते हैं जो पालतू जानवरों पर परजीवी के रूप में निवास करते हैं और इन्हीं जन्तुओं से मनुष्य तक पहुँचते हैं. कुछ अन्य कवक मनुष्य में ही पाये

जाते हैं और मनुष्य-शरीर के भीतर ही वृद्धि करते हैं. जन्तुओं से होने वाले संक्रमण का उपचार मनुष्यों के शरीर के भीतर निवास करने वाले कवकों द्वारा उत्पन्न संक्रमण से कहीं सरल होता है. साधारणतः केवल मनुष्य में होने वाला डर्मेटोफाइट जन्तुओं से संक्रमण द्वारा होने वाले डर्मेटोफाइट की अपेक्षा कम शोथ पैदा करता है. डर्मेटोमाइकोसिस के प्रकारों का वर्गीकरण इस बात पर आधारित है कि वह किस अंग में हुआ है. आधुनिक वर्गीकरण के अनुसार ये तीन वंशों में विभाजित किये जाते हैं जिनके नाम हैं: **ट्राइकोफाइटम, माइक्रोस्पोरम,** तथ **एपीडर्मोफाइटम** (Wolf & Wolf, II, 379; Ainsworth, 11, 13, 20; Conant *et al.*, 209, 244).

टिनिया कैपिटिस (ट्राइकोफाइटोसिस कैपिटिस, टीनिया टान्सुरांस, रिंगवर्म आफ स्कैल्प) एक कवक द्वारा बालों तथा बालों की जड़ों में होने वाला दाद है जो **ट्राइकोफाइटम वायोलेसियम** सबोराउड, **ट्रा. टान्सुरैन्स** माल्मस्टेन (सिन. **ट्रा. क्रेटरीफोर्म** सबोराउड). **ट्रा. मेंटैग्रोफाइटीज** (राबिन) ब्लैचार्ड, **ट्रा. फेरूजीनियम** (ओटा) लैंगेरान तथा मिलोचेविच (सिन. **माइक्रोस्पोरम फेरूजीनियम** ओटा) तथा **मा. आडुनाई** ग्रुबी द्वारा उत्पन्न होता है. यह रोग भारतवर्ष में सामान्य रूप से पाया जाता है. इसमें त्वचा पर सूखे लाल क्षत हो जाते हैं, सिर के बाल उड़ जाते हैं और कभी-कभी गहरे घाव की तरह की फुंसियाँ निकलती हैं. **ट्रा. वायोलेसियम** वेर. **इंडिकम** पुरुषों की टाँगों और जाँघों तथा स्त्रियों के हाथों की रोम-पुटिका के चारों ओर होने वाले पूयस्फोटी पुटिका रोग का कारण है. मैककी (MacKee) विधि द्वारा त्वचा पर एक्स-किरणों के उपचार से इस रोग की चिकित्सा की जाती है (Conant *et al.*, 230–232; Dey, *Indian med. Gaz.*, 1953, **88**, 194; Dey & Ghosh, ibid., 1944, **79**, 51; Dey & Maplestone, ibid., 1941, **76**, 410; Ghosh *et al.*, ibid., 1947, **82**, 73).

टिनिया बारबी (टिनिया साइकोसिस, टिनिया बारबी ट्राइकोफाइटीन, बारबर्स इच, रिंगवर्म आफ बियर्ड) गर्दन और चेहरे के दाढ़ी वाले भाग में होने वाला एक कवक रोग है जिसमें त्वचा के ऊपरी तथा भीतरी भागों में क्षत उत्पन्न होते है. जब त्वचा के भीतर क्षत होता है तो मुख्य रूप से रोम-पुटिका पर रोग केन्द्रित रहता है. यह रोग **ट्राइकोफाइटम मेंटैग्रोफाइट्स, ट्रा. वायोलेसियम** और **माइक्रोस्पोरम केनिस** बोडिन (सिन. **मा. लानोसम** सबोराउड) द्वारा उत्पन्न होता है. जब सूजन विशेष रहती है तब ऐल्यूमिनियम ऐसीटेट (1:15 तनुता) में भीगी हल्की गीली पट्टी बाँधने से आराम होता है (Conant *et al.*, 225–229; Dey, *Indian med. Gaz.*, 1953, **88**, 194).

टिनिया क्रूरिस (धोबीज इच, रिंगवर्म आफ ग्रोइन, जाकी इच, एक्जिमा मार्जिनेटम, ग्याम इच) एक कवक संक्रामक है जो पेट और जाँघ के जोड़ों पर तथा गुदा और वृषणकोषों के बीच के स्थानों पर होता है. यह **एपीडर्मोफाइटम फ्लोकोसम** (हार्ज) लैंगेरान और मिलोचेविच (सिन. **ए. इंग्युनेल** सबोराउड), **ट्राइकोफाइटम रुब्रम** (कास्टेल्लानी) सबोराउड (सिन. **ट्रा. परप्युरियम** बैंग; **ए. रुब्रम** (कास्टेल्लानी) और **ट्रा. मेंटाग्रोफायटीज** द्वारा उत्पन्न होता है. अवक्षेपित गंधक और सैलिसिलिक अम्ल (प्रत्येक का 3%) को लैनोलिन के समान भाग में फेंट कर लगाने से या बेंज़ोइक अम्ल (6%) और सैलिसिलिक अम्ल (3%) के मिश्रण का मलहम लगाने से यह रोग साधारणतः तीन सप्ताह में पूर्ण रूप से अच्छा हो जाता है. ग्लेशल ऐसीटिक अम्ल को 25% ऐल्कोहल में मिश्रित करके लगाने से भी इस रोग को नियंत्रण में लाया जा सकता है (Conant *et al.*, 219–221; Acton & McGuire, *Indian med. Gaz.*, 1927, **62**, 419; Ghosh & Panja, ibid., 1946, **81**, 416; Nair, *J. Indian med. Ass.*, 1942, **11**, 368).

टिनिया फैवोसा (फेवस हनीकूम्ब रिंगवर्म) एक कवक संक्रमण है जो **ट्राइकोफाइटम स्वेनलिनाई** (लेबर्ट) लैंगेरान तथा मिलोचेविच, **ट्रा. वायोलेसियम, माइक्रोस्पोरम जिप्सियम** (बोडिन) गुईआर्ट और ग्रिगोराकिस, **मा. केनिस** और कभी-कभी **मा. आडुनाई** द्वारा होता है. यह रोग कश्मीर, पंजाब और राजस्थान में स्थानिक है. इसकी छूत साधारणतः बालों की जड़ तक ही सीमित रहती है, किन्तु कभी-कभी रोमहीन त्वचा तथा नाखूनों में भी इसका संक्रमण फैलता है. एक अन्य असामान्य प्रकार का संक्रमण भी **ट्रा. स्वेनलिनाई** सिन. **ट्रा. डिस्काएडीज** सबोराउड द्वारा होता पाया गया है जिसमें घुटनों, जाँघ और हाथों में मांस की अतिवृद्धि हो जाती है. एक्स-किरणों द्वारा बालों को नष्ट करना इसके उपचार की विधि है. एक्स-किरणें उस क्षेत्र में भी लाभदायक है जहाँ रोग-आक्रान्त स्थान से स्राव निकलता है (Conant *et al.*, 232–236; Dey, *Indian med. Gaz.*, 1941, **76**, 416; Chakraborty *et al.*, ibid., 1953, **88**, 268).

टिनिया इम्ब्रिकैटा (टोकेलाऊ, स्केली रिंगवर्म) त्वचा की बाहरी सतह का एक रोग है जो **ट्राइकोफाइटम कन्सेण्ट्रिकम** ब्लैंचार्ड (सिन. **इंडोडेरमोफाइटम कन्सेण्ट्रिकम** कास्टेल्लानी; **इं. इंडिकम** कास्टेल्लानी; **इं. मनसोनी** कास्टेल्लानी; **इं. ट्रापिकेल** कास्टेल्लानी) द्वारा होता है. यह रोग उष्णकटिबन्ध का रोग है और असम की पहाड़ी जातियों में अत्यन्त व्यापक है. इस रोग में पूरे शरीर में बिखरे संकेन्द्री वलय के आकार के चकत्ते निकलते हैं जिन पर नन्हीं फुन्सियों की तरह के उभार रहते है. कवकनाशी तथा केराटिन रोगनाशी पदार्थो को लगाना ही इसका उपचार है. उदाहरणार्थ, ऐक्वाफोर में 10% क्राइसैरोबिन, या 5% गंधक और 5% सैलिसिलिक अम्ल ऐक्वाफोर और कैस्टेलैट पेंट में मिश्रित करके या पूरी शक्ति का व्हाइटफील्ड मलहम (Conant *et al.*, 225–226; Acton & Ghosh, *Indian med. Gaz.*, 1934, **69**, 426; Dey & Maplestone, ibid., 1942, **77**, 5).

सेबोरहीका त्वकशोथ

सेबोरहीका त्वकशोथ **पिटिरोस्पोरम ओवेल** कास्टेल्लानी और चलम द्वारा उत्पन्न होता है और पूर्वी भारत में होने की सूचना प्राप्त है. रोम-कूप, स्वबैमा तथा स्वेदग्रन्थियों में यह रोग होता है और बाल झड़ने तथा गंजेपन के लिये यही रोग उत्तरदाई है. कमजोरी, अपच तथा भोजन में वसा की अधिकता इस रोग में सहायक होते हैं. इस रोग में रोगग्रसित शिरोवल्क लगातार शल्क उत्पन्न करता है जो झड़ते हैं और शरीर के अन्य भागों

में रोग फैलाते हैं. सैलिसिलिक अम्ल और अमोनियामय पारे के मिश्रण से बने मलहम या सैलिसिलिक अम्ल और गन्धक के मिश्रण से बनाये गये मलहम को शिरोवल्क में सप्ताह में एक बार लगा कर रगड़ने से इसका उपचार होता है (Wolf & Wolf, II, 372).

मदुरोमाइकोसिस (मदुराकवकता)

मदुरोमाइकोसिस (मदुराफुट, माइसिटोमा) सामान्य रूप से पैरों पर होता है और हाथों या शरीर के अन्य भागों में बहुत ही कम होता है. यह रोग **ऐस्कोमाइसिटीज** और **फंजाई इम्परफेक्टाई** की कई जातियों द्वारा उत्पन्न होता है. संसार के सभी भागों में यह रोग फैला है. इस रोग की सबसे पुरानी सूचना तमिलनाडु के मदुरानगर की है. यह रोग दक्षिण भारत के कुछ भागों में तथा मध्य भारत के शुष्क क्षेत्रों में स्थानिक है और 20 और 40 वर्ष की आयु के बीच के लोगों में अधिक होता है, किन्तु 12 से 80 वर्ष तक की आयु में कभी भी हो सकता है. यह स्त्रियों की अपेक्षा पुरुषों में अधिक होता है. कृषक और खेतों में काम करने वाले मजदूर जो नंगे पैर खेत में कार्य करते हैं, सामान्य रूप से इस रोग के शिकार होते हैं. इस रोग में पैर गदाकार हो जाता है या अपनी नाप से दो-तीन गुने गोलाकार पिंड के रूप में बढ़ जाता है, त्वचा बदरंग हो जाती है और उस पर जगह-जगह गर्तमय चकत्ते, ग्रंथिकायें और बहुत से कोटर बन जाते हैं; स्राव सीरम पूयमय होता है और उसमें गोल, सफेद, पीले, काले या लाल कण रहते हैं. रोग बहुत धीरे-धीरे बढ़ता है. ऐसे रोगी देखे गये हैं जिनमें रोग 30 वर्ष पुराना था. रोग की आरम्भिक अवस्था में स्थानीय उच्छेदन से लाभ हो सकता है. सामान्यतः आयोडाइड को दवा के रूप में खिलाने तथा रोगग्रस्त स्थान की एक्स-किरण चिकित्सा कराने की सलाह दी जाती है. रोग जब बहुत अधिक बढ़ जाता है तब पैर को काट कर निकाल देना आवश्यक हो जाता है. रोग की सामान्य अवस्था में पेनिसिलिन की 100,000 इकाई मात्रा को अंतःपेशी के रूप में देने से पर्याप्त नियंत्रण हो जाता है (Conant *et al.*, 179–190; Ainsworth, 38; Ghosh *et al.*, *Indian med. Gaz.*, 1950, 85, 288; 1952, 87, 257; Mitra, ibid., 1964, 81, 82).

राइनोस्पोरिडियोसिस

राइनोस्पोरिडियोसिस नाक, आँख और कान की श्लेष्मल झिल्ली का संक्रमण है और **राइनोस्पोरिडियम सीबेराई** (वरनिके) सीबर द्वारा उत्पन्न होता है. यह ग्रसनी, कंठ, जननेन्द्रियों और मलाशय में भी फैल सकता है. भारतवर्ष में यह रोग मध्य प्रदेश तथा महाराष्ट्र में विशेष रूप से पाया जाता है. घोड़े, गाय तथा खच्चरों का तो यह एक बड़ा गम्भीर रोग है. मनुष्यों में यह साधारणतः बच्चों और किशोरों में होता है और स्त्रियों की अपेक्षा पुरुषों में अधिक होता है. इसके संक्रमण का सामान्य स्थान नाक है. सूजन जब पूरी हो जाती है तो यह गोलाभ या गुल्म का रूप लेती है. आरम्भ में इसका उपचार ग्रस्त स्थान के आसपास की वृद्धि को थोड़ी स्वस्थ श्लेष्मल झिल्ली या त्वचा सहित काटकर निकाल देना है. जब रोग अधिक बढ़ जाता है तब उस स्थान को काट करके आसपास के स्थान को जला दिया जाता है और साथ ही 2 से 4 ग्रा. तक नियोस्टिबोसन (बायर) को शिरा-अंतःक्षेपण द्वारा रक्त में पहुँचाया जाता है. एक बार में 0.3 ग्रा. मात्रा का इंजेक्शन दिया जाता है (Conant *et al.*, 200–208; Allen & Dave, *Indian med. Gaz.*, 1936, 71, 376; Purandare & Deoras, *Indian J. med. Sci.*, 1953, 7, 603).

ब्लास्टोमाइकोसिस

ब्लास्टोमाइकोसिस एक दीर्घकालीन संक्रमण है जिससे शरीर में या शरीर के किसी भी भाग में पूय से युक्त तथा गोल दानेदार क्षत निकल सकते हैं, किन्तु ये त्वचा, फेफड़े और हड्डियों में विशेष रूप से अधिक निकलते हैं. यह रोग **ब्लास्टोमाइसीज डर्मेटिटाइडिस** गिलक्रिस्ट और स्टोक्स द्वारा उत्पन्न होता और उत्तरी अमेरिका में स्थानिक है. इसका दो प्रकार का संक्रमण ज्ञात है: दैहिक या प्रकीर्ण ब्लास्टोमाइकोसिस तथा त्वचीय ब्लास्टोमाइकोसिस. इस रोग के एक प्रकार में उत्तर प्रदेश में चेहरे, ऊपरी भुजा, पैर और पीठ पर वलयी क्षत निकलते देखे गये हैं (Conant *et al.*, 25–47; Panja, *Indian med. Gaz.*, 1925, 60, 475).

मोनीलिएसिस

यह सुपरिचित थ्रश है जो **कैंडिडा अल्बिकैंस** (रोबिन) द्वारा उत्पन्न होता है. यह एक तीव्र संक्रमण है जिसमें कवक मुख, त्वचा, नाखून (पेरोनाइकिया उत्पन्न करने वाला), श्वसनी या फेफड़े तथा योनि में क्षत उत्पन्न करता है. कभी-कभी यह कवक पूतिजीव-रक्तता या मस्तिष्कावरण शोथ भी उत्पन्न करता है. मुख का थ्रश बच्चों तथा अधिक आयु के लोगों में ही साधारणतः होता है और इस रोग में शरीर क्षीण हो जाता है. हाथों का क्षत गृहिणी, रोटी पकाने वालों, होटल के नौकरों, बेटरों आदि को होता है. इस रोग का कवक चबाने वाले दाँत के दन्त-क्षरण से प्राप्त किया गया है. पेरोनाइकिया रोग एक अन्य कवक, **कैं. पिनोयी** द्वारा होता है. इस रोग में जब मुख में क्षत हों तो क्षारीय विलयन से कुल्ला करना लाभप्रद होता है. श्वसनी-फुफ्फुसीय मोनीलिएसिस में पोटैसियम आयोडाइड के उपयोग से शीघ्र लाभ होता है. फुफ्फुसीय संक्रमण में जंगियन वायलेट के अंतःशिरीय क्षेपण द्वारा उपचार किया जाता है (Conant *et al.*, 126–148; Singh, *Indian med. Gaz.*, 1950, 85, 10; Bhat & Shetty, *Curr. Sci.*, 1946, 15, 228; Panja & Banerji, *Indian med. Gaz.*, 1950, 85, 137).

उष्णकटिबन्धी स्प्रू

मोनीलिया साइलोसिस डि अलमिडो (कैं. **अल्बिकैंस** के समरूप माना जाता है) उष्णकटिबन्धी स्प्रू के साथ पाया जाता है और आंत्र-मार्ग से संबंधित है. इसके मुख्य लक्षण अतिसार और रक्त अल्पता हैं. आधुनिक प्रयोगों से यह ज्ञात हुआ है कि स्प्रू पोषण सम्बंधी कमी के कारण होता है और मोनीलिया साइलोसिस द्वारा इसका संक्रमण गौण होता है (Ainsworth, 32; Wolf & Wolf, II, 379).

कोक्सीडिग्रॉइडोमाइकोसिस

कोक्सीडिग्रॉइडोमाइकोसिस एक संक्रामक रोग है जो **कोक्सीडिग्रॉइडिस इमिटिस** रिक्सफोर्ड और गिलक्रिस्ट द्वारा उत्पन्न होता है. संक्रमण दो प्रकार का होता है: (1) 'प्राथमिक' कोक्सीडिग्रॉइडोमाइकोसिस जिसमें रोग तीव्र किन्तु सुदम्य रूप में केवल श्वसन-तंत्र तक ही सीमित रहता है और (2) 'उन्नतिशील' कोक्सीडिग्रॉइडोमाइकोसिस जो एक चिरकारी दुर्दम और प्रसृत रोग है और जिसमें त्वचीय तथा अंतःत्वचीय और अस्थि-ऊतक रोग से आक्रान्त होते हैं. यह रोग ढोरों, भेड़ों और कुत्तों में अधिक होता है किन्तु इसका कोई प्रमाण नहीं है कि यह पशुओं से मनुष्यों में फैलता है. मनुष्यों में इसका संक्रमण वहिर्जात स्रोतों से होता है और अधिक संभावना यह जान पड़ती है कि यह संक्रमण उस मिट्टी के सम्पर्क से जिसमें ये कवक उपस्थित रहते हैं होता है. रोग हल्की प्लूरिसी की तरह के श्वसन-संक्रमण के रूप में प्रदर्शित होता है जिसमें रोगी को बहुत ठंडक लगती है और रात्रि में पसीना निकलता है. अरुचि, पीठ में दर्द, शरीर के भार का घटना और ज्वर होना इसके अन्य लक्षण हैं. इस रोग का एक दूसरा रूप भी है जिसमें चेहरे और गर्दन पर व्रणीय क्षत उत्पन्न होते हैं. प्राथमिक कोक्सीडिग्रॉइडोमाइकोसिस के रोगी को उस समय तक बराबर आराम से लेटे रहना चाहिए जब तक ताप, श्वेत रुधिर-कणिकाओं की गणना और अवसादन-दर सामान्य नहीं हो जाते. उन्नतिशील कोक्सीडिग्रॉइडोमाइकोसिस में किसी उपचार से लाभ नहीं होता (Conant *et al.*, 51–69; Ainsworth, 48; Wolf & Wolf, II, 367).

अन्य कवकों, सूक्ष्म जन्तुओं तथा नेमैटोड और कीटों के परजीवी कवक

परजीवी कवक

कुछ कवक अन्य कवकों पर आक्रमण करते हैं और इन कवकों में वे भी सम्मिलित हैं जो वनस्पतियों में रोग फैलाते हैं. अतः ऐसे कवकों का उपयोग उन कवकों को नष्ट करने में किया जा सकता है जो पौधों पर रोग फैलाते हैं. **डरलूकाफिलम** कैस्ट. कई धान्य रस्टों (किट्टों) पर परजीवी के रूप में निवास कर उन्हें नष्ट कर देता है. यह अधिक आर्द्रता (80–100%) की दशा में ही अच्छी तरह वृद्धि करता है किन्तु गेहूँ की बुवाई के समय ऐसी आर्द्र दशा न होने से गेहूँ के रस्ट का नियंत्रण इस कवक की सहायता से नहीं हो सकता (Wolf & Wolf, I, 390; Prasada, *Curr. Sci.*, 1948, **17**, 215).

अनेक कवक अमीवा और नेमैटोड कृमियों पर परजीवी हैं; रोटीफर तथा अन्य सूक्ष्मदर्शी जन्तु भी कवकों के शिकार होते हैं. लगभग सभी जन्तु-परजीवी कवक **जूपैगेसी** (जाइगोमाइसिटीज़ और **मोनीलियेसी** (फंजाई इम्परफेक्टाई) कुल के अन्तर्गत रखे जाते है; कुछ जातियाँ **फाइकोमाइसिटीज** कुल की भी रहती हैं. जन्तु परजीवी कवक प्रकृति में व्यापक रूप से फैले हुए हैं और पर्ण-फफूँदी, विगलित हो रही लकड़ी तथा सड़ रहे वनस्पति अवशेष और मिट्टी तथा गोबर में पाये जाते हैं. **जूपैगेसी** कुल के सदस्य साधारणतः अंतःजंतुक और जन्तु-शिकारी प्रकार के होते हैं. अंतःजंतुक कवक मुख्य रूप से प्रोटैज़ोआ श्रेणी के जन्तुओं पर आक्रमण करते हैं; इन कवकों के स्पोर या तो परपोषी पर, जब वे इधर-उधर चलते हैं चिपक जाते हैं या परपोषी के भीतर प्रवेश कर जाते हैं. जन्तु-शिकारी कवक साधारणतः भूम्याश्रयी अमीबा पर निवास करके उन्हें अपना आहार बनाते हैं किन्तु कुछ अधिक बड़े कवक सर्पमीन कृमियों को पकड़ लेते हैं. इनके कवकजाल से एक चिपचिपा स्राव निकलता है जिससे ये कवक सर्पमीन कृमियों को पकड़ते हैं. इस प्रकार कवक-जाल द्वारा पकड़ लिए गये जन्तुओं के शरीर से पोषक तत्वों को कवक अपने चूषकांग द्वारा शोषित कर लेता है. **मोनीलियेसी** कुल के अधिकांश जन्तु-परजीवी कवक नेमैटोड कृमियों पर आक्रमण करते हैं. **आर्थोबाट्रिस, डैक्टाइलेला** जातियाँ, **डैक्टाइलैरिया** जातियाँ साधारणतः इनमें प्रमुख हैं. ये कवक विभिन्न संरचनात्मक तथा कायिकी परिवर्तन दर्शाते हैं जिस कारण ये शिकार पकड़ने में पटु होते हैं. शिकार पकड़ने के ये अंग चिपकने वाले कवक-तन्तु कुंडल रूप या जाल रूप, चिपकने वाले घुंडी रूप या शाखा रूप अथवा कवक-तन्तु के संकीर्णन-हीन वलय रूप हो सकते हैं जिनमें सर्पमीन कृमि एक बार भीतर पहुँचकर निकलने के प्रयत्न में स्वयं अधिक फँस जाते हैं. ये संकीर्णन-युक्त वलय रूप के भी हो सकते हैं जिनकी कोशिकायें स्पर्श उद्दीपन के प्रति बड़ी संवेदी होती हैं और उनमें फूलने का गुण होता है जिसके फलस्वरूप उत्पन्न संकीर्णन द्वारा सर्पमीन कृमि पकड़ लिए जाते हैं. जब पकड़ा गया शिकार मर जाता है तब उसके मृत शरीर के चारों ओर कवक-तन्तु फैल जाते हैं और मृत-शरीर के पोषक तत्वों को शोषित कर लेते हैं (Drechsler, *Biol. Rev.*, 1941, **16**, 265; Duddington, *Bot. Rev.*, 1955, **21**, 377).

कीटजीवी कवक अपनी भोजन की आदतों में काफी भिन्नता प्रकट करते हैं. कुछ केवल जीवित कीट का उपभोग करते हैं, किन्तु अन्य पूर्ण रूप से अपमार्जक की तरह जीवन व्यतीत करते हैं. **एम्पूसा मूसी** कोह्न व्यापक रूप से पाया जाता है और गृह-मक्खी पर परजीवी होता है. हरा मस्कैरिडीन कवक, **मेटारीजियम एनाइसोप्ली** सोरोकिन बम्बई और मद्रास में ईख की पत्ती को हानि पहुँचाने वाले फढ़ुआ कीट के नियंत्रण में प्रयुक्त होता है. **ऐस्पर्जिलस फ्लैवस** लिंक मरुभूमि की टिड्डियों, **सिस्टोसरका ग्रेगैरिया** फोर्सकल, के लिए रोगजनक है (Kamat *et al.*, *Curr. Sci.*, 1952, **21**, 317; Misra, ibid., 1952, **21**, 225).

खाद्य कवक

कुछ कवक प्राचीन समय से खाद्य सामग्री माने जाते रहे हैं. खाद्य कवक स्वाद में अच्छे होते हैं और इनका उपयोग प्रायः भोजन को सुस्वादु और आकर्षक बनाने में होता है.

अनेक खाद्य कवक भारतवर्ष में जंगली रूप में उगते हैं. ये अधिकतर वर्षा के दिनों में दिखलाई देते हैं और पहाड़ तथा पहाड़ के नीचे के जंगलों में मरी और सड़ी हुई वनस्पतियों के ढेरों पर अथवा जन्तुओं के मृत अवशेषों पर उगे हुये पाये जाते हैं. कुछ स्वादिष्ट कवकों की जातियाँ पहाड़ी में बर्फ के नीचे उगती हैं, जैसे मोरेल; कुछ जातियाँ मैदानी क्षेत्रों

में तथा मरुभूमि में भी सामान्य रूप से पायी जाती हैं. यूरोप और अमेरिका की भाँति भारत में खाद्य छत्रकों का संवर्धन बड़ी मात्रा में नहीं किया जाता.

भारतवर्ष में पाये जाने वाले कुछ महत्वपूर्ण खाद्य छत्रकों का रासायनिक संघटन सारणी 1 में दिया गया है. पोषक गुणों में ताजे छत्रक ताज़ी तरकारियों के समान होते हैं. कुछ छत्रकों में फोलिक अम्ल बड़ी मात्रा में रहता है जिसके कारण इनका उपयोग रक्त-अल्पता के उपचार में किया जाता है. **ऐगैरिकस कैम्पैस्ट्रिस, कैन्थैरेलस सिबेरियस, मार्केला एस्कुलेंटा,** और **बोलिटस एडुलिस** को खिलाकर किये गये परीक्षण से पता चला है कि स्वस्थ मनुष्य के सन्तुलित भोजन में प्रत्येक छत्रक की 100–200 ग्रा. (शुष्क पदार्थ का भार) मात्रा प्रतिदिन भोजन में होनी चाहिए. छत्रकों में जितना नाइट्रोजन होता है उसका लगभग 72–83% पाच्य प्रोटीन के रूप में रहता है. इनमें उपस्थित कार्बोहाइड्रेट में ट्रिहैलोस रहता है जो जल-अपघटित होकर अन्त में मैनिटॉल उत्पन्न करता है (Thorpe, VIII, 252; *Bull. cent. Fd Technol. Res. Inst., Mysore*, 1955, 4, 267, McKenny, *J.N.Y. bot. Gdn*, 1946, **47**, 161; *Chem. Abstr.*, 1931, **25**, 4321; 1944, 38, 4979).

अधिकांश छत्रक **ऐगैरिकेसी** कुल (वर्ग **बैसिडियोमाइसिटीज़**) के सदस्य हैं; कुछ **ऐस्कोमाइसिटीज़** हैं. ऐगैरिकेसी कुल के सदस्यों में छाते के आकार की फलिकायें होती हैं जिनमें एक डंठल होता है और ऊपर एक टोपी सी होती है. टोपी की निचली सतह पर झिल्लीदार गिलें होती हैं जो केन्द्र से किनारों की ओर निकली होती हैं. यह झिल्ली बाद में फल की वृद्धि और उसके फलन होने पर फट जाती है और एक प्याले या अधोवेष्ठन के रूप में डंठल के आधार पर लटकती रहती है. नई निकली टोपियाँ भी कभी-कभी झिल्लियों से आवृत रहती है जो बाद में फल की पूर्ण वृद्धि होने पर फट जाती हैं और आधार पर वलय के आकार में बची रहती हैं. विकसित फलों में स्पोर उत्पन्न होने के कारण गिलों का रंग प्रायः बदल जाता है और वह रंग विभिन्न जातियों में भिन्न-भिन्न होता है.

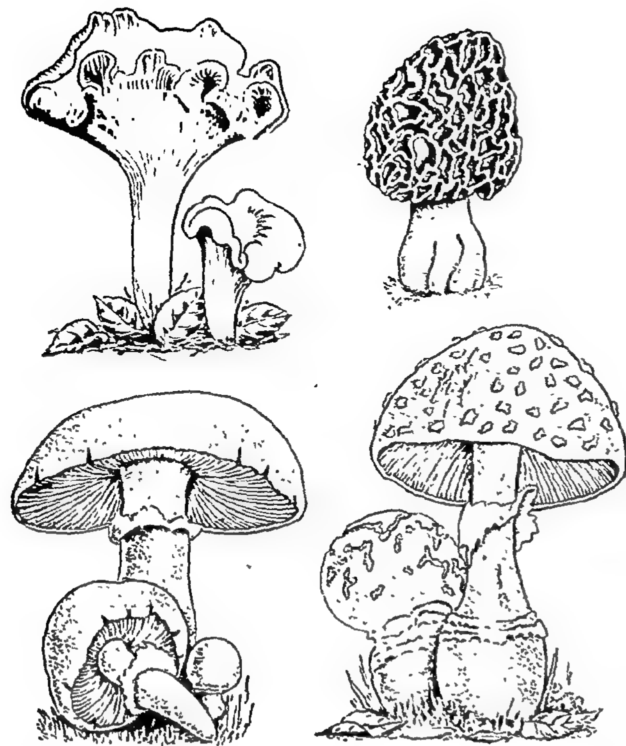
सारणी 1 – कुछ भारतीय खाद्य छत्रकों का रासायनिक संघटन %

	जल	प्रोटीन	कार्बोहाइड्रेट	वसा	राख
ऐगैरिकस कम्पैस्ट्रिस[1]	95·2	2·74	1·6	0·37	0·15
कालोबिया ऐल्बूमिनोसा[1] (शुष्क अवस्था)	..	12·8	14·8	सूक्ष्म	..
हाइडनम रिपैंडम[2]	92·68	1·79	3·41	0·23	0·69
लेण्टिनस एक्साइलिस[3]	71·71	4·52	21·97	0·60	1·20
ले. स्क्वैरोसुलसस[3]	70·77	2·44	24·24	0·99	1·56
लेपियोटा सिपेस्टीपेस[3]	79·19	4·18	13·38	0·06	2·02
लाइकोपरडम जाति[1]	93·85	2·2	1·35	0·56	0·92
मार्केला एस्कुलेंटा[2]	89·07	3·59	5·73	0·27	1·34
प्ल्यूरोटस ओस्ट्रिएटस[2]	73·70	3·94	19·92	0·84	1·60
पालीपोरस सल्फ्यूरियस[2]	70·80	6·00	20·14	0·93	2·13
वाल्वैरिया टेरैस्ट्रिया[1] (शुष्क अवस्था)	..	2·28	सूक्ष्म	0·18	..

[1]Bose, *Agric. J. India*, 1921, 16, 643; [2]Winton & Winton, II, 32, 36, 37, 41; [3]Adriano & Cruz, *Philipp. J. Agric.*, 1933, 4, 1.

कुछ खाद्य छत्रकों का वर्णन निम्नांकित प्रकार हैं: **ऐगैरिकस कैम्पैस्ट्रिस** लिनिअस सिन. **सैलिओटा कैम्पैस्ट्रिस** (लिनिअस) क्वेज़, (फील्ड मशरूम; खुंबी; बं.–बांगेरछाता; ते.–कुक्कागोडुग; पं.–खुंब) भारत के अनेक प्रदेशों, विशेपतया पहाड़ों और उत्तर तथा पूर्वी भारत के मैदानों में उपजता है. वर्षा ऋतु में यह क्षयित कार्बनिक पदार्थों, जैसे सड़ी-गली पत्तियों, या खाद के ढेर पर उगता है. इसका वृन्त सफेद, चिकना और किंचित छोटा होता है जिसके मध्य में या शीर्ष के पास एक पतला वलय होता है. छत्र प्रारम्भ में गोल होता है परन्तु कुछ समय बाद उत्तल और अंत में बहुत कुछ चपटा हो जाता है. "बटन" अवस्था में गिल कुछ-कुछ सफेद होते हैं. परन्तु छत्र के खुलने के साथ इनका रंग गुलाबी और बाद में गहरा नील-लोहित भूरा या काला हो जाता है.

खुंबी के कृत्रिम संवर्धन के लिये सबसे उपयुक्त समय मैदानों में अगस्त से मार्च तक और पहाड़ों पर मार्च से अक्टूबर तक है. शीतल जलवायु में वर्ष-भर इनकी खेती बंद सायबानों या तहखानों में की जा सकती है; परन्तु इसके लिये यथेष्ठ ताप-नियंत्रण आवश्यक है. इसके बीजाणु पहले पोषक क्यारियों में बो दिये जाते हैं. कुछ समय बाद नन्हें-नन्हें सफेद रुई के से अंकुरों से क्यारियाँ भर जाती हैं. अंकुरों के समूह को, जलांडक कहते हैं. इन जलांडकों को पोषक क्यारियों से निकाल कर नई क्यारियों में लगाना पड़ता है. क्यारियाँ तैयार करने के लिये ऐसे अस्तबलों से इकट्ठी की गई लीद, जहाँ घोड़ों को खाद्य के रूप में गेहूँ का भूसा प्रचुर मात्रा में दिया जाता है, सर्वोत्तम है. इस कार्य के लिये कई प्रकार की संश्लिष्ट कम्पोस्ट भी तैयार की गई है. घोड़े की लीद को किण्वन के पश्चात्, जब ताप घट कर 32–27° तक आ जाता है, तब जलांडकों के छोटे वर्गाकार टुकड़े पोषक क्यारियों से निकाल कर ऐसी क्यारियों में जमा दिए जाते हैं जिनमें कम्पोस्ट खाद के ऊपर दुमट मिट्टी की एक तह लगी होती है. अब प्रत्येक दूसरे दिन हल्की सिंचाई की जाती है. 4–10 सप्ताह में "बटन" निकल आते हैं. तुरन्त बनाई गयी क्यारियों में काफी अच्छी फसल होती है परन्तु समय के साथ उत्पादन-क्षमता घटने लगती है. प्रति सप्ताह दो बार द्रव खाद के प्रयोग से इन्हें पुनः उद्दीपित किया जा सकता है और इस प्रकार 6–8 माह तक उत्पादकता बनायी रखी जा सकती है. खेती के लिये ताप नियंत्रण अत्यावश्यक है. दिन और रात के ताप में बहुत अधिक अंतर नहीं होना चाहिये; हर समय ताप 10–12·8° के बीच बनाये रखना चाहिये. संयुक्त राज्य अमेरिका में प्रति वर्ग मी. क्यारी से 1–1·5 किग्रा. तक ताज़े छत्रकों की उपज हो जाती है (McRae, *Agric. J. India*, 1910, 5, 197; Bose & Bose, *Sci. & Cult.*, 1940–41, 6, 141; Gollan, 48;



चित्र 11 – खाद्य तथा विषैले छत्रक
ऊपर: कैन्थैरेलस सिबेरियस, मार्केला एस्कुलेंटा
नीचे: ऐगैरिकस कैम्पैस्ट्रिस, ऐमनिटा फैलॉयडीस

Padwick, *Indian Fmg.*, 1941, **2**, 363; Schery, 537; Stoller, *Econ. Bot.*, 1954, **8**, 48).

खुम्बी ताज़ी या सुखाकर दोनों ही तरह से पकाई जाती है. डंठल सहित छत्रकों को प्रौढ़ होने के पूर्व ही तोड़ लिया जाता है, पानी से अच्छी तरह धोकर इनके छोटे टुकड़े काट लिये जाते हैं और धूप में सुखा लिया जाता है.

खुंबी का रासायनिक संघटन सारणी 1 में दिया गया है. इसमें खनिजों का संघटन इस प्रकार होता है: कैल्सियम, 0·002; फॉस्फोरस, 0·15 तथा पोटैसियम, 0·5%; कुल लोहा 19·5 अंश तथा उपलब्ध लोहा 5.95 अंश प्रति दस लाख अंश; ताँबा 1·35 अंश प्रति दस लाख अंश; आयोडीन, 130–230 माग्रा./किग्रा. इसकी राख क्षारीय होती है और उसमें पोटैसियम लवणों तथा फॉस्फेटों की प्रधानता होती है. खुंबी, बी. काम्प्लेक्स के विटामिनों का आदर्श स्रोत है. इसमें इन विटामिनों की मात्रा इस प्रकार है: निकोटिनिक अम्ल, 5·85; राइबोफ्लैविन, 0·52; पैंटोथेनिक अम्ल, 2·38; बायोटिन, 0·018; तथा थायमीन, 0·12 मिग्रा./100 ग्रा. ये विटामिन, खुंबी के पकाये जाने पर भी सुरक्षित रहते हैं. इसमें विटामिन सी (8·6 मिग्रा./100 ग्रा.), विटामिन के और विटामिन डी (0·63 अं. यू./ग्रा.) भी अच्छी मात्रा में रहते हैं (Jacobs, II, 1341; Iodine Content of Foods, 80; Anderson & Fellers, *Proc. Amer. Soc. hort. Sci.*, 1942, **41**, 301; *Chem. Abstr.*, 1935, **29**, 7401).

खुंबी में मिलने वाले एंज़ाइम हैं: ऐमिलेस, माल्टेस, ग्लाइकोजनेस, प्रोटिएस, कैटालेस, टाइरोसिनेस, दो फॉस्फो-मोनोएस्टरेस, दो पॉलीफॉस्फेटेस और पॉलीफीनोल आक्सीडेस. इनके अतिरिक्त डिहाइड्रोपेप्टाइडेस I और II भी रहते हैं. प्रोटीन अपघटक एंज़ाइमों की उपस्थिति के कारण खुंबी का रस माँस को नरम बनाने के लिये प्रयुक्त किया जा सकता है (Jacobs, II, 1343; Tauber, 411, Winton & Winton, II, 42; *Chem. Abstr.*, 1943, **37**, 6281; 1948, **42**, 4622; 1949, **43**, 1502).

संपूरकों के साथ, प्रोटीन स्रोत के रूप में खुंबी का संतोषजनक उपयोग किया जा सकता है. गेहूँ में पाये जाने वाले ग्लायडिन या जौ में पाये जाने वाले हार्डिन की तरह खुंबी का प्रोटीन भी कुछ अंशों में अपूर्ण होता है. सभी अनिवार्य ऐमीनो अम्लों के उपस्थित रहने पर भी ट्रिप्टोफेन की मात्रा विशेष रूप से कम होती है (Anderson & Fellers, loc. cit.; *Chem. Abstr.*, 1947, 41, 5653; Stoller, loc. cit.).

कैन्थैरेलस सिबेरियस फ्रीज (चैंटरेल; पंजाब–चिगरी; संथाल–सिमोट) एक छोटा हल्का पीला, 5–7·5 सेंमी. मोटा और लगभग इतना ही ऊँचा कवक है जो उत्तर और पूर्व भारत के पर्वतों के निचले क्षेत्रों में, अधिकतर बलुई या अदृढ मिट्टी पर सड़ी-गली वनस्पतियों पर, बसंत ऋतु में उपजता है. इसका छत्र प्रारम्भ में उत्तल, फिर चपटा और अंत में कुछ दबा-सा या कीप के आकार का होता है, जिसके किनारे लहरदार होते हैं, वृन्त और छत्र का विभाजन बहुत स्पष्ट नहीं होता. वृन्त नीचे की ओर पतला होता जाता है. गिल मोटे, गोल और छिछले होते हैं. ये शिराओं जैसे दिखते हैं. ये शिरायें कई स्थानों पर दो भागों में बँटी होती हैं, जो आपस में अक्सर क्रॉस शिराओं द्वारा जुड़ी होती हैं (*Bull. Minist. Agric., Lond.*, No. 23, 1947, 34; Hennings, *Hedwigia*, 1901, **40**, 328; Bose & Bose, *Sci. & Cult.*, 1940–41, **6**, 141).

ताजा या सुखाया हुआ दोनों ही प्रकार का चैंटरेल पकाने के काम आता है और उपास्थि जैसे ऊतकों के कारण स्वादिष्ट होता है. ताजे चैंटरेल में विटामिनों की मात्रा इस प्रकार है: थायमीन, 3 अं. यू.; राइबोफ्लैविन, 160γ; ऐस्कॉर्बिक अम्ल, 16·4 मिग्रा.; तथा विटामिन डी, 83 अं. यू./100 ग्रा. ताजे चैंटरेल में प्रति किग्रा. 19 माग्रा. आयोडीन भी रहता है. **कै. ऑरैण्टिएकस** फ्रीज़ एक ऐसी जाति है जो खाद्य होने पर भी स्वास्थ्यप्रद नहीं समझी जाती है (*Chem. Abstr.*, 1941, **35**, 3720; 1935, **29**, 7401; Iodine Content of Foods, 80; Bose & Bose, loc. cit.).

वोल्वेरिया डिप्लेसिया बर्कले और ब्राउन (स्ट्रॉ मशरूम) भी बंगाल और तमिलनाडु में पैदा होने वाला खाद्य छत्रक है. इसका वृन्त 6–12·5 सेंमी. लम्बा, सफेद, गाँठदार आधार वाला परन्तु ऊपर की ओर किंचित कमजोर होता है. छत्र कम आयु में घंटाकार परन्तु बाद में फैल कर कुछ ढाल के आकार का हो जाता है जिसके किनारे आरे के समान दाँत वाले होते हैं, गिल स्वतंत्र परन्तु बहुत अधिक पास-पास होते हैं. गिलों का रंग सफेद होता है जो बाद में हल्का पीला हो

जाता है. यह छत्रक नरम और सुस्वादु होता है. यह वर्षा ऋतु में सड़े-गले तिनकों पर उपजता है. ब्रह्मा में इसकी खेती की जाती है. इसके जलांडक नियंत्रित परिस्थितियों में तैयार किये जाते हैं. मद्रास में भी कृत्रिम परिस्थितियों में इसकी खेती के प्रयास किये गये हैं. 90–120 सेंमी. × 20–25 सेंमी. आकार के धान के तिनकों के ढेर को 24 घंटे तक पानी में भीगने दिया जाता है, फिर ऐसे 4–5 तिनकों को पंक्ति में इस प्रकार रखा जाता है कि सबके सिरे एक ही दिशा में रहें. इनके ऊपर इतने ही तिनके और रखे जाते हैं किन्तु इनके सिरे नीचे वाले तिनकों की ठीक उल्टी दिशा में होते हैं. इस प्रकार क्यारी की एक तह तैयार होती है. जलांडक के छोटे छोटे टुकड़े इस तह पर रख दिये जाते हैं और उन पर दाल छिड़क दी जाती है. इसी प्रकार एक के ऊपर एक चार तहें तिनकों की तैयार की जाती हैं और प्रत्येक तह पर जलांडक के छोटे छोटे टुकड़े रख कर दाल छिड़क दी जाती है. इस क्यारी को दबाकर सुगठित और घनाकार बना दिया जाता है. प्रतिदिन एक या दो बार सिंचाई की जाती है. 15–20 दिन बाद छत्रक निकलने लगते हैं और फिर तो 4–5 दिन तक लगातार नये छत्रक निकलते रहते हैं. ऐसी प्रत्येक क्यारी से 2·7–4·5 किग्रा. ताजे छत्रक प्राप्त होते हैं (Bose, *J. Asiat. Soc. Beng., N.S.*, 1920, **16**, 347; Seth, *Indian Fmg*, 1944, **5**, 520; Su & Seth, ibid., 1940, **1**, 332; Thomas *et al.*, *Madras agric. J.*, 1943, **31**, 57).

वो. टेरेस्ट्रिस बर्कले और ब्राउन (संथाल–बासुप ओत) भी बंगाल में सड़े-गले तिनकों के ढेर पर उपजता है. यह भी खाद्य है (Bose, *Agric. J. India*, 1921, **16**, 643; Bose & Bose, loc. cit.).

लाइकोपरडम बोविस्टा फ्रीज सिन. **ला. जाइगैंटियम** बाट्श (अंग्रेजी–जायंट पफबाल; पंजाब–ग्रोएनफल; संथाल–हारपुटका) एक बड़ा, क्रीम-श्वेत, चपटा, अंडाकार या कद्दू की आकृति का कवक है जो उत्तर भारत के मैदानों में उपजता है. यह कवक जाल के मोटे, रस्सी की तरह बटे हुए धागों के समूह द्वारा मिट्टी में अच्छी तरह स्थिर होता है.

ये छत्रक ग्रीष्मकालीन वर्षा के कुछ दिनों बाद, खाद के गड्ढों, चरागाहों, पार्कों या वृक्षों और झाड़ियों के नीचे उपजने लगते हैं. ये केवल नव अवस्था में ही अंदर के सफेद भाग के पीला पड़ने से पूर्व खाद्य होते हैं. खाद्य के रूप में भारत में ये बहुत अधिक लोकप्रिय नहीं हैं परन्तु अन्य देशों में पनीर की तरह नरम होने के कारण काफी सुस्वादु समझे जाते हैं. कभी ये ब्रिटेन में रक्तस्राव अवरोधक के रूप में प्रयुक्त होते थे (Currey, *Trans. Linn. Soc., Lond.*, II, *Ser., Bot.*, 1874, **1**, 119; *Bull. Minist. Agric., Lond.*, No. 23, 1947, 38; Burkill, II, 1375).

भारत में होने वाले लाइकोपर्डम जाति के अन्य खाद्य छत्रक हैं: **ला. गेमैटम** बाट्श, **ला. पीरीफार्मे** और **ला. सैकेटम** बाल. ताजे **ला. गेमैटम** में विटामिन सी की मात्रा 11 मिग्रा./100 ग्रा. होती है (Bose & Bose, loc. cit.; *Chem. Abstr.*, 1947, **41**, 3172).

मार्केला ऐस्कुलेंटा (लिनिअस) पर्सून (अंग्रेजी–मोरेल; मधुकोष छत्रक; पंजाब–गुच्छी) ऐस्कोमाइसिटीज जाति का छत्रक है, जो कश्मीर, पंजाब के कुछ भाग एवं नैनीताल में



चित्र 12 – वोल्वेरिया डिप्लेसिया

पैदा होता है. इसका वृन्त सफेद, मोटा, सीधा और शुंडाकार होता है. पीत-भूरा या जैतूनी रंग का छत्रक गोल या शंक्वाकार होता है, जिसके ऊपर अनेक कटक रेखायें होती हैं. यह पहाड़ी जंगलों में, हिम पिघल जाने के बाद, सड़ी-गली वनस्पतियों पर, मई से अगस्त के बीच पैदा होता है. कश्मीर से पर्याप्त मात्रा में सुखाई हुई गुच्छी भारत के अन्य प्रदेशों को भेजी जाती है (*Bull. Minist. Agric., Lond.*, No. 23, 1947, 44; Fotidar, private communication).

ताजी या सुखाई हुई, दोनों ही प्रकार की गुच्छी खाने के काम आती है. हरी गुच्छी में कीड़े पड़ने का भय रहता है, अतः बाजारों में सुखायी हुई गुच्छी ही बिकती है. इसका रासायनिक संघटन सारणी 1 में दिया हुआ है. इसकी राख में कैल्सियम (CaO), 3·92; लोहा (Fe_2O_3), 6·68; तथा फॉस्फोरस (P_2O_5), 22·82% रहते हैं (Winton & Winton, II, 32).

ट्यूबर जातियाँ (ट्रफिल) के छत्रक भी ऐस्कोमाइसिटीज जाति के ही हैं जो भूमिगत फलन के कारण अन्य छत्रकों से भिन्न हैं. **ट्यूबर काइबेरियम** सिवथार्प कश्मीर और काँगड़ा में पैदा होता है और कभी-कभी इन्हीं स्थानों में खाने के काम आता है. सफेद और काले, दो प्रकार के ट्रफिल पश्चिमी बंगाल के बाँकुड़ा नामक स्थान में बहुतायत से पैदा होते हैं और साल वृक्षों के नीचे की मिट्टी खोद कर निकाले जाते हैं (Stewart, 268).

भारत में पैदा होने वाले अन्य खाद्य छत्रक निम्नलिखित हैं: **हाइमेनोमाइसिटीज : आरमिलेरिया मेलिया** (वाल) फ्रीज; **बोलेटस**

जाति; **क्लैवेरिया फ्यूज़ीफार्मिस** सोवरबी; **क्लै. स्ट्रिक्टा** पर्सून, **कोलीबिया ऐलब्यूमिनोसा** (बर्कले) पेच; **क्लै. वेलूटिपीज** (डब्लू. कुर्टिस एक्स फ्रीज़) क्वेल.; **कोप्रिनस कोमैटस** फ्रीज़, **को. नीवियस** फ्रीज़; **क्रैंटेरेलस कोर्नुकोपिग्रायडीस** (लिनिग्रस) पर्सून; **एण्टोलोमा माइक्रोकार्पम** बर्कले और ब्राउन; **फैवोलस स्पैथुलैटस** (जंघून) ब्रेसलर; **फिस्टुलिना-हेपैटिका** फ्रीज़; **फोमेस पैंचीपलीयस** पैट.; **हाइडनम कोरैलायडीस** स्कापोली; **हा. एरीनेकियस** बुल; **हा. रेपैण्डम** लिनिग्रस; **हाइपोज़ाइलम वेर्नीकोसम** श्वाइनिट्ज़; **लैक्टेरियस डेलीकिग्रोसस** एस. एफ. ग्रे; **लेण्टिनस एक्साइलिस** क्लाट्श्च; **ले. प्रेरीगिडस** बर्कले; **ले. साजोरकाजू** फ्रीज; **ले. स्क्वैरोसलसस**; **ले. सबन्यूडस** बर्कले; **लेपिग्रोटा केपीस्टाइप्स** सावरबी; **ले. मैसटोइडिया** फ्रीज, **ले. प्रोसेरा** (स्कापोली) सक्कारडो; **पैनीग्रोलस सायनैसेंस** बर्कले और ब्राउन; **प्लायरोटस क्रेटैसियस** मसी, **प्ला. श्रौसट्रिएटस** (जैक्विन) फ्रीज; **पोलिपोरस ग्रैमोसिफैलस** बर्कले; **पो. सल्फ्यूरियस** (बुल) फ्रीज, **पोलिस्टिक्टस सैंगिनियस** (लिनिग्रस) मेयर; और **शिज़ोफाइलस कोम्यून** फ्रीज. **गैस्टेरोमाइसिटीज़: बोविस्टा जाइगैंटिया** गियस्टर जाति; **मेलनोगैस्टर ड्यूरीसिमस; पोडैक्सोन कैलिप्ट्रेप्स** फ्रीज, **पो. पिस्टिलैरिस** (लिनिग्रस) फ्रीज; **स्क्लेरोडर्मा ग्रॉरेंटियम** पर्सून, **स्क्ले. वेरूकोसम** (बुल) पर्सून (Bose, *Agric. J. India*, 1921, **16**, 643; *J. Asiat. Soc. Beng., N.S.*, 1920, **16**, 350; Bose & Bose, loc. cit.; Bose, private communication; Mendoza, *Philipp. J. Sci.*, 1938, **65**, 1; Adriano & Cruz, *Philipp. J. Agric.*, 1933, **4**, 1; Burkill, I, 997, 1022; II, 1328, 1331, 1772, 1794, 1796, 1976, 1983).

विषैले कवक

विषैले कवकों की संख्या बहुत ही कम है. वाह्य रूप, रंग आदि में कुछ विषैले कवक खाद्य कवकों की ही भाँति होते हैं; अतः देखने मात्र से इनकी पहिचान कर पाना सरल नहीं है. सुरक्षा की दृष्टि से, पूरी जानकारी किये बिना किसी भी कवक को नहीं खाना चाहिए. छत्रकों का विषैलापन पकाने से या नमक और सिरके में भिगोने से समाप्त हो जाता है. सुखाने से भी विषैलापन कम हो जाता है. **एमनिटा फैलॉयडीस** जिसे मृत्यु-छत्र (डेथ कैप) कहते हैं, एक ग्राम, विषैला छत्रक है जो विषैले छत्रकों के खाने से होने वाली 90% से अधिक मौतों के लिए उत्तरदायी है. असम में विषैले पदार्थों के खाने से होने वाली बहुत सी मृत्युओं का कारण भी यही छत्रक माना जाता है. इस छत्रक के लगभग 11.25 सेंमी. लम्बे वृन्त का रंग सफेद सा होता है जो अक्सर पीला या हरापन लिये हुए होता है. इसका सफेद या हल्के हरे रंग का वलय स्पष्ट और बड़े प्रकार का होता है. सफेद पीत-हरा या कुछ भूरे रंग के गूदेदार छत्र का आकार प्रारम्भ में अर्धगोल होता है जो बाद में चपटा हो जाता है. गिल बहुत पास-पास और सफेद रंग के होते हैं जिनसे अक्सर हरी या पीली आभा निकलती है (Ainsworth, 84; Seal *et al.*, *Indian med. Gaz.*, 1951, **86**, 514; Ramsbottom, 16).

ऐ. फैलॉयडीस के विषैलेपन का कारण इसमें उपस्थित कुछ रासायनिक यौगिक हैं जिनके नाम हैं: फैलॉयडीन ($C_{30}H_{39}O_9N_7S$; ग. बि., 255–58° अपघटन हो जाता है, घातक खुराक 40–50 γ प्रति चूहा), ऐल्फा ऐमैनिटिन (ग. बि., 254–55° अपघटन हो जाता है, घातक खुराक 2.5 γ प्रति चूहा) तथा β ऐमैनिटिन (300° से अधिक ताप पर अपघटित हो जाता है; घातक खुराक 8–10 γ प्रति चूहा). इनके अतिरिक्त इसमें एक तापपरिवर्ती हेमोलाइसिन, फैलिन, होता है. फैलॉयड्रीन एक पेप्टाइड है जो यकृत के लिये विषैला है (Heilbron & Bunbury, **1**, 60; Thorpe, VIII, 246; *Chem. Abstr.*, 1950, **44**, 1156; 1948, **42**, 8963; 1939, **33**, 7379).

ऐ. मुस्कैरिया पर्सून (फ्लाई एगैरिक) भी एक ग्राम विषैला छत्रक है जो लगभग 20–25 सेंमी. ऊँचा होता है और मध्यम ऊँचाइयों पर जंगलों में उगता है. इसका 15–20 सेंमी. व्यास का सिंदूरी या नारंगी लाल छत्र लसलसा और चमकदार होता है और उसके ऊपर चौड़े सफेद या कुछ पीले, मस्से की तरह के धब्बे होते हैं. वृन्त सफेद या कुछ पीला, दृढ़, सीधा, अक्सर थोड़ा शल्की या थोड़ा पीलापन लिये हुये, मोटे और दंतुर किनारों वाले होते हैं (Ramsbottom, 20; *Bull. Minist. Agric., Lond.*, No. 23, 1947, 50; Seal *et al.*, loc. cit.).

रूस के कुछ प्रदेशों में यह कवक मादक पेयों के बनाने तथा मक्खी मारने वाले विष के रूप में प्रयुक्त किया जाता है. इसमें तीन विषैले तत्व होते हैं, जिनके नाम हैं: कोलिन, मुस्कैरीन ($C_8H_{19}O_3N$) और माइसेटोएट्रोपीन (मुस्केरिडीन). कोलिन काफी अधिक मात्रा में होता है और खाने के बाद प्रकट होने वाले जठरांत्र लक्षणों के लिये संभवतः यही उत्तरदायी हैं (Ramsbottom, 21; Hill, 283; U.S.D., 1526; Henry, 658; Seal *et al.*, loc. cit.).

भारतवर्ष के कुछ अन्य कम महत्वपूर्ण विषैले कवक हैं: **रसुला एमेटिका** (शैफर) फ्रीज़, जो खासी पहाड़ियों और दार्जिलिंग में पैदा होता है. इसे खाने से जठरांत्रिक विकार उत्पन्न हो जाते हैं जिसके कारण मिचली, वमन और अतिसार आदि की शिकायतें हो जाती हैं. इसमें मुस्कैरीन होता है. **गाइरोमित्रा एस्कुलेंटा** (पर्सून) फ्रीज के कारण पहले उदर संबंधी रोग हो जाते हैं और बाद में पीलिया. इसके विषैले प्रभाव का कारण हेल्वेलिक अम्ल समझा जाता है, जो लाल रक्त कणिकाओं पर आक्रमण करता है; इसकी चिकित्सा रक्त-संचरण द्वारा की जा सकती है. **पेनीओलस** जाति का आक्रमण प्रमस्तिष्क पर होता है जिसके कारण चलने में लड़खड़ाहट पैदा हो जाती है और दृष्टि भी प्रभावित हो जाती है. **स्ट्रोफेरिया सेमीग्लोबेटा** (बाट्श) क्वेल खासी पहाड़ियों में उपजता है. **हाइफोलोमा फैसीक्यूलेयर** (हडसन) फ्रीज दार्जिलिंग और शिमला में; **लैक्टेरियस वेलेरियस** फ्रीज़ सिक्किम में; **डिक्ट्योफोरा फैलॉयडिया** डेस्वो सिक्किम, खासी पहाड़ियाँ, उत्तरी बंगाल और महाराष्ट्र में उपजता है. दो अन्य किस्में, **लेपिग्रोटा क्रिस्टेटा** (ऐल्बेनो और श्वार्टनिट्ज़) फ्रीज और **मेरेस्मियस यूरेन्स** फ्रीज़ हैं (Bose & Bose, loc. cit.; Ramsbottom, 31; Chopra *et al.*, 71; Burkill, I, 804).

उद्योग और कवक

अनेक कवकों का उपयोग खाद्य उद्योगों में तथा कुछ अन्यों का कार्बनिक अम्लों और एंज़ाइमों के उत्पादन में किया जाता है.

कुछ जातियाँ खाद्य पदार्थों को नष्ट कर देती हैं तथा वस्त्रों, चमड़े की वस्तुओं और इमारती लकड़ी को क्षति पहुँचाती हैं. उद्योग-धंधों के दृष्टिकोण से **ऐस्पर्जिलस, पेनिसिलियम** और **म्यूकर** वंश विशेष महत्व के हैं. यीस्ट को छोड़कर अन्य कवकों के महत्वपूर्ण औद्योगिक उपयोग आगे वर्णित हैं. यीस्ट का वर्णन **सैक्करोमाइसीज** के अन्तर्गत अलग से किया जायेगा.

फफूंद-एंज़ाइम पनीर के पक्वन और उसमें विशेष प्रकार के गठन और स्वाद उत्पन्न करने में सहायक होते हैं. कैमेमबर्ट-ब्राइ प्रकार के नरम पनीरों का विशेष घटन **पेनिसिलियम कैमेमबर्टी** थामसन की प्रोटीन अपघटन क्रिया के कारण बनता है, जब कि **पे. कैसीकोलम** बेनियर से कुछ भिन्न घटन का पनीर प्राप्त होता है. इसी प्रकार हरे **रोकफोर्ट** पनीर का पक्वन कारक **पे. रोकफोर्टाई** थामसन होता है (Tauber, 434-435; Thorpe, V, 59; Smith, 322).

अम्लों का उत्पादन

निम्न कोटिक कवकों के गहन जीव-रासायनिक अध्ययन से स्पष्ट हो गया है कि इनकी उपस्थिति में होने वाले शर्कराओं के किण्वन से बहुत से उत्पाद बनते हैं. **फ्यूज़ेरियम** वंश के सदस्य काफी मात्रा में ऐल्कोहल बनाते हैं. कुछ फफूंदियाँ मैनिटॉल बनाती हैं. फिर भी औद्योगिक दृष्टि से फफूंदी-किण्वन की वे ही विधियाँ महत्वपूर्ण हैं जिनसे कार्बोक्सिलिक अम्ल प्राप्त होते हैं (Thorpe, V, 48).

सिट्रिक अम्ल – बहुत सी फफूंदियाँ, जैसे **ऐस्पर्जिलस नाइजर** वान टीघ, **ऐ. क्लेवेटस, पेनिसिलियम ल्यूटियम** जुकाल, **पे. सिट्रिनम** थॉमसन, **म्यूकर पाइरीफार्मिस** फिशर और **अस्टुलिना वल्गेरिस** टुलास्ने शर्कराओं को सिट्रिक अम्ल में ऑक्सिकृत कर देती हैं. सामान्यतः **ऐस्पर्जिलस नाइजर** फफूंदी का उपयोग इसी कार्य के लिये उद्योग में किया जाता है. वास्तव में इस जाति के सैकड़ों विभेद हैं, जिनके जीव-रासायनिक लक्षणों में पर्याप्त विभिन्नता है. इनमें से वे ही किस्में काम में लाई जाती हैं, जिनसे सिट्रिक अम्ल की उपलब्धि तो काफी अधिक मात्रा में हो किन्तु साथ में अन्य अम्ल बिलकुल न बनें. किण्वन 28–30° ताप पर छिछले बर्तनों में सम्पन्न किया जाता है और माध्यम के रूप में स्यूक्रोस या ग्लूकोस का 10–20% विलयन प्रयुक्त किया जाता है. विलयन में धीरे-धीरे सिट्रिक अम्ल की सान्द्रता बढ़ने लगती है. सतही वृद्धि के साथ विलयन का लगातार सम्पर्क बनाये रखते हैं. किण्वन के समय माध्यम में नियंत्रित मात्रा में वायु भी प्रवाहित की जाती है. 7–10 दिनों बाद माध्यम निकाल लिया जाता है, फफूंदी को दाब-दाब कर उससे सारा विलयन निचोड़ लेते हैं और फिर उसे निक्षालित करते हैं. उपयुक्त विधि से विलयन में से सिट्रिक अम्ल पृथक् करते हैं. इससे शर्करा भार के 60–80% तुल्य उपलब्धि होती है (Prescott & Dunn, 573; Thorpe, III, 188; Underkofler & Hickey, I, 420–442; Green, *Discovery*, 1945, 6, 20).

उपर्युक्त क्रिया में सिट्रिक अम्ल के साथ-साथ ऑक्सैलिक अम्ल भी बनता है, परन्तु पी-एच, ताप तथा माध्यम के संघटन को समायोजित करके इसके बनने को पूर्णतः रोका या कम किया जा सकता है. **ऐ. नाइजर** के एक ऐसे भी विभेद का पता चला है जिसके प्रयोग से ग्लूकोस माध्यम में सिट्रिक अम्ल की उपलब्धि तो अच्छी मात्रा में होती है परन्तु ऑक्सैलिक अम्ल बिलकुल नहीं बनता (Prescott & Dunn, 577; Damodaran *et al.*, *J. sci. industr. Res.*, 1948, 7B, 29).

ग्लूकोनिक अम्ल – **ऐस्पर्जिलस** और **पेनिसिलियम** के कुछ विभेदों का उपयोग ग्लूकोस से ग्लूकोनिक अम्ल के बनाने में किया गया है. निरोधकों को अलग करने के पश्चात् गन्ने के शीरे को ग्लूकोस के स्थान पर इस कार्य के लिये प्रयुक्त किया जा सकता है. निम्नलिखित परिस्थितियों में ग्लूकोनिक अम्ल की उपलब्धि माध्यम में उपस्थित ग्लूकोस की मात्रा के 80% से भी अधिक होती है: ग्लूकोस की सान्द्रता, 20 – 25%; पी-एच, 3–6.4; ताप, 25–30° (Underkofler & Hickey, I, 446–466; Prescott & Dunn, 606; Bose, *J. sci. industr. Res.*, 1947, 6B, 129).

राइज़ोपस ओराइज़ी वेंट और पैनसेन गियरलिग्स द्वारा स्यूक्रोस के किण्वन से *d*-लैक्टिक अम्ल प्राप्त किया जाता है. किण्वन 30° ताप पर 13% शर्करा विलयन में सम्पन्न किया जाता है. इससे अम्ल की उपलब्धि 75% तक होती है (Tauber, 353).

ऐस्पर्जिलस गैलोमाइसीज कैलमेट द्वारा टैनिक-निष्कर्ष के किण्वन से गैलिक अम्ल प्राप्त किया जाता है. इस कार्य के लिये 10–20% वीमे टैनिन विलयन का किण्वन 20–30° ताप पर किया जाता है. इससे प्रति 100 मिलि. टैनिन विलयन से 20.4 ग्रा. तक प्राप्ति होती है (Tauber, 353; Porter, 1007).

फफूंदी-किण्वन द्वारा प्राप्त अन्य कार्बनिक अम्ल फ्यूमैरिक, सक्सिनिक, मैलिक, फॉर्मिक, पाइरूविक तथा इटैकॉनिक अम्ल हैं (Thorpe, V, 50).

एंज़ाइमों का उत्पादन

फफूंदियों से प्राप्त होने वाले व्यापारिक महत्व के एंज़ाइमों में डायास्टेस, इनवर्टेस, प्रोटिएस और पेक्टिनेस प्रमुख हैं. **ऐस्पर्जिलस फ्लैवस ओराइज़ी** वर्ग के अनेक सदस्य एंज़ाइम उत्पादन के काम आते हैं.

डायास्टेस – कवकीय डायास्टेस को मुख्यतः स्टार्च के डेक्स्ट्रिनीकरण और वस्त्रों की माँडी छुड़ाने में प्रयुक्त किया गया है. इसके औद्योगिक विरचन अधिकांशतः **ऐ. ओराइज़ी** (आलबर्ग) काहन से प्राप्त गेहूँ के चोकर या चावल की भूसी में, जिसमें थोड़ी मूँगफली की खली भी मिली होती है, 30-35° ताप पर संवर्धित करके प्राप्त किये जाते हैं. **ऐ. फ्लैवस ओराइज़ी** फफूंदियों से प्राप्त α-ऐमिलेस जौ माल्ट से प्राप्त α-ऐमिलेस के ही सदृश होता है. पी-एच, 4.5–5.0 पर इसकी सक्रियता अधिकतम होती है. इस एंज़ाइम का एक क्रिस्टलीय रूप भी प्राप्त किया गया है जिसकी सक्रियता 2,450 मिग्रा. माल्टोस/मिग्रा. नाइट्रोजन है (Smith, 321; Tauber, 73, 82, 401–404; Fischer & Montmollin, *Nature*, 1951, 168, 606).

दीर्घकाल से, डायास्टेस उत्पादक फफूंदियों का उपयोग स्टार्च के शर्करीकरण के लिये किया जाता रहा है. स्मरण रहे कि स्टार्च पदार्थों से ऐल्कोहलीय पेयों के बनाते समय शर्करीकरण एक महत्वपूर्ण अवस्था है. चावल से जापानी शराब **"साके"** बनाने में सक्रिय किण्वनकारक, **ऐ. ओराइज़ी** ही है. खाद्यान्नों के मैश के शर्करीकरण द्वारा साधारण ऐल्कोहल का औद्योगिक

उत्पादन करते समय फफूंदीदार चोकर का प्रयोग करते हैं जो गेहूँ के चोकर पर **ऐ. ओराइज़ी** को संवर्धित करके तैयार किया जाता है, इसे अकेले (4%) या माल्ट के साथ मिला कर (2% सूखा फफूंदीदार चोकर और 4% माल्ट) व्यवहृत किया जा सकता है (Tauber, 309, 404; Thorpe V, 59).

इनवर्टेस – ऐस्पर्जिलस, म्यूकर और **पेनिसिलियम** की बहुत-सी जातियाँ, स्यूक्रोस माध्यमों में संवर्धित करने पर, इनवर्टेस उत्पन्न करती हैं. स्यूक्रोस (30% तक) या रैफिनोस माध्यमों में **ऐ. नाइजर** की सहायता से सक्रिय विरचन प्राप्त किये गये हैं. इनवर्टेस का उपयोग गुड़ या मिश्री उद्योग में और शर्बतों के बनाने में किया जाता है (Tauber, 48–50; Wallerstein, *Industr. Engng Chem.*, 1939, **31**, 1218).

प्रोटिएस – ऐस्पर्जिलस, म्यूकर और **पेनिसिलियम** की अनेक जातियाँ, प्रोटीन माध्यमों में संवर्धित किये जाने पर, प्रोटीन अपघटक एंज़ाइम उत्पन्न करती हैं. **ऐ. ओराइज़ी** का एक विभेद, द्रव माध्यम में संवर्धित किये जाने पर एक अत्यधिक सक्रिय प्रोटिएस उत्पन्न करता है जिसे अंशतः शुद्ध क्रिस्टलीय रूप में प्राप्त किया गया है. **ऐ. फ्लैवस** लिंक और **ऐ. ओराइज़ी** के कृत्रिम संवर्धों का उपयोग खालों और चमड़ों को रोमविहीन करने में किया जा सकता है. कवकीय प्रोटिएसों का प्रयोग यवसुरा को साफ करने, परिपक्व बनाने और अधिक स्थायित्व प्रदान करने के लिये किया जाता है; इनका उपयोग रोटी उद्योग में भी होता है. **ए. फ्लैवस-ओराइज़ी** वर्ग की फफूंदियों की सहायता से सोयबीन से भी किण्वित उत्पाद तैयार किये जाते हैं (Tauber, 176, 486, 492; Crewther & Lennox, *Nature*, 1950, **165**, 680, Wallerstein, loc. cit.; Thorpe, V, 59).

पेक्टिनेस – पेनिसिलियम नोटेटम वेस्टलिंग लूसर्न माध्यम में संवर्धित किये जाने पर पेक्टिनेस उत्पन्न करती है, जिसका उपयोग फलों के रस को साफ करने में किया जाता है. पेक्टिनेस, उपयुक्त माध्यमों में **पे. ग्लौकम** लिंक, **ऐस्पर्जिलस फ्लैवस ओराइज़ी** वर्ग, **राइज़ोपस ट्रिटिकाई** सैटो और **रा. निग्रिकैन्स** एह्रेनबर्ग संवर्धित करके प्राप्त किया जा सकता है (Lulla & Johar, *Curr. Sci.*, 1953, **22**, 79; Tauber, 464).

वसा उत्पादन

पेनिसिलियम जावानिकम वी. बेमा और **स्टाइसैनस** जाति के ऐसे माध्यमों में कृत्रिम संवर्धन से, जिनमें कार्बोहाइड्रेट प्रचुर मात्रा में हों, वसा प्राप्त की जाती है. पहली से माइसीलियम के भार की 41.5% और दूसरी से 45% उपलब्धि होती है. **आइडियम लैक्टिस** फ्रेज़ेनिअस और **म्यूकर म्यूसेडो** लिनिअस के साथ भी आशाजनक परिणाम प्राप्त हुये है (Smith, 326; Thorpe, V, 57; Prescott & Dunn, 676; *Chem. Abstr.*, 1954, **48**, 2170).

विटामिन

विटामिन डी के पूर्वगामी अर्गोस्टेराल का संश्लेषण भी अनेक फफूंदियों, विशेषतः **ऐस्पर्जिलस** और **पेनिसिलियम** जातियों की सहायता से किया जाता है. **ऐ. सिडोवी** (बेन. और सार्ट.) थाम. और चर्च से अर्गोस्टेरोल की प्राप्ति 2% होती है जिसे वसा से आसानी से अलग किया जा सकता है. किण्वन द्वारा सिट्रिक, ग्लूकोनिक और लैक्टिक अम्ल के उत्पादन में उपजात के रूप में कवकतंतु की परतें प्राप्त होती हैं, जिनमें अर्गोस्टेरोल रहता है. **ऐ. नाइजर** के एक विभेद के उपापचयी उत्पाद के रूप में विटामिन सी प्राप्त किया गया है (Ramaswamy *et al.*, *J. sci. industr. Res.*, 1942–43, **1**, 74; Ellis, *J. Coun. sci. industr. Res. Aust.*, 1945, **18**, 314; *Chem. Abstr.*, 1951, **45**, 2542; Smith, 328).

कुछ कवकों की वृद्धि एवं सामान्य विकास के लिये विशिष्ट प्रकार के विटामिनों की आवश्यकता पड़ती है अतः इनका उपयोग विटामिन सांद्रताओं को ज्ञात करने में किया जा सकता है. उदाहरणार्थ, **फाइकोमाइसीज़ ब्लैकेस्लीऐनस** बर्गेफ की वृद्धि केवल विटामिन बी$_1$ की उपस्थिति में होती है और इसका उपयोग इस विटामिन के जैव-आमापन में किया जाता है (Brooks, *Advanc. Sci., Lond.*, 1948–49, **5**, 329).

कवकों द्वारा क्षति

सभी खाद्य पदार्थ किसी न किसी हद तक कवकों द्वारा आक्रमित हो सकते हैं. दुग्धोत्पादों में से दूध पर **ऊस्पोरा** जाति का तथा मक्खन पर **आइडियम, पेनिसिलियम, क्लैडोस्पोरियम, ऐस्पर्जिलस, म्यूकर, ट्रिकोथेसियम** और **फ्यूज़ेरियम** जातियों के कवकों का आक्रमण होता है. **पेनिसिलियम, ऐस्पर्जिलस** और **म्यूकर** के कारण मक्खन पर हरे और काले धब्बे तथा **फ्यूज़ेरियम** के कारण लाल धब्बे पड़ जाते हैं. क्रीमरी में तैयार किये गये मक्खन की अपेक्षा देशी मक्खन पर फफूंदों का आक्रमण जल्दी होता है (Krishnaswamy & Laxminarayana, *Curr. Sci.*, 1948, **17**, 159).

संचित मांस पर जिन फफूंदियों के संक्रमण का भय रहता है, वे हैं: **पेनिसिलियम एक्सपैन्सम** लिंक, **ऐस्पर्जिलस ग्लौकस** (लिनिअस) लिंक, **ऐ. क्लैवेटस, ऐ. नाइजर, म्यूकर रैसमोसस** फ्रेज़ेनिअस, **राइज़ोपस निग्रीकैन्स, आल्टरनेरिया टेनुइस** नीस, **मोनैस्कस परप्यूरियस** वेंट, **मोनीलिया सिटोफिला** (मोण्ट.) सक्कारडो और **फ्यूज़ेरियम** जातियाँ. **क्लैडोस्पोरियम हरबेरम** लिंक अत्यन्त निम्न ताप, –5 से –2° पर भी मांस पर आक्रमण करके काले दाग पैदा कर देती है. इसकी सक्रियता का संदमन –10° पर ही हो पाता है. फफूंदी के संक्रमण से मांस की रक्षा इस पर ओज़ोन, पैराफीन तेल, कार्बन डाइऑक्साइड और सोडियम हाइपोक्लोराइट के उपचार द्वारा या फिर परावैंगनी किरणों के अनुप्रभाव द्वारा की जा सकती है.

सब्ज़ी और फलों पर भी कई प्रकार की फफूंदियों का आक्रमण होता है. कटे स्थानों या वातरंध्रों द्वारा संक्रमण होने पर आम, सेब, संतरा, आड़ू, अनार और अंगूर का क्षय होने लगता है. यह संक्रमण पेड़ में लगे कच्चे फलों में भी हो सकता है. ऐसी दशा में इनके पकने तक कवक प्रसुप्तावस्था में पड़ा रहता है. **ऐस्पर्जिलस निडुलैन्स, ऐ. फ्यूमिगेटस** फ्रेज़ेनिअस, **ऐ. टैमाराई** किटा, **पेनिसिलियम एट्रेमेण्टोसम** टॉम, **पे. फ्ल्युटेनम** वायोर्ज, **आल्टरनेरिया** जाति, **फ्यूज़ेरियम** जाति और **राइज़ोपस एराइज़स** फिशर आदि ऐसे कवक हैं जिनका संक्रमण फटे हुये स्थानों में से होता है जबकि **एस्पर्जिलस नाइजर, ऐ. निडुलैन्स, कोलेटोट्राइक कैप्सिकाइ** साइडो और **ऐक्रोथेसियम पेन्निसेटी** मित्रा पेड़ों में लगे फलों पर आक्रमण करते

है. शीत संग्रहागारों में रखे गये आम **ग्लीओस्पोरियम मेंगीफेरी** साइडो के शिकार बन सकते हैं, जिसके कारण भूरे धब्बे पैदा हो जाते हैं या जिस स्थान पर डंठल लगा हुआ होता है उसका विगलन, पार्श्व विगलन या जलीय विगलन हो सकता है. 2–4° और 4·5 – 6° पर संचय किये गये सिट्रस परिवार के फल भी **पेनिसिलियम डिजिटेटम** सक्कारडो और **पे. इटैलिकम** वेह्मर के आक्रमण के फलस्वरूप खराब हो सकते हैं. इस प्रकार संतरों के डंठल के निकट विगलन के लिये **आल्टरनेरिया** जाति और **कोलेटोट्राइकम ग्लीओस्पोरिआयडीस** पेंजिग उत्तरदायी होते हैं. **पेनिसिलियम एक्सपेंन्सम** संचित सेवों को पिलपिला बना देता है; इससे कभी-कभी 75% तक हानि पहुँचती देखी गयी है (Sinha, *Proc. Indian Sci. Congr.*, 1943, pt III, 46; Cheema *et al.*, *Indian J. agric. Sci.*, 1950, **20**, 259; Lal Singh & Hamid, ibid., 1942, **12**, 757; Singh, ibid., 1941, **11**, 902).

संचित खाद्यान्नों को भी फफूंदियों से क्षति पहुँच सकती है. रखे हुये आटे में दुर्गंध का कारण चक्की से प्राप्त संदूषण होता है. संग्रहीत अनाजों पर अनेक कवकों का आक्रमण हो सकता है. गेरुई लगे हुये गेहूँ और जौ को व्यापारिक दृष्टिकोण से निम्नस्तर का माना जाता है क्योंकि इनमें से न केवल दुर्गंध आती है बल्कि इनमें से स्मट गोलिकाओं को हटाने में खर्च भी पड़ता है. इन गोलिकाओं को निकाले बिना अन्न खाने योग्य नहीं रहता. किट्ट के आक्रमण से दाना मोटा नहीं हो पाता. फफूंदी से दानों में वसा की मात्रा भी कम हो जाती है. संचित चावल पर कवक आक्रमण के लिये अधिक आपेक्षिक आर्द्रता (65–100%) और ताप (30° से ऊपर) उत्तम परिस्थितियाँ हैं. हाथ के कुटे या मशीनों द्वारा कम कुटे हुए चावल पर फफूंदी का संक्रमण विशेष तेजी से 40° पर होता है (Gattani, *Indian Phytopath.*, 1950, **3**, 148; Ghosh, *Sci. & Cult.*, 1950–51, **16**, 532; 1951–52, **17**, 42).

वस्त्र रेशों की क्षति

कपास पर फफूंदी का आक्रमण खेतों में ही हो जाता है और संचय के समय अधिक आर्द्रता (90%) होने पर इसकी वृद्धि को प्रोत्साहन मिलता है. कपास को क्षति पहुँचाने वाले सामान्य कवक हैं: **ऐस्पर्जिलस नाइजर, ऐ. फ्यूमिगैटस, कीटोमियम ग्लोबोसम** कुंट्ज़े, **राइजोपस निग्रीकैन्स, मेमनोनीला एकिनैटा** (रिविग्रे) गैलो., **ऐक्रोयेसियम** जाति, **टोरुला** जाति, **मेटारीजियम ग्लूटिनोसम** एस. पोप, **करव्युलेरिया** जाति और **पेनिसिलियम** जाति. रुई से बनी चीजों के रखे रहने पर धब्बे पड़ने के लिये डिमैटिएसी परिवार के कवक के रंगीन बीजाणु समूह या कवक तंतु उत्तरदायी हैं. बुने हुए सूती कपड़ों, जालों, बुनाई के धागों और रस्सों की सूक्ष्म जैविक संक्रमण के प्रति प्रतिरोध शक्ति का अनुमान लगाने के लिये भारत में मानक विधियाँ विकसित कर ली गई हैं (Ahmed & Gulati, *Indian J. agric. Sci.*, 1943, **13**, 494; *Cordage*, 1950, **32**, 13; Sen Gupta *et al.*, *Proc. Indian Acad. Sci.*, 1949, **29B**, 208).

कच्ची रुई की धुलाई करके उसे फफूंदी से बचाया जा सकता है. खुले पड़े हुए सामान को विगलन से बचाने में क्रोम-प्रूफिंग द्वारा यथेष्ट सफलता मिलती है. *p*-क्लोरो फीनाल, α- तथा β-नैफ्थाल और सैलिसिलैनिलाइड तथा इसके व्युत्पन्न प्रभावशाली कवकनाशी हैं (Gandhi & Venkataraman, *J. Indian chem. Soc., industr. Edn*, 1942, **5**, 75, 85, 89; Mehta, *Indian Text. J.*, 1948–49, **59**, 798).

जूट रेशा – पेनिसिलियम सिट्रिनम कच्चे जूट पर आक्रमण करने वाले कवकों में प्रमुख है; अन्य ऐसे कवक, **ऐस्पर्जिलस ग्लौकस, ऐ. फ्लैवस ओराइजी, ऐ. फ्यूमिगैटस, पीकिलोमाइसीज़ वैरिओटाइ** बेनियर, **कीटोमियम इंडिकम** कोर्डा और 87 बिना पहचाने **फाइकोमाइसिटीज** हैं. 100% आपेक्षिक आर्द्रता के वातावरण में जूट में फफूंदी लगने का सर्वाधिक खतरा रहता है. वैसे दो जातियाँ, **ऐस्पर्जिलस ग्लौकस** और **कीटोमियम इंडिकम**, अक्सर कम आर्द्रता पर भी आक्रमण कर देती हैं. खुले में पड़े हुये हेसियन रेशों पर आक्रमण करने वाले कवकों में **आल्टरनेरिया** जाति और **कुरवुलेरिया ल्यूनैटा** (वाकर) वोडिज प्रमुख हैं (Basu & Ghosh, *J. sci. industr. Res.*, 1950, **9B**, 151).

इमारती लकड़ी का क्षय

यूबैसिडिओमाइसिटीज, जिन्हें ब्रैकेट कवक भी कहते हैं, सामान्य लकड़ी, ताजी इमारती लकड़ी या इमारती लकड़ी से बनाये गये गीले समानों को क्षति पहुँचाते हैं. **शाइज़ोफाइलम, इरपेक्स** आदि जातियों के आक्रमण से शुष्क विगलन होने लगता है; आक्रमण की विकसित अवस्था में हल्का-सा भी दबाव डालने पर लकड़ी चूर-चूर हो जाती है. लकड़ी को क्षति पहुँचाने वाले अन्य कवकों में **फोमेस लिविडस** काल्कब्रूक, **फो. लिग्नोसस, पोलिस्टिक्टस स्टाइनहाइलिऐनस** वर्कले तथा लेविल्ले, **लेंटिनस सवन्यूडस** वर्कले, **ट्रेमेटेस क्यूबेन्सिस** सक्कारडो, **स्टेरियम हिर्सुटम** (विल्डेनो) पर्सून, **पोलीपोरस ओस्ट्राईफार्मिस** वर्कले, **लेंजाइटेस स्ट्रिएटा** स्वार्ट्ज और **सेरैटोस्टोमेला** जातियों के नाम लिये जा सकते हैं. विभिन्न कवकों द्वारा होने वाली क्षति के प्रकार में भी पर्याप्त विभिन्नता पाई जाती है. कुछ के कारण ऊपरी अपरदन ही होता है जबकि अन्यों द्वारा स्पंजी विगलन या स्थानीय विगलन पैदा होता है. लकड़ी को क्षति पहुँचाने वाले कवकों में वरण प्रवृत्ति देखी जाती है जिससे प्रत्येक कवक केवल कुछ विशेष लकड़ियों को ही हानि पहुँचाता है. उदाहरणार्थ, **सिरैटोस्टोमेला** जाति का रसनाशक कवक निम्नांकित संचित लकड़ियों पर ही आक्रमण करता है: **साल्मेलिया मलाबारिका** (द कन्दोल) शाट और एंडलिशर, **ऐलैयस** जाति, **ऐरिथ्रिना** जाति, **बासबेलिया सेरेटा** राक्सबर्ग और **ऐंथोसेफैलस कदंब** मिक्वेल. कवकों के लिये 20% से अधिक आर्द्रता तथा 23–30° तक ताप की परिस्थितियाँ अनुकूल पड़ती हैं. इमारतों में लगी हुई तथा अप्रयुक्त इमारती लकड़ी में कवक निरोध तथा लट्ठों और बल्लियों के बचाव के बारे में यथेष्ठ जानकारी प्रकाशित हो चुकी है (Narayanamurti, *Indian For. Bull., N.S.*, No. 110, 1945; ibid., No. 140, 1948; Narayanamurti *et al.*, ibid., No. 144, 1948; Narayanamurti & Pande, *Indian For. Leafl.*, No. 68, 1944; Bagchee, *Indian For.*, 1950, **76**, 156).

चमड़े के सामान

कुछ फफूंदियाँ, विशेषतया **ऐस्पर्जिलस नाइजर,** टैनिन के प्रति सहिष्णु, होने के कारण वर्षा ऋतु में चमड़े को क्षति पहुँचाती

हैं. भारत में इन चमड़ों और खालों को पहुँचने वाली हानि के आँकड़े प्राप्य नहीं हैं. चमड़े पर *p*-नाइट्रोफीनाल और β-नैफ्थाल की अभिक्रिया द्वारा, फफूँदी के आक्रमण को नियंत्रित किया जा सकता है [Dempsey, *J. int. Soc. Leath. Chem.*, 1945, 29, 133; George, *Tanner*, 1953, 8(5), 19].

पेंट और वार्निश

पेंटों पर **ऐस्पर्जिलस, पेनिसिलियम** और **प्युलुलैरिया** जातियाँ आक्रमण करती हैं. यद्यपि पेंट के भीतरी विलेप (अण्डरकोट) को कवकनाशियों के प्रयोग से लाभ पहुँचता है, परन्तु कवक नियंत्रण के लिये जो कारक निर्णायक बनता है वह है सबसे ऊपरी सतह पर के अंतिम विलेप में कवकनाशी की मात्रा. कोई भी ऐसा विरचन जिसके द्वारा कवकनाशियों का मन्द अभिगमन ऊपरी सतह तक हो सके, पेंट की कार्यक्षम आयु को बढ़ाने में सहायक होता है (Vicklund & Monowitz, *Paint Varn. Prod.*, 1951, **31**, 8).

प्रकाशिक यंत्रों का धुंधलापन

लेन्स और प्रिज्म पर कवकों की वृद्धि हो जाने के कारण यंत्र गंदे और धुँधले पड़ जाते हैं. उष्णकटिबन्धी प्रदेशों के लिये यह अत्यन्त गम्भीर समस्या है. दूषण करने वाले कारक हैः **ऐस्पर्जिलस नाइजर, ऐ. वेर्सीकलर** टिराबोशी, **ऐ. ओराइजी ऐ. फ्लैवस, पेनिसिलियम सिट्रिनम, मोनीलिया** (न्यूरोस्पोरा) **क्रैसा** शियर और डाज, **हारमोडेण्ड्रम** जाति, **ट्राइकोडर्मा** जाति, **स्टेमफाइलियम** जाति, **म्यकर** जाति, **कीटोमियम ग्लोबोसम** और **राइज़ोपस** जाति. यंत्रों में, प्रकाशिक भागों को बैठाने के लिये रेडियम सक्रियित पत्रियों का उपयोग करने से कवक निरोध में सहायता मिल सकती है, यदि क्षयज पदार्थों के संतुलन में, रेडियम घातक मात्रा में (2·2 माग्रा./वर्ग सेंमी.) उपस्थित हो (Vicklund, *Industr. Engng Chem.*, 1946, 38, 774).

ओषधियों में कवक

1929 में, जबसे फ्लेमिंग ने, **पेनिसिलियम नोटेटम** वेस्टलिंग संदूषण की उपस्थिति में ऐगार प्लेट संवर्धों में **स्ट्रेप्टोकाकसों** के मंदनाशन संबंधी अपने प्रेक्षण प्रकाशित किये, कवकों ने ओषधि विज्ञान के क्षेत्र में महत्वपूर्ण स्थान ग्रहण कर लिया है. 1940 में चेन और उनके साथियों ने ऐसे माध्यमों से, जिनमें **पेनिसिलियम नोटेटम** का संवर्धन किया गया था, एक सक्रिय ऐंटीबायोटिक पदार्थ प्राप्त किया जिसे पर्याप्त समय तक परिरक्षित किया जा सकता था. तबसे इस क्षेत्र में तीव्र प्रगति हुई है और विशिष्ट कवकों के संवर्धों से ऐसे अनेक पदार्थ, जिन्हें आमतौर पर प्रतिजैविक पदार्थ या ऐंटीबायोटिक कहते हैं, विलग किये गये हैं. ऐसे कुछ पदार्थों का उपयोग रोगों के उपचार में भी किया गया है.

कवकों से प्राप्त होने वाले प्रतिजैविक पदार्थों से संबंधित साहित्य के 1951 में प्रकाशित सर्वेक्षण के अनुसार, इन पदार्थों को उत्पन्न करने की क्षमता, कवकों के विभिन्न वर्गों में समान रूप से नहीं पाई जाती. **फाइकोमाइसिटीज़** में यह क्षमता अत्यन्त विरल है. इस वर्ग की बहुत सी जातियों के संतोषजनक अध्ययन के अभाव में इस संबंध में निश्चित मत देना संभव नहीं है. इसी प्रकार **ऐस्कोमाइसिटीज़** वर्ग का भी पूरा अन्वेषण नहीं हो पाया है. अभी तक जिन 86 जातियों का अध्ययन हुआ है उनमें 24 प्रतिजैविक पदार्थ उत्पन्न करती हैं और इनमें से केवल तीन ऐसे पदार्थ विलग किये गये हैं. **फंजाई इम्परफेक्टाई** के 1234 वंशों में से केवल 47 पर अनुसंधान कार्य हुआ है और 66 प्रतिजैविक पदार्थों के शुद्ध रूप या उनके पर्याप्त शुद्ध सान्द्र विलग किये गये हैं. प्रत्येक वंश में उनसे संबंधित जातियों के समूहों में अपना अभिलाक्षणिक प्रतिजैविक पदार्थ उत्पन्न करने की सुस्पष्ट प्रवृत्ति होती है. **बैसिडियोमाइसिटीज़** भी प्रतिजैविकों का एक शक्य स्रोत है. यद्यपि इनकी 586 सक्रिय जातियाँ हैं परन्तु इनसे प्राप्त केवल 27 प्रतिजैविक पदार्थों के विषय में ही जानकारी प्राप्त है और इनमें से भी कुछ ही, लगभग आधे, शुद्ध अवस्था में, विलग किये गये हैं. **बैसिडियोमाइसिटीज़** से प्राप्त प्रतिजैविक पदार्थ, अन्य वर्गों के कवकों से प्राप्त पदार्थों से कुछ भिन्न होते हैं (Brian, *Bot. Rev.*, 1951, **17**, 357).

पेनिसिलिन

पेनिसिलिन, जो मनुष्यों के अनेक प्रकार के जीवाणविक रोगों के उपचार में प्रयुक्त होता है, बहुत सी फफूँदियों का उत्पाद है, जिन्हें संयुक्त रूप में **पेनिसिलियम नोटेटम क्राइसोजेनम** समूह कहते हैं. **पेनिसिलियम** के वे विभेद, जिनका निमग्न संवर्धन होता है तथा जो विशेष प्रकार के पेनिसिलिन उत्पन्न करते हैं या जिनसे सामान्यतः पेनिसिलिन की अधिक मात्रा में प्राप्ति होती है, इस प्रतिजैविक पदार्थ के व्यापारिक उत्पादन के लिये प्रयोग में लाये जाते हैं. उपयुक्त माध्यमों से, वातन के साथ, इनका संवर्धन किया जाता है. इन माध्यमों में, फेनिलऐसीटिक अम्ल और बेंज़िल समूह वाले अन्य यौगिकों को मिला देने से न केवल पेनिसिलिन की प्राप्ति में वृद्धि होती है वरन् उसमें पेनिसिलिन II (G. या बेंज़िल पेनिसिलिन) का अनुपात भी बढ़ जाता है. इन यौगिकों के स्थान पर, इनके सदृश अन्य यौगिकों के प्रयोग से जिनमें *p*-हाइड्रॉक्सिबेंज़िल समूह रहता है, पेनिसिलिन III (X या *p*-हाइड्रॉक्सिबेंज़िल पेनिसिलिन) का अनुपात थोड़ा बढ़ जाता है. द्रव माध्यम में पेनिसिलिन की सान्द्रता अधिकतम हो जाने के बाद इससे कवक विलग कर लेते हैं; तत्पश्चात् उपयुक्त विलायकों की सहायता से, द्रव में से सक्रिय तत्व प्राप्त किये जाते हैं. फिर इनका सांद्रण कर लिया जाता है. अनेक देशों में पेनिसिलिन का व्यापारिक उत्पादन किया जा रहा है और यह क्षार या क्षारीय मृदा धातुओं के लवणों के रूप में, सामान्यतः सोडियम, पोटैसियम या कैल्सियम लवणों के रूप में, प्राप्य है. कई प्रकार के पेनिसिलिन, उपयुक्त पूर्वगामियों के उपयोग द्वारा आंशिक जैव-संश्लेपण विधि से प्राप्त किये गये हैं. उपर्युक्त विधियों से प्राप्त पेनिसिलिन की तुलना, मानक जैविक विधियों से प्राप्त मानक पेनिसिलिन की शक्ति को प्रति मिग्रा. इकाइयों (यूनिटों) में व्यक्त करते हैं. परिभाषा के अनुसार पेनिसिलिन की एक अंतर्राष्ट्रीय इकाई अंतराष्ट्रीय मानक विरचन के 0·6 माग्रा. की सक्रियता के तुल्य होती है (Thorpe, IX, 262–275).

पेनिसिलिन जीवाणु-स्तंभक होते हैं और पर्याप्त सांद्रता में ये कई सामान्य रोगजनक जीवाणुओं के विनाश में भी समर्थ हैं.

शरीर के तरल द्रव्यों की उपस्थिति में भी इनकी जीवाणुनाशी क्षमता बनी रहती है. पेनिसिलिन बिल्कुल विषैले नहीं होते. जीवाणुओं के रूप में अधिकतर ये ग्रैम-ग्राही जीवाणुओं के विरुद्ध ही प्रभावशाली होते हैं; ग्रैम-अग्राही जीवाणुओं में से केवल कुछ पर ही इनका प्रभाव होता है. साधारणतः निम्नलिखित अवस्थाओं में पेनिसिलिनों के उपचार से सफलता मिलती है: घाव और अस्थिभंग के संक्रमण, फोड़े-फुन्सियाँ, हाथों में होने वाले संक्रमण (इनमें कण्डराच्छदों का संक्रमण भी सम्मिलित है), अति उग्र तुण्डिकाशोथ, न्युमोनिया, अन्तःपूयता, पर्युदर्याशोथ, हृदयावरणशोथ, मध्यम उग्र जीवाणविक अंतर्हृदशोथ, अतिउग्र अस्थि मज्जाशोथ, कर्णशोथ, कर्णमूलशोथ, मस्तिष्कावरणशोथ, चाक्षुप संक्रमण, सुजाक और उपदंश. पेनिसिलिनों को गोलियों के रूप में लिया जा सकता है या अंतःपेशी, अंतःशिरा अथवा वक्षीय इंजेक्शनों द्वारा इन्हें शरीर में प्रविष्ट कर सकते हैं (B.P.C., 652).

पाँच प्राकृतिक पेनिसिलिन विलग किए गये हैं. इन सबकी संरचना β-लैक्टाम थायोज़ोलिडीन की ही तरह है, केवल पार्श्व शृंखला (R) में भिन्नता है. इनका आनुभविक सूत्र $C_9H_{11}O_4SN_2R$ है. विभिन्न R समूहों वाले पेनिसिलिनों के नाम और उनकी जैविक शक्तियाँ सारणी 2 में दी हुई हैं.

समस्त पेनिसिलिन प्रबल एकक्षारकी अम्ल हैं जिन्हें तनु अम्ल द्वारा जल-अपघटित करने पर एक ऐमीनो अम्ल, पेनिसिलऐमीन (*d*-ββ-डाइमेथिलसिस्टाइन,) कार्बन डाइऑक्साइड और संगत पेनिलोऐल्डिहाइड प्राप्त होते हैं. यह ध्यान देने योग्य है कि पेनिसिलिनों में उपस्थित ऐमीनो अम्ल 'अप्राकृत' या *d*-श्रेणी का होता है (Thorpe, IX, 270).

पोलीपोरिन

पोलीपोरिन, **पोलिस्टिक्टस सैंग्विनियस** फ्रीजे के संवर्ध के निस्यंद से प्राप्त किया जाता है. इसके गुणों का अभी ठीक से अध्ययन नहीं हुआ है. अपरिष्कृत प्रतिजैविक, टाइफायड, हैजा और पेचिश के जीवाणुओं, **स्टैफिलोकोकस ऑरियस** और **एशेरिशिया कोलाई** के विरुद्ध सक्रिय पाया गया है. यह जंतुओं के लिये बिल्कुल विषैला नहीं है और स्थायी भी है. परीक्षणों से औषधि रूप में पोलीपोरिन के प्रयोग से उत्साहवर्धक परिणाम प्राप्त हुये हैं (Bose, *Nature*, 1945, **156**, 171; 1946, **158**, 292).

अन्य प्रतिजैविक एवं औषधियाँ

क्लिटोसाइब जाइगैंटिया फ्रीज से प्राप्त होने वाले अनेक प्रतिजैविकों में **क्लिटोसाइबाइन** ने सबसे अधिक ध्यान आकर्षित किया है. यह अभी तक शुद्ध अवस्था में प्राप्त नहीं किया जा सका है. यह एक उच्चकोटि का जीवाणु-स्तंभक है, जो अनेकों ग्रैम-अग्राही, ग्रैम ग्राही एवं अम्ल स्थायी जीवाणुओं की वृद्धि को रोकता है. इसका जलीय विलयन अस्थायी है. पात्रे परीक्षणों में क्लिटोसाइबाइन **माइकोबैक्टीरियम ट्युबरकुलोसिस** की वृद्धि को रोकता है, कम विषैला होता है और कृत्रिम रूप से संक्रमित गिनीपिगों में ट्युबरकुलोसिस रोकने में भी समर्थ बताया गया है. इसकी क्रिया लयकारी है और यह जीवे सक्रिय होता है (Kirk & Othmer, II, 24; Baron, 105).

कवकों से प्राप्त अन्य प्रतिजैविक जिनका थोड़ा बहुत अध्ययन किया गया है, वे हैं (मूल कवकों के नाम कोष्ठकों में दिये गये

सारणी 2 – पेनिसिलिनों की जैविक शक्तियाँ*

पेनिसिलिन	नामकरण		पार्श्व शृंखला (R)	इकाइयाँ/मिग्रा. सोडियम लवण
	अंग्रेजी	अमेरिकी		
2-पेंटेनिल	I	F	$C_2H_5.CH=CH.CH_2$	1,600
n-ऐमिल	डाइहाइड्रो-I	डाइहाइड्रो-F	*n*-C_5H_{11}	1,500
n-हेप्टिल	IV	K	*n*-C_7H_{15}	2,300
बेंजिल	II	G	$C_6H_5CH_2$	1,667
p-हाइड्रॉक्सिबेंजिल	III	X	$HO.C_6H_4CH_2$	900

*Kirk & Othmer, IX, 923.

हैं): ऐस्पर्जिलिक अम्ल (**ऐस्पर्जिलस फ्लैवस**), ऐवेनैसीन (**फ्यूजेरियम ऐवेनेसियम** सक्कारिडो), कैंडिडुलिन (**ऐस्पर्जिलस कैंडिडस** लिंक), कीटोमिन (**कीटोमियम काकलिओडीस** पैलीसर और संभवतः **कीटोमियम** की अन्य जातियाँ), सिट्रिनिन (**पेनिसिलियम सिट्रिनम, पे. लिविडम** वेस्टलिंग, **पे. इम्प्लीकेटम** बायोर्ज, **पे. क्यास्त्री** जालेस्की, **ऐस्पर्जिलस टेरियस** टाम और **ऐ. निवियस** ब्लाचविट्ज), क्लवेसिन या पैटयुलिन (**ऐस्पर्जिलस क्लैवेटस** और **पेनिसिलियम** जाति), ऐन्निऐटिन्स ए तथा बी (**फ्यूजेरियम** जाति), फ्यूमिगैसिन या हेलवोलिक अम्ल (**ऐस्पर्जिलस फ्यूमिगैटस**) फ्युस्किन (**आयडियोडेण्ड्रान फ्युसकम** रोबैक), जैयोडिन. (**ऐस्पर्जिलस टेरियस**), ग्लैडियोलिक अम्ल (**पेनिसिलियम ग्लैडियोली** मैचेसेक), ग्लिओटॉक्सिन (**ग्लिओक्लैडियम फिम्ब्रिऐटम** गिलमैन और एबाट और **ऐस्पर्जिलस फ्यूमिगेटस**) इल्युडिन्स एम. और एस. (**क्लाइटोसाइब इल्युडैन्स** फ्रीजे), जावानिसिन (**फ्यूजेरियम जावानिकम**), कोजिक अम्ल (**ऐस्पर्जिलस फ्लैवस ओराइज़ी** समूह), लैक्टैरोविओलिन (**लैक्टेरियस डेलिसिओसस** फ्रीज), लाइकोमैरैस्मिन [**फ्यूजेरियम वल्विजेनम** कुक और मास वेर. **लाइकोपर्सिकाई** (स्मृगी)], माइसेलिऐनैमाइड (**पेनिसिलियम ग्रीसिओफल्वम** डिएर्क), ओरेगोनेन्सिन (**गैनोडर्मा ओरेगोनेन्स** म्यूरिल), पेनिसिलिक अम्ल (**पेनिसिलियम** जाति और **ऐस्पाजलस** जाति), प्लायरोटिन (**प्लायरोटस ग्रिसियस** पेक), पवरुलिक अम्ल (**पेनिसिलियम पवरुलम** बेनियर), स्पिनुलोसिन (**पेनिसिलियम स्पिनुलोसम** टाम तथा **ऐस्पर्जिलस फ्यूमिगेटस**), ट्रिकोथेसिन (**ट्रिकोथेसियम रोजियम** लिंक एक्स फ्रीज) और विरिडिन (**ट्राइकोडर्मा विरिडे** पर्सून एक्स फ्रीज) (Brian, loc. cit.; Kirk & Othmer, II, 19–35).

ऐस्पर्जिलिक अम्ल जीवाणु-स्तंभक है तथा ग्रैम-ग्राही और ग्रैम-अग्राही दोनों ही प्रकार के जीवाणुओं के विरुद्ध प्रभावकारी है; इसके अन्तः पर्युदर्या-प्रयोग से चूहों की रक्षा सुजाक और गैस गैंग्रीन (कोथ) रोगों से की जा सकती है. शरीर की बाहरी सतह पर होने वाले स्ट्रेप्टोकोकस और स्टैफिलोकॉकस गुच्छाणुओं के संक्रमण वाले भागों में सिट्रिनिन के स्थानीय प्रयोग से उत्साहवर्धक परिणाम प्राप्त हुए हैं. विषैला होने के कारण इसका प्रयोग गोलियों या इंजेक्शनों के रूप में नहीं किया जा सकता. (Baron, 105; Tauber, 391).

उच्चकोटिक कवकों, जैसे **ऐगैरिकस कैम्पेस्ट्रिस, आर्मिलेरिया मेलिया, लेपिओटा मैस्टायडिआ** फ्रीज, **मेरैस्मियस कैम्पनेला** होल्ट, **डीडेलिआ माइक्रोजोना** पर्सून, **फ्लैम्यूला डिलेपिस** बर्कले और ब्राउन, **लेण्टिनस प्रीरीगिडस** बर्कले, **ले. रेवेलेटस** बर्कले, **ले. सबन्यूडस** बर्कले और **पोलीपोरस श्वाइनिट्जाई** फ्रीज के संवर्ध के निस्यंद में ग्राम ग्राही और ग्राम अग्राही जीवाणुओं के विनाशक सक्रिय तत्व होते हैं. **ऐगैरिकस कैम्पेस्ट्रिस** के सम्वर्ध के निस्यन्द से टाइफाइड के रोगियों पर किये गये औषधीय परीक्षणों से आशाजनक परिणाम मिले हैं. इसका सक्रिय तत्व तापसह है; कक्ष ताप पर संचित किये जाने पर तीन मास तक इसकी शक्ति में कोई अन्तर नहीं आता. अपरिष्कृत संवर्ध-निस्यंद विषैला नहीं प्रतीत होता (Bose, *J. sci. industr. Res.*, 1952, **11B**, 159; *Indian J. Pharm.*, 1953, **15**, 279).

अर्गट, **क्लैविसेप्स पर्प्यूरिआ** (फ्रीज) टुलास्ने का स्क्लेरोशियम है. सभी मान्य फार्माकोपियाओं में इसका वर्णन मिलता है और गर्भाशय के संकुचनों को उत्तेजित करने के लिये इसका व्यापक प्रयोग किया जाता है (Wlth India, II, 212).

फोमेस ऑफिसिनैलिस (विलार्स एक्स फ्रीज) लायड, (अंग्रेजी–पर्जिग ऐगैरिक; भारतीय बाजारों में–घैरीकुन) से एक औषधि प्राप्त होती है जो काफी समय तक, राजयक्ष्मा के रोगियों के लिये, रात में बहुत अधिक पसीना निकलने के कष्ट के उपचार के लिये उत्तम मानी जाती रही है. यह मूत्रवर्धक, मृदुविरेचक और कफोत्सारक है; अधिक मात्रा में लेने पर यह रेचक का कार्य करती है और इससे वमन भी हो सकता है. भारत में यह दमे के रोग की गोलियों के एक आवश्यक अंग के रूप में प्रयुक्त की जाती है. इसका सक्रिय तत्व ऐगैरिक अम्ल या ऐगैरिसिन, $C_{22}H_{40}O_7$, ग. बि., 142° (अपघटन हो जाता है) है. यह अम्ल कवक में 14–16% तक पाया जाता है (U.S.D., 1310; Kirt. & Basu, IV, 2757; Koman, 1920, 34; The Merck Index, 24).

बंगाल से सूचित **पोलीपोरस ऐंथेलमिण्टिकस** बर्कले ब्रह्मा में कृमिहर के रूप में प्रयुक्त होता है (Kirt. & Basu, IV, 2757).

कवक एंजाइमों को पाचन संबंधी तथा अन्य रोगों में इस्तेमाल किया जाता है. **ऐस्पर्जिलस फ्लैवस ओराइजी** समूह से प्राप्त होने वाला डायास्टेस, लारन्यूनता में प्रभावकारी है. कवक डायास्टेस विरचन प्रोटीन अपघटक के रूप में भी सक्रिय होते हैं और इनका उपयोग जठरांत्रिक विकारों के उपचार में किया जाता है. सामान्य छत्रक, **ऐगैरिकस कैम्पेस्ट्रिस** के निष्कर्ष में टाइरोसिनेस रहता है और अतिरिक्त दाबग्रस्त प्राणियों को इसका अतः शिरा इंजेक्शन देने से रक्तचाप घट जाता है. सामान्य प्राणियों पर इसका कोई प्रभाव नहीं होता. धमनी अति रक्त-दाब तनाव से पीड़ित रोगियों को भी टाइरोसिनेस के अवत्स्वचीय इंजेक्शनों से लाभ पहुँचता है (Tauber, 408, 411).

Thallophyta; *Myxomycetes*; *Schizomycetes*; *Eumycetes*; *Phycomycetes*; *Ascomycetes*; *Basidiomycetes*; *Deuteromycetes*; *Aspergillus niger* Van Tiegh; *Rhizopus* spp.; *Cunninghamella* spp.; *Helminthosporium*; *Oomycetes*; *Zygomycetes*; *Plasmodiophorales*; *Chytridiales*; *Peronosporales*; *Plasmodiophora brassicae* Woronin; *Physoderma zea-maydis* Shaw; *Chytridiales*; *Synchytrium endobioticum* (Schilb.) Perc.; *Pythiaceae*; *Peronosporaceae*; *Albuginaceae*; *Pythiaceae*; *Pythium*; *Phytophthora*; *Pythium de Baryanum* Hesse; *P. aphanidermatum* (Edson) Fitzpatrick; *P. graminicolum* Subramaniam; *P. myriotylum* Drechsler; *P. vexans* de Bary; *P. indicum* Balakrishnan; *Hibiscus esculentus* Linn.; *P. infestans* (Mont.) de Bary; *Phytophthora palmivora* Butler; *Cinchona*; *P. arecae* (Coleman) Pethybridge; *P. colocasiae* Rac.; *Colocasia antiquorum* Schott; *P. parasitica* Dastur; *Piper betle* Linn.; *Peronospora*; *Sclerospora*; *Plasmopara*; *P. pisi* Sydow; *P. arborescens* (Berk.) de Bary; *Gramineae*; *S. graminicola* (Sacc.) Schroet.; *S. sorghi* Weston & Uppal; *S. philippinensis* Weston; *Plasmopara viticola* (Berk. & Curt.) Berlese & de Toni; *Albuginaceae*; *Albugo* (*Cystopus*); *A. candida* Kuntze; *Entomophthoraceae*; *Rhizopus arrhizus* Fischer.; *Choanophora cucurbitarum* (Berk. & Rav.) Thaxter; *Hemiascomycetes*; *Euascomycetes*; *Taphrinales*; *Protomycetaceae*; *Taphrinaceae*; *Protomyces macrosporus* Unger; *Taphrina deformans* (Berk.) Tulasne; *T. maculans* Butler; *Plectascales*; *Aspergillaceae*; *Aspergillus japonicus* Saito; *Erysiphales*; *Erysiphaceae*; *Leveillula*; *Erysiphe polygoni* DC.; *Lathyrus* sp.; *E. graminis* DC.; *Uncinula necator* (Schw.) Burr.; *Leveillula taurica* (Lev) Arn.; *Solanum torvum* Swartz; *Physalospora tucumanensis* Speg.; *Mycosphaerella rabiei* Kov.; *Ascochyta rabiei* (Pass.) Lab.; *Leptosphaeria salvinii* Catt.; *Sclerotium oryzae* Catt.; *L. sacchari* Breda de Haan; *Cochliobolus miyabeanus* (Ito & Kuribaya) Drechsler ex Dastur; *Helminthosporium oryzae* Breda de Haan; *Sclerotinia sclerotiorum* (Lib.) Mass.; *Hibiscus sabdariffa* var. *altissima* Wester; *S. sclerotiorum*; *Hemibasidiomycetes*; *Protobasidiomycetes*; *Eubasidiomycetes*; *Ustilaginales*; *Ustilaginaceae*; *Tilletiaceae*; *Ustilago tritici* (Pers.) Rostr.; *Sphacelotheca sorghi* (Link) Clinton; *Tolyposporium ehrenbergii* (Kuehn.) Pat.; *T. penicillariae* Brefeld; *Ustilago hordei* (Pers.) Lagerheim; *Ustilago Kolleri* Willie; *U. avenae* (Pers.) Jens.; *Ustilago scitaminea* Sydow; *Tilletia caries* (D.C.) Tul; *T. foetida* (Wallr.) Liro; *Neovossia indica* (Mitra) Mundkur; *Neovossia horrida* (Tak.) Padwick & Azmatullah; *Urocystis tritici* Koernicke; *U. brassicae* Mundkur; *Puccinia graminis* Pers.; *Berberis vulgaris* Linn.; *Briza minor* Linn.; *P. triticina*; *Thalictrum*; *Isopyrum*; *P. glumarum* (Schmidt) Erikss. & Henn.; *Melampsora Lini* (Pers.) Lev.; *Linum mysorense* Heyne; *Coffea arabica* Linn.; *Uromyces ciceris-arietini* (Grogn) Jacz & Boyer., *U. appendiculatus* (Pers.) Lev.; *Phaseolus*; *P. mungo* Linn., *P. radiatus* Linn.; *V. fabae* (Pers.) de Bary; *Peridermium* sp.; *Cronartium* sp.; *Agaricales*;

Exobasidiaceae; *Polyporaceae*; *Exobasidium vexans* Massee; *Pellicularia salmonicolor* (Berk. & Br.) Dastur; *Corticium salmonicolor* Berk. & Br.; *P. koleroga* Cooke; *P. filamentosa* (Pat.) Rogers; *Rhizoctonia*; *R. solani* Kuhn; *Ganoderma lucidum* (Leyss.) Karst.; *Casuarina equisetifolia* Linn.; *Areca catechu* Linn.; *Pongamia glabra* Vent.; *Guazuma tomentosa* Kunth., *Acacia melanoxylon* R. Br., *A. arabica* Willd.; *A. auriculaeformis* A. Cunn.; *Albizzia* sp. *Erythrina* sp.; *Pterocarpus marsupium* Roxb.; *Cocos nucifera* Linn.; *Terminalia tomentosa* Wight & Arn.; *Delonix regia* Rafin.; *Azadirachta indica* A. Juss.; *Morus alba* Linn.; *Acrocarpus fraxinifolius* Wight & Arn.; *Cassia javanica* Linn., *C. siamea* Lam.; *G. applanatum* (Pers.) Pat., *Dalbergia* spp., *Acasia arabica* Willd; *Cedrela toona* Roxb; *Artocarpus integra* (Thunb.) Merrill.; *Mallotus philippinensis* Muell. Arg.; *Cinnamomum cecidodaphne* Meissn.; *Fomes badius* Berk.; *A. chundra* Willd.; *F. rimosus* Berk., *Terminalia bellerica* Roxb.; *Anogeissus latifolia* Wall.; *Lagerstroemia parviflora* Roxb.; *Elaeodendron glaucum* Pers.; *F. senex* Nees & Mont.; *Melia azedarach* Linn.; *Chukrasia tabularis* A. Juss.; *Aesculus indica* Colebr.; *Mimusops elengi* Linn.; *Pyrus communis* Linn.; *P. pashia* Buch.-Ham.; *Prunus persica* Benth. & Hook. f.; *Trametes pini* (Brot) Fr.; *Pinus excelsa* Wall.; *P. roxburghii* Sarg.; *P. girardiana* Wall.; *Cedrus deodara* (Roxb.) Loud.; *Abies pindrow* Royle; *Picea morinda* Link.; *Polyporus gilvus* Schw.; *Dalbergia sissoo* Roxb.; *D. latifolia* Roxb.; *Pterocarpus marsupium*; *Albizzia procera* Benth.; *Terminalia catappa* Linn.; *Cassia javanica*; *Shorea robusta* Gaertn. f.; *Quercus* spp.; *Polyporus palustris* Berk. & Curt.; *Picea morinda*; *Panellus rupicola* (Mass.) Singer; *Armillaria mellea* (Vahl) Fr.; *Sphaeropsidales*; *Melanconiales*; *Moniliales*; *Operculella padwickii* Kheswalla; *Septoria tritici* Desm.; *Diplodia cajani* Raychaudhury; *Cajanus cajan* Linn.; *Colletotricum graminicolum* (Ces.) Wilson.; *C. indicum* Dastur; *Aristolochia bracteata* Retz.; *Hibiscus diversifolius* Jacq.; *C. lindemuthianum* (Sacc. & Magn.) Bri. & Cav.; *C. curvatum* Briant & Martyn; *Pestalotia theae* Sawada; *Macrophomina phaseoli* (Maubl.); *Hibiscus sabdariffa* var. *altissima*; *Phaseolus aureus* Roxb.; *Rhizoctonia solani* Kuhn.; *Phaseolus aconitifolius* Jacq.; *Piricularia oryzae* Cav.; *Alternaria solani* (Ell. & Mast.) Jones & Grout; *A. brassicae* (Berk.) Sacc.; *Cruciferae*; *Cercospora dolichi* Ell. & Ev.; *Dolichos lablab* Linn. var. *typicus* Prain; *C. sesami* Zimm.; *Sesamum orientale* Linn.; *Helminthosporium tritici-repentis* Died.; *H. sativum* P. K. & B.; *Fusaria* spp.; *Fusarium udum* Butler; *F. orthoceros* var. *ciceri* Padwick; *F. vasinfectum* Atk.; *F. coeruleum* (Lib.) Sacc.; *Mycelia sterilia*; *Sclerotium rolfsii* Sacc.; *Piper betle*; *Ozonium texanum* Neal & Wester var. *parasiticum*; *Ascomycetes*; *Actinomycetes*; *Trichophytum*; *Microsporum*; *Epidermophytum*; *Trichophytum violaceum* Sabouraud; *T. tonsurans* Malmsten; *T. crateriforme* Sabouraud; *T. mentagrophytes* (Robin) Blanchard; *T. gypseum* Bodin; *T. ferrugineum* (Ota) Langeron & Milochevitch; *Microsporum ferrugineum* Ota; *M. audouini* Gruby; *T. violaceum* var. *indicum*; *Microsporum canis* Bodin; *M. lanosum* Sabouraud; *Epidermophytum floccosum* (Harz) Langeron & Milochevitch; *E. inguinale* Sabouraud; *Trichophytum rubrum* (Castellani) Sabouraud; *T. purpureum* Bang.; *E. rubrum* Castellani; *Trichophytum schoenleini* (Lebert) Langeron & Milochevitch; *Microsporum gypseum* (Bodin) Guiart Grigorakis; *T. discoides* Sabouraud; *Trichophytum concentricum* Blanchard; *Endodermophytum concentricum* Castellani; *E. indicum* Castellani; *E. mansoni* Castellani; *E. tropicale* Castellani; *Rhinosporidium seeberi* (Wernicke) Seeber; *Blastomyces dermatitidis* Gilchrist & Stokes; *Candida albicans* (Robin) Berkhout; *C pinoyi*; *Monilia psilosis* (Ashf.) de Almeido; *C. albicans*; *Coccidioides immitis* Rixford & Gilchrist; *Darluca filum* (Biv.) Cast.; *Zoopagaceae* (*Zygomycetes*); *Arthrobotrys* spp.; *Dactylella* spp.; *Empusa muscae* Cohn.; *Metarrhizium anisopliae* (Metsch.) Sorokin; *Pyrilla* sp.; *Aspergillus flavus* Link., *Agaricus campestris*; *Cantharellus cibarius*; *Morchella esculenta*; *Boletus edulis*; *Cantharellus cibarius* Fr.; *C. aurantiacus* Fr.; *Volvaria diplasia* Berk. & Br.; *V. terastria* Berk. & Br.; *Lycoperdum bovista* Fr. syn. *L. giganteum* Batsch.; *L. gemmatum* Batsch; *L. piriforme* Schaeff.; *L. saccatum* Vahl.; *L. gemmatum*; *Morchella esculenta* (Linn.) Pers.; *Ascomycetes*; *Tuber* spp.; *Tuber cibarium* Sibth.; *Hymenomycetes-Armillaria mellea* (Vahl) Fr., *Boletus* sp.; *Clavaria fusiformis* Sowerby; *C. stricta* Pers.; *Collybia albuminosa* (Berk.) Petch; *C. velutipes* (W. Curtis ex Fr.) Quel; *Coprinus comatus* Fr.; *C. niveus* Fr.; *Craterrellus cornucopioides* (Linn.) Pers.; *Entoloma microcarpum* Berk. & Br.; *Favolus spathulatus* (Jungh.) Bres.; *Fistulina hepatica* Fr.; *Fomes pachyphlaeus* Pat.; *Hydnum coralloides* Scop.; *H. erinaceus* Bull.; *H. repandum* Linn.; *Hypoxylum vernicosum* Schw.; *Lactarius deliciosus* S.F. Gray; *Lentinus exilis* Klotzsch; *L. praerigidus* Berk.; *L. sajorcaju* Fr.; *L. sequarrosulsus* Mont.; *L. subnudus* Berk.; *Lepiota cepaestipes* Sowerby; *L. mastoidea* Fr.; *L. procera* (Scop.) Sacc.; *Panaeolus cyanascens*. Berk. & Br.; *Pleurotus cretaceous* Massee; *P. ostreatus* (Jacq.) Fr.; *Polyporus grammocephalus* Berk.; *P. sulphureus* (Bull.)

Fr.; *Polystictus sanguineus* (Linn.) Mey.; *Schizophyllum commune* Fr.; *Gasteromycetes*; *Bovista gigantea*; *Geaster* sp.; *Melanogaster durissimus* Cke.; *Podaxon calyptratus* Fr.; *P. pistillaris* (Linn.) Fr.; *Scleroderma aurantium* Pers.; *S. verrucosum* (Bull.) Pers.; *Amanita phalloides* Secr.; *A. muscaria* Pers.; *Russula emetica* (Schaff.) Fr.; *Gyromitra esculenta* (Pers.) Fr.; *Panaeolus* spp.; *Stropharia semiglobata* (Batsch) Quel.; *Hypholoma fasciculare* (Huds.) Fr.; *Dictyophora phalloidea* Desv.; *Lepiota cristata* (Alb. & Schw.) Fr.; *Marasmius urens* Fr.; *Saccharomyces*; *Penicillium camemberti* Thom.; *P. caseicolum* Bainier; *P. roqueforti* Thom.; *Fusarium*; *Aspergillus niger* van Tiegh.; *A. clavatus* Desm.; *Penicillium luteum* Zukal; *P. citrinum* Thom; *Mucor pyriformis* Fischer; *Ustulina vulgaris* Tul.; *Rhizopus oryzae* Went & Painsen; *Aspergillus flavus oryzae*; *P. glaucum* Link; *Rhizopus tritici* Saito; *R. nigricans* Ehrenb.; *Penicillium javanicum* V. Beyma; *Stysanus* sp.; *Oidium lactis* Fres.; *Mucor mucedo* Linn.; *A. sydowi* (Bain. & Sart.); *Phycomyces blakesleeanus* Burgeff; *Oospora* spp.; *Oidium*; *Cladosporium*; *Trichothecium*; *Fusarium*; *Penicillium expansum* Link; *Aspergillus glaucus* (Linn.) Link; *A. clavatus*; *Mucor racemosus* Fres; *Rhizopus nigricans*; *Alternaria tenuis* Nees; *Monascus purpureus* Went; *Monilia sitophila* (Mont.) Sacc.; *Cladosporium herbarum* Link; *Aspergillus nidulans* (Eid.) Wint.; *A. fumigatus* Fres.; *A. tamarii* Kita; *Penicillium atramentosum* Thom; *P. fellutanum* Biourge; *Alternaria* sp.; *Rhizopus arrhizus* Fischer.; *Colletotrichum capsici* Sydow; *Acrothecium penniseti* Mitra; *Gloeosporium mangiferae* Sydow; *Penicillium digitatum* Sacc.; *P. italicum* Wehmer.; *Colletotrichum gloeosporioides* Penzig; *Acrothecium* sp.; *Metarrhizium glutinosum* S. Pope; *Penicillium citrinum*; *Paecilomyces varioti* Bainier; *Chaetomium indicum* Corda; *Phycomycetes*; *Curvularia lunata* (Wakker) Boedijn.; *Eubasidiomycetes*; *Schizophyllum*; *Irpex*; *Fomes lividus*; *F. lignosus* Klot; *Polystictus steinheilianus* Berk. & Lev.; *Lentinus subnudus* Berk.; *Trametes cubensis* (Mont.) Sacc.; *Stereum hirsutum* (Willd.) Pers.; *Polyporus ostreiformis* Berk.; *Lenzites striata* Swartz; *Ceratostomella* spp.; *Salmalia malabarica* (DC.) Schott & Endl.; *Ailanthus* sp.; *Erythrina* sp.; *Boswellia serrata* Roxb.; *Anthocephalus cadamba* Miq.; *Pullularia*; *A. versicolor* (Vuill.) Tiraboschi; *A. oryzae*; *Monilia (Neurospora) crassa* Shear & Dodge; *Hormodendrum sp.*; *Trichoderma* sp.; *Stemphylium* sp.; *Spicaria* sp.; *Chaetomium globosum*; *Penicillium notatum* Westling; *Penicillium notatumchrysogenum* Series; *Polystictus sanguineus* Fr.; *Staphylococcus aureus*; *Escherichia coli*; *Clitocybe gigantea* Fr.; *Mycobacterium tuberculosis*; *Fusarium avenaceum* Sacc.; *Chaetomium cochlioides* Palliser; *P. lividum* Westing; *P. implicatum* Biourge; *P. chrzaszczi* Zaleski; *Aspergillus tirreus* Thom; *A. niveus* Blochwitz; *Oidiodendron fuscum* Robak; *Penicillium gladioli* Machacek; *Gliocladium fimbriatum* Gilman & Abbott; *Clytocybe illudens* Fr.; *Fusarium javanicum* Koord.; *Lactarius deliciosus* Fr.; *Fusarium bulbigenum* Cooke & Mass var. *lycopersici* (Brushi) Wollenw.; *Penicillium griseofulvum* Dierckx; *Ganoderma oregonense* Murill; *Pleurotus griseus* Peck; *Penicillium puberulum* Bainier; *Penicillium spinulosum* Thom; *Trichothecium roseum* Link ex Fr.; *Trichoderma viride* Pers. ex Fr.; *Marasmius campanella* Holt.; *Daedalea microzona* Pers.; *Flammula dilepis* Berk. & Br.; *Lentinus praerigidus* Berk.; *L. revelatus* Berk.; *L. subnudus* Berk.; *Polyporus schweinitzii* Fr.; *Agaricus campestris*

कश्मीरी बारहसिंगा – देखिए हिरण

कसक्यूटा लिनिअस (कनवल्वुलेसी)
CUSCUTA Linn.

ले.–कुसकूटा

इस वंश में विना पत्तियों की लता-जैसे पतले एवम् हल्के पीले रंग के तनों वाले परजीवी पौधों की 180 जातियाँ पायी जाती हैं. ये अधिकतर उष्णकटिबंधीय और शीतोष्ण जलवायु वाले क्षेत्रों में पाई जाती हैं. इनमें से 6 जातियाँ भारतवर्ष में उगती हैं.

Convolvulaceae

क. रिफ्लेक्सा रॉक्सवर्ग C. reflexa Roxb.

ले.–कु. रेफ्लेक्सा

D.E.P., II, 671; Fl. Br. Ind., IV, 225.

सं.–अमरवेल; हि.–आकाशवेल; वं.–हल्दी-आलगुसीलत्ता; गु.–आकाशवेल; म.–निर्मूली; ते.–सीतम्मा पोगनालु; पंजाव–निलायरी, अमिल.

यह पौधा सारे भारतवर्ष तथा श्रीलंका मे एक परजीवी लता के रूप में सामान्यत: 2,400 मी. की ऊँचाई तक पाया जाता है जो कभी-कभी झाड़ियों और वृक्षों को पूरी तरह ढके रहता है. यह रेचक है और दीर्घकालिक ज्वर, वायु-रोध तथा यकृत के कड़े हो जाने पर दवा के रूप में दिया जाता है. खुजली में वाह्य-औपधि की तरह इसका उपयोग किया जाता है. पौधे का काढ़ा वना कर घाव या फोड़ा साफ करते हैं (Kirt. & Basu, III, 1742).

वीज रुपान्तरक होते हैं तथा रेचकों के वनाने के काम आते हैं. इसका ठंडा काढ़ा रक्त को शुद्ध करने वाला होता है.

क. रिफ्लेक्सा के वीजों में अमरवेलिन ($C_{18}H_{16}O_7$, ग. वि., 234°) तथा कसक्यूटिन ($C_{15}H_{12}O_3$, ग. वि., 208–9°)

नामक वर्णक पाये जाते हैं. बीजों में मोम होता है जिसमें उच्चतर ऐलीफैटिक ऐल्कोहलों तथा संतृप्त वसा अम्लों से बने एस्टर पाए जाते हैं. एस्टरों में पाये गये वसा अम्लों में 26 तथा 28 कार्बन परमाणु होते हैं जिसमें सिरोटिक अम्ल की पहचान हो चुकी है. इसके बीजों से पारदर्शक, हरा-पीला और मंद सूखने वाला तेल निकलता है जिसके स्थिरांक निम्नलिखित हैं: आ. घ.$^{23°}$, 0.9352; $n^{25°}$, 1.4820; अम्ल मान, 3.25; साबु. मान, 189.5; ऐसीटिलीकरण मान, 17.4; हेनर मान, 93.0; आयो. मान, 96.9; तथा असाबु. पदार्थ, 1.5–1.8%. तेल के घटक अम्ल निम्नलिखित है: लिनोलेनिक, 9.92; लिनोलिक, 17.26; ओलीक, 25.58; स्टियरिक, 27.2 और पामिटिक, 11.5%. असाबुनीकृत भाग में फाइटोस्टेराल, ग. वि., 134-5° होता है. तने में भी कसक्यूटिन पाया जाता है. **क. चाइनेन्सिस** लामार्क एक अन्य जाति भी भारतवर्ष के अधिकतर भागों में पायी जाती है और गुणों में **क. रिफलेक्सा** (अमर बेल) के समान होती है. इसके बीज पौष्टिक, स्वेदकारी तथा शामक बताए जाते हैं (Agarwal & Dutt, *J. Indian chem. Soc.*, 1935, **12**, 384, 587; 1936, **13**, 264; Agarwal, ibid., 531; Gupta *et al.*, *Proc. nat. Acad. Sci., India*, 1940, **10**, 68; Mayer & Cook, 191, 251; Kirt. & Basu III, 1743).

C. chinensis Lam.

कांड्रस – देखिए शैवाल

काइरैन्थस लिनिअस (क्रूसीफेरी) CHEIRANTHUS Linn.

ले.–केइरान्थूस

D.E.P., II, 265; F. Br. Ind., 1, 132

यह बहुवर्षी बूटियों की 25 जातियों का वंश है जो मुख्यतः मैडीरा तथा कनारी द्वीपों से पूर्व की ओर हिमालय प्रदेश तक फैला पाया जाता है. **का. चीरी** लिनिअस (वाल फ्लावर) दक्षिणी यूरोप की मूल वासी जाति है लेकिन अपने आकर्षक पीले फूलों के कारण यह भारतीय वाटिकाओं में कभी-कभी लगायी जाती है.

इन फूलों के विलायक निष्कर्षण एवं उसके बाद निष्कर्ष के वाष्प-आसवन से लगभग 0.06% वाष्पशील तेल प्राप्त होता है. इस तेल का रंग पीलाभ-सा होता है और ऐल्कोहलीय विलयन में डालने पर नीली प्रतिदीप्ति दिखाई देती है. इसके अभिलक्षण इस प्रकार हैं: आ. घ.$^{15°}$, 1.001; अम्ल मान, 0.35; एस्टर मान, 20.0; साबु. मान, 20.35. इसमें एक अरुचिकर गंध होती है किन्तु इसके अत्यधिक तनुकरण से इसकी गंध बहुत अच्छी हो जाती है. इस पौधे की पत्तियों से काइरैन्थिन तथा काइरिनाइन नाम के दो पदार्थ पृथक् किए गए हैं. इनमें से पहला पदार्थ एक ग्लाइकोसाइड है जिसमें डिजिटैलिस की तरह की क्रिया होती है और काइरिनाइन भेपजीय गुणों की दृष्टि से क्विनीन की क्रिया से मिलता-जुलता बताया जाता है. बीजों से पृथक्कृत काइरोलिन (मेथिल α-थायोकार्बिमिडो-प्रोपिलसल्फोन, $C_5H_9O_2SN_2$; ग. वि., 47–48°) प्रकृति में प्राप्य अद्भुत सल्फोन है जो स्पष्टतः मिथियोनीन से उत्पन्न होता है. लगता है कि यह बीजों में ग्लाइकोसाइड के रूप में रहता है. एक अत्यन्त सक्रिय हृद्य-ग्लाइकोसाइड, काइरोटॉक्सिन, भी बीजों से पृथक किया गया है जिससे स्ट्रोफैंथाइडीन नामक अग्लाइकोन प्राप्त होता है. एक अन्य हृद्य ग्लाइकोसाइड भी विद्यमान रहता है जिसमें अन्य घटकों की भाँति कोई हृदय सम्बन्धी क्रिया नहीं पाई जाती. इसके बीजों से 20% स्थिर तेल (आ. घ.$^{15°}$, 0.9155; $n_D^{40°}$, 1.4718; अम्ल मान, 2.5; साबु. मान, 176.4; एस्टर मान, 173.9; आयो. मान, 137.0; और आर. एम. मान, 0.50), उत्पन्न होता है जिसमें ग्लिसराल, 3.9; असाबुनीकृत पदार्थ, 1.1; संतृप्त अम्ल, 4.9; इरुसिड अम्ल, 40.6; ओलीक अम्ल, 4.9; लिनोलिक अम्ल, 24.7; तथा लिनोलेनिक अम्ल, 19.4% होता है (Parry, I, 500; *Chem. Abstr.*, 1930, **24**, 4761).

इसके फूल हृद्य तथा आर्तवजनक और सूखी पंखुड़ियाँ उद्दीपक होती हैं. इसके बीज बलवर्धक, मूत्रल, कफोत्सारक और क्षुधावर्धक होते हैं (Kirt. & Basu, I, 144).

Cruciferae

काइलिंगा राटबोएल (साइपरेसी) KYLLINGA Rottb.

ले.–किल्लिंगा

यह संसार के उष्णकटिबन्धी और उपोष्ण क्षेत्रों में पाई जाने वाली एकवर्षी और बहुवर्षी बूटियों का एक लघु वंश है. भारत में इसकी 8 जातियाँ पाई जाती हैं.

Cyperaceae

का. ब्रेविफोलिया राटबोएल = साइपेरस ब्रेविफोलियस (राटबोएल) हास्कारी K. brevifolia Rottb.

ले.–कि. ब्रेविफोलिआ

Fl. Br. Ind., VI, 588.

यह समस्त भारत में बहुधा नदी किनारों पर तथा अन्य नम स्थानों की मुलायम चिपचिपी मिट्टियों में पायी जाने वाली 60 सेंमी. तक ऊँची, 20 सेंमी. तक लम्बे क्षीण विसर्पी प्रकंद वाली एक ऊर्ध्व, अरोमिल, बहुवर्षी बूटी है. इसके तने प्रायः दूर-दूर होते हैं, कभी-कभी समीपस्थ भी होते हैं; पत्तियाँ रैखिक, तने जितनी ही लम्बी अथवा उससे काफी छोटी होती हैं.

का. ब्रेविफोलिया को पशु अच्छी तरह खाते हैं. पौधे का विश्लेषण करने पर निम्नलिखित मान प्राप्त हुए (शुष्क आधार पर): प्रोटीन, 8.47; वसा, 0.94; स्टार्च, 45.0; अशोधित तंतु, 29.86; और राख, 15.73%. बताया जाता है कि ऑस्ट्रेलिया में यह पौधा मुख्य रूप से नौजवान पशुओं में अतिसार उत्पन्न करता है (Burkill, II, 1289; Walandouw, *J. sci. Res. Indonesia*, 1952, **1**, 201; Webb, *Bull. Coun. sci. industr. Res. Aust.*, No. 232, 1948, 48; Connor, *Bull. Dep. sci. industr. Res.*, N.Z., No. 99, 1951, 114).

इसकी जड़ें और प्रकंद अदरक जैसी गंध से युक्त एवं अत्यधिक सुगंधित होते हैं. मलाया में इसके प्रकंदों का उपयोग टाँगों के व्रणों के लिए पुल्टिसों में किया जाता है. इसकी

पत्तियाँ अतिसार में खाई जाती हैं (Blatter, *J. Bombay nat. Hist. Soc.*, 1934–35, **37**, 22 Burkill, II, 1289).
Cyperus brevifolius (Rottb.) Hassk.

का. मोनोसेफैला राटबोएल = **साइपेरस काइलिंगिया** एंडलिखर K. monocephala Rottb.

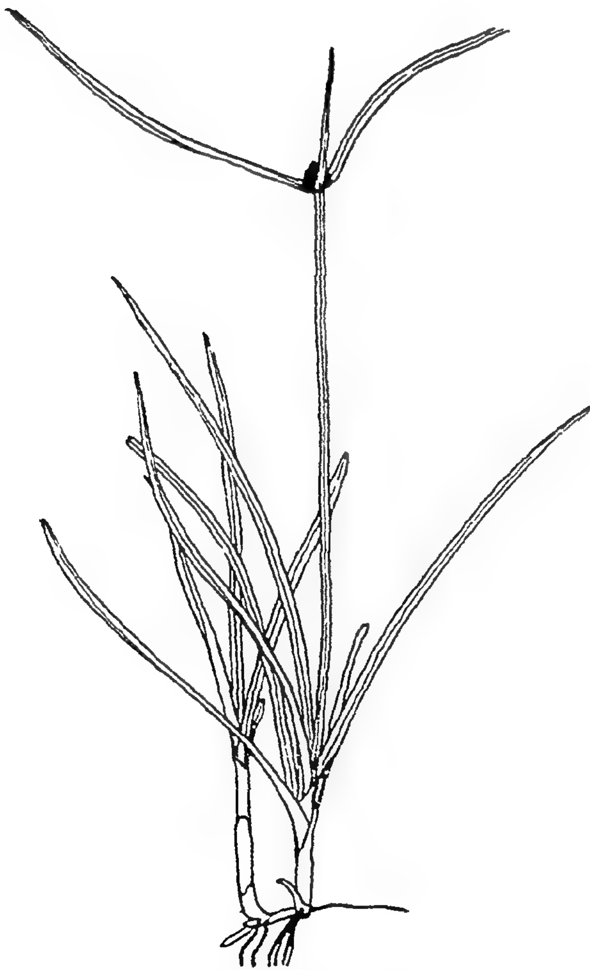
ले.–कि. मोनोसेफाला

D.E.P., IV, 569, III, 415; Fl. Br. Ind., VI, 588; Kirt. & Basu, Pl. 1009 B.

हिं. और बं.–निर्विशी, श्वेतगोयुबी; म.–मुस्तू; मल.–मोट्टेंगा, पिमोट्टेंगा.

दिल्ली – भड़ा, मोथा.

यह समस्त भारत में, विशेषकर छायादार और नम स्थानों में, पाया जाने वाला, सुविकसित प्रकंदों से युक्त 30 सेंमी. तक ऊँचा एक ऊर्ध्व विसर्पी पौधा है. इसकी पत्तियाँ रैखिक, तने जितनी ही लम्बी अथवा उससे काफी छोटी होती हैं; इसके स्पाइक श्वेत, गोलाकार, एकल और अंतस्थ होते हैं.



चित्र 13 – काइलिंगा मोनोसेफैला

का. मोनोसेफैला पशुओं का खाद्य है. पौधे के विश्लेपण से निम्नलिखित मान (शुष्क आधार पर) प्राप्त हुए: प्रोटीन, 10.59; वसा, 0.86; स्टार्च, 42.36; अशोधित तन्तु, 27.25; और राख, 18.94%. आस्ट्रेलिया की एक रिपोर्ट के अनुसार यह पौधा पशुओं के लिये हानिकारक है, विशेषतया जब बीज बनने की अवस्था में इसे खिलाया जाए. इससे पेचिश, अतिसार, तथा उदर शूल हो जाता है (Walandouw, loc. cit.; Webb, loc. cit.).

यह पौधा मूत्रल, अग्निवर्द्धक और कृमिनाशक समझा जाता है और भगंदर, स्फोटों, रसौलियों और आमाशय तथा आन्त्र संबंधी रोगों में दिया जाता है. मलाया में इसका उपयोग अतिसार के लिए तथा सेलीबीज़ में खसरा के लिए किया जाता है. इसके स्पाइकों का उपयोग पुल्टिस के रूप में नाखूनों के सूज जाने और मवाद पड़ जाने पर किया जाता है. इसकी जड़, तने और गुठलियों में अत्यल्प मात्रा में हाइड्रोसायनिक अम्ल होता है [*J. sci. Res. Indonesia*, 1952, **I** (suppl.), 18; Mhaskar & Caius, *Indian med. Res. Mem.*, No. 19, 1931, 50; Burkill, II, 1289; Quisumbing, 1025].

इसका प्रकंद सुगंधियुक्त, ऐरोमैटिक और कषाय होता है. प्रकन्द का क्वाथ मूत्रल, स्वेदल, प्रशीतक, शामक और वल्य के रूप में प्रयोग होता है; ज्वर और मधुमेह में यह प्यास कम करने के लिए दिया जाता है. तेल में मिलाकर इसका उपयोग त्वचा-शोथ में मरहम की भाँति किया जाता है. इसके प्रकंद से एक गहरे पीत-हरित रंग का वाप्पशील तेल प्राप्त होता है जिसकी गंध सुहावनी और स्वाद तीखा होता है और इसका उपयोग उन्हीं कार्यों के लिए किया जाता है जिनके लिए इसके काढ़े का किया जाता है (Crevost & Petelot, *Bull. econ. Indoch.*, 1934, **37**, 1031; Quisumbing, 117; Nadkarni, I, 719; Kirt. & Basu, IV, 2633-34; Dymock, Warden & Hooper, III, 556-57).
Cyperus kyllingia Endl.

का. स्क्वामुलाटा वाल = **साइपेरस मेट्जाई** (होख्सटेटर) **मैटफेल्ड और कुकेंथल** K. squamulata (Vahl)

ले.–कि. स्कुआमुलाटा

Fl. Br. Ind., VI, 589.

यह हिमालय में कश्मीर से कुमायूं तक 1,500–1,800 मी. की ऊँचाई पर और पश्चिमी घाट, कोंकण और कनारा में पाया जाने वाला 30 सेंमी. तक ऊँचा, तंतुमय मूलों वाला और तने के बराबर या इससे अधिक लम्बी पत्तियों वाला, घने गुच्छों के रूप में उगने वाला एक वार्षिक पौधा है.

जम्मू के **का. स्क्वामुलाटा** के विश्लेपण से निम्नलिखित मान (शुष्क आधार पर) प्राप्त हुए: प्रोटीन, 12.85; ईथर निष्कर्ष, 2.18; खनिज पदार्थ, 17.26; अशोधित तन्तु, 28.84; कार्बोहाइड्रेट, 36.35; CaO, 1.60; और P_2O_5, 0.93%. इस पौधे को पशु खाते हैं (Chopra *et al.*, *Indian J. agric. Sci.*, 1956, **26**, 456).

इस पौधे का प्रकंद सुगंध में उष्णकटिबंधी पश्चिमी अफ्रीका के **का. इरेक्टा** शुमाखर और थोनिंग के समान होता है. यह स्वाद में कुछ कड़वा होता है. शुष्क अवस्था में इसकी सुगंध काफी समय तक बनी रहती है और इसका उपयोग प्रायः धूमक के रूप में किया जाता है. कभी-कभी इसे चबाया भी जाता है. इसके प्रकंद का रस खाद्यों तथा ओषधियों को सुवासित बनाने के लिए किया जाता है (Dalziel, 518).

का. ट्राइसेप्स राटबोएल = **साइपेरस ट्राइसेप्स** (राटबोएल) एंडलिखर कुमायूँ में 1,500–1,800 मी. की ऊँचाई पर और ऊपरी गंगा के मैदान से पश्चिम बंगाल, सुन्दरवन और दक्षिणी प्रायद्वीप तक पायी जाने वाली 30 सेंमी. तक ऊँची, छोटे प्रकंद वाली और तने के बराबर या उससे आधी लम्बी रैखिक पत्तियों और गुच्छों में उगने वाली एक लघु बूटी है. इस पौधे के देशी नाम वे ही हैं जो **का. मोनोसेफैला** के हैं और इसके गुण **का. मोनोसेफैला** और **का. इरेक्टा** जैसे बताए जाते हैं.
Cyperus metzii (Hochst.) Mattf. & Kukenthal; *K. erecta* Schum. & Thonn.; *K. triceps* Rottb.; *Cyperust riceps* (Rottb.) Endl.

काइसोकेटान ब्लूम (मेलिएसी) CHISOCHETON Blume

ले.–किसोकेटोन
Fl. Br. Ind., I, 550

यह पौधों तथा झाड़ियों की लगभग 80 जातियों का वंश है जो भारत और मलाया के भूखण्ड में पाया जाता है. इसमें से 5 जातियाँ भारत में पाई जाती हैं. **का. पैनीक्युलेटस** हीर्न (नेपाल–बन्द्रीफल; सिलहट–कालीकौरा; असम–बंदोरदीमा) छोटा-सा वृक्ष है जो सिक्किम के हिमालय क्षेत्र, असम घाटी तथा खासी पहाड़ियों पर उत्पन्न होता है. इसमें हल्के पीले तथा मंद सुगंधि वाले छोटे-छोटे फूलों की मंजरियाँ लगती हैं. इसकी लकड़ी का उपयोग कभी-कभी घरों में बल्ली के रूप में किया जाता है (Fl. Assam, I, 234).
Meliaceae; C. paniculatus

काई वालिश (गटीफेरी) KAYEA Wall.

ले.–काइएआ

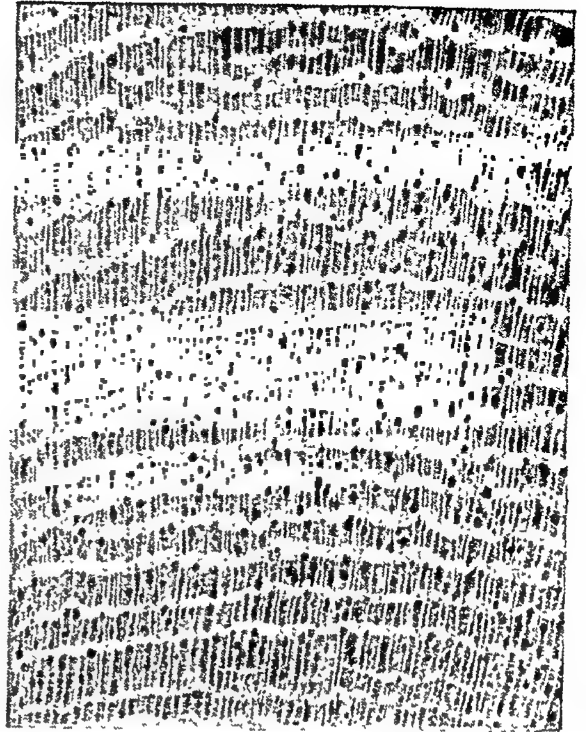
यह दक्षिण-पूर्वी एशिया में पाये जाने वाले वृक्षों का एक वंश है. भारत में इसकी तीन जातियाँ पाई जाती हैं.
Guttiferae

का. आसामिका किंग तथा प्रेन K. assamica King & Prain

ले.–का. अस्सामिका
Fl. Assam, I, 113.

लखीमपुर–सिआ-नहोर.

यह सुन्दर चिरहरित 22.5 मी. तक ऊँचा, बेलनाकार तने वाला वृक्ष है जिसके तने की लम्बाई लगभग 12 मी. एवं परिधि 1.8–2.4 मी. तक होती है. यह उत्तरी लखीमपुर के उपपर्वतीय जंगलों में यूथों में मिलता है. छाल प्रायः



चित्र 14 – काई आसामिका – काष्ठ का अनुप्रस्थ काट (×10)

बड़ी वर्गाकार पट्टियों के रूप में उतरने वाली, हल्की भूरी धूसर होती है; पत्तियाँ विपरीत, अंडाकार, या दीर्घवृत्ताकार, नुकीली, 7.5–13.75 सेंमी. × 2.5–4.5 सेंमी. तक, चर्मिल; फूल अंतस्थ या कक्षस्थ, पुष्पगुच्छों में; फल दबा हुआ, गोलाकार, 2.5 × 4.5 सेंमी. तथा वृद्धिशील, कठोर बाह्यदल से घिरा हुआ; बीज अकेला एवं भरे पूरे बीजपत्र से युक्त होता है.

लकड़ी हल्के लाल से लाल-भूरी, कुछ चमकीली, अंतर्ग्रंथित दानेदार तथा अच्छे गठन वाली होती है. यह भारी (आ. घ., लगभग 0.91; भार, 880–960 किग्रा./घमी.) होती है और सागौन की अपेक्षा अधिक प्रत्यास्थ, दृढ़ एवं कठोर होती है. लकड़ी की सतह पर दरारें पड़ जाती हैं; हरी लकड़ी के स्लीपरों एवं तख्तों को हवा में पकाने पर अच्छे परिणाम प्राप्त हुए हैं. छाया में रखी लकड़ी मध्यम टिकाऊ होती है लेकिन बिना रँगी लकड़ी खुले स्थान में या पानी के अंदर अधिक दिनों तक नहीं चल पाती. देहरादून में किए गए शवस्थान-परीक्षण के आधार पर इस की आयु 5 से 7 वर्ष तक होती है. परिरक्षी उपचार के प्रति यह लकड़ी दुराग्रही है. इसे गढ़ना सुगम नहीं है किन्तु इसकी सतह चिकनी हो जाती है (Pearson & Brown, I, 55–57; Purushotham *et al.*, *Indian For.*, 1953, **79**, 49, Fig. 2/4).

भवन-निर्माण की दृष्टि से यह लकड़ी अत्यन्त मूल्यवान समझी जाती है. मकान के अंदर खम्भों, धरनों एवं बरेंड़ों के लिए यह उपयोगी है; उपचारित करने पर इस लकड़ी के अत्यन्त

टिकाऊ स्लीपर बनते हैं. फल मत्स्य-विष की तरह प्रयुक्त किये जाते हैं (Pearson & Brown, I, 57; Bor, 202).

का. फ्लोरिबंडा वालिश K. floribunda Wall.

ले.–का. फ्लोरीबुंडा
Fl. Br. Ind., I, 276.

असम–बोलांग, फाइ-हुर्शी, करल.

यह ऊँचा, चिरहरित वृक्ष है जिसकी गोल परतों में उतरने वाली छाल हरित धूसर या भूरी होती है. यह पूर्वी हिमालय और असम की पहाड़ियों में 900 मी. की ऊँचाई पर पाया जाता है. पत्तियाँ विपरीत, संकीर्ण, दीर्घवत् नुकीली, 12.5–25 सेंमी.× 2.5–6.25 सेंमी. चर्मवत्; फूल गुलाबी किनारों से युक्त, अंतस्थ पुष्पगुच्छों में; फल गोल, नमित, 3.75–4.37 सेंमी. व्यास वाले, अस्फुटी, कठोर बाह्य दलपुंज से आवृत तथा एक बीज वाले होते हैं.

इस जाति की लकड़ी भारी और दूर-दूर स्थित बड़े रंध्रों से युक्त होती है. सागौन की तुलना में इमारती लकड़ी के रूप में इसके गुणों की उपयुक्तता का प्रतिशत इस प्रकार है: भार, 120; धरन के रूप में कठोरता, 105; धरन के रूप में दृढ़ता, 100; स्तंभ के रूप में उपयुक्तता, 95; आघात प्रतिरोधी क्षमता, 155; आकृति स्थिरण क्षमता, 50; अपरूपण, 125; तथा कठोरता, 145. यह लकड़ी अधिक टिकाऊ नहीं होती; देहरादून में किए गए अवस्थल-परीक्षण के अनुसार इसकी औसत आयु 2–5 वर्ष है. खात नौकाओं और संरचनाओं के लिए इसका उपयोग होता है. यह औजारों की मूठिया बनाने के लिए भी उपयोगी है [Fl. Assam, I, 113; Limaye, *Indian For. Rec., NS., Util.*, 1944, 3 (5), 20; *Indian For.*, 1952, 78, 368; Purushotham *et al.*, ibid., 1953, 79, 49, Fig. 2/5].

काई-सेवा – देखिए डोविएलिस

काकलीरिआ लिनिअस (क्रूसीफेरी) COCHLEARIA Linn.

ले.–काकलेआरिआ
Fl. Br. Ind., I, 145.

यह अरोमिल, प्रायः दलदार एकवर्षी बूटियों की लगभग 40 जातियों का वंश है जो उत्तरी शीतोष्ण क्षेत्रों में पाया जाता है. भारत में इसकी तीन जातियाँ मिलती हैं.

का. आर्मेरेसिया लिनिअस (**आर्मेरेसिया लैपेथिफ़ोलिया** गिलिबर्ट) सुप्रसिद्ध हार्सरैडिश है जो मसाले की भाँति काम में लाई जाती है और जिसमें पाचक और स्कर्वीरोधी गुण बताए जाते हैं. इसका मूल स्थान पूर्वी यूरोप के दलदली क्षेत्र हैं और यह थोड़ी मात्रा में उत्तर भारत और दक्षिण भारत के पहाड़ी भागों के बगीचों में उगायी जाती है. ये पौधे ताजी जड़ के खण्डों से उगाये जाते हैं और इनकी खेती में विशेष सावधानी और ध्यान की आवश्यकता पड़ती है. इसकी जड़ कन्दिल और बेलनाकार (लगभग 30 सेंमी. लम्बी और व्यास में 18.7 मिमी.) और स्वाद में तीखी और कड़वी होती है. जब उसे छीला अथवा क्षत किया जाता है तो उसमें से उसकी लाक्षणिक तीखी गंध निकलती है. हार्सरैडिश में जल 73.4; प्रोटीन, 3.2; वसा, 0.2; कुल कार्बोहाइड्रेट, 21.4; रेशे, 2.4; और राख, 1.8% होती है (Firminger, 164; von Loesecke, 356).

हार्सरैडिश उद्दीपक, स्वेदकारी, मूत्रल और पाचक समझा जाता है. यह कटिवेदना और इसी प्रकार की अन्य कष्टकारी व्याधियों में प्रतिक्षोभक की तरह प्रयुक्त किया जाता है. इसकी जड़ में एक तीखा और छाले डालने वाला वाष्पशील तेल होता है. इसका तीखापन ग्लाइकोसाइड, सिनिग्रिन, और एंजाइम माइरोसिन के कारण होता है. जब जड़ को कुचल कर पानी में मिलाते हैं तो ये दोनों परस्पर अभिक्रिया करते हैं जिससे ऐलिल आइसोथायोसायनेट उत्पन्न होता है. पिसा हुआ हार्सरैडिश जीवाणुओं की वृद्धि को रोकता है. यह प्रभाव भी ऐलिल आइसोथायोसायनेट के कारण बताया जाता है. इसकी जड़ में विटामिन सी प्रचुर मात्रा में रहता है; ताजे पदार्थ में औसतन 302 मिग्रा./100 ग्रा. ऐस्कार्बिक अम्ल पाया जाता है (B.P.C., 157; *Chem. Abstr.*, 1939, **33**, 8675; 1949, **43**, 1498).

का. फ्लेवा बुखनन-हैमिल्टन एक्स रॉक्सबर्ग, एकवर्षी बूटी है जो गंगा की घाटियों में पाई जाती है. यह ज्वरों में उपयोगी बताई जाती है (Kirt. & Basu, I, 177).

Cruciferae; *C. armoracia* Linn.; *Armoracia lapathifolia* Gilib.; *C. flava* Buch.-Ham. ex Roxb.

काक्सीनिया वाइट तथा आर्नेट (कुकरबिटेसी) COCCINIA Wight & Arn.

ले.–कॉक्सिनिआ

यह उष्णकटिबन्धी अफ्रीका तथा एशिया में पाई जाने वाली 35 जातियों का एक वंश है. सामान्यतः **का. इंडिका** भारत में पायी जाती है.

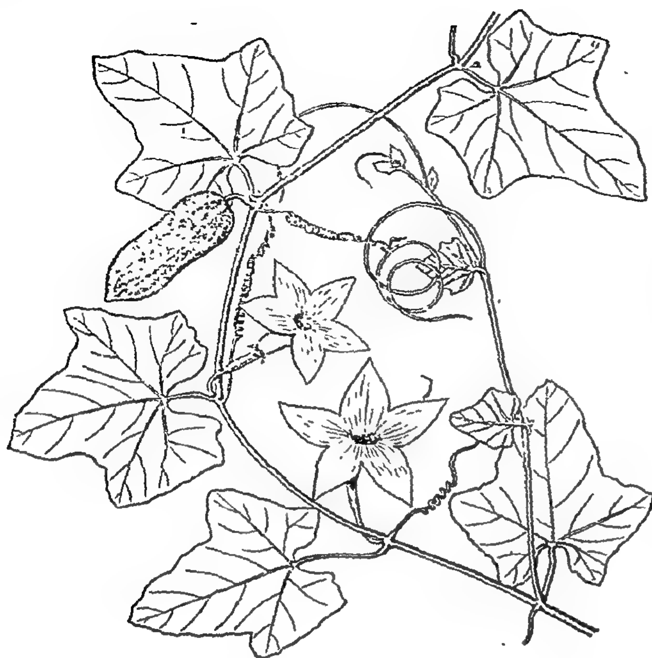
Cucurbitaceae

का. इंडिका वाइट तथा आर्नेट = का. कार्डिफोलिया कानियो सिन. सिफालैण्ड्रा इंडिका नाडिन C. indica Wight & Arn. आइवी गोर्ड

ले.–कॉ. इंडिका
D.E.P., II, 252; Fl. Br. Ind., II, 621.

सं.–बिम्ब; हिं.–कुंदुरी; बं.–तेलाकुचा; म.–बिम्बी, तेंदुली; गु.–गिलोडा; क.–तौंडेकाइ; त.–कोवइकाइ; ते.–दंडकाया.

यह आरोही अथवा भूशायी बूटी है जो समस्त भारत में जंगली रूप में उगती है. इसकी जड़ें लम्बी और कन्दिल, फल 2·5 या 5 सेंमी. लम्बे और 1·2–2.5 सेंमी. व्यास वाले, अण्डाकार अथवा दीर्घवृत्ताकार होते हैं. कच्चे रहने पर फल चिकने, चटक हरे और सफेद धारियों से युक्त होते हैं किन्तु पकने पर चटक सिन्दूरी हो जाते हैं. कच्चे फलों की तरकारी बनाई जाती है और पकने पर ये ताजे खाये जाते हैं. कभी-कभी



चित्र 15 – काक्सीनिया इंडिका

इन्हें शक्कर में पाग दिया जाता है. पौधे के कोमल प्ररोहों की सब्जी बनाई जाती है. इसकी कुछ ही किस्में सूचित है जिनमें से एक कड़वे फल देती है [Burkill, I, 593; Bal, *Rec. bot. Surv. India*, 1942, **6** (10), 28].

पौधे का प्रवर्धन इसकी कन्दिल जड़ों अथवा तने की कलमों से किया जाता है. यह अच्छे जल-निकास वाली, ठीक से तैयार की गई, गहरी, भुरभुरी, दुमट, लाल मिट्टी में तथा सिंचित अवस्था में अच्छी तरह बढ़ता है और अप्रैल से सितम्बर तक खूब फल देता है (Joga Rao, *Madras agric. J.*, 1932, **20**, 97).

कोमल फलों के विश्लेषण से निम्नांकित मान प्राप्त हुए : आर्द्रता, 93·1; प्रोटीन, 1·2; वसा (ईथर निष्कर्ष), 0·1; तन्तु, 1·6; कार्बोहाइड्रेट, 3·5; खनिज पदार्थ, 0·5; कैल्सियम, 0·04; फास्फोरस, 0·03%; लोहा, 1.4 मिग्रा. प्रति 100 ग्रा.; कैरोटीन, विटामिन ए के रूप में मूल्यांकित, 260 अं. इ. प्रति 100 ग्रा., विटामिन सी, 28 मिग्रा. प्रति 100 ग्रा. (*Hlth. Bull.*, No. 23, 1941, 33).

का. इंडिका की जड़ों, तनों तथा पत्तियों के अनेक विरचनों का उल्लेख देशी ओषधियों में पाया जाता है जिसमें ये चर्म रोगों, जुकाम, फेफड़ों के शोथ तथा मधुमेह में गुणकारी होते हैं. कोमान ने ऐसे कुछ दावों की रोगलाक्षणिक परीक्षा की और उसका कहना है कि **का. इंडिका** के बारे में बताये गये कोई भी गुण न तो पौधे के तेल-निष्कर्ष में और न इसके काढ़े में पाये गये हैं. चोपड़ा ने पौधे से निचोड़ कर निकाले गये रस की उपयोगिता की जाँच मधुमेह में की और यह देखा कि जब पौधे में उपस्थित ऐल्कलॉयड तथा हॉरमोन दोनों को ही, खरगोशों में अवस्त्वचीय इंजेक्शन के रूप में दिया गया तो रक्त-शर्करा अंश में कोई प्रभाव नहीं पड़ा. ताजे रस को जब शर्करामेह से पीड़ित रोगियों को दिया गया तो इसने भी रक्त अथवा मूत्र-शर्करा अंश में कोई कमी नहीं की. ऐल्कलॉयड, भेषज गुणविज्ञान की दृष्टि से अक्रिय है और रक्त परिसंचरण, श्वसन तथा पोषण प्रणाली पर इसका कोई प्रभाव नहीं पड़ता. इसके रस में एक एमाइलेस होता है (Kirt. & Basu, II, 1151; Koman, 1920, 40; Chopra & Bose, *Indian J. med. Res.*, 1925, **13**, 11; *Indian med. Gaz.*, 1925, **60**, 201).

C. cordifolia Cogn.; *Cephalandra indica* Naud.

काञ्चबालू GLASS SAND

काँचबालू, अर्थात् विभिन्न कोटि के काँच के औद्योगिक निर्माण के उपयुक्त बालू का मुख्य अवयव सिलिका (SiO_2) है जो काँच में 70–80% तक होता है. प्रकृति में सिलिका क्रिस्टलीय अवस्था में स्फटिक (क्वार्ट्ज़) के रूप में, गूढ़-क्रिस्टली अवस्था में चकमक (फ्लिंट), चर्ट, कैल्सेडोनी के रूप में, अक्रिस्टलीय अवस्था में दूधिया पत्थर (ओपल) के रूप में पाया जाता है. स्फटिक आग्नेय, कायांतरित तथा अवसादी शैलों में पाया जाने वाला एक सामान्य खनिज है और काँच उद्योग में प्रयुक्त होने वाले सिलिका बालू का मुख्य अयस्क है. जलोढ़ और समुद्रतटीय निक्षेप और मरुस्थल क्षेत्र के बालू के टिब्बों से भी सिलिका बालू प्राप्त होता है. यह सामान्यत: चूर्णशील क्वार्ट्ज़ाइट और बलुआपत्थर से प्राप्त होता है. कभी-कभी कठोर क्वार्ट्ज़ाइट और स्फटिक-शिरा का भी प्रयोग होता है. आदर्श काँचबालू में सिलिका की मात्रा 100% होनी चाहिये और उसे 0·1–0.5 मिमी. व्यास के एक-समान आकार के कणों से संघटित होना चाहिये लेकिन इस प्रकार का बालू कहीं भी उपलब्ध नहीं है. पेरिस के निकट फाउण्टेनब्लो से प्राप्त 80% बालू के कणों का व्यास 0·23 से 0·31 मिमी. है और उसमें 99·9% सिलिका पाया जाता है.

बालू की कोटि विस्तृत परास में बदलती रहती है. ये परिवर्तन एक निक्षेप से दूसरे निक्षेप तक ही सीमित नहीं रहते वरन् एक ही निक्षेप के विभिन्न क्षेत्रों की बालुओं में भी पाये जाते हैं. लोहा और टाइटेनियम जैसी अशुद्धियों की उपस्थिति, जो काँच को रंगीन बना देती हैं, काँच के लिये हानिकर हैं. लोह ऑक्साइड एक अत्यन्त आपत्तिजनक अशुद्धि है. लोह ऑक्साइड की स्वीकृति-युक्त मात्रा वांछित काँच की कोटि के ऊपर निर्भर करती है. प्रकाशीय काँच में ऑक्साइड की मात्रा 0·008% से कम होनी चाहिये; प्लेट काँच के लिये स्वीकृत मात्रा 0·05% तक है; खिड़की के काँच, सफेद बोतल इत्यादि के लिये यह मात्रा 0·003% से अधिक नहीं होनी चाहिये.

काँच में लोह ऑक्साइड से उत्पन्न हरा रंग उदासीन किया जा सकता है. ऐसी अवस्था में काँचबालू के साथ बैंगनी या लाल बैंगनी रंगों को उत्पन्न करने वाले अभिकर्मकों को मिला दिया जाता है जिससे हरा रंग छिप जाता है. गोपन की यह

पद्धति तभी प्रयुक्त की जा सकती है जब लोह ऑक्साइड की मात्रा 0·1% से अधिक न हो. पहले ऐलुमिना भी आपत्ति-जनक अशुद्धि माना जाता था; लेकिन इस विचार में परिवर्तन हुआ है और अब ऐलुमिना कभी-कभी उसमें फेल्सपार, लेपि-डोलाइट, आदि के रूप में मिलाया जाता है. थोड़ी मात्रा में रहने पर चूना और मैग्नीशिया आपत्तिजनक नहीं समझे जाते. क्रोमियम ऑक्साइड एक अवांछनीय अशुद्धि है और रंगहीन काँच बनाते समय वालू में इसकी मात्रा 0·005% से अधिक नहीं होनी चाहिये (निदेशक, सेण्ट्रल ग्लास एण्ड सिरेमिक रिसर्च इन्स्टीट्यूट, कलकत्ता; तथा ग्लास टेक्नॉलॉजिस्ट, उत्तर प्रदेश सरकार, कानपुर, से प्राप्त सूचना).

सारणी 1 में कुछ भारतीय काँचवालू के प्रतिशत संघटन दिये हुए हैं. फाउण्टेनव्लो बालू का संघटन भी तुलनार्थ दिया हुआ है.

काँचवालू में कणाकार वितरण काँच उद्योग के लिय महत्व-पूर्ण है. कणों का आकार 20–30 मेश (छिद्र) से अधिक और 100–120 मेश से सूक्ष्म नहीं होना चाहिये. मोटे कणों को अभिक्रिया के लिये अधिक समय की आवश्यकता होती है. बहुत बड़े कण गलाने पर घुलते नहीं और छोटे, बहुत सूक्ष्म कण रिजेनेरेटर में जा सकते हैं. अच्छी कोटि के काँच के उत्पादन के लिये प्राप्तिस्थान से ही सामग्री का चयन और प्रयोग से पूर्व वर्गीकरण करना आवश्यक है.

वितरण

भारत के हर प्रदेश में काँच के औद्योगिक निर्माण के उपयुक्त वालू, बलुआपत्थर और शैल के निक्षेप पाये जाते हैं.

असम – गारो पहाड़ी (तुरा के निकट) से श्वेत, भुरभुरा वलुआपत्थर प्राप्त होता है और प्राप्त सूचनाओं से यह अच्छी कोटि का जान पड़ता है.

आन्ध्र प्रदेश – पस्नापल्ली, अप्पाडिपल्ली, कस्मापल्ली, इलरेडि-पल्ली, टोल्डिनी तथा रंजनकोल्लूर के बीच के क्षेत्र और वेंच-

सारणी 1 – कुछ काँचवालुओं के विश्लेषण* (%)

	वरगढ़	पन्हाई	मंगलहाट I	मंगलहाट II	सवाई माधोपुर	फाउण्टेन-ब्लो
SiO_2	96·26	96·33	99·08	97·08	96·36	99·50
Fe_2O_3	0·05	0·08	0·05	0·30	0·07	0·03
Al_2O_3	1·85	0·03	0·33	1·53	1·98	0·23
TiO_2	0·15	2·07	0·08	0·65	0·16	..
CaO	0·36	0·20	सूक्ष्म	सूक्ष्म	0·25	..
MgO	0·26	0·20	शून्य	शून्य	0·29	..
K_2O / Na_2O	0·38	0·72	सूक्ष्म	0·23	0·24	..
दहन पर हानि	0·68	0·35	0·54	0·55	0·60	0·22

*Atma Ram *et al.*, *J. sci. industr. Res.*, 1948, **7**, 169, 170, 174, 176.

गुडा से प्राप्त स्फटिक निक्षेप उत्तम कोटि के हैं. इनमें सिलिका 99% तक और लोह ऑक्साइड की बहुत कम मात्रा रहती है (Atma Ram *et al.*, *J. sci. industr. Res.*, 1948, 7, 184).

शादनगर (चित्तमपल्ली) रेलवे स्टेशन के निकट के एक क्षेत्र से स्फटिक शिराओं के मिलने की सूचना मिली है. इस क्षेत्र से प्राप्त एक नमूने में 97·08% SiO_2 तथा 0·79% Fe_2O_3 पाया गया. स्फटिक की मात्रा 2,00,000 टन तक अनुमानित की जाती है (Mirza, *Bull. Hyderabad geol. Surv.*, No. 2, 1943, 78).

हैदराबाद-संगरेडिपेट मार्ग पर 3·2 किलोमीटर लम्बी, 25·5 मी. चौड़ी और 4·5–6·0 मी. ऊँची एक स्फटिक भित्ति पाई गई है. भित्ति से प्राप्त स्थूल नमूने में, रासायनिक विश्लेषण से 99·10% SiO_2 तथा 0·20% Fe_2O_3 मिला.

कोडांगल के निकट प्राप्त बलुआपत्थर के संस्तरों (SiO_2, 96·20%; Al_2O_3, 2·90%; और Fe_2O_3, 0·08%) से सस्ता काँच तैयार करने योग्य वालू मिलने की सूचना है.

गुन्टूर जिले में चिराला (15°54′: 80°12′) के निकट रेलवे लाइन के किनारे श्वेत वालू का एक बड़ा निक्षेप स्थित है. यह निक्षेप जमीन के नीचे 1·5–3·0 मी. की गहराई पर है और इसका विस्तार लगभग 14·4 किलोमीटर तक है जो चिराला के उत्तर-पूर्व में 4·8 किलोमीटर से पण्डिल्लापल्ले और चिराला के दक्षिण-पश्चिम में 9·6 किलोमीटर तक विस्तृत है. निक्षेप की चौड़ाई लगभग 0·4 किलोमीटर और मोटाई 3 मीटर तक है. इसकी पूर्ण रूप से खोज नहीं हुई है, यद्यपि यह निक्षेप काँच के औद्योगिक निर्माण के लिये अत्यन्त उपयोगी माना गया है. स्थानीय रूप से इसका इस्तेमाल श्वेत प्लास्टर के निर्माण में होता है (Krishnan, *Trans. Indian ceram. Soc.*, 1952, **11**, 59).

स्फटिक और फेल्सपार की प्रचुर मात्रा नेलौर की अभ्रक मेखला की खानों के अवशिष्ट ढेरों से प्राप्त होती है.

उड़ीसा – मयूरभंज जिले में सौरी (22°3′: 86°4′) के निकट आर्कियन शैलों के मध्य भुरभुरे क्वार्ट्ज़ाइट की एक पट्टी मिलती है. इस निक्षेप से करीब 10 लाख टन काँचवालू उपलब्ध होने का अनुमान है.

वलिडीहावन्द के दक्षिण क्वार्ट्ज़ाइट श्रेणी काँचवालू का एक आशाजनक स्रोत है. अभी तक इससे काँचवालू निकालने का कोई प्रयत्न नहीं हुआ है. सुन्दरगढ़ जिले में अमटपानी (22°13′: 83°39′) के निकट बाराकर बलुआपत्थर के संस्तरों में उच्च कोटि का स्फटिक वालू मिलता है. इस स्फटिक वालू का आधार-पत्थर केओलिन है (Krishnan, *Trans. Indian ceram. Soc.*, 1952, **11**, 59).

क्योंझर जिले में बाँगुरू (21°14′: 85°40′) के दक्षिण श्वेत बलुआपत्थर के निक्षेप पाये जाते हैं. इसमें सुरक्षित बलुआ-पत्थर की मात्रा 80,000 टन तक आँकी जाती है (Deekshi-tulu, *Rec. geol. Surv. India*, 1954, **85**, pt 1, 60).

उत्तर प्रदेश – उत्तर प्रदेश में नैनी तथा विंध्य प्रदेश से लगे हुए समीपवर्ती क्षेत्र के काँचवालू के निक्षेपों से भारतीय काँच उद्योग की अधिकांश आवश्यकताओं की पूर्ति होती है.

इलाहाबाद और बाँदा जिला (नैनी क्षेत्र), बनारस जिले में चकिया तथा झाँसी जिले से काँचवालू प्राप्त होता है. अभी तक प्राप्त सबसे विस्तृत निक्षेप इलाहाबाद के दक्षिण, विंध्य

पर्वत श्रेणी के वाह्यांचल में स्थित है. इस क्षेत्र में मुख्य स्थान बरगढ़, लोहगढ़, पन्हाई, और शंकरगढ़ हैं. बरगढ़ निक्षेप का क्षेत्र कई सौ वर्ग किलोमीटर है और इसका कार्य संचालन कई दशकों से चल रहा है. इस निक्षेप से प्राप्त भुरभुरे शैल का लोह ऑक्साइड की वर्धमान मात्रा के अनुसार निम्नांकित प्रकार से वर्गीकरण किया जाता है: श्वेत, गंदा श्वेत तथा पीला वालू (Misra, *Sci. & Cult.*, 1937–38, 3, 558).

मारकुण्डी (25°1′: 80°57′) से पन्हाई (25°5′: 81°13′) तक, मध्य रेलवे लाइन के दक्षिण सूक्ष्म-कणिक क्वार्ट्ज़ाइट निक्षेप पाया जाता है. इसमें कहीं-कहीं पर लोह ऑक्साइड की परत रहती है. इस निक्षेप से प्राप्त वालू काँच निर्माण के उपयुक्त नहीं है. छोटे निक्षेप अपेक्षतया रेलवे लाइन के उत्तरी क्षेत्र में मारकुण्डी से मानिकपुर (25°31′: 81°6′) तक स्थित हैं. पूर्व की ओर एक और सतत क्षेत्र पाया जाता है जो आगे बढ़कर पन्हाई के समीप काफी विस्तृत हो जाता है. पन्हाई और डभौरा (25°3′: 81°6′) के चारों ओर तथा आगे पूर्व की ओर लगातार भुरभुरा क्वार्ट्ज़ाइट पाया जाता है जो अत्यन्त व्यापारिक महत्व का है.

अच्छी कोटि का काँचवालू निम्नांकित स्थानों के निकट पाया जाता है: मानिकपुर के निकट खान बन्हा और डण्डिया पहाड़, टिकरिया (25°1′: 80°53′), चूरे (25°7′: 81°12′), सिगवान (25°7′:81°14′), ऊँचेडीह (25°4′30″: 81°13′), गुरवा (25°51′: 81°29′), वूमन (25°7′: 81°24′), कुन्हरी (25°10′: 81°35′) के निकट खटकारी पहाड़ तथा सुती के निकट खानवाड़ा. बाँदा-रीवाँ क्षेत्र में सुरक्षित काँचवालू की अनुमानित मात्रा 1,100 लाख टन है. कुल भंडार का एक तिहाई उत्तर प्रदेश के बाँदा जिले से प्राप्त होता है तथा शेष रीवाँ जिले में मिलता है (Mehta, loc. cit.).

देहरादून जिले में राजपुर (30°24′: 78°6′) के निकट क्वार्ट्ज़ाइट और क्वार्ट्ज़ाइटीय वलुआपत्थर, श्वेत अपघटित भुरभुरा वलुआपत्थर तथा स्फटिक मिट्टी पाई जाती है. राजपुर-मसूरी मार्ग में प्रथम नदी से ही ये उपलब्ध हैं. ये शैल काँच बनाने के उपयुक्त है (Chhibber & Misra, *Trans. Indian Ceram. Soc.*, 1942, 1, 159).

कश्मीर—जम्मू के आसपास श्वेत क्वार्ट्ज़ाइट शिलाखण्ड बड़ी मात्रा में पाये जाते हैं (Chhibber & Misra, *Trans. Indian Ceram. Soc.*, 1943, 2, 47).

वनिहाल के कच्चे मार्ग के किनारे जम्मू-तावी से करीब 16 किलोमीटर पर वन तलाव में वालू के विस्तृत निक्षेप पाये जाते हैं. इस निक्षेप से प्राप्त पदार्थ गहरे धूसर रंग का है और सस्ते बोतल-काँच के उत्पादन के लिये उपयोगी है (Atma Ram *et al.*, *J. sci. industr. Res.*, 1948, 7, 177).

केरल—शेरतल्लाई तालुक में, 129.5 वर्ग किलोमीटर के क्षेत्र में, वालू का एक व्यापक निक्षेप है. यहाँ वालू काफी गहराई तक पाया जाता है. वालू में इल्मेनाइट के सूक्ष्म कण भी मिले हुये हैं जिन्हें छान कर और धो कर पृथक् किया जा सकता है. उपचार के बाद वालू से काँच बनाया जा सकता है (Atma Ram *et al.*, *J. sci. industr. Res.*, 1948, 7, 187).

गुजरात—बेलगाँव जिले के गोकक तालुक में शिविकुरवेट (16°13′: 74°47′) के आसपास तथा साबरकंठा जिले में हिम्मत नगर के निकट बोतल का काँच और काँच की चूड़ियाँ बनाने के योग्य निक्षेप मिलते हैं (West, *Rec. geol. Surv. India* 1950, 83, pt 1, 120; Mehta, *Rec. geol. Surv. India*, 1954, 85, pt 1, 59).

बड़ौदा में बीजापुर महल, सोंगीर तथा लछर्स और पेढामली के निकट साबरमती नदी के दाहिने तट पर घटिया काँच बनाने के उपयुक्त बलुआपत्थर के निक्षेप मिलते हैं (Foot & Shah, *The Geology of Baroda State*, 1938, 113).

झालावार जिले में धारंगध्रा (23°1′: 71°28′), रामपुर्दा (23° 39′: 71°12′) तथा सूरजदेवल (22°30′: 71°13′) के निकट काँच के औद्योगिक निर्माण के उपयुक्त सफेद बलुआपत्थर के निक्षेप प्राप्त हुये हैं (Karunakaran, *Rec. geol. Surv. India*, 1954, 85, pt 1, 60).

तमिलनाडु—मद्रास नगर के कुछ ही मील उत्तर की ओर, एन्नोर के निकट, काँच के औद्योगिक निर्माण के उपयुक्त समुद्र-तटीय वालू के निक्षेप (वालू का टीला) पाये जाते हैं. उच्च कोटि का श्वेत वालू 60–120 सेंमी. मोटे संस्तरों में पाया जाता है जिसके कई डेसीमीटर ऊपर तक गंदे वालू की परत रहती है. अभी इस निक्षेप के विस्तार के बारे में पूरी जानकारी प्राप्त नहीं है लेकिन स्थानीय काँच के कारखानों की आवश्यकता-पूर्ति के लिये पर्याप्त वालू मिलने की आशा है.

पंजाब (वर्तमान हिमाचल प्रदेश)—होशियारपुर जिले में जेजोन दोआवा (31°21′: 79°9′) और बटाला के निकट नदी के संस्तरों से श्वेत क्वार्ट्ज़ाइट के शिलाखंडों को पीस कर काँचवालू प्राप्त किया जाता है. श्वेत क्वार्ट्ज़ाइट के भण्डार सामान्य हैं.

बंगाल (प.)—तालडाँगा (23°46′30″: 87°6′) के आसपास बर्दवान जिले में पाये जाने वाले क्वार्ट्ज़ाइट से काफी उत्तम कोटि का काँचवालू मिलता है. ये क्वार्ट्ज़ाइट अत्यन्त सिलिका-मय और भुरभुरे हैं. इस क्षेत्र से उपलब्ध क्वार्ट्ज़ाइट की मात्रा 30,000 टन के आसपास हैं और इसका विस्तार तालडाँगा के पश्चिम में करीब 0·3 किलोमीटर तक है. डावोर कोयला खान (23°48′: 86°55′) और ईंटापुर (23°47′: 86°59′) के आसपास से प्राप्त बाराकार-बलुआपत्थर निम्न कोटि का काँच बनाने के उपयुक्त है. इस राज्य में नदी किनारे बहुत बड़ी मात्रा में वालू के निक्षेप पाये जाते हैं.

बिहार—मंगलहाट (25°04′: 87°51′) के निकट राजमहल पहाड़ियों में और पतरघट्टा पहाड़ी (25°20′: 87°16′) से दामोदर श्रेणी के गोण्डवाना बलुआपत्थर प्राप्त होते हैं. बलुआपत्थर को पीसने, धोने और छानने से जो वालू मिलती है वह सामान्य कोटि के काँच उद्योग के लिये उपयुक्त होती है.

तालचीर श्रेणी का कुछ बलुआपत्थर बोकारो कोयला-क्षेत्र से उपलब्ध होता है. यहाँ के बलुआपत्थर और सोन घाटी के किनारे, देहरी-ऑन-सोन के पश्चिम तथा 24°50′ अक्षांश के दक्षिण से प्राप्त निम्न कैमूर बलुआपत्थर के कुछ अंश काँच बनाने के लिए उपयुक्त बताये गये हैं (Dunn, *Mem. geol. Surv. India*, 1941, 78, 133).

गया, मुंगेर, हजारीबाग, राँची, मानभूम तथा सिंहभूम जिलों के आर्कियन अवसादी शैलों में वितरित काफी शुद्ध क्वार्ट्ज़ाइट कई स्थानों पर विस्तार से पाया जाता है. काँच-निर्माण में इनका उपयोग इनकी पिसाई की लागत पर निर्भर करता है.

उच्च शुद्धता की स्फटिक शिरायें सिंहभूम, राँची मानभूम, हजारीवाग, मन्याल परगना, और मुँगेर जिलों में पाई जाती हैं.

पूर्वी रेलवे की गिरिडीह ब्राञ्च लाइन पर, हजारीवाग जिले में, जगदीशपुर रेलवे स्टेशन के निकट स्फटिक-निक्षेप के प्राप्त होने की सूचना है. पिसी सामग्री को तनु अम्ल से धोने पर जो वालू मिलता है वह प्रकाशीय और विशेष काँच के व्यापारिक-निर्माण के काम आता है. अभ्रक से लगी हुई खानों के खोदने से बचे हुये ढेरों से प्राप्त स्फटिक कभी-कभी पर्याप्त शुद्ध होता है और काँच निर्माण के काम आता है.

वाराकार नदी के किनारे हजारीवाग जिले में और रानीगंज तथा गिरिडीह कोयला क्षेत्र में निम्न कोटि के काँच निर्माण के उपयुक्त नदी-वालू मिलता है.

मध्य प्रदेश – ग्वालियर जिले के अनेक पहाडी क्षेत्रों तथा ग्वालियर के निकट वानमोर, जीवजीगंज और आंतरी में वलुआ-पत्थर और क्वार्ट्ज़ाइट के विशाल निक्षेप पाये जाते हैं. इनमें 90–96% SiO_2 और 0·2–0·6% Fe_2O_3 रहता है. इन निक्षेपों से प्राप्त वालू निम्न कोटि का है और घटिया काँच के निर्माण में प्रयुक्त हो सकती है (Dube & Tiwari, *Trans. Indian ceram. Soc.*, 1943, 2, 97).

जवलपुर रेलवे स्टेशन से 4 किलोमीटर उत्तर की ओर एक क्षेत्र में काँचवालू के काफी व्यापक निक्षेप पाये जाते हैं. कुछ स्थानों पर वालू ऊपरी संस्तरों के रूप में पाया जाता है और शेष स्थलों से अवमृदा निक्षेप के रूप में परतों में मिलता है. परतों की मोटाई 0·9–3 मीटर तक है. छानने और धोने से इस वालू की कोटि में सुधार हो जाता है. इनमें SiO_2 की मात्रा 94·05 से 96·60% और Fe_2O_3 की 0·04 से 0·06% के बीच वदलती रहती है. स्थानीय आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये इन निक्षेपों से लाभ उठाया जा रहा है. काँचवालू की कुछ मात्रा यहाँ से वम्बई को निर्यात की जाती है.

महाराष्ट्र – रत्नागिरी जिले में फोंडा, माल्डी, मलवान, वलावल तथा वेट्टोरा के निकट वेनगुर्ला-सावन्तवाडी मार्ग के किनारे श्वेत वलुआपत्थर के वडे-वडे निक्षेप पाये जाते हैं. सज्जीकरण और लोह ऑक्साइड हटाने के वाद निक्षेप-सामग्री निम्न कोटि के काँच वनाने के उपयुक्त है (Krishnan, *Trans. Indian ceram. Soc.*, 1952, 11, 59, Deshpande, *Rec. geol. Surv. India*, 1953, 84, pt 1, 72).

मैसूर – शेट्टिहल्ली से स्फटिक प्राप्त होता है जिसमें 99·08% SiO_2 और 0·61% Al_2O_3 रहता है. तल्काड में कावेरी के तटों पक विस्तृत वालू का क्षेत्र विद्यमान है. इस स्थल से वहुत वडी मात्रा में वालू उपलब्ध है.

राजस्थान – सवाई माधौपुर और वूँदी जिलों में उच्च शुद्धता वाले भुरभुरे क्वार्ट्ज़ाइट, वलुआपत्थर तथा वजरी (गिट्टी) के महत्वपूर्ण निक्षेप पाये जाते हैं. सवाई माधौपुर रेलवे स्टेशन के उत्तर 800 मी. की दूरी पर स्थित वलुआपत्थर निक्षेप सपाट पहाडी के रूप में पाया जाता है. ये वलुआपत्थर चोटी से लेकर लगभग 6 मीटर की गहराई तक लोहमय हैं. अवर गहराइयों से प्राप्त सामग्री उच्चतर कोटि की है. मुलायम होने के कारण खुदाई के समय ही वलुआपत्थर से सरलता से वालू वन जाती है. इस क्षेत्र से प्राप्त वालू के एक नमूने में 98·21% SiO_2 तथा 0·08% Fe_2O_3 पाया गया.

जाटवारा में एक और उच्च कोटि का वालू निक्षेप विद्यमान है जिसका स्थानीय नाम धुल्ला वालू है.

दौसा (26°54′ : 76°24′) से 1·6 किमी. दूर उत्तर-पूर्व एक इलाके में जहाँ पर आगरा-अजमेर मार्ग अरावली की निम्न पर्वत श्रेणी से गुजरता है वहुत-सी स्फटिक शिराओं के दृश्यांश मिलते हैं. इस शैल को काट कर काँच की चूड़ियाँ वनाने के लिये आगरा भेज दिया जाता है (Dube & Misra, *Trans. Indian Ceram. Soc.*, 1944, 3, 62).

वूँदी जिले में वरौधिया (25°29′ : 75°35′) में काँचवालू का एक निक्षेप है जिसकी लम्वाई 1,260 मी., चौड़ाई 15–90 मी. और गहराई 7·5–15 मी. है. यह मुख्य क्वार्ट्ज़ाइट के शैल समूह में मुलायम गिट्टी का क्षेत्र है. उपलब्ध भंडार की अनुमानित मात्रा 11·6 लाख टन है. निक्षेप के एक हिस्से की वालू में 0·05% से भी कम Fe_2O_3 है जो प्रकाशीय और क्रिस्टल काँच के औद्योगिक निर्माण के उपयुक्त है. निक्षेप के अन्य भागों से प्राप्त वालू में Fe_2O_3 की मात्रा 0·1% से भी अधिक रहती है इसलिये यह वालू प्लेट काँच के निर्माण के लिये उपयोगी है (Mehta, *Bull. geol. Surv. India, Ser.* A, No. 3, 1951, 12).

कोटा जिले में कुण्डी के निकट मृदामय वालू पाया जाता है. धोने पर यह काँच तैयार करने के लिये उपयुक्त है. इस क्षेत्र में वालू का भण्डार 53 लाख टन तक आँका जाता है. यदि मान लिया जाए कि छानने और धोने से 40% क्षति होगी तो भी 30 लाख टन काँचवालू की सुरक्षित मात्रा प्राप्त हो सकती है (*Indian Tr. J.*, 1954, 187, 1006).

वीकानेर शहर के निकट माढ से संस्तरित भुरभुरे वलुआपत्थर प्राप्त होते हैं. इस निक्षेप से प्राप्त वालू का उपयोग एक स्थानीय कारखाने में काँच के औद्योगिक निर्माण के लिये किया जा रहा है (Krishnan, loc. cit.).

उपचार

जिन रूपों में वालू के कणों के साथ अशुद्धियाँ मिली रहती हैं, वे हैं मृत्तिकामय पदार्थ से लेपित वालू कण या मृत्तिका के साथ मिला हुआ वालू, लोह ऑक्साइड से लेपित वालू कण तथा लोहमय खनिज के कणों के साथ मिश्रित वालू. छानने, धोने, रासायनिक अभिक्रिया तथा विद्युत् चुम्वकीय पृथक्करण विधि के प्रयोग से अशुद्धियों को दूर किया जाता है.

छानना – सूक्ष्म छिद्र (0·15 मिमी.) वाली छलनी से छानने पर वालू की धूल और मृत्तिकामय पदार्थ अलग हो जाते हैं जिनमें सामान्यतः अधिक प्रतिशत में अशुद्धियाँ विद्यमान रहती हैं. वडे आकार के छिद्र वाली चलनी (1·5 मिमी.) वडे आकार के कणों को अलग कर देती है जो कि काँच गलन क्रिया में मन्द गति से विलयित होते हैं. छानने की क्रिया स्थायी छलनी द्वारा हाथ से अथवा विद्युत्चालित उपकरणों से, यथा कम्पनशील चलनी, उत्तेजित चलनी तथा घूर्णी या वेलन चलनी द्वारा, सम्पन्न की जा सकती है.

धोना – वालू के कणों पर चिपकी धूल और मृत्तिकामय पदार्थ को धो कर अलग करते हैं. पानी में थोड़ा क्षार मिला

सारणी 2—काँचवालुओं के लिये विनिर्देश*

	रासायनिक संघटन (शुष्क-भार के आधार पर)				श्रेणीकरण	
	सिलिका (%)	फेरिक ऑक्साइड (%)	टाइटेनिया (%)	अन्य रजक ऑक्साइड	चलनी संख्या†	%
सर्वश्रेष्ठ रंगहीन काँच के लिये वालू	≮99.4	≯0.02	≯0.05	अनुपस्थित	+18	शून्य
					+25	≯1
					+36	≯5
					−120	≯5
रंगहीन बोतल और सामान्य काँच पात्र के लिये वालू	≮98.5	≯0.04	≯0.01	≯0.01	+16	शून्य
					+25	≯1
					+36	≯1
					−120	≯5

*Atma Ram & Varshney, *J sci industr. Res*, 1948, 7, 398 †B. S S No 410.

देने से कणों पर चिपकी परत आसानी से विलग हो जाती है. धुलाई हाथ से अथवा यंत्रों द्वारा की जा सकती है.

रासायनिक उपचार—जब अशुद्धियाँ दृढ़ता से वालू के कणों के साथ लिपटी रहती हैं तो रासायनिक विधि का प्रयोग किया जाता है सुप्रसिद्ध ऐडम के प्रक्रम में अम्लीय ऑक्सैलेट तथा फेरस सल्फेट का प्रयोग होता है

विद्युत्-चुम्बकीय उपचार—वालू में उपस्थित लोहमय कणों को विद्युत्-चुम्बक की सहायता से पृथक किया जा सकता है. यह अभिक्रिया उसी दशा में प्रभावकारी होती है जब अशुद्धियाँ वालू के कणों के साथ पृथकृत उपस्थित हों. स्फटिक, क्वार्ट्-जाइट, कठोर वलुआपत्थर इत्यादि को लोहे के अंग वाली मशीन से तोड़ने और पीसने से प्राप्त वालू में से लोहे के कणों को पृथक् करने के लिये यह उपचार विशेष आवश्यक है.

विनिर्देश

सोसाइटी आफ ग्लास टेक्नालॉजी, शेफील्ड, द्वारा निर्धारित काँचवालू के विनिर्देश संक्षिप्त रूप में सारणी 2 में दिये गये हैं. ये विनिर्देश संसाधित वालू के लिये हैं

भारत में, अनेक कारखाने खोद कर निकाली गई वालू का ही प्रयोग करते हैं. वालू का वर्गीकरण उसमें विद्यमान लोह ऑक्साइड की मात्रा के आधार पर चार श्रेणियों में किया जा सकता है—जैसे श्रेणी ए, 0·02% से कम; श्रेणी बी, 0·05% से अधिक नहीं; श्रेणी सी, 0·20% से अधिक नहीं; तथा श्रेणी डी, 0·20% से अधिक लोह ऑक्साइड (शुष्क-भार के आधार पर) वाला वालू भारत में अधिकतर निक्षेपों से प्राप्त वालू श्रेणी बी और सी का है इनके गुणों में छानने और धोने से पर्याप्त सुधार संभव है (Atma Ram *et al.*, *J. sci. industr. Res.*, 1948, 7, 165).

अनेक राज्यों में काँचवालू के उत्पादन से सम्बन्धित आँकड़े उपलब्ध नहीं हैं.

काची घास—देखिए **सिम्बोपोगान**

काजू—देखिए **ऐनाकार्डियम**

कोटिनस मिलर (अनाकार्डिएसी) COTINUS Mill.

ले.—कोटिनूस

यह पर्णपती झाड़ियों अथवा छोटे वृक्षों की दो निकट सम्बन्धी जातियों का वंश है. इनमें से एक जाति दक्षिणी यूरोप से हिमालय तक तथा मध्य चीन में बहुलता से पायी जाती है. *Anacardiaceae*

का. कोगिग्रिया स्कापोली सिन. **रूस कोटिनस** लिनिअस
C. coggygria Scop.

स्मोक ट्री, विग ट्री, वेनेशियन सुमाच, इंडियन सुमाच

ले.—को. कोग्गिग्रिआ

D.E.P., VI (1), 496; C.P., 914; Fl. Br. Ind., II, 9.

पंजाब—तूंगा, तुंग, मनु, पान; कश्मीर—दरेंगरी; कूमायूँ—गदतुग.

यह एक झाड़ी या लघु वृक्ष है जो सम्पूर्ण पश्चिमी हिमालय में 1,800 मी की ऊँचाई तक, मुख्य रूप से चीड़ के पेड़ों के नीचे, झाड़ के रूप में पाया जाता है. जौनसार, टेहरी-गढ़वाल तथा कूमायूँ में यह प्राय. मिलता है बगीचों में भी यह अपने लम्बे पक्षाकार फूले हुये गुच्छों तथा शरद् ऋतु में पीले तथा नील-लोहित रंग की पत्तियों के लिये उगाया जाता है.

इसके तने तथा बड़ी शाखाओं की कठोर, गठी हुई पीली लकड़ी ही व्यापार की 'यंग फस्टिक' है जो वस्त्र तथा चमड़े के उद्योग में प्रयुक्त होने वाले पीले रंजक पदार्थ, फिजेटिन [टेट्राहाइड्रॉक्सि फ्लेवोन ($C_{15}H_{10}O_6$)] का स्रोत है. अन्त:काष्ठ में यह टैनिक अम्ल के ग्लाइकोसाइड, फ्युस्टिन टैनाइड, के रूप में रहता है. सोडा विलयन के साथ प्राप्त सूखा निष्कर्ष

कॉटिनिन कहलाता है. इस वर्णक का सीमित प्रयोग ऊन रँगने तथा चमड़े को नारंगी या खूनी रंग देने के लिये होता है. रंगाई पानी की धुलाई तथा क्षारों (साबुनों) के प्रति पर्याप्त स्थायी है, किन्तु धूल में हल्की पड़ जाती है (Mayer & Cook, 184).

पत्तियों तथा छाल का उपयोग चमड़ा कमाने में होता है. पत्तियों को वर्षा बीत जाने पर सितम्बर के मध्य से दिसम्बर के अन्त तक संग्रह करना चाहिये. इस समय उनमें वायु-शुष्क आधार पर टैनिन की मात्रा 18–22% होती है. जाड़े की ऋतु में यह मात्रा घट जाती है और वसंत तथा ग्रीष्म ऋतुओं में संगृहीत पत्तियों में 6–13% ही रह जाती है. शरद् ऋतु की संगृहीत पत्तियाँ यूरोपीय सुमाच से भली-भाँति होड़ ले सकती हैं जिसमें 18–20% टैनिन होता है. द्राव टैनिन (0·5% टैनिन) का रंग शरद् के अंत में गाढ़ा हो जाता है. हल्के रंग का द्राव प्राप्त करने के लिये पत्तियों को गर्मियों में एकत्र करना चाहिये, भले ही उस समय इनमें टैनिन की प्रतिशत मात्रा कम होती है. पीसी हुई पत्तियाँ तथा टहनियाँ दस्ताने तथा जिल्दसाजी के लिये नरम चमड़ा कमाने तथा कतिपय क्षारीय ऐनिलीन रंजकों के लिये रंग-स्थापक के रूप में प्रयुक्त की जाती हैं. छाया में सुखाई हुई छाल में 8–21% टैनिन होता है. अभी तक छाल संग्रह करने का उपयुक्त समय नहीं निश्चित हो पाया है (*Bull. imp. Inst., Lond.*, 1916, **14**, 483; Badhwar *et al., Indian For. Leafl.*, No. 72, 1944, 14; Pearson & Brown, I, 309; *Bull. imp. Inst., Lond.*, loc. cit.).

रूस के उत्तरी काकेशस क्षेत्र में किये गये परीक्षणों से यह पता चला है कि पत्तियों में टैनिन का संचय झाड़ी तथा पत्तियों के विकास की परिस्थितियों तथा उनकी आयु पर निर्भर करता है. जुलाई से अगस्त तक पत्तियों को एकत्र करना, बीच-बीच में झाड़ियों की काँट-छाँट करना, गहरी हरी अथवा रोएँदार पत्तियों वाले पौधों को ही चुनना तथा पौधों को सूर्य के सीधे प्रकाश में रखना, ये ऐसी परिस्थितियाँ हैं जो टैनिन-निर्माण के लिये अनुकूल हैं (*Chem. Abstr.*, 1941, **35**, 7007).

नई टहनियों से तारपीन की हल्की गंध वाला एक सौरभिक तेल, जिसकी उपलब्धि 0·1% है, पृथक् किया गया है. इसके अन्य लक्षण इस प्रकार हैं : आ. घ.$^{30°}$, 0·875; $[\alpha]_D^{18°}$, 13°; n_D, 1·4693; अम्ल मान, 6·1; साबु. मान, 34·3; 80% ऐल्कोहल के 16 आयतन में विलेय. यह तेल हवा में तुरंत ऑक्सिकृत हो जाता है. पत्तियों तथा फूलों से नेरोली जैसी भीनी महक वाला एक हल्के पीले रंग का तेल प्राप्त होता है. इस तेल के स्थिरांक हैं : आ. घ. 0·871; $[\alpha]_D$, 32°54′; $n_D^{20°}$, 1·4887; अम्ल मान, 0·9; एस्टर मान, 20·4; 90% ऐल्कोहल के 6 अथवा अधिक आयतन में विलेय. यह तेल प्रायः पूरा का पूरा टर्पीन होता है. इनमें से लिमोनीन, कैम्फीन, डाइपेण्टीन तथा β- पिनीन की पहचान की जा चुकी है. भारतीय पत्तियों से प्राप्त तेल के गुण इस प्रकार हैं : आ. घ.$^{30°}$, 0·8587; $n^{30°}$, 1·47; $[\alpha]_D$, 5·18°; अम्ल मान, 0·7; एस्टर मान, 7.3 (ऐसीटिलीकरण के पश्चात् एस्टर मान, 26·1). यह तेल मूलतः हाइड्रोकार्बनों से बना होता है (Finnemore, 503; Krishna & Badhwar, *J. sci. industr. Res.*, 1948, **7**, suppl., 143).

अन्तःकाष्ठ गाढ़े लाल रंग का चितकबरा तथा प्रायः धारीदार होता है. लकड़ी मध्यम कठोर (भार, 752–896 किग्रा./घमी.) होती है. इसका प्रयोग नक्काशी तथा चित्रों के चौखटे बनाने में किया जा सकता है. दक्षिणी यूरोप में इसे जड़ने तथा संदूकचे बनाने में प्रयुक्त किया जाता है. इसकी टहनियों से टोकरियाँ बनाई जाती हैं (Gamble, 208).
Rhus cotinus Linn.

कानंगा हुकर पुत्र और थाम्सन (अनोनेसी) CANANGA Hook. f. & Thoms.

ले.—कानांगा

यह तीन जातियों के वृक्षों का वंश है, जो पूर्व एशिया से ऑस्ट्रेलिया तक पाया जाता है और जिनमें से **का. ओडोरैटा** जाति भारत में उगायी जाती हैं. इससे व्यापारिक महत्व की सुगंधि प्राप्त होती है.
Annonaceae

का. ओडोरैटा (लामार्क) हुकर पुत्र और थामसन सिन. **कानिन्जियम ओडोरैटम** बेलान C. odorata (Lam.) Hook. f. & Thomas

यलांग-यलांग ट्री

ले.—का. ऑडोराटा

D.E.P., II, 93; Fl. Br. Ind., I, 56; Brown, II, 189.

त.—करूमुगई; ते.—चेट्टु संपंगि; क.—अपूर्व चंपक. ब्रह्मा—कोडपत्यान; श्रीलंका—वनसपु.

यह पौधा ब्रह्मा और मलाया का मूलवासी है परन्तु इसकी खेती करके इसे फिलिपीन, श्रीलंका और हिन्द-महासागर स्थित फ्रांसीसी उपनिवेशों में लगभग प्राकृतिक बनाया गया है. यह भारत के उद्यानों में उगाया जाता है. जंगली वृक्ष 36 मी. तक की ऊँचाई प्राप्त करते हैं किन्तु सुगंधि के लिए उगाये गये वृक्षों को 3 मी. से अधिक नहीं बढ़ने दिया जाता. कृष्य पौधों के परिपक्व पीले फूल अत्यधिक सुगंधित होते हैं और कानंगा तेल और यलांग-यलांग नामक प्रसिद्ध इत्र के स्रोत हैं. डेढ़ से दो वर्ष आयु का पौधा फूलने लगता है. जब फूलों का रंग पीताभ से पीला होने लगता है तभी फूल चुनने का सर्वोत्तम समय होता है. प्रौढ़ वृक्ष से प्रत्येक मौसम में 4·5–9 किग्रा. फूल मिलते हैं.

यह वृक्ष चट्टानी या हल्की मिट्टियों पर भलीभाँति उगता है. भारत में इसके रोपण के या इससे तेल निकालने के प्रयास नहीं हुए हैं.

फूलों का सौरभिक तेल जो सुगंधि-उद्योग में अत्यन्त महत्वपूर्ण है, भाप आसवन द्वारा या विलायक-निष्कर्षण द्वारा प्राप्त किया जाता है. पुष्प अंधेरे में या तड़के चुने जाते हैं क्योंकि पुष्पों की गंध बहुत चपल होती है और सूर्योदय के बाद सूर्य की उष्मा से उड़ जाती है. पूर्वी द्वीपसमूहों में फूलों को संचित करने की नयी विधि का परीक्षण हुआ है. वृक्षों को एथिलीन गैस देकर जमीन पर चद्दर बिछा दी जाती है. गैस

के प्रभाव से अधिकांश फूल झड़ जाते हैं. तब फूलों को सावधानी से बिना मसले एकत्र कर लिया जाता है (Hutchinson & Melville, 312).

फूलों को सावधानी से साफ टिन या निकेल-लेपित आसवन-भभका में इस प्रकार भरते हैं कि वे भाप भागों में जाकर झुलस न जायें. यह आसवन स्वच्छ भाप से किया जाता है. फिलिपीन और रियूनियन द्वीपों में आसुत को दो प्रभाजों में एकत्र करते हैं. आसवन करने वाला इस स्थिति में होता है कि आसुत की गंध से एक ग्राही को बदलकर दूसरा ग्राही लगाने के समय को जान ले. पहला प्रभाज मुख्यतः वाष्पशील ऑक्सिजनीकृत एस्टर अवयवों और लेशमात्र टर्पीनों का होता है जो यलांग-यलांग तेल के नाम से बाजार में बिकता है. दूसरा प्रभाज, जिसमें प्रधानतया सेस्क्विटर्पीन होते हैं, कानंगा तेल कहलाता है. **का. ओडोरेटा** से आसवित समग्र तेल को और संभवतः **का. लैटिफोलिया** फिनेट तथा गैंगनेवेन के तेल को भी कानंगा तेल ही कहा जाता है. ये वृक्ष जावा और उसके पड़ोसी द्वीपों में उगते हैं और गंध में घटिया होते हैं. तेलों को पानी से अलग करने के बाद स्वच्छ करके तुरंत श्याम वायुरुद्ध बोतलों में भरकर पैराफिन लगा दिया जाता है. कुल प्राप्ति 0·5 से 2·5% तक होती है जिसमें यलांग-यलांग तेल और कानंगा तेल की मात्रायें लगभग बराबर-बराबर होती हैं.

निर्वात में आसवन करके घटिया तेलों के गुणों में सुधार करने का प्रयास हुआ है किन्तु इससे संतोषजनक परिणाम नहीं मिले. आसुत में सुवासिता का अभाव रहता है. यलांग-यलांग तेल और रेजिनों के उच्च क्वथनी प्रभाज महत्वपूर्ण हैं जिनका उपयोग सम्भवतः वाष्पशील सुगंधिमय सार तत्वों के स्थिरीकरण में होता है. आसवन के रेजिनी अवशेषों में विशेषता यह है कि उनमें एक स्थायी सुगंधि होती है. निर्वात में वाष्प के साथ प्रभाजन उत्साहवर्धक है और लगभग रंगहीन उत्पाद प्रदान करता है. यह प्रक्रम मंद है और घटिया तथा बिक्री के अयोग्य तेलों के शुद्धिकरण में उपयोगी सिद्ध हो सकता है.

ऐल्कोहल, ईथर, क्लोरोफार्म या पेट्रोलियम ईथर द्वारा फूलों से यलांग-यलांग तेल प्राप्त किया जा सकता है किन्तु अन्तिम विलायक से सर्वोत्तम परिणाम प्राप्त हुए हैं. निष्कर्ष में से विलायक को 40° से कम ताप पर निर्वात आसवन (40 मिलीमीटर) द्वारा विलग किया जाता है. विलायक निष्कर्षण भाप आसवन से ग्राह्य है क्योंकि सौरभिक तेल के नाज़ुक घटक भलीभांति सुरक्षित रहते हैं और फूलों की प्राकृतिक सुगंधि भी ज्यों की त्यों बनी रहती है. इससे 0·7–1·0% एक अर्ध-तरल पदार्थ भी प्राप्त होता है, जिसकी गंध रुचिकर अतिशय तेज और स्थायी होती है किन्तु भाप से आसवित तेल की गंध से काफी भिन्न होती है. इसमें पर्याप्त मात्रा में रेजिन विलयित रहता है.

यलांग-यलांग तेल, कानंगा तेल और निष्कर्षित उत्पाद की विशेषताएँ निम्नलिखित हैं : **यलांग-यलांग तेल :** $d_4^{30°}$, 0·911–0·958; $n^{30°}$, 1·4747–1·4940; [α], —27° से —49·7°; एस्टर मान, 90–138; **कानंगा तेल :** $d_4^{30°}$, 0·896–0·942; n^{30}, 1·4788–1·5082; [α], —27·4° से —87°; एस्टर मान, 42–94; **निष्कर्षित उत्पाद (ठोस) :** $d^{15°}$, 1·0317–1·024; $n_D^{20°}$, 1·5200; अम्ल मान, 17·68–10·08; एस्टर मान, 148·4–177·45; एसीटिलीकरण के बाद एस्टर मान, 201·9–244·2; फीनोल, 4–10% (Parry, I, 518; Naves & Mazuyer, 259).

यलांग-यलांग तेल में ऐल्कोहल और एस्टर, 52–64; सेस्क्विटर्पीन, 33–38; फीनोल तथा फीनोल एस्टर, 3; टर्पीन, 0·3–0·6; ऐल्डिहाइड और कीटोन, 0·1–0·2% रहते हैं. विशुद्ध तेल का संघटन आसवन की तकनीक और स्थान के अनुसार काफी बदलता रहता है. निम्नलिखित घटकों की पहचान हो चुकी है : *p*-क्रिसॉल, *l*-लिनालूल, जिरेनियॉल, बेंज़िल ऐल्कोहल, यूजिनॉल, आइसोयूजिनॉल, मेथिल यूजिनॉल, फॉर्मेट, ऐसीटेट, वेलरेट, बेंजोयेट, सैलिसिलेट और सेस्क्विटर्पीन. एथिल एस्टर नहीं होता है (Krishna & Badhwar, *J. sci. industr. Res.*, 1947, **6**, suppl., 18; *Chem. Abstr.*, 1935, **29**, 6697).

कानंगा तेल की विशेषता है कि सेस्क्विटर्पीन अधिक मात्रा में पाया जाता है किन्तु एस्टर मान निम्न होता है. निष्कर्षित तेल में सेस्क्विटर्पीन नहीं होते. आसुत तेल में इनकी उपस्थिति आसवन की प्रक्रिया में इनकी उत्पत्ति के कारण प्रतीत होती है (*Chem. Abstr.*, 1935, **29**, 6697; 1936, **30**, 2699).

यलांग-यलांग का उत्पादन पहले फिलिपीन तक ही सीमित था परन्तु इस पर फ्रांसीसी उपनिवेशों का एकाधिकार हो गया है.

फ्रांसीसी उपनिवेशों में व्यापार की दृष्टि से यलांग-यलांग तेल चार कोटियों में वर्गीकृत होता है : अतिरिक्त, प्रथम, द्वितीय और तृतीय. सारणी 1 में इन कोटियों की विशेषताएँ दी हुई हैं (Krishna & Badhwar, loc. cit.).

मनीला से प्राप्त अतिरिक्त कोटि का यलांग-यलांग तेल 80% ऐल्कोहल में विलेय है और निम्नलिखित विशेषताओं से युक्त होता है : n, $<1·4900$; [α], $<-35°$; एस्टर मान, >145.

यलांग-यलांग तेल में जिन पदार्थों की मिलावट की जाती है वे हैं : तारपीन, गरी, और अन्य स्थिर तेल तथा श्वेत तेल.

यलांग-यलांग का अत्यधिक उपयोग प्रथम श्रेणी की अत्तारी में, चेहरे पर लगाने वाले पाउडर की सुगंधि में और पुष्पगंधों के स्थिरीकरण में होता है. नारंगफूल, चमेली और केसर के मिश्रण के साथ इसका उपयोग गुलदस्तों के बनाने में होता है. यलांग-यलांग की गंध संयुक्त होती है. संश्लेषण द्वारा प्राकृतिक तेल से हूबहू मिलते-जुलते पदार्थ तैयार किये गये हैं किन्तु प्राकृतिक तेल की गंध अधिक स्थायी होती है

सारणी 1

कोटि	15° पर आपेक्षिक घनत्व	$[\alpha]_D$	अम्ल मान	एस्टर % (जिरेनियोल के ऐसीटेट के रूप में)
अतिरिक्त	0·9686	—31°	3·9	55·5
प्रथम	0·9556	—33°	3·9	50·7
द्वितीय	0·9396	—54°	3·9	7·3
तृतीय	0·9191	—61°	3·0	21·0
समग्र तेल	0·9406	—48°	2·25	37·4

श्रौर संश्लिष्ट तेल की गंध से ज्यादा मनोरम होती है. कानंगा तेल का प्रयोग सस्ती अत्तारी और साबुन को सुगंधित करने में होता है. सिरदर्द में, आँख आने पर और गठिया में इसका लेप उपयोगी सिद्ध हुआ है (Kirt. & Basu, I, 65).

का. ओडोरेटा की पत्तियों से एक सौरभिक तेल तैयार किया गया है. अत्तारी में इसका उपयोग नहीं के बराबर होता है (*Schimmel's Rep.*, 1938, 12).

कानंगा की लकड़ी खंभों, घरेलू उपकरणों और पैकिंग बक्सों के निर्माण में उपयोगी है (Burkill, I, 424; Macmillan, 215).

Canangium odoratum Baill.; *C. latifolia* Finet & Gagnep.

कानमार्फा जी. डान (ऐपोसाइनेसी) CHONEMORPHA G. Don

ले.–कानेमोर्फा

D.E.P., II, 271; Fl. Br. Ind., III, 661.

यह आरोही झाड़ियों की लगभग 10 जातियों का वंश है जो भारत, अण्डामन द्वीप, श्रीलंका, मलाया, इण्डोचीन और फिलिपीन द्वीपों के आर्द्र वनों में प्रायः सभी स्थानों पर पाया जाता है. भारत में इसकी जो दो जातियाँ मिलती हैं उनमें से केवल **का. फ्रैगरेंस** (मून) ऐल्स्टन सिन. **का. मैक्रोफिला** (रॉक्सबर्ग) जी. डान आर्थिक महत्व की है. यह एक बहुत बड़ी, सशक्त, आरोही है जिसके फूल बड़े, सफेद और मीठी गंध वाले होते हैं.

इसके तने से दूध निकलता है जिससे रबर प्राप्त की जा सकती है किन्तु इस दूध का एकत्रीकरण कठिन है क्योंकि यह शीघ्र जम जाता है. इस दूध के दो नमूनों का विश्लेषण किया गया जिनमें से एक असम से और दूसरा भारत सरकार, नई दिल्ली के सम्भरण विभाग से प्राप्त हुए थे. 90–95° पर सुखाए दूधों से क्रमशः आर्द्रता, 19·8 और 2·7; राख, 0·5 और 1·4; रेज़िन, 1·9 और 1·9; प्रोटीन, 0·83 और 1·38; रबर (अंतर से), 77·1 और 92·7% प्राप्त हुई. रबर चीमड़, लचीली और साधारणतया अच्छी किस्म की थी (Dent, *Indian For. Leafl.*, No. 22, 1942, 11; Siddiqui & Warsi, *J. Indian chem. Soc., Ind. & News Edn*, 1945, 8, 63).

छाल से एक अच्छी किस्म का रेशा मिलता है. इसमें 0·15% तक एक ऐल्कलायड रहता है (Burkill, I, 531; Wehmer, II, 985).

Apocynaceae; *C. fragrans* (Moon) Alston syn. *C. macrophylla* (Roxb.) G. Don.

कानवाल्वुलस लिनिअस (कानवाल्वुलेसी) CONVOLVULUS Linn.

ले.–कोनवोलवुलुस

यह बूटियों अथवा खड़ी, भूशायी या आरोही छोटी झाड़ियों की लगभग 370 जातियों का वंश है जो उष्णकटिबंधी और समशीतोष्ण क्षेत्रों में फैला हुआ है. बहुत-सी जातियाँ शोभाकारी हैं.

Convolvulaceae

का. आर्वेन्सिस लिनिअस C. arvensis Linn. डीयर्स फुट

ले.–को. आरवेन्सिस

D.E.P., II, 518; Fl. Br. Ind., IV, 219.

सं.–भद्रवल, राजवल; हिं.–बेरी, हरनपदी, प्रसरना; बं.–गंधभदाली, गोंडल; गु.–नारी, वेलादी; म.–हरनपाग, चंदवेल.

यह जाति भारत में बहुत-से स्थानों पर पायी जाती है. इसकी जड़ें विसर्पी और तना लटकता अथवा वेष्ठनी होता है. जड़ों में विरेचक गुण होता है.

इटली में उपजे एक सम्पूर्ण पौधे के ऐल्कोहली निष्कर्ष में विलायक उड़ाने के बाद 1·52–4·0% रेज़िनी पदार्थ प्राप्त हुआ. इस पदार्थ का अम्ल मान 9·41–14·0 और साबु. मान 196·0–197·3 था. इस रेज़िनी पदार्थ का स्वाद तीक्ष्ण होता है और इसकी विरेचन क्रिया (**आइपोमिया पर्गा** हेन से प्राप्त) जैलप रेज़िन की तुलना में लगभग एक-तिहाई होती है. सूखे प्रकंद में 4·9% रेज़िन होता है. बीजों में एक स्थिर तेल होता है (लगभग 4·7%; आयो. मान, 103·2) (*Chem. Abstr.*, 1947, 41, 2859; Wehmer, II, 1008; Jamieson, 469).

का. प्लूरिकौलिस श्वाजी (पंजाब–पोरप्रांग, डोडक) उत्तरी भारत के मैदानों में पायी जाती है. इसकी तरकारी बनाई जाती है. ताजे पौधे के वाष्प आसवन से एक लाक्षणिक गंध वाला हल्का पीला हरिताभ तेल प्राप्त होता है ($d^{28°}$, 0·8610; $n_D^{28°}$, 1·4676; अम्ल मान, 0·79; एस्टर मान, 11·5; और ऐसीटिल मान, 25·6). एक ऐल्कलॉयड, शंखपुष्पीन $C_{17}H_{23}NO_3$; ग. बि., 162–64°, पृथक् किया गया है (*Chem. Abstr.*, 1948, 42, 4717).

का. ग्लोमेरेटस श्वाजी (गु.–रुंछलीवेल्दी), जो काठियावाड़, राजस्थान और पंजाब में पायी जाती है और **का. स्पाइनोसस** बर्मन पुत्र जो अफगानिस्तान और ईरान में होती है, इस वंश की अनेक जातियों की भाँति विरेचक हैं. **का. स्पाइनोसस** और **का. लीओकैलिसिनस** ब्वासिये जो बिलोचिस्तान और ईरान में होती हैं, उपयोगी चारा समझी जाती हैं.

का. स्कैमोनिया लिनिअस (हिं.–साक मुनिया) जिसका मूलस्थान भूमध्य सागर क्षेत्र है, भारत में थोड़ी मात्रा में उगायी जाती है. पहले इससे स्कैमनी रूट, स्कैमनी रेज़िन और स्कैमनी गम-रेज़िन प्राप्त किए जाते थे किन्तु अत्यधिक मिलावट, ऊँचे दाम और माल के मिलने में अनिश्चितता के कारण उनके स्थान पर अब **आइपोमिया औरिज़ेबेन्सिस** (पेलेटा) लेडेनॉइस से प्राप्त उत्पाद इस्तेमाल किए जाते हैं जिन्हें अब मान्यता प्राप्त है. **का. स्कैमोनिया** की जड़ों में औसतन 8% रेज़िन के साथ डाइहाइड्रॉक्सिसिनेमिक अम्ल, β-मेथिल एस्कुलेटिन, इपूरेनाल, ग्लूकोस, एक अपचायक शर्करा और स्टार्च होते हैं. रेज़िन में मुख्यतः ग्लाइकोसाइड और जैलपिनोलिक अम्ल के मेथिलपेंटोसाइड और उसके मेथिल एस्टर होते हैं. जल अपघटन से उससे रैमनोस और जैलपिनोलिक, मेथिल ब्यूटिरिक, टिगलिक और फॉर्मिक अम्ल प्राप्त होते हैं. बाजार में जो रेज़िन मिलता है उसका अधिकांश सीरिया और एशिया माइनर से आयातित होता है और उसमें बहुत अधिक मिलावट होती है. स्कैमनी जल-निसारक विरेचक है और जल शोथ तथा देह-शोथ में दिया जाता है. यह अत्यन्त तीव्र विरेचक है और

मतली अथवा वमन उत्पन्न कर सकता है. बड़ी मात्राएँ तीव्र जठरांत्र क्षोभ उत्पन्न करती हैं; यदि यह अवशोषित हो जाता है तो सिस्टाइटिस और गुर्दाशोथ उत्पन्न करता है (Trease, 473; B.P.C., 561, 935; Chopra, 574).

Ipomoea purga Hayne; *C. pluricaulis* Choisy; *C. glomeratus* Choisy; *C. spinosus* Burm. f.; *C. leiocalycinus* Boiss.; *C. scammonia* Linn.; *Ipomoea orizabensis* (Pelleta) Ledenois

कानू वृक्ष, निकोवार का – देखिए कूरुपिटा

कानेरियम लिनिअस (वर्सेरेसी) CANARIUM Linn.

ले.–कानारिऊम

यह लगभग 150 जातियों के वृक्षों का वंश हैं जो उष्ण-कटिवंधीय अफ्रीका, मेडागास्कर, दक्षिण एशिया, फिलिपीन और फार्मोसा में पाया जाता है. कुछ जातियों से एलेमी नामक सुगन्धित ओलियो-रेजिन मिलता है किन्तु अन्यों से डामर प्राप्त होते हैं जिनमें या तो बहुत मामूली सुगन्ध होती है अथवा विल्कुल ही नहीं होती.

Burseraceae

का. कम्यून लिनिअस C. commune Linn.

जावा बादाम वृक्ष, कनारी नट ट्री

ले.–का. कोम्मूने

D.E.P., II, 94; C.P., 247; Fl. Br. Ind., I, 531; Kirt. & Basu, Pl. 213.

हिं.–जंगली वदाम; क.–कग्गली मरा, जावा वादामी. कच्छ–जंगली वेदाना; श्रीलंका–रताकेकुना; मलाया–केनारी.

यह पूर्वी-मलेशिया और न्यूगिनी का मूलवासी है और भारत में, विशेषतया त्रावनकोर में और श्रीलंका में इसकी खेती की जाती है.

कृष्ट वृक्षों से प्राप्त फलों में नियमानुसार केवल एक वड़ा खाद्य बीज पाया जाता है किन्तु जंगली जाति के कानेरियम फलों में सामान्यतः तीन छोटे बीज होते हैं. देखने में और स्वाद में ये बीज बादामों की तरह होते हैं. मलेशिया में इन्हें केक के ऊपर छिड़का जाता है किन्तु बीजों का ऊपरी छिलका नहीं खाया जाता. बीजों में आर्द्रता, 3·76; प्रोटीन, 19·57; वसा, 72·84; तथा राख, 3·85% होती है (Valenzuela & Wester, *Philipp. J. Sci.*, 1930, **41**, 99).

बीज की गिरी को पेर कर निकाला गया तेल हल्का पीला और हल्के स्वाद का होता है. इसकी विशिष्टताएँ हैं : $d_4^{78°}$, 0·8740; $n_D^{70°}$, 1·4497; साबु. मान, 195·3; आयो. मान, 74·0 और अम्ल मान, 0·22. तेल के घटक अम्ल हैं : स्टियरिक, 10·2; पामिटिक, 30·5; ओलीक, 39·9; लिनोलीक, 18·7; और लिनोलेनिक अम्ल, 0·7%. यह तेल देखने में गरी के तेल के समान लगता है. पूर्वी मलेशिया में इसे खाना पकाने और जलाने के काम में लाते ह. इसकी खली जानवरों के चारे और उर्वरक के रूप में लाभदायक है (Brodie & Sen Gupta, *Bull. Indian industr. Res.*, No. 10, 1943, 63; *Chem. Abstr.*, 1940, **34**, 3837).

तने में लगाये गये चीरों से सुगन्धित ओलियोरेज़िन रिसता रहता है जिसकी मात्रा वृक्ष की आयु के साथ-साथ बढ़ती जाती है. नौली गोंद नामक ओलियो-रेज़िन में यूजिनॉल की गंध होती है और यह सूखने पर मोम की तरह हो जाता है. इसमें सौरभिक तेल, 10·4; रेज़िन, 81·8; जलविलेय पदार्थ, 3·7; और आर्द्रता, 2·5% होती है. सौरभिक तेल में लगभग 34% एनेथोल और थोड़ी मात्रा में टर्पीन होते हैं. रेजिन सुप्त फोड़ों पर मलहम की तरह लगाया जाता है (Krishna & Badhwar, *J. sci. industr. Res.*, 1948, **7**, suppl., 122).

का. कम्यून का फल रेचक होता है और **मिसतुरा एमिगडेल** के स्थान पर प्रयोग किया जाता है (Kirt. & Basu, I, 531; Chopra, 471).

इसकी लकड़ी (भार, 592 किग्रा./घमी.) हल्के रंग की और अधिक कठोर होने पर भी टिकाऊ नहीं होती. इमारती लकड़ी के रूप में इसका उपयोग शायद ही कभी होता हो.

Mistura amygdale

का. ज़ेलैनिकम ब्लूम C. zeylanicum Blume

ले.–का. ज़ेइलानिकूम

Fl. Br. Ind., I, 532.

त.–पक्कलीपाल; श्रीलंका–केकुना.

यह श्रीलंका का बहुशाखी विशाल वृक्ष है जिसके तेलयुक्त बीज खाद्य हैं. छाल से स्वच्छ, सुगन्धित गोंद के समान रेजिन निकलता है. यह रेजिन प्रकाश करने और धूनी देने के काम आता है. इससे 10–15% सौरभिक तेल प्राप्त होता है, जिसमें 45% α-फिलैण्ड्रीन रहता है (Chandrasena & Hans Lourensz, *J. Soc. chem. Ind., Lond.*, 1933, **52**, 362T).

इसकी लकड़ी हल्की (भार, 448 किग्रा./घमी.), मुलायम, पीली और भूराभ-श्वेत होती है. यह माल भरने की पेटियों एवं शवपेटियों के बनाने के काम आती है (Gamble, 141; Lewis, 88).

का. रेजिनीफ़ेरम ब्रेस एक्स किंग एक भीमकाय वृक्ष है जो पूरे असम में यहाँ-वहाँ मिलता है. इससे कोलतार जैसा काला रेजिन प्राप्त होता है जो स्थानीय बाजारों में बड़े-बड़े गोलों के रूप में विकता है और धूप की तरह जलाने और मशालों में प्रयुक्त होता है. इसकी लकड़ी डोंगी और पतवार बनाने के काम आती है [Troup, *Indian For. Mem., Econ. Prod. Ser.*, 1909, **7** (1), 99].

C. resiniferum Brace ex King

का. बंगालेन्स राक्सवर्ग C. bengalense Roxb.

ले.–का. बेंगालेंसे

D.E.P., II, 94; C.P., 247; Fl. Br. Ind., I, 534; Kirt. & Basu, Pl. 215.

असम और सिलहट–नेरेवी, धूना; लेपचा–नैरोकपा.

यह असम और उत्तरी बंगाल के सदाहरित जंगलों में 900 मी. तक की ऊँचाई पर पाया जाने वाला एक लम्बा वृक्ष है. इसके फल खाद्य और सुगन्धित गूदे वाले होते है. ये दीर्घ-वृत्तज और हल्के गहरे बैंगनी रंग के होते हैं.

वृक्ष की छाल की दरारों और घावों से काफी मात्रा मे रेजिन निकलता है जो स्वच्छ और कहरुवा रंग का होता है और बाहर निकलते ही भंगुर कोपल-जैसे पिंड (ग. बि., 125°) में कडा पट जाता है. यह शंखाभ विभंग के साथ टूटता है और तारपीन में विलेय है. यह सुगन्धित होता है और धूप की भाँति जलाया जाता है. मधुमक्खी-मोम के साथ उपयुक्त अनुपात में मिलाकर क्रेप को सुन्दर बनाने के लिये इसका प्रयोग किये जाने का सुझाव है (Puran Singh, *Rep. Bd sci. Adv., India*, 1911–12, 33).

इसकी लकडी (भार, 624 किग्रा./घमी.) जिस समय ताजी काटी जाती है चमकीली और सफेद होती है किन्तु खुला छोड देने पर वह भूरी हो जाती है. यह मुलायम और खुले दानों वाली होती है. इसमे बल नही पड़ते और तख्तों, पटरो और चाय के बक्सों के बनाने के लिये प्रयुक्त की जा सकती है. फॉरेस्ट रिसर्च इन्स्टीट्यूट, देहरादून मे किये गये परीक्षणों से यह मालूम हुआ है कि यह **का. यूफिलम** और **का. स्ट्रिक्टम** की लकडी से अधिक मजबूत होती है (Trotter, 1944, 72).

इनकी पत्तियाँ और छाल गठिया की सूजन पर लेप करने मे काम आती है (Kirt. & Basu, I, 532).

का. यूफाइलम कुर्ज C. euphyllum Kurz

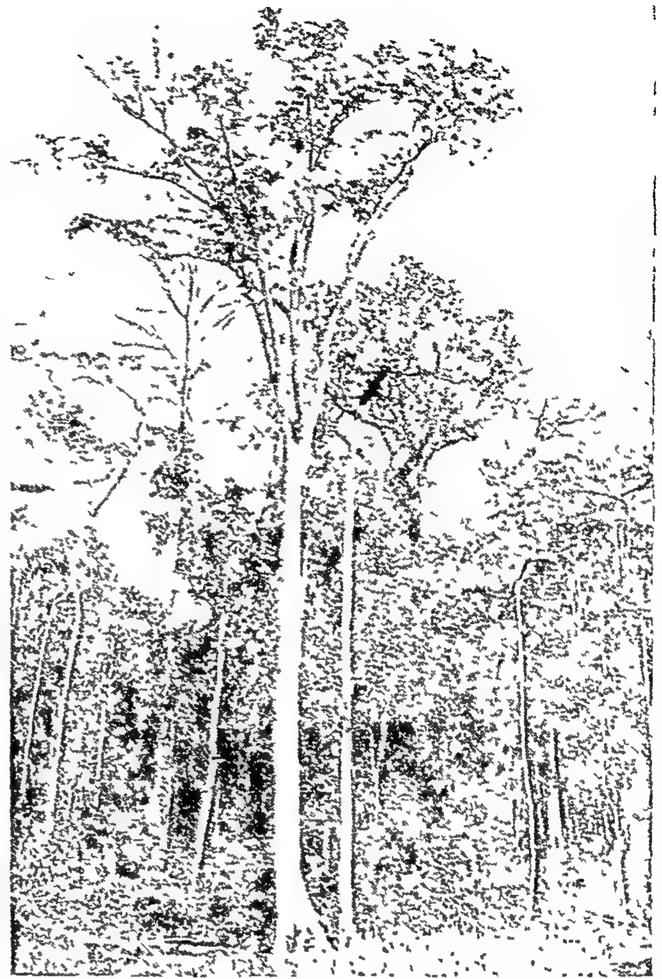
ले.–का. एऊफिल्लूम

Fl. Br. Ind., I, 535; Pearson & Brown, I, 231.

अण्डमान–धूप; व्यापार–धूप.

यह एक विशाल वृक्ष है जो लगभग 24 से 30 मी. तक ऊँचा होता है. इससे 12 मी. लम्बे और 75 सेमी. वर्ग तक के सीधे लट्ठे प्राप्त हो सकते है. यह अण्डमान द्वीपो और अराकान के पर्णपाती जंगलो मे पाया जाता है. इसकी लकडी मुलायम, हल्की (आ. घ, 0·4; भार, 416 किग्रा/घमी.), कान्तिमय, लाल भूरी अथवा गुलाबी भूरी और अत्यन्त ग्रथित कणों वाली होती है. इसे आसानी से चीरा और गढा जा सकता है. इसकी सतह को चमकदार एवम् चिकनी बनाकर इसे सुन्दर रूप दिया जा सकता है. दक्षिणी अण्डमान से प्राप्त इमारती लकडी के तुलनात्मक उपयोगिता सम्बन्धी आँकडे, सागौन के उन्ही गुणों के प्रतिशत के रूप मे इस प्रकार हैं: भार, 60; कड़ी के रूप मे शक्ति, 50; कड़ी के रूप में दृढ़ता, 70; खम्भों के लिये उपयुक्तता, 55; प्रघात प्रतिरोध क्षमता, 55; आकृति स्थिरण क्षमता, 70; अपरूपण, 70; और कठोरता, 40 (Trotter, 1944, 240).

चौथाई-चीरी जाने पर यह भारत की अत्यन्त उपयोगी इमारती लकड़ियों में से एक होती है. फारेस्ट रिसर्च इन्स्टीट्यूट, देहरादून में सामर्थ्य सम्बन्धी किये गये परीक्षणों के आधार पर धूप की लकडी, जो काफी लम्बे-लम्बे लट्ठों के रूप में मिलती है, हवाई जहाजों और ग्लाइडरों के ढाँचों के लिये,



चित्र 16 – कार्नेरियम यूफाइलम

विशेषतया मस्तूलों के लिये उपयुक्त मानी गई है. इससे प्लाई-वुड भी बनाई जा सकती है. निष्कलक स्वच्छ पालिश की हुई लकडी का रूप सुन्दर होता है. यह महोगनी की सामान्य श्रेणियो के स्थान पर प्रयुक्त की जा सकती है इसका प्रयोग जोडने, सजावटी कामो, कैबिनेट, माल भरने के बक्सो, बिलियर्ड की मेज और समुद्री जहाजो के अन्दर की सज्जा मे किया जाता है. धूप की लकडी का मुख्य प्रयोग दियासलाई के बक्से बनाने में किया जाता है. दियासलाई के बाहरी और भीतरी दोनो ही बक्सों को बनाने मे धूप पिछले 20 वर्षो से काम मे लाई जा रही है. प्राप्य लकड़ियो मे निस्संदेह यह सर्वश्रेष्ठ किस्म की लकडी है. यह आसानी से चीरी जा सकती है और मजबूत भी बहुत होती है. छीलने वाली मेज पर इसके पर्त करने के साथ-साथ निर्माण की शेष सभी विधियाँ भी सरलतापूर्वक सम्पन्न की जा सकती है. इस समय काम मे आने वाली अन्य लकड़ियो की

तुलना में काम के समय इस लकड़ी में छीजन बहुत ही कम होती है. सूखने पर पर्त बहुत कम सिकुड़ती है इसीलिये डिब्बियाँ सपाट और सिकुड़न रहित कागज के साथ बहुत साफ बनकर तैयार होती है. इसमें केवल एक ही दोष है कि इसका केन्द्रीय क्रोड़ अपेक्षाकृत बड़ा होता है और इसका ग्रंथन नरम होता है. फिर भी ऊपर वर्णित अच्छे गुणों के समक्ष यह दोष नगण्य है. इसके अतिरिक्त क्रोड़ के कुछ भाग को अन्दर की डिब्बी की तली के लिये टुकड़े काटने के काम में लाया जाता है. धूप की लकड़ी यूरोप के बाजारों में भी पहुँच चुकी है और वहाँ इसकी काफी खपत है (Limaye, *Indian For. Rec., N.S.*, 1942, **2**, 173; Imp. Inst., Lond., *Descriptive List of Empire Timbers*, 1928, 21; Howard, 171; वेस्टर्न इण्डिया मैच क. लिमिटेड से प्राप्त सूचना के आधार पर).

का. सिक्किमेन्स किंग C. sikkimense King

ले.–का. सिक्किमेंसे

C.P., 248; Gamble, 140.

बंगाल और नेपाल–गोगुल धूप; भूटान–पाह; लेपचा–नारोकपा.

यह सिक्किम, तिस्ता घाटी और दार्जिलिंग के निचले पहाड़ी जंगलों में 900 मी. की ऊँचाई तक पाया जाने वाला एक लम्बा वृक्ष है. इससे एक साफ एम्बरी रंग का भुरभुरा और सुगन्धित रेज़िन प्राप्त होता है जो धूपवत्ती की तरह काम आता है.

लकड़ी काटने पर सफेद और कान्तियुक्त होती है किन्तु खुली छोड़ देने पर भूरी हो जाती है. यह मुलायम, अत्यन्त हल्की (आ. घ., 0·29; भार, 304 किग्रा. प्रति घमी.), सीधे दानों वाली और स्थूल गठन वाली होती है. इसकी लकड़ी जल्दी सीझती है और अनेक नरम लकड़ियों की तरह उपचार के पश्चात् काफी काल तक टिकाऊ रहती है. इसे आसानी से चीरा और गढ़ा जा सकता है. इस समय यह बहुत कम पाई जाती है (Pearson & Brown, I, 227).

का. स्ट्रिक्टम राक्सबर्ग C. strictum Roxb.

काला डामर वृक्ष

ले.–का. स्ट्रिक्टूम

D.E.P., I, 96; C.P., 248; Fl. Br. Ind., 1, 534; Kirt. & Basu, Pl. 214.

हि., बं. और गु.–काला डामर; म.–धूप, राल धूप; ते.–नल्ला रोजनामु; त.–करुत्त कोंगिलियम, करिकुंदिरिक्कम; क–हालुमड्डि; मल.–करुत्त कंगिलियम.

कुर्ग–टॅडलाके, धूपामारा; ट्रावनकोर–पनटप्पायन; व्यापार–काला धूप, भारतीय सफेद महोगनी.

यह एक विशाल, आकर्षक, पर्णपाती वृक्ष है जो पश्चिमी घाट के जंगलों में लगभग 1,500 मी. की ऊँचाई तक कोंकण के दक्षिण की ओर कनारा, मलाबार, कुर्ग, मैसूर से ट्रावनकोर और कोचीन तक पाया जाता है.

इससे व्यापारिक काला डामर प्राप्त होता है. नीचे से 1·8 मी. की ऊँचाई पर इसके पूरे घेरे की छाल में चीरे लगा दिये जाते हैं और फिर वृक्ष में आग जला दी जाती है जिससे छाल और काष्ठ की ऊपरी परतें क्षतिग्रस्त हो जाती हैं. इससे लगभग दो वर्ष पश्चात् रेज़िन बहना प्रारम्भ हो जाता है और यह बहाव प्रति वर्ष लगभग छः महीनों तक चालू रहकर दस वर्षों तक जारी रहता है. निकलने वाला श्यान रेज़िन कुछ-कुछ पारभासी अवगैल के रूप में कड़ा हो जाता है. यह पदार्थ चटक रंग का होता है और काँच की भाँति टूटता रहता है. हाल की जाँच के अनुसार तमिलनाडु और केरल राज्यों में प्रतिवर्ष लगभग 76,500 किग्रा. राल का उत्पादन किया जाता है. काले डामर का व्यापार सुव्यवस्थित नहीं है. स्थानीय ठेकेदार वन विभाग से पट्टा लिखा लेते हैं और उपज को व्यापारियों के हाथ बेच देते हैं. कच्चे काले डामर का खुदरा मूल्य लगभग 160 पैसे प्रति किग्रा. होता है (Krishna & Badhwar, loc. cit.).

बाजार में यह डामर काली भंगुर गोलियों के रूप में आता है जिन्हें पीस कर हल्का चूरा बनाया जा सकता है. यह ऐल्कोहल और ऐसीटोन में कम विलेय है किन्तु बेंजीन और तारपीन में पूरी तरह विलेय है. इससे 5–7% तक सुगन्धित तेल प्राप्त होता है जिसमें *d-α*-पिनीन रहता है. शुष्क आसवन द्वारा रेज़िन से 80–85% गहरे नीले रंग का तेल प्राप्त होता है जिसके स्थिरांक इस प्रकार हैं: $d^{27°}$, 0·9228; $n_D^{27°}$, 1·5070; एस्टर मान, 11; ऐसीटिलीकरण के पश्चात् एस्टर मान, 28·7. नीले तेल में ऐज़्यूलीन की काफी मात्रा के साथ ही हेप्टेन, हेप्टाइन, *d-α*-पिनीन और डाइसाइक्लिक सेस्क्विटर्पीन भी होते हैं. रेज़िन के ऐल्कोहलीय निष्कर्ष में ऐज़्यूलीन बिलकुल नहीं होता. इससे यह स्पष्ट है कि ऐज़्यूलीन विघटन के कारण बनता है. रेज़िन के शुष्क आसवन से 6–7% ज्वलनशील गैस भी प्राप्त होती है जिसमें मीथेन, अमोनिया और कार्बन डाइऑक्साइड मिली रहती हैं (Wehmer, II, 656; Moudgill, *J. Soc. chem. Ind., Lond.*, 1925, **44**, 169T).

काले डामर का उपयोग मुख्यतया वार्निशों, शीशियों को बन्द करने के मोम और प्लास्टर में वरगुण्डी डामर के स्थान पर प्रयुक्त होने वाली वस्तुओं के बनाने में किया जाता है. यह नावों में कला-पट्टी करने के काम में आता है. भारतवर्ष में कोलतार डामर की काफी मात्रा आयातित होने तथा इसका उपयोग इन्हीं कार्यों में होने के कारण इसके स्थान पर काले डामर के प्रयोग की सम्भावनाओं की खोज करना उपयोगी होगा (Trotter, 1940, 287; Information from the *Malabar Chamber of Commerce, Calicut*).

का. स्ट्रिक्टम की लकड़ी धूसर सफेद, अन्तःकाष्ठ गुलाबीपन लिये, कान्तिमान किन्तु बहुधा रस के धब्बे से विरंजित होती है. यह मध्यम कठोर और भारी होती है (आ. घ., 0·60–0·74; भार, 608 किग्रा./घमी.) और चौड़े ग्रंथित दानों वाली, सपाट और स्थूल गठन वाली भी होती है. छाजन के नीचे रहने पर मध्यम टिकाऊ होती है. इसे आसानी से चीरा और सँवारा जा सकता है किन्तु **का. यूफिलम** की लकड़ी की भाँति इसे सरलता से सँवारा नहीं जा सकता. लकड़ी के रूप में इसकी तुलनात्मक उपयोगिता के मान, सागौन की

लकड़ी के इन्हीं गुणों के प्रतिशत के रूप में इस प्रकार हैं: भार, 95; कड़ी के रूप में शक्ति, 85; शहतीर के रूप में दृढ़ता, 100; खम्भों के लिये उपयुक्तता, 85; आघात प्रतिरोध क्षमता, 95; आकृति स्थिरण क्षमता, 65; अपरूपण, 100; और कठोरता, 85 (Pearson & Brown, I, 227; Trotter, 1944, 240).

छतों, फर्शों और विभाजकों के लिये अच्छी तरह सिझाई गई लकड़ी के तख्ते बनाए जा सकते हैं. यह माल भरने की पेटियों तथा फर्नीचर में सस्ती तख्तेबन्दी और पुश्ते लगाने के काम में लाई जाती है. कोलार की सोने की खानों में मार्ग-दर्शकों अथवा रनर के रूप में डाउन-कास्ट दण्डों में इसका प्रयोग किया जाता है. यह सरेस को पकड़े रह सकती है और इससे बने प्लाईवुड के चाय के डिब्बे देहरादून में हुए परीक्षणों के अनुसार सबसे अधिक मजबूत पाये गये हैं [Pearson & Brown, I, 231; Limaye & Sultan Ahmed, *Indian For. Rec., N.S.*, 1942, **2** (8), 187; Trotter, 1944, 71].

कानेरी घास, कानेरी बीज – देखिए फैलैरिस

कानेला पी. ब्राउन (कानेलेसी) CANELLA P. Br.

ले.–कानेला

D.E.P., II, 98.

यह वृक्षों का बहुत ही छोटा वंश है जो वेस्ट इण्डीज और उष्णकटिबन्धीय अमेरिका का मूलवासी है. वाट के अनुसार कानेला छाल अथवा जंगली दालचीनी की छाल कहलाने वाली **का. एल्बा** मरे की छाल का भारत में आयात किया जाता है जिसे दवाफरोश बेचते हैं. यह सुगन्धित तिक्त है. पिसी हुई छाल को कुमारी रस के साथ मिलाकर हीरा पिका के नाम से बेचते हैं और आर्तवजनक की भाँति काम में लाते हैं. किन्तु ऐसा कहा जाता है कि व्यापार की कानेला छाल **का. विण्टेराना** (लिनिअस) गेर्टनर से प्राप्त की जाती है जिसे बहुत से व्यक्ति **का. एल्बा** का पर्यायवाची समझते हैं (B.P.C., 269; U.S.D., 1381; Trease, 296).

Canellaceae; *C. alba* Murr.; *C. winterana* (Linn.) Gaertn.

कापसिया ब्लूम (एपोसायनेसी) KOPSIA Blume

ले.–कोप्सिआ

Fl. Br. Ind., III, 639; Corner, I, 145; II, Pl. 21.

यह उष्णकटिबन्धी एशिया के मूलवासी वृक्षों या झाड़ियों का लघु वंश है जो फिलिपीन से पूर्व की ओर फैला पाया जाता है. कुछ जातियाँ भारतीय उद्यानों को अलंकृत करने के लिये उगाई जाती हैं.

का. फ्रुटिकोसा द कंदोल (पिंक काप्सिया) (ते.–गुटीगन्नेरु) एक सुन्दर सदाहरित, चमकीली, भालाकार पत्तियों और सुन्दर गुलाबी फूलों वाली 1·2–1·8 मी. ऊँची झाड़ी है जो वर्षपर्यन्त दृष्टिगोचर होती है. यह ब्रह्मा की मूलवासी है और प्रायः भारतीय उद्यानों में सजावट के लिये उगाई जाती है. यह छायादार स्थानों में किसी भी अच्छी भूमि में अत्यधिक बढ़ती है और बीजों, कलमों या दाबों द्वारा प्रवर्धित की जा सकती है (Gopalaswamiengar, 277; Benthall, 302).

इस पौधे की पत्तियों और छाल में एक कड़वा इंडोल ऐल्कलायड, कोप्सीन [$C_{22}H_{26}O_4N_2$; ग. बिं., 217–18° (अपघटित), $[\alpha]_D^{20°}$, + 16·4° (ऐल्कोहल में)] होता है जो कि ऐल्कोहलीय अमोनिया के साथ जलअपघटित होने पर कोप्सिडीन [$C_{20}H_{24}O_3N_2$; ग. बिं., 142° (अपघटित)] प्रदान करता है; कोप्सिडिनीन [$C_{19}H_{22}O_2N_2$; ग. बिं., 248° (अपघटित)] तेज क्षार द्वारा कोप्सीन के जलअपघटन से प्राप्त होता है. पौधे की परिपक्व पत्तियों में 0·12% और छाल में 0·06% कोप्सीन होता है. परक्लोरिक, पिक्रिक, ऑक्सैलिक तथा अन्य कार्बनिक अम्लों के साथ कोप्सीन बहुत अच्छे लवण बनाता है, परन्तु रेज़िनीकरण के कारण खनिज अम्लों के साथ लवण नहीं बनाता. यह कोलीन घर्मोत्तेजक क्रिया करने वाला पाया गया है. इसके बीजों में एक 1·7% ऐल्कलॉयड पाया जाता है (Wehmer, II, 989; Bhattacharya *et al.*, *J. Amer. chem. Soc.*, 1949, **71**, 3370; Bhattacharya, ibid., 1953, **75**, 381; *Sci. & Cult.*, 1956–57, **22**, 120; Mukherjee *et al.*, *Nature, Lond.*, 1957, **180**, 916).

कहा जाता है कि इस पौधे का उपयोग बाण-विष की तरह होता है. मलाया में काप्सिया की इस तथा अन्य जातियों का उपयोग तृतीयक-सिफिलिस में व्रणयुक्त नाक के लिए पुल्टिस बनाने में किया जाता है (Bhattacharya *et al.*, loc. cit.; Burkill, II, 1286).

का. अल्बीफ्लोरा बोएर्ल. सिन. **कैल्पीकार्पम अल्बीफ्लोरम** मूलतः मलेशिया का एक पौधा है जो कि भारतीय उद्यानों में उगाया जाता है. इसके बीजों तथा पत्तियों में एक ऐल्कलॉयड और पत्तियों में 0·01% कोप्सीन पाया जाता है (Wehmer, II, 989; Bhattacharya, *Sci. & Cult.*, 1952–53, **18**, 293; 1956–57, **22**, 120).

का. फ्लैविडा ब्लूम मूलतः जावा में कम ऊँचाई के अधिक वर्षा वाले जंगलों का एक मध्यम आकार का वृक्ष है जो फूल खिलने पर अत्यधिक शोभाकर होता है. इस पौधे के बीजों में, तथा जावा के ही एक अन्य पौधे **का. अर्बोरिया** ब्लूम के बीजों में भी एक ऐल्कलॉयड होता है (Neal, 609; Wehmer, II, 989; Chopra, 501; Burkill, II, 1286).

K. albiflora Boerl; *Calpicarpum albiflorum* Teijsm. & Binn.; *K. flavida* Blume; *Apocynaceae*; *K. fruticosa* A DC.; *K. arborea* Blume

काप्टिस सालिसबरी (रैननकुलेसी) COPTIS Salisb.

ले.–कॉप्टिस

यह छोटी बूटियों की लगभग 12 जातियों का वंश है जिनमें बहुवर्षी मूलस्कन्ध होते हैं और जो उत्तरी शीतोष्ण कटिबन्ध में पाया जाता है.

Ranunculaceae

का. टीटा वालिश C. teeta Wall. गोल्ड थ्रेड

ले.–कॉ. टेटा

D.E.P., II, 521; Fl. Br. Ind., I, 23.

हि.–ममीरा, ममीरन; गु.–हालादिग्रो वचनाग
बंगाल और असम–टेटा.

यह जाति असम की उत्तरी सीमावर्ती मिश्मी पहाड़ियों में पाई जाती है और कहा जाता है कि चीन में इसकी खेती की जाती है. इस वंश के वृक्षों को ऐसी पीटमय मिट्टी चाहिए जिसमें कुछ बालू मिली हो और इनके लिये छायादार और गीले स्थान अधिक उपयुक्त हैं.

इसका प्रकन्द कौवे की टोंट जितना मोटा, बाहर से पीला-भूरा और अन्दर से पीला या सुनहरा पीला होता है और टूटने पर आभायुक्त संरचना प्रदर्शित करता है. यह देखने में गँठीला होता है और गाँठों में पर्णवृन्त के चिह्न बने होते हैं. यह अत्यन्त कड़वा होता है. इसमें किसी प्रकार की सुगंध या कसैलापन नहीं होता.

मिश्मी पहाड़ियों से एकत्र किये गये प्रकन्दों को 2·5–7·5 सेंमी. लम्बे टुकड़ों में काट कर छोटी-छोटी टोकरियों में भरकर, जिनमें प्रत्येक में लगभग 25–30 ग्रा. सामान आता है, असम लाया जाता है. इसकी कुछ मात्रा चीन से सिंगापुर होकर भारत में आयात की जाती है (Burkill, I, 654).

प्रकंद सर्वगुण सम्पन्न टॉनिक और क्षुधावर्धक है. यह शक्ति-क्षीणता, अपच तथा अंतरा ज्वर में लाभदायक है. इसका उपयोग आँखों के मरहम की भाँति भी होता है. कहते हैं कि चीन में इसका उपयोग मधुमेह को दूर करने के लिये होता है (Kirt. & Basu, I, 19; *Chem. Abstr.*, 1931, **25**, 741).

प्रकन्दों में आर्द्रता, 7·7–8·9; रेजिन, 1·5–2·7; बरबेरीन, 7·1–8·6; तथा राख, 3·1–3·3% होती है (Wehmer, I, 312).

कभी-कभी **का. टीटा** की जड़ों के साथ **पिक्रोरिज़ा** जातियों तथा **थैलिक्ट्रम फोलिम्रोलोसम** द कन्दोल की जड़ें मिला दी जाती हैं (Chopra, 295).

Picrorrhiza spp.; *Thalictrum foliolosum* DC.

काप्रिनस (परसून एक्स फ्रीज़) एस. एफ. ग्रे (ऐगैरिकैसी) COPRINUS (Pers. ex Fr.) S.F. Gray

ले.–कोप्रिनूस

यह लगभग 200 जातियों के छत्रक-जैसे कवकों का वंश है जो सामान्यतः सड़ते-गलते वनस्पति पदार्थ पर उगता है और सर्वत्र पाया जाता है. ये कवक प्रायः "मसि टोप" कहलाते हैं क्योंकि गिल तथा सिस्टिडिया स्वपाचन द्वारा बीजाणु विसर्जन के पश्चात् पसीज उठते हैं और स्याही-जैसा तरल पदार्थ बाहर निकालते हैं जिसे लिखने के काम में लाया जा सकता है. **का. कोमैटस** (फ्रीज़) एस. एफ. ग्रे, शैग-कैप या शैगी मेन लगभग 22·5 सेंमी. तक बढ़ता है, भारत के कुछ भागों में पाया जाता है तथा खाद्य है. यह कवक पथरीली मिट्टियों में या सड़कों के किनारे, लकड़ियों की कोरों या उद्यानों में अथवा घरों के पास खंडहरों में उगता है. यह उन मिट्टियों में अधिक उगता है जिनमें कूड़ा पड़ने के कारण उर्वरता बढ़ गई है. इसे गिलों के काले पड़ने के पहले ही खाना चाहिए. इसे भून लेना चाहिए या ढके बर्तन में बसा और मसाले के साथ धीरे-धीरे पका लेना अच्छा होता है (*Bull. Minist. Agric., Lond.*, No. 23, 1947, 14).

Agaricaceae; *C. comatus* (Fr.) S.F. Gray

काफिआ लिनिअस (रूबिएसी) COFFEA Linn.

ले.–कॉफ्फेग्रा

यह उष्णकटिबंधीय अफ्रीका तथा एशिया में पाई जाने वाली झाड़ियों अथवा लघु वृक्षों की 50–60 जातियों का वंश है. इनमें 4 या 5 जातियाँ व्यापारिक काफी की महत्वपूर्ण स्रोत हैं. इनमें से **का. अरेबिका** की सर्वाधिक खेती की जाती है, जबकि **का. लिबरिका, का. रोबस्टा** तथा **का. स्टेनोफिला** की खेती सीमित मात्रा में होती है क्योंकि इनमें विभिन्न जलवायुओं तथा मिट्टी की स्थितियों में वृद्धि करने और नाशकजीवों तथा रोगों के प्रति अधिक प्रतिरोधकता पाई जाती है. कृष्ट जातियों के अतिरिक्त भारत में विशेषतया उष्णकटिबंधीय हिमालय *तथा दक्षिण भारत के उच्चतर क्षेत्रों में 5 या 6 जंगली जातियाँ,* **का. बंगालेंसिस, का. फ्रेगरेन्स, का. जैन्किन्साइ, का. खासियाना, का. ट्रावेनकोरेंसिस** तथा **का. क्रेसीफोलिया** भी पाई जाती हैं. किन्तु अभी तक इनमें से कोई भी जाति आर्थिक महत्व की सिद्ध नहीं हुई है. **का. बंगालेंसिस** कभी-कभी अपने सुगन्धित फूलों के लिये बगीचों में उगाई जाती है. कहा जाता है कि इसके बीज काफी के स्थान पर प्रयोग में लाये जाते हैं.

जंगली और कृष्ट **काफिआ** की जातियों का वर्गीकरण तथा नामकरण अभी तक संशयात्मक है जिससे बहुत-सी जातियों की न तो अच्छी तरह व्याख्या हुई है और न उद्यान-विज्ञान ही की दृष्टि से उनके विषय में पर्याप्त जानकारी प्राप्त है. विभिन्न जातियों के अनेक प्रकार और संकर किस्में ज्ञात हैं. ये किस्में कुछ विशिष्ट क्षेत्रों के लिये अनुकूल हैं उनकी फलियों में भी विशिष्ट गुण होते हैं. कुछ किस्में आलंकारिक होने के कारण भी कृष्ट की जाती हैं (Bailey, 1947, I, 822).

Rubiaceae; *C. bengalensis* Hayne & Willd.; *C. fragrans* Wall.; *C. jenkinsii* Hook. f.; *C. khasiana* Hook. f.; *C. travancorensis* Wight & Arn.; *C. crassifolia* Gamble.

का. अरेबिका लिनिअस C. arabica Linn. अरबी काफी

ले.–को. अरेबिका

D.E.P., II, 460; C.P., 363; Ukers, Coffee, 271.

यह 4·5–9 मी. ऊँची सदाहरित झाड़ी या लघु वृक्ष है. भारत में कृष्य अवस्था में इसके पौधे काट-छाँट कर 1·2–1·5 मी. ऊँचे रखे जाते हैं. इसमें एक मुख्य तना या स्तंभ होता है जिसमें पार्श्व शाखायें युग्म में एक दूसरे के सम्मुख या गोले में निकलती हैं. पत्तियाँ आमने-सामने, पतली, चीमड़ तथा चटक हरे रंग की होती हैं; फूल सफेद और सुगन्धित होते हैं और पत्तियों के कक्षों में गुच्छों में निकलते हैं; फल छोटे मांसल तथा गुठलीदार होते हैं जो तरुण अवस्था में चटक हरे रहते हैं किन्तु बाद में पीले रंग में बदल कर पकने पर सिंदूरी लाल हो जाते हैं. गिरी का मांसल श्लेष्मायुक्त गूदा दो अण्डाकार हल्के हरे धूसर बीजों को घेरे रहता है जिनमें से प्रत्येक एक सूक्ष्म झिल्ली या सफेद त्वचा द्वारा ढका रहता है. दोनों बीज एक सामान्य भूसी जैसी झिल्ली या चर्मपत्र में घिरे

रहते हैं. बीजों की संख्या साधारणतया दो होती है किन्तु कभी-कभी एक या तीन भी हो सकती है. केवल एक बीज विकसित होने पर वह पी-बेरी कहलाता है.

का. अरेबिका अबीसीनिया का मूलवासी माना जाता है तथा भारत में इसका प्रवेश अरब से हुआ है. इस समय इसकी कृषि दक्षिणी भारत, जावा, वेस्ट इण्डीज, पूर्वी अफ्रीका, ब्राजील और अन्य दक्षिणी अमेरिका के राज्यों में होती है और यहाँ से विश्व का लगभग 90% काफी का संभरण होता है. इससे सर्वोत्तम काफी बनती है परन्तु यह अंगमारी तथा अन्य रोगों से प्रभावित होने वाली है. इसे प्रतिरोधी जातियों तथा संकरों के द्वारा प्रतिस्थापित करने का प्रयत्न हुआ है.

का. अरेबिका की अनेक किस्मों की, जिनमें से बहुतों की व्यापारिक महत्ता है, भारत में और अन्य देशों में खेती होती है. निम्नलिखित भारतीय किस्में महत्वपूर्ण हैं :

चिक्स – भारत में सर्वप्रथम परीक्षित किस्म है जिसका नाम मैसूर राज्य के चिकमागलूर से लिया गया है. यह बड़े, गोल बीज उत्पन्न करती है और अपने मादक गुणों के लिये प्रसिद्ध है तथा विदेशी बाजारों में इसका बहुत मान है. वेधक-आक्रमण के प्रति संवेदी होने के कारण इसकी खेती बहुत घट गयी है.

कुर्ग – यह चिक्स में से चुनी हुई एक किस्म है जो वेधक-आक्रमण प्रतिरोधी है और दक्षिण भारत के पहले के संस्थापित रोपणों में सर्वाधिक पाई जाती है. बीज हल्के हरे या हल्के नीले रंग के होते हैं तथा चिक्स की अपेक्षा लम्बे और चपटे होते हैं.

केंट्स – इस समय भारत में उगाई गई सर्वाधिक प्रचलित किस्म है. यह कुर्ग में से चुनी हुई बतायी जाती है और पूरे मैसूर, कुर्ग तथा नीलगिरि की पहाड़ियों में उगायी जाती है. कुर्ग की अपेक्षा यह पत्तियों की अंगमारी के लिये अधिक प्रतिरोधी है और गोल तथा बड़े बीज उत्पन्न करती है जो हल्के धूसर रंग के होते हैं. यह बहुत अधिक उगने वाली है और बीजों की अच्छी उपज देती है (400–600 किग्रा. प्रति हेक्टर).

मारागोगिपे, बोरबॉन अमरिलो (गोल्डेन ड्राप), ब्लू माउण्टेन इत्यादि अन्य प्रकार हैं जो इधर-उधर छोटे पैमाने पर उगाये जाते हैं. मारागोगिपे और अमरिलो ब्राजील की काफी हैं जिनमें से पहली अपने दृढ़ स्वभाव तथा बड़े बीजों के कारण और दूसरी बड़ी नारंगी लाल बेरियों के कारण स्मरणीय है. मारागोगिपे में ठीक से फल नहीं लगते अतः अल्प उपज होती है. ब्लू माउण्टेन जमैका से आई है तथा अपने हल्के नीले और भारी बीज के लिये अत्यधिक पुरस्कृत है जो गुण में औरों से श्रेष्ठ है (*Agric. Marketing India, Rep. Marketing Coffee, Marketing Ser.*, No. 21, 1940, 28; Yegna Narayan Aiyer, 417).

इन किस्मों के अतिरिक्त अंतरजातीय तथा अंतरउपजातीय संकरण से अनेक संकर प्राप्त किये गये हैं जो स्थानीय परिस्थितियों की दृष्टि से लगातार अजमाये और परखे जाते हैं (Coleman, *Emp. J. exp. Agric.*, 1934, 2, 303; Narasimhaswamy, *Monthly Bull. Indian Coffee Bd*, 1949, 13, 5).

का. रोबस्टा लिंडेन (**का. लारेण्टाई** डे. विल्डेनो) C. robusta Linden

कांगो काफ़ी



चित्र 17 – काफिआ रोबस्टा – फलों से लदी

ले.–को. रोबुस्टा

C.P., 370; Ukers, Coffee, 281.

यह **का. अरेबिका** तथा **का. लिबरिका** की अपेक्षा अधिक विशाल तथा प्रबल वृक्ष है जो दक्षिण भारत के कम ऊँचाई वाले क्षेत्रों में, जहाँ **का. अरेबिका** ठीक से नहीं उगती है, विशेष प्रचलित होता जा रहा है. यह अपेक्षाकृत सहिष्णु, पत्तियों के रोगों तथा तना वेधकों के प्रति अधिक प्रतिरोधी तथा विभिन्न जलवायुओं और मिट्टियों के लिये अधिक अनुकूल है. इसमें भारी संख्या में हल्की लाल बेरियाँ लगती है जिनके बीज **का. अरेबिका** की अपेक्षा कुछ छोटे और गोल होते हैं. इसके कुछ ऐसे प्ररूप भी है जो लगभग उसी मात्रा और आकार के बीज उत्पन्न करते हैं. यह पौधा **का. अरेबिका** की अपेक्षा जल्द ही उपज देने लगता है तथा औसत उपज 400–600 किग्रा. प्रति हेक्टर होती है, जबकि **का. अरेबिका** की उपज 200–300 किग्रा. प्रति हेक्टर ही है. बीजों में कैफीन की मात्रा अधिक (1·5–2·5%) होती है.

यह पौधा बेल्जियन कांगो का मूलवासी है. भारत में इसका प्रवेश जावा से हुआ है जहाँ पर इसकी 85% फसल होती है. ज्ञात 5 या 6 कृष्य प्ररूपों में श्रीलंका से लाया गया प्ररूप सर्वोत्तम श्रेणी का है. फिर भी इस फसल की उतनी



चित्र 18 – काफिआ रोवस्टा – फूलों से लदी शाखायें

देखरेख नही की जाती जितनी कि सामान्यतः **का. अरेबिका** की की जाती है इसीलिये उपज के गुणों में कोई परिवर्तन नही होता (Hill, 499; *Leafl. Indian Coffee Bd*, No. 2, 1945).

भारत में इस जाति का क्षेत्रफल और उपज भी धीरे-धीरे बढ़ रही है. त्रावंकोर, वीनाड़ तथा कुर्ग के काफी बड़े क्षेत्र-फल में, विशेषतया समुद्री सतह से 300–600 मी. तक की ऊँचाई पर, यह जाति उगाई जाती है. बहुत-से छोड़े हुए अरेबिका के बागानों में इस जाति का पुनःरोपण किया जा रहा है. त्रावंकोर में यह मुख्य फसल है और बगीचों में नारियल, केला तथा आम के साथ बीच में उगायी जाती है. कुर्ग में इसका अंतरारोपण नारंगियों के साथ किया जाता है (*Rep. Marketing Coffee*, 30).

C. laurentii De Wild.

का. लिवरिका बुल एक्स हीर्न **C. liberica Bull ex Hiern**
लिवेरियन काफी

ले.–को. लिवरिका

C.P., 368; Ukers, Coffee, 278.

यह 2·5 सेंमी. व्यास के फलों वाला 12–15 मी. ऊँचा विशाल वृक्ष है. यह पौधा कम ऊँचाइयों पर गरम जलवायु और अनुपजाऊ मिट्टियों में भी अच्छा उगता है. यह तेजी से बढ़ता है और अच्छी फसल देता है. **का. अरेबिका** की भाँति इसकी बेरियाँ पकने पर पेड़ से गिरती नहीं हैं. इसके बीजों में तीक्ष्ण गंध होती है तथा गुण में यह **का. अरेबिका** की अपेक्षा घटिया माना जाता है. विक्रेय गुणों वाले बीज अधिक ऊँचाई पर उगाये गये वृक्षों से प्राप्त किये जाते है. इसकी उपज 600–800 किग्रा. प्रति हेक्टर है.

का. लिवरिका पश्चिमी उष्णकटिबन्धीय अफ्रीका का मूलवासी है और मलाया तथा अन्य देशों में निचले क्षेत्रों में उगाया जाता है. इसका परीक्षण भारत में मैसूर और केन्द्रीय त्रावंकोर के भागों में किया गया है. पत्तियों में रोग लगने के कारण यह लोकप्रिय नहीं है तथा इसके बड़े बीज बाजार के लायक नहीं होते. इसके बीजों में कैफीन की मात्रा 1·06 से 1·45% तक होती है. यह काफी अधिकतर मिलाने के काम आती है (*Rep. Marketing Coffee*, 30).

एबिओक्यूटी और इक्सेल्सा, **का. लिवरिका** के दो प्रसिद्ध प्ररूप हैं. पहला साधारण लिबरियन काफी की अपेक्षा कुछ छोटे बीज उत्पन्न करता है किन्तु स्वाद और सुरस अच्छा होता है. इक्सेल्सा रोग प्रतिरोधी माना जाता है. यह छोटे आकार के बीज उत्पन्न करता है जिसमें तीक्ष्ण सुगंध तथा कैफीन की अधिक मात्रा होती है.

का. लिवरिका का अत्यधिक उपयोग संकरण के अभिप्राय से तथा **का. अरेबिका** के रोपण के लिये प्रकन्द के रूप में किया जाता है. कुछ संकर प्रबल होते है और उनमें पत्तियों के रोगों के लिये काफी प्रतिरोध पाया जाता है. इनसे अच्छे आकार की भारी फसल की सूचना मिली है. अन्य संकरों की तरह ये भी वंध्यता की उच्च मात्रा प्रदर्शित करते हैं (Macmillan, 341; Coleman, loc. cit.).

का. स्टेनोफिला जी. डान C. stenophylla G. Don

ले.–को. स्टेनोफिल्ला सियेरा लिओन काफी

C.P., 369; Ukers, Coffee, 278.

यह पतले तने तथा छोटी पत्तियों वाला, 7·5–9 मी. की ऊँचाई तक बढ़ने वाला एक वृक्ष है. यह सियेरा लिओन (पश्चिम अफ्रीका) का मूलवासी है और भारत तथा अन्य देशों में इसका प्रयोगात्मक परीक्षण किया गया है. यह ठीक से बढ़ता है और काफी उपज देता है किन्तु इसमें देर से फल लगते हैं. एक बार फल शुरू हो जाने पर यह कभी-कभी **का. अरेबिका** के बराबर या उससे भी अधिक उपज देता है. इसकी बेरियाँ छोटी और अण्डाभ तथा पकने पर काली होती है. बीजों में कैफीन की मात्रा 1·52–1·7% तक होती है और ये सुरस में **का. अरेबिका** से अच्छे होते हैं. यह जाति भारत में अब तक व्यापारिक दृष्टि से महत्वपूर्ण सिद्ध नहीं हुई है.

खेती

विश्व की समस्त व्यापारिक काफी की किस्में मुख्यतया उष्णकटिबंधीय तथा उप-उष्णकटिबन्धीय देशों में 25 अंश उत्तर

ग्रौर 25 ग्रंश दक्षिण के क्षेत्रों में उगाई जाती है. विश्व के संभरण का दो-तिहाई से कुछ ग्रधिक भाग ब्राज़ील से तथा शेष ग्रबीसीनिया, ग्ररब, केन्या, कोलम्बिया, कोस्टा रिका, ग्वाटेमाला, जमैका, जावा, निकारागुग्रा, फिलिपीन द्वीपसमूह, प्वेर्टो रिको, साल्वाडोर, मेडागास्कर, मेक्सिको, सैन डोमिंगो, हाइटी, हवाई, दक्षिण भारत, सुमात्रा तथा वेनेज़ुएला से ग्राता है.

काफी भारत में ग्रधिकतर दक्षिण में पश्चिमी घाट तथा इसकी पहाड़ी तलहटी में ग्रौर उत्तर में मैसूर राज्य के कादूर जिले से दक्षिण में त्रावंकोर तक उगाई जाती है. बिहार, बंगाल तथा ग्रसम के कुछ भागों में केवल ग्रल्प मात्रा में खेती की जाती है.

काफी की सर्वोत्तम उपज उष्णकटिबंधीय प्रदेशों में शीतोष्ण जलवायु के ग्रन्तर्गत होती है. इसके फलों के पकने के लिये ऐसी गरम तथा ग्रार्द्र जलवायु चाहिए, जिसमें बीच-बीच में सूखा मौसम हो. इसका वृक्ष तुषार नहीं सह सकता इसलिये यह उन प्रदेशों तक ही सीमित है जहाँ ग्रौसत वार्षिक ताप लगभग 21° तथा ग्रौसत न्यूनतम ग्रौर ग्रधिकतम ताप क्रमशः 13° तथा 27° होता है (Ukers, Coffee, 134).

दक्षिण भारत में काफी की फसल के लिये जनवरी, फरवरी ग्रौर मार्च के शुष्क महीनों में झाड़ियों को शीत देना ग्रावश्यक होता है. इसे कम से कम 75–125 सेंमी. वर्षा की ग्रावश्यकता होती है, किन्तु यदि वर्षा सुवितरित होती रहे तो 190–330 सेंमी. वाले ग्रधिक वर्षा के क्षेत्रों में ग्रच्छी तरह से उगायी जा सकती है. सूखे की लम्बी ग्रवधि इसके लिये हानिकारक है. सफल फसल के लिये ग्रगस्त से सितम्बर के बीच वर्षा तथा मार्च के ग्रन्त में या ग्रप्रैल के प्रथम सप्ताह में फूल खिलने से पहले ग्रच्छी बौछार ग्रावश्यक है.

काफी 1,800 मी. तक की सभी ऊँचाइयों पर उगाई जा सकती है. **का. ग्ररेबिका** ग्रधिक ऊँचाइयों, 750–1,500 मी., पर सर्वोत्तम परिणाम देती है जबकि **का. रोबस्टा** ग्रौर **का. लिबरिका** कम ऊँचाई वाले क्षेत्रों में ग्रच्छी होती है. ग्रधिक ऊँचाइयों पर फसल देर से तैयार होती है तथा तुषार पड़ने का डर रहता है.

भूमि – उपजाऊ, ग्रच्छे जल-निकास वाली, भुरभुरी, मिट्टी में, जिसमें पर्याप्त मात्रा में फफूँदियाँ रहती हैं, काफी सबसे ग्रच्छी तरह पनपती है. मिट्टी के लिये ग्रनुकूलतम पी-एच का परास 6·0 से 6·5 तक होता है. घाट क्षेत्रों में मिट्टियों में लोहा, ऐल्युमिनियम ग्रॉक्साइड ग्रौर नाइट्रोजन की ग्रत्यधिक मात्रा पाई जाती है जबकि चूना, फॉस्फोरिक ग्रम्ल ग्रौर पोटैश की मात्रा कम रहती है. ये मिट्टियाँ ग्रनिवार्यतः ग्रम्लीय होती है जिनका पी-एच 4·0–6·0 होता है [Iyengar, *Monthly Bull. Indian Coffee Bd*, 1947, **11** (8), 2].

काफी की सफल खेती के लिये स्थान तथा रोपण महत्वपूर्ण है. दक्षिण भारत में साधारणतया खड़े ढाल वाली घाटियों, पर्वत प्रक्षेपों के मोड़ों ग्रौर महाखड्डों तथा पश्चिमी घाटों की उपशाखाग्रों के किनारे बागान लगाये जाते हैं. खुली पहाड़ी चोटियाँ तथा वायुनत घाटियाँ बचायी जाती हैं. जहाँ तक सम्भव हो ऐसे इलाकों को उच्च मानसूनी हवाग्रों तथा वर्षा से बचाना चाहिये क्योंकि इनसे पौधे समूल उखड़ जाते हैं ग्रौर नौतोड़ों से बारीक ऊपरी मिट्टी बह जाती है. उत्तरी पक्ष को प्राथमिकता दी जाती है क्योंकि वर्षा के शुष्क ग्रौर बादल-रहित महीनों में गर्म सूर्य का दिक्पतन दक्षिण की ग्रोर होने के कारण उत्तरी पक्ष का ताप एक-समान रहता है. इसके बाद पूर्वी पक्ष सर्वोत्तम होता है. दक्षिणी ग्रौर पश्चिमी पक्ष उपयुक्त नहीं होते क्योंकि वे भारी दक्षिण-पश्चिमी मानसून वर्षा तथा गर्म दोपहरी के बाद की धूप के लिये खुले रहते हैं (Yegna Narayan Aiyer, 400).

काफी के बागान ग्रधिकतर जंगलों को पूर्णतया या ग्रांशिक रूप से साफ करके लगाये जाते हैं. ग्रांशिक सफाई ग्रच्छी मानी जाती है क्योंकि बहुत-से पूर्ण विकसित वृक्षों को छाया पहुँचाने के लिये छोड़ दिया जाता है. जंगलों की सफाई सामान्यतः सूखे मौसम में, दिसम्बर से जनवरी तक, की जाती है जिससे मार्च या ग्रप्रैल तक गिराये गये बड़े तथा छोटे वृक्ष सूख जाते हैं. चिकनी तथा जल ग्रहण करने वाली भूमियों पर सूखे पेड़ों को भूमि पर जलाना लाभदायक है किन्तु हल्की तथा वनस्पति फफूँदियों से युक्त मिट्टी पर इसका विपरीत प्रभाव पड़ता है. ऐसी ग्रवस्थाग्रों में उस क्षेत्र से बुहारनों को हटा कर ग्रलग जलाना ग्रच्छा रहता है.

साधारणतया काफी का प्रवर्धन बीजों से किया जाता है यद्यपि यह कार्य कलम तथा रोपण द्वारा भी संभव है. बोने के लिये बीजों को विश्वसनीय उत्पादिता तथा दीर्घजीवी झाड़ियों से एकत्र करते हैं, शाखाग्रों पर पूर्णतया पके हुए सर्वोत्तम फल तोड़े जाते हैं. चर्म-पत्र को बिना क्षति पहुँचाये हाथ से गूदा निकाल दिया जाता है तथा बीजों को छाया में सुखाया जाता है. समान ग्राकार के ग्रक्षत बीज बोने के लिये चुन लिये जाते हैं. पीबेरी बीज भी साधारण फसल के लिये उपयोग में लाये जा सकते हैं जिनसे पीबेरियों की ग्रधिक प्रतिशतता प्राप्त होती है (Yegna Narayan Aiyer, 405).

इण्डोनेशिया में वानस्पतिक-प्रवर्धन को विशेषकर पौधे रोपणों के विकास के लिये ग्रपनाया गया है. कलम रोपण सर्वोत्तम सिद्ध हुग्रा है तथा मुख्य तने से निकलने वाली ऊर्ध्वमुख जल-शाखाग्रों की कलमों से उत्पन्न रोपण सामान्य वृक्षों को जन्म देते है. पार्श्वशाखा रोपण से संतोषजनक झाड़ नहीं उत्पन्न होती, परन्तु मुख्य तने से लगभग 45° कोण पर निकली हुई शाखाग्रों की कलमों से श्रेष्ठ परिणाम मिलने का दावा किया गया है (Ferwerda, *Econ. Bot.*, 1948, 2, 258).

कलम-रोपण भारत में सामान्य होता जा रहा है तथा इसे विभिन्न चुनाव के क्लोनों के काम के लिये तथा ग्रधिक उपज वाले वृक्षों के चोटी कलमबन्दी रोपणों द्वारा वर्तमान रोपणों की उपज को बढ़ाने के लिये ग्रपनाया जा रहा है. दक्षिण भारत में रोपण के लिये सर्वोत्तम समय मार्च-जुलाई होता है जबकि 90% रोपण सफल होते है (Gillett, *E. Afr. agric. J.*, 1936, 2, 60).

रोपण क्यारी – पौधे विशेष तरह से तैयार की गई क्यारियों में लगा दी जाती है. बीज-क्यारियाँ, बागानों के सर्वोत्तम भाग में, यदि सम्भव हो तो, जल-स्रावन के निकट हल्के ढलान में बनायी जाती है. बीजों को 7·5 सेंमी. की दूरी पर बनी क्यारियों में तथा 0·6–1·2 सेंमी. मिट्टी के नीचे बोया जाता है. ऊपर से हल्की मिट्टी से ढक देते है ग्रौर इसके ऊपर काई या घास बिछाकर प्रतिदिन पानी से सींचते हैं. साधारण-

तथा 4–8 सप्ताह में अंकुरण हो जाता है, जो ऊँचाई तथा जलवायु पर निर्भर करता है. जैसे ही पर्याप्त बीज अंकुरित हो जाते हैं काई या घास की परत हटा दी जाती है, और ऊपर से कम ऊँचा वितान तान दिया जाता है.

जब बीजांकुर 7·5 सेंमी. ऊँचे हो जाते हैं तब उन्हें पहले से तैयार रोपण-क्यारियों में प्रतिरोपित कर दिया जाता है जो भूमि की सतह से 10–20 सेंमी. ऊँचाई पर बनी होती हैं तथा ढलान के पास 0·6–1·2 मी. चौड़ी सीधी पट्टियों के रूप में रहती हैं. मिट्टी को अच्छी तरह खोद कर उसमें काफी मात्रा में सड़ी पत्ती तथा अन्य खाद दी जाती है. क्यारियों की रक्षा ऊपर से की गई छाया द्वारा की जाती है. पौधें 15 सेंमी. की दूरी पर बनी मेड़ों में प्रतिरोपित की जाती हैं तथा रोपणों की निराई एवं सिंचाई सावधानी से की जाती है.

पौधें कभी-कभी झिरीदार बाँस की 22·5 सेंमी. गहरी तथा 7·5–10 सेंमी. व्यास की विशेष टोकरियों में भी तैयार की जाती हैं. टोकरियों में तैयार की गई मिट्टी उसी तरह भरी जाती है जैसे रोपण-क्यारी में और फिर शैय्या से पौधें निकाल कर प्रत्येक टोकरी में प्रतिरोपित कर दी जाती हैं. इसके पश्चात् उनको उर्ध्वस्थ छाया के नीचे एक कतार में सटाकर रख दिया जाता है और उनकी हल्की सिंचाई कर दी जाती है. टोकरियों के प्रयोग से यह लाभ है कि पौधें मिट्टी को हिलाये-डुलाये बिना खेतों में रोपण के लिये अधिक दूरी तक ले जायी जा सकती हैं (Yegna Narayan Aiyer, 404).

बीज सामान्यतः जनवरी से मार्च तक बोये जाते हैं और पौधे 8–12 सप्ताह में रोपण क्यारियों में प्रतिरोपित की जाती है और 18 महीने बाद अर्थात् अगले वर्ष जुलाई–सितम्बर तक अंतिम रूप से लगा दी जाती हैं.

प्रतिरोपण—काफी की पौधें 45–60 सेंमी. गहरे तथा 30–45 सेंमी. व्यास के गड्ढों में, जो कतार में खोदे जाते हैं, लगाई जाती हैं. ये गड्ढे खराब मिट्टी में 1·5 मी. की दूरी पर, मध्यम मिट्टी में 1·8 मी. की दूरी पर तथा उर्वर मिट्टी मे 2·1–3·0 मी. की दूरी पर बनाये जाते हैं परन्तु इतनी दूरी पर रोपण करने का प्रचलन नहीं है.

रोपण क्यारियों में उगाये गये पौधे सामान्यतः टोकरियों में उगाई जाने वाली पौधों से पहले, जुलाई की वर्षा शुरू होने के कुछ पहले, प्रतिरोपित किये जाते हैं. वे पूरी मिट्टी के साथ गड्ढों के अन्दर रख दिये जाते हैं. मिट्टी को नीचे दबा कर खड़ा कर देते हैं, पास में खूंटियाँ गाड़ दी जाती हैं और पौधों को उनसे तब तक के लिये बाँध देते हैं जब तक वे अच्छी तरह स्थापित न हो जाएँ. टोकरियों में उगाई गई पौधें टोकरी सहित या अलग रोपित की जाती हैं.

छाया—दक्षिण भारत में काफी अधिकतर छाया में उगायी जाती है, यद्यपि अन्य देशों में सामान्य रूप से ऐसा नहीं किया जाता. उद्योग के प्रारम्भिक वर्षों में काफी खुले में उगायी जाती थी तथा उपज भी अधिक होती थी. छाया देने की विधि तो बाद में आई. अनुभवों द्वारा सिद्ध हुआ है कि यद्यपि छाया से उपज प्रति हेक्टर घट जाती है, किन्तु वह पौधों को अत्यधिक ताप और वर्षा से बचाती है तथा पत्तियों के रोगों और तना-वेधकों के आक्रमण से उनकी रक्षा करती है. उपयुक्त छाया नमी को बनाये रखने में बहुमूल्य पलवार का काम देती है. यह पौधों को ओलों द्वारा होने वाली क्षति से भी बचाती है, घास-पात की वृद्धि तथा मृदा अपरदन को रोकती है और झाड़ियों पर केवल विसरित प्रकाश ही पड़ने देती है. इसके लिए फलीदार वृक्ष पसन्द किये जाते हैं, क्योंकि वे मिट्टी में नाइट्रोजन को बढ़ाते हैं.

छाया पूरे इलाके में एक-सी परन्तु घनी नहीं होनी चाहिये. इसके लिये छोटी पत्तियों वाले सदाहरित तथा गहरी जड़ों वाले फलीदार वृक्ष, जिनकी लकड़ियाँ दृढ़ तथा तेज हवा को सह सकें, चुने जाते हैं. इनके अंतर्गत (1) **ग्रीविलिया रोबस्टा** (सिल्वर ओक), (2) **एरिथ्रायना लिथोस्पर्मा** ब्लूम एक्स मिक्वेल (ददाप), (3) **आर्टोकार्पस इंटेग्रा** मेरिल, (4) **फाइकस** जातियाँ, (5) **टरमिनेलिया बेलेरिका** रॉक्सबर्ग, (6) **अल्बिजिया लेबेक** बेंथम, तथा (7) **अल्बिजिया स्टीपुलेटा** बोइविन आते हैं. प्रथम दो अपनी तेज बाढ़ के कारण चुने जाते हैं और नये साफ किये गये क्षेत्रों के लिये उपयोगी होते हैं. **आर्टोकार्पस, फाइकस** और **टरमिनेलिया** उचित ऊँचाई पर अच्छी छाया प्रदान करते हैं. **अल्बिजिया** के वृक्ष अच्छी तरह बढ़ते हैं परन्तु गर्मियों में उनकी पत्तियाँ गिर जाती हैं.

छायादार वृक्ष या तो पहले या काफ़ी की पौधों के साथ रोपित किये जाते हैं. खुले साफ किये गये क्षेत्रों में तेजी से बढ़ने वाले **एरिथ्रायना** और **ग्रीविलिया** जैसे वृक्ष पौधों के रोपण के लगभग एक वर्ष पहले 3·6×3·6 मी. की कतार में परन्तु बाद में जैसे काफी की पौधें बढ़ती जाती हैं उन्हें 10·8×10·8 मी. या 12×12 मी. में दूर-दूर रोपित किया जाता है. अधूरे साफ किये गये जंगलों में छूटे हुए खड़े वृक्षों की पूर्ति उपयुक्त वृक्षों से काफी की पौधों के साथ रोपित कर ली जाती है.

संरक्षी फसलें—छाया वृक्षों के अतिरिक्त नए काफी बागानों में **क्रोटालेरिया** जातियों, **टेफ्रोसिया, केण्डिडा** द कन्दोल और **इंडिगोफेरा** जातियों के समान अस्थायी भू-संरक्षी फसलें उगाई जाती हैं. वे पंक्तियों के बीच की भूमि को ढक लेती है और खर-पतवारों को दबा रखती हैं. वे उस समय तक अस्थायी रूप से छाया का काम भी देती हैं जब तक **एरिथ्रायना** या **ग्रीविलिया** जातियों के पौधे बड़े नहीं हो जाते. जिन स्थानों पर पहले से काफी छाया प्राप्त होती है वहाँ ये फलीदार पौधे हरी खाद का काम देते हैं. पौधों को काटकर मिट्टी में मिला दिया जाता है.

कृषि क्रियाएँ—रोपने के बाद जो कृषि क्रियाएँ की जाती हैं उनमें खाद देना, फुनगियाँ चूँटना और छँटाई करना और कभी-कभी निराई और गुड़ाई करना मुख्य है. जहाँ पहली पौध रोग अथवा शत्रुओं के कारण नष्ट हो जाती है अथवा कम उपजाऊ हो जाती है उन स्थानों पर नए पौधे लगाए जाते हैं. नए साफ किये बागानों में निराना विशेष रूप से उस समय तक आवश्यक होता है जब तक कि झाड़ियाँ बड़ी होकर परस्पर गुँथ नहीं जातीं और अपनी ही छाया से पतवारों की उपज को रोक नहीं देतीं. हाथ की निराई सर्वोत्तम समझी जाती है. कुछ बागानों में हल्की खुदाई या काँटा लगाने अथवा हो चलाने की क्रिया की जाती है. इन क्रियाओं की उपयोगिता के विषय में मतैक्य नहीं है. पर गुड़ाई से भूमि का वातन

हो जाता है जिससे जड़ें लम्बी होकर गहराई तक जाती हैं. तीन या चार वर्षों में भूमि की कम से कम एक बार हल्की गुड़ाई की जाती है (Yegna Narayan Aiyer, 409).

काफ़ी के बागानों में उत्तम जल-निकास का होना बहुत आवश्यक है. काफ़ी जहाँ ढालों पर बोई जाती है, वहाँ सीढ़ियाँ बनाई जाती हैं और अधिक जल को निकालने के लिये नालियों की व्यवस्था की जाती है. बहुत-से बागानों में काफ़ी की एकान्तर पंक्तियों के बाद 30-45 सेंमी. गहरी और 45 सेंमी. चौड़ी नालियाँ बनाई जाती हैं. इन नालियों को धीरे-धीरे मिट्टी, सड़ी पत्तियों आदि से भर जाने दिया जाता है और चार अथवा पाँच वर्ष बाद बची हुई पंक्तियों के बीच में भरी हुई नालियों का स्थान लेने के लिए नई नालियाँ खोद दी जाती हैं. ये नालियाँ भूमि अपरदन को रोकती हैं और भूमि को मुवातित रखती हैं. ये अधिक वर्षा के क्षेत्रों में विशेष उपयोगी होती हैं (Gillett, loc. cit.).

खाद देना—नौतोड़ों में बिना खाद दिए ही काफी की अच्छी उपज होती हैं पर ज्यों-ज्यों काफी की झाड़ियाँ बड़ी होती हैं त्यों-त्यों यह आवश्यक होता जाता है कि समय-समय पर खाद देकर भूमि की उर्वरता को बनाए रखा जाए. जब देश में इन बागानों का रोपण प्रारम्भ हुआ था तो आमतौर से गोबर, खली और अस्थि-चूर्ण इस्तेमाल किए जाते थे. अब इनका स्थान मानक मिश्रणों के रूप में कृत्रिम उर्वरकों ने ले लिया है. मैसूर में किए गए प्रयोगों से ज्ञात होता है कि काफी के फलों में 2.3% नाइट्रोजन; 0·4% P_2O_5; और 2·0% K_2O होता है. ऐसा काफी बागान जो प्रति हेक्टर 560 किग्रा. औसत उपज देता हो उसमें तत्वों की कमी को पूरा करने के लिए सड़ी पत्तियों के अतिरिक्त कम से कम 20 किग्रा. नाइट्रोजन; 30 किग्रा. फॉस्फोरिक अम्ल; और 40-60 किग्रा. पोटैश प्रति हेक्टर देना चाहिए.

खाद को आवश्यकता से थोड़ा अधिक रखने के लिये साधारणतया प्रतिवर्ष प्रति हेक्टर 20-40 किग्रा. नाइट्रोजन; 45-64 किग्रा. फॉस्फोरिक अम्ल; और 60-80 किग्रा. पोटैश दिए जाते हैं. मैसूर के कृषि विभाग ने सलाह दी है कि जिन क्षेत्रों में उपज बहुत अधिक होती हैं, वहाँ प्रति हेक्टर 150 किग्रा. मूंगफली की खली; 40 किग्रा. अमोनियम सल्फेट; 76 किग्रा. सुपरफॉस्फेट; और 120 किग्रा. पोटैसियम सल्फेट और पोटैसियम क्लोराइड का मिश्रण दिया जाना चाहिए. जहाँ औसत उपज होती है वहाँ कम मात्राएँ दी जानी चाहिए. जहाँ भूमि अम्लीय होती है, वहाँ पाँच वर्ष में एक बार प्रति हेक्टर 2.5 टन हवा में बुझाये चूने के देने की सलाह दी गई है (Yegna Narayan Aiyer, 407).

खाद को झाड़ियों के तनों के पास डालने की अपेक्षा उसे सारे क्षेत्र में बराबर बिखेर देना अच्छा समझा जाता है. खादों को दो बार में देना अच्छा रहता है—एक तो मानसूनी वर्षा से पहले मार्च में या उसके आसपास और फिर भारी वर्षा के बाद सितम्बर में. कृत्रिम खादों को वर्षा ऋतु के अन्त में देना सर्वोत्तम होता है. उस समय वे धुल कर बह नहीं पातीं. नाइट्रोजन का उपभोग झाड़ी की वृद्धि की सम्पूर्ण अवधि में एक-सा होता है जबकि फॉस्फोरिक अम्ल का अधिक उपयोग शूक (स्पाइक) और फूल बनने के समय तथा फिर फलों के पकने से तुरंत पहले होता है. सितम्बर में नाइट्रोजनी खादें देने से नई लकड़ी बनती है जबकि मार्च में देने से वह फलों के निर्माण में उपयोगी सिद्ध होती है. अप्रैल के अंतिम दिनों में अधिक नाइट्रोजनी खाद देने से, हो सकता है कि, फूलों की कलियाँ ही न बनें. इस प्रभाव से लाभ उठा कर द्विवर्षी उपज देने वाले पौधों में फूलने के आधिक्य को कम किया जा सकता है. यदि न्यून फसल की आशा की जाती है तो खाद फूल आने से पहले, और यदि भारी फसल की आशा की जाती है तो वर्षा के बीच खुले दिनों में या वर्षा के अंतिम दिनों में दी जाती है.

आजकल यूरिया (0·5 किग्रा.), ऐमोफास (20:20; 0·5 *किग्रा.) और म्यूरिएट ऑव पोटैश (350 ग्रा.) का जल (200* लिटर) में विलयन बनाकर पत्तियों पर छिड़काव किया जाने लगा है.

चुँटाई और छँटाई—पौधों की चुँटाई में उनकी ऊपर की फुनगी चूँट कर फेंक दी जाती है. इससे पौधे की ऊर्ध्व वृद्धि रुक जाती है और द्वितीयक शाखाओं के फूटने को प्रोत्साहन मिलता है. चुँटाई से उन कल्लों के निर्माण में भी वृद्धि होती है जो सीधे ऊपर की ओर बढ़ने लगते हैं. इनको नियमित रूप से चूँटते रहते है जिससे कि शाखाएँ लम्बाई और मोटाई दोनों में बढ़ सकें. फूल और फल अधिकतर पिछले वर्ष की वृद्धि की शाखाओं पर आते हैं और वे सब क्रियाएँ फसल की वृद्धि में सहायक होती हैं, जिनके कारण ऐसी शाखाओं की वृद्धि होती है जिनमें यथासंभव अधिक से अधिक गाँठें होती हैं (Mayne, *Indian J. Hort.*, *1943, 1, 98*).

फुनगी चूँटने की क्रिया या तो एक बार में की जाती है जब वृक्ष लगभग 150 सेंमी. ऊँचा हो, अथवा दो बार में—एक बार जब पौधा 60 या 90 सेंमी. ऊँचा हो और फिर दुबारा जब वह 135-150 सेंमी. का हो जाता है.

वृक्षों की शाखाओं की दूसरी अवस्था की वृद्धि को प्रोत्साहित करने का अच्छा समय तब है जब पौधे आपस में मिल गए हों और पहली अवस्था की शाखाओं में कम फल लगने लगे हों. आवश्यकता पड़ने पर शाखाओं की तीसरी अवस्था भी विकसित की जाती है.

छँटाई में अधिकतर वे समस्त प्ररोहें काट दी जाती हैं जिन पर फल आ चुके हों या जो मृत या रोगी हों और वे शाखाएँ भी निकाल दी जाती है जो एक दूसरी पर आड़ी आती हों और वृक्ष को झंखाड़ बनाती हों. पहली छँटाई में उन द्वितीयक शाखाओं को, जो मुख्य तने के लगभग 30 सेंमी. के निकट से निकली हों, काट दिया जाता है. इससे वृक्ष का बीच का भाग काफी खुला रहता है. इन पर भी प्रत्येक गाँठ पर से एक द्वितीयक शाखा भी निकाल दी जाती है जिससे कि वे एकान्तर प्राथमिक शाखाओं पर बढ़ सकें और जोड़ों में न बढ़ें, जैसा कि प्राकृतिक रूप में बढ़ती हैं. तृतीयक शाखाओं के साथ भी ऐसी ही क्रिया की जाती है. कुछ दशाओं में तृतीयकों को निकलते ही हटा दिया जाता है और फसल उत्पादन के लिये केवल द्वितीयकों की रक्षा की जाती है. ऐसी स्थिति में जब द्वितीयक शाखाएँ एक दो फसलें दे चुकती हैं तो उन्हें काट दिया जाता है और उनके स्थान पर नई द्वितीयकों को बढ़ने दिया जाता है (Yegna Narayan Aiyer, 410).

छँटाई की कई प्रणालियाँ प्रचलित हैं. एक प्रणाली में, जो 'एगोबियाडा' या 'बहुगुणित तना' प्रणाली कहलाती है, मुख्य तने को धरती के सहारे झुका दिया जाता है और उसमें से नई और खड़ी शाखाओं की एक श्रेणी को निकलने दिया जाता है. दूसरी में झाड़ियों को इस प्रकार सँवारा जाता है कि फसल-उत्पादक शाखाओं का एक घना क्षेत्र ऊपर बन जाता है. अधिकतर निचली शाखाएँ काट कर निकाल दी जाती हैं. इससे फलों को चुनने में सरलता होती है और साथ ही मुख्य तने पर घना आच्छादन होता है और छेदक कीटों से न्यूनतम हानि होती है.

नियमित छँटाई की आवश्यकता केवल उस समय होती है जब पौधे 8–10 वर्ष पुराने हो जाते हैं. छँटाई की तीन कोटियाँ प्रचलित हैं : एक हल्की छँटाई होती है जो चाकू से काट कर अथवा हाथ से तोड़ कर की जाती है. दूसरी छँटाई कुछ अधिक होती है. इसमें सब व्यर्थ या अधिक फल न देने वाली कायिक शाखाओं को काट दिया जाता है और केवल कुछ चुनी हुई नई और उत्पादक शाखाओं को रहने दिया जाता है. तीसरी छँटाई इन दोनों के बीच की है. दक्षिण भारत में फसल की प्रवृत्ति द्विवर्षी होती है. एक वर्ष भारी और दूसरे वर्ष हल्की फसल आती है. यदि प्रतिवर्ष नियमित रूप से काफी छँटाई कर दी जाती है तो इससे इस द्विवर्षी के स्वभाव पर नियंत्रण होता है और फसल, कम होकर भी, सब वर्षों में एक-सी होती है.

छँटाई का सर्वोत्तम समय फसल लेने के तुरन्त बाद होता है, पर जिन क्षेत्रों में फसल भारी रहती है और जहाँ फसल के बाद झाड़ियाँ दुर्बल दिखाई देती हैं वहाँ केवल सूखी टहनियाँ और शाखाएँ तोड़ दी जाती हैं और झाड़ियों को छँटाई करने से पहले विश्राम दे देते हैं.

मार्च में जब फसल आई हुई होती है तो अनावश्यक कल्लों और मुख्य तना अथवा शाखाओं से निकलने वाले सशक्त ऊर्ध्वाधर प्ररोहों को हटाने या तोड़ देने से फलों के विकास और पकने के लिए झाड़ी को पोषण का अधिकतम उपयोग करने में सहायता मिलती है. सितम्बर से अक्तूबर तक छँटाई करते रहने से एक समान फूल आते हैं और फसल-उत्पादक लकड़ी के शीघ्र प्रौढ़ होने में सहायता मिलती है.

ये क्रियाएँ विशेषतया **का. अरेबिका** के साथ की जाती हैं. दक्षिण भारत में **का. रोबस्टा** के बागानों में भी **का. अरेबिका** के बागानों की भाँति कृषि क्रियाएँ की जाती हैं, किन्तु जो जानकारी प्राप्त है उससे लगता है कि **का. रोबस्टा** के लिए कृषि क्रियाओं की विधि अलग होनी चाहिए (Mayne, 28).

रोग और नाशक-जीव – का. अरेबिका को हानि पहुँचाने वाला सबसे गंभीर रोग पत्तियों का रोग (पर्ण-अंगमारी या किट्ट) है जो **हेमिलाइआ वास्टेट्रिक्स** बर्कले और ब्राउन के कारण होता है. इस कवक के कारण पत्तियों में पीले-नारंगी रंग के धब्बे पड़ जाते हैं और बाद में ग्रस्त पत्तियाँ झड़ जाती हैं. इससे झाड़ियाँ दुर्बल हो जाती हैं और उनकी बाढ़ मारी जाती है. बोर्डो-मिश्रण के छिड़काव से इस रोग के पैदा होने और अधिक फैलने से रोका जाता है. अब तो यह छिड़काव नियमित रूप से वर्ष में दो बार किया जाता है—एक बार मानसूनी वर्षा से पूर्व, अप्रैल में और पुनः वर्षा के पश्चात्, सितम्बर में. इस कवक की चार प्रजातियाँ ज्ञात हो चुकी हैं और **का. अरेबिका** के ऐसे विभेदों को विकसित करने के प्रयत्न किये जा रहे हैं जो इनके आक्रमण के प्रतिरोधी हैं. विभेद, एस. 288 कवक की सामान्य प्रजातियों का प्रतिरोधी होता है [Mayne, *Bull. Coffee Exp. Sta., Mysore*, No. 19, 1938, 2; Thomas, *Monthly Bull. Indian Coffee Bd*, 1948, **12** (6), 5; Sundaram, ibid., 1949, **13** (11), 157].

इसके अतिरिक्त कुछ अन्य रोग भी होते हैं, जैसे कि **कार्टिशियम कोलेरोगा** बी. हाकन के कारण काला विगलन और **कोलेटोट्रिकम काफ़िआनम** नोक के कारण होने वाला पश्चमारी. पहला रोग सामान्यतः अधिक ऊँचाई और भारी वर्षा वाले क्षेत्रों में होता है और दूसरा रोग कहीं-कहीं होता है किन्तु इससे कोई गंभीर क्षति नहीं पहुँचती. इन दोनों रोगों और कवकों से होने वाले अनेक अन्य-साधारण रोगों का नियंत्रण बोर्डो-मिश्रण के छिड़काव द्वारा किया जाता है (Thomas, loc. cit.).

काफ़ी का मुख्य नाशक-जीव तना बेधक (**जाइलोट्रेकस क्वाड्रिपीस** चेमूलिन) है जो मुख्य तने को खाकर तथा झाड़ी को हानि पहुँचा कर अन्त में उसका विनाश कर देता है. यह बेधक सभी आयु की झाड़ियों पर आक्रमण करता है; इसको रोकने का एकमात्र उपाय है रोगग्रस्त झाड़ियों को उखाड़कर या उसके अंगों को तोड़कर जला देना. यह नाशक-जीव घनी छाया में कम लगता है. अंडाणु-नाशक तथा लार्वा-नाशक पदार्थों के प्रयोग और अक्तूबर में तनों को रगड़ने से भी इस पर नियंत्रण प्राप्त किया जा सकता है [Thomas, loc. cit.; Pattabhiraman, *Monthly Bull. Indian Coffee Bd*, 1948, **12**(8), 5].

काफ़ी के अन्य नाशक-जीवों में हरा खटमल (**कोकस विरिडिस ग्रीन**) और भूरा खटमल (**को. हेमिस्फेरिकम** टार्ग.) सम्मिलित हैं. ये दोनों पत्तियों को ग्रस्त करके झाड़ी की बाढ़ में रुकावट डालते हैं. करंजा (**पोंगैमिया ग्लैब्रा**) के तेल से बने साबुन के घोल (25 लिटर पानी में आधा किग्रा. साबुन) का छिड़काव एक प्रभावकारी उपचार है (Yegna Narayan Aiyer, 420).

उन क्षेत्रों में जहाँ **का. अरेबिका** की खेती होती है सामान्यतः नेमाटोड या ईल कृमि लग जाते हैं. इनमें से प्रमुख हैं : **प्रैटीलेंकसकाफिए, ऐंटीलेंकुलस रेनीफामिस, रैंटोफोलस सिमिलिस, हेमीक्रिकोनेमॉयडीज** तथा **मेलायडोगाइने.** ऐसी अवस्था में **का. अरेबिका** के बजाय **का. रोबस्टा** की खेती शुरू कर देनी चाहिए.

का. रोबस्टा का मुख्य छिद्र बेधक, **जाइलेबोरस मारस्टैटाइ** है जो कोमल टहनियों में सुरंग करके उन्हें सुखा देता है. सूखी टहनियों को छाँटकर जला देने से यह रोग अधिक नहीं फैलने पाता (Thomas, loc. cit.).

इन नाशक-जीवों और रोगों के अतिरिक्त काफ़ी के पेड़ की जड़ों का एक परजीवी आवृतबीजी पौधा, **बैलानोफोरा इंडिका** वालिश भी है. यह पौधा झाड़ी की जीवन-शक्ति क्षीण करके उपज को कम कर देता है. इसको नष्ट करने के लिए, फूल लगने से पहले ही पौधे की कन्दों को खोदकर नष्ट कर देना चाहिए (Yegna Narayan Aiyer, 422).

कटाई – पौधे तीन वर्ष की आयु में ही फूलने लगते हैं और 30–50 वर्ष या इससे अधिक तक फल देते रहते हैं. दक्षिण भारत में सामान्यतः पहली भारी वर्षा के बाद मार्च के अन्त या अप्रैल में पौधों में फूल लग जाते हैं. फूलों पर पड़ने वाली वर्षा की अवधि तथा परिमाण का उपज पर भारी प्रभाव पड़ता है. यदि वर्षा कम होती है तो बहुत-सी कलियाँ नहीं खिल पाती और यदि वर्षा अधिक समय तक होती है तो ठीक से बीज नहीं पड़ने पाते. ऐसा अनुभव है कि सफल पुष्पण के लिए 50 सेण्ट वर्षा आवश्यक होती है.

दक्षिण भारत में सामान्यतः द्विवर्षी फसल होती है जिसमें एक बार अच्छी होती है तो दुबारा कम होती है. विगत वर्ष की फल लगी हुई लकड़ियों की मात्रा और विलग की गई पुष्प-कलिकाओं की संख्या के आधार पर उपज की घटती या बढ़ती का निर्धारण होता है. पर्याप्त मात्रा में खाद डालने और अच्छी तरह छँटाई करने से इस प्रवृत्ति को आंशिक रूप से कम किया जा सकता है (Mayne, *Indian J. Hort.*, 1943, **1**, 98).

फूल लगने के लगभग 8–9 मास बाद सरस फल बड़े होकर पक जाते हैं और अक्तूबर–नवम्बर तक तोड़ने लायक हो जाते हैं. फलों को तोड़ने की ऋतु और संख्या भिन्न-भिन्न क्षेत्रों की जलवायु और ऊँचाई पर आधारित होती है. मैसूर तथा कुर्ग में, जहाँ केवल एक बार फूलने पर फसल होती है, फलों को फरवरी तक तीन या चार दौर में चुना जाता है. नीलगिरि और शेवरॉय के ऊँचे स्थानों में, जहाँ कई बार फूल लगते हैं, मई–जून तक कई दौर में फलों को चुनना पड़ता है (*Rep. Marketing Coffee*, 143).

फलों को चुन करके तोड़ा जाता है. केवल पके हुए फल तोड़े जाते हैं. अपरिपक्व फलों में दोषी बीन (जिन्हें ट्रियाग कहते हैं) की प्रतिशत मात्रा अधिक होती है और अधिक पके हुए फलों का गूदा निकालने में कठिनाई होती है. फल तोड़ने के प्रथम दौर में केवल पके हुए फलों के लिये हर झाड़ी को सावधानी से देखना पड़ता है. इस क्रिया को उड़ाऊ-चुनाई (फ्लाई पिकिंग) कहते हैं. बाद में जब अधिकांश फल पक जाते हैं तो क्रम से एक-एक पंक्ति के फलों को चुना जाता है और इस प्रकार से तीन दौरों में सारे फल चुन लिए जाते हैं. झाड़ियों में बचे परिपक्व या अपरिपक्व फलों को, अर्थात् छटनों को, अंतिम दौर में संग्रह कर लिया जाता है. जमीन पर गिरे फलों को बटोर लिया जाता है.

उपज – काफी की उपज, बोई गयी किस्म, जलवायु, मिट्टी, आयु तथा अन्य कारकों के अनुसार बदलती रहती है. तैयार काफी की उपज प्रति झाड़ी 200 ग्रा. से 400 ग्रा. और प्रति हेक्टर 100 किग्रा. से 1,200 किग्रा. के बीच होती है. **का. अरेबिका** के बागानों में औसत उपज लगभग 200–300 किग्रा. होती है. कुछ स्थानों पर लगभग 2,000 किग्रा. प्रति हेक्टर उपज हो जाती है. **का. रोबस्टा** के बागानों से औसत उपज 400–500 किग्रा. प्रति हेक्टर होती है.

काफी के उत्पादन को अधिकांशतः 'बुशेलों' में व्यक्त किया जाता है जो एक टन से तैयार होने वाली काफी होती है. यह उत्पादन अत्यधिक लोहमय भूमि में (जिसमें अपवाद रूप से बड़ी बीनें होती हैं) 76 बुशेल प्रति टन और दुर्बल भूमि में 95 बुशेल प्रति टन तक होता है. लगभग 82 बुशेल का उत्पादन उत्तम और 85 बुशेल औसत उत्पादन माना जाता है.

बाजार के लिए काफी की तैयारी

व्यापार के लिए काफी बीन को उसके ऊपर की कई आच्छादी परतों, जैसे रजत-त्वचा, पार्चमेंट, मांसल गूदा और बाह्य-त्वचा को हटाकर तैयार किया जाता है. अंतिम उत्पाद के गुण उसको तैयार करने की रीति पर निर्भर करते हैं. इसके लिए दो मुख्य विधियाँ व्यवहार में लाई जाती हैं — शुष्क, और धावन या गीली विधि. प्रथम विधि के अनुसार पहले फलों को धूप में सुखाया जाता है और फिर दल कर छिलके उतार दिए जाते हैं. बाद में बीन को सुखावन-शेड में संसाधित किया जाता है. इस प्रकार प्राप्त उत्पाद को 'चेरी काफ़ी' या 'प्राकृतिक काफ़ी' कहते हैं. द्वितीय विधि के अनुसार गीले फलों से ही छिलकों को कई क्रियाओं द्वारा, जैसे लुगदीकरण, किण्वन, धावन और शुष्कन के द्वारा हटाया जाता है. इस प्रकार प्राप्त उत्पाद को 'पार्चमेंट काफी' कहते हैं. चेरी काफी अधिकतर छाँटन और बटोरन से और पार्चमेंट काफी तोड़े गए एक-समान पके फलों से बनाई जाती है.

शुष्क विधि – शुष्क विधि को केवल छोटे काश्तकार ही प्रयोग में लाते हैं क्योंकि उनके पास धुली हुई काफी बनाने के लिए आवश्यक उपस्कर और अन्य सुविधाएँ नहीं हो पाती. तो भी, ब्राजील, साल्वेडोर, वेनेज़ुएला और कोलम्बिया में, जहाँ फसल कटने के समय पानी की कमी के कारण गीली विधि का प्रयोग नहीं किया जा सकता, इस विधि का ही अधिकतर



चित्र 19 – **काफी की चुनाई**

प्रयोग किया जाता है. तोड़े गए फलों को किसी सुखाने वाले फर्श पर अथवा ईंट और सीमेण्ट के बने बार्बेकों पर फैला दिया जाता है और 2–3 सप्ताह तक सूखने दिया जाता है. जब फल सूख जाते हैं (ऐसी अवस्था में छिलके के अन्दर की बीन फल के हिलाने पर खड़खड़ाती है) तो उन्हें या तो लकड़ी या पत्थर के खरल में पीसा जाता है या छिलके निकाले जाते हैं. बाद में भूसी को पछोर कर पार्चमेन्ट सहित बीन को थैलों में भरकर संसाधन के लिए भेज दिया जाता है.

गीली विधि—तोड़े गए फलों को लुगदी घर (पल्पर हाउस) में लाकर उनमें से हरे और पके फलों को छाँटकर अलग कर लिया जाता है. काफी का फल तभी पका माना जाता है जब उसे तर्जनी और अँगूठे के बीच धीरे से दबाने पर बीन फल से बाहर निकल आती है और गूदा हाथ में रह जाता है.

इस प्रकार से छाँटे गए फलों को मापक कक्ष के फर्श पर मानक-बक्से के भीतर भर कर मापते हैं. ये मापक कक्ष, जिन्हें चेरी लाफ्ट कहते हैं, ऐसे घिरे कमरे अथवा दीवारों से घिरे हुए अहाते की तरह होते हैं जिनका फर्श एक छिद्र की ओर ढालू बना होता है. फर्श पर रखी गयी चेरी को जल की धारा इसी छिद्र से अपने साथ बहा ले जाती है. इस जल-धारा के अंतिम भाग में एक गड्ढा होता है जिसकी बगल में दो छेद होते हैं—एक ऊपर की ओर और एक पेंदी में. भारी चेरी पेंदे वाले छेद से होकर दूसरे जलमार्ग में जाती है जिसके द्वारा लुगदी बनाने वाले कक्ष में पहुँच जाती है. प्लावित और अर्ध-प्लावित चेरी ऊपर वाले छेद से होकर बगल के दूसरे गड्ढे में जाती है जहाँ पर वे छेदों में रुक जाती हैं और पानी बाहर बह जाता है. इसके बाद प्लावित तथा अर्ध-प्लावित चेरी को हरी चेरी के साथ सुखा कर प्राकृत चेरी बनायी जाती है.

भारी फल पहले पल्पर के ऊपर रखे गए पात्र में जाते हैं और फिर बेलन तथा पल्पर के बीच पहुँचते हैं जहाँ पर बीन और गूदा अलग हो जाते हैं. गूदा पल्पर के पिछले भाग में बने एक मुँह द्वारा निकल जाता है और बहते हुए जल के साथ गड्ढे में पहुँच जाता है. बीनें एक चलनी पर एकत्रित होती हैं और बाद में ग्राही-कुंड की फर्श पर गिरा दी जाती हैं. ऐसे फल जो बिना कुचले चलनी पर रुके रह जाते हैं उन्हें फिर से पल्पर में भेज दिया जाता है।

गूदा रहित काफी को किण्वन-कुंडों में एकत्रित किया जाता है जहाँ पर अधिक जल निकाल दिया जाता है. इसको बोरों से ढक कर लगभग 21–27° ताप पर 24–26 घंटे तक किण्वित होने के लिए छोड़ दिया जाता है. जब धोने के बाद गीला पार्चमेंट हाथ में नहीं चिपकता तब यह समझा जाता है कि पर्याप्त किण्वन हो चुका है. यदि किण्वन उचित ढंग से नियंत्रित नहीं किया जाता तो निम्न कोटि की दुर्गन्धमय काफ़ी, जिसे 'फॉक्सी काफ़ी' कहते हैं, प्राप्त होती है. अच्छी तरह से गूदा न निकला रहने पर अथवा अत्यधिक पके फलों से संसाधित करने से फॉक्सी काफ़ी ही बनती है.

अधिक ऊँचाई पर स्थित क्षेत्रों में शीघ्र ही पर्याप्त किण्वन नहीं हो पाता अतः ऐसे स्थानों पर किण्वन की गति बढ़ाने के लिए कई विधियाँ बनाई गई हैं, जैसे समय-समय पर फलों के ढेर पर गरम जल छिड़कना और ढेर को पलटते रहना, या किण्वन कुंडों की पेंदी में बिछे नलों द्वारा गरम जल प्रवाहित



चित्र 20—काफिआ अरेबिका के पके फल तथा धुले पार्चमेंट

करना या ढेरी को धान की पुआल या राख से ढक देना अथवा ताजा यीस्ट या पहले के किण्वन से प्राप्त श्लेष्मा को ढेरी में डाल देना. पर्याप्त किण्वन हो जाने के बाद काफ़ी के ऊपर पर्याप्त जल डाला जाता है और श्लेष्मा तथा अन्य चिपचिपे पदार्थों से विलग करने के लिये अच्छी तरह से धुलाई की जाती है. हल्के बीन सतह पर तैरते रहते हैं जिन्हें अलग कर लिया जाता है.

आजकल भँवरदार बक्सा (स्वर्ल बाक्स) और नाली (चैनेल) के उपयोग से काफ़ी की धुलाई में नया सुधार हुआ है. काफ़ी की लुगदी जलमार्ग में से बहकर एक ऐसे स्वर्ल बॉक्स में गिरती है जिसमें जल की एक स्पर्शी-धारा प्रवेश करती है और इस धारा के समान्तर दूसरी स्पर्शी-धारा से जल बाहर निकलता है. भारी बीन तली में इकट्ठे हो जाते हैं और प्लावित तथा अर्ध-प्लावित बीन ऊपर से निकल जाते हैं. बॉक्स से कुछ नीचे 90 मी. लम्बी, 45–60 सेंमी. चौड़ी और 45 सेंमी. गहरी एक ऐसी नाली में काफ़ी की धुलाई होती है जिसमें छः मोड़ होते हैं और जिसके दोनों छोरों के मध्य में एक 40 सेंमी. का गर्त बना होता है. यह नाली ईंट और गारे की बनी होती है. इसका अनुप्रस्थ अनुच्छेद या तो U या ⌴ आकार का होता है. नाली की लम्बाई में उचित स्थानों पर बने कई फाटकों की सहायता से नाली के अन्दर जल-पृष्ठ को नीचा या ऊँचा किया जा सकता है. जहाँ सबसे ऊपर वाला मोड़ प्रारम्भ होता है, 18 मी. के जलस्तम्भ पर 3·7 सेंमी. की नलिका से जल बाहर निकलता है. इसके पश्चात् नाली के अन्दर काफ़ी को जल-धारा की विपरीत दिशा में उलटा-पुलटा जाता है और क्रम से एक के बाद दूसरा फाटक नीचा किया जाता है जिससे हर फाटक पर कुछ काफ़ी एकत्र हो जाती है और इस प्रकार धुलाई के साथ-साथ काफ़ी का कोटि-निर्धारण भी होता रहता है. प्लावित और अर्ध-प्लावित काफ़ी को बाहर बहने दिया जाता है और अलग इकट्ठा करके ट्रियाज के साथ बेचा जाता है. फाटकों पर एकत्रित काफ़ी को तीन कोटियों में विभाजित किया जाता है—प्रथम और

द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ और पाँचवें तथा छटे फाटकों से प्राप्त. इन तीनों कोटियों की काफी को अलग-अलग सुखाकर बाजार में अलग-अलग बेचा जाता है. सरकारी काफी अनुसन्धान केन्द्र, बालिहोनूर में किए गए प्रयोगों से यह ज्ञात हुआ है कि सम्भावित न्यूनतम समय में किञ्चित और सतर्कता से धुली काफी का सबसे अधिक मूल्य चाखा (टेस्टर) द्वारा निर्धारित किया जाता है.

धोने के बाद बीन को नारियल की जटा की बनी चटाइयों या बार्बेकों पर सुखाया जाता है. कुछ स्थानों में काफी को बाँस के मंच पर बिछी नारियल की चटाइयों पर सुखाया जाता है. आजकल काफी के अन्तिम शुष्कन के लिए अधिकतर कृत्रिम जल-शोषकों का प्रयोग किया जाता है. जब काफी इतनी सूख जाए कि एक बुशेल की 16 किग्रा. रह जाए तो इसको छिद्रित धातु के बने ड्रमों में भर दिया जाता है. ड्रमों को धीरे-धीरे घुमाते हुए उनके अन्दर गरम वायु प्रवाहित की जाती है. इस विधि के द्वारा काफी शीघ्र ही सूख जाती है और इसकी मात्रा एक बुशेल में से 14·4 किग्रा. रह जाती है.

पार्चमेंट उतार लेने के पश्चात् काफी का आकार ठीक करके और छाँट-छाँट कर संसाधन-संस्थापन में थैलों के अन्दर भर दिया जाता है. सर्वप्रथम इसको इतना सुखाया जाता है कि पर्याप्त कठोर हो जाए अर्थात् दाँतों के बीच दबाने पर बीन टुकड़ों में टूट जाए. जब सम्पूर्ण काफी एक-सी सूख जाती है तो एक कमरे के भीतर इसको ढेर लगाकर ठंडा होने के लिए छोड़ देते हैं. फिर काफी को छिलका उतारने वाले पीलर में डालते हैं जिसमें सामान्यतः द्रोणिका के अन्दर कार्य करने वाला एक ऐसा भारी पहिया होता है जिस पर पनारीदार धातु से मढ़ी हुई चौड़ी नेमि चढ़ी होती है. यह बीन से पार्चमेंट तथा रजत-त्वचा को अलग कर देता है और इस प्रकार आकार के अनुसार बीन छाँटने के योग्य हो जाती है. मशीन के द्वारा बीनों को भिन्न-भिन्न परिमाण की चलनी में चाल कर इच्छानुसार आकार दे दिया जाता है. काफी को छाँटना मेहनत का काम है और अधिकतर यह कार्य स्त्रियों के द्वारा ही किया जाता है. चलनी के द्वारा बीनों को दो कोटियों — पीबेरी और फ्लैट — में अलग कर दिया जाता है. पुनः फ्लैट को भी अ, आ और इ, तीन श्रेणियों में वर्गीकृत किया जाता है. भिन्न-भिन्न संस्थापनों में काफी की कोटि भिन्न-भिन्न होती है, इसलिए काफी की कोटि का मानकीकरण करने के यत्न हो रहे हैं. काफी को छाँटते समय स्त्रियाँ उसे पछोर कर कटी, दोषी तथा नष्ट बीनों (और अन्य बाह्य पदार्थों) को अलग कर लेती हैं — इन सब को ट्रियाग कहते हैं. कोटि-निर्धारित पदार्थ को थैलों में भरकर बाजार में भेज दिया जाता है.

काफी का मानसूनीकरण – कुछ यूरोपीय देशों में जैसे फ्रांस, नार्वे और स्विट्जरलैंड में आर्द्र वातावरण में विशेष उपचारित काफी को अधिक महत्व दिया जाता है. इस प्रकार उपचारित चेरी काफी श्वेत रंग की ओर विशेष सुगंधित तथा स्वादिष्ट होती है. विगत वर्षों में जहाज के भीतर आर्द्र भाग में काफी को रख कर निर्यात किया जाता था और जब वह यूरोपीय बन्दरगाहों पर पहुँचती थी तो उसमें ये गुण स्वयं ही आ जाते थे. संग्रह में सुधार और परिवहन में कम समय लगने के कारण आजकल काफी में उन गुणों को, जो पहले दोषपूर्ण परिवहन के कारण स्वयं आ जाते थे, लाने के लिए विशेष उपचार करने पड़ते हैं. मानसूनीकरण सर्वप्रथम मंगलोर में प्रारम्भ हुआ है. दक्षिण-पश्चिम मानसून के प्रारम्भ होने पर (मई के अन्त या जून के प्रारम्भ में) अच्छे सवातनशील गोदामों में सीमेंट या ईंट के फर्श पर चेरी काफी को 10–15 सेमी. एक-सी मोटाई की परत फैला दी जाती है और 4–5 दिनों तक जब तब इसको उलटते-पुलटते रहते हैं. इसके पश्चात् काफी को बोरों में भरकर 4 या 6 बोरों का एक-एक ढेर पंक्तिबद्ध करके लगा देते हैं. पंक्तियों के बीच इतनी जगह रखी जाती है कि आर्द्र मानसूनी वायु का सचरण प्रत्येक बोरे के चारों ओर अच्छी तरह हो सके. एक सप्ताह के अंतर पर बीन को एक बोरे से निकालकर दूसरे बोरे में भर दिया जाता है जिससे कि समान रूप से मानसूनीकरण किया जा सके. यह प्रक्रम लगभग 6 सप्ताहों में पूरा हो जाता है और उत्पाद बाहर भेजने लायक हो जाता है (*Rep. Marketing Coffee*, 151).



चित्र 21 – काफी की छँटाई

भौतिक लक्षण एवं रासायनिक संघटन

सुखाई गई बीन अंडाकार, 1/2–1 सेमी. लम्बी, एक ओर उभड़ी और दूसरी ओर चपटी होती है. पीबेरी गोल एवं

अंडाकार होती है. इसका रंग गहरे नीले से लेकर पीला तक होता है. यह रंग, किस्म, भूमि, जलवायु एवं अन्य प्रादेशिक कारकों, तैयार करने की विधियों, आदि पर निर्भर करता है. काफ़ी का आ.घ. 1·0 से 1·3 तक होता है. दक्षिण भारत की काफ़ी का औसत आ.घ. 1·25 है. अधिक घनत्व वाली बीनें कम घनत्व वाली बीनों से श्रेष्ठ मानी जाती हैं.

कच्ची काफ़ी में हल्की-सी अजीब गंध होती है और इसका स्वाद हल्का मिठास लिये थोड़ा-थोड़ा कड़वा होता है. पेय की भाँति उपयोग करने के लिये काफ़ी को भूनकर इसका चूर्ण तैयार करते हैं; फिर इसका काढ़ा बना कर जलीय निष्कर्ष बनाते हैं. बाद में चीनी और दूध के साथ अथवा इनके बिना ही पीते हैं. भूनते समय काफ़ी में अनेक परिवर्तन होते हैं. बीनें फूलकर पहले से लगभग दुगुनी हो जाती हैं और इनके स्वाद में कड़वापन आ जाता है. अधिकांश शर्करा का कैरामेल बन जाता है, कैफ़ेटैनिक अम्ल की मात्रा घटकर लगभग आधी रह जाती है और काफ़ी की विशिष्ट सुगंध विकसित हो जाती है. अल्प मात्रा में फरफ्यूरैल्डिहाइड भी बनता है. क्लोरोजेनिक अम्ल का विच्छेदन होने से कैफ़ीक एवं क्विनिक अम्ल बनते हैं और कैफ़ीन की कुछ-कुछ क्षति होती है. वसीय अवयवों में से केवल मोम में ही, जोकि बाह्य भाग में रहता है, परिवर्तन होता है और भूनने के कारण वास्तविक काफ़ी-वसा मुक्त हो जाती है (Winton & Winton, IV, 147; *Chem. Abstr.*, 1937, **31**, 6755).

भुनी हुई काफ़ी की सुवास इस बात पर निर्भर करती है कि उसे किस विधि से कितना भूना गया है. देर तक भूनने से काफ़ी का स्वाद कड़वा और तीक्ष्ण हो जाता है और कम भूनने पर द्राव में कैफ़ीन के निष्कर्षण पर प्रभाव पड़ता है. यदि बीनें अधिक भूनी और कल्हारी न जाएँ तो कैफ़ीन की मात्रा में विशेष परिवर्तन नहीं हो पाता.

काफ़ी का बाजार भाव जिन बातों पर निर्भर करता है उनमें निर्मित काफ़ी के प्रति प्याले का गुण (कप क्वालिटी) और कच्ची एवं भुनी हुई बीनों के भौतिक लक्षण, जैसे कि आकार, एकरूपता, रंग, चमक और पाव संख्या (अर्थात् वे बीन जो भूनने पर प्रामाणिक बीन का रंग न दे सकें) प्रमुख हैं. भारत में काफ़ी का बाजार भाव अधिकतर बीन के आकार-प्रकार, रंग और आपेक्षिक घनत्व द्वारा तय किया जाता है परंतु कभी-कभी इसका भाव उत्पादक क्षेत्र पर भी निर्भर करता है. काफ़ी की श्रेष्ठ किस्म, इसके प्रति टन में बुशेल संख्या द्वारा अथवा एक बुशेल के भार द्वारा निश्चित की जाती है. श्रेष्ठ बीजों का भार, 27·5 किग्रा. ; अच्छी बीनों का भार, 27 किग्रा.; साधारण बीनों का भार, 26·5 किग्रा.; और घटिया किस्म की बीनों का भार, 26·0 किग्रा. प्रति बुशेल होता है. विभिन्न किस्म की काफ़ियों को भूनने, चूर्ण करने एवं काढ़ा बनाने की नियंत्रित दशाओं के अंतर्गत प्राप्त इनके निष्कर्षों के परीक्षण से इनमें काफी अंतर देखा जाता है. इस परीक्षण की प्रमुख विशेषताएँ – स्वाद और गंध, द्राव की अम्लता, सुगंध एवं पिंड की जाँच का मूल्यांकन हैं. अनेक खोजों के होने पर भी काफ़ी के भौतिक तथा रासायनिक गुणों में तथा चाखा द्वारा काफ़ी के गुणों के विषय में दिये हुए निर्णय में कोई सह-सम्बन्ध स्थापित नहीं हो सका है (*Rep. Marketing Coffee*, 180).

काफ़ी के अनेक नमूनों का विश्लेषण करने पर जो परिणाम प्राप्त हुये, वे हैं: आ.घ., 1·18–1·35; आर्द्रता, 6–10; नाइट्रोजन, 1·6–2·3; अपरिष्कृत प्रोटीन, 10–14; वसा, 10–14; और राख, 3·0–4·8% (*Coffee Quality Investigation, Dep. Agric., Mysore*, 1947).

का. अरेबिका (मोचा) के बीनों का औसत संघटन इस प्रकार है: **कच्ची बीनें** – आर्द्रता, 8·98; प्रोटीन, 9·87; कैफ़ीन, 1·08; वसा, 12·60; शर्करा, 9·55; डेक्सट्रिन, 0·87; कैफ़ेटैनिक अम्ल, 8·46; और राख, 3·74%; **भुनी हुई काफ़ी** – आर्द्रता, 0·63; प्रोटीन, 11·23; कैफ़ीन, 0·82; वसा, 13·59; शर्करा, 0·43; डेक्सट्रिन, 1·24; कैफ़ेटैनिक अम्ल, 4·74; और राख, 4·56%. (Winton & Winton, IV, 149).

विभिन्न जाति की बीनों में कैफ़ीन का अंश भिन्न-भिन्न होता है जैसे **का. अरेबिका** में 1·0–1·2%; **का. लिबरिका** में 1·4–1·6%; **का. रोबस्टा** में 1·5–2·5%; और **का. मॉरीटेनिया** में 0·07%. विभिन्न देशों में उत्पन्न एक ही जाति के बीजों में कैफ़ीन की मात्रा पृथक-पृथक होती है. **का. अरेबिका** बीनों में उपस्थित कैफ़ीन की मात्रा में जो अन्तर पाया जाता है वह इस प्रकार है: दक्षिण भारत, 1·0–1·2; मोचा (अरब), 0·6–0·9; ब्राजील, 0·5–0·9; और कोलम्बिया, 0·8–3·0%.

कैफ़ीन काफ़ी का एक प्रमुख अवयव है जिसके कारण काफ़ी में उद्दीपक गुण आता है. बीनों में यह मुख्यतः पोटैसियम कैफ़ीन क्लोरोजिनेट के रूप में उपस्थित रहता है. काफ़ी में प्राप्य अन्य क्षारक ट्राइगोनेलीन और कोलीन हैं.

कच्ची और भुनी हुई काफ़ी में कैफ़ेटैनिक अम्ल होता है जो क्लोरोजिनिक अम्ल और कार्फ़ेलिक अम्ल का मिश्रण होता है. क्लोरोजिनिक अम्ल, कैफ़ीइक अम्ल ($C_9H_8O_4$, ग.बिं., 195°) और क्विनिक अम्ल ($C_7H_{12}O_6$, ग.बिं., 163°) का डेप्साइड है. यद्यपि क्लोरोजिनिक अम्ल, टैनिक अम्ल की कुछ अभिक्रियाओं को प्रदर्शित करता है तथापि यह ऐल्बुमिन, जिलेटिन अथवा ऐण्टीपाइरीन को अवक्षेपित नहीं करता. यही कारण है कि इसका सम्बन्ध टैनिनों से नहीं जोड़ा जा सकता (Winton & Winton, IV, 159–60).

कच्ची बीनों में शर्करा प्रायः ग्लाइकोसाइडों के रूप में रहती है. इसमें स्यूक्रोस, डेक्सट्रिन, सेलुलोस, पेण्टोसन और हेमीसेलुलोस होते हैं.

काफ़ी बीन का तेल और मोम – कच्ची काफ़ी में लगभग 10% तेल और मोम होता है जिनका निष्कर्षण पेट्रोलियम ईथर द्वारा करते हैं. निष्कर्ष का 10% मोम होता है. बीन तेल के लक्षण हैं: आ.घ.$^{15°}$, 0·9438–0·9453; $n_D^{25°}$, 1·4678–1·4691; साबु. मान, 160–180; आयो. मान, 79–98; आर. एम. मान, 0·5–0·7; पोलेन्स्के अंक, 0·2–0·3; असाबु. पदार्थ, 6·1–10; संतृप्त अम्ल, 37–40; और असंतृप्त अम्ल, 51–54%. वसा अम्लों में मुख्यतः लिनोलीक, ओलीक, पामिटिक अम्लों के अतिरिक्त अल्प मात्रा में मिरिस्टिक, स्टीऐरिक और ऐराकिडिक अम्ल रहते हैं असाबुनीकृत पदार्थ में फाइटोस्टेराल, साइटोस्टेराल, केफ़ेस्टेराल, केफ़ेआल और टोकोफ़ेराल पृथक किये गये हैं. बीनों के मोम-जैसे छिलके में टेट्राकोसोइक अम्ल होता है (Jamieson, 58; *Chem. Abstr.*, 1932, **26**, 4609; 1939, **33**, 768; 1943, **37**, 5607; 1944, **38**, 1133; Thorpe, III, 257).

वाष्पशील तेल – भुनी हुई काफ़ी के वाष्पशील तेल में निम्नांकित अवयवी यौगिक पहचाने गये हैं: ऐसीटैल्डिहाइड, फ्यूरन, फरफ्यूरैल्डिहाइड, फरफ्यूरिल ऐल्कोहल, पिरिडीन, हाइड्रोजन सल्फ़ाइड, डाइऐसीटिल, मेथिल मरकैप्टन, फरफ्यूरिल मरकैप्टन, डाइमेथिल सल्फ़ाइड, ऐसीटिल प्रोपिओनिल, ऐसीटिक अम्ल, ग्वायाकॉल, वाइनिल ग्वायाकॉल, पाइरैजीन, *n*-मेथिलपायरॉल और मेथिल कार्बिनॉल. ये समस्त पदार्थ बिना भुनी काफ़ी के बीन में पहले से उपस्थित नहीं रहते. निःसंदेह इनमें से कुछ पदार्थ बीनों के भूने जाने पर ही बनते हैं और शेष मूल जटिल यौगिकों के अपघटन द्वारा निर्मित होते हैं (Winton & Winton, 152).

जिन पदार्थों के फलस्वरूप काफ़ी में सुरभि होती है उन्हें अभी तक ठीक से पहचाना नहीं जा सका है. यद्यपि सुगंध का कारण वाष्पशील तेल में कुछ अवयवी पदार्थों की उपस्थिति है किन्तु यह भी हो सकता है कि कम वाष्पशील पदार्थ जैसे क्लोरोजिनक अम्ल के अपघटित होने पर फीनॉल के बनने तथा फीनॉल और ऐल्डिहाइड के संघनित पदार्थों के निर्मित होने से यह गंध आती हो. नई खोजों के अनुसार सुरभि का कारण भुनी हुई बीनों में सम्भवतः मरकैप्टन की उपस्थिति है. उक्त तथ्य की पुष्टि इस बात से भी होती है कि कृत्रिम फरफ्यूरिल मरकैप्टन को जल या ग्लिसरॉल द्वारा तनूकृत करने पर काफ़ी की-सी तीव्र सुरभि आने लगती है (Hughes, *Chem. & Ind.*, 1948, 462; *Chem. Abstr.*, 1947, **41**, 1349; 1948, **42**, 223).

ताजी भुनी काफ़ी में अत्यन्त तीक्ष्ण सुरभि होती है. यद्यपि एक महीने पुराने काफ़ी के नमूने में सुगंध रहती है फिर भी वह ताजी भुनी हुई काफ़ी की सुगंध की तरह तीक्ष्ण नहीं होती. नौ महीने पुराना काफ़ी का नमूना स्पष्टतः बासी होता है और बारह मास पुराना नमूना फफूँद लगा हुआ, बासी और सपाट हो जाता है. भुनी हुई काफ़ी उपस्थित मिश्रित वाष्पशील अवयवी पदार्थों के अस्थिर होने के कारण बासी इसलिए हो जाती है क्योंकि इसमें अम्लीय माध्यम में फरफ्यूरिल ऐल्कोहल अस्थायी होता है जिससे यह पता चलता है कि फरफ्यूरिल ऐल्कोहल तथा अन्य अ-वसीय अवयवी पदार्थ ही भुनी हुई काफ़ी को बासी बनाते हैं. फरफ्यूरिल ऐल्कोहल ताजी भुनी हुई काफ़ी में उपस्थित रहता है. काफ़ी का बासीपन तेल की विकृतगंधिता नहीं है वरन् सम्भवतः गंधयुक्त अवयवी पदार्थों का वाष्पीकरण, बहुलकीकरण, जल-अपघटन और ऑक्सिकरण आदि का संयुक्त प्रभाव है (*Chem. Abstr.*, 1937, **31**, 5053, 6755; Hughes, loc. cit.).

उपयोग – काफ़ी का मुख्य उपयोग पेय पदार्थ के रूप में किया जाता है. इसे तैयार करने के लिये बीनों को भूनकर पीसते हैं और जल में निष्कर्ष बना लेते हैं. निष्कर्ष का स्वाद कड़वा होता है. इसकी एक विशिष्ट प्रकार की गंध होती है. इसका प्रभाव केन्द्रीय स्नायु एवं संवाही संस्थान पर उद्दीपक के रूप में होता है. काफ़ी मूत्रल है. काफ़ी का प्रयोग बीमारों और रोगियों की ओषधि के रूप में किया जाता है. चीनी और दूध रहित काफ़ी का पोषण-मान नगण्य होता है. यह पाचक रसों के प्रवाह एवं आन्त्र-पुरःसरण को उद्दीपित करके पाचन क्रिया को प्रोत्साहित करती है. अधिक मात्रा में काफ़ी पी लेने से पाचन क्रिया में गड़बड़ी आती है. ऐसा कैफिओटॉक्सिन की उपस्थिति के कारण माना जाता है. कैफिओटॉक्सिन एक वाष्पशील, विषैला पदार्थ है, जो भूनने की क्रिया से बनता है और आंशिक रूप में ही वाष्पीकृत हो पाता है (Ukers, 306; U.S.D., 1408).

मलय देश के कुछ क्षेत्रों में पेय तैयार करने के लिये बीनों के स्थान पर काफ़ी की पत्तियों का उपयोग किया जाता है. पत्तियों में कैफ़ीन तो होता है किन्तु बीनों की अपेक्षा कम रहता है. पत्तियों से कैफ़ीन को व्यापारिक स्तर पर तैयार करने के अनेक प्रयास हुए हैं. अरब देश में काफ़ी की खोलों का उपयोग पेय तैयार करने में किया जाता है. यूरोप में बीनों को भूनते समय खोलों से प्राप्त निष्कर्ष को मिला लेते हैं.

अपमिश्रक और प्रतिस्थापी – काफ़ी में वन्यकाशिनी या चिकोरी रूट (**सिकोरियम इंटीबस** लिनिअस) मिलाया जाता है. ऐसे अनेक काफ़ी पीने वाले व्यक्ति हैं जो शुद्ध काफ़ी की अपेक्षा चिकोरी रूट मिली काफ़ी पीना अधिक पसन्द करते हैं. माल्ज़ काफ़ी नामक पदार्थ तैयार करने के लिये शुद्ध काफ़ी में शुष्क अंकुरित जौ और गेहूँ का सुवास मिलाते हैं.

काफ़ी के सामान्य अपमिश्रकों में **केसिआ टोरा** लिनिअस तथा **टैमेरिण्डस इंडिका** लिनिअस के बीज, मटर, सेम और कैरामेल हैं. कभी-कभी काफ़ी की भूसी अथवा खोल को, बीन भूनते समय एवं चूर्ण तैयार करते समय मिला देते हैं.

काफ़ी के सामान्य प्रतिस्थापी फलीदार बीज हैं. इनमें **केसिआ टोरा, के. ऐक्सीडेन्टेलिस** लिनिअस, सोयबीन (**ग्लिसिनी मेक्स** मेरिल) और स्वार्डबीन (**केनावेलिया एन्सीफार्मिस** द कन्दोल) प्रमुख हैं.

पार्चमेंट काफ़ी अथवा बागानी काफ़ी के व्यापारिक निर्माण में काफ़ी की लुगदी उपजात के रूप में प्राप्त होती है. यह एक मूल्यवान् पशु-आहार है. पहले तो यह जायकेदार नहीं लगती किन्तु अभ्यास हो जाने पर इसे गायें चाव से खाती हैं. रासायनिक विश्लेषण से विदित होता है कि लुगदी और मक्का में कुल प्रोटीन की मात्रा समान होती है किन्तु लुगदी में कैल्सियम और फ़ॉस्फोरस की मात्रा मक्का की अपेक्षा अधिक होती है. यद्यपि भारत में नियंत्रित पशु-आहार की जाँच नहीं की गई है फिर भी काफ़ी की लुगदी खाने वाले पशुओं पर इसका कोई बुरा प्रभाव पड़ते नहीं देखा गया. चेरी की भूसी की राख में काफी पोटैश रहता है और यह एक मूल्यवान् पोटैशीय खाद है. भूसी एवं अन्य हरे पदार्थों से निर्मित लुगदी, राख और खाद के N, P तथा K के मान सारणी 1 में दिये गये हैं (*Chem. Abstr.*, 1947, **41**, 3882).

सारणी 1 – लुगदी, भूसी की राख तथा खाद का प्रतिशत संघटन

	लुगदी (वायु-शुष्क आधार पर)	भूसी की राख (आर्द्रता रहित आधार पर)	खाद (वायु-शुष्क आधार पर)
नाइट्रोजन (N)	1·34	··	0·91
फ़ॉस्फोरिक अम्ल (P_2O_5)	0·11	2·44	0·31
पोटैश (K_2O)	1·50	25·65	0·71

केफ़ेलाइट – काफ़ी की बीनों का उपयोग एक नये प्रकार के केफ़ेलाइट नामक प्लास्टिक के निर्माण में किया गया है. यह बहिर्वेधन एवं दाब-ढलाई के काम आता है. केफ़ेलाइट से बनी वस्तुएँ जल, विलायक एवं ज्वाला तीनों की प्रतिरोधक हैं तथा इनका संघटन अन्य ढलाई संघटनों से मिलता-जुलता है. वैज्ञानिक एवं औद्योगिक अनुसन्धान परिषद्, दिल्ली ने वसारहित बीनों के चूर्ण और ऐनिलीन अथवा क्रेसीलिक अम्ल के मिश्रण का सल्फ्यूरिक अम्ल की अल्प मात्रा के साथ दाबपाचन करके एक ढलाई-चूर्ण के व्यापारिक निर्माण की विधि विकसित की है. इस प्रकार निर्मित पदार्थ को शोधकर, सुखाकर और महीन पीसकर उपयुक्त प्लास्टीसाइजर के साथ मिलाने से ऐसे संघटन वाला पदार्थ प्राप्त होता है जो 0·16–0·24 टन प्रति वर्ग सेंमी. दाब एवं 150°–160° ताप पर साँचे में ढाला जा सकता है. काफ़ी की भूसी से ढलाई-संघटन प्राप्त करने की एक संशोधित विधि का प्रयोग किया जाता है. साँचे में ढली वस्तुओं का परिरूपण सुन्दर होता है और ये जल प्रतिरोधक होती हैं. केफ़ेलाइट का पार-विद्युत स्थिरांक 8·2 है (*Chem. Abstr.*, 1941, 35, 7057; Sikka, *J. sci. industr. Res.*, 1945–46, 4, 731).

काफ़ी-वृक्ष की लकड़ी कठोर होती है और इसका उपयोग बक्स की लकड़ी के स्थान पर किया जा सकता है. यह मध्यम भारी होती है (688 किग्रा./घमी.) और इसकी विखंडन शक्ति 775 किग्रा./वर्ग सेंमी. है. काफी के पौधों की शाखाएँ टहलने की छड़ियाँ और हथौड़ों के हत्थे बनाने के काम आती हैं (Burkill, I, 626; Ukers, loc. cit.).

उत्पादन एवं व्यापार

संसार के समस्त काफ़ी उत्पन्न करने वाले क्षेत्रफल के 1–1·5% क्षेत्र में भारत में काफ़ी उत्पन्न की जाती है. सर्वाधिक क्षेत्रफल में काफ़ी उगाने वाले देशों में ब्राजील अग्रणी है. इसके बाद कोलम्बिया, डच ईस्ट इण्डीज, वेनेजुएला, ग्वाटेमाला, साल्वाडोर और हैटी के नाम आते हैं.

इस शताब्दी के प्रारम्भ से काफ़ी के क्षेत्रफल एवं उत्पादन में बहुत उतार-चढ़ाव आया है. 1896 में लगभग 1,21,600 हेक्टर भूमि में काफी पैदा की जाती थी और सन् 1919–20 में इसका क्षेत्रफल घटकर 46,564·4 हेक्टर रह गया. इसका मुख्य कारण काफ़ी की पत्तियों में रोग लगना और तनों में बेधकों का आक्रमण था. बाद के वर्षों में जब यह ज्ञात हुआ कि छाया में काफी उगाने से और बोर्डो तथा बर्गण्डी मिश्रण के छिड़काव से पत्तियों में लगने वाले रोगों और तनों के बेधकों के आक्रमणों को रोका जा सकता है तो काफ़ी उगाने के क्षेत्रफल में पुनः वृद्धि हुई. 1950 में इसका कुल क्षेत्रफल लगभग 80,000 हेक्टर था जिसमें से समस्त क्षेत्रफल का लगभग 50% मैसूर में, 28% तमिलनाडु में तथा 20% कुर्ग में था. शेष में त्रावंकोर, कोचीन तथा उड़ीसा सम्मिलित थे. 1964–65 में कुल 1,29,730 हेक्टर में काफ़ी उगाई गई (सारणी 2) जिसमें मैसूर, तमिलनाडु तथा केरल प्रमुख हैं.

काफ़ी का उत्पादन ऐसे उत्पादकों के हाथ में है जिनके पास छोटी-छोटी भूमि-इकाइयाँ हैं. ये इकाइयाँ 0·4 से लेकर 400 हेक्टर तक की हैं लेकिन बड़े बागानों की संख्या कम ही है. भारत में जिस प्रकार खेती की जाती है और उसकी देखभाल होती है उसको देखते हुये विस्तृत क्षेत्रफल में **अरेबिका** काफ़ी की सघन खेती सम्भव नहीं है. समय-समय पर इस दिशा में प्रयत्न अवश्य किये गये किन्तु ये अधिक समय तक सफल नहीं रह सके; त्रावंकोर के कोट्टयाम क्षेत्र में और तमिलनाडु के मालाबार, नीलगिरि एवं सलेम जिलों में छोटे-छोटे क्षेत्र विशेषतः 4 हेक्टर से कम, बड़ी संख्या में हैं. 1931 के पूर्व 4 हेक्टर से कम क्षेत्रफल वाले क्षेत्रों में होने वाली आय को काफ़ी के कुल आँकड़ों में से निकाल दिया जाता था जिससे 1931–32 से पहले के आँकड़ों की ठीक-ठीक तुलना बाद के आँकड़ों से नहीं की जा सकती (*Indian Tr. Bull.*, 1947, 3, 22).

भारत में काफ़ी के कृष्ट क्षेत्रफल एवं उत्पादन का अधिक भाग **का. अरेबिका** किस्मों के अन्तर्गत था. किन्तु इधर **का. रोबस्टा** की खेती के क्षेत्रफल एवं उत्पादन में अत्यधिक वृद्धि हुई है. 1937–38 में 8,000 हेक्टर क्षेत्रफल अथवा कुल क्षेत्रफल के 10% में **का. रोबस्टा** काफ़ी की खेती होती थी जो 1947–48 में बढ़कर 20,800 हेक्टर अर्थात् कुल क्षेत्रफल का 25% हो गया. इस अवधि में **का. अरेबिका** के क्षेत्रफल में 3–4% की साधारण वृद्धि हुई. 1964–65 में 77,602 हेक्टर में **का. अरेबिका** की खेती होने लगी जो समस्त क्षेत्रफल का लगभग 60% है (सारणी 2). **का. अरेबिका** की अपेक्षा **का. रोबस्टा** अधिक सहिष्णु एवं रोग प्रतिरोधी है तथा निम्न ऊँचाइयों पर भली-भाँति पैदा होती है जबकि **का. अरेबिका** ऐसे स्थानों पर नहीं पनपती. **का. रोबस्टा** निश्चित रूप से **का. अरेबिका** की अपेक्षा (सारणी 3) अधिक उपज देती है एवं अधिक लाभकारी है. कुछ भी हो, **का. रोबस्टा** गुण में **का. अरेबिका** से न्यून है और काफी उपभोक्ताओं में इसे लोकप्रिय बनाने के लिये विशेष प्रयत्न किये जाने की आवश्यकता है.

व्यापार

द्वितीय महायुद्ध के पूर्व भारत में उत्पादित काफ़ी का अधिकांश भाग निर्यात किया जाता था और कुल उत्पादन का केवल 20 या 30% आंतरिक खपत के लिये रख लिया जाता था. भारतीय काफ़ी के प्रमुख खरीददारों में फ्रांस, इंग्लैण्ड, नार्वे और बेल्जियम देश थे. इंग्लैण्ड केवल उच्च श्रेणी की काफ़ी का आयात करता था जबकि फ्रांस और अन्य महाद्वीपीय देश चेरी और मानसून काफ़ी का आयात करते थे. द्वितीय महायुद्ध छिड़ जाने से काफ़ी का निर्यात 1939–40 में 8,400 टन से एकदम घटकर 1940–41 में 2,616 टन रह गया. तब से लेकर आज तक काफ़ी का निर्यात कम ही रहा है. इस अवधि में एक मुख्य बात यह हुई है कि मध्यपूर्व के देशों में विशेषकर कुवैत में तथा पाकिस्तान में भुनी काफ़ी की खरीद बढ़ गई है (सारणी 4).

भारत काफ़ी का आयात विदेशों से नहीं करता. फिर भी अल्प मात्रा में भुनी और पिसी हुई काफ़ी का आयात होता है. प्रयोगात्मक कार्यों के सिवाय कच्ची बीन तथा काफ़ी के पौधों का आयात निषिद्ध है. भारत में उत्पादित प्रत्येक किस्म की काफ़ी पर एक रुपया प्रति 50 किग्रा. की दर से

आशुल्क लगाया जाता है जिसके कार्यवाह का प्रशासन 'इण्डियन काफ़ी सेस कमेटी' द्वारा किया जाता है जिसे 1935 में 'इण्डियन काफ़ी सेस अधिनियम' द्वारा बनाया गया था. 'इण्डियन काफ़ी सेस कमेटी' के सारे कार्य 1942 में स्थापित इण्डियन काफ़ी बोर्ड ने अपने हाथ में ले लिये. काफ़ी बोर्ड द्वारा किये गये तीव्र प्रचार के फलस्वरूप देश में काफ़ी की खपत बढ़ गई है जिससे निर्यात में जो कमी हुई थी उसका कोई विपरीत प्रभाव नहीं पड़ा और इस प्रमुख बागान-उद्योग पर संकट के बादल नहीं छा पाये.

यद्यपि परिमाण की दृष्टि से भारतीय क़ाफ़ी का विश्व के व्यापार में नगण्य प्रभाव है किन्तु अपने श्रेष्ठ गुणों के कारण इसको ऊँचा स्थान प्राप्त है. यह मृदु काफ़ी की श्रेणी में वर्गीकृत की जाती है तथा अधिक मूल्यवान् होती है. भारत की श्रेष्ठतम काफ़ी नीलगिरि से प्राप्त होती है तथा अपने सुन्दर नीले रंग, बीनों की शुद्धता एवं बढ़िया लिकर बनाने के गुण के कारण प्रसिद्ध है. मैसूर की काफ़ी भी मृदु स्वाद, सुवास एवं प्रचुरता के कारण इतनी ही अधिक पसन्द की जाती है. सारणी 5 में विभिन्न व्यापारिक प्ररूपों की काफ़ी के प्रमुख लक्षण दिये गये हैं.

मूल्य – काफ़ी के प्ररूप एवं श्रेणी के आधार पर ही इसका मूल्य तय किया जाता है. कुछ भी हो, काफ़ी की विभिन्न श्रेणियों के नाम एवं श्रेणी विनिर्देशों में अत्यन्त विभिन्नता है.

सारणी 2 – भारत में काफ़ी का उत्पादन*

(हेक्टर)

	1962–63			1963–64			1964–65		
	अरेबिका	रोबस्टा	कुल	अरेबिका	रोबस्टा	कुल	अरेबिका	रोबस्टा	कुल
आंध्र प्रदेश	140	10	150	140	11	151	234	11	245
केरल	2,320	26,218	28,538	2,424	26,445	28,869	2,061	25,624	27,685
उड़ीसा	8	1	9	8	1	9	73	..	73
असम	5	1	6	5	1	6	5	1	6
अंदमान	3	..	3	3	..	3	6	..	6
तमिलनाडु	23,938	2,932	26,870	24,406	2,932	27,338	24,024	1,690	25,714
मैसूर	46,422	24,161	70,583	48,168	24,748	72, 916	51,007	24,802	75,809
महाराष्ट्र	76	..	76	76	..	76	89	..	89
प. बंगाल	53	..	53	53	..	53	103	..	103
कुल	72,965	53,323	126,288	75,283	54,138	129,421	77,602	52,128	129,730

**Coffee Statistics*, 1964–65 to 1966–67.

सारणी 3 – भारत में काफ़ी का उत्पादन*

(टन)

	1963–64			1964–65			1965–66			1966–67		
	अरेबिका	रोबस्टा	कुल	अरेबिका	रोबस्टा	कुल	अरेबिका	रोबस्टा	कुल	अरेबिका	रोबस्टा	कुल
आंध्र प्रदेश	5	..	5	..	..	..	..	..	..	..	..	..
केरल	675	8,699	9,374	925	7,715	8,640	975	8,220	9,195	1,375	12,975	14,350
तमिलनाडु	5,483	1,791	7,274	7,400	1,020	8,420	6,480	1,540	8,020	6,760	1,670	8,430
मैसूर	32,671	19,680	52,351	33,920	9,985	43,905	30,820	15,840	46,660	33,565	21,955	55,520
उत्तरी भारत	16	..	16	45	5	50	..	..	..	..	..	..
अन्य	201	99	300	..	..	..	..	..	..	..	..	..
कुल	39,051	30,269	69,320	42,290	18,725	61,015	38,275	25,600	63,875	41,700	36,600	78,300

**Coffee Statistics*, 1964–65 to 1966–67.

सारणी 4 – भुनी हुई काफ़ी का निर्यात*
(मात्रा: किग्रा.; मूल्य: रु. में)

	अप्रैल 65–मार्च 66		जून 66–मार्च 67		अप्रैल 67–मार्च 68		अप्रैल 68–मार्च 69	
	मात्रा	मूल्य	मात्रा	मूल्य	मात्रा	मूल्य	मात्रा	मूल्य
कनाडा	..	..	90	900	..	..	..	..
अमेरिका	39	200	..	..	..	..	..	..
पाकिस्तान (प.)	3,380	16,272	..	..	..	..	..	..
कुवैत	31,432	1,60,281	..	..	..	..	10,680	76,270
चेकोस्लाविया	17	93	..	..	..	..	..	..
जर्मन गणराज्य	5	25	..	..	..	..	..	..
युगोस्लाविया	40	218	..	..	..	..	12,057	1,03,294
फ्रास	60	293	..	..	..	..	..	..
जर्मनी (पूर्वी)	60	343	..	..	..	..	..	..
नीदरलैंड	146	686	..	..	5	65	..	..
आस्ट्रिया	20	100	..	..	..	..	..	..
ब्रिटेन	86	443	..	..	..	..	..	..
जापान	..	..	102	1,382	..	..	..	..
नेपाल	..	..	75	850	2,014	7,169	175	1,388
नार्वे	..	..	..	..	5,019	36,365	..	..
वहारिन	..	..	..	..	..	..	650	6,281

**Monthly statistics of the foreign trade in India*, 1966, 67, 68, 69.

सारणी 5 – वाह्य लक्षण

	प्रकार	गुण
नीलगिरि	वड़ी, लम्बोतरी, नीलाभ-धूसर, अनावरित	वढ़िया, स्पष्ट सुरस, मृदु और गाढ़ा-सा तरल
नड़वट्टम	मध्यम वड़ी, हरिताभ से हरिताभ-धूसर, अनावरित	,,
विलिगिरि	काफी वड़ी, गोल और मोटी, हरिताभ-धूसर	,,
ववावूदन	मध्यम वड़ी, गोल और मोटी, हरिताभ-धूसर	लगभग नीलगिरि के समान
मैसूर	वड़ी से मध्यम वडी, हरिताभ-धूसर से धूसर, आवरित	मृदु, मखमली रसवान और समृद्ध तरल
शिवराय	मध्यम वड़ी, गोलाभ, हरिताभ, अनावरित	वढ़िया सुरभि
अनामलाई	वड़ी, हरिताभ, हल्की आवरित	अच्छा तरल
नेल्लिअम्पदी	वड़ी, गोलाभ, हरिताभ, आवरित	मृदु तरल
कन्नन देवन	मध्यम वड़ी, हरिताभ, हल्की, आवरित	अनामलाई के समान
पालनी	छोटी से मध्यम वड़ी, हरिताभ, हल्की आवरित	,,
कुर्ग	मध्यम वड़ी, हरिताभ, हल्की आवरित	तीव्र तरल

वागान काफ़ी 5 या 6 वर्गों में श्रेणीकृत की गई है, जैसे: पीवेरी, ओ या ए, वी, सी, पिसी हुई काफ़ी की वीन (ट्रियेग), काली जाति एवं खंडरे. इनके अतिरिक्त काफ़ी का एक संयुक्त वर्ग, एफ.ए.क्यू. एसार्टमेंट (F.A.Q. Assortment) भी है जो विभिन्न श्रेणियों की काफ़ी का निश्चित अनुपात में मिश्रण है. विभिन्न श्रेणियों की काफ़ी की कीमतें पीवेरी के सापेक्ष निम्नांकित अनुपात के आधार पर तय की जाती है: पीवेरी, 100; ओ या ए, 76–80; वी, 66; सी और ट्रियेग, 62; काली जाति और खंडरे, 46 है. चेरी काफ़ी भी इसी प्रकार श्रेणीकृत की जाती है परन्तु वागानी काफ़ी की अपेक्षा इसमें इतनी सावधानी नही वरती जाती. वागानी काफ़ी की अपेक्षा चेरी काफ़ी सस्ती होती है. का. रोवस्टा काफ़ी की तुलना में का. अरेविका काफ़ी की कीमत हमेशा ही ऊँची रखी जाती है (Yegna Narayan Aiyer, 415).

दूसरे विश्व युद्ध से पहले दक्षिण भारत की विभिन्न मंडियों में, विशेषतया सुखाने की या निर्यात मंडियों में, पश्चिमी तट पर तेलीचरी और मंगलोर में तथा अंतर्भाग में वंगलौर, कोयम्वतूर और सलेम में आम नीलामी की जाती थी. इनके अतिरिक्त उत्पादक क्षेत्रों के निकट कुछ छोटी मंडियाँ भी थीं. युद्ध के कारण जव कीमतें गिरी और निर्यात में कमी आई तो देश के भीतर उसका उपयोग वढाने के प्रयत्न किये गये और 1940 में काफी उद्योग के नियन्त्रण के हेतु एक स्वीकृत योजना चालू की गई. इस योजना का परिचालन भारतीय काफ़ी वोर्ड को सौंपा गया. इस वोर्ड में प्रान्तीय सरकारों और उत्पादकों, मजदूरों तथा व्यापारियों के प्रतिनिधि थे. युद्ध की

समाप्ति पर 'काफ़ी-मार्केट एक्सपैन्शन (संशोधन) अधिनियम, 1947', वनाया गया और इस योजना की व्यवस्थाओं को स्थायी रूप दे दिया गया.

इस योजना के अनुसार आरम्भ में लगभग 10 हेक्टर के सव वागानों का पंजीकरण करने की व्यवस्था थी, परन्तु वाद में यह व्यवस्था 2 हेक्टर से छोटे समस्त वागानों पर भी लागू कर दी गई. काफ़ी तैयार करने के संस्थानों के लिये लाइसेन्स लेना अनिवार्य कर दिया गया. आरम्भ में प्रत्येक पंजीकृत वागान से कहा गया कि वह अपनी कुल फसल का एक भाग केन्द्रीय पूल को दे और शेष को वेचने के लाइसेन्स ले. वाद में यह नियम वनाया गया कि सम्पूर्ण उत्पादन पूल को दिया जाए और व्यक्तिगत विक्री वन्द की जाए. केन्द्रीय काफ़ी पूल से, वोर्ड भीतरी वाजार को आवश्यकता के अनुसार काफ़ी देता था, और निर्यात के लिये एक मात्रा अलग रख ली जाती थी. थोक भाव भी निश्चित कर दिए जाते थे. 1948 की फरवरी तक यह उद्योग कठोर नियन्त्रण में रहा. किन्तु इसी के वाद अन्य वस्तुओं के साथ काफ़ी भी नियन्त्रण-मुक्त कर दी गई. पूल की काफ़ी का खुला नीलाम फिर चालू हुआ. पर 1947–48 में फसल कम होने के कारण काफ़ी का मूल्य ऊपर चढ़ गया. मूल्य में इससे आगे वृद्धि रोकने के लिये वोर्ड की काफ़ी का कुछ भाग अव सहकारी समितियों और ऐसी ही अन्य संस्थाओं को उचित मूल्य पर दिया जाता है और शेष सीमित नीलामी द्वारा वेचा जाता है.

Grevillea robusta Cum.; *Erythrina lithosperma* Blume ex Miq.; *Artocarpus integra* Merrill; *Ficus* spp.; *Terminalia belerica* Roxb.; *Albizzia lebbek* Benth.; *Albizzia stipulata* Boiv.; *Crotalaria* spp.; *Tephrosia candida* DC.; *Indigofera* spp.; *Hemileia vastatrix* Berk. & Br.; *Corticium koleroga* (Cke.) V. Hochn; *Colletotrichum coffeanum* Noack; *Xylotrechus quadripes* Ch.; *Coccus viridis* Green; *C. hemisphaericum* Targ; *Pongamia glabra*; *Pratylenchus coffeae*; *Rotylenchulus reniformis*; *Radopholus similes*; *Hemicriconemoides*; *Meloidogyne* sp.; *Xyleborus morstatti* E.; *Balanophora indica* Wall.; *C. mauritania*; *Cichorium intybus* Linn.; *Cassia tora*; *C. accidentalis* Linn.; *Tamarindus indica* Linn.; *Glycine max* Merr.; *Canavalia ensiformis* DC.

काफिआ, नीग्रो – देखिए कैसिआ

काफिर बेर – देखिए हार्पेफाइलम

कावुली चना – देखिए साइसर

कामीफोरा जैक्विन (वरसरेसी) COMMIPHORA Jacq.

ले.–कोम्मीफोरा

यह काँटेदार, वालसमी वृक्षों तथा झाड़ियों की लगभग 165 जातियों का वंश है जो अफ्रीका तथा उष्णकटिवंधीय एशिया में पाया जाता है. वहुत-सी जातियों से व्यापारिक रेजिन प्राप्त होता है. लगभग 5 जातियाँ भारत में पाई जाती हैं जिनमें **का. मुकुल** तथा **का. रॉक्सवर्गाई** से भारतीय वेडीलियम निकाला जाता है.

Burseraceae

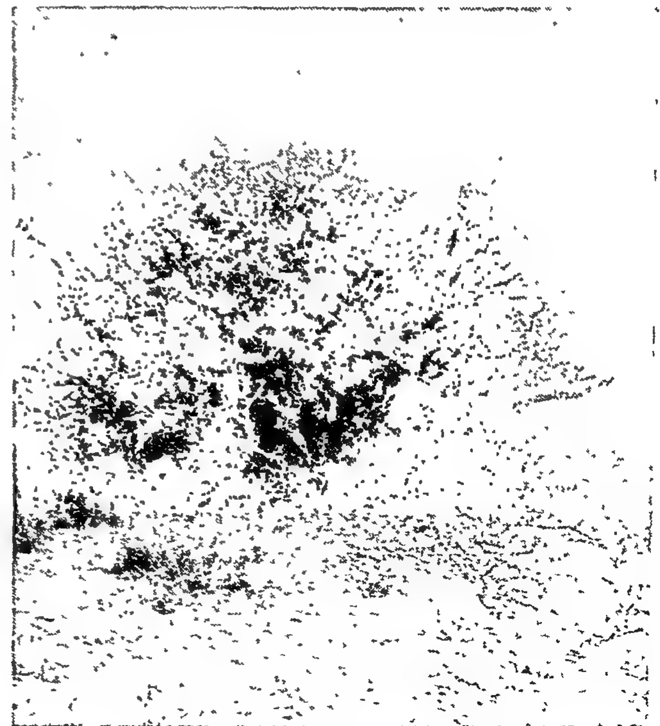
का. काउडेटा (वाइट और आर्नेट) एंगलर सिन. **प्रोटिअम काउडेटम** (वाइट और आर्नेट) C. caudata (Wight & Arn.) Engl. पहाड़ी आम

ले.–को. काऊडाटा

Fl. Br. Ind., I, 530.

ते.–कोण्डा मामिडी; त.–किलुवई; क.–कोंडमावु.

यह एक सुन्दर वृक्ष है जिसका स्तम्भ मोटा तथा छाल कागजी होती है. यह सामान्यत: कुडप्पा, मैसूर तथा दक्षिणी अरकाट में पाया जाता है. इसका प्रवर्धन तनों तथा शाखा की कलमों से सरलता से होता है तथा वीथी-वृक्षों को अधिक देखभाल के विना भी तैयार किया जा सकता है. पत्तियों तथा छाल में आम-जैसी सुगंध होती है. इस वृक्ष से प्राप्त ओलियो-गोंद-रेज़िन कभी-कभी धूप की तरह काम में लायी



चित्र 22 – कामीफोरा मुकुल की झाड़ी

जाती है. फल, मटर के आकार के होते हैं जिनका अचार पड़ता है (*Indian For.*, 1938, **64**, 751).

गोंद-रेजिन के भंजक-आसवन से गहरे भूरे रंग का तेल निकलता है जिसकी गंध बर्च-कोलतार जैसी होती है. तेल के निम्नांकित स्थिरांक ज्ञात हुए हैं : आ.घ.$^{15°}$, 0·8948; $n^{20°}$, 1·4930, $[\alpha]^{25°}$, −20° से 0°; इसमें फरफ्यूरल पाया जाता है (Krishna & Badhwar, *J. sci. industr. Res.*, 1948, **7**, suppl., 126).

Protium caudatum Wight & Arn.

का. बेरेयी (आर्नेट) एंगलर सिन. **बालसमोडेंड्रोन बेरेयी** आर्नेट C. berryi (Arn.) Engl.

इंडियन बाम आफ गिलीड

ले.—को. बेरिइ

D.E.P., I, 366; Fl. Br. Ind., I, 529.

त.—मुदगिलुवेई.

यह एक छोटा सुगंधित कँटीला वृक्ष है जो उत्तरी कोयम्बतूर पहाड़ियों के शुष्क वनों में जंगली उगता है और सम्पूर्ण दक्षिणी भारत में बाड़ के लिए उगाया जाता है. इससे सुगंधित गोंद-रेजिन प्राप्त होता है, जिसकी रासायनिक रचना अभी तक ज्ञात नही हो सकी है.

Balsamodendron berryi Arn.

का. मुकुल (हुकर एक्स स्टाक्स) एंगलर सिन. **बालसमोडेंड्रोन मुकुल** हुकर एक्स स्टाक्स C. mukul (Hook. ex Stocks) Engl.

इंडियन बडेलियम ट्री

ले.—को. मुकुल

D.E.P., I, 366; C.P., 400; Fl. Br. Ind., I, 529.

सं.—गुग्गुलु, कौशिका, देवधूप; हिं., बं., ते. तथा गु.—गुग्गुल; म. तथा क.—गुगुले; त.—मैशाक्षी गुक्कल.

यह झाड़ी अथवा छोटा वृक्ष है जिसकी शाखाएँ कँटीली होती हैं. यह राजस्थान, खानदेश, बरार, मैसूर, सिंघ तथा बलोचिस्तान के सूखे चट्टानी भागों में पाया जाता है. कभी-कभी यह बाड़ के लिये लगाया जाता है. राख के रंग की छाल से खुरदुरी पपड़ियाँ निकलती हैं जिससे नीचे की छाल दिखाई पड़ने लगती है. यह स्वयं पतली कागजी पत्रियों के रूप में झड़ जाती है.

का. मुकुल भारतीय बडेलियम का मुख्य स्रोत है जो छाल को क्षत करके गोंद-रेजिन के रूप में प्राप्त किया जाता है. प्रत्येक वृक्ष से इसकी 675–900 ग्रा. मात्रा प्राप्त होती है, जिसे शीत ऋतु में एकत्रित किया जाता है. रेजिन कृमि रूप या स्टलैक्टाइटी टुकड़ों के रूप में निकलता है जिनका रंग पीताभ-भूरा या धूसर-हरा होता है, और स्वाद कड़वा तथा गंध बालसम-जैसी होती है. सुगंधि-उपयोग में इसको स्थायीकर के रूप में प्रयुक्त करते हैं. आयुर्विज्ञान में इसका उपयोग अफ्रीकी बडेलियम के स्थान पर किया जाता है. इसे सामान्य रूप से बोल मिरह* के साथ मिलाया जाता है.

देशी औषधि के रूप में गुग्गुल के अनेक उपयोग हैं. यह स्तम्भक तथा पूतिरोधी होता है. यह एक तीव्र क्षुधावर्धक तथा वातानुलोमक है जिससे भूख तथा पाचन शक्ति प्रबल होती है. अन्य ओलियो-रेजिनों की भाँति इसके द्वारा रुधिर में श्वेताणुओं की वृद्धि होती है जिससे भक्षक कोशिका क्रिया उद्दीपित होती है. यह स्वेदक, कफोत्सारक तथा मूत्रल की भाँति कार्य करता है तथा इसके बारे में यह कहा जाता है कि इससे गर्भाशय उद्दीपित होता है और यह आर्तवजनक है. इसके रेजिन को अंतःव्रण में लोशन के रूप तथा दांतों के क्षरण, स्पंजी तथा कमजोर मसूड़े होने, पायरिया, उलूखल, चिरकारी तुण्डिका शोथ, ग्रसनीशोथ तथा गले में व्रण होने पर गरारे करने के काम में लाते हैं. इसका प्रयोग चिरकारी अग्निमांद्य विस्फारण तथा आमाशय की भित्ति के अतानता पर क्षुधावर्धक के रूप में करते हैं. परागज ज्वर, तीव्र तथा चिरकारी जुकाम, चिरकारी स्वरयंत्रशोथ, चिरकारी श्वसनीशोथ तथा क्षय आदि में जलते हुए गुग्गुल के धूम को घूँटने के लिये बतलाते है. इसका उपयोग घावों पर लगाने के लिये मरहम के रूप में भी करते हैं (Chopra, 288).

व्यापारिक गोंदी-रेजिन में लगभग 4·65% बाह्य पदार्थ तथा लगभग 1·45% ऐरोमेटिक सौरभिक तेल भी रहते हैं. अजमेर-मेरवाड़ा से प्राप्त गोंदी-रेजिन में आर्द्रता, 6·1; वाष्पशील तेल, 0·6; रेजिन, 6·1; गोंद, 29·3; तथा बाह्य पदार्थ, 3·2% रहते हैं. रेजिन को गोंद से या तो 120–130° तक गर्म करके या विलायक निष्कर्षण के द्वारा पृथक किया जा सकता है. प्रथम प्रक्रिया द्वारा, विलायक निष्कर्षण से रेजिन की अपेक्षाकृत 10% कम उपलब्धि होती है. शोधित रेजिन पतली फिल्म के रूप में पारदर्शक होता है परन्तु यह अधिक मात्रा में होने पर पारभासीक, यहाँ तक कि अपारदर्शी होता है. यह अधिकांश कार्बनिक विलायकों में तथा अंडी के तेल, सूखने वाले तेलों तथा तारपीन के तेल में पूर्ण रूप से विलेय

*मिरह या व्यापार की हेराबोल मिरह (सं.—रसगंधि, समुद्र-गुग्गुल; हि.—बोल) कामीफोरा मिरहा (नीस) एंगलर से तथा सम्भवतः का. अबीसीनिका एंगलर तथा का. शिमपेरी एंगलर से, जो सोमाली तथा लाल सागर के अरबी तट के वासी हैं, प्राप्त किया जाता है. अधिकांश लेखकों के अनुसार का. मिरहा (नीस) एंगलर तथा का. मोलमोल एंगलर एक्स शिर्स एक ही नाम हैं. अन्तिम को ये लोग मिरह की किस्म मानते हैं और इसे मोलमोल किस्म एंगलर शिर्स कहते हैं. प्ररूप की भाँति ही इसका विशिष्ट स्थान है. मोलमोल से भी बोल (मिरह) प्राप्त किया जाता है.

ऐराबोल मिरह को प्रायः लोग, बिसाबोल मिरह या स्वीट मिरह, जो का. ऐरीथ्रिया (ऐरहार्ट) एंगलर से निकलती है, से पृथक नहीं कर पाते हैं. का. ऐरीथ्रिया के पेड़ सोमाली द्वीप में पाये जाते हैं. बिसाबोल मिरह का उपयोग अनेक वर्षों तक धूप इत्र में किया जाता रहा है.

उपर्युक्त जातियों में से एक भी जाति भारत में नहीं पाई जाती. भारतीय कामीफोरा, जिनसे व्यापारिक महत्व का गोंदी-रेजिन प्राप्त होता है, निम्न जातियाँ, का. मुकुल (हुकर एक्स स्टाक्स) एंगलर, तथा का. रॉक्सबर्गाई (आर्नेट) एंगलर से प्राप्त होता है. का. बेरेयी (आर्नेट) एंगलर तथा का. काउडेटा (वाइट तथा आर्नेट) एंगलर से भी सुगंधी रेजिन प्राप्त होता है. परंतु इनके बारे में अभी तक यह ज्ञात नहीं कि इसे एकत्रित करके किस हद तक बाजारों में भेजा जाता है (वन अन्वेषण संस्थान, देहरादून, से प्राप्त सूचना).

है. यह वानस्पतिक मोमों, स्टीऐरिक अम्ल तथा रेज़िन में भली-भाँति मिश्र्य हैं. ऐल्मी रेज़िन होने के कारण इसके विभिन्न उपयोग हो सकते हैं परन्तु इसमें ऐरोमेटिक सुगंध होने से इसका सर्वाधिक लाभ इत्र-उद्योग में उठाया जा सकता है. गर्म विधि द्वारा रेज़िन को पृथक करने पर अवशेष में 5–10% राल बच जाती है जिसका उपयोग अगरबत्तियाँ बनाने में किया जा सकता है. भारतीय बडेलियम के निम्नांकित मान सूचित हुये हैं: अम्ल मान, 35·7–37·2; एस्टर मान, 46·8–48·5; पेट्रोलियम ईथर निष्कर्ष, 13·3–16·6%; इसमें बेंजोइक अम्ल, सिनैमिक अम्ल, बेंजाइलबेंजोऐट, बेंजॉइल सिनैमेट या वैनिलिन आदि नहीं होते हैं. इसलिये इसका उपयोग टोलू बालसम के स्थान पर नहीं हो सकता जो **माइरोज़ाइलान बालसेमम** हार्म्स से प्राप्त होता है (Dutt *et al.*, *Indian J. med. Res.*, 1942, **30**, 331; *For. Res. in India & Burma*, 1946–47, pt 1, 70–72; Thorpe, I, 658).

Balsamodendron mukul Hook. ex Stocks; *Commiphora myrrha* (Nees) Engl.; *C. abyssinica* Engl.; *C. schimperi* Engl.; *C. molmol* Engl. ex Tschirch; *C. myrrha* var. *molmol* Engl. Tschirch; *C. erythraea* (Ehrh.) Engl.; *Myroxylon balsamum* Harms.

का. रॉक्सबर्गाई (आर्नट) एंगलर सिन. बालसमोडेंड्रोन रॉक्सबर्गाई आर्नट C. roxburghii (Arn.) Engl.

ले.–को. रॉक्सबुर्गाई

D.E.P., I, 369; Fl. Br. Ind., I, 529.

यह एक बौना वृक्ष है, जो पूर्वी बंगाल, असम तथा मध्य प्रांत में पाया जाता है. यह देखने में **का. मुकुल** की तरह होता है, परन्तु इसकी पत्तियाँ कुछ बड़ी तथा पतली होती हैं. इससे ऐरोमेटिक गोंदी-रेज़िन निकलता है जिसका उपयोग **का. मुकुल** से प्राप्त रेज़िन की ही भाँति किया जाता है.

Balsamodendron roxburghii Arn.

कामेलिना लिनिअस (कामेलिनेसी) COMMELINA Linn.

ले.–कोम्मेलिना

D.E.P., II, 515; Fl. Br. Ind., VI, 368; Kirt. & Basu, IV, 2533.

इस वंश में एकवर्षीय तथा बहुवर्षीय बूटियों की लगभग 185 जातियाँ सम्मिलित हैं जो उष्णकटिबंधी तथा उपोष्ण-कटिबंधी प्रदेशों में पाई जाती हैं. इनमें से भारत में 20 से अधिक जातियों के पाये जाने का उल्लेख है जिनमें से 6 बहुतायत से पाई जाती हैं.

का. बेंगालेंसिस लिनिअस (हिं.–कनचरा; म.–केना; त.–कनावजहर) रसदार बूटी है जो भारत के नम स्थानों में सामान्य रूप से पायी जाती है. इसके प्रकंद स्टार्चमय तथा श्लेष्मायुक्त होते हैं, जिन्हें पकाकर खाने के लिये इस्तेमाल किया जाता है. अकाल के समय पत्तियों की तरकारी बनाते हैं. पौधा कड़वा होता है तथा कुष्ठ रोग में लाभदायक है (Caius, *J. Bombay nat. Hist. Soc.*, 1937, **39**, 362).

का. कम्यनिस लिनिअस चटगांव में पायी गई है. इसकी पत्तियाँ तरकारी तथा चारे के रूप में तथा इसके बीज दुर्भिक्ष में खाने के लिये काम में लाये जाते हैं. जापान में पायी जाने वाली किस्म **हॉर्टेंसिस** मकीनो के फूल आसमानी रंग के होते हैं और इसका प्रयोग अवोवेना कागज़ बनाने में किया जाता है. फूलों के वर्णक में मुख्य रूप से डेल्फिनिडीन डाइ-ग्लूकोसाइड तथा *p*-क्यूमैरिक अम्ल तथा अवोवेनाल, ग.बि., 216° पाये जाते हैं (Mayer & Cook, 228).

का. नडीफ्लोरा लिनिअस की पत्तियाँ भी **का. बेंगालेंसिस** की तरह तरकारी तथा चारे के काम आती हैं तथा घावों पर इसकी पुल्टिस भी बाँधी जाती है. **का. आब्लीकुआ** बुखनन-हैमिल्टन की जड़ें रेचक हैं तथा पित्तीय विकार होने पर काम आती हैं. **का. सैलिसिफोलिआ** रॉक्सबर्ग जानवरों के चारे के काम आती है. पेचिश में भी इसका प्रयोग किया जाता है (Burkill, I, 646).

Commelinaceae; *C. benghalensis* Linn.; *C. communis* Linn.; var. *hortensis* Makino; *C. nudiflora* Linn.; *C. obliqua* Buch.-Ham.; *C. salicifolia* Roxb.

काम्ब्रेटम लिनिअस (काम्ब्रेटेसी) COMBRETUM Linn.

ले.–कोम्ब्रेटूम

यह विशाल आरोही झाड़ियों की 400 जातियों का वंश है जो संसार के सम्पूर्ण उष्णकटिबंधी प्रदेशों में पाया जाता है. इसकी लगभग 12 जातियाँ भारत में पाई जाती हैं.

Combretaceae

का. डेकेंड्रम रॉक्सबर्ग (का. रॉक्सबर्गाई स्प्रेंगेल) C. decandrum Roxb.

ले.–को. डेकांड्रूम

D.E.P., II, 514; Fl. Br. Ind., II, 452.

हिं.–पंक; ते.–बोंटाटिगे.

यह एक बाधक जंगली-आरोही है जो बंगाल, असम तथा उत्तरी और दक्षिणी भारत में पाया जाता है. यह सहिष्णु होता है और काटने के बाद फिर शीघ्रता से बढ़ जाता है. इसके तने लम्बे और पतले होते हैं, जिससे टोकरियाँ बनाई जाती हैं. दक्षिणी अफ्रीका में पत्तियाँ पित्तीय मानसिक मलेरिया ज्वर के उपचार में काम आती हैं किन्तु इनमें कोई क्रियाशील तत्व नहीं पाया गया. इनमें टैनिन तथा पोटैसियम नाइट्रेट रहता है (U.S.D., 1497).

C. roxburghii Spreng.

का. पिलोसम रॉक्सबर्ग C. pilosum Roxb.

ले.–को. पिलोसूम

Fl. Br. Ind., II, 453.

हि.–भोरी लोठ, थूनिया लोठ.

यह जाति मुख्य रूप से पूर्वी बंगाल तथा असम में पायी जाती है. पत्तियाँ कृमिहर होती हैं. पत्तियों का काढ़ा **ऐस्कैरिस लम्ब्रीकोइडीज़** तथा **आक्ज़ूरिस वर्मीकुलेरिस** को नष्ट करने के लिए विशेष रूप से उपयोगी है, परन्तु **ऐंकाइलोस्टोमीस** तथा **ट्रिचियूरिस ट्रिच्यूरा** पर इसका प्रभाव नहीं पड़ता. जिस सुबह काढ़ा दिया जाए उससे पूर्व की शाम को अण्डी का तेल पिलाया जाता है. इसके दो घंटे बाद फिर से अंडी का तेल दिया जाता है जिससे कृमि नष्ट हो जाते हैं (Ramsay, *Indian med. Gaz.*, 1922, 57, 374).

का. संडेकम मिक्वेल मलाया प्रायद्वीप, सुमात्रा तथा असम में पाई जाती है. इसमें रेज़िन तथा टैनिक अम्ल रहता है. **का. ऐक्यूमिनेटम** रॉक्सबर्ग की पत्तियाँ तथा **का. ट्राइफोलियेटम** वेंटेनैट के फल कृमिहर होते हैं. इनमें से पहली फीताकृमि तथा दूसरी **ऐस्कैरिस** होने पर दी जाती है. **का. ट्राइफोलियेटम** के फलों में सैपोनिन होता है (Burkill, I, 645).

Ascaris lumbricoides; Oxyuris vermicularis; Ankylostomes; Trichiuris trichiura; C. sundaicum Miq.; *C. acuminatum* Roxb.; *C. trifoliatum* Vent.

कायडिया रॉक्सबर्ग (मालवेसी) KYDIA Roxb.

ले.–किडिआ

यह भारत, ब्रह्मा, मलाया और उत्तरी श्याम में पाये जाने वाले वृक्षों का एक लघु वंश है. भारत में इसकी 3 जातियाँ पाई जाती हैं.

Malvaceae



चित्र 23 – कायडिया कैलिसिना – चारे के लिये काटे गये वृक्ष

का. कैलिसिना रॉक्सबर्ग C calycina Roxb.

ले.–कि कालिसिना

D.E.P., IV, 568; Fl. Br. Ind., I, 348; Blatter *et al.*, Pl. 20.

हि.–पुला, चौपुल्टिया, पथरा, पोलाव; बं.–पोला, बोकोपास; गु.–म्होतिहिरवानी, निहोतिलिरवानी; म.–वारूँग, भोटी, पोटारी; त.–वेण्डइ; ते.–पोटरी, कोडापोटारि, पाचावोट्का, पाडिकि; क.–बेल्लाका, नायिवेंडे; मल.–वेलुक्कु, नेड्डुणार, वेण्टा; उ.–बंकोपासिया, भारिमो.

असम–पिछोला, वंकोपाह; खासी–दिएंग-मिसिरि; लेपचा–दनमामियोक; नेपाल–कुविदे; पंजाब–पोला, पुला.

व्यापार (लकड़ी)–पुला.

यह एक साधारण आकार का 90–120 सेंमी. घेरे वाला और 12 मी. तक ऊँचा पर्णपाती वृक्ष है. इसका तना साफ और 4·5–6·0 मी. तक का होता है. यह भारत के अधिकांश भागों में, मुख्य रूप से मिश्रित पर्णपाती वनों में पाया जाता है, परन्तु शुष्क क्षेत्रों में यह नहीं पाया जाता. अधोहिमालय प्रदेश में यह अत्यन्त सामान्य है. इसकी छाल धूसर रंग की होती है तथा यह असम्मित शल्कों अथवा पतली लम्बी पट्टियों के रूप में उतरती है. इसकी पत्तियाँ एकांतर, 10–12·5 सेंमी. × 7·5–10 सेंमी., पालियुक्त, कोणीय अथवा गोल, हृदयाकार, हस्ताकार रूप में शिराओं से युक्त और नीचे की ओर रोएँदार होती हैं. इसके पुष्प सर्वलिंगी, हरे-सफेद, अथवा नील-लोहिताभ और अत्यधिक शाखादार गुच्छों में होते हैं; कैप्सूल छोटे गोलाकार, त्रिकपाटी, घनरोमिल होते हैं, और बीज वृक्काकार, गहरे भूरे होते हैं. यह वृक्ष शोभा के लिए उगाया जाता है और सितम्बर–नवम्बर में फूल खिलने पर यह विशेष आकर्षक लगता है.

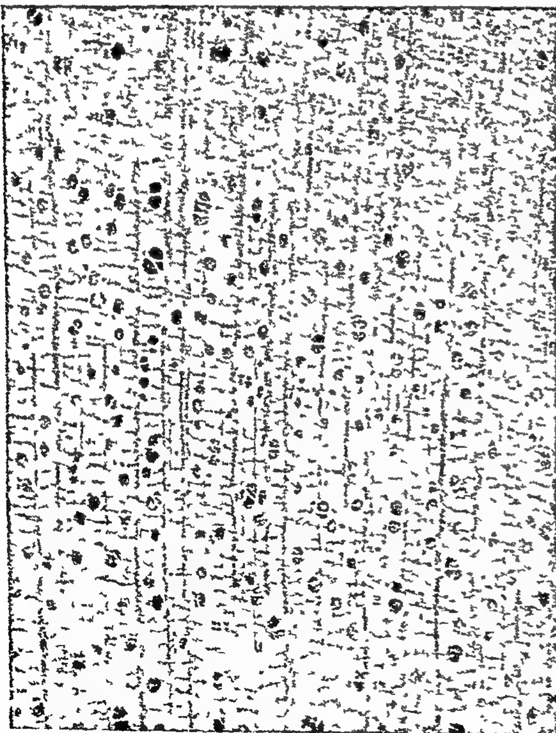
का. कैलिसिना प्रकाश-अपेक्षी पौधा है परन्तु शैशव काल में यह मध्यम छाया सहन कर सकता है. यह पाला और सूखा-रोधी होता है. यह अपेक्षतया अल्पजीवी है, परन्तु प्रथम ऋतु के पश्चात् अपनी तीव्र वृद्धि के कारण यह वनों में खाली स्थानों में तब तक बढ़ता है जब तक यह 9 मी. या और अधिक ऊँचा नहीं हो जाता. इसके बाद यह बड़े और दीर्घजीवी वृक्षों द्वारा दब जाता है. यह साल के लिए धाय का कार्य करता है परन्तु आक्रामक होने पर इसे काट देना चाहिए. सागौन के वनों में से यदि **का. कैलिसिना** को यथासमय नहीं निकाल दिया जाता तो प्रकाश-अपेक्षी सागौन को बड़ी क्षति पहुँचती है. सिग़र को

इच्छानुसार काटा जा सकता है. यह अत.भूस्तारी मूल उत्पन्न करता है.

इसमें प्राकृतिक जनन वीजो द्वारा होता है जिनकी अंकुरण क्षमता कम होती है किन्तु वे वहुतायत से उत्पन्न होते हैं. वीज वहुधा प्रारंभिक वर्षा मे गीले होकर सूखी पत्तियो और ढीली मिट्टी के साथ ढेरो मे एकत्र हो जाते हैं और इन्ही अवस्थाओं में इनका अंकुरण हो जाता है.

कृत्रिम जनन साधारणतया नर्सरी मे वढाई गई पौधों (5·0–7·5 सेंमी. ऊँची) को समूचे अथवा जडो और प्ररोहो को काट-छाँट कर, प्रतिरोपित करके किया जाता है. कुछ दशाओं में काट-छाँट उपयोगी वताई गई है. 1–2·3 सेमी. व्यास के ठूंठ भी पौध लगाने के लिए उपयुक्त होते हैं. उत्तर प्रदेश में वुआई करके, मैसूर में ठूंठ लगाकर और देहरादून मे वागो में जडो के टुकडे लगाकर प्रवर्द्धन करने मे सफलता मिली है (Troup, I, 147–49; Kadambi, *Indian Pulp Pap.*, 1954–55, 9, 57; Kadambi & Dabral, *Indian For.*, 1955, **81**, 129).

यह तीव्र गति से वढता है वताया जाता है कि विना किसी देखभाल के ही उत्तर प्रदेश मे पौधे 5 वर्ष में 7·5–9 मी. ऊँचे हो गए. नमूने के तौर पर उत्तर प्रदेश के एक क्षेत्र में किए गए पर्यवेक्षणों से पता चला कि 15 वर्ष मे वृक्ष 12 मी. ऊँचे हो गए (Troup, I, 149; Kadambi, loc. cit.).



चित्र 24 – कायडिया कैलिसिना – काष्ट की अनुप्रस्थ काट (×10)

रसदारु सफेद और अंत.काष्ठ भूरा-सा अथवा नील-लोहिताभ-धूसर रंग का, कांतिहीन, सीवा दानेदार, सम और स्थूल-गठित, मध्यम कठोर, मजवूत और हल्का (आ.घ., 0·3; भार, 496–592 किग्रा./घमी.) होता है. इससे विकुंचित होने और इस पर दाग लगने की काफी सम्भावना रहती है. इसको सिझाना कठिन नही है. हरी लकडी को काटकर तुरंत खुले में उसके चट्टे लगाना अच्छा रहता है भट्ठी-उपचार से भी संतोषजनक परिणाम प्राप्त हो सकते हैं. खुली रखने पर इसकी लकडी टिकाऊ नही रहती लेकिन ढँकी होने पर काफी समय तक अच्छी वनी रहती है. इस पर कीटो के आक्रमण की सम्भावना रहती है लेकिन नमक के विलयन से उपचारित करने से अथवा पावेलीकरण द्वारा यह कीटरोवी वनाई जा सकती है. इसकी लकड़ी को आसानी से चीरा जा सकता है और चिकना वनाया जा सकता है (Pearson & Brown, I, 133–55; Kadambi, loc. cit.).

भवन निर्माण मे भीतर के काम के लिए उपयोगी तरते सिझाई लकडी से वनाए जाते हैं. कृपि उपकरणों, डॉड, नक्काशी के काम, चम्मच, और करछुल, दियासलाई के वक्से और खपची तथा पैकिंग के लिए हल्के वक्से आदि वनाने के लिए इसका सीमित उपयोग होता है. तस्वीर और स्लेट के चौखटों के लिए भी यह उपयुक्त वताई जाती है, परन्तु यह देखा गया है कि खाँचा वनाने और तिरछा काटने पर इसमें दाने उभर आते हैं. कील ठोकने पर इसमे दरारें पडने की सम्भावना रहती है. यह लकडी पृष्ठावरणों और प्लाईवुड, व्रुश के पिछले हिस्से वनाने, खरादने, खिलौनों तथा अन्य छोटी वस्तुओं, फिरकी और ढरकी, गाडी और वैगन वनाने, जूतो की ऐडी और कोड कार्य के लिये उपयुक्त रहती है. सस्ती पेंसिलो मे भी इसका उपयोग किया जा सकता है. गुजरात मे इस लकडी का उपयोग कूप निर्माण, नहरी-कार्यो तथा रहट आदि वनाने के लिए किया जाता है छोटे पोधों के तने मजवूत और प्रत्यास्थ होते हैं और वघी छडियो के लिये उपयुक्त हैं (Pearson & Brown, I, 134–35; Krishnamurthi Naidu, 79; Rahman *et al.*, *Indian For.*, 1952, **78**, 277; 1954, **80**, 626, IS: 399–1952, 8, 10; Kapadia, *J. Gujarat Res. Soc.*, 1954, **16**, 3; Trotter, 1944, 199, 220).

इसकी लकडी से हल्के हरे रंग की, परन्तु मूल रेशों की लम्वाई कम होने के कारण कम सामर्थ्य की, यांत्रिक लुगदी (उपलब्धि, 82·6% प्रनावित टुकडो से) प्राप्त होती है. 30% वाँस की रासायनिक लुगदी के साथ मिलाकर इस लुगदी का उपयोग अखवारी कागज वनाने के लिए किया जा सकता है, यद्यपि इससे वना कागज़ आयातित अखवारी कागज़ के सामर्थ्य-गुणो की वरावरी नही कर सकता. कायडिया-वाँस की लुगदी से वने अखवारी कागज के सामर्थ्य-परीक्षणो से निम्नलिखित मान प्राप्त हुए: स्फोटरोविता (एगकॉफ्ट), 5·20; दारण रोधिता, 43·0; त्रोटन लम्वाई, 696·9 मी.; और दैर्घ्य वृद्धि, 1·2% (Bhargava & Kartar Singh, *Indian For. Bull., N.S.*, No. 108, 1941, 1).

इसकी भीतरी छाल से जो रेशा (सेलुलोस, 70·2%) प्राप्त होता है उसका स्थानीय उपयोग घटिया रस्सो के वनाने में किया जाता है. हरा रेशा मजवूत होता है परन्तु सूखने पर

भंगुर हो जाता है. छाल के रेशे से बने रस्से बेड़े बाँधने के काम आते हैं. कभी-कभी उनका उपयोग हाथियों को बाँधने के लिए भी किया जाता है. नई छाल म्यूसीलेस युक्त होती है और गुड़ बनाते समय गन्ने के रस को साफ करने के लिए इसके ठंडे अर्क का प्रयोग किया जाता है. इसमें एक गोंद भी होता है. इसकी लकड़ी ईंधन (कैलोरी मान, 5,067 कैलोरी, 9,122 ब्रि.थ.यू.) के रूप में इस्तेमाल की जाती है, यद्यपि जलने में यह दुर्गन्ध देती है. चारकोल बनाने के लिए भी इसका प्रयोग किया जाता है. इसकी लकड़ी व्यापारिक पोटैश का उत्तम स्रोत है (उपलब्धि, 0·41%). लकड़ी की राख (1·67%) के विश्लेषण से निम्नलिखित मान प्राप्त हुए: कुल विलेय पदार्थ, 36·57; K_2CO_3, 33·25; KCl, 1·96; K_2SO_4, 1·33; और अविलेय पदार्थ, 59·81% (*Econ. Bot.*, 1953, 7, 189; Dastur, Useful Plants, 134; Krishnamurthi Naidu, 80; Dymock, Warden & Hooper, I, 228; *Indian For.*, 1948, **74**, 279; Krishna & Ramaswami, *Indian For. Bull. N.S.*, No. 79, 1932, 19; Mata Prasad & Dange, *Indian For. Leafl.*, No. 95, 1947, 14–15).

पत्तियों के कारण यह वृक्ष महत्वपूर्ण है. इसकी पत्तियाँ चारे के लिए काटी जाती हैं. इसके पाँच वर्ष पुराने जंगल से प्रति हेक्टर 6,900 किग्रा. हरा चारा प्राप्त हुआ. क्लटरबकगंज (उत्तर प्रदेश) में मार्च में काटी गई परिपक्व पत्तियों के विश्लेषण से निम्नलिखित मान (शुष्क आधार पर) प्राप्त हुए: कच्चा प्रोटीन, 13·6; CaO, 7·3; P_2O_5, 1·1%. यह पौधा भारतीय लाख-कीट का प्रमाणित पोषी पौधा है (Laurie, *Indian For. Leafl.*, No. 82, 1945, 9; Kadambi, loc. cit.; Chaturvedi, *Bull. U.P. For. Dep.*, No. 19, 1948; Burkil, II, 1288).

पत्तियों की लेई शरीर में दर्द होने पर लगायी जाती है. पत्तियों का उपयोग त्वचा रोगों के लिए पुल्टिस में भी किया जाता है. लार की कमी होने पर पत्तियाँ चबाई जाती हैं (Kirt. & Basu, I, 350; Cameron, 28).

कायोनाचने आर. ब्राउन (ग्रेमिनी) CHIONACHNE R. Br.

ले.–किओनाक्ने

यह लगभग 7 जातियों का वंश है जो भारत से मलय तक के भू-भाग में पाया जाता है. कुछ जातियों का उपयोग चारे के रूप में किया जाता है.

Gramineae

का. कोएनिगाई (स्प्रेंगेल) थ्वेट्स सिन. कोइक्स कोएनिगाई स्प्रेंगेल; पॉलीटोका बारबेटा स्टैफ C. koenigii (Spreng.) Thw.

ले.–कि. केनिगिई

D.E.P., II, 491; Fl. Br. Ind., VII, 102; Bor, *Indian For. Rec., N.S., Bot.*, 1941, 2, 87, Pl. XIV.

बं.–गुरगुर; ते.–गैलागड्डी; क.–सुक्कुदव्वे.

बम्बई–कांटा-करवेल, बारीवेल; उत्तर प्रदेश–लूचरा, तोरी; मध्य प्रदेश–काडपी.

यह एक बलिष्ट सदाबहार घास है जो सारे भारत में पाई जाती है और अधिकतर घास के मैदानों तथा पहाड़ी ढलानों पर नम तथा परिरक्षित क्षेत्रों में अकेले उगती है. यह चारे के लिए निम्न कोटि की गिनी जाती है क्योंकि पलवार तथा पत्तियों पर कड़े रोएँ होते हैं. इसके कड़े फल **कोइक्स लैक्राइमा-जोबी** से मिलते-जुलते हैं और इनसे रुद्राक्ष के मनके बनाये जाते हैं.

Coix koenigii Spreng.; *Polytoca barbata* Stapf; *Coix lachryma-jobi*

का. सेमीटेरीस हेनरार्ड सिन. पॉलीटोका सेमीटेरीस बेंथम C. semiteres Henrard

ले.–कि. सेमीटेरेस

Fl. Br. Ind., VII, 101; Fl. Madras, 1706.

पता चला है कि इस घास से लगातार वर्षा की परिस्थितियों में कोयम्बतूर में किए गए परीक्षण में प्रति हेक्टर एक कटाई में 15,200 किग्रा. उपज प्राप्त हुई थी (Iyer & Parthasarathy, *Madras agric. J.*, 1944, 32, 142).

Polytoca semiteres Benth.

कारकोरस लिनिअस (टिलिएसी) CORCHORUS Linn.

ले.–कोरकोरूस

यह एकवर्षी झाड़ियों की लगभग 40 जातियों का वंश है जो पूरे उष्णकटिबंध में पाया जाता है. लगभग 8 जातियाँ भारत में प्राप्त हैं जिनमें से दो महत्वपूर्ण हैं. इनके नाम हैं: **का. कैप्सुलैरिस** तथा **का. आलिटोरिअस**, इनसे व्यापार का जूट प्राप्त होता है. **का. ईस्टुअन्स** लिनिअस सिन. **का. ऐकुटैंगुलस** लामार्क, **का. डिप्रेसस** (लिनिअस) सी. क्रिस्टेन्सन सिन. **का. ऐण्टीकोरस** रेऊशेल, **का. फैसीकुलैरिस** लामार्क, **का. ट्राइडेन्स** लिनिअस तथा **का. ट्राइलोकुलैरिस** लिनिअस जंगली जातियाँ हैं तथा ये रेशे निकालने के लिए बहुत ही कम काम में आती हैं. इनमें से कुछ दवाइयों के काम आती हैं.

Tiliaceae; *C. aestuans* Linn.; *C. acutangulus* Lam.; *C. depressus* (Linn.) C. Chr.; *C. antichorus* Raeusch.; *C. fascicularis* Lam.; *C. tridens* Linn.; *C. trilocularis* Linn.

का. आलिटोरिअस लिनिअस C. olitorius Linn.

ज्यूज़मेलो

ले.–को. ओलिटोरिअस

D.E.P., II, 540; IV, 558; C.P., 407; Fl. Br. Ind., I, 397.

बं.–मीठापात, देसीपात, बोगी.

व्यापार–डाइसी, टोसा.

यह एक बूटीय, एकवर्षीय पौधा है जो उगाये जाने पर **का. कैप्सुलैरिस** से लम्बा होता है; फूल बड़े और गहरी पीली आभा से युक्त; फलियाँ बेलनाकार जिनमें धूसर हरे या नीलाभ श्याम रंग के बीज आते हैं. ये आकार में **का. कैप्सुलैरिस** के बीजों से छोटे होते हैं.

यह पौधा भारत के अनेक भागों में जंगली पाया जाता है किन्तु आश्चर्य है कि जूट के ही घर, बंगाल, में यह इसी रूप में नहीं उगता. यह भारत का ही देशज माना जाता है. इसकी खेती प्रायः ऊँची भूमियों पर की जाती है. यह जल-मग्न अवस्थाओं में नहीं बढ़ पाता, यह तना-विगलन रोग तथा मधु-कीटों के आक्रमण को सह सकता है. यह लम्बा बढ़ता है, देर में परिपक्व होता है और **का. कैप्सुलैरिस** की तुलना में अधिक उपज देता है. यह जाति प. बंगाल के हुगली, 24-परगना तथा नदिया जिलों में बहुतायत से उगाई जाती है.

का. आलिटोरिअस के जितने प्ररूप उगाये जाते हैं उनमें से चिनसुरा-ग्रीन सर्वाधिक लोकप्रिय है जिसे बंगाल के कृषि विभाग ने विकसित किया है. यह लगभग 75% क्षेत्रफल में बोया जाता है. जूट कृषि अनुसंधान संस्थान ने तीन विभेद 039–620, 040–632 और 040–753 विकसित किये हैं जो चिनसुरा-ग्रीन से अधिक उपज देने वाले हैं (Burns, 92).

जूट की खेती

वितरण–संसार का जूट उत्पादक खण्ड भारत के उत्तर-पूर्व में स्थित है और अधिकतर गंगा, ब्रह्मपुत्र और सहायक नदियों के कछारों तक सीमित है. इसकी खेती पश्चिमी बंगाल तथा पूर्वी बंगाल में की जाती है जहाँ संसार की कुल उपज का 80% पैदा किया जाता है. पश्चिमी बंगाल में इसके उत्पन्न करने वाले महत्वपूर्ण क्षेत्र मुर्शिदाबाद, हुगली, 24-परगना, मालदा, नदिया तथा जलपाइगुड़ी जिले हैं. बिहार राज्य में जूट की समस्त खेती पूर्णिया जिले तक ही सीमित है. जूट की खेती करने वाले अन्य प्रमुख क्षेत्र इस प्रकार है–असम में गोलपाड़ा, नवगाँव, कामरूप तथा दरंग जिले; उड़ीसा में कटक जिला; और उत्तर प्रदेश में विशेषतः खेरी जिले के तराई क्षेत्र. त्रावनकोर में भी जूट की खेती सफल हुई है (*Jute Bull.*, 1949–50, 12, 47).

भारत में जूट की खेती का विस्तार करने के प्रयत्न किए जा रहे हैं. त्रावनकोर तथा उत्तर प्रदेश के तराई क्षेत्र में इसकी खेती करने में काफी सफलता मिली है. इन प्रयत्नों के फलस्वरूप उत्तर प्रदेश में जट की खेती का क्षेत्रफल जो 1948 में 2,400 हेक्टर था, 1949 में बढ़कर 7,165 हेक्टर हो गया जिससे 4,042 टन जूट की उपज मिली. 1950 में यह क्षेत्रफल 2,400 हेक्टर कर दिया गया जो 1968–69 में बढ़कर 13,500 हेक्टर हो गया (सारणी 1). भारत में गत पाँच वर्षों में जूट की खेती के क्षेत्रफल तथा उत्पादन सम्बन्धी



चित्र 25 – कारकोरस आलिटोरिअस (जूट) की खड़ी फसल

आँकड़े सारणी 1 में संक्षेप में दिए गए हैं (Ganguli, *Jute Bull.*, 1950–51, 13, 163).

चीन, जापान, फार्मूसा, इण्डोचीन तथा नेपाल में भी जूट के व्यापारिक उत्पादन के प्रयास हुए हैं. नेपाल में प्रतिवर्ष लगभग 10,000 टन जूट का उत्पादन किया जाता है. चीन में भी काफी समय से जूट की खेती की जा रही है लेकिन उसके क्षेत्रफल के विषय में ठीक से कोई जानकारी नहीं है. केवल इतना ही ज्ञात है कि 1936–37 में चीन तथा मंचको से लगभग 9,000 टन जूट का निर्यात किया गया. जापान भी पिछले 30 वर्षों या इससे भी पहले से जूट की खेती करता आ रहा है किन्तु कोई विशेष प्रगति हुई नहीं जान पड़ती है. वहाँ 1937 में 1,000 हेक्टर क्षेत्रफल में खेती की गई. इसके विपरीत फार्मूसा ने जूट की खेती में काफी उन्नति की है. वहाँ 1939 में ही जूट की खेती का क्षेत्रफल लगभग 24,000 हेक्टर था.

इनके अतिरिक्त, पश्चिमी अफ्रीका, सूडान, मिस्र, तुर्की, ईरान, श्याम, जावा, पैराग्वे, ब्राजील, अर्जेंटाइना तथा मेक्सिको में भी जूट की खेती करने के विधिवत् प्रयत्न हो रहे हैं. ब्राज़ील, पैराग्वे तथा मिस्र में किए गए प्रयत्नों के परिणाम उत्साहजनक नहीं रहे हैं. 1938 में ब्राज़ील में जूट की उपज नहीं के बराबर थी किन्तु 1943 में यही लगभग 8,000 टन हो गई (*Rep. Marketing & Transport of Jute, I Rep.*, 7; F.A.O., *World Fibre Surv.*, 1947, 134).

जलवायु–जूट अनिवार्यतः बरसाती फसल है. फसल के मौसम में शायद ही उच्चतम ताप, 38° से अधिक; तथा निम्नतम ताप, 16° से कम होता हो. इसकी बाढ़ की ऋतु

सारणी 1 – भारत में जूट का उत्पादन और क्षेत्रफल*
(क्षेत्रफल : हजार हेक्टर; उत्पादन : हजार टन में)

	1964–65		1965–66		1966–67		1967–68		1968–69	
	क्षेत्रफल	उत्पादन	क्षेत्रफल	उत्पादन	क्षेत्रफल	उत्पादन	क्षेत्रफल	उत्पादन	क्षेत्रफल	उत्पादन
असम	137.9	925.4	132.0	845.0	136.2	991.4	146.0	1,049.1	108.1	778.7
उड़ीसा	51.0	351.6	34.0	207.7	43.1	283.8	52.2	361.6	41.7	291.1
उत्तर प्रदेश	10.2	163.8	21.0	188.4	20.0	154.2	15.9	131.7	13.5	106.9
प. बंगाल	456.6	3,645.9	403.6	2,243.6	423.4	2,875.4	496.0	3,853.7	268.7	1,340.1
बिहार	170.7	916.6	152.9	890.7	160.7	945.8	157.9	832.6	90.3	309.9
त्रिपुरा	9.7	60.5	13.0	96.0	13.4	107.3	12.1	91.6	6.5	45.4

**Estimates of Area & Production of Principal Crops in India*, 1968–69, Directorate of Economics & Statistics, Ministry of Food & Agriculture, Community Development & Co-operation, Govt. of India, 1969.

के अधिकांश काल में निम्नतम ताप, 24°; तथा उच्चतम ताप, 35° तक बना रहता है; और आर्द्रता, 90% तक रहती है.

इसके बीजों की बुवाई मार्च से लेकर मई मास तक की जाती है और मानसून प्रारम्भ होने तक पौधे उप-मृदा की नमी तथा उत्तर-पश्चिमी वर्षा पर निर्भर रहते हैं. मानसून से पहले आने वाली बौछारें अत्यन्त महत्वपूर्ण और फसल के लिए अत्यन्त लाभदायक होती हैं. बुवाई के समय 5–8 सेमी. वर्षा और उसके बाद प्रति सप्ताह 2·5–5 सेमी. वर्षा पौधों की वृद्धि के लिये पर्याप्त होती है. मानसून से पहले होने वाली वर्षा की मात्रा विभिन्न क्षेत्रों में अलग-अलग है. पूर्वी बंगाल में यह लगभग 37·5 सेमी, पश्चिमी बंगाल में 22·5 सेमी, बिहार में 5 सेमी. और उड़ीसा में 7·5 सेमी. के लगभग है. इसीलिए बिहार तथा उड़ीसा में जूट की बुवाई अधिकतर जून मास में की जाती है. विभिन्न प्रदेशों में वार्षिक वर्षा की मात्रा इस प्रकार है: बिहार, 100–125 सेमी.; उड़ीसा तथा पश्चिमी बंगाल, 150–175 सेमी.; पूर्वी बंगाल, 175–225 सेमी.; और असम, 225–300 सेमी. बड़ा होने पर जूट का पौधा अधिक पानी सहन कर सकता है. किन्तु इसके नये पौधे जलमग्नता को सहन नहीं कर पाते जिसके कारण उनकी बाढ़ रुक जाती है.

मिट्टी – प्रायः सम्पूर्ण जूट की खेती नदियों द्वारा लाई गई (जलोढ़) मिट्टी में की जाती है. जूट के भूखंड कम ऊँचाई वाले और कम ढालू मैदानों में पाये जाते हैं. मानसून के समय इनमें बाढ़ का पानी भर जाता है. कहीं-कहीं थोड़े समय के लिये 5–10 सेमी. तक पानी रहता है तो कुछ स्थानों पर जून तथा उसके पश्चात् कुछ महीनों तक के लिये 1.8 मी. गहरा पानी भरा रहता है. कुछ इलाके ऐसे हैं जिनमें जुलाई और अगस्त के महीनों में ही पानी भरता है. तदनुसार इन भूखंडों को क्रमशः उच्चस्तरीय, निम्नस्तरीय और मध्यमस्तरीय वर्गों में विभाजित किया जाता है.

जूट उगाने वाली मिट्टियों को तीन प्रमुख भागों में बाँटा गया है: (1) बिहार की हल्के रंग की, चूनेदार, महीन गठन वाली सिल्ट (गाद), जो उत्तरी बिहार में पाई जाती है. कभी-कभी इसमें कैल्सियम कार्बोनेट 25% से भी अधिक रहता है. ये मिट्टियाँ फॉस्फोरिक अम्ल तथा नाइट्रोजन में न्यून होती हैं. (2) धूसर मिट्टियाँ जिनमें कैल्सियम कार्बोनेट की मात्रा अत्यल्प होती है या नहीं ही होती किन्तु पोटैश काफी मात्रा में होता है और फॉस्फोरिक अम्ल की मात्रा प्रचुर होती है. ये सभी तत्व मिलकर जूट के लिये एक आदर्श मिट्टी की रचना करते हैं जिसमें अधिकांश जूट पैदा किया जाता है. (3) पुरानी लाल जलोढ़ मिट्टी जो धूसर मिट्टी के साथ मिलकर बंगाल तथा असम के लगभग समस्त जलोढ़ क्षेत्र में फैली हुई है. पुरानी जलोढ़ मिट्टी, धूसर सिल्ट से पहले की निक्षेपित है इसीलिये कहीं-कहीं सिल्ट ऊपर आ गई है और इसकी परत कुछ सेमी. ही मोटी है. यह अत्यन्त कम उपजाऊ, निश्चित रूप से अम्लीय और चूना डालने पर अनुक्रिया करती है. इसमें फॉस्फोरिक अम्ल की कमी होती है और उपलब्ध पोटैश की मात्रा भी कुछ-कुछ कम होती है. इसमें नमी रोकने की क्षमता कम है अतः मौसम शुष्क हो जाने पर इसमें फसल कठिनाई से परिपक्व हो पाती है. यह महीन गठन वाली होती है और गीली होने पर उसी प्रकार चिपकती है जैसे चिकनी मिट्टी, भले ही इसमें कोलॉयड नाम-मात्र को नहीं होते. जूट की जितनी घनी खेती धूसर सिल्ट पर होती है उतनी पुरानी जलोढ़ मिट्टी पर कभी नहीं होती. अन्य जूट क्षेत्रों की भी मिट्टी जलोढ़ है जो उनमें बहने वाली नदियों से प्राप्त होती है (Finlow, loc. cit.).

प्रारम्भिक जुताई – जूट के नन्हें-नन्हें बीजों को बोने के लिये उत्तम बीज-शैया की जरूरत पड़ती है. सामान्यतः बुवाई के पहले खेत को पाँच-छः बार आड़ा-तिरछा जोत कर हर बार जुताई के बाद पटेला फेरना पड़ता है जिससे मिट्टी के ढेले टूट जाएँ, खर-पतवार उखड़ कर ऊपर आ जाए और मिट्टी कुछ-कुछ दब जाए. चिकनी मिट्टियों को हल्की मिट्टियों की अपेक्षा अधिक जुताई की आवश्यकता होती है.

जिन मिट्टियों पर बार-बार सिल्ट निक्षेपित होती रहती है उनमें खाद देने की आवश्यकता नहीं पड़ती. अन्य क्षेत्रों में गोबर (5 से 10 टन प्रति हेक्टर) तथा लकड़ी की राख को खाद के रूप में डाला जाता है. कभी-कभी सड़ा जल हायसिंथ (**ईइकोर्निया क्रैसीपिस** सोल्म्स) या उसकी राख भी खेतों में

डाली जाती है. कृत्रिम खादें शायद ही प्रयुक्त होती हों. परीक्षणों से ज्ञात हुआ है कि चूना तथा पोटैश तना-विगलन रोगों को दूर करने में तथा अमोनियम सल्फेट रेशे की उपज बढ़ाने में अत्यन्त उपयोगी हैं. जलोढ़ मिट्टी में अमोनियम सल्फेट, पोटैश तथा चूने की खाद देकर जूट की पैदावार बढ़ाई जा सकती है. शहरी कम्पोस्ट के प्रयोग से उत्साहवर्धक परिणाम प्राप्त हुए हैं (*Annu. Rep. agric. Res. Scheme, Indian cent. Jute Comm.*, 1939–40 to 1942–43).

बुवाई – निचली भूमियों में जूट फरवरी के मध्य से मार्च के मध्य तक बोया जाता है. औसत भूमियों में मार्च के मध्य से अप्रैल के अन्त तक तथा ऊँचाई पर स्थित भूमियों में इससे भी बाद, मई से जून के मध्य तक जूट की बुवाई की जाती है.

बीज छिटकवाँ बोये जाते हैं. हल के पीछे-पीछे कूँड द्वारा भी बुवाई की जा सकती है. पंक्तियों में बुवाई करने और दस्ती पहियेदार साधारण हो या खुरपे द्वारा निराई करने से अच्छे परिणाम प्राप्त होते हैं और निराई सस्ती भी पड़ती है. इससे खर-पतवार निकालने तथा विरलन की लागत में लगभग 55% की कमी हो जाती है (Kundu, *Jute Bull.*, 1949–50, **12**, 168).

का. कैप्सुलेरिस की तुलना में **का. आलिटोरिअस** की बीज-दर कम है क्योंकि इसके बीज आकार में छोटे होते हैं. विभिन्न जिलों में **का. कैप्सुलैरिस** की बीज-दर 11–17·5 किग्रा. प्रति हेक्टर होती है और **का. आलिटोरिअस** की 5·5–12·8 किग्रा. 95% अंकुरण वाले बीजों की दर **का. कैप्सुलैरिस** में 9·3 किग्रा. तथा **का. आलिटोरिअस** में 5·8–7 किग्रा.

यदि मिट्टी में पर्याप्त नमी होती है तो दो या तीन दिन के भीतर बीज अंकुरित हो जाते हैं. साधारणतया यदि दस दिन के भीतर काफी अंकुर न निकलें तो खेत को पलट करके यथाशीघ्र दुबारा बुवाई करनी चाहिए.

निराई तथा विरलन – निराई करने, पौधों की घनी पौध को निकाल कर उनके बीच पर्याप्त अन्तर करने तथा पलवार डालने से जूट के पौधों पर तुरन्त ही अच्छा प्रभाव पड़ता है. जब पौधे 7·5–22·5 सेंमी. ऊँचे रहें तभी एक बार हेंगा या कीलदार पटेला फेरा जाता है. यह कार्य लगभग एक-एक पखवारे के अन्तर से दो या तीन बार किया जा सकता है. खुरपी से दो या तीन बार निराई की जाती है. हर बार निराई करते समय घने तथा औसत से कम ऊँचे पौधों को निकाल कर विरलन कर दिया जाता है. अंतिम विरलन के समय पौधों के बीच की दूरी 10–15 सेंमी. तक रखी जाती है क्योंकि सामान्यतः 10 × 15 सेंमी. तथा 15 × 15 सेंमी. दूरी होनी चाहिए. यदि दूरी कम रखी जाती है तो उपज कम होती है और फसल छोटी रह जाती है. दूरी अधिक होने पर तनों की लम्बाई तथा मोटाई में भी वृद्धि होती है. इसके विपरीत, जूट की घनी बुवाई से अपेक्षाकृत बारीक गठन तथा 'रुट' से रहित रेशा प्राप्त होता है. यदि विरलन करते समय निकाले गये पौधे इतने बड़े हों कि उनसे रेशा प्राप्त किया जा सके, तो उनसे रेशा निकाल लिया जाता है. यह रेशा 'बचपाट' के नाम से बेच दिया जाता है. 90 सेंमी. से कम ऊँचे पौधे के रेशे निकालना सामान्यतः लाभदायक नहीं होता.

रोग तथा नाशकजीव

जूट का स्तम्भ विगलन रोग **मैक्रोफ़ोमिना फ़ासिओलाई** ऐशबी द्वारा उत्पन्न होता है और अत्यन्त गंभीर और दूर-दूर तक फैलने वाला रोग है. यह पौधों की प्रत्येक अवस्था में घातक है. यह जूट की पौधों में क्लेद-गलन और अंगमारी उत्पन्न करता है. पत्तियों पर ऊतकक्षयी क्षत और पिकनीडिया उत्पन्न करता है. यदि बड़े पौधों में विगलन से कैंकर या वल्क-व्रण तथा झड़न नहीं उत्पन्न हो पाता तो यह पौधे की छाल को पूरी तरह घेर लेता है और पौधे का अन्त कर देता है. छोटे तथा बड़े पौधों में यह जड़-गलन उत्पन्न करता है और पौधे की मृत्यु हो जाती है. यह रोगजनक बीजों द्वारा तथा मिट्टी, दोनों के द्वारा ले जाया जाता है. इसलिए स्वस्थ बीजों का या 'एग्रोसन जी' तथा सेरेसन से उपचारित रोगहीन बीजों का प्रयोग करने की संस्तुति की जाती है. समय से कुछ पहले बुआई करने तथा समय पर निराई तथा विरलन करने से रोगों की रोकथाम में सहायता मिलती है. पिछली फसल के बचे ठूँठों को निकाल कर जला देने और अम्लीय मिट्टी होने पर उसमें चूना तथा पोटैश का प्रयोग करने की सलाह दी जाती है. गौण संक्रमणों से बचने के लिये चूना-गंधक, पेरेनाक्स तथा बोर्डो-मिश्रण का छिड़काव करना चाहिए (Varadarajan & Patel, *Indian J. agric. Sci.*, 1943, **13**, 148; 1946, **16**, 193).

कोर्टीसियम राल्फसाई (सक्कारडो) कुर्जी द्वारा उत्पन्न कोमल विगलन-रोग मिट्टी द्वारा वहन होता है जो आर्द्र अवस्थाओं में ग्रीवाक्षेत्र को प्रभावित करता है. इसलिए, पीली पड़ती हुई पत्तियों को हटा देना चाहिए क्योंकि इन्हीं से यह संक्रामक रोग शुरू होता है. अन्य फसलों के साथ हेर-फेर की संस्तुति की जाती है.

डिप्लोडिया कोर्कोराई के कारण होने वाली काली पट्टी (ब्लैक बैंड) का रोग मौसम के अन्त में लगता है और केवल बीज-जूट को हानि पहुँचाता है. ग्रस्त पौधे मुरझाने लगते हैं और उनकी सारी पत्तियाँ झड़ जाती हैं. यह निर्बल पौधों या अन्य कारणों से निर्बल या जर्जर पौधों पर आक्रमण करता है. पिछेती फसलों में यह नहीं लगता.

जूट के अन्य छोटे-मोटे रोगों में फफूंदी (**ऑइडियम** जाति से उत्पन्न) तथा पर्ण-धब्बा (**सर्कोस्पोरा** जाति तथा **फिलोस्टिक्टा** जाति से उत्पन्न) प्रमुख हैं. हरिमाहीनता एक वायरसजन्य रोग है जो अंकुरों तथा प्रौढ़ पौधों दोनों ही को प्रभावित करता है, यहाँ तक कि हरिमाहीन पत्तियाँ कुंचित तथा भंगुर हो जाती हैं. इससे कोई गंभीर हानि नहीं होती. **का. आलिटोरिअस** पर हरिमाहीनता रोग का वस्तुतः कोई प्रभाव नहीं पड़ता.

जूट पर आक्रमण करने वाले नाशक-कीटों में से **एपियन कोर्कोरी** मार्शल जूट उत्पादक क्षेत्रों में पूरे मौसम बुरी तरह लगता है और फसल को हर अवस्था में हानि पहुँचाता है. यह पौधे के रेशेदार ऊतकों पर हमला करके रेशों के गुण तथा उपज पर बुरा प्रभाव डालता है. पता चला है कि यह बीजों तथा फलियों पर भी हमला करता है. इसकी रोकथाम के लिए अनेक उपाय हैं: यथा, निराई तथा विरलन के समय रोग-ग्रस्त पौधों को उखाड़ फेंकना तथा उनको पूर्णतः नष्ट कर देना,

फसल काटने के बाद जूट के ठूंठो को जोत कर निकाल देना और रोग को आश्रय देने वाले अन्य पावो को भी समाप्त कर डालना. बड़े कीटो को नष्ट करने मे 'गैमेक्सीन' (5%) काफी कारगर सिद्ध हुआ है (Das, *Indian J. agric. Sci.*, 1944, 14, 295).

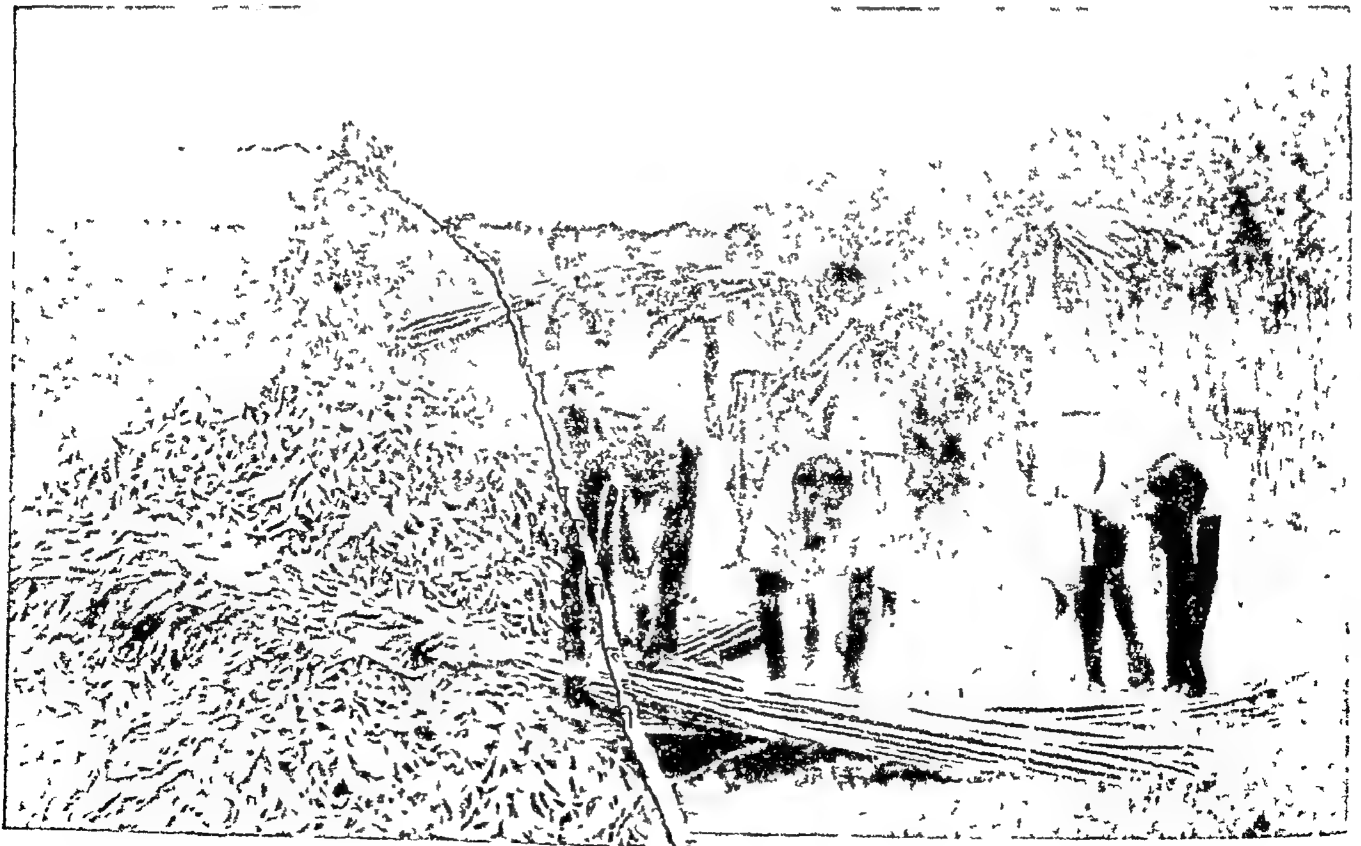
लैफाइग्मा एक्सीगुआ पौधों का विनाशकारी कीट है **डाइक्रिसिया ओब्लीका** वाकर नामक सर्वभक्षी कीट पुरानी पत्तियो को खा जाता है. जून से अगस्त या सितम्बर तक ये नाशक-कीट हमला करते हैं. इन दोनों प्रकार के नाशक-कीटो की रोकथाम मे लेड आर्सेनेट, कैल्सियम आर्सेनेट और लेड क्रोमेट जैसे कीटनाशी काफी उपयोगी सिद्ध हुए हैं. 0·5% एच-एच-जी तथा 0·75% डी-डी-टी भी कारगर सिद्ध हुए हैं **एनोमिस सेबुलीफेरा** नामक नाशक-कीट शीर्ष कलियों तथा ऊपर की छोटी-छोटी कोमल पत्तियो को नष्ट करता है जिससे पौधों की ऊपर की बाढ रुक जाती है और नीचे निकलने वाले कल्लो की वृद्धि को प्रोत्साहन मिलता है इस नाशक-कीट का नियन्त्रण करने मे परभक्षी चिड़ियाँ उपयोगी हैं इसलिए जिस खेत मे इस कीट के होने की सम्भावना हो वहाँ अड्डे वगैरह बनाकर उन चिड़ियो को आकर्षित करना चाहिए इसकी रोकथाम के लिए 0·5% 'गैमेक्सीन' तथा 0·75% डी-डी-टी छिड़कने की संस्तुति की जाती है.

हेमीटार्सोनेमस लेटस बैंक्स एक छोटा-सा पीला कीट है जो पौधो के रस को चूस लेता हैं जिसमे फसल को काफी हानि पहुँचती है. इसका आक्रमण अग्रभाग की पत्तियो तक सीमित रहता है, पौधा बीमार-सा हो जाता है, बाढ रुक जाती है और उपज घट जाती है. इसको रोकने के लिए चूने-गंधक के चूर्ण (3 1) का 3 दिन के अन्तर से छिड़काव करना चाहिए (Das, *Sci. & Cult.*, 1948–49, **14**, 186).

संग्रह के समय कच्चे जूट तथा उससे निर्मित माल को नष्ट करने वाले मुख्य जीव कवक हैं. कच्चे जूट, उसके धागे तथा निर्मित टाट पर 80 से 100% की नमी होने पर जो कवक-समूह वृद्धि करते हैं उनमें **एस्पर्जिलस** तथा **पेनिसीलियम** सामान्य हैं, **पे. सिट्रिनम** तो सबसे अधिक दिखाई पड़ता है (Basu & Ghose, *J. sci. industr. Res.*, 1950, **9B**, 151).

कटाई तथा रेशे निकालना

का. कैप्सुलैरिस की कटाई सामान्यतः जून तथा सितम्बर के बीच और **का. आलिटोरिअस** की अगस्त और सितम्बर के बीच की जाती है. सर्वोत्तम जूट वाली भूमि के बड़े भू-भागो मे एक साल मे दो फसले ली जाती हैं पहले मार्च–अप्रैल में जूट बो दिया जाता है और उसे जुलाई–अगस्त में काट कर



चित्र 26 – सड़ाने के लिए काट कर गट्ठरों में बांधा जूट

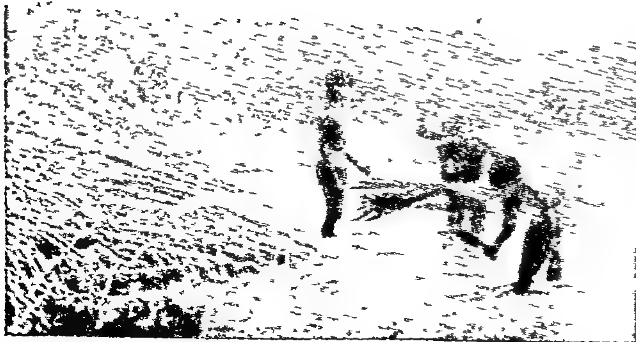
जितनी जल्दी भूमि तैयार हो सके, उसमें तुरन्त धान रोप देते हैं. यदि धान की रोपाई में विलम्ब किया जाए तो प्रतिदिन 1% की हानि होती है, इसलिए मध्य जुलाई के पश्चात् एक दिन का भी विलम्ब नहीं करना चाहिए और धान की इस परवर्ती फसल से पूरी उपज लेने के लिये जूट को काफी पहले काट लेना किसान के लिए लाभदायक होता है (Finlow, loc. cit.).

परिस्थितियों के अनुसार जूट की कटाई भिन्न-भिन्न अवस्थाओं में की जाती है. अधिकांश जूट की कटाई तब की जाती है जब 50% से अधिक पौधों में फलियां लगने लगती है, क्योंकि तब उपज तथा गुण दोनों ही उत्तम होते हैं. यदि फलियों के पकते समय जूट काटा जाता है तो उसका रेशा मोटा हो जाता है. यदि जल्दी पानी की बाढ़ आने का भय हो तो फूल निकलने से पहले या फूल की अवस्था में ही पौधों को काटा जा सकता है. इस अवस्था में पौधों के अपरिपक्व होने से इसकी उपज कम तथा रेशे कमजोर होते हैं.

पौधों को जड़ के पास से हँसिए द्वारा काटते हैं. उड़ीसा के कुछ भागों में 7·5–10 सेंमी. तक के ठूंठ छोड़ देने की प्रथा है. इससे जहाँ रेशों में 'रूट्स' का प्रतिशत घटता है वहीं उपज भी कम हो जाती है. जब खेत जलमग्न होते हैं तो मजदूर पानी में डुबकी लगाकर जूट काटते है. कटे हुए पौधों को 22·5 सेंमी. घेरे वाले गट्ठरों में बाँध लिया जाता है.

ऊँचाई पर स्थित भूमियों पर इन गट्ठरों को 2–4 दिन तक पड़ा रहने देते हैं जिससे उनकी पत्तियाँ झड़ जाएँ. लेकिन निचली भूमियों में से जूट को काट कर सीधे ही सड़ाने के स्थान पर ले जाते हैं. पत्तियाँ झड़ जाने से गट्ठरों का आकार तथा भार कम हो जाता है और इसको सड़ाने के लिए थोड़े ही पानी की आवश्यकता होती है (Patel & Ghosh, *Agric. Res., Mem.*, No. 2, *Indian cent. Jute Comm.*, 1943).

सड़ाना – खेतों के आसपास प्राप्त हर तरह के पानी में जूट को सड़ाया जा सकता है. उत्तरी तथा पश्चिमी बंगाल, बिहार, उड़ीसा, तथा पूर्वी बंगाल और असम की ढालू भूमियों में जूट को अधिकतर स्थिर पानी में सड़ाया जाता है. पूर्वी बंगाल तथा असम के कछारों में जूट को धीरे-धीरे बहते जल में डाल कर सड़ाया जाता है जिससे बढ़िया किस्म का रेशा प्राप्त किया जाता है. तेजी से बहने वाली धाराएँ उपयुक्त नहीं है क्योंकि इससे जल्दी तथा एकसार सड़ाई नहीं हो पाती. यदि पानी बँधा हुआ रहे तो थोड़े-थोड़े दिनों के अन्तर से जूट के गट्ठरों को दो या तीन बार अच्छी तरह भिगो देना चाहिए. इससे प्राप्त रेशों का रंग कुछ-कुछ गहरा होता है.



चित्र 27 – पूरे गट्ठर में से रेशा उतारना

भिगोने के लिए इन गट्ठरों को अक्सर दो या तीन परतों में लगाया जाता है. इस प्रकार बना तैरता हुआ बड़ा गट्ठर 'जाक' कहलाता है. इस जाक को खर-पतवार या करकट से ढक देते हैं और लकड़ी के लट्ठों, केले के तनों या कीचड़ से दबाकर पानी में डुबो देते हैं. मिट्टी के ढेलों या कीचड़ को बिना घास-फूस के जूट पर नहीं रखना चाहिए क्योंकि इससे रेशा बदरंग हो जाता है. एकसार सड़ने के लिए जाक को पूरा-पूरा डूबा रहना आवश्यक है. परन्तु इसका ध्यान रखना चाहिए कि जाक डूब कर तली में न चला जाए क्योंकि ज्यादा गहरे डूबने से सड़ने में विलम्ब होगा. सड़ाने से बीच के डंठल से रेशों के लम्बे-लम्बे सूत्र ज्यों-के-त्यों विलग हो जाते हैं. यह उन कोमल ऊतकों के विलगाव के कारण है जिनमें रेशे फँसे होते हैं. पानी तथा सूक्ष्म-जीवों की संयुक्त क्रिया के परिणामस्वरूप ऊतक विखण्डित हो जाते है. यह क्रिया एक निश्चित क्रम से होती है. इसमें पहले कैम्बियम पर आक्रमण होता है. इसके बाद फ्लोएम की पतली भित्ति वाली अर-कोशिकायें तथा कोमल ऊतक विदरित होते हैं. सबसे अन्त में, कोर्टेक्स विसंघटित होता है. सड़ाने की क्रिया उस समय पूरी हो जाती है जब सभी मुलायम ऊतक विलयित हो जाते हैं और रेशों के पूल अलग हो जाते हैं (Patel & Ghosh, *Agric. Res. Mem.*, No. 2, *Indian cent. Jute Comm.*, 1943).

सड़ाने का समय तने की मोटाई के अनुसार बदलता रहता है. पूरी तरह सड़ाने में ऊपर के सिरे को पाँच-छः दिन, बीच के भाग को 9–12 दिन, और नीचे के भाग को 15–20 दिन तक लगते है. जब पानी का ताप अधिक होता है, अथवा ऐसा पानी हो जिसमें जूट पहले सड़ाया जा चुका हो, तो जूट जल्दी सड़ता है. बहते पानी का ताप तालाबों के स्थिर पानी की तुलना में साधारणतया कम होता है. सितम्बर और अक्तूबर में सड़ने में अधिक समय लगता है क्योंकि इन दिनों जुलाई और अगस्त की अपेक्षा ताप कम होता है. अप्रौढ़ तने प्रौढ़ तनों की अपेक्षा जल्दी सड़ते हैं, क्योंकि प्रौढ तनों में ऊतक की मात्रा अधिक होती है और वह कठोर भी होता है. पानी में घुले और निलम्बित पदार्थ भी सड़ने की गति को प्रभावित करते हैं.

रेशे उतारना – जब यह समझा जाता है कि सड़ने की क्रिया पूरी हो गई है तो रेशे उतारने के लिए गट्ठरों को अलग कर लेते हैं. पूर्वी बंगाल और कुछ अन्य क्षेत्रों को छोड़कर, जूट उत्पादक प्रदेशों में सबसे सामान्य विधि यह है कि एक मुट्ठी में 8–10 पौधे लिए जाते है और मूल के पास के सिरों को लकड़ी की मोगरी से पीटा जाता है. इससे जो रेशे उधड़ते हैं उनको उँगलियों पर लपेट लेते हैं और तनों को आगे-पीछे पानी में हलकोरते हैं. इससे रेशे, डंडियों से अलग हो जाते हैं. इनके बाद रेशों को धोया जाता है, उनमें उलझे

डंठल के टुकड़ों को अलग किया जाता है, पानी को निचोड़ा जाता है और जूट को साफ़ पृथ्वी पर ढेर कर दिया जाता है. एक दिन में एक मजदूर 15–20 किग्रा. जूट उतार सकता है. पूर्वी बंगाल में जो विधि इस्तेमाल की जाती है उसमें प्रत्येक तने का रेशा अलग-अलग उतारा जाता है. उतारने का काम साधारणतया स्त्रियों और बच्चों द्वारा किया जाता है. एक अच्छा चतुर मजदूर एक दिन में 20 किग्रा. तक रेशे उतार सकता है. असम के नौगाँव और कामरूप में प्रयुक्त की जाने वाली विधि इससे कुछ भिन्न है. इसमें सड़ाये हुये तनों को एक मोगरी से दो या तीन भागों में तोड़ लिया जाता है और डंठलों से रेशों को अलग करने के लिए झटका देते हैं और पानी में धोते हैं. कहा जाता है कि इस विधि में श्रम की बचत होती है. किन्तु इससे जो रेशे प्राप्त होते हैं वे उतने अच्छे नहीं जान पड़ते जितने कि एक-एक करके तनों पर उतारने से मिलते हैं.

उतारे हुए रेशे धोए जाते हैं और 2–3 दिन धूप में सुखाए जाते हैं. सूखे रेशों से लगभग 4·5 किग्रा. की लच्छियाँ या गड्डियाँ (मोरा या धरा) बनाते हैं जो ऊपर के सिरे पर बँधी होती हैं. कुछ भागों में मोराओं को थोड़ा-सा ऐंठ दिया जाता है और छोटे-छोटे गठित मुट्ठे बना लिये जाते हैं. इन मुट्ठों से बड़े बोझ बनाते हैं, जिनका भार 18–38 किग्रा. तक होता है.

उपज—जूट की प्राप्ति भूमि की उर्वरता, मौसम, बोई गई किस्म, फसल की देख-भाल के अनुसार अलग-अलग होती है. पौधों के बीच की दूरी, फसल काटते समय पौधों की अवस्था और रोगों तथा कीड़ों से होने वाली हानि भी उपज को प्रभावित करती है. भूरी, जलोढ़ मिट्टी में उगाई गई फसल की अपेक्षा पुरानी जलोढ़ में उपज कम होती है. जल्दी प्रौढ़ होने वाली किस्में अथवा वे फसलें जो प्रौढ़ होने से पहले ही काट ली जाती हैं कम रेशे देती हैं. सघन बोई गई फसल से भी कम उपज मिलती है. साधारणतया जूट की उपज 1,000 से 2,000 किग्रा. प्रति हेक्टर और औसतन 1,500 किग्रा. हेक्टर होती है. अपवाद के रूप में कभी-कभी यह 3,000 किग्रा प्रति हेक्टर तक जाती है (Patel & Ghosh, *Agric. Res. Bull.*, No. 1, *Indian cent. Jute Comm.*, 1940).

पौधे में रेशे का अंश उपज को प्रभावित करने वाला एक महत्वपूर्ण कारक है. प्रौढ़ फसल में यह अत्यंत स्थिर होता है. हरे भार पर रेशे का अंश 4·5 और 7·5% के बीच, औसतन लगभग 6% होता है.

पतले और छोटे पौधों में मोटे और लम्बे पौधों की अपेक्षा कम रेशा होता है. पौधे की मोटाई उसकी ऊँचाई से अधिक महत्वपूर्ण है. ऊपर की ओर पौधे किस दर से पतले होते जाते हैं इसका भी प्रभाव उपज पर पड़ता है. बेलनाकार तने शंक्वाकार तनों की अपेक्षा अधिक रेशे देते हैं.

गुण—जूट के रेशे का गुण उसकी मजबूती, बारीकी, रंग, रंग की समानता, चमक, लम्बाई और जड़ों के अनुपात पर निर्भर करता है. यह गुण बोई गई जूट की किस्म, मौसम, कटाई के समय फसल की अवस्था, तथा तनों को सड़ाने, रेशा उतारने और धोने की परिस्थितियों पर आश्रित होता है. कताई में का. आलिटोरिअस का रेशा का. कैप्सुलैरिस के रेशे से अच्छा होता है. जल्दी प्रौढ़ होने वाली फन्डुक किस्म डी-154 की अपेक्षा बढ़िया रेशा देती है. कुछ मौसमों में उतारे गए रेशे दूसरे मौसमों के रेशों से अच्छे होते हैं. मौसम का प्रभाव दो प्रकार से पड़ता है. यह पौधे की वृद्धि को और सड़ाने के पानी के गुण को प्रभावित करता है.

रेशे के गुण को सबसे अधिक प्रभावित करने वाला कारक सड़ाने का है. जूट अक्सर आवश्यकता से अधिक सड़ाया जाता है जिससे उसके रेशे दुर्बल हो जाते हैं. थोड़े-थोड़े समय के बाद भीगे तनों की परीक्षा करने और सड़ने की पूर्णता की अच्छी पहचान से बढ़िया रेशा प्राप्त किया जा सकता है. धीरे-धीरे बहने वाला साफ़ जल, जिसमें जलीय पौधे उगते हों, जूट भिगोने के लिए अच्छा रहता है. ब्रह्मपुत्र और मेघना का पानी साफ़ है. इन दोनों नदियों के क्षेत्र से जो रेशा प्राप्त होता है वह अच्छे सफेद रँग का होता है. इसके विपरीत, गंगा और उसकी सहायक नदियों का पानी मटमैला है इसलिए मुर्शिदाबाद, नदिया, जैस्सोर, 24-परगना, हुगली, आदि जिलों में जहाँ ये नदियाँ बहती हैं जूट के रेशों का रंग पीताभ-भूरा या धूमिल होता है. गंगा के पानी में उन दोनों नदियों के पानी की तुलना में अधिक लोहा होता है. पूर्वी बंगाल की चारमुगरिया, गोरनदी और टेपाखोला के समान अधिक लौह लवण सान्द्रण वाली नदियों के पानी से श्यामल अथवा गहरे रँग का रेशा मिलता है. पौधे के ऊतकों में उपस्थित टैनिन पानी के लोहे के साथ संयोग करता है और रेशे को रंग प्रदान करता है. बढ़िया किस्म का रेशा तैयार करना प्राकृतिक सुविधाओं के ऊपर इतना निर्भर करता है कि व्यापारियों ने दीर्घ अनुभव के आधार पर विशेष किस्म के जूट का सम्बन्ध क्षेत्र विशेष से जोड़ लिया है.

जूट का सबसे सामान्य दोष यह है कि उसके रेशे चिपके हुए ऊतकों से अर्थात् बाह्य वल्क और वल्क से अलग नहीं



चित्र 28 – प्रत्येक डंठल में से रेशा उतारना

होते. **का. कैप्सुलैरिस** में बाह्य वल्क के विकसित होने के रूटी (मूलमय), बार्की (छालमय), रनर्स, हंका और हार्ड सेंटर दोष पाए जाते हैं. ये **का. आलिटोरिअस** में नहीं होते (Ghosh *et al.*, *Agric. Res. Mem.*, No. 1, *Indian cent. Jute Comm.*, 1943).

बीज उत्पादन – जूट साधारण बीजों के पकने से पहले काट लिया जाता है. केवल फसल का एक भाग बीज बनाने के लिए छोड़ा जाता है. बीज की फसल के लिए नीची भूमि ठीक नहीं होती. बिहार में बीज का जूट चम्पारन, सारन, मुजफ्फरपुर और दरभंगा जिलों में बोया जाता है. यदि बुवाई देर से की जाती है तो अपेक्षाकृत रोगमुक्त बीज की अधिक उपज होती है.

रेशे की फसल काटने के 4–6 सप्ताह के बाद बीज की फसल तैयार हो जाती है. उपज प्रति हेक्टर 2·5–4 क्विंटल तक होती है. **का. आलिटोरिअस, का. कैप्सुलैरिस** की अपेक्षा कम बीज देता है. यदि बीज समुचित रूप से सुखाये जाते हैं और बंद पात्रों में रखे जाते हैं तो उनकी अंकुरण क्षमता 4 वर्ष बाद भी अक्षुण्य रहती है. **का. आलिटोरिअस** और **का. कैप्सुलैरिस** के 10 ग्रा. बीज भार में क्रमशः लगभग 4,900 और 2,800 बीज होते हैं (Patel & Ghose, *Agric. Res. Bull.*, No. 1, *Indian cent. Jute Comm.*, 1940).

रेशों के लक्षण

सूक्ष्मदर्शीय लक्षण – बिक्री वाले जूट के रेशे तने के बाहरी भाग या बास्ट से प्राप्त होते हैं. ये रेशे संकेन्द्री परतों एवं फ्लोएम की झीनी भित्ति वाले ऊतक के एकान्तर में व्यवस्थित रहते हैं, जिससे तने की लम्बान में एक जाली जैसी बन जाती है. इस जाली की लम्बाई या आकार किस्मों के अनुसार होता है और एक ही पौधे में तने की मोटाई के अनुसार बदलता रहता है. रेशों की ये परतें, जिनकी संख्या **का. आलिटोरिअस** में 13–17 और **का. कैप्सुलैरिस** में 17–19 होती है, ऐसे रेशों के पूलों या वर्गों की बनी होती हैं जिनके रूप और आकृति में अत्यधिक विविधता होती है. प्रत्येक पूल रेशे के एक पृथक तंतु या सूत्रक को निरूपित करता है जो अनुप्रस्थ काट में देखने पर अनेक कोशिकाओं (4–50) का बना हुआ संमिश्र लक्षणों का प्रतीत होता है. पौधे में से सूत्रक मध्यवर्ती कोमल ऊतकों के द्वारा, जिनके अन्तर्गत अरे, चलनी नलिकाएँ, फ्लोएम मृदूतक, इत्यादि सम्मिलित हैं, अपने स्थान पर बने रहते हैं. सड़ते समय इन मध्यवर्ती ऊतकों के विघटित हो जाने से रेशों के पूल अलग-अलग हो जाते हैं.

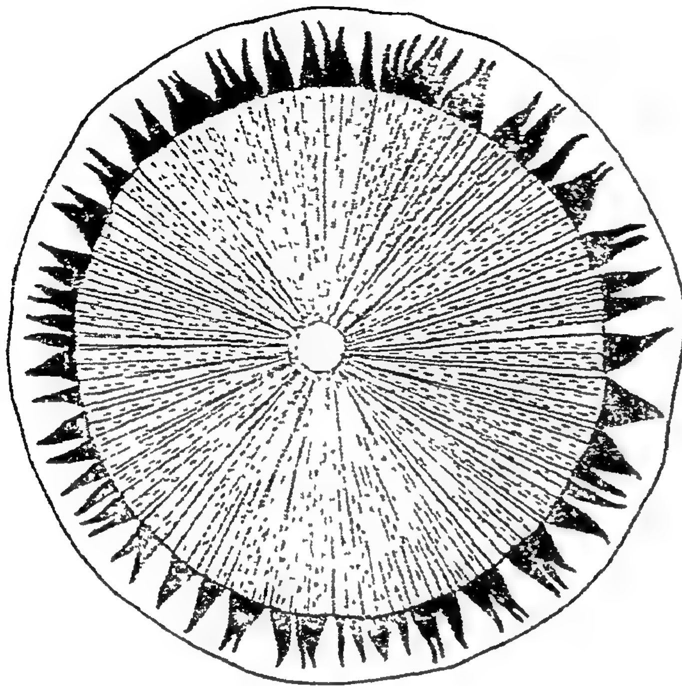
जिन भिन्न-भिन्न कोशिकाओं से रेशों के सूत्रक बने होते हैं वे (तने की अक्ष की दिशा में) लम्बायमान होती हैं और उनके सिरे नुकीले या गावदुम होते हैं. अनुप्रस्थ काट में उनकी रूपरेखा निश्चित रूप से स्पष्ट कोणों वाले बहुभुज की-सी प्रतीत होती है. ये चरम रेशा-कोशिकाएँ लम्बाई में 500 से 6,500 माइक्रोन तक और व्यास में 10 से 30 माइक्रोन तक की होती हैं. भित्तियाँ मोटी और लिग्निन से युक्त होती हैं और एकाध आड़ी दरारों को छोड़कर अपेक्षाकृत चिकनी और बेदाग होती हैं. ल्यूमेन या कोशिका गुहा, कोशिका-भित्ति के बराबर चौड़ी होती हैं किन्तु कहीं-कहीं पर लाक्षणिक संकीर्णन पाए जाते हैं. कभी-कभी कोशिका-भित्ति की असमान मोटाई के कारण यह पूरी तरह बन्द भी होती है. **का. कैप्सुलैरिस** की अपेक्षा **का. आलिटोरिअस** के चरम-रेशे लम्बे होते हैं और उसके रेशों के पूल भी बड़े होते हैं (*Annu. Rep. agric. Res. Scheme, Indian cent. Jute Comm.*, 1939–40 to 1942–43; Kundu, *J. Indian bot. Soc.*, 1942, **21**, 93; Ghosh *et al.*, loc. cit.).

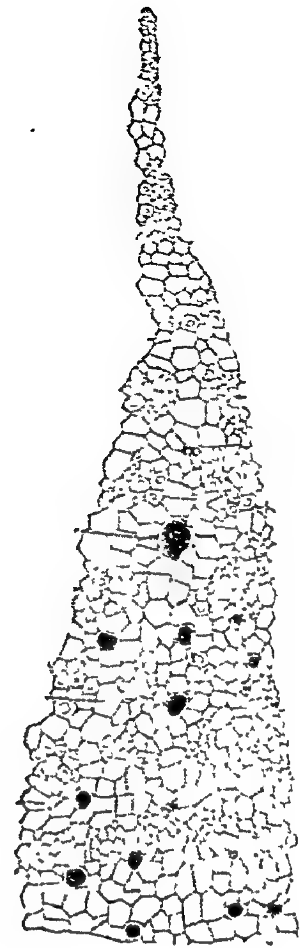
प्रत्येक जूट पौधे या नरकुल (रीड) से प्राप्त रेशा, अपना व्यक्तित्व रखता है. यह व्यक्तित्व दूसरे औद्योगिक रेशों में इतना स्पष्ट नहीं होता, जैसे कि फ्लैक्स में. इसका कारण काष्ठमय क्रोड को लपेटने वाले रेशों के सिलिंडर में जाली की-सी संरचना का पाया जाना है. व्यक्तित्व बनाये रखने में जड़ के पास वाले सिरे पर स्थित चिपचिपा त्वचीय पदार्थ भी सहायक होता है. नरकुल की लम्बाई 3·6 मी. या इससे भी ज्यादा हो सकती है. सामान्य लम्बाई 1·5–3 मी. है. छाँटते समय नरकुल लम्बे और तिरछे कट जाते हैं और कटे हुए टुकड़े एक सेंमी. से भी छोटे से लेकर 30 सेंमी. तक लम्बे रेशा तंतुओं या सूत्रकों के समुदाय रूप में प्राप्त होते हैं. हर रेशा-पूल में 8–20 तक पृथक-पृथक रेशे या चरम-रेशे होते हैं जिनमें से प्रत्येक एकाकी पादप-कोशिका होता है. किसी अनुप्रस्थ काट में दीखने वाली संख्या और काट का रूप और आकार जूट की जाति या किस्म, वृद्धि की परिस्थितियों और तने में काट की स्थिति के अनुसार बदलते रहते हैं. इन परिवर्तनों का प्रभाव कताई-गुण पर पड़ता है. प्रत्येक रेशा-कोशिका अनुप्रस्थ काट में बहुभुजीय होती है और उसका ल्यूमेन छोटा और लगभग वृत्ताकार होता है. किसी एकाकी कोशिका के औसत प्रमाप इस प्रकार होंगे: अनुप्रस्थ काट का क्षेत्रफल (कुल), 118·0 वर्ग माइक्रोन; कोशिका-भित्ति के अनुप्रस्थ काट का क्षेत्रफल, 108·9 वर्ग माइक्रोन; ल्यूमेन के अनुप्रस्थ काट का क्षेत्रफल, 8·9 वर्ग माइक्रोन; ल्यूमेन द्वारा अविकृत कुल क्षेत्रफल, 7·5%; लम्बाई, 2·4 मिमी.; चौड़ाई (फाइलर माइक्रोमीटर), 10·0 माइक्रोन (Matthews, 332).

कोशिका-भित्ति की संरचना तंतुमय होती है और तंतुक मंद दक्षिणावर्ती सर्पिलों में व्यवस्थित होते हैं. फ्लैक्स में दिखने वाले स्खलन-चिह्न इसमें भी अधिकता से देखे जाते हैं. सुखाने के लिए इसे वामावर्त दिशा में मरोड़ना पड़ता है (Nodder, *J. Text. Inst.*, 1922, **13**, 161).

एक्स-किरण स्पेक्ट्रमलेखी विधियों से जूट रेशों का परीक्षण करने पर उनसे प्रारूपिक सेलुलोस आरेख प्राप्त होता है. सेलुलोस शृंखलाएँ तंतुकों के अक्षों के लगभग समान्तर होती हैं. अतः वे तंतु-अक्ष से न्यून कोण बनाती हैं. मिसेली अभिविन्यास का अंश लगभग 35% कूता गया है (Astbury, ex Barker, *Jute Res.*, 1935–36; Indian Jute Mills Ass., Calcutta, 1936; Morey, *Text. Res.*, 1934, 4; Kundu, *J. Indian bot. Soc.*, 1942, **21**, 93).

जूट के रेशे फीके दूधिया रंग से लेकर गहरे सलेटी या बैंगनी धूसर रंग तक के पाये जाते हैं. पौधे में स्थित टैनिन, और सड़ाने में प्रयुक्त जल में उपस्थित लौह यौगिकों की अन्तर्क्रिया के परिणामस्वरूप धूसर रंग के धब्बे पड़ते हैं जो **का. आलिटोरिअस** में **का. कैप्सुलैरिस** की अपेक्षा ज्यादा गहरे होते हैं क्योंकि प्रथम में दूसरे की अपेक्षा टैनिन की मात्रा अधिक होती है.





चित्र 29 – जूट डंठल की अनुप्रस्थ काट

सामान्य रूप से, का. कैप्सुलैरिस की अपेक्षा का. आलिटोरिअस के रेशों की आभा अधिक लाल होती है. यद्यपि रेशों का रंग उनकी कताई के गुणों से सम्बद्ध नहीं है फिर भी रेशों की फीकी छटाएँ अनेक कारणों से ज्यादा अच्छी समझी जाती हैं.

बढ़िया गुण वाले जूट-रेशों में एक सुहावनी प्राकृतिक चमक होती है. अत्यधिक सड़ाने से या गोदाम में संचित अवस्था में सूक्ष्मजीवों के आक्रमण से यह चमक फीकी पड़ जाती है. आमंजक कार्बोनिक या अकार्बोनिक अशुद्धियों से भी रंग दब जाता है. बैचिंग तेल चमक को कम कर देता है (*J. Text. Inst.*, 1939, 30, P273).

अपनी अर्धक्रिस्टलीय प्रकृति के अनुरूप दूसरे वानस्पतिक रेशों की तरह जूट भी काफी उच्च कोटि का द्विअपवर्तन प्रदर्शित करता है जो सेलुलोस शृंखला के अणुओं के लगभग समान्तर विन्यास के कारण होता है. इसके निम्नलिखित मान अंकित किये गये हैं. तंतु अक्ष से समकोण बनाते हुए, $\mu = 1{\cdot}536$; तंतु अक्ष के समान्तर, $\mu = 1{\cdot}577$. फ्लैक्स की अपेक्षा ($+0{\cdot}067$) जूट का विशिष्ट द्विअपवर्तन कम है ($+0{\cdot}041$). आयोडीन से रंजित रेशे या कुछ खास रंजकों से रँगे हुए रेशे क्रॉसित निकॉल-प्रिज्मों के मध्य घूर्णित किये जाने पर तीव्र बहुवर्णता प्रदर्शित करते हैं (Barker, *Rep. sci. tech. Develop. of the Jute Manufacturing Industry in Bengal*, Indian Jute Mills Ass., Calcutta, 1935).

फ्लैक्स या असली सनई की बराबरी में जूट निर्बल पड़ता है परंतु अपने कुछ प्रतिद्वन्दियों से, जैसे हिबिस्कस केनेबिनस लिनिअस, हिबिस्कस सब्डेरिफा लिनिअस और यूरेना लोबाटा लिनिअस से शक्तिशाली पड़ता है. फ्लैक्स और सनई के विपरीत, जूट के धागे सामान्य आर्द्रता (70–80% सापेक्ष आर्द्रता वाली वायु के साथ साम्यावस्था में) की अपेक्षा पानी सोखकर या भीगी अवस्था में निर्बल पड़ जाते हैं. व्यापारिक रेशे की सामर्थ्य में काफी भिन्नतायें पायी जाती हैं. एक-जैसी वाह्य अवस्थाओं में काते गये भिन्न-भिन्न गुणता के जूट के 4.5 किग्रा. का भंग-भार सामर्थ्य 2·25–5·4 किग्रा. तक हो सकता है (परीक्षण में 60 सेंमी. लम्बा धागा लिया गया). सफेद जूट के धागों की अपेक्षा टोसा जूट के धागे औसतन 10–20% तक दृढ़तर होते हैं. सनई की कुछ किस्में ऐसी हैं जो मोटे धागे देती हैं. यह धागा उसी सूतांक के जूट के धागे से दृढ़तर होता है परंतु जूट के सूतों की भाँति सनई से महीन सूत नहीं काते जा सकते.

रेशों के नरकुलों की जाली को मुलझाकर एक सूत्रक बनाया जा सकता है जो सूत के पूलों या जूट मूत के सबसे महीन सूत्रक के काफी निकट अनुरूपी होते हैं. प्रायः ऐसे सूत्रकों का ग्रेक्स अंक 10–25 (माइक्रोग्राम प्रति सेंमी.) तक होता है. उनकी तनन क्षमता परीक्षण किए जाने वाले खंड की लम्बाई पर बहुत कुछ निर्भर करती है और कुछ हद तक भार लादने की दर पर भी. परीक्षण के लिये 10 सेंमी. लम्बा खंड लेकर तथा बेयर का इकहरा सूत्रक क्षमता-परीक्षक प्रयोग करने पर 24 ग्रेक्स अंक के प्रारूपिक मूत्रकों की औसत भंग-भार सामर्थ्य 53·4 ग्राम अर्थात् 'भंग लम्बाई' 22 किलोमीटर पायी गई. सूत्रक की लम्बाई कम करने पर भंग-लम्बाई बढ़ जाती है. परीक्षण लम्बाई शून्य होने पर 34 किलोमीटर मान प्राप्त हुआ.

इकहरे जूट रेशे के मूत्रक का टूट विस्तारण सामान्य मरोड़ कारकों वाले प्रारूपिक मूतों में प्रायः 2% से कम होता है. कम विस्तारण क्षमता के कुछ लाभ भी है. बारीक दानों वाली सामग्री से भरे थैले ढेर में बिना 'सरके' हुए स्थिर रहते हैं जबकि कपास जैसे अधिक प्रसरणशील रेशों से निर्मित थैलों में ऐसा नहीं होता. लिनोलियम के पृष्ठभाग में प्रयोग किये जाने वाले जूट वस्त्र और गलीचे के आधार के लिये प्रयुक्त जूट सूतों में भी यह निम्न विस्तारणशीलता लाभदायक है (*J. Text. Inst.*, 1947, **38**, 241).

बेंजीन में जूट रेशों का (कोशिका-भित्ति के पदार्थों का) आ.घ. 1·48 पाया गया. अति-शुष्क रेशे के लिए यह मान 1·42 है. जल और अन्य माध्यमों में जूट रेशों के उत्फुल्लन सम्बंधी आँकड़े संग्रह किये जा चुके हैं (Macmillan, *J. Text. Inst.*, 1939, **30**, P305; 1941, **32**, T45).

जूट की विशिष्ट उष्मा 0·324 सूचित की गई है. यह एबोनाइट की विशिष्ट उष्मा के समतुल्य है. 144 किग्रा./घमी. भराई करने पर 2·5 सेंमी. मोटाई में उष्मा अंतरण 1·38 कैलोरी प्रति घंटा प्रति वर्ग मी. प्रति 1° था (Barker, 1935, loc. cit.).

इधर के अध्ययनों से पता लचा है कि ऐसे जूट रेशे जिनका पूर्व इतिहास सामान्य होता है जब 25·5° और 77% सापेक्ष आर्द्रता के वायुमंडल में साम्यावस्था में होते हैं तो वे 15–16% तक पुनःप्राप्ति कर सकते हैं (वायुमंडल की यह स्थिति कलकत्ता की औसत अवस्था के निकट है). टोसा जूट की पुनःप्राप्ति इन्हीं अवस्थाओं में लगभग 0·5% अधिक है. 65% सापेक्ष आर्द्रता पर पुनःप्राप्ति 13–14% है. 80% से ऊपर आर्द्रता होने पर पुनःप्राप्ति तेजी से बढ़ती है. यदि पुनः-प्राप्ति 21·5% से अधिक होती है तो रेशों को सूक्ष्मजीवों से क्षतिग्रस्त होने की आशंका रहती है. जूट की गाँठों में सारतत्व की जो क्षति होती है वह इसी प्रकार होती है. ग्रस्त रेशा अपनी तनन-सामर्थ्य खो बैठता है और कातने के लिये अनुपयोगी हो जाता है (Nodder *et al.*, *Tech. Res. Mem.*, No. 3, *Indian cent. Jute Comm.*, 1940; Patel & Ghose, *Agric. Res. Bull.*, No. 1, *Indian cent. Jute Comm.*, 1940). क्षति 17% की पुनःप्राप्ति में भी हो सकती है. अगस्त और सितम्बर के महीनों में वायुमंडल की आर्द्रता काफी अधिक रहती है और इन्हीं दिनों में अधिकतर जूट उत्पादक विरेशन के बाद जूट को सुखाते और बिक्री के लिय पैक करते हैं. अतः यह कठिन ही जान पड़ता है कि पुनःप्राप्ति कम हो सकेगी. जूट रेशों के पुलिदे बनाने का काम तपती दोपहरी में करना चाहिए (सवेरे या शाम को नहीं).

जूट की कताई के गुणों का पूर्वानुमान लगाने के लिये भंजन, सूक्ष्मता और लचक के प्राक्षेपिक कार्यों का मापन किया जाता है. कपास और फ्लैक्स की अपेक्षा जूट-रेशा दुर्नम्य होता है परन्तु अपने कतिपय प्रतिद्वन्दियों (यथा **हिबिस्कस** के रेशों, सनई, सीसल, आदि) से होड़ लेता है. जूट के धागों से तेल, वसा और मोम विलग कर देने से उनकी शक्ति काफी बढ़ जाती है. यह शक्ति वृद्धि सम्भवतः धागे के सूत्रकों में पृष्ठ-घर्षण की वृद्धि से होती है (Nodder *et al.*, *Tech. Res. Mem.*, No. 3, *Indian cent. Jute Comm.*, 1940).

बढ़िया कताई का जूट मजबूत, महीन, मृदु, 'हाथ में लेने पर भारी,' चमकदार और दाग तथा छाल से रहित होता है. गाँठों में जूट रेशों की प्रकट बारीकी के अतिरिक्त खंडनीयता अर्थात् थान में पायस के प्रयोग द्वारा और विभिन्न मशीनों में से गुजरते समय मूल जटिल सूत्रक जितने लम्बे कट जाते हैं वह भी महत्वपूर्ण है. रेशों की जालीदार संरचना के कारण फ्लैक्स की अपेक्षा इस प्रकार खंडित होना कम सरल है.

रासायनिक संघटन – सेलुलोस, हेमीसेलुलोस और लिग्निन रेशों के प्रधान अवयव हैं. ऊष्मक-शुष्क रेशों में असली सेलुलोस 60% से अधिक नहीं होता परन्तु होलोसेलुलोस का प्रतिशत, जिसे विलायक द्वारा निष्कर्षित पदार्थ को सोडियम क्लोराइड के विलयन से उपचारित करके प्राप्त करते हैं, प्रायः 80% से अधिक रहता है. इसके अतिरिक्त रेशे में वसा, नाइट्रोजनी और रंजक पदार्थ; मोम और खनिज अवयवों के साथ-साथ उपत्वची और काग जैसे पदार्थ भी रहते हैं. मुख्य रेशे से चिपके हुए अवशिष्ट ऊतक में भी ये अवयव अंशतः पाये जाते है. स्वच्छ रेशों में टैनिन या पेक्टिन बहुत कम या बिल्कुल ही नहीं रहता.

छाल तथा अन्य ऊतकों से मुक्तप्राय औसत नमूने का संघटन इस प्रकार (ऊष्मक-शुष्क भार के आधार पर) है: वास्तविक सेलुलोस, 56–62; हेमीसेलुलोस, 22–26; लिग्निन, 11–12; नाइट्रोजनी पदार्थ, 1·0–1·5; मोम और वसा, 0·8–1·2; राख, 1·0–1·5; स्फुट, 1·5–2·5%.

का. आलिटोरिअस और **का. कैप्सुलैरिस** के अनेक नमूनों के विश्लेषण से अवयवों के निम्नलिखित परास प्राप्त हुए हैं (अति-शुष्क भार %; औसत मान कोष्ठकों में दिये हैं): **का. आलिटोरिअस** — राख, 0·65–1·7 (1·2); रेशा-सेलुलोस, 79–85 (82·5); लिग्निन, 10·7–13·1 (11·3); नाइट्रोजन, 0·13–0·2 (0·17); वसा और मोम, 0·5–1·2 (0·64); क्षारीय क्वथन से हानि, 14·3–21·7% (17·4%). **का. कैप्सुलैरिस** — राख, 0·8–2·2 (1·3); रेशा-सेलुलोस, 78–87 (83·2); लिग्निन, 11·0–16·9 (12·3); नाइट्रोजन, 0·17–0·37 (0·25); वसा तथा मोम, 0·77–2·7 (1·33); क्षारीय क्वथन से हानि, 17·2–24·7% (20·9%). सामान्य विधियों से प्राप्त (मान्द्रित हाइड्रोक्लोरिक या सल्फ्यूरिक अम्ल से उपचारित) जूट-लिग्निन का सूक्ष्मदर्शी परीक्षण करने पर त्वचायुक्त पदार्थ (परित्वक) और कुछ उपत्वची पदार्थ मिले. पौधे में, विशेष रूप से पत्तियों में, टैनिन होता है.

राख में प्रधानतया सिलिका, ऐलुमिना, चूना और मैग्नीशिया रहता है. लोहा भी रंचमात्र रहता है, विशेषतया गहरे भूरे रेशों में, जो पौधों के टैनिनों और सड़ाने वाले पानी के लौह यौगिकों के साथ अभिक्रिया के कारण होता है.

मेथिलीन ब्लू तथा अन्य क्षारकीय रंजकों के प्रति रेशों की बन्धुता अत्यधिक है. इसका कारण अम्लीय समूहों की उपस्थिति जान पड़ती है, न कि अनुसंधानकर्ताओं के विचार से रेशे में स्थित लिग्निन, टैनिन या पेक्टिन द्वारा अवशोषण. यह सिद्ध हो चुका है कि रेशे के अम्ल मान और मेथिलीन ब्लू के अवशोषण में काफी निकट का सम्बन्ध है और शीतल मृदु क्षारों के उपचार से अम्ल मान और मेथिलीन ब्लू अवशोषण दोनों में वृद्धि होती है. सम्भव है कि हेमीसेलुलोसों में स्थित यूरोनिक अम्लों के कार्बोक्सिल समूहों और लिग्निन के मध्य स्थित एस्टर बन्ध के जल-अपघटन के कारण ऐसा होता हो. इसका प्रमाण प्राप्त है कि लगभग आधे हेमीसेलुलोस की संरचना जाइलोस और ग्लूक्यूरोनिक (या कम संभावना इस बात की है कि गैलैक्ट्यूरोनिक) अम्ल इकाइयों से होती है (Sarkar *et al.*, *Jute Bull.*, 1948–49, **11**, 221; *J. Text. Inst.*, 1948, **39**, T1).

सोडियम क्लोराइड से उपचारित होलोसेलुलोस से तनु क्षार द्वारा निष्कर्षित हेमीसेलुलोसों को दो प्रभाजों में अलग किया जा सकता है: इनमें से एक अविलेय होता है और दूसरा 50% ऐल्कोहल में विलेय है. इनमें से पहला प्रभाज जाइलोस-यूरोनिक अम्ल जान पड़ता है और दूसरा हेक्सोस की इकाइयों से, संभवतः मैनोस की इकाइयों से बना होता है. कुछ शोधकर्ताओं का मत है कि मुख्य सेलुलोस-शृंखला के अणुओं में जाइलेन इकाइयों द्वारा ग्लूकोस इकाइयों को प्रतिस्थापित कर सकना संभव नहीं (Sarkar *et al.*, *J. Text. Inst.*, 1948, **39**, T44).

सम्भवतः लिग्निन और हेमीसेलुलोसों का एक अंश मध्य पटलिका में स्थित होता है. रेशों को तनु क्षारों के साथ उपचारित करने पर आर्द्र सामर्थ्य में अविलम्ब भारी कमी स्पष्ट ही मध्य पटलिका के हेमीसेलुलोस के निष्कासन या रूपांतरण के कारण होती है. ये हेमीसेलुलोस संभवतः ऊपर उल्लिखित विलेय प्रभाज के अनुरूप होते हैं. अनुकूल अवस्थाओं में सोडियम क्लोराइट विलयन से उपचारित करके लिग्निन को पूर्णतया विलग किया जा सकता है—इससे शुष्क सामर्थ्य में अत्यल्प कम कमी आती है किन्तु आर्द्र सामर्थ्य में भी साधारण-सी कमी होती है. ऐसा जान पड़ता है कि अंतराकोशिक बंधक पदार्थ के रूप में हेमीसेलुलोस लिग्निन की अपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण है. सर्ले की रासायनिक काट विधि मध्य पटलिका में काले रंग की गाँठों की उपस्थिति बताती है. मध्य पटलिका में लम्बाई में फैले हुए सूक्ष्म लिग्निन सूत्रकों की ये गाँठें तदनुरूपी प्रतीत होती है (*Proc. R. Soc.*, *Lond.*, 1930, **106B**, 357).

कच्चे रेशे में यूरोनिक अम्लों के कुछ कार्बोक्सिल समूह धात्विक क्षारों (जैसे कैल्सियम) के साथ संयुक्त प्रतीत होते हैं और ये सोडियम द्वारा उत्क्रमणीय रूप से प्रतिस्थापित किये जा सकते हैं. इसीलिए कठोर जल पर रेशे की अल्प मृदुकारी क्रिया होती है. तनुक्षारों के साथ रेशों को उपचारित करने से रेशे की धनायन विनिमय क्षमता बढ़ जाती है जो अतिरिक्त कार्बोक्सिल समूहों के पृथक होने के कारण होती है (McLean & Wooten, *Industr. Engng Chem.*, 1939, **31**, 1138).

उच्च गुण वाले जूट रेशे में निम्न गुण वाले रेशे की अपेक्षा वसा और मोम का अंश कम होता है. उच्च गुण वाले रेशे में नाइट्रोजन की मात्रा भी प्रायः कम होती है. इसका कारण कुछ तो अधूरा सड़ना और कुछ निम्न गुण वाले रेशों में गैर-रेशेदार ऊतकों का अधिक अनुपात हो सकता है. वायुमंडलीय दाब पर 4 घंटे तक 0·5*N* कास्टिक सोडा के साथ उबालने पर जूट रेशों के भार में लगभग 20% की कमी होती है. यह कमी इस प्रकार मानी जाती है: हेमीसेलुलोस, पेक्टिन और सम्बद्ध पदार्थ में, 13·5; लिग्निन में, 3·0; प्रोटीनों में, 1·25; मोम और वसा में, 0·75; विविध, 1·5%.

जब जूट को प्रकाश एवं वायु में खुला रखा जाता है तो उसके प्रमुख रचकों का निम्नीकरण हो जाता है और उसका ताम्र अंक बढ़ जाता है. इस जूट के जलीय निष्कर्ष का पी-एच छाया में रखे वायु से रक्षित जूट के पी-एच की तुलना में कम होता है. *जान पड़ता है कि अम्लों का एक भाग निम्नीकृत* पॉलियूरोनाइडों से और शेष लिग्निन से आता है. लिग्निन किरणीयन के समय अपने मेथाक्सिल समूह खो देता है, जिससे ऑर्थो-डाइफीनालों का और अंततः ऑर्थो-क्विनोनों का निर्माण होता है. ऐसा प्रतीत होता है कि जूट के रंग में प्रकाश और वायु के कारण जो विकृति आती है, वह इन्हीं परिवर्तनों के कारण होती है. इस रंग-विकृति को मेथिलीकरण अथवा ऐसीटिलीकरण से रोका जा सकता है. विरंजित रेशों के ऐसीटिलीकरण से प्रकाश के प्रति पक्का सफेद या हल्का पीताभ-भूरा जूट तैयार किया जा सकता है (*Jute Bull.*, 1949–50, **12**, 459, 350).

बीज—जूट के बीजों में आर्द्रता, 7·1; राख, 6·0; अशोधित प्रोटीन, 26·62; अशोधित तन्तु, 20·76; मुक्त प्रतीप शर्करा, 3·08; प्रतीपन के पश्चात् शर्करा, 5·95%; और स्टार्च तथा वाष्पशील तेल की रंच मात्राएँ प्राप्त होती हैं. राख में P_2O_5, 33% और K_2O, 25·45% होता है. बीज के स्थिर तेल (पेट्रोलियम निष्कर्षण, 14·7%) के लक्षण हैं: वि.घ.$^{28°}$, 0·921; श्यानता (पानी की तुलना में) 28° पर, 53·1417; $n_D^{30°}$, 1·4705; साबु. मान, 184·4; आयो. मान, 109·2; अम्ल मान, 24·07; असाबु. अंश, 3·0%. वसा अम्लों में से ओलीक (39·18%) और लिनोलीक (44·63%) मुख्य हैं; ऐराकिडिक, पामिटिक और स्टीऐरिक अम्ल थोड़ी-थोड़ी मात्राओं में रहते हैं. असाबुनीकृत भाग में एक फ़ाइटोस्टेरॉल होता है (Sen, *J. Indian chem. Soc.*, 1927, **4**, 205; 1928, **5**, 759; 1930, **7**, 83).

बीजों के ऐल्कोहलीय निष्कर्ष से, जो 15·72% होता है, रैफिनोस (3%) और कॉरकोरिन ($C_{22}H_{36}O_8$) ग.वि., 174–75°) पृथक किए गए हैं; कॉरकोरिन एक अत्यन्त कड़वा दक्षिणावर्ती क्रिस्टलीय ग्लूकोसाइड है जो जल-अपघटन से ग्लूकोस और कॉरकोजेनिन ($C_{16}H_{26}O_3$) देता है. कॉरकोजेनिन ऑक्सीकृत किए जाने पर कॉरकोरिक अम्ल ($C_{15}H_{21}O_5$) देता है जो कॉरकोरिन से ग्लूकोकॉरकोरिक अम्ल होकर भी प्राप्त होता है. एक दूसरा कड़वा क्रिस्टलीय पदार्थ कॉरकोरिटिन ($C_{12}H_{18}O_3$) भी, जिसके गुणधर्म कॉरकोरिन के समान हैं, प्राप्त हुआ है. बीजों से एक ग्लाइकोन, कॉरकोरटॉक्सिन ($C_{23}H_{32}O_6$, ग.वि.,

247°) भी प्राप्त हुआ है. यह पाया गया है कि हृदय के ऊपर इसकी क्रिया डिजिटैलिस समूह के जेनिनों के समान है, पर उतनी तीव्र नहीं है (Sen, *J. Indian chem. Soc.*, 1930, 7, 83, 905; 1931, 8, 651; *Chem. Abstr.*, 1950, 44, 4014).

कुछ **कारकोरस** जातियों की पत्तियों को तरकारी बनायी जाती है. **का. ऐकुटैंगुलस** की पत्तियों के विश्लेषण से आर्द्रता, 80·60; प्रोटीन, 6·12; ईथर निष्कर्ष, 0·67; कुल राख, 2·51; Ca, 0·25; P, 0·038%; Fe, 35·65 मिग्रा./100 ग्रा; और विटामिन-सी, 141·9 मिग्रा./100 ग्रा. प्राप्त हुआ है. **का. कैप्सुलैरिस** की पत्तियों में एक वामावर्ती ग्लूकोसाइड, कैप्सुलैरिन, होता है जो कारकोरिन से सम्बंधित जान पड़ता है (Theophilus & Arulanantham, *Indian J. med. Res.*, 1949, **37**, 29; Saha & Choudhury, *J. chem. Soc.*, 1922, **121**, 1044).

का. कैप्सुलैरिस की पत्तियाँ पाचक, मृदुविरेचक, वातसारी और उद्दीपक हैं. सूखी पत्तियाँ पेचिश में खिलाई जाती हैं. **का. आलिटोरिअस** की पत्तियों का फाण्ट कड़वे टॉनिक की भाँति इस्तेमाल किया जाता है. ये पत्तियाँ, शामक, टॉनिक और मूत्रल होती हैं. इसके बीज विरेचक होते हैं. बारीक बुने हुए रेशे शल्य-चिकित्सा की रोगाणुरोधी पट्टियों में घाव के ऊपर रखने के लिए इस्तेमाल किए जाते हैं (Kirt. & Basu, I, 398, 400; Kanny Lal Dey, 97).

जूट के उपयोग

जूट का उपयोग मोटी बुनाई (हैंसियन और टाट) के लिए किया जाता है, जिसकी आवश्यकता विभिन्न प्रकार की वस्तुओं को संचित करने या परिवहन के काम में लाने के लिये आधान बनाने में पड़ती है. इसका उपयोग मोमजामा के नीचे लगाने और कपास को धागों के साथ मिश्रित करके दरी और गलीचों के बुनने में किया जाता है. जूट के बने कपड़े और हैंसियन का उपयोग बागबानी तथा खेती के कार्यों में जैसे कि वातरोध, फसलों को धूप और पाले से बचाने के लिए आश्रय, कारखानों में चाय की पत्तियों को सुखाने में किया जाता है. जूट की बटी रस्सियाँ बाँधने के काम आती हैं. कपास और जूट को मिलाकर कुर्सियाँ, तिरपाल, गद्दे की खोलें और तलवस्त्र बनाये जाते हैं. जूट से छत बनाने के कपड़े बनाये जाते हैं और पर्तदार जूट का उपयोग धातु तथा प्लाईवुड के प्रतिस्थापी के रूप में किया जाता है. जूट का उपयोग बालू के थैलों, तम्बुओं, जल भंडारण, निवार, नाट्यशाला के कैन्वस और पर्दे के कपड़े के लिए भी होता है. बहुत-सी उपयोगी वस्तुएँ जैसे किटबैग, औजार रखने के थैले, बिस्तरबंद, जूट के कपड़े से ही बनाए जाते हैं. ऊन-जूट, कपास-जूट और पटुआ-जूट के मिश्रण से बहुत तरह के उपयोगी कपड़े बनाये जाते हैं. रद्दी जूट प्लास्टिकों में पूरक की भाँति उपयोगी है.

कपड़े बनाने के लिए जूट की खपत बहुत कम होती है क्योंकि इसे बारीक धागों में कातने में और इनसे अच्छी आर्द्र शक्ति का विरंजित माल प्राप्त करने में कठिनाई होती है. ऊन या अन्य रेशों के साथ जूट को मिश्रित करके जूट का उपयोग पहनने के कपड़े, कंबल, गलीचे, धुस्से बनाने में हो सकता है. पूर्णतः या अंशतः जूट की बटी हुई रस्सियों, डोरियों और रस्सों के विस्तृत उपयोग की भी गुंजाइश जान पड़ती है. द्वितीय महायुद्ध में जूट का उपयोग जल-धारक भंडारों, तम्बुओं इत्यादि में सफलतापूर्वक किये जाने से बगीचों, औद्योगिक और घरेलू कार्यों में इसके विस्तृत उपयोग की संभावना बढ़ गई है. इस समय प्लास्टिक तथा कागज उद्योगों के लिये रद्दी-जूट के रेशे, करघे और ऊपर के रद्दी धागों, कतरनों तथा लट्ठों का उपयोग करने में मूल्य ही नियामक कारक है. जूट का उपयोग विस्फोटकों, लैकर और कृत्रिम रेशम के लिये सेलुलोस की भाँति हो सकता है.

जूट के प्रतिस्थापी

जूट के प्रतिस्थापियों की खोज में अनेक कारण सहायक हुए हैं जिनमें से कुछ महत्वपूर्ण कारण इस प्रकार हैं: (1) उपभोक्ताओं की अभिरुचि, (2) अतिरिक्त माल के नये उपयोग, (3) राष्ट्रीय आत्मनिर्भरता की नीति, (4) जूट के माल की कमी, जैसे युद्धकाल में. जूट से होड़ लेने वाले पदार्थों को प्राकृतिक और संश्लिष्ट रेशों तथा कागज के अन्तर्गत वर्गीकृत किया जा सकता है. किन्तु अभी तक किसी भी प्रतिस्थापी को व्यापारिक महत्व नहीं प्राप्त हो सका है क्योंकि जूट अन्य प्रतिस्थापियों की तुलना में सस्ता है और बड़ी मात्रा में उपलब्ध है.

ऐसे लगभग चालीस वानस्पतिक रेशे हैं, जो जूट के साथ होड ले रहे हैं या जिन्हें जूट का शक्तिशाली प्रतिद्वन्दी कह सकते हैं. इनमें से कपास, पटुआ, केनाफ़ और सीसल महत्वपूर्ण है. अन्य पौधों में भी, यद्यपि उनकी उपयोगिता इस समय सीमित है, जूट के प्रतिस्थापी बनने की क्षमता है. जूट से श्रेष्ठ होने के कारण, अमेरिका और अर्जण्टाइना में कपास इसका प्रबल प्रतिस्पर्धी है और इसके प्रयोग को बहुत से ऐसे कार्यों में प्रोत्साहन दिया जा रहा है जिनमें सदैव जूट का प्रयोग होता रहा है.

पटुआ या लाल अंबाडी (**हिबिस्कस सब्डैरिफा**) की खेती जावा में की जाती है और उसके रेशों से बने बोरे चीनी के उद्योग में अत्यधिक प्रयुक्त होते हैं. 1939 में स्थानीय मिलों में तीन लाख से भी अधिक बोरे निर्मित किये गये जिनसे जावा की जूट की वार्षिक खपत में 15% कमी आई. पटुआ की खेती मध्य अमेरिका में भी होती है (Kirby, *Bull. imp. Inst., Lond.*, 1947, 45, 97).

केनाफ या अंबाडी (**हिबिस्कस केनेबिनस**) को जूट के साथ मिश्रित करके चीन और मंचूको में अन्न भरने के लिए बोरे बनाये जाते हैं. इसे पटसन और सनई के साथ मिला कर कपड़े, रस्से और जहाजी रस्से बनाये जाते हैं. केनाफ की खेती भारत में भी, विशेष रूप से तमिलनाडु और महाराष्ट्र में होती है. असली सनई (**कैनेबिस सैटाइवा**) की खेती जर्मनी, रूमानिया, तुर्की और मंचूरिया में होती है. इसे जूट के स्थान पर प्रयोग किया जाता है.

यूरेना लोबाटा जूट के प्रतिस्थापकों में सबसे आशाजनक है और यह अत्यधिक मात्रा में बेल्जियम कांगो, क्यूबा, ब्राज़ील, मेडागास्कर और अफ्रीका के अनेक भागों में पैदा किया जाता

है. दक्षिणी रोडेशिया में यह अन्न भरने के बोरे बनाने के लिये जूट का स्थान ले रहा है (*Jute Bull.*, 1949–50, 12, 607; Kirby, loc. cit.; Basak, *Econ. Res. Bull.*, No. 2, *Indian cent. Jute Comm.*, 1945).

पत्तियों के रेशों में सीसल (एगेव जातियाँ), मनीला, करोआ (**नियोग्लैज़िओविया वैरिगाटा** मेज), **सैंसेवियरा** जातियाँ तथा **फोरमियम टेनाक्स** फार्स्टर रस्से और जहाजी रस्से बनाने के लिये प्रयुक्त होता है. इटली में जूटिटाल को जूट के प्रतिस्थापी के रूप में काम में लाया जाता है. इसे टाइफ़ा पौधे से प्राप्त किया जाता है. जापान में अनाज भरने के लिए जूट के बोरों के स्थान पर पुवाल की चटाई के बोरे बड़ी तादाद में प्रयोग किये जाते हैं (*Jute Bull.*, 1949–50, **12**, 552; Basak, loc. cit.).

जर्मनी और इटली में ऐसे संश्लिष्ट रेशे निर्मित किये गये हैं जिन्हें जूट के स्थान पर प्रयुक्त किया जा सकता है. जेल जूट भूसे या पुवाल से बनाया जाता है. द्वितीय महायुद्ध के समय बरलैप थैलों के उत्पादन के लिए पॉलीएथिलीन रेशों का उपयोग हुआ था (*Jute Bull.*, 1939–40, **2**, 36; 1946–47, **9**, 34).

फाइब्रो एक संश्लिष्ट काष्ठ-तंतु है जिसकी बुनाई जूट की मशीनों पर की जा सकती है. इसे मेजपोश, चद्दर, विभिन्न आकारों के थैलों और डाक के थैलों के बनाने के लिए काम में लाया जाता है (*Capital*, 1947, **118**, 657).

अनेक देशों में जूट के स्थान पर कागज के थैलों का सफलतापूर्वक उपयोग, विशेष रूप से सीमेण्ट के व्यवसाय में, किया गया है. इनका उपयोग कृत्रिम खाद उद्योग में, आटे की मिलों में, किराना के थोक व्यापार में और अनाजों के फुटकर व्यवसाय में सामान रखने के लिए किया जाता है. संयुक्त राज्य अमेरिका में एक नई किस्म के कागजी थैलों का प्रचलन हो रहा है जिन्हें बहुभित्तियुक्त कागज के थैले (मल्टीवाल पेपर वाक्स) कहते हैं. इनमें आटा, चीनी, सेम, मटर और नमक भरकर जहाजों द्वारा निर्यात किया जाता है. इन थैलों में नमी प्रविष्ट नहीं होती क्योंकि इनमें जल अवरोधक ऐस्फाल्ट के पर्तदार कागज की एक तह होती है. ब्राज़ील में कागज और ऊन के मिश्रित थैले (40% ऊन और 60% कागज) बनाये गये हैं जो ऊनी सामग्री पैक करने के लिये जूट के थैलों का स्थान ले रहे हैं. ऑस्ट्रेलिया में जूट के स्थान पर सीसलक्रैफ्ट का उपयोग किया जाता है. इसे दो बादामी कागजों की परत को सीसल के रेशों से प्रबलित करके बनाया जाता है (Basak, loc. cit.; *Jute Bull.*, 1949–50, **12**, 252; 1942–43, **5**, 253).

ऐलिवेटरों (उत्थापकों) द्वारा अनाज संचित करने की आधुनिक विधियों का विकास हो जाने से बरलैप थैलों का प्रयोग समाप्त हो चला है.

जूट का विपणन

उत्तरी बंगाल में, जूट अगस्त में ही काट लिया जाता है. वहाँ लगभग 56% जूट अक्टूबर के अंत तक और 75% नवम्बर के अन्त तक बेच दिया जाता है. पश्चिमी बंगाल में जूट की बहुत ही कम फसल सितम्बर के पहले तैयार होती है. किसानों द्वारा 76% जूट का विक्रय सितम्बर और नवम्बर के बीच किया जाता है. विक्री योग्य अधिक फसल को खेतों से सीधे बेच दिये जाने के मुख्य कारण हैं: कटाई के समय बंगाल की नदियों वाले भूभागों में यातायात की कठिनाई और खतरा; बंगाल, बिहार और असम के अन्य भागों में सड़कों की कमी; अपनी उपज को ऋणदाताओं और दलालों के हाथ बेचने की परवशता; गौण बाजारों में बिचौलियों का होना तथा उत्पादक और उपभोक्ता में प्रत्यक्ष सम्पर्क का अभाव; अत्यधिक संख्या में बाजार-कर बैठाना, तथा मनमानी कटौती; गौण बाजारों में माल रखने के लिए किसानों को गोदामों की सुविधायें न होना. लगभग 75% जूट गाँवों में, 20% बाजारों और हाटों में और 5% गौण बाजारों और गाँठ बनाने वाले केन्द्रों में बेच दिया जाता है.

उत्पादक से उपभोक्ता तक जूट का संचलन तीन स्पष्ट अवस्थाओं में होता है: (1) गाँवों से प्रधान संग्राहक-बाजारों तक; (2) देहाती क्षेत्रों से गाँठ बनाने वाले केन्द्रों तक; तथा (3) ऊपरी गाँठ-केन्द्रों से कलकत्ता के खुले जूट बाजारों, मिलों और पक्के गाँठनिर्माताओं तक. जूट के व्यवसाय में अनेक बिचौलिये कार्य करते हैं—पैकार, फड़िया और व्यापारी, गाँवों में किसानों से तथा हाट से खरीदते हैं और उसे पास के बाजारों में अन्य बिचौलियों को या गौण बाजारों के कच्ची गाँठ बाँधने वालों के हाथ बेच देते हैं. ऊपरी भागों के बाजारों में कच्ची गाँठ बाँधने वाले ही अंतिम खरीददार होते हैं. ये जूट की छँटाई विभिन्न व्यापारिक श्रेणियों में करते और उन्हें कच्ची गाँठों (56 किग्रा. से 149 किग्रा.) में घरेलू खपत के लिए बाँधते हैं.

कलकत्ता में जूट मिलें और पक्के गाँठ बंधक खुले जूट के अंतिम खरीदार होते हैं. जूट मिलें जूट को प्रायः कच्चे गाँठ-बंधकों से वायदा सुपुर्दगी के ठेके के आधार पर खरीदती हैं और पक्के गाँठ-बंधक अपनी आवश्यकता का अधिकांश भाग कलकत्ता के खुले बाजारों से, जैसे काशीपुर, हटखोला और श्याम बाजार से, खरीदते हैं जहाँ स्थानीय आढ़तदार ऊपरी भागों के विक्रेताओं के एजेण्ट का कार्य करते हैं.

ऊपरी भाग के बाजार जूट उत्पादक क्षेत्रों के बीच स्थित होते हैं. इन्हें तीन श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है: (1) गाँव, (2) प्रधान बाजार जिनमें हाट भी सम्मिलित हैं, (3) कच्चे गाँठ-बन्धक केन्द्र. गौण बाजार (गाँठबंधक केन्द्र) जूट एकत्र करने के अंतिम केन्द्र हैं और वे ऐसे स्थानों पर होते हैं जहाँ आवागमन की सुविधा होती है. ये उत्पादक और उपभोक्ता के बीच महत्वपूर्ण संपर्क रखते हैं.

गाँठ बनाने वाले केन्द्रों में नकदी और सामान पर बहुत-सी कटौतियाँ की जातीं और भत्ते लिये जाते हैं जिन्हें विक्रेताओं को वहन करना पड़ता है. ऐसी कटौतियाँ प्रधान बाजारों में कहने को होती हैं और गाँवों में बिल्कुल नहीं होतीं. इन कटौतियों में एक ही जिले के विभिन्न बाजारों में काफी अन्तर पाया जाता है. यद्यपि कलकत्ता के अंतिम बाजारों में इतनी वसूली नहीं की जाती है जितनी मोफ़ुसिल क्षेत्रों में की जाती है फिर भी सम्पूर्ण वसूली की रकम पर्याप्त होती है (*Rep. Marketing & Transport of Jute in India, I Rep.*, 106, 110).

पूर्वी बंगाल और असम के कुछ भागों में जूट का परिवहन गाँवों से गौण बाजारों तक नावों द्वारा होता है और अन्य जूट

उत्पादक क्षेत्रों में बैलगाड़ियों से होता है. भाडे के मजदूरों और लद्दू जानवरों का प्रयोग उन्ही क्षेत्रों में किया जाता है जो जल-मार्गो से दूर है या जहाँ बैलगाड़ियाँ नही जा सकती.

सामान्य दिनों में कुल जूट का 52% स्टीमर द्वारा और 43% रेलों द्वारा आता था जब कि नाव द्वारा 3% और बैलगाडियों और मोटर द्वारा शेष माल (2%) आता था. स्वाभाविक ही है कि किराये की दर काम में लाई जाने वाली सवारी के अनुसार बदलती रहती है.

वर्गीकरण और श्रेणीकरण

जूट के गुण की परख विभिन्न प्रकार के धागों को तैयार करने की उपयुक्तता और उत्पादन प्रक्रम में उसके व्यवहार को ध्यान में रखते हुए की जाती है. प्रारम्भिक वर्गीकरण पौधे की जाति के अनुसार किया जाता है, फिर जहाँ उत्पन्न हुआ हो उस जिले पर ध्यान दिया जाता है क्योंकि विभिन्न क्षेत्रों में उत्पादित जूट रेशों में पर्याप्त विभिन्नता पायी जाती है. जूटों में जट सर्वोत्तम माना जाता है और जंगली तथा दोराह निम्न गुण वाले जूट है (सारणी 2). इनकी लम्बाई, शक्ति, रंग, दोषों तथा जड़ कतरनों की प्रतिशतता में काफी विभिन्नता पाई जाती है. इन्हीं कारकों के आधार पर जूट की चार श्रेणियाँ मान्य है. ये है: श्रेष्ठ, मध्यम, निम्न (बाटम) और निम्नतम (एक्स-बाटम).

श्रेष्ठ, मध्यम और निम्न श्रेणियों में रखने की वर्तमान पद्धति से यह निश्चित हो जाता है कि किसी एक श्रेणी की गुणावस्था एक निश्चित स्तर के नीचे नही आ सकती है और इससे मिलों का काम अच्छी तरह से चल सकता है. सफेद जूट पर प्रदत्त अंकों का विवरण इस प्रकार है: **श्रेष्ठ:** पुष्ट रेशे, जिले का अच्छा रंग, कतरन 25% से अधिक नही; **मध्यम:** पुष्ट रेशे, जिले का औसत मध्यम रंग, कतरन 35% से अधिक नही रहे; **निम्न:** सीधे मोराहेड रेशे जिसमे 70% से अधिक टाट न रहे; **निम्नतम:** उलझा हुआ या गुथा जूट, चाहे जिस प्रकार का हो. भारतीय केन्द्रीय जूट कमेटी ने पाँच श्रेणियों वाली एक योजना की संस्तुति की है जो वर्तमान योजना से काफी सुधरी हुई है.

ऊपरी भागों के बाजारो मे जूट प्राय: बिना छँटाई किये ही बेचा जाता है, व्यापारी और जडिया गाँवों और हाटो से माल खरीदते समय जूट के रेशो की कीमत उसकी श्रेणियों के आधार पर निर्धारित करते है. कच्चे गांठ-बंधक भी प्राय. इसी रीति को अपनाते है यद्यपि कुछ बाजारो मे जूट का लेनदेन विभिन्न व्यापारिक श्रेणियो मे छँटाई करने के बाद किया जाता है. मोफुसिल जूट व्यवसाय की दो बुराइयाँ है: पानी से भिगोना और उसकी किस्मों मे मिलावट करना. साधारणत: किसान नम जूट नही बेचते. व्यापारी और आढ़तदार ही है जो तौल बढाने के लिये रेशों को भिगो देते है. जूट की किस्मों में मिलावट का काम कुछ कच्चे आढतियों द्वारा किया जाता है. वे निम्न श्रेणी का जूट खरीद कर उसे उच्च श्रेणी के रेशों के साथ मिलाकर ऐसे बाजारो मे स्थानीय माल के रूप में बेच देते है जो अच्छी किस्म के जूट के लिए प्रसिद्ध है.

भारतीय मिलों मे विश्वभर मे सबसे अधिक जूट की खपत होती है. द्वितीय विश्वयुद्ध के पूर्व (1929-1939 तक) औसत खपत का वितरण इस प्रकार था: भारत की मिलें, 57%; गाँव, 5%, विदेशों को निर्यात, 38%. किन्तु कच्चे जूट के निर्यात पर कुछ प्रतिबंध लग जाने से परिस्थिति कुछ बदल गई. 1947-48 में सम्पूर्ण माल के 67% का भारतीय मिलों में और 7% का गाँवों में उपभोग हुआ; और 26% विदेशों को निर्यात किया गया.

भारतीय जूट उद्योग का मुख्य केन्द्र पश्चिमी बंगाल है जहाँ भारत के लगभग 96% करघे कलकत्ता के आसपास स्थित है. सारणी 3 में भारत में करघों का वितरण (1947 के लिए) दिखाया गया है.

सारणी 2 – जूट की विभिन्न श्रेणियाँ*

जातियाँ		गुण	कड़े या नरम
का. कैप्सुलैरिस	सफेद	जट	कडा
		जिला (डिस्ट्रिक्ट)	कडा या नरम
		उत्तरी	नरम
		पश्चिमी (बिहार)	नरम
		दोराह	कडा
		जंगली	कडा
		असम	कडा या नरम
		उड़ीसा	नरम
का. आलिटोरिअस	टोसा	जट	कडा
		जिला (डिस्ट्रिक्ट)	कडा या नरम
		उत्तरी	नरम
		पश्चिमी (बिहार)	नरम
		उडीसा	नरम
		जंगली	नरम
	डाइसी	जट डाइसी	नरम
		जिला (डिस्ट्रिक्ट)	नरम

*Rep Marketing & Transport of Jute in India, I Rep, 161.

सारणी 3* – भारत मे करघों का वितरण

	मिलों की संख्या	करघे†	
		संख्या	प्रतिशत
उत्तर प्रदेश	3	891	1·3
तमिलनाडु	4	1,042	1·6
पश्चिमी बगाल	100	65,266	95·3
बिहार	4	1,103	1·6
मध्य प्रदेश	1	150	0 2
योग	112	68,452	100

*Loom Statistics, 1947, Indian Jute Mills Ass.

†विशेष करघों को छोड़कर

पश्चिमी बंगाल में स्थित मिलों में जूट की पूर्ति अधिकांशतः पूर्वी बंगाल के जट और ज़िला क्षेत्रों से होती है. कुछ पूर्ति उत्तरी भाग, असम, पश्चिमी और डाइसी क्षेत्रों से होती है. भारत में बने जूट मालों में हेसियन बोरे, कैन्वस और तिरपाल सम्मिलित हैं. कुछ विशेष प्रकार की वस्तुएँ, जैसे वुस्से और गलीचे तथा मोमजामा-हेसियन भी बनाये जाते हैं. द्वितीय महायुद्ध से ही अनेक तरह की नई-नई वस्तुएँ भारतीय मिलों द्वारा निर्मित की गई है जिसमें बालू के थैले, संयुक्त विनावट के वस्त्र (जूट-कपास), तम्बू, हुडों के कपड़े और जाल की डोरियाँ सम्मिलित हैं.

यद्यपि भारत के गाँवों में जूट का मुख्य उपयोग रस्से और डोरियों के बनाने में किया जाता है फिर भी थोड़े भाग की खपत करघा-उद्योग में भी हो जाती है. इन केन्द्रों में पट्टियाँ (कच्ची कपास को पैक करने के लिए), सतरंजी (हल्की दरियाँ), आसनी, सीढ़ियों पर बिछाने के टाट, निवार (वुनाई के लिए) और वाजारू थैले, बनाये जाते हैं.

युद्ध पूर्व, भारतीय जूट के मुख्य आयातकर्ता इंग्लैण्ड, जर्मनी, फ्रांस, संयुक्त राज्य अमेरिका, इटली और वेल्जियम थे. ब्राजील और अर्जेण्टाइना हाल के वर्षों में कच्चे जूट के प्रमुख आयातकर्ता बन गये हैं. विदेशी बाजारों में जूट की जिन श्रेणियों की विशेष माँग है वे हैं: सफेद जट, जट और डिस्ट्रिक्ट टोसा, और डाइसी.

उत्पादन और व्यवसाय

विश्व का मुख्य जूट-उत्पादक भू-भाग उत्तरी पूर्वी भारत में स्थित है और द्वितीय महायुद्ध के पूर्व भारत संसार की आवश्यकताओं के 99% की पूर्ति करता था.

1940 मे जूट का क्षेत्रफल और उत्पादन कीर्तिमान स्तर पर पहुँचा, जब 22·8 लाख हेक्टर क्षेत्रफल में 24 लाख टन उपज हुई. उस समय युद्ध के कारण बाजार बन्द हो गये थे. बाजार मे इसकी भरमार हो गई थी. 1941 में बंगाल सरकार ने आवश्यकता से अधिक उत्पादन रोकने के लिए और खाद्य पदार्थों के उत्पादन को प्रोत्साहित करने के लिए जूट के क्षेत्रफल पर प्रतिबंध लगा दिया और 1940 में जितने में जूट उगाया था उसका आधा कर दिया. पुनः 1946 में इसका क्षेत्रफल 1940 के क्षेत्रफल से घटा कर 37·5% कर दिया गया लेकिन 1947 में पुनः 50% पर ला दिया गया (FAO, *World Fibre Surv.*, 1947, 133; Commonwealth Econ. Comm., *Industr. Fibres*, 1948, 100).

1947–48 में भारत में जूट की सम्पूर्ण उपज 2,58,400 हेक्टर से 16,58,000 गाँठों की हुई और बांग्ला देश में 8,23,600 हेक्टर से 68,43,000 गाँठों की हुई थी. भारत में जूट में आत्मनिर्भरता प्राप्त करने के लिए सक्रिय कदम उठाये जाने के कारण जूट की खेती का विस्तार असम, पश्चिमी बंगाल, बिहार, उड़ीसा, उत्तर प्रदेश और त्रावनकोर तक कर दिया गया है. 1948–49 में उत्पादन 3,33,600 हेक्टर भूमि से 20,55,000 गाँठों तक पहुँच गया था किन्तु अब 5,28,800 हेक्टर से 2,852 हजार टन उत्पादन हो रहा है (सारणी 1) (*Jute Bull.*, 1950-51, **13**, 71).

जूट के क्षेत्रफल और उत्पादन को प्रभावित करने वाले कारकों में फसल का मौसम (अनुकूल या प्रतिकूल) और पिछले मौसम में जूट की प्रचलित कीमत प्रमुख है. जूट न बोये जाने पर धान की फसल ली जाती है. पिछले कुछ वर्षों में जूट वाली अधिकांश भूमियों में धान की फसल उगाई जा रही है. इसके लिए आंशिक रूप से मूल्य और अंशतः बंगाल सरकार द्वारा जूट की खेती पर लगाया प्रतिबंध उत्तरदायी हैं. इसका फल यह हुआ है कि जूट का उत्पादन विश्व की माँग की तुलना में कम हुआ है और जूट प्रतिस्थापकों के विकास को प्रोत्साहन मिला है. परंतु जूट के समक्ष तब तक गंभीर खतरा उपस्थित नहीं होता जबतक उनके उत्पादन का व्यय काफी नीचे नहीं गिर जाता जिससे कि सामान्य काल में वे जूट से होड़ ले सकें (Burns, 91).

खपत – वस्त्र बनाने वाले रेशों में कपास के बाद जूट का दूसरा स्थान है. 1934–35 से 1938–39 तक के पाँच वर्षों के समय में जूट की औसत खपत 112 लाख गांठ थी जिसमें प्रत्येक गाँठ का भार 180 किग्रा. था.

अविभाजित भारत में जूट की सामान्य खपत पूर्ण योग की 16% थी जिसमें 12 लाख गाँठें तैयार माल के रूप में थीं और 6 लाख गाँठें गाँवों में घरेलू कार्यों के लिए प्रयोग में लायी गई. जूट की अधिकांश माँग विदेशों से कच्चे या तैयार माल के रूप में होती है.

कच्चे जूट का व्यवसाय – कच्चे जूट के अन्तर्राष्ट्रीय व्यवसाय में अविभाजित भारत का एक प्रकार से एकाधिकार था. कुछ अन्य जूट उत्पादक देश जूट का निर्यात करते हैं परंतु उनके व्यवसाय का परिमाण अविभाजित भारत की तुलना में नगण्य है.

दूसरे विश्वयुद्ध से पहले कच्चे जूट के कुल निर्यात का लगभग 80% छः देशों, अर्थात् ब्रिटेन, जर्मनी, फ्रांस, संयुक्त राज्य अमेरिका, इटली और वेल्जियम को भेजा जाता था. ब्रिटेन और जर्मनी दोनों इस निर्यात का बड़ा भाग लेते थे किन्तु जर्मनी को निर्यात बन्द हो जाने के बाद संयुक्त राज्य अमेरिका ने दूसरा स्थान ग्रहण कर लिया था. युद्ध के दिनों में यूरोपीय महाद्वीप के उपभोक्ताओं को जूट भेजना बन्द कर दिया गया था.

जूट के बने हुए सामान का निर्यात साधारणतया कच्चे जूट से अधिक होता है.

समुद्र पार के बाजारों को टोसा जूट की अपेक्षा सफेद जूट अधिक भेजा जाता है. डण्डी, देसी जूट का प्रमुख खरीदार रहा है. टोसा जूट की माँग उसकी अधिक मजबूती और कताई में उत्तमता के कारण बढ़ी है (*Rep. Marketing Jute & Jute-products, II, Rep.*, 191).

भारत के सम्पूर्ण विदेशी व्यापार में जूट के व्यापार का स्थान सबसे प्रमुख है. देश से जितना माल निर्यात होता है उसमें से लगभग एक चौथाई मूल्य का जूट निर्यात का होता है.

जूट निर्यात व्यापार, भारत सरकार को तट कर आय का भी प्रमुख स्रोत है. कच्चे और निर्मित जूट पर संशोधित (1946) निर्यात शुल्क इस प्रकार है: कच्चे जूट की (180 किग्रा. की) एक गांठ पर, 15 रु., कटिंग पर, प्रति गाँठ 4·50 रु.; टाट पर, प्रति टन 80 रु.; और बोरों पर प्रति टन 50 रु. है.

नवम्बर 1947 के बाद से पाकिस्तान सरकार ने थल सीमा पार करके भारत में आने वाले जूट पर 180 किग्रा. वाली एक

गाँठ पर 15 रु. और कच्ची गाँठों तथा खुले जूट पर 37 किग्रा. पर (= 1 मन) 3 रु. निर्यात शुल्क लगा दिया है.

भारतीय जूट मिलों द्वारा कच्चे जूट की खरीद और उसका उपयोग साधारणतया कच्चे जूट के निर्यात से अधिक होता है. 1939 से कच्चे जूट के निर्यात में कमी आयी है और भारतीय मिलों द्वारा उसका उपयोग बहुत बढ़ गया है.

कच्चे जूट का भंडार – भारत में जूट की मिलों के पास मौसम के अंत में साधारणतया जूट के बड़े भंडार होते हैं; व्यापारियों और उत्पादकों के पास भंडार अपेक्षाकृत कम होते हैं. विदेशी उपभोक्ता देशों के भंडार भी छोटे होते हैं. भारतीय मिलों के पास जूट निर्मित वस्तुओं का भंडार भी बहुत होता है.

मूल्य – जूट, बुनाई के काम में आने वाला सबसे सस्ता रेशा है. संसार के बाजार में जूट की प्रतियोगिता-शक्ति निर्धारित करने में यह सब से बड़ा कारक है. 1938–47 के बीच लंदन में जूट के मूल्य की वार्षिक प्रवृत्ति चक्करदार रही है; वह तीन शिखरों पर पहुँची है जिनमें से प्रत्येक अपने पहले वाली से ऊँची थी. मूल्य 1938 के £ 19-6 प्रति टन से बढ़ कर 1940 में £ 33-10; 1943 में £ 49-8; और 1947 में £ 87-7 प्रति टन हो गया. 1947 के दिसम्बर में मूल्य £ 95 प्रति टन तक पहुँच गया (Commonwealth Econ. Comm., *Industr. Fibres*, 1948, 110).

लंदन के बाजार के जूट का भाव संसार के बाजार में जूट के मूल्य को प्रभावित करता है. यह देखा गया है कि लंदन के बाजार के मूल्य कलकत्ते के बाजार के मूल्यों के साथ-साथ चलते हैं.

ग्रामीण क्षेत्रों में जूट का आधारभूत मूल्य साधारणतया कलकत्ता के भावों से नियन्त्रित होता है. अन्य सब बातें समान होने पर मूल्य, किस्म, दर्जे और रेशे की सामान्य गुणताओं अर्थात् मजबूती, लम्बाई, रंग, दोषों की मात्रा और आर्द्रता पर निर्भर होती हैं. देश के भीतर के बाजारों में, मूल्यों का अंतर श्रेणियों में वर्गीकृत किए जाने की रेशे की उपयुक्तता पर आधारित होता है, पर इस प्रकार का कोई सुनिश्चित नियम नहीं है जिनके द्वारा गुण को प्रभावित करने वाले तत्वों के अनुसार मूल्यों का नियमन किया जा सके. जट रेशा सबसे उत्तम समझा जाता है, अन्य दर्जों के रेशों के मूल्य के अंतर जूट मूल्यों में कटौती के रूप में बताए जाते हैं. ये कलकत्ता की मिलों और निर्यातकों द्वारा निर्धारित किए जाते हैं, और मूल्य की सामान्य प्रवृत्ति तथा जूट के विभिन्न रेशों की माँग के अनुसार घटते-बढ़ते रहते हैं.

कच्चे जूट के मूल्यों में माँग और पूर्ति की स्थिति के अनुसार बहुत घट-बढ़ होती रहती हैं.

कच्चे जूट और जूट निर्मित वस्तुओं के मूल्यों में घनिष्ट संबंध है. मोटे तौर पर, दोनों एक ही दिशा में चलते हैं पर कच्चे जूट और जूट के माल के मूल्यों की घट-बढ़ की दरें भिन्न होती हैं इसलिए इन दोनों का अनुपात सदा बदलता रहता है.

Tiliaceae; C. aestuans Linn.; *C. acutangulus* Lam.; *C. depressus* (Linn.) C. Chr.; *C. antichorus* Raeusch.; *C. fascicularis* Lam.; *C. tridens* Linn.; *C. trilocularis* Linn.; *Eichhornia crassipes* Solms.; *Macrophomina phaseoli* (Maubl.) Ashby; *Corticium rolfsii* (Sacc.) Curzi.; *Diplodia corchori* Syd.; *Oidium* sp.; *Cercospora* sp.; *Phyllosticta* sp.; *Apion corchori* Marsh; *Laphygma exigua* Hbn.; *Diacrisia obliqua* Wlk.; *Anomis sabulifera* Guen.; *Hemitarsonemus latus* Banks; *Aspergilli; Penicillia; P. citrinum; Hibiscus cannabinus* Linn.; *Hibiscus sabdariffa* Linn.; *Urena lobata* Linn.; *Crotalaria juncea; C. acutangulus; Cannabis sativa; Urena lobata; Agave* spp.; *Neoglaziovia variegata* Mez.; *Sansevieria* spp.; *Phormium tenax* Forst.

का. कैप्सुलैरिस लिनिअस C. capsularis Linn. सफेद जूट

ले.–को. काप्सुलारिस

D.E.P., II, 535; IV, 558; C.P., 406; Fl. Br. Ind., I, 397.

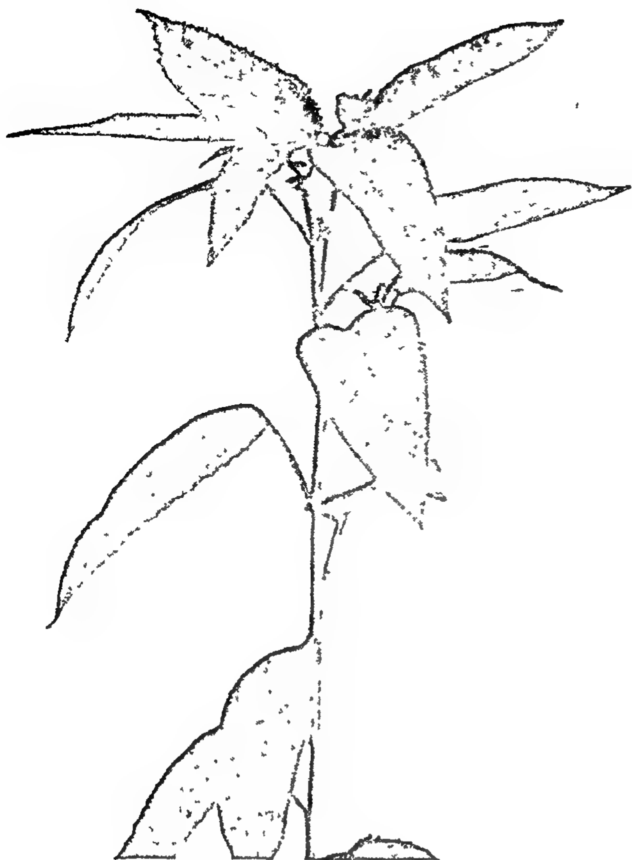
बं.–चिनालीता पाट, नारचा, नालिटा, तीतापाट.

असम–तीतामारा.

यह बूटीय वार्षिकी है जिसके सीधे छरहरे वृन्त कृष्ट होने पर 3–3·6 मी. ऊँचे होते हैं. इसमें छोटे पीले फूल लगते हैं. गोलाकार बीज की फलियों, छोटे पीले फूलों तथा अरोमिल पत्तियों द्वारा इसे **का. आलिटोरिअस** से पहचाना जा सकता है. बीज ताम्र वर्ण के होते हैं. पत्तियों में एक ग्लाइकोसाइड होता है और वे कड़वी होती हैं इसलिए पौधे को तीतापाट कहा जाता है जबकि **का. आलिटोरिअस** को मीठा पाट कहते हैं. **का. कैप्सुलैरिस** दक्षिण चीन के जंगलों में बहुतायत से पाया जाता है और ऐसा लगता है कि भारत में यह चीन से ही आया होगा. कृष्ट जातियों में यह अधिक प्रचलित है तथा जूट के कुल क्षेत्रफल के लगभग 75% में इसी की खेती होती है. इस जाति को **का. आलिटोरिअस** की अपेक्षा प्राथमिकता देने का कारण यह है कि यह ऊँची तथा नीची दोनों तरह की भूमि पर बढ़ सकती है, जलाक्रांत होने पर भी अप्रभावित रहती है तथा जल्दी बोयी और काटी जा सकती है, इस तरह किसान जूट की फसल के बाद धान की फसल जून–जुलाई में उगा सकते हैं (*Indian cent. Jute Comm., Rep. Marketing & Transport of Jute in India, I Rep.*, 1940, 36).

का. कैप्सुलैरिस के लगभग 33 प्ररूपों और **का. आलिटोरिअस** के केवल 5 प्ररूपों की खेती होती है. ये प्ररूप एक दूसरे से तने, पर्णवृन्त, पत्ते तथा फली के रंग में भिन्न होते हैं. वे हरे, गुलाबी, लाल या बैंगनी हो सकते हैं पर इससे रेशे के रंग पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता. मुख्य जूट उगाने वाले जिलों में बिल्कुल हरे या हल्के रंग वाले पौधों को ही प्राथमिकता दी जाती है (Burkill & Finlow, *Agric. Ledger*, No. 6, 1907, 133; *Annu. Rep. agric. Res. Scheme, Indian cent. Jute Comm.*, 1939–40—1942–43).

कारकोरस की दोनों व्यापारिक जातियों के संकरण के प्रयास असफल रहे हैं. इनमें बीज लगते तो हैं किन्तु उनका अंकुरण नहीं हो पाता. कृषि की दृष्टि से जल्दी और देर से होने वाली किस्मों का अंतर महत्वपूर्ण है. निचले स्थानों के लिए जिनमें बाढ़ जल्दी आती है, जल्दी तैयार होने वाली किस्म की आवश्यकता होती है. **का. कैप्सुलैरिस** की जल्दी पकने



चित्र 30 – कारकोरस कैप्सुलैरिस का वृक्ष

वाली किस्में फंडूक, घालेश्वरी, फुलेश्वरी तथा देसी हल हैं. ग्रामा और छोटा पाट, उत्तर-पश्चिम मेमनसिंह में कुछ हद तक उगाई जाने वाली दो जल्दी तैयार होने वाली किस्में हैं. इनसे प्राप्त रेशे के लिए मरिसावाड़ी बाजार प्रसिद्ध था. कृषि विभाग बंगाल तथा जूट एग्रीकल्चरल रिसर्च इन्स्टीट्यूट द्वारा तैयार की गई कई उन्नत किस्मों की खेती आमतौर से होती है. डी-154 विभेद स्थानीय किस्मों से ज्यादा पैदावार देता है. सी42 केजे-321 निचली जमीनों के लिए उपयुक्त है तथा इससे पैदावार ज्यादा होती है और अच्छी किस्म के रेशे मिलते हैं. सी39-212 जल्दी परिपक्व होने वाली तथा ज्यादा पैदावार देने वाली किस्म है. सी41-13 देर से परिपक्व होने वाली और ज्यादा पैदावार देने वाली किस्म है (Finlow, *J. Text. Inst.*, 1939, 30, P352; *Jute Bull.*, 1946–47, 9, 40).

कारनस लिनिअस (कारनेसी) CORNUS Linn.

ले.–कोरनूस

यह वृक्षों एवं झाड़ियों की लगभग 70 जातियों का वंश है जो उष्णकटिबंधीय पर्वतों एवं उत्तरी शीतोष्ण प्रदेश में पाया जाता है. भारत में इसकी 4 जातियाँ उगती बताई गई हैं जिनमें का. ऑब्लांगा एवं का. मैक्रोफिला कुछ व्यापारिक महत्व की हैं.

Cornaceae

का. ऑब्लांगा वालिश C. oblonga Wall.

ले.–को. ओब्लोंगा

D.E.P., II, 572; Fl. Br. Ind., II, 744.

हि.–वन-वाकर, कसमोल; कुमायूँ–वौमरी;
गढ़वाल–कटकनाई; असम–डियेनसोहलांग-ला-स्युरंग.

1·5 मी. की मोटाई एवं 10·5 मी. तक की ऊँचाई तक जाने वाला यह वृक्ष बाह्य हिमालय में सिन्ध नदी से भूटान, खासी पर्वत और ब्रह्मा में मर्तबान पहाड़ियों में, 1,200–2,100 मी. तक की ऊँचाई पर पाया जाता है.

लकड़ी (भार, 736–800 किग्रा./घमी.) गुलाबी-श्वेत से हल्की भूरी, मामूली कड़ी, भारी, सीधी दानेदार एवं सूक्ष्म गठन वाली होती है. टर्की, फिर्की, चर्खी और मुंगरी के मत्थे के निर्माण में इसका उपयोग किया जाता है. ऐसी धारणा है कि बारूद का कोयला बनाने में यह अत्यधिक उपयोगी है (Chowdhury & Ghosh, *Indian For. Rec., N.S., Util.*, 1946, 4, 8).

का. सँग्विनिया लिनिअस C. sanguinea Linn.

कोरनिल वुड, ब्लड ट्विग, डाग वुड

ले.–को. सांगुइनेआ

D.E.P., II, 572; Fl. Br. Ind., II, 744.

यह एक आकर्षक झाड़ी या लघु वृक्ष है जो कश्मीर में लगभग 2,100 मी. की ऊँचाई पर पाया जाता है.

इसकी लकड़ी (भार, 864–896 किग्रा./घमी.) यूरोप में छोटी वस्तु बनाने के लिए, जैसे कि दँतखुदनी के लिए, बहुत उपयोगी समझी जाती है. इसका कोयला बारूद बनाने में काम आता है.

इसकी छाल में इनुलिन जैसा एक पदार्थ, एक फाइटोस्टेराल और प्लैटेनोलिक अम्ल की उपस्थिति बताई गई है. इसके विश्लेषण से विलेय पॉलिसैक्कराइड, 4·49; टैनिन, 12·97; अपचायक शर्कराएँ, 1·23; अशोधित तन्तु, 31·3; कुल नाइट्रोजन, 1·8; मुक्त अम्ल, 1·19 और राख, 6·18% मिलती है. फलों में कैल्सियम मैलेट और पत्तियों में सैलिसिलिक अम्ल होता है. बीजों से 17–20% वसा अम्ल मिलता है. इसकी फलभित्ति से प्राप्त तेल साबुन बनाने और दीपों के जलाने के काम में लाया जा सकता है (*Chem. Abstr.*, 1927, 21, 600; Wehmer, II, 903).

का. कैपिटेटा वालिश एक्स रॉक्सबर्ग = बेंथमिडिया कैपिटेटा (वालिश एक्स रॉक्सबर्ग) हारा (हि.–थरमाल, थरवाल, बमोरा; असम–डीग-सोहजाफोन) एक पर्णपाती वृक्ष है, जो कुनू और कुमायूँ से भूटान तक 2,100 मी. की ऊँचाई तक पाया जाता है. फूलने पर यह वृक्ष बहुत सुन्दर लगता है. इसके फल खाये जाते हैं और उनका अचार डाला जाता है. इसकी लकड़ी (भार, 720–800 किग्रा./घमी.) जलाने के काम

आती है. **का. मैक्रोफिला** वालिश (हि.–कंदार, कचर, कसीस; असम–डींग-फेट) हिमालय में 1,200–2,400 मी. की ऊँचाई पर सभी जगह पाया जाता है. यह वृक्ष 12–15 मी. तक ऊँचा हो जाता है. इसका फल खाया जाता है और इसकी लकड़ी **का. ऑब्लांगा** की लकड़ी के समान काम में आती है. *C. capitata* Wall. ex Roxb. = *Benthamidia capitata* (Wall. ex Roxb.) Hara; *C. macrophylla* Wall.

कारल्यूडोविका रुइज़ तथा पैवन (साइक्लैंथेसी) CARLUDOVICA Ruiz & Pav.

ले.–कारलूडोविका

यह उष्णकटिबंधी अमरीका की मूल वासी और लगभग 60 जातियों की बूटियों एवं झाड़ियों का एक वंश है. इनमें से **का. पामेटा** तथा दो अन्य जातियों से प्राप्त रेशे पनामा टोपों के निर्माण में प्रयुक्त होते हैं.
Cyclanthaceae

का. पामेटा रुइज़ तथा पैवन C. palmata Ruiz & Pav.

पनामा हैट प्लांट

ले.–का. पाल्माटा
Macmillan, Fig. p. 405.

श्रीलंका–जिप्पीजप्पा, हिप्पी-हुप्पा.

यह 1·8 से 3·0 मी. तक ऊँचाई का छोटे तने वाला वृक्ष है जिसकी पत्तियाँ बड़े ताड़ के, पंख-जैसी होती हैं. इसकी खेती इक्वैडर और कोलम्बिया के कुछ भागों में बहुतायत से होती हैं. इसे भारत और श्रीलंका में लाया गया और श्रीलंका में तो अब यह प्राकृत हो गया है. यह समुद्रतल से लेकर 600 मी. की ऊँचाई तक अच्छी तरह बढ़ता है. इसके लिए नम तथा भारी भूमि चाहिए. इसका प्रवर्धन अंतःभूस्तारियों और बीजों द्वारा किया जाता है.

पत्तियाँ, पनामा टोप बनाने के काम आती हैं. पत्तों को नई अवस्था में ही काट कर कठोर शिराओं को निकाल देते हैं. फिर उन्हें उबलते पानी में डुबोते हैं जिसमें प्रायः कोई विरंजक मिला रहता है. उसके बाद उन्हें छाया में सुखाते है, फिर चाकू से लम्बाई में काट कर पतले रिबन बना लेते हैं और जिस प्रकार के टोप बनाने होते हैं उसी के अनुसार तन्तुओं की चौड़ाई रखी जाती है. रिबनों को सुखा कर टोप बुने जाते हैं. एक टोप के लिए लगभग 8 से 12 पत्तों तक की आवश्यकता होती है. उत्तम कोटि के टोपों के लिए एक ही पत्ते को नलिकामय बना लेते हैं, जिससे कोई जोड़ न पड़े (Frane, *Agric. Americas*, 1945, **5**, 67; *Bull. imp. Inst., Lond.*, 1930, 28, 461; Macmillan, loc. cit.; Bailey, 1947, I, 665).

कारेन आलू – देखिए **डाइआसकोरिया**

कारेन वुड – देखिए **हेटेरोफैगमा**

कार्क ट्री, इण्डियन – देखिए **मिलिंगटोनिया**

कार्डामम – देखिए **एलेटैरिया**

कार्डामम, नेपाल – देखिए **अमोमम**

कार्डामम, बंगाल – देखिए **अमोमम**

कार्डामम, बड़ी – देखिए **अमोमम**

कार्डिया लिनिअस (बोराजिनेसी) CORDIA Linn.

ले.–कोर्डिआ

यह झाड़ियों और वृक्षों की लगभग 300 जातियों का एक वंश है जो उष्णकटिबन्धीय क्षेत्रों में फैला हुआ है. भारत में इसकी लगभग 14 जातियाँ पाई जाती हैं.
Boraginaceae

का. डाइकोटोमा फार्स्टर पुत्र सिन. का. ऑब्लिका विल्डेनो, का. मिक्सा रॉक्सबर्ग नान लिनिअस C. dichotoma Forst. f.

ले.–को. डिकोटोमा
D.E.P., II, 563; Fl. Br. Ind., IV, 136.

सं.–बहुवारक; हि.–लसोड़ा, छोटा लसोड़ा; बं.–बहुबड़ा; म.–शेलवन्त; गु.–वरगुंद; ते.–चिन्ना नक्केरू; क.–चिक्का चल्ले; मल.–विरी, चेरूविरी; त.–नारू विली.

यह एक छोटा तथा मँझोले आकार का वृक्ष है जिसका तना टेढ़ा-मेढ़ा, 0·9–1·2 मी. घेरे वाला; फल, 1·25–2·5 सेंमी. लम्बे, पीताभ भूरे, गुलाबी या पकने पर प्रायः काले; गूदा, लसीला तथा पारदर्शी, कुछ मिठास लिए हुए और बीच के कड़े भाग को घेरे रहता है. यह जाति भारत और श्रीलंका में, विशेषकर उष्ण क्षेत्रों में, दूर-दूर तक फैली हुई है.

इसका फल, जिसे सबस्तान कहते हैं, खाया जाता है. यह मिठास लिए हुए लसीला होता है. ओषधि के रूप में यह कषाय, कृमिहर, मूत्रल, शामक और कफोत्सारक होता है और छाती तथा मूत्र मार्ग की बीमारियों में दिया जाता है. कोमन का कहना है कि इसका प्रयोग श्वास नली के शोथ में बेकार है. दाद में इसकी गिरियों का लेप किया जाता है. इसका गूदा चिड़ियों के फँसाने में लासे का काम देता है. छाल का काढ़ा ज्वर और अजीर्ण में दिया जाता है. ब्रह्मा में पत्तियों का उपयोग चुरुटों के ऊपर लपेटने में किया जाता है. लसीले गूदे से एक प्रकार का गोंद तैयार किया जाता है (Koman, 1920, 4; Kirt. & Basu, III, 1676; Gamble, 501; Trotter, 1940, 306; Burkill, I, 660).

इसकी ताज़ी कटी लकड़ी पीली होती है किन्तु खुली रहने पर शीघ्र जैतूनी या नीलाभ-धूसर और अन्त में बादामी या घूमरी-भूरे रंग की हो जाती है. यह हल्की (आ.घ., 0·54; भार, 544 किग्रा./घमी.), नरम और काफी मजबूत, हल्के ग्रंथित दानेदार और असम गठन की होती है. यह आसानी से सीझ जाती है किन्तु कीटों द्वारा सरलता से आक्रमित होती

है. लकड़ी आसानी से चीरी और गढ़ी जा सकती है. इससे नावें, कुओं की गरगज, बन्दूकों के कुन्दे और खेती के औजार बनाये जाते हैं. इसके सजावटी तख्ते रोटरी मशीन से चीरे जा सकते हैं (Gamble, loc. cit.).

इसकी छाल में 2% टैनिन होता है. इसके रेशों से नावों की संधि बन्द की जाती है (Badhwar *et al.*, *Indian For. Leafl.*, No. 72, 1944, 8).

C. obliqua Willd.; *C. myxa* Roxb. non Linn.

का. मैकलिओडाई हुकर पुत्र और थामसन C. macleodii Hook. f. & Thoms.

ले.–को. माक्लेओडिइ

D.E.P., II, 563; Fl. Br. Ind., IV, 139.

हिं.–दहिपलास, वैमान; म.–भोती, घैवान; त.–पलंदेक्कु; ते.–बोट्कु, पेड्डा-बोट्कु; क.–विलिचल्ले, डोड्डाचल्ले.

व्यापार–हड़ंग.

यह एक छोटे या मँझोले आकार का वृक्ष है जो छोटा नागपुर, मध्य भारत, कोंकण, उत्तरी कनारा और डेकन में पाया जाता है.

काटी गई लकड़ी पहले हल्की बादामी, लेकिन बाद में गहरी बादामी रंग की हो जाती है जिसमें गहरी और सुन्दर धारियाँ होती हैं. यह अच्छी चिकनी, तेलिया स्पर्श वाली, मध्यम भारी (आ.घ., 0·71; भार, 736 किग्रा./घमी.), सामान्यत: सीधे दानों वाली, खुरदरी तथा असमान गठन की होती है. समतल चीरी हुई लकड़ी में अलंकारिक आकृतियाँ दिखाई देती हैं, किन्तु चतुर्थांश काट में एक स्पष्ट चँदीला निशान दिखता है. यह कड़ी, चीमड़, मजबूत और टिकाऊ होती है यह सुगमता से गढी जा सकती है और गाड़ियों, जुओं, कुल्हाड़ी के दस्तों, नक्काशी, खराद के कामों, तस्वीरों के चौखटों, तख्तों और फर्नीचर बनाने के काम आती है (Pearson & Brown, II, 759).

का. रोथाई रोएमर एवं शुल्ट्स C. rothii Roem. & Schult.

ले.–को. रोथिइ

D.E.P., II, 565; Fl. Br. Ind., IV, 138.

सं.–लघुश्लेष्मातक; हिं.–गोंदी; गु.–गुंदी; म.–गोंदनी; ते.–चिन्न बोट्कु; त.–नारुविली; क.–किरिचल्ले.

यह एक छोटा वृक्ष है जिसकी ऊँचाई 6–12 मी. तक होती है जो पंजाब, सिन्ध, राजस्थान, गुजरात, दक्षिण भारत और श्रीलंका में पाया जाता है. इसका गुठलीदार फल अंडाभ, 1–1·3 सेंमी. लम्बा और लम्बान में धारीदार, पीला तथा पकने पर भूरा-लाल होता है. इसका श्लेष्मी गूदा खाद्य है इसकी छाल कषाय होती है और उसके काढ़े का गरगरा किया जाता है. भीतरी छाल से एक रेशा निकलता है जो रस्सी बनाने और नावों की सन्धि बन्द करने के काम आता है (Kirt. & Basu, III, 1679).

यह लकड़ी (भार, 672–832 किग्रा./घमी.) घर बनाने और खेती के औजारों में काम आती है.

का. वालिशाई जी. डान सिन. **का. आब्लिका** विल्डेनो वैर. **वालिशाई** C. wallichii G. Don

ले.–को. वाल्लिशिई

Fl. Br. Ind., IV, 137.

सं.–बहुवारक, उद्दालका; हिं.–बड़ा लसोड़ा; गु.–गड़गुडी, वरगुंड; त.–पेरुनारुविली; मल.–नारुविरी, पेरियाविरी; ते.–पेद्दनाकेर; क.–डोड्डचल्ले.

यह एक मँझोले आकार का वृक्ष है जो गुजरात, उत्तर कनारा और डेकन में पाया जाता है. इसका फल कफोत्सारक, कषाय और शामक माना जाता है (Kirt. & Basu, III, 1678).

कार्डिया की कुछ जातियाँ शोभाकारी हैं. **का. सेबेस्टीना** लिनिअस (गीगर वृक्ष, लाल कार्डिया, एलो वृक्ष) जो सामान्यत: भारत के उद्यानों में लगाया जाता है, लघु वृक्ष या झाड़ी है जिसमें दिखावटी गुच्छों में, घंटाकार, नारंगी लाल रंग के फूल, प्राय: वर्ष भर लगते रहते हैं. **का. फ्रैग्रेंण्टिस्सिमा** कुर्ज ब्रह्मा का मूलवासी है और इसकी लकड़ी मध्यम कठोर, सुगंधयुक्त, सुन्दर चित्तीदार होती है (Blatter & Millard, 39; Gamble, 501).

C. obliqua Willd. var. *wallichii*; *C. sebestena* Linn.; *C. fragrantissima* Kurz

का. वेस्टिटा हुकर पुत्र और थामसन C. vestita Hook. f. & Thoms.

ले.–को. वेस्टिटा

D.E.P., II, 566; Fl. Br. Ind., IV, 139.

हिं.–कषायमान; वैरोला; पंजाब–कारुक, कुम्बी; गढ़वाल तथा देहरादून–वैरोला.

यह एक पर्णपाती छोटा वृक्ष है जो पंजाब और हिमालय की तराई में देहरादून और शिवालिक श्रेणी से पूर्व की ओर उत्तर प्रदेश में शारदा नदी तक पाया जाता है.

इसका फल खाद्य है. इसमें शामक, कफोत्सारक और कषाय गुण होते हैं (Kirt. & Basu, III, 1680).

इसकी लकड़ी कुछ-कुछ **का. मैकलिओडाई** की तरह होती है. जब ताजी काटी जाती है तो हल्की बादामी होती है किन्तु पुरानी पड़ने पर गहरी बादामी हो जाती है. यह काफी चिकनी, तेलिया, सीधे या उथले ग्रंथित दानों वाली होती है. यह लकड़ी भारी (आ.घ., 0·79; भार, 816 किग्रा./घमी.), स्थूल, असमान गठन वाली, कड़ी, चर्मिल और मजबूत होती है.

यह **का. डाइकोटोमा** की लकड़ी से अधिक टिकाऊ, ठीक से गढ़ी जा सकने योग्य, साथ ही बनने पर सुन्दर होती है. यह पहिये, फर्नीचर, दिल्हाबन्दी, तस्वीरों के चौखटे और अलंकारिक बक्से बनाने के काम आती है (Pearson & Brown, II, 757).

कार्डियोप्टेरिस वालिश (कार्डियोप्टेरिडेसी) CARDIOPTERIS Wall.

ले.–कार्डिओप्टेरिस

Fl. Br. Ind., I, 597.

यह एक संदिग्ध बन्धुता वाली 3 या 4 जातियों का वंश है जो उत्तरी-पूर्वी भारत से न्यूगिनी तक पाया जाता है.

का. लोबाटा वालिश, नामक जाति दूधिया रस वाली आरोही लता है जो पश्चिम बंगाल, सिलहट और कछार में पाई गई है. जावा में इस जाति की पत्तियों की तरकारी बनाई जाती है (Burkill, I, 456).

Cardiopteridaceae; C. lobata

कार्डियोस्परमम लिनिअस (सैपिण्डेसी)
CARDIOSPERMUM Linn.

ले.–कार्डिओस्पेरमूम

इस वंश के अन्तर्गत वटीय प्रतानयुक्त आरोही लताओं की 23 जातियाँ सम्मिलित हैं जो प्रमुखतया अमेरिका और अफ्रीका के उष्णकटिबन्धों में पाई जाती ह. भारत में इसकी दो जातियाँ पाई जाती हैं ।जनमें से **का. हेलीकाकाबम** लिनिअस अल्प भेषजीय महत्व की है.

Sapindaceae

का. हेलीकाकाबम लिनिअस C. halicacabum Linn.
बेलून वाइन हार्टसीड

ले.–का. हालिकाकाबूम

D.E.P., II, 155; Fl. Br. Ind., I, 670; Kirt. & Basu, I, 623, Pl. 259.

सं.–कर्णस्फोट; हिं.–कनफटी; बं.–लटफटकारी, सिवझल; गु.–करोलिओ; म.–कपालफोड़ी; ते.–बुड्डककारा; त.–मुडुकोट्टन.

यह भारत-भर के मैदानों में पाई जाने वाली जाति है. इसकी जड़ मूत्रवर्धक, प्रस्वेदक, वमनकारी, मृदुरेचक, चर्मरक्तकर और आर्तवजनक है; कभी-कभी गठिया, कटिवात और स्नायु संबंधी बीमारियों मे भी इसका उपयोग किया जाता है. पुराने गठिया वात के उपचार में यह अलाभकर बताई गई है. पत्तियाँ चर्म रक्तकर एवं गठिया मे पुल्टिस की तरह बाँधी जाती हैं. पत्तियों का रस कान के दर्द को मिटाने वाला बताया जाता है. पौधे में सैपोनिन पाया जाता है (Chopra, 570; Kanny Lal Dey, 66; Koman, 1919, 14; Dymock, Warden & Hooper, I, 366; Burkill, I, 458).

कार्डीलाइन एडेन्सन (लिलिऐसी) CORDYLINE Adans.

ले.–कोर्डिलिने

Fl. Br. Ind., VI, 331; Burkill, I, 661.

यह झाड़ीली या वृक्षवत् 20 जातियों का एक वंश है जिसकी पत्तियाँ शोभाकारी होती हैं. यह वंश उष्णकटिबन्धी तथा उष्ण-समशीतोष्ण क्षेत्रों में पाया जाता है.

का. फ्रूटीकोसा गोपर्ट सिन. **का. टर्मिनेलिस** कुंथ सदाहरित खजूर जैसी, सीधी, अरोमिल, 2.4–3 मी. ऊँची एक झाडी है जो भारत के उष्णकटिबन्धी भागों में बंगाल तथा असम से पूर्व की ओर पाई जाती है. इसे प्रायः उद्यानों में भी लगाया जाता है. इसकी अनेक उपजातियाँ हैं जिनकी शोभाकारी पत्तियों के रंग भिन्न होते हैं. बैंजनी, किरमिजी और गुलाबी सामान्य रंग हैं. इसका प्रवर्धन अधिकतर तना और पत्ती की कलमों और अंत भूस्तारियों द्वारा किया जाता है.

अतिसार में पौधे के प्रकंद का निचला हिस्सा पान के साथ दवा के रूप में दिया जाता है.

Liliaceae; C. fruticosa Goeppert; *C. terminalis* Kunth

कार्डेन्थेरा बुखनन-हैमिल्टन (अकैन्थेसी)
CARDANTHERA Buch.-Ham.

ले.–कार्डान्थेरा

Fl. Br. Ind., IV, 403; Kirt. & Basu, III, 1863, Pl. 713.

यह बूटियों की लगभग 12 जातियों का एक वंश है. ये आमतौर पर लसलसी और गंधयुक्त होती हैं और भारत और शीतोष्ण अफ्रीका में पाई जाती हैं.

का. यलीजिनोसा (नीस) बुखनन-हैमिल्टन आमतौर पर दक्षिण भारत के धान के खेतों के सूखते हुए दलदलों में और सिक्किम की तराई में पायी जाती है. मलाबार मे पत्ती का रस नमक के साथ मिलाकर रक्त शुद्धि के लिए दिया जाता है.

Acanthaceae; C. uliginosa (Nees) Buch.-Ham.

कार्डेमिने लिनिअस (क्रुसीफेरी) CARDAMINE Linn.

ले.–कार्डामिने

यह एकवर्षी अथवा बहुवर्षी बूटियों की लगभग 190 जातियों का वंश है जो उत्तरी और दक्षिणी शीतोष्ण प्रदेशों में पाया जाता है. कुछ जातियाँ भारत मे, विशेषतया हिमालय के शीतोष्ण क्षेत्र में, पाई जाती हैं.

Cruciferae

का. इम्पेटिएन्स लिनिअस C. impatiens Linn.

ले.–का. इमपाटिएन्स

Fl. Br. Ind., I, 138.

यह एकवर्षी बूटी है जो शीतोष्ण हिमालय में कश्मीर से सिक्किम तक 1,500 से 3,600 मी. की ऊँचाई तक पाई जाती है. यह उद्दीपक और मूत्रल होती है (Kirt. & Basu, I, 149).

का. प्रैटेन्सिस लिनिअस C. pratensis Linn.

ले.–का. प्राटेन्सिस

Fl. Br. Ind., I, 138; Kirt. & Basu, I, 148, Pl. 61A.

यह बहुवर्षी बूटी है जो कश्मीर और पश्चिमी तिब्बत में पाई जाती है. इसे उद्दीपक, प्रस्वेदक और मूत्रल समझा जाता है. यूरोप के कुछ भागों में पौधे का उपयोग स्नायु सम्बन्धी रोगों के उपचार में किया जाता है. कार्नवाल में, पुष्पित शीर्ष मिरगी के शमन के लिए उपयोगी समझा जाता है. पत्तियाँ तिक्त, तीक्ष्ण और स्कर्वीरोधी होती हैं. बीजों में माइरोनिक अम्ल और सरसों के तेल से मिलता-जुलता एक तेल पाया जाता है (U.S.D., 1385).

का. हिरसुटा लिनिअस वैर सिलवेटिका हुकर पुत्र तथा टी ऐण्डरसन C. hirsuta Linn. बिटर क्रेस

ले.—का हिर्सूटा

D.E.P., II, 155, Fl. Br. Ind., I, 138, Haines, II, 27.

यह बूटी आमतौर पर भारत के शीतोष्ण प्रदेशो मे अधिकाशत बगाल मे शीत ऋतु मे अपतृण को भाँति उत्पन्न होती है. कभी-कभी इसे दक्षिण भारत मे चाय बागानो मे भूमि-अपरदन को रोकने के लिए बढने दिया जाता है. पत्तियाँ और फूल, सलाद की तरह उपयोग मे लाए जाते हैं बूटी मे अनिश्चित प्रकृति वाला एक ईथरीय तेल (मस्टर्ड तेल) लेश मात्रा मे पाया जाता है (Anstead, *Trop. Agriculturist*, 1923, **61**, 153, Wehmer, I, 413).

Sylvatica Hook. f. & T. Anders.

कार्ड्यूस लिनिअस (कम्पोज़िटी) CARDUUS Linn

ले.—कारडूस

D.E.P., II, 156, Fl Br Ind, III, 361, Kirt. & Basu, II, 1416, Pl 549B.

यह वश सनीकस और सिरसियम से अत्यधिक मिलता-जुलता हे. यह यूरोप, उत्तरी अफ्रीका और एशिया के शीतोष्ण प्रदेशो मे पाया जाता है साहित्य मे इसकी जातियो की सख्या के सम्बध मे कोई निश्चित मत नही है

का. न्यूटैन्स लिनिअस (कश्मीर—गुलीवडावर्द) पश्चिमी हिमालय मे कश्मीर से शिमला तक 1,800–3,600 मी की ऊँचाई पर पायी जाती है इसके फूलो मे ज्वरनाशी और रक्त शुद्ध करने के गुण होते हैं यह पौधा ऊँटो का अच्छा चारा हे रूस मे उगाए गये पौधो के बीजो मे 41–44% तेल पाया जाता है (Wehmer, suppl., 41).

Compositae, *C. nutans* Linn

कार्थमस लिनिअस (कम्पोज़िटी) CARTHAMUS Linn.

ले.—कार्थामूस

यह लगभग 36 जातियो का वश हे जो एशिया, अफ्रीका तथा भूमध्य सागरीय क्षेत्रो मे पाया जाता हे. भारत मे इसकी 3 जातियाँ पाई जाती हैं जिनमे से **का. टिंक्टोरियस** आर्थिक महत्व की हे

Compositae

का. आक्सीआकैन्था बीबेर्स्टाइन C. oxyacantha Bieb.

जगली सैफ्लावर

ले.—का. अक्सिआकांथा

D.E.P., II, 183, C.P., 276, Fl. Br. Ind., III, 386.

पंजाब—कटियारी, पोली, पोलियाँ.

यह उत्तर प्रदेश, पजाब, बलूचिस्तान तथा सीमान्त प्रदेश के शुष्क भागो मे जंगली उगने वाली एक वर्षीय मझोली, झाडीनुमा, कँटीली बूटी है जो पश्चिम मे काकेशस तक पाई जाती है यह मई और जून के महीनो मे फसल कटे खेतो मे कष्टप्रद अपतृण के रूप मे बहुतायत से उगती हे.

जहाँ भी यह पौधा बहुतायत से उगता है, इसके फलो को बीजो के लिए एकत्र करते हैं जिनसे एक प्रकार का तेल, जिसे पोला तेल कहते हैं, निकाला जाता है इसमे तेल की मात्रा लगभग 28% होती है, सामान्य विधियो से जिसका 18% ही निकाला जा सकता है, शेष अश खली मे ही रह जाता है. यह तेल कुसुम तेल से मिलता-जुलता है. इसकी विशेषताएँ हैं: आ घ.$^{35°}$, 0·9175; $n_D^{30°}$, 1·4715, साबु. मान 195·0, आयो. मान (हैनस), 112·8, ऐसीटिल मान, 2·98, अम्ल मान, 1·34, हेनर मान, 93·8, आर. एम. मान, 0·84, थायोसायनोजन मान (24 घ), 80·2; और असाबु पदार्थ, 0·42% तेल के घटक वसा-अम्ल इस प्रकार हैं: मिरिस्टिक, 0·66, पामिटिक, 3·11; स्टीऐरिक, 3·62, ओलीक, 55·80, और लिनोलीक, 36·81%. तैल के घटक ग्लिसराइड इस प्रकार हैं: मिरिस्टो-ओलिओ-लिनोलीन, 2·05; पामिटो-ओलिओ-लिनोलीन, 9·82, स्टीऐरो-ओलियो-लिनोलीन, 10·33; ओलिओ-डाइलिनोलीन, 11·30; डाइओलियो-लिनोलीन, 62·23; ट्राइ-ओलीन, 1·28, और ट्राइ-लिनोलीन, 1·69% असाबु. पदार्थ मे साइटोस्टेराल, ग वि, 135°, रहता हे (Ghosh, *Indian Tr. J.*, 1916, **42**, 385; Singh & Kumar, *Proc Indian Acad. Sci.*, 1948, **27A**, 147).

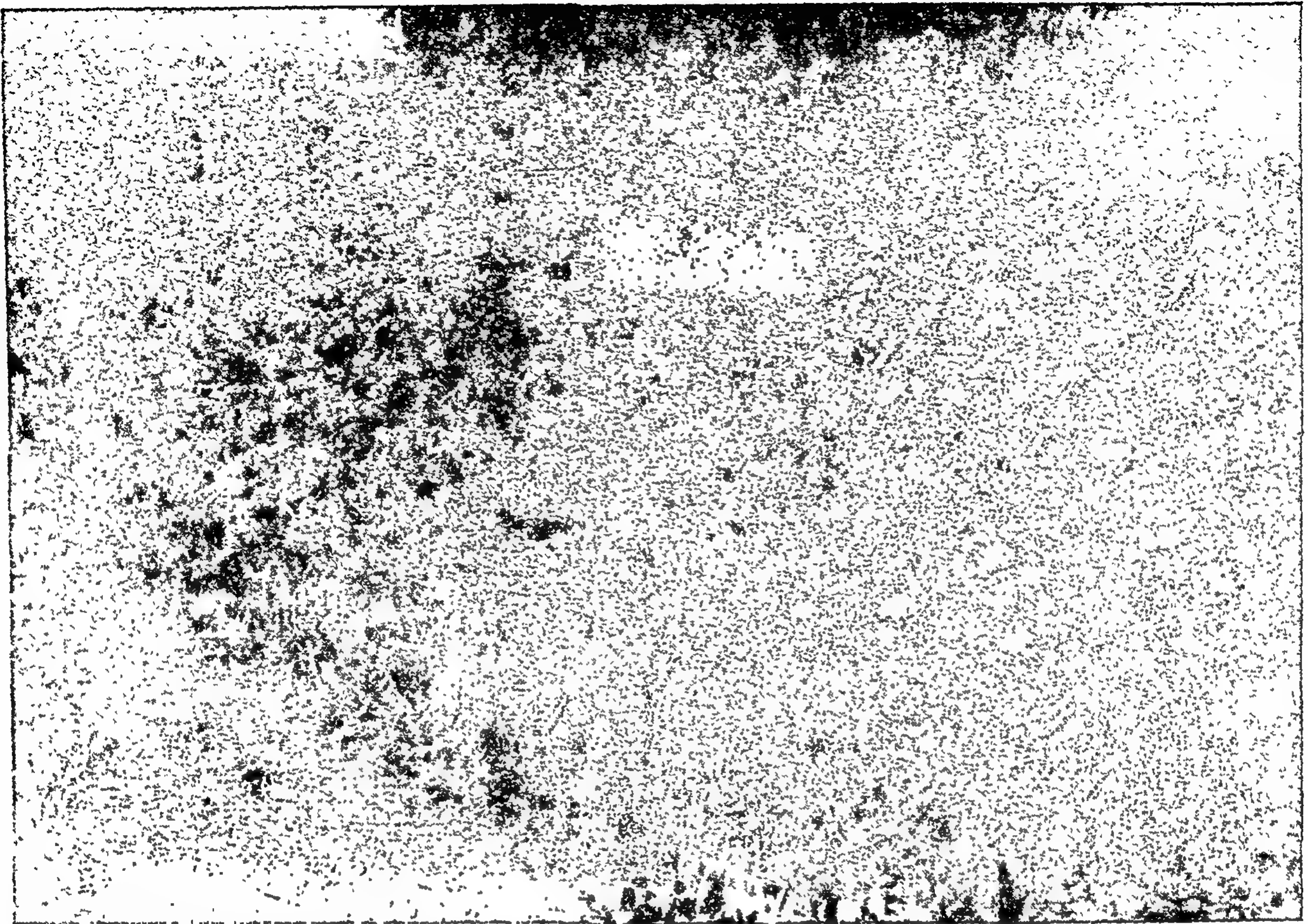
इस तेल का उपयोग जलाने और खाने के लिए होता हे अफ्रीकी मोमजामा के निर्माण मे लगने वाले रोगन के बनाने के लिए भी इसका प्रयोग होता है. पजाब मे इसे घावो तथा खुजली मे भी लगाते हैं. मृदु साबुन तथा वार्निश बनाने मे भी इसका उपयोग होता है. रोगन बनाने के लिए पोली तेल को मिट्टी के बर्तन मे हल्की तथा इकसार आँच पर 12 घंटे गरम करके, खौलता हुआ ठडे पानी मे डाल दिया जाता हे. यह जिलेटिनी पिंड के रूप मे जम जाता हे. इसे टिनो मे भर कर अधिकतर अफ्रीकी वस्त्र बनाने के लिए और कभी-कभी शीशा जोडने के लिए बाजारो मे बेच दिया जाता हे (Caius, loc. cit., Ghose, loc. cit.).

बीजो को भूनकर या तो अकेले या गेहूँ या आटे मे मिलाकर खाया जाता है.

ईथर से निष्कर्षण के पश्चात् खली का संघटन इस प्रकार होता है: आर्द्रता, 9·3; ऐल्बुमिनॉयड, 13·5; कार्बोहाइड्रेट, 22·8; तन्तुमय पदार्थ, 51·7; तथा राख, 3·7% इसका प्रयोग खाद के रूप मे भी किया जा सकता है (Ghose, loc. cit.).

सूखा पडने पर पौधे को चारे की तरह काम मे लाते हैं. प्रारम्भिक अवस्था मे तो पशु इसे खा लेते हैं, लेकिन प्रौढ होने पर इसे काँटो को झाड कर ही खिलाने योग्य बनाया जाता है. सामान्य भूसे से इसमे पचनीय प्रोटीन अधिक (6·3%) रहते हैं किन्तु स्टार्च तुल्याक इसके बराबर होता हे (20·78%). पशुओ के आहार के लिए सामान्य भूसे के पूरक के रूप मे भी इसका प्रयोग कर सकते हैं (*Indian Fmg*, 1946, 7, 4; Kehar *et al.*, *Sci. & Cult.*, 1946–47, **12**, 112; *Indian J. vet. Sci.*, 1948, **18**, 223).

का. टिंक्टोरियस लिनिअस C. tinctorius Linn. सैफ्लावर



चित्र 31 – कार्यमस टिंक्टोरियस

ले.–का. टिंक्टोरिअस

D.E.P., II, 183; C.P., 267; Fl. Br. Ind., III, 386.

सं.–कुसुम्भ; हिं.–कुसुम्भ, करड़; बं.–कुसुम, कुसुम फूल; गु.–कुसुम्बो; म.–कर्डई, कुर्डी; त.–सेन्दूरकम; ते.–कुशुम्ब; क.–कुसाम्बे, कुसुमे.

यह सीधी, एक वर्षीय बूटी है जो 30-90 सेंमी. तक ऊँची होती है. इसकी पत्तियाँ, शूलमय-ककची; इसके गोलाकार पुष्प-शीर्ष के पुष्पकों का रंग पीताभ या नारंगी-लाल होता है और एकीन चार कोणीय, चिकने तथा रोमगुच्छ रहित होते हैं.

यह पौधा केवल कृष्ट अवस्थाओं में पाया जाता है. इसके दो प्राथमिक उद्गम केन्द्रों अर्थात् अबीसीनिया और अफगानिस्तान के पर्वतीय क्षेत्रों के आधार पर यह विश्वास किया जाता है कि इसकी उत्पत्ति का. लैनैटस से अथवा का. आक्सीआकन्था से हुई होगी. यह पौधा भारत चीन और ईस्ट इंडीज से लेकर फारस, काकेशस, मिश्र, इटली और स्पेन तक पाया जाता है. हाल ही में संयुक्त राज्य अमेरिका तथा ऑस्ट्रेलिया में भी इसको ले जाया गया है. भारत के लगभग हर राज्य में इसकी खेती होती है. महाराष्ट्र में तिलहन की फसल के रूप में यह काफी प्रसिद्ध है. इसके क्षेत्रफल तथा उपज के विषय में अभी आँकड़े प्राप्त नहीं हैं. महाराष्ट्र में अहमदनगर, शोलापुर धारवाड़ तथा बेलगाम जिलों में 2 से 2½ लाख हेक्टर भूमि में और मध्य प्रान्त के बिलासपुर, अमरावती, यवतमल जिलों में लगभग 2,800 हेक्टर भूमि में कुसुम की खेती की जाती है. हैदराबाद राज्य के गुलबर्गा, औरंगाबाद भिड़, उस्मानाबाद, बीदर तथा रायचूर जिलों के शुष्क क्षेत्रों में तिल्ली (**गोजोटिया ऐबीसिनिका कैसिनी**) के साथ इसकी खेती होती है [Kupzow, *Bull. appl. Bot. Genet. Pl.-Breed., Ser.*, IX(1), 1932, 171].

कुसुम की अनेक प्रजातियाँ ज्ञात हैं जिनके वानस्पतिक लक्षण, तेल तथा रंजक की मात्रायें काफी भिन्न होती हैं. लगभग 63 प्ररूपों का पता है. इनका वर्गीकरण मुख्यतया दो सुस्पष्ट किस्मों में किया जा सकता है: (1) अत्यन्त कँटीले पत्तों वाली, और (2) काँटों रहित अथवा मध्यम काँटों से युक्त पत्तों वाली. खेती करने पर, विशेषतया सिंचाई होने पर, काँटे कम जान पड़ते हैं. तेल-उत्पादन की दृष्टि से कँटीली किस्में तथा

रंजक निष्कर्षण के विचार से काँटेरहित किस्में अधिक उपयुक्त मानी जाती हैं (Howard *et al.*, *Mem. Dep. Agric. India, Bot.*, 1915, **7**, 237; Khan, ibid., 1929, **18**, 81 Sabnis & Phatak, *Indian J. agric. Sci.*, 1935, **5**, 705).

विभिन्न राज्यों में किन्हीं-किन्हीं क्षेत्रों के लिए विशेष रूप से उपयुक्त विभेदों का विकास एवं चुनाव करने की कोशिश की गई है. तमिलनाडु में पूसा टाइप–1 तथा –28 अन्यों से उत्तम माने जाते हैं. उत्तर प्रदेश में बीज उत्पादन के लिए टाइप–56 विशेष रूप से उपयोगी समझा जाता है. इससे 28·8–32·0% तेल युक्त बीजों की प्रति हेक्टर उपज 15–25 क्विंटल होती है. चारे के लिए टाइप–39 अधिक उपयोगी है जिससे 450–535 क्विंटल प्रति हेक्टर हरा चारा प्राप्त होता है. बम्बई में एक उन्नत विभेद, निफद 630, विकसित किया गया है जिसका बीज-उत्पादन, स्थानीय किस्मों से कहीं अधिक है (*Agric. Anim. Husb., India*, 1935–36, 111; Richharia, 147; Kadam, *Indian Fmg*, 1945, **6**, 407).

कुसुम अब मुख्य रूप से तिलहनी फसल के रूप में बोया जाता है. संश्लिष्ट रंजकों के सूत्रपात से अब रंजक-फसल के रूप में इसका वह स्थान नहीं रहा. इसे अधिकांशतः वर्षा-पोपी फसल के रूप में उगाते हैं. यह सूखा-सह है और बलुई भूमि में भी उग सकती है. इसे प्रायः गेहूँ, जौ, चना या बाजरे के साथ मिलाकर बोते हैं किन्तु रंजक निकालने के लिये इसे अकेले ही बोया जाता है. कभी-कभी इसे बाड़ के रूप में भी बोया जाता है, क्योंकि इसकी कँटीली पत्तियाँ पशुओं को मुख्य फसल से दूर रखती हैं. बीज, सामान्य रूप से अक्तूबर में, कभी-कभी दिसम्बर तक भी बोये जाते हैं. शुद्ध फसल की प्राप्ति के लिए बीज छिटकवाँ, एक हेक्टर भूमि में लगभग 16–20 किग्रा. के हिसाब से बोये जाते हैं. मिश्र फसल के रूप मे उगाने पर ड्रिलों द्वारा 4–12 किग्रा. बीज प्रति हेक्टर बोते हैं. यह मात्रा अविमिश्रण के प्रकार तथा सीमा पर निर्भर करती है.

जैसे ही पहली कलिका दिखती है, शीर्षों को खुटक दिया जाता है जिससे शाखाएँ बढ़ें और फूलों तथा बीजों की संख्या मे वृद्धि हो. जब खेती का मुख्य ध्येय रंजकोत्पादन होना है तो पूरे खिले फूलों को मुरझाने से पहले, हर दूसरे या तीसरे दिन इकट्ठा किया जाता है. संचय में विलम्ब करने अथवा फूल खिलने के समय वर्षा होने से रंजक की हानि होती है. जब तेल निकालने के लिए बीज संचय करना होता है तो पौधों को परिपक्व होने पर उखाड़ लिया जाता है और सुखाने के पश्चात् गाह कर बीज निकाले और बरसा कर साफ किए जाते हैं. इस प्रकार निगड़ा बोने पर प्रति हेक्टर 80–120 किग्रा. शुष्क पुष्पक और 400–600 किग्रा. बीज प्राप्त होते हैं. मिश्रित खेती में 100–250 किग्रा. प्रति हेक्टर तक उपज होती है.

रोग तथा नाशकजीव – कुसुम पर प्रभाव डालने वाले रोगों में सबसे विकट रोग मुरझान (म्लानि) है. इसका उत्पादक जीव **स्क्लेरोटिनिया स्क्लेरोटियोरम** (लिब.) डि बैरी है जो अधिक वर्षा वाले सालों में सामान्य होता है. इसके नियंत्रण के लिए ग्रस्त पौधों को इकट्ठा करके नष्ट कर देते हैं और स्क्लेरोटियम को नष्ट करने के लिए खेत में 15 सेंमी. से अधिक गहरा हल चलाया जाता है. **सर्कोस्पोरा कार्थमाई** सुन्दररामन् तथा रामकृष्णन् द्वारा उत्पन्न पर्ण-धब्बा रोग और **फाइटोफ्थोरा पामीवोरा** बटलर द्वारा उत्पन्न पौध-अंगमारी का विवरण कोयम्बतूर से प्राप्त हुआ है. **पक्सीनिया कार्थमाई** (हट्ज़) कार्डा नामक एक पर्ण संक्रामक किट्ट का विवरण भी मिलता है (Joshi, *Mem. Dep. Agric., India, Bot.*, 1924, **13**, 39; Sundararaman & Ramakrishnan, *Agric. J. India*, 1928, **23**, 283; Balkrishnan & Krishnamurthy, *Curr. Sci.*, 1947, **16**, 291; Prasad, *Curr. Sci.*, 1947, **16**, 292),

कुसुम का सबसे विकट नाशकजीव एक प्रकार की फल-मक्खी का मैगट, **आकैन्थियोफिलस हेलियेन्थाई** रॉसी है जो पुष्पकों के लिए काफी हानिकारक है. दक्षिण भारत से **पेरिगीआ कपेन्सिस** गुएरिन नामक एक हरित पर्ण-भक्षी इल्ली की सूचना मिली है जो कभी-कभी बड़ी संख्या में होने पर पौधे का विपत्रण कर देती हैं. नियंत्रण की एक प्रभावशाली रीति लेड आर्सेनेट की फुहार है. सैफ्लावर एफिड, **मैक्रोसिफम जेसियेसी** लिनिग्रस द्वारा महाराष्ट्र के धारवाड तथा बीजापुर में फसल को काफी हानि पहुँचने की सूचना है. एफिड आक्रमण से बचाव के लिये मछली-तेल रोजिन-साबुन, निकोटीन सल्फेट, डी-डी-टी अथवा "गैमेक्सेन" का छिड़काव काफी प्रभावशाली सिद्ध हुआ है (Prithi & Bhatia, *Indian J. Agric. Sci.*, 1940, **10**, 110; Fletcher, 377; Trehan & Halleppanawar, *Curr. Sci.*, 1949, **18**, 211).



चित्र 32 – कार्थमस टिंक्टोरियस के फूल और फल

कुसुम रंजक—कुसुमं पुष्पकों में मुख्यतया दो प्रकार के रंजक पदार्थ होते हैं: कार्थेमिन ($C_{21}H_{22}O_{11}.H_2O$) जो कि सिंदूरी-लाल रंग का और जल में अविलेय होता है, और कुसुमपीत ($C_{16}H_{20}O_{11}$) जो जल में विलेय है. हाल ही में एक तीसरा यौगिक, आइसोकार्थेमिन ($C_{21}H_{22}O_{11}.2H_2O$) पृथक् किया गया है जो रखे रहने पर कार्थेमिन में बदल जाता है. पुष्पकों में कार्थेमिन (ग.बि., 228–230°) 0·3 से 0·6% तक पाया जाता है. इसे रेशम और सूती कपड़ों पर सीधे चेरी लाल रंग से रँगने के लिए प्रयोग में लाते हैं. पीत, अक्रिस्टलीय रंजक द्रव्य का कोई उपयोग नहीं होता और इसकी मात्रा भी काफी (26–36%) होती है. इसे कार्थेमिन से पूर्णतया पृथक् करना आवश्यक होता है, क्योंकि कार्थेमिन को जब रंगने के लिए प्रयुक्त करते हैं तो यदि इसकी थोड़ी-सी भी मात्रा रह जाती है तो उस लाल रंजक की शुद्ध गुलाबी आभा बिगड़ जाती है. कार्थेमिन और आइसोकार्थेमिन दोनों ही ग्लाइको-साइड के रूप में पाये जाते हैं, जो तनु सल्फ्यूरिक अम्ल के साथ गरम करने से ग्लूकोस प्रदान करते हैं (Mayer & Cook, 209).

रंजक निष्कर्षण के लिये, पुष्पकों को सावधानी से इकट्ठा करके छाया में सुखाया जाता है. सुखाने के बाद इन्हें बारम्बार तब तक अम्लमय जल से धोते हैं जब तक जल-विलेय पीत रंजक पदार्थ पूरी तरह निकल नहीं जाता. क्षालन में 3–4 दिन लगते हैं. अवशेष को अंशतः सुखा कर ,बेचने के लिए छोटे केक जैसे साँचों में ढाल देते हैं. कुछ स्थानों पर प्राथमिक क्षालन नहीं किया जाता और सूखे पुष्पकों को रेशेदार पिंड के रूप में लपेट दिया जाता है या चूर्ण बनाकर ऐसे ही बेच दिया जाता है. इस प्रकार का उत्पाद स्थूल तथा कम कीमत वाला होता है. व्यापारिक सैफ्लावर कार्मिन, क्षालित द्रव्य का सोडियम कार्बोनेट विलयन से निष्कर्षण करके तनु अम्लों से अवक्षेपण द्वारा प्राप्त होता है. कार्बोनेट के स्रोत के रूप में सज्जी का प्रयोग करते हैं. सैफ्लावर कार्मिन लेई के रूप में बिकता है. यह रेशम और सूत की रँगाई में काम आता है. इससे लाल, गुलाबी, किरमिजी और सिंदूरी रंग प्राप्त किये जा सकते हैं. रँगी चीजों के रंग प्रकाश और वायु में अस्थायी, और क्षार, क्लोरीन तथा सल्फ्यूरस अम्ल के प्रति संवेदी होते हैं. यह एक दुर्बल रंजक है एक किलोग्राम सूत में, हल्की गुलाबी आभा के लिये 250 ग्रा., गुलाबी आभा के लिए 500 ग्रा. और पूर्ण किरमिजी आभा के लिए 1 किग्रा. रंजक की आवश्यकता होती है. संश्लिष्ट रंजकों के प्रचार होने से सूत एवं रेशम के रंजक के रूप में इसकी उपयोगिता घट गई है किन्तु भारत में अभी भी धर्मानुष्ठानों पर कपड़े रँगने के लिए इसका उपयोग होता है. केक और बिस्किटों के रँगने में भी इसका प्रयोग होता है. खाद्य सामग्री बनाते समय यदि इसका प्रयोग अधिक मात्रा में किया जावे तो यह रेचक होता है. स्टार्च और टैल्क के साथ यह लाली बनाने में काम आता है. इसे खिलौने रँगने के भी काम में लाते हैं. युद्ध से पूर्व सेफ्लावर कार्मिन का, स्ट्रेट्स सेटलमेण्ट्स, हांगकांग, जावा, जापान, और अन्य पूर्वी देशों में काफी निर्यात किया जाता था. यह निर्यात अधिकतर बंगाल से होता था किन्तु 1942 से निर्यात समाप्तप्राय है. 1929 से 1942 तक के निर्यात की राशि एवं मूल्य सारणी 1 में दिए हैं.

कुसुम के बीजों का तेल—बीज तेल महत्वपूर्ण औद्योगिक उत्पाद है. यदि गिरी के ऊपर के सफेद, दृढ़, शृंगी आवरण को हटा कर तेल निकाला जाए तो तेल की कोटि और मूल्य बढ़ते हैं और खली भी महँगी बिकती है. तेल दो प्रकार से निकाला जाता है: (1) बीजों को किसी देशी तेल-प्रेस या घानी में डाल कर शीत-शुष्क दाब द्वारा अथवा (2) उष्ण-शुष्क आसवन द्वारा. दूसरी रीति में बीजों को एक मिट्टी के बर्तन में रख कर इसे वैसे ही मिट्टी के बर्तन के ऊपर जिसके मुँह पर एक छिद्रल प्लेट रखी हो, औंधी रख कर जमीन में गाड़ देते हैं. औंधे बर्तन के चारों ओर ईंधन इकट्ठा करके जला दिया जाता है, जिससे बीज अंशतः भुन जाते हैं और तेल निचले बर्तन में बह जाता है. अन्य देशों में कुसुम-तेल का व्यापारिक उत्पादन द्रवचालित दावक, निष्पीडक और विलायक निष्कर्षण विधियों से किया जाता है.

बीजों में तेल मात्रा 20 से 30% तक होती है. 37 किग्रा. बीजों से लगभग 7 किग्रा. तेल, 12·5 किग्रा. खली और 17·5 किग्रा. भूसी प्राप्त होती है. भूसी विहीन बीज के निष्कर्षण (कार्बन टेट्राक्लोराइड द्वारा) से प्राप्त तेल की विशेषताएँ इस प्रकार हैं: आ. घ.$^{27°}$, 0·9242; $n_D^{27°}$, 1·4742; साबु. मान, 192·0; आयो. मान (विज), 136·2; अम्ल मान, 6·3; ऐसीटिल मान, 13·2; हेक्साब्रोमाइड मान, 0·2; और असाबु. पदार्थ, 1·3%. तेल के घटक वसा-अम्ल इस प्रकार हैं: मिरिस्टिक (लारिक तथा निम्नतर अम्लों सहित), 1·5; पामिटिक, 3; स्टीऐरिक, 1; ऐराकिडिक (लिग्नोसेरिक की रंच मात्रा सहित), 0·5; ओलीक, 33; तथा लिनोलीक, 61.1%. अवयवी ग्लिसराइड हैं—मिरिस्टो-ओलिओ-लिनोलीन, 2; मिरिस्टो डाइ-लिनोलीन, 1; पामिटो-ओलिओ-लिनोलीन, 7; पामिटो-डाइ-लिनोलीन, 4; स्टीऐरो-ओलियो-लिनोलीन, 2; स्टीऐरो-डाइ-लिनोलीन, 1; डाइओलिओलिनोलीन, 15; ओलियो-डाइ-लिनोलीन, 63; ट्राइ-लिनोलीन, 3%. **आक्सीआकेन्था** और **टिंक्टोरियस** से प्राप्त तेलों के संघटन लगभग एक-समान होते हैं. अन्तर केवल इतना ही होता है कि प्रथम में प्रमुख द्रव अम्ल घटक, ओलीक अम्ल है और दूसरे में लिनोलीक अम्ल (Mukerji, 225; Vidyarthi, *J. Indian chem. Soc.*, 1943, **20**, 45).

शीत-निष्पीड़न द्वारा प्राप्त तेल (उपलब्धि, 20%) सुनहरे पीले रंग का होता है. उसके विश्लेषण से जो मान मिले वे हैं: आ.घ.$^{28°}$, 0·9204; $n_D^{25°}$, 1·4740; अम्ल मान, 1·4; साबु. मान, 190·7; आयो. मान (विज), 139·5; ऐसीटिल मान, 15·67; असाबु. पदार्थ, 0·02; तथा आर्द्रता, 0·1%. यह तेल मुख्यतः खाने, प्रकाश करने और साबुन

सारणी 1

अवधि	राशि (टन)	मूल्य (रु.)
1929-30–1933-34 (औसत)	116·0	56,478
1934-35–1938-39 (औसत)	133·3	46,639
1939–40	141·9	68,484
1940–41	124·9	79,710
1941–42	164.4	87,630

बनाने के काम आता है. इससे घी और तिल के तेल में मिलावट भी की जाती है. मैकासर केश तेल के घटक के रूप मे भी यह प्रयुक्त होता है. बम्बई में वाणिज्य के मीठे तेल के उत्पादन हेतु कुसुम बीजों को मूंगफली की गिरी तथा तिल के साथ मिलाकर पेरते हैं (*Indian Soap J.*, 1949–50, **15**, 66).

कुसुम तेल अलसी के तेल से इस बात में भिन्न है कि इसमें अत्यल्प मात्रा में लिनोलेनिक अम्ल पाया जाता है. इस तेल की स्थूलन-दर अलसी के तेल से मुख्यतः तापन की प्रारंभिक अवस्था में कम होती है. किन्तु शुष्ककों की उपस्थिति में कुसुम तेल भी अलसी के तेल की भांति शीघ्र ही सूखता है (Pugsby & Winter, *Rep. Dep. Munition, Aust.*, No. 171, 1947).

यह तेल ताप-संसाधन, परिष्करण और विरंजन के लिए उपयुक्त है. इसमें सूखने का अच्छा गुण है जिससे यह पेण्ट, वार्निश, लिनोलियम और अन्य ऐसे ही उत्पादों में प्रयोग किया जा सकता है. इससे बने पेण्ट और वार्निश, अलसी के तेल की अपेक्षा उत्तम होते हैं क्योंकि वे पीले नहीं पड़ते. जब पेण्ट में स्थायी स्वच्छपन, चमक और परिष्कृति की आवश्यकता हो तब विशेषतया कुसुम तेल का प्रयोग होता है. मौसम सह्यता और स्थायित्व की दृष्टि से अलसी के तेल और कुसुम के तेल दोनों ही से बने पेण्ट और वार्निश और इनैमेल एक जैसे होते हैं. कई कार्बनिक लेपों में कुसुम तेल, अलसी के तेल के स्थान पर प्रयुक्त हो सकता है और कुछ दशाओं में उससे भी उत्तम होता है (Howard & Remington, *Bull. agric. Res. Inst.*, No. 124, 1921; Pugsby & Winter, loc. cit.; *Indian Soap J.*, loc. cit.).

तेल को 300° ताप पर 2 घंटे तक गरम करने के बाद ठंडे पानी में डालने पर एक जिलेटिनी पिंड जम जाता है, जो पोली तेल से बने रोगन जैसा होता है. यह उत्पाद कांच-सीमेण्ट के रूप में, तथा सजावटी पत्थरों और टाइलों के लिए बंधक के रूप में प्लास्टर आफ पेरिस के स्थान पर भी उपयोगी है. जब यह तेल 2½ घंटे तक 307 से 310° ताप पर गरम किया जाता है तो एकाएक बहुलकीकरण होने से एक कठोर, प्रत्यास्थ, ठोस पदार्थ बनता है जो बहुलकीकृत तुंग तेल से इस बात में भिन्न होता है कि यह तारपीन में विलेय होता है और जल-सह वस्त्र बनाने के काम में लाया जा सकता है (Mukerji, loc. cit.; Jamieson, 298).

तप्त शुष्क आसवन द्वारा प्राप्त तेल काला, चिपचिपा और अखाद्य होता है. यह कुओं की रस्सियों और चमड़े की उन वस्तुओं के स्नेहन में प्रयुक्त होता है जो पानी के सम्पर्क में रहती हैं. शीत-प्रक्रम की अपेक्षा इस विधि से 25% अधिक तेल मिलता है.

खली – छिलके रहित बीजों से प्राप्त खली चारे-दाने के काम आती है किन्तु छिलके सहित बीजों से प्राप्त खली खाद के काम आती है (सारणी 2).

खली को शुष्क अवस्था में रखने से न तो फफूंदी लगती है और न ही वह विकृतगंधी होती है. खाद की भांति प्रयोग करने पर भारी भूमि के भौतिक गुणधर्मों में सुधार होता है.

कुसुम के कोमल प्ररोह तरकारी बनाने और सलाद की तरह खाने में प्रयुक्त होते हैं. बीजों को विशेषतया भूनने के बाद खाया जाता है. बीज और खली कुक्कुटों का आहार हैं.

सारणी 2 – कुसुम की खली का संघटन* (%)

	छिलके सहित बीजों से प्राप्त	छिलके रहित बीजों से प्राप्त
पशु खाद्य के लिए :		
आर्द्रता	7·3	8·7
वसा	8·3	10·0
प्रोटीन	28·3	45·4
कार्बोहाइड्रेट	27·3	20·1
रेशे	23·1	8·3
राख	5·7	7·5
खाद के लिए :		
नाइट्रोजन	4·92	7·88
पोटैश	1·23	1.92
फॉस्फोरिक अम्ल	1·44	2·20

*Daji, *Indian Fmg.*, 1943, 4, 554.

इसके फूल, उद्दीपक, शामक और आर्तवजनक हैं. अधिक मात्रा में ये मृदुविरेचक होते हैं. ये खसरा, स्कार्लेटिना और अन्य स्फोटक ज्वरों के उपचार में केसर (**क्रोकस सेटाइवस**) की जगह तथा मिलावट के रूप में प्रयोग किये जाते हैं. बीज मूत्रल और बलवर्धक होते हैं. जला हुआ तेल घावों को भरने और आमवात में प्रयोग किया जाता है (Kirt. & Basu, II, 1429).

Guizotia abyssinica Cass.; *Sclerotinia sclerotiorum* (Lib.) de Bary; *Cercospora carthami* Sundararaman & Ramakrishnan; *Puccinia carthami* (Hutz.) Carda; *Acanthiophilus helianthii* Rossi; *Perigaea capensis* G.; *Crocus sativus*

का. लैनैटस लिनिअस C. lanatus Linn. सैफ्लन थिसल

ले.–का. लानाटूस

Fl. Br. Ind., III, 386.

यह 15–27 सेंमी. ऊँची छोटी बूटी है जो कश्मीर में 1,500 से 1,800 मी. तक की ऊँचाई पर और पश्चिम में अतलांतिक सागर तक फैली पाई जाती है. इसके बीजों से एक फीके पीले रंग का तेल प्राप्त होता है जो गुणधर्मों में कुसुम (**का. टिंक्टोरियस**) के तेल से मिलता-जुलता है. बीजों को पकने से पहले तोड़ लेना चाहिये, क्योंकि पकते समय उनमें तेल की मात्रा कम हो जाती है.

तेल के विश्लेषण से निम्नांकित मान प्राप्त हुए: आ. घ.$^{25°}$, 0·925; $n_D^{25°}$, 1·4731; आयो. मान (विज़), 138; ऐसीटिल मान, 9·5; तथा आर. एम. मान, 0·53. तेल के घटक वसा-अम्ल इस प्रकार हैं: लारिक, मिरिस्टिक तथा निम्नतर अम्ल, 1·3; पामिटिक अम्ल, 7·5; ओलीक अम्ल, 12·4; लिनोलीक अम्ल,

70·4; ऐराकिडिक तथा उच्चतर वसा-अम्ल, 0·5% (Hatt & Troyahn, *J. Coun. sci. industr. Res., Aust.*, 1946, **19**, 86).

यह पौधा स्वेदोत्पादक, ज्वरशामक तथा कृमिनाशक है. बीजों को टर्कियों के खिलाने के लिये काम में लाते हैं (Caius, *J. Bombay nat. Hist. Soc.*, 1940, **41**, 633; *Madras agric. J.*, 1949, **36**, 150).

कार्नेशन – देखिए **डाइऐंथस**

कार्नोवामोम – देखिए **कोथरनीसिया**

कार्पिनस लिनिअस (**बेटुलेसी**) CARPINUS Linn.

ले.—कार्पिनूस

D.E.P., II, 182; Fl. Br. Ind., V, 625.

यह झाड़ियों तथा वृक्षों की लगभग 50 जातियों का एक वंश है जो उत्तरी शीतोष्ण क्षेत्रों में पाया जाता है. दो भारतीय जातियाँ, **का. फैजिनिया** लिंडले और **का. विमिनिया** वालिश एक्स लिंडले हिमालय में 1,200 से 2,100 मी. की ऊँचाई पर पाई जाती हैं. प्रायः ये शोभाकारी वृक्षों के रूप में ही लगाई जाती हैं. इनका कोई आर्थिक महत्व नहीं है (Pearson & Brown, II, 961).

Betulaceae; C. faginea Lindl.; *C. viminea* Wall. ex Lindl.

कार्पेटवीड – देखिए **मॉल्यूगो**

कार्पेसियम लिनिअस (**कम्पोज़िटी**) CARPESIUM Linn.

ले.—कार्पेसिऊम

D.E.P., II, 176; Fl. Br. Ind., III, 301.

यह बूटियों की लगभग 24 जातियों का एक वंश है जो दक्षिणी यूरोप और एशिया के शीतोष्ण तथा उपोष्ण भागों में पाया जाता है. भारत में इसकी 3 जातियाँ पाई जाती हैं.

का. आब्रोटेनोइडीज़ लिनिअस (कश्मीर—वोतियांगिल), कश्मीर से सिक्किम तक 1,500 से 3,000 मी. की ऊँचाई तक पायी जाती है. इसकी जड़ों, पत्तियों तथा बीजों में विरेचक, मूत्रल तथा कृमिहर गुण पाये जाते हैं. **का. सरनूम** लिनिअस हिमालय खासी तथा नीलगिरि की पहाड़ियों में पायी जाती है और इसके गुण भी उपर्युक्त जैसे होते हैं. इस कुल के अन्य अनेक पादपों की तरह **का. सरनूम** की जड़ों में भी इनुलिन पाया जाता है (Caius, *J. Bombay nat. Hist. Soc.*, 1940, **41**, 633; Wehmer, II, 1268).

Compositae; C. abrotanoides Linn.; *C. cernuum* Linn.

कालेंको ऐडेन्सन (**क्रैसुलेसी**) KALANCHOE Adans.

ले.—कालांको

यह सरस झाड़ियों या सुगठित छोटी झाड़ियों का वंश है जो पुरानी दुनिया के उष्णकटिबंधी, विशेषतः अफ्रीका एवं मैडागास्कर में पाया जाता है. भारत में लगभग 11 जातियों के पाये जाने की सूचना है.

भारत में **कालेंको** की अनेक जातियाँ अपने सुन्दर फूलों और पत्तियों के लिए उगाई जाती हैं. इन जातियों के लिए शुष्क, चट्टानी या बलुहे स्थान उपयुक्त होते हैं और ये बगीचों में बाड़ लगाने, गमलों के पौधों की तरह तथा शिलामालाओं में लगाए जाते हैं. ये जातियाँ बीजों या कलमों द्वारा सुगमता से प्रवर्धित होती हैं (Firminger, 529; Gopalaswamiengar, 175, 399).

Crassulaceae

का. इंटीग्रा मेडिकस कुंट्ज़े सिन. **का. स्पैथुलेटा** द कन्दोल; **का. ब्रैसिलिएनसिस** कैम्बेस K. integra (Medic.) Kuntze

ले.—का. इंटेग्रा

D.E.P., IV, 564; Fl. Br. Ind., II, 415; Fl. Malesiana, Ser. I, 4(3), 201, Fig. 2.

हि.—हैंजा, रुँग्रु, तातर.

कुमायूँ—वकलपट्टा, पत्कुआरी; नेपाल—ह्योकेन.

यह एक सीधा, बहुवर्षी, गूदेदार, 30–120 सेंमी. ऊँचा, चौपट तने वाला वृक्ष है जो उष्णकटिबन्धी हिमालय में कश्मीर से भूटान तक, 1,800 मी. की ऊँचाई तक लूसाई पहाड़ियों पर और डेकन में पाया जाता है. पत्तियाँ स्पैचुलाकार, कुंठाग्र, दंतिल, और आधार पर स्फानाकार; फूल पुष्पगुच्छों में लगे लाल से पीले होते हैं.

का. इंटीग्रा अत्यन्त परिवर्तनशील जाति है जिसके अनेक रूप हैं जो केवल वार्गिकी लक्षणों में एक दूसरों से भिन्न होते हैं लेकिन इन लक्षणों के कारण प्रत्येक रूप का विशिष्ट पद है. यह जाति और **का. लैसिनिएटा** देशी औषधि में **ब्रायोफाइलम** जातियों की तरह व्यवहृत होती हैं. इसकी पत्तियाँ बकरियों के लिए विषैली होती हैं और पशु इसे नहीं खाते. कड़वी किस्म की पत्तियों का निचोड़ा हुआ रस कालिक ज्वर रोधी, पौष्टिक तथा रेचक है. पत्तियों में कीटनाशी गुण बताए जाते हैं, और ये जलाकर फोड़ों पर लगाई जाती हैं (Kirt. & Basu, II, 1001; Chopra *et al.*, 437).

K. spathulata DC.; *K. brasiliensis* Cambess; *Bryophyllum* spp.

का. लैसिनिएटा (लिनिअस) द कन्दोल K. laciniata (Linn.) DC.

ले.—का. लासिनिआटा

D.E.P., IV, 562; Fl. Br. Ind., II, 415; Kirt. & Basu, Pl. 406.

स., हि. और बं.—हामसागर; त.—मलाकाल्ली.

बंबई—पर्णबीज, जख्महयात.

यह सीधी, दृढ़, बहुवर्षी बूटी है जो डेकन और दक्षिणी भारत के पहाड़ी क्षेत्रों में 900 मी. की ऊँचाई तक पायी जाती है. पत्तियाँ लंबी, परिवर्तनशील, सरस, तथा गहराई तक दो या तीन बार दीर्घपिच्छाकार; फूल पीले, नारंगी या मैंजेंटा, पुष्पगुच्छी ससीमाक्ष में लगे होते हैं.

यह पौधा देशी चिकित्सा में **ब्रायोफाइलम** जातियों की तरह प्रयुक्त होता है. पत्तियाँ स्तम्भक, और पूतिरोधी होती हैं. पिसी या भुनी पत्तियों की पुल्टिस घावों, कटनों, व्रणों, जहरीले

कीड़ों के दंशों तथा अल्सर आदि के इलाज में लगायी जाती हैं. अतिसार, पेचिश, पथरी और क्षय में इसकी पत्तियों का रस दिया जाता है. मलाया में खाँसी और जुकाम की चिकित्सा में इसकी पत्तियों की पुल्टिस प्रयुक्त होती है; चेचक पर लगाए जाने वाले लोशनों में भी ये पत्तियाँ काम आती हैं (Nadkarni, I, 717; Burkill, II, 1277, Quisumbing, 351–52).

कालेंकोपिन्नेटा– देखिए **ब्रायोफाइलम**

कासमस कैवेनिलिस (**कम्पोज़िटी**) COSMOS Cav.

ले. – कॉसमोस

Bailey, 1947, I, 861.

यह वृटीय शोभाकारी फूलों वाले पौधों की लगभग 34 जातियों का वंश है जो अमरीका तथा पश्चिमी द्वीप समूहों में पाया जाता है. भारत के उद्यानों में गुलाबी फूल वाली **का. बिपिनेटस** कैवेनिलिस तथा नारंगी पीले फूल वाली **का. सल्फ्यूरियस** कैवेनिलिस जातियाँ उगाई जाती हैं. **का. बिपिनेटस** के बीजों से एक सूखने वाला तेल (18·3%) प्राप्त होता है. फूलों में कासमोसीन नामक ग्लाइकोसाइड (ग. बि., 178°), क्वेर्सटिन (ग. बि., 306°) तथा इनासिटाल पाये जाते हैं. **का. सल्फ्यूरियस** के सूखे अर-पुष्पकों के ईथर निष्कर्षण में चमकीला पीला रंजक पदार्थ, कोरियोप्सिन, [ग. बि., 190–95°, (विघटित)] होता है जो परीक्षा के पश्चात् ब्यूटाइन का ग्लाइकोसाइड सिद्ध हुआ है. इस फूल के बिम्ब पुष्पकों एवं विचक्रिल निपत्रों में ल्यूटियोलिन (ग. बि., 329–30°) तथा आइसोक्वेर्सिट्रिन (ग. बि., 217–19°) पाये जाते हैं (Wehmer, II, 1212; *Chem. Abstr.*, 1936, **30**, 725; 1942, **36**, 5818).
Compositae; *C. bipinnatus* Cav.; *C. sulphureus* Cav.

कासीनियम कोलब्रुक (**मेनिस्पर्मेसी**) COSCINIUM Colebr.

ले. – कॉसिनिऊम

यह आरोही झाड़ियों की लगभग 8 जातियों का वंश है जो भारत तथा मलाया में पाई जाती हैं.
Menispermaceae

का. फेनेस्ट्रेटम कोलब्रुक C. fenestratum Colebr.

नकली कालम्बा, हल्दी वृक्ष

ले.–कॉ. फेनेस्ट्राटूम

सं.–दारु हरिद्रा; हि.–झाड़ी हल्दी; म.–झाड़ हलादे; ते.–मानु पसुपु; त. और मल.–मर मंजल; क.–रिसिना.

यह काष्ठमय आरोही है जो दक्षिण भारत, विशेषकर पश्चिमी घाट, नीलगिरि एवं त्रावनकोर, तथा श्रीलंका में पायी जाती हैं. तना बेलनाकार, बाहर से पीलापन लिए भूरा किन्तु अंदर से पीला होता है और लम्बाई में खांडेदार होता है. इसमें गंध नहीं होती है और इसका स्वाद कटु होता है (B.P.C., 260).

भारत तथा श्रीलंका में इस पौधे का तना प्राचीन काल से पीले रंग एवं कटु पौष्टिक के रूप में प्रयुक्त होता रहा है. यूरोप में भी इसने फाल्स कालम्बा तथा ट्री टर्मेरिक के नाम से अपना स्थान बना लिया है. इसे कालम्बा [**जेटोरोराइज़ा पामेटा** (लामार्क) मायर्स] के स्थान पर प्रयुक्त किया जाता है. इसे टिंचर (10 में 1 भाग; खूराक 1/2 से 1 ड्राम तक) अथवा फाँट (20 में 1 भाग; खूराक 4–12 ड्राम) के रूप में दिया जाता है. यह दौर्बल्य, ज्वर तथा मन्दाग्नि के कुछ रूपों में गुणकारी सिद्ध हुआ है. इसमें रोगाणुरोधक गुण भी पाये जाते हैं. घावों एवं व्रणों की मरहम पट्टी में इसका प्रयोग किया जाता है. मलाया में बाणों में लगे विष में भी इसके मिले रहने का उल्लेख है (Nadkarni, 247; Kirt. & Basu, I, 85).

का. फेनेस्ट्रेटम का तना प्रायः **बेरबेरिस** के प्रतिस्थापी के रूप में प्रयुक्त हुआ है किन्तु लकड़ी में बड़ी-बड़ी वाहिनियों के होने, वार्षिक वलयों तथा कोर्टेक्स के नीचे उपस्थित दृढ़ ऊतक के कुंठदन्ती वलय की अनुपस्थिति के कारण इसे तुरन्त पहचाना जा सकता है (B.P.C., 204).

तने से एक प्रकार का पीला रंग प्राप्त होता है जिसके लिए लकड़ी को पहले टुकड़ों में काटा जाता है, फिर पानी में धोकर धान कूटने वाली मशीन में कुचला जाता है और रंग को निचोड़ लिया जाता है. यह रंग अकेले या फिर हल्दी तथा अन्य रंगीन पदार्थों के साथ काम में लाया जाता है.

तने में 3.5% तक बरबेरीन होता है. दूसरे ऐल्कलॉयड, यदि वे हों भी तो उनके गुणों की अभी तक परीक्षा नहीं हुई है. तने में सेरिल ऐल्कोहल, हेप्ट्रिएकोण्टेन, साइटोस्टेराल, सैपोनिन, पामिटिक तथा ओलीक अम्ल, साइटोस्टेराल ग्लूकोसाइड तथा कुछ रेज़िनयम पदार्थों के भी होने का उल्लेख है (*Chem. Abstr.*, 1930, 24; 3859; Varier & Pillai, *Curr. Sci.*, 1943, **12**, 228; Child & Nathanael, ibid., 255).
Jateorhiza palmata (Lam.) Miers.; *Berberis*

कासेरिया जैक्विन (**सैमाइडेसी**) CASEARIA Jacq.

ले.–कासेआरिआ

यह झाडियों और वृक्षों की लगभग 240 जातियों का वंश है जो उष्णकटिबन्धी प्रदेशों में पाया जाता है. इसकी 10 जातियाँ भारत में पाई जाती हैं जिनमें से कुछ ही न्यून आर्थिक महत्व की हैं.
Samydaceae

का. एस्कुलेण्टा रॉक्सबर्ग C. esculenta Roxb.

ले.–का. एस्कूलेण्टा

D.E.P., II, 209; Fl. Br. Ind., II, 592.

म.–मोरी, कुलकुल्ता; त.–कोट्टार-गोवाइ, काकइपिलाई, किलर; क.–दोड्डुनिसे; मल.–वेल्लाकुन्नन, मलमपावट्टा, पन्निमुरंगम.

यह बम्बई से कुर्ग तक, मलाबार और श्रीलंका में पाई जाने वाली झाड़ी अथवा छोटा वृक्ष है. इसके फल खाद्य हैं. पत्तियाँ शोरबा बना कर खाई जाती हैं और ओषधि जल स्नान में प्रयुक्त होती है. जड़ कषाय और रेचक है. इसका काढ़ा मधुमेह और बवासीर के उपचार में काम आता है. जड़ों में एक भूरे-पीले रंग का रेज़िन, टैनिक अम्ल, एक रंजक पदार्थ तथा स्टार्च पाये जाते हैं. छाल में टैनिन तथा कैथार्टिक अम्ल जैसा सक्रिय पदार्थ रहता है (Rama Rao, 182; Drury, 119; Dymock, Warden & Hooper, II, 51; Nadkarni 174).

का. टोमेण्टोसा रॉक्सवर्ग C. tomentosa Roxb

ले.–का. टोमेटोसा

D.E.P., II, 209, Fl. Br. Ind , II, 593.

हिं.–चिल्ला; म–कराई, बोखादे; त.–कडिचाय; ते.–चिलवड्डडी; क.–विलियुविना.

यह सम्पूर्ण भारत मे पाई जाने वाली सामान्य झाडी अथवा छोटा वृक्ष हे. इसकी लकडी कडी होती हे और कघे बनाने के काम मे आती हे. छाल चर्मशोधन के काम आती हे (टैनिन 11%) और खालो को गहरा रँगती हे. यह कमेला चूर्ण (**मैलोटस फिलिपाइनेन्सिस** म्यूलर आव आर्गो) मे अपमिश्रित करने के काम आती हे. इसका स्वाद कडवा होता हे और जलशोफ मे ऊपर से लगाई जाती हे. फल मूत्रल एव मत्स्य-विष की तरह प्रयुक्त होता हे (Lewis, 208; Rama Rao, 182; Kirt. & Basu, II, 1096)

कार्लेरिया की अन्य भारतीय जातियो मे **का. ग्लामेरेटा** रॉक्सवर्ग कुछ महत्व की हे. इसकी लकडी थोडी मात्रा मे चाय की पेटियाँ बनाने के काम आती हे. **का. ग्रेवियोलेंस** का फल मत्स्य-विष होता हे और इसकी लकडी मूर्तियाँ तथा तश्तरी बनाने के काम आती हे (Gamble, 379).

Mallotus philippinensis Muell. Arg., *C glomerata, C. graveolens*

कास्टस लिनिअस (जिंजीबरेसी) COSTUS Linn.

ले.–कास्टूस

इस वश मे उष्ण प्रदेश की वहुवर्षी शोभाकारी वूटियो की लगभग 175 जातियाँ सम्मिलित हैं.

Zingiberaceae

का. स्पेसिओसस* (कोएनिग) स्मिथ C speciosus (Koenig) Sm.

ले.–का. स्पेसिओसूस

D E.P., II, 579, Fl. Br. Ind , VI, 249.

स–केमुका; हिं तथा व–केउ; म–पेन्वा, पुष्करमूल; ते. और क–चगलकोष्ठ

यह प्रकन्दो वाला सामान्य पोधा है जो समस्त भारत मे 1,200 मी. की ऊँचाई तक पाया जाता हे इसकी ऊँचाई 1 2–3 मी. तथा पत्तियाँ वडी ओर भालाकार तथा लगभग 30 सेमी. लम्बी होती है. निपत्र लाल, फूल लम्बे (7 5–10 सेमी), श्वेत पत्र वाले तथा केन्द्र मे पीले होते हैं. यह पौधा बगाल तथा कोकण मे वहुतायत से पाया जाता हे. इसको प्राय: शोभाकारी पौधे के रूप मे उगाया जाता हे. यह उर्वर, नम भूमि मे कुछ-कुछ छाया मे अच्छी तरह वढता हे. प्रवर्धन प्राय तने की कलमो से किया जाता हे. इसके प्रकन्द खाद्य हैं और पकाकर खाये जाते हैं. यह श्लेष्मिक, हल्का कषाय तथा सुगंधहीन होता हे. इसमे पर्याप्त स्टार्च (शुष्क भार का 1/3) होता हे किन्तु अन्य कन्दिल खाद्यो की अपेक्षा इसमे रेशे की मात्रा अधिक होती हैं. भारत के कुछ भागो मे इसे शीरे मे पकाकर परिरक्षित कर लिया जाता है (Bailey, 1947, I, 864; Burkill, I, 671).

इस प्रकद मे रेचक तथा पौष्टिक गुण होते है. जड विशोधक हे. उत्तर प्रदेश मे यह पौष्टिक तथा कृमिहर के रूप मे प्रयोग की जाती हे (Kirt & Basu, IV, 2441).

*साहित्य में यह जाति प्राय सौसुरी लप्पा सी बी क्लार्क से मिला दी गई है. बहुत से देशी नाम इनसे एकदम भिन्न दोनों पौधों के लिए समान रूप से प्रयुक्त होते हैं

कास्मोस्टिग्मा वाइट (अस्क्लेपेडेसी) COSMOSTIGMA Wight

ले.–कॉसमोस्टिग्मा

काष्ठीय आरोहियो की 2 जातियो का यह वश इण्डो-मलाया क्षेत्र मे फैला हे.

Asclepiadaceae

का. रेसीमोसा वाइट C. racemosa Wight

ले.–कॉ. रासेमोसा

Fl. Br. Ind., IV, 46.

म.–शेदवेल, मार्वेल; क.–घराहुगिडा; मल.–वहुवल्ली.

यह एक ऊँचा काष्ठीय आरोही हे जो असम मे तथा कोकण के दक्षिण पश्चिमी घाटो पर पाया जाता हे. इस पोधे की जड़ औषधीय हे. जड 6 2–25 मिमी. गोलाई की भूरी तथा स्टार्ची विभग के कारण खुरदुरी होती हे. यह स्वादहीन होती हे और इससे हल्की *इपेकाकुआना जैसी गंध आती हे.* जड की छाल पित्तवर्धक हे. इसमे कोई रेचक गुण नही हे और ज्वरमय मन्दाग्नि मे लाभकारी सिद्ध हुई हे. फोडो के उपचार मे इसकी पत्तियो का प्रयोग किया जाता हे. फूल मीठे तथा खाद्य होते हैं (Nadkarni, 248, Kirt. & Basu, III, 1634).

किंगियोडेंड्रोन हार्म्स (लेग्युमिनोसी) KINGIODENDRON Harms

ले.–किंगिओडेड्रॉन

यह वृक्षो का छोटा वश हे जो उष्णकटिबधीय एशिया और प्रशान्त भागो मे फैला हुआ हे. इसकी एक जाति भारत मे पाई जाती हे.

Leguminosae

कि. पिन्नेटम (रॉक्सवर्ग) हार्म्स सिन. **हार्डविकिआ पिन्नेटा** रॉक्सवर्ग K. pinnatum (Roxb.) Harms पाइने

ले.–कि पिन्नाटूम

D.E.P , IV, 201; Fl. Br. Ind., II, 270, Kirt. & Basu, Pl. 359.

त.–माडयन साम्प्राणी, कोलाव्यू, कोडापालड; क.–एण्णे, एण्णेमरा; मल–ऊरली, कियाव्यू, कोडापाल्ला; कुर्ग–काउपाइनी, कोलाव्यू.

यह एक विशाल सुन्दर सदाहरित वृक्ष हैं जो 30 मी. की ऊँचाई तथा 4 2 मी. तक के घेरे का होता हे. यह पश्चिमी

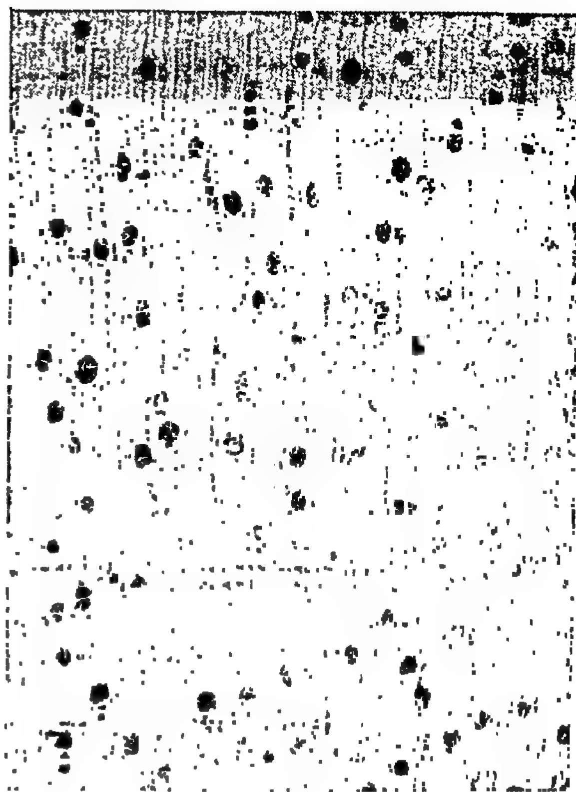
घाट की पहाड़ियों में दक्षिण कनारा से केरल तक पाया जाता है. इसकी छाल गहरे भूरे या हरे रंग की कुछ-कुछ रुक्ष होती है; पत्तियाँ एकान्तर, पिच्छाकार; पर्णक 4–7, आयतरूप अण्डाकार निशिताग्र, 5–10 सेंमी. लम्बे; पुष्प छोटे, सफेद घने गुच्छों के बीच स्थित; और फली अण्डाकार आयताकार, 2·5–5 सेंमी. लम्बी तथा बीजों से पूर्ण होती है.

रसकाष्ठ सामान्यता चौड़ा तथा मैले सफेद रंग का; अन्तःकाष्ठ नील-लोहिताभ लाल से रक्ताभ भूरा, कभी-कभी सारंगी की पीठ जैसे धब्बों से अलंकृत, प्रायः निकले हुए तेल से धब्बेदार, अधिकतर अंतर्ग्रथित दानेदार और मध्यम रुक्ष गठन का होता है. यह मजबूत, कठोर और भारी (वि. घ., 0·55–0·70; भार, 608–720 किग्रा./घमी.) होता है. लकड़ी परिमित रूप से ऋतुकरण के लिये दुस्साध्य है. इसको किसी आच्छादन के नीचे चिना जा सकता है और हरे रूपान्तरण के बाद अनुकूल परिस्थितियों में हवा में सुखाया जा सकता है; 2·5 सेंमी. मोटे तख्तों के भट्टी शुष्कन से अच्छे परिणाम मिले हैं. रसकाष्ठ क्षय, विरंजीकरण और कीट आक्रमण के लिए संवेदनशील है. यदि परिरक्षण के लिए इसकी आवश्यकता न हो तो इसका तिरस्कार कर देना चाहिए. अन्तःकाष्ठ काफी टिकाऊ होता है, रेजिन स्वाभाविक रूप से विपरीत परिस्थितियों में इसकी रक्षा करता है. यह पानी के सम्पर्क में भी टिकाऊ बताया जाता है (Pearson & Brown, I, 414–16; Trotter, 1944, 113).

लकड़ी को काटना या उसे सँवारना कठिन नहीं है. इससे चमकदार सतहें बनाई जा सकती हैं. इस पर अच्छी पालिश आती है परन्तु रेजिन के कारण कुछ समय पश्चात् सज्जा में दोष आने की प्रवृत्ति देखी जाती है. यह खराद के लिए और शायद घूर्णी पृष्ठावरणों के लिए उपयुक्त है. लकड़ी के रूप में इसकी आपेक्षिक उपयुक्तता के मान सागौन के उन्हीं गुणों की प्रतिशतता की तुलना में इस प्रकार हैं: भार, 90; कड़ी के रूप में सामर्थ्य, 80; कड़ी के रूप में कठोरता, 90; खम्भे के रूप में उपयुक्तता, 85; प्रघात प्रतिरोध क्षमता, 90; आकृति स्थिरण क्षमता, 65; अपरूपण, 100; और कठोरता, 85 लकड़ी का कैलोरी मान इस प्रकार है: रसकाष्ठ, 5,113 कै., 9,204 ब्रि.थ.इ.; अंतःकाष्ठ, 5,087 कै., 9,156 ब्रि.थ.इ. [Pearson & Brown, I, 416; Trotter, 1944, 113; Limaye, *Indian For. Rec., N.S., Util.*, 1944, 3 (5), 18; Krishna & Ramaswami, *Indian For. Bull., N.S.*, No. 79, 1932, 18].

पाइने दक्षिण भारत में सुपरिचित है और पश्चिमी तट पर कड़ियों, बेड़ों, पटरियों, छत के तख्तों, फर्श बनाने के सामान और फर्नीचर के लिये प्रयोग में लाया जाता है. यह कार्डाइट खोलों, प्यालों और क्रोकेट गेंदों के लिये प्रयुक्त होता है और बिलियर्ड की मेजों और संकेतक डण्डों के लिये उपयुक्त है. कुछ चुनी हुई लकड़ी सुन्दर सामान और अलंकृत पृष्ठावरण बनाने के लिए प्रयुक्त की जाती है. इसका प्रयोग जहाज बनाने और प्लाईवुड के लिये भी उपयुक्त माना गया है (Pearson & Brown, I, 416; Trotter, 1944, 114; IS : 399, 1952, 30; *Indian For.*, 1952, 78, 274).

चीरा लगाने पर यह वृक्ष एक गहरे या रक्ताभ भूरे रंग का ओलियोरेजिन (बालसम) देता है जो कोपैवा बालसम (कोपैफेरा जातियों) से गंध और स्वाद में मिलता है. 1·5 मी. या इससे



चित्र 33 – किंगियोडेंड्रोन पिन्नेटस – काष्ठ की अनुप्रस्थ काट

अधिक गोलाई के वृक्षों में लगभग 19 मिमी. व्यास का छेद बनाकर चीरा लगाया जाता है. छेद जो पिथ तक पहुँच जाता है, जमीन से 90 सेंमी. ऊपर रखा जाता है और यह पिथ से छाल की ओर झुका रहता है. छेद के नीचे एक होंठ बना दिया जाता है स्राव एक कनस्टर में एकत्र किया जाता है. जब प्रवाह बन्द हो जाता है, तो छिद्र को लकड़ी के टुकड़े से बन्द कर देते हैं दुबारा चीरा लगाने से पहले वृक्ष को 10 वर्ष तक विश्राम करने दिया जाता है. 2·4 मी. घेरे के एक स्वस्थ वृक्ष से लगभग 54·5 लीटर ओलियोरेजिन प्राप्त होता है. अकेले वृक्ष से अधिकतम उपलब्धि 182 लीटर तक बताई गई है. कुछ वृक्ष पतला पदार्थ उत्पन्न करते हैं जब कि कुछ से श्यान ओलियोरेजिन प्राप्त होता है; कभी-कभी ऐसे भी वृक्ष मिले हैं जिनसे ओलियोरेजिन नहीं भी प्राप्त होता (Trotter, 1940, 289).

ओलियोरेजिन के दो नमूनों से निम्नांकित मान प्राप्त हुए: वि.घ.$^{15°}$, 1·008, 0·997; अम्ल मान, 90·2, 84·6; साबु. मान, 112·9, 103·7; ऐसीटिल मान, 79·6, 83·0; और वाष्पशील तेल, 42·7%, 47·0%. यह कोपैवा बालसम से निम्न श्रेणी का होता है और इसकी अधिक व्यापारिक संभावनायें नहीं हैं. यह तारपीन से पतला करने के बाद लकड़ी पर वार्निश करने के काम आता है; परन्तु वार्निश की परत धीरे-धीरे सूख जाती है और अपक्षय से विरंजित हो जाती है. यह सुजाक के इलाज में प्रयुक्त होता है. यह हाथियों के घावों की मरहम पट्टी करने में

प्रयुक्त किया बताया जाता है (Iyer & Sudborough, *J. Indian Inst. Sci.*, 1919, **2**, 29; Kirt. & Basu, II, 882; Rama Rao, 142).

ओलियोरेज़िन के वाष्प आसवन से रंगहीन वाष्पशील तेल मिलता है जिसकी उपलब्धि और संघटन एकत्र करने की ऋतु के अनुसार बदलते हैं. तेल में एक विशिष्ट रेजिनी गन्ध और तीखा कड़वा स्वाद होता है. इसके निम्न स्थिरांक हैं: आ.घ.$^{15°}$, 0·931, 0·908; आ.घ.$^{30.8°}$, 0·9045; $n^{20°}$, 1·500, 1.500; $n^{30.8°}$, 1·4949; $[\alpha]_D$, −1·72°, −7·86°, −9·4°; अम्ल मान, रंच, रंच, अनुपस्थित; साबु. मान, अनुपस्थित; ऐसीटिल मान, 12·6, 1·4, अनुपस्थित; और 95% ऐल्कोहल के 5 या अधिक आयतन में एक आयतन विलेय. तेल का मुख्य अवयव β-कैरियोफाइलीन (84 %) है; α-कैरियोफाइलीन और कैडीनीन सेस्क्विटर्पीन (2 %) भी उपस्थित रहते हैं. इस तेल को आयातित लौंग के तेल के प्रतिस्थापी के रूप में भी प्रयुक्त किया जा सकता है [Gildemeister & Hoffmann, II, 601; Iyer & Sudborough, loc. cit.; Dev & Guha, *J. Indian Chem. Soc.*, 1948, **25**, 495; 1949, **26**, 263; *Rep. ess. Oils Schimmel*, 1949–50, 12; Krishna & Badhwar, *J. sci. industr. Res.*, 1949, 8(2), suppl., 156].

वाष्पशील तेल के आसवन के बाद जो रेजिन बचता है वह गहरे भूरे पिण्डों और हरी पीली पतली परतों में प्राप्त कठोर भंगुर पदार्थ होता है. यह लगभग सम्पूर्ण ऐल्कोहल (90%) में विलेय है और यह तेलों की वार्निश या स्पिरिट बनाने के लिए उपयुक्त है. इसके निम्न लक्षण हैं: ग. विं., 53–56°; वि. घ., 1·088; अम्ल मान, 162·2; और साबु. मान, 193.9 (Iyer & Sudborough, loc. cit.).

Hardwickia pinnata Roxb.; *Copaifera* spp.

किक्सिया डमार्थिया (स्क्रोफुलेरिसी) KICKXIA Dum.

ले.—किक्सिआ

D.E.P., IV, 642; Fl. Br. Ind., IV, 251; Kirt. & Basu, Pl. 692.

यह झाड़ियों का एक लघु वंश है जो स्पेन, उत्तर-पश्चिमी अफ्रीका से लेकर अफगानिस्तान एवं भारत तक के भूभाग में पाया जाता है. भारत में इसकी दो जातियाँ पायी जाती हैं.

कि. रैमोसिस्सिमा (वालिश) जैकेन सिन. **लिनेरिया रैमोसिस्सिमा** वालिश (गु.—भिटगा-लोडी, कनोर्डी) अनेक सूत्राकार शाखाओं, झिल्लीदार पत्तियों तथा पीले पुष्पों से युक्त बहुवर्षी झाड़ी है. यह भारत-भर में दीवारों पर हिमालय के पथरीले एवं चट्टानी स्थानों में 2,100 मी. की ऊँचाई तक पायी जाती है. कहा जाता है कि यह मधुमेह के उपचार में ओषधि के रूप में प्रयुक्त होती है (Pennell, 59; Santapau, *J. Bombay nat. Hist. Soc.*, 1950–51, 49, 26; Kirt. & Basu, III, 1809).

कि. इंकाना (वालिश) पेनेल सिन. **लिनेरिया कैबुलिका** बेंथम, कि. इंकाना वालिश एक बहुवर्षी है जो मध्य एवं पश्चिमी हिमालय में कश्मीर एवं नेपाल तक 2,400 मी. की ऊँचाई तक तथा पंजाब, बिहार एवं महाराष्ट्र में पायी जाती है. कहा जाता है कि यह झाड़ी पशुओं और मनुष्यों के लिए विषैली है (Chopra *et al.*, 47).

Scrophulariaceae; *K. ramosissima* (Wall.) Janchen; *Linaria ramosissima* Wall.; *K. incana* (Wall.) Pennell; *Linaria cabulica* Benth.; *L. incana* Wall.

किगेलिया द कन्दोल (बिग्नोनिएसी) KIGELIA DC.

ले.—किगेलिआ

यह अफ्रीका के मूलवासी वृक्षों का लघु वंश है. इसकी एक जाति भारत में प्रविष्ट की गयी है.

Bignoniaceae

कि. पिन्नेटा द कन्दोल K. pinnata DC. कामन सासेज ट्री

ले.—कि. पिन्नाटा

Haines, IV, 660; Benthall, 347.

यह एक मध्यम आकार का, शीघ्र बढ़ने वाला, छोटे तने एवं लम्बी टेढ़ी शाखाओं से युक्त विस्तारी वृक्ष है जो भारत के अनेक भागों में सजावट तथा सड़कों के किनारे लगाने के लिये प्रयुक्त होता है. वृक्ष की छाल धूसर भूरी, रुक्ष; पत्तियाँ विषम पक्षाकार; पर्णक 7–9, दीर्घवृत्तीय आयताकार, या अंडाकार,



चित्र 34 – किगेलिया पिन्नेटा-पुष्पित और फलित शाखायें

पूर्ण या आरावत्, 75–150 सेमी. लम्बे, फूल गहरे चाकलेटी लाल रंग के, लम्बे लटकते हुए पुष्पगुच्छों में लगे, फल कद्दू के समान 45 सेमी. लम्बे × 12.5 सेमी. व्यास के, 2.1 मी. लंबे रस्से के समान पेंडुलम से लटके, बीज अनेक, रेशेदार गूदे से बँधे रहते हैं. भारत में उपजाए जाने वाले इस पौधे और **कि. अफ्रीकाना** बेंथम तथा **कि. इथियोपिका** डेकैज्ने की पहचान और पर्यायक्रम के संबंध में पर्याप्त मतभेद है.

यह पौधा गहरी भुरभुरी मिट्टी और ठंडे स्थानों में, विशेष कर तालाबों के किनारों पर, बढ़ता है लेकिन जहाँ की अवमृदा कठोर या उपजाऊ होती है वहाँ यह पौधा बौना रहता है. वर्षाकाल में इसका प्रवर्धन, बीजों के द्वारा सुगमता से होता है. कलमों के द्वारा इसके प्रवर्धन का प्रयास किया गया है कठोर लकड़ी की 22.5 सेमी. लंबी × 1.25 सेमी. मोटी कलम को β-इंडोलिल ऐसीटिक अम्ल के जलीय विलयन (2 अंश प्रति लाख) से 12 घंटों तक उपचारित करने पर शीघ्रता से जड़ निकलती है. इसे रोपने के लिए 12–15 मी की दूरी पर गड्ढे खोदने चाहिए. यह पौधा वर्ष में दो बार अपनी पत्तियों को गिराता है परन्तु यह कभी भी बिल्कुल पर्णहीन नहीं होता. वृक्ष को सीधा रखने के लिए उसकी काफी छँटाई करनी होती है (Cameron, 213, Firminger, 410; Colthurst, 95, Gamble, 517, Pratap Singh, *Sci. & Cult.*, 1955–56, 21, 737).

K. africana Benth ; *K. aethiopica* Decne.

किडली बीन – देखिए **फासिओलस**

कित्वुल – देखिए **केरिओटा**

किनो – देखिए **ब्यूटिया, यूकैलिप्टस, नीमा, टेरोकार्पस**

किर्गेनेलिया जसू (यूफोर्बिएसी) KIRGANELIA Juss.

ले–किर्गानेलिआ

यह छोटे वृक्षों या झाड़ियों का एक लघु वंश है जो अफ्रीका से चीन तक सम्पूर्ण उष्णकटिबन्ध में पाया जाता है. इसकी एक जाति भारत में पाई गई है.

Euphorbiaceae

***कि. रेटिकुलेटा (पोएरेट) बैलान सिन. फाइलेन्थस रेटिकुलेटस पोएरेट** K. reticulata (Poir.) Baill.

ले.–कि. रेटिकूलाटा

D.E.P., VI (1), 223; C.P., 887; Fl. Br. Ind., V, 288; Kirt. & Basu, Pl. 857.

सं–कृष्ण-कबोजी, हिं–पनजुली, माखी, बिनौला; बं–पनजुली; गु.–दातवन; म–पावन, ते–नालापुली, नाला-पुरुगुडु, पाण्टी-वाराननल्यू पुलिसर; त–अविरजी, कारुनेली कारुप्पुपिलजी, नीरपुल, काट्टुकिलानेली, क–अनाममुल, चिप्पु-लिनेलु, हूली वल्ली, कारेसुली, सन्नाहोगेसोप्पु; मल.–काट्निरुरी, किलानेली, नीरनली; उ–जनडाकी

पंजाब–पंजुली; दिल्ली–नीलवारी, मक्की; राजस्थान–कावोनन; असम–अमलकी.

यह एक विशाल विकीर्ण या अधोआरोही 1.5–4.5 मी ऊँची झाड़ी है जो लगभग सम्पूर्ण उष्णकटिबन्धीय भारत, खासी और जयन्तिया की पहाड़ियों में 1,500–1,800 मी· की ऊँचाई तक और अण्डमान द्वीपों में पाई जाती है. इसकी पत्तियाँ दीर्घवृत्तीय से लेकर आयताकार या अधोमुख अण्डाकार; पुष्प एकलिंगी, कक्षीय: नर 2–6 के गुच्छों में, मादा एकल; फल गूदेदार, अर्ध गोलाकार, 5 मिमी. व्यास के पकने पर नील-लोहित काले रंग के और बीज 8–16 अनियमित त्रिकोणों में पाये जाते हैं.

यह पौधा नदी के किनारों की कम नमी वाली भूमियों पर सिंचाई के जलमार्गों या बेकार स्थानों पर सामान्य रूप से उगता है; कहीं-कहीं झाड़ियों पर चढ़ता पाया जाता है. यह अन्य झाड़ियों के साथ मिलकर एक प्रभावशाली बाड़ बना लेता है और लगभग सारे वर्ष फूलता रहता है, यह जनवरी और फरवरी के बीच प्रायः पत्तियों से रहित हो जाता है (Brandis, 570; Haines, II, 129).

पौधे की पत्तियाँ मूत्रल और शीतलता प्रदायक समझी जाती हैं. उनमें टैनिक अम्ल रहता है, किन्तु कोई ऐल्कलॉयड नहीं पाया जाता. इन पत्तियों का रस कपूर और कबाबचीनी (**पाइपर कुबेबा**) के साथ रक्त निकलते हुए मसूड़ों के लिए प्रयुक्त किया जाता है; यह बच्चों के दस्त की बीमारी में भी काम आता है पूर्वी अफ्रीका में पिसी हुई पत्तियाँ घावों, फफोलों, फोड़ों को पकाने और त्वचा पर रगड़ने के काम में लाई जाती हैं. इण्डो-चीन में सारा पौधा चेचक और सिफलिस के इलाज में प्रयुक्त होता है. फल कषाय होता है और सूजन और रक्त की बीमारियों में लाभदायक होता है. जड़ का काढ़ा बच्चों की खाँसी, नजला और दमा के उपचार में दिया जाता है. इसकी छाल हल्के मीठे स्वाद वाली होती है और रूपान्तरक, क्षीणकारी, कषाय और मूत्रल समझी जाती है. घाना (गोल्ड कोस्ट) में इसके तने का रस आँख उठने पर लगाया जाता है (Kirt. & Basu, III, 2219–20, Dymock, Warden & Hooper, III, 265, Rama Rao, 355, Quisumbing, 528, Caius, *J. Bombay nat. Hist. Soc.*, 1938–39, 40, 305).

पूर्वी अफ्रीका में इसका फल दुष्काल में खाया जाता है. फिलिपीन्स में इसके फलों से स्याही तैयार की जाती है तमिलनाडु में इसकी जड़ लाल रंजक के रूप में प्रयुक्त की जाती है. उत्तरी नाइजीरिया में इसके तने शंक्वाकार झोंपड़ियों की छतों के बनाने में प्रयुक्त किये जाते हैं; वे टोकरियों के बनाने और दातून के रूप में भी प्रयुक्त किये जाते हैं. लकड़ी कठोर, रक्ताभ या धूसर श्वेत है; पूर्वी अफ्रीका में कुछ आदिम जातियाँ इसको अनाज निकालने के मूसलों के रूप में काम लाती हैं लकड़ी की राख **डाइआस्पारोस एम्ब्रिओप्टेरिस** के सरेस के साथ नावों का फर्श बनाने के काम आती है (Dalziel, 158; Brown, III, 90; Quisumbing, 528, Rama Rao, 355, Gamble, 599).

Phyllanthus reticulatus Poir., *Piper cubeba*, *Diospyros embryopteris*

---

* ऐल्स्टन के अनुसार (Trimen's Flora of Ceylon, suppl, 893, 259) इस पौधे का सही नाम किर्गेनीलिया लीनिएटा (विल्डेनो) ऐल्सटन है

कीट और कीटनाशकजीव [संघ आर्थ्रोपोडा, वर्ग इन्सेक्टा (हेक्सापोडा)] INSECTS & INSECT PESTS

विषय-वस्तु

सामान्य लक्षण तथा वितरण

इस समय पृथ्वी पर प्राणियों में, सर्व प्रधान समूह, कीटों का है. जातियों के रूप में तथा व्यक्तिगत दृष्टि से ये शेष प्राणि जगत की समस्त संयुक्त संख्या से भी अधिक हैं. अब तक दस लाख से भी अधिक कीटों की जातियों का नामकरण हो चुका है और ऐसा विश्वास किया जाता है कि इनसे कहीं अधिक जातियों का नामकरण होना अभी शेष है. संभव है कि भूवैज्ञानिक समय में कीटों की अधिक जातियाँ थीं परन्तु अब उनमें से बहुत-सी नष्ट हो गयी है. नष्ट हुई जातियों का कुछ अनुमान इस तथ्य से लगाया जा सकता है कि फॉसिल कीटों की 12,000 जातियाँ ज्ञात है और यह संख्या कीटों की दुर्बल शरीर रचना को देखते हुए अत्यधिक है.

भारत में संस्कृत के प्राचीन साहित्य-ग्रन्थों में कीटों तथा मानवीय अर्थ-व्यवस्था में उनके महत्वपूर्ण कार्य सम्बन्धी बहुत से संदर्भ मिलते है. इस साहित्य में परिचित कीटों, जैसे मधुमक्खी (मधु-मक्षिका), चीटी (पिपीलिका), **जाइलोकोपा** तथा **बाम्बस** (भ्रमर) की जातियों के अतिरिक्त मक्खी, हार्नेट, बर्र, पतंगे, जुगनू आदि का विवरण मिलता है. इसी प्रकार लाख और रेशम के कीट बहुत प्राचीन काल से ज्ञात हैं.

कीट वायु में श्वासलेने वाले आर्थ्रोपोड (संधिपाद प्राणी) हैं जिनका शरीर स्पष्टतः तीन भागों में अर्थात् सिर, वक्ष तथा उदर में बँटा होता है. ये अन्य वायु-श्वासी संधिपाद प्राणियों से, जैसे बिच्छू, मकड़ी, माइट, टिक, सेंटीपीड तथा मिलीपीड से भिन्न है क्योंकि इनमें एकल युग्म शृंगिका, युग्मित संयुक्त नेत्र, पादों के तीन युग्म होते हैं जो वक्ष तक सीमित रहते हैं तथा उनमें दो युग्म (या कभी-कभी एक युग्म) पंख होते हैं. चमगादड़ तथा अन्य पक्षियों को छोड़कर कीट ही ऐसे प्राणी हैं जिनमें उड़ने की क्षमता होती है. ये आकार में काफी भिन्न होते हैं. भारतीय **माइमर** की भाँति कुछ कीट जो विभिन्न जलीय कीटों के अंडों में अंडे देते हैं, 0.25 मिमी. से अधिक लम्बे नहीं होते. अन्य कुछ छोटे स्तनियों से भी लम्बे हो सकते हैं. मध्य ऊपरी कार्बनी युग में संसार के बहुत से भागों में पाये जाने वाले, फासिल ड्रैगन फ्लाई, **मेगान्यूरा** के पंखों का विस्तार 700 मिमी. था; कुछ कीट द्युतिहीन और हल्के रंग के और कुछ बहुत अधिक चमकदार रंगों के, पीले, नारंगी, लाल और नीले से लेकर विभिन्न मिले हुये रंगों के होते हैं तथा प्रायः रंगदीप्त भी होते हैं. साधारण कीटों में अधिकांश सुन्दर वर्णों और चिह्नों वाले होते हैं. कीटों में बहुत जटिल ज्ञानेन्द्रियाँ होती हैं. उनके लिंग भिन्न होते हैं और द्विरूपता (लिंग विभेदन) प्रायः व्यक्त रहती है. अधिकतर कीट अंडज होते हैं. बहुत-सी जातियाँ बिना अंडा दिये हुए लारवा देती हैं. उन्हें जरायुज कहते हैं. अनिषेक-जनन (बिना निषेचन के जनन) और लारवा और प्यूपा से उत्पत्ति भी कीटों में होती है. कई जातियों में बहुभ्रूणता (एक अंडे से दो या अधिक लारवों का जनन) का उल्लेख हुआ है, उनमें से कुछ भारत में पायी जाती हैं. उनका विकास कायांतरण द्वारा होता है.

सबसे पहले के कीट सामान्य रूप से जलस्थल चर थे और जल में अधिक काल तक लारवा-जीवन बिताते थे तथा वायु में उनका लैंगिक-परिपक्व वयस्क जीवन काल कम होता था. आजकल के कीटों की बड़ी संख्या विशेष रूप से स्थलीय है परन्तु उनमें से बहुतों ने जलीय जीवन को ग्रहण कर लिया है. पृथ्वी पर जहाँ भी जीवन सम्भव है, वहाँ पर सर्वत्र कीट पाये जाते हैं. ये उष्णकटिबन्ध और शीतोष्ण प्रदेशों में बहुतायत से तथा आर्कटिक क्षेत्र की बर्फ में भी साधारणतः पाये जाते है. यह गर्म तथा गंधक स्रोतों में, गहरे कूपों तथा गुफाओं, हिम नदी और संसार के ऊँचे पहाड़ों के बर्फीले मैदानों में पाये जाते हैं. बहुत से तो पौधों तथा प्राणियों पर, जिनमें कीट भी सम्मिलित हैं, परजीवी हैं. चींटी, मधु-मक्षिका तथा दीमक जैसे कुछ कीट सामाजिक कीट है जो जटिल कालोनी में रहते हैं और बहु-रूपी जातियों में पाये जाते हैं.

कीट चलने, दौड़ने, चढ़ने, छेदने, कूदने, जल पर फिसलने और तैरने तथा उसमें गोता लगाने में सक्षम हैं. पंख से वे शीघ्र आगे उड़ सकते है, तुरन्त गति रोक सकते है, पीछे या बगल में उड सकते हैं अथवा वायु में रुके रह सकते हैं. भूमि से वे सीधे ऊपर उड़ सकते हैं और कुछ तो उड़ान में आश्चर्यजनक गति प्राप्त कर लेते हैं. उनकी सामर्थ्य तथा सहनशीलता चमत्कारिक है. उदाहरण स्वरूप, भारतीय **ल्यूकैनस** जाति के स्टैगहार्न भृंग अपने से लगभग सौ गुनी भारी वस्तु को अपनी लम्बाई से बीस गुनी दूरी बिना थके आधे घंटे तक ले जा सकते है. एक मिलीमीटर से भी छोटी टाँगों से एक साधारण पिस्सू 33 सेंमी. की क्षैतिज दूरी तथा 20 सेंमी. ऊँचाई तक कूद सकता है.

कीट सचमुच सर्वाहारी हैं. उनका भोजन हर प्रकार का जीवित या मृतक कार्बनिक पदार्थ है. उनसे कुछ भी अछूता नहीं बचा, यहाँ तक कि वे दूसरे कीटों का मल भी खा जाते हैं.

कीटों में जनन की आश्चर्यजनक शक्ति होती है. बड़ी संख्या में अंडे देते हैं इसलिये इनका गुणन अत्यन्त तीव्र गति से होता है. कहा जाता है कि अनुकूल परिस्थितियों में साधारण घरेलू

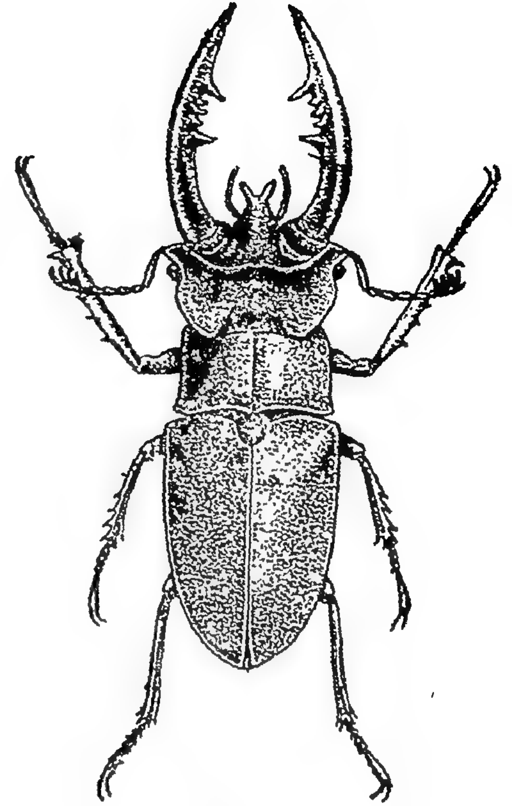
मक्खी का एक जोड़ा 6 मास में मक्खियों की खरबों की संख्या में संतति उत्पन्न कर सकता है.

कीटों के अनगिनित शत्रु हैं और वे बहुत से घातक रोगों, जीवाणुओं, कवकों, प्रोटोजोओं, कृमियों और विभिन्न प्रकार के वाइरसों द्वारा नष्ट हो जाते हैं. कीट-भक्षी पादप जैसे, सनड्यूज (**ड्रासेरा** जातियाँ) और ब्लैडरवर्टस (**यूट्रीकुलेरिया** जातियाँ) बहुत से कीटों को नष्ट कर देते हैं. मछलो, मेंढ़क, छिपकली, पक्षी, कृन्तक, पैंगोलिन तथा बहुत से दूसरे स्तनी कीटभक्षी भोजन के लिए कीटों का शिकार करते हैं. कीटों के सबसे बुरे शत्रु कीट स्वयं हैं. उनके प्रत्येक विकास पद पर कीट परभक्षियों तथा परजीवियों की एक या अधिक जातियाँ हमला करती रहती हैं. यदि ऐसा न होता तो कीटों की संख्या इतनी बढ़ जाती कि पृथ्वी पर उनका पूरा-पूरा साम्राज्य बन जाता.

शरीर की संरचना

कीटों के शरीर का गठन बड़ा विचित्र होता है क्योंकि उसकी संरचना में न्यूनतम सामग्री का संयोग, अधिकतम यांत्रिकी क्षमता, ठोसपन, कंकाल में दृढ़ता तथा सामर्थ्य, अत्यन्त लचीलापन, विभिन्न भागों के अधिकाधिक स्वतंत्रता से घूम सकने की क्षमता और सामान्य सुघट्यता पाई जाती है. ये विशेषतायें कुछ तो शरीर के लघु होने के कारण तथा कुछ बहिः कंकाल के कारण पाई जाती हैं. कीटों में हड्डियाँ नहीं पाई जातीं परन्तु उनके शरीर का अध्यावरण जो स्वयं कठोर प्लेटों (स्क्लेराइट) से झिल्लो द्वारा जुड़ा रहता है, प्रभावी बाह्य कवच का काम करता है. अध्यावरण क्यूटिकिल का बना होता है जिसका स्राव भ्रूण के बाह्य त्वचा से प्राप्त अवस्त्वचा द्वारा होता है. रासायनिक दृष्टि से क्यूटिकिल एक संकीर्ण प्रोटीन, काइटिन-आर्थोपोडिन, के पटलित स्तरों का बना होता है. अध्यावरण पर बाह्य क्यूटिकिली प्रवर्ध जैसे बाल, शल्क और शूल होते है तथा वह भीतर से कटक से दृढ़ीकृत होता है. असंख्य ग्रंथियाँ भी पाई जाती है जो मोम, गंध, रेजिन, तन्तुओं तथा निर्मोचन द्रवों का स्रवण करती हैं. कीट के शरीर के ऊपर अप्रत्यास्थ क्यूटिकिल के बार-बार संचित होते रहने से उसका आकार सीमित रहता है और बढ़ने नहीं पाता जिसमें कीट को अपने सामान्य वयस्क आकार में आने के लिये अपरिपक्व अवस्था में समय-समय पर निर्मोक होना पड़ता है. अध्यावरण में मोम का जलसह पतला आवरण होता है जो शरीर के द्रवों को सूखने से रोकता है. इसी अध्यावरण पर ही रंग रहता है. कीटों के विभिन्न रंगों को दो समूहों में विभाजित किया जा सकता है: संरचनात्मक तथा वर्णकीय. अध्यावरण की छोटी संरचना में कुछ विशेषताओं के कारण कीटों के संरचनात्मक रंग, अपवर्तन और प्रकाश विकीर्णन, परावर्तन, विवर्तन प्रभाव के कारण होते हैं. इसके विपरीत वर्णकीय रंग कुछ रासायनिक पदार्थों, जैसे क्लोरोफिल तथा मेलानिन, के कारण होते हैं.

अध्यावरण एक दूसरे के पीछे प्रारूपिक वलय बनाता है जो झिल्लीदार तहों से अलग रहते है जिससे कीट का शरीर विभाजित हो जाता है. कीट का यह विभाजन केवल बाह्यतः होता है और शरीर की गुहिका अविभाजित रहती है. प्रत्येक खण्ड प्रारूपिक ढंग से पृष्ठीय पृष्ठक (टरगम) तथा अधर स्टरनम का बना होता है जो पार्श्व से प्यूरल झिल्ली द्वारा जुड़ा रहता है. ये खण्ड विषमांगी होते हैं और शरीर के तीन भागों की रचना करने के लिए कभी घटते, बढ़ते और समूहित होते अथवा रूपांतरित होते रहते है. सिर छः खण्डों का बना होता है जो एक दूसरे से अचल रूप से जुड़े तथा रूपांतरित रहते हैं. सिर में मुँह के भाग, शृंगिका, यौगिक नेत्र तथा मस्तिष्क होते हैं. कुछ कीटों का सिर बड़ा इसलिये नहीं होता कि उनके मस्तिष्क का आकार बड़ा होता है वरन् ऐसा शक्तिशाली जबड़ों की मांस-पेशियों या द्रव पदार्थ पीने वाले चूपक पम्प के कारण होता है. वक्ष (थोरेक्स) वह केन्द्र है जो कीट को भूमि पर चलाने या हवा में उड़ाने के लिए उत्तरदायी है और यह तीन खण्डों का बना होता है: प्रोथोरेक्स, मेजोथोरेक्स, तथा मेटाथोरेक्स. इन खण्डों के आकार का अनुपात अत्यन्त परिवर्तनशील है. कीटों के पैर थोरेक्स में होते है जो चलने, दौड़ने, चढ़ने, कूदने, खोदने, तन्तुओं को खुरचने या फाड़ने, मोम को ढालने, तैरने, शिकार पकड़ने, जल सतह पर चलने, पोषी जानवरों के परों या बालों पर चिपटने तथा उड़ान के समय भार ले जाने में काम आते है. लम्बी शृंगिका वाले फुदक्कों के कर्णपट्टी अंग अगले पैरों पर होते हैं. बहुत से कीटों में पैरों पर विशेष कंघे होते है जो पंखों, शृंगिकाओं और शरीर के दूसरे भागों को साफ करने में काम आते है. पंख मध्यवक्ष (मेजोथोरेक्स) तथा पश्चवक्ष (मेटाथोरेक्स) पर होते हैं किन्तु आज के कीटों में वे अग्रवक्ष (प्रोथोरेक्स) पर नहीं पाये जाते. कीटों के पंख वक्ष के पृष्टक



चित्र 35 – स्टैगहार्न भृंग (ल्यूकैनस जाति) नर का असली आकार

खण्ड (टरगाइट) के बढ़े हुए रूप हैं जो शिराओं द्वारा प्रबलित हैं. क्रियात्मक पंख केवल वयस्कों में होते ह. पंखों के आकार तथा बनावट में काफी भिन्नता होती हैं. अग्र पंख छोटे आकार के और कभी-कभी चर्मपत्र अथवा काँटेदार केस के रूप में होते हैं और उड़ने के काम में नहीं आते परन्तु ये झिल्लीदार पश्च पंखों के लिए संरक्षक का काम करते हैं. पश्च पंख बड़े और उड़ने में सहायक होते हैं. पंखों पर छोटे-छोटे बाल और शल्क होते हैं और उन पर विभिन्न रूप की डिजाइनें बनी होती हैं.

कीटों का उदर शरीर का सबसे लम्बा भाग होता है. यह प्रायः पंखों से ढका रहता है. युग्मित उपांगों की अनुपस्थिति के कारण यह सिर तथा वक्ष से भिन्न होता है. अंतरंग भाग जैसे आहारनलिका का बड़ा भाग, हृदय, उत्सर्जक और परिसंचारी अंग तथा जननांग उदर के अन्दर और नर और मादा के बाह्य जननांग छिद्र तथा अंडा देने या मैथुन के लिए अंड निक्षेपक और आलिंगका भी उदर के सिरे पर होते हैं.

मुखांग अंतर्ग्रहण अंगों का काम करते हैं, और उसमें जबड़े के तीन जोड़े : दंशन मैंडिब्रिल्स, धारक मैक्सिली तथा नीचे के होंठ या लेबियम से संयुक्त द्वितीय मैक्सिली होते हैं. इसके अलावा अग्र होंठ, लेब्रम, और अंतः हाइपोफैरिंक्स, और ऐपीफैरिंक्स भी जुड़े रहते हैं.

कीट विभिन्न विधियों से निर्वाह करते हैं जो अधिकांशतः उनके खाद्य की प्रकृति पर निर्भर करती हैं. फलतः विभिन्न कीटों के मुखांग परिवर्धित होते हैं जिनमें निम्नलिखित मुख्य प्रकार सम्मिलित हैं : दंशन और चर्वण, रेतन और चूषण, बेधन और चूषण, स्पंजी, साइफनी, चर्वण और लेहन. टिड्डों तथा दीमक में दंशन और चर्वण प्रकार के मुखांग होते हैं. थ्रिप्स में रेतन-चूषण प्रकार के मुखांग होते हैं जिसमें दाँया मेण्डिब्रिल छोटा और बाँया मैण्डिबिल मैक्सिला तथा हाइपोफैरिंक्स लम्बे और शंकुरूपी सिर से एक रंध्र द्वारा बाहर निकलते हैं. बेधन-चूषण प्रकार के मुखांग साधारण खटमलों जैसे विभिन्न कीटों में होते हैं. इसमें लेब्रम और लेबियम बढ़ कर चोंच या रोस्ट्रम बनाते हैं जिसमें लम्बी शूच्याकार स्टाइलेट होती हैं जो परिवर्द्धित मैण्डिबिल तथा मैक्सिला की लैसीनिया हैं. मैक्सिलीय स्टाइलेट खाद्य प्रणाली बनाते हैं. साधारण घरेलू मक्खी के मुखांग स्पंजी प्रकार के विशिष्ट उदाहरण हैं. यहाँ पर लेबियम का परिवर्धन एक नर्म रोस्ट्रम में होता है जिसका अंत लेबला वाले हास्टेलम में होता है. लैबरल पृष्ठ पर कथित कूट-श्वास नली के खाँचे बनते हैं. कीट नम पृष्ठों से द्रव को सोख लेते हैं. तितलियों में जो साइफनी मुखांग होता है उसमें लम्बा कुंडलित शुंड होता है जो मैक्सिला के बढ़े हुए गैलिया का बना होता है. इसमें मैण्डिबिल नहीं होते. शुंड की नोक पुष्पों के मकरंदों की त्वचा को बेधने तथा गैलियों के बीच बनी हुई प्रणाली द्वारा द्रव चूसने योग्य होती है. चर्वण-लेहन मुखांग मधु-मक्खी की विशेषता है. मैण्डिबिल छोटे तथा दंतहीन होते हैं. मैक्सिला की गैलिया तलवार जैसी बढ़ जाती है जो पुष्पों के मकरंदों को बेधने में सहायक होती है. लेबियम का ग्लोसा बढ़ कर जीभ बन जाता है जिससे मधुमक्खी मकरंद चाटती है.

विकास

कीटों के अंडों के आकार, आकृति तथा चिह्न परिवर्तनशील होते हैं. ये सामान्यतः सीधे खाद्य पर या भावी लारवा के खाद्य के आसपास निक्षेपित होते हैं. कीट बड़ी संख्या में अंडे देते हैं. कुछ जातियाँ तो 2,000–3,000 अंडे तक प्रति दिन देती हैं और इसी दर से वे सप्ताहों या वर्षों तक अंडे देती रहती हैं. रानी दीमक अपने जीवन काल में दस लाख से अधिक अंडे देती है. कभी-कभी मादा अपने जीवन में केवल एक निषेचित अंडा देती है जैसे कि एफिड.

अंडों में पीतक अधिक होता है जो प्रोटोप्लाज्म के परिधीय द्रव्य में केन्द्रित रहता है. युग्मनज-केन्द्रक के खण्डन से विकास आरम्भ होता है और भ्रूणीय विकास के पश्चात् वयस्क सदैव अंडों से उत्पन्न नहीं होता परन्तु विभिन्न प्रकार के लारवा निकलते हैं जिनका पोषण और कायांतरण लैंगिक परिपक्व वयस्क के निकलने से पहले ही हो जाता है. कुछ स्थितियों में अंडे से निकलने पर लारवा अधिक विकसित अवस्था में होता है तथा उसमें अल्प विकसित पंख भी होते हैं. ऐसी स्थिति में कायांतरण बहुत कम होता है और कीटों का वर्गीकरण हेटरोमेटाबोला में किया जाता है. दूसरी स्थिति में लारवा अंडज उत्पत्ति में अत्यन्त अपरिपक्व अवस्था में होता है. तब सपक्ष वयस्क निकलने से पहले कोषावस्था स्पष्ट होती है. ऐसे कीटों में कायांतरण परिपूर्ण होता है और उनको होलोमेटाबोला कहते हैं.

कायांतरण में प्रत्येक रूप में परिवर्तन में साधारणतः निर्मोचन होता है, आकार एवं भार में वृद्धि होती है और संरचना में जटिलता आती जाती है. कीटों के आकार में वृद्धि का अनुमान इस तथ्य से लग जावेगा कि कुछ में लैंगिकतः परिपक्व वयस्क प्रायः तुरन्त निकले हुए लारवा से 70,000 गुना भारी होता है. कायांतरण के समय अधिकांश लारवा-संरचनाओं में ऊतकलय हो जाता है जिसमें प्रायः फैगोसाइटोसिस द्वारा ऊतक टूट जाते हैं और इससे जो पदार्थ बनता है वह हिस्टोब्लास्ट द्वारा वयस्क अंगों के पुनः निर्माण में प्रयुक्त होता है. हारमोन तथा अनेकों बाहरी कारक, विशेषकर ताप, कीट-कायांतरण का नियंत्रण करते हैं.

वर्गीकरण

कीटों का वर्गीकरण कायांतरण, पंखों, मुखांगों तथा अन्य लक्षणों से किया जाता है. सारणी 1 **इन्सेक्टा** वर्ग के वर्गीकरण को प्रस्तुत करती है.

भारतीय कीटों का वितरण

भारत कीट-जीवन से समृद्ध है क्योंकि यहाँ पर भौगोलिक जलवायु तथा अन्य वातावरण सम्बन्धी अवस्थाएँ विस्तृत परिसर में पायी जाती हैं. इसमें सन्देह नहीं कि भारत में पाँच लाख से अधिक कीटों की जातियाँ हैं. फिर भी कीटों की जातियों की एक बड़ी संख्या अज्ञात है. भारत, पाकिस्तान, ब्रह्मा, श्रीलंका, नेपाल, सिक्किम तथा भूटान के कुल प्राणियों की संख्या में केवल 50,000 कीटों की जातियाँ हैं जिनका विवरण दिया जा चुका है.

जीवित कीटों के 34 गणों में से केवल **प्रोट्यूरा** तथा **डिप्लोग्लोसेटा** भारत में नहीं पाये गये हैं. विभिन्न गणों के अन्तर्गत अभी तक भारत में प्राप्य कीटों की जातियों की सन्निकट संख्या का वर्णन सारणी 2 में दिया गया है. इनमें से अधिकांश जातियाँ **कोलिओप्टेरा** और **डिप्टेरा** गणों की हैं. यद्यपि **डिप्टेरा**

सारणी 1 – वर्ग इन्सेक्टा का वर्गीकरण

वर्ग : इन्सेक्टा (हेक्सापोडा)

लीजन : **टेरीगोटा** (सपक्ष कीट)

उपवर्ग I : **ऐक्साप्टेरीगोटा** (हेटरोमेटाबोला कीट जिनमें सरल कायाँतरण होता है)

अधिगण i : एफिमेरायडिया
गण 1 : **एफिमेरिडा** – मेफ्लाई

अधिगण ii : परलॉयडिया
गण 2 : **प्लेकॉप्टेरा** – स्टोन फ्लाई

अधिगण iii : लिबेलूलॉयडिया
गण 3 : **ओडोनेटा** – ड्रेगन फ्लाई

अधिगण iv : एम्बिओडिया
गण 4 : **एम्बिऑप्टेरा** – इम्बिड्स

अधिगण v : ओर्थोप्टेरॉयडिया
गण 5 : **ग्राइलोब्लैटॉयडिया** (ग्राइलोब्लैटा)
गण 6 : **ओर्थोप्टेरा** – टिड्डे, टिड्डी, झींगुर
गण 7 : **फैस्मिडा** – पर्णकीट और स्टिक कीट
गण 8 : **डरमाप्टेरा** – इयरविग
गण 9 : **डिप्लोग्लोसेटा** – हेमिमेरिड

अधिगण vi : ब्लैटायडिया
गण 10 : **ब्लैटरिया** – तिलचट्टा
गण 11 : **मैण्टोडिया** – शिकारी मैनटिड
गण 12 : **आइसोप्टेरा** – टरमाइट, दीमक
गण 13 : **जोराप्टेरा** – जोराप्टेरन

अधिगण vii : सोसायडिया
गण 14 : **कोरोडेंटिया**–बुक लाइस तथा सोसिड
गण 15 : **मैलोफैगा** – बर्ड लाइस तथा बाइटिंग लाइस
गण 16 : **एनोप्लूरा** – वास्तविक लाइस या चूषी लाइस

अधिगण viii : थाइसैनोप्टेरायडिया
गण 17 : **थाइसैनोप्टेरा** – थ्रिप

अधिगण ix : **हैमिप्टेरायडिया**
गण 18 : **हैटरोप्टेरा** – वास्तविक बग
गण 19 : **होमोप्टेरा** – सिकाडा, एफिड, मीली बग, शल्क कीट

उपवर्ग II : **इंडोप्टेरीगोटा** (होलोमेटाबोला कीट जिनमें पूर्ण कायाँतरण होता है)

अधिगण x : कोलिओप्टेरायडिया
गण 20 : **कोलिओप्टेरा** – भृंग
गण 21 : **स्ट्रेप्सिप्टेरा** – स्टाइलॉप्स

अधिगण xi : **हाइमेनोप्टेरायडिया**
गण 22 : **हाइमेनोप्टेरा** – चींटी, मधु-मक्षिका और बर्र

अधिगण xii : न्यूरोप्टेरायडिया
गण 23 : **मेगालोप्टेरा** – डाबसन फ्लाई
गण 24 : **न्यूरोप्टेरा** – लेस विंग
गण 25 : **रैफीडायडिया** – स्नेक फ्लाई

अधिगण xiii : पैनोरपॉयडिया
गण 26 : **मेकोप्टेरा** – स्कॉर्पियन फ्लाइ
गण 27 : **ट्राइकोप्टेरा** – कैडिस फ्लाइ
गण 28 : **लेपिडोप्टेरा** – तितली तथा पतंगे
गण 29 : **डिप्टेरा** – मक्खियाँ, नैट, मिजेस, मच्छर
गण 30 : **साइफोनप्टेरा** – पिस्सू

लीजन : **ऐप्टेरीगोटा** (मुख्यतः पक्षहीन कीट)

उपवर्ग III : **थाइसैन्यूरा**
गण 31 : **थाइसैन्यूरा** – सिल्वर फिश
गण 32 : **ऐप्टेरा** – जैपिगिड, कम्पोडियन

उपवर्ग IV : **कोलेम्बोला**
गण 33 : **कोलेम्बोला** – स्प्रिंगटेल, स्नोफ्ली

उपवर्ग V : **प्रोट्यूरा**
गण 34 : **प्रोट्यूरा** – प्रोट्यूरान

सारणी 2 – भारतीय कीट प्राणि समूह का वर्गिकीय संघटन

गण	जातियों की संख्या	समस्त अभिलेखित का %
ओडोनेटा	700	1·4
ओर्थोप्टेरा	330	0·7
आइसोप्टेरा	175	0·4
हेटरोप्टेरा	1,000	2·0
होमोप्टेरा	1,000	2·0
कोलिओप्टेरा	20,000	40 0
हाइमेनोप्टेरा	5,000	10 0
लेपिडोप्टेरा	7,000	14·0
डिप्टेरा	10,000	20 0
अन्य गण	4,795	9·5
योग	*50,000*	*100·0*

गण की जातियाँ **कोलिओप्टेरा** की जातियों की अपेक्षा लगभग आधी हैं किन्तु अनेक कारणों से ऐसा विश्वास किया जा सकता है कि भारत में **डिप्टेरा** की जातियाँ **कोलिओप्टेरा** की जातियों की तीन या चार गुनी संख्या में है.

यद्यपि भारत के कीटों की अधिकतर जातियाँ प्राच्य रूपों की, विशेषकर इंडो-मलाया प्रकार की हैं, फिर भी पैलोआर्कटिक तथा इथोपियन प्राणि समूह की कुछ संख्या देश के विभिन्न भागों में पायी जाती है.

पैलीआर्कटिक जातियाँ अधिकांशतः हिमालय पर्वत, पंजाब, कश्मीर तथा निकट के कुछ भागों तक ही सीमित हैं. पैली-आर्कटिक का यूरोपियन घटक बहुत कम मिलता है. उत्तरी (बोरियल) तथा दक्षिणी (भूमध्यसागरीय) दोनों ही पैली-आर्कटिक रूप पाये जाते हैं. इथोपीय प्रकार की जातियाँ सापेक्षतः मरुस्थली भागों में अधिक पाई जाती हैं यद्यपि कुछ जातियाँ दक्षिण में मद्रास तक तथा पूर्व में असम तक पायी जाती हैं. भारत में जितनी जातियाँ पाई जाती हैं वे सब देशज नहीं हैं. मनुष्यों ने बहुत-सी जातियों को संसार के अन्य भागों से जानबूझकर या अज्ञात रूप से यहाँ ला दिया है, यहाँ तक कि ये ऑस्ट्रेलिया तथा दक्षिणी अमेरिका जैसे दूरवर्ती देशों से भी लायी गयी हैं. ये समस्त जातियाँ यहाँ प्रायः प्राकृत बन चुकी हैं और बड़े भूभाग में फैल गई हैं. उन्होंने कुछ देशज जातियों को प्रतिस्थापित भी कर दिया है. साधारण घरेलू तिलचट्टा ऐसे कीटों का एक उदाहरण है जिसे व्यापारिक जहाज उष्ण-कटिबन्धी अमेरिका से भारत ले आये थे. यह जाति आज भारत के सभी भागों में पायी जाती है और यह सोचना कठिन लगता है कि तीन या चार शताब्दी पहले पुरानी दुनियाँ में यह बिल्कुल अज्ञात थी. वर्तमान शताब्दी के प्रारम्भिक वर्षों में ऑस्ट्रेलिया की एक कुख्यात जाति फ्लूटेड स्केल (काटनी कुशन स्केल), **पेरीसीरया परचेजाई** का प्रवेश अवांछनीय रूप से हुआ. दक्षिण भारत में आस्ट्रेलिया की बहुत-सी वैटल जातियों का शोभाकारी रूप में तथा सड़कों पर लगाने के लिए प्रयोग द्वारा ही फ्लूटेड स्केल इस देश में आया. इसका पता तो कुछ वर्षों पूर्व चला जब यह जाति काफी दूर-दूर तक फैल गयी थी और वैटल खेती पर संकट छाने लगा. जान-बूझ कर लाये हुए विदेशी कीटों में किरमिजी वग प्रसिद्ध है. यह दक्षिणी अमेरिका के उष्ण-कटिबंधी प्रदेश का मूलवासी है जो दक्षिणी भारत की नागफनी को नष्ट करने के लिए लाया गया.

जातियों तथा संख्या के अनुसार भारत में कीटों का वितरण बहुत असंतुलित है. भारत को 8 उपविभागों में बाँटा जा सकता है :

(1) उत्तरी-पश्चिमी हिमालय तथा पश्चिमी तिब्बती उप-विभाग में तिब्बत, कश्मीर, लद्दाख और सतलज नदी से पश्चिम का हिमालय का पर्वतीय भाग सम्मिलित हैं. इस क्षेत्र के विषय में अधिक जानकारी नहीं है. इसमें जो जातियाँ पायी जाती हैं वे भारत में वर्णित जातियों की कुल संख्या की 6% हैं. ये जातियाँ शीत, शुष्क, झंझावाती और वृक्षहीन क्षेत्रों के अनुकूल हैं. ये सामान्यता अंतर्जात या भूमिश्रयी हैं. वास्तविक वन-प्रकार की जातियाँ या तो बहुत कम हैं अथवा बिल्कुल ही नहीं हैं. सामान्य रूप से ये उत्तरी पेलिआर्कटिक प्रकार की होती हैं.

(2) पूर्वी तिब्बती उपविभाग में हिमालय की ऊपरी ब्रह्मपुत्र घाटी, उत्तरी-पूर्वी सीमान्त प्रदेश, तिब्बत के पूर्वी तथा असम के भाग सम्मिलित हैं. यह क्षेत्र अपेक्षतया कम सूखा है. यहाँ दक्षिण पेलिआर्कटिक और उत्तरी इण्डो-मलाया के कीट प्रकारों का संघटन पाया जाता है तथा वन जातियों का आधिक्य है.

(3) केन्द्रीय तथा पूर्वी हिमालय उपविभाग में टेहरी-गढ़वाल, कुमायूँ, नेपाल, सिक्किम, भूटान और हिमालय का पूर्वी सिरा सम्मिलित है. इसमें बड़े अनुपात में लाक्षणिक बोरियल पेलिआर्कटिक जातियाँ और इण्डो-मलायी प्ररूप पाये जाते हैं. यहाँ कीट-प्राणि-समूहों की अच्छी जानकारी है और जितनी जातियों की संख्या का वर्णन हो चुका है वे भारत की कुल ज्ञात संख्याओं का 15% हैं.

(4) मरुस्थली क्षेत्र में पंजाब, राजस्थान, गुजरात तथा उत्तर प्रदेश के पश्चिमी भाग आते हैं. यद्यपि यहाँ इण्डो-मलाया प्रकार की जातियाँ प्रमुख हैं किन्तु इथोपियन और दक्षिण पेलि-आर्कटिक (भूमध्यसागरीय) कीट भी काफी पाये जाते हैं. बहुत-सी जातियाँ पूर्व में गंगा के मैदान में कानपुर तक पायी जाती हैं, साथ ही गंगा के मैदान के बहुत से प्ररूप राजस्थान में अजमेर के निकट भी पाये जाते हैं.

(5) गंगा मैदान उपविभाग में उत्तर प्रदेश, बिहार तथा बंगाल सम्मिलित हैं. इस उपविभाग का कीट प्राणि-समूह बड़ा विचित्र है. वास्तविक वन-रूप नगण्य हैं परन्तु घास-स्थलीय जातियाँ फार्म कीटों में परिवर्तित होती दिखायी देती हैं. गंगा मैदान की जातियों की संख्या बहुत बड़ी है तथा अन्य भागों की अपेक्षा इस क्षेत्र में अधिक खोज की जा चुकी है. इन जातियों की अधिकतर संख्या उष्णकटिबंधीय प्ररूपों की हैं. फिर भी इनमें से बहुत-सी जातियाँ भारत की शीत ऋतु के अनुकूल बन गई हैं, जैसा कि उनकी अल्प शीत-निष्क्रियता से स्पष्ट है. इस क्षेत्र का कीट-प्राणि-समूह प्रायद्वीपीय भारत की अपेक्षा अभिनव उद्गम का तथा कम आयु का प्रतीत होता है.

(6) पश्चिमी घाट प्राणि-समूह उपविभाग में संकीर्ण पश्चिमी तटीय मैदान, सतपुड़ा, विंध्याचल, दक्षिणी पठार के भाग तथा अरावली के भाग सम्मिलित हैं. यहाँ की जातियों का प्ररूप उष्णकटिबन्धीय वर्षा वन-प्रकार का है और कदाचित् ये भारत के प्राचीनतम

कीट-प्राणि-समूह को व्यक्त करती हैं. इस उपविभाग और ब्रह्मा तथा असम के पहाड़ी उपविभाग की जातियों में अधिक बंधुता पायी जाती है. विन्ध्य तथा सतपुड़ा कीट जातियाँ असम-ब्रह्मा कीट-प्राणि-समूह और पश्चिमी घाट प्राणि-समूह के बीच संक्रामी कीट रूप में हैं.

(7) मलायन उपविभाग जिसमें भारत के असम के पहाड़ी क्षेत्र सम्मिलित हैं, आर्द्र उष्णकटिबन्धी वंशों तथा जातियों की प्रधानता के लिए प्रसिद्ध हैं. यह पूर्व दिशा में श्याम तथा फिलीपीन्स तक फैला हुआ है. निश्चय रूप से इस उपविभाग के कीट गंगा मैदान के कीटों की अपेक्षा अधिक पुराने हैं और इनका उद्भव पश्चिमी घाट के कीटों के समकालीन है.

(8) कारोमंडल तट का कीट-प्राणि-समूह सापेक्षतः गंगा के मैदान से अधिक विदित है भले ही पूर्वी घाट के भागों की ठीक से खोज नहीं हो पाई है. जो जातियाँ वहाँ पायी जाती हैं वे अधिकतर उष्णकटिबंधी मैदानी रूप हैं. जो कुछ पश्चिमी घाट के प्राणि-समूह या अंशतः विन्ध्य प्रदेश से आयी हुई प्रतीत होती हैं.

ये प्राणि-समूह के उपविभाग क्षेत्र, स्थलाकृति, जलवायु, वनस्पति और अन्य अवस्थाओं में बहुत भिन्न हैं. इसके अतिरिक्त इनमें रहने वाले कीटों की जातियों में भी बहुत अन्तर पाया जाता है और कीटों के स्वभाव, बाहुल्य तथा अनुकूलन में भी काफी भिन्नता है. अन्त में यह ध्यान देने योग्य है कि इन उपविभागों की सीमाओं का यह विभाजन मनमाना है.

मानवीय अर्थ व्यवस्था के दृष्टिकोण से कीटों को स्थूलतः हानिकारक, लाभदायक तथा निरपेक्ष रूपों में वर्गीकृत किया जा सकता है.

ऐसे कीट जो खेतों में फसलों को और कृषि-उत्पादों को गोदामों में ग्रस्त करते हैं तथा जो मनुष्यों और फार्म के पशुओं में रोग उत्पन्न करते हैं प्रत्यक्ष हानिकारक होते हैं. वे कीट जो मनुष्योपयोगी कीटों पर आक्रमण करते है अप्रत्यक्षतः हानिकारक होते हैं. ऐसे कीट जो पौधों के परागणक के रूप में, अपतृण को नष्ट करने में तथा प्राकृतिक अपमार्जक के रूप में कार्य करते हैं, लाभदायक कीट कहे जा सकते हैं. फसलों पर भी आक्रमण करने वाले कीटों के परभक्षी तथा परजीवी, अप्रत्यक्षतः लाभदायक होते हैं. कुछ कीट, मछली तथा अन्य पशुओं और मनुष्यों द्वारा भोजन की तरह प्रयुक्त होते हैं. कुछ कीटों में औषधीय गुण पाये जाते हैं और कुछ लाभदायक उत्पाद प्रदान करते हैं, जैसे रंजक, लाख, रेशम, शहद और मोम. अधिकांश कीटों का आर्थिक महत्व नहीं होता.

हानिकारक कीट और उनका नियंत्रण

कृषि तथा वन के पौधों के मुख्य कीट नाशकजीवों का संक्षिप्त वर्णन नीचे के अनुच्छेदों में किया गया है. इनका विस्तृत विवरण व्यक्तिगत पौधों के साथ दिया गया है.

कृष्ट पौधों के नाशकजीव

खाद्यान्न

भारत में धान की फसल को अनेक गंभीर नाशकजीवों द्वारा हानि पहुँचती है. धान के पौधे को नर्सरी में यूथी इल्लियाँ, **स्पोडोप्टेरा मारिशिया** बालदार पत्तियों के भृंग, धान हिस्पा, **हिस्पा आर्मीजेरा,** धान का नीला भृंग, **लेप्टिस्पा पिगमिया** द्वारा हानि पहुँचती है. अंकुरण के समय फसल को सिल्वरशूट रोग (त.–अनाइकोम्बु; ते.–कोदु) हो जाता है जो पिटिका कीट, **पकिडिप्लोसिस ओराइजी** (वुड मैसन) मनो द्वारा होता है. धान के टिड्डे, **हाइरोग्लाइफस बैनियन** फैब्रीसिकस और फुदक्का अथवा खरीफ के टिड्डे, **हा. नाइग्रोरेप्लेटस** वोल भी इसे हानि पहुँचाते हैं. धान का मीली बग, **रिपरसिया ओराइजी** ग्रीन से मुरई रोग हो जाता है. अनेकों पत्तियों के बग और कटुई या पत्ती का खोल बनाने वाला कीड़ा, **निम्फुला डिपंक्टेलिस** गुएने छोटे धान के पौधों को नष्ट करते हैं. धान की बाली को गंधी, **लेप्टोकोराइजा वैरीकोरनिस** फैब्रीसिकस हानि पहुँचाता है. तने की छेदक, **शीनोबियस इनसर्टेलस** वाकर और जड़ों की वीविल, **इकाइनाक्नेमस ओराइजी** मार्शल भी गंभीर नाशकजीव हैं. नाशकजीवों के नियंत्रण के लिए डी-डी-टी अथवा बी-एच-सी का छिड़काव या प्रकीर्णन लाभदायक है. पत्ती के खोल बनाने वाले कीड़ों के लारवा तथा भृंगों के अव थोड़ा-सा मिट्टी का तेल डालकर खेत में पानी भर देने से नष्ट हो जाते हैं अथवा निरर्थक तम्बाकू या सुपरफास्फेट और अमोनियम सल्फेट का उर्वरक भी खेतों में डाला जाता है. कुछ बर्र तथा परजीवी मक्खियाँ भी इल्लियों पर आक्रमण करती हैं.

गेहूँ की फसल को भारत में गंभीर कीट नाशकजीवों द्वारा अपेक्षतया कम हानि पहुँचती है. भारतीय प्रायद्वीप के उत्तर में दीमक जैसे कि **माइक्रोटर्मिस ओबेसाइ** हाल्मग्रेन, तने की सूँडी, **सिसामिया इनफरेंस** (वाकर) और पौधों का लाउस, **टोक्सोप्टेरा ग्रैमिनम,** एफिड, **मैक्रोसिफम एवनी** फैब्रीसिकस, गुजिया, **टैनिमिकस इंडिकस** तथा आर्मीवार्म, **सिरफिस यूनीपंक्टा** और टरमाइट गेहूँ की फसल को कुछ क्षति पहुँचाते हैं. पर्वतीय स्थानों में जैसे कि कुल्लू और कांगड़ा (पूर्वी पंजाब) में गेहूँ की बालों का बग, **यूरीगैस्टर मावरा** लिनिअस एक गंभीर नाशकजीव है. बी-एच-सी के प्रकीर्णन से अधिकतर कीट नष्ट हो जाते हैं. डाइजिनोन अथवा निकोटीन सल्फेट के छिड़काव से पौधों के लाउस या एफिड नष्ट हो जाते हैं.

ज्वार बाजरा इत्यादि के नवीन पौधों को लाल बालों वाली इल्लियाँ, **एमसेक्टा एलबिस्ट्रिगा** वाकर (त.–काम्बलीपूचि; ते.–गोंगली पुरुगु), दक्षिण भारत और डेकन में और **अ. मूर्रई** बटलर उत्तरी भारत में हानि पहुँचाते हैं. ये सफेद रंग के पतंगे हैं जिनके पंखों पर कुछ काले धब्बे होते हैं. यह जून मास की पहली मानसून वर्षा में बड़ी संख्या में निकल आते हैं. ये हाथ से चुन कर या प्रकाश जाल द्वारा नष्ट किए जा सकते हैं. चलती हुई छोटी इल्लियों के दल को बी-एच-सी के छिड़काव तथा प्रकीर्णन द्वारा नष्ट किया जा सकता है. तने की बेधक सूँडी, **एथेरीगोना** जाति ज्वार बाजरा के छोटे पौधों पर आक्रमण करती है. ज्वार (**सोर्घम वल्गेर पर्सून**) के छोटे पौधों के तनों को **एथेरीगोना इंडिका** बेधता है जिससे तने का अगला भाग मुरझा कर सूख जाता है. बाजरा (**पेनिसिटम टाइफायडीज स्टैप्फ और हुवर्ड**) को **ए. अप्राक्सिमेटा;** कोदों (**सिटारिया इटालिका** बीवो) को **ए. एट्रीपालपिस;** रागी (**एल्यूसाइनी कोराकाना** गेर्टनर) को **ए. मिलिआसी;** कांकुन (**पैनिकम मिलिऐसियम** लिनिअस) को **ए. डेस्ट्रक्टर और पैसपैलम स्कोबि-**

कुलेटम लिनिअस को **ए. विटुबरकुलेटम** क्षति पहुँचाते हैं. सामान्यतः ये अत्यन्त गंभीर नाशकजीव नहीं हैं. यद्यपि इनसे कभी-कभी 30–50% तक हानि पहुँचती है.

अंकुरण के समय अनेक टिड्डे ज्वार बाजरा को हानि पहुँचाते हैं, जैसे डैक्कन टिड्डा, **कोलेमेनिया स्फेनारिआयोडीस** (ते.–मिदया; क.–जिट्टी) दक्षिण में अहमदनगर के उत्तर से लेकर शिमोगा, चितलदुर्ग, बेलारी और दक्षिण में कुरनूल तक सामान्य रूप से पाया जाता है. फुदक्का, **हीरोग्लाइफस नाइग्रोरेप्लेटस** अजमेर, दक्षिणी पंजाब, उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश के उत्तरी भागों में तथा आंध्र प्रदेश के कुछ जिलों में ज्वार-मक्का तथा अन्य खाद्यान्नों को ग्रसित करते हैं. इनके वयस्क और निम्फ पत्तियों को खाते हैं और बालों पर भी आक्रमण करते हैं. इनके नियंत्रण में बी-एच-सी का प्रकीर्णन लाभदायक है.

पौधों का लाउस और तने का वग उगती हुई फसल पर आक्रमण करते हैं. ज्वार बाजरा की फसलों पर **रोपालोसिफम** *(एफिस)* **मैडिस** *आक्रमण करते हैं पर वे अधिक हानि नहीं* पहुँचाते. परभक्षी कीट लेडी बर्ड भृंग, काइसोपिड और होवर-फ्लाइ कृमि नाशकजीवों को नियंत्रण में रखते हैं. ज्वार और मक्का के तनों पर प्ररोह-वग, **डाइक्रेनोट्रापिस (पेरेग्राइनस) मैडिस** आशिमएड आक्रमण करता है. यह पौधों की ऊपरी पत्तियों के घेरे में लगता है. अंडे मध्यशिरा में निक्षेपित होते हैं और वग ऊपरी पत्तियों को खाते हैं; ये घेरे मधुकणों से भर जाते हैं और पत्तियाँ सड़कर सूख जाती हैं. ज्वार की हरी बाली के वग, **कैलोकोरिस ऐंगुस्टेटस** (त.–नवाइपुची; ते.–अग्गीपुरुगु) अधिकतर बालें निकलने के समय पौधे को हानि पहुँचाते हैं. अंडे तने में निक्षेपित होते हैं और वग अंडज उत्पत्ति के पश्चात् रस चूसते हैं. बी-एच-सी का प्रकीर्णन नियंत्रण करने में प्रभावशाली है. गालमिज पुष्पक में अंडे निक्षेपित करता है जिससे वे सूख जाते हैं. पिटिका मक्खी **कोंटेरीनिया एंड्रोपोगोनिस** फेल्ट ज्वार पर आक्रमण करती है तथा **आइटोनिडा सेमिनिस** फेल्ट बाजरा पर आक्रमण करती है और दानों के बैठने के स्थान में बहुत-सी जगह बना देती है. बी-एच-सी के प्रकीर्णन से इस पर नियंत्रण रहता है.

इल्लियाँ अधिकतर पकती हुई बालियों पर आक्रमण करती हैं. मक्का के भुट्टों पर चने की इल्ली, **हीलियोथिस आर्मीजेरा** हुब्नर आक्रमण करती है; **स्टैनाक्रोइया एलांजेला** हैम्पसन के आक्रमण से ज्वार के संयुक्त दाने वाली किस्म की बाली जालीदार हो जाती हैं, और दाने थोड़े-थोड़े खाये हुए होते हैं. भंडार में संचित अनाज के नाशक-कीट, जैसे चावल का घुन, **साइटोफाइलस (कैलेण्ड्रा) ओराइजी** लिनिअस और ऐंगौएमोइस, अन्न शलभ, **साइटोट्रोगा सीरियलेला** पकती हुई बालों पर आक्रमण करते हैं और अपने अंडे दानों पर देते हैं.

जड़ों तथा तनों पर अधिकतर वेधक इल्लियों द्वारा आक्रमण होता है. ज्वार का तना वेधक, **काइलोजोनेलस** विशेषतः वर्षा के कारण बढ़ी हुई ज्वार की फसल के लिए एक गंभीर नाशकजीव है. यह बाजरा, रागी और गन्ने को भी नष्ट करता है. गुलाबी वेधक कीट, **सीसामिया इन्फरेंस** (वाकर) मक्का, गेहूँ, रागी तथा गन्ने के प्ररोहों पर आक्रमण करता है. सफेद वेधक कीट, **सालूरिया इन्फिसिटा** (वाकर), दक्षिण भारत में रागी (**एल्यूसाइनी कोराकाना** गेर्टनर) को हानि पहुँचाता है. कोदों की कंगनी फसल (**सिटारिया इटालिका** वीवो) कभी-कभी एक इरोटिलिड भृंग, **अनेडास्टस पारवुलस** वीडेमान द्वारा नष्ट हो जाती है. यह कीट तने को बेधता है तथा संधि को भीतर से वलयित कर देता है; और सुरंग पौधे को सुखा देती है. यह जाति अभी तक केवल दक्षिणी तमिलनाडु में पायी गयी है. भारत में किसी-किसी उपपर्वतीय क्षेत्र में काकचेफर ग्रव पौधों की जड़ों को नष्ट करते हैं जिससे ज्वार की फसल खेतों में ही छोटे-छोटे भूखण्डों में सूख जाती है. दक्षिण भारत की कुछ ज्वार, बाजरा आदि की फसलें जड़ों के एफिड, विशेषतः **टेट्रान्यूरा हिरसुटा** द्वारा नष्ट होती है. इस कीट का नियंत्रण खेतों में क्रूड तेल के पायस, मछली के तेल, साबुन अथवा तार-कोल मिश्रित पानी से सींचने से किया जा सकता है.

दलहन तथा फलीदार फसलें

प्रायः मानसून के आरम्भ में या ग्रीष्म ऋतु में बोई जाने *वाली फसलों, जैसे कि अरहर* (**कैजानस** *जातियाँ*), *मूँग* (**फासिओलस ओरियस** लिनिअस) तथा लोबिया (**विगना** जातियाँ), की प्रारम्भिक वृद्धि में लाल बालों वाली इल्ली, **अम-सेक्टा** जातियाँ हानि पहुँचाती हैं; और उत्तरी भारत में शरद् ऋतु की फसलों पर, जैसे चना (**साइसर** जातियाँ) और मटर (**पाइसम** जातियाँ) तथा मसूर (**लेंटिस** जातियाँ) पर कटुआ आक्रमण करता है. लोबिया, मटर और सेमों के छोटे पौधों पर तने की मक्खी, **मेलन एग्रोमाइजा फासिओली** आक्रमण करती हैं जिसके कारण पौधे सूख जाते हैं. मटर की पत्ती में सुरंग बनाने वाला कृमि, **फाइटोमाइजा एट्रीकार्निस** क्षति पहुँचाता है.

फलीदार फसलों की पत्तियों को कुछ इल्लियाँ खा जाती हैं; बड़ी स्फिंजिड और कुछ बालों वाली इल्लियाँ, जैसे **डाइक्रीसिया आवलिका** वाकर मूंग और सेमों पर आक्रमण करती हैं. मटर और मसूर पर कुछ इल्लियाँ जैसे लूसर्न की इल्ली (**लैंफिग्मा इक्जीगुआ** हुब्नर) और **प्रोडीनिया लिटुरा** फैब्रीसिकस, आक्रमण करते हैं. **हीलियाथिस आर्मीजेरा** हुब्नर की इल्लियाँ चने के छोटे-छोटे पौधों की पत्तियों को खा जाती हैं और बाद में फलियों को बेध कर फसल को भारी क्षति पहुँचाती हैं. बी-एच-सी का प्रकीर्णन और डी-डी-टी अथवा एंड्रिन का छिड़काव करने से इनका नियंत्रण किया जा सकता है.

पुष्पीकरण के समय अरहर की फसल कई कीटों द्वारा नष्ट होती है. पुष्पकलिका को वीविल, **स्प्यूरोरिकस ऐस्परुलस** नष्ट करता है और छोटी फलियाँ बहुत-सी इल्लियों द्वारा क्षतिग्रस्त होती हैं. तूर की फली की इल्ली, **एग्रोमाइजा आब्ट्यूसा** बीजों को नष्ट करती है. एक वीविल ग्रब, **पैचीटाइकियस संगोनिस** मार्शल, पकते हुए मूंग के बीजों को बेधता है. भारतीय प्राय-द्वीप में इल्ली, **एडीसुरा अटकिनसानाइ** मूर, सेम (**डालिकास लवलब** लिनिअस) को फली को नष्ट कर देता है. दलहन तथा फलीदार फसलों के बीजों को भंडार में ब्रूकिड (ढोरे) द्वारा हानि होती है. इनकी अलग-अलग जातियाँ बहुधा एक ही प्रकार की दाल तक सीमित रहती हैं और इनका आक्रमण खेतों में पकती हुई फसलों पर ही हो जाता है. अरहर पर **ब्रूकस थियोब्रोमि** लिनिअस आक्रमण करता है. यह अपने अंडे फली पर देता है. यह संचित दानों पर नहीं लगता जबकि **ब्रूकस चाइनेंसिस** लिनिअस अपने अंडे फली पर रखता है और

संचित दानों पर भी लगता है. सेम पर और संचित बीजों पर भी **ब्रू. फासिग्रोलाइ** गिलेनहाल आक्रमण करता है : **कैलोसोब्रूकस मैकुलैटस** फैब्रीसिकस लोबिया को नष्ट करता है. खेत में मटर को **ब्रूकस चाइनेंसिस** लिनिग्रस और **ब्रूकस आफिनिस** दोनों ही ग्रस्त करते हैं पर **ब्रूकस आफिनिस** संचित दानों में नहीं लगता है. भंडार में इसका नियंत्रण एथिलीन डाइक्लोराइड के साथ कार्बन टेट्राक्लोराइड अथवा मेथिल ब्रोमाइड के मिश्रण से धूमित करके किया जाता है. बोने वाले बीज को डी-डी-टी या बी-एच-सी से मिलाकर रखने से इन कीटों से रक्षा की जा सकती है.

तिलहन

अधिकांश तिलहनों पर, जब इनके पेड़ छोटे होते हैं तभी लाल बालों वाली इल्ली आक्रमण करती है. तिल (**सेसामम इंडिकम** लिनिग्रस) को पत्ती और फली वाली इल्ली **एंटीगेस्ट्रा कैटालाउनेलिस** डुपोंशेल बहुत हानि पहुँचाती है. यह तनों को झांझर कर देती है और फूलों एवं नई सम्पुटिकाओं को खाती है. **स्फिक्स** इल्ली, **एक्रोंशिया स्टिक्स** वेस्टवुड तिल की पत्तियों को खाती है. फूलों पर गालमिज, **एसफोनडाइलिया सेसामी** पिटिका बना देता है. जब आक्रमण हल्का रहे तभी इस कीट को नियंत्रण में रखने के लिए खायी हुई पत्तियों, तनों, पिटिकाओं और कलिकाओं को तोड़ कर नष्ट कर देना चाहिए. कीटनाशी का छिड़काव गालमिज के लिए न तो बहुत लाभदायक है और न बचतपूर्ण ही है. तिल और स्फिक्स इल्लियों के गहन आक्रमण को बी-एच-सी के प्रकीर्णन द्वारा अथवा डी-डी-टी के छिड़काव द्वारा नियंत्रित किया जा सकता है.

मूंगफली (**ऐराकिस हाइपोजिया** लिनिग्रस) को कई नाशक-जीव हानि पहुँचाते हैं. एक पत्ती काटने वाली इल्ली, **स्टोमो-प्टेरिक्स नरटेरिया** (त.--सुरुलपुची) अधिकतर बहुत हानि पहुँचाती है. कई स्थानों में छोटी फसल को लाल बालों वाली इल्ली **एमसेक्टा एलबिस्ट्रिगा** वाकर का भय रहता है. जड़ का नाशक-कीट, **स्फेनोप्टेरा पेरोटेटाई** गुएने, (त.--वरपुची) फलदार पौधों और उनकी जड़ों को ग्रस्त करता है जिससे वे मुरझा कर सूख जाते हैं. प्रारम्भिक अवस्था में पतंगों को आकर्षित करने में प्रकाश-जाल लाभदायक सिद्ध हुए हैं. जड़ों के कीट हाथ से चुनकर नष्ट किये जा सकते हैं.

अंडी (**रिसिनस कम्यूनिस** लिनिग्रस) पर कई नाशकजीवों का आक्रमण होता है. विशेषतः इल्लियाँ, जिनमें बालों वाली जातियाँ **एमसेक्टा** जातियाँ, **पेरीकालिया रिसिनि** फेब्रीसिकस, **यूप्रोक्टिस फ्रेटर्ना** मूर भी सम्मिलित हैं अथवा नेटल ग्रब (**परासा लेपिडा** क्रेमर), अंडीकी तितली (**इरगोलिस मेरिग्रोन** क्रैमर) और तम्बाकू की सूंडी (**प्रोडीनिया लिटुरा** फैब्रीसिकस) अंडी के पेड़ों को हानि पहुँचाते हैं. लेकिन अंडी की फसल का मुख्य शत्रु अर्धलूपर, **एकिया जेनेटा** लिनिग्रस है, जो खेत की फसल को कुछ ही दिनों में विपत्रित कर देता है. सम्पुट कीट, **डाइकोक्रोसिस पंक्टीफेरेलिस** गुएने, से भी भारी क्षति पहुँचती है. यह सम्पुटों को झंझरीदार बना देता है तथा मुलायम बीजों को खा जाता है. पत्तियों का हापर, **इम्पोस्का फ्लेवसेंस** फैब्री-सिकस और सफेद मक्खी, **ट्राइल्यूरोडीस रिसिनाइ** पत्तियों पर आक्रमण करती है. छोटे-छोटे क्षेत्रों में अंडों के समूहों को और लारवों को पत्तियों सहित, जिनको वे खाते हैं, एकत्रित करके नष्ट कर देना चाहिए. यह उपचार इनके नियंत्रण में लाभदायक है. बड़े-बड़े क्षेत्रों में डी-डी-टी अथवा बी-एच-सी का छिड़काव या प्रकीर्णन करना चाहिए.

कुसुम्भ (**कार्थमस टिंक्टोरियस** लिनिग्रस) और तिल्ली (**गीजो-टिया ऐबीसिनिका** कैसिनी) के पौधों को **पेरीगिया केपेन्सिस** गुएरिन की इल्लियों से क्षति पहुँचने की संभावना रहती है. कुसुम्भ पर प्लाण्ट लाउस, **मैक्रोसिफ़म** जैसी लिनिग्रस और टिंजिड बग, **मोनेन्थिया ग्लोब्यूलीफेरा** वाकर का आक्रमण भी हो सकता है. दिल्ली, उत्तर प्रदेश और पंजाब के कुछ भागों में **एकेन्थियोफाइलस हेलिएन्था** रोसी मक्खी के मैगट प्रायः पुष्प मुंडकों का वेधन करते हैं. डी-डी-टी के छिड़काव द्वारा इल्लियों का और डायाज़िनान द्वारा प्लाण्ट लाइस और टिंजिड बग का नियंत्रण संभव है.

अलसी के पौधे को प्रारम्भिक अवस्था में **ग्रैमोडिज** और **लेफिग्मा** जातियों की इल्लियों से हानि पहुंचती है. उत्तर भारत में अलसी का गाल मिज, **डैसीन्यूरा लाइनाइ** बारनीज़ शीत ऋतु में फैलता है और इससे 20–40% तक पुष्पों को क्षति पहुँचती है.

सरसों (**ब्रेसिका** जातियों) के छोटे पौधों को सरसों की साफ्लाई, **एथेलिया प्रोक्सिमा** और पुष्पण की अवस्था में सरसों के एफिस, **लिपएफिस एरिसिमाइ** डेविस, से नुकसान पहुँचता है. इनकी संख्या कभी-कभी इतनी अधिक बढ़ जाती है कि सारी की सारी फसल नष्ट हो जाती है. डायज़िनान के छिड़काव से सरसों के एफिस और बी-एच-सी के प्रकीर्णन से साफ्लाई का नियंत्रण संभव है.

रेशेवाली फसलें

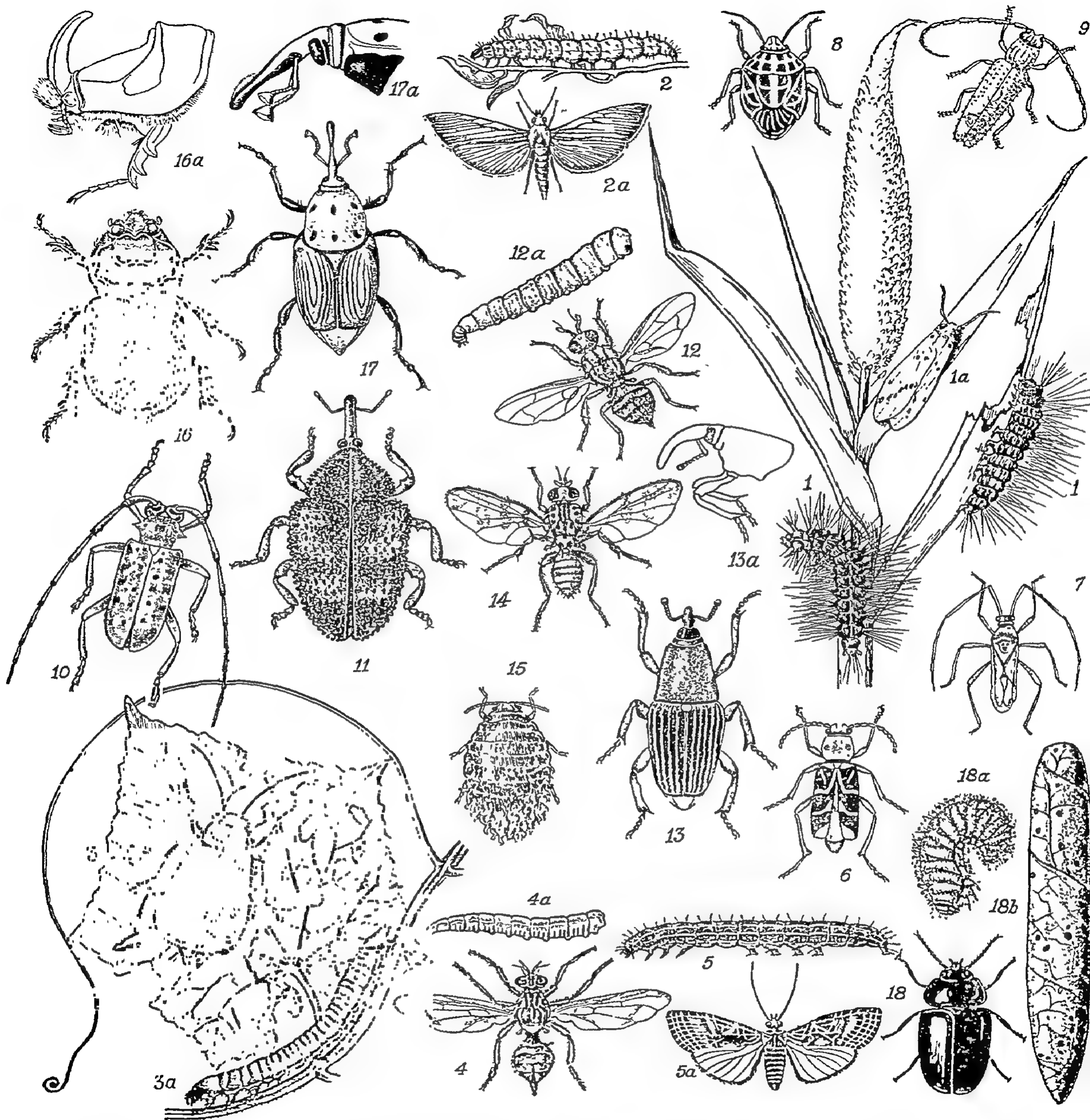
कपास की बेहन को **ग्राइलस डोमेस्टिकस** लिनिग्रस और **ग्राइलस बाएटर** किर्बी जैसे झींगुरों, **एटैक्टोगैस्टर फिनिटिमस** जैसे घुनों और **एमसेक्टा** जातियों की लाल रोमिल इल्लियों से बहुत क्षति पहुँच सकती है. बढ़ते हुए पौधों पर प्रायः **एमसेक्टा यूप्रोक्टिस, लेफ़िग्मा** और **प्रोडीनिया** की विभिन्न जातियों, कपास के पत्ती लपेट, **साइलेप्टा डेरोगाटा** फैब्रीसिकस और अर्धलूपर जैसे **एनोमिस** जातियाँ, **एकोन्शिया** जातियाँ और **टराशे निटि-ड्यूला** फैब्रीसिकस का आक्रमण होता है. कलियों की इल्ली, **फाइसीटा इन्फ्यूसेला** मेयर और चित्तीदार डोंडों के कृमि, **एरिग्रास फेबिया** स्टोल और **ए. इन्स्युलाना** बासड्वाल कोमल प्ररोहों का भी बेधन करते हैं. पौधे पर भाँति-भाँति के चूषक कीट, जैसे कपास का एफ़िस, **एफ़िस गासीपाई** कपास का जेसिड, **एम्पोस्का डेवास्टन्स** डिस्टैंट, कपास की श्वेत मक्खी, **बेमेशिया टैबकाई**, और मीली बग, **फेरीसिग्राना विरगाटा** आक्रमण करते हैं. कपास के सबसे विकट नाशक-कीट गुलाबी डोंडा कृमि **प्लैटीएण्ड्रा गॉसीपिएला**, और चित्तीदार डोंडा कृमि (**एरिग्रास** जातियाँ) हैं. डोडों पर कपास के लाल बग, **डिसडरकस सिंग्युलेटस** फ़ैब्रीसिकस, और मटमैले कपास के बग, **ग्रॉक्सीकैरेनस लेटस** किर्बी, का भी आक्रमण हो सकता है. तना वेधक, **स्फीनोप्टरा गासीपाई** किर्बी, के आक्रमण के कारण कपास के पौधे मुरझा और सूख जाते हैं. तने के घुन, **पेम्फेरेस एफिनिस** के आक्रमण से तने पर पिटिकाएँ बन जाती हैं जिससे या तो आक्रमण के स्थान पर पौधा टूट



कृष्ट पौधों तथा संगृहीत कृषि उत्पादों के हानिकारक कीट

(1) धान का तना वेधक (शीनोबियस इनसर्टेलस), धान तने के अन्दर (× 1¼), (1a) मादा शलभ, (2) धान पादप पर यूथी इल्ली (स्पोडोप्टेरा मारिशिया) (असली आकार), (2a) शलभ (असली आकार), (3) बालियों का हरा बग (कैलोकोरिस ऐंगुस्टेटस), मादा (× 4), (4) डेक्कन टिड्डा (कोलेमेनिया स्फेनारिओइडीज), बाजरे की फसल नष्ट करता हुआ (× ¾), (4a) पृष्ठीय दृश्य, (4b) पार्श्वीय दृश्य, (5) पिटिका मक्खी (कॉन्टेरीनिया एंड्रोपोगोनिस) ज्वार की बालियों पर अण्डे देते हुए (× 7), (6) चावल का घुन (साइटोफाइलस ओराइजी) (× 8), (6a) गेहूं के दाने को कुतरता हुआ घुन, (6b) लार्वा, गेहूं के दाने के अन्दर, (7) एंगौमोइस, अन्न शलभ (साइटोट्रोगा सीरियलेला) (× 3), (7a) अण्ड, (7b) लारवा, (7c) प्यूपा, दाने में, (8) नूरफली मक्खी (एग्रोमाइजा आब्ट्यूसा) (× 6), (8a) प्रभावित फली 'p' से अंकित प्यूपा आवरण दर्शित करती हुई, (9) लूसर्न की इल्ली (लैफिग्मा इक्सीगुआ) (असली आकार), (9a) शलभ (असली आकार), (10) अरहर कलिका का घुन (ऐपियोरिकस ट्रैबसलस) (× 10), (11) दाल भृंग (ब्रूकस चाइनेन्सिस) (× 7), (11a) प्रभावित मटर, अण्डों और भृंग के बहिर्द्वार को दर्शित करती हुई, (12) मटमैला कपास का बग (आक्सीकैरेनस लेटस) (× 6), (13) सन हेम्प शलभ की इल्ली (उटीथाइसा पुलकेला) सन हेम्प की पत्तियों और फलियों को खाती हुई (असली आकार); (13a) शलभ (असली आकार), (14) लघु दाना वेधक (राइजोपर्था डोमिनिका) (× 10), (15) लाल सुरसुरी (ट्राइबोलियम कैस्टेनियम) (× 9), (16) आक टिड्डा (पोसिलो सेरस पिक्टस) (× ⅔), (17) भारतीय चूर्ण शलभ (प्लोडिया इंटरपंक्टेला) (× 3), (17a) लारवा (× 3)

फलक III



कृष्ट पौधों तथा संगृहीत कृषि उत्पादों के हानिकारक कीट

(1) लाल रोयेंदार इल्ली (एमसेक्टा एलबिस्ट्रिगा) ज्वार पादप पर ($\times \frac{6}{7}$); (1*a*) शलभ ($\times \frac{6}{7}$); (2) तिल की पत्ती और फली की इल्ली (एंटीगेस्ट्रा कैटालाइनेलिस) ($\times 2\frac{1}{2}$); (2*a*) शलभ ($\times 2$); (3) लाल कद्दू भृंग (औलेकोफोरा फोवाईकोलिस) ककड़ी की पत्तियों को खाता हुआ; (3*a*) लारवा ($\times 4\frac{1}{2}$); (4) कुकरबिट फल मक्खी (डाकस कुकरबिटी) ($\times 3$); (4*a*) मैगट; (5) तम्बाकू की इल्ली (प्रोडेनिया लिटूरा) ($\times 1\frac{1}{4}$); (5*a*) शलभ ($\times \frac{3}{4}$); (6) कॉफी तना वेधक (जाइलोट्रेकस क्वेड्रीपेस) ($\times 1\frac{2}{3}$); (7) चाय मच्छर (हेलोपेल्टिस एण्टोनी) ($\times 2$); (8) चमेली (एण्टेस्टिया क्रूसियाटा) ($\times 2$); (9) तना मेखलक भृंग (स्थीनियस ग्रिसेटर) (असली आकार), (10) नारंगी तना वेधक (मोनोकैमस वर्स्टीजाई) (असली आकार); (11) आम की गुठली का घुन (क्रिप्टोरिंकस मेंजीफेरी) ($\times 4$); (12) आम फल मक्खी (डाकस फेरूजिनियस) मादा ($\times 3\frac{1}{2}$), (12*a*) मैगट; (13) केले का मूल घुन (कास्मोपोलीटीस सार्डिडस) ($\times 3$); (13*a*) सिर का पार्श्वीय दृश्य; (14) बेर फल मक्खी (कार्पोमाइया वेसुवियाना) ($\times 4$); (15) सेब का रोयेंदार एफिस (इरियोसोमा लैनिजेरम) पक्षहीन मादा ($\times 10$); (16) गैंडा भृंग (ओरिक्टस राइनोसेरस) (असली आकार); (16*a*) नर का पार्श्वीय दृश्य, (17) लाल ताड़ घुन ($\times 1\frac{1}{3}$); (17*a*) नर के सिर का पार्श्वीय दृश्य; (18) सिगरेट भृंग (लैसियोडरमा सैरीकोर्न) ($\times 8$); (18*a*) तम्बाकू की पत्तियों से ठसा लारवा ($\times 8$), (18*b*) क्षतिग्रस्त सिगार भृंग के निष्क्रमण छिद्र सहित

जाता है या मर जाता है. कभी-कभी प्ररोहों पर प्ररोह घुन, **एलसाइडिस मिस्टिकस** के कारण भी पिटिकाएँ बन जाती हैं. बी-एच-सी या डी-डी-टी के छिड़काव या प्रकीर्णन से इन नाशक-कीटों की रोकथाम की जा सकती है.

जूट (**कारकोरस** जातियाँ) की उत्तम फसल की कसौटी है रेशे की लम्बाई. इस कारण वे नाशकजीव जो पौधे की बाढ़ रोकते हैं या रेशे को छिन्न करते हैं, गंभीर माने जाते हैं. प्रारम्भिक अवस्था में जूट के पौधे पर **लेफिग्मा एक्सिगुआ** हुब्नर और **डायाक्रीसिआ आब्लीका** वाकर जैसी यूथी इल्लियाँ, और जूट का अर्धलूपर, **एनोमिस सेब्यूलिफेरा** गुएने आक्रमण करके फसल की बाढ़ को रोकते हैं. पर्णखनन-भृंग, **ट्रैकिस पैसिफिका** और पीला माइट, **हैमीटारसोनीमस लेटस** बैंक्स, पेड़ को कमजोर कर देते हैं. जूट का घुन, **एपिआन कार्कोराई** मार्शल इस फसल का एक और भयंकर नाशक है. यह घुन या तो नये पौधे के ऊपरी प्ररोह में अंडे देता है जिससे अगल-बगल प्ररोह विकसित हो जाते हैं, या वयस्क पौधे की पत्तियों के कक्ष में अंडे देता है जिससे ग्रब रेशों को काट डालते हैं. कभी-कभी **ब्रेकीट्राइपीस पोर्टेण्टोसस** झींगुर भी जूट की फसल के लिए नाशकजीव सिद्ध होते हैं. बी-एच-सी या डी-डी-टी के छिड़काव या प्रकीर्णन से इनमें से कई नाशकजीवों की रोकथाम की जा सकती है. चूना-गंधक छिड़काव से माइट का नियंत्रण किया जा सकता है.

सन हेम्प के छोटे पौधों का पिस्सू भृंग, **लाँगीटार्सस बेलगोमेन्सिस** जैकोबी और टिड्डे क्षति पहुँचाते हैं. बढ़ती हुई फसल पर सन हेम्प शलभों, **उटीथाइसा पुलकेला** लिनिअस, **एरजीना क्रिब्रैरिया** क्लर्क और **ए. सिरिञ्जा** क्रैमर की इल्लियों के आक्रमण की सम्भावना रहती है. शिखर प्ररोह का वेधन पिटिका निर्मायक शलभों, **एनारसोनिया स्यूडोनेक्टिस** मेयर द्वारा होता है. कभी-कभी कैप्सिड बग, **रैगमस इम्पौरट्युनीटस** डिस्टेंट, से ग्रस्त होकर पूरी फसल नष्ट हो जाती है. डेकनी हेम्प, **हिबिस्कस कैनेबिनस** लिनिअस के छोटे पौधों को इल्लियाँ क्षति पहुँचाती हैं और बाद में वयस्क पौधों का वेधन प्ररोह वेधक घुन, **एलसीडोडिस लिओपारडस** ओलिवर और **ए. एफैबर** करते हैं. शलभों को हाथ से चुनकर या जाली में पकड़ कर इन नाशकजीवों की रोकथाम की जा सकती है. प्रकाश-पाश और चिपकने वाली तख्तियाँ भी इन शलभों को पकड़ने के लिये काम में लाई जाती हैं यदि फसल गम्भीर रूप से ग्रस्त हो तो डी-डी-टी के छिड़काव या प्रकीर्णन से लाभ हो सकता है.

रामबाँस (**एगेव अमेरिकाना** लिनिअस) के पेड़ के केन्द्रीय प्ररोहों के आधार पर राइनोसेरोस भृंग, **ओरिक्टिस राइनोसेरोस** लिनिअस, आक्रमण करके क्षति पहुँचाता है.

नकदी और बागानी फसलें—*गन्ने के प्रमुख नाशकजीव* दीमक, वेधक शलभ, लीफ हापर, मीली बग और मीली विंग हैं. इनमें से वेधक और लीफ़ हापर गम्भीर क्षति पहुँचाते हैं.

गन्ने की कलमों पर सफेद दीमकों, मुख्यतः **ओडोण्टोटर्मिस (साइक्लोटर्मिस) ओबीसस** रैम्बर जाति के दीमकों के आक्रमण का भय रहता है. रोपने से पूर्व कूँडों में एल्ड्रिन या बी-एच-सी के विकीर्णन द्वारा कलमों को दीमकों से बचाया जा सकता है.

वेधक शलभ, **आरजार्यरिया स्टिक्टीक्रैस्पिस** हैम्पसन और **डायट्रीया विनोसाटा** वाकर प्रतिनिधि तना वेधक हैं; शिखर प्ररोह वेधक या श्वेत वेधक, **स्किरपोफागा नाइवेला** फैब्रीसिकस शिखर के प्ररोह का वेधन करता है. पंजाब में पंजाब वेधक, **बाइसीटिया स्टेनिला** हैम्पसन, फसल के तैयार होने के कुछ पूर्व प्रगट होता है किन्तु फिर भी प्रायः गन्ने की फसल को नष्ट कर देता है. प्रकन्द वेधक, **एमेलोसेरा डिप्रेसेला** (स्विनहो) टिलरों और प्रकन्दों पर आक्रमण करता है और कभी-कभी इसके द्वारा बहुत क्षति होती है. वेधक-मुक्त कलमें लगाकर, ग्रस्त पौधों को उखाड़ कर और अण्ड समूहों को नष्ट करके फसल की रक्षा की जा सकती है. नये पौधों पर मिट्टी चढ़ाकर तुरन्त सिंचाई कर देने से भी क्षति में कमी आती है. भारतवर्ष के कुछ भागों में अण्ड परजीवी, **ट्राइकोग्रामा माइन्यूटम** रिले की सहायता से इस कीट पर जैव नियंत्रण का प्रयास किया गया किन्तु विशेष सफलता नहीं मिली.

गन्ने पर कई रस-चूषक बग आक्रमण करते हैं और कुल मिलाकर इस फसल को काफी क्षति पहुँचाते हैं. गन्ने का लीफ हापर, **पायरिला परप्यूसिल्ला** वाकर, बहुधा बड़ी तेजी से संख्या में बढ़ता है जिससे फसल की बाढ़ रुक जाती है और रंग पीला पड़ जाता है. गन्ने की सफेद मक्खी, **एल्युरोलोबस बैरोडेन्सिस**, पत्ती की निचली सतह पर आक्रमण करती है और प्रायः गम्भीर नाशक-कीट सिद्ध होती है. मीली बग की विभिन्न जातियाँ भी गन्ने की शत्रु होती हैं जिनमें से **सैकेरीकोकस सैकेराई** सबसे सामान्य है. यह पर्ण आवरण से ढके हुए जोड़ों पर प्रहार करती है. पंजाब के कुछ भागों में काला बग, **मैक्रोपेस एक्सकैवेटस** डिस्टेंट, गन्नों को विशेष हानि पहुँचाता है.

भारतवर्ष के कुछ हिस्सों में जुलाई से अक्तूबर के बीच गन्ने की फसल को धान और ख़रीफ के टिड्डों, **हीरोग्लाइफस बैनिअन** फैब्रीसिकस और **ही. नाइग्रोरेप्लेटस** से भी भारी नुकसान पहुँचने की सम्भावना रहती है. इन नाशक-कीटों की रोकथाम फसल पर बी-एच-सी का प्रकीर्णन करके की जा सकती है.

तम्बाकू (**निकोटिआना टैबैकम** लिनिअस) और अन्य संवेदन-मंदकों (नार्कोटिकों) पर भी कीटों का आक्रमण होता है. नर्सरी में तम्बाकू की पौधों पर और खेत में तम्बाकू के छोटे पौधों पर तम्बाकू की इल्ली, **प्रोडीनिया लिट्यूरा** फैब्रीसिकस इतनी संख्या में देखी जाती है जिससे कि फसल नष्ट हो सकती है. उत्तर भारत में कटवर्म, **एग्रोटिस यिप्सिलौन**, झींगुर और टिड्डे भी फसल पर आक्रमण करते हैं. तम्बाकू की विशेषता एवं उसका बाजार मूल्य पत्तियों की निष्कलंकता पर निर्भर करता है इसलिए फसल को नाशकजीवों से मुक्त रखना उत्पादक की दृष्टि में अत्यन्त महत्वपूर्ण है. एफिड, **माइजस परसिकी**, कपास की सफेद मक्खी, **बेमेजिया टैबेकाई** और तम्बाकू के बग, **एंगाइटेटस टेन्यूस** से ग्रस्त पौधों को पर्ण-कुंचन रोग हो जाता है. चने की इल्ली, ***हेलियोथिस आर्मीजेरा*** *हुब्नर, बीज बनने* के लिये छोड़े हुए पौधों की सम्पुटिकाओं पर आक्रमण करती है. यह नाशकजीव अफीम की डोडों और गाँजे के शिखर प्ररोहों और पुष्पक्रमों पर भी आक्रमण करता है किन्तु गाँजे का प्रमुख शत्रु **टेट्रानिकस टिलेरिअस** लिनिअस जाति का माइट है. उत्तर भारत में कभी-कभी अफीम की पौध को प्रारम्भिक अवस्था में गुजिया घुन, **टेनिमेकस इण्डिकस** लग जाता है. अधिकतर नाशक इल्लियों और घुनों का नियंत्रण बी-एच-सी या डी-डी-टी के प्रकीर्णन द्वारा और एफिड और माइट नाशकों का नियंत्रण

क्रमशः डायज़िनोन और गन्धक-चूने के छिड़काव द्वारा किया जाता है.

प्रायद्वीपीय भारत के पश्चिमी आर्द्र तट पर काली मिर्च (**पाइपर नाइग्रम** लिनिअस) के बहुवर्षीय बगीचे लगाये जाते हैं. इन स्थानों में स्केल और मीली बग इस फसल को ग्रस्त करते हैं. काली मिर्च के प्रधान शत्रु हैं: काली मिर्च का पिस्सू भृंग या पोल्यू भृंग, **लांगीटारसस नाइग्रीपेनिस** मातचुल्स्की, जो इसके सरस-फलों में अण्डे देता है. अण्डे से निकलने के बाद ग्रब सरस-फलों को खाकर खोखला कर देते हैं. प्यूपा बनने के कुछ पूर्व ग्रब टपक कर भूमि में प्यूपा बना लेते हैं. भृंगों के इन प्यूपों को नष्ट करने के लिए काली मिर्च की बेलों के चारों ओर की मिट्टी को निरन्तर गोड़ते रहना चाहिए. दक्षिण भारत में काली मिर्च का पेशी शल्क, **माइटिलेस्पिस पाइपेरिस** ग्रीन और काली मिर्च का मीली बग, **स्यूडोकोकस विरगेटस** गम्भीर नाशकजीव हैं. इनका नियंत्रण क्रमशः मछली के तेल से बने बिरोज़ा साबुन और मैलाथियोन के छिड़काव द्वारा किया जाता है.

पान की बेल (**पाइपर बेटल** लिनिअस) को कभी-कभी मीली बग, **फेरीजियना विरगेटा** से हानि पहुँचती है, किन्तु पान का सबसे नाशक-कीट मच्छर बग, **डिसफिक्टस पोलाइट्स** वाकर है. बम्बई क्षेत्र में **डि. मेसेरस** अधिक सामान्य है. वयस्क बग कोमल पत्तियों का वेधन करता है और पान की बेल पर अंडे भी देता है. अंडों में से जो छोटे-छोटे बग निकलते हैं वे भी उसी प्रकार कोमल पत्तियों को वेधते हैं. वयस्क और निम्फ बगों को चिपचिपे सूपों और शंकुओं द्वारा जालों और पाशों में पकड़ना और प्रतिकर्षक मिश्रणों का छिड़काव करना इनके नियंत्रण के उपयुक्त साधन बतलाये गये हैं. पाइरेथ्रम चूर्ण के प्रकीर्णन द्वारा भी इन बगों का नियंत्रण सम्भव है.

नील (**इंडिगोफेरा एरेक्टा** हॉखस्टेटर) का प्रमुख नाशक-कीट नील साइला, **एराइटेना पंक्टीपेनिस** है जो शिखर के प्ररोह पर आक्रमण करके फसल की बाढ़ को रोक देता है.

हल्दी (**करक्यूमा लांगा** लिनिअस), अरारोट (**क. अंगुस्टीफोलिया** रॉक्सबर्ग) और अदरक (**जंजिबर ऑफिसिनेल** रास्को) पर पर्ण इल्लियों, **पैंक्टोथ्रिप्स इण्डिकस** जाति के थ्रिपों और **स्टिफेनाइटिस टाइपिकस** डिस्टैंट जाति के टिंजिड बग का आक्रमण होता है. **डाइकोक्रोसिस पंक्टिफेरेलिस** गुएने की इल्ली हल्दी और अदरक के प्ररोहों को वेधकर फसल को नष्ट कर देती है. हल्दी की तितली की इल्ली, **यूडैस्पेस फोलस** क्रेमर, भी इन फसलों को बहुत हानि पहुँचाती है. जीरे और धनिये पर **लेफिग्मा एक्सिगुआ** हुब्नर की इल्ली और दो चूषक कीट, पुष्प-मुंड बग, और एक एफिड, आक्रमण करते हैं.

इलायची (**एलेटेरिया कार्डेमोमम मैटन**) पर कई नाशक-कीट आक्रमण करते हैं. उन वन प्रदेशों में जहाँ इलायची की खेती की जाती है, **यूप्टेरोट कनारैका** मूर की इल्लियाँ किसी-किसी वर्ष बहुत बड़ी संख्या में प्रगट होती हैं. वृक्षों को विपत्रित करने के पश्चात् इल्लियाँ अपने रेशम के धागों की सहायता से नीचे की वनस्पति पर (जिनमें कि इलायची की फसल भी होती है) उतर आती हैं. इलायची को इससे काफ़ी हानि पहुँच सकती है. इलायची का थ्रिप, **टेनियोथ्रिप्स कार्डेमोमाई** अय्यर, गम्भीर नाशकजीव है. यह फूलों और कोमल सम्पुटिकाओं का वेधन करके फसल का विनाश करता है. जड़ का घुन, **प्रोडिओक्टेस हेमैटिकस** शेव्रोलात, प्रकन्दों और मिथ्या स्तम्भों को वेध डालता है और केरल में इसे पुंज-विगलन रोग का कारण माना गया है.

पश्चिमी घाटों के विभिन्न भागों में दालचीनी (**सिनामोमम-जेलेनिकम** ब्रेयन) पर साइलिड बग, **पौरोसाइला डिप्रेसा**, पाया जाता है. इस नाशक-कीट के वयस्क और निम्फ पेड़ की पत्तियों और प्ररोहों पर पिटिकाएँ बनाते हैं.

कुछ पहाड़ी इलाकों में कपूर जायफल और लौंग के वृक्षों पर मृदु शल्क (**लिसेनियम** जातियाँ) की कुछ जातियाँ पाई गई हैं.

कोको (**थियोब्रोमा ककाओ** लिनिअस) की फलियाँ मीली बग, **स्यूडोकोकस सिट्राई**, से ग्रसित होती हैं. कोको का थ्रिप, **सेलीनोथ्रिप्स रुब्रोसिंक्टस** गियार्ड बगीचों में कोको का अति नाशकजीव सिद्ध होता है.

काफी की पत्तियों पर विभिन्न इल्लियों, भृंगों और रस-चूषक कीटों का आक्रमण होता है किन्तु इस फसल का सबसे घोर शत्रु हरा बग, **कोकस विरिडिस** ग्रीन, है. श्रीलंका में मुख्यतः इस कीट के कारण ही बड़े पैमाने पर काफी की खेती बन्द हो गई है. दक्षिण भारत में काफी का तना वेधक, **जाइलोट्रेकस क्वेड्रीपेस** शेव्रोलात भी प्रमुख नाशक-कीट है. कभी-कभी शाट-होल वेधक, **जाइलेबोरस मोर्सटेटाई**, भी फसल को बहुत हानि पहुँचाता है.

उत्तर तथा दक्षिण भारत में चाय की फसल क्रमशः चाय के मच्छरों, **हेलोपेल्टिस थाइवोरा** वाटरहाउस तथा **हे. ऐन्टोनाई** से बुरी तरह ग्रस्त होती है. यह नाशक-कीट प्रफुल्लों पर आक्रमण करते हैं. वयस्क और अल्पवयस्क बगों के वेधन से प्ररोह मुरझा जाते हैं. लाल मकड़ी या चाय का लाल माइट, **टेट्रानिकस बायोक्युलेटस** वुडमेसन भी पत्तियों के नये प्रफुल्लों पर आक्रमण करता है. **कोप्टोटरमिस** जाति की दीमक स्वस्थ चाय के झाड़ों के सारकाष्ठ में अपने घोंसले बना लेती है. पेड़ पर शल्क कीटों, पर्ण-हापरों, पादप जुओं, थ्रिपों, और माइटों के भी कभी-कभी आक्रमण होते रहते हैं. पत्तियों को कई जातियों की इल्लियाँ खा सकती हैं, जैसे लाल स्लग, **हेटेरूशिया-सिंगाला** मूरे, लूपर, **बुजूरा** जाति; नेटिल या जिलेटिन ग्रब, **थोसिया**, **पारासा** और **बेलिप्पा** जातियाँ; बैगवर्म, सैंडविच इल्ली, **सिकलारा** जाति, केंकड़ा इल्ली, **स्टौरेपस** जाति और बंच इल्ली, **एण्ड्रैका** जाति. तनों और शाखाओं पर आक्रमण करने वाले कीटों में शाट-होल वेधक, **जाइलेबोरस फोरनिकेटस** एरिखसन, प्रमुख है. यह श्रीलंका और दक्षिण भारत के कुछ भागों में चाय की फसल का एक गम्भीर नाशक-कीट है.

सिनकोना लेजेरियाना मोएन्स के पौधों के वर्षा के आरम्भ में काकशेफर भृंग, **होलोट्रिकिया रेपेटिटा** और **राइज़ोट्रोगस रूफस** ऐरो से विपत्रण की सम्भावना रहती है. चाय के मच्छर, **हेलोपेल्टिस** जातियाँ और **डिसफिक्टस ह्यमेरेलिस** वाकर भी कोमल प्ररोहों को हानि पहुँचाते हैं. भूमिगत ग्रबों का विनाश करके और बीज-क्यारियों को कच्चे तेल के पायस के जलीय घोल से सींच कर इन नाशकजीवों पर नियंत्रण रखा जा सकता है.

श्रीलंका और केरल में रबड़ के पेड़ (**हीविया ब्रेजिलिएंसिस म्यूलर**) की छाल पर कभी-कभी छाल भक्षी इल्लियों, **कोमोक्राइटिस** और **एयरेंस्टिस** जातियों का आक्रमण होता है. **बैटोसेरा रुबस** लिनिअस के ग्रब तने का वेधन करते हैं.

ग्लिप्टोटरमिस डाइलेटेटस जाति की दीमक कभी-कभी पेड़ पर आक्रमण कर इसके सारकाष्ठ में घोंसले बना लेती हैं. कुछ शल्क कीट, जैसे **एस्पीडियोटस, सायनोफ़ाइलाई, सैसेशिया (लीसेनियम) नाइग्रा** बहुधा टहनियों और पत्तियों पर पाये जाते हैं.

साग भाजी की फसलें—बैंगन (**सोलेनम मिलौंजीना** लिनिअस) के नाशक-कीट मुख्यत: वेधक, पर्ण भक्षक और कभी-कभी कुछ चूषक कीट होते हैं. पर्ण भक्षी सोन पंखी भृंग (लेडी बर्ड बीटिल), **एपिलेकना 28-पंक्टेटा** फ़ैब्रीसिकस प्राय: क्षतिकारी सिद्ध होता है; यह ग्रब और वयस्क दोनों ही अवस्थाओं में फसल पर आक्रमण करता है. यह भृंग बैंगन के अतिरिक्त अन्य साग-भाजी की फसलों जैसे आलू, टमाटर और विभिन्न कुकरविटों (खीरा वर्गीय) पर भी आक्रमण करता है. लेसविंग बगों की कुछ जातियाँ जैसे **यूरेंशियस एकाइनस** डिस्टैंट बड़ी सख्या में बैंगन के छोटे पौधों पर प्रजनन करती हैं: वयस्क पेड़ एक मीली बग, **फिनाकोकस इन्सोलिटस** ग्रीन की कॉलोनियों से ग्रसित होते हैं. **एम्पोस्का डेवास्टन्स** डिस्टैंट नामक जैसिड पत्तियों को रोग ग्रस्त कर देता है. गुलाबी इल्ली, **ल्यूसीनोडेस ऑरबोनैलिस** गुएने पहले पौधे के शिखर प्ररोहों का वेधन करती है और फिर फलों का वेधन करती है जिससे इनका बाजार मूल्य घट जाता है. **यूज़ोफेरा पार्टिसेला** वेधक तने का वेधन करता है. ग्रसित प्ररोहों कलियों और फलों को नष्ट करके और खेती की उन विधियों को प्रयोग में लाकर जिनसे कि पौधे की अत्यधिक वृद्धि होती है, इन नाशक-कीटों पर नियंत्रण प्राप्त किया जा सकता है. सोन पत्री भृंगों और कुछ चूषक कीटों की रोकथाम के लिए ग्रसित पौधों पर डी-डी-टी या बी-एच-सी का प्रकीर्णन या छिड़काव किया जाता है.

टमाटर (**लाइकोपरसिकॉन एस्क्यूलेंटम** मिलर) के नाशक-कीटों में **एपीलेक्ना** जातियाँ और कच्चे फलों को खा डालने वाली चने की इल्ली, **हेलियोथिस आर्मीजेरा** हुब्नर उल्लेखनीय हैं. इन कीटों का हाथ से चुनकर और आमाशय कीटनाशियों के प्रयोग द्वारा सफल नियंत्रण किया जा सकता है.

कुकरविटेसी कुल की बहुत-सी उगाई जाने वाली साग भाजी की फसलों जैसे कि खीरे, कद्दू और करेले के पौधों पर प्रारम्भिक अवस्था में कद्दू के लाल भृंग, **ओलैकोफोरा फोवाईकोलिस** लूकास का आक्रमण होता है. यह केवल पत्तियों को ही नहीं खाता बल्कि इसके ग्रब जड़ को भी क्षति पहुँचाते हैं. इनमें से कुछ फसलों के पुष्प अंग धारीदार फफोला भृंग, **माइलेब्रिस पस्टुलेटा** थनबर्ग, द्वारा नष्ट हो जाते है. **डेकस कुकरबिटी, डे. सिलियेटस** और **डे. कौडेटस** फ़ैब्रीसिकस नामक फल-मक्खियों के मैगट फलों को नष्ट करते है. इन लताओं की पत्तियाँ प्राय: चिचिंडे के अर्धलूपर, **प्लूसिया (फाइटोमीट्रा) पेपोनिस** फ़ैब्रीसिकस की इल्लियों से ग्रसित होती हैं. विभिन्न प्रकार के बग (**एस्पोंगोपस** जातियाँ) और पादप जुएं (**एफिस** जातियाँ) पत्तियों को रसहीन कर देती हैं. करेले के प्ररोहों पर पिटिका मक्खी, **लसिओप्टेरा फेल्काटा** फैल्ट आक्रमण करती है और इस प्रकार दूरस्थ प्ररोहों पर पिटिकाएँ बन जाती हैं. **एपिलैक्ना** जातियों के भृंग लौकी (**लेजिनेरिया साइसिरेरिया** स्टैण्डले) के अतिरिक्त लगभग सभी कुकरविटों पर आक्रमण करते हैं. लौकी पर प्लूम शलभ, **स्फीनार्किस कैफ़र** जेल आक्रमण करता है. बी-एच-सी या डी-डी-टी के प्रकीर्णन द्वारा इनमें से कई नाशक-कीटों की रोकथाम की जा सकती है. ग्रसित फलों का विनाश करके और मक्खियों को जहरीले शीरे में फंसा कर फल-मक्खियों पर नियंत्रण किया जा सकता है.

भिंडी (**हिबिस्कस एस्कुलेण्टस** लिनिअस) पर कपास के बहुत से नाशक-कीटों का आक्रमण होता है, जैसे चित्तीदार डोंडा कृमि, **एरियास** जातियाँ, कपास का लाल बग, **डिसडरकस सिंगुलेटस** फैब्रीसिकस, प्ररोह घुन, **एलसिडोडिस एफेबर** और कपास का जेसिड, **एम्पोस्का डेवास्टैन्स** डिस्टैंट. भिंडी के पुष्पांग धारीदार फफोला भृंगों, **मायलेब्रिस फैलेराटा** पाल और **मा. पस्टुलेटा** थनबर्ग द्वारा विनष्ट होते हैं. इन नाशक इल्लियों और बगों का नियंत्रण डी-डी-टी के छिड़काव से और धारीदार फफोला भृंग को जाल द्वारा पकड़ कर किया जाता है.

सहजन के वृक्ष (**मोरिंगा ओलीफेरा** लामार्क) प्राय: लोमश इल्लियों, **यूप्टेरोट मॉलीफेरा** वाकर, के यूथों से ग्रसित हो जाते हैं. पत्तियों और फूलों की कलियों पर **नूर्दा ब्लाइटियेलिस** वाकर की इल्लियों का आक्रमण होता है. तने के चारों ओर जलती हुई मशाल लगाने से लोमश इल्ली का विनाश हो जाता है.

समशीतोष्ण क्षेत्रों में उगने वाली क्रूसीफेरी कुल की गोभी, पात गोभी, शलजम, मूली और कुछ अन्य साग भाजी की फसलें, सॉ मक्खी, पर्ण भक्षी और पर्ण वेधी इल्लियों, कटवा सुंडियों और पादप बगों (जिनमें पादप जुएँ और बग सम्मिलित हैं) से ग्रसित होती है. उद्यानों में उगाई जाने वाली फसलों, जैसे पात गोभी और मूली के और खेतों में उगाई जाने वाली राई, सरसों और तोरिया की फसलों के नाशक-कीट समान होते हैं. पत्तियों पर आक्रमण करने वाले नाशक-कीट हैं: सरसों की साफ्लाई, **ऐथेलिया प्राक्सिमा** जिसके लारवे इल्लियों से मिलते जुलते हैं, हीरक पृष्ठ शलभ, **प्लूटेला मैक्यूलीपेनिस** कुर्टिस; पात गोभी वेधक, **हेल्यूला उण्डेलिस** फैब्रीसिकस और पात गोभी की तितली, **पाइरिस ब्रेसिकी** लिनिअस जो उत्तर भारत के पर्वतीय क्षेत्रों की तलहटी तक ही सीमित है. रस-चूषक कीटों में पात गोभी फूंगा या रंगीन फूंगा, **बैग्राडा क्रूसीफेरारम** प्राय: महाविनाशकारी सिद्ध होता है और सरसों की लाई, **लिपेफिस एरिसिमाई** डेविस कभी-कभी फसल को नष्ट कर देती है. कभी-कभी पात गोभी, गोभी और मूली के छोटे पौधों पर छोटा पिस्सू भृंग, **फाइलोट्रेटा, क्रूसीफेरी** और प्याज के थ्रिप **थ्रिप्स टैबेकाई** के भी आक्रमण होते हैं. इल्लियों को हाथ से चुनकर विनष्ट किया जा सकता है. डी-डी-टी या बी-एच-सी के छिड़काव या प्रकीर्णन से प्राय: सभी नाशक-कीट नष्ट हो जाते हैं.

मिर्च के पौधों पर थ्रिप्स, **स्किर्टोथ्रिप्स डौरसेलिस** हुड के आक्रमण से पर्ण-कुंचन रोग हो जाता है. खेत में रोपण से पूर्व यदि नर्सरी में ही पौधों पर तम्बाकू का चूर्ण भुरक दिया जाये तो थ्रिपों की रोकथाम हो सकती है. बी-एच-सी के प्रकीर्णन या छिड़काव से भी नियंत्रण सम्भव है.

शाकों में से चौलाई जातियों (**अमेरेन्थस** जातियों) पर तना वेधक घुन, **हाइपोलिक्सस ट्रंकैटुलस** के आक्रमण से पिटिकाएँ जैसी बन जाती हैं. **लैम्प्रोसीमा (नैकोलिया)** जाति भी नन्हें पौधों पर आक्रमण करती है. ग्रसित पौधों के शिखर प्ररोहों को तोड़कर और घुनों को हाथ से पकड़कर नष्ट करना चाहिए; जंगली चौलाई के आसपास लगे पौधों को अवश्य उखाड़कर नष्ट

करना चाहिए क्योंकि फ़सल बीत जाने पर इधर-उधर उगे पेड़ घुनों के वासस्थल बन जाते हैं.

शकरकन्द (**आइपोमिया बटैटास** लामार्क) के नाशक-कीटों में स्फिंक्स शलभ, **हर्स कानवलवुलाई** लिनिअस, कछुआ भृंग, **एस्पीडोमार्फा मिलियरिस** फैब्रीसिकस और **मेट्रीओना सरकमडाटा** उल्लेखनीय हैं. शकरकन्द को सबसे अधिक हानि शकरकन्द के घुन, **साइलस फौरमिकेरियस** फैब्रीसिकस से पहुँचती है. यह घुन खेतों में कन्दों के भीतर अंडे देता है और गोदाम में पहुँचकर इन अण्डों का विकास होता है. इस घुन की बाधा को रोकने के लिए लताओं को गहरे रोपना चाहिये तथा समय-समय पर गोदामों का धूमन करते रहना चाहिए.

आलू (**सोलैनम ट्यूबेरोसम** लिनिअस) विभिन्न प्रकार के नाशक-कीटों से बाधित होता है. छोटे पौधों पर कटवा सुंडियों (**एग्रोटिस** और **यूक्सोआ** *जातियों*) के *आक्रमण की* आशंका रहती है. बढ़ती फसल पर कपास का जैसिड और एपिलेकना भृंग आक्रमण करते हैं. आलू का सबसे गम्भीर शत्रु आलू का शलभ (आलू कंद पतंगा), **नारीमोशेमा ओपर-कुलेला** है. यह एक पर्ण खनिक है किन्तु इससे कन्दों को सर्वाधिक क्षति गोदाम में पहुँचती है. इससे ग्रस्त आलुओं को तुरन्त नष्ट कर देना चाहिए. आलू को बालू में संग्रहीत करके इस शलभ से बचाया जा सकता है. परिवहन के समय भी आलू को रोगमुक्त रखने की सावधानी बरतनी चाहिए.

खेत में प्याज और लहसुन को प्याज के थ्रिपों, **थ्रिप्स टैबेकाई** से क्षति पहुँचती है. धारीदार मूँगफली के थ्रिप, **हेलियोथ्रिप्स इण्डिकस** कभी-कभी पत्तियों को चीरकर उनके रस को चूस कर प्याज को हानि पहुँचाते हैं. नियंत्रण के रूप में पौधों पर तम्बाकू के चूर्ण का प्रकीर्णन और तम्बाकू के काढ़े का छिड़काव किया जा सकता है. खेत की नियमित सिंचाई और गुड़ाई से इन नाशक-कीटों से रक्षा सम्भव है. बी-एच-सी के छिड़काव या प्रकीर्णन से भी रोकथाम में सहायता मिलती है.

हाथी रतालू (**अमॉर्फोफैलस** जातियों) की पत्तियों पर प्राय: लाल और काले चित्तीदार भृंग, **गैलेयूसिडा बाइकलर** होप का आक्रमण होता है परन्तु इससे विशेष हानि नहीं पहुँचती है. संग्रहीत कंद प्राय: शल्क कीट, **एस्पीडियोटस हार्टाई** से बाधित हो जाते हैं. दक्षिण भारत में कसावा (**टेपिओका**) (**मैनीहोट एस्कुलेण्टा** क्रांट्ज) के पौधों पर कभी-कभी शल्क कीट **ओनि-डोमायटिलस एल्बस**, आक्रमण करता है.

कोलोकेशिया कुछ ही कीटों से बाधित हो सकता है. श्वेत चित्तीदार-पिस्सू भृंग, **मोनोलेप्टा सिगनाटा** ओलिवर पत्तियों का भक्षण करता है. नियंत्रण के लिये आर्सेनेट चूर्ण का प्रकीर्णन उपयोगी सिद्ध होता है.

कूर्कान (**कोलियस पार्वीफ्लोरस** बेंथम) कन्द की फसल, जो सामान्यत: पश्चिमी तट पर बोई जाती है, **पिकनारमोन क्रिब्राटा** फैब्रीसिकस और **फौस्ट्रिया पायसुसालिस** वाकर नामक पर्णभक्षी इल्लियों के आक्रमण से ग्रस्त होती है. इनमें से पहली इल्ली को ब्रेकोनिड परजीवी, **माइक्रोगैस्टर सैरी** की सहायता से नियंत्रण में रखा जाता है. सेम की फसलों पर सेम की एफिस, **एफिस क्रैकीवोरा** कॉच का आक्रमण होता है. निकोटीन सल्फेट या पायरेथ्रम के छिड़काव से इस एफिस की रोकथाम की जा सकती है.

चारे और हरी खाद के पौधे

गाय-भैंस और अन्य मवेशियों के चारे के अन्तर्गत घासें तथा जंगली और कृष्य पौधे आते हैं.

किन्हीं-किन्हीं वर्षो चरागाहों पर सेना सूँडियाँ (आर्मीवर्म) जैसे **सिरफिस यूनीपंक्टा** हावर्ड और **सि. एल्बीस्टिग्मा** मूरे और एक सूंडी, **स्पोडोप्टेरा मोरीशिया** बासडुवाल के आक्रमण हो जाते हैं. ये इल्लियाँ बहुत बड़े-बड़े झुँड बनाकर घास के मैदानों को स्थान-स्थान पर खाकर साफ कर देती हैं. ग्रस्त क्षेत्रों से निकले हुए शलभ, प्रजनन के लिए दूर चले जाते हैं.

कृष्य चारे की घासों पर भी इल्लियों के आक्रमण की संभावना रहती है, परन्तु इन घासों को बाजार भेजने के लिए समय-समय पर काटा जाता है इसलिए ये इल्लियाँ नाशकजीवों का रूप धारण नहीं कर पाती. ल्यूसर्न (**मेडिकागो सैटाइवा** लिनिअस) *और विभिन्न प्रकार के क्लोवर के मैदानों में ल्यूसर्न* इल्ली, **लेफिग्मा एक्सिगुआ** हुब्नर का हमला दल बाँध कर होता है. कभी-कभी **प्रोडीनिया लिटुरा** फैब्रीसिकस की इल्लियों का भी धावा हो जाता है. ल्यूसर्न पर पत्तियों के घुन, **हाइपेरा** जाति, का भी हमला होता है. इस घुन के हरे अब इल्लियों की ही भाँति, पत्तों का भक्षण करते हैं. ल्यूसर्न पर कई प्रकार के पादप जूँओं, विशेषत: **एफिस क्रैसीवोरा** कॉच, का भी आक्रमण होता है. ल्यूसर्न की जड़ों का वेधन प्राय: **स्फीनोप्टेरा पेरोटेट्टाई** गुएने करता है. यह कीट मूँगफली के तनों पर भी आक्रमण करता है.

सेस्बेनिया जातियों को पौध की अवस्था में दलबद्ध इल्लियाँ, यथा **प्रोडीनिया** जातियाँ, गम्भीर क्षति पहुँचाती हैं. **से. ग्रैंडी-फ्लोरा** पर्सून के प्ररोहों का वेधन प्ररोह घुन, **एल्सीडोडिस ब्यूबो** फैब्रीसिकस करता है. इसके तनों पर वेधक-इल्ली, **एजाइगोफ्लेप्स स्कैलेरिस** फैब्रीसिकस के आक्रमण का भय रहता है. **सेस्बेनिया** की सभी जातियों की हरी फलियाँ बीज-चैलसिड, **ब्रूकोफैगस मेलिपेस** गाहन द्वारा इस हद तक ग्रसित हो जाती हैं कि अगली फसल के लिए पर्याप्त मात्रा में बीज एकत्रित करना कठिन हो जाता है.

डाडप वृक्ष (**एरिथ्रायना** जातियाँ) छाया और हरी खाद के लिये लगाये जाते हैं. काली मिर्च, पान और अंगूर की बेलों को सहारा देने के लिये भी इन पेड़ों को रोपा जाता है. इसके नये कोमल प्ररोहों को प्राय: प्ररोह इल्ली, **टेरेस्टिया मेटिकुलो-सेलिस** गुएने वेध करके नष्ट कर देती है. यह इल्ली इस पेड़ की फलियों का भी वेधन कर डालती है. एक बड़े आकार का प्ररोह बग, **साइक्लोपेल्टा सिस्सिफोलिया** वेस्टवुड शाखाओं पर बड़े दलों में आक्रमण करता है जिससे पेड़ मुरझा जाता है. शाखाओं का मेखला भृंग कभी-कभी बहुत-सी शाखाओं को खाकर उनको मेखलित कर देता है.

धान उगाये जाने वाले क्षेत्रों में जंगली आक या मदार (**कैलो-ट्रापिस** जातियाँ) की पत्तियाँ हरी खाद के रूप में, बड़ी मात्रा में, प्रयुक्त की जाती है. इसकी पत्तियों का भक्षण **डेनायस क्राइसिप्पस** लिनिअस तितली की इल्लियाँ करती हैं. आक का टिड्डा, **पोसीलोसेरस पिक्टस** फैब्रीसिकस केवल **कैलोट्रापिस** जाति के पौधों पर ही पाया जाता है और प्राय: इन पौधों को विपत्रित कर देता है. इसके फलों में एक घुन, **पेरामीकौप्स फेरिनोसा** वीडेमान अंड निक्षेपण करता है. अंडों से अब निकल कर रुई

में घुस जाते हैं. इसी प्रकार फल-मक्खी, **डेकस लौंगी-स्टाइलस** वीडेमान के मैगट भी फलों को वेध कर हानि पहुँचाते हैं.

उद्यान और छायादार वृक्ष

गुलाब (**रोज़ा** जातियाँ) – वसन्त ऋतु में काकशेफर भृंग प्रायः गुलाब के झाड़ों को विपत्रित कर देते हैं. गुलाबों पर नाशक इल्लियों, जैसे **एकेइया जनाता** लिनिग्रस, **स्टौरोपस ग्राल्टर्नस** वाकर और **पारसा लेपीडा** और शल्क-कीटों, मुख्यतः **एस्पीडियोटस ओरैण्टाई** सिन. **ग्रानिडियेला ओरैण्टाई** का आक्रमण होता है. उपहिमालयी क्षेत्रों में गुलाब की पत्तियों को **ग्रार्जे** जाति की सॉफ्लाई के ग्रब भी क्षति पहुँचाते हैं.

चमेली वंश के पेड़ (**जैस्मिनम** जातियाँ) – चमेली विभिन्न शल्क-कीटों, मीली बगों और टिंजिड बग, **लेप्टोफारसा अय्यराई** ड्रेक के आक्रमणों के अतिरिक्त चमेली बग, **एण्टेस्टिया क्रूसियाटा** फैब्रीसिकस से भी ग्रस्त होती है. इस बग के लग जाने पर कलियाँ मुरझाकर झड़ जाती हैं. इस नाशक-कीट का नियंत्रण पौधों पर बी-एच-सी के प्रकीर्णन द्वारा किया जा सकता है.

कमल (**नेलम्बो न्यूसीफेरा** गेर्टनर) और **कुमुद** (**निम्फ़िया** जातियाँ) – कभी-कभी इसकी पत्तियों को **सिमायरा कौन्सपर्सा** मूर और **प्रोडीनिया लिटुरा** फैब्रीसिकस की इल्लियाँ खा जाती हैं. कलियों और पत्तियों पर पादप जुआँ, **रोपैलोसाइफम निम्फी** लिनिग्रस और थ्रिप भी लग जाते हैं.

कनेर (**नीरियम ग्रौलिएण्डर** लिनिग्रस) – इसकी झाड़ों को कभी-कभी जमुहाँ, **डाइलेफिला नेराई** लिनिग्रस और **यूप्लोई कोर** काम तितली की इल्लियाँ विपत्रित कर डालती हैं. ये **पारलेटोरिया ग्रोली** काल्व शल्क-कीट से भी ग्रसित हो सकते हैं.

उद्यान के क्रोटन (**कोडीयम** जातियाँ) मीली बगों, **ग्राइसेरिया इजिप्टिग्राका** डुगलस और **फेरीजियाना विरगेटा** तथा उष्ण गृह थ्रिपों, **हेलियोथ्रिपस हेमोरॉइडैलिस** द्वारा बुरी तरह से ग्रस्त हो सकती हैं. तने का मेखला कीट, **स्थेनियास ग्रिसेटर** फैब्रीसिकस टहनियों को मेखलित करके हानि पहुँचाता है. तुलसी (**ग्रोसिमम सैक्टम** लिनिग्रस) का पौधा भी एक छोटे काले लेसविंग बग, **मोनैन्थिया ग्लोब्यूलीफेरा** वाकर से आक्रान्त हो जाता है. **ग्राटिमीसिया** (समरी) के पौधों पर टिंजिड बग, **लेप्टोफारसा अय्यराई** ड्रैक के आक्रमण हो सकते हैं. छँटाई तथा तम्बाकू के काढ़े के छिड़काव से कीटों पर नियंत्रण किया जा सकता है.

बकुल (**मिम्युसाप्स एलेंजाई** लिनिग्रस) का वृक्ष दक्षिण भारत में काले थ्रिप, **ग्रारहेनोंथ्रिप्स रामाकृष्णी** हुड से प्रायः ग्रस्त हो जाता है और आक्रमित पत्तियाँ नलिकाकार पिटिकाओं में रूपान्तरित हो जाती हैं.

गुलदाउदी (**क्रिसेन्थिमम** जातियाँ) – गुलदाउदी की पत्तियों को प्रायः पर्ण लपेट, **लैम्प्रोसीमा इण्डिकेटा** फैब्रीसिकस तथा डायक्रीसिया जातियाँ और **प्रोडीनिया लिटुरा** फैब्रीसिकस की इल्लियाँ हानि पहुँचाती हैं. पर्ण-खनक, **फाइटोमाइज़ा एट्रीकोरनिस** भी इसकी पत्तियों को हानि पहुँचाता है. टिंजिड बग, **गेलिएटस रिटायरियस** डिस्टैंट और एफिड, **मैक्रोसाइफोनिएला-सेनबार्नाई** गिलीज जैसे रस-चूषक कीट भी इसको क्षति पहुँचाते हैं. उत्तर भारत में **ट्राइपेनी एमोना** मक्खी के मैगट गुलदाउदी के पुष्प शीर्षों में घुसकर फूलों को खराब कर देते हैं.

गुल मेंहदी (**इम्पेटियन्स** जातियाँ) – जमुहाँ, **थेरेट्रा-ग्रोल्डेनलैण्डी** फैब्रीसिकस की बड़ी इल्लियाँ गुल मेंहदी के पौधों को विपत्रित कर देती है और **मॉल्टियेल्मा बालसमीनी** मातचुल्स्की घुन तनों और शाखाओं पर पिटिकाएँ बनाते हैं.

शल्क कन्द (**लिलियम** जातियाँ, **क्रोकस** जातियाँ और **क्राइनम** जातियाँ) **पौलीटेला ग्लोरिग्रोसी** फैब्रीसिकस और **ब्रिथिस क्राइनाई** फैब्रीसिकस शलभों की मखमली काली इल्लियाँ उद्यानों की लिलियों को गम्भीर हानि पहुँचाती हैं.

गुलखैरा (**एलथिया रोजिया** कैवेनिलिस) और सूर्यमुखी (**हेलिएन्थस** जातियाँ) नामक **हिबिस्कस** जातियों पर प्रायः चित्तीदार सूंडियों, पर्ण लपेट इल्लियों, लाल और धमिल बगों, फफोला भृंगों और शल्क-कीटों का आक्रमण होता है. इनमें से अधिकतर कपास की फसल पर पाये जाते हैं. चने की इल्ली, **हेलियोथिस ग्रार्मीजेरा** हुब्नर कभी-कभी इनकी पत्तियों और पुष्पमुंडों का भक्षण करती हैं.

पारिजात (**निक्टैन्थिस ग्रारबोर-ट्रिस्टिस** लिनिग्रस) के प्ररोहों, पत्तियों और कलियों पर एक लेसियोकैम्पिड इल्ली, **मेटानैस्ट्रिया हिरटेका** क्रेमर और एक सूक्ष्म लेपीडोप्टेरीय कलिका इल्ली का आक्रमण होता है.

चम्पक (**माइकेलिया चम्पका** लिनिग्रस) – पश्चिमी घाटों के वृष्टि-प्रचुर क्षेत्रों, विशेषतः मालाबार, में चम्पक के नवीन वृक्षों की पत्तियों पर अबाबील-पुच्छी-तितली, **पैपीलियो ग्रगामैमनोन** लिनिग्रस की इल्लियों के आक्रमण का भय रहता है. इसकी इल्लियाँ वर्षा ऋतु में बड़ी संख्या में प्रगट होती हैं और शाखाओं का विपत्रण कर देती हैं.

जैट्रोफा जातियों पर मीली बग विशेषतः **स्यूडोकोकस विरगेटस** और **हेमिलिसेनियम इम्ब्रिकैन्स** ग्रीन जैसे शल्क-कीटों का आक्रमण होता है.

इक्सोरा जातियाँ **एस्पीडियोटस ट्राइलोबिटिफोरमिस** ग्रीन नामक शल्क-कीट से ग्रस्त होती हैं.

ग्राइपोमिया और **बोगेनविलिया** की कई जातियाँ नाशक-कीटों से मुक्त होती हैं. तने का मेखला भृंग, **स्थेनियास ग्रीसेटर** फैब्रीसिकस बेलों को किसी-किसी मौसम में क्षति पहुँचाता है.

साइकड और फर्न जैसे शोभाकारी पौधे, जो कि काँच घरों और फर्न घरों में रखे जाते हैं, शल्क-कीटों से, विशेषतः **चिग्रोनेस्पिस डाइलेटैटा** ग्रीन से ग्रस्त होते हैं.

मिलिंगटोनिया होर्टेन्सिस लिनिग्रस पुत्र पर साखू-विपत्रक, **हिब्लिई प्यरा** क्रेमर का आक्रमण होता है.

एलेन्थस एक्सेल्सा रॉक्सबर्ग के बड़े पेड़ों को **एलिग्मा नारसीसस** क्रेमर और **एट्टेवा** जातियों की इल्लियाँ विपत्रित कर देती हैं. यह वृक्ष कभी-कभी शल्क-कीट, **हेमीलिसेनियम इम्ब्रिकैन्स** ग्रीन से गम्भीर रूप से ग्रसित हो जाता है. नीम (**ग्रज़ैडिरेक्टा इंडिका** ए. जस्.) की पत्तियों को **थोसिया** जाति के नेटिल ग्रब से क्षति पहुँचती है. चाय का मच्छर, **हेलोपेल्टिस एण्टोनाई** सी नीम के नये प्रफुल्लों को झाँझर कर देता है, जिससे टहनियाँ सूख जाती हैं. दक्षिण भारत के कुछ भागों में नीम के मीली शल्क, **पुलविनेरिया मैक्सिमा** की घनी कॉलोनियों से ग्रावित होकर नीम की पत्तियाँ समय से पहले ही झड़ जाती हैं.

टोनिका निविफेराना वाकर प्ररोह वेधक सेमल (**साल्मेलिया मलाबारिका** शाट और एंडलिखर) के पेड़ का गम्भीर नाशक-

कीट है. सम्पुटिकाओं का वेधक, **मुडेरिया कौर्नीफ्रांस** मूर कोमल बीजों को खाता है और रुई को खराब कर देता है.

बीफवुड वृक्ष, **कैजुआरिना इक्विसेटिफोलिया** लिनिअस के बगीचे पर कभी-कभी **आइसेरिया इजिप्टिआका** डुगलस, **आ. फोर्मोकैरियम** और **पेरीसेरिया (आइसेरिया) परचेजाई** जैसे मीली बगों की कॉलोनियों और **लेबियोप्रोक्टस** जातियों के आक्रमण हो सकते हैं. तनों पर **कोलोस्टेर्ना स्केब्रेटर** फैब्रीसिकस भृंग के ग्रबों के आक्रमण की सम्भावना रहती है. यह छोटी शाखाओं के छल्ले उतार देता है और उन्हें पीस डालता है.

सिरिस (**अल्बिज़िया लेबेक** बेंथम) के प्ररोहों पर साइलिड बग, **ऐरीटैना** जातियों का आक्रमण होता है जिनसे वे मुड़कर गुच्छेदार बन जाती हैं. सेरैम्बाइसिड वेधक, **ज़ाइस्ट्रोसेरा ग्लोबोसा** ओलिवर इस वृक्ष का घातक नाशीजीव है.

बबूल (**अकेशिया अरेबिका** विल्डेनो) पर दक्षिण भारत में प्रायः फैगट कृमि, **क्लैनिया क्रैमेरियाई** वेस्टवुड, तथा शल्क-कीट, **ऐनामैलोकाक्कस इंडिकस** ग्रीन, आक्रमण कर देते हैं. **सोलोस्टर्ना स्पिनेटर** फैब्रीसिकस के ग्रब तने को बेध कर भीतर पहुँच जाते है और वयस्क कीट प्रायः नई शाखाओं की छाल को काट देते हैं. बाँस के कलमों पर **केलियोफोरा** जातियों के मैगटों का तथा कलम घुन, **सिर्टोट्रैकेलस डक्स**, का आक्रमण होता है जिसके ग्रब प्ररोहों में सूराख करते चलते है तथा बढ़ते हुए भागों को नप्ट कर देते हैं. कलमों पर **ओरेग्मा बैम्बूज़ी** तथा **आस्त्रोफेरा मॉण्टाना** डिस्टैंट का भी आक्रमण हो सकता है; दूसरा कीट एक पेंटाटोमिड बग होता है जो फूले हुए बाँसों पर लाखों की संख्या में प्रजनन करता पाया जाता है. सूखे बाँसों पर **स्ट्रोमैटियम बार्बेटम** फैब्रीसिकस तथा **डाइनोडेरस** जातियों का आक्रमण हो सकता है.

फल और फलदार वृक्ष

भारत के विभिन्न मैदानी इलाकों में सिट्रस, आम, केला, अमरूद, सपोटा तथा कुछ अन्य उष्णकटिबन्धीय एवं उपोष्णकटिबंधीय वृक्षों की बड़े पैमाने पर खेती की जाती है जबकि सेब, नासपाती, आड़ू, बादाम और अखरोट प्रायः पहाड़ी इलाकों में उगाए जाते हैं.

सिट्रस वृक्षों की नई पौधों तथा गमलों में लगाए गए कलमी पौधों के मुख्य नाशकजीवों में पर्ण सुरंगी, **फिल्लोक्निस्टिस सिट्रेला** जो अक्सर पौधे की वृद्धि को कम कर देते है, तथा नीबू-तितली, **पेपिलियो डेमालियस** लिनिअस की इल्लियाँ है जो नए-नए पेड़ों को बिना पत्ती के कर देती है; बाद वाला कीट फसल के दिनों में भी इन पेड़ों को भारी क्षति पहुँचाता है. अनेक चूषक नाशकजीव फसलों की उपज को कम कर देते हैं. इनमें से सबसे गम्भीर सिट्रस सिला **डायफोराइना सिट्राई** है जो उत्तर भारत और विशेषकर पंजाब के क्षेत्र में फल के बगीचों को हानि पहुँचाता है. नारंगी तथा अन्य सिट्रस किस्मों पर मीली-विंग नामक कीटों की अनेक जातियाँ आक्रमण करती पाई जाती हैं. इनमे से एक जाति **डायल्युराडीस सिट्राई** ऐशमियड से रस में कमी आती है तथा उपज में भी भारी कमी आ सकती है. भूमध्यसागरीय फल-मक्खी **सेरेटाइटिस कैपिटैटा** वीडेमान भारत में नहीं पाई जाती किंतु स्थानीय जातियाँ, **डैकस फेरुजिनियस** फैब्रीसिकस, **डै. ज़ोनैटस** तथा **डै. इन्सिसस** वाकर भारत के अनेक भागों में फसलों को भारी हानि पहुँचाती हैं. पकने वाले फलों के मुख्य नाशकजीव फल चूसने वाले शलभ हैं. **ओथ्रेइस फुल्लोनिया** तथा **ओ. मैटर्ना** लिनिअस जो फल के छिलके में सूराख बनाकर भीतर का रस चूस लेते हैं जिससे फल-गलन उत्पन्न हो जाता है और वे झड़ जाते हैं. भारी क्षति पहुँचाने वाले स्तम्भ-वेधकों में मैसूर में पाया जाने वाला टहनीवेधक, **केलिडोनियम सिक्टम** गुएरिन तथा केरल का **के. अर्जेण्टैटम** उल्लेखनीय हैं; **स्ट्रोमैटियम बाबटम** फैब्रीसिकस एक भयंकर नाशकजीव है जो नागपुर में पाया जाता है; **मोनोकैमस वर्स्टीजाई** बंगाल, बिहार तथा असम में पाया जाने वाला एक विनाशकारी वेधक है. छाल-भक्षी इल्ली, **इंदरबेला क्वाड्रीनोटैटा** वाकर नागपुर में पुराने वृक्षों को भारी नुकसान पहुँचाती है. इस पर तुरन्त नियंत्रण करने के लिए हाथों द्वारा अंडों और इल्लियों को चुनकर अलग कर देने का सुझाव दिया गया है. प्रभावित पत्तियों को या तो कतर दिया जाता है या उन पर से इल्लियाँ हटा दी जाती हैं फिर पौधों पर किसी प्रतिकर्षक अथवा कीट-नाशी का छिड़काव कर दिया जाता है. पके फलों को बाँस की टोकरियों से ढकना चाहिए ताकि चूषण-शलभ उन तक न पहुँच सके. डी-डी-टी तथा बी-एच-सी के छिड़कावों अथवा इनके प्रकीर्णन द्वारा इनमें से कई नाशकजीवों पर प्रभावकारी ढंग से नियंत्रण किया जाता है.

आम का पेड़ बहुत बरसों तक जीवित रहता है इसलिए यदि नाशकजीवों से उसकी रक्षा न की गई तो उपज पर काफी प्रभाव पड़ सकता है. आम के वृक्षों की पत्तियों पर अक्सर अरंडी स्लग, **पैरासा लैपिडा** क्रेमर तथा जंगली रेशम शलभ, **क्राइक्युला ट्राइफेनेस्ट्रेटा** लग जाते हैं. पर्ण-कर्तक घुन, **डेपीरोस मार्जिनैटस** तथा पिस्सू, **रिंकीनस मैंजीफेरी** मार्शल कोमल पत्तियों को नप्ट कर डालते हैं. कभी-कभी यूथी इल्ली, **आर्थेगा एक्सविनेसिया** हैम्पसन के कारण पत्तियों में जाला लग जाता है और पत्तियों के गुच्छे के गुच्छे सूख जाते हैं. आम पर प्ररोह वेधकों तथा गाल कीटों का भी आक्रमण होता है. बिहार तथा उत्तर प्रदेश के कुछ भागों में वृक्षों पर सिल्लिड बग **ऐप्सिला सिस्टेलेटा** के निम्फों द्वारा उत्पन्न होने वाला एक गम्भीर रोग, प्ररोह गाल, लग जाता है. इस सिल्लिड के नए-नए निम्फ प्ररोह के अंतिम सिरों पर अथवा पत्तियों के कक्षों में निकलते हुए पर्ण-मुकुलों पर आक्रमण करते हैं जिसके कारण प्रफुल्लनों के बजाय शंक्वाकार पेटी-जैसी गुटिका बन जाती हैं. आम के सबसे गम्भीर नाशकजीवों में आम के फुदक्के **इडियोसेरस निवियोस्पार्सस**, **इ. ऐटकिंसोनाई** तथा **इ. क्लाइपिएलिस** हैं जो पुष्पक्रम में लग जाते हैं जिससे फल बैठ नहीं पाते. इनमें से पहली जाति दक्षिण भारत में पाई जाती है जबकि शेष दो जातियाँ उत्तर भारत में पाई जाती हैं. पेड़ों पर डी-डी-टी छिड़कने से इन नाशकजीवों पर नियंत्रण हो सकता है. आम के कोमल प्ररोह एवं पुष्पक्रम पर कभी-कभी आम मीली बग **ड्रोसिका मैंजीफ़ेरी** ग्रीन गभीर रूप में लग जाता है जिसके कारण फलों का लगना रुक जाता है और वे समय से पहले झड़ जाते हैं. पेड़ों के तनों पर ग्रीज की पट्टी लगाने से इस नाशकजीव को नियंत्रित किया जा सकता है ताकि निम्फ ऊपर चढ़ ही न पाएँ, या फिर डायजिनान के छिड़काव से भी नियंत्रण किया जा सकता है.

पेड़ पर लगे छोटे-छोटे आमों पर आम के गुठली-घुन, **क्रिप्टोरिंकस मेंजीफेरी** फैब्रीसिकस, का आक्रमण हो सकता है जिसके अव गुठली को गरी में विकसित होते हैं तथा उसके भीतर ही प्यूपा अवस्था चलती है, फल के पक जाने पर घुन बाहर निकलते हैं. **क्रि. फ्रिजिडस** फैब्रीसिकस के अव फल के गूदे को खाते हैं, जिससे कालान्तर में फल नीचे गिर पड़ते हैं. पकने की स्थिति में फलों पर **डैकस फेरुजिनियस** फैब्रीसिकस, **डै. ज़ोनैटस** तथा **डै. डोर्सैलिस** हेण्डल, फल-मक्खियों का आक्रमण हो सकता है. इन सबके मैगट गूदे में सूराख करते जाते हैं और फलों को खराब कर देते हैं. गिरे हुए फलों के घुनों को नष्ट कर देना, कूड़ा करकट हटाना, तथा बाग की सामान्य सफाई रखना, ऐसे उपाय हैं जिनसे नाशकजीवों की रोकथाम में सहायता मिलती है.

आम के वृक्षों पर विविध प्रकार के स्तम्भ वेधकों का आक्रमण हो सकता है, जिनमें से **बैटोसेरा रुफोमैक्युलैटा** डेगियर सबसे प्रमुख है. **मोनोकैमस वर्स्टीजाई** के अव पूर्वी भारत में पेड़ों पर पाए जाते हैं. **एकैंथोफोरस सेरैप्टिकोर्निस** ओलिवर उत्तर भारत में पाया जाने वाला एक बड़ा भृंग है जो मिट्टी में सूराख करके जड़ों पर आक्रमण करता है. भृंगों के सुरंगों में से निकलने के पहले ही पेड़ों को गिरा कर लकड़ी काट ली जाती है. कभी-कभी नवरोपित आम वृक्षों पर अनेक शल्क-कीटों का गंभीर आक्रमण हो जाता है.

केले (**म्यूसा** जातियों) की पत्तियों पर कभी-कभी अनेक प्रकार की इल्लियों का आक्रमण हो जाता है, जैसे **डायक्रिसिया आब्लीका** वाकर, **पेरिकैलिया रिसिनाई** फैब्रीसिकस, **पैरासा लैपिडा** क्रेमर तथा **प्रोडीनिया लिटुरा** फैब्रीसिकस आदि. इन पेड़ों पर केला-ऐफिस, **पेण्टैलोनिया नाइग्रोनर्वोसा** भी लग सकता है जो केले के गुच्छशीर्ष-रोग वाइरस का वाहक होता है. किन्तु केले का सबसे भयंकर नाशकजीव मूल कांड घुन, **कास्मोपौलिटीस सार्डिडस** जर्मर है जो स्तम्भ के आधार पर अंडे देता है और उनसे निकले हुए अव मूल कांड में घुस कर सूराख करते चलते हैं. यह नाशकजीव अब समूचे उष्णकटिबंधीय क्षेत्र में फैल चुका है. एक और घुन, केला-वेधक घुन, **ओडायपोरस लांगिकोलिस** ओलिवर, जो बिहार, उत्तर प्रदेश, बंगाल तथा असम में पाया जाता है, कूट-स्तम्भ में सूराख करता है और पौधे को नष्ट कर देता है.

अमरूद (**सिडियम गुआजावा** लिनिअस) का सबसे गंभीर नाशक-कीट मीली शल्क, **पल्वीनेरिया सिडियाई** है. इससे प्रभावित पेड़ों पर एक कालिख जैसा फफूँद अथवा धूसर चूर्ण मढ़ जाता है. फल-मक्खी **डैकस फेरुजिनियस** फैब्रीसिकस, के मैगट तथा अरंडी के सम्पुट वेधक, **डाइकोक्रोसिस पंक्टीफेरैलिस** गुएने, की इल्लियाँ फलों के अंदर पहुँच जाती हैं और उन्हें नष्ट कर देती हैं. चाय-मच्छर, **हेलोपेल्टिस ऐण्टोनाई** दक्षिण भारत में नए प्ररोहों में सूराख करता है और फलों में स्कैब पैदा करता पाया गया है. ग्रस्त फलों को तोड़कर नष्ट कर देने से फल-मक्खी तथा प्रभावित पौधों पर बी-एच-सी अथवा डायजिनान के छिड़काव से मीली शल्क की रोकथाम में सहायता मिलती है.

अनार (**प्यूनिका ग्रैनैटम** लिनिअस) का सबसे भीषण नाशकजीव अनार-तितली, **विराकोला आइसोक्रेटीस** फैब्रीसिकस, है जिसकी इल्लियाँ फलों में सूराख करके बीजों को खा जाती हैं. यह नाशकजीव साधारणतया समस्त मैदानी इलाकों में पाया जाता है. एक और तितली, **एपिजार्बस ऐंकस** फुहस्टार्फर की इल्लियाँ कुमायूँ तथा देहरादून में फलों को इसी प्रकार से हानि पहुँचाती हैं. इनसे बचने के लिए बढ़ते फलों को कागज अथवा महीन कपड़े के थैलों में बंद कर दिया जाता है ताकि तितली उनमें अंडे न दे सके. नियंत्रण के लिए ग्रस्त फलों को नष्ट करने तथा तितलियों को हाथ-जालों से पकड़ कर नष्ट करने की सलाह दी जाती है.

अंगूर की बेल (**वाइटिस विनिफेरा** लिनिअस) का एक सबसे बुरा नाशकजीव सूक्ष्म भृंग, **स्केलोडाण्टा स्ट्रिगिकॉलिस** मात्चुल्स्की (बम्बई—उडद्य) है जो छाल पर रहता है और बसंत में पत्ती एवं पुष्पकलिकाओं पर आक्रमण करता है. यह अपने अंडे छाल पर ही देता है. अंडों से निकलने के बाद अव जमीन पर आ गिरते हैं और अंगूर की जड़ों को खाते हैं. पत्तों पर स्फिंजिड इल्ली, **हिप्पोटिआन सेलेरियो** लिनिअस लग जाया करती है जो कभी-कभी अंगूर की बेलों को पूरी तरह विपत्रित कर देती है. अंगूर की बेलों पर थ्रिपों की एक जाति, **राइपिफोरोथ्रिप्स क्रुएण्टेटस** हुड, शल्क एवं मीली बग, जैसे **ऐस्पीडिओटस लैटेनिई, लेकैनियम लांग्युलम** डुगलस तथा **पल्विनेरिया मैक्सिमा** के भी आक्रमण हो सकते हैं. फलों पर पिच्छक शलभ, **आक्सीप्टिलस रेग्युलस** मेअर की इल्लियाँ लग जाती हैं यह शलभ मैसूर और श्रीलंका में पाया जाता है. अंगूर की बेल का वलयी भृंग, **स्थेनियास ग्रिसेटर** फैब्रीसिकस शाखाओं के दूरस्थ भाग में अंडे देता है. ये शाखायें बाद में मुर्झा कर सूख जाती हैं. अंगूर की बेल के चैफर अव, **ऐडोरेटस** जातियाँ, जड़ों में लगते हैं. जिन शाखाओं में छल्ले बन चुके हों उन्हें नष्ट कर देना तथा भृंगों को विलग कर देने से इस वलयी भृंग पर नियंत्रण प्राप्त हो जाता है; अन्य दशाओं में डी-डी-टी, निकोटीन सल्फेट अथवा मछली के तेल के रोजिन साबुन के छिड़काव से इन नाशकजीवों को नियन्त्रित करने में सहायता मिलती है.

कृष्ट अंजीर (**फाइकस** जातियाँ) पर कभी-कभी निम्नलिखित कीटों की इल्लियों का आक्रमण हो जाया करता है : **एगैनेइस फाइकस** फैब्रीसिकस, **फाइकोडीस माइनर** मूर तथा **फा. रेडिएटा** जिनसे पेड़ों का विपत्रण हो जाता है; तथा स्तम्भ वेधक, **बैटोसेरा रयुफोमैक्युलैटा** डेगियर जो कुछ स्थानों पर गंभीर नाशकजीव के रूप में पाया जाता है. इन नाशकजीवों को या तो यांत्रिक विधियों द्वारा अथवा बी-एच-सी का प्रकीर्णन करके रोका जा सकता है.

एक छोटा घुन, **आकिरोमेरा आर्टोकार्पाई** मार्शल पश्चिमी घाट तथा मैसूर के कुछ भागों में बहुधा कटहल (**आर्टोकार्पस इंटेग्रा** मेरिल) की कलियों एवं नन्हें फलों पर लग जाया करता है जिससे ग्रस्त फल वृक्ष से झड़ जाते हैं. एक इल्ली, **मार्गेरोनिया सीजैलिस** वाकर स्तम्भ में छेद करती है. इसके नियंत्रण के लिए वेधक-छिद्रों में पेट्रोल अथवा कैल्सियम साइनाइड के धूमन की सलाह दी जाती है. ग्रस्त एवं गिरे हुए फलों तथा कलियों को नष्ट कर देने से तथा घुनों को चुन कर नष्ट कर देने से कलिका घुन की रोकथाम हो जाती है.

शरीफे (**अनोना स्क्वेमोसा** लिनिअस) के फलों पर मीली बग, **फेरिसियाना विर्गेटा**, के लगने की संभावना रहती है.

कुब्जी इल्ली, **कैरिया सब्टिलिस** वाकर, जामुन (**सिज़िगियम क्यूमिनाई** स्कील्स) के नए पौधों पर लग जाती है और पौधों का विपत्रण कर देती है. फलों की गुठली में बहुधा **बैलेनिनस सी-ऐल्बम** फैब्रीसिकस नामक घुन लग जाया करता है.

नेफोप्टेरिक्स यूग्रैफेला की इल्लियों से सपोटा (**ऐकरस ज़पोटा** लिनिअस) के प्ररोह मुरझा जाते हैं.

बेर वृक्ष (**ज़िज़िफ़स** जातियाँ) के मुख्य नाशकजीव बेर फल-मक्खी, **कार्पोमाइया वेसुवियाना** कॉस्टा, तथा वेधक इल्ली, **मेरिडार्किस साइरोडीस** मेय्रर हैं.

लीची (**लिची चाइनेन्सिस** सोनेरैट) के मुख्य नाशकजीव लीची पर्णकुंचनी माइट, **एरियोफाइस** जाति तथा छालभक्षी इल्ली, **इंदरबेला क्वाड्रीनोटैटा** वाकर हैं. यही इल्ली लोकाट (**एरिओबाट्रिया जैपोनिका** लिंडले) पर भी लग जाती है. चूना-गंधक के छिड़काव से माइट का और वेधक-छिद्रों में पेट्रोल के धूमन से छालभक्षी इल्ली की रोकथाम होती है.

शहतूत (**मोरस** जातियाँ) की जड़ों में कभी-कभी भृंग-वेधक ग्रब लग जाते हैं.

काजू के वृक्षों (**ऐनाकार्डियम ऑक्सीडेन्टेल** लिनिअस) की पत्तियों पर ककाओ थ्रिप, **सेलेनोथ्रिप्स रुब्रोसिंक्टस**, की कॉलोनियों का आक्रमण हो सकता है. प्रायः मच्छर-बग **हेलोपेल्टिस ऐण्टोनिआई** नई प्ररोहों में सूराख कर देता है.

अनन्नास (**अनानास कोमोसस** मेरिल) पर सामान्यतः कोई कीट आक्रमण नहीं करता. कभी-कभी मीली बग, **स्यूडोकोकस ब्रेविपेस** के आक्रमण का उल्लेख मिलता है.

सिंघाड़े (**ट्रापा** जातियों) को बहुधा, **गैलेरुसेला बिरमैनिका** जैकोबी नामक भृंग से गंभीर हानि पहुँचती है.

आमला (**एमब्लिका ऑफिसिनेलिस** गेर्टनर) पर **बेटूजा स्टाइलोफोरा** स्विनहो की इल्लियाँ लगती हैं जिससे प्ररोहों में गोली पिटिकायें बन जाती है. मीली बग, **स्यूडोकोकस** जाति, पौधे के कोमल भागों पर आक्रमण करते हैं. नीला धात्विक-हरा बग, **स्कुटेलेरा नोबिलिस** फैब्रीसिकस फलों को चूसता है.

कैथा (**फेरोनिया लिमोनिया** स्विंगल) तथा बेल अथवा बिल्व (**ईगली मारमेलोस** कोरिया) पर **यूज़ोफेरा प्लम्बियाइफेशियेला** हैम्पसन तथा **आर्जिरोप्लोसे कार्पोफैगा** की इल्लियाँ फलों पर लगती है और गूदे में छेद कर देती हैं. पिस्सू भृंगों की दो जातियाँ उत्तर भारत में **क्लाइटिया पिक्टा** वैली तथा दक्षिण भारत में **क्ला. इंडिका** जैकोबी बेल के नए प्रफुल्लनों पर प्रजनन करतीं तथा भारी क्षति पहुँचाती हैं.

पपीते (**कैरिका पपाया** लिनिअस) पर भारत में कोई गंभीर नाशकजीव आक्रमण नही करता.

सेब, नाशपाती, आड़ू तथा बादाम की खेती पहाड़ी प्रदेशों तक ही सीमित है. कुछ नाशकजीव जैसे कि सैन जोजे शल्क-कीट तथा सेब का लोमश ऐफिड, जो यूरोप तथा पश्चिमी एशिया में इन फलों पर लगते हैं, भारत में भी लगते पाये गये हैं. इनके अतिरिक्त और भी नाशकजीव हैं जो अभी तक इस देश में प्रवेश नहीं पा सके हैं और यह आवश्यक है कि भारत में इनके प्रवेश को रोकने के लिए सीमाओं पर संगरोधी प्रतिबंध कड़े कर दिए जाएँ.

पश्चिम पाकिस्तान में सेब, आड़ू तथा बादाम पर पाए जाने वाले पश्चिम एशियाई नाशकजीवों में सेब कलिका शलभ, **स्पाइलोनोटा ओसेलेना** शिफरमुलर, सेब का सफेद टसक शलभ, **यूप्राक्टिस सिग्नेटा** ब्लांश, एरमाइन शलभ, **हाइपोनोम्यूटा पडेला** लिनिअस, सेब का कार्डलिंग शलभ **कार्पोकैप्सा पोमोनेला** लिनिअस, खूबानी प्ररोह वेधक, **ऐनार्सिया लिनिएटेला**, छिद्ररोग वेधक, **स्कोलिटस ऐमिग्डैलाई** गुएरिन, खूबानी कैल्सिड, **यूरीटोमा सैम्सोनोवाई** आड़ू का काला तना-एफिस, **टेरोक्लोरस (लैक्नस) पर्सिकी**, जैतून सिल्ला, **यूफिल्यूरा ओलिवाइना** (कोस्टा); तथा जैतून फल-मक्खी, **डैकस ओलिई** फैब्रीसिकस वैर. **एशियाटिका** सिल्वेस्ट्री सम्मिलित हैं. किन्तु भारत के फल उगाने वाले क्षेत्रों में इनके द्वारा हानि पहुँचने की सूचना नहीं है.

सैन जोजे शल्क, **क्वाड्रेस्पिडिओटस पर्निसिओसस** कश्मीरी सेबों का एक भीषण नाशकजीव है और पहले ही भारत के अनेक भागों में फैल चुका है. इसी प्रकार सेब का लोमश ऐफिस, **इरिओसोमा लैनिजेरम** भारत में दूर-दूर तक फैल चुका है. नाशपाती का सिल्ला, **सिल्ला पाइरिकोला** फोर्स्टर उत्तर पश्चिम सीमांत प्रदेश में आमतौर पर पाया जाता है और उत्तर प्रदेश में कुमायूँ में पाया गया है. असम में सेबों पर दो फल घुनों, **डिस्सेरस फ्लेचराई** मार्शल तथा **डि. मैलिग्नस** मार्शल; एक प्ररोह वेधक, **ऐलिसडोडीस मैलाई** मार्शल तथा एक टहनी मेखलक, **लिडा निग्रोस्कुटैटा़फ़े** का आक्रमण होता रहता है. सेब का तना वेधक भृंग, **ईओलेस्थीज सार्टा** साल्स्की, कश्मीर में पाया जाता है. **डोरिस्थेनीज़ हूजेलिआई** रेटेनबाखर कुमायूं, पंजाब तथा हिमाचल प्रदेश में सेब के पेड़ों की जड़ों में लग जाता है. इन राज्यों में सेब के बागों में टेण्ट इल्ली, **क्लिसिओकैम्पा इंडिका** वाकर तथा अनेक विपत्रक एवं फल-भक्षी भृंगों से, जैसे कि, **मेलोलान्था, ऐडोरेटस** एवं **ऐनोमेला** जाति द्वारा भी हानि पहुँचती हैं.

आड़ू, बादाम और खूबानी पर तीन ऐफिडों: हरा ऐफिड, **माइज़स पर्सिकी**, पत्ती कुंचक ऐफिड, **एन्युरैफिस हेलिकाइसी** तथा आड़ू का मीली ऐफिड, **हायलोप्टेरस अरुंडिनस** फैब्रीसिकस का आक्रमण हो सकता है. **स्फेनाप्टेरा लैफेरटियाई** थामसन कश्मीर, उत्तर प्रदेश तथा दिल्ली में आड़ू, नाशपाती एवं बेर का गम्भीर शत्रु है. **डैकस जोनैटस** तथा **डै. फेरुजिनियस** फैब्रीसिकस आड़ू के फलों को हानि पहुँचाता है. सैन जोजे शल्क तथा एक अन्य शल्क, **स्यूडौलैकैस्पिस पेंटैगोना** भी आड़ू पर लगते हैं.

पूरे हिमाचल प्रदेश तथा असम की पहाड़ियों पर 900 से 3,300 मी. की ऊँचाई पर जंगली अखरोट (**जूग्लैंस रेजिया** लिनिअस) पर एक घुन, **ऐलिसडोडीस पोरेक्टिरॉस्ट्रिस** मार्शल का आक्रमण होता रहता है. यह घुन बसंत में शीतनिष्क्रियता के बाद बाहर आता है, पत्तियों एवं पुष्प कलिकाओं को खाता है और फिर नए फलों को ग्रस्त करने लगता है.

नारियल (**कोकोस न्यूसिफेरा** लिनिअस) तथा सुपारी (**अरीका कटेचू** लिनिअस) भारत में उगाए जाने वाले प्रमुख ताड़ हैं. पंखिया खजूर (**बोरैसस फ्लैबेलिफर** लिनिअस) तथा जंगली खजूर (**फीनिक्स सिल्वेस्ट्रिस** रॉक्सबर्ग) अनेक स्थानों पर अर्ध-जंगली अवस्था में पाए जाते हैं. नारियल की काली शीर्ष इल्ली, **नेफैण्टिस सैरिनोपा** मेयर पंखिया खजूर, जंगली खजूर तथा तालिपात (**कोरिफा अम्ब्रैक्यूलिफेरा** लिनिअस) पर भी आक्रमण करता पाया जाता है. गेंडा भृंग, **ओरिक्टीस राइनोसेरास** लिनिअस शीर्षस्थ संपत्रक वृन्त के आधार में छेद करके काफी हानि पहुँचाता है. भृंग मृत तनों एवं गोबर की खाद

में प्रजनन करता है. लाल ताड़-घुन, **रिंकोफोरस फेरुजिनियस** ओलिवर खजूर तथा सागूताड़ (**मेट्रॉक्जाइलान** जातियाँ) का घोर शत्रु है. यह घुन पेड़ के रिसते हुए रस की गंध से आकर्षित होता है. यह क्षतिग्रस्त अथवा रोगग्रस्त ताड़ों के तनों में अंडे देता है जिससे अंततः शीर्षस्थ प्ररोह मर जाते हैं. पादप यूक, **सेरैटैफिस लैटेनिई** बासडुवाल कभी-कभी ताड़ों के नए पौधों पर पाया जाता है और यह मैसूर में सुपारी-ताड़ों का प्रबल शत्रु सिद्ध हुआ है. मरुस्थली टिड्डी, **शिस्टोसेर्का ग्रीगैरिया** तथा बम्बई की टिड्डी, **पतंगा सक्सिक्टा** लिनिअस पश्चिमी समुद्रतट पर उगने वाले नारियल तथा सुपारी-ताड़ों का विपत्रण करते हुए पाए गए हैं. उत्तर पश्चिम भारत में भी खजूर के पेड़ों को इसी प्रकार मरुस्थली टिड्डी द्वारा हानि होती देखी गई है. इसके प्रजनन स्थानों को ढूंढ़ कर नाशकजीव को उसकी प्रारम्भिक अवस्थाओं में ही मार देना इसकी रोकथाम का मुख्य उपाय है. शीर्षहीन तथा गिरे हुए पेड़ों को तुरंत हटा देना चाहिए क्योंकि नाशकजीव उनमें प्रजनन-स्थान बनाते हैं. कहीं-कहीं कीटनाशी छिड़काव कारगर सिद्ध हुआ है. कुछ विशेष ऋतुओं में ब्रैकोनिड बर्रे काली-शीर्ष इल्लियों के प्राकृतिक शत्रुओं की तरह कार्य करते हैं जिससे कुछ हद तक नियंत्रण सम्भव हो जाता है.

टिड्डियाँ

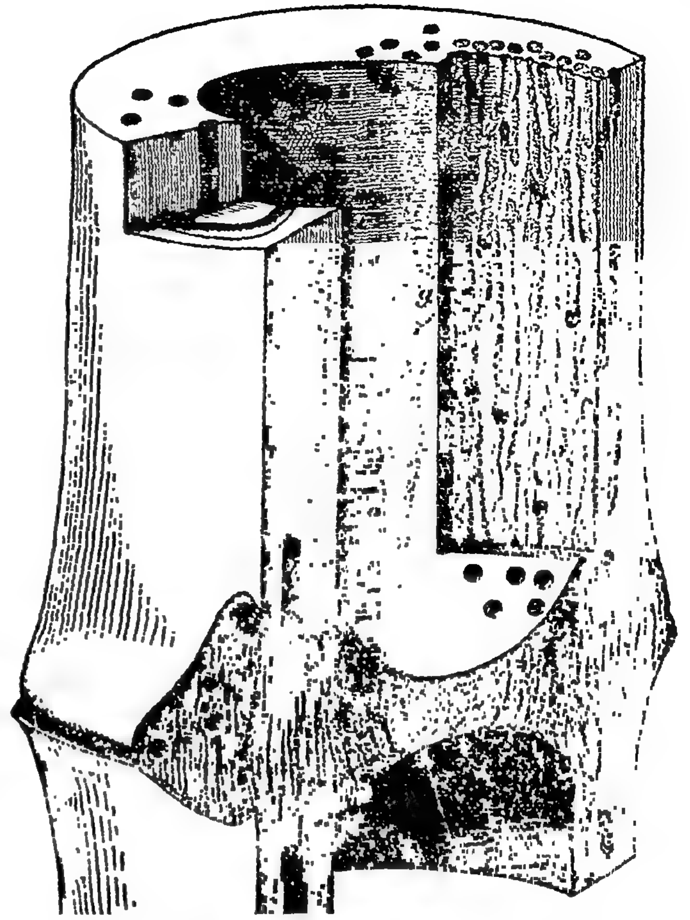
टिड्डी (गण – **ओर्थोप्टेरा**, कुल – **एक्रिडिडी**) टिड्डे के समान कीट हैं यद्यपि वे आकार में कुछ बड़ी और यदाकदा भारी संख्या में प्रवर्धित होती हैं तथा वृन्द बना कर दूर-दूर तक यात्रा करती है. ये अत्यन्त खाऊ होती हैं और उपयोगी पौधों को अपार क्षति पहुँचाती हैं. टिड्डियाँ दो अवस्थाओं में पाई जाती हैं: एकल तथा यूथी, जिनके बीच कई संक्रमण रूप आते हैं. ये दो प्रावस्थाएँ एक दूसरे में परिवर्तनशील हैं: एकल प्रावस्था की संततियों को यदि भीड़ की दशा में पाला जाए तो वे यूथी प्रावस्था में बदल जाती हैं तथा यूथी प्रावस्था को अलग रख कर पाला जाए तो वे पुनः एकल प्रावस्था में आ जाती हैं. विश्व के विभिन्न भागों में मिलने वाली लगभग एक दर्जन टिड्डियों में से भारतीय प्रदेशों में पाई जाने वाली नाशकजीव टिड्डियाँ ये हैं – मरुस्थली टिड्डी **शिस्टोसेर्का ग्रीगैरिया**, प्रवसन टिड्डी **लोकस्टा माइग्रेटोरिया** लिनिअस, तथा बम्बई-टिड्डी **पतंगा सक्सिक्टा** लिनिअस. टिड्डी की जातियों पर विस्तृत जानकारी टिड्डियों से संबंधित लेख में मिलेगी.

इमारती वृक्षों के नाशकजीव

वन वृक्षों के नाशक-कीटों को चार प्रमुख श्रेणियों में रखा जा सकता है: वेधक, विपत्रणक, रस-चूषक तथा अन्य नाशक-कीट.

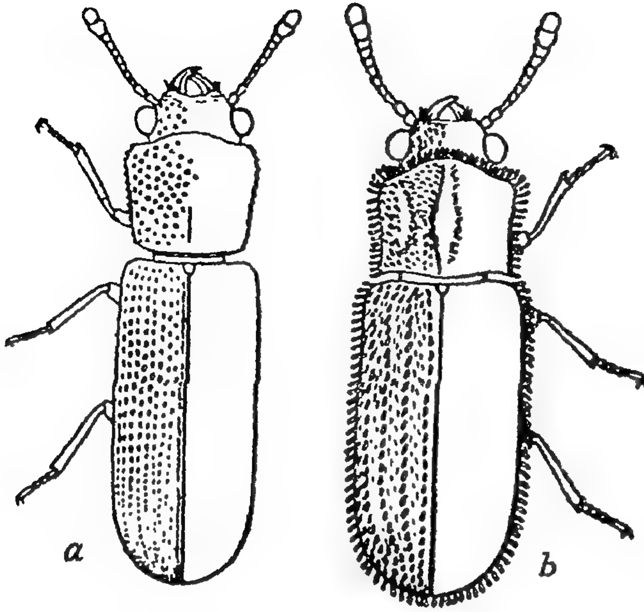
वेधक

वेधकों में अधिकतर भृंग (**कोलिओप्टेरा**), शलभ तथा तितलियाँ (**लेपिडोप्टेरा**) हैं. भृंगों के वयस्क एवं लारवा दोनों ही, तथा शलभों के लारवा लकड़ी को वेधते हैं. भृंग पेड़ों की छाल पर अथवा लकड़ी के भीतर सुरंगों में अंडे देते हैं. **हाइमेनोप्टेरा** के अंतर्गत आने वाले कुछ वयस्क कीट तथा दीमकों (**आइसोप्टेरा**) की कर्मी एवं सैनिक प्रजातियाँ भी वेधकों के रूप में कार्य करती हैं.



चित्र 36 – बाँस (**डेंड्रोकैलैमस स्ट्रिक्टस नीस**) पर आक्रमण करते हुये डाइनोडेरस जाति (घुन)

अधिक महत्वपूर्ण कोलियोप्टेरी वेधक हैं: सूखी और अर्धशुष्क लकड़ी के बुरादा वेधक अथवा घुन जो गिराए गए वृक्षों एवं सूखी इमारती लकड़ी पर, जिनमें लट्ठे तथा तख्ते दोनों सम्मिलित हैं, लग जाते हैं, भृंग गहरे भूरे रंग के तथा छोटे आकार (लंबाई, 2–8 मिमी.) के होते हैं. **डाइनोडेरस ब्रेविस** हार्न, **डा. मिन्यूटस** फैब्रीसिकस तथा **डा. आसेलैरिस** स्टीफेन्स बाँस पर लगते हैं. वयस्क भृंग कटी या खुरची हुई सतहों में से वेध कर भीतर पहुँच जाते हैं. नर-मादा का समागम सुरंगों के भीतर होता है और वहीं पर अंडे भी दे दिए जाते हैं. अंडे से निकलने वाले लारवे ऊपर और नीचे, तब तक सूराख करते चलते जाते हैं जब तक कि सारा बांस छलनी नहीं हो जाता. प्यूपे भी इन्हीं खोखली सुरंगों में बनते हैं. वयस्क भृंग या तो उड़कर निकल जाता है या पुरानी सुरंगों में ही दूसरी पीढ़ी को जन्म देता है. वर्ष में कम से कम तीन पीढ़ियाँ जन्म लेती हैं. वयस्कों के प्रकट होने का सर्वोच्च काल मार्च–अप्रैल, जून–जुलाई तथा सितम्बर–अक्तूबर होते हैं. डिपो में अल्पकालिक (1 वर्ष तक) संग्रह के दौरान कल्मों पर 0.5–1% बी-एच-सी या 5–10% डी-डी-टी द्वारा उपचार (डुबोने या छिड़काव)

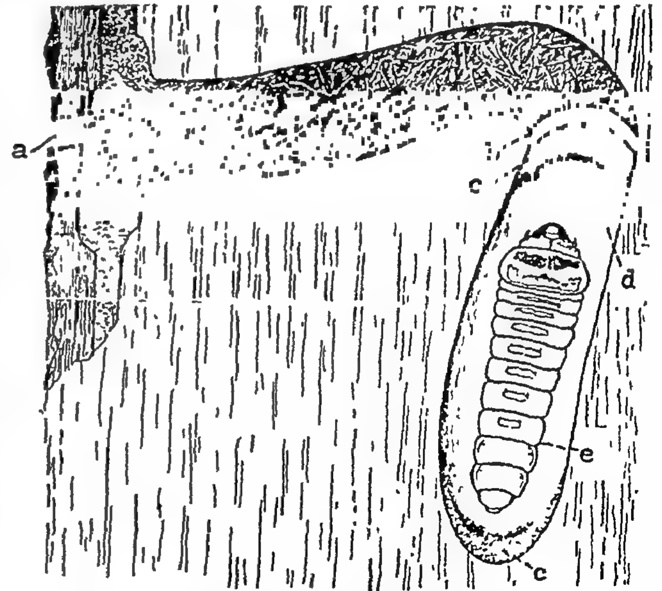


चित्र 37 – (a) **लिक्टस ऐफ्रीकानुस** लेस्ने (×10) का घुन; (b) **मिंथिया र्‍यूगिकॉलिस** वाकर (×18) का घुन

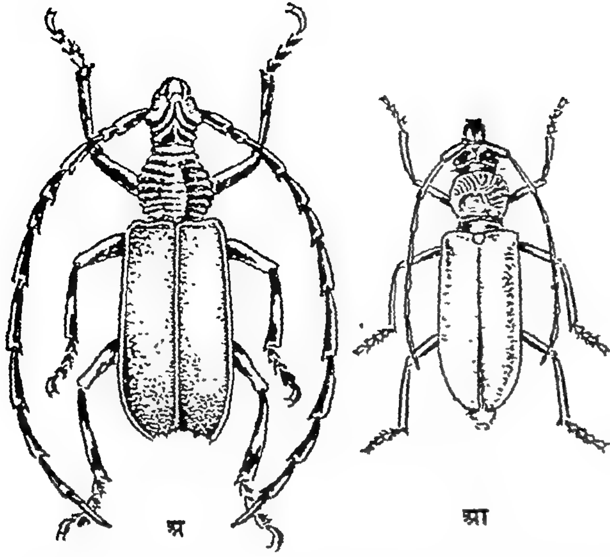
करने से नियंत्रण संभव है. दीर्घकालीन सुरक्षा के लिए कोलतार क्रिओसोट का उपचार किया जाता है जिसे अधिक कारगर बनाने के लिए ऊतकों में प्रविष्ट हो जाने देना चाहिए. इमारती लकडी के अन्य गंभीर बास्ट्रिकिड शत्रुकीट इस प्रकार है: **हेटेरोबास्ट्रिकस ईक्वैलिस** वाटरहाउस, **लिक्टस ब्रुनियस** स्टीफेन्स, **लि. ऐफ्रीकानुस** लेस्ने, **मिंथिया र्‍यूगिकॉलिस** वाकर, **राइजोपर्था डोमिनिका** फैब्रीसिकस, **साइनोजाइलान ऐनेली** लेस्ने, **सा. क्रैसम** लेस्ने तथा **जाइलोथ्रिप्स फ्लैविपेस** इल्लाई.

वेधको के आक्रमण के प्रति निश्चिन्त रहने के लिए संग्रह भण्डारों का दो बार, मार्च और अक्तूबर के महीनों में, निरीक्षण करना वांछनीय हे. प्लाईवुड मे प्रयोग किए जाने वाले केसीन-चूना सरेस मे प्रायः कापर क्लोराइड, सोडियम फ्लोराइड अथवा सोडियम आर्सेनेट जैसे पूतिरोधी सम्मिलित रहते है जो वेधक लारवा के लिए कुछ हद तक विषैले होते है. फीनाल-फार्मेल्डीहाइड रेजिन बंधक से कवक, दीमक तथा बास्ट्रिकिड वेधक प्रविष्ट नही हो पाते. दियासलाई के लिए इस्तेमाल मे आने वाली चद्दरों एवं छिपटियों को बोरिक अम्ल या जिंक क्लोराइड में डुबोने अथवा इन्ही के गाढे विलयनों का चट्टों पर छिड़काव करने से क्षति नही हो पाती. सोडियम फ्लुओसिलिकेट के 10% जलीय विलयन अथवा एक भाग कापर सल्फेट और तीन भाग आर्सेनिक पेण्टाक्साइड के 4% जलीय विलयन द्वारा **राइजोपर्था डोमिनिका** से मज्जा की पूर्ण सुरक्षा की जा सकती है. गोदामों की सामान्य स्वच्छता द्वारा (कूड़ा करकट जमा न होने देने अथवा जलाने की लकड़ी के चट्टों को न लगाने से) **सिनाजाइलान** जातियों से बचा जा सकता है.

वृक्ष वेधक – सिरेम्बिसिडी वृक्षवेधकों का एक महत्वपूर्ण कुल है. ये भृंग आकार में बड़े (लम्बाई, 10–50 मिमी.) होते है और इनकी श्रृंगिकायें लम्बी होती है. **हाप्लोसैरैम्बिक्स स्पिनिकोर्निस** न्यूमैन साल (**शोरिया रोबस्टा** गेर्टनर पुत्र) तथा कुछ अन्य वृक्षों का सबसे भयंकर शत्रुकीट है. यह भृंग 25–50 मिमी. लम्बा और गहरे भूरे रंग का होता है तथा वर्ष में इसकी केवल एक पीढ़ी होती है. पेड़ों से निकलने के बाद शीघ्र ही मानसून के प्रारम्भ होने अथवा उसके दौरान (जून–सितम्बर में) ये भृंग अच्छे, बड़े किन्तु दुर्बल साल वृक्षों की छाल में बनी दरारों मे अंडे देते हैं. छोटे वृक्षों पर प्राय: इन भृंगों का आक्रमण नही होता और स्वस्थ वृक्षों पर केवल महामारी मे ही आक्रमण होता है. 2 या 3 सप्ताह में अंडों से बच्चे निकल आते है. अब वेध कर रस-दारु में घुस जाते है और बाद में जब वे बड़े होते है तो अंतःकाष्ठ में पहुँच जाते है जहाँ वे समूचे तने और मुख्य शाखाओं में लम्बी, उप-बेलनाकार सुरंगें बनाते है. एक-एक वृक्ष मे बहुत ज्यादा, यहाँ तक कि 1,000 तक लारवे रहते पाए गए है यद्यपि सामान्यत: यह संख्या इससे बहुत कम होती है. सफेद बेलनाकार अब नवम्बर तक बड़े आकार का (आदमी की छोटी उंगली के बराबर) हो जाता है. इसका प्यूपीकरण वृक्ष की बाहरी सतह के समीप एक कक्ष में होता है, जिसके ऊपर एक शिरस्त्राण-रूपी कैल्सियमी आच्छद का प्लग लगा होता है. मई–जून में भृंग वयस्क हो जाता है किन्तु उसके 2 से 3 सप्ताह बाद तक शांत पडा रहता है, और जून–जुलाई में मानसून की पहली बौछार के साथ बाहर निकल आता है. इनका नियंत्रण मुख्यत: वनसंवर्धन एवं भौतिक साधनों द्वारा सम्पन्न होता है.



चित्र 38 – साल वेधक **हाप्लोसैरैम्बिक्स स्पिनिकोर्निस** न्यूमैन की साल, **शोरिया रोबस्टा** (गेर्टनर पुत्र) में लारवीय और प्यूपीय सुरंग और पूर्व प्यूपीय कक्ष में से होकर खड़ी काट ($\times\frac{1}{2}$): (a) छाल में निस्सारण छिद्र; (b) कैलकेरियस ओपरकुलम; (c) गुहा में बुरादे का अस्तर; (d) प्यूपा कक्ष; (e) पूर्व प्यूपीय अवस्था में विश्राम करता हुआ लारवा



चित्र 39–(अ) हाप्लोसैरैम्बिक्स स्पिनिकोर्निस न्यूमैन (असली आकार); (आ) इग्रोलेस्थीज होलोसेरीसिया फैब्रीसिकस (×1½)

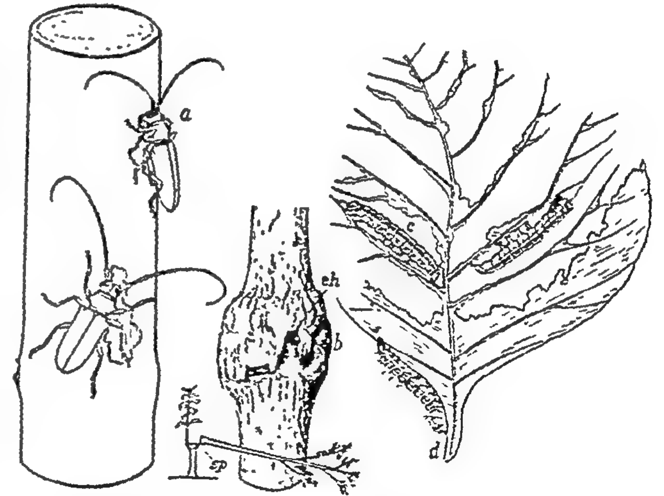
जंगल को मृत लकड़ी एवं कूड़ा-करकट से साफ रखना चाहिए तथा इस प्रकार भृंगों को प्रजनन का अवसर नही देना चाहिए. भौतिक विधि में गिराए गए साल के वृक्षों पर भृंगों को आकर्षित करके उन्हें पकड़ कर मार डालना सम्मिलित हैं.

अन्य महत्वपूर्ण सिरेम्बिसिड नाशक-कीट इस प्रकार हैं: **इग्रोलेस्थीज होलोसेरीसिया** फैब्रीसिकस जो **हाप्लोसैरम्बिक्स स्पिनिकोर्निस** न्यूमैन से मिलता जुलता हैं तथा मृत एवं मरणशील वृक्षों की अनेक जातियों पर आक्रमण करता है; ओक का स्तम्भ-वेधक, **बैटोसेरा हार्सफील्डाई** होप, सेमल (**साल्मैलिया मलाबारिका** शाट और एंडलिखर), अखरोट तथा कई अन्य वृक्षों का स्तम्भ-वेधक, **बै. रुफोमैक्युलैटा** डगियर; बबूल, कैजुआरिना तथा बेर के वृक्षों का जड़-वेधक, **सीलोस्टर्ना स्कैब्रेटर** फैब्रीसिकस जो विशेषतया बबूल पर लगता है और भारतीय प्रायद्वीप में भीषण क्षति पहुँचाता है; **डाइहैमस सर्विनस** होप जो सागौन के बाल-वृक्षों में उत्फुलन कैंकर पैदा करता है; **स्ट्रोमैटियम बार्बेटम** फैब्रीसिकस जो सूखी इमारती लकड़ी (लट्ठे, तख्ते, फर्नीचर) का वेधक है और जिसके जीवन-इतिहास में 1 से 10 वर्ष लगते हैं; तथा कई जातियों के नए कटे वृक्षों का वेधक, **जाइलोट्रेकस स्मीयाई**.

घुन-भृंगों (**कुरकुलियोनिडी** कुल, 5–20 मिमी. लम्बी) के अंतर्गत आने वाली अधिक महत्वपूर्ण, नाशकजीवी जातियाँ इस प्रकार हैं: **सिर्टो-ट्रिकेलस** डक्स, जो बाँस के कल्लों का वेधक है; **पैंजियोफ्लीअस लांगिक्लैविस** मार्शल जो दक्षिण भारत का महोगनी कालर-वेधक है; तथा **रिंकोफोरस फेरुजिनियस** ओलिवर जो कि नारियल के ताड का लाल घुन वेधक है. महोगनी कालर वेधक पेड़ पर बनी खरोंचों या जीवित भागों में बनी दरारों में एक स्थान पर एक-एक के हिसाब से अंडा देता है. ऐसा वह प्रायः पृथ्वी के तल के समीप करता है. लारवे वेध कर रस-दारु में पहुँच जाते हैं और तने के आधार पर कैंकर पैदा कर देते हैं जिससे अंततः बालवृक्ष मर जाता है. इस वेधक की वर्ष में दो या तीन पीढ़ियाँ जन्म लेती हैं तथा पूरे वर्ष भर भृंग निकलते रहते हैं. मानसून (जून–अगस्त) के प्रारम्भ में हाथ द्वारा भृंगों को चुन-चुनकर नष्ट कर देने से इन नाशकजीवों की रोकथाम में बहुत सहायता मिलती है. मृत ताड़ों एवं इमारतों तथा पुलों के निर्माण के बाद बचे लट्ठों को नष्ट कर देना चाहिए ताकि भृंगों को प्रजनन के लिए स्थान न मिल सके. पुरानी पत्तियों को काट कर अलग कर देना चाहिए तथा हर सूराख या खरोंच को तारकोल लगाकर बंद कर देना चाहिए. लकड़ी में बनी दरारों में धमन के द्वारा लारवों को मार देना चाहिए.

अंतःकाष्ठ वेधक **अट्रैक्टोसेरस रिवर्सस** वाकर सलाई (**बासवेलिया सेरेटा** रॉक्सबर्ग) का गम्भीर नाशकजीव है जो कि सस्ते बक्से, पैकिंग पेटियाँ और साथ ही कागज के निर्माण के काम आता है. काटे गए पेड़ों की लकड़ी को गोदाम में रखने से पहले उनके सिरों को निर्जमित कर लेना चाहिए तथा बाहरी छालों पर क्रिओसोट तेल मिश्रण का लेप करना चाहिए जिससे वे जीवित एवं हरे बने रहते हैं.

पिन-होल तथा शाट-होल वेधक (**प्लैटिपोडिडी** एवं **स्कोलिटिडी** जातियाँ) छोटे आकार के अर्धबेलनाकार भृंग है जो लकड़ी को भारी नुकसान पहुँचाते हैं. इनके ये नाम उनके द्वारा होने वाली क्षति की प्रकृति के अनुसार रखे गए हैं. कुछ को ऐम्ब्रोज़िया भृंग कहते हैं क्योंकि उनके द्वारा लकड़ी में बनाई गई सुरंगों में कवक-वृद्धि को प्रोत्साहन मिलता है. इनकी सुरंगों का अपना एक विशिष्ट और सुन्दर नमूना होता है और इसमें एक केंद्रीय मूल सुरंग से अलग-अलग निकली हुई अनेक क्षैतिज सुरंगें बनी होती हैं.



चित्र 40–(a) डाइहैमस सर्विनस होप के [illegible] (×4/5)–सागौन के तने की छाल को कुतरते हुए; (b) सागौन की पौध में भृंग द्वारा उत्पन्न सूजा हुआ कैंकर; eh: निष्कासन छिद्र; sp: पौध, टूटी हुई; (c) हिब्लिया प्योरा क्रेमर इल्ली – सागौन की पत्ती को क्षतिग्रस्त करती हुई (×1½); (d) हैपालिया मैशेरैलिस वाकर की इल्ली – सागौन की पत्ती को क्षति पहुँचाती हुई (असली आकार)

भारत मे पाई जाने वाली **क्रोसोटार्सस (प्लैटिपोडिडी)** की अनेक जातियाँ बहुभक्षी होती है. **डाएकेवस फॉटिवस** साल की लकडी मे वेधन करता है, **प्लैटिपस बाइफार्मिस** चैंपुई चीड मे सूराख करता है; **प्लै. सालिडस** वाकर बहुभक्षी है.

कोक्कोट्राइपीस जातियाँ **(स्कोलिटिडी) अरीका कटेचू** लिनिअस तथा अन्य वृक्षो के फलो एव बीजो मे वेधन करती है; **इप्स लांगिफोलिया** स्टेबिंग हिमालय मे शकु वृक्षो को वेधता है, **स्फीरोट्राइपीस सिवालिकेंसिस** स्टेबिंग साल के वृक्षो का वेधक है; **जाइलेबोरस टेस्टेसियस** वाकर तथा इस वश की अन्य जातियाँ सामान्य वृक्ष वेधको के रूप मे पाई जाती है.

उष्णकटिबधीय जगलो मे पिन-होल वेधको को दूर रखने के लिए कोलतार, कार्बोलिनियम तेल तथा अन्य खनिज तेल, जल मे विलेय लवण, गाय का गोवर तथा ऐसे ही अन्य प्रतिरोधक इस्तेमाल किए जाते है. आर्सेनिक पदार्थों का अत क्षेपण वेधक आक्रमण को नही रोक पाता शाट-होल वेधक से ग्रस्त क्षेत्रों मे फूलो तथा सरस फलो की पूरी फसल जला दी जाती है., काट-छाँट के बाद वेधको को मारने के लिए विषैले लेपो को लगाना महँगा पडता है.

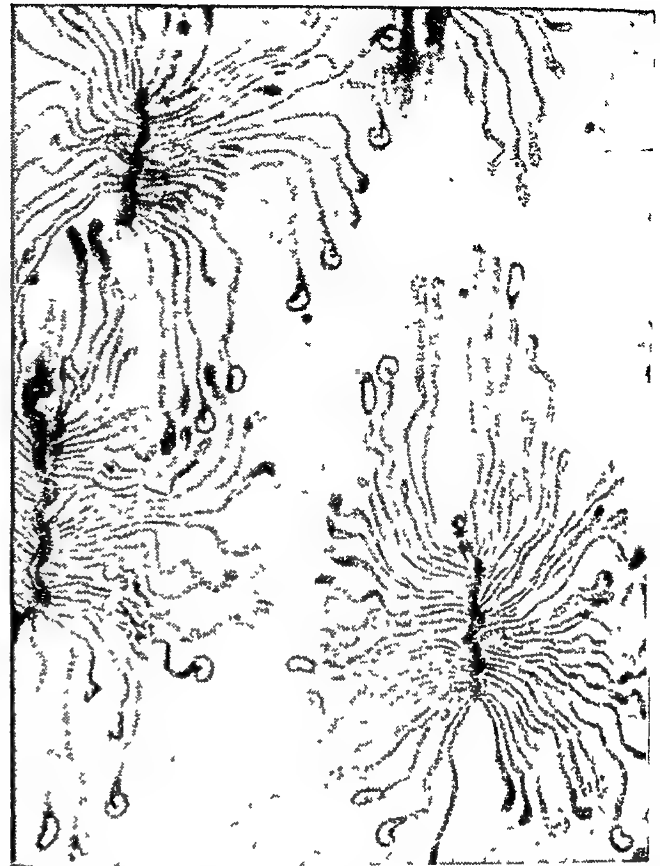
कोलियाप्टेरी वेधको मे जिन अन्य कुलो मे अरण्य पौधो को गभीर हानि पहुँचाने वाले नाशकजीव आते है उनके नाम **ऐनोबिआइडी, ऐन्थ्राइबिडी** तथा **बुप्रेस्टिडी** है **क्राइसोमेलिडी** जाति मे सामान्य बाँस वेधक, **एस्टिग्मेना चाइनेंसिस** आता है. **स्कैरेबिडी** तथा **मेलोलान्थिनी** एवं **रुटेलिनी** उपकुलो मे काकशेफर वर्ग आता है जिसके ग्रब मिट्टी मे रहते तथा नई पौध एव बाल-वृक्षो की जडो और तनो को काटते है.

अधिकाश शलभ एव तितलियो **(लेपिडोप्टेरा)** के लारवा विपत्रक होते है, पर इस परिवार के कुछ लारवे काष्ठ-वेधक भी होते है. प्ररोह वेधक, **डाइकोमेरिस एरिडेंटिस** मेयर **(गेलेकिआइडी)** शीशम **(डाल्बर्जिया** जातियो) का एक नाशकजीव है उत्तर भारत मे इसकी सात वार्षिक पीढियाँ होती है.

हिप्सीपाइला रोबस्टा मूर **(पाइरेलिडी)**, जो देवदार **(सीड्रस देओदारा** लाउडेन), तून **(सेड्रेला तूना** रॉक्सबर्ग) तथा महोगनी **(स्वाइटीनिया महोगनाई जैक्विन)** का वेधक है, फलो एवं बीजो को भी वेधता है. उत्तर भारत मे तून की पाँच वार्षिक पीढियाँ हो जाती है. वन-वृक्ष सवर्धनी विधियो से इसका नियत्रण सम्पन्न होता है. पास-पास पेड लगाने से इसकी वृद्धि में बाधा उत्पन्न होती है. पूरी बढ चुकी इल्लियों को समूहो मे जाल द्वारा पकड कर नष्ट कर दिया जाता है. अपतृणो एवं छायादार फसलों से प्राप्त होने वाले परभक्षी इस नाशकजीव के जैव-नियत्रण मे सहायक बनते है

तने तथा शाखाकाष्ठ के वेधक **जाइल्यूटीस सरैमिका** वाकर **(कौसिडी)** ब्रह्मा मे सागौन का बी-होल वेधक है. भारत और श्रीलका मे अभी तक यह नही पहुँच पाया है. **ज्यूजेरा कॉफ़ीई** नाइटनर दक्षिण भारत मे काफी का लाल वेधक है. **फैसस मलाबारिकस** मूर **(हीपिएलिडी)** तथा **इंदरबेला क्वाड्रीनोटैटा** वाकर **(इंदरबेलिडी)** बहुभक्षी है. **हैप्सीफेरा र्‌यूगोसेला (टिनियाइडी)** अनेक जातियो के वृक्षों की मृत छालो को वेधता है.

ग्रीजी कर्तन-कृमि (कट-वर्म), **ऐग्रोटिस इप्सिलान (नाक्टुइडी)** बागो तथा वन नर्सरियो मे पौधो पर पाया जाने वाला एक आम बहुभक्षी नाशकजीव है जो विशेषतया हिमालय क्षेत्र एवं



चित्र 41 – सीड्रस देओदारा लाउडेन के लट्ठे से निकाली छाल को तह पर अम्ब्रोसिया भृंगो की सुरंग (गैलरी)

गंगा के मैदान मे पाया जाता है यह कई अन्य देशो मे भी पाया जाता है. इसके लारवा मिट्टी मे रहते है, रात मे बाहर आते और पृथ्वी की सतह से पौध को काट डालते है नियंत्रण के लिए कर्तन-कृमि को इकट्ठा करके उन्हे नष्ट कर देने का सुझाव दिया गया है. नर्सरियो मे से इन कृमियों के उन्मूलन के वास्ते सिंचाई भी अच्छा साधन है. बीज की क्यारियों मे काफी मात्रा मे लकडी की राख छिडकने अथवा राख एव अनबुझे चूने के मिश्रण को छिडकने से कर्तन-कृमियो के मार्ग मे एक भौतिक बाधा उत्पन्न हो जाती है.

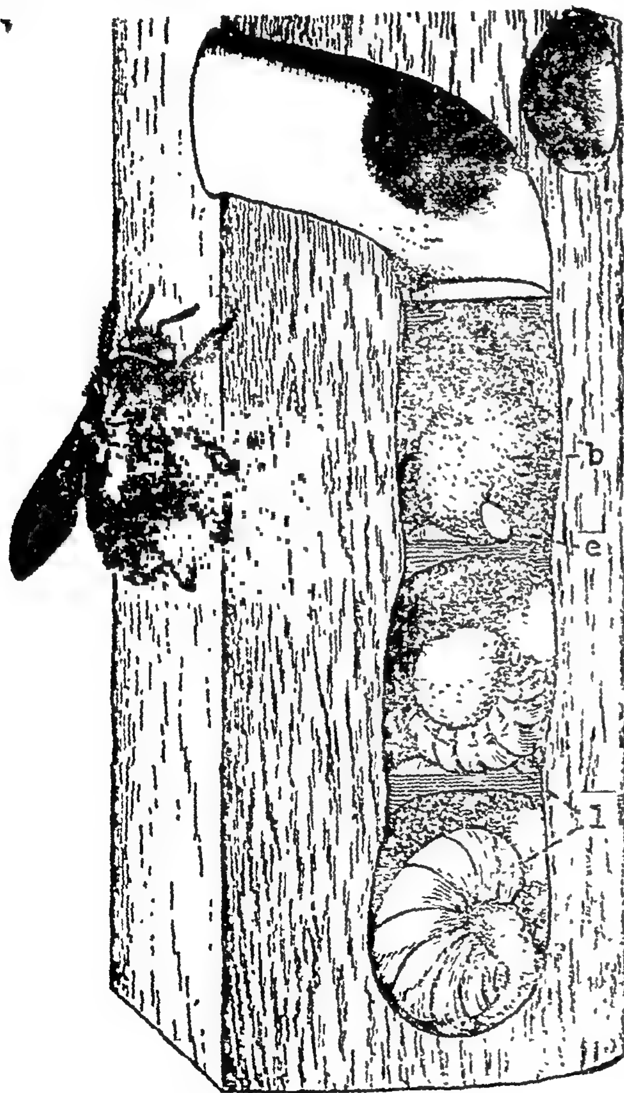
काष्ठ-वर्र **साइरेक्स इम्पोरिऐलिस** किर्बी (गण – **हाइमेनोप्टेरा**, कुल – **साइरिसिडी**) का लारवा हिमालय मे शकु वृक्षो के लट्ठो मे वेधन करके सुरंगे बना देता है. बढई-मक्षिका, **जाइलोकोपा** जातियो **(जाइलोकोपिडी)** के वयस्क इमारती लकडी की अनेक जातियो मे मृत शाखाओ, खम्भो तथा कडियो मे सूराख कर देते है.

कैलोटर्मिटिडी कुल की दीमके **(आइसोप्टेरा)** अनेक जातियो के वृक्षो के काष्ठ में सूराख करती है और वही पर प्रजनन करती है. उदाहरणार्थ **आर्कोटर्मोप्सिस रौटोनाई** डेनवीन्म

हिमालय क्षेत्र में शंकुधरों का वेधक है; **क्रिप्टोटर्मीस** जाति सूखी लकड़ी की दीमकें हैं; **निओटर्मीस मिलिटैरिस** डेसवीन्स चाय की वेधक है; **नि. गार्डनराई** (स्नाइडर) आम तथा अन्य कई जातियों के वृक्षों की वेधक है. **नि. टैक्टोनी** जो इंडोनेशिया में सागौन की गंभीर वेधक है भारत में नहीं पायी जाती.

विपत्रणक

विपत्रणकों की श्रेणी में अधिकतर भृंग (**कोलिओप्टेरा**), शलभ तथा तितली (**लेपिडोप्टेरा**) आते हैं. भृंगों में वयस्क तथा लारवे दोनों से तथा शलभ एवं तितलियों में केवल लारवों से विपत्रण होता है. अन्य विपत्रणकारी कीटों में टिड्डियाँ, फुदक्के



चित्र 42 – कार्पेण्टर मक्खी (जाइलोकोपा जाति) के **वयस्कों** द्वारा लकड़ी के लट्ठे में बनी सुरंग का दृश्य जिनमें (b) उत्पन्न मक्खी; (e) अंडे; और (l) लारवा. दिखाए गए हैं

तथा झींगुर (**ओर्थोप्टेरा**) तथा मक्षिकाएँ, चींटियाँ एवं सॉफ्लाई (**हाइमेनोप्टेरा**) सम्मिलित हैं.

क्राइसोमेलिडी, कुरकुलियोनिडी तथा **स्कैरेबियाइडी** कुलों के भृंगों (**कोलिओप्टेरा**) की विभिन्न जातियों के वयस्क एवं लारवे वृक्षों के पत्तों को खाते तथा कभी-कभी गभीर विपत्रण का कारण बन जाते हैं. **कैलोपेप्ला लीयाना** लैट्रले (**क्राइसोमेलिडी** कुल) के लारवा तथा वयस्क दोनों पूर्वी भारत तथा ब्रह्मा में **मेलीना आर्बोरीया** लिनिअस के भीषण नाशकजीव हैं. **एस्टिग्मेना चाइनेंसिस** होप के लारवा बाँस के कल्म-आवरणों को खा जाते हैं जबकि भृंग कल्मों में सूराख करते हैं.

कुरकुलियोनिडी कुल की अनेक जातियों के वयस्क या तो फूल, फूल-कलिकाओं और पत्तियों को खाते हैं या पत्तियों को गोल कर देते हैं. लारवा पत्तियों को खाते और उनमें सुरंगें भी बनाते हैं. **मिलोसेरस** वंश की जातियों के भृंग अनेक किस्मों के पेड़ों का विपत्रण करते हैं जबकि **कोनिऐटस इंडिकस** मार्शल के लारवा **टैमेरिक्स गैलिका** लिनिअस का ही विपत्रण करते हैं.

स्कैरेबियाईडी कुल के वयस्क भृंग (उपकुल – **मैलोलान्थिनी** तथा **रुटेलिनी**) एवं लारवा (उपकुल – **सेटोनिआइनी, यूकिरिनी,** तथा **डाइनेस्टिनी**) दोनों ही पत्तियों को खाकर हानि पहुँचाते हैं. उदाहरणार्थ **ऐनोमैला बेंगालेंसिस** ब्लांश, तथा इसी वंश की अन्य जातियों, **केसिया** एवं **लाजेरस्ट्रोमिया** का विपत्रण करती हैं; इनके लारवा और प्यूपा मिट्टी में रहते हैं. गैंडा-भृंग **ओरिक्टीस राइनोसेरास** लिनिअस समस्त भारत में नारियल का एक गभीर नाशकजीव है. इसके वयस्क बढ़ते मुकुलों को नष्ट कर डालते हैं.

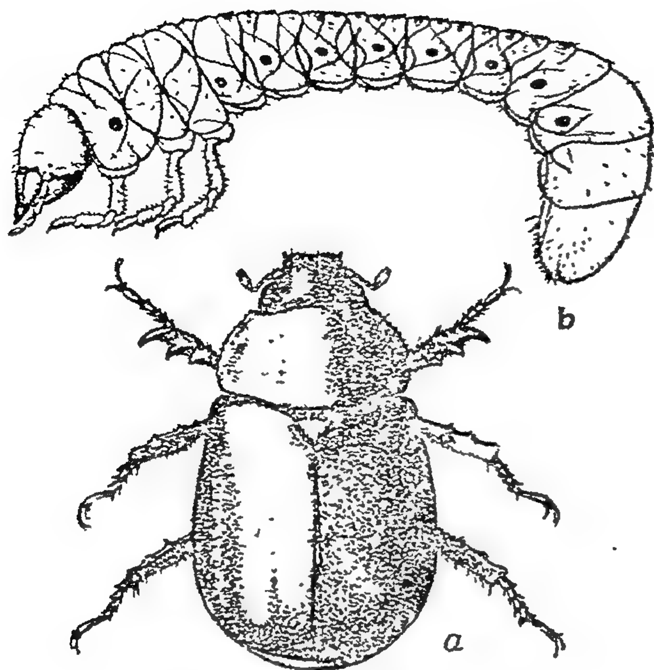
डिप्टेरा गण के कुछ कुलों के लारवा या तो पत्तियों में सूराख कर देते हैं या कलियों एवं फलों को नष्ट कर डालते हैं. **ओफियोमाइया लैण्टानी** (**ऐग्रोमाइजिडी**) लैंटाना के बीजों को नष्ट करता है जबकि **ऐस्फाण्डिलिया** लैंटाना फेल्ट पुष्प-कलिकाओं में सूराख करता और पिटिकायें-निर्माण करता है.

सॉफ्लाई (**टेन्थ्रेडिनिडी**) तथा चींटियाँ (**फार्मिसिडी**, गण – **हाइमेनोप्टेरा**) वृक्षों की पत्तियों को हानि पहुँचाती हैं. सा-फ्लाई, **सिब्डेला जेंयाइना रूबस** जातियों का विपत्रण करती है. **मिरमिकैरिया ब्रुनिआ** तथा **सोलेनॉप्सिस जेमिनेटा** फैब्रीसियस जातियों की चींटियाँ पत्तियों एवं कलिकाओं में सूराख करती हैं जिससे भारी हानि होती है.

कीटों में शलभों एवं तितलियों (**लेपिडोप्टेरा**) की इल्ली अवस्थाएँ प्रमुख विपत्रणकारी हैं. भारत में पाई जाने वाली कुछ महत्वपूर्ण जातियाँ इस प्रकार हैं :

देवदार विपत्रणक, **ऐक्ट्रोपिस देवोदारी** प्राउट (**जिओमेट्रिडी**) पश्चिमी हिमालय प्रदेश में देवदार का भारी नाशकजीव है; इस कीट द्वारा बारम्बार विपत्रण होने से वृक्ष मर जाते हैं. जीवन-चक्र वार्षिक होता है. पेड़ के तनों पर पट्टियाँ चिपका कर अथवा बी-एच-सी, डी-डी-टी आदि कीटनाशी की धूलि की पट्टियाँ लपेटने से इस नाशकजीव का नियंत्रण हो जाता है, जिसमें पंखहीन मादा शलभ अंडनिक्षेप के वास्ते ऊपर नहीं चढ़ पाती.

सागौन विपत्रणक, **हिब्लिया प्यूएरा** (**हिब्लिइडी**) सागौन का घातक नाशक-कीट है. सागौन ककालक, **हैपालिया मैशेरैलिस** वाकर (**पाइरैलिडी**) समस्त दक्षिणी पूर्वी एशिया में सागौन का विपत्रण करता है. ये दोनों ही अनेक अंडे देते हैं. दक्षिणी भारत में प्रतिवर्ष इनकी 14–15 पीढ़ियाँ उत्पन्न होती हैं.



चित्र 43 – ऐनोमैला बेंगालेंसिस ब्लांश : (*a*) भृंग; (*b*) लारवा

लघु जीवन काल तथा निरन्तर बदलने वाले आक्रमण-केन्द्रों के कारण वन-प्रदेशों पर छिड़काव करने अथवा प्यूपीकरण में रत लारवों को जलाने – जैसे साधारण नियंत्रण उपायों का प्रयोग सर्वत्र सम्भव नहीं हैं. ग्रस्त प्रदेशो के त्रुटिपूर्ण कारकों के आकलन द्वारा, परजीवी तथा परभक्षी जैसे जैविक नियंत्रण साधनों के उपयोग की संभावना पाई जा सकती है.

साल विपत्रक, **लिमैण्ट्रिया मथुरा** मूर (**लिमैण्ट्रिडी**) आवर्ती होता है, इसके द्वारा उत्तरी भारत में व्यापक विपत्रण होता है. **लि. आब्फुस्काटा** वाकर कश्मीर में **सेलिक्स ऐल्बा** लिनिअस और **से. फ्रेजिलिस** लिनिअस विलो का नाशकजीव है. जाड़ों में अण्डों को नष्ट करना या उन्हें तेल देना, और प्यूपों तथा इल्लियों पर मिट्टी के तेल अथवा अन्य तेलों का छिड़काव करना इसके नियंत्रण के उपायों में गिनाये जाते हैं.

शीशम विपत्रक, **प्लेक्टोप्टेरा रिफ्लेक्सा** गुयेने (**नाक्टुइडी**), पंजाब और उत्तर प्रदेश के सिंचित क्षेत्रों में लगे शीशम के लिये कभी-कभी गम्भीर नाशकजीव सिद्ध होता है.

क्लैनिया क्रोमेरिआई वेस्टवुड (**साइकिडी**), वैगवर्म विविध भक्षी जाति है जो समस्त भारत में बबूल, चीड़ तथा अन्य जाति के वृक्षों के विपत्रण का कारण है. मादा पक्षहीन और देखने में ग्रब की तरह होती है. यह बेलनाकार थैले में रहती है. यह थैला बुने रेशम का होता है और ऊपर से काँटों तथा टहनियों के टुकड़ों आदि से ढका रहता है इसका जीवन-चक्र वार्षिक होता है.

लेपिडोप्टेरा के कई अन्य कुलों में भी विपत्रक होते हैं. झींगुर (**ऑर्थोप्टेरा**), फुदक्कों और टिड्डों की छोटे सींग वाली तथा बड़े सींग वाली दोनों किस्मों के निम्फ़ और वयस्क पत्तियाँ खाते हैं. छोटे सींग वाले फुदक्कों की कई जातियों यथा **ऑलैर्किस मिलिएरिस** लिनिअस, **ऑ. पंक्टैटस** ड्रूरी और **हीरोग्लिफ़स बेनियन** फैब्रीसिकस द्वारा वन्य नर्सरियों में विपत्रण होता है. **कैटेण्टाप्स ह्यूमिलिस** और **सिरैक्रिस डिफ्लोरेटा** सागौन की पत्तियों पर लगते हैं. **लिटैना इनफ्लैटा** (**टेट्टीगोनिडी**) चन्दन, **सैण्टैलम ऐल्बम** लिनिअस, की पत्तियाँ खाते हैं.

यूथी और प्रवासी दोनों ही प्रकार के टिड्डों द्वारा गम्भीर विपत्रण होता है. इन पर बी-एच-सी तथा ऐल्ड्रिन जैसे कीटनाशियों के छिड़काव और प्रकीर्णन द्वारा नियन्त्रण किया जाता है.

झींगुरों (**ग्रिल्लिडी**) में से **ब्रैकीट्राइपीज पोर्टेण्टोसस** कैजुआरीना, सागौन और अन्य जाति के वृक्षों के बीज पर अपना निर्वाह करता है. **जिम्नोग्रिल्लस ह्यूमरैलिस** वाकर बम्बई प्रदेश के कैजुआरीना के बीज का नाशकजीव है. आक्रमण की रोकथाम के लिये नर्सरियों में बीज की क्यारियों को तल्ला अथवा खाई द्वारा अलग रखा जाता है. इन कीटों को पकड़ने के लिये मिट्टी के घड़ों के बने फन्दे लगाये जाते हैं. पानी में हल्के तेल के इमल्शन, तारपीन या मिट्टी के तेल के घोल को भी प्रयोग मे लाते हैं. कीटों को मारने के लिए सोडियम फ्लुओसिलिकेट और भूसी के चूर्ण का प्रयोग करते हैं जो विष का काम करता है.

चूषक

रस चूसने वालों में बग, ऐफ़िड, शल्क-कीट (**हेटेरोप्टेरा** और **होमोप्टेरा**) और थ्रिप (**थाइसैनोप्टेरा**) आते हैं जिनमें से प्रथम तीन वर्ग अधिकता से पाये जाते हैं और आर्थिक दृष्टि से अधिक महत्वपूर्ण हैं. इनके निम्फ़ों और वयस्कों में शुंडिका पाई जाती है जिनके द्वारा ये टहनियों और पत्तियों को भेद कर रस चूसते हैं. अत्यधिक खाद्य रसों के निकल जाने के फलस्वरूप परपोषी पौधे का स्वास्थ्य गिरने लगता है और आगे चलकर पौधा सूख कर नष्ट हो जाता है.

कपास की सफेद मक्खी, **बेमिसिया गॉसीपिपेर्डा** मिश्रा और लाम्बा, अनेक व्यर्थ पौधों पर आक्रमण करती है जिनमें क्लेरोडेण्ड्रान भी सम्मिलित है. इसका नियंत्रण रोजिन सोडा या मछली के तेल से बने रोजिन साबुन के छिड़काव द्वारा किया जाता है.

चेमिस ऐबीटिस्पीसी स्टेविग (**ऐफ़िडिडी**) हिमालय के कोनिफ़र वृक्षों, **पिसिया स्मिथियाना** वोआसिये, और **ऐबीज पिण्ड्रो** रायल, का नाशकजीव है. इसका जीवन सपक्ष और पक्षहीन प्ररूपों में पीढ़ी-एकांतरण दर्शाता है. ऊनी ऐफ़िस अथवा अमेरिकी ब्लाइट, **इरिओसोमा लेनीजेरम** हाउज्म, सेब के वृक्षों का गम्भीर नाशकजीव है. हरा आड़ू ऐफ़िन, **माइज़स पर्सिकी**, शीशम (**डाल्बर्जिया सिसू** रॉक्सबर्ग) के वृक्षों पर आक्रमण करता है. ये रोगवाहक का भी कार्य करते हैं और इनके द्वारा सोलैनेसी और क्रूसीफेरी की सब्जियों में वाइरस की बीमारियाँ फैलती हैं.

ऐफ़िडों की खुली कॉलोनियों पर साबुन के इमल्शन और तम्बाकू के काढ़े के छिड़काव द्वारा नियंत्रण किया जाता है. सेब के वृक्षों की डालियों और तनों पर लगे ऐफ़िस की कॉलोनियों की रोकथाम मछली के तेल से बने रोजिन साबुन के छिड़काव

द्वारा, और उसकी जड़ों में लगे ऐफिस की रोकथाम पैरा-डाइक्लोरोबेंज़ीन के वूमन द्वारा की जाती है.

शल्क-कीटों (**कॉक्सिडी**) में **ऐस्पीडिओटस डेस्ट्रक्टर** नारियल तथा दूसरे ताड़ों का नाशकजीव है. **सैन जोस** शल्क-कीट, **क्वाड्रेस्पीडिओटस पर्नीसिओसस** विलो और दूसरे कई फलदार वृक्षों का, विशेष कर उत्तर पश्चिमी हिमालय प्रदेशों में सार्वत्रिक नाशकजीव है. मूल रूप से चीन का प्राकृत यह कीट भारत में 1911 में आया. पंजाब और कश्मीर में डीज़ल तेल, पोटैश तथा मछली के तेल से बने पायस का छिड़काव करके इस पर नियंत्रण प्राप्त कर लिया गया है.

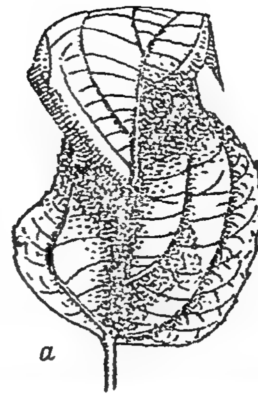
डैक्टिलोपिअस टोमेण्टोसस लिनिअस (सिन. **डॅ. ओपन्शिई**) अनेक नागफनियों, उदाहरणार्थ: **ओपंशिया इलेटिओर** और **ओ. डिल्लेनाई** हावर्थ पर प्रजनन करते हैं और उन्हें नष्ट कर देते हैं. परन्तु कीट **ओ. वुलगेरिस** मिलर, **ओ. फाइकस-इंडिका** मिलर और **ओ. डिकूमाना** हावर्थ जैसी नागफनियों पर वृद्धि नहीं कर पाते. भारत में नागफनी जातियों को फैलने से रोकने में इन कीटों का सफल प्रयोग किया गया है. अमेरिका का मूल-वासी यह कीट श्रीलंका में 1924 में और भारत में 1926 में लाया गया. इन दोनों ही देशों में इन कीटों का सफल उपयोग नागफ़नी को फैलने से रोकने में किया गया.

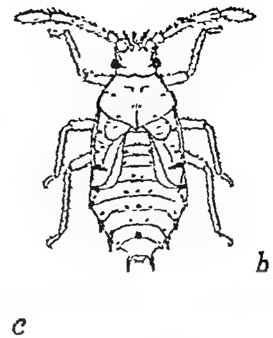
ड्रॉसिका मैंगीफेरी गम्भीर नाशकजीव है जो शीशम, **फाइकस** जातियों, आम और अन्य वृक्षों को हानि पहुँचाता है. **ड्रॉ. स्टेब्बिगाइ** साल का आवर्ती नाशक-कीट है. आकिड वृक्षों पर **ड्रॉसिका** जातियों के आक्रमण की रोकथाम उनके तनों पर चिपचिपी पट्टियों का रोब लगाकर और मछली के तेल से बने रोज़िन साबुन का छिड़काव करके की जाती है.

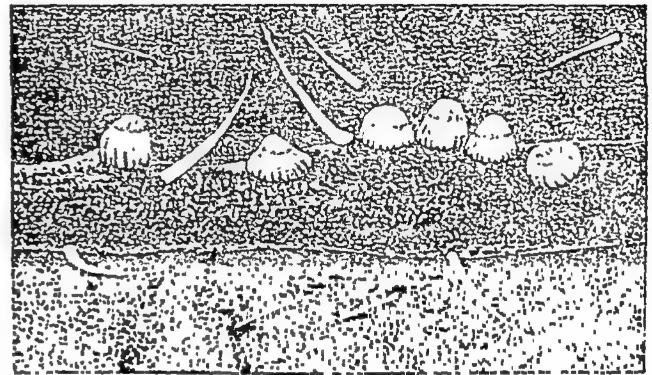
लाख कीट, **लैसीफर (टैकार्डिया) लैका** (केर्र) को कुसुम (**श्लाइकेरा ओलिओसा** मेरिल), पलाश (**ब्यूटिया मोनोस्पर्मा** कुंत्ज़े) और बेर (**जिज़ीफस जूजूबा** लामार्क) जैसे अनेक प्रकार के परपोषी वृक्षों पर पाला जाता है, स्वाभाविक है कि ये कीट कुछ वृक्षों को अन्यों की अपेक्षा प्राथमिकता प्रदान करते हैं और इनसे उत्पन्न लाख, परपोषी वृक्षों के अनुसार गुणों में भिन्न होती है. जब इनका आक्रमण गम्भीर होता है, तो परपोषी वृक्ष कमज़ोर हो जाता है और नष्ट भी हो सकता है. इस कीट के भी कीट शत्रु हैं: जैसे **यूब्लेमा अमाबिलिस** मूर (**नाक्टुइडी**) और **होल्कोसेरा पलवेरिया** मेयर (**ब्लास्टोफ़ैसिडी**), जो इस पर आक्रमण करते हैं और लाख की खेती को हानि पहुँचाते हैं.

केन फ्लाई, **यूरिब्रैकिस टोमेण्टोसा** फैब्रोसिकस (**फ़्युल्गो-रिडी**). **अल्बिज़िया लेबेक** बेन्थम, **कैसिया फ़िस्टुला** लिनिअस, **सैण्टेलम ऐल्बम** लिनिअस तथा अन्य जातियों के वृक्षों पर लगती हैं और इन वृक्षों की बाढ़ में अवरोध उत्पन्न करती हैं. अभी तक इनके नियंत्रण की कोई विधि ज्ञात नहीं हो पाई.

तेला (**जैसिडी**), **इडियोसेरस एटकिनसोनाइ** तथा इस वंश की अन्य जातियाँ, आम के नाशकजीव हैं और प्रायः यह आम की खेती को भीषण क्षति पहुँचाते हैं. ऐसा संदेह किया जाता है कि **जैसस इण्डिकस** वाकर चंदन के स्पाइक रोग के वाइरस को फैलाती है. इन कीटों की रोकथाम की विधियाँ ज्ञात नहीं हैं, किन्तु कृषि संबंधी तथा फल की खेती वाले नाशकजीवों का नियंत्रण डी-डी-टी का छिड़काव करके किया जाता है.







चित्र 44 – लैंटाना पर लैंटाना लेस बग द्वारा अंडे देना: (a) अंडे देने के कारण पर्ण के निम्न पृष्ठ पर मोड़ और ऐंठन; (b) इसके निम्फ की पाँचवी अवस्था; (c) लैंटाना पर्ण के पृष्ठ भाग पर मध्य शिरा पर दिए अंडे

स्टिंक बग (**पेण्टैटोमिडी**) अपेक्षाकृत आकार में बड़े होते हैं (लम्बाई, 5–15 सेंमी.). बंगाल और असम में चम्प बग, **यूरोस्टाइलिस पंक्टीजेरा** वेस्टवुड, चंपक (**माइकेलिया चंपका** लिनिअस) का गम्भीर नाशकजीव है. एक वर्ष में इसकी पाँच पीढ़ियाँ जन्मती हैं. इसके वयस्क और निम्फ पत्तियों और अंकुरों के रस पर निर्वाह करते हैं. एकसी खेती में मिश्रित की अपेक्षा ग्रसित होने की अधिक सम्भावना पाई जाती है. इन नाशकजीवों के नियंत्रण के लिये डी-डी-टी और चूना-गंधक घोल जैसे कीटनाशियों का छिड़काव किया जाता है.

पौधों के फुदकने वाले जूँ (**साइलिडी**) वृक्षों की पत्तियों को खाते हैं और पिटिका का निर्माण करते हैं. इनके गम्भीर आक्रमण के फलस्वरूप ग्रसित पौधे बढ़ नहीं पाते. वे पौधे या तो बौने रह जाते हैं, या मर जाते हैं. इनकी प्रमुख नाशकजीव जातियाँ निम्नलिखित हैं: **ऐप्सिला सिस्टेलैटा** आम पर; **यूफैलिरस विटेटस**, **कैसिया फ़िस्टुला** लिनिअस पर; **फाइलोप्लेक्टा हिरसुटा**, **टर्मिनैलिया टोमेण्टोसा** वाइट और आर्नट पर; और **ट्रायोज़ा फ्लेवेरी**, **मेलाइना आर्बोरिया** लिनिअस पर.

लैण्टाना लेस बग, **टीलियोनेमिया स्कुपुलोसा** स्टाल (सिन. **टी. लैण्टानी** डिस्टैंट, **टिंजीडी** या **टिंजीटिडी**) प्रमुखतः

लैण्टाना जातियों पर संवर्धन करते हैं. परन्तु इन वृक्षों के अभाव में, ये कीट सागौन और अन्य वृक्षों पर भी आक्रमण करते हैं. 1941 में इन्हें ऑस्ट्रेलिया से लाकर भारत में सर्वप्रथम देहरादून (उत्तर प्रदेश) में इस उद्देश्य से संवर्धित किया गया कि यहाँ की परिस्थिति अनुकूलन के पश्चात् इनका उपयोग लैण्टाना पर काबू पाने के लिए किया जा सके, जो भारत के कई भागों में गम्भीर नाशकजीव है. कुछ वर्षो तक इनका संवर्धन संगरोध परिस्थितियों में किया गया, किन्तु यह प्रयत्न 1943 में इस खतरे को ध्यान में रखकर छोड़ दिया गया कि कही लैण्टाना के अभाव में ये सागौन पर हमेशा के लिये न जम जायें. फिर भी ये कीट देहरादून और उसके इर्द-गिर्द जम गए हैं.

थ्रिप (**थाइसैनॉप्टेरा**) छोटे, कोमल शरीर वाले कीट है जो सामान्यतः फूलों, पत्तियों, कलियों, और कोमल टहनियों के रस पर निर्वाह करते हैं. इनके आक्रमण से फूल समय से पहले ही गिरने लगते हैं; पत्तियाँ और कलियाँ सूख कर नष्ट हो जाती हैं. इनकी कुछ जातियाँ वृक्षों के गम्भीर नाशकजीव हैं. **एण्ड्रोथ्रिप्स घूम्रपक्षा** अय्यर से दक्षिणी भारत में **फाइकस रेट्सा** लिनिअस की कोमल पत्तियों को बहुत हानि पहुँचती है. अंगूरलता के थ्रिप **रिपीफोरोथ्रिप्स क्रूएण्टेटस** हुड, अनेक वृक्षों पर, जैसे कि **ऐनाकार्डियम ऑक्सीडेण्टेल** लिनिअस और **सिज़ीजियम क्यूमिनाइ** स्कील्स, पर लगता है और इन्हें काफी क्षति पहुँचाता है. एक वर्ष में इसकी पाँच पीढ़ियाँ जन जाती हैं. **टीनियोथ्रिप्स कार्डामोमाइ** अय्यर इलायची, **एलेटैरिया कार्डेमोमम** मैटन की कलियों और मंजरियों पर आक्रमण करके खेती को गंभीर नुकसान पहुँचाता है. एक बार तो इससे दक्षिणी भारत में इलायची के वृक्षों के अस्तित्व का ही भय उत्पन्न हो गया था. इस पर नियंत्रण पाने के लिये तम्बाकू के सार का छिड़काव करते हैं. **कैलोट्रापिस प्रोसेरा** आर. ब्राउन और **अज़ेडिरैक्टा इण्डिका** ए. जसु की पत्तियों के काढ़े को भी साबुन के साथ मिलाकर प्रयोग में लाते हैं.

अन्य नाशक-कीट

इस वर्ग के अंतर्गत जिन कीटों का विवरण दिया गया है वे निम्नलिखित वर्गो के हैं: **डिप्टेरा, हाइमेनोप्टेरा** और **आइसोप्टेरा**. ये ग्रस्त वृक्ष के किसी न किसी भाग को नष्ट कर देते है किन्तु कुछ अप्रत्यक्ष रूप से भी हानिकारक है. ये कुछ वृक्षों के लिये लाभदायक भी हैं. खून-चूसने वाले **डिप्टेरा** से मानव तथा जंगली जानवर पीडित रहते हैं. ये बीमारियाँ भी फैलाते हैं. कुछ **डिप्टेरा** और **हाइमेनोप्टेरा** नाशक-कीट, नाशक-कीटों के अंडों, लारवों तथा अन्य अवस्थाओं पर परजीवी होते है और इस प्रकार नाशकजीव नियंत्रण में महत्वपूर्ण योगदान देते हैं.

इटोनिडिड गाल मिजेज (गण – **डिप्टेरा**, कुल – **सीसिडोमाइडी**) पिटिका निर्माण करते हैं. **टैकिनिडी** की मक्खियाँ वृक्षों के अनेक नाशक-कीटों पर परजीवी होती है. ये अपने अंडे (सजीवप्रजक जातियों में लारवे) पत्तियों पर या परपोषी कीटों के अन्दर देते हैं.

गाल वर्रें (गण – **हाइमेनोप्टेरा**, कुल – **साइनिपिडी**) पर्ण गाल बनाते हैं. कई कुल अन्य कीटों पर, जिनमें वृक्षों के नाशकजीव भी सम्मिलित हैं, परजीवी होते हैं और इस प्रकार नाशकजीव के जैविक नियंत्रण में काम आते हैं. इसके लिये पहले प्रयोगशाला में परजीवियों का संवर्धन करते हैं, बाद में उन्हें महामारी ग्रसित क्षेत्रों में छोड़ देते हैं. इनके अधिक महत्वपूर्ण परजीवी कुल निम्नलिखित हैं:

ब्रैकोनिड वर्रें (**ब्रेकोनिडी**) अपने अंडों को परपोषी इल्लियों और लारवों पर या उनके अन्दर देते है. ये अपना निर्वाह बाह्य परजीवी या अंतःपरजीवी की भाँति करते हैं. **ऐपैण्टेलेस मैकोरैलिस** सागौन स्केलिटोनाइजर, **हैपैलिया मैकोरैलिस** वाकर का अंतःपरजीवी है; **सीड्रिया पैराडाक्सा** साधारणतया पिरैलिड परपोषी, **मैगरोनिया पिलोआलिस** वाकर, का परजीवी हैं, किन्तु कई अन्य पिरैलिड पर भी, जिनमें सागौन स्केलिटोनाइज़र भी सम्मिलित हैं, पाले जा सकते हैं, और इनके नियंत्रण के लिये इनका उपयोग किया जा सकता है.

कैलसिड वर्रों (**कैलसिडिडी**) के अंडे और लारवे दोनों ही अंतःपरजीवी हैं. **ब्रैकीमेरिया हियरसेआइ** किर्बी तून के प्यूपों और महोगनी के प्ररोह वेधक, **हिप्सीपाइला रोबस्टा** मूर, का परजीवी है. **ब्रै. टैर्कीडई** कैमरान कुछ शलभों का परजीवी है जिनमे वृक्षों के अनेक परजीवी भी सम्मिलित है.

इक्न्युमॉन वर्रें (**इक्न्युमोनिडी**) परजीवी के रूप में अधिकतर लाभकारी है. इनके अंड निक्षेपण और परजीवीकरण की विधियाँ ब्रैकोनिडी की विधियों से मिलती-जुलती है. डाइआक्टिज आर्जेण्टियोपाइलोसा सागौन स्केलिटोनाइजर और कई अन्य शलभों की इल्लियों के परजीवी है. **रिसा पर्सुएसोरिया हिमालयेन्सिस** रिले हिमालय प्रदेश में काष्ठ वर्रे; **सीरेक्स इम्पीरियेलिस** किर्बी का परजीवी है.

ट्राइकोग्रामा इवैनेसेन्स माइन्यूटम रिले (कुल – **ट्राइकोग्रामैटिडी**) अंडा-परजीवी है• जिनका व्यापक उपयोग ईख वेधकों, कपास की डोडों के कीटों, सागौन विपत्रकों और चाय और लाख के नाशकजीवों के नियंत्रण में होता है. **ट्राइकोग्रैम्मैटोइडी नाना, नाक्टुइडी, पिरैलिडी** और **टिनीडी** के शलभों के अंडों का परजीवी है. परजीवी **हाइमेनोप्टेरा** के अन्य कुल निम्नलिखित है: **बेथाइलिडी, इलैस्मिडी, एनसिर्टिडी, यूलोफिडी, माइक्रोगैस्टरिडी, पेरीलैम्पिडी, टेरोमैलिडी** और **सेलिडोनिडी**.

कुछ दीमक (**आइसोप्टेरा**) जीवित वृक्षों के नाशकजीव हैं; अन्य मृत या मरणासन्न वृक्षों और नर्सरियों के बीजों पर आक्रमण करती है; कई तो सड़ते हुए काष्ठ पदार्थ को नष्ट करती है और इस प्रकार वनों में मिट्टी और ह्यूमस के निर्माण में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती हैं. सूखी लकड़ी के नाशकजीव के रूप में ये संगृहीत इमारती लकड़ी, फर्नीचर आसंजन, किताबों और अन्य सेलुलोस के पदार्थो के लिए गम्भीर खतरा उत्पन्न करती है.

क्रिप्टोटर्मिस डोमेस्टिकस हॉल्मग्रेन (**कैलोटर्मिटिडी**) घरों की सूखी लकड़ियों का साधारण नाशकजीव है. **क्लिप्टोटर्मिस** वंश की कई जातियाँ जीवित वृक्षों में, जैसे कैज़ुआरीना और तून में आवास बनाती है.

काप्टोटर्मिस हेमाइ (**राइनोटर्मिटिडी**) आमतौर पर घरेलू लकड़ी की वस्तुओं पर आक्रमण करता है. **का. सीलोनिकस** हॉल्मग्रेन दक्षिणी भारत और श्रीलंका में जीवित चाय और रबड़ के वृक्षों पर आक्रमण करता है, जबकि एक संबंधित जाति

का. **कर्वीग्नैथस** हॉल्मग्रेन मलाया और इण्डोनेशिया के रबड़ वृक्षों का गम्भीर नाशकजीव है. **हेटरोटर्मिस इण्डिकोला** घरेलू काष्ठ वस्तुओं पर आक्रमण करता है.

वल्मीक बनाने वाली साधारण दीमकें, जो भारत में पाई जाती हैं निम्नलिखित हैं: **ओडोण्टोटर्मिस (साइक्लोटर्मिस) ओबिसस** रैम्बर उत्तरी भारत में और **ओ. (साइक्लोटर्मिस) रेडेमैनाइ** पूर्वी और दक्षिणी भारत में. इनमें से कोई भी वृक्षों का गम्भीर नाशकजीव नहीं है. **ओ. फ़िग्रई** बड़ी जाति है जो सामान्यतः इमारती लकड़ियों पर आक्रमण करती है. **ओ. पैर्वीडेन्स** हॉल्मग्रेन और हॉल्मग्रेन, गम्भीर नाशकजीव न होने पर भी, सागौन वृक्षों पर आक्रमण करती है. यह छाल और कैम्बियम को समाप्त कर इन वृक्षों को नष्ट कर देती है.

दीमकों से बचाव के अनेक उपाय हैं. उनके घोंसलों और कॉलोनियों को नष्ट कर दिया जाता है. बीजों की क्यारियों के किनारे लगाये गये लकड़ी के तख्तों को क्रिओसोट में भिगो लेते हैं ताकि दीमकें पास न फटकें. रेंडी, करंजा (**पोंगैमिया** जाति), महुवा (**मधूका जाति**) और नीम की खली से, जो खाद के रूप में महत्वपूर्ण हैं दीमकों पर हल्की रोकथाम हो जाती है. नर्सरी-बेहनों को खेतों में तुरन्त प्रतिरोपित करके दीमकों से उनकी जड़ों की रक्षा की जा सकती है. ठूँठों और कटी जड़ों का प्रतिरोपण से पूर्व 5% लेड आर्सेनेट विलयन या 2% पेरिस ग्रीन और 4% चूने के जलीय मिश्रण में डुबो लिया जाता है. तब राख की तह देकर बीजारोपण करना अच्छा माना गया है. सूखे मौसम में नर्सरी की क्यारियों की सिंचाई कच्चे तेल या मछली के हल्के पायस अथवा तम्बाकू के हल्के काढ़े से की जाती है. आर्द्र मौसम में, जब मिट्टी भी नम होती है, क्यारियों पर मिट्टी या बालू या पेरिस ग्रीन या श्वेत आर्सेनिक की अल्प मात्रा मिलाकर राख छिड़की जाती है. मन्द गति से प्रभाव दिखाने वाले धूमक, जैसे पैरा- या आर्थो-डाइक्लोरोबेंज़ीन का भी प्रयोग दीमकों से रक्षा के लिये करते हैं. थोड़े-थोड़े समय पर बारम्बार खुदाई करना और मिट्टी पलटते रहना भी उत्तम बताया जाता है. लाल चींटियाँ भी दीमकों को नष्ट करती हैं. रोपित ठूँठों या कलमों में तनु कच्चे तेल के पायस या सोडियम या लेड आर्सिनाइट के विलयन के साथ सिंचाई करने से इनका रक्षण किया जा सकता है.

पेरिस ग्रीन लकड़ी में लगने वाली दीमकों (**कैलोटर्मिटिडी**) के नियंत्रण में प्रभावकारी होता है; इसे लकड़ी में बने सूराख़ों के भीतर फूंक करके सूराख़ों को बन्द कर दिया जाता है. पेड़-पौधों, एकल वृक्षों और सड़क के किनारे अथवा बागों की वीथियों पर आक्रमण करने वाली दीमकों की रोकथाम के लिए सुरक्षा की प्रत्यक्ष विधियाँ अपनाई जाती हैं. उन वृक्षों की रक्षा के लिये, जिनकी छाल में दीमक लगती है, तने के आधार पर लेड आर्सेनेट में सिक्त रक्षापट्टियाँ लपेटते हैं. छाया का नियंत्रण और अत्यधिक बाढ़ की रोकथाम के लिये अपनाये गये विरलन द्वारा भी इनके आक्रमणों को रोकने में सहायता मिलती है.

संचित इमारती लकड़ियों की रक्षा के लिए, डिपो और यार्डों का फर्श सूखा रखना चाहिये और इमारती लकड़ियों को कंक्रीट, ईंट या पत्थर के ढाँचों पर, या लोहे की पटरियों पर, या क्रियोसोट से सिक्त लकड़ियों के ढाँचों पर संगृहीत करना चाहिये. वायु का आवागमन आवश्यक है. केवल क्रियोसोट सिक्त या दूसरी विधियों से तैयार की गई इमारती लकड़ियों को ही भूमि के ऊपर छोड़ा जा सकता है. उच्च क्वथनांक के कोलतार क्रियोसोट से विधिवत् सिक्त लकड़ी की बल्लियाँ 50 से 60 वर्षों तक दीमकों के आक्रमण से बची रहती हैं, किन्तु यह तभी सम्भव है जब प्रति घन मीटर लकड़ी में 160 किग्रा. क्रियोसोट और 80 किग्रा. ईंधन-तेल अवशोषित हो. दीमकों से रक्षा के लिए सतह का जलाना सदैव प्रभावकारी नहीं होता.

संचित कृषि उत्पादों के नाशकजीव

ऐसा अनुमान है कि संचित उत्पादों को नाशकजीवों के आक्रमण से जो क्षति होती है वह कटी फसल के कुल मूल्य की लगभग 10% होती है. प्रभावकारी सुरक्षा के उपायों में नाशकजीवों की पहुँच को संचित अन्न तक ही रोकना आवश्यक नहीं है वरन् यह भी आवश्यक है कि ग्रस्त अन्न का उपचार किया जाए और भावी आक्रमण की रोकथाम भी की जाए.

संचित अनाजों के नाशकजीव सामान्यतः भृंग (**कोलिऑप्टेरा**) और शलभ (**लेपिडोप्टेरा**) हैं. भृंग वयस्क और लारवा इन दोनों अवस्थाओं में क्षति पहुँचाते हैं, जबकि शलभ केवल इल्ली-अवस्था में. अन्न के सबसे गंभीर नाशकजीवों में से एक धान का घुन, **सिटोफाइलस ओराइज़ी** लिनिअस है जो चावल, गेहूँ, मक्का, ज्वार आदि पर आक्रमण करता है. अकेला ग्रब समूचे दाने को खोखला कर सकता है. गर्म देशों में एक वर्ष में पाँच पीढ़ियाँ तैयार होने से इनके द्वारा होने वाली क्षति अत्यन्त गम्भीर होती है. एक अन्य नाशकजीव खपरा भृंग, **ट्रोगो-डर्मा ग्रैनेरियम** इवर्ट्स है जिसका ग्रब दाने के भ्रूण पर आ-क्रमण करता है. लघु दाना वेधक, **राइज़ोपर्था डोमिनिका** फैब्रीसिकस लगभग सभी अनाजों एवं सूखे आलू पर भी आक्रमण करता है; नमी होने पर ये विशेष रूप से विनाशकारी सिद्ध होता है. अन्य भृंग नाशकजीवों में से निम्नलिखित नाशकजीव महत्वपूर्ण हैं क्योंकि ये क्षतिग्रस्त अनाजों और आटे पर आक्रमण करके बहुत हानि पहुँचाते हैं: लाल सुसरी, **ट्राइबोलियम कैस्टेनियम** (हर्बस्ट), **ट्रा. कनफ्यूसम** (डुवैलियर), **ओराइज़ो-फाइलस सूरिनामेन्सिस** लिनिअस, **लेथिटिकस ओराइज़ी** (वाटर-हाऊस) और **लेमोफ्लोयस माइनूटस** ओलिवर.

दाल घुन लगभग सभी दालों पर आक्रमण करता है. **ब्रूकस चाइनेन्सिस** लिनिअस और **ब्रू. ऐनेलिस** फैब्रीसिकस लाल चना, चना, कुलथी, मटर, लोबिया आदि को क्षति पहुँचाते हैं. जबकि **ब्रू. फैसिओलाई** गोदाम और खेत दोनों ही में सेम (**डालिकास लबलब** लिनिअस) का नाशकजीव है. **कैलोसोब्रूकस मैकुलेटस** फैब्रीसिकस लोबिया का नाशकजीव है. इमली घुन, **पैचीमेरस गोनाग्रा** फैब्रीसिकस इमली के संचित बीजों पर पलता है.

संचित उत्पादों के फुटकर नाशकजीवों में, दवाखाने का घुन, **स्टेगोबियम पैनिसियम** लिनिअस, गोदामों में धनिया, जीरा और सूखी हल्दी पर आक्रमण करता है, जबकि सिगरेट घुन **लैसिओडर्मा सेरिकार्ने** फैब्रीसिकस तम्बाकू उत्पादों, सूखी मिर्च, काली मिर्च, सूखी अदरक, गाँजा और पोस्ते की खली का विशिष्ट नाशकजीव है. खोपरा भृंग **नेक्रोबिया रुफीपीज** डेगियर, मछली की खाद, खोपरा तिलहन की खली और संसाधित मांस पर आक्रमण करता है.

धान्य शलभ, **सिटोट्रोगा सीरिएलेला** ओलिवर, संचित धान, गेहूँ एवं ज्वार तथा गेहूँ के आटे का नाशकजीव है. चावल शलभ, **कार्सइरा सेफॅलोनिका**, संचित चावल और अन्य अनाज, टूटी दाल और मूँगफली पर आक्रमण करता है. और छाया युक्त गैलरी में रहता है. भारतीय भोजन शलभ, **प्लोडिया इंटरपंक्टेला** हुब्नर, भी अनाज, नट, सूखे फल और टूटे काजू में गैलरी बना कर रहता है. बादाम शलभ, **इफेस्टिया कौटिला** वाकर की भी आदतें इससे मिलती-जुलती हैं और यह भी सूखे फल, मूँगफली की खली और अलसी पर आक्रमण करता है. एक संबंधित जाति, **इ. इलुटेला** हुब्नर अमेरिका और भूमध्य क्षेत्रों में संचित तम्बाकू की पत्तियों का गम्भीर नाशकजीव है, किन्तु यह अभी तक भारत में नही पाया गया है. भारत में इसके प्रवेश को रोकने के लिए संगरोध कानून लागू करने पर जोर दिया जा रहा है.

काटी हुई मूँगफली की फलियों और गोदाम में गाहने के लिए इकट्ठे किये गये तिल के पौधों पर लाईजिड बग, **ऐफ़ैनस सार्डिडस** फैब्रीसिकस के आक्रमण की आशंका रहती है. शल्क-कीट, **एस्पीडिओटस हार्टिग्राई**, हल्दी की संचित गाँठों में वृद्धि करता है. टिंजड बग, **रिकॅरिडस रेक्स** डिस्टैंट, और मीली बग, **स्यूडोकोकस कारिम्बेटस** प्रायः गोदाम में संचित आलू का नाशकजीव है. आलू का सबसे गम्भीर नाशक-जीव आलू कंद पतंगा, **नारीमोशेमा ओपरकुलेला** है. गोदामों में अनाज रखने के जूट के बोरों पर प्रायः दीमक का आक्रमण होता है.

नाशकजीवों पर नियंत्रण के लिये अनाज या अन्य कृषि उत्पादों की सम्यक सफ़ाई एक आवश्यक माँग है. अनाज के दानों को धूप में पूरी तरह से सुखा लेना चाहिए और जहाँ तक सम्भव हो, गोदामों को सूखा रखने की व्यवस्था भी होनी चाहिए. अनाज रखने के पात्रों को भी सूखा होना चाहिए और उन्हें बंद रखना चाहिए. गोदाम के कमरों में सफ़ाई और संवातन का उचित प्रबन्ध होना चाहिए. जब भी नाशक-जीवों के आक्रमण की आशंका हो तो धूमकों का प्रयोग करना चाहिए.

पादप वाइरस के रोगवाहक कीट

वाइरस रोगजनक होते है. आकार में ये सूक्ष्मतम बैक्टीरिया से भी अत्यन्त छोटे हैं (200 मा. या उससे कम). ये अपने पर-पोषी से अथवा उन लक्षणों से जाने पहचाने जाते है जो इनके कारण पैदा होते हैं, जैसे तम्बाकू, आलू, टमाटर, सेम, ईख और अन्य मोजेक; आड़ू, ऐस्टर और अन्य येलो; चुकन्दर के कुंचिताग्र; टमाटर की चकत्तेदार म्लानि; कोकोआ के फूले प्ररोह; मक्का की धारियाँ, और तिपतिया का मुग्दर-पर्ण. इन वाइरसों के द्वारा अनेक बीमारियाँ उत्पन्न होती हैं, जैसे मनुष्यों में चेचक, खसरा, गलसुआ, इनफ्लुएंजा और रेबीज़ आदि तथा पशुओं में सुअर-ज्वर, पीड़ा और खुर तथा मुख के रोग. वाइ-रसों को कीटनाशक रसायनों द्वारा निष्क्रिय नहीं किया जा सकता, किन्तु कुछ पर ऐल्कोहल और अन्य रसायनों तथा ऊष्मा का प्रभाव पड़ता है.

प्रकृति में ग्रस्त से स्वस्थ परपोषी में पौधों के वाइरसों का संचरण निस्संदेह कीट रोगवाहकों द्वारा सम्पादित होता है. सभी वाइरसों के रोगवाहक ज्ञात नहीं है, किन्तु अधिकतर रोगवाहक **होमोप्टेरा वर्ग** के अंतर्गत आते हैं. उदाहरणार्थ ऐफिड (**ऐफ़िडिडी**), पर्ण-फुदक्के (**जैसिडी**), सफेद मक्खी (**ऐल्युरोडिडी**), मेढ़क-फुदक्के (**कोरियोपिडी**) और मीली बग (**काक्सीडी**). मोज़ेक वर्ग के वाइरसों के रोगवाहक ऐफिड हैं. येलो समूह का संचरण पर्ण-फुदक्के द्वारा होता है. अन्य वर्गों के अन्तर्गत कीट रोगवाहक निम्नलिखित है: थ्रिप (**थाइसैनॉप्टेरा**), टिड्डा (**ओर्थोप्टेरा**), भृंग (**कोलिओप्टेरा**) और ईयरविग (**डर्मोप्टेरा**).

दंशन और चर्वण मुखाग वाले कीटों द्वारा संचरित वाइरसों की संख्या कम है. ऐसे वाइरसों में स्क्वाश मोज़ेक, लोबिया मोज़ेक और शलजम पीत मोज़ेक आते है. प्रायोगिक रूप से अमरबेल वर्ग के परजीवी पुष्पी पादपों को वाइरसों के संरक्षण और संचरण के काम में लाया गया है क्योंकि ये पौधे अपने परजीवी मूलों द्वारा परपोषी के तनों और पत्तों से जैविक सम्बन्ध बनाये रखते है.

कुछ कीट रोगवाहक अनेक वाइरसों का संचारण करते हैं, दूसरी ओर कुछ वाइरसों का संचारण अनेक कीट रोगवाहकों द्वारा होता है. ऐफिड, **माइजस पर्सिकी** लगभग 25 विभिन्न वाइरसों का संचारण करता है, जबकि ऐस्टर येलो और प्याज पीत-वाहक वाइरसों का संचारण पर्ण-फुदक्कों की 22 जातियों और एफिड की 50 जातियों द्वारा होता है. कुछ वाइरस, जैसे मक्का की धारियाँ और ईख का फिजी रोग, एक कीट जाति द्वारा ही संचारित होता है. दूसरी ओर कुछ कीट वेक्टर, जैसे कि कोलोरैडो भृंग, **लेप्टीनोटार्सा डेसेम्लीनियाटा** (से), और जैसिड, **एम्पोऐस्का डिवास्टन्स** डिस्टैंट में से प्रत्येक केवल एक ही वाइरस का संचारण करते हैं. ऐसा भी होता है कि कोई एक कीट वाइरस के किसी एक विभेद का तो संचारण करता है परन्तु उसी वाइरस के दूसरे विभेद का नहीं.

यद्यपि वाइरसों का भौतिक संचारण कीटों, पक्षियों और अन्य कारकों द्वारा, जो ग्रसित पौधों पर बैठने के पश्चात् वहाँ से हटकर किसी स्वस्थ पौधे पर बैठते हैं, होता है तथापि कीटों के रोगवाहक की भाँति कार्य करने के लिए यह आवश्यक है कि वे वाइरस-ग्रसित पौधों से भोजन प्राप्त करें. कई वाइरस संक्रमण उपयुक्त रोगवाहकों द्वारा शीघ्रता से ग्रहण कर लिए जाते है, लेकिन कुछ ऐसे भी हैं जिन्हें ग्रहण करने के लिए दीर्घ अवधि तक उनका पोषण आवश्यक है. वे संक्रमण, जो शीघ्र अपना लिए जाते है, प्रायः शीघ्र ही समाप्त भी हो जाते हैं, किन्तु लम्बी अवधि के पोषण द्वारा अपनाये गये संक्रमण रोगवाहकों में लम्बी अवधि तक बने रहते हैं. चुकंदर मोजेक वाइरस ऐफिड वेक्टर, **ऐफ़िस रुमिसिस** लिनिअस द्वारा ग्रसित पौधे पर भरण के लगभग 10 मिनटों में अपनाये और संचारित किए जाते हैं, किन्तु यदि ये ऐफिड स्वस्थ पौधों से कई बार भोजन लें तो वाइरसों को संचारित करने की क्षमता भी लुप्त हो जाती है. दूसरी ओर, ऐफिड, **माइजस पर्सिकी** आलू की पत्तियों के रोल वाइरस का संचारण भोजन लेने के कम से कम 24 घंटे बाद करता है. ऐसा प्रतीत होता है कि कभी-कभी तो वाइरस इस बात का निर्धारण करता है कि रोगवाहक कितनी जल्दी संक्रमण ग्रहण करता है और कितनी देर तक उससे प्रभा-वित रहता है और कभी रोगवाहक निर्धारण की भूमिका निभाता है. कुछ वाइरसों को उद्भवन-अवधि की आवश्यकता होती है

जिसमें उनका रूपान्तरण होता है या वे रोगवाहक के शरीर के भीतर वृद्धि करते हैं और इस अवधि के पश्चात् ही रोगवाहक संक्रमण फैलाने के अयोग्य हो जाता है. किन्तु अन्य वाइरसों पर यह प्रतिबन्ध लागू नहीं होता, रोगवाहक के शरीर में संक्रमण की संख्या-वृद्धि के प्रमाण हैं, किन्तु सिवाय प्रचण्डता की अधिकता के, जो स्वयं में संख्या-वृद्धि का परिणाम हो सकता है, रूपान्तरण का प्रमाण नहीं मिलता, ऐस्टर पीत और तिपतिया मुग्दर पर्ण वाइरस रोगवाहक कीटों के शरीर में बढ़ते हैं. ऐसा बताया जाता है कि तम्बाकू मोज़ेक वाइरस 1 : 10,00,000 की तनुता पर संक्रमण-योग्य नहीं रहता और टीका लगे पेड़ों के रस को भी इसी अंश तक की तनुता प्रदान की जा सकती है, जिससे यह प्रकट होता है कि वाइरस की मात्रा में लाखों बार की वृद्धि हुई है.

यद्यपि अधिकतर वनस्पति-वाइरसों के रोगवाहक चूषक-कीट होते हैं, तथापि सभी चूषक-कीट रोगवाहक नहीं होते. यह आवश्यक नहीं कि चूषक-कीटों की कई निकट संबंधी जातियाँ, यहाँ तक कि एक ही वंश की होती हुई भी, एक ही वाइरस को संचारित करें. यह भी देखा गया है कि एक ही कीट जाति के कई विभेद या प्रजातियाँ ग्रसित परपोषी पौधे से भोजन लेते हुए भी उसके वाइरस के संचारण में असमर्थ होते है. उदाहरणार्थ जैसिड, **सिकाडुलाइनाम्बिला** (नाउडे), मक्का के धारी रोग का रोगवाहक. इस रोगवाहक की कुछ प्रजातियाँ वाइरस तो ले लेती है पर सामान्यतया उनका संचारण नहीं कर पाती. यद्यपि बहुत से कीट रोगवाहक वयस्क अवस्था में वाइरसों को अपनाते हैं, तथापि टमाटर की चकत्तेदार म्लानि थ्रिपों के लारवों द्वारा संचरित होती है, इनके उन्हीं वयस्कों द्वारा संक्रमण होता है जो ग्रसित लारवों से बढ़ते हैं. कीट वेक्टर की एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी में कुछ वाइरसों का जन्मजात संचारण भी देखा गया है जैसे कि पर्ण-फुदक्का **एगैलियोप्सिस नोवेला** तिपतिया में. इस वेक्टर में मुग्दर पर्ण वाइरस पाँच वर्ष की अवधि में 21 पीढ़ियों तक चलता रहा. मूल वाइरस-ग्रसित मादा का संगम पाँच वर्ष पहले वाइरस-हीन नर से किया गया था और इस बीच वाइरस के किसी नये स्रोत से सम्पर्क नहीं होने दिया गया. जैसिडो, **नेफोटेटिक्स एपिकैलिस** वैर. **सिंक्टीसेप्स** ऊहल और **डेल्टोसिफैलस डॉर्सैलिस** मातचुल्स्की धान वामन वाइरस के रोगवाहक हैं, ये अग्रसित-मादा के अंडों से उनसे निकलने वाले निम्फों में पहुँच जाते है और ऐसे निम्फ बहुत प्रचण्ड होते है.

वाइरस संक्रमण ग्रसित कीटों में और उसी जाति और उसी आयु के अन्य सरल कीटों में कोई स्पष्ट अंतर नहीं दिखता. ऐसा बताया गया है कि यदि इन कीटों की आंत्र को निर्जर्मित सुई से छेद दिया जाए ताकि अपनाए गये वाइरसों को रक्त स्राव में प्रविष्ट होने का अवसर मिल सके तो **सि. म्बिला** की 'निष्क्रिय' प्रजातियाँ 'सक्रिय' हो जाती हैं. इस सूचना के आधार पर अनुमान किया जाता है कि आंत्र की अस्तर कोशिकायें 'निष्क्रिय' कीटों में वाइरस के प्रवेश को रोकती है जबकि "सक्रिय" कीटों में ऐसा नहीं होता. अंत में, यह कहा जा सकता है कि वाइरस और उसके कीट रोगवाहक तथा उन प्रक्रमों और परिस्थितियों का सम्बन्ध, जिनमें वाइरस का संक्रमण और संचारण होता है, बहुत जटिल है और इस दिशा में हमारा ज्ञान सीमित है.

पशुओं और अन्य पालतू जानवरों के नाशकजीव

ढोरों और अन्य पालतू पशुओं, जैसे भेड़ों, घोड़ों और कुक्कुटों, पर कई नाशकजीवों का आक्रमण होता है, जिनसे इन्हें न केवल प्रत्यक्ष हानि एवं पीड़ा पहुँचती है, बल्कि उनमें क्रियात्मक-बाधायें और बीमारियाँ भी उत्पन्न होती हैं. पालतू पशुओं के प्रमुख नाशकजीवों में घोड़े की मक्खी, जोंकी मक्खी, दंशन मक्खी, मांस मेगट, पिस्सू, यूका और पक्षीयूका हैं जो विशेष रूप से नियततापी प्राणियों पर परजीवी जीवन बिताने में अभ्यस्त कीटों के किन्हीं वर्गों से सम्बद्ध हैं. वन्य क्षेत्रों में चरने वाले ढोरों पर प्रायः मक्षिका, बर्र, फफोला-भृंग तथा काँटेदार और रोंयेदार इल्लियों का आक्रमण होता है.

कीट-नाशक जीवों के कारण दुधारू और कामकाजी पशुओं की दशा गिरती है जिससे गम्भीर आर्थिक स्थितियाँ उत्पन्न होती हैं. भारत जैसे कृषि प्रधान देश में, जहाँ राष्ट्रीय आय का 60% से भी अधिक अंश पशु-उद्योग और अन्य सम्बन्धित धंधों पर निर्भर है, पशु कल्याण अत्यन्त महत्वपूर्ण समस्या है. ढोर और अन्य पालतू पशुओं की मृत्यु अधिकांशतः वाइरस, बैक्टीरिया, प्रोटोज़ोआ और हेल्मिन्थ रोगों के कारण होती है. जीवित पशुओं को, कीट-नाशक जीवों के कारण अनेक कष्ट झेलने पड़ते हैं, जैसे सदोष वृद्धि, ओज में कमी, जनन क्षमता में ह्रास, दूध, मांस, अंडा और ऊन के उत्पादन में कमी और न्यून श्रम क्षमता. ग्रसित पशुओं पर संक्रामक रोगों के आक्रमण की आशंका बढ़ जाती है. कूजन मक्खी, किलनी आदि के द्वारा क्षतिग्रस्त, मरे हुए या मारे गये पशुओं की खालों का मूल्य कम हो जाता है.

पशुओं के मक्खी-नाशकजीवों (**डिप्टेरा**) में डाँस (**टेबैनिडी**), कुटकी (**हिप्पोबॉसिडी**), जोंकी मक्खी (**ईस्ट्रिडी**), मांस-मेगट (**सार्कोफैजिडी**), दंशन मक्खी (**मसीडी**), और मच्छर (**क्युलिसिडी**) महत्वपूर्ण हैं. कुछ तो केवल वयस्क अवस्था में नाशकजीव होते हैं, किन्तु अन्य केवल लारवा या मेगट अवस्था में. पालतू पशुओं और मनुष्यों के सामान्य कीट-नाशकजीवों में मच्छर, बालू मक्खी, काली मक्खी, यूका और पिस्सू के नाम गिनाए जा सकते हैं.

डाँस (कुल – **टेबैनिडी**) सुदृढ़ सक्रिय मक्खियाँ हैं. नर की आँखें बड़ी होती हैं और ये फूलों का मकरंद खाते है, किन्तु मादा पशुओं पर परजीवी होती है और कभी-कभी तो मनुष्यों पर भी आक्रमण करती हैं. इनके अंडे जलीय पौधों पर 100 या इससे अधिक की संख्या में ढेर के ढेर चिपके रहते हैं, तथा लारवे नम मिट्टी में वृद्धि करते हैं. इनके सर्वसाधारण प्ररूप भूरी-मक्खी, **टेबैनस स्ट्रियेटस** फैब्रीसिकस और पट्टीधारी सपक्ष जाति, **क्रिसोप्स डिस्पार** फैब्रीसिकस हैं जो साधारणतया मवेशीखानों, अस्तबलों, और चरागाहों में उड़ते रहते हैं. ये प्रायः परपोषी तक जाते हैं और उसका रक्त चूसते हैं. कहा जाता है कि घोड़े की मक्खी, **टेबैनस रुबिडस** वीडेमान, घोड़ों, खच्चरों पशुओं और ऊँटों में सुर्रा रोग फैलाती है. जंगलों तथा घाटियों में, **हीमैटोपोटा** और **कोरिज़ोन्यूरा** जातियों को गम्भीर नाशक-कीट माना जाता है. रोयेंदार तथा विशेष रूप से लम्बे और नुकीले शुंडों वाले प्ररूप, जैसे **कोरिज़ोन्यूरा टैप्रोबेनीज़** वाकर जंगली जानवरों पर परजीवी होते हैं. **हीमैटोपोटा मोप्टाना** रिकार्डो मनुष्य पर आक्रमण करता बताया गया है.

इनके नियंत्रण के उपायों में अंडों को नष्ट करना और मक्खी-प्रतिकर्षक मिश्रणों का छिड़काव प्रभावकारी सिद्ध हुआ है.

कुटकी (कुल – **हिप्पोबासिडी**) चमड़े-जैसे चिपटे और सपक्ष रूप हैं, जिनके पंजे दृढ़ होते हैं जिनसे इन्हें परपोषी पशुओं की त्वचा में चिपके रहने में मदद मिलती है. वयस्क मक्खियाँ रक्त चूसती हैं. मादा अंडों के बजाय काफ़ी परिपक्व लारवे देती है जो छोटे गोल प्यूपों में बदल जाते हैं जिनमें से मक्खियाँ निकलती हैं. ढोरों, कुत्तों और घोड़ों पर आक्रमण करने वाली साधारण जातियाँ **हिपोबॉस्का मैकुलाटा** लीच और **हि. कैपेन्सिस** ओल्फ हैं. एक ख़ासी पक्षहीन मक्खी, भेड़ की किलनी, **मेलोफ़ैगस ओविनस** (लिनिअस), भारत के विभिन्न भागों की भेड़ों पर आक्रमण करती है. नाशकजीवों के आक्रमणों और विस्तार के नियंत्रण के लिए बचाव के साधन, अनेक और विविध हैं, जैसे अति-सिंचाई को वर्जित रखना, रुद्ध तालों में तेल छिड़कना, दिन में पशुओं को मवेशीखानों में बन्द रखना तथा रात में उन्हें रक्षी कंबलों या जालों से ढकना, या उन पर मक्खी-प्रतिकर्षक मिश्रणों का छिड़काव करना अच्छा रहता है. ये नाशकजीवों के प्रसार एवं आक्रमण को रोकने में सहायक साधन हैं. डी-डी-टी और क्लोरडेन के चूर्ण या इमल्सीकरणीय सम्नाकों से भेड़ों को स्नान कराना या उन पर छिड़काव करना प्रभावकारी पाया गया है.

जोंकी मक्खियाँ (कुल – **ईस्ट्रिडी**) मटमैले रंग की मक्खियाँ हैं जिनका शरीर भारी, सिर बड़ा और मुखांग अल्पवर्धित होते हैं. इनका जीवन इतिहास इनकी विचित्र परजीवी प्रकृति के सर्वथा अनुकूल होता है. भारत में घोड़े की जोंकी मक्खी, **गैस्टेरोफ़िलस इण्टेस्टाइनैलिस (ईक्वी)** डेगियर, भेड़ की जोंकी मक्खी, **ईस्ट्रस ओविस** लिनिअस और बैल की जोंकी या कूजन मक्खी, **हाइपोडर्मा लिनियेटम** गम्भीर नाशकजीव हैं.

घोड़े की जोंकी मक्खी के लारवे श्लेष्मिक स्रावों पर निर्वाह करते हैं और परपोषी में पाचन संबंधी विकार उत्पन्न कर देते हैं. **गै. इण्टेस्टाइनैलिस** डेगियर उत्तरी भारत में अत्यन्त सामान्य हैं. यदि पशुओं के बालों को बराबर और अच्छी तरह से झाड़ा जाए तो बालों से अंडे झड़ जाते हैं और इस प्रकार आक्रमण की रोकथाम तथा स्वास्थ्य-सुधार में सहायता मिलती है.

भेड़ की जोंकी मक्खी के लारवे, भेड़ के नासागुहा में दिये गये अंडों के फूटने से उत्पन्न होते हैं. वे सिर की अन्य गुहाओं में प्रवेश करते हैं जिसके कारण परपोषी को बहुत झुंझलाहट और वेदना होती है. इनके कारण ऊन को भी काफ़ी हानि पहुँचने का उल्लेख है. मैगट या तो स्वयं रेंग कर बाहर निकल आते हैं अथवा छींक के समय श्लेष्मिक उत्स्राव के साथ बाहर निकल पड़ते हैं. इनका प्यूपीकरण मिट्टी में होता है. उन महीनों में जब मक्खियाँ क्रियाशील होती हैं भेड़ों के लिए अंधेरे वासस्थान आक्रमण से उनकी रक्षा करते हैं. नासाद्वारों में चीड़ का डामर लगाने से लारवों के चिपकने में रुकावट होती है. कहा जाता है कि 3% साबुनीकृत क्रेसाल का 30 मिली. का इंजेक्शन प्रत्येक नासिका में देने से सुस्थापित मैगटों पर प्रभावकारी नियंत्रण प्राप्त होता है.

उत्तरी भारत में आमतौर से पाई जाने वाली कूजन मक्खी के अंडे परपोषी के शरीर पर चिपक जाते हैं और उनसे निकलने वाले लारवे मांसल मैगटों में बदल जाते हैं जिनके कारण परपोषी की त्वचा में शोथ हो जाता है. लारवे और भीतर पैठते जाते हैं और तभी निकलते हैं जब वे प्यूपीकरण के लिए तैयार हो जाते हैं. गाय, बैल और बकरे कूजन मक्खी के आक्रमण से कमजोर तथा अस्वस्थ हो जाते हैं. दुग्ध-उत्पादन में भी काफी गिरावट आती है. ग्रस्त खालों के अच्छे दाम नहीं मिलते. ऊँट, भैंस, हरिन, गैंडा और हाथी जैसे अन्य पशु भी प्रायः कूजन मक्खी के शिकार हो जाते हैं. दक्षिणी भारत की अन्नामलाई पहाड़ियों में हाथी की जोंकी मक्खी, **कॉबोल्डिया एलिफैण्टिस** स्टील, के पाए जाने की सूचना है. अर्बुद पर डेरिस साबुन का छिड़काव, तम्बाकू चूने से धुलाई और पैर के बालों को सूखा और स्वच्छ रखना, विशेषतः तब जब मक्खियों के अंडे देने का मौसम हो, नाशक जीवों पर नियंत्रण प्राप्त करने में काफी हद तक सहायता करते हैं.

नीली बोतल मक्खियाँ (कुल – **कैलीफ़ोरिडी**) नीले या हरे रंग की साधारण मक्खियाँ हैं, जिनके लारवे पशुओं के कटे हुए मांस, जख्मों और दाहों पर पाए जाते हैं. गंभीर आक्रमण होने पर मैगट त्वचा रोग उत्पन्न करते हैं. कभी-कभी, मनुष्यों के खुले या उपेक्षित जख्मों पर भी इनका आक्रमण होता है. लाल गालों वाली एक साधारणतः नीली बोतल मक्खी, **चिक्नोसोमा फ्लैवीसेप्स** प्रायः मल में या कसाईखाने के पास पाई जाती है. यह मक्खी हरी-बोतल मक्खी, **लूसिलिया एरगाइरोसेफ़ैला** (सिन. **लू. सेरेनिसिमा** वाकर) से निकट सम्बन्धित है जो दक्षिणी भारत में साधारणतया पाई जाती है. यह मक्खी ढोरों पर आक्रमण करती है. यह मल-मूत्र से भीगे ऊन में अंडे देती है. इसके मैगट स्वस्थ ऊतकों पर आक्रमण करके शोथ उत्पन्न करते हैं. पशुओं की उचित देखभाल, उनका सींगरोधन और प्रक्षत स्थानों पर संतृप्त ई. क्यू. 335 इमल्शन के लेप से इन मक्खियों के आक्रमण की रोकथाम होती है.

दक्षिणी भारत में साधारणतया पाई जाने वाली मांसभक्षी मक्खी, **सार्कोफ़ैगा लिनेटिकालिस** (कुल – **सार्कोफ़ैजिडी**), भी नीली बोतल मक्खी के साथ पाई जाती है और घरेलू मक्खी से आकार और सूरत में मिलती-जुलती है, किन्तु घरेलू मक्खी के विपरीत इसके मुखांग त्वचा भेदने और रक्त चूसने के उपयुक्त होते हैं. यह प्रायः अस्तबलों में और गोशालाओं में व्यापक रूप से पाई जाती है. अस्तबल की मक्खी, **स्टोमोक्सिस कैल्सीट्रैन्स** लिनिअस (कुल – **मसिडी**), जिसका शुंड नुकीला और वेधक होता है, घोड़ों, खच्चरों, ऊँटों और अन्य पालतू पशुओं पर परजीवी होती है और सूरा तथा पोंकनी जैसे रोगों का संचारण करती बताई गई है. प्रभावित पशु दुर्बल और निद्रिल रहते हैं, यहाँ तक कि उन्हें अपने पैरों पर खड़ा रहना दूभर हो जाता है. इसके साथ ही साथ दूध की मात्रा में भी पर्याप्त गिरावट आ जाती है. यह मक्खी अपनी प्रारम्भिक अवस्थाएँ खाद के ढेरों और नम स्थानों में व्यतीत करती है. अस्तबल मक्खी के साथ पाई जाने वाली अन्य नाशक मक्खियाँ **लाइपेरोसिया एक्वीगुआ** और **फिलीमैटोमिया कैसिरोस्ट्रिस** (स्टाइन) (**फि. इनसिग्निस** आस्टेन) हैं जो **मसिडी** कुल में आती हैं. रात में जाली से ढके अस्तबल में रहने से और डी-डी-टी या बी-एच-सी जैसे मक्खी-प्रतिकर्षक मिश्रणों के छिड़काव से इन मक्खियों से घोड़ों का बचाव किया जाता है.

कई प्रकारों से मच्छर (कुल – **क्युलिसिडी**) पशुओं के नाशकजीव होते हैं. **क्यूलेक्स फैटीगन्स** वीडेमान (हिं.–मच्छर; ब.–मोशा) लगभग सभी पशुओं का रक्त चूसता है और पक्षियों में मलेरिया संचार के लिए उत्तरदायी है. **ईडीज (स्टेगोमिया) इजिप्टाई** लिनिअस कुक्कुट मलेरिया और कुक्कुट चेचक का संचारण करता है तथा घोड़ों में मस्तिष्क सुषम्ना शोथ उत्पन्न करता है. मच्छरों की रोकथाम वयस्कों को डी-डी-टी के छिड़काव द्वारा नष्ट करके और लारवों तथा प्यूपों का उन्मूलन उनके प्रजनन स्थानों में अपरिष्कृत तेल और पेरिस ग्रीन के प्रयोग द्वारा किया जा सकता है.

बालू मक्खी (**फ्लेबोटोमस पैपाटसाई** स्कोपोली, **फ्ले. आर्जेण्टीपीज** (कुल – **साइकोडिडी**) समस्त पशुओं का रक्त चूसती है और आपद स्वरूप है. परन्तु यह पशुओं के किसी भी रोग के वाहक की भाँति कार्य करती नहीं पाई गई.

काली मक्खियाँ (**सिमूलियम इण्डिकम**, कुल – **सिमूलाइडी**) रक्त चूसने वाली होती हैं तथा पशुओं में आंकोसर्नियासिस और कुक्कुटों में ल्युकोसाइटोजून का संचारण करती हैं. नियत्रण के उपायों में, प्रजनन स्थानों के उपयुक्त सतत प्रवाही सरिताओं को स्वच्छ रखना, मलवा को हटाना और डी-डी-टी का छिड़काव करना प्रभावकारी बताए जाते हैं.

पक्षी-यूका (गण – **मैलोफैगा**) ऐसे पक्षहीन, रक्त न चूसने वाले कीट हैं जिनके मुखांग पक्षियों की त्वचा, परों एवं शरीर-शल्कों को, जिन पर वे परजीवी होते हैं, काटने, बेधने और खरोंचने के अनुकूल होते हैं. इनका शरीर कड़ा और सींग-जैसा तथा चिपटा होता है और वे परपोषी के बालों और परों पर चिपके रहते हैं. इनकी कई जातियाँ भेड़ों, कुत्तों और घोड़ों जैसे स्तनियों पर आक्रमण करती बताई जाती हैं. इस परजीवी का जीवन-चक्र प्रायः परपोषी जन्तु पर ही व्यतीत होता है. साधारण कुक्कुट यूका **मनोपान पैलीडम**, व्यापक रूप से वितरित है. यह पक्षियों पर आक्रमण करता है जिससे उनका स्वास्थ्य गिर जाता है. सोडियम फ्लोराइड या डी-डी-टी के छिड़काव द्वारा पक्षी-यूका से बचाव किया जाता है.

रक्त चूसने वाले यूका और पिस्सू (गण – **ऐनोप्ल्यूरा** और **साइफोनेप्टेरा**) न केवल ढोरों और अन्य स्तनियों जैसे कुत्ता, सूअर, और ऊँट पर बल्कि मनुष्यों पर भी आक्रमण करते हैं. ढोर-यूका, **हीमैटोपाइनस ट्यूबरक्युलेटस** आमतौर पर भैंसों और बैलों के कान या अन्य अनुरक्षित अंगों के अन्दर पाये जाते हैं तथा ढोरों में सूरा रोग का संचारण करते हैं. सूअर-यूका, **ही. सूइस** लिनिअस सूअरों पर परजीवी होते हैं और बैल-यूका **लाइनोग्नैथस विटुली** (लिनिअस) ढोरों का रक्त चूसते हैं. भेड़ परजीवी भेड़-यूका, **बोवीकोला ओविस** (लिनिअस) ऊन को बहुत क्षति पहुँचाता है. पशुओं पर डी-डी-टी मिश्रणों का छिड़काव और पशुओं को आर्सेनिकीय घोलों से नहलाने से इन यूकों से बचाव किया जा सकता है.

पिस्सू (गण – **साइफोनेप्टेरा**) पक्षहीन लघु कीट हैं. इनका शरीर रोयेंदार, पार्श्व सम्पीडित तथा पश्चटाँगें मजबूत और कूदने के अनुकूल होती हैं. इनके मुखांग समतापी जन्तुओं में वेधन करने तथा उनका रक्त चूसने के उपयुक्त होते हैं. चूहे का पिस्सू, **ज़ीनोसाइला किओपिस** रॉथ (कुल – **पुलिसिडी**), चूहे पर परजीवी होता है. यह प्लेग रोग को चूहों से मनुष्यों तक पहुँचाता है. बिल्ली का पिस्सू, **टेनोसेफैलस फेलिस** बौचे, तथा कुत्ते का पिस्सू, **टे. कैनिस** कुर्टिस, जो बिल्ली, कुत्तों और मवेशियों पर परजीवी हैं, रक्तस्राव, पूतिजीव-रक्तता तथा गिल्टी रोग फैलाते हैं. कुत्ते का पिस्सू सामान्य कुत्ता फीता-कृमि के लारवे के भी परपोषी होते हैं. मुर्गी का पिस्सू, **एकिड्नोफैगा गेलिनैसियस** वेस्टवुड (कुल – **सारकोसाइलिडी**) मुर्गियों के शिरोभाग का परजीवी है. कई बार तो यह मनुष्य पर भी आक्रमण कर देता है. पिस्सुओं पर नियन्त्रण हेतु बिल्लियों, कुत्तों तथा अन्य जन्तुओं से, जो इनके संक्रमण के स्रोत हैं सावधान रहना चाहिए और इन्हें साफ सुथरा रखना चाहिए. ग्रस्त चूहों को मार देना चाहिए. जहाँ पिस्सुओं की आशंका हो ऐसे कमरों की दरी तथा चटाई को नियमित रूप से झाड़ते रहना चाहिए तथा इनमें स्वास्थ्यकर द्रव की फुहार करनी चाहिए. नैफ्थेलीन पत्रक और कड़े डामरयुक्त साबुन के प्रयोग से तथा डी-डी-टी, क्रियोजोट या मिट्टी के तेल के छिड़काव से भी इनके रोकथाम में सहायता मिलती है.

मानव के नाशकजीव

प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से भारत में जितनी मृत्युएँ होती हैं, लगभग उनकी आधी मृत्युएँ मानव नाशक-कीट के कारण होती हैं. 1950 की सांख्यिकी के अनुसार मलेरिया अथवा अन्य ज्वरों से 53·55% मृत्युएँ हुईं, जबकि हैजा, प्लेग, अतिसार तथा स्वस्थनीय कारणों से केवल 14% मृत्युएँ हुई थी. हाल तक, प्रतिवर्ष अकेले मलेरिया से दस लाख मृत्युएँ होती थीं किन्तु अब मलेरिया समाप्तप्राय है. जन-स्वास्थ्य विधियों में प्रगति से यह प्रमाणित हो गया है कि मानव जीवन की इस प्रकार की महती क्षति रोकी जा सकती है.

नाशक-कीटों को घरों में तथा घर के बाहर उत्पात करने वाले नाशकजीवों एवं संक्रामक रोगों के भौतिक संचरण के लिए उत्तरदायी नाशकजीवों के रूप में समूहबद्ध किया जा सकता है.

घरों में उत्पात करने वाले नाशकजीव

सिल्वरफिश (गण – **थाइसैन्यूरा**, कुल – **लेपिस्मैटिडी**) पक्षविहीन छोटे-छोटे कीड़े हैं जिनके मुखांग चबाने की अपेक्षा खरोंचने के अधिक अनुकूल होते हैं, वे काफी तेजी से गति करते हैं; वे अँधेरे तथा आर्द्र स्थानों में वृद्धि करते हैं और प्रकाश, शुष्क तथा हवादार स्थानों से दूर भागते हैं. वे स्टार्च और डेक्स्ट्रिन जैसे कार्बोहाइड्रेटों तथा ग्लू, गोंद इत्यादि जैसे प्रोटीनयुक्त पदार्थों पर निर्वाह करते हैं और कभी-कभी चिकने कागजों, किताबों तथा छायाचित्रों को काफी हानि पहुँचाते हैं. वे सूती वस्त्रों, लिनन के वस्त्रों तथा कृत्रिम रेशम को भी क्षति पहुँचा सकते हैं. **लेपिस्मा सैकेरिना** लिनिअस जो भारत में पाया जाता है, लगभग 8 मिमी. लम्बा होता है. इसका शरीर सिर से पूँछ की ओर क्रमशः पतला होता जाता है तथा चमकीले रजत शल्कों से आच्छादित रहता है. मादा दरारों तथा अन्य गुप्त स्थानों में अण्डे देती हैं जिनसे छोटे-छोटे बच्चे निकलते हैं, जो आकार को छोड़कर अन्य बातों में जनक से मिलते-जुलते हैं और लगभग तीन माह में वयस्क हो जाते हैं.

घर की सफाई और हवा के संचार से नाशक-कीट नियंत्रित रहते हैं. 5% डी-डी-टी का घोल या इमल्शन अथवा 10% डी-डी-टी के चूर्ण का प्रयोग पुस्तक के बक्सों और वस्त्रों में करने से सिल्वरफ़िश पर प्रभावकारी नियन्त्रण हो जाता है. 20% क्लोरडेन भी उनके लिए विषैला सिद्ध होता है.

तिलचट्टे (गण – **ब्लैटेरिया**, कुल – **ब्लैटिडी**, उदाहरणार्थ **पेरीप्लेनेटा अमेरिकाना** लिनिअस, **पे. आस्ट्रेलेसी** फैब्रीसिकस तथा **ब्लैटिला जरमेनिका** लिनिअस) संसार में सम्भवतः सर्वाधिक व्यापक कीट हैं. वे गोदामों के अंधेरे कोनों, रसोई घरों, फर्नीचर की दरारों तथा लकड़ी की अन्य वस्तुओं में निवास करना पसंद करते हैं. वे दिन में विघ्न पड़ने के अतिरिक्त शायद ही कभी दिखाई देते हैं. वे गाढ़े भूरे रंग के और भिन्न-भिन्न माप के होते हैं. उनसे एक प्रकार की विशिष्ट गंध निकलती है और यह गंध भोजन की सामग्रियों, क्राकरी तथा अन्य प्रकार की वस्तुओं से, जिन पर वे चलते हैं, प्रायः प्रकट हो जाती है. अंडे एक प्रकार के सींगदार संपुट में बंद रहते हैं और उनसे निकले हुए निम्फ बहुत कुछ वयस्कों से मिलते-जुलते हैं. कई बार त्वचा निर्मोचन के पश्चात्, वयस्क तिलचट्टे बाहर निकल आते हैं जो लैंगिक दृष्टि से प्रौढ़ होते हैं.

तिलचट्टे सर्वभक्षी होते हैं और मनुष्य की प्रत्येक खाद्य सामग्री को खाते हैं. भोजन सामग्री को नष्ट करने के अतिरिक्त गंदी वस्तुओं तथा भोजन की सामग्रियों पर समान रूप से रेंगने की घिनौनी आदत के कारण वे रोग वाहक का कार्य करते हैं. ठीक से सफाई करते रहने तथा फर्नीचर के कोनों या दरारों को भर देने से तिलचट्टों की संख्या कम हो जाती है. यदि दरारों तथा छिपने के अन्य स्थानों में क्लोरडेन का 2% इम्लशन या 5% चूर्ण प्रयुक्त किया जाए तो वह कई सप्ताह तक प्रभावकारी रहता है. 5–10% डी-डी-टी चूर्ण से संतोषप्रद नियंत्रण प्राप्त होता है. 3% मालाथियान का घोल या इम्लशन तिलचट्टों की बाढ़ रोकने के लिए प्रभावकारी होता है, परन्तु इसका प्रभाव स्थायी नहीं रहता.

झींगुरों (गण – **ओर्थोप्टेरा**, कुल – **ग्राइलिडी**) की दो जातियाँ: **एकेटा (ग्राइलूलस) डोमेस्टिका** लिनिअस तथा **ग्राइलोडीस (ग्राइलूलस सिजिलेटस** वाकर, भारत में सामान्य है. इनमें से पहली यूरोपीय हाऊस क्रिकेट कहलाती है. यह फसल को भी क्षति पहुँचा सकती है. दूसरी घरेलू जाति है. झींगुर सर्वभक्षी हैं किन्तु वे विशेषतः ऊनी तथा कृत्रिम रेशमी वस्त्रों पर आक्रमण करके उन्हें बुरी तरह क्षति पहुँचाते हैं. वे रोटी, बिस्कुट जैसी स्टार्चयुक्त खाद्य सामग्रियाँ पसंद करते हैं, दिन में दरारों तथा छिद्रों, टँगे कपड़ों के पीछे, कागजों तथा तस्वीरों के पीछे छिपे रहते हैं और आर्द्र तथा उष्ण स्थानों में सर्वाधिक विकसित होते हैं. वर्षा ऋतु में ये विशेष रूप से सक्रिय होते हैं.

मादा अपने अंडे गुच्छों में देती है; अंडों से उत्पन्न निम्फ की साधारण आकृति वयस्क जैसी होती है, और वे लगभग तीन मास में प्रौढ़ हो जाते हैं. वयस्क तथा शिशु दोनों ही क्षति पहुँचाने वाले होते हैं.

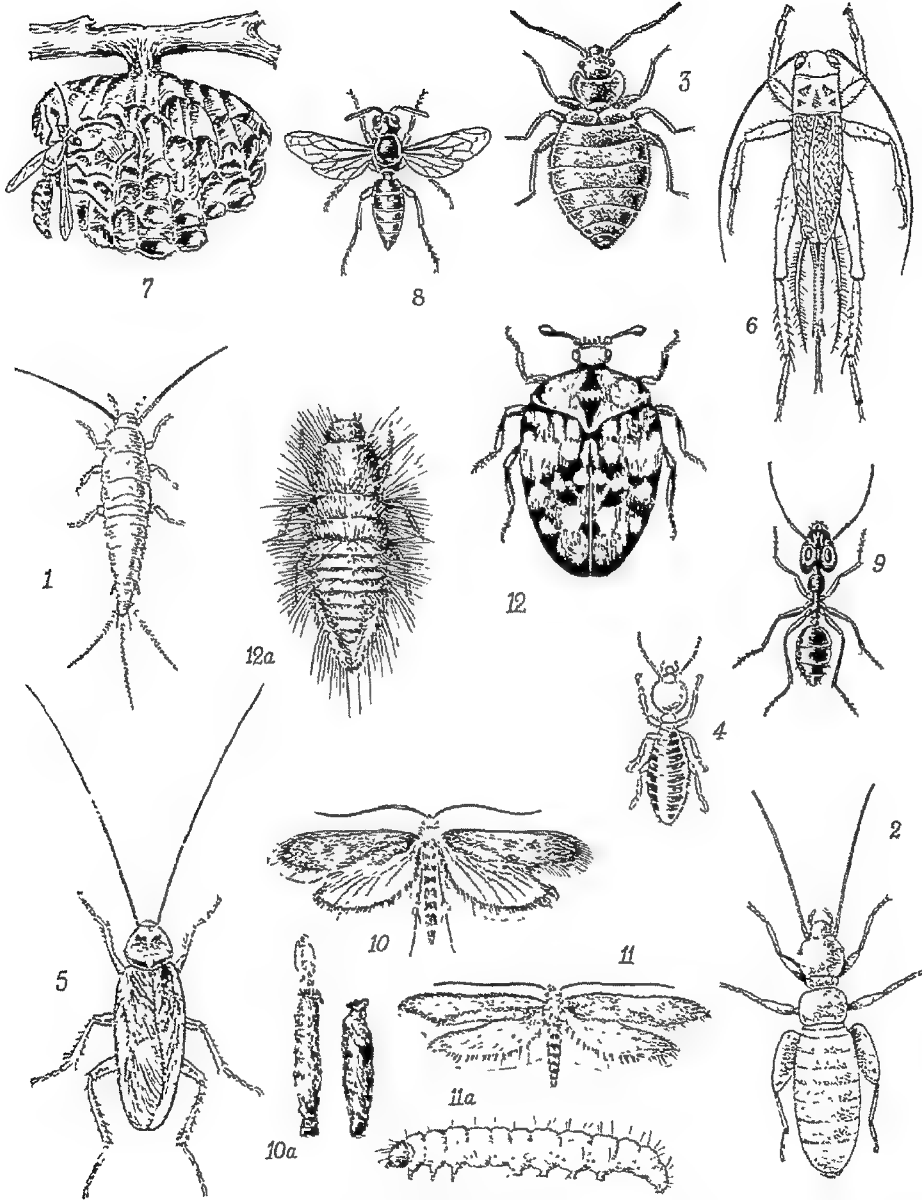
बक्सों तथा वस्त्र रखने की अलमारियों में प्रचुर मात्रा में नैफ्थलीन की गोलियों के प्रयोग से उनके आक्रमण से वस्त्रों की रक्षा की जा सकती है. क्लोरडेन के 2% छिड़काव या 5% चूर्ण के प्रयोग से भी वे नियंत्रण में रहते हैं.

बुक लाइस (गण – **कारोडेनशिया**, यथा – **लिपोसेलिस ट्रान्सवेलेन्सिस**) अथवा सोसिड छोटे कोमल शरीरधारी, हल्के पीले या भूरे-सफेद रंग के, पक्षहीन कीट हैं जिनकी लम्बाई 2 मिमी. से भी कम होती है. वे पुस्तक-यूक कहलाते हैं क्योंकि वे प्रायः पुरानी पुस्तकों के पृष्ठों में पाये जाते हैं और उनकी आकृति जूँ सदृश होती है. वे नम तथा एकान्त स्थानों, पुरानी किताबों और कीट संग्रहों पर जिन्हें सोसिड क्षति पहुँचा सकते हैं, खाते हैं. उन्हें अंधेरी तथा नम जगहें प्रिय हैं और प्रायः कमरों तथा पुस्तकालयों के अँधेरे और गंदे कोनों में अधिक दिनों से उपेक्षित पुरानी, नम तथा फफूँदी लगी पुस्तकों में पाये जाते हैं. उनके जीवन-इतिहास के विषय में बहुत थोड़ी जानकारी है; मादा श्वेत, अंडाकार, सूक्ष्म अंडे देती है. इनसे जो शिशु निकलते हैं वे देखने में वयस्क की तरह होते हैं.

घर की भलीभाँति सफाई तथा कमरों तथा पुस्तकों को धूप दिखाते रहने तथा ठीक से वातन करने से इन कीटों को नियंत्रण में रखा जा सकता है. जिल्दसाजी के लिए प्रयुक्त होने वाली लेई में अथवा पुस्तकों के आवरण तथा पृष्ठ पत्रों पर विषों का प्रयोग करने तथा धूमन से पुस्तकों को सोसिडों से मुक्त रखा जा सकता है. तेल आधार-युक्त 2% क्लोरडेन या 5% डी-डी-टी का छिड़काव अत्यन्त लाभदायक होता है.

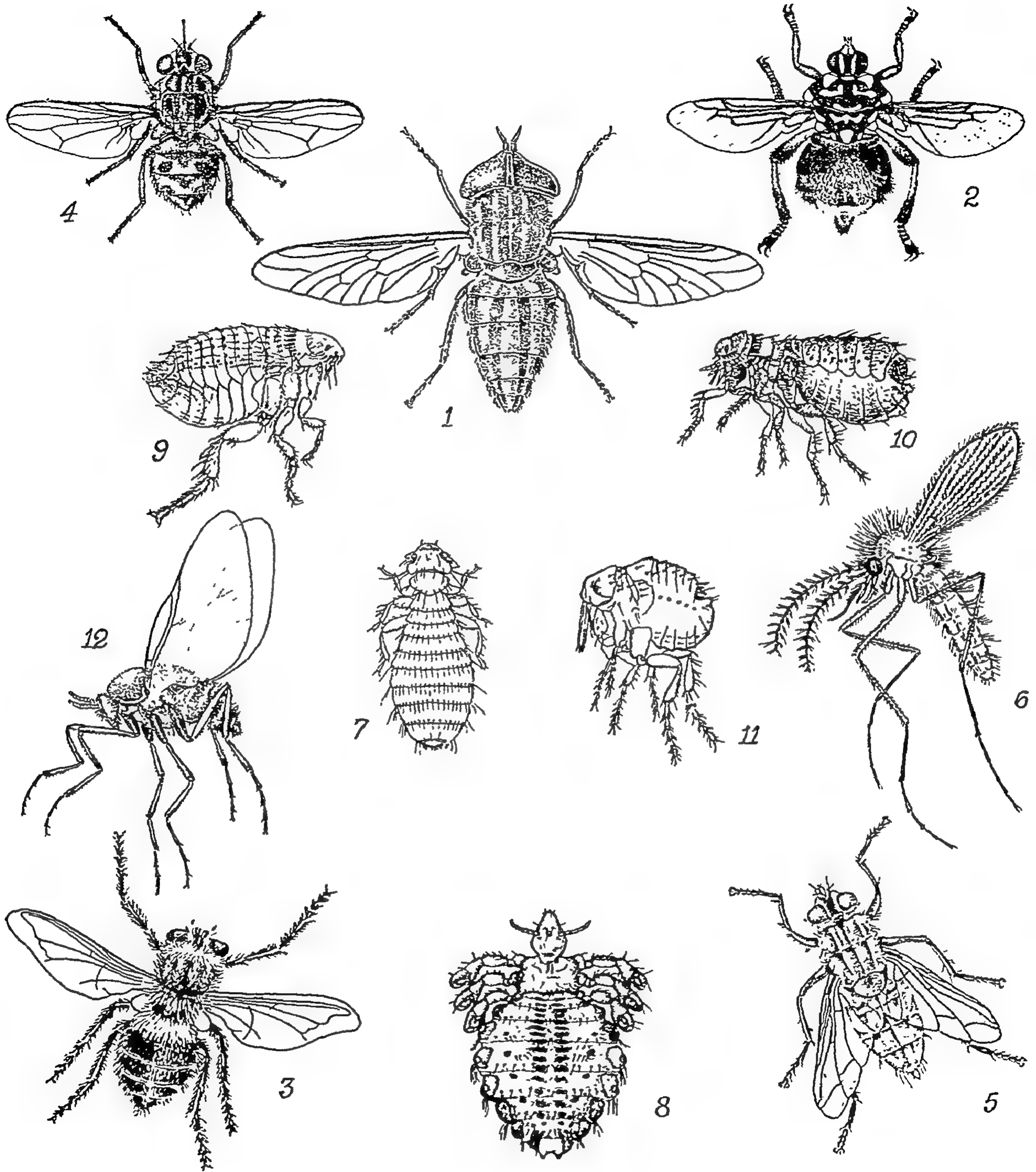
दीमक या श्वेत-चींटी (गण – **आइसोप्टेरा**, कुल – **राइनोटरमिटिडी**) देखने में चींटी सदृश होती है और ये चींटी की ही भाँति बड़ी-बड़ी कॉलोनियों में जिनमें श्रमिक सैनिक तथा प्रजनन करने वाले विभिन्न वर्ग होते हैं, निवास करती हैं. श्रमिकों और सैनिकों के पंख नहीं होते. जितनी क्षति होती है वह केवल श्रमिकों द्वारा की जाती है. **कोप्टोटर्मिस सीलोनिकस** हाल्मग्रेन, **को. हाइमी** तथा **हेटरोटर्मिस इंडिकोला** प्रमुख जातियाँ हैं जो लकड़ी के बने सामानों, फर्नीचरों, पुस्तकों तथा घर की अन्य चीजों को क्षति पहुँचाती हैं. वे जमीन के अन्दर और लकड़ी के कुंदों अथवा मकान की नम लकड़ियों में अपना घोंसला बनाती हैं. अच्छी तरह अड्डा जमा लेने पर इन कीटों से छुटकारा पाना कठिन होता है. इनके नियंत्रण के लिए पहले उनके घोंसले तथा घर के लकड़ी के सामानों के बीच के सम्पर्क को तोड़ने के लिए उन नालियों को नष्ट कर देना चाहिए जिनसे होकर श्रमिक दीमकें आती जाती हैं. जमीन के अंदर बने उनके घोंसलों में डी-डी-टी, बी-एच-सी, या एल्ड्रिन की फुहार या चूर्ण के प्रयोग से दीमकों का नियन्त्रण होता है, किन्तु पूर्ण नियंत्रण तभी सम्भव है जब श्रमिकों या सैनिकों द्वारा कीटनाशी विषकणों को रानी तक पहुँचा दिया जाए या श्रमिक दीमक, प्रजनन करने वाली दीमकों को विषैले भोजन खिला दें या उनके आहार-भंडार को नष्ट कर दिया जाए.

खटमल (**साइमेक्स लेक्टुलेरियस** लिनिअस तथा **सा. रोटण्डेटस** (त.–मुताई; गण– **हेटेरोप्टेरा**; कुल – **सीमीसीडी**) गाढ़े भूरे रंग के परविहीन, चिपटे, अंडाकार शरीरधारी, 6–8 मिमी. लम्बे और 3–4 मिमी. चौड़े निशिचर, घरेलू कीट हैं, जो दिन में सूराखों और अन्य छिपने के स्थानों में निवास करते हैं. मुखांग छेदने तथा चूसने के अनुकूल बने होते हैं. नर और मादा दोनों ही रक्त चूषक होते हैं. इन्हें मनुष्यों का रक्त अधिक प्रिय है, यद्यपि वे अन्य अनेक स्तनियों तथा पक्षियों पर सुगमता से जीवन-यापन करते हैं. खटमलों की ग्रन्थियों से



घरेलू नाशक जीव

(1) सिल्वर फिश (लेपिस्मा सैकेरिना) (×3), (2) बुक लाउस (लिपोसेलिस ट्रान्सवेलेन्सिस) (×28); (3) खटमल (साइमेक्स लेक्टुलेरियस) (×7½), (4) कामी दीमक (×5), (5) सामान्य तिलचट्टा (पेरीप्लेनेटा अमेरिकाना) (×¾), (6) झींगुर (एकेटा डोमेस्टिका) (×2); (7) पीली बर्र (पालिस्टीज हेबेयस) (×[illegible]) और उसका छत्ता; (8) ततैया (वेस्पा ओरिएंटेलिस) (असली आकार); (9) काली चींटी (कैम्पोनोटस कॉम्प्रेसस) (×4), (10) आवरण युक्त शलभ (तिनियां पेलिओनेल्ला) (×4): (10a) शलभ आवरण में और आवरण; (11) बुनकर शलभ (तिनियोला बाइसिल्लीएल्ला) (×3), (11a) लारवा (×5½), (12) गलीचे का भृंग (ऐन्थ्रेनस वोरैक्स) (×12); (12a) लारवा (×7)



पशुओं तथा अन्य पालतू जानवरों के हानिकारक जीव

(1) भृंगी मक्खी (डाँस) (टेबैनस स्ट्रिएटस); (2) पशु मक्खी (हिपोबॉस्का मैकुलाटा) (×4); (3) कूजन मक्खी (हाइपोडर्मा लिनिऐटम) (×3); (4) अस्तबल मक्खी (स्टोमोक्सिस कैल्सीट्रैंस) (×4); (5) मांस भक्षी मक्खी (सार्कोफैगा लिनेटिकालिस) (×2½); (6) बालू मक्खी (फ्लेबोटोमस आर्जेंटीपीज) मादा (×15); (7) कुक्कुट यूका (मनोपान पैलीडम) (×18); (8) ढोर यूका (हीमैटोपाइनस ट्यूबरक्युलेटस) (×14); (9) बिल्ली का पिस्सू (टेनोसेफैलस फैलिस) (×7); (10) कुत्ते का पिस्सू (टे. कैनिस) (×14); (11) मुर्गी का पिस्सू (एकिटनोफैगा गेलिनैसियस) (×24); (12) काली मक्खी (सिमुलियम इंडिकम) (×10)

एक विशिष्ट प्रकार की मिचली उत्पन्न करने वाली गंध निकलती रहती है.

अपने 3–10 महीनों के जीवन-काल में, एक वयस्क मादा लगभग 200 अंडे देती है जो उन वस्तुओं से जुड़े रहते हैं जिन पर ये दिन में विश्राम करते हैं. अंडों से उत्पन्न निम्फों की साधारण आकृति वयस्क से मिलती-जुलती होती है और वे 2–8 सप्ताह में वयस्क हो जाते हैं. वयस्क लम्बी अवधि तक, यहाँ तक कि महीनों, निराहार रह सकते हैं, किन्तु जब किसी उष्ण रक्तधारीप्राणी के सम्पर्क में आते हैं तो बड़ी तेजी से काटते हैं.

यद्यपि किसी प्रकार की बीमारी के संचरण में इनका प्रत्यक्ष योग नहीं होता किन्तु दुष्ट दंश तथा चूषक प्रकृति के कारण ये परपोषकों को परेशान करते हैं और जीवन-शक्ति का क्षय करते रहते हैं. कुछ व्यक्ति खटमल के काटने के प्रति बहुत ही संवेदनशील होते हैं और उनकी त्वचा में बड़े-बड़े चकत्ते पड़ जाते हैं.

बिस्तरों में कीटनाशी विषों का छिड़काव कर तथा धूप में सुखाने और फर्नीचरों की जोड़ों में उबलता पानी डालने से इनकी रोकथाम होती है. अवशिष्ट कीटनाशी जैसे, डी-डी-टी, बी-एच-सी, डाइएलड्रिन, मालाथियान और डायजिनान को किसी प्रकार के तेल में मिश्रित करके प्रयोग करने पर यथोचित नियंत्रण प्राप्त होता है.

वस्त्र शलभ (गण – **लेपिडोप्टेरा**, कुल – **टिनीअडी**) कुछ सूक्ष्म और प्राचीन परिचित घरेलू कीट हैं. इनका केवल लारवा ही क्षति पहुँचाता है. इनकी चार जातियाँ भारत में पाई जाती हैं: यथा **टिनिया पेलिओनेल्ला** (लिनिअस) या आवरणी शलभ, **टिनियोला बाइसिल्लीएल्ला** (ह्यूमेल) या जाल निर्माता शलभ, **ट्राइकोफेगा एब्रप्टेला** वूलास्‌ या परदे का शलभ तथा **बोरखौसेनिया स्यूडोस्प्रेटेल्ला** या छद्म वस्त्र शलभ. आवरणधारी शलभ भूराभ पीले रंग का होता है, इसके अग्र-पंख अस्पष्ट, काले धब्बेयुक्त होते है और पश्च-पंख रेशमी तथा सफेदी लिए होते हैं. लारवा चिपटे, कसकर बुने हुए रेशमी कोकून के अन्दर रहता है और मुलायम बालों, परों, ऊनी वस्तुओं, दरियों, कम्बलों, मरे हुए पक्षियों, वस्त्रों और तोशकों और गद्दीदार सामग्रियों की खोलियों का आहार करता है. मादा अलग-अलग अथवा समूहों में, वस्त्रों के ऊपर अथवा उनकी तहों में और चमड़े तथा फर के मुलायम बालों की जड़ों में मोती सदृश चमकीले अंडे देती है. अंडे एक सप्ताह के अन्दर फूट जाते हैं. नवजात इल्ली सफेद रंग की होती है जो शीघ्र ही अपने लिए एक रेशमी खोल बनाने लगती है, जिसके अन्दर वह अपने सिर तथा पैर निकाल कर इधर-उधर घूमा करती है. लारवा अपनी खोल में ही प्यूपा में बदल जाता है और ग्रीष्म ऋतु में एक सप्ताह के अंदर, किन्तु शीत ऋतु में एक महीने में शलभ निकल आते हैं. जाली कपड़ों का शलभ सामान्य रूप से पीले रंग का, बिना धब्बे के पंखों वाला होता है. लारवा की आदतें तथा इसके द्वारा होने वाली क्षति, पूर्व चर्चित जाति के लगभग समान होती हैं. अन्तर इतना ही होता है कि इसका लारवा स्वतन्त्र रूप से विचरण करता है और यत्र-तत्र रेशमी धागे कातता रहता है और निर्बल नलोदार विश्रामालय बनाता है जिसमें यह छिपकर रहता है और त्वचा उतारता है. पूर्ण विकसित इल्ली 9 मिमी. लम्बी और सफेद रंग की होती है. पूर्ण वयस्क होने में इसे चार वर्ष लग सकते हैं. यह एक घने रेशमी कोकून के अंदर प्यूपा का निर्माण करती है और एक पखवारे में ही इससे वयस्क निकल आते हैं. परदे शलभ की इल्लियाँ साधारणतः मोटे और भारी वस्त्रों, कालीन, भारी कम्बल, गलीचा, परदे, फर, चमड़े आदि को खाती हैं. वे ग्रस्त वस्तुओं की पूरी लम्बाई में बिल या गैलरी का निर्माण करती हैं, जिसके अन्दर रेशम का स्तर बना होता है और इस प्रकार वे जितना खातीं नहीं उससे अधिक नुकसान करती हैं. इल्ली वास्तव में लगभग 10 मिमी. लम्बी, बेलनाकार और पीलाभ सफेद रंग की होती है. छद्म-वस्त्र-शलभ की इल्लियाँ सर्वभक्षी होती हैं, वे न केवल दरियों और ऊनी वस्तुओं को, बल्कि खाद्यान्नों, आटा, पुस्तकों की जिल्दों, कागों इत्यादि को भी हानि पहुँचाती हैं. पूर्ण विकसित इल्ली 19 मिमी. लम्बी, चमकीली सफेद, पीले रंग के छिटपुट बालों से आच्छादित रहती है और मोटे रेशमी काकून बनाती है जिसके अन्दर प्यूपा बना करता है.

इन कीटों का नियंत्रण कम्बल भृंगों के लिए अपनायी जाने वाली विधियों से किया जाता है. कम्बल भृंग (कार्पेट बीट्ल; गण – **कोलिओप्टेरा**, कुल – **डरमेस्टिडी**) व्यापक घरेलू नाशीकीट हैं जो वस्त्र शलभ के साथ-साथ पाये जाते हैं. भारत में दो जातियाँ सामान्य हैः **ऐन्थ्रेनस वोरैक्स** वाटरहाउस गलीचे का भृंग है और ऊनी बियर के नाम से विख्यात है तथा **एटैजिनस पिसिअस** ओलिवर काले गलीचा-कीट के नाम से जाना जाता है. वास्तविक क्षति इनके लारवों द्वारा ही पहुँचती है और प्रत्येक प्रकार के ऊनी वस्त्र या गद्दे तथा वस्त्र निर्माण में काम आने वाले बालों तथा परों, मुलायम बालों और रेशम पर वे आक्रमण करते हैं.

वयस्क **ऐन्थ्रेनस वोरैक्स** कीट अंडाकार, 3 मिमी. लम्बा, श्वेत और काला गहरे चितकबरे रंग का होता है. मादा उष्ण स्थानों में, दरी, तोशकों या तकियों के अन्दर सफेद रंग के अंडे देती है. अंडे से निकलते ही नवजात ग्रब, खाना प्रारम्भ कर देते हैं. पूर्ण विकसित ग्रब लगभग 6.2 मिमी. लम्बा, भूरे रंग का और छोटे, कड़े बालों के गुच्छों से आच्छादित होता है. यह एक लम्बे काल तक शीत तथा भोजन न्यूनता को कभी-कभी 10 महीने तक, सहन कर सकता है. अनुकूल परिस्थितियों में, यह दो महीनों के अन्तर्गत प्यूपा बन जाता है जिसके पन्द्रह दिनों बाद प्यूपा से वयस्क बाहर निकल आते हैं.

वयस्क **एटैजिनस पिसिअस** अंडाकार, छोटे, काले भृंग हैं जो 5 मिमी. लम्बे होते हैं. लारवा दुबले गावदुम, लालाभ-भूरे ग्रब्स होते हैं जिनके उदर के छोर पर लम्बे बालों का गुच्छा होता है. इसका जीवन-इतिहास प्रायः **ऐन्थ्रेनस वोरैक्स** की ही भाँति होता है. ग्रब्स मोटे वस्त्रों को क्षति पहुँचाते हैं तथा वस्त्रों के किनारों को छेद कर उनके रेशे खाते हैं. वे फरों के बालों को जड़ से खा जाते हैं जिसके फलस्वरूप वे झड़ने लगते हैं. ग्रब्स रेशम, प्राणियों के सूखे अवशेषों और अनाजों तथा अन्न से उत्पादित पदार्थों को भी खाते हैं. लारवा अवस्था लगभग एक साल तक रहती है किन्तु विपरीत परिस्थितियों में यह लगभग 3 वर्षों तक बनी रह सकती है.

उन्मूलन करने की अपेक्षा इसके संक्रमण से बचना सुगम और सरल होता है. कोनों की सफाई, दरारों या छिद्रों से

धूल निकालने में सावधानी तथा तत्परता बरतनी चाहिए. नेफ्थैलीन की गोलियों अथवा पैराडाइक्लोरो बेंजीन के साथ इसके मिश्रण की प्रचुर मात्रा का प्रयोग करके ऊनी वस्त्रों को सुरक्षित रखा जा सकता है; उपयुक्त धूमक, जैसे हाइड्रोजन सायनाइड गैस या मेथिल ब्रोमाइड से कमरों के धूमन से दरियों तथा गद्दीदार सामग्रियों के कीटों से छुटकारा पाया जा सकता है. दरियों के नीचे 10% डी-डी-टी चूर्ण छिड़कने से भी आवश्यक सुरक्षा हो जाती है.

चीटियाँ (गण – **हाइमेनोप्टेरा**, कुल – **फार्मिसिडी** यथा, **मोनोमोरियम ग्रैसिलिमम** स्मिथ, **मिर्मेकेरिया ब्रूनिआ**, **सोलेनॉप्सिस जेमीनेटा** फैब्रीसिकस तथा **कैम्पोनोटस कॉम्प्रेसस** फैब्रीसिकस) उष्णकटिबन्ध से लेकर ऊपरी समशीतोष्ण क्षेत्रों तक पाये जाने वाले, मनुष्य के लिए कष्टदायक कीट हैं. उनमें सामाजिक जीवन की अति विकसित प्रणाली पायी जाती है. प्रत्येक कॉलोनी में श्रमिक, नर या ड्रोन्स तथा रानी रहते हैं. श्रमिक, जो परहीन होते हैं, वे वस्तुतः अविकसित मादाएँ हैं और कॉलोनी के सभी कार्य करते हैं. वे रानी तथा असहाय लारवे को खिलाते है. वे कोकूनों (जो त्रुटिवश चीटी के अंडे कहलाते हैं) की रखवाली करते हैं, चींटी-गाय (ऐफिड) को दुहते हैं, अन्य खाद्य को उपलब्ध करते और ढोते हैं तथा उपनिवेश की दीर्घाओं तथा कक्षों को साफ रखते हैं. ड्रोन तथा रानी पंखयुक्त होते हैं किन्तु मैथुन के पश्चात् मादा के पंख झड़ जाते हैं और तब ऐसी मादाएँ एक नयी कालोनी बनाती हैं या पुरानी में ही बस जाती हैं. मैथुन के पश्चात् ड्रोन (नर) लौटकर पुनः उपनिवेश में नहीं आते और शीघ्र ही मर जाते हैं.

चीटियों की खाने की आदतों में भिन्नता पाई जाती है. वे मनुष्य की लगभग सभी खाद्य वस्तुओं पर वृद्धि करती हैं. अनेक जातियाँ घर के बाहर कॉलोनियों में रहती हैं, किन्तु वे बहुधा रसोई तथा भंडार घरों पर धावा करती हैं. संक्रामक रोगों के प्रसार में प्रत्यक्ष रूप से इनका हाथ तो नहीं होता, किन्तु दंश और फार्मिक अम्ल को अंतःक्षेपित करके प्रर्याप्त दर्द और खीझ पैदा करती हैं. कुछ जातियाँ, जैसे फोईचींटी अपने दंश से मनुष्य में तीव्र क्षत करती है जिसके फलस्वरूप कभी-कभी मृत्यु भी हो जाती है.

अवशिष्ट कीटनाशी, विशेषतः क्लोरडेन तथा डाइएल्ड्रिन चींटी नियंत्रण में प्रभावकारी सिद्ध हुए हैं. अधिकांश चींटियों द्वारा घर से दूर बस्तियाँ बसाये जाने के कारण नियंत्रण के उपायों के अन्तर्गत बस्तियों, उनके आहार संग्रह के स्थानों, और मनुष्य के निवास स्थानों के प्रवेश-स्थलों पर छिड़काव करना चाहिए.

बर्रे तथा हाड़े (गण – **हाइमेनोप्टेरा**, कुल – **वेस्पिडी**) प्रायः निवास स्थानों के अन्दर या उनके इर्द-गिर्द पाये जाते हैं और बिदकाने पर डंक मारने के कारण आपत्तिजनक होते है. बर्रो की अनेक जातियाँ हैं, जिनमें दो प्रमुख हैं. **पालिस्टीज हेब्रेयस** फैब्रीसिकस साधारण भारतीय पीत बर्रे है, जो षटकोणाकार कोशिकाओं में कागज जैसे घोंसले का निर्माण करता है जिसका प्रवेशद्वार नीचे की ओर खुलता है. ये घोंसले निवास स्थानों के भीतर या बाहर, ओसारे, ओरियों, छतों या बल्लों तथा अन्य किसी सुविधाजनक स्थान पर लटके होते हैं. भारतीय हाड़ों में **वेस्पा ओरियेण्टैलिस** फैब्रीसिकस अधिक व्यापक है. यह लालाभ भूरे रंग का, जिस पर कुछ पीले धब्बे होते हैं, प्रायः बाजारों में मीठे पदार्थो को खाते हुए पाया जाता है. यह घर के अन्दर या बाहर कीचड़ का पूरी तरह से बंद घोंसला बनाता है. उपर्युक्त दोनों जातियाँ अन्य कीटों को खाती हैं, किन्तु मीठी चीजों के प्रति भी आकृष्ट होती हैं. इनका डंक बहुत ही कष्टप्रद और प्रायः विषैला होता है. गोधूलि के पश्चात् जब बर्रे कम क्रियाशील होते हैं और अधिकांशतः अपने घोंसलों में होते हैं, तो कीटनाशकों के छिड़काव द्वारा अथवा मशाल जलाकर इनके घोंसलों तथा घोंसले के निवासियों को नष्ट किया जा सकता है.

बाहरी उत्पाती नाशीकीट

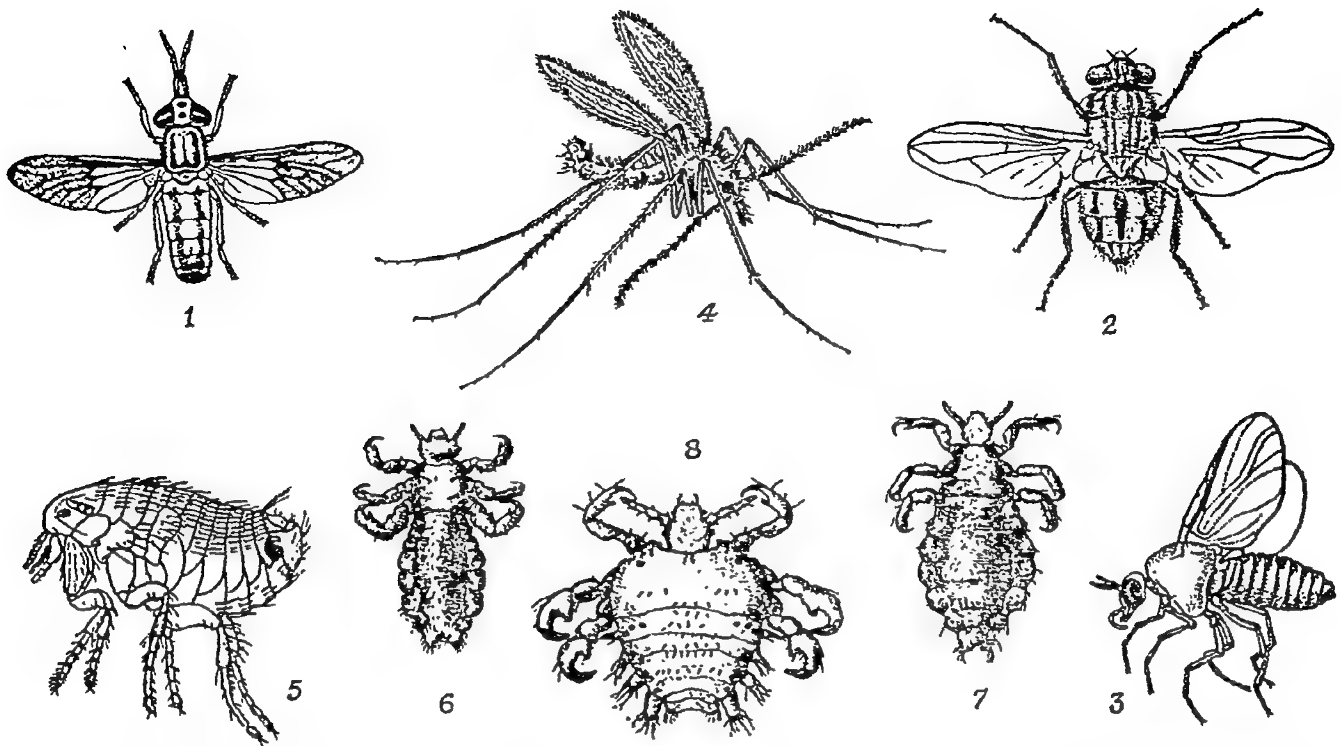
यद्यपि अनेक घर से बाहर रहने वाले रक्त चूसक कीटों, जैसे सिमुलिड (**सेमुलाइडी**), क्राइसॉप (**टेबैनिडी**) तथा कुलीकायडी (**सिरैटोपोगोनिडी**) को फाइलेरिया संक्रमण रोगवाहक कहा गया है, किन्तु भारत में ये रोगवाहक के रूप में महत्वपूर्ण नहीं है.

काली मक्खी अथवा महिष बनमक्खी (गण – **डिप्टेरा-निमैटोसिरा**, कुल – **सिमुलाइडी** यथा **सिमुलिअम इंडिकम** तथा **सि. हिमालएंसिस** पुरी) काली, छोटी, गठीले शरीर वाली कुबड़ी मक्खियाँ हैं जिनके पंख चौड़े किन्तु छोटे होते हैं और सींग की भाँति आगे निकली हुई बलयी शृंगिकाओं के कारण सुगमता से पहचान में आ जाती हैं. नर में आँखें बड़ी और एक दूसरे के पास होती हैं किन्तु मादा में दूर-दूर होती हैं. नर और मादा दोनों ही मकरंद का आहार करते हैं, किन्तु मादा रक्त भी पीती है जो उसके अंडों के विकास के लिए आवश्यक है. ये क्लेशकारी दंशक हैं. प्रथम बार काटने पर पता तो नहीं चलता किन्तु दंश के साथ शरीर में विष प्रवेश कर जाता है जिससे सूजन आ जाती है और क्षत हो जाते हैं जिनमें कई दिनों तक दर्द होता रहता है. मच्छरों के विपरीत ये दिन में काटती हैं.

सैमुलिड तीव्र जलधाराओं में प्रजनन करती हैं. इसके लारवा चूसकों के द्वारा, चट्टानों, वृक्ष की शाखाओं, वानस्पतिक कूड़े-कचड़े तथा अन्य जलीय वनस्पतियों से कसकर चिपके रहते हैं. छः महीनों के बाद लारवा, कोकून के सदृश भित्ति कोश में प्यूपा में परिवर्तित हो जाता है. प्यूपा अवस्था लगभग 4 दिनों तक रहती है. वयस्क प्यूपा से निकल कर बाहर आते हैं, जो तीव्र उड़ाकू होते हैं और प्रजनन स्थान से 10–20 किमी. तक फैल जाते हैं.

सिमुलिडी के लारवों तथा वयस्कों के लिए डी-डी-टी विषैला होता है. जलधारा में लारवों के नियंत्रण के लिए लारवा के प्रजनन स्थलों से ऊपर ईंधन-तेल में 5–10% डी-डी-टी के एक अंश प्रति करोड़ अंश की मात्रा में मिलाकर लगभग 15 मिनट तक फुहार करते है. यह मात्रा सिमुलिड लारवों को जलधारा में कई मीलों तक उन्मूलन करने के लिए पर्याप्त होती है. इसी प्रकार लिण्डेन का 2 अंश प्रति करोड़ अंश दर से प्रयोग करने पर लारवे और प्यूपे मर जाते हैं. विकर्षक जैसे डी-एम-पी तथा रटजर्स 612 से इन मक्खियों के दंश से काफी सुरक्षा प्राप्त होती है.

अश्व-मक्खियाँ (गण – **डिप्टेरा-ब्रैकिसेरा-आर्थोरैफा**, कुल – **टेबैनिडी**; उदाहरण – **क्राइसॉप** जातियाँ) मँझोले आकार की, गठीले शरीर वाली, मजबूत चूषक मुखांग वाली और दिनचर प्रकृति की होती हैं. ये तीव्र और शक्तिशाली उड़ान करने वाली, हठी तथा तीव्र आक्रमणकारी होती हैं. ये दलदली जंगली क्षेत्रों में बहुतायत से पाई जाती हैं. उनके काटने से दर्द नहीं



चित्र 45 – मनुष्यों के नाशकजीव : (1) अश्वमक्खी (काइसोप्स जाति) ($\times 2\frac{1}{2}$); (2) घरेलू मक्खी (मस्का डोमेस्टिका लिनिअस) ($\times 4\frac{1}{2}$); (3) काली मक्खी (सिमुलियम इंडिकम) ($\times 8$); (4) बालू मक्खी (फ्लेबोटोमस पैपेटासाइ स्कापोली) ($\times 14$); (5) प्लेग का पिस्सू (जैनोसाइला कियोपिस रॉथ) ($\times 14$); (6) सिर की जूँ (पेडिकुलस ह्यूमैनुस कैपिटिस डेगियर) ($\times 15$); (7) शरीर के जूँ (पेडिकुलस ह्यूमैनुस कॉरपोरिस डेगियर) ($\times 8$); (8) केकड़ा या प्यूबिक जूँ (थाइरस प्यूबिस लिनिअस) ($\times 30$)

होता है किन्तु काफी खुजलाहट और स्थानिक सूजन हो जाती है. केवल मादा रक्त चूषक होती है. मादा अपने अंडे झुड के झुड रूप में जलीय पौधों के ऊपर या तालों, दलदलों एवं अन्य जलीय स्थानों में जिनके ऊपर वनस्पतियाँ लटकती रहती है, देती है. अंडे 4–7 दिनों के अन्दर फूटते हैं. लारवे मृत जैविक पदार्थो को बडी तेजी से खाते है और प्यूपा बनाने के उद्देश्य से अपेक्षाकृत सूखे स्थानों पर चले जाते है. लगभग दो सप्ताह में वयस्क बाहर निकल आते है.

प्रति हेक्टर 0.25–2 किग्रा. डी-डी-टी 0·5–1 किग्रा. लिण्डेन के प्रयोग से वयस्क दंशकों की संख्या में पर्याप्त कमी होती है. स्थिर कुंडों में तेल छिड़कने से वयस्क और नवजात लारवे लटकी हुई वनस्पतियों से पानी में गिर कर मर जाते हैं. अभी तक इन मक्खियों के नियंत्रण की कोई अधिक संतोषप्रद विधि नहीं निकली है. विकर्षकों द्वारा कुछ हद तक इनके दंश से रक्षा होती है.

कुलीकायडीज (गण – डिप्टेरा-नेमेटोसेरा, कुल – **सिरेटोपोगोनिडी**; उदाहरणार्थ सिरेटोपोगान जाति) छोटी मक्खियाँ हैं, जो साधारणतया निज या नैट कहलाती हैं और कभी-कभी भूल से रेत-मक्खियाँ भी कही जाती है. मादाएँ अविकल्पी रक्त चूषक होती हैं और सूर्यास्त के तुरन्त बाद दंश करती है जिससे तीव्र जलन और खुजलाहट उत्पन्न होती है. वे प्रायः प्रकाश की ओर आकर्पित होती हैं. अंडे नम-स्थानों और दलदली जलों की सडी-गली वनस्पतियों पर बड़े गुच्छों के रूप में दिये जाते हैं. अंडों से उत्पन्न लारवे स्पाइरोकीट-जैसी गति से चलते हैं. प्यूपे मच्छरों से बहुत अंश में मिलते-जुलते हैं और वयस्क मक्खियाँ 3–7 दिनों में बाहर निकल आती हैं.

कुलीकायडीज के प्रजनन पर नियन्त्रण कर पाना अपेक्षतया कठिन है. प्रति हेक्टर 1–2 किग्रा. डी-डी-टी या क्लोरडेन अथवा 500 ग्रा. लिण्डेन या डाइएल्ड्रिन का लम्बी अवधि तक प्रयोग करने से इनका संक्रमण घट जाता है. डाइमेथिल थैलेट (डी-एम-पी) अथवा 6 डी-एम-पी + 2 रटजर्स 612 + 2 इंडोलोन से दंश-रक्षा होती है.

व्याधि संचारक

जूँ (गण – **एनोप्लूरा**, कुल – **पेडिकुलिडी**; उदाहरण – **पेडिकुलस** जातियाँ) पंखहीन, रक्त चूषक, अधरापृष्ठी चिपटे कीट हैं,

जिनके मुखांग छेदने और चूसने के उपयुक्त होते हैं; पैरों में मजबूत नाखून होते है जो बालों या रुई के रेशों को पकड़े रहने में सहायक होते है; मादाएँ प्राय: नर की अपेक्षा बड़ी होती है. अंडे (लीख) बालों से चिपटे रहते हैं. निम्फ वयस्क से मिलते जुलते हैं और लैंगिक प्रौढ़ता प्राप्त करने के पूर्व तीन बार केंचुली झाड़ते हैं.

जूँ विशेषत: एक साथ अधिक लोगों के रहने और अस्वास्थ्यकर परिस्थितियों में मनुष्यों से चिपटे रहते हैं. तीन प्रकार के जूँ मनुष्य को क्षति पहुँचाते हैं. ये है : शरीर जूँ **पेडिकुलस ह्यूमैनस कारपोरिस** डेगियर; सिर का जूँ **पे. ह्यूमैनस कैपिटस** डेगियर; तथा केकड़ा **जूँ** या जघन जूँ **थिरस प्यूबिस** लिनिअस. शरीर जूँ रिकेट्सिया जीवाणुओं, **रिकेट्सिया प्रोवाजेकाई** को संक्रमित करता हैं जिसके फलस्वरूप संक्रामक टाइफस होता है. **रि. क्विंटैना** के कारण खात ज्वर और स्पाइरोकीट **बोरेलिया रिकरेण्टिस** के कारण पुनरावर्ती ज्वर हो जाता हैं. जूँ होने से पर्याप्त खुजलाहट तथा गौण संक्रमण उत्पन्न होता है, जिससे त्वचा मोटी और धब्बेदार तथा बाल जटाओं वाले हो जाते हैं. इसे आवारों की व्याधि कहा गया हैं.

नियमित सफाई, भीड़-भाड़ के स्थानों का परित्याग, स्नान तथा वस्त्रों की सफाई और उन पर लोहा करना जूँ से संरक्षण की प्रभावकारी विधियाँ हैं. उदाहरणार्थ, कारागारों तथा शिविरों जैसे सघन आबादी वाले स्थानों में बालों की हजामत करके उन्हें जला देना, बड़े पैमाने पर ग्रस्तता का सामना करने में उपयोगी है. संक्रमण का नियंत्रण पाइरेथ्रम, डेरिस, डी-डी-टी या बी-एच-सी चूर्ण को बालों में लगाकर और कमीजों की बाहों और पैंट के पैरों के भीतर फूंक कर भी किया जा सकता हैं. मेथिल ब्रोमाइड या, एथिलीन डाइब्रोमाइड का धूमन भी वस्त्रों में लगे शरीर जूँ के लिए प्रभावकारी होता हैं. लीख के लिए, फूटने वाले अंडों से छुटकारा पाने के लिए सप्ताहान्त पर दो या तीन बार धूमन की आवश्यकता हो सकती है. डी-डी-टी प्रतिरोधी मानव जूँ का नियंत्रण एथिलीन डाइ-ब्रोमाइड के धूमन द्वारा कर सकते है.

घरेलू मक्खियाँ (गण – **डिप्टेरा-ब्रेकीसेरा-साइक्लोरैफा**, कुल – **मस्किडी**; उदाहरण – **मस्का डोमेस्टिका** लिनिअस) लगभग सर्वव्यापी और मनुष्य के घनिष्ट सहवासी नाशीकीटो में से है. इनका रंग भूरा, वक्ष भाग पर दो या चार पतली काली धारियाँ, बड़ी आँखें, मुलायम चूषक सूंड और विशिष्ट शिराविन्यास से युक्त एक जोडी पंखों के कारण इन्हें घरों में आने वाली अन्य मक्खियों से आसानी से पहचाना जा सकता है. मुख केवल चूसने के लिए बना होता है उससे वे दंश नहीं ले पाती. मक्खियाँ अधिकतर गंदी वस्तुएँ खाती हैं और मृत तथा सड़े-गले जानवरों या साग-सब्जियों और मनुष्य के मल पदार्थो की ओर आकर्षित होती हैं.

मादा मक्खियाँ अंधेरे छिद्रों, घोड़े की लीद, गोबर या मनुष्य के मल के अन्दर या ऊपर अनियमित झुंडों में 75–150 अंडे देती हैं. लारवा अवस्था की अवधि ताप तथा उपलब्ध आहार की विशिष्टता पर निर्भर करती हैं. एक मादा मक्खी मध्य अप्रैल से लेकर मध्य सितम्बर तक की अवधि में अरबों संतानें उत्पन्न कर सकती हैं.

गृह मक्खी सभी प्रकार के मुलायम और आर्द्र पदार्थो को खाती है. ठोस वस्तुओं, जैसी मिठाइयों और सूखे दुग्ध को खाने के लिए यह अपने उदर से उन पर एक प्रकार के तरल पदार्थ की कुछ बूँदें उगल देती हैं और उसमें घुले पदार्थ को चूस लेती हैं और उनमें बीमारी उत्पन्न करने वाले जीवाणु छोड़ जाती है। अपनी अथक क्रियाशीलता और एक प्रकार के भोजन से उड़कर दूसरे प्रकार के भोजन पर बैठने की प्रकृति के कारण, केवल एक मक्खी अल्प समय में ही अनेक भोजन सामग्रियों को दूषित कर सकती है. पैरों तथा शरीर में लगे लोमों के द्वारा भी भोजन दूषित होता रहता है और बीमारी का संचार होता है. यदि मक्खियाँ किसी विशेष प्रकार की बीमारी के जीवाणुओं की वाहक हों तो ऐसी सम्भावना रहती हैं कि वे जहाँ कहीं भी मँडराकर बैठेंगी, वहीं अपने मल के साथ उन्हें जमा कर देंगी. ये आन्त्रज्वर, हैजा, दण्डाणु तथा अमीबी पेचिश, क्षय, कोढ़ तथा कभी-कभी कृमिजन्य रोगों का भी स्वाभाविक प्रसारण करती हैं.

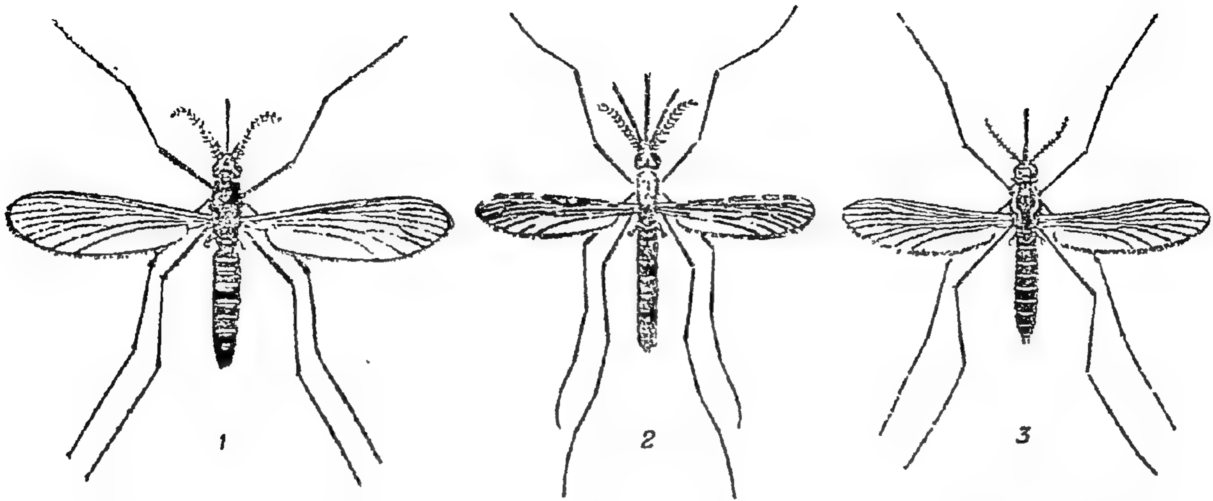
खाद, कूड़े, कचरे और विष्टा का रासायनिक उपचार करके जनन स्थानों को समाप्त कर देना अथवा घटाना या उनमें अंडे देना रोकना, नियंत्रण की सर्वोत्तम प्रभावकारी तथा वांछित विधि है. प्रभावकारी बनाने के लिए, इनके उपायों को विस्तृत सामुदायिक आधार पर व्यवस्थित किया जाना चाहिए, क्योंकि एक भी उपेक्षित ढेर सम्पूर्ण पड़ोस को दूषित कर सकता हैं. निवास स्थानों के वयस्कों का नियंत्रण उपयुक्त जाली द्वारा या क्लोरीन युक्त जैविक कीटनाशियों, जैसे डी-डी-टी, बी-एच-सी, क्लोरडेन, डाइएल्ड्रिन द्वारा या आर्गेनोफॉस्फोरिक कीटनाशियों, जैसे मेलाथियान तथा डाइएजिनान द्वारा छिड़काव या अवशिष्ट छिड़काव द्वारा किया जा सकता है. स्थानों में छिड़काव के लिए पाइरेथ्रिन बहुत ही प्रभावकारी है. आसंजक या विष चारे भी नियंत्रण की प्रभावकारी विधियाँ हैं.

मैगट मक्खियाँ (गण – **डिप्टेरा-ब्रेकिसेरा-साइक्लोरेफा**, कुल – **कैलीफोरिडी**; उदाहरण – **क्राइसोमिया बेजियाना** विले) घरों में विरले ही प्रवेश करती है. मादा, रक्त तथा घाव की पीब की गंध की ओर अधिक आकर्षित होती हैं और घाव के अन्दर या उसके समीप अंडे देती हैं. अंडों से निकलने के बाद मैगट घाव के भीतर प्रवेश कर जाते है, किन्तु वे स्वस्थ, अक्षत ऊतकों के भीतर नही जा पाते और नाना प्रकार के त्वचीय और व्रण माइएसिस उत्पन्न करते हैं. साथ ही नाक, मुख, कान, आँख और भग के माइएसिस उत्पन्न करते हैं.

मस्का डोमेस्टिका लिनिअस (कुल – **मसिडी**), **कैलीफोरा** की दो जातियाँ तथा **लुसीलिया** की दो जातियाँ (कुल – **कैली-फोरिडी**), मास-मक्खी, **सारकोफैगा रुफीकारनिस** फैब्रीसिकस, (कुल – **सारकोफैगिडी**) तथा **एफियोकीटा स्कैलेरिस** ब्रूम (कुल – **फोरिडी**) भी माइएसिस उत्पन्न करती है.

आँख-मक्खियाँ या आम्र मक्खियाँ (गण – **डिप्टेरा-ब्रेकिसेरा-एकैलिप्टेरेटी**, कुल – **क्लोरोपिडी**; उदाहरण – **साइफनक्युलिना फ्यु-निकोला** 0·2 मिमी. लम्बी, चमकीली, काले शरीर और पीलाभ पैर वाली, लघु मक्खियाँ हैं. ये पूर्व और दक्षिण भारत में अधिक पायी जाती हैं. इनमें आँखों के आगे भनभनाने की आदत है और यदि इन्हें शरीर पर बैठने दिया जाए, तब ये आँखों के कोने में रेंग कर चली जाती हैं और आँख का कीचड़ खाने लगती हैं. ये नेत्र-श्लेष्मा-शोथ के लिए उत्तरदायी हैं.

नेत्र मक्खियाँ सड़े-गले जैविक पदार्थो से दूषित कीचड़, घास-फूस के छप्परों और बेढंगे पाखानों, घुड़सालों तथा खुली नालियों के निकट प्रजनन करती हैं.



चित्र 46 – मनुष्यों के नाशक-कीट — मच्छर: (1) क्युलेक्स फैटिगैन्स वीडेमान (×7); (2) एनोफिलस क्यूलिसिफेसीज गाइल्स (×6½); (3) ईडीज (स्टेगोमाइया) ईजिप्टी लिनिअस (×6)

मच्छर (गण – डिप्टेरा-नेमैटोसेरा, कुल – क्युलीसिडी; उदाहरण – क्युलेक्स फैटिगैन्स वीडेमान, तथा एनोफिलीस क्युलीसिफेसीस गाइल्स) लम्बे मुलायम पैरों वाले पतले कीट हैं. इनका रंग, शल्कों के आवरण के कारण होता है और भिन्न-भिन्न जातियों में अलग-अलग होता है. मच्छर प्रायः मनुष्य के आवासों तथा मवेशीघरों में शरण पाते हैं. मादा उष्ण-रक्तधारी जानवरों को काटती है और सुई जैसे मुखांगों से छेदने और चूसने का काम लेती है. नर मच्छर त्वचा को वेध नहीं सकते, अतएव तरल आहारों पर निर्वाह करते हैं. प्रकाश, वायु की गति, ताप और आर्द्रता के अतिरिक्त परपोषी प्राणियों की आकर्षणशीलता पर मच्छर का दंशन निर्भर करता है. केवल मादा मच्छर ही, जो रक्त पर निर्वाह करती है, अपने शिकार के शरीर में परजीवियों से युक्त लार की थोड़ी मात्रा प्रविष्ट कर बीमारी का संचरण कर सकती है.

मच्छर अपना प्रजनन जल में करते हैं जिसकी प्रकृति भिन्न-भिन्न हो सकती है. कुछ जातियाँ स्वच्छ जल में प्रजनन करती हैं तो कुछ को मलतायी से दूषित अप्रवाही गड्ढे ही पसन्द हैं. अंडे जल की सतह पर दिए जाते हैं और उनसे लम्बे सक्रिय लारवे उत्पन्न होते हैं जो जल में ही भोजन, वृद्धि और त्वचा निर्मोचन करते हैं. सम्पूर्ण जीवन-चक्र पूरा होने में 8–15 दिन लगते हैं. यह अवधि ताप और आहार की प्राप्ति पर निर्भर करती है.

भारत में, मच्छर की 40 विख्यात जातियों में से अब तक लगभग नौ, मलेरिया की रोगवाहक होने की दोषी सिद्ध हुई हैं. ये हैं: ऐनोफ़िलीस क्युलीसिफ़ैसीस गाइल्स; ऐ. मिनिमस; ऐ. फ्लुवियेटिलिस जेम्स; ऐ. स्टेफेन्साई; ऐ. सुनडायकस; ऐ. एनुलेरिस वान डर वूल्प; ऐ. फिलीपिनेन्सिस; ऐ. वरुना आयंगर तथा ऐ. ल्युकोस्फाइरस डान. फाइलेरिया का संचरण मच्छर की दो जातियों द्वारा होता है; वे हैं: क्युलेक्स फेटीगैन्स वीडेमान तथा मैन्सोनॉयडीज एन्युलीफेरा. एडीस (स्टीगोमीया) समुदाय के मच्छर डेंगू का संचार करते हैं.

मच्छरों का नियंत्रण लारवे तथा वयस्क अवस्थाओं पर किए गये उपायों से सम्भव है. लारवे के नियंत्रण के लिए अपरिष्कृत तेल, पेरिस ग्रीन, डी-डी-टी, बी-एच-सी, डाइएल्ड्रिन तथा मालाथियान का प्रयोग किया जाता रहा है. प्रजनन उन्मूलन के लिए रुके हुए जलों को खाली करते रहने तथा भरते रहने की सिफारिश की जाती है. मैन्सोनॉयडीज जाति के लारवे का नियंत्रण, जो जलीय पौधों के सहवास में प्रजनन करते हैं, शाकनाशी के प्रयोग से किया जा सकता है जो पौधों को नष्ट कर देता है. जल सतह पर कीटनाशियों का प्रयोग लारवे के प्रजनन को रोकने में प्रभावकारी नहीं है. मलेरिया से आक्रान्त रोगी के रक्त को चूसने वाला ऐनोफिलिस मच्छर कम से कम 10 दिनों में संक्रामक हो जाता है. अतएव मलेरिया संक्रमण पर नियंत्रण के लिए मच्छरों का जीवनकाल 10 दिन से कम कर देना जरूरी होता है. वयस्क मच्छरों को नष्ट करने के लिए घरों में पाइरेथ्रम की फुहार सप्ताह में 3–4 बार करनी चाहिए या फिर निलंबन या इमल्शन के रूप में अवशिष्ट कीटनाशी का प्रयोग दीवालों, छतों और मच्छरों के बैठने के अन्य स्थानों पर करना चाहिए. दीवालों पर प्रति वर्ग मीटर 1–2 ग्रा. डी-डी-टी छिड़काव के प्रयोग से अच्छे परिणाम मिले हैं और इस विधि से भारत के कुछ भागों में बीमारी का पूर्णतया उन्मूलन हो चुका है. क्यूलीसीन मच्छर क्लोरीनीकृत हाइड्रोकार्बन के प्रति शीघ्र ही प्रतिरोध क्षमता विकसित कर लेते हैं और इनके लारवे इस प्रकार की कीट-

नाशियों की अधिक मात्रा के प्रति सहिष्णु हो जाते हैं अतः इनके नियंत्रण के लिए आर्गेनोफॉस्फोरिक कीटनाशियों, जैसे मालाथियान, का प्रयोग किया जा सकता है. लारवों के नियंत्रण के लिए प्रति हेक्टर 1/2 किग्रा. मालाथियान और वयस्क के लिए दीवालों की सतह पर 270 मिग्रा. प्रति वर्ग मीटर मालाथियान का प्रयोग प्रभावकारी होता है. घरों में तार की जाली तथा मच्छरदानी के प्रयोग से मच्छरों के दंशन से बचा जा सकता है. खुले अंगों पर डी-एम-पी जैसे प्रतिकर्षक के उपयोग से मच्छरों को दूर रखा जा सकता है.

रेत मक्खियाँ (गण – **डिप्टेरा-नेमेटोसेरा**; कुल – **साइकोडिडी**; उदाहरण – **फ्लेबोटोमस** जातियाँ) छोटे, पीले, कोमल निशिचर कीट हैं. उनके शरीर और पर घने बालों से ढके रहते हैं; पंख छोटे, चौड़े शिरायुक्त होते हैं. रेत मक्खियाँ जीवित अवस्था में, जब वे विश्राम करती होती हैं, अपने परों को ऊपर की ओर V की स्थिति में रखने के कारण सहज ही पहचान में आ जाती हैं. मुखांग वेधने और चूसने के अनुकूल बने होते हैं. मादाएँ रक्त चूसती हैं. दिन में वे घरों के अंधेरे कोनों और इमारतों की दरारों, गड्ढों, जानवरों के बिलों, खोखले पेड़ों और मिट्टी की गहरी दरारों में विश्राम करती हैं.

रेत मक्खियाँ चट्टानों और दीवालों के नम अंधेरे दरारों में अपने बड़े आकार के अंडे देती हैं जहाँ लारवों के विकास के लिए पर्याप्त नमी और कार्बनिक पदार्थ उपलब्ध होते हैं. प्यूपों में रूपान्तरित होने और जीवनचक्र पूरा करने के लिए लारवे तीन बार त्वचा निर्मोचन करते हैं और अंडे से वयस्क होने तक छः से आठ सप्ताह लग जाते हैं.

दुष्ट दंशक होने और पीड़ा उत्पन्न करने के अतिरिक्त रेत मक्खियाँ काला-आजार, ओरियंटल व्रण तथा पापातसी और रेत मक्खी ज्वर का प्रसार करती हैं. भारत में रेत मक्खी की जितनी जातियाँ ज्ञात हैं, उनमें **फ्लेबोटोमस आर्जेण्टीपेस**, **फ्ले. पापाटासाई** स्कोपोली तथा **फ्ले. सर्जेण्टाइ** मनुष्यों के रोगवाहक के रूप में विख्यात हैं.

घरों के भीतर तथा बाहर डी-डी-टी की फुहार करने से रेत मक्खियों का नियंत्रण होता है. वे रेत मक्खियाँ जो क्लोरिनीकृत हाइड्रोकार्बन कीटनाशियों के प्रति सहिष्णु हो गई हैं, उनके लिए मालाथियान बहुत ही प्रभावकारी पाया गया है. दंशन से बचने के लिए डी-एम-पी प्रतिकर्षक लाभकारी होता है.

पिस्सू (गण – **साइफोनेप्टेरा**; कुल – **पुलीसिडी**; उदाहरण – **जिनोप्सिल्ला** जातियाँ) भूरे, छोटे, चौड़े शरीर वाले कीट हैं जिनकी बगलें चिपटी होती हैं. वे परहीन होते हैं किन्तु इनके पश्चपाद लम्बे और शक्तिशाली होते हैं जो कूदने के काम आते हैं. नर और मादा दोनों के मुखांग मजबूत होते हैं, जो बेधने और चूसने के अनुकूल होते हैं. भारत में इनकी अनेक जातियाँ पाई जाती हैं, जिनमें से कुछ साधारण चूहे, **रैटस रैटस**, पर पाई जाती हैं. वयस्क साधारणतया कृन्तक प्राणियों के शरीर से चिपका रहता है और अपने अंडे चूहे के बिलों में देता है. अंडों से निकले टेढ़े-मेढ़े लारवे चूहे के बिलों में पाये जाने वाले मलबे पर बसर करते हैं. वयस्क लारवे कोकून के भीतर प्यूपा रूप धारण करते हैं जिसमें से कुछ दिनों के बाद वयस्क बाहर निकल आते हैं. **जि. कियोपिस** राथशिल्ड के सम्पूर्ण जीवन चक्र में, भारतीय परिस्थितियों के अन्तर्गत 21–22 सप्ताह लगते हैं. वयस्क पिस्सू 5–6 सप्ताह तक निराहार रह सकता है.

तीन जातियों, **जि. कियोपिस** राथशिल्ड, **जि. ऐस्टिया** राथशिल्ड, तथा **जि. ब्रेसिलियेन्सिस** में से प्रथम जाति भारत में प्लेग के फैलाने में सर्व प्रमुख है. प्लेग का जीवाणु, **पास्तुरेला पेस्टिस** कृन्तक प्राणियों के लिए संक्रामक होता है और विशेषतः घरेलू चूहों के लिए, घातक होता है. प्लेग के कारण जब चूहे अधिक संख्या में मरने लगते हैं और उनकी आबादी घटने लगती है, तो पिस्सू इन चूहों के शवों को छोड़कर अन्य उष्ण रक्त-धारी प्राणियों की तलाश करने लगते हैं. जहाँ ऐसे चूहे पड़े रहते हैं वहाँ घरों के रहने वाले निकट होते हैं. मनुष्य इस संक्रमण का केवल आकस्मिक शिकार होता है. संक्रमण तथा संचरण के अतिरिक्त पिस्सू ऐसी संवर्धन नलिकाओं का काम करते हैं जिनमें जीवाणु वृद्धि कर सकते हैं.

पिस्सू अन्य बीमारियों के लिए, जैसे विशेष क्षेत्रीय टाइफस, कुत्ते और बिल्लियों के कुछ फीताकृमियों (**डाइफिलिडियम केनिनम**), जो मनुष्य पर कभी-कभी संक्रमण करता है, मध्यस्थ का कार्य करते देखे गये हैं.

स्वच्छता के कठोर नियमन के साथ-साथ निवास स्थानों, अन्न के भंडार-घरों तथा माल गोदामों से चूहों को निकाल भगाने से पिस्सू के आतंक को रोका जा सकता है. ग्रस्त स्थानों पर 5% डी-डी-टी विलयन का प्रयोग करना चाहिए. चूहों के बिलों और गोदामों के बोरों के बीच में 5% डी-डी-टी मिश्रित धूल छिड़क देनी चाहिए. यदि पिस्सू क्लोरीनीकृत हाइड्रोकार्बन कीटनाशियों के प्रति प्रतिरोधी हो गये हों तो आर्गेनोफॉस्फोरस कीटनाशियों, जैसे कि डाइएजिनान तथा मालाथियान का प्रयोग करना चाहिए. सायनो गैस एक बहुत ही शक्तिशाली कृन्तकनाशी है, किन्तु घरों तथा अन्य संस्थाओं में चूहों के नियंत्रण के लिए इसका प्रयोग काफी सावधानी के साथ करना चाहिए.

नाशक-कीटों के नियंत्रण की सामान्य विधियाँ

नाशकजीव नियंत्रण के अन्तर्गत वे सभी विधियाँ सम्मिलित हैं जो नाशकजीवों के संक्रमण के निरोध के लिए या यदि संक्रमण हो चुका हो तो उनको नष्ट करने के लिए अपनायी जाती हैं. इसका अर्थ यह नहीं लगाना चाहिए कि नाशकजीवों का पूर्ण उन्मूलन कर दिया जाए वरन् उनकी संख्या इतनी कम कर दी जाए कि वे हानिकर सिद्ध न हो सकें. नियंत्रण के उपायों को प्रभावकारी, अहानिकर, कम खर्चीला, व्यावहारिक तथा अन्य प्रकार से भी संतोषजनक होना चाहिए. मोटे तौर पर कीट-नियंत्रण की विधियों को पाँच शीर्षकों में बाँट सकते हैं. ये हैं: भौतिक नियंत्रण, संवर्धनिक नियंत्रण, रासायनिक नियंत्रण, जैविक नियंत्रण और वैधानिक नियंत्रण.

भौतिक नियंत्रण

भौतिक नियंत्रण के अन्तर्गत वे विधियाँ आती हैं जो नाशकजीव, उनसे आक्रान्त पौधों या उनके अंगों को हटाने या उसे नष्ट करने, हाथ से चुनकर या हाथ-जालों द्वारा पकड़कर, जोतकर, कुदाल से खोदकर, जमीन के अन्दर गाड़ कर या जलाकर प्रायः

नष्ट करने के लिये अपनायी जाती हैं. टिड्डियों के फुदकों को हाँक कर खाइयों में ले जाना और उन्हें मिट्टी में गाड़ देना, मशाल द्वारा टिड्डियों को जला देना और समय-समय पर अनाजों और गोदामों की भली-भाँति सफाई करना भी नाशकजीवों के नियंत्रण के भौतिक उपाय हैं. उन नाशकजीवों के नष्ट करने के लिए जो प्रकाश की ओर आकर्षित होते हैं, प्रायः प्रकाश फँदे या डीज-लालटेन या गैस बत्ती का प्रयोग किया जाता है जो एक चौड़े छिछले नाँद में जल के मध्य, जल की सतह पर मिट्टी के तेल की एक पतली परत फैलाकर, उन्हें नष्ट करने के उद्देश्य से रख दी जाती है. कीटों की ध्वनि प्रतिक्रियाओं के अध्ययन पर आधारित ध्वनिक संकेतों का प्रयोग भी नाशकजीवों के नियंत्रण के लिए किया जाता है.

संवर्धनिक नियंत्रण

पौधों के नाशकजीवों पर नियंत्रण के लिए मुख्य उपायों में निम्नलिखित विशेषतः प्रयोग में लाए जाते हैं: शस्य-स्वरूपों की अदल-बदल, बोने तथा काटने के समय में परिवर्तन, सिंचाई की बारम्बारता एवम् जल की मात्रा में वृद्धि अथवा कमी, जल निकास पर ध्यान, खाद तथा उर्वरक का उचित प्रयोग, खरपतवारों की सफाई, नाशकजीवों के एकांतर परपोषी का निष्कासन, पर्याप्त स्थान एवम् धूप के लिए पौधों के बीच समुचित दूरी एवं पेड़ों की काट-छांट, तथा नाशकजीवों द्वारा प्रभावित शस्य किस्मों का परिहार. इन उपायों को कार्य रूप में परिणत करने में विभिन्न कारक एवम् स्थितियाँ प्रभाव डालती हैं, जिन पर सदैव विजय पाना न तो सरल होता है और न शक्य ही. नाशकजीवों के आक्रमणों को रोकने के लिये प्रतिरोधी फसलों की किस्मों का प्रयोग निश्चय ही नियंत्रण की कृष्य विधि है. यह विभिन्न कारकों और परिस्थितियों पर निर्भर करती है, और यदि इनमें से कोई भी कारक अनुपस्थित हो अथवा उलट जाए तो यह विफल हो जाती है.

रासायनिक नियंत्रण

कृषि शस्यों तथा संग्रहीत उपज की रक्षा हेतु कीटों को मारने अथवा प्रतिकर्षित करने के लिए अनेक विषैले रसायनों की फुहार, धूलि, चारा, धूमक तथा एरोसाल के रूप में प्रयुक्त किया जाता है. कम खर्चीले, शीघ्र फलदायक एवम् लाभकारी होने के कारण ये उपाय अधिकाधिक लोकप्रिय हो रहे हैं. अनेक प्रकार के रासायनिक द्रव्य अकेले अथवा विलायकों तथा सहोत्तेजकों के संयोग में प्रयुक्त किए जाते हैं. हाल ही के वर्षों में अनेक कार्बनिक कीटनाशियों का संश्लेषण किया गया है, और अकार्बनिक विषों तथा पौधों से प्राप्त प्राकृतिक कीटनाशी पदार्थों जैसे डेरिस, पाइरेथ्रम तथा तम्बाकू के स्थान पर अधिकाधिक प्रयुक्त हो रहे हैं. कतिपय महत्वपूर्ण कार्बनिक तथा अकार्बनिक कीटनाशी निम्नलिखित हैं:

संश्लिष्ट कार्बनिक कीटनाशी

डी-डी-टी (डाइक्लोरोडाइफेनिलट्राइक्लोरोएथेन); मेथाक्सीक्लोर (डाइमेथाक्सी डाइफेनिल ट्राइक्लोरोएथेन); टी-डी-ई (टेट्राक्लोरो डाइफेनिलएथेन): डी-सी-पी-एम (डाइक्लोरो फीनाक्सीमेथेन); बी-एच-सी (हेक्साक्लोरो साइक्लोहेक्सेन); लिंडेन (हेक्साक्लोरो साइक्लोहेक्सेन, गामा समावयवी); क्लोरडेन (ऑक्टाक्लोरो हेक्सा हाइड्रोमेथेनोइंडीन); ऐल्ड्रिन, एच-एच-डी-एन (हेक्साक्लोरो हेक्साहाइड्रोएंडोएक्सो डाइमेथेनोनैफ्थेलीन; टी-ई-पी-पी (टेट्राएथिल पाइरोफॉस्फेट); श्रडान, ओ-एम-पी-ए (ऑक्टोमेथिल पाइरोफॉस्फोरामाइड); पैराथायोन (डाइएथिल नाइट्रोफेनिल थायोफॉस्फेट); मालाथायोन (डाइएथिल मर्केप्टोसक्सिनेट फेनोथायाजीन का डाइमेथिल डाइथायोफॉस्फेट); रोडानेट्स (थायोसायनेट का सामान्य नाम); एराथोन (डाइनाइट्रोकैप्रिल फ़ेनिल क्रोटोनेट); एलेथ्रिन (पाइरेथ्रिन का सजातीय संश्लिष्ट उत्पाद).

प्राकृतिक कार्बनिक कीटनाशी

तम्बाकू (निकोटीन, निकोटीन सल्फेट तथा नॉरनिकोटीन); पाइरेथ्रम (पाइरेथ्रिन); डेरिस (रोटिनोन तथा रोटिनायड); सैवाडिला; हेलेबोर; अनेक तेल और कोलतार आसुत.

अकार्बनिक कीटनाशी

कैल्सियम, ताँबा (पेरिस ग्रीन), मैग्नीशियम, सोडियम तथा सीस के आर्सेनेट तथा आर्सेनाइट; फ्लुओराइड, फ्लुओसिलिकेट एवम् दूसरे फ्लुओरीन यौगिक; पारद, थैलियम और सेलेनियम के यौगिक; फॉस्फाइड; सायनाइड; गंधक यौगिक.

कुछ कीटनाशी आमाशय विष का कार्य करते हैं, कुछ स्पर्श-विष तथा कुछ सर्वांग विष होते हैं. आमाशय पर विषैला प्रभाव डालने वाले मुख्य पदार्थ हैं: बी-एच-सी, डी-डी-टी, मेथाक्सीक्लोर, लेड आर्सेनेट, कैल्सियम आर्सेनेट, पेरिस ग्रीन, सोडियम फ्लुओराइड, कायोलाइट, फ्लुओसिलिकेट तथा बोरैक्स थैलियम, फॉस्फोरस एवम् पारद के यौगिक. स्पर्श-विष प्रत्यक्ष संस्पर्श से ही कीटों को मार डालते हैं. इनमें से मुख्य हैं: बी-एच-सी, डी-डी-टी, टाक्साफीन, क्लोरडेन, डाइऐल्ड्रिन, ऐल्ड्रिन, एंड्रिन, मेथाक्सीक्लोर, निकोटीन, लाइम-सल्फर, तैलपायस, पाइरेथ्रम, रोटिनोन, संश्लिष्ट थायोसायनेट तथा कार्बनिक फॉस्फोरस यौगिक सर्वांग कीटनाशियों का उद्गम नवीन है. बढ़ते हुए पौधे इनका शीघ्र ही शोषण कर लेते हैं फलतः पादप-तंत्र में पर्याप्त सान्द्रता में प्रविष्ट होकर ये रस को कीटघातक बना देते हैं. सोडियम सेलेनाइट, सोडियम फ्लुओरोऐसीटेट, श्रडान, सिस्टॉक्स तथा थिमेट प्रभावकारी सर्वांग विष हैं.

पादप-वेधक तथा दूसरे नाशकजीवों को, जो ऐसे स्थानों पर रहते हैं जहाँ द्रव कीटनाशी प्रवेश नहीं कर पाते मारने के लिए धूमक विशेष रूप से प्रभावशाली होते हैं. हाइड्रोजन सायनाइड, कार्बन डाइसल्फाइड, कार्बन टेट्राक्लोराइड, निकोटीन, सल्फर डाइऑक्साइड. *p*-डाइक्लोरोबेंजीन, नैफ्थेलीन, क्लोरोपिक्रिन, एथिलीन ऑक्साइड तथा डाइक्लोराइड और मेथिल ब्रोमाइड उल्लेखनीय धूमक हैं.

खेतों, गोदामों तथा पशुशालाओं में कीटनाशी के प्रयोग से पशुओं तथा कार्यकर्ताओं पर हानिकारक प्रभाव पड़ सकता है. इस संकट से बचने के लिए उचित पूर्वोपाय कर लेने चाहिए. कीटनाशियों के सफल प्रयोग के लिए नाशकजीव, पौधे या जन्तु की सहनशीलता-सीमाओं का ज्ञान होना अपेक्षित है.

जैविक नियंत्रण

प्रकृति में प्रत्येक पौधे तथा जन्तु के शत्रु, किसी न किसी रूप में विद्यमान हैं; जैसे पादपभक्षी जन्तु, परभक्षी एवम् पर-

जीवी. ये उसके वातावरण पर जैविक सीमाबन्धन निर्धारित कर देते हैं और इसी पारस्परिक संबंध पर जैविक नियंत्रण आधारित है. इस विधि द्वारा नाशकजीव के एक अथवा अनेक प्राकृतिक शत्रुओं की सहायता से इनकी जनसंख्या इतनी कम कर दी जाती है कि उससे हानि नहीं हो पाती. ये प्राकृतिक शत्रु या तो जन्तु, कवक, जीवाणु या वाइरस हो सकते हैं, जो नाशकजीव की एक अथवा अनेक अवस्थाओं पर प्रभावी होते हैं. उदाहरणार्थ लेडीबर्ड भृंग, एफिड तथा काक्सिड नाशकजीवों को आहार बना लेते हैं; परजीवी बर्रें और मक्खियाँ कुछ सुंडी नाशकजीवों के शरीर में अंडे देती हैं; कुछ कवक एवम् जीवाणु नाशककीटों तथा अन्य प्राणियों में रोग उत्पन्न करते हैं, और कुछ कीट तो खरपतवारों को खा करके उनका नामोनिशान मिटा देते हैं.

नाशकजीव नियंत्रण की दो वैधानिक विधियाँ हैं: पादप संगरोध और विशिष्ट नाशकजीवों एवं रोगों के नियंत्रण के राष्ट्रीय एवम् स्थानीय नियम.

लाभदायक कीट

इसमें कोई सन्देह नहीं है कि हानिकारक कीटों द्वारा अपार क्षति होती है तथापि राष्ट्रीय समृद्धि में लाभकारी जातियों के योगदान की उपेक्षा नहीं की जा सकती.

परागणकारी कीट

कुछ प्रमुख फसलों, जैसे दाल, तम्बाकू, काली मिर्च, तिलहन, कपास, काफी इत्यादि तथा फलदायक पेड़ों में निषेचन प्रधानतः परागणकारी कीटों द्वारा ही होता है. इन कीटों द्वारा होने वाला लाभ समस्त कीटों द्वारा पहुँचाई जाने वाली क्षति से कहीं अधिक होता है. कीटों द्वारा परागण किए जाने वाले पुष्पों में प्रायः विशिष्ट रचनात्मक रूपान्तरण होते हैं, जिसमें मधुचूषण के लिए आने वाले कीटों की अनेक जातियाँ हैं. ये एक पुष्प के परागकण दूसरे पर ले जाकर परपरागण कर देती हैं. फूलों पर बैठने वाले अधिकांश कीटों में परागकणों को एकत्र करने तथा एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाने के लिए विशेष संरचनायें होती हैं.

वस्तुतः फूलों पर आने वाले सभी कीट परागण नहीं करते. अनेक कीट लारवे, थ्रिप तथा भृंग प्रायः फूलों को नष्ट कर देते हैं और उनके द्वारा केवल अकस्मात् ही परागण हो जाता है. इनके मुखांग मधुपान के लिए विकसित नहीं होते, और न ही परागकणों को झाड़ कर एकत्रित करने के लिए या ले जाने के लिए इनके शरीर पर रोम ही होते हैं. स्फेसिड बर्रें, छोटी जिह्वा वाली मधुमक्खी तथा कुछ तितलियों में मधुचूषण के लिए विशेष रूप से अनुकूलित मुखांग होते हैं, और उनका शरीर रोयेंदार होता है जिससे परागकणों को झाड़कर गिराने में सरलता होती है. बाज-शलभ (**डाइलेफिला** जातियाँ), मृत्यु-शिर शलभ (**ऐकेरानशिया** जातियाँ) तथा दूसरे स्फिंजिड शलभ एवं लम्बी जिह्वा वाली सामाजिक मधुमक्खियाँ, वास्तविक परागणकारी कीट हैं. कुछ मक्खियाँ, मांस-भक्षिकाएँ, बर्रें, चक्कर लगाने वाली भक्षिकायें तथा चींटियाँ भी महत्वपूर्ण परागणकारी कीट हैं. मधुमक्खियों में फूलों से इकट्ठे किए हुए परागकणों को दूर ले जाने के लिए विशेष पराग-कोष होते हैं. जिस प्रकार विभिन्न कीट पुष्प गमनानुकूली होते हैं, उसी प्रकार पुष्प भी विशेष प्रकार के कीटों के स्वागतानुकूल होते हैं. अंजीरों में यह वैशिष्ट्य अत्यन्त स्पष्ट होता है. इनका स्वयं का एक वर्ग है जिनमें अंजीर कीट अथवा ऐगेओनिटिड तथा कैल्सिड वर्रों जैसे **ब्लैस्टोफैगा** जातियों द्वारा परागण होता है. इसीलिए अंजीर के पौधे के अस्तित्व के लिए अंजीर कीट आवश्यक है. यही नहीं, अंजीर कीट भी अंजीर के बिना जीवित नहीं रह सकता. सामान्यतः मधुमक्खियों को केवल मधु एवम् मधु-मोम के उत्पादक के रूप में जाना जाता है, परन्तु फसलों, बगीचों और वन-वृक्षों के परागण में उनका अंशदान अधिक महत्वपूर्ण है.

हानिकारक खरपतवार के नाशक-कीट

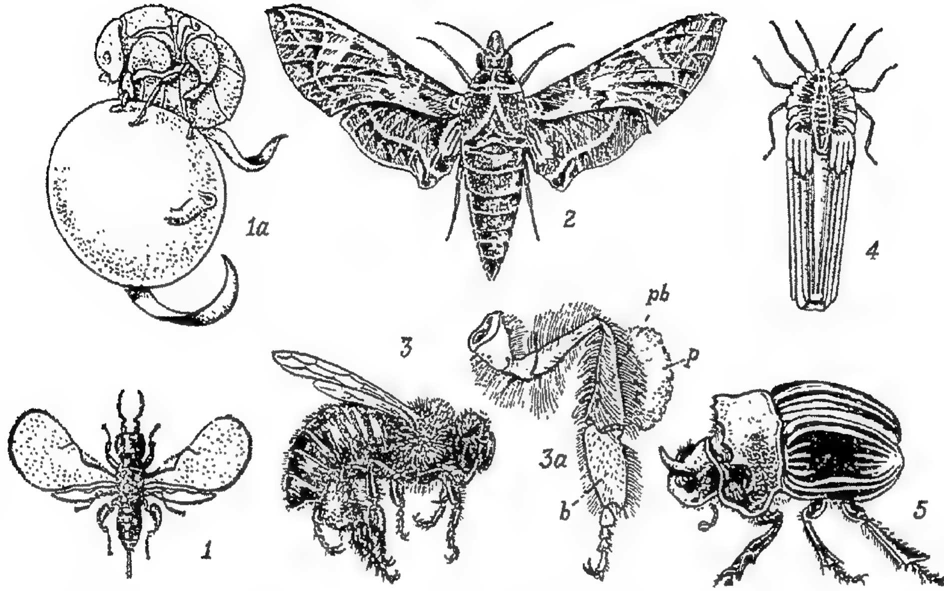
कीट न केवल कृष्ट तथा आर्थिक महत्व के पौधों पर वरन् खेत, बाग और बगीचों में उगे खरपतवारों पर भी आक्रमण करते हैं. अपतृण-नाशक-कीटों के कार्य के ज्ञान का बहुधा व्यावहारिक रूप में प्रयोग हुआ है. दक्षिण भारत में सर्वाधिक नाशकारी अपतृणों में नागफनी (**ओपंशिया** जाति) को मेक्सिको से लाए गए छोटे मीली बग, **डैक्टिलोपियस टोमेण्टोसस** (लिनिअस), ने लगभग पूर्णतया उन्मूलित कर दिया है. जो क्षेत्र नागफनी की झाड़ियों से ढँके होने के कारण प्रवेश्य नहीं थे वे पाँच-छः वर्षों में उपजाऊ और जोतने-बोने के योग्य बना दिये गये. ऐसा ही एक अन्य खरपतवार (**जैंथियम** जाति) जो ऑस्ट्रेलिया से भारत में आया था, अनेक कीट जातियों के आक्रमण द्वारा नियंत्रण में रखा जाता है. पहाड़ी बागानों में उगने वाला दूसरा हानिकारक अपतृण, लैण्टाना पर्याप्त सीमा तक लैण्टाना बग, **आर्थेजिया इंसिग्निस** डगलस (**काक्सीडी**) द्वारा, जो दूसरे पौधों पर भी आक्रमण करता है, नियंत्रित कर लिया गया है. परन्तु लैण्टाना बीज मक्खी, **ओफियोमाइया** (**एग्रोमाइजा**) **लैण्टानी** (**एग्रोमाइजिडी**) जो हवाई तथा दूसरे देशों में लैण्टाना को प्रभावी प्राकृतिक शत्रु जानी जाती है, और आस्ट्रेलिया से लाया गया लैण्टाना फोता बग, **टेलियोनेमिया स्कुपुलोसा स्टाल** (**टिंजिडी**), भारत में उपयोगी सिद्ध नहीं हुए हैं. भारत में प्राप्य जल कुम्भी (**आइखहार्निया** जातियाँ), **मिमोसा** जातियाँ, **ट्रिब्युलस** जातियाँ और **यूपैटोरियम** जातियों के नाशकजीवों पर अन्वेषण हो रहा है.

अपमार्जक

कुछ कीट मृत एवम् सड़ते जन्तुओं तथा वनस्पति-द्रव्यों को खाकर अपमार्जक का कार्य करते हैं. स्टैफिलिनिड भृंग, गोबरौड़ा या स्कैरैब भृंग, **हेलियोकाप्रिस ब्यूसेफैलस** फैब्रीसिकस (**काप्रिलिडी**), मृत लकड़ी के बेधक भृंग (**बास्ट्रीकिडी**), दीमक (**टर्मिटिडी**), कैरियान भृंग (**क्लेरिडी**), छाल तथा तना आदि के बेधक भृंग (**पैसैलिडी**, **स्कोलिटिडी**, **सैराम्बिसिडी**, इत्यादि), मांस की मक्खी (**सार्कोफैजिडी**), मंडराने वाली मक्खी (**सीरफिडी**), पैंच कृमि मक्खी (**मस्किडी**) तथा अनेक अन्य कीट प्राकृतिक अपमार्जक का कार्य करते हैं.

परभक्षी तथा परजीवी

कीटों का एक बड़ा वर्ग हानिकारक एवम् विनाशकारी कीटों के गुणन पर प्राकृतिक नियंत्रण रखने के कारण अप्रत्यक्ष रूप



चत्र 47 – उपयोगी कीट (परागणकारी, अपतृणनाशक तथा अपमार्जक) : (1) अंजीर परागणकारी बर्र (ब्लास्टोफैगा जाति), मादा (×8); (1*a*) अंजीर के पिटिकायुक्त फूल के अन्दर मादा को निषेचित करता हुआ नर; (2) बाज शलभ (डीलेफिला जाति) (×$\frac{4}{5}$); (3) कामिक मधुमक्खी पिछले पैर पर परागण पिंड सहित (×$2\frac{3}{4}$); (3*a*) कामिक की पिछली टाँग : *p*-पराग, *pb*–परागपेटिका, *b*-पराग ब्रश; (4) लैण्टाना बग (आर्येजिया इंसिग्निस डगलस) (×24); (5) मल-बेलक (हेलियोकॉप्रिस बूसेफैलस फैब्रीसिकस) (×$\frac{3}{5}$)

से लाभदायक है. परभक्षी कीट छोटे तथा असहाय कीटों अथवा अन्य प्राणियों का शिकार करके उन्हें अपना आहार बना लेते हैं. परजीवी धीरे-धीरे परपोषी की जीवन-शक्ति को समाप्त करके अंततः उसे मार डालते हैं.

परभक्षी कीट अनेक गणों तथा कुलों में पाए जाते हैं, जिनमें निम्नलिखित मुख्य हैं :

मैंण्टिड (गण – **मैण्टोडी**; कुल – **मैण्टिडी**) जैसे शिकारी मैण्टिस, **हीरोडुला कोआर्क्टाटा** सारे बड़े आकार के मांसाहारी कीट हैं. वातावरण से समरूप और समरंग होने के कारण ये सुरक्षित रहते हैं. इनका अग्र वक्ष लम्बा होता है और शिकार पकड़ने के लिए अग्रपाद चिमटी का रूप धारण कर लेते हैं. ये अनेक हानिकारक टिड्डों, तितलियों, भृंगों, घर की मक्खियों तथा अन्य नाशकजीवों को समाप्त कर देते हैं. भारत में ऐसी लगभग 100 जातियां हैं जो अपने जीवन की प्रत्येक अवस्था में परभक्षी हैं.

ड्रैगन मक्खियां (गण – **ओडोनेटा**) बड़े आकार वाली छरछरी कीट हैं. इनका सिर गतिशील, नेत्र बड़े और संयुक्त, वक्ष दृढ़, चार लम्बे संकुचित पंख तथा उदर लम्बा और पतला होता है. भारत में लगभग 700 जातियां ज्ञात हैं. ये सामान्यतः नम स्थानों में, जैसे नदी के किनारे, गड्ढों, कुंडों तथा दलदलों में पाई जाती हैं. लारवे तथा प्रौढ़ दोनों परभक्षी होते हैं और **डिप्टेरा, लेपिडोप्टेरा** तथा **हाइमेनोप्टेरा** को मुख्य रूप से खाते हैं. ये शिकार को पंखों द्वारा पकड़ते हैं और उड़ते हुए ही सिर को सामने करके तथा पैरों में पकड़ कर उसे खा लेते हैं. लारवा जल में रहता है, जहाँ यह छोटे कीड़ों, मच्छरों, मक्खियों तथा दूसरे जलीय कीटों के लारवों और प्यूपों का भक्षण करता है. यह सम्पूर्ण वर्ग विशेष रूप से लाभकारी है और मच्छर तथा मक्खियों का प्राकृतिक नियंत्रक है.

लेसविंग मक्खी या ऐंट लायन (गण – **न्यूरोप्टेरा**; कुल – **क्राइसोपिडी**) छोटे कोमल कीड़े हैं जिनका रंग हरा या पीला होता है, चमड़ा मजबूत और मैंडिबल दृढ़ और हँसिये के आकार का होता है. लारवों में आश्चर्यजनक भूख होती है. ये एफिड तथा माइट के शरीर को बेधकर उनके शरीर का रस चूस लेते हैं. **क्रिसोपा** वंश समस्त संसार में पाया जाता है.

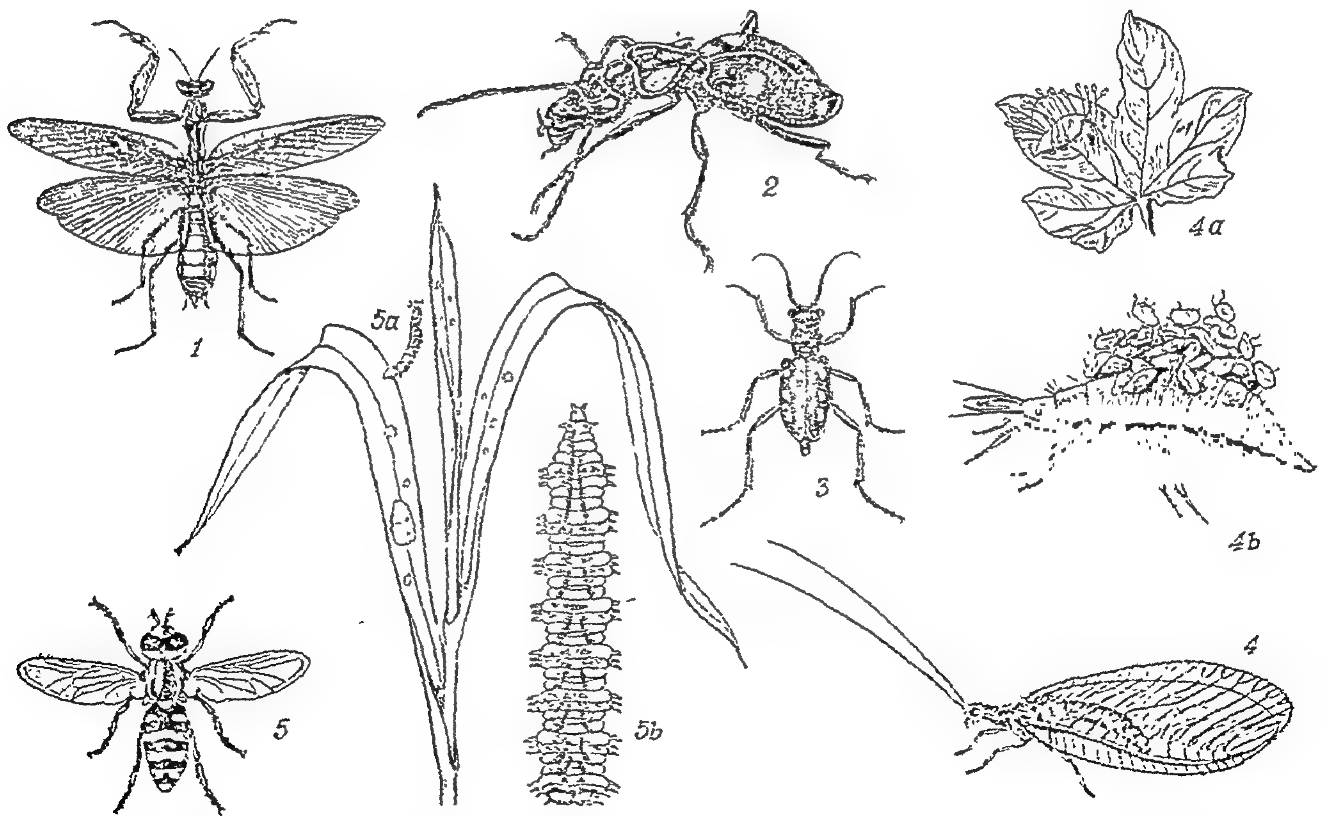
बीटलों (गण – **कोलिओप्टेरा**) में अनेक लाभकारी परभक्षी भृंग सम्मिलित हैं. इनके प्रधान कुल हैं: **कैराबिडी, सिसिंडेलिडी, डीटिसिडी, जाइरिनिडी, स्टेफिलिनिडे, हिस्टेरिडी, कैन्थेरिडी, मेलायडी** तथा **कॉक्सिनेलिडी**. ये हर प्रकार के

कीटों पर, जिनमें अनेक हानिकारक कीट भी सम्मिलित हैं, आक्रमण करते हैं. हिस्टेरिड कीट सामान्यतः हानिकारक क्रिसोमेलिड भृंगों, मक्खी के लारवों तथा सूँडियों का शिकार करते हैं. **कैथेरिड** और **मेलायड** लारवे फुदक्कों तथा टिड्डियों के अण्डों को नष्ट कर देते हैं.

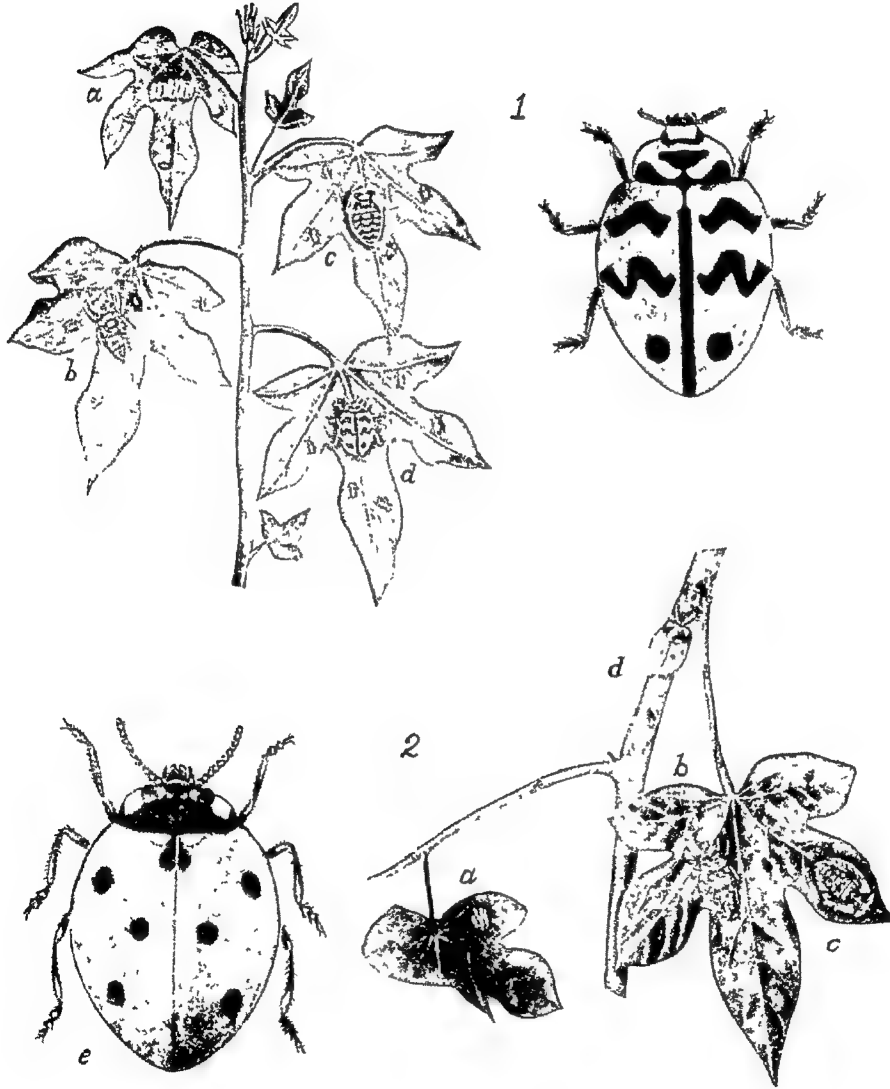
भू-भृंग (**कैराबिडी,** जैसे **एन्थिया सेक्सगुटेटा** फैब्री-सिकस) छोटे तथा बड़े दोनों आकार के होते हैं. इनका रंग घूमिल अथवा चमकीला धात्विक तथा शरीर पर मोटा काइटिनी कवच होता है. ये लम्बी टाँग वाले, वेगगामी तथा अधिकतर भूमि पर पत्थर और छाल के नीचे अथवा काई एवं सड़ी लकड़ी इत्यादि में रहने वाले निशिचर हैं. लम्बे शरीर तथा तीक्ष्ण बाहर निकली मैंडिबल वाले लारवे, जिनके पश्चांग में दो शूक प्रवर्ध होते हैं, वयस्कों की भाँति इन्हीं स्थानों में रहते हैं. लारवा एवम् वयस्क दोनों सूँडियों, ग्रबों, टिड्डों तथा घोंघों का शिकार करते हैं.

टाइगर बीटल (**सिसिण्डेलिडी**), जैसे **सिसिण्डेला सेक्स-पंक्टेटा फैब्रीसिकस**) मध्यम आकार के छरहरे प्राणी हैं. इनकी चिबुकास्थि लम्बी, दाँतेदार, वक्र, तथा टाँगें लम्बी और पतली होती हैं. इनका रंग घूमिल या चमकीला धात्विक होता है. शरीर पर रंगीन धारियाँ अथवा धब्बे बने होते हैं. ग्रब बेलनाकार होते हैं. इनका सिर बड़ा, तश्तरी की तरह, मुखांग सुदृढ़ तथा पाँचवें उदर-खंड के पृष्ठ भाग पर एक अंकुश जैसा प्रवर्ध होता है. ये भूमि में सीधे अथवा टेढ़े छेदों में रहते हैं, जहाँ ये उस ओर से जाने वाले शिकार की प्रतीक्षा करते रहते हैं. वयस्क अधिकतर सतह पर रहते हैं, और कीटों तथा दूसरे छोटे जीवों का शिकार करते हैं.

लेडीबर्ड भृंग (**काक्सिनेलिडी,** जैसे **काक्सिनेला सेप्टम-पंक्टेटा** लिनिअस) छोटे आकार के, अंडाकार अथवा गोलाकार, घूमिल या चमकीले रंग वाले होते हैं. शरीर पर प्रायः धब्बे या धारियाँ होती हैं, जो जातीय तथा लैंगिक भिन्नता की सूचक हैं.



चित्र 48 – उपयोगी कीट (परभक्षी) : (1) शिकारी मैंण्टिस (हीरोडूला कोआर्वटाटा सासरे (×½); (2) भू-भृंग (एन्थिया सेक्सगुटेटा फैब्रीसिकस) (प्राकृतिक आकार); (3) चीता भृंग (सिसिडेला सेक्सपंक्टेटा फैब्रीसिकस) (×½); (4) लेसविंग (क्रायसोपा जाति) वयस्क मक्खी (×4); (4a) पत्ती पर दिए अंडों का समूह; (4b) पूर्ण विकसित लारवा उस एफिड के खोल के साथ जिसे वह खा गया है (×5); (5) मंडराने वाली मक्खी (सिरफस जाति) (×2); (5a) गेहूँ के पौधे पर एफिड खाता हुआ लारवा; (5b) पूर्ण विकसित लारवा (×5)



परभक्षी कीट – लेडीवर्ड भृंग

(1) काइलोमेनेस सेक्समेकुलेटा (×8); (2) काक्सिनेला सेप्टम-पंक्टेटा : (*a*) अण्ड समूह, (*b*) लार्वा, (*c*) प्यूपा, (*d*) इमेगो (पूर्णकीट); (*e*) पूर्ण विकसित भृंग, लारवा और इमेगो पौधे के एफिड को खाते हुए

पंख भली-भाँति विकसित होते हैं. लारवे चौड़े शुंडाकार होते हैं. इनके शरीर पर मस्से, मोमी वलयक तथा काँटे होते हैं. ये धूमिल रंग वाले या चमकीले बिन्दुओं से पूर्ण होते हैं. लेडीबर्ड भृंग, लारवा तथा वयस्क दोनों अवस्थाओं में, छोटे कीट, माइट तथा कीटों के अंडों का शिकार करते हैं. ये ऐफिड, श्वेत मक्खी और मीली बग को, जो विशेषकर धान्य फसल को हानि पहुँचाते हैं, नष्ट कर देते हैं.

लेडीबर्ड भृंग की अनेक जातियों के प्राकृतिक परपोषी सीमित होने के कारण संसार के अनेक भागों में इनके द्वारा फसल और बगीचों के नाशकजीवों पर जैविक नियंत्रण प्राप्त करने में सफलता प्राप्त हुई है. **काइलोमेनेस सेक्समैकुलेटा** फैब्रीसिकस का केवल एक लारवा लगभग 200 ऐफिड प्रतिदिन खाता है. **क्रिप्टोलीमस** जाति अपने जीवन काल में **स्यूडोकोकस सिट्राइ** रिसो के 1,325 अंडों का और **हाइपेरैस्पिस विनोटेटा** के 90 वयस्क काक्सिडों तथा 3,000 निम्फों का भक्षण करता है. रुइया शल्क अथवा फ्लूट शल्क, **पेरिसरिया (आइसरिया) पर्चेसी,** जो सिट्रस एवम् वैटिल जैसे फलदार पेड़ों का प्रधान नाशकजीव है, एक आस्ट्रेलियाई लेडीबर्ड भृंग, **रोडोलिया कार्डिनैलिस** द्वारा भली-भाँति नियन्त्रित हो चुका है. यह लारवा तथा वयस्क दोनों अवस्थाओं में फ्लूट शल्क के अंडों और निम्फों को खाता है. सिट्रोफिलस मीली बग, **पल्विनैरिया** जाति को नियंत्रित करने के लिए 1898 में **क्रिप्टोलीमस मॉण्ट्राउजिराई** भारत में लाया गया. 1952–53 में तमिलनाडु में काफी के हरे बग, **लेकैनियम विरिडे**, तथा दूसरे फलदार पौधों के स्केली नाशकजीवों के विरुद्ध **काइलोकोरस निग्रीटस** फैब्रीसिकस का प्रयोग किया गया. प्रारंभिक परीक्षणों से ज्ञात हुआ है कि इन परभक्षी का उपयोग रासायनिक विधियों के सम्पूरक के रूप में किया जा सकता है. किन्तु यह स्वयं प्रभावशाली नहीं है क्योंकि इसकी जनन क्षमता कम है.

अन्य लाभकारी जातियाँ हैं: **सीमनस न्यूविलंस** जो लारवा और वयस्क अवस्थाओं में ऐफिड तथा गन्ने की श्वेत मक्खी का शिकार करते हैं; **स्टेथोरस टेट्रानिकाई** कपूर, जो माइट भक्षी है; **जुआर्डिया सॉरर** वाउजे, जो शल्की कीट, सिट्रस श्वेत मक्खी तथा माइट का भक्षण करते हैं, और **सीनोनाइचा** जातियाँ जो बाँस के ऐफिड को खाते हैं.

मक्खियाँ (गण – **डिप्टेरा**) – **डिप्टेरा** के अन्तर्गत परभक्षी तथा परजीवी दोनों कीट आते हैं. जो सामान्यतः **हाइमेनोप्टेरा** की भाँति ही कीटाहारी हैं. **रेजिआनिडी, टेबैनिडी, आक्यिफिलिडी** तथा **क्लोरोपिडी** कुलों की मक्खियाँ पूर्णतया परभक्षी हैं. **इटोनिडिडी** (मिज) कुल के कीट अधिकतर हानिकारक ऐफिड, काक्सिड, थ्रिप, श्वेत मक्खी, साइलिड तथा माइट्स का भक्षण करते हैं. **सार्कोफेजिडी** और **फोरिडी** में परभक्षी एवं परजीवी दोनों जातियाँ पाई जाती हैं. **डॉलिकोपोडिडी** कुल के सदस्य बहुत से कीटों, विशेषकर **कोलेम्बोला**, का शिकार करते हैं. कुछ बाम्बीलिआइड जातियाँ, जो अनेक लाभकारी हाइमेनॉप्टेरा तथा डिप्टेरा पर आक्रमण करती हैं, निश्चित रूप से हानिकारक हैं.

मँडराने वाली मक्खियाँ अथवा पुष्प मक्खियाँ (कुल – **सिरफिडी**) छोटे, चमकीले रंग के कीट हैं, जो परागकण तथा मधु के लिए फूलों पर आते हैं. इनके लारवों की आकृति और स्वभाव में काफी भिन्नता होती है. कुछ पादप-ऐफिड-भक्षी होते हैं; कुछ सड़े-गले पशु अथवा वनस्पति द्रव्य में तथा अन्य कूड़े-करकट में रहते हैं. **सिरफस काल्फ्रेटर** वीडेमान कपास, गेहूँ, करमकल्ला, गुलदाऊदी और सरसों के ऐफिड को खाता है. पंजाब में यह ऊनी एफिस, **एरिओसोमा लैनिजेरम** का शिकार करता है.

रॉबर मक्खियाँ (कुल – **एसिलिडी**) बड़ी, लम्बी छरहरी होती हैं. इनका रंग धूमिल होता है और शरीर रोमों या शूकों से ढका रहता है. वयस्क मक्खियाँ उड़ते हुए ही शिकार पकड़ती हैं. लारवे मिट्टी, मलवा और सड़ी लकड़ी में रहने वाले कीटों का भक्षण करते हैं.

ल्यूकोपिस ल्यूटीकार्निस (कुल – **आक्यिफिलिडी**) ऐफिड तथा मीली बग का भक्षण करता है. अनेक **क्लोरोपिड** प्रायः विभिन्न टिड्डों के अंडों पर आक्रमण करते हैं. कुछ एन्थोमिआइड मक्खियों के लारवे भी टिड्डियों के अंडों का भक्षण करते हैं.

घातक बग (गण – **हेटेरोप्टेरा**; कुल – **रेडुविआइडी**, जैसे **आइसिण्डस हेरॉस** फैबीसिकस) मध्यम आकार के कीट हैं. इनका रंग धूमिल अथवा एकदम चटक तथा चंचु दृढ़ और वक्र होती है. ये अधिकांशतः कीटभक्षी हैं और फसल को हानि पहुँचाने वाले ऐफिडों, पत्र-फुदक्कों तथा सूँडियों को खाते हैं. ये अपने काँटेदार अग्रपाद में शिकार को मजबूती से पकड़ कर उसके शरीर का रस चूस लेते हैं. पेंटाटोमिड बग, **पेरिल्लस** जाति अनेक हानिकारक **कोलियोप्टेरा** के लारवों पर आक्रमण करता है. लीजिआइड बग की कुछ जातियाँ पादप-माइटों पर आक्रमण करती हैं.

चींटियाँ और बर्रे (गण – **हाइमेनॉप्टेरा**) भारत के प्रमुख लाभकारी कीटभक्षी प्राणी हैं. इस वर्ग में बहुत से महत्वपूर्ण लाभदायक परभक्षी सम्मिलित हैं.

चींटियाँ (कुल – **फार्मिसिडी**) **हाइमेनॉप्टेरा** गण के प्रमुख परभक्षी सदस्य हैं. इनकी खाने की आदतों में प्रचुर भिन्नता है. इनमें पादप रस-चूषक से लेकर पूर्ण मांस भक्षी तक सम्मिलित हैं. परभक्षी चींटियाँ सामान्य आहारी हैं और उन सभी कीटों तथा अन्य छोटे प्राणियों पर आक्रमण करती हैं जो रास्ते में मिलते हैं और भाग कर अपनी रक्षा नहीं कर पाते. भारत में इनकी सैकड़ों जातियाँ पायी जाती हैं.

बर्रे (कुल – **स्फेसिडी, स्कोलिआइडी** तथा **यूमेनिडी**) लड़ाकू जीव हैं. इनका रंग चेतावनी देने वाला होता है. शिकार पर आघात करके उसे पंगु बनाने के लिए इनके शरीर में दंशन-तंत्र होता है. ये या तो पंक-कोशिका बनाती हैं या भूमि में छेद करती हैं और उन्हें लुंज किये गये निश्चल टिड्डों, झींगुरों, तिलचट्टों, मकड़ियों, सूँडियों और दूसरे कीटों से भर लेती हैं. ये अंडजोत्पन्न ग्रब के भोजन का काम देते हैं.

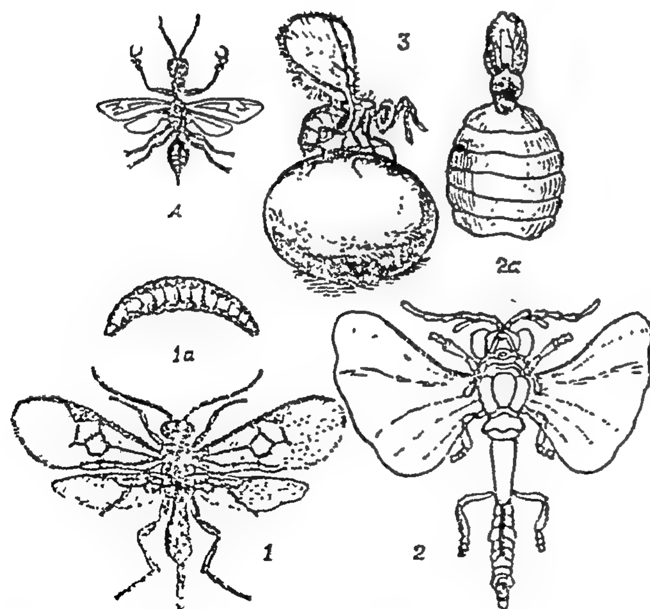
स्फेसिड कीट (**स्फेसिडी**) झींगुर, टिड्डे और **वाल्विक्स** जातियों का भक्षण करते हैं. ये मक्खियों का भी शिकार करते हैं. स्कोलिआइड बर्रे, यथा **स्कोलिया क्वाड्रीपस्टेलैटा** फैब्रीसिकस (**स्कोलिआइडी**), भृंगों पर आक्रमण करती हैं. **यूमेनेस एस्यूरिएन्स** फैब्रीसिकस (**यूमेनिडी**) और **सेलिफ्रॉन मैड्रासपटनम** फैब्रीसिकस (**स्फेसिडी**) लुंज की गई शलभ इल्लियों को अपने पंक-निलय में संग्रह कर लेते हैं.

बहुत से थ्रिप (गण – **थाइसैनॉप्टेरा**) खेती को फसलों को हानि पहुँचाते हैं, परन्तु **स्कोलोथ्रिप** की कुछ जातियाँ लाभकारी

हैं. ये हानिकारक माइटों की अनेक जातियों को नष्ट कर देते हैं.

लेपिडोप्टेरा प्रधानतः पादपभोजी हैं और अनेक बार ये अत्यधिक हानिकारक हो जाते हैं; तथापि इनमें भी बहुत-सी जातियाँ पर-भक्षी हैं. लाइकीनिड तितलियों की सूडियाँ, ऐफिड, काक्सिड, फ़ल्गोरिड तथा जैसिड कीटों को नष्ट कर देती हैं. **यूब्लेमा** (**नाक्टुइडी**) की कुछ जातियाँ लाक्षाकीट को हानि तो पहुँचाती हैं, परन्तु **पल्विनेरिया** जाति के काक्सिडों का भक्षण भी करती हैं.

परजीवी परभक्षियों से इस बात में भिन्न हैं कि ये शिकार को मारते नहीं वरन् परपोषियों के सजीव पदार्थ को विनीत भाव से खाते रहते हैं. ये कीटों के अनेक गणों में पाए जाते हैं, यथा **लेपिडोप्टेरा**, **स्ट्रेप्सिप्टेरा**, **हाइमेनोप्टेरा** तथा **डिप्टेरा**. कुछ परजीवी कीट केवल एक परपोषी पर और कुछ एक से अधिक परपोषियों पर आक्रमण करते हैं. कीटों की प्रत्येक जाति प्रत्येक अवस्था पर एक या एक से अधिक जातियों वाले परभक्षी अथवा परजीवी कीट का शिकार बन सकती हैं. कुछ कीटों के भक्षियों तथा परजीवियों की संख्या अधिक होती है: जैसे कि, सामान्य सिट्रस मीली बग, **स्यूडोकोकस सिट्राइ** रिसो, पर लेडीबर्ड भृंग की 8 विभिन्न जातियों के लारवे तथा वयस्क, **डिप्टेरा** की 6 परजीवी और परभक्षी जातियाँ, क्रीसोपीड कीटों की 4 जातियाँ और परजीवी **हाइमेनोप्टेरा** की कम से कम 8 जातियाँ आक्रमण करती हैं. स्वयं हानिकारक जातियों के पर-जीवी कीटों पर भी प्रायः दूसरे परभक्षी अथवा परजीवी



चित्र 49 – परजीवी : (1) एपैण्टेलिस प्यूसीन्सिस लाल, **वयस्क मादा (×9); (1a) ग्रब; (2) स्टाइलोप्स** जाति, **नर (×9); (2a) मादा (×9); (3) ट्राइकोग्रामा** जाति **की वयस्क मादा शलभ के अंडे के अन्दर अंडे देने को तैयार (×16); (4) लेस्ट्रोड्राइनस पाइरिली**

आक्रमण करते हैं, जिससे गौण परजीविता स्थापित होती है. गौण परजीवी पर भी बहुधा तृतीय परजीवी अथवा परात्परजीवी का आक्रमण होता है.

एपिपाइराप्स फुलजिनोसा टैम्स (गण – **लेपिडोप्टेरा**; कुल – **एपिपाइरोपिडी**) जैसी कुछ परम लाभकारी जातियाँ भारत में गन्ने को हानि पहुँचाने वाले पाइरिल्ला के लिए परजीवी हैं.

स्टाइलाप्स (गण – **स्ट्रेप्सिप्टेरा**) एक छोटा कीट समुदाय है जो अनेक हानिकारक झींगुरों, टिड्डियों, पेण्टाटोमिड, फुल्गोरिड, जैसिड, मत्कुणों, बर्रों, हाड़ों तथा अन्य कीटों पर परजीवी हैं. भारत में गन्ने के पाइरिल्ला पर स्टाइलाप्स की एक जाति आक्रमण करती है. इसकी मादा ह्रासी पंखहीन ग्रब जैसे रूप की होती हैं. परन्तु नर पंखधारी होता है. लारवे परपोषी की देह-गुहा में रहकर उसके रक्त तथा दूसरे तरल को चूसते रहते हैं.

इकन्यूमॉनिड, ब्रैकोनिड तथा कैलसिड बर्रें (गण – **हाइमेनोप्टेरा**) महत्वपूर्ण परजीवी हैं. **इकन्यूमॉनिड** बर्रें (**इकन्यूमॉनिडी**) अधिक-तर **लेपिडोप्टेरा**, **कोलिऑप्टेरा**, **हाइमेनोप्टेरा** और **डिप्टेरा** के लारवों पर परजीवी होती हैं. इस कुल की अनेक उपकारी जातियाँ, **एमब्लीटेलीज**, **एनजीटिया**, **कैम्पोप्लेक्स**, **नेमेरिटस** तथा **जैन्थोपिम्पला** वंशों से सम्बन्धित हैं.

प्रधान शस्य नाशकजीवों पर परजीवी होने के कारण **ब्रैको-निडी** और **विपिऑनिडी** आर्थिक दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं. ब्रैको-निडी कीट **लेपिडोप्टेरा**, **हाइमेनोप्टेरा**, **कोलिऑप्टेरा** और **डिप्टेरा** के लारवों पर परजीवी होते हैं. भारत में **माइक्रोब्रैकन ग्रीनाई** ऐशमियड कपास के ढोंडाकृमि का प्रधान परजीवी है. **एपैण्टेलीज** जातियाँ अनेक हानिकारक **लेपिडोप्टेरा** पर आश्रित होती हैं, जिसमें बहुधा क्रूसिफेरी फसल का प्रभावशाली नाशक-कीट **पिएरिस ब्रासिकाई** लिनिअस सम्मिलित होता है. **ओपियस** जातियाँ खीरा, आम, नींबू, अमरूद, बेर इत्यादि पर लगने वाली फल-मक्खियों के मैगट पर परजीवी हैं.

कैल्सिडॉयडिया सर्वाधिक महत्वपूर्ण परजीवी **हाइमेनोप्टेरा** हैं, जिनकी भारत में 2,000 जातियाँ ज्ञात हैं. ये छोटे से लेकर सूक्ष्म आकार तक के कीट हैं जिनका रंग चमकीला, धात्विक हरा अथवा नीला होता है. ये कीट वर्ग के लगभग सभी वर्गों जिनमें दूसरे कैल्सिड भी सम्मिलित हैं, के अंडे लारवा और प्यूपा पर परजीवी होते हैं. परात्परजीविता की प्राथमिक तथा विभिन्न श्रेणियाँ इनमें पाई जाती हैं. पुनरुत्पादन बहुभ्रूणीय होता है. कैल्सिड परजीवी, **पोडैग्रिऑन** जाति, मैण्टिड के अंड-पिंडों पर आक्रमण करता है. **ब्रैकीमेरिया**, **कैल्सिस**, **स्मिक्रा** और **स्टोनेटोसेरस** की कई जातियाँ हानिकारक इल्लियों पर परजीवी हैं. **डिरहाइनस** जाति मक्खी के मैगट पर आश्रित रहती है. **एन्सीरटिडी** कुल मीली बगों, शल्क कीटों तथा अनेक दूसरे हानिकारक काक्सिडों का प्राकृतिक शत्रु है. **ऊएनसिरटस पाइरिली** और **एगैनिएस्पिस पाइरिली** मणि गन्ने के पाइरिल्ला के अंड पर परजीवी हैं. **स्कुटेलिस्टा सीआनिया** मातचल्स्की (**टेरोमैलिडी**) काले शल्क कीट पर और उसी कुल के **ऐप्लैस्टोमॉर्फा फेलेण्ड्री** हावर्ड चावल के घुन पर आक्रमण करते हैं. **ऐस्पीडिओटिफैगस सिट्रीनस** लाभकारी परजीवी है जो सिट्रस के नाशक शल्क कीट पर नियंत्रण करने के लिए अमेरिका से भारत में लाया गया है.

ट्रिकोग्रैमा इवानेसेंस वेस्टवुड बहुत से **लेपिडोप्टेरा** का अंड-परजीवी है. नागीन विपत्रकों और गन्ना वेधकों पर नियंत्रण

के लिए इसको कृत्रिम रूप से पाल कर बड़ी संख्या में खेतों में छोड़ दिया गया है. **सेरफॉयडिया** अथवा **प्राक्टोट्रीपायडिया** में कुछ लाभकारी परजीवी सम्मिलित हैं. **सेलिओ** जाति फुदक्कों और टिड्डियों का अंडपरजीवी है. **टेलेनामस** जाति अनेक पेण्टाटोमिड वर्गों के अंडों पर आक्रमण करती है. **टी. बेनेफिशिएन्स** गन्ने के तना बेधक, **डायाट्रोइया** जाति का अंडपरजीवी है. **टेलेनॉमस** की दूसरी जातियाँ ज्वार, चावल इत्यादि के शलभ बेधकों के अंडों पर आश्रित होती हैं. **प्लैटीगैस्टेरिडी** गालमिजों के लारवा की परजीवी हैं जिसमें धान के गालमिज **पैकीडिप्लोसिस** ओराइज़ा (वुडमेसन) मणि भी सम्मिलित है. **एमिटस एल्युरोलोबी** मणि बहुधा गन्ने की श्वेत मक्खी, **एल्युरोलोबस बैरोडेन्सिस** को नष्ट कर देता है. **बैथोलॉयडिया** उच्च कुल के अन्तर्गत **लेस्ट्रोड्राइनस पाइरिली** तथा **स्यूडोगोनेटोपस पाइरिली** मणि जैसी लाभकारी जातियाँ हैं जो ईख पाइरिला पर परजीवी हैं. मादायें पाइरिला के निम्फों को पकड़कर उन पर अंडे दे देती हैं और फिर छोड़ देती हैं. शीघ्र ही उस स्थान पर अर्बुद जैसी सूजन हो आती है और अंत में परपोषी मर जाता है. इवानिड वर्ग, जिनकी भारत में अब तक लगभग 100 जातियाँ ज्ञात हो पाई हैं, तिलचट्टों के अंडों पर परजीवी है. **इवानिआ ऐपेण्डिगैस्टर** लिनिअस विश्वव्यापी जाति है. यह समस्त भारत में पाई जाती है और घरों में पाए जाने वाले घृणित तिलचट्टों, **पेरीप्लैनेटा अमेरिकाना** लिनिअस, की प्राकृतिक शत्रु है.

सीर्टिडी, नेमेस्ट्रिनिडी, पिपंकुलिडी, कोनोपिडी, एग्रोमीजिडी तथा **टैकिनिडी** कुलों से सम्बन्धित मक्खियाँ (गण – **डिप्टेरा**) परजीवी हैं और अधिकांश दशाओं में केवल लारवे ही परजीवी होते हैं. **पिपंकुलिडी** के लारवे होमोप्टेरस वर्गों के निम्फों और वयस्कों के अंतरपरजीवी होते हैं. यद्यपि **एग्रोमीजिडी** सामान्यतः पादपाहारी हैं, परन्तु **क्रिप्टोकायटम** फ्लूट शल्क तथा दूसरे बड़े मीलीवर्गों पर परजीवी हैं. **टैकिनिडी** में **स्टर्मिश्रा, साइफोसेरा, टैकिनिश्रा विन्थेमिश्रा** और **एक्सोरिस्टा** वंश सम्मिलित हैं. ये धान के आर्मीवार्म, चाय स्लग तथा फलों के शलभ के लारवों जैसे नाशकजीवों पर आश्रित रहते हैं. दूसरे महत्वपूर्ण नाशकजीवों पर, जैसे धान के तने बेधक, तम्बाकू की इल्ली, चने की इल्ली, लाल रोएँदार इल्ली तथा धान की चल इल्ली पर एक या एक से अधिक वर्ग, मक्खी अथवा परजीवी आक्रमणकारी होते हैं. इन लाभकारी कीटों का उपयोग अनेक शस्य-नाशकजीवों पर नियंत्रण करने के लिए किया जाता है.

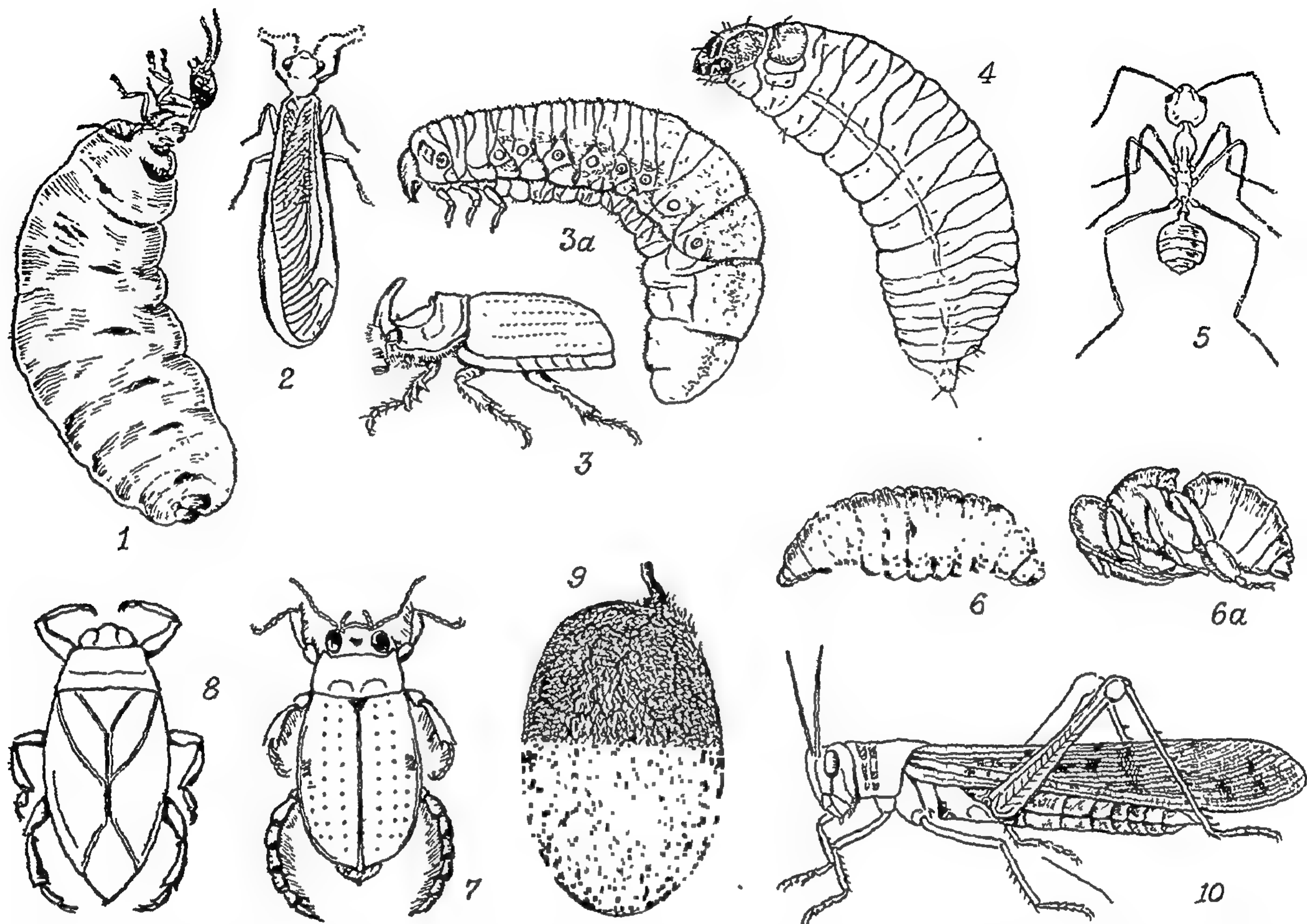
खाद्य कीट

कुछ पक्षियों, स्तनियों तथा अनेक मछलियों का आहार केवल कीट हैं. नदियों और तालाबों में रहने वाली खाद्य मछलियाँ अपने आहार के लिये अधिकतर अथवा पूर्णतया जलीय और अन्य कीटों पर निर्भर करती हैं. ये कीट प्रायः मक्खियाँ तथा उनके लारवे कैडिस वार्म भृंग, मच्छर, नैट और उनके लारवे होते हैं. मछली पकड़ने के लिए अनेक कीटों को चारे के रूप में प्रयुक्त किया जाता है. पालतू कुक्कुट तथा बहुत से शिकार किए जाने वाले और सुंदर पक्षी अधिकतर कीटभक्षी होते हैं. साधारण मैना का आहार विशेषतः टिड्डे ही हैं.

उत्तरी अमेरिका में अनेक आदिम जातियाँ और ऑस्ट्रेलिया में आदिवासी कीटों को खाते हैं. दुर्भिक्ष काल में **कोलियोप्टेरा** तथा अन्य वर्ग के कीट ही खाद्य के रूप में काम आते हैं. ऑस्ट्रेलिया, अफ्रीका, एशिया और अमेरिका के कुछ भागों में कीटों को सेब, पालक अथवा अन्य खाद्यों के साथ स्वादिष्ट पदार्थ या प्रमुख भोजन के रूप में खाया जाता है. अरब, बलूचिस्तान तथा सिंध के मरुस्थली क्षेत्रों में टिड्डियों को बोरों में एकत्र करते हैं, फिर उन्हें उबालकर तथा नमक मिलाकर सुखा लेते हैं और आवश्यकता पड़ने पर खाते हैं. ऊँटों, पशुओं तथा कुक्कुटों को शुष्क टिड्डियाँ खिलाई जाती हैं. चीनी लोग तिलचट्टे और सिल्कवर्म क्रीसैलीड को, जावा निवासी दीमक तथा कुछ कीट लारवा, मेक्सिको वासी जलमत्कुण, इटली के किसान काकचेफर, और अनेक यूरोपियन कोचीनियल कीट तथा चीजमाइट खाते हैं. कीड़े पोषक माने जाते हैं. भारत में केवल संक्षिप्त प्रमाणों के अतिरिक्त खाद्य कीटों पर कोई विस्तृत विवरण उपलब्ध नहीं है. **कोलिओप्टेरा, हेटेरोप्टेरा, होमोप्टेरा, ओर्थोप्टेरा, हाइमेनोप्टेरा** तथा **डिप्टेरा** वर्ग के कुछ कीट खाने के काम आते हैं. श्याम निवासी राइनोसिरस भृंग (**ओरीक्टेस राइनोसिरस** लिनिअस) और उनके लारवों को नमक के साथ भून कर खाते हैं. श्याम और भारत में लालताड़ घुन, **रिंकोफोरस फेरुजीनियस** ओलिवर जो नारियल तथा अन्य ताड़ों का नाशकजीव है, और नरम अंकुरित बाँस के बेधक, **क्राइटोट्रैकेलस लोंगीपेस** फैब्रीसिकस और **का. डक्स** को एकत्र कर खाने के लिए भून या तल लिया जाता है. भूतपूर्व सेंट्रल प्राविंस (अब मध्य प्रदेश) के बस्तर राज्य के मुड़िया लोग तथा कनारा के आदिवासी **प्रोटोसेरियस फर्विडस** (**कुर्कलिओनिडी**) के श्वेत, मोटे घुन लारवों को **फोनिक्स एकाउलिस** रॉक्सबर्ग के कंदीय तनों से एकत्र करके कच्चा अथवा महुआ के तेल में भून कर चावल के साथ खाते हैं. जलीय भृंग (**डाइटिसिडी** तथा **हाइडोफिलिडी**) औषधि एवम् मिठाई के रूप में खाए जाते हैं. भारत में बहुधा पाए जाने वाले वयस्क तथा अवयस्क जलीय भृंगों, **एरेटेस** (**यूनेक्टेस**) **स्टिक्टीकस** लिनिअस को ब्रह्मा निवासी स्वादिष्ट पदार्थ के रूप में खाते हैं.

भारत, चीन और श्याम में दुर्गन्धयुक्त वग (**पेण्टैटोमिडी**) तथा जलीय वग (**बेलॉस्टोमिडी**) की कुछ जातियाँ खाई जाती हैं. श्याम वासी **सिकैडिडी** की एक जाति को भी खाद्य पदार्थ मानते हैं.

असम में कुछ आदिवासी भूटान, असम और चीन में पाए जाने वाले **कोरीडियस** (**ऐस्पांगोपस**) **चाइनेन्सिस** (डल्लाम) (**पेण्टाटोमिडी**) को खाने के काम में लाते हैं. **कोरीडियस** (**ऐस्पांगोपस**) **नेपालेन्सिस** (वेस्टवुड) भी खाने के काम आता है. इसको चावल में पीस कर मिलाने से सुगंधमय स्वाद आता है. **साइक्लोपेल्टा सबहिमालएन्सिस** (**पेण्टैटोमिडी**) असम में सर्वत्र पाया जाता है, जहाँ इसे चावल के साथ खाते हैं. विभिन्न रंगों वाली **एर्येसिना फुलो** वनवर्ग (**पेण्टैटोमिडी**) जाति, जो अनेक पेड़ों के तनों पर निर्वाह करती है, भारत में सर्वत्र पायी जाती है. इसे असम में नागा लोग खाते हैं. बड़ा जलीय वग, **लियोसेरस** (**बेलोस्टोमा**) **इंडिकस** (**बेलोस्टोमिडी**) भी सब स्थानों में पाया जाता है. इसे पानी में जाल डालकर पकड़ा जाता है और पकाया जाता है. भारत तथा श्याम में सामान्यतः पाए जाने वाले छोटे, चपटे और हल्के हरे जलीय वग **स्फीरोडेमा** (**बेलोस्टोमिडी**) की दो जातियाँ, **स्फी. रस्टिका** फैब्रीसिकस और **स्फी. मालेस्टम** स्वादिष्ट खाद्य समझी जाती हैं.



चित्र 50 – खाद्य कीट : (1) रानी दीमक; (2) सपक्ष दीमक (प्रजनक रूप) ($\times 1\frac{1}{3}$); (3) राइनोसेरस भृंग (ओरीक्टेस राइनोसेरस लिनिअस) (लगभग असली आकार); (3*a*) लारवा ($\times 2$); (4) लालताड़ घुन का लारवा (रिंकोफोरस फेरुजीनियस ओलिवर) ($\times 1\frac{1}{2}$); (5) लाल चींटी (ईकोफाइला स्मारेग्डिना फैब्रीसिकस) · ($\times 3$); (6) मधुमक्खी का लारवा ($\times 3$); (6*a*) प्यूपा ($\times 2\frac{1}{4}$); (7) जलीय भृंग (एरेटेस स्टिक्टीकस लिनिअस) ($\times 2$); (8) जलीय भीम बग (लियोसेरस इंडिकस) ($\times \frac{1}{2}$); (9) जंगली रेशमी कीड़े का कोया (एन्थेराइया पैफिया लिनिअस); (10) रेगिस्तानी टिड्डी (शिस्टोसर्का ग्रेगैरिया फोर्स्कैल) (असली आकार)

फुदक्कों और टिड्डियों की कुछ जातियां, **पतंगा सक्सिक्टा** लिनिअस तथा **शिस्टोसर्का ग्रेगैरिया** अपने बड़े आकार और सहज ही बड़ी संख्या में प्राप्त होने के कारण प्राचीन काल से ही भोजन के रूप में प्रयुक्त की जाती रही हैं. अफ्रीका, श्याम तथा भारत में इनको भून कर खाते हैं. इनमें प्रचुर मात्रा में प्रोटीन होता है.

झींगुरों में से बिलों में रहने वाले **ग्रीलस टेस्टेसियस** वाकर, **बैकीट्राइपेस पोर्टेण्टोसस** तथा **लियोग्रीलस बाइमैकुलेटस** डेगियर को भून कर खाया जाता है.

दीमक (आइसोप्टेरा) वसा, प्रोटीन, फॉस्फेट तथा पोटाश में धनी मानी जाती हैं. एक विश्लेषण के अनुसार शुष्क द्रव्य मे 44·4% वसा तथा 36% प्रोटीन प्राप्त हुआ. भारत, अफ्रीका, श्याम तथा अन्य देशों में कुछ आदिम जातियाँ रानी दीमकों को भून कर अथवा चर्बी में तल कर खाती हैं. चल-काल में पंखदार दीमकों के पंख गिर जाते हैं जिनके बाद उन्हें पकड़ लिया जाता है. फिर इन्हें नमक के साथ भून कर खाते हैं. अफ्रीका के कुछ भागों में इन्हें सुखा कर खाद्य के रूप में बेचा जाता है.

तले हुए दीमकों से पेट्रोलियम ईथर निष्कर्षण द्वारा प्राप्त दीमक तेल की निम्नलिखित विशेषताएँ हैं: ग. वि., 40–41°; आ.घ.$^{28°}$, 0·906; $n_D^{40°}$, 1·461; साबु. मान, 191; अम्ल मान, 18·6; हेनर मान, 94·1; आयो. मान, 55·4; तथा असाबुनीकृत पदार्थ, 3·76%. इस तेल से पर्याप्त कठोर साबुन बनता है. इसका कोई आर्थिक महत्व नहीं है.

लाल चींटी, **इकोफाइला स्मारेग्डिना** फैब्रीसिकस (गण—हाइमेनॉप्टेरा, कुल—**फार्मीसिडी**) सम्पूर्ण भारत, ब्रह्मा, मलय और श्याम में पाई जाती है. ये चींटियाँ मुर्चा जैसे लाल रंग की तथा मध्यम आकार की होती हैं. ये पेड़ों पर घोंसले बनाकर रहती हैं. ये घोंसले लार्वों द्वारा स्रवित रेशमी धागों से पत्तियों को परस्पर बाँधकर बनाये जाते हैं. ब्रह्मा तथा श्याम में इनको स्वादिष्ट खाद्य समझा जाता है. इनको पीस कर कढ़ी में मसाले की भाँति प्रयुक्त करते हैं.

अनेक भारतीय आदिम जातियाँ शैल मधुमक्खी, **ऐपिस डासटा** फैब्रीसिकस (ऐपिडी) के छत्तों में स्थित मधु, लार्वों तथा प्यूपों को खाती हैं. **ऐपिस इंडिका** फैब्रीसिकस का मधु और ग्रब भी खाये जाते हैं.

भारत तथा चीन के कुछ भागों में जंगली रेशम के कीट, **ऐंथेराइया पैफिया** लिनिअस (**लेपिडोप्टेरा**) के प्यूपे सुस्वादु समझे जाते हैं. इन्हें रेशम निकालने के बाद गर्म पानी में पका कर अथवा आग पर भून कर खाया जाता है. भारत में यह जाति साधारणतया असम, बंगाल, कश्मीर तथा दूसरे प्रदेशों में पाई जाती है.

अन्य उपयोग

कीट उद्गम के अधिक महत्वपूर्ण आर्थिक उत्पादों में से मधु, मोम, लाक्षा तथा रेशम का विशेष स्थान है (Wlth India—Raw Materials, I, 166).

लाख, लाख कीट, **लैक्सिफर (टैकार्डिया) लैका** की रेज़िनी पपड़ी है. संसार का 80% लाख उत्पादन भारत में होता है. रेशम, **बाम्बीसिडी** तथा **सैटर्निडी** कुल के शलभ की इल्लियों द्वारा महीन सूत्र के रूप में बनता है. व्यापारिक दृष्टि से शहतूत का रेशम कीट **बाम्बिक्स मॉरी** लिनिअस, टसर रेशम कीट **ऐन्थेराइया पैफिया** लिनिअस और एरीवर्म, **ऐटैकस रिसिनाइ** बासड्वाल मूल्यवान धागों का उत्पादन करते हैं. शहतूत का रेशम कीट उत्तम कोटि का रेशम बनाता है. लाख तथा रेशम के उत्पादन, रचना एवम् उपयोग अलग-अलग शीर्षकों के अंतर्गत वर्णित हैं.

भारतवर्ष में ओषधि के रूप में कीटों के उपयोग की अत्यल्प जानकारी है. मधुमक्खियाँ, **एपिस मेलिफिका** लिनिअस तथा **ए. इंडिका** फैब्रीसिकस (**ऐपिडी**) पौष्टिक मधु बनाती है, जो विशेषकर बच्चों के लिए शामक एवम् रेचक और व्रण पर ओषधि के रूप में लगाने के काम आता है. मोम का प्रयोग मरहम बनाने में किया जाता है. कुछ आदिम जातियाँ लाल चींटी (**फार्मिसिडी**) (सं.—पिपीलिका; हिं.—चींटी; त.—एरुम्बू; ते.—चीमा; क.—इरुवे) के अंडों को मलेरिया की ओषधि के अवयव के रूप में काम में लाती हैं.

निसेलिन अथवा शहतूत के रेशम कीट, **बाम्बिक्स मॉरी** लिनिअस (**बाम्बीसिडी**) (बंगाल—पाट; बम्बई—रेशम्मापोटन; तमिलनाडु—पुत्तू-पूचि) की सिल्क फली रक्त स्तम्भक, टानिक तथा कषाय के रूप में प्रयुक्त की जाती है. विश्वास किया जाता है कि यह अति ऋतुस्राव, श्वेत-प्रदर तथा चिरकाली प्रवाहिका को रोकती है.

कोचीनियल कीट, **डैक्टाइलोपियस कोकस** कोस्टा निन. **कोकस कैक्टाइ** लिनिअस (हिं.—बीरबहूटी; बम्बई—किरमाजा; तमिलनाडु—कोचीनिल पूचि) में शामक, बाजीकर तथा प्रतिरोधी गुण हैं, और तंत्रिकार्ति तथा कुकुरखाँसी में इसका प्रयोग किया जाता है. इन कीटों में कार्मीन अथवा कार्मिनिक अम्ल, काक्सेरिन, मिरेस्टिन, वसा तथा वसा-अम्ल होते हैं. चीन में दुर्गन्धयुक्त बग, **कोरीडिअस** (**एस्पोंगोपस**) **चाइनेन्सिस** (डल्लास) को बाजीकर के रूप में प्रयोग में लाते हैं. रानी दीमक (या शाह दीमक) को शक्तिदायक यौन टानिक समझा जाता है. केटिडिड अथवा झींगुर के काटने से अधिमांस दूर हो जाते हैं.

मिलाब्रिस भृंग, **मिलाब्रिस चिकोरिआ** (लिनिअस) (**मेलाइडी**) (हिं.—तेलनी मक्खी; तमिलनाडु—पुइस्तानिनाई) तथा मिलाब्रिस की अन्य जातियों को कैंथेराइड के प्रतिस्थायी के रूप में प्रयोग किया जाता है. यह आंतरिक उद्दीपक एवं मूत्रल तथा वाह्य प्रयोग में प्रतिक्षोभक और स्फोटकर है. जलीय भृंग (**डाइटिसिडी** तथा **हाइड्रोफिलिडी**) प्रतिमूत्रल बताये जाते हैं.

रंजक प्रदाता कीट बहुत कम हैं. जब तक ऐनिलीन रंजक का व्यापारिक निर्माण नहीं हुआ था, सुन्दर कार्मिन लाल वर्णक केवल कोचीनियल कीटों से ही प्राप्त किया जाता था. लाख की सलाई को पीस कर जल द्वारा निष्कर्षित करने से जो लाख रंजक प्राप्त होता है वह एक समय व्यापक रूप से रेशम, ऊन तथा चमड़े के रंगने के काम आता था. लाख बावनशालाओं में यह गहरी नील-लोहित वट्टियों के रूप में मिलता है और भारत के कुछ भागों में अब भी रेशम तथा ऊन रँगने के लिए इसका प्रयोग किया जाता है. वट्टियों में आर्द्रता, 9–11; रंजक पदार्थ, 10–13; और राख, 15–18% होती है. रंजक लैकैइक अम्ल का क्रिस्टलन हल्के पीले और लाल रंग की विषम लम्बाक्ष प्लेटों के रूप में होता है. ये क्रिस्टल ऐल्कोहल, ऐसीटोन तथा ऐसीटिक अम्ल में विलेय हैं. ये क्षारों के साथ विशिष्ट लाल रंग उत्पन्न करते हैं. रंगे हुए कपड़ों का रंग पसीने से नहीं छूटता. स्त्रियाँ इसे हाथ तथा पाँव पर सुंदर चित्रकारी करने के लिए भी काम में लाती हैं.

कुछ पिटिकाएँ विशेषतया ओक पिटिकायें, जो कीट-जन्य होती हैं, स्याही के निर्माण में रंजक तथा टैनिन के स्रोत के रूप में प्रयुक्त होती हैं. कुछ ब्यूप्रेटिड भृंग के चमकीले रंगदीप्त पक्षवर्म आभूषण बनाने के काम आते हैं.

Phylum *Arthropoda*, class *Insecta* (*Hexapoda*); *Pipilka*; *Xylocopa*; *Bombus*; *Mymar*; *Meganeura*; *Lucanus* sp.; *Drosera* spp.; *Utricularia* spp.; *Protura*; *Diploglossata*; *Coleoptera*; *Diptera*; *Pterygota*; *Apterygota*; *Exopterygota*; *Endopterygota*; *Thysanura*; *Ephemerida*; *Plecoptera*; *Odonata*; *Embioptera*; *Grylloblattoidea*; *Orthoptera*; *Phasmida*; *Dermaptera*; *Diploglossata*; *Blattaria*; *Mantodea*; *Isoptera*; *Zoraptera*; *Corrodentia*; *Mallophaga*; *Anoplura*; *Thysanoptera*; *Heteroptera*; *Homoptera*; *Coleoptera*; *Strepsiptera*; *Hymenoptera*; *Megaloptera*; *Neuroptera*; *Rhaphidoidea*; *Mecoptera trichoptera*; *Lepidoptera*; *Diptera*; *Siphonaptera*; *Thysanura*; *Aptera*; *Collembsola protura*; *Periplaneta americana* Linn.; *Pericerya purchasi* (Mask.); *Spodoptera mauritia* Boisd.; *Hispa armigera* (Oliv.); *Leptispa pygmaea* Baly; *Pachydiplosis oryzae* (W.M.) Mani; *Hieroglyphus banian* Fabr.; *H. nigro-*

repletus Bol.; *Ripersia oryzae* Gr.; *Soorai*; *Nymphula depunctalis* Guen.; *Leptocorisa varicornis* Fabr.; *Schoenobius incertellus* Wlk.; *Echinocnemus oryzae* Mshll.; *Microtermes obesi* Holmg.; *Sesamia inferens* (Wlk.); *Toxoptera graminum* Rond.; *Macrosiphum avenae* Fabr.; *Tanymecus indicus* Fst.; *Cirphis unipuncta* Haw.; *Eurygaster maura* Linn.; *Amsacta albistriga* Wlk.; *A. moorei* Butl.; *Atherigona* spp.; *Sorghum vulgare* Pers.; *A. indica* Mall.; *Pennisetum typhoides* Stapf & Hubbard; *A. approximata* Mall.; *Setaria italica* Beauv.; *A. atripalpis* Mall.; *Eleusine corocana* Gaertn.; *A. milliaceae* Mall.; *Panicum milliaceum* Linn.; *A. destructor* Mall.; *Paspalum scrobiculatum* Linn.; *A. bituberculatum* Mall.; *Colemania sphenarioides* Bol.; *Hieroglyphus nigrorepletus* Bol.; *Rhopalosiphum* (*Aphis*) *maidis* Fitch.; *Dicranotropis* (*Peregrinus*) *maidis* Ashm.; *Calocoris angustatus* Leth.; *Contarinia andropogonis* Felt.; *Itonida seminis* Felt.; *Heliothis armigera* Hübn.; *Stenachroia elongella* Hmpsn.; *Sitophilus* (*Calandra*) *oryzae* Linn.; *Sitotroga ceredlella* Oliv.; *Chilo zonellus* (Swinh.); *Sesamia inferens* (Wlk.); *Saluria inficita* (Wlk.); *Eleusine coracana* Gaertn.; *Setaria italica* Beauv.; *Anadastus parvulus* Wied.; *Tetraneura hirsuta* Bak.; *Cajanus* spp.; *Phaseolus aureus* Linn.; *Vigna* spp.; *Amsacta* spp.; *Cicer* spp.; *Pisum* spp.; *Lentis* spp.; *Melanagromyza phaseoli* Coq. *Phytomyza atricornis* Meign.; *Diacrisia obliqua* Wlk.; *Laphygma exigua* Hübn.; *Prodenia litura* Fabr.; *Heliothis armigera* Hübn.; *Centhorrhynchus asperulus* Fst.; *Agromyza obtusa* Meign.; *Pachytychius mungonis* Mshll.; *Dolichos lablab* Linn.; *Adisura atkinsoni* Moore.; *Bruchus theobromae* Linn.; *B. chinensis* Linn.; *B. phaseoli* Gyll.; *Callosobruchus maculatus* Fabr.; *Bruchus chinensis* Linn.; *B. affinis* Frol.; *Sesamum indicum* Linn.; *Antigastra catalaunalis* Dup.; *Acherontia styx* Westw.; *Asphondylia sesami* Felt.; *Arachis hypogaea* Linn.; *Stomopteryx nerteria* Meyr.; *Amsacta albistriga* Wlk.; *Sphenoptera perrotetti* Guen.; *Ricinus communis* Linn.; *Pericallia ricini* Fabr.; *Euproctis fraterna* Moore; *Parasa lepida* Cram.; *Ergolis merione* Cram.; *Prodenia litura* Fabr.; *Achaea janata* Linn.; *Dichocrocis punctiferalis* Guen.; *Empoasca flavescens* Fabr.; *Trialeurodes ricini* Mask.; *Carthamus tinctorius* Linn.; *Guizotia abyssinica* Cass.; *Perigea capensis* Guer.; *Macrosiphum jaccae* (Linn.); *Monanthia globulifera* Wlk.; *Acanthiophilus helianthi* Rossi; *Grammodes* spp.; *Laphygma* spp.; *Dasyneura lini* Barnes; *Brassica* spp.; *Athalia proxima* Klug.; *Lipaphis crysimi* Davis; *Gryllus domesticus* Linn.; *Gryllus viator* Kirb.; *Atactogaster finitimus* Fst.; *Amsacta* spp.; *Euproctis Laphygma*; *Prodenia*; *Sylepta derogata* Fabr.; *Anomis* spp.; *Acontia* spp.; *Tarache nitidula* Fabr.; *Phycita infusella* Meyr.; *Earias fabia* Stoll.; *E. insulana* Boisd.; *Aphis gossypii* Glov.; *Empoasca devastans* Dist.; *Bemesia tabaci* Greenn & Bak.; *Ferrisiana virgata* (Ckll.); *Platyedra gossypiella* Saund; *Earias* spp.; *Dysdercus cingulatus* Fabr.; *Oxycarenus laetus* Kirb.; *Sphenoptera gossypii* Kirb.; *Pempheres affinis* Fst.; *Alcides mysticus* Faust.; *Corchorus* spp.; *Laphygma exigua* Hübn.; *Diacrisia obliqua* Wlk.; *Anomis sabulifera* Guen.; *Trachys pacifica* Kerr.; *Hemitarsonemus laetus* Banks; *Apion corchori* Mshll.; *Brachytrypes portentosus* Licht.; *Longitarsus belgaumensis* Jacoby; *Utetheisa pulchella* Linn.; *Argina cribraria* Clerck; *A. syringa* Cram.; *Enarmonia pseudonectis* Meyr.; *Ragmus importunitas* Dist.; *Hibiscus cannabinus* Linn.; *Alcidodes leopardus* Oliv.; *A. affaber* Fst.; *Agave americana* Linn.; *Oryctes rhinoceros* Linn.; *Odontotermes* (*Cyclotermes*) *Obesus* Ramb.; *Argyria sticticraspis* Hmpsn.; *Diatroea venosata* Wlk.; *Scirpophaga nivella* Fabr.; *Bissetia steniella* (Hmpsn.); *Emmalocera depressella* (Swihn.); *Trichogramma minutum* Riley; *Pyrilla perpusilla* Wlk.; *Aleurolobus barodenis* Mask.; *Saccharicoccus sacchari* Ckll.; *Macropes excavatus* Dist.; *Hieroglyphus banian* Fabr.; *H. nigrorepletus* Bol.; *Nicotiana tabacum* Linn.; *Prodenia litura* Fabr.; *Agrotis ypsilon* Rott.; *Myzus persicae* (Sulz.); *Bemesia tabaci* Greenn & Bak.; *Engytatus tenuis* Rutt.; *Heliothis armigera* Hubn.; *Cannabis sativa* Linn.; *Tetranychus telarius* (Linn.); *Tanymecus indicus* Fst.; *Piper nigrum* Linn.; *Longitarsus nigripennis* Motsch.; *Mytilaspis piperis* Gr.; *Pseudococcus virgatus* Ckll.; *Piper betle* Linn.; *Ferrisiana virgata* (Ckll.); *Disphinctus politus* Wlk.; *D. maesarum* Kirk.; *Indigofera arrecta* Hochst.; *Arytaina punctiponnis* Crawf.; *Curcuma Longa* Linn.; *C. angustifolia* Roxb.; *Zingiber officinale* Rosc.; *Panchaetothrips indicus* Bagn.; *Stephanitis typicus* Dist.; *Dichocrosis punctiferalis* Guen.; *Udaspes folus* Cram.; *Laphygma exigua* Hübn.; *Elettarca cardamomum* Maton; *Eupterote canaraica* Moor; *Taeniothrips cardamomi* Ayyar.; *Prodioctes haematicus* Chevr.; *Paurosylla depressa* Crawf.; *Cinnamomum zeylanicum* Breyn.; *Lecanium* spp.; *Theobroma cacao* Linn.; *Pseudococcus citri* Risso; *Selenothrips rubrocinctus* Giard.; *Coccus viridis* Gr.; *Xylotrechus quadripes* Chevr.; *Xyleborus morstatti* Haged.; *Helopeltis theivora* Waterh.; *H. antonii* Sign.; *Tetranychus bioculatus* W.M.; *Coptotermes* sp.; *Heterusia cingala* Moore; *Buzura* sp.; *Thosea* sp.; *Parasa* sp.; *Belippa* sp.; *Synchalara* sp.; *Staurepus* sp.; *Andraca* sp.; *Xyleborus fornicatus* Erch.; *Cinchona ledgeriana* Moens; *Holotrichia repetita* Shp.; *Rhizotrogus rufus* Arrow; *Helopeltis* spp.; *Disphinctus humeralis* Wlk.; *Hevea brasiliensis* Muell-Arg.; *Comocritis* spp.;

Aetherastis spp.; *Batocera rubus* Linn.; *Glyptotermes dilatatus* Havil.; *Aspidiotus cyanophylli* Sign.; *Saissetia* (*Lecanium*) *nigra* Nietn.; *Solanum melongena* Linn.; *Epilachna 28-punctata* Fabr.; *Urentius echinus* Dist.; *Phenacoccus insolitus* Gr.; *Empoasca devastans* Dist.; *Leucinodes orbonalis* Guen.; *Euzophera perticella* Rag.; *Lycopersicon esculentum* Mill.; *Epilachna* spp.; *Heliothis armigera* Hübn.; *Cucurbitaceae*; *Aulacophora foveicollis* Lucas; *Mylabris pustulata* Thunb.; *Dacus Cucurbitae* (Coq.); *D. ciliatus* Loew.; *D. caudatus* Fabr.; *Plusia* (*Phytometra*) *peponis* Fabr.; *Aspongopus* spp.; *Aphis* spp.; *Lasioptera falcata* Felt.; *Epilachna* spp.; *Lagenaria siceraria* Standl.; *Sphenarches caffer* Zell.; *Hibiscus esculentus* Linn.; *Earias* spp.; *Dysdercus cingulatus* Fabr.; *Alcidodes affaber* Fst.; *Empoasca devastans* Dist.; *Mylabris phalerata* Pall.; *M. pustulata* Thunb.; *Moringa oleifera* Lam.; *Eupterote mollifera* Wlk.; *Noorda blitealis* Wlk.; *Cruciferae*; *Athalia proxima* Klug.; *Plutella maculipennis* Curt.; *Hellula undalis* Fabr.; *Pieris brassicae* Linn.; *Bagrada cruciferarum* Kirk.; *Lipaphis erysimi* Davis; *Phyllotreta cruciferae* Goez.; *Thrips tabaci* Lind.; *Scirtothrips dorsalis* Hood.; *Amaranthus* spp.; *Hypolixus truncatulus* (Boh.); *Lamprosema* (*Nacoleia*) sp.; *Ipomoea batatas* Lam.; *Herse convolvuli* Linn.; *Aspidomorpha miliaris* Fabr.; *Metriona circumdata* Hbst.; *Cylas formicarius* Fabr.; *Solanum tuberosum* Linn.; *Agrotis* spp.; *Euxoa* spp.; *Gnorimoschema operculella* Zell.; *Thrips tabaci* Lind.; *Heliothrips indicus* Bagn.; *Amorphophallus* spp.; *Galerucida bicolor* Hope.; *Aspidiotus hartii* Ckll.; *Manihot esculenta* Crantz.; *Aonidomytilus albus* Ckll.; *Colocasia*; *Monolepta signata* Oliv.; *Coleus parviflorus* Benth.; *Pycnarmon cribrata*; *Phostria piasusalis* Wlk.; *Microgaster psarae* Wlksn.; *Aphis craccivora* Koch.; *Cirphis unipuncta* Haw.; *C. albistigma* Moore; *Spodoptera mauritia* Boisd.; *Medicago sativa* Linn.; *Laphygma exigua* Hubn.; *Prodenia litura* Fabr.; *Hypera* sp.; *Aphis craccivora* Koch; *Sphenoptera perrotetti* Guen.; *Sesbania* spp.; *S. grandiflora* Pers.; *Alcidodes bubo* Fabr.; *Azygophleps scalaris* Fabr.; *Bruchophagus mellipes* Gahan.; *Erythrina*; *Terastia meticulosalis* Guen.; *Cyclopelta siccifolia* Westw.; *Calotropis* spp.; *Danais chrysippus* Linn.; *Poecilocerus pictus* Fabr.; *Paramecops farinosa* Wied.; *Dacus longistylus* Wied.; *Rosa* spp.; *Achaea janata* Linn.; *Stauropus alternus* Wlk.; *Parasa lepida* C.; *Aspidiotus aurantii* Mask.; *Aonidiella aurantii* Berl.; *Arge* sp.; *Jasminum* spp.; *Leptopharsa ayyari* Drake.; *Antestia cruciata* Fabr.; *Nelumbo nucifera* Gaertn; *Nymphaea* spp.; *Simyra conspersa* Moore; *Prodenia litura* Fabr.; *Rhopalosiphum nymphaeae* Linn.; *Nerium oleander* Linn.; *Deilephila nerii* Linn.; *Euploea core* Cram.; *Parlatoria oleae* Colv.; *Codiaeum* spp.; *Icerya aegyptiaca* Dougl.; *Ferrisiana virgata* (Ckll.); *Heliothrips haemorrhoidalis* Bouche.; *Sthenias grisator* Fabr.; *Ocimum sanctum* Linn.; *Monanthia globulifera* Wlk.; *Leptopharsa ayyari* Drake.; *Mimusops elengi* Linn.; *Arrhenothrips ramakrishnae* Hood.; *Chrysanthemum* spp.; *Lamprosema indicata* Fabr.; *Diacrisia* spp.; *Phytomyza atricornis* Meign.; *Galeatus retiarius* Dist.; *Macrosiphoniella sanborni* Gill.; *Trypanaea amoena* Frgld.; *Inpatiens* spp.; *Theretra oldenlandiae* Fabr.; *Motialma balsaminae* Motsch.; *Lilium* spp.; *Crocus* spp.; *Crinum* spp.; *Polytela gloriosae* Fabr.; *Brithys crini* Fabr.; *Althaea rosea* Cav.; *Helianthus* spp.; *Heliothis armigera* Hübn.; *Nyctanthes arbor tristis* Linn.; *Metanastria hyrtaca* Cram.; *Michelia champaca* Linn.; *Papilio agamemnon* Linn.; *Jatropha* spp.; *Pseudococcus virgatus* Ckll.; *Hemilecanium imbricans* Gr.; *Ixora* spp.; *Aspidiotus trilobitiformis* Gr.; *Ipomea*; *Bougainvillea*; *Sthenias grisator* Fabr.; *Chionaspis dilatata* Gr.; *Millingtonia hortensis* Linn. f.; *Hyblaea puera* Cram.; *Eligma narcissus* Cram.; *Atteva* spp.; *Ailanthus excelsa* Roxb.; *Hemilecanium imbricans* Gr.; *Azadirachta indica* A. Juss.; *Thosea* sp.; *Helopeltis antonii* Sign.; *Pulvinaria maxima* Gr.; *Tonica niviferana* Wlk.; *Salmalia malabarica* Shott & Endl.; *Mudaria cornifrons* Moore; *Casuarina equisetifolia* Linn.; *Icerya aegyptiaca* Dougl.; *I. formicarium* Newst.; *Pericerya* (*Icerya*) *purchasi* Mask.: *Labioproctus* spp.; *Coelosterna scabrator* Fabr.: *Albizzia lebbek* Benth.; *Arytaina* sp.; *Xystrocera globosa* Oliv.; *Acacia arabica* Willd.; *Clania cramerii* Westw.; *Anomalococcus indicus* Gr.; *Coelosterna spinator* Fabr.; *Chelyophora* spp.; *Cyrtotrachelus dux* Boh.; *Oregma bambusae* Buckt.; *Ochrophara montana* Dist.; *Stromatium barbatum* (Fabr.); *Dinoderus* spp.; *Phyllocnistis citrella* Staint.; *Papilio demoleus* Linn.; *Diaphorina citri* Kuw.; *Dialeurodes citri* Ashm.; *Ceratitis capitata* Wied.; *Dacus ferrugineus* Fabr.; *D. zonatus* Saund.; *D. incisus* Wlk.; *Othreis fullonia* Clau.; *O. materna* Linn.; *Chelidonium cinctum* Guer.; *C. argentatum* Dalm.; *Stromatium barbatum* (Fabr.); *Monochamus versteegi* Rits.; *Indarbela quadrinotata* Wlk.; *Parasa lepida* Cram.; *Cricula trifenestrata* Helf.; *Deporaus marginatus* Pasc.; *Rhynchaenus mangiferae* Mshll.; *Orthaga exvinacea* Hmpsn.; *Apsylla cistellata* Buckt; *Idiocerus niveosparsus* Leth.; *I. atkinsoni* Leth.; *I. clypealis* Leth.; *Drosicha mangiferae* Gr.; *Cryptorhynchus mangiferae* Fabr.; *C. frigidus* Fabr.; *Dacu- ferrugineus* Fabr.; *D. zonatus* Saund.; *D. dorsalis* Hendel.; *Batocera rufomaculata* deG.; *Monochamus*

versteegi Rits.; *Acanthophorus serraticornis* Oliv.; *Musa* spp.; *Diacrisia obliqua* Wlk.; *Pericallia ricini* Fabr.; *Parasa lepida* Cram.; *Prodenia litura* Fabr.; *Pentalonia nigronervosa* Ckll.; *Cosmopolites sordidus*; *Odoiporus longicollis* Oliv.; *Psidium guajava* Linn.; *Pulvinaria psidii* Mask.; *Dacus ferrugineus* Fabr.; *Dichocrocis punctiferalis* Guen.; *Helopeltis antonii* Sign.; *Punica granatum* Linn.; *Virachola isocrates* Fabr.; *Epijarbas anchus* Fruh.; *Vitis vinifera* Linn.; *Scelodonta strigicollis* Motsch.; *Hippotion celerio* Linn.; *Rhipiphorothrips cruentatus* Hood.; *Aspidiotus latamae* Sign.; *Lecanium longulum* Dougl.; *Pulvinaria maxima* Gr.; *Oxyptilus regulus* Meyr.; *Sthenias grisator* Fabr.; *Adoretus* spp.; *Ficus* spp.; *Aganais ficus* Fabr.; *Phycodes minor* Moore; *P. radiata* Ochs.; *Batocera rufomaculata* deG.; *Ochyro mera artocarpi* Mshll.; *Artocarpus integra* Merrill.; *Margaronia caesalis* Wlk.; *Annona squamosa* Linn.; *Ferrisiana virgata* (CKll); *Carea subtilis* Wlk.; *Syzygium cumini* Skeels.; *Balaninus C-album* Fabr.; *Nephopteryx eugraphella* Rag.; *Achras zapota* Linn.; *Zizyphys* spp.; *Carpomyia vesuviana* Costa.; *Meridarchis scyrodes* Meyr.; *Litchi chinensis* Sonn.; *Eriophyes* sp.; *Indarbela quadrinotata* Wlk.; *Eriobotrya japonica* Lindl.; *Morus* spp.; *Anacardium occidentale* Linn.; *Selenothrips rubrocinctus* Giard.; *Helopeltis antonii* Sign.; *Ananas comosus* Merrill.; *Pseudococcus brevipes* Ckll.; *Trapa* spp.; *Galerucella birmanica* Jacoby.; *Emblica officinalis* Gaertn.; *Betousa stylophora* Swinh.; *Pseudococcus* sp.; *Scutellera nobilis* Fabr.; *Feronia limonia* Swingle; *Aegle marmelos* Correa; *Euzophera plumbeifasciella* Hmpsn., *Argyroploce carpophaga* Walsm.; *Clitea picta* Baly.; *C. indica* Jacoby; *Carica papaya* Linn.; *Spilonota ocellana* Schiff.; *Euproctis signata* Blanch.; *Hyponomeuta padella* Linn.; *Carpocapsa pomonella* Linn.; *Anarsia lineatella* Zell.; *Scolytus amygdali* Guer.; *Eurytoma samsonovi* Vass.; *Pterochlours* (Lachnus) *persicae* Chol.; *Euphyllura olivina* (Costa); *Dacus oleae* Fabr. var. *asiatica* Silv.; *Quadraspidiotus perniciosus* Comst.; *Eriosoma lanigerum* Hausm.; *Psylla pyricola* Forst.; *Dyscerus fletcheri* Mshll.; *D. malignus* Mshll.; *Alcidodes mali* Mshll.; *Linda nigroscutata* Fairm.; *Aeolesthes sarta* Solsky.; *Dorysthenes hugelii* Redt.; *Clisiocampa indica* Wlk.; *Melolontha; Adoretus; Anomala* spp.; *Myzus persicae* (Sulz.); *Anuraphis helichrysi* (Kalt.); *Hyalopterus arundinus* Fabr.; *Sphenoptera lafertei* Thom.; *Dacus zonatus* Saund.; *D. ferrugineus* Fabr.; *Pseudaulacaspis pentagona* Targ.; *Juglans regia* Linn.; *Alcidodes porrectirostris* Mshll.; *Cocos nucifera* Linn.; *Areca catechu* Linn.; *Borassus flabellifer* Linn.; *Phoenix sylvestris* Roxb.; *Nephantis serinopa* Meyr.; *Corypha umbraculifera* Linn.; *Oryctes rhinoceros* Linn.; *Rhynchophorus ferrugineus* Oliv.; *Metroxylon* spp.; *Cerataphis lataniae* Boisd.; *Schistocerca gregaria* Forsk.; *Patanga succincta* Linn.; *Schistocerca gregaria* Forsk.; *Locusta migratoria* Linn.; *Patanga succincta* Linn.; *Dinoderus brevis* Horn.; *D. minutus* Fabr.; *D. ocellaris* Stephens.; *Heterobostrychus aequalis* Waterh.; *Lyctus brunneus* Stephens.; *L. africanus* Lesne; *Minthea rugicollis* Wlk.; *Rhizopertha dominica* Fabr.; *Sinoxylon anale* Lesne.; *S. crassum* Lesne; *Xylothrips flavipes* Illi.; *Rhizopertha dominica; Cerambycidae; Hoplocerambyx spinicornis* Newm.; *Shorea robusta* Gaertn. f.; *Aeolesthes holosericea* Fabr.; *Hoplocerambyx spinicornis* Newm.; *Batocera horsfieldi* Hope; *B. rufomaculata* deG.; *Salmalia malabarica* Schott & Endl.; *Coelosterna scabrator* Fabr.; *Dihammus cervinus* Hope; *Stromatium barbatum* (Fabr.); *Xylotrechus smei* Lap.; *Curculionidae; Cyrtotrachelus dux* Boh.; *Pagiophloeus longiclavis* Mshll.; *Rhynchophorus ferrugineus* Oliv.; *Attractocerus reversus* Wlk.; *Boswellia serrata* Roxb.; *Platypodidae*; *Scolytidae; Crossotarsus* (*Platypodidae*); *Diacavus furtivus* Samp.; *Platypus biformis* Chapuis.; *P. solidus* Wlk.; *Coccotrypes* spp. (*Scolytidae*); *Areca catechu* Linn.; *Ips longifolia* Steb.; *Sphaerotrypes siwalikensis* Steb.; *Xyleborus testaceous* Wlk.; *Anobiidae*; *Anthribidae*; *Buprestidae; Chrysomelidae; Estigmena chinesis* Hope; *Scarabaeidae; Melolonthinae*; *Rutelinae; Lepidoptera.*; *Dichomeris eridantis* Meyr. (*Gelechiidae*); *Dalbergia* spp.; *Hypsipyla robusta* Moore (*Pyralidae*); *Cedrus deodara* Loud.; *Cedrela toona* Roxb.; *Swietenia mahogani* Jacq.; *Xyleutes ceramica* Wlk. (*Cossidae*); *Zeuzera coffeae* Nietner.; *Phassus malabaricus* Moore (*Hepialidae*); *Indarbela quadrinotata* Wlk. (*Indarbelidae*); *Hapsifera rugosella* Staint (*Tineidae*); *Agrotis ypsilon* Rott. (*Noctuidae*); *Sirex imperialis* Kirb.; *Hymenoptera* (*Siricidae*); *Xylocopa* spp. (*Xylocopidae*); *Kalotermitidae; Archotermopsis wroughtoni* Des.; *Cryptotermes* spp.; *Neotermes militaris* (Des.); *N. gardneri* (Snyder); *N. tectonae* (Damm.); *Coleoptera; Lepidoptera; Chrysomelidae; Curculionidae; Scarabaeidae; Calopepla leayana* Latr. (*Chrysomelidae*); *Gmelina arborea* Linn.; *Estigmena chinensis* Hope; *Curculionidae*; *Myllocerus* spp.; *Coniatus indicus* Mshll.; *Tamarix gallica* Linn.; *Melolonthinae; Rutelinae; Cetoniinae; Euchirinae; Dynastinae; Scarabaeidae; Anomala bengalensis* Blanch.; *Cassia; Lagerstroemia; Oryctes rhinoceros* Linn.; *Diptera; Ophiomyia lantanae* Frog. (*Agromyzidae*); *Asphondylia lantanae* Felt.; *Tenthredinidae; Formicidae; Hymenoptera; Cibdela janthina* Klug.; *Rubus* spp.; *Myrmicaria brunnea* Saund.; *Solenopsis geminata* Fabr.; *Lepido-*

ptera; *Ectropis deodarae* Prout (*Geometridae*); *Hyblaeidae*: *Hapalia machaeralis* Wlk. (*Pyralidae*) *Lymantria mathura* Moore; *Lymantriidae*; *L. obfuscata* Wlk.; *Salix alba* Linn.; *S. fragilis* Linn.; *Plectoptera reflexa* Guen.; *Noctuidae*; *Clania cramerii* Westw.; *Lepidoptera*; *Orthoptera*; *Psychidae*; *Aularches miliaris* Linn.; *A. punctatus*; *Hieroglyphus banian* Fabr.; *Catantops humilis* Serv.; *Ceracris deflorata* Brunn.; *Letana inflata* Brunn.; *Tettigonidae*; *Santalum album* Linn.; *Gryllidae*; *Brachytrypes portentosus* Licht.; *Gymnogryllus humeralis* Wlk.; *Bemisia gossypiperda* Misra & Lamba; *Chermes abietis-piceae* Steb.; *Aphididae*; *Picea smithiana* Boiss.; *Abies pindrow* Royle; *Eriosoma lanigerum* Hausm.; *Myzus persicae* (Sulz.); *Dalbergia sissoo* Roxb.; *Aspidiotus destructor* Sign.; *Quadraspidiotus perniciosus* Comst.; *Dactylopius tomentosus* Linn.; *D. opuntiae* Licht.; *Opuntia eliator* Mill.; *O. dillenii* Haw.; *O. vulgaris*; *O. ficus-indica* Mill.; *O decumana* Haw.; *Drosicha mangiferae* Gr.; *Ficus* spp.; *D. stebbingi* Gr.; *Laccifer* (*Tachardia*) *lacca* (Kerr.); *Schleichera Oleosa* Merrill; *Butea monosperma* Kuntze; *Zizyphus jujuba* Lam.; *Eublemma amabilis* Moore; *Noctuidae*; *Holcocera pulverea* Meyr.: *Blastofascidae*; *Eurybrachys tomentosa* Fabr.; *Fulgoridae*; *Albizzia lebbek* Benth.; *Cassia fistula* Linn.; *Santalum album* Linn.; *Jassidae*; *Idiocerus atkinsoni* Leth.; *Jassus indicus* Wlk.; *Pentatomidae*; *Urostylis punctigera* Westw.; *Michelia champaca* Linn.; *Psyllidae*; *Apsylla cistellata* Buckt.; *Euphalerus vittatus* Crawf.; *Cassia fistula*; *Phylloplecta hirsuta* Crawf.; *Terminalia tomentosa* Wight & Arn.; *Trioza fletcheri* Crawf.; *Gmelina arborea* Linn.; *Teleonemia scrupulosa* Stal.; *T. lantanae* Dist.; *Tinigidae*; *Tinigitidae*; *Lantana* spp.; *Androthrips dhumrapaksha* Ayyar; *Ficus retusa* Linn.; *Rhipiphorothrips cruentatus* Hood.; *Anacardium occidentale* Linn; *Syzygium cumini* Skeels. *Taeniothrips cardamomi* Ayyar. *Elettaria cardamomum* Maton; *Calotropis procera* R. Br.; *Azadirachta indica* A. Juss.; *Cecidomyidae*; *Tachinidae*; *Cynipidae*; *Braconidae*; *Apanteles machaeralis* Wlksn.; *Hapalia machaeralis* Wlk.; *Cedria paradoxa* Wlksn.; *Margaronia pyloalis* Wlk.; *Chalcididae*; *Brachymeria hearseyi* Kirb.; *Hypsipyla robusta* Moore; *B. tachardiae* Cam.; *Ichneumonidae*; *Diocles argenteopilosa* Cam.; *Rhyssa persuasoria himalayensis* Riley; *Sirex imperialis* Kirb.; *Trichogramma evanescens minutum* Riley; *Trichogrammatidae*; *Trichogrammatoidea nana* Zehn.; *Noctuidae*; *Pyralidae*; *Tineidae*; *Bethylidae*; *Elasmidae*; *Encyrtidae*; *Eulophidae*; *Microgasteridae*; *Perilampidae*; *Pteromalidae*; *Scelidonidae*; *Cryptotermes domesticus* Holmg.; *Kalotermitidae*; *Clyptotermes*; *Coptotermes heimi* (Was.); *Rhinotermitidae*; *C. ceylonicus* Holmg.; *C curvignathus* Holmg.; *Heterotermes indicola* (Was.); *Odontotermes* (*Cyclotermes*) *obesus* Ramb.; *O.* (*Cyclotermes*) *redemanni* (Was.); *O. feae* (Was.); *O. parvidens* Holmg. & Holmg.; *Pongamia* sp.; *Madhuka* sp.; *Kalotermitidae*; *Sitophilus oryzae* Linn.; *Trogoderma granarium* Everts; *Rhizopertha dominica* Fabr.; *Tribolium castaneum* (Herbst); *T. confusum* (Duv.); *Oryzaephilus surinamensis* Linn.; *Latheticus oryzae* Waterh.; *Laemophloeus minutus* Oliv.; *Bruchus chinensis* Linn.; *B. analis* Fabr.; *Bruchus phaseoli* Gyll.; *Dolichos lablab* Linn.; *Callosobruchus maculatus* Fabr.; *Pachymerus gonagra* Fabr.; *Stegobium paniceum* Linn.; *Lasioderma serricorne* Fabr.; *Necrobia rufipes* deG.; *Sitotroga cerealella* Oliv.; *Corcyra cephalonica* Staint.; *Plodia interpunctella* Hubn.; *Ephestia cautella* Wlk.; *E. elutella* Hubn.; *Aphanus sordidus* Fabr.; *Aspidiotus hartii* Ckll.; *Recaredus rex* Dist.; *Pseudococcus corymbatus* Gr.; *Gnorimoschema operculella* Zell.; *Myzus persicae* (Sulz.); *Leptinotarsa decemlineata* (Say.); *Empoasca devastans* Dist.; *Aphis rumicis*; *Cicadulina mbila* (Naude); *Agalliopsis novella* Say; *Nephotettix apicalis* var. *cincticeps* Uhl.; *Deltocephalus dorsalis* Motsch.; *Tabanidae*; *Hippoboscidae*; *Oestridae*; *Sarcophagidae*; *Muscidae*; *Culicidae*; *Tabanus striatus* Fabr.; *Chrysops dispar* Fabr.; *Tabanus rubidus* Wied.; *Haematopota montana* Ricardo; *Corizoneura* spp.; *Corizoneura taprobanes* Wlk.; *Hippobosca maculata* Leach; *H. capensis* Olf.; *Melophagus ovinus* (Linn.); *Oestridae*; *Gasterophilus intestinalis* (*equi*) deG.; *Oestrus ovis* Linn.; *Hypoderma lineatum* De Vill.; *Cobboldia elephantis* Steel; *Calliphoridae*; *Pycnosoma flaviceps* Macq.; *Lucilia argyrocephala* Macq.; *L. serenissima* Wlk.; *Sarcophaga lineaticollis* Macq.; *Sarcophagidae*; *Muscidae*; *Culicidae*; *Stomoxys calcitrans* Linn.; *Lyperosia exigua* Mej.; *Philaematomyia crassirostris* (Stein); *P. insignis* Austen.; *Culex fatigans*; *Aedes* (*Stegomyia*) *aegypti*; *Phlebotomus papatasii* Scop.; *P. argentipes* Ann. & Brun.; *Simulium indicum* Bech.; *Simuliidae*; *Menopon pallidum* Nitz.; *Anoplura*; *Siphonaptera*; *Haematopinus tuberculatus* Nitz. & Gieb.; *H. suis* Linn.; *Linognathus vituli* (Linn.); *Bovicola ovis* (Linn.); *Xenopsylla cheopis* Roth.; *Pulicidae*; *Ctenocephalus felis*; *C. canis*; *Echidnophaga gallinaceus* Westw.; *Sarcopsyllidae*; *Thysanura*; *Lepismatidae*; *Lepisma saccharina* Linn.; *Blattaria*; *Blattidae*; *Periplaneta americana* Linn.; *P. australasiae* Fabr.; *Blatella germanica* Linn.; *Orthoptera*; *Gryllidae*; *Acheta* (*Gryllulus*) *domestica* Linn.; *Gryllodes* (*Gryllulus*) *sigillatus* Wlk.; *Corrodentia*; *Liposcellis transvallensis* End.; *Isoptera*; *Rhinotermitidae*; *Coptotermes ceylonicus* Holmg.;

C. heimi (Was.); *Heterotermes indicola* (Was.); *Cimex lectularius* Linn.; *C. rotundatus* Sign.; *Lepidoptera*; *Tineidae*; *Tinea pellionella* (Linn.); *Tineola bisselliella* (Hummel); *Trichophaga abruptella* Woolas; *Borkhausenia pseudospretella* Staint.; *Coleoptera*; *Dermestidae*; *Anthrenus vorax* Waterh.; *Attagenus piceus*; *Monomorium gracillimum* Smith.; *Myrmicaria brunnea* Saund.; *Solenopsis geminata* Fabr.; *Camponotus compressus* Fabr.; *Polistes hebraeus* Fabr.; *Vespa orientalis* Fabr.; *Simuliidae*; *Tabanidae*; *Ceratopogonidae*; *Diptera-Nematocera*; *Simulium indicum* Bech.; *S. himalayensis* Puri; *Diptera Brachycera Orthorrhapha*; *Chrysops* spp.; *Anoplura*; *Pediculus humanus corporis* deG.; *P. humanus capitis* deG.; *Phthirus pubis* Linn.; *Rickettsia prowazekii*; *R. quintana*; *Borrelia recurrentis*; *Diptera Brachycera-Cyclorrhapha*; *Musca domestica*; *Calliphoridae Chrysomyia bezziana* Vill.; *Lucilia*; *Sarcophaga ruficornis* Fabr.; *Sarcophagidae*; *Aphiochaeta scalaris* Brues; *Phoridae*; *Diptera-Brachycera-Acalypteratae*; *Chloropidae-Siphunculina funicola* deMeij.; *Diptera-Nematocera*; *Culicidae* — e.g. *Culex fatigans* Wied.; *Anopheles culicifacies* Giles; *A. minimus* Theo.; *A. fluviatilis* James; *A. stephensi* List.; *A. sundaicus* Rodenw.; *A. annularis* Van der Wulp; *A. philippinensis* Ludl.; *A. varuna* Iyen.; *A. leucosphyrus* Dön. *Culex fatigans* Wied.; *Mansonoides annulifera* (Theo.); *Aedes* (*Stegomyia*) Meig.; *Psychodidae*; *Phlebotomus argentipes* Ann. & Brun.; *P. papatasii* Scop.; *P. sergenti* Parr.; *Xenopsylla* spp.; *X. cheopis* Roth.; *X. astia* Roth.; *X. brasiliensis* Bak.; *Diphilidium caninum*; *Deilephila* spp.; *Acherontia* spp.; *Blastophaga* spp.; *Opuntia* sp.; *Dactylopius tomentosus* (Linn.); *Xanthium* sp.; *Orthezia insignis* Dougl. (*Coccidae*); *Ophiomyia* (*Agromyza*) *lantanae* Frog. (*Agromyzidae*); *Teleonemia scrupulosa* Stal. (*Tingidae*); *Eichhornia* spp.; *Mimosa* spp.; *Tribulus* spp.; *Eupatorium* spp.; *Heliocopris bucephalus* Fabr. (*Coprilidae*); *Bostrychidae*; *Termitidae*; *Cleridae*; *Passalidae*; *Scolytidae*; *Cerambycidae*; *Sarcophagidae*; *Syrphidae*; *Muscidae*; *Mantodea*; *Mantidae*; *Hierodula Coarctata* Sauss.; *Odonata*; *Neuroptera*; *Chrysopidae*; *Chrysopa*; *Carabidae*; *Cicindelidae*; *Dytiscidae*; *Gyrinidae*; *Staphylinidae*; *Histeridae*; *Cantharidae*; *Meloidae*; *Coccinellidae*; *Anthia sexguttata* Fabr.; *Cicindela sexpunctata* Fabr.; *Coccinella septempunctata* Linn.; *Chilomenes Sexmaculata* (Fabr.); *Cryptolaemus* sp.; *Pseudococcus citri* Risso; *Hyperaspis binotata*; *Pericerya* (*Icerya*) *purchasi* (Mask.); *Rodolia cardinalis* (Muls.), *Crytolaemus montrouzieri* Muls.; *Pulvinaria* spp.; *Chilocorus nigritus* (Fabr.), *Lecanium viride* Gr.; *Scymnus nubilans* Muls.; *Stethorus tetranychi* Kapur; *Juarvia soror* Weise; *Synonycha* spp.; *Rhagionidae*; *Tabanidae*; *Ochthiphilidae*; *Chloropidae*; *Itonididae*; *Syrphus confrater* Wied.; *Sarcophagidae*; *Phoridae*; *Dolichopodidae*; *Collembola*; *Eriosoma lanigerum* Hausm.; *Asilidae*; *Leucopis luteicornis* Mall.; *Ochthiphilidae*; *Reduviidae*; *Isyndus heros* Fabr.; *Sphecidae*; *Scoliidae*; *Eumenidae*; *Scolia quadripustalata* Fabr.; *Eumenes esuriens* Fabr.; *Sceliphron madraspatnam* Fabr.; *Thysanoptera*, *Spolothrips*; *Formicidae*; *Eublemma* (*Noctuidae*); *Pulvinaria* spp.; *Perillus* sp.; *Epipyrops fuligionosa* Tams.; *Epipyropidae*; *Strepsiptera*; *Ichneumonidae*; *Amblyteles*; *Angitia*; *Campoplex*, *Nemeritus*; *Xanthopimpla*; *Microbracon greeni* Ashm.; *Pieris brassicae* Linn.; *Chalcidoidea*; *Podagrion* sp.; *Brachymeria*; *Chalcis*; *Smicra*; *Stomatocerus*; *Dirhinus* sp.; *Encyrtidae*; *Ooencyrtus pyrillae* Crawf.; *Aganiaspis pyrillae* Mani.; *Scutellista cyanea* Motsch. (*Pteromalidae*); *Aplastomorpha calandrae* (How.); *Aspidiotiphagus citrinus* (Crawf.); *Trichogramma evanescens* Westw.; *Proctotrypoidea*; *Scelio* sp.; *Telenomus* spp.; *T. beneficiens* Zehn.; *Diatraea*; *Platygasteridae*; *Pachydiplosis oryzae* (W.M.) Mani.; *Amitus aleurolobi* Mani; *Aleurolobus barodensis* Mask.; *Bethyloidea*; *Lestodryinus pyrillae* Kieff.; *Pseudogonatopus pyrillae* Mani; *Evania Appendigaster* Linn.; *Periplaneta americana* Linn.; *Cyrtidae*; *Namestrinidae*; *Pipunculidae*; *Conopidae*; *Agromyzidae*; *Tachinidae*; *Cryptochaetum*; *Sturmia*; *Cyphocera*; *Tachinia*: *Winthemia*; *Exorista*; *Oryctes rhinoceros* Linn.; *Rhynchophorus ferrugineus* Oliv.; *Crytotrachelus longipes* Fabr.; *C. dux* Boh.; *Protocerius fervidus* Pasc. (*Curculionidae*); *Phoenix acaulis* Roxb.; *Dytiscidae*; *Hydrophilidae*; *Eretes* (*Eunectes*) *sticticus* Linn.; *Pentatomidae*; *Belostomidae*; *Cicadidae*; *Coridius* (*Aspongopus*) *chinensis* (Dallas); *Coridius* (*Aspongopus*) *nepalensis* (Westw.); *Cyclopelta subhimalayensis* Strick.; *Erthesina fullo* Thunb.; *Lithocerus* (*Belostoma*) *indicus* Lep. & Serv. *Belostomidae*; *Sphaerodema*; *S. rustica* Fabr.; *S. molestum* Duf.; *Patanga succincta* Linn.; *Schistocerca gregaria* Forsk.; *Gryllus testaceous* Wlk.; *Brachytrypes portentosus* Licht.; *Liogryllus bimaculatus* deG.; *Oecophylla smaragdina* Fabr.; *Apis dorsata* Fabr.; *Apidae*; *Antheraea paphia* Linn.; *Laccifer* (*Tachardia*) *lacca* (Kerr.); *Bombycidae*; *Saturnidae*; *Attacus ricini* Boisd.; *Apis mellifica* Linn.; *Bombyx mori* Linn.; *Dactylopius coccus* Costa syn. *Coccus cacti* Linn.; *Coridius* (*Aspongopus*) *chinensis*; *Dytiscidae*; *Hydrophilidae*.

साहित्य विनिर्देश

सामान्य लक्षण और वितरण

BASU, B. C.— The evolution of applied entomology in India and its future, *Proc. Indian Sci. Congr.*, 1950, pt 2, 151-173.

BRUES, C. T. & MELANDER, A. L.— Classification of insects, *Bull. Mus. comp. Zool. Harv.*, 1932, **73**, 1-672.
CARPENTER, F. M.— Early insect life, *Psyche., Camb., Mass.*, 1947, **54**, 65-85.
FLETCHER, T. B.— South Indian Insects (Superintendent, Government Press, Madras), 1914.
HERRICK, G. W.— Insects of Economic Importance (Carpenter & Co., Ithaca, N.Y.), 1915.
HUSAIN, M. A.— Entomology in India: Past, present and future, *Proc. Indian Sci. Congr.*, 1938, pt. 2, 201-246.
IMMS, A. D.— A General Text-Book of Entomology including the Anatomy, Physiology, Development and Classification of Insects (Methuen & Co., Ltd., London), 1957.
LEFROY, H. M. & HOWLETT, F. M.— Indian Insect Life (Thacker, Spink & Co., Calcutta), 1909.
LULL, R. S.— Organic Evolution (The Macmillan Company, New York), 1952.
MANI, M. S.— Introduction to Entomology (Agra University Press, Agra), 1955.
METCALF, C. L., FLINT, W. P. & METCALF, R. L.— Destructive and Useful Insects, Their Habits and Control (McGraw-Hill Book Company, Inc., New York), 1951.
RAMAKRISHNA AYYAR, T. V.— Entomology in India — a retrospect, *Indian J. Ent.*, 1939, **1**(1 & 2), 9-16.
RAMAKRISHNA AYYAR, T. V.— Insects and their role in Indian Agriculture, *Proc. Indian Sci. Congr.*, 1939, pt 2, 271-315.
SEAL, B. N.— The Positive Sciences of the Ancient Hindus, Hindu Classification of Animals — London, 1915.
The Yearbook of Agriculture — Insects (United States Department of Agriculture, Washington), 1952.

हानिकारक कीट और उनका नियंत्रण

कृषि के नाशकजीव

BATRA, H. N.— Biology and control of *Dacus diversus* Coq. and *Carpomyia vesuviana* Costa and important notes on other fruit flies in India, *Indian J. agric. Sci.*, 1953, **23**(2), 87-112.
BEESON, C. F. C.— The Ecology and Control of the Forest Insects of India and the Neighbouring Countries (Vasant Press, Dehra Dun), 1941.
Department of Agriculture, Bihar & Orissa — Crop Pest Handbook for Bihar & Orissa (Thacker, Spink & Co., Calcutta), 1913, 84 leaflets.
FLETCHER, T. B.— South Indian Insects (Superintendent, Government Press, Madras), 1914.
FLETCHER, T. B.— One hundred notes on Indian insects, *Bull. agric Res. Inst. Pusa*, No. 59, 1916.
FLETCHER, T. B — Report of the Proceedings of the Second Entomological Meeting held at Pusa (Superintendent, Government Press, Calcutta), 1917.
FLETCHER, T. B.— Second hundred notes on Indian insects, *Bull. agric. Res. Inst. Pusa*, No. 89, 1919.
FLETCHER, T. B.— Report of the Proceedings of the Third Entomological Meeting held at Pusa, 3 vols. (Superintendent, Government Press, Calcutta), 1920.
FLETCHER, T. B.— Report of the Proceedings of the Fourth Entomological Meeting held at Pusa (Superintendent, Government Press, Calcutta), 1921.
FLETCHER, T. B.— Report of the Proceedings of the Fifth Entomological Meeting held at Pusa (Superintendent, Government Press, Calcutta), 1924.
FLETCHER, T. B.— Life-histories of Indian Microlepidoptera (Central Publications Branch, Government of India, Calcutta), 1932.
FLETCHER, T. B.— Life-histories of Indian Microlepidoptera (Manager of Publications, Government of India, New Delhi), 1933.
GUPTA, B. D. & AVASTHY, P. N.— Some recommendations for the control of sugarcane pests in India, *Indian Sug.*, 1954, **4**(8), 387-397, 404.
KULKARNY, H. L.— Insect pests of cruciferous and other allied vegetables, *Indian Fmg*, N.S., 1952-53, **2**(11), 24-25.
LEFROY, H. M.— Indian Insect Pests (Superintendent, Government Press, Calcutta), 1906.
LEFROY, H. M. & HOWLETT, F. M.— Indian Insect Life (Thacker, Spink & Co., Calcutta), 1909.
NARAYANAN, E. S.— The root, stem and top borers of sugarcane and the methods of their control, *Indian Fmg, N.S.*, 1953-54, **3**(1), 8-11, 21, 29-30.
NARAYANAN, E. S.— The seasonal pests of crops; the red pumpkin beetle and its control, *Indian Fmg, N.S.*, 1953-54, **3**(2), 8-9.
NARAYANAN, E. S.— Seasonal pests of crops. two serious pests of maize and jowar, *Indian Fmg, N.S.*, 1953-54, **3**(3), 8-9.
NARAYANAN, E. S.— Seasonal pests of crops: fruit fly pests of orchards and kitchen gardens, *Indian Fmg, N.S.*, 1953-54, **3**(4), 8-11, 29-32.
NARAYANAN, E. S.— Some major pests of rice and their control, *Indian Fmg, N.S.*, 1953-54, **3**(5), 8-13, 31.
NARAYANAN, E. S.— Seasonal pests of crops: the red hairy caterpillar, *Amsacta moorei* Butler, *Indian Fmg, N.S.*, 1953-54, **3**(6), 8-9.
NARAYANAN, E. S.— Seasonal pests of crops: the mustard saw-fly, *Athalia proxima* Klug., *Indian Fmg, N.S.*, 1953-54, **3**(8), 8-9.
NARAYANAN, E. S.— Seasonal pests of crops: sugarcane leaf hopper, *Pyrilla perpusilla* Walker, *Indian Fmg, N.S.*, 1953-54, **3**(9), 8-9, 30-31.
NARAYANAN, E. S.— Seasonal pests of crops: the painted bug, *Bagrada cruciferarum* Kirk, *Indian Fmg, N.S.*, 1953-54, **3**(10), 8-9, 27.
NARAYANAN, E. S.— Seasonal pests of crops: the mustard aphid, *Indian Fmg, N.S.*, 1953-54, **3**(11), 8-9, 23.
NARAYANAN, E. S.— Seasonal pests of crops: the greasy cutworm, *Agrotis ypsilon* Rott., a serious pest of rabi crops, *Indian Fmg, N.S.*, 1953-54, **3**(12), 8-10, 32.
PATEL, G. A. & BHAT, M. V.— Pests of fibre crops, *Farmer*, 1954, **5**(6), 15-21.
PATEL, G. A. & KADAM, M. V.— Pests of crucifers, chillies, cucurbits and bhindis, *Farmer*, 1954, **5** (5), 31-36.
Plant Protection Adviser to the Government of India, New Delhi — Pests and diseases of agricultural importance to India, *Plant Prot. Bull.*, N Delhi, 1955, **7**(1-4).
RAHMAN, K. A.— *Punjab agric. Coll. Mag.*, Insect Pest Number, 1940, **7**(5-7).
RAKSHPAL, R.— Citrus fruit-sucking moths and their control, *Indian Fmg*, 1945, **6**(10), 441-443.
RAMKRISHNA AYYAR, T. V.— Handbook of Economic Entomology for South India (Superintendent, Government Press, Madras), 1940.
WESLEY, W. K.— Major insect pests of vegetables in Allahabad, U.P. and their control, *Allahabad Fmr*, 1956, **30**(3), 121-128
WESLEY, W. K.— Major insect pests of vegetables in Allahabad, U.P. and their control, *Allahabad Fmr*, 1956, **30**(4), 135-139.

वृक्षों के नाशकजीव

BEESON, C. F. C.— The life-history of the toon shoot and fruit borer, *Hypsipyla robusta* Moore (Lepidoptera: Pyralidae: Phycitinae) with suggestion for its control, *Indian For. Rec.*, 1919, **7**(7), 146-216.
BEESON, C. F. C.— The biology of the genus *Xyleborus* with more new species, *Indian For. Rec.*, 1930, **14**(10), 209-272.
BEESON, C. F. C.— The life-history and control of *Celosterna scabrator* F., *Indian For. Rec.*, 1931, **16**(9), 279-294.
BEESON, C. F. C.— The biological control of teak defoliators, *Indian For.*, 1934, **60**(10), 672-683.
BEESON, C. F. C.— A guide to the control of termites for Forest Officers, *Indian For. Rec., N.S., Ent.*, 1941, **4**(2), 44-90.
BEESON, C. F. C.— The Ecology and Control of the Forest Insects of India and the Neighbouring Countries (Vasant Press, Dehra Dun), 1941.
BEESON, C. F. C. & BHATIA, B. M.— Biology of the Cerambycidae (Coleoptera), *Indian For. Rec., N.S., Ent.*, 1939, **5**(1), 1-235.

BEESON, C. F. C. & CHATTERJEE, N. C — The economic importance of the sal heartwood borer (*Hoplocerambyx spinicornis* Newm.; Cerambycidae), *Indian For. Rec.*, 1925, **11**(8), 223-268.

BEESON, C. F. C. & CHATTERJEE, S. N.— Further notes on the biology of parasites of teak defoliators in India, *Indian For. Rec., N.S., Ent.*, 1939, **5**(5), 355-379.

BHASIN, G. D. & ROONWAL, M. L.— A list of insect pests of forest plants in India and the adjacent countries (arranged alphabetically according to the plant genera and species for the use of forest officers) (*Aberia to Azima*), *Indian For. Bull., N.S.*, 1954, **171**(1), 5-93.

BHATIA, B. M.— On the plant defoliator-parasite complex in the biological control of teak defoliators, *Indian For. Rec., N.S., Ent.*, 1948, **7**(6), 193-211.

CHATTERJEE, N. C., BHASIN, G. D. & BHATIA, B. M.— Insect borers of *Boswellia serrata* and their control, *Indian For. Rec., N.S., Ent.*, 1950, **8**(5), 35-51.

CHATTERJEE, P. N.— On the biology and morphology of *Apanteles machaeralis* Wlkn. (Braconidae, Hymenoptera), *Indian For. Rec., N.S., Ent.*, 1939, **5**(6), 381-395.

CHATTERJEE, P. N.— The ABC of the problem of biological control of teak defoliators, *Madras For. Coll. Mag.*, 1951, 127-132.

CHATTERJEE, P. N.— Ecology and control of the cricket, *Gymnogryllus humeralis* Walker (Orthoptera, Gryllidae) a minor pest of *Casuarina equisetifolia* Forst. seedlings in Bombay State, with a list of other pests of *Casuarina*, *Indian For.*, 1955, **81**(8), 509-515.

FLETCHER, T. B.— Report of the Proceedings of the Fourth Entomological Meeting held at Pusa (Superintendent, Government Press, Calcutta), 1921.

Forest Research Institute, Dehra Dun — Annual Progress Reports, Vol. I & II (Superintendent, Government Press, Calcutta), 1907 & 1908.

GARDNER, J. C. M.— Identification of immature stages of Indian Cerambycidae 1. Cerambycini, *Indian For. Rec.*, 1925, **12**(2), 89-105.

GARDNER, J. C. M.— Descriptions of new species of Niponiidae and Cerambycidae from India, *Indian For. Rec.*, 1925, **12**(7), 193-209.

GARDNER, J. C. M.— The early stages of two Indian weevils (Coleoptera· Curculionidae), *Stylops*, 1933, **2**(4), 81-85.

GARDNER, J. C. M.— Immature stages of Indian Lepidoptera, (1) Lymantriidae, *Indian For. Rec., N.S., Ent.*, 1938, **3**(10), 187-212.

GARDNER, J. C. M.— Immature stages of Indian Lepidoptera, (2) Noctuidae, Hypsidae, *Indian For. Rec., N.S., Ent.*, 1941, **6**(8), 253-293.

GARDNER, J. C. M.—.A list of described immature stages of Indian Coleoptera, *Indian For. Rec., N.S., Ent.*, 1948, **7**(5), 163-190.

KÖNIG, J. G.— Naturgeschichte der sogenannten Weissen Ameisen, *Beschaftigungen der Berlinischen Gesellschaft Naturforschender Freunde*, 1779, **4**, 1-28. (English Translation by T. B. Fletcher in Report of the Proceedings of the Fourth Entomological Meeting held at Pusa, 1921, 312-333).

LEFROY, H. M. & HOWLETT, F. M.— Indian Insect Life (Thacker, Spink & Co., Calcutta), 1909.

MATHUR, R. N.— On the biology of the Noctuidae (Lepidoptera), *Indian For. Rec., N.S., Ent.*, 1942, **7**(3), 74-154.

RAHMAN, K. A. & KHAN, A. W.— A study of the life-history and control of *Batocera horsfieldi* Hope (Lamiidae — Coleoptera)— a borer pest of walnut tree in the Punjab, *Proc. Indian Acad. Sci.*, 1952, **15B**, 202-205.

ROONWAL, M. L.— Locust and grasshopper damages to Indian crops, *Chem. Age, Bombay, Ser.* **2**, 1950, 175-182.

ROONWAL, M. L — Practical directions for the prophylactic treatment of timber, bamboos and plywood for protection against insect damage, *Indian For.*, 1951, **77**, 648-650.

ROONWAL, M. L — Forest Protection, Biological, Insects (India), Paper for the 6th Commonwealth Forestry Conference, Ottawa, Canada, 1952, Advance print, 1-5.

ROONWAL, M. L — Study of a Recent Epidemic of the Sal (*Shorea robusta*) Heartwood Borer, *Hoplocerambyx spinicornis* (Newman) (Coleoptera, Cerambycidae) in the Nahan Forest Division, Himachal Pradesh, India, Paper for the 6th Commonwealth Forestry Conference, Ottawa, Canada, 1952, Advance print, 1-7.

ROONWAL, M. L.— The natural establishment and dispersal of an imported insect in India — The lantana bug, *Teleonemia scrupulosa* Stal (*lantanae* Distant; Hemiptera, Tingidae), with a description of its egg, nymphs and adults, *J. zool. Soc. India*, 1952, **4**(1), 1-16.

ROONWAL, M. L.— Unusual population eruption of the moth, *Lymantria mathura* Moore, in autumn, *Curr. Sci.*, 1953, **22**, 384.

ROONWAL, M. L.— A brief review of the progress of entomology in India during the period 1938-1950 together with a bibliography, *Mem. ent. Soc. India*, No. 3, 1954, 1-119.

ROONWAL, M. L.— Biology and ecology of oriental termites (Isoptera) No. 1, *Odontotermes parvidens* Holmg. & Holmg. severely damaging the bark and contributing to the death of standing teak tree in Uttar Pradesh, India, *J. Bombay nat. Hist. Soc.*, 1954-55, **52**(2 & 3), 459-462.

ROONWAL, M. L — Progress of Science in India: 1938-50. Sec. VII — Zoology: subsection II — Entomology; National Institute of Science, India, 1955.

ROONWAL, M. L.— Termites ruining a township, *Z. angew. Ent.*, 1955, **38**(1), 103-104.

ROONWAL, M. L.— Recent advances in forest entomology in India, *Proc. zool. Soc. Beng.* (*Mookerjee Memorial Vol.*), 1957, 329-338.

ROONWAL, M. L. & SEN-SARMA, P. K.— Biology and ecology of oriental termites (Isoptera) No. 3. Some observations on *Neotermes gardneri* (Snyder) (Kalotermitidae), *J. Bombay nat. Hist. Soc.*, 1955, **53**(2), 234-239.

SINGH, B.— Observation on the biology of the cricket, *Gymnogryllus humeralis* Walker (Insecta, Orthoptera, Gryllidae) in the Dehra Dun Insectary, *J. zool. Soc. India*, 1952, **4**(1), 47-62.

STEBBING, E. P.— Injurious Insects of Indian Forests (Superintendent, Government Press, Calcutta), 1899.

STEBBING, E. P.— A Manual of Elementary Forest Zoology for India (Superintendent, Government Press, Calcutta), 1908.

STEBBING, E. P.— Indian Forest Insects of Economic Importance, Coleoptera (Superintendent, Government of India Publication, London), 1914.

THOMPSON, R.— Report on Insects Destructive to Woods and Forests (Government Printing Press, Allahabad), 1868.

भंडारित कृषि उत्पादों के नाशकजीव

KRISHNAMURTI, B. & APPANNA, M.— Some important insect pests of stored grains and their control, *Bull. agric. Coll. & Res. Inst. Mysore, Ent.*, No. 14, 1950, 1-93.

MUTHU, M. & PINGALE, S. V.— Control of insect pests in grains stored in insecticide-impregnated jute bags, *J. Sci. Fd Agric.*, 1955, **6**(10), 637-640.

NARAYANAN, E. S.— Insect pests of stored grains and their control, *Indian Fmg, N.S.*, 1953-54, **3**(7), 8-13, 26-27.

PINGALE, S. V. & BALU, V.— Past and present practices of controlling insect pests of stored grains in India, *Bull. cent. Fd technol. Res. Inst., Mysore*, 1954, **4**(3), 62.

Plant Protection Adviser to the Government of India, New Delhi — Pests and diseases of agricultural importance to India, *Plant Prot. Bull., N. Delhi*, 1955, **7**(1-4).

PRADHAN, S. & SHARMA, G. C.— Control of khapra (*Trogoderma granarium* Everts), *Curr. Sci.*, 1956, **25**(1), 22.

PRUTHI, H. S.— Control of insect pests of stored food stuffs, *Indian Fmg*, 1943, **4**(2), 86-90.

PRUTHI, H. S. & SINGH, M.— Pests of stored grain and their control, *Indian J. agric. Sci.*, 1948, **18**(4).

RAHMAN, K. A.— Insect pests of stored grains in the Punjab and their control, *Indian J. agric. Sci.*, 1942, **12**(4), 564-597.

RAMAKRISHNA AYYAR, T. V.— Handbook of Economic Entomology for South India (Superintendent, Government Press, Madras), 1940.

पादप वाइरसों के रोगवाहक कीट

BAWDEN, F. C.— Plant Viruses and Virus Diseases (Chronica Botanica Company, Waltham, U.S.A.), 1950.
CHESTER, K. S.— Nature and Prevention of Plant Diseases (McGraw-Hill Book Company, Inc., New York), 1950.
SMITH, K. M.— A Text-book of Plant Virus Diseases (J. & A. Churchill, Ltd., London), 1957.
STAKMAN, E. C. & HARRAR, J. G.— Principles of Plant Pathology (The Ronald Press Company, New York), 1957.
WALKER, J. C.— Plant Pathology (McGraw-Hill Book Company, Inc., New York), 1957.

पशुओं और अन्य पालतू जानवरों के नाशक-कीट

BASU, B. C.— The evolution of applied entomology in India and its future, *Proc. Indian Sci. Congr.*, 1950, pt 2, 151-173.
BASU, B. C., MENON, P. B. & SEN GUPTA, C. M.— Regional distribution of *Tabanus* flies in India and its relationship to the incidence of Surra, *Indian J. vet. Sci.*, 1952, **22**(4), 273-292.
FLETCHER, T. B. & SEN, S. K.— Veterinary entomology for India, *J. cent. Bur. Anim. Husb. India*, 1927, **1**(1), 9-122.
FLETCHER, T. B. & SEN, S. K.— Veterinary entomology for India, *Indian J. vet. Sci.*, 1931, **1**(3), 192-199.
HERMS, W. B.— Medical and Veterinary Entomology (The Macmillan & Co., New York), 1923.
Insecticides: Manual of Specifications for Insecticides and for Spraying and Dusting Apparatus, World Health Organization, 1953.
METCALF, C. L., FLINT, W. P. & METCALF, R. L.— Destructive and Useful Insects, Their Habits and Control (McGraw-Hill Book Company, Inc., New York), 1951.
MINETT, F. C.— Outline of Veterinary Science (Manager of Publications, Government of Pakistan, Karachi), 1949.
PATTON, W. S. & EVANS, A. M.— Insects, Ticks, Mites and Venomous Animals of Medical and Veterinary Importance, pt 2, Public Health (H. R. Grubb, Ltd., Croydon, England), 1931.
ROY, D. N. & BROWN, A. W.— Entomology, Medical and Veterinary (Excelsior Press, Calcutta), 2nd edn, 1946.
SEN, P.— A note on some ectoparasites of poultry and their control, *Indian J. vet. Sci.*, 1940, **10**(2), 218-222.
SONI, B. N.— Observations on the bionomics of the ox warble fly (*Hypoderma lineatum* De Villers), *Indian J. vet. Sci.*, 1938, **8**(4), 375-380.
SONI, B. N.— Damage to hides caused by cattle ticks in India, *Indian J. vet. Sci.*, 1939, **9**(4), 361-365.
SONI, B. N.— Preliminary observations on the bionomics of the goat warble-fly (*Hypoderma crossi* Patton), *Indian J. vet. Sci.*, 1940, **10**(3), 280-283.
The Yearbook of Agriculture — Insects (United States Department of Agriculture, Washington), 1952.
WATERSTON, J.— Fleas as a menace to man and domestic animals, their life-history, habits and control, *Econ. Ser. Brit. Mus.*, No. 3, 1916.

मानव के नाशक-कीट

AUSTEN, E. E.— The housefly as a danger to health, its life-history and how to deal with it, *Econ. Ser. Brit. Mus.*, No. 1, 1913.
BEESON, C. F. C.— The Ecology and Control of the Forest Insects of India and the Neighbouring Countries (Vasant Press, Dehra Dun), 1941.
BUXTON, P. A.— The Louse; an Account of the Lice which infest Man, Their Medical Importance and Control (Edward Arnold & Co., London), 1947.
HERMS, W. B.— Medical and Veterinary Entomology (The Macmillan & Co., New York), 1923.
IMMS, A. D.— A General Text-book of Entomology including the Anatomy, Physiology, Development and Classification of Insects (Methuen & Co., Ltd., London), 1957.
LEFROY, H. M. & HOWLETT, F. M.— Indian Insect Life (Thacker, Spink & Co., Calcutta), 1909.
MATHESON, R.— Medical Entomology (Comstock Publishing Co., Ithaca, New York).
METCALF, C. L., FLINT, W. P. & METCALF, R. L.— Destructive and Useful Insects, Their Habits and Control (McGraw-Hill Book Company, Inc., New York), 1951.
PATTON, W. S. & CRAGG, F. W.— A Text-book of Medical Entomology (Christian Literature Society for India, Calcutta), 1913.
PATTON, W. S. & EVANS, A. M.— Insects, Ticks, Mites and Venomous Animals of Medical and Veterinary Importance, pt 1, Medical (H. R. Grubb, Ltd., Croydon, England), 1929.
PIERCE, W. D.— Sanitary Entomology (Richard G. Badger, The Gorham Press, Boston, U.S.A.), 1921.
PURI, I. M.— The house frequenting flies, their habits and their control, *Hlth Bull.*, No. 31, 1948.
ROY, D. N. & BROWN, A. W.— Entomology, Medical and Veterinary (Excelsior Press, Calcutta), 2nd edn, 1946.
SINGH, M.— Household insect pests and their control — I, *Indian Fmg*, 1941, **2**(5), 238-241.
SINGH, M.— Household insect pests and their control — II, *Indian Fmg*, 1943, **4**(5), 247-250.
SINGH, M — Household insect pests and their control — III, *Indian Fmg*, 1943, **4**(6), 285-287.
SINGH, M.— Household insect pests and their control — IV, *Indian Fmg*, 1943, **4**(12), 608-610.
SINGH, M.— Household insect pests and their control — V, *Indian Fmg*, 1944 **5**(1), 26-28.
SMART, J.— Lice, *Econ. Ser. Brit. Mus.*, No. 2A, 1942.
SMART, J., JORDAN, K. & WHITTICK, R. J.— A Handbook for the Identification of Insects of Medical Importance (British Museum, London), 1943.
The Yearbook of Agriculture — Insects (United States Department of Agriculture, Washington), 1952.
WATERSTON, J.— Fleas as a menace to man and domestic animals, their life-history, habits and control, *Econ. Ser. Brit. Mus.*, No. 3, 1916.

नाशक-कीटों के नियंत्रण की सामान्य विधियाँ

DE ONG, E. R.— Chemistry and Uses of Insecticides (Reinhold Publishing Corporation, New York), 1948.
FABRE, RENE, & TRUHAUT — The Problem of Residues from Pesticides in Foodstuffs from the Point of View of Health, Proceedings of the Second International Plant Protection Conference (Butterworths Scientific Publications, London), 1957.
FREAR, D. E. H.— Chemistry of Insecticides and Fungicides (D. Van Nostrand Co, Inc., New York), 1945.
HOWARD, L. O.— The Insect Menace (D. Appleton & Co., London), 1931.
KIRK, R. E. & OTHMER, D. F.— Encyclopedia of Chemical Technology (The Interscience Encyclopedia, Inc., New York), VIII, 1951.
LAL, K. B.— Why Plant Quarantine, *Indian Fmg, N.S.*, 1957-58, **7**(3), 28.
MAYA DAS, C.— Between Us and Hunger (Oxford University Press, London), 1954.
MCCUBBIN, W. A.— The Plant Quarantine Problem (Ejnar Munksgaard, Copenhagen), 1954.
METCALF, C. L., FLINT, W. P. & METCALF, R. L.— Destructive and Useful Insects, Their Habits and Control (McGraw-Hill Book Company, Inc., New York), 1951.
METCALF, R. L.— Organic Insecticides: Their Chemistry and Mode of Action (Interscience Publishers, Inc., New York), 1955.
PADMANABHAN, S. Y. & ISRAEL, P.— Prospects bright for pest and disease control, *Indian Fmg, N.S.*, 1956-57, **6**(8).
PAINTER, R. H.— Insect Resistance in Crop Plants (The Macmillan Co., New York), 1951.
Plant Protection Adviser to the Government of India, New Delhi — Pests and diseases of agricultural importance in India, *Plant Prot. Bull., N. Delhi*, 1955, **7**(1-4).
PRUTHI, H. S.— Ecology and control of insects, *Indian J. Ent.*, 1939, **1**(3), 87-91.

RAMACHANDRA RAO, Y., CHERIAN, M. C. & ANANTHANARAYANAN K. P.— Infestations of *Nephantis serinopa* Meyr. in South India and their Control by the biological method, *Indian J. Ent.*, 1948, **10**(2), 205-247.
ROSE, G. J.— Crop Protection (Leonard Hill, Ltd., London), 1955.
SWEETMAN, H. L.— The Biological Control of Insects (Comstock Publishing Company, Inc., New York), 1936.
THOMAS, F. J. D.— The Residual Effects of Crop Protection Chemicals in the Soil, Proceedings of the Second International Plant Protection Conference (Butterworths Scientific Publications, London), 1957.
Van Nostrand's Scientific Encyclopedia (D. Van Nostrand Co., Inc., New York), 3rd edn, 1958.
WEST, T. F. & CAMPBELL, G. A.— DDT and Newer Persistent Insecticides (Chapman & Hall, Ltd., London), 2nd edn, 1950.

लाभकारी कीट

AHMAD, M.— Some new species of parasitic Hymenoptera from India, *Indian J. Ent.*, 1945, **7**(1), 5-11.
Anonymous — Complete control with *Rodolia*: Story of a successful campaign against a serious pest in Madras, *Indian Fmg, N.S.*, 1954-55, **4**(3), 8.
BEESON, C. F. C.— The biological control of teak defoliators, *Indian For.*, 1934, **60**(10), 672-683.
BEESON, C. F. C.— The Ecology and Control of the Forest Insects of India and the Neighbouring Countries (Vasant Press, Dehra Dun), 1941.
BODENHEIMER, F. S.— Insects as Human Food (Dr. W. Junk, The Hague, Netherlands), 1951.
BRISTOWE, W. S.— Insects and other invertebrates for human consumption in Siam, *Trans. R. ent. Soc. Lond.*, 1932, **80**, 387-404.
CHATTERJEE, N. C.— Biological control of the brinjal mealy bug and aphis by *Hyperaspis maindroni* Sic., *Curr. Sci.*, 1954, **23**, 133.
CLAUSEN, C. P.— Entomophagous Insects (McGraw-Hill Publishing Co., Ltd., London and New York), 1940.
DESHPANDE, V. G.— Eradication of prickly pear by cochineal insects, *Agric. Live-Stk India*, 1935, **5**, 36-42.
ESSIG, E. O.— College Entomology (The Macmillan Company, New York), 1942.
HOFFMANN, W. E.— Insects as human food, *Proc. ent. Soc. Wash*, 1947, **49**(9), 233-237.
KAPUR, A. P.— Bionomics of some Coccinellidae predaceou on aphids and coccids in North India, *Indian J. Ent.*, 1942, **4**(1), 49-66.
KRISHNAMURTI, B. & USMAN, S.— Some insect parasites of economic importance noted in Mysore State, *Indian J. Ent.*, 1954, **16**(4), 327-344.
LAL, K. B.— Parasitism in insects, *Curr. Sci.*, 1939, **8**, 55-59.
LEFROY, H. M. & HOWLETT, F. M.— Indian Insect Life (Thacker, Spink & Co., Calcutta), 1909.
MANI, M. S.— Studies on Indian parasitic Hymenoptera — I, *Indian J. Ent.*, 1941, **3**(1), 25-36.
MANI, M. S.— Studies on Indian parasitic Hymenoptera — II, *Indian J. Ent.*, 1942, **4**(2), 153-162.
MANI, M. S.— Introduction to Entomology (Agra University Press, Agra), 1955.
MATHUR, R. N.— Insects and other wild animals as human food, *Indian For.*, 1954, **80**(8), 427-432.
METCALF, C. L., FLINT, W. P. & METCALF, R. L.— Destructive and Useful Insects, Their Habits and Control (McGraw-Hill Book Company, Inc., New York), 1951.
NARAYANAN, E. S.— Notes on some Indian parasitic Hymenoptera with a description of a new Cynipid, *Indian J. Ent.*, 1941, **3**(1), 59-63.
NEGI, P. S., MISRA, M. P. & GUPTA, S. N.— Ants and the lac insect (*Laccifer lacca*), *J. Bombay nat. His. Soc.*, 1930-31, **34**(1), 182-188.
PUTTARUDRIAH, M.— Achievements in the field of biological control of insect and weed pests, *Mysore agric. J.*, 1953, **29**(3-4), 92.
PUTTARUDRIAH, M. & CHENNA BASAVANNA, G. P.— Beneficial coccinellids of Mysore — I, *Indian J. Ent.*, 1953, **15**(2), 87-96.
PUTTARUDRIAH, M. & CHENNA BASAVANNA, G. P.— Beneficial coccinellids of Mysore — II, *Indian J. Ent.*, 1955, **17**(1), 1-5.
PUTTARUDRIAH, M. & CHENNA BASAVANNA, G. P.— Some beneficial coccinellids of Mysore, *J. Bombay nat. Hist. Soc.*, 1956-57, **54**(1), 156-159.
PUTTARUDRIAH, M., CHENNA BASAVANNA, G. P. & KRISHNAMURTI, B.— Discovery of *Cryptolaemus montrouzieri* Mulsant (Coccinellidae, Coleoptera) in Bangalore, South India, *Nature, Lond.*, 1952, **169**, 377.
RAHMAN, K. A.— Important insect predators in India, *Proc. Indian Acad. Sci.*, 1940, **12B**(3), 67-74.
RAMACHANDRA, RAO, Y. & CHERIAN, M. C.— The fluted scale, *Icerya purchasi* Mask., as a pest of wattles in S. India and its control by the biological method, *Madras agric. J.*, 1944, **32**(3 & 7), 92, 131.
RAMAKRISHNA AYYAR, T. V.— Coccidae of the prickly pear in S. India and their economic importance, *Agric. Live-Stk India*, 1931, **1**, 229-237.
RAMAKRISHNA AYYAR, T. V.— Handbook of Economic Entomology for South India (Superintendent, Government Press, Madras), 1940.
ROONWAL, M. L.— The natural establishment and dispersal of an imported insect in India — The lantana bug, *Teleonemia scrupulosa* Stal (*lantanae* Distant; Hemiptera, Tingidae), with a description of its egg, nymphs and adults, *J. zool. Soc. India*, 1952, **4**(1), 1-16.
SUBRAHMANIAM, T. V.— Termite collecting in South India for food, *J. Bombay nat. Hist. Soc.*, 1934-35, **37**(1), 498.
SUBRAMANIAM, V. K.— Control of the fluted scale in Peninsular India, *Indian J. Ent.*, 1954, **16**(4), 391-415.
SUBRAMANIAM, V. K.— Control of the fluted scale in Peninsular India, *Indian J. Ent.*, 1955, **17**(1), 103-120.
SWEETMAN, H. L.— The Biological Control of Insects (Comstock Publishing Company, Inc., New York), 1936.
The Yearbook of Agriculture — Insects (United States Department of Agriculture, Washington, D.C.), 1952.
TIRUMALA RAO, V., LEELA DAVID, A. & MOHAN RAO, K. R. — Attempts at the utilization of *Cailocorus nigritus* Fab in the Madras State, *Indian J. Ent.*, 1954, **16**(3), 205-209.
TODD, A — The colouring matters of aphids, *Chem. & Ind.*, 1954, **40**, 1221.
TREHAN, K. N.— The role of the predators in biological control of insect pests, *Curr. Sci.*, 1943, **12**, 223-225.

कीटोकार्पस थ्वेट्स (यूफोर्बिएसी) CHAETOCARPUS Thw.

ले.–केटोकार्पुस

D. E. P., II, 262; Fl. Br. Ind., V, 460.

इस वंश में उष्णकटिबंधीय झाड़ियों और पेड़ों की 12 जातियाँ सम्मिलित हैं जिनमें से 3 जातियाँ भारत में पाई जाती हैं. **की. केस्टेनोकार्पस थ्वेट्स** एक मध्यम आकार का पेड़ होता है तथा बंगाल, असम, ब्रह्मा, अण्डमान द्वीप-समूह तथा श्रीलंका में पाया जाता है. इसकी लकड़ी हल्के लाल-भूरे रंग की, सघन दानेदार, कठोर, भारी (928 किग्रा./घमी.) तथा टिकाऊ होती है. इससे खंभे, डंडे तथा बल्लियाँ बनाए जाते हैं. श्रीलंका में प्राप्त **की. कोरिएसियस थ्वेट्स** भी इमारती लकड़ी के लिए उपयोगी है (Lewis, 339).

Euphorbiaceae; *C. castanocarpus* Thw.; *C. coriaceus* Thw.

कीनोपोडियम लिनिअस (**कीनोपोडिएसी**)
CHENOPODIUM Linn.

ले. – केनोपोडिऊम

यह अत्यन्त विशाल वंश है जिसमें बूटियों की 250 से अधिक जातियाँ सम्मिलित हैं जो संसार भर में सर्वत्र पाई जाती हैं. इसकी लगभग 8 जातियाँ भारत में पाई जाती हैं.
Chenopodiaceae

की. एम्ब्रोसिओइडिज लिनिअस C. ambrosioides Linn.

मैक्सिकन चाय

ले.—के. अम्ब्रोसिओइडेस

D.E.P., II, 267; Pl. Br. Ind., V, 4.

मल. – काटु अयमोदकम.

यह सीधी, काफी प्रशाखित, 60–120 सेंमी. ऊँची, सुगंधित, ग्रंथिल, रोमयुक्त बूटी है जो बंगाल, सिलहट तथा दक्षिण भारत में पायी जाती है. इसके फल छोटे-छोटे और पत्र-मंजरी में गुम्फित होते हैं. इसका समूचा पौधा सुगंधियुक्त होता है जिसमें कपूर जैसी गंध निकलती है. इसके फल कुछ गोलाकार, पिचके हुए तथा बीज एक पतले बीज-कोष से ढके हुए होते हैं. इसके बीज छोटे (लगभग 0·08 सेंमी. व्यास वाले), वर्तुलाकार, भूरे बादामी रंग के, चिकने तथा चमकदार होते हैं और उनका स्वाद कड़वा तथा तीखा होता है. ग्रंथिल रोमों में, विशेषतः फल-आवरण के ग्रंथिल रोमों में, एक ओषधिगुण सम्पन्न वाष्पशील तेल रहता है.

अमेरिकी **की. एम्ब्रोसिओइडिज** वैर. **एंथेलमिंटिकम** ग्रे (**की. एंथेलमिंटिकम** लिनिअस) के साथ इस पौधे का निकट सम्बंध है और उसके स्थान पर इसका प्रयोग किया जाता है. यह पौधा वार्मसीड तेल का प्रमुख स्रोत है. **की. एम्ब्रोसिओइडिज** की विशिष्ट जातियों को, इसके अन्तःवर्गों के कारण, वैर. **एंथेलमिंटिकम** से पृथक् पहचानना सदैव सरल नहीं है. **की. एम्ब्रोसिओइडिज** की एक विलक्षणता यह है कि इसकी अग्रमंजरी पत्र-युक्त होती है जबकि वैर. **एंथेलमिंटिकम** में ऐसी नहीं होती.

की. एम्ब्रोसिओइडिज वैर. **एंथेलमिंटिकम** की खेती मुंगपु (बंगाल) में कुछ वर्ष पहले प्रारम्भ की गई थी किन्तु बाद में बन्द कर दी गयी क्योंकि व्यापारिक दृष्टि से लाभकर नहीं पाई गई.

यह पौधा कृमिहर है और इससे प्राप्त वाष्पशील तेल सामान्यतः दवाओं में प्रयुक्त होता है. इस अपरिष्कृत अमेरिकी ओषधि की एक खुराक 1.3-2.6 ग्रा. तक की होती है किन्तु अब इसके बजाय इसका तेल काम में लाया जाता है (खुराक, 5–15 मिनिम्स). प्रामाणिक रूप से **कीनोपोडियम** तेल प्राप्त करने के लिए पहले **की. एम्ब्रोसिओडिज** वैर. **एंथेलमिंटिकम** के पुष्पित एवं फलित पौधों को, जड़ बचाकर काट लिया जाता है, तत्पश्चात् ताजे या अधसूखे पौधों के भापीय आसवन से तेल प्राप्त कर लिया जाता है. अधिक समय तक ऊष्मा के सम्पर्क में रहने से इसके सक्रिय घटक (एस्केरिडाल) को उड़ने से बचाने के लिए शीघ्र आसवन के हेतु उच्च दाब वाली भाप का प्रयोग किया जाता है. इस तेल का रंग फीके पीले से नारंगी पीला तक होता है. इसमें से अरुचिकर गंध रहती है और स्वाद कड़वा तीखा होता है. यह कृमिहर निष्कर्ष ही एस्केरिडाल, $C_{10}H_{16}O_2$ (वि. घ., 1.008; $[\alpha]$, $-4°4'$; n, 1·4731; क्व.बि., 5 मिमी. पर 83°) कहलाता है जिसकी सान्द्रता प्रामाणिक अमेरिकी तेल में 65% से कम नहीं होती. एस्केरिडाल की संरचना परऑक्साइड की संरचना से मिलती-जुलती होती है और सिनिआल के काफी निकट होती है. 130–150° तक गर्म करने पर यह विस्फोटक आघात के साथ अपघटित होता है (U.S.D., 1397; Finnemore, 240; Parry, II, 285).

यह तेल अनेक आंत्र परजीवियों के ऊपर घातक प्रभाव डालता है. कीनोपोडियम तेल (4 मिली.) को टेट्राक्लोरोएथिलीन के साथ 1 : 3 के अनुपात से मिलाकर बनाया हुआ विलयन अंकुश कृमियों के संक्रमण के उपचार में लाभदायक सिद्ध हुआ है. एस्केरिस रोगों का उपचार भी कीनोपोडियम तेल (1 मिली.) तथा सेंटोनिन (5 ग्रेन) के मिश्रण द्वारा सफलतापूर्वक किया गया है. यह अमीबी अतिसार या आँव के दस्तों का इलाज करने में भी लाभदायक है. आँतों में यदि मिले-जुले कृमि हों तो उनका उपचार करने के लिए कीनोपोडियम तेल को कार्बन टेट्राक्लोराइड के साथ मिलाकर प्रयोग करने की राय दी जाती है. शुद्ध या अकेले निकेटर कृमियों को तो कार्बन टेट्राक्लोराइड से वश में किया जा सकता है किन्तु एंकिलोस्टोमा का इलाज इन दोनों रसायनों के ऐसे मिश्रण से तुरन्त किया जा सकता है जिसमें कीनोपोडियम तेल की मात्रा का अनुपात अधिक हो. भारत में मिले-जुले परजीवी कृमियों का रोग अत्यन्त व्यापक है इसलिए आशा है कि देश में कीनोपोडियम तेल की माँग घटेगी नहीं. किन्तु इस तेल का प्रयोग बड़ी सावधानी से करना चाहिए. असावधानी बरतने से विषाक्तता के घातक लक्षण प्रकट होने लगते हैं जिससे अवसाद, मिचली, वमन, बधिरता, दृष्टि धुंध, गहरी नींद आदि लक्षण प्रकट होते हैं. कभी-कभी बेहोशी और मृत्यु तक होने के भी समाचार मिले हैं. बच्चों, दुर्बल व्यक्तियों, तथा ऐसे रोगियों को कीनोपोडियम तेल नहीं देना चाहिए जो वृक्कीय, हृदयी तथा यकृतीय रोगों से ग्रस्त हों और जिनकी आमाशय-आन्त्र प्रणाली में घाव हों (Mason, *Indian med. Gaz.*, 1934, **69**, 500; Majumdar, ibid., 1940, **75**, 652; Chopra & Mukherji, *Indian med. Gaz.*, 1932, **67**, 5; U.S.D., 253).

कुत्तों के पेट में होने वाले गोलकृमि तथा अंकुश कृमियों, सूअरों के एस्केरिडों या केंचुओं, और घोड़ों में होने वाले स्ट्रोंजिलीस कृमियों को नष्ट करने में कीनोपोडियम तेल उपयोगी है. कृमिहर विलयन जलीय अनुपान द्वारा दिए जा सकते हैं. इन विलयनों को बनाने के लिए एस्केरिडाल या कीनोपोडियम तेल को किसी उच्च वसा-अम्ल के क्षारीय व्युत्पन्न के लवण में विलयित किया जाता है (U.S.D., 1734; *Chem. Abstr.*, 1935, **29**, 7020).

भारतीय **की. एम्ब्रोसिओइडिज** (उपलब्धि, 0·17%) और **की. एम्ब्रोसिओइडिज** वैर. **एंथेलमिंटिकम** (उपलब्धि, 0·24%) से प्राप्त तेल के वि. घ., 0·9399 तथा 0·9080; और $[\alpha]_D^{15°}$, +0·07° तथा –9·6° होते हैं जबकि इसकी तुलना में अमेरिकी कृमि तेल का वि. घ., 0·9669; और $[\alpha]_D$, –5·6° होता है. मिश्रित भारतीय तेल (जो भारत में उत्पन्न **की. एम्ब्रोसिओइडिज** तथा **की. एम्ब्रोसिओइडिज** वैर. **एंथेलमिंटिकम** के मिश्रण से

सारणी 1 – मिश्रित भारतीय तेल के अवयवों का विवरण

	मिश्रित भारतीय तेल %	अमेरिकी कृमि तेल %
हाइड्रोकार्बन	45-50	30-40
α-टर्पिनीन	नहीं	5
p-साइमीन	25	15
कीनोपोडियम टर्पीन	..	10
एस्कैरिडाल	46	65
अवशेष	4	5

प्राप्त किया जाता है) के अवयवों का विवरण सारणी 1 में दिया गया है (Henry & Paget, *J. chem. Soc.*, 1921, **119,** 1714; Chopra, 92).

भारतीय कीनोपोडियम तेल मुख्यत: **की. एम्ब्रोसिओइडिज** से निकाला जाता है और इसमें 40–45% एस्कैरिडाल रहता है. उपस्थित हाइड्रोकार्बनों की प्रकृति की दृष्टि से यह अमेरिकी तेल से भिन्न है. यह संयुक्त राज्य अमेरिका की फार्माकोपिया के लिए अपेक्षित शर्तें पूरी नहीं करता किन्तु कृमिहर के रूप में यह पूर्णत: मान्य है और इसकी उच्चतर खुराक (5–20 मिनिम्स) का निर्देश किया गया है (I.P.L., 85).

एस्कैरिडाल के अतिरिक्त इस तेल में *p*-साइमीन, α-टर्पिनीन, $\Delta^{2-8(9)}$ मेंथाडीन; और ब्यूटिरिक अम्ल, सैंफोल तथा मेथिल सैलिसिलेट के भी कुछ अंश होते हैं (Thorpe, III, 24).

कीनोपोडियम तेल को ऐसे ठंडे स्थान में रखना चाहिए जहाँ प्रकाश की किरणें सीधी न पड़ती हों अन्यथा एस्कैरिडाल की हानि का भय रहता है (*Schimmel Rep.*, 1945, 56).

अमेरिकी वैर. **एंथेलमिंटिकम** के सूखे फलों से 2·5% तेल प्राप्त किया जा सकता है किन्तु व्यापारिक उत्पादन के लिए जिस रूप में इस बूटी का प्रयोग किया जाता है उससे केवल 1% ही तेल प्राप्त होता है. इसकी पत्तियों से प्राप्त तेल (0·25%) में अरुचिकर तथा संवेदनमंदक गंध होती है जो डाइमेथिलऐमीन की गंध से मिलती-जुलती है. इसकी नवीन कोंपलों से अमोनिया गैस निकलती रहती है. कीनोपोडियम में विटामिन सी, 1·02 मिग्रा./ग्रा.; तथा मैग्नीशियम फॉस्फेट, 0·5–1·0% रहते है (Wehmer, I, 283; Kraemer, 228; *Chem. Abstr.*, 1943, **37,** 192; 1948, **42,** 4277).

var. *anthelminticum*

की. एल्बम लिनिअस C. album Linn. लैम्ब्स क्वार्टर्स

ले. – के. अल्बूम

D.E.P., II, 265; C.P., 293; Fl. Br. Ind., V, 3.

हिं. – वेथू साग; बं. – चंदन वेटू, वेथूसाग; त. – पैरुपुक्किराई; ते. – पप्पुकुड़ा.

यह एक लघु गंधहीन बूटी है जो जंगली तथा कृष्ट अनेक रूपों में सारे भारत में 4,200 मी. की ऊँचाई तक पायी जाती है. पश्चिमी हिमालय क्षेत्र में यह शाक-भाजी तथा धान्य के रूप में उगायी जाती है. **एल्बम, विरिडे** और **परप्यूरियम** इसकी सामान्य किस्में हैं.

पौधे में कोलेस्टेराल से मिलता-जुलता एक ईथरी तेल रहता है. इसमें अमोनिया तथा ऐमीन स्वतंत्र तथा संयुक्त दोनों ही अवस्थाओं में पाए जाते हैं. बीज का विश्लेषण करने पर (शुष्क भार के आधार पर) प्रोटीन, 15·4–16·8; वसा, 5·8–8·1; नाइट्रोजन रहित निष्कर्ष, 47·7–50·0; कच्चा रेशा, 18·4–21·5; तथा राख, 4·8–7·0% प्राप्त हुई. इसके फलों में से प्राप्त तेल के निम्नलिखित स्थिरांक हैं: वि.घ.$^{20°}$, 0.9353; $n^{20°}$, 1.4799; साबु. मान, 153·6; अम्ल मान, 41.5; एस्टर मान, 112·2; आयो. मान, 69·6; थायोसायनोजन मान, 52·46. इसमें 2·29% असाबु. पदार्थ, 2% लिनोलेनिक अम्ल और सूक्ष्म मात्रा में एस्कैरिडाल पाया जाता है. **की. एल्बम** में 7·1–9·3 मिग्रा./100 ग्रा. केरोटीन, और 66–96 मिग्रा./100 ग्रा. विटामिन सी पाया गया है (Wehmer, I, 283; Winton & Winton, I, 325; *Chem. Abstr.*, 1941, **35**, 7650; 1945, **39**, 1695).

इस पौधे की वृद्धि पर मैग्नीशियम का काफी उद्दीपक प्रभाव होता है. किसी क्षेत्र में इस तत्व की उपस्थिति का पता लगाने में इसकी वृद्धि संकेतक रूप में प्रयुक्त की जा सकती है (*Chem. Abstr.*, 1934, **28**, 7397).

की. बोट्रिस लिनिअस C. botrys Linn.

ले. – के. बोट्रिस

D.E.P., II, 267; Fl. Br. Ind., V, 4.

यह तेज सुगंधवाली ग्रंथिल बूटी है जो 30–90 सेंमी. ऊँची होती है और हिमालय में कश्मीर से लेकर सिक्किम तक पायी जाती है.

इसके हरे पौधे का भापीय आसवन करने पर (0·03–0·04%) पीलाभ ईथरी तेल (आ.घ.$^{20°}$, 0·908; $n_D^{20°}$, 1·491; अम्ल मान, 0.6; और एस्टर मान, 22.8) प्राप्त होता है, जिसकी गंध अरुचिकर होती है और जिसमें 5% तक ऐल्डिहाइड और कीटोन तथा 1% फीनॉल पाये जाते हैं किन्तु एस्कैरिडाल नहीं पाया जाता (*Chem. Abstr.*, 1934, 28, 3179; 1937, **31**, 4147).

इस पौधे का प्रयोग **की. एम्ब्रोसिओइडिज** के प्रतिस्थायी के रूप में किया जाता है. पता चला है कि फ्रांस तथा दक्षिणी यूरोप में इसका प्रयोग जुकाम तथा त्रिदोष जन्य दमा के उपचार में किया जाता है (Kirt. & Basu, III, 2074).

की. ब्लीटम हूकर पुत्र (पंजाब–कुपालड) कश्मीर में और **की. म्यूरेल** लिनिअस (पंजाब – बाहू, कुरुंड, खरतुआ) भारत के अनेक भागों में पाया जाता है और इनका प्रयोग तरकारी के रूप में किया जाता है.

C. blitum Hook. f.; *C. murale* Linn.

कुकरबिटा लिनिअस (कुकरबिटेसी) CUCURBITA Linn.

ले. – कुकुरबिटा

यह एकवर्षीय या बहुवर्षी भूमि पर फैलने वाली या आरोही बूटियों की लगभग 25 जातियों का वंश है जिनमें से **कु. मैक्सिमा, कु. मासकेटा** और **कु. पीपो** आर्थिक महत्व की हैं.

भारतीय कृष्ट जातियों की पहचान के सम्बन्ध में अधिक भ्रम है. कई जातियों के देशी नाम एक ही हैं, सभी एक ही तरह काम में लाई जाती हैं और उनकी खेती की विधियाँ भी एक-सी हैं. ऐसा अनुमान है कि अधिकांश कृष्ट जातियाँ **कु. मासकेटा** से सम्बद्ध हैं.

प्रत्येक जाति की कई किस्में हैं जिनके फलों में आकार-प्रकार, सुरक्षित रहने और पकाने के गुणों और परिपक्व होने की अवधियों में अन्तर पाया जाता है. इनमें से अधिकतर गरम वर्षा ऋतु में उगाई जाती हैं; कुछ ही ऐसी हैं जिनकी खेती सूखे मौसम में सिंचाई के द्वारा की जाती है. इन्हें दुमट अथवा बलुई मिट्टियों में, जिनमें भरपूर पोषक पदार्थ हों, उगाया जा सकता है. इनके लिए काफी पानी की जरूरत पड़ती है. मैदानों में बीज जून–जुलाई अथवा जनवरी–मार्च में, किन्तु पहाड़ी प्रदेशों में मार्च से जून तक बोये जाते हैं. वर्ष में इसकी दो फसलें ली जा सकती हैं. बीजों को 3–3·6 मी. की दूरी पर ठीक से तैयार और खाद डाली क्यारियों अथवा गड्ढों में बोया जाता है. प्रत्येक गड्ढे में दो या अधिक बीज बोये जाते हैं. अंकुरण के बाद विरलन कर दिया जाता है ताकि प्रत्येक गड्ढे में एक ही स्वस्थ बढ़ाऊ पौधा बचा रहे. बेलों को या तो जमीन पर फैलने दिया जाता है या दीवारों, छतों और पेड़ों पर चढ़ने देते हैं. खेतों की समय से निराई और आवश्यकता पड़ने पर सिंचाई भी की जाती है. पौधे तेजी से बढ़ते हैं और बुवाई के 3 से 4 माह बाद तक तैयार हो जाते हैं. कई स्थानों में **कुकरबिटा** जातियों को अन्य फसलों के साथ किनारे-किनारे उगाया जाता है. ऐसी अवस्था में प्रमुख फसल में जो भी उपचार किये जाते हैं उसकी ये भी भागी होती है. नदियों का पानी घट जाने पर इन्हें कछारों में उगाया जाता है (Purewal, 74; Sankaram, *Madras agric. J.*, 1943, **31**, 201).

पौधों पर आमतौर पर कोई रोग अथवा नाशकजीव नहीं लगता है. यद्यपि **स्यूडोपेरोनोस्पोरा क्यूबेन्सिस** (बर्कले तथा कुर्टिस) से उत्पन्न मृदुरोमिल फफूंदी और **एरिसिफ़ सिकोरासिएरम** द कन्दोल से उत्पन्न चूर्णी फफूंदी पत्तियों और तनों को प्रभावित करती हैं तथापि उनसे कोई हानि नहीं होती. कई इल्लियाँ और भृंग भी जब-तब पौधों पर आक्रमण करते हैं किन्तु इनसे किसी प्रकार की क्षति नहीं होती (Purewal, 94; Ramakrishna Ayyar, 267).

प्रायः फलों को बेल में ही ठीक से पकने दिया जाता है जिससे वे अधिक काल तक सुरक्षित रह सकें. ऐसे फल गोदामों में उचित ताप और आर्द्रता में महीनों बने रह सकते हैं (Knott, 322; Thompson, 436).

कुकरबिटा के फलों की तरकारी बनती है. कच्चे अथवा पक्के दोनों ही तरह के फलों का उपयोग होता है. इन्हें ताजी तरकारी, संसाधित खाद्य, और पशु-खाद्य के रूप में भी प्रयुक्त किया जाता है. फलों का गूदा तलने, उबालने अथवा पकाने पर स्वादिष्ट रहता है. पूरी तरह से पके फल मीठे होते हैं और मिठाई अथवा जैम बनाने के काम आते हैं. इनको पागकर अथवा किण्वित करके पेय बनाया जाता है. फलों की डिब्बाबन्दी के लिए फलों वाली और भारी उपज वाली किस्में, जिनमें अच्छा गूदा हो और छिलके पीले अथवा हल्के रंगों के हों, पसंद की जाती है क्योंकि हरे छिलके वाली किस्में डिब्बे के भीतर बदरंग हो सकती हैं. डिब्बाबन्द उत्पाद के गाढ़ेपन पर स्टार्च तथा ठोस पदार्थ का प्रभाव पड़ता है इसलिए कुछ कच्चे ताजे फलों को, जिनमें स्टार्च और ठोस अधिक रहते हैं, संसाधित किया जाता है ताकि गाढ़ा उत्पाद तैयार हो. कम गाढ़ापन वाली किस्मों के गूदे को अधिक गाढ़ेपन वाली किस्मों में मिलाया जा सकता है (Whitaker & Bohn, *Econ. Bot.*, 1950, **4**, 52).

विभिन्न किस्मों के फलों के संघटन में अंतर पाया जाता है. जिन किस्मों में अधिक शर्करा रहती है उसमें अम्ल अपघटनीय पाली-सैकराइडों की बहुलता होती है. जिनमें कुल ठोस अधिक होता है, उनमें विलेय ठोस अंश अधिक किन्तु कुल नाइट्रोजन सीमित रहता है. कुकरबिटा की किस्मों के सुरस, गाढ़ापन और स्वरूप में जो अन्तर होता है वह उनके संघटन से संबंधित होता है और वही विभिन्न कामों के लिए उनकी उपयोगिता के लिए उत्तरदायी है. कुछ किस्में पकने के पहले की अवस्थाओं में व्यंजनों के लिए श्रेष्ठ होती हैं किन्तु बाद में वे इसके अनुपयुक्त हो जाती हैं. अन्य किस्मों में इसके ठीक विपरीत हो सकता है (Culpepper & Moon, *J. agric. Res.*, 1945, **71**, 111).

Cucurbitaceae; *Pseudoperonospora cubensis* (Berk. & Curt.) Rost.; *Erysiphe cichoracearum* DC.

कु. पीपो लिनिअस C. pepo Linn.

वेजीटेबिल मैरो, फील्ड पम्पकिन

ले.—कु. पेपो

D.E.P., II, 641; C.P., 441; Fl. Br. Ind., II, 622; Bailey, 1947, I, 910, Figs. 1132–34.

हिं.—कुम्हड़ा, सफेद कद्दू; त.—सुरक्काइ.

यह एक दृढ़लोमी एकवर्षी लता है, जिसकी पत्तियाँ वर्तुल, हल्के कटाव वाली और पर्णवृंत तीक्ष्णवर्वी रोमों से ढका रहता है. फल का डंठल कड़ा और गहरे कटाव वाला होता है और जहाँ लगा होता है वह भाग फूला नहीं रहता.

भारत में इस कद्दू की कई किस्में पाई जाती हैं, किन्तु सामान्यतम किस्म वैर. **ओवीफेरा** एलफेल्ड है जिसके फल नाशपातीनुमा अथवा आयतरूप होते हैं. इस जाति के अनेक प्ररूप पाये जाते हैं जिनका संतोषजनक वर्गीकरण सम्भव नहीं है. भारतीय साहित्य में इन पौधे के लिए जो संकेत मिलते हैं वे शायद **बेनिनकैसा हिस्पिडा** और **कुकरबिटा मासकेटा** से सम्बन्धित हैं. फलों का गूदा फीके रंग का और गंधहीन होता है. कभी-कभी ये फल पशुओं को खिलाये जाते हैं (Firminger, 155; Hector, 1079; Haines, 399).

चप्पन कद्दू अथवा विलायती कद्दू नामक रूप पंजाब में उगाई जाने वाली किस्म है जो शीघ्र बढ़ती और फलती है. फलों का बीज और छिलका कड़ा पड़ने के पहले ही फल तोड़ लिए जाते हैं और उनकी तरकारी बनाई जाती है (Purewal, 71).

फलों के खाद्य अंश के विश्लेषण से निम्नलिखित आंकड़े प्राप्त हुए हैं: आर्द्रता, 94·8; प्रोटीन, 0·5; वसा (ईथर

निष्कर्ष), 0·1; कार्बोहाइड्रेट, 4·3; खनिज पदार्थ, 0·3; कैल्सियम, 0·01; फॉस्फोरस, 0·03%; लोहा, 0·6 मिग्रा./100 ग्रा.; विटामिन सी, 18 मिग्रा./100 ग्रा. (*Hlth Bull.*, No. 23, 1941, 34).

इसके बीजों का उपयोग खाद्य पदार्थ के रूप में किया जाता है. सम्पूर्ण बीज में लगभग 77% गिरी होती है. गिरी का संघटन इस प्रकार है: अपरिष्कृत प्रोटीन, 30·3; अपरिष्कृत वसा, 38·45; नाइट्रोजनरहित निष्कर्ष, 9·21; अपरिष्कृत तन्तु, 18·1; तथा राख, 3·42%. इसमें एक फाइटोस्टीऐरिन नामक रेज़िनी पदार्थ तथा सैलिसिलिक अम्ल भी पाये जाते हैं. बीजों में से एक क्रिस्टलीय ग्लोबुलिन पृथक् किया गया है, जिसका उपयोग एडेस्टिन के स्थान पर किया जाता है. बीज से प्राप्त तेल में निम्नलिखित गुण पाये जाते हैं: आ. घ.$^{15°}$, 0·920-0·925; $n_D^{40°}$, 1·4668–1·4685; साबु. मान, 188-198; तथा आयो. मान, 120-130; तेल में लिनोलीक ग्लिसराइड, 45; ओलीक 25; पामिटिक तथा स्टीऐरिक अम्ल की 30% मात्राएँ भी उपस्थित रहती हैं. इनमें से स्टेरॉल (ग. बि., 140° तथा 162-63°) पृथक् किये गये हैं. बीज की गिरी के शीतल सम्पीडन से प्राप्त तेल (उपलब्धि, 30–35%) हल्के हरे रंग का होता है. इसमें हल्की-सी प्रतिदीप्ति होती है. उष्ण सम्पीडन से प्राप्त तेल गहरे रंग का होता है, तथा इसमें प्रतिदीप्ति की मात्रा भी अधिक होती है. शीतल सम्पीडन से प्राप्त तेल का उपयोग खाद्य पदार्थ के रूप में होता है, और निम्न कोटि के तेल का उपयोग जलाने के लिए किया जाता है (Wehmer, II, 1203; *Chem. Abstr.*, 1941, 35, 7987; Jamieson, 249).

बीज से प्राप्त खली जानवरों को खिलाई जाती है. खली के विश्लेषण से निम्नलिखित मान प्राप्त हुए हैं: प्रोटीन, 43·75; वसा, 26·78; नाइट्रोजनरहित निष्कर्ष, 15·41; तन्तु, 5·59; तथा राख, 8·47% (Winton & Winton, II, 436).

ताजे बीज कृमिहर होते हैं, तथा इनका उपयोग कृमिनाशक के रूप में किया जाता है. सक्रिय अंश भ्रूण तथा हरित झिल्ली में पाये जाते हैं और रेज़िनमय होते हैं किन्तु इनकी रासायनिक प्रकृति ज्ञात नहीं है. इलायची के तेल अथवा विण्टर ग्रीन के तेल द्वारा सुगन्धित 30–60 ग्रा. छिले तथा कुटे हुए बीजों का उपयोग ओषधि के रूप में किया जाता है (U.S.D., 1560).

var. *ovifera* Alef.; *Benincasa hispida*

कु. मासकेटा डूखेस्ने एक्स पोएरेट *C. moschata* Duchesne ex Poir.

ले.—कु. मोसकाटा

D.E.P., II, 640; C.P., 441; Fl. Br. Ind., II, 622; Bailey, 1947, I, 910.

हिं.—लाल कुम्हड़ा, मीठा कुम्हड़ा, कद्दू, कदिमाह, सीताफल; त.—परंगीकाई; ते.—गुम्मडी; क.—कुम्बलकई; मल.—मत्तन. बम्बई—लाल भोप्ली; लाल दूधिया.

यह एकवर्षी, भूमि पर फैलने वाली लता है जिसका तना पाँच भुजाओं वाला होता है और जिसमें तीक्ष्णवर्धी या रोमिल आवरण नहीं पाया जाता. पत्तियाँ स्वच्छ, मखमली, प्रायः चितकबरी अथवा सफेद धब्बों से युक्त होती हैं. फलों की आकृति और रंग में अंतर होता है. फलों का डंठल कटक उभारमय होता है और संलग्नी भाग फूला होता है किन्तु **कु. मैक्सिमा** और **कु. पीपो** में ऐसा नहीं होता. बीज चिपटे, धूसर-सफेद से भूरे रंग के होते हैं, जिन पर गहरी सीमांत धारियाँ बनी होती हैं.

भारत में इस पौधे की खेती विस्तार से होती है. इसे **कु. मैक्सिमा** की अपेक्षा अधिक गर्म जलवायु चाहिए. इसकी दो प्रमुख किस्में मिलती हैं: एक का फल चिकना और आयत रूप होता है और दूसरे का तुम्बीनुमा, चिपटा अथवा गोलाभ.

कु. मैक्सिमा डुखेस्ने *C. maxima* Duchesne

स्क्वेश, रेड गोर्ड

ले.—कु. माक्सिमा

D.E.P., II, 638; C.P., 441; Fl. Br. Ind., II, 662; Bailey, 1947, I, 910, Figs. 1138–41.

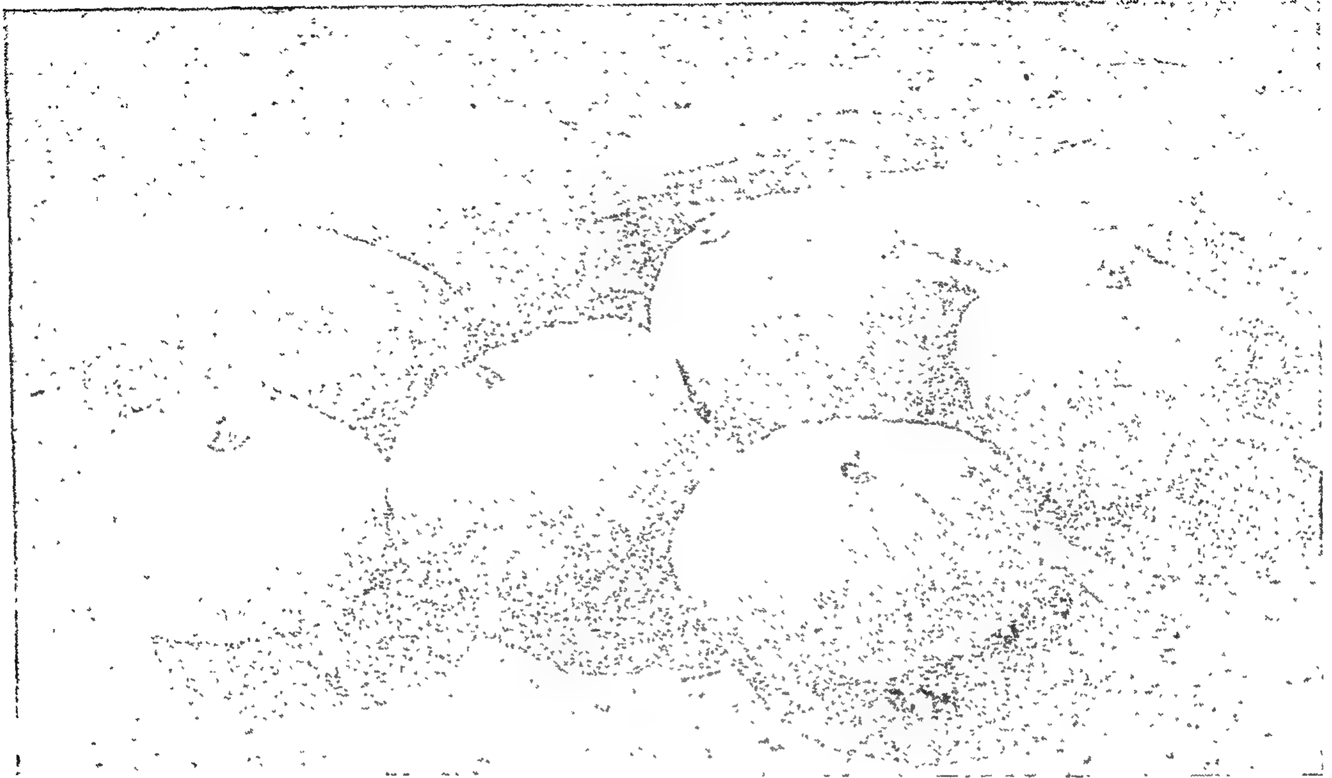
देशी नाम वे ही हैं जो **कु. मासकेटा** के हैं.

यह भूमि पर फैलने वाली एकवर्षी बूटी है, जिसका तना लम्बा, कुछ-कुछ तीक्ष्णवर्धी या रोयेंदार होता है जिसमें बड़ी ढीली और वर्तुल से वृक्काकार आकृति की गोल पालि वाली पत्तियाँ रहती हैं. फल विविध आकार के होते है जिनके डंठल कोमल और स्पंजी तथा ऐसे होते हैं कि न तो कटक उभार और न प्रमुख संलग्नी गाँठें ही दिखती हैं. फल गोल या अंडाकार और भूरे-पीले रंग के होते हैं, जिनमें हल्की शिराएँ होती हैं. पके हुए फलों का गूदा मीठा, महीन-दानेदार पीला अथवा लाल रंग का होता है. बीज संख्या में काफी, सफेद अथवा भूरे से कांस्य रंग के जिनकी कोरें शेष भाग की तरह के रंग और गठन की होती हैं.

यह पौधा सारे भारत में उगाया जाता है. इसकी उत्पत्ति संदिग्ध है. सम्भव है कि इसकी उत्पत्ति एशिया में ही हुई हो क्योंकि एक जंगली रूप, वैर. **सिलवेस्ट्रिस** नाडिन, जिसके फल मनुष्य के सिर के बराबर होते है, हिमालय प्रदेश में उगती पाई गई है.

भारतवर्ष में और अन्यत्र भी इसकी अनेक किस्में उगाई जाती हैं. इन्हें सरलता से उगाया जा सकता है और इनसे शीघ्र ही भारी उपज मिलती है. तमिलनाडु में एक हेक्टर में 5,000 से 6,250 फल पैदा होने की सूचना है. कुछ किस्मों के फल बड़े होते है: 2·1–2·4 मी. व्यास के और 90–135 किग्रा. भार के फल मिले हैं. पौधे के सभी भाग खाद्य हैं. कोमल प्ररोह और पत्तियों की सलाद और फूलों की तरकारी बनाई जाती है (Sankaram, loc. cit.; Macmillan, 285).

फल के खाद्य भाग के विश्लेषण से निम्नलिखित मान प्राप्त हुए हैं: आर्द्रता, 92·6; प्रोटीन, 1·4; वसा (ईथर निष्कर्ष), 0·1; कार्बोहाइड्रेट, 5·3; खनिज पदार्थ 0·6; कैल्सियम, 0·01; फॉस्फोरस, 0·03%; लोहा, 0·7 मिग्रा./100 ग्रा.; कैरोटीन (विटामिन ए के रूप में), 84 अं.इ./100 ग्रा.; विटामिन B_1, 20 अं.इ./100 ग्रा.; विटामिन C, 2 मिग्रा./100 ग्रा. (*Hlth Bull.*, No. 23, 1941, 33).



चित्र 51 – कुकरबिटा मासकेटा के फल

इसके बीज खाद्य हैं. गिरी से 36·6% गहरा, भूरा-लाल तेल निकलता है जिसका स्वाद और गंध हल्के वसा की तरह होता है. तेल में निम्नलिखित विशेषताएँ हैं: आ. घ.$^{25°}_{25°}$, 0·9179: $n_D^{25°}$, 1·4714; आयो. संख्या (हैनुस), 121·0; साबु. मान, 191·5; अम्ल मान, 0·50; असाबु. पदार्थ, 1·06%; अविलेय अम्ल, 94·7%; अनुमाप, 29·8°. शोधित तेल पीला होता है. इसमें ओलीक, 34·99; लिनोलीक, 41·46; पामिटिक, 12·12; स्टीऐरिक, 5·86; और ऐराकिडिक अम्ल, 0·03% पाये जाते हैं (Jamieson, 248).

इसके बीज कृमिहर हैं जिनका उपयोग टीनियानाशी, मूत्रल और टॉनिक के रूप में होता है. फलों के गूदे की पुल्टिस बनती है और जले फोड़ों पर लगाते हैं (Kirt. & Basu, II, 1155).

var. *sylvestris* Naud.

कुकुमिस लिनिअस (कुकरबिटेसी) CUCUMIS Linn.

ले. – कूकूमिस

इस वंश में एकवर्षी अथवा बहुवर्षी, आरोही बूटियों की लगभग 60 जातियाँ सम्मिलित हैं, जो संसार के उष्णकटिबंधी तथा उपोष्ण प्रदेशों में पाई जाती हैं. भारत में पाई जाने वाली चार जातियों में से **कु. मीलो** तथा **कु. सैटाइवस** की खेती खाद्य फलों के लिए सर्वत्र की जाती है.

Cucurbitaceae

कु. ट्रिगोनस रॉक्सबर्ग C. trigonus Roxb.

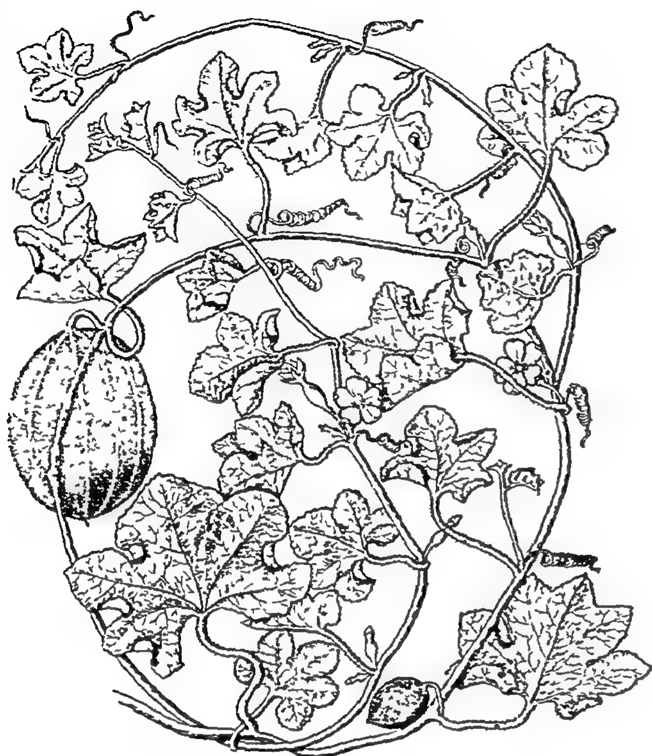
ले. – कू. ट्रिगोनूस

D.E.P., II, 635; C.P., 440; Fl. Br. Ind., 619 (अंशतः).

हि. – भाकडा, विसलम्भी, जंगल इन्द्रायण; बं. – गोमुक; म. – करित; गु. – कोठींवन; त. – कट्टूतुमट्टी; ते. – अडवी-पुच्छा, कोडिवुडमा.

यह एकवर्षी अथवा बहुवर्षी, भूमि पर फैलने वाली या आरोही लता है जिसके फल दीर्घवृत्तीय अथवा अल्पगोलाकार होते हैं. कच्चे फलों में लम्बी हरी धारियाँ रहती हैं किन्तु फलों के पकने पर वे फीके पीले रंग में बदल जाती हैं. **कुकुमिस** की इस किस्म और दूसरी किस्मों की पहचान करने के सम्बन्ध में काफी मतभेद है.

इस पौधे की खेती नहीं की जाती. भारत, अफ़गानिस्तान और फारस के सभी सूखे उच्च भूमि वाले प्रदेशों में यह जंगली रूप में उगता पाया जाता है. फल का गूदा कड़वा और रेचक



चित्र 52 – कुकुमिस ट्रिगोनस

होता है. जड का काढा अपेक्षाकृत हल्का प्रभाव डालता है. फलों का उपयोग कोलोसिन्थ के स्थान पर प्रयोग करने अथवा मिलावट के लिए किया जाता है. बीज शीतलतादायक, कषाय और पैत्तिक विकार में लाभदायक होते हैं. बीजों से निकाला गया तेल जलाने के काम आता है (Chopra, 121; Kirt. & Basu, II, 1139).

कु. प्यूबेसेन्स विल्डेनो सिन. कु. ट्रिगोनस रॉक्सबर्ग (अंशत:) C. pubescens Willd.

ले. – कू. पूबेसेन्स

Fl. Br. Ind., II, 619 (in part).

त. – चुक्कंगाई, तुमट्टिकाइ; ते. – बुडमकाया.

यह एक आरोही अथवा जमीन पर फैलने वाली **कु. प्रोफेटैरम** से कुछ-कुछ मिलती बूटी है, किन्तु इसमें लगने वाले फल चिकने, गोल और मृदुरोमिल आवरण द्वारा ढके होते हैं. फल 4 से 5 सेंमी. लम्बे; पकने पर फीके पीले रंग के हो जाते हैं.

यह पौधा तमिलनाडु के केन्द्रीय और पूर्वी तटीय प्रांतों की परती भूमियों में उगने वाला साधारण खरपतवार है. यह कृष्ट फसलों के बीच में भी खरपतवार की तरह पाया जाता है. कच्चे फल तिक्त होते हैं, किन्तु पके फल खाये जाते हैं.

फलों के विश्लेषण से (शुष्क आधार पर) अशोधित प्रोटीन, 16·68; ईथर निष्कर्ष, 16·56; अशोधित तन्तु, 24·44; कार्बोहाइड्रेट, 22·22; राख, 10·88; और फॉस्फोरस (P_2O_5 के रूप में), 0·61% प्राप्त हुए (Jacob, *Madras agric. J.*, 1941, 29, 147).

कु. प्रोफेटैरम लिनिअस (कु. मिरियोकार्पस नाडिन) C. prophetarum Linn.

जंगली खीरा

ले. – कू. प्रोफेटारूम

D.E.P., II, 626; Fl. Br. Ind., II, 619.

हिं. – खारिन्द्रायन; गु. – कंटलानिन्द्रानन; म. – काँटेइन्द्रायन.

यह एक अरबी अथवा अफ्रीकी जाति है जो सिंध, बलूचिस्तान, राजस्थान और डेकन की परती भूमियों में जंगली पाई जाती है. इसका फल अल्पगोलाकार, हरी और सफेद धारियों से युक्त और छोटे-छोटे काँटों से ढका रहता है.

यह पौधा वमनकारी और रेचक है. इसके फल के गूदे में मिरियोकार्पिन नामक एक कड़वा रेजिनी पदार्थ रहता है जो मिचली उत्पन्न करता है और थोड़ा रेचक भी होता है. यह जानवरों के लिए भी अति विषैला है, चाहे इसे खिलाया जाये या अवत्वक अथवा अन्तःशिरा से प्रविष्ट किया जाये (Watt & Breyer-Brandwijk, 181; U.S.D., 1376).

C. myriocarpus Naud.

कु. मीलो लिनिअस C. melo Linn.

मस्क मेलन, मीठा तरबूज

ले. – कू. मेलो

D.E.P., II, 627; C.P., 437; Fl. Br. Ind., II, 620.

सं. – खर्बुज, मधुपाक; हिं., पं., गु. तथा म. – खरबूजा; बं. – खरमूज; त. – मुलमपालजम; ते. – खरबूजादोसा, पुट-जाकोवा.

यह एकवर्षी आरोही अथवा विसर्पी बूटी है. इसकी पत्तियाँ बड़ी और नरम रोयेंदार तथा फल विभिन्न आकार और रंग के गोल, अण्डाकार या दीर्घवृत्तीय होते हैं.

इसकी विस्तृत खेती भोजन के बाद खाए जाने वाले स्वादिष्ट मीठे फल के लिए संसार के गर्म प्रदेशों में की जाती है. इसकी खेती सम्पूर्ण भारत मे विशेषकर गर्म और शुष्क उत्तर-पश्चिमी क्षेत्रों में की जाती है. इसकी अनेक किस्में और प्रजातियाँ हैं, जिनके फलों के आकार और रूप, मोटाई, छिलके पर रंग और निशान, स्वाद, गूदे का रंग तथा संवर्धन-आचरण में भिन्नता होती है. त्वचा नरम अथवा कड़ी, पीली-हरी, हल्की बादामी या नारंगी रंग की होती है, जिस पर सादे, जालीदार या कंटकी निशान बने होते हैं. गूदे का रंग सफेद, क्रीम-पीत नारंगी अथवा हरा होता है. इसकी सामान्य किस्में इस प्रकार हैं: सर्दा, जो भारत में सीमित क्षेत्रों में उगाया जाता है; लखनऊ का सफेदा तथा चित्ता; पंजाब का चुमियारी तथा क्लाची; तमिलनाडु का बताशा, शर्बत अनार, शिर अंजीर (जाम खिरनी), हीगन तथा बुद्रुमी. पंजाब में अत.प्रजनन द्वारा विकसित प्ररूपों को विकसित करने के प्रयत्न किए गए हैं. ऐसे कुछ आशाजनक प्रारूप हैं: M. 220, M. 153, और M. 374 (Purewal, 66; Naik, 462).

यह पौधा उष्ण और शुष्क प्रदेशों में उगता है और इसे अधिक मात्रा में जल की आवश्यकता होती है. सामान्यतः यह नदी की ऐसी रेतीली घाटियों में उगाया जाता है, जो किसी दूसरी फसल के लिए उपयुक्त नहीं होती. नदी के दूर चले जाने पर तलहटी को खण्डों में बाँट कर उनमें पर्याप्त खाद डालते हैं. गत वर्ष के चुने हुए फलों से प्राप्त बीजों को पंक्तियों में अथवा 1·2–1·5 मी. की दूरी पर बने हुए गड्ढों में बो देते हैं. तमिलनाडु के कुडप्पा जिले में बीज साधारणतया नर्सरी में बोये जाते हैं, और लगभग एक सप्ताह की पौधों को खाद डाले हुए प्रखण्ड में प्रतिरोपित कर देते हैं. गर्म मौसम में पौधों को सींचा जाता है. फलों के पकने के पूर्व सिंचाई बंद कर दी जाती है. सामान्यतः बीज जनवरी से मार्च तक बोये जाते हैं. तीन–चार मास में फल मिलने लगते हैं. लतर में ही पक जाने पर इन्हें तोड़ लिया जाता है. सुदूर स्थानों पर भेजने के लिए इससे पहले भी फल तोड़े जा सकते हैं.

भोजन के बाद का फलाहार पके खरबूजों का ही होता है. फल का 45–80% गूदा होता है, जो मृदु, मधुर, कस्तूरी की भाँति गंधयुक्त तथा खाने में स्वादिष्ट होता है. फलों को डिब्बों में भी बंद किया जा सकता है. इनका शर्बत या जैम भी बनता है (Winton & Winton, II, 454; Siddappa & Mustafa, *Misc. Bull., I.C.A.R.*, No. 63, 1946, 12, 14).

फल का विश्लेषण करने पर निम्नलिखित मान प्राप्त हुए हैं: प्रोटीन, 0·6; कार्बोहाइड्रेट, 5·4; वसा, 0·2; अशोधित तन्तु, 0·5; राख, 0·6; कैल्सियम, 0·016; तथा फॉस्फोरस, 0·015%; लोहा, 3·9 मिग्रा./किग्रा.; ताँबा, 0·6 मिग्रा./किग्रा.; (प्रो) विटामिन ए, 2,400 अं. इ.; विटामिन बी$_1$, 57 माग्रा.; विटामिन बी$_2$, 75 माग्रा.; तथा विटामिन सी, 25 मिग्रा./100 ग्रा. (*Nutrit. Charts*, Heinz & Co., 1942, 23).

कुछ किस्मों के बीज बड़े होते हैं. बीज के भीतर गिरी होती है, जिसमें प्रचुर मात्रा में तेल रहता है. बीज खाद्य है और बादाम तथा पिस्ते के स्थान पर प्रयुक्त होते है. सर्दा किस्म के बीज की गिरी का विश्लेषण करने पर निम्नलिखित मान प्राप्त हुए हैं: तेल, 44·6; कच्चा प्रोटीन, 35·8; तथा राख, 5·6%. निस्सारित तेल फीका पीला, सुस्वादु और सुगंधमय होता है. इसके गुण निम्नलिखित हैं: आ. घ.$^{23.5°}$, 0·9174; साबु. मान, 294·3; आयो. मान, 125·5; अम्ल मान, 3·9; असाबु. पदार्थ, 0·6%. तेल के रचक वसा-अम्ल हैं: मिरिस्टिक, 2·0; पामिटिक, 3·2; स्टीऐरिक, 5·4; ऐराकिडिक, 0·9; ओलीक, 32·7; तथा लिनोलीक, 55·2%. पंजाब के दूसरी किस्म के खरबूजे के बीज की गिरी में तेल, 40·0; प्रोटीन, 22·7; तथा फॉस्फेट (P_2O_5), 0·75% होता है. तेल के लक्षण इस प्रकार हैं: साबु. मान, 207·4; अम्ल मान, 0·9; आयो. मान, 117·1; और असाबु. पदार्थ, 0·8%. इसके रचक वसा-अम्ल हैं: ओलीक, 43·1; लिनोलीक, 45·1; कैप्रोइक, 1·0; कैप्रिलिक, 2·0; मिरिस्टिक, 1·1; पामिटिक, 7·3; तथा स्टीऐरिक, 0·2%. सहारनपुरी किस्म के बीज की गिरी में तेल, 43·75; प्रोटीन, 37·1; और फॉस्फेट (P_2O_5), 1·02% पाया गया है. तेल के लक्षण इस प्रकार हैं: आ. घ.$^{40°}$, 0·9145; $n^{52°}$, 1·4730; साबु. मान, 193·2; अम्ल मान, 5.58; आयो. मान (विज), 118·5; थायोसायनोजन मान, 74·95; ऐसीटिलीकरण मान, 14·9; असाबु. पदार्थ, 0·85%. तेल के रचक वसा-अम्ल हैं: लारिक, 0.12; मिरिस्टिक, 0·50; पामिटिक, 12·80; स्टीऐरिक, 7·88; लिनोलीक, 50·40; तथा ओलीक, 27·45%. असाबुनीकृत पदार्थ में साइटोस्टेरॉल (ग.बि., 140°) और सेटिल ऐल्कोहल (ग.बि., 50–51°) है. खली में आर्द्रता, 11·56; प्रोटीन, 66·0; कच्चा रेशा, 4.03; कार्बोहाइड्रेट, 9·29; तथा राख, 9·12% होती है (Ali Ahmed & Dhingra, *J. Indian chem. Soc.*, 1945, **22**, 237; Dhingra & Narain, *J. Indian chem. Soc.*, 1945, **22**, 123; Bhasin *et al.*, *J. sci. industr. Res.*, 1950, **9B**, 230).

बीज मूत्रल होते हैं. गूदा भी मूत्रल और पुराने तथा तीव्र एक्जिमा में लाभदायक होता है (Kirt. & Basu, II, 1141).

—वैर. मोमोर्डिका डूथी और फुलर

var. momordica Duthie & Fuller

D.E.P., II, 630; C.P., 438; Kirt. & Basu, II, 1142, Pl. 457A.

हिं.—फूट; बं.—फूटी; ते.—पेड्डाकाई.

इस किस्म के फल छोटे, चिकने, अण्डाभ अथवा बेलनाकार, लगभग 30–60 सेंमी. लम्बे और 7·5–15 सेंमी. व्यास के होते हैं. ये फल खरबूजे की अपेक्षा खीरे से अधिक मिलते-जुलते हैं. कच्चे फल हरे और पक्के नींबू के समान पीले होते हैं. पकने के बाद ये स्वयं फट जाते हैं. इनका गूदा खाद्य, कुछ निःस्वाद-सा अथवा हल्का खट्टा होता है. इनके बीज खरबूजे के बीजों से छोटे होते हैं.

यह किस्म खरबूजे से अधिक सहिष्णु है और भारत-भर में बोयी जाती है. इसके दो रूप मान्य हैं: बरसाती और चैती. पहला बरसात के दिनों में उपजाया जाता है और दूसरा जनवरी से मार्च तक. बोने के 3–4 महीने बाद फल तोड़ने के लिए तैयार हो जाता है. प्रति हेक्टर 10–15 टन उपज होती है.

कच्चे होने पर फल या तो वैसे ही खाये जाते हैं अथवा उनकी तरकारी बनाई जाती है. पके फल भोजनोपरान्त खाये जाते हैं. बीजों का उपयोग शीतलता-प्रदायक ओषधि के रूप में होता है.

—वैर. यूटिलिसिमस डूथी और फुलर

var. utilissimus Duthie & Fuller — स्नेक कुकम्बर

D.E.P., II, 631; C.P., 439; Kirt. & Basu, II, 1143, Pl. 458.

हिं.—ककड़ी, तर-ककड़ी; बं.—काकुर.

यह किस्म खीरे से मिलती है और तरकारी की तरह इस्तेमाल की जाती है. इसके फल पतले और लम्बे होते हैं, जिनकी लम्बाई कुछ सेंमी. से 1 मी. तक हो सकती है. वे पीताभ या गहरे हरे, चिकने या उभरी रेखाओं वाले होते हैं. नए

फलों का छिलका मुलायम, पंखवत् रोमो से भरा रहता है. उनके बीज खरबूजे के बीजो से छोटे होते है.

यह पौधा उत्तरी भारत मे लगभग सभी जगह, और उत्तर प्रदेश और पंजाब मे विशेप रूप से बोया जाता है. इसके कई ऐसे नवीन प्ररूप तैयार किए गए है जिससे अधिक फल मिलने की आशा है. इनमे *Lm* 4 सबसे अच्छा समझा जाता है. इसकी अनेक किस्मे ज्ञात है, कुछ मीठी, और कुछ खट्टी अथवा कडवी होती हैं (Purewal, loc. cit.).

यह किस्म गर्मी और वर्षा दोनो ऋतुओं मे बोई जाती है. यह किसी भी प्रकार की मिट्टी में हो जाती हैं, पर अच्छी खाद दी गई दुमट मिट्टी मे, जहाँ सिंचाई की अच्छी सुविधा होती है, सबसे अच्छी तरह बढती है (Purewal, loc. cit.).

बोने के 3–4 महीने बाद तोड़ने लायक फल तैयार हो जाते हैं. प्रति हेक्टर 8–10 टन उपज होती है. मुलायम फल कच्चे अथवा नमक के साथ सलाद में खाए जाते है. उनका अचार डाला जाता है और तरकारी बनाई जाती है. गर्मी के दिनों में यह फल एक महत्वपूर्ण खाद्य है. फल पोपक होते हैं और प्यास को कम करते हैं. बीज छोटे और खाद्य होते है, वे मिठाइयों मे डाले जाते है. गिरियों को पीसकर ठंडाई बनाई जाती है. बीज ठण्डक देने वाले और मूत्रल होते हैं; वे मूत्रण की पीड़ा और उसके रोध मे लाभदायक बताए गए है (Kirt. & Basu, loc. cit.)

कु. सैटाइवस लिनिअस C. sativus Linn. खीरा

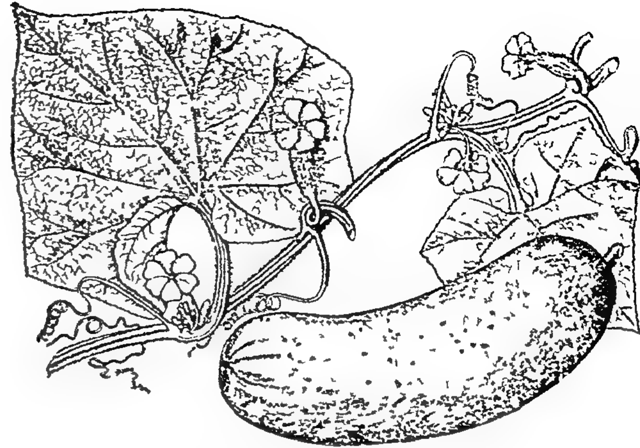
ले – कू साटिवूस

D.E.P., II, 632, C.P., 439, Fl Br. Ind., II, 620.

हिं., बं. और म. – खीरा; ते. – दोसाकाया; त. – वेल्लरिक्कई, ककरीकाई.

यह भूमि पर फैलने वाली अथवा आरोही एकवर्षीय लतर हे जिसके बेलनाकार फल लम्बे, मोटे, और विभिन्न आकार-प्रकार के होते हैं. सम्भवत: यह पौधा उत्तरी भारत का वासी है परतु इसकी खेती समस्त भारत में तथा विश्व के उष्ण-कटिबंधी और उपोष्ण प्रदेशों में विस्तार से की जाती है. यह एक आम शाकभाजी की फसल है. इसकी कई किस्में उगाई जाती है. कुछ के फल 25–37·5 सेमी. लम्बे और 7·5–10 सेमी. व्यास के तथा काफी मोटे छिलके वाले होते है, जबकि अन्यों मे छोटे अडाभ तथा पतले और चिकने छिलके वाले फल लगते हैं. फलों के रंग फीके पीले से गहरे हरे रंग तक बदलते हैं. पके फलों का रंग भूरा-पीला अथवा लाल-भूरा होता है. मुण्डोसा नामक एक किस्म के फलों पर छोटे-छोटे काँटे होते हैं जो तमिलनाडु के कुछ भागों मे लोकप्रिय है. छोटे फलों का अचार बनाया जाता है और बडे फलों को सलाद और तरकारी बनाने के काम मे लाते है (Bailey, 1947, I, 907, Sankaram, *Madras agric. J.*, 1943, **31**, 201).

कृष्ट किस्मों को स्थूलत: दो वर्गो मे बाँटा जाता है: ग्रीष्मकालीन और वर्षाकालीन. ग्रीष्मकालीन मे विसर्पी पौधे होते है जिनके फल छोटे अंडाकार और गहरे हरे रंग के होते है जिन्हें घेरकिन कहा जाता है. वर्षाकालीन किस्मे प्राय: सम्पूर्ण भारत मे उगाई जाती है और इनके फल काफी बड़े



चित्र 53 – कुकुमिस सैटाइवस

होते है. यद्यपि ये किस्में अनेक प्रकार की मिट्टियों में उगती हैं, किन्तु जल्दी फसल लेने तथा अधिक उपज के लिए वे बलुई दुमट में उगायी जाती है. इनको गर्म जलवायु की आवश्यकता होती है किन्तु खरबजे के समान गर्म जलवायु की नही. मैदानी और पहाड़ी दोनों भूमियों में इन्हे उगाया जा सकता है. इन्हे काफी खाद की आवश्यकता होती है. फलने के समय 150–200 किग्रा. प्रति हेक्टर अमोनियम सल्फेट का ऊपर से छिड़काव बतलाया गया है (Purewal, 69).

बीजों को पहले से तैयार किये गये भूखण्डों में या तो पंक्तियों में या फिर गड्ढों में, 1·2–1·5 मी. की दूरी पर बोया जाता है, ग्रीष्मकालीन किस्म के बीजो को फरवरी से मार्च तक बोया जाता है और वर्षाकालीन किस्म के बीजों को मई से जून तक. बीज-दर उनकी किस्म और स्थान के अनुसार 1 से 3 या 4 किग्रा. प्रति हेक्टर तक बदलती है. वर्षाकालीन फसल की देखभाल नही करनी पडती, किन्तु ग्रीष्मकालीन फसल को कभी-कभी सिंचाई की आवश्यकता पड़ सकती है. रोपने के दो महीने पश्चात्, पौधों मे फल लगने आरम्भ हो जाते है. फलो की चुनाई 2 से 3 दिन के अंतर पर, लगभग 2 महीने तक चलती रहती है. उपज किस्म पर निर्भर करती है. तमिलनाडु के कुछ भागों में प्रति हेक्टर 20,000 से 25,000 फलो की या 3,000 से 4,000 किग्रा. प्रति हेक्टर तक की उपज ली गई है (Purewal, 69; Sankaram, loc. cit.).

फलों के विश्लेपण से निम्नलिखित मान प्राप्त हुए है: आर्द्रता, 96·4; प्रोटीन, 0·4; वसा, 0·1; कार्बोहाइड्रेट, 2·8; खनिज पदार्थ, 0·3; कैल्सियम, 0·01; फॉस्फोरस, 0·03%; लोहा, 1·5 मिग्रा./100 ग्रा.; विटामिन बी$_1$, 30 अ.इ./100 ग्रा.; विटामिन सी, 7 मिग्रा./100 ग्रा. इनमे प्रोटीन अपघटक एंजाइम, ऐस्कार्बिक अम्ल, ऑक्सिडेस, तथा सक्सिनिक और मैलिक डिहाइड्रोजनेसों की उपस्थिति बताई जाती है. खीरे के सुगंधकारी तत्व को ऐल्कोहल मे निष्कर्पित किया जा सकता है और इसका उपयोग कुछ बुके इत्रों के मिश्रण मे किया जाता है (*Hlth Bull.*, No. 23, 1941, 32; Chopra & Roy, *Indian J. med. Res.*, 1933, 21, 17, Srinivasan, *Curr. Sci.*,

1936-37, 5, 296; Basu & Karkun, *J. Indian chem. Soc.*, 1943, 20, 277; Krishna & Badhwar, *J. sci. industr. Res.*, 1950, 9, suppl. 242).

ऐसा बताया जाता है कि इसके बीज शीतलकारी, स्फूर्तिदायक और मूत्रल होते हैं. बीज की गिरी (बीज का 75%) खाने के और मिठाई बनाने के काम में लाई जाती है. बीज के विश्लेषण से प्राप्त मान इस प्रकार हैं: अपरिष्कृत प्रोटीन, 42; और वसा, 42·5%. राख में फॉस्फेट (P_2O_5, 0·62%) की प्रचुरता है. गिरी से निकाला गया तेल साफ और हल्का पीला होता है. इस तेल में निम्नलिखित विशेषताएँ पाई जाती हैं: आ.घ.$^{40°}$, 0·9130; $n_D^{25°}$, 1·4605; अम्ल मान, 0·22; साबु. मान, 193·0; आयो. मान (विज), 114·9; ऐसीटिल मान, 3·1; हेनर मान 94·86; विलेय वसा-अम्ल (ब्यूटिरिक अम्ल के रूप में), 0·4; और असाबु. पदार्थ, 0·91%. वसा-अम्ल के घटक इस प्रकार हैं: पामिटिक से निम्नतर अम्ल, 0·63; पामिटिक, 4·14; स्टीऐरिक, 16·42; लिनोलीक 40·11; तथा ओलीक, 38·70%. बीज-केक के विश्लेषण से प्राप्त मान निम्नलिखित हैं: आर्द्रता, 8·13; प्रोटीन, 72·53; राख, 9·7; अशोधित तन्तु, 1·0; कार्बोहाइड्रेट (अंतर विधि से), 8·64%. राख में फॉस्फेट की प्रचुरता है (P_2O_5, 11·17%) (Soni *et al., J. sci. industr. Res*, 1949, 8B, 210).

कुडजू – देखिए प्यूरेरिया

कुत्ता – देखिए पशु, मांसभक्षी

कुथ – देखिए सौसुरिया

कुथन – देखिए हीमेनोडिक्टियान

कुनैन – देखिए सिनकोना

कुप्रेसस – लिनिअस (पाइनैसी) CUPRESSUS Linn

ले. – कूप्रेस्सूस

यह भूमध्यसागरीय क्षेत्र, उष्णकटिबंधीय एशिया तथा उत्तरी अमेरिका में पाये जाने वाले सदाबहार वृक्षों अथवा झाड़ियों की 12 जातियों का वंश है. इसकी पत्तियाँ घनी तथा हल्की होती हैं. शानदार दिखने तथा गहरी हरी पर्णावली के लिए इन्हें उपजाया जाता है. भारत में पाये जाने वाले देशी कु. **टोरुलोसा** से उच्च कोटि की इमारती लकड़ी प्राप्त होती है. *Pinaceae*

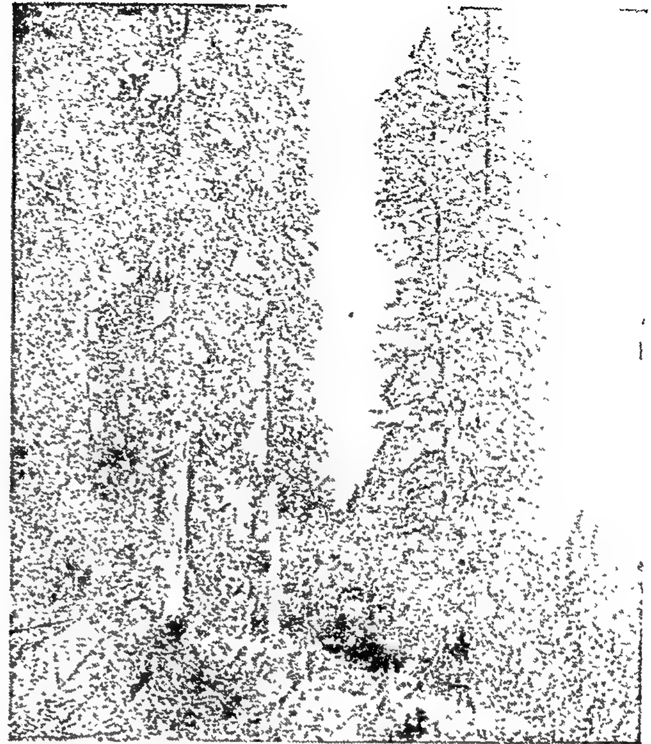
कु. टोरुलोसा डी. डान C. torulosa D. Don.

हिमालयन साइप्रस

ले. – कू. टोरुलोसा

D.E.P., II, 646; Fl. Br. Ind., V, 645.

पंजाब – देवीदियार, गल्ला; उत्तर प्रदेश तथा जौनसार – लीउरी; गढ़वाल – सुराई; कुमायूँ – रायसल.



चित्र 54 – कुप्रेसस टोरुलोसा

यह एक विशाल, सीधा, समीपस्थ-पर्णावली वाला तथा तुषार-सह वृक्ष है. इसकी ऊँचाई बहुधा 30–42 मी. तथा घेरा 3 मी. का होता है. 45 मी. ऊँचे, 11·1 मी. घेरे वाले तथा 18–24 मी. स्वच्छ तने के भी वृक्ष पाये गये हैं. वृक्ष चम्बा से नेपाल तक लगभग 1,500–2,700 मी. की ऊँचाई पर हिमालय के बाहरी क्षेत्र के जंगलों में पाये जाते हैं. यह भिन्न-भिन्न क्षेत्रों की जलवायु के अनुसार अपने को बना लेता है. इसका वितरण निश्चय रूप से स्थानीय होता है और विभिन्न आकार के क्षेत्रखण्डों में; कभी अकेले और कभी यह देवदार स्प्रूस, ओक तथा सिल्वर फर, इत्यादि, वृक्षों के साथ भी पाया जाता है. यह नैनीताल की चाइनाहिल, जौनसार में मोइला तथा लोकन्दी की चूने की चट्टानों, शिमला की पहाड़ियों, चम्बा, कुलू, गढ़वाल तथा पश्चिमी हिमालय के अन्य भागों के जंगलों में पाया जाता है (Dallimore & Jackson, 283; Troup. III, 1158).

यद्यपि वृक्ष साधारणतया चूने की चट्टानों पर उपजता हुआ पाया गया है, परन्तु यह मृत्तिका पट्टियों तथा अन्य चट्टानों में भी उपजाया जा सकता है. देहरादून के निकट यह गहरी दुमट में शीघ्रता से बढ़ता है, तथा इसका विस्तार अच्छा होता है. इसका प्राकृतिक प्रजनन बीजों द्वारा होता है और इसके बीजांकुर नग्न, अबद्ध स्थानों पर, जो चट्टानों के आधारों पर

मलवे अथवा कचरे के एकत्रित होने से बन जाते हैं, निकल आते हैं. सीधी बुवाई से अच्छे परिणाम प्राप्त नहीं होते हैं, क्योंकि बीज छोटे होते हैं, तथा इनकी अंकुरण-क्षमता बहुत कम होती है. गढवाल मे बुवाई के लिए सबसे अच्छा समय मानसून प्रारम्भ होने के बाद माना जाता है. जौनसार मे पौधे जून अथवा नवम्बर मे और देहरादून मे नवम्बर–दिसम्बर मे उगाई जाती हैं. नर्सरी मे पर्याप्त बढी पौधों की छटनी की जाती है, तथा बुवाई के तीन वर्ष पश्चात् इनका पुन.रोपण किया जाता है. हिमालय मे देवदार के साथ इन वृक्षों को भी उपजाया जाता है.

अन्त.काष्ठ हल्के पीले-भूरे से हल्के भूरे रग का होता है. तन्तु रचना के साथ-साथ इसमे गहरे रंग की सूक्ष्म रेखाएँ होती हैं. यह चिकनी साधारण कठोर, हल्की (आ.घ., 0·49, भार, 480–512 किग्रा./घमी.), सरल दानों सहित तथा समान-तन्तु रचना वाली, देवदारु के समान गंध वाली होती है. इसे सरलता से पकाया जा सकता है; हरी लकडी को ही मुख्य रूप से पकाया जाता है. सागौन की तुलना में इमारती लकडी के रूप मे इसके प्रतिशत गुण इस प्रकार हैं: भार, 75, शहतीर के रूप मे शक्ति, 70, शहतीर के रूप मे अनम्यता, 80, बल्ली के रूप में उपयोगिता, 75; आघात-प्रतिरोध क्षमता, 60, आकार की स्थिरता, 85, अपरूपण, 65; कठोरता, 60 (Trotter, 1944, 243).

यह भारत मे पाई जाने वाली शंकुधारी लकडियों में सबसे अधिक टिकाऊ है, तथा इसके लिए किसी प्रकार के प्रतिरोधी उपचार की आवश्यकता नही पडती. इसे सरलता से चीरा, चिकनाया तथा मशीन मे चलाया जा सकता है. देवदारु की लकडी की अपेक्षा यह अधिक उपयोगी है, क्योंकि इसमे कोई तेल नहीं टपकता है जिससे इस पर पेण्ट तथा पॉलिश की जा सकती है. यह उच्च कोटि की इमारती लकडी है, अतः मकानों के बनाने मे इसकी बहुत मॉग है. भीतरी कार्यों, जैसे खिडकियो की चोखटों, छतों, दरवाजों के दिल्लों तथा फर्शों के लिए यह देवदारु की अपेक्षा अच्छी होती है. बाह्य कार्यों, जैसे मौसमी तख्तों, झिलमिली, पुलों के लिए इसका उपयोग किया जाता है; रेलवे के स्लीपरो मे इसका उपयोग देवदारु के समान किया जाता है. साधारणतया इसका उपयोग साज-सज्जा के लिए किया जाता है यह होल्डर बनाने के लिए अत्यन्त उपयोगी है लकडी द्वितीय कोटि की पेन्सिले तथा बैटरी पृथक्कारकों के लिए भी उपयोगी है. लकडी को लोबान के रूप मे जलाया जाता है (Trotter, 1944, 85, Pearson & Brown, II, 1021; Rehman & Ishaq, *Indian For. Leafl.*, No. 66, 1945, 2, No. 14, 1942, 2).

वृक्ष के स्थानीय तथा बहुधा दूर-दूर फैले हुए होने से किसी भी विशेष स्थान मे लकडी की अत्यधिक सम्पूर्ति नही होती है. गढवाल के नवाली तथा नवगिरि वनों मे कुछ सम्पूर्ति होती है; चम्बा, कुल्लू, हिमाचल प्रदेश के शिमला क्षेत्र तथा उत्तर प्रदेश मे जौनसार मे मध्यम सम्पूर्ति होती है.

ताजी हरी पत्तियों के भाप आसवन से हल्का भूरा, तरल, सुगन्धित तेल प्राप्त होता है (उपलब्धि, 0·5–0·8%). इसके गुण निम्नलिखित हैं: आ.घ $^{30°}_{30°}$, 0·87; $n_D^{30°}$, 1·479; [α], +41·72°; अम्ल मान, 0 68; साबु. मान, 10 71; ऐसीटिलीकरण के बाद साबु. मान, 41·4. तेल के निम्न क्वथनकारी प्रभाज मे मुख्यतः *d*-सैबिनीन पाया जाता है. इसके अतिरिक्त α-पाइनीन, डाइपेंटीन तथा टर्पिनीन भी पाये जाते हैं. उच्च क्वथनकारी प्रभाज मे दो सेस्क्वीटर्पीनों का मिश्रण होता है, जिसमे से एक दक्षिण ध्रुवण घूर्णक है तथा दूसरा वाम ध्रुवण घूर्णक; वाम ध्रुवण-घूर्णक सेस्क्वीटर्पीन ऐल्कोहल भी पाया जाता है. इसमे γ-टर्पिनिऑल की सम्भावित उपस्थिति महत्वपूर्ण है, क्योंकि इसे किसी भी प्राकृतिक सगध तेल से पृथक् नहीं किया जा सका है. तेल मे स्वतन्त्र अथवा संयोगिक रूप मे प्रोपियानिक, कैप्रोइक तथा लारिक अम्ल पाये जाते हैं [Finnemore, 28; Simonsen, *Indian For. Rec.*, 1923, 10(1)].

कु. लुसीटानिका मिलर सिन. कु. ग्लाउका लामार्क
C. lusitanica Mill. मेक्सिकन साइप्रस, गोआ साइप्रस

ले.—कु. लूसिटानिका
D.E.P., II, 646, Fl. Br. Ind , V, 645.

यह पश्चिमी घाटो की अत्यन्त उपजाऊ मिट्टी मे पैदा होने वाला सदाबहार वृक्ष है. इसकी शाखाएँ फैली हुई तथा टहनियाँ निलम्बी होती है.

कु. लुसीटानिका की पत्तियों तथा अंकुरों के भाप आसवन से एक ऐरोमैटिक तेल प्राप्त होता है (उपलब्धि, 0·25%). इसकी गंध नीबू तथा चीड से मिलती-जुलती होती है इसमे निम्नलिखित गुण होते हैं: आ घ, 0 8723, [α]$_D$, +9°10, अम्ल मान, 1·0, साबु. मान, 9·8, ऐसीटिलीकरण के पश्चात् साबु. मान, 26·6, विलेयता, 90% ऐल्कोहल के तीन आयतन मे एक आयतन. तेल के टर्पीन प्रभाज (64%) मे α-पाइनीन, 22; Δ^3 कैरीन, 18; डी-लिमोनीन, 8%; तथा कैम्फीन, साइमीन, मायरसीन तथा α-टर्पिनीन की थोडी मात्राएँ पाई जाती है. यह इत्रों के स्थिरीकारक के रूप मे उपयोगी है (Finnemore, 28, Poucher, I, 153).

वैर. **बेंथामाई** कारियेरे की लकडी कागज की लुगदी बनाने के लिए उपयोगी होती है (*For. Abstr.*, 1946, 7, 497).
C. glauca Lam., var *benthami* Carr.

कु. सेम्परविरेन्स लिनिअस C. sempervirens Linn.
मेडीटरेनियन साइप्रस

ले.—कु. सेम्परविरेन्स
D.E.P., II, 646, Fl. Br. Ind , V, 645

म.—सुरू; हि—सार, सरू; म.—सरवोक; त. तथा मल—सुरम, चुरम.

यह सदाबहार वृक्ष है जो भारत मे 30 मी. तथा भूमध्य सागरीय देशो मे 45 मी. ऊँचा होता है. इस वृक्ष की दो प्रमुख किस्मे हैं जिनके नाम हैं: वैर. **हॉरिजण्टेलिस** (मिलर) गोर्डन तथा वैर. **स्ट्रिक्टा** एटन (वैर. **फास्टीगियेटा** हैन्सन, **पिरामिडैलिस** निमान). पहली जंगली किस्म है तथा इसमे फैली हुई शाखाएँ होती है. यह बहुधा पहाडों पर पायी जाती है. दूसरी किस्म अधिकांशतः बगीचों में लगायी जाती है, इसमे ऊर्ध्व

शाखाएँ तने के लगभग समान्तर होती है जिससे वृक्ष सँकरा सूची स्तम्भीय आकार का हो जाता है (Troup, III, 1161).

वृक्ष को बीजों द्वारा उपजाया जाता है जो पर्याप्त समय तक अंकुरणक्षम रहते हैं. पौधें बक्सों में लगायी जाती हैं. जब ये कुछ ऊँची हो जाती है, तो इन्हें छेद करके निकाल लेते हैं तथा 3–4 वर्ष की हो जाने पर इनका पुनःरोपण कर देते हैं. वृक्ष अच्छे जल-निकास की भूमि में अच्छी प्रकार से विकसित होता है. इसकी लकड़ी पीली अथवा हल्की भूरी, सुगन्धित, साधारण कठोर (भार, 480–592 किग्रा./घमी.), सूक्ष्म तन्तु रचना वाली, सरलता से गढ़ी जाने योग्य तथा अत्यधिक टिकाऊ होती है. इसका उपयोग मकान तथा सज्जा-सामग्री बनाने के लिए किया जाता है. यह बक्सों तथा घरेलू वस्तुओं को बनाने के लिए भी उपयोगी है. यह कीड़ों को प्रतिकर्षित करती है. लकड़ी तथा फल स्तम्भक तथा कृमिहर होते है (Kirt. & Basu, III, 2379).

वैर. फास्टीगियेटा की पत्तियों तथा अग्रस्थ शाखाओं के भाप आसवन से साइप्रस का तेल प्राप्त होता है. यह पीला, श्यान द्रव (उपलब्धि, 0·2–1·2%) है, जिसमें विशेष प्रकार की ऐरोमैटिक गंध होती है. जर्मन तेल के स्थिरांक इस प्रकार हैं: आ.घ., 0·88–0·90, $[\alpha]_D$, +4° से +18°; अम्ल मान, 1·5–3·0; एस्टर मान, 13–22; 90% ऐल्कोहल के 2–7 आयतनों में यह तेल विलेय है. 'शिमेल एण्ड कम्पनी' द्वारा विश्लेषित तेल के नमूने से निम्नलिखित यौगिक प्राप्त हुए हैं: टर्पीन (मुख्यतः कैम्फीन तथा सिल्वेस्ट्रीन), 65; साइमीन, 1–2; ऐल्कोहल, 8; टर्पिनाइल एस्टर, 8; साइप्रस कैम्फर ($C_{15}H_{28}O$), 15; तथा कीटोन, 1%. उच्च क्वथनीय प्रभाज में केडिनीन भी उपस्थित रहता है. आसवन-अवशेष में लैब्डानम के समान गंध होती है, तथा यह इत्र उद्योग में स्थिरीकारक के रूप में उपयोगी है. इसमें सेस्क्वीटर्पीन ऐल्कोहल भी उपस्थित होता है (क्वथनांक, 136° और 138°/4–5 मिमी.) एस्टर के रूप में उपस्थित टर्पिनोल में टर्पिनोल-4 के अंग पाये जाते है. तेल का अन्त:श्वसन द्वारा कुकुर खाँसी में उपयोग किया जाता है, परन्तु इसकी प्रभावोत्पादकता प्रमाणित नहीं है (Finnemore, 27; Parry, I, 35).

कु. सेम्परविरेन्स के बिना बीजों वाले शंकुओं से एक प्रकार का ईथरीय तेल प्राप्त होता है (उपलब्धि, 0·415%), जिसमें पत्तियों के तेल के समान गंध होती है (Finnemore, 28).

इसकी लकड़ी के आसवन से 2·55% तेल प्राप्त होता है, जिसके गुण निम्नलिखित है: आ.घ.$^{15°}$, 0·9538; $[\alpha]_D$, 5·32°· n_D, 1·4995; अम्ल मान, 1·40; एस्टर मान, 23·15; ऐसीटिलीकरण के पश्चात् एस्टर मान, 40·68; फार्मांडलीकरण के पश्चात् एस्टर मान, 70·14; 90% ऐल्कोहल के 4–7 आयतन में तेल विलेय है (कभी-कभी हल्की-सी अविलेयता रहती है) किन्तु 80% ऐल्कोहल के 20 आयतनों में बिना किसी अविलेयता के विलेय है (*Chem. Abstr.*, 1936, **30**, 4625).

वैर. हॉरिजण्टेलिस के विभिन्न भागों में उपस्थित ईथरीय तेल की मात्रा इस प्रकार है: शंकु (कच्चे), 0·07; शूचिकाएँ, 0·12; हरी डंडी, 0·21; तथा नीली शूचिकाएँ, 0·16% (Wehmer, I, 51).

वैर. फास्टीगियेटा के बीजों से वसीय तेल की थोड़ी-सी मात्रा प्राप्त होती है, परन्तु वैर. हॉरिजण्टेलिस के बीजों से 10·8% वसीय तेल प्राप्त होता है (Wehmer, loc. cit.).

कु. मैक्रोकार्पा हार्टवेग, कु. कैशमेरिआना रायल (सम्भवतः कु. टोरुलोसा का एक प्रकार) तथा कु. फुनेब्रिस एण्डलिखर (वीपिंग साइप्रस) को साधारणतया शोभाकारी पौधों के रूप में उपजाया जाता है. कु. फुनेब्रिस एक सदाबहार वृक्ष है, जिसका मूलस्थान चीन है. इसे मुख्यतः पूर्वी हिमालय में मन्दिरों तथा मठों के पास लगाया जाता है. इसकी लकड़ी साधारण कठोर (भार, 544 किग्रा./घमी.) टिकाऊ तथा सघन दानेदार होती है. चीन में इसका उपयोग सामान्य रचना-कार्यों तथा नावों की छतों तथा उसके पेटे को बनाने के लिए किया जाता है (Dallimore & Jackson, 271).

var. *horizontalis* (Mill.) Gordon: var. *stricta* Ait.; var. *fastigiata* Hansen; *pyramidalis* Nym.; *C. macrocarpa* Hartw.; *C. cashmeriana* Royle; *C. funebris* Endl.

कुम्बी – देखिए केरिया

कुरीमिया वालिश (सेलास्ट्रेसी) KURRIMIA Wall.

ले. – कूरीमिआ

यह दक्षिण-पूर्व एशिया और मलेशिया में फैले हुए वृक्षों का एक वंश है. इसकी दो जातियाँ भारत में मिलती हैं.
Celastraceae

कु. इंडिका (बेडोम) गैम्बल सिन. कु. बाइपार्टिटा एम. लासन; कु. पैनिकुलटा एम. लासन (फ्लो. ब्रि. इं.) अंशतः नान वालिश K. indica (Bedd.) Gamble

ले. – कू. इंडिका

Fl. Br. Ind., I, 622; Fl. Madras, 207.

त. – काडाप्ला.

यह अनामलाई, पश्चिमी घाटों के सदाहरित वनों, त्रावनकोर और तिन्नेवेलि की पहाड़ियों में 900–1,800 मी. की ऊँचाई पर पाया जाने वाला, बड़ी-बड़ी, चर्मिल, स्पष्टतः शिराओं से युक्त पत्तियों वाला एक विशाल वृक्ष है. इसके फूल फीके पीले रंग के और संपुटिका 3·75 सेंमी. लम्बी दो बराबर की आयतरूप पालियों से युक्त होती है.

कु. इंडिका की लकड़ी (भार, 544–688 किग्रा./घमी.) फीके धूसर-भूरे रंग की और साधारण कठोर होती है. मलेशिया में पाई जाने वाली इससे सम्बद्ध एक जाति कु. पैनिकुलैटा वालिश एक्स एम. लासन की लकड़ी खम्भों, दंडों और फर्श पर बिछाने के लिए पटिया के रूप में प्रयुक्त की जाती है. इसका फल खाद्य है परन्तु लुगदी स्वादहीन बताई जाती है (Gamble, 177–78; Burkill, II, 1288; Corner, I, 190).

K. bipartita M. Laws.; *K. paniculata* M. Laws.

कु. रोवस्टा (रॉक्सवर्ग) कुर्ज सिन. **कु. पुल्केरिमा** वालिग एक्स एम. लासन K. robusta (Roxb.) Kurz.

ले.—कू. रोवुस्टा
Fl Br. Ind, I, 622. Fl. Assam, I, 270.

असम—हिंगुरि; खासी—दिएंग-मात-वेई; दिएंग-सोह-गाग

यह उत्तरी वगाल, असम, खासी पहाडियो और दक्षिणी अण्डमान द्वीप मे पाया जाने वाला, अंडाकार शिखर युक्त और फैली हुई शाखाओ वाला, 1·5 मी घेरे और 27 मी. तक ऊँचा एक विशाल वृक्ष है इसकी पत्तियाँ आयतरूप, भालाकार, 10–17·5 सेमी × 2·5–5 सेमी, होती हैं; फल 3·7–5 सेमी. लम्वे, एककोशिक और एक वीजधारी होते हैं इसकी लकडी (भार, 704–768 किग्रा/घमी) लाल-भूरे रंग की और मृदु ऊतकों की सघन सकेन्द्री रेखाओं से युक्त तथा स्थूल दानेदार, काष्ठरेखित होती है यह भंगुर वताई जाती है और टिकाऊ नही होती; मलाया मे यह वक्से आदि वनाने के लिए अच्छी समझी जाती है (Burkill, II, 1288).
K pulcherrima Wall. ex M. Laws.

कुर्ची—देखिए होलोरेना

कुरूपिटा आब्लेट (लेसिथिडेसी) COUROUPITA Aubl.

ले—कौरौपिटा
Benthall, 257.

यह वृक्षो की लगभग 15 जातियों का वंश है. ये जातियाँ दक्षिणी अमेरिका और वेस्ट इडीज मे पाई जाती हैं. **कु. गायनेन्सिस** आव्लेट, 'कैनन-वाल ट्री', भारत मे अक्सर वनस्पति उद्यानों मे मिलता है. इसके तने के ऊपरी भाग और प्रमुख शाखाओं पर विचित्र आकार के विशाल फूल गुच्छों मे लगते हैं, जिनसे गुलावी, वैंगनी, सफेद और पीले रंगों का सुहावना संयोग दिखाई देता है. इसके पुकेसर आपस मे जुडकर एक पट्ट-सा वनाते हैं जो अण्डाशय की जड से उठकर अपने वीच मे स्थित स्त्री केसर के ऊपर झुक जाता है. इसका फल अस्फोटी, भूरा, गोलाकार, लगभग मनुष्य के सिर के वरावर होता है; उसके ऊपर का छिलका चर्मिल या काष्ठमय होता है और इसके भीतर खट्टी गंधवाले गूदे मे वहुत से वीज संस्तरित रहते हैं. इस फल को पकने मे 8–9 महीने लगते हैं. फलों के आवरणों को वर्तनों की तरह उपयोग मे लाते हैं. कहा जाता है कि हब्शी लोग इसके गूदे को खाते हैं और उससे एक पेय वनाते हैं. इस वृक्ष का प्रवर्धन वीजों द्वारा किया जाता है (Bailey, 1947, I, 871).
Lecythidaceae, *C. guianensis* Aubl.

कुलंग—देखिए पक्षी

कुसुम—देखिए श्लाइकेरा

केंकड़े CRABS

व.—काँकड़ा; म.—खेकड़ा; क.—एडी, नल्लि; मल. और त.—नण्डू.

केकडो (वर्ग, **क्रस्टेशिया**, गण, **डेकापोडा**; उपगण, **व्रैक्युरा**) की पहचान उनके वहिर्ककाल (पृष्ठ वर्म) से जो शल्की पदार्थों मे कैल्सीय पदार्थों के स्थापन से वनता है, तथा छोटे उदर से जो शिरोवक्ष के नीचे आकुचित अवस्था मे रहता है, की जाती है शल्की वहिर्ककाल, सिर और वक्षीय भागो के ऊपर रक्षावरण का कार्य करता है. अधिकाश केकडे समुद्री हैं किन्तु कुछ मुहानों, नदियों और तालावों मे भी पाये जाते है. केकडों की कुछ जातियाँ भूमि पर भी रहने लगी हैं किन्तु क्लोम तन्तुओं को साँस लेने मे सुविधा प्रदान करने के लिए उन्हे सदैव नम रखने की आवश्यकता पडती है अत ये जल के निकट रहते है. क्रस्टेसिया के अन्य सदस्यों की भाँति केकडे भी समय-समय पर अपनी खोल गिरा कर फिर से थोडे ही समय मे नई खोल धारण कर लेते हैं जिसके भीतर उनका वढता हुआ शरीर आ सके

केकडों की कई जातियाँ खाद्य है और उनका मास अत्यन्त स्वादिष्ट होता है इसीलिए भारत के तटीय नगरों मे इन्हे वडे पैमाने पर पकडकर वाजारों मे वेचा जाता है. भारत के प्रमुख खाद्य केकडों मे, **स्काइला सेरेटा**, **नेपच्यूनस पेलागिकस**; **ने. सैनगिनोलैण्टस**; **चारिवडिस क्रूसीफिर**, **वरुना लिटैरेटा**; **पैराटेलफूसा स्पिनिगेरा**; **पै. हाइड्रोड्रोमस**; और **पै. जैक्वीमोंटाई** उल्लेखनीय हैं

स्काइला सेरेटा फोर्स्कल (व—नोना काँकडा) भारत-प्रशान्त महासागर के क्षेत्र मे पाया जाता है और भारत का सर्वसामान्य खाद्य केकडा है जो मुहानों, रुके जलो, मैंग्रोवी दलदलो, और कभी-कभी शुद्ध जलों मे पाया जाता है. यह वगाल के डेल्टा प्रदेशों मे प्रचुर मात्रा मे पाया जाता है और वहुधा पानी के नीचे विलों मे रहता है. पृष्ठवर्म के आर-पार इस जाति के केकडों की लम्वाई 20 सेमी तक होती है और यह भारत मे उत्पन्न अन्य जातियो मे सवसे वडी और पुष्ट मानी जाती है. इससे भी वडे, 37·5–45 सेमी. आकार तक के स्काइला, चिल्का झील मे देखे गये हैं. ये मानसून के महीनो मे प्रजनन करते हैं. गर्मी के महीनों मे इनका शिकार किया जाता है तव इनकी इतनी वहुतायत हो जाती है कि कुछ सैंकरी-खाडियों और गगा के डेल्टा मे विना किसी कठिनाई के प्रचुर मात्रा मे इन्हे पकडा जा सकता है (Hora, *Curr. Sci.*, 1934–35, 3, 543, Chopra, *J. Bombay nat. Hist. Soc.*, 1939, **41**, 224; *Agric. Marketing in India*, *Marketing Ser.*, No. 24, *Preliminary guide to Indian fish, fisheries, methods of fishing and curing*, 1941, 70).

नेपच्यूनस पेलागिकस लिनिअस और **ने. सैनगिनोलैण्टस** हर्स्ट, **स्काइला सेरेटा** की तरह तैरने वाले केकडे हैं जो अधिकतर समुद्री या खारे पानी मे पाये जाते हैं चिल्का झील मे **ने. पेलागिकस** का वडी सख्या मे शिकार किया जाता है जहाँ यह वर्ष मे कुछ समय के लिए स्वच्छ जल मे रहने का आदी हो गया है. **ने. सैनगिनोलैण्टस** (मल.—कश्नुनाडू) साधारणतः तमिलनाडु और वम्बई के तटवर्ती क्षेत्रों मे पाया जाता है. इसकी दो जातियाँ खोल के आरपार लगभग 12·5–15 सेमी. तक लम्वी होती है (Chopra, loc. cit.; Rai, *J. Bombay nat. Hist. Soc.*, 1933, **36**, 892; Chidhambaram & Raman, *Indian Fmg*, 1944, **5**, 454).

वरुना लिटैरेटा फैब्रीसिकस (व.—चित्ती काँकडा) एक छोटा केंकडा है, जिसकी खोल 5 सेमी. से अधिक नहीं वढती

और जो अगणित संख्या मे गंगा नदी के डेल्टा मे पाया जाता है. यह बहुधा तटवन्धों के पास या तालावों के किनारो में बिल बनाकर रहता है. मई और जून के गर्म महीनों मे जब तालावों का पानी सूखने लगता है तो केंकडे नम भागो मे एकत्रित हो जाते है, जहा इन्हे आसानी से हाथ से या छोटे-छोटे तिकोने जालों मे पकडा जा सकता है छोटे आकार के कारण इसका कोई व्यापार नहीं होता फिर भी स्थानीय उपयोग के लिए बंगाल मे इसे प्रचुर मात्रा मे पकडा जाता है (Hora, loc. cit.).

पैराटेलफूसा स्पिनिगेरा वुडमैसन (ब—पातीं-काँकडा) बंगाल मे तालावों, पोखरों और नदियों के किनारे काफी संख्या मे पाया जाता है. इसकी खोल का आकार लगभग 7·5 सेमी होता है. इस वंश की दो अन्य जातियाँ तमिलनाडु और महाराष्ट्र मे पाई जाती है. तमिलनाडु मे हस्तान्तरित जिलों का सामान्य खाद्य केंकडा **पै. हाइड्रोड्रोमस** हर्ब्स्ट मार्च, अप्रैल और मई के महीनों मे पकडा जाता है. यह पोखरों और नहरो के किनारे कीचड मे गहरे बिल बनाकर रहता है. **पै. जैक्वीमोंटाई** रथबून महाराष्ट्र मे बहुत अधिक संख्या मे पकडा जाता है. यह बडे आकार का होता है और कभी-कभी इसकी खोल 12·0 सेमी. तक होती है (*Agric Marketing in India, Marketing Ser.*, No. 24, loc. cit.).

एक अन्य तैरने वाला केंकडा, **चारिबडिस क्रूसीफिर** तमिलनाडु मे पाया जाता है जिसकी खोल अत्यधिक रंगीन (आडी-तिरछी रंग की रेखाएँ) होती है.

बिरगस लैट्रो (गण, **डेकापोडा;** उपगण, **ऐनोमुरा**) को भारतीय-भूमि केंकडा भी कहते है. यह हिन्द महासागर के सैण्टीनेल द्वीपों मे पाया जाता है यह अन्य केंकडों से कुछ भिन्न है क्योंकि इसका उदर असमित होता है और उस पर कठोर पपडी नही चढी रहती यह काफी बडे आकार का हो जाता है और पेडों से गिरे हुए नारियलों को खाकर रहता है अपना भोजन प्राप्त करने के लिए यह नारियल के पेडों पर भी चढ जाता है इसके माँस मे वसा अधिक होती है और यह अत्यन्त स्वादिष्ट माना जाता है

केंकडा एक कायर प्राणी है जो थोडे से ही खतरे का आभास पाकर अपने बिल मे या दराज मे छिप जाता है पीछा करने पर बचने का उपाय न देख कर यह अपने आक्रमणकारी को डराने के लिए पिछली टाँगों पर खडा होकर अपने बडे-बडे पंजों को हिलाता है यदि एक बार किसी वस्तु को अपने शक्तिशाली पंजों से पकड ले तो वह उसे छोडता नही मछए केंकडों की इस आदत का लाभ इसे पकडते समय उठाते है इसके सामने जो भी भोजन आता है चाहे मृत हो या जीवित उसे वह खा जाता है यद्यपि जीवित प्राणी इसे विशेष प्रिय है. सामान्यत. ये अपनी जाति को भी खा जाते है. ये अति-भक्षी है और शुक्ति मचयों तथा पकडी गई मछलियों को अत्यधिक हानि पहुँचाते है. केंकडे पर-भक्षी मछलियों और आक्टोपस के शिकार बनते है.

जीवनचक्र—अंडों को तोड कर निकले हुए छोटे-छोटे बच्चे देखने मे बडे केंकडों से सर्वथा भिन्न लगते है. उदाहरणार्थ समुद्र के किनारे रहने वाले **कैरसीनस मैयनस** का लारवा पार-भासी और लगभग 1·25 मिमी. लम्बा होता है. कुछ घंटों के अन्दर ही यह अपनी ऊपरी खोल को उतार फेंकता है और जोगिया रूप धर लेता है. इस रूप मे वह पानी की सतह पर तैरता है और छोटे-छोटे जीवो और पौधों को अपना भोजन बनाता है. कई बार केंचुली उतारता हुआ यह आकार मे बढता है और शीघ्र रूपान्तरित होने पर मैगालोपा अवस्था मे पहुच जाता है. इस अवस्था मे यह देखने मे युवा केंकडे की तरह लगता है परन्तु इसका उदर कुछ फैला हुआ रहता है युवा केंकडे की भाँति इसका उदर शिरोवक्ष के नीचे नही रहता इस के कुछ उपाग भी रहते है जो तैरने के लिए आवश्यक है इस समय यह पानी की सतह के नीचे जाकर पुन केंचुली उतारता है और छोटे केंकडे के रूप मे जो लगभग 3 मिमी. लम्बा होता है आ जाता है अति भक्षण करके और बार-बार केंचुली उतार कर यह युवा केंकडा बन जाता है.

केंकडे का बहिर्कंकाल इतना कठोर होता है कि यह शरीर की वृद्धि के साथ नही बढ पाता अत इसे समय-समय पर गिराने की आवश्यकता पडती है इसका कवच कुछ स्थानों से फट जाता है अंग शिथिल हो उठते है और वे खोल तथा उपागों को अक्षत छोडकर निकल आते है इस प्रकार कवच गिराने के पूर्व उसके नीचे एक नई खाल का जन्म होता है केंकडा इस लचीली नई खाल मे अपने आकार को बढाता है और इस अवधि मे यह शत्रुओं के भय से छिपा रहता है मुलायम और लचीली ऊपरी खाल धीरे-धीरे कठोर हो जाती है और इसकी वृद्धि तब तक के लिए रुकी रहती है जब तक आकार मे पुन: वृद्धि न हो उस समय सारी क्रिया की पुनरावृत्ति होती है कठोर बहिर्कंकाल न केवल बाहरी जानवरो से इसकी रक्षा करता और नाजुक आंतरिक अंगों को सहारा देता है बल्कि माँसपेशियों को संयोजित करके भी रखता है जिससे यह चलता-फिरता है यदि शत्रु से लडते समय इसका कोई अंग कट कर गिर जाता है तो कुछ ही समय बाद नया अंग फिर निकल आता है जो मूल अंग के समान ही सक्रिय होता है

केंकड़े का शिकार—बंगाल के निचले भाग के डेल्टा क्षेत्रों मे केंकडों को प्रचुर मात्रा मे पकडा जाता है किसी सँकरी घाटी के दोनों ओर एक रस्सी फैलाई जाती है जिसका एक सिरा किनारे पर किसी खम्भे से तथा दूसरा सिरा विपरीत सिरे पर दूसरी ओर एक नाव से बाँध दिया जाता है रस्सी को भारी बनाने के लिए थोडी-थोडी दूरी पर उसमे ईंटे या पत्थर के भारी टुकडे बाँध दिये जाते है इन ईंटों के बीच मरी मछलियाँ चारे के रूप मे लटका दी जाती है प्रत्येक चारे को एक ढीले फंदे मे इस प्रकार बाँधा जाता है कि जब उसे खींचा जाय तो फंदा कस जाय केंकडा चारे की ओर आकर्षित होकर रस्सी को अपने पंजों मे दबोचता है जब रस्सी केंकडों के भार से भारी हो जाती है तो उसे खींच कर निकाल लिया जाता है. महाराष्ट्र मे भी इसी प्रकार से केंकडे पकडे जाते है

बंगाल मे एक अन्य विधि द्वारा भी छोटे पैमाने पर केंकडे पकडे जाते है एक बाँस की डंडी मे लोहे का कुन्द आँकडा लगाकर डंडी को केंकडों के बिलों में ऊपर-नीचे घुमाते है केंकडा आँकडे मे फँस जाता है और उसे बाहर खींच लिया जाता है खींचते समय केंकडा प्रबल प्रतिरोध करता है जिससे उसके अंग भी टूट जाते है.

तमिलनाडु के, विशेष रूप से हस्तान्तरित जिलों मे प्रयोग होने वाली विधि इससे कुछ भिन्न है. एक लम्बी छड जिसके

एक सिरे पर गाँठ निकली रहती है, बाँस के एक खोखले टुकड़े में डाली जाती हैं जिससे छड़ आसानी से टुकड़े में ऊपर-नीचे आ-जा सके. निचले सिरे को गाँठ को आवश्यकतानुसार एक रस्सी लपेट कर पक्का कर लिया जाता है जिससे नली फिसल कर गिरे नहीं. इस औजार को केंकड़े के बिल में डालते हैं और जब केंकड़ा निचले भाग को अपने पंजों से दबोच लेता है तो नली को नीचे खींच कर चोला से दबा दिया जाता है. इस प्रकार दबे हुए केंकड़ों को औजार सहित बाहर निकाल लेते हैं (Hora, *Curr. Sci.*, 1934-35, **3**, 544).

उथले पानी में केंकड़ों का शिकार जाल से किया जाता है. केंकड़ों को बंगाल में मई–जून तक, मद्रास में मार्च–जून तक और महाराष्ट्र में अगस्त–अक्टूबर तक पकड़ा जाता है (Reddy, *Curr. Sci.*, 1936–37, **5**, 178; Rai, loc. cit.).

संघटन – स्काइला के खाद्य भाग का संघटन इस प्रकार है: आर्द्रता, 83·5; प्रोटीन, 8·9; वसा, 1·1; कार्बोहाइड्रेट, 3·4; खनिज पदार्थ, 3·2; कैल्सियम, 1·37; तथा फॉस्फोरस, 0·15%; लोहा, 21·2 मिग्रा./100 ग्रा.; कैरोटीन (अंतर्राष्ट्रीय विटामिन ए की इकाई), 1,300/100 ग्रा. केंकड़ों की माँसपेशियों में ताँबा, 0·57 मिग्रा./100 ग्रा.; विटामिन बी$_1$, 140 माग्रा./100 ग्रा.; विटामिन बी$_2$, 350 माग्रा./100 ग्रा.; निकोटिनिक अम्ल, 3 मिग्रा./100 ग्रा.; विटामिन सी, 13 मिग्रा./100 ग्रा.; और विटामिन ए की भी कुछ मात्राएँ पाई गई हैं (*Hlth Bull.*, No. 23, 1941, 41; *Nutrit. Charts*, Heinz & Co., 1942, 26).

भारतीय भूमि के केंकड़े (**बिरगस लैट्रो**) के शरीर की वसा में आक्टानोइक, 1·5; डैकानोइक, 5·3; लारिक, 47·5; मिरिस्टिक, 19·0; पामिटिक, 13·1; और स्टीऐरिक अम्ल, 1·7% (आणविक); असंतृप्त C_{14} अम्ल, 0·7; C_{16} अम्ल, 2·2; C_{18} अम्ल, 6·8; और C_{20-22} अम्ल, 2·2% (आणविक) पाये गये. इसमें उपस्थित लगभग 66% संतृप्त ग्लिसराइड वसा-अम्लों का संघटन नारियल के तेल में उपस्थित ग्लिसराइडों के समान है. यह उन उदाहरणों में से एक है जिसमें वसा पशुओं में संश्लेपण क्रिया से न बन कर मुख्यत: भोजन के स्वांगीकरण से एकत्रित होती है (Hilditch, 1947, 296).

जापान तथा अमेरिका में केंकड़ों के माँस की डिब्बाबंदी की जाती है. केंकड़ों को 15–20 मिनट तक उबलते जल में रखा जाता है और फिर कवच तथा पाचक-अंगों को अलग कर लिया जाता है. माँस को पहले पानी से, फिर लवण-जल (1%) से धोया जाता है. इस धुले हुए माँस को निचोड़ कर बचे हुए जल को विलग कर दिया जाता है और फिर डिब्बों में, जिनके चारों ओर पार्चमेंट की तह लगी रहती है, बंद कर दिया जाता है. 100° पर डिब्बों के अन्दर की हवा निकालकर उनके ढक्कन बन्द कर दिये जाते हैं. इन बन्द डिब्बों को एक घंटे तक रिटार्ट में दाबानुकूलित वाष्प में पकाया जाता है. केंकड़ों की डिब्बाबंदी हिमीकरण विधि से भी की जाती है (Tressler, 564; Jacob, II, 297).

चिओनैक्टीज फैलेंजियम फैलेंजियम नामक केंकड़ों के माँस (बंद डिब्बों) का अंतर्राष्ट्रीय व्यापार में प्रमुख स्थान है. **कैन्सर मैजिस्टर** और **कारसीनस मैयनस** केंकड़ों के माँस को भी डिब्बों में बंद किया जाता है (*Chem. Abstr.*, 1942, **36**, 2338).

इसके खोल में एक लाल वर्णक पदार्थ, एस्टाजथिन होता है जो क्षारीय जल-अपघटन पर ट्रैटाकैरोटीन का एक टैट्रा-कीटोन, ऐस्टैसिन, बनाता है (Karrer, 696).

यद्यपि केंकड़े में माँस का पोषक मान मछली के माँस से कुछ कम है फिर भी इसमें कुछ असाधारण आहार-गुण और औषधीय गुण पाये जाते हैं. महाराष्ट्र और दक्षिणी प्रदेशों में केंकड़े की कढ़ी दमा और दीर्घकालीन ज्वर की प्रसिद्ध ओषधि मानी जाती है. **स्काइला** और **नेपच्यूनस** के सूप बलवर्धक माने जाते हैं. **पैराटेलफूसा** का सूप सर्दी के उपचार में काम आता है. विरंजित करने के बाद केंकड़ों के कवचों का चूर्ण बनाया जाता है. यह चूर्ण मुर्गियों और सुअरों का खाद्य है. इस चूर्ण को खाद के रूप में भी काम में लाते हैं (Chidhambaram & Raman, loc. cit.; Chopra, loc. cit.).

भारत में केंकड़ों को पकड़ने का उद्योग इतना अधिक व्यापक और महत्वपूर्ण नहीं है जितना कि झींगों का. 1948–49 में तमिलनाडु में 75·9 टन केंकड़े पकड़े गये, जिनका मूल्य 9,371 रु. था.

Crustacea; *Decapoda*; *Brachyura*; *Scylla serrata* Forsk.; *Neptunus pelagicus* Linn.; *N. sanguinolentus* Herbst; *Varuna litterata* Fabr.; *Paratelphusa spinigera* Wood-mason; *P. hydrodromus* Herbst; *Paratelphusa jacquemontii* Rathbun; *Charybdis crucifer*; *Birgus latro*; *Anomura*; *Chionectes phalangium* Fabr.; *Cancer magister*; *Carcinus maenas*

केंचुए EARTHWORMS

Fn. Br. Ind., *Oligochaeta.*

बं. – केंचु; म. – गांडूल; गु. – एलास्यूँ; ते. – वानपामु; त. – मनपुजु; मल. – नानऊल, मन्नेरा; क. – मन्नुहुलु. पंजाब – गँडोआ.

यह खण्डित शरीर का एक लम्बा कृमि है (**संघ – एनिलिडा**; **गण – आलिगोकीटा**) जिस पर कहीं-कहीं छोटे-छोटे काइटिनी शूक रहते हैं. प्रथम और अन्तिम खण्ड को छोड़कर ये शूक सभी खण्डों पर पाये जाते हैं और ये संचलन में सहायक हैं. इसका सिर ऊपर से देखने पर शरीर के अन्य भागों से स्पष्ट रूप से पृथक् नहीं जान पड़ता. मुख सिर के अग्र भाग में प्रक्षेपी होठ या पालि के नीचे होता है. केंचुओं के आँखें नहीं होती हैं ये प्रकाश-संवेदी होते हैं. इनके श्रवणेन्द्रियाँ नहीं होतीं किन्तु ये भूमि के कम्पन के प्रति अत्यंत संवेदी होते हैं. इनका सम्पूर्ण शरीर स्पर्श-संवेदी होता है और समस्त इन्द्रियों में स्पर्शेन्द्रिय सर्वाधिक विकसित होती है. घ्राणेन्द्रिय क्षीण होती है जिससे केवल कुछ खाद्य सुगन्धियों का ही बोध होता है. ये उभयलिंगी होते हैं किन्तु इनमें स्वनिषेचन बिल्कुल नहीं होता. अण्डे केंचुओं द्वारा ही स्रवित कोकूनों के अन्दर निषेचित और विकसित होते हैं जिन्हें वे मिट्टी के अन्दर डालकर ढक देते हैं. भारत में अधिकांश केंचुए मानसून के महीनों में प्रजनन करते हैं किन्तु **फेरिटिमा** के कोकून अप्रैल, मई और जून में भी मिल सकते हैं.



चित्र 55 – केंचुए

केंचुए सारे संसार में पाये जाते हैं. इनकी एक हजार से भी अधिक जातियाँ पहचानी जा चुकी हैं और 500 से अधिक जातियाँ अकेले भारत में पाई जाती हैं. दक्षिण में नीलगिरि पर्वत पर और उत्तर में हिमालय पर ये बहुतायत से पाये जाते हैं. **फेरिटिमा, ड्राविड़ा, मेगास्कोलेक्स, यूटाइफियस लैम्पिटो** और **आक्टोकीटस** भारत में पाये जाने वाले इनके प्रमुख वंश हैं.

केंचुए अधिकतर स्थलचर होते हैं जो भीगी मिट्टियों में बिल बनाकर रहते हैं. ये स्वभाव से रात्रिचर होते हैं. ये अपने बिल के द्वारों को सूखी पत्तियों या किसी अन्य वस्तु के टुकड़ों से, जिन्हें वे पा जाते हैं, बन्द करके रखते हैं. बिल काफी गहराई तक नीचे तिरछा जाता है और अन्दर से केंचुए द्वारा बनाई हुई श्लेष्मा की एक परत से ढका रहता है. उत्तरी भारत में साल भर पाया जाने वाला **फेरिटिमा पोस्थुमा** एक सिद्ध बिल बनाने वाला जन्तु है जो धरती के नीचे खाता और प्रजनन करता है किन्तु **यूटाइफियस वॉल्टोनाइ** केवल वर्षा ऋतु में ही मिलता है और बिल से बाहर निकल कर खाता और मैथुन करता है.

केंचुए सर्वाहारी होते हैं. ये पर्याप्त मात्रा में मिट्टी खाते हैं जिनमें जीवित या मृत जीव-कीटों के अण्डे और लारवे, क्रिप्टोगैमों के स्पोर, माइक्रोकोकस, और अधसड़ी पत्तियों और जड़ों के सेल्यूलोस, इत्यादि रहते हैं. ये जीवित पौधों पर आक्रमण नहीं करते हैं. केंचुओं के जबड़े या दाँत नहीं होते, अतः खाद्य पदार्थों का पोषण मुख्यतः गिजर्ड में निगले गये बालू के कणों और छोटे-छोटे पत्थरों की सहायता से होता है जिन्हें वह निगल लेता है (Darwin, 62).

ये खाई हुई और बिल खोदते समय निकली हुई मिट्टी को कृमि रूप में या गोलियों के रूप में ढाल कर बाहर फेंकते जाते हैं जो अधिकतर वर्षा ऋतु में या उसके बाद दिखाई देती हैं. ग्रीष्म और शुष्क शीत में केंचुए धरती के नीचे गहरे बिलों में रहते हैं. सतह के ऊपर चिकनी मिट्टी फेंकते रहने के कारण केंचुए धरती को जोतते रहते हैं. बड़े दलों में सक्रिय होने के कारण ये टीलों और पहाड़ियों को नीचा करने और घाटियों को विस्तीर्ण करने में सहायक होते हैं. ये अपने गिजर्ड में चट्टानों के टुकड़ों को पीसकर और उसमें पर्याप्त मात्रा में खाई गई अधपची पत्तियों से कार्बनिक पदार्थ मिलाकर न केवल मिट्टी की जुताई करते हैं वरन् उसे उर्वर एवं वातित भी बना देते हैं. बिल भूमि से जल-निकासी और पौधों की जड़ों के नीचे जाने में सहायक होते हैं. जिन मिट्टियों में केंचुए सक्रिय रहते हैं वे केंचुओं से रहित मिट्टी की अपेक्षा अधिक अच्छी भौतिक अवस्था वाली होती है (Ogg, *Brit. agric. Bull.*, 1952, **5**, 42; Collis, *Nat. Hist., N.Y.*, 1947, **56**, 165).

केंचुओं द्वारा निकाली गई मिट्टी में विनिमेय हाइड्रोजन कम रहता है और धरती की सतह से 15 सेंमी. की गहरी मूल मिट्टी की अपेक्षा मृत्तिका की मात्रा कम होती है. इनमें पूर्ण तथा नाइट्रेट नाइट्रोजन, कार्बनिक पदार्थ, पूर्ण तथा विनिमेय कैल्सियम, विनिमेय पोटैसियम और मैग्नीशियम और उपलब्ध फॉस्फोरस अधिक होता है तथा इसकी क्षार-क्षमता, क्षार-संतृप्ति और आर्द्रता समतुल्य उच्च होता है. मूल मिट्टी का पी-एच चाहे जैसा भी हो, केंचुए के द्वारा निकाली मिट्टी का पी-एच लगभग उदासीन होता है. ऐसी मिट्टी में कृष्य मिट्टी की अपेक्षा जीवाणुओं की संख्या अधिक होती है. मिट्टी के संघटन में जो उपयोगी परिवर्तन होता है वह केंचुए के पाचन-संस्थान में पौधों और जीवों के अवशेषों के मिट्टी में अच्छी तरह मिश्रित होने और फिर मिश्रण पर पाचन स्रावों की अभिक्रिया के कारण होता है. जिन मिट्टियों में केंचुओं की संख्या अधिक होती है उनमें नाइट्रीकरण की अधिकता का कारण अंशतः केंचुओं के शरीर-अपघटन के कारण भी होता है (Lunt & Jacobson, *Soil Sci.*, 1944, **58**, 367; *Chem. Abstr.*, 1942, 36, 2069).

जीवित केंचुओं के विश्लेषण से निम्नलिखित मान प्राप्त हुए: जल, 79–86; प्रोटीन, 10–14; और वसा, 1.5%. वसा का 56–67% ग्लाइसेरिडीय और 33–44% फॉस्फेटिडीय प्रकृति का था. इनमें से प्रत्येक वर्ग में 50% से अधिक अंश असाबुनीकरणीय पदार्थ का था. दोनों वर्गों में C_{10}–C_{22} शृंखला के वसा-अम्लों के अतिरिक्त अज्ञात अम्ल भी पाये गये, एर्गोस्टेरॉल, कोलेस्टेरॉल और सम्भवतः स्टिग्मास्टेरॉल भी पाये गये. उनमें फ्लैविन, 16 माग्रा./ग्रा. भी विद्यमान था. नाइट्रोजन उपापचय का प्रमुख शेष-उत्पाद एड्रिनीन था. एक पीला-सा अक्रिस्टलीय पदार्थ भी केंचुए से निकाला गया है जो 1:8,000 के तनूकरण में रक्त संलयन उत्पन्न

करता है. एक ब्रांकोडायलेटक तत्व भी इससे विलग किया गया है (Lawrence & Millar, *Nature*, 1945, **155**, 517; Hilditch, 1947, 66; *Chem. Abstr.*, 1939, **33**, 1794; 1937, **31**, 3575; 1923, **17**, 1510; 1943, **37**, 2824; 1938, **32**, 1791; 1939, **33**, 6968).

केंचुए में एक सक्रिय ज्वरहर, लम्ब्रोफेब्रिन, रहता है. केंचुआ चीन और जापान में सूखी अवस्था में ज्वर के उपचार में प्रयुक्त होता है. ऑस्ट्रेलिया का वृहत् केंचुआ, **मेगास्कोलाइडिस ऑस्ट्रेलिस** जो लगभग 2·5 सेंमी. व्यास का तथा लम्बाई में 60 सेंमी. या अधिक है, मिट्टी से हटाने पर विघटित होकर क्रियोसोट गन्ध का तैलीय जैसा तरल बन जाता है जो गठिया और उसी प्रकार के कष्टों में मालिश के लिए प्रयुक्त होता है (*Chem. Abstr.*, 1939, **33**, 1879; *Biol. Abstr.*, 1945, **19**, 1049).

मछली पकड़ने में केंचुओं को चारे के रूप में और गोल्डफिश के आहार के रूप में प्रयुक्त करते हैं. चारे में उपयोग करने के लिए इन्हें मिट्टी से खोद कर निकाला जाता है और भीगे स्फ़ैगनम, काई या ओटमील में 2–4 दिन तक रखा जाता है जिससे वे पारदर्शक, कड़े और सजीव हो जाते हैं. केंचुए कई गाने वाली और शिकार की चिड़ियों के भी आहार हैं. कहा जाता है कि मावरी लोग केंचुआ खाते हैं (*Fmrs' Bull., U.S. Dep. Agric.*, No. 1569, 1928, 9).

केंचुए घास के और खेल के मैदान के शत्रु हैं. वे अपनी निकाली मिट्टी से टर्फ को खराब करते हैं. लेड आर्सनेट (58 ग्रा./वर्ग मी.), चूर्ण डेरिस जिसमें 4% रोटिनोन (14–45 ग्रा./वर्ग मी.) हो, बारीक पिसी मोउड़ा की खली (95–175 ग्रा./वर्ग मी.), पोटैसियम परमैंगनेट और डी-डी-टी के छिड़काव से इन पर नियन्त्रण किया जा सकता है (*Chem. Abstr.*, 1937, **31**, 3193; 1939, **33**, 2644, 2645; 1946, **40**, 6205).
Annelida; *Pheretima, Drawida*; *Megascolex*; *Eutyphoeus*; *Lampito*; *Octochaetus*; *Pheretima posthuma*; *Eutyphoeus waltoni*; *Megascolides australis*

केओलिन – देखिए मृत्तिका

केजापुट – देखिए मेलाल्यूका

केड्रोस्टिस मेडिकस (**कुकरबिटेसी**) KEDROSTIS Medic.

ले. – केड्रोस्टिस

यह मुख्यतः अफ्रीका में पायी जाने वाली भूशायी या आरोही बूटियों का वंश है. एक जाति भारत में भी पायी जाती है.
Cucurbitaceae

के. रॉस्ट्राटा (रॉटलर) काग्नियो सिन. **रिंकोकार्पा फोइटिडा** सी. बी. क्लार्क (फ्लो. ब्रि. इं) अंशतः नान-अडर
K. rostrata (Rottl.) Cogn.

ले. – के. रोस्ट्राटा

D.E.P., VI(1), 502; Fl. Br. Ind., II, 627; Kirt. & Basu, Pl. 467 A.

ते. – कुकुमाडुण्डा; त. – अप्पाकोवाइ.
बम्बई – नुराक्वेल.

यह एक आरोही, उभयलिंगाश्रयी और बहुवर्षी झाड़ी है जो भारत के डेकन प्रायद्वीप में पाई जाती है. तने कोणीय, विरल रोमिल; तंतु साधारण, सूत्राकार; पत्ते मंडलाकार या वृक्काकार, कभी-कभी पंचकोणीय, हृदयाकार, संपूर्ण या दूर-दूर तक दंतुर, झिल्लीदार; नर-पुष्प हल्के पीले, पुष्पवृंत के शीर्ष पर 2–4; मादा पुष्प एकल, विरल संकुलित; फल अंडाकार गहरी लाल बेरी, 2·5 सेंमी. लम्बे, चोंचदार; बीज अल्प और अंडाकार होते हैं.

जड़ हल्की धूसर, लगभग गंधहीन, मीठी चिपचिपे स्वाद से युक्त होती है. यह शामक है और दमा एवं बवासीर के उपचार में प्रयुक्त होती है. फल और पत्तियाँ खाये जाते है (Kirt. & Basu, II, 1165).

केण्डल नट ट्री – देखिए ऐल्यूराइटिस

केनाफ – देखिए हिबिस्कस

केनारी नट वृक्ष – देखिए कानेरियम

केमीसाइपेरिस स्पाख (**पाइनेसी**)
CHAMAECYPARIS Spach.

ले. – कामेसिपारिस

यह सदाहरित इमारती लकड़ी के पेड़ों और झाड़ियों की 6 जातियों का वंश है जो उत्तरी अमेरिका, जापान और फारमोसा में पाया जाता है. **के. लासोनियाना** भारत के उद्यानों में, विशेषकर पहाड़ी क्षेत्रों में, शोभाकारी पादप के रूप में उगाई जाती है.
Pinaceae

के. लासोनियाना (मुरे) पार्लाटोर सिन. **क्युप्रेसस लासोनियाना** मुरे लासन C. lawsoniana (Murr.) Parl.
साइप्रस, पोर्ट ओरफोर्ड सेदार

ले. – का. लावसोनिआना

Troup, III, 1163; Dallimore & Jackson, 229.

यह लगभग 6 मी. घेरे वाला वृक्ष है जो 52·5–60 मी. तक ऊँचा होता है. इसके शिखर पर झुकी हुई डालियों का एक झुरमुट-सा होता है. यह भिन्न-भिन्न प्रकार से उगाया जाता है. इसकी कूर्चशाखित, फैलने वाली, निलम्बी, बौनी और रंगीन किस्में ज्ञात हैं. यह अधिकतर स्तंभाकार अथवा पिरामिड की शक्ल का होता है. पहाड़ियों पर उगने वाली विभिन्न किस्मों में से **ग्रेसिलिस पेंडुला** हार्टोरम, सुन्दर निलम्बी टहनियों के कारण बहुत प्रसिद्ध है और **वैर. अर्जेंटिया** (गोर्डन) वाईस्नर के पेड़ों पर आकर्षक रुपहली पत्तियाँ आती हैं.

यह पेड़ विभिन्न प्रकार की मिट्टियों में उगने का अभ्यस्त है. इस पर पाले का कोई असर नहीं होता. बीजों को बक्से में बोकर और छाया में रखकर भी सरलता से उगाया जा

सकता है. इसे कलम लगाकर भी उगा सकते हैं. नये पौधे छाया में अच्छी तरह बढ़ते हैं. ये पर्णपाती चौड़ी पत्ती वाले वृक्षों के नीचे भली प्रकार से लगाए जा सकते हैं. वृक्षारोपण के लिए चारों ओर से 1·2–1·5 मी. और बाड़ के लिए 60–90 सेंमी. की जगह खाली रखनी चाहिए.

इसकी लकड़ी पीताभ श्वेत, चिकनी और चमकीली होती है परन्तु धूप लगने से उसका रंग कुछ काला-सा पड़ जाता है. यह हल्की (भार, 528 किग्रा./घमी.) घने दानों वाली होती है जिसमें से सदैव एक तीखी गंध निकलती रहती है जो कोट पतंगों को दूर रखती है. लकड़ी काफी मजबूत और मिट्टी के सम्पर्क में भी टिकाऊ होती है. तेलयुक्त तथा कठोर होने के कारण इसकी सतह का चिकनाना कठिन होता है. यह मकान, घर की भीतरी सज्जा, नाव, रेल के स्लीपर, फर्नीचर, चहार दीवारी के लिए खम्बे, दियासलाई की तीलियाँ तथा संभवतः हवाई जहाज बनाने के लिए उपयुक्त होती है. यह बैटरी सेपेरेटर बनाने के काम में भी आती है (Trotter, 1944, 195).

लकड़ी से सौरभिक तेल निकलता है (उपलब्धि, 10%). इस तेल की निम्नलिखित विशेषताएँ हैं: आ.घ., 0·8905; $n^{15°}$, 1·4758; $[\alpha]_D$, +39·6°; अम्ल मान, 0·3; एस्टर मान, 32·8; ऐसीटिलीकरण के पश्चात् एस्टर मान, 71·6. इसमें *d*-α-पाइनीन, 60; डाइपेंटीन 6–7; *l*-बोर्निआल, 11; और केडिनीन 6–7% होता है. इसमें फॉर्मिक तथा ऐसीटिक अम्ल और फॉर्मिक तथा कैप्रिक अम्ल एस्टर रहते हैं. तेल में मूत्रण गुण भी पाये जाते हैं (Wehmer, I, 54; Parry, I, 8).

इसकी पत्तियों से सौरभिक तेल (1%) प्राप्त होता है जिसका आ.घ., 0·9308; $[\alpha]_D$, + 23°48′; *n*, 1·4884; अम्ल मान, 3·7; एस्टर मान, 61·6; तथा ऐसीटिलीकरण के पश्चात् एस्टर मान, 78·8 है. इसके तेल में लारिनिक ऐल्डिहाइड पाया जाता है (Parry, loc. cit.).
Cupressus lawsoniana Murr.; var. *gracilis pendula* Hort.; var. *argentea* (Gord.) Beissn.

केरिया द कन्दोल (रोजेसी) KERRIA DC.

ले. – केरिया

Bailey, 1947, II, 1736.

यह एकल प्ररूपी वंश है जिसमें जापान का वासी **केरिया जपोनिका** (लिनिअस) द कन्दोल (जापानी गुलाब) सम्मिलित है. यह भारतीय बगीचों में शोभा के लिए उगाया जाता है.

के. जपोनिका एक सुंदर, पर्णपाती, 1·2–1·8 मी. ऊँची, छरहरी शाखाओं एवं चमकीली हरी पत्तियों से युक्त झाड़ी है. पत्तियाँ लम्बी एवं आरावत्; फूल संख्या में अधिक, पीले, 2·5–5·0 सेंमी. व्यास वाले, एकल, एवं अंतस्थ होते हैं. इस झाड़ी की द्विपुष्प वाली एवं चितकबरी उद्यान कृषि-किस्में ज्ञात हैं. पौधों का प्रवर्धन कलमों, दाब डालियों तथा जड़ों के विभाजन द्वारा किया जाता है. पौधा किसी भी अच्छे बगीचे की मिट्टी में उगता है; और यद्यपि यह धूप सह सकता है फिर भी इसे आंशिक छायादार स्थानों पर लगाना अच्छा होता है. यह पौधा भारत में बेलाग बढ़ता है (Bailey, 1947, II, 1736; Firminger, 635; Parker, 230).

पौधे की पत्तियों एवं जड़ों में अल्प मात्रा (0·002%) में हाइड्रोसायनिक अम्ल रहता है. इसकी कोमल पत्तियों में प्रचुर ऐस्कॉर्बिक अम्ल (200 मिग्रा./100 ग्रा.) पाया जाता है (Wehmer, I, 438; *Chem. Abstr.*, 1951, 45, 8087).
Rosaceae; *K. japonica* (Linn.) DC.

केरिया रॉक्सबर्ग (लेसीथीडेसी) CAREYA Roxb.

ले. – कारेइआ

यह लगभग 9 जातियों के वृक्षों का एक वंश है जो इण्डो-मलायी भू-भाग में पाया जाता है.
Lecythidaceae

के. आरबोरिया रॉक्सबर्ग C. arborea Roxb. कुम्बी

ले. – का. अरबोरेआ

D.E.P., II, 157; C.P., 269; Fl. Br. Ind., II, 511.

सं. – कुम्भी; हिं., म., गु. और बं. – कुम्बी; ते. – अरया, दुडिपा; त. – आइमा; क. – कावल, दद्दाल; मल. – अलम, पेलु.

यह एक 9–18 मी. ऊँचा, पर्णपाती बड़ा वृक्ष है जो समस्त भारत में 1,500 मी. की ऊँचाई तक पाया जाता है. रसदारु सफेद होता है और अन्तःकाष्ठ हल्का या गहरे लाल रंग का होता है, किन्तु अधिक उम्र वाले वृक्षों में यह गहरे भूरे-लाल रंग का हो जाता है. लकड़ी भारी (आ.घ., 0·71; भार, 73·6 किग्रा./घमी.) कठोर, मजबूत, सीधी, दानेदार और मध्यम स्थूल गठन वाली होती है और जल के भीतर भी टिकाऊ है. यह उच्चताप सहन करने वाली है. इसमें दरारें, विपाटन तथा संवलन होता है. हरी अवस्था में ही इसे परिवर्तित कर लेना चाहिए और तेजी से नहीं सूखने देना चाहिए. मेखला बनाने से सतह की दरारें कम हो जाती हैं. यद्यपि कठिनाई से चीरी जाती है किन्तु गढ़ी जा सकती है और चिकनी, चमकदार सतह निकल आती है. काष्ठ टिकाऊ है और अच्छी पॉलिश लेता है (Trotter, 1944, 12; Pearson & Brown, II, 568; Kapur, *Manual of Air Seasoning of Indian Timbers*, 1934, 52).

लकड़ी का उपयोग कृषि औजारों, अलमारियों, बन्दूक के कुन्दों, घरों के खम्भों और तख्तों के बनाने में किया जाता है, यह परिरक्षी उपचार के पश्चात् रेल के स्लीपर बनाने के लिए अच्छी मानी गयी है. लचकदार होने के कारण इसका उपयोग छल्ले बनाने में भी किया जाता है. कनारा और मालाबार से काफी मात्रा में लकड़ी प्राप्त होती है.

इसकी छाल रेशेदार होती है जिसका उपयोग भूरे कागज और घटिया जहाजी रस्सों के बनाने में किया जा सकता है. आयुध विभाग में इसका उपयोग 'अंग्रेजी बीच' की लकड़ी के स्थान पर फ्यूज बनाने में किया जाता है.

छाल खाँसी और ठंड में शामक के रूप में दी जाती है. इसका उपयोग शमनकारी लेप तैयार करने में एवं उद्भेदी ज्वरों में, विशेषतया चेचक में, ज्वरहारी और खुजली नष्ट करने के रूप में होता है. फूलों की पर्णयुक्त कलियों में श्लेष्मा होता है. कलियाँ शामक की भांति उपयोग में लाई जाती हैं. फल

सुगंधित और खाद्य होते हैं. इनमें कषाय, गोंद पाया जाता है. फल का काढ़ा पाचक होता है. पत्तियों का उपयोग व्रणों में किया जाता है. बीज विषैले बताये जाते हैं (Kirt. & Basu, II, 1061).

पत्तियों में 19% टैनिन पाया जाता है. इनका उपयोग चुरुट और बीड़ी बनाने में किया जाता है. पौधों में टसर रेशम के कीड़े पाले जाते हैं (Rodger, 110).

कुम्बी एक मत्स्य विष है. इनकी भीतरी छाल को जूतों पर रगड़ने से उनमें जोंके नहीं लगती हैं (Chopra & Badhwar, *Indian J. agric. Sci.*, 1940, **10**, 26).

केरेक्स लिनिअस (साइपरेसी) CAREX Linn.

ले. – कारेक्स

Fl. Br. Ind., VI, 699.

यह घास जैसे बहुवर्षी नरकटों की लगभग 1,500 जातियों का एक वंश है जो संसार के समस्त शीतोष्ण भू-भागों में बहुतायत से उगता है. उष्णकटिबंधों में यह मुख्यतया पहाड़ी क्षेत्रों में पाया जाता है. सिक्किम, असम और मालाबार के जगलों में पाये जाने वाले **के. बैकन्स** नीस का उपयोग चारे की भाँति हो सकता है; यद्यपि इसका पर्ण समूह कठोर होता है. **के. सरनुआ** बूट, असम में पाई जाने वाली जाति है जो विषैली कही जाती है (Burkill, I, 458; Watt & Breyer-Brandwijk, 7).

अमेरिका में केरेक्स का उपयोग घास की दरियाँ, या क्रेक्स के वस्त्र बनाने के लिए करते हैं. कुछ जातियाँ शोभाकारी हैं (Bailey, 1947, I, 662).

Cyperaceae; *C. baccans* Nees; *C. cernua* Boott

केल – देखिए ब्रैसिका

केला – देखिए म्यूज़ा

केलेरिया पर्सून (ग्रेमिनी) KOELERIA Pers.

ले. – केलेरिआ

यह वर्षी या बहुवर्षी घासों का लघु वंश है जो संसार के समस्त शीतोष्ण क्षेत्रों में पाया जाता है. भारत में इसकी लगभग चार जातियों के पाये जाने का उल्लेख है.

Gramineae

के. क्रिस्टेटा पर्सून K. cristata Pers.

क्रेस्टेड हेयर ग्रास

ले. – के. क्रिस्टाटा

D.E.P., IV, 567; Fl. Br. Ind., VII, 308.

यह एक दुर्बल, घने गुच्छेदार, विरोह उत्पन्न करने वाला बहुवर्षी, 30–90 सेंमी. ऊँचा, पतली चपटी पत्तियों वाला पौधा है जो कश्मीर से नेपाल तक, 1,500–3,900 मी. की ऊँचाई पर पाया जाता है. यह कभी-कभी खुली जगहों पर मैदान को सजाने के लिए उगाया जाता है. घास अच्छा चारा देती है. गुलमर्ग (2,700 मी.) की घास के विश्लेषण से निम्नांकित मान (शुष्क आधार पर) प्राप्त हुए: प्रोटीन, 8·85; राख, 8·29; ईथर निष्कर्ष, 2·59; अपरिष्कृत तन्तु, 38·52; कार्बोहाइड्रेट, 40·65; कैल्सियम (CaO), 0·50; और फॉस्फोरस (P_2O_5), 0·60%. राख में सिलिका की मात्रा अधिक बताई जाती है (Bailey, 1947, II, 1755; Chopra *et al.*, *Indian J. agric. Sci.*, 1956, **26**, 442; Wehmer, I, 780).

के. फ्लेआइडीज़ पर्सून एक सीधा या आरोही, 30–60 सेंमी. ऊँचा, सीधी, चपटी, लम्बाग्र पत्तियों वाला वार्षिक पौधा है जो कश्मीर, पंजाब और दिल्ली में पाया जाता है. श्रीनगर और थराटे (1,500 मी.) की घास का विश्लेषण करने पर क्रमशः निम्नांकित मान (शुष्क आधार पर) प्राप्त हुए हैं: प्रोटीन, 10·96, 5·91; राख, 18·93, 14·90; ईथर निष्कर्ष, 2·14, 2·91; अपरिष्कृत तन्तु, 24·73, 33·03; कार्बोहाइड्रेट, 41·68, 41·85; कैल्सियम (CaO), 0·87, 0·65; और फॉस्फोरस (P_2O_5), 0·69, 0·74% (Stewart, *Brittonia, N.Y.*, 1945, **5**, 430; Chopra *et al.*, loc. cit.).

K. phlaeides Pers.

केल्प – देखिए शैवाल

केवड़ा – देखिए पैण्डेनस, सॉनेरेशिया

केसकेरा सग्रेडा – देखिए रैमनस

कैंटैला ऐलो – देखिए ऐगेव

कैंडीटपट – देखिए आइबेरिस

कैंडेलिया वाइट और आर्नेट (राइजोफ़ोरेसी) KANDELIA Wight & Arn.

ले. – कांडेलिआ

यह दक्षिण-पूर्वी एशिया में पाये जाने वाले वृक्षों का एकल-प्ररूपी वंश है.

Rhizophoraceae

कैं. कैंडेल (लिनिअस) ड्रूस सिन. कैं. रीडिआई वाइट तथा आर्नेट K. candel (Linn.)

ले. – कां. कांडेल

D.E.P., IV, 565; Fl. Br. Ind., II, 437; Kirt. & Basu, Pl. 410.

बं. – गोरिया; ते. – कंडिगला; त. – तुवरकंटन; क. – कंडेल; मल. – सेरुकंडल; उ. – रसुनिया.

यह एक सदाहरित झाड़ी या छोटा वृक्ष है जिसकी छाल पत्रकी, स्पंजी और लालाभ-भूरी होती है और जो भारत के तटीय जंगलों, साधारणतः पंकिल दलदलों और ज्वारीय सँकरी

खाड़ियों में पाया जाता है. पत्तियाँ विपरीत, दीर्घायत, 5–10 सेंमी. × 2·5–5 सेंमी. सम्पूर्ण, कुंठाग्र, ऊपर गहरी हरी और नीचे लालाभ-भूरी; फूल बड़े, सफेद, ससीमाक्षों पर कक्षीय युग्म-भुजी; फल अंडाभ, 1·2–2·5 सेंमी. लम्बी प्रतिवर्ती कैलिक्स से घिरा, अस्फुटी, 1-कोशिक और 1-बीज वाला होता है.

हरी खाद के लिए इस वृक्ष को पश्चजल के किनारे लगाना अच्छा समझा जाता है. इस वृक्ष की छाल में प्रचुर टैनिन रहते हैं और यह छाल भारी चर्म-शोधन के लिए उपयुक्त है; तने की छाल में 17·3% टैनिन, और 13·5% अ-टैनिन; तथा टहनी की छाल में 15·4% टैनिन, और 9·2% अ-टैनिन पाए जाते हैं. छाल का उपयोग रंजक के रूप में होता है; यह लाल एवं भूरा रंग देती है. छाल सूखी अदरक या पीपल तथा गुलाब जल के साथ मधुमेह के उपचार में प्रयुक्त होती है. यह सिद्ध हो चुका है कि ऐल्कोहल मिश्रित छाल का निष्कर्ष सामान्य या ऐलोक्सेन मधुमेही खरगोश की रुधिर शर्करा पर कोई प्रभाव नहीं डालता है [Mudaliar & Kamath, *J. Bombay nat. Hist. Soc.*, 1954–55, **52**, 69; Rahim, *Tanner*, 1954–1955, 9(9), 15; Edwards *et al.*, *Indian For. Rec.*, *N.S.*, *Chem. & Minor For. Prod.*, 1952, **1**(2), 86, 88; Perkin & Everest, 632; Kirt. & Basu, II, 1013; Mukerji, *J. sci. industr. Res.*, 1957, **16A** (10), suppl., 16].

लकड़ी (भार, 560–640 किग्रा./घमी.) लाल-भूरी, कोमल तथा सघन दानेदार होती है. यह ईंधन एवं लकड़ी का कोयला बनाने के काम आती है. कहा जाता है कि इसमें 0·23–0·26% सिलिका रहता है (Gamble, 334; Talbot, II, 6; Troup, II, 503; Amos, *Bull. sci. industr. Res. Org., Melbourne*, No. 267, 1952, 48).

K. rheedii Wight & Arn.

कैक्सीनिया सावि (बोराजिनेसी)
CACCINEA Savi

ले. – काक्सिनेआ

D.E.P., III, 201; Chopra, 469; Kirt. & Basu, III, 1700.

यह जड़ी बूटियों की लगभग 10 जातियों का एक वंश है जो केन्द्रीय तथा पश्चिमी एशिया में पाया जाता है. **कै. ग्लाउका** सावि ईरान तथा बलूचिस्तान की बहुवर्षी मांसल बूटी है और भारत के बाजारों में गाउजवाँ के नाम से बिकती है. यह रूपान्तरक, शक्तिवर्धक, मूत्रल, तथा शान्ति देने वाली है. इसका उपयोग तिफलिस तथा वात रोगों में किया जाता है. गाउजवाँ के नाम से ही अन्य कई बूटियाँ भारतीय बाजारों में बिकती हैं, यथा **ट्राइकोडेस्मा इंडिकम** आर. ब्राउन, **ऐनीसोमिलीज मलाबारिका** आर. ब्राउन, **ए. इंडिका** कुण्ट्जे, **ओनोस्मा ब्रेक्टिएटा** वालिश, तथा **मैक्रोटोमिया बेन्थामाई** द कन्दोल.

Boraginaceae; *C. glauca* Savi; *Trichodesma indicum*; *Anisomeles malabarica* R. Br.; *A. indica* Kuntze; *Onosma bracteata* Wall.; *Macrotomia benthamii* DC.

कैजानस द कन्दोल (लेग्युमिनोसी) CAJANUS DC.

ले. – कजानुस

यह एक एकल-प्ररूपी वंश है, जिसमें **कै. कैजन** नामक एक प्रमुख फलीदार फसल सम्मिलित है. यह उष्णकटिबंधी प्रदेशों में व्यापक रूप से पाई जाती है और अपने खाद्य बीजों के लिए प्रचुर मात्रा में उगायी जाती है.

Leguminosae

कै. कैजन (लिनिअस) मिल्सपाउघ सिन. कै. इण्डिकस स्प्रेंगेल C. cajan (Linn.) Millsp.

अरहर, पिजन मटर, काँगो मटर

ले. – क. कजान

D.E.P., II, 12; C.P., 196; Fl. Br. Ind., II, 217.

सं. – आढकि, तुवरि, तुवरिका; हिं., बं. तथा म. – अरहर, तूर, तुवेर; त. – तोवरे; ते. – कंदुलु; क. – तोगरि; मल. – तुवरा.

यह एकवर्षी या बहुवर्षी झाड़ी है जो 1·2–3 मी. ऊँची होती है. इसकी खेती प्रायः सम्पूर्ण भारत में दाल-फसल के रूप में की जाती है. यह प्रायः हरी खाद के लिए या भूमि संरक्षी फसल के रूप में उगाई जाती है. अपनी गहरे तथा वेधी जड़ों के कारण मृदा-अपरदन को रोकने के लिए तथा समोच्च-बाड़ फसल के रूप में विशेष रूप से महत्वपूर्ण है. अमेरिका तथा हवाई में इसकी खेती चारे के लिए की जाती है.

सम्भवतः यह पौधा अफ्रीका का मूलवासी है परन्तु आजकल यह विश्व के प्रायः सभी उष्णकटिबंधीय देशों, जैसे अफ्रीका, अमेरिका, भारत, ऑस्ट्रेलिया, हवाई, पूर्वी तथा पश्चिमी द्वीप समूहों में उपजाया जाता है. भारत में यह प्रमुख रूप से उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश, बिहार, महाराष्ट्र तथा तमिलनाडु में उगाया जाता है.

कैजानस की कई किस्में ज्ञात हैं, जिनकी ऊँचाई, प्रकृति, पकने के समय, रंग तथा फलियों और बीजों के आकार और आकृतियों में अंतर होते हैं. भारत में प्राप्त संग्रहों में से 86 विभिन्न प्ररूपों की पहचान की जा चुकी है. केवल मध्य प्रदेश में 36 प्ररूपों का पता लगा है. इन प्ररूपों को मोटे तौर पर दो किस्मों में बाँटा जा सकता है: अरहर (**कै. कैजन** वैर. **बाइकलर** द कन्दोल) तथा तुर (**कै. कैजन** वैर. **फ्लेवस** द कन्दोल). पहली किस्म में अधिकांश बहुवर्षी प्ररूप हैं जो देर से पकने वाले, बड़े झाड़ीदार, फूल नील-लोहित धारियों वाले पीले तथा फलियाँ 4 या 5 बीजों से युक्त गहरी रंगीन होती हैं. तुर किस्म में पौधे छोटे, फूल पीले, फलियाँ 2–3 बीजों से युक्त और जल्द पकने वाली होती है. तुर किस्मों की खेती साधारणतः प्रायद्वीपी क्षेत्र में और देर में पकने वाले अरहर प्ररूपों की खेती उत्तर प्रदेश, बिहार, बंगाल तथा असम में की जाती है. मध्य प्रदेश में दोनों किस्मों की खेती होती है. इन किस्मों के अनेक प्रादेशिक महत्व वाले प्ररूप ज्ञात हैं और इनमें से ऐसी किस्मों को वर्गीकृत करने, वरण तथा प्रजनन करने के प्रयास हुए हैं जिनसे उन्नत गुण, अधिक उपज और रोगों

तथा नाशकजीवों के लिए प्रतिरोध क्षमता हो (Shaw *et al.*, *Indian J. agric. Sci.*, 1933, **3**, 1; Mahta & Dave, *Mem. Dep. Agric. India, Bot.*, 1931, **19**, No. 1; Richharia, 199).

कृषि

यद्यपि यह बहुवर्षी पौधा है, फिर भी एकवर्षी के रूप में उगाया जाता है क्योंकि दूसरे तथा उसके बाद के वर्षों में उपज कम हो जाती है. यह अधिकतर ज्वार (**सोर्घम** जातियाँ), बाजरा (**पैनिसेटम टाइफोइडीज**), मक्का, कपास या अन्य फसलों के साथ मिश्रित फसल के रूप में उगाया जाता है. जितने क्षेत्रफल में यह फसल उगाई जाती है उसका निश्चित ज्ञान नहीं है.

मुख्य रूप से मिश्रित फसल के रूप में उगाये जाने के कारण जिस मिट्टी में **कैजानस** उगायी जाती है, वह सहचारी फसलों के अनुसार बदलती रहती है. यह लगभग सभी प्रकार की मिट्टियों पर, जिनमें चूने की कमी न हो, उगायी जा सकती है परन्तु अच्छे जल-निकास वाली, मध्यम नम मिट्टी इसके लिए उत्तम है. उत्तर भारत में इसे गंगा-सिंधु मैदान की जलोढ़ मिट्टियों में उगाया जाता है, जबकि महाराष्ट्र, मध्य प्रदेश तथा मध्य भारत में यह भारी काली कपास की मिट्टियों में उगायी जाती है. यह सूखा को सहने वाली फसल है. जलाक्रांति तथा पाले से इसे हानि पहुँचती है. इसे अनिवार्य रूप से खाद की आवश्यकता नहीं पड़ती, यद्यपि सौतोरों तथा भली प्रकार से उर्वरित मिट्टियों में इसका अत्यधिक विकास होता है. यह अपने को जलवायु के अनुकूल बना लेती है तथा शुष्क और आर्द्र दोनों उष्णकटिबंधों में उगती है. शुष्क परिस्थितियों में यह तेजी से पकती है किन्तु आर्द्र अवस्थाओं में इसकी अत्यधिक वानस्पतिक वृद्धि होती है और देर से पकती है.

यह भारत में अधिकतर खरीफ की फसल के रूप में उगाई जाती है, अर्थात् वर्षा ऋतु के प्रारम्भ (जून या जुलाई) में बो कर



चित्र 56 – कैजानस कैजन

फरवरी या मार्च में काट ली जाती है. कभी-कभी इसे रबी की फसल के रूप में उगाया जाता है अर्थात् अक्तूबर में बो कर मार्च या अप्रैल में काटा जाता है. सामान्यतः यह सहचारी फसलों की पंक्तियों के बीच में बोयी जाती है और मुख्य फसल की 3 या 5 पंक्तियों के बाद इसकी एक पंक्ति बोई जाती है. पंक्तियों के बीच की दूरी 1·5–7·5 मी. तक हो सकती है जो अधिमिश्रण की मात्रा तथा प्रकृति पर निर्भर करती है. मध्य प्रदेश तथा मध्य भारत में इसे अकेले बोने पर पंक्तियों की बीच की दूरी 35–40 सेंमी. तक रखते हैं और विहार तथा उत्तर प्रदेश में 45–90 सेंमी. तक. अन्य फसलों के साथ मिश्रित करके बोने से बीज की आवश्यक मात्रा 1–5 किग्रा. प्रति हेक्टर होती है तथा अकेले बोये जाने पर 12–20 किग्रा. प्रति हेक्टर. शीघ्र पकने वाली किस्मों की बीज-दर अपेक्षाकृत अधिक होती है. अकेले बोये जाने पर पौधों को विरल करना पड़ता है जिसमें झाड़ियों को विकसित होने के लिए पर्याप्त स्थान मिल सके. हल्की मिट्टियों में पंक्तियों के बीच लगभग 30 सेंमी. का तथा गहरी और उर्वर मिट्टियों में 60 सेंमी. का फासला रखा जाता है (Dutt & Pugh, 296).

इस फसल को सींचने की शायद ही आवश्यकता पड़ती हो. उत्तर भारत के कुछ भागों में इस फसल वाले खेत की सिंचाई पाले से बचाने के लिए की जाती है. इस फसल के लिए न तो विशेष ध्यान की आवश्यकता होती है और न निराई की. मुख्य फसल को **कैंजानस** से पहले ही पक जाने के कारण काट लिया जाता है.

जब इसे हरी खाद या चारे के लिए बहुवर्षी फसल के रूप में उगाया जाता है तो नियमित अंतरालों में पौधों की काट-छाँट की जाती है. ऋतु के अंत में जमीन से 60 सेंमी. ऊँचाई पर सघन काट-छाँट कर दी जाती है और पौधों में कल्ले निकलने दिये जाते हैं. नम क्षेत्रों में इन पौधों से 3 या 4 वर्षों तक हरा पदार्थ मिलता रहता है.

जून या जुलाई में बोने से पौधे सितम्बर के अंत में या अक्टूबर के प्रारम्भ में फलने लगते हैं. शीघ्र पकने वाली तुर किस्में देर से पकने वाली अरहर की किस्मों की अपेक्षा एक या दो मास पहले फूलने लगती हैं. यह फूलना काफी समय तक, लगभग कटाई तक, चलता रहता है. पुष्पों में अधिकतर स्वपरागण और कुछ अंश तक पर-परागण होता है, जिसके फलस्वरूप लगभग 15% बीजों का परागण संदूषण से हो जाता है. शीघ्र पकने वाली तुर की कटाई दिसम्बर या जनवरी में तथा देर से पकने वाली अरहर की कटाई मार्च या अप्रैल के लगभग होती है. पहली कटाई प्रायः हाथ से चुनकर की जाती है. पौधों की अंतिम कटाई, जमीन के जितने पास से सम्भव हो, की जाती है. इन्हें काट कर, गट्ठरों में बाँधकर खलिहान तक ले जाया जाता है. वहाँ कुछ दिनों तक ढेर लगाकर रखा जाता है. जब पत्तियाँ और फलियाँ सूख जाती हैं तो पौधों को झकझोर कर या लकड़ी की साँट से पीटकर पत्तियों को अलग कर दिया जाता है, फिर गिरे हुए पदार्थ को पीटकर या दाँव चलाकर और ओसाई द्वारा बीज और भूसा अलग-अलग कर लेते हैं. बीजों को धूप में भली-भाँति सुखाया जाता है और साफ करने के बाद मिट्टी के बर्तनों या धातु के पात्रों में संचित किया जाता है. इन्हें ऊपर से बालू की परत से



चित्र 57 – कैंजानस कैजन की फलती शाखा

ढक देते हैं. यदि कीटों से क्षति के प्रति समुचित सावधानी बरती जाए तो बीजों को एक साल या इससे अधिक तक संचित रखा जा सकता है (Kadam *et al.*, *Indian J. Genet.*, 1945, **5**, 60).

उपज – मिश्रित फसल के रूप में उगाने पर मिश्रण के प्ररूप, मृदा तथा जलवायु के अनुसार बीजों की प्राप्ति 200 से 800 किग्रा./हेक्टर तक होती है. शीघ्र पकने वाली किस्मों से देर से पकने वाली किस्मों की अपेक्षा कम उपज मिलती है. अकेले बोने पर उपज प्रति हेक्टर 1,800 किग्रा. तक बढ सकती है (Shaw *et al.*, loc. cit.).

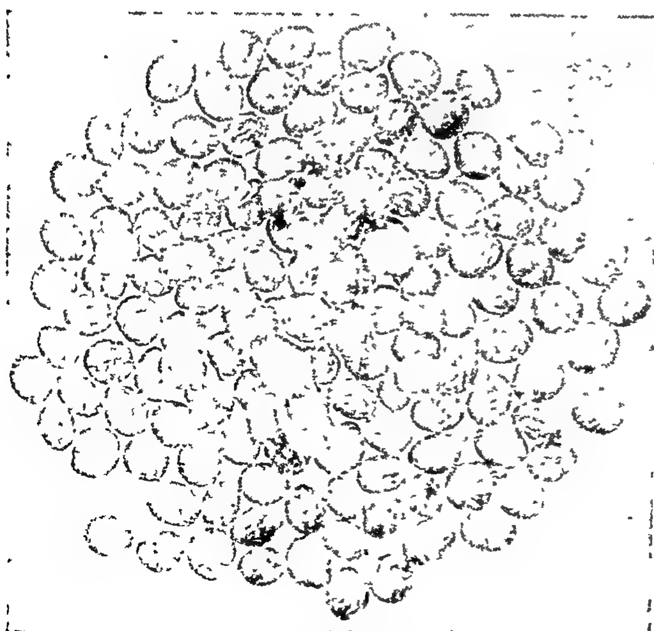
नाशकजीव तथा रोग – चने की इल्ली, **हीलियोथिस आबसोलेटा** कैंजानस का अति सामान्य नाशकजीव है. अन्य भयानक जीवों में लाल पिच्छ पतंगा (**एक्सेलेस्टिस ऐटोमोसा**) तथा फली की मक्खी, (**एग्रोमाइजा ओब्टयूजा** एम.) है जो बीजों तथा फलियों को छेद कर फसल को अपार क्षति पहुँचाते हैं. इनके लिए प्रभावशाली नियंत्रण विधियाँ विकसित नहीं हो पाई हैं. इनके अतिरिक्त लाल रोमिल इल्ली (**अमसेक्टा अल्बिस्ट्रीजा** वाकर) तथा एक प्रकार का टिड्डा (**कोलेमेनिया स्फैनैराइडीस** बोल) भी कभी-कभी छोटे पौधों पर आक्रमण करते हैं. संचित बीजों पर घुन का आक्रमण होता है.

कैंजानस का सुविदित रोग म्लानि या मुरझान है जो **फ्यूजेरियम उडम** बटलर नामक कवक के कारण होता है. यह पौधों को समस्त विकास अवस्थाओं पर प्रभावित करता है. मृदा में उपस्थित कवक मूलों, तनों या शाखाओं पर आक्रमण करता है और सारा पौधा मुरझा जाता है. यह गंगा-सिंधु मैदान का अति प्रचलित रोग है. इसके नियंत्रण की कोई प्रत्यक्ष विधि ज्ञात नहीं है. सुपरफॉस्फेट या पशु-खाद के प्रयोग से संक्रमण में सहायता मिलती है किन्तु हरी खाद संक्रमण को रोकती है. जिन खेतों में पहले तम्बाकू बोई गई हो, उन खेतों में बोई गई फसलों में म्लानि की संभावना कम रहती है. म्लानि प्रतिरोधी विभेदों, यथा पूसा 51 तथा 80 और सी.-पी. 38 के इस्तेमाल की संस्तुति की जाती है (McRae & Shaw, *Misc. Bull., I.C.A.R.*, No. 7, 1933; Bose, *Agric. Live-stk India*, 1938, **8**, 653).

सर्कोस्पोरा इण्डिका द्वारा उत्पन्न पर्ण-दाग तथा **डिप्लोडिया कैंजेनाई** द्वारा उत्पन्न कालर-कैंकर से भी फसल को क्षति पहुँचती है (*Indian J. agric. Sci.*, 1934, **4**, 343; 1942 **12**, 837).

दाल की तैयारी तथा उपयोग

दाल की तैयारी – बाजार में बेचने से पूर्व बीजों को दल लिया जाता है. यह दलाई या तो स्वयं किसान करते हैं या पेशेवर दाल-निर्माता किसानों से बीज खरीद कर मजदूरों से यह काम कराते हैं. दलाई का काम अधिकतर हाथ-मिलों या हथ-चक्कियों द्वारा किया जाता है, यद्यपि हाल में कुछ पावर-मिलों का भी प्रयोग होने लगा है. पेशेवर दाल-निर्माता किसानों तथा उपभोक्ताओं के बीच आढ़तियों के रूप में कार्य करते हैं और ये प्राय: तैयार माल के मूल्य तथा वितरण का नियंत्रण करते हैं (Gaywala, *Trop. Agriculturist*, 1938, **90**, 212).



चित्र 58 – कैंजानस कैंजन के बीज

दाल बनाने के दो प्रमुख प्रक्रम हैं : शुष्क और नम. देश के विभिन्न भागों में प्रत्येक प्रक्रम के विवरण में थोड़ा बहुत अंतर पाया जाता है. शुष्क प्रक्रम में बीजों को धूप में 3 या 4 दिनों तक खुला छोड़ देते हैं; फिर चक्की में उनको दला जाता है. कभी-कभी बीजों में थोड़ा वनस्पति-तेल (तिल्ली का तेल या अरंड का तेल) लेप दिया जाता है जिससे बीजावरण मृदु हो जाते हैं और दलने में आसानी होती है. जो बीज विभक्त नहीं होते उन्हें अलग करके, उनमें तेल लगाकर धूप में सुखाया जाता है और फिर दला जाता है जिससे कुछ और अंश दल जाता है और कराई अलग हो जाती है. इस प्रभाजी दलन को तीन या चार बार दुहराया जाता है, जब तक सारे बीज दो-दो खण्डों में विभक्त नहीं हो जाते. इस विधि से 100 किग्रा. बीजों से 66 किग्रा. स्वच्छ दाल प्राप्त होती है. शेष भाग दाल के खण्डों (चूनी) और बीजावरणों (कराई) का होता है (Gaywala, loc. cit.).

नम विधि में बीजों को पहले पानी में 6 से 10 घण्टों तक भिगोया जाता है. तब उसमें चलनी से चाली हुई लाल मिट्टी (100 किग्रा. बीजों के लिए 5 किग्रा. मिट्टी) मिलाते हैं और ढेर लगाकर रात भर के लिए खुला छोड़ देते हैं. बीजों को फैला कर, धूप में सुखाया जाता है तथा मिट्टी दूर करने के लिए चलनी से चाला और ओसाया जाता है. अंत में हथ-चक्की में दल कर दाल बनाई जाती है. इस विधि मे 100 किग्रा. बीजों से 80 किग्रा. दाल प्राप्त होती है. इसमें दाल के टूटे खण्डों का प्रतिशत शुष्क विधि की अपेक्षा कम होता है. दलने के पूर्व उपचारित करने का उद्देश्य दलने को सुगम बनाना है (Gaywala, loc. cit.).

दाल बनाने की एक तीसरी विधि भी है जो विशेषत: बिहार में प्रचलित है. इसमें दानों को अवभुना करके उन्हें सामान्य रीति से दल लिया जाता है. शुष्क विधि बम्बई (महाराष्ट्र) के कुछ भागों में तथा उत्तर भारत में प्रचलित है किन्तु नम विधि दक्षिण-भारत तथा डेकन के कुछ भागों में अपनाई जाती है. शुष्क विधि नम विधि की अपेक्षा कुछ महँगी पड़ती है क्योंकि दाल के टूटे खण्डों का प्रतिशत अधिक होता है तथा दलने की क्रिया 3 या 4 बार करनी होती है. शुष्क विधि द्वारा प्राप्त दाल अर्धगोलाकार होती है, पकाने पर शीघ्र नरम हो जाती है तथा सुगंध देती है जिसमें बाजार में इसका मूल्य अधिक होता है. नम विधि द्वारा बनी दाल प्राय: चपटी होती है. केन्द्र में संकुचन के कारण गड्ढे होते हैं तथा पकाने पर धीरे-धीरे नरम बनती है.

दली दाल को कई बार ओसा कर तथा चलनी से चाल कर साफ किया जाता है. उसकी विशिष्टता को सुरक्षित बनाये रखने, कीटों के आक्रमण को रोकने तथा आकर्षक रूप प्रदान करने के निमित्त उसमें अरंड या तिल्ली के तेल का लेप कर दिया जाता है (100 किग्रा. के लिए 2·5 किग्रा. तेल) (Gaywala, loc. cit.).

व्यापारिक किस्मों के नाम उन प्रांतों के आधार पर, जहाँ से वे प्राप्त की जाती हैं, रखे जाते हैं. दाल की विशेषता, बनाने के लिए

प्रयुक्त विधि पर ही नहीं वरन् उसकी किस्म तथा मिट्टी के अनुसार भी बदलती रहती है. अनुमान किया जाता है कि काली मिट्टी में बोई गई फसलों से प्राप्त दाल अपेक्षाकृत अधिक सरलता से पक जाती है क्योंकि काली मिट्टी में यथेष्ट मात्रा में चूना विद्यमान रहता है. दाल पकाते समय प्रयुक्त जल के गुण का दाल की विशिष्टता पर प्रभाव पड़ता है. जिस जल में कैल्सियम, मैग्नीशियम तथा सोडियम के लवण कम मात्रा में हों वह दाल को शीघ्र पकाता है (Yegna Narayan Aiyer, 103).

दाल का मूल्य, बनाने की विधि के अनुसार ही नहीं अपितु उसमें उपस्थित टूटे, अपरिपक्व तथा सिकुड़े दानों के अनुसार भी बदलता रहता है. दालों के टूटनों के प्रतिशत तथा दाने के परिमाण के अनुसार श्रेणीकृत किया जाता है.

अरहर तथा तुर की दालें प्रायः **पाइसम आरवेन्सी** (मटर), **लेन्स एस्कुलेण्टा** (मसूर), **लेथाइरस सटाइवस** (खेसारी) के बीजों एवं अन्य दालों से अपमिश्रित की जाती हैं.

छिलकारहित दाल के विश्लेषण से निम्नांकित मान प्राप्त हुए: आर्द्रता, 15·2; प्रोटीन, 22·3; वसा (ईथर निष्कर्ष), 1·7; खनिज पदार्थ, 3·6; कार्बोहाइड्रेट, 57·2; कैल्सियम, 9·14; तथा फॉस्फोरस, 0.26%; कैरोटीन, विटामिन 'ए' के रूप में मानांकित, 220 अं.इ.; तथा विटामिन $बी_1$, 150 अं.इ. प्रति 100 ग्रा. (*Hlth Bull.*, No. 23, 1941, 28).

बीजों में कैजेनिन तथा कानकैजेनिन नामक दो ग्लोबुलिन पाये जाते हैं जिनमें सम्पूर्ण नाइट्रोजन क्रमशः 58% तथा 8% होता है. इन दोनों में गंधक तथा ट्रिप्टोफेन की मात्राओं में अंतर होता है. मुख्य प्रोटीन होने के कारण ग्लोबुलिन इस वंश के लिए अभिलाक्षणिक प्रतीत होते हैं और वे प्ररूपों तथा किस्मों के अंतरों पर आश्रित नहीं होते. उनमें टाइरोसीन प्रचुर मात्रा में तथा सिस्टीन, आर्जिनीन तथा लाइसीन मध्यम मात्रा में उपस्थित रहते हैं. कैजानस के प्रधान प्रोटीन अर्थात् कैजेनिन में अनिवार्य डाइऐमीनो अम्लों की न्यूनता पाई जाती है. नाइट्रोजन संतुलन को बनाये रखने तथा नये चूहों की वृद्धि में सहायता करने में, भारतीय दालों के प्रोटीनों के जैविक मानों के तुलनात्मक अध्ययन से विदित होता है कि अंतर्ग्रहण के निम्न स्तरों पर (5% तथा 10%) कैजानस के प्रोटीन निम्न कोटि के होते हैं किन्तु 15% अंतर्ग्रहण स्तर पर बंगाली चना (**साइसर ऐरीटिनम**) के प्रोटीनों की अपेक्षा वृद्धि के लिए उत्तम सिद्ध होते हैं. अरहर की दाल की किस्मों में कुछ में अन्य उपजातियों की अपेक्षा पचनीय प्रोटीन अधिक मात्रा में होती हैं (Sundaram *et al.*, *J. Indian Inst. Sci.*, 1929, **12A**, 193; Basu & Haldar, *J. Indian Chem. Soc.*, 1939, 16, 209; Ramiah & Satyanarayana, *Madras agric. J.*, 1938, 26, 134).

उपयोग – साधारणतः दाल का प्रयोग अन्यथा स्टार्ची आहार के प्रोटीन योजक के रूप में किया जाता है. दाल अनेक तरह से खाई जाती है किन्तु मसालों और तरकारियों के साथ पका कर खाने का आम रिवाज है. कच्चे बीजों को अधिक मात्रा में खाने से निद्राजनक प्रभाव पड़ता बताया जाता है. हरी फलियों की तरकारी बनाई जाती है (Burkill, I, 395).

माँडने से प्राप्त फलियों और बीजों की भूसी एक उपयोगी पशु-आहार है. भूसी और दाल के छोटे-छोटे खंडों का मिश्रण, दुधारू पशुओं को खिलाया जाता है और चूनी के नाम से बेचा जाता है.

भूसी के विश्लेषण से प्राप्त मान इस प्रकार है: अपरिष्कृत प्रोटीन, 7·04; वसा (ईथर निष्कर्ष), 0·40; विलेय कार्बोहाइड्रेट, 42–70; तथा खनिज पदार्थ, 5·67%. बीजों के विश्लेषण से निम्नांकित पोषण मान प्राप्त हुए: पचनीय अपरिष्कृत प्रोटीन, 12·92; स्टार्च तुल्यांक, 64.4; और पूर्ण पचनीय पोषक, 75·61 किग्रा. प्रति 100 किग्रा. दाल (Sen, *Misc. Bull., I.C.A.R.*, No. 25, 1946, 20, 27).

हरी पत्तियाँ तथा फुनगियाँ चारे की तरह प्रयुक्त होती हैं. उनका प्रयोग हरी खाद के रूप में भी किया जाता है. कूट लेने के बाद बचे सूखे डंठल ईंधन के या छप्पर आदि बनाने के काम में आते हैं.

पौधे लाख कीट की कुछ प्रजातियों के पोषक हैं, किन्तु इनसे प्राप्त लाख निम्न कोटि की तथा कम विरंजक होती हैं. मेडागास्कर में इनकी पत्तियों पर रेशम के कीड़े पाले जाते हैं (Macmillan, 398).

Sorghum; Pennisetum typhoides; Heliothis obsoleta; Exelastis atomosa; Agromyza obtusa; Amsacta albistriga; Colemania sphenarioides; Fusarium udum; Cercospora indica; Diplodia cajani; Pisum arvense; Lathyrus sativus; Cicer arietinum

कैजुआरीना लिनिअस (कैजुआरिनेसी)
CASUARINA Linn.

ले. – कासुआरिना

यह मरुद्भिदी वृक्षों की लगभग 49 जातियों का वंश है, जो मुख्यतः ऑस्ट्रेलिया, मलेशिया तथा प्रशान्त महासागरीय द्वीपों में पाया जाता है.
Casuarinaceae

कै. इक्वीसेटीफोलिया लिनिअस C. equisetifolia Linn.
बीफवुड

ले. – का. एकुइसेटिफोलिआ
D.E.P., II, 230; Fl. Br. Ind., V, 598.

हि. – जंगली सारु; बं. – जाउ; म. – सुरु; गु. – विलायती सारु; ते. – सरुगुडु, चावुकु; त. – सावुक्कु; क. – सर्वेमरा; मल. – चवुकु.

ब्रह्मा – काब्वी, तिन्यू; श्रीलंका – कासा.

यह एक बड़ा, सदाहरित, सीधे बेलनाकार तने वाला वृक्ष है. अंतिम शाखाएँ दुर्बल, गोल, संधित तथा हरी होती है और पत्तियाँ छोटी होकर शल्क-पत्र का रूप धारण कर लेती हैं. इस कारण वृक्ष की कुछ समता कोनीफरों से, जैसे कि पाइनस से, की जा सकती है. अनुकूल दशाओं में पौधे की ऊँचाई 30 मी. या अधिक तथा गोलाई 1·5 मी. तक होती है. अभिलाक्षणिक रूप से यह समुद्र-तटीय पौधा है और बंगाल

की खाड़ी के मुहाने पर, ब्रह्मा तथा अण्डमान के समुद्री तटों पर बहुतायत से होता है. प्राकृतिक अवस्था में यह यूथी है तथा इसके नीचे अन्य पौधे कम या बिलकुल नहीं उगते. भारतीय प्रायद्वीप के तटवर्ती भागों में यह विस्तृत रूप से ईंधन के लिये उगाया जाता है तथा कभी-कभी देश के अन्य भागों में वीथी के रूप में या शोभाकारी वृक्ष के रूप में भी उगाया जाता है. इसे सुन्दर आकृतियों में काटा जा सकता है तथा इसकी बाड़ अच्छी बनती है. यह भूमि के कटाव को रोकने, स्थल की ओर समुद्री बालू को बढ़ने से रोकने और बलुहे समुद्र-तट पर वनरोपण के लिये भी उपयोगी होता है. भारतीय समुद्री तट के बहुत से ऐसे फाटों का भूमि उद्धार किया जा चुका है जिनमें अन्य जातियों के लगाये जाने की सम्भावना होती है. इस पौधे की बाढ़ तेजी से होती है परन्तु अनुपयुक्त दशाओं में तना खोखला और विकृत हो जाता है और वृक्ष मुश्किल से 25 वर्ष तक चलता है. यह प्रचुर सूर्य प्रकाश में और समुद्र के निकट की बलुही मिट्टी में सबसे अच्छी तरह बढ़ता है. भारी तथा सघन और निकृष्ट जल-निकास वाली मिट्टी पौधे के लिए हानिकारक है. सम्भवतः ऐसी मिट्टियों में नाइट्रोजन यौगिकीकरण करने वाले जीवाणुओं की सक्रियता, जो इनकी जड़ों में ग्रंथिकाएँ बनाते हैं, रुक जाती है.

उत्तरी कन्नड को छोड़कर रोपणों में इस पौधे में प्राकृतिक पुनरुद्भवन विरल होता है.

खेती के लिए सर्वप्रथम नर्सरी में पौध करके उसे मैदान में प्रतिरोपित करते है. बोने के बाद बीजों को चींटियाँ उठा ले जा सकती हैं अतः उनसे बचाव के लिये हल्के तूतिया का घोल या **डेरिस इलिप्टिका** की जड़ों के काढ़े का इस्तेमाल या तो सिंचाई-जल के रूप में या बीज-उपचार के रूप में किया जाता है, अन्यथा बीज की क्यारियों में लकड़ी की राख फैला दी जाती है. बुवाई से 6 से 18 महीने बाद तक, पहले से तैयार 30 सेंमी. घनाकार गड्ढों में ऐसा किया जाता है. पश्चिमी तटों पर दक्षिणी-पश्चिमी मानसून तथा पूर्वी तटों पर उत्तर-पूर्वी मानसून के प्रारम्भ होने पर रोपण करते है. दक्षिण भारत में प्रत्येक ओर 2·7 मी. अंतरण रखने की सलाह दी जाती है किन्तु सामान्य अंतरण प्रत्येक ओर से 1·8–2·1 मी. है. बम्बई के कुछ बागानों में त्रिभुजाकार रोपण अपनाया गया है जिसमें पौधों के बीच 3.6 मी. का अंतरण रखा जाता है. जहाँ खेती का मुख्य ध्येय ईंधन-उत्पादन होता है वहाँ मध्यम अंतरण, उचित अल्पकालीन हेर-फेर, और पौधों को विरलित न करने की सलाह दी जाती है. लेकिन जहाँ ईंधन के साथ-साथ लकड़ी उत्पादन का भी ध्येय होता है, वहाँ मध्यम घना रोपण, दीर्घकालीन हेर-फेर और माध्यमिक विरलन की प्रथा है. प्रतिरोपण के तत्काल बाद और पौधों के स्थापित हो जाने के भी 1 से 3 वर्ष तक पर्याप्त सिंचाई की आवश्यकता होती है.

नर्सरी की पौधों पर झींगुरों का, मुख्यतः **बैकीट्रपेज एकैटिनस** का आक्रमण होता है. इनसे बचने के लिये नर्सरी को घेरना, चारों ओर 18 मी. की दूरी तक की वनस्पति को नष्ट कर देना तथा प्रतिदिन खुदाई करना चाहिए. अन्य नाशक-कीट—**आरबेला टेट्रोनिस** छिलका खाने वाली इल्ली, **सीलोस्टर्ना स्कैब्रेटा**, लांगीकार्न और गंदगी में रहने वाले भृंग, **ओरिस्टिस राइनोसिरास** भी रोपणों को अत्यधिक क्षति पहुँचाते हैं.

कैंजुग्रारीना को प्रभावित करने वाले अधिक गम्भीर रोगों में से मूल परजीवी कवक, **ट्राइकोस्पोरियम वेसीकुलोसम** का संक्रमण है जिसे अधिक सिंचाई और संकुलन से प्रोत्साहन मिलता है. जल्दी विरलन शुरू कर देने से इसकी कुछ रोकथाम हो सकती है. रोकथाम के उद्देश्य से कीटों और कवकों से ग्रस्त पौधों को तथा ठूँठों को खोद कर निकाल देना चाहिये. पौधों को गिराने और पुनः लगाने के बीच 2 वर्ष का मध्यान्तर रखना, तथा **कैंजुग्रारीना** के साथ अन्य पौधों को, जैसे **अज़ेडिरेक्टा इण्डिका, साइज़ीजियम क्यूमिनाई, डालबर्जिया सिस्सु, एनाकार्डियम आक्सीडेण्टेल, पोंगेमिया ग्लैब्रा, पिथेसिलोबियम डुल्से,** और **सैपिण्डस लारीफोलियस** लगाने की सलाह दी जाती है. इस दूसरी विधि से पौधे दूर-दूर रहते है जिससे संक्रामक रोग आसानी से नहीं फैल सकते हैं. इससे कीटभक्षी पक्षी भी आकर्षित होते हैं अन्यथा **कैंजुग्रारीना** के रोपणों में वे शायद ही फेरा करते हैं (Troup, III, 903–08; Raghavan, *Indian For.*, 1947, **73**, 241).

कैंजुग्रारीना के प्रत्येक अंग में एक सहजीवी कवक, **फोमाप्सिस कैंजुग्रारीनी** एफ. टासी, की उपस्थिति सूचित की गई है (Bose, *Nature*, 1947, **159**, 512).

कैंजुग्रारीना का रोपण कार्य पेड़ काट कर सफाई करते चलने के अनुसार होता है जिसमें 7–35 वर्षों का आवर्तन चलता है. यद्यपि कुछ अनुमानों से यह प्रकट हुआ है कि 33 वर्षों का दीर्घ आवर्तन अत्यधिक आयतन में उत्पादन देता है, किन्तु अब 15 वर्षों का लघु आवर्तन अधिक लाभदायक समझा जाता है. तमिलनाडु में रोपण कार्य 7–15 वर्षों के आवर्तन में होता है (सामान्यतः 10 वर्ष) जबकि उत्तरी कनारा में यही अवधि 30 वर्षों की है. विशुद्ध वन-वृक्ष विज्ञान के विचार से 7 वर्षीय आवर्तन उचित प्रतीत होता है.

सारणी 1 के आँकड़े उत्तरी कनारा में **कैंजुग्रारीना** की वृद्धि दर और उत्पादन बताते हैं.

तमिलनाडु में 7 से 9 वर्षीय आवर्तन से 100–200 टन प्रति हेक्टर उपज प्राप्त हुई जो युद्ध के पूर्व कम से कम उपजाऊ भूमि में 100 टन प्रति हेक्टर थी तथा राजस्व 1,250–1,875 रुपये था. छँटाई से प्राप्त, शाखाओं और मृत, मरने वाले तथा संदमित वृक्षों से प्राप्त आय से प्रायः बेड़ें उगाने, रोपण और सिंचाई इत्यादि का व्यय निकल आता है.

तमिलनाडु में नेल्लोर के और महाराष्ट्र प्रदेश में कारवार, कुम्पटा तथा अंकोला श्रेणियों के निकट विस्तृत रोपण (निजी एवं राजकीय दोनों) किये गये हैं. 1947 में **कैंजुग्रारीना** का क्षेत्रफल इस प्रकार था: महाराष्ट्र, 522.4; तमिलनाडु, 3,116 (1948 में 4,600); और उड़ीसा, 1,383 हेक्टर. 1946–47 में **कैंजुग्रारीना** से प्रति टन प्राप्त मूल्य इस प्रकार था: महाराष्ट्र, 12·50 से 40–50; तमिलनाडु, 19–36; उड़ीसा, 38–42 रुपये. ये ही मूल्य महाराष्ट्र में 1947–48 और 1948–49 में क्रमशः 19·56 से 67 रुपए और 31·98 से 70·95 रुपए हो गये (राज्य वन विभागों की सूचना).

करवार जिले में 15 वर्षीय आवर्तन के लिए प्रति हेक्टर राजस्व, प्रथम विरलन के लिये 5 वर्षों में 17·50 रुपए द्वितीय विरलन के लिये 10 वर्षों में 37.50 रुपए और 15 वर्षों में अंतिम कटाई के लिए 312·50 रुपए अनुमानित किया गया है (Kaikini, *Indian For.*, 1937, **63**, 661).



कैजुआरीना इक्वीसेटीफोलिया (जंगली झारु) का बाग

रसकाष्ठ पीला-भूरा और अन्तःकाष्ठ हल्के से गहरा लाल-भूरा (प्रायः केन्द्र की ओर गहरे रंग की अनियमित पेटियों के साथ) होता है जो आयु के साथ मलिन भूरा होता जाता है. इसकी लकड़ी मजबूत तथा भारी (आ.घ., 0·88–0.95; भार, 896–976 किग्रा. प्रति घमी.), उपड़ने वाली और सीझने तथा गढ़ाई के कार्य के लिये दुरूह है. साधारणतः इस पर दीमक का आक्रमण नहीं होता. खुली जगहों में और भूमि के सम्पर्क में रहने पर टिकाऊ नहीं होती. छाया में रहने पर या पानी के सम्पर्क में रहने पर मध्यम टिकाऊ है. इमारती लकड़ी के रूप में सागौन की लकड़ी के साथ एक जैसे गुणों की तुलना करने पर प्रतिशत उपयुक्तता इस प्रकार है: भार, 115; कड़ी के रूप में सामर्थ्य, 85; कड़ी के रूप में दृढ़ता, 100; खम्भे के रूप में उपयुक्तता, 85; प्रघात प्रतिरोधक क्षमता, 135; आकार धारण क्षमता, 50; अपरूपण, 150; और दृढ़ता, 125 (Trotter, 1944, 240).

सारणी 1

आयु (वर्ष)	औसत घेरा (सेंमी.)	औसत ऊँचाई (मी.)	प्रति हेक्टर आयतन (घमी.)
5	22·0	6	14·0
10	41·5	10·5	28·0
15	56·5	15·3	52·5
20	70·0	22·2	94·5
25	80·0	28·2	140·0
30	89·5	31·5	185·5
35	95·75	32·7	220·5
40	100·0	33·6	238·0

सारणी 2*

लकड़ी	संग्रहण की अवधि (महीनों में)	सूखन %
घरनें	1	16·4
	2	21·3
	3	25·0
	4	25·5
	5	25·5
5 महीने के बाद सूखन जाता रहता है.		
सम्पूर्ण पौधा, जड़ तथा झाड़ी की लकड़ी के साथ	1	15·7
	2	19 6
	3	21·7
	4	22·2
	5	22·6
	6	23·6
	7	23·6
6 महीने के बाद सूखन जाता रहता है.		
खुली दशाओं में 12 महीने बाद लकड़ी खराब होने लगती है.		

*Rangaswami Iyengar, private communication.

कैजुआरीना का व्यापक उपयोग ईंधन के रूप में होता है. लकड़ी का कैलोरी मान 4,950 कै; 8,910 ब्रि.थ.इ. है. हरे रहने पर भी यह आसानी से जलती है और इसकी राख अधिक समय तक गर्म रहती है. यह विश्व का सर्वोत्तम ईंधन माना जाता है (Krishna & Ramaswami, *Indian For. Bull.*, *N.S.*, No. 79, 1932, 14; Burkill, I, 493).

बागानों में खुली स्थितियों में काट कर ढेर लगाये गये ईंधन में सूखन की प्रतिशतता सारणी 2 में दी हुई है.

कैजुआरीना की लकड़ी का उपयोग घरों के खम्भों, कड़ियों, बिजली के खम्भों, खदानों के टेक तथा देशी जलयान के मस्तूलों में होता है. इसे पश्चादगामी सुरंगों में, बड़े हथौड़े के बेंट, पतवार, जुंये और पहिये के बाहरी घेरे में लगाया जाता है (Pearson & Brown, II, 960; Trotter, 1944, 208).

कै. इक्वीसेटीफोलिया की छाल कषाय होती है और अतिसार तथा पेचिश में लाभदायक है. कहा जाता है कि इसका मरहम बेरी-बेरी में प्रभावशाली होता है. पत्तियों का काढ़ा शूल में दिया जाता है. बीजों का चूर्ण सिर दर्द होने पर लेप किया जाता है (Burkill, loc. cit.; Dymock, Warden & Hooper, III, 358).

छाल में 6–12% टैनिन (कैटेकाल) होता है. मेडागास्कर में इसका प्रयोग चर्म-शोधन में किया जाता है क्योंकि यह चमड़े में जल्दी से प्रविष्ट होकर उसे पुष्ट, लचीले तथा कोमल पीले-लाल बादामी रंग में सुसज्जित कर देता है. छाल का उपयोग कपड़े रँगने और मछुओं के जाल को मजबूत करने में होता है. छाल में कैजुआरीन होता है जो गैलो-कैटेकाल का d- रूप है [ग.वि., 181–3°; $(\alpha)_D^{23.50°}$,+19·7°(50% ऐसीटोन में)], इस वृक्ष से रेजिन भी निकलता है. जिंक क्लोराइड विधि से इसके काँटों से सक्रिय कार्बन तैयार किया जाता है (Badhwar *et al.*, *Indian For. Leafl.*, No. 72, 1944, 7; *Bull. imp. Inst.*, *Lond.*, 1928, **26**, 376; *Chem. Abstr.*, 1940, **34**, 283; Benthal, 420; Chokkanna & Narayanan, *Curr. Sci.*, 1938, **6**, 617).

कैजुआरीना की जातियों में से **कै. स्ट्रिएटा** ऐटन तथा **कै. सुबेरोसा** ओटो तथा डीट्रिश जातियों का सफल प्रवर्धन नीलगिरि में किया गया है (ऊँचाई, 1,500–2,100 मी.).

Pinus; *Derris elliptica*; *Brachytrupes achatinus*; *Arbela tetraonis*; *Coelosterna scabrata*; *Oryctes rhinoceros*; *Trichosporium visiculosum*; *Azadirachta indica*; *Syzygium cumini*; *Dalbergia sissoo*; *Anacardium occidentale*; *Pongamia glabra*; *Pithecellobium dulce*; *Sapindus laurifolius*; *Phomopsis casuarinae*; *C. striatae*; *C. suberosa* Otto & Dietr.

कैटनिप – देखिए **नेपेटा**

कैटमिण्ट, मलाबार – देखिए **ऐनिसोमलीज**

कैट्सटेल – देखिए **टाइफा** (परिशिष्ट – भारत की सम्पदा)

कैडमियम CADMIUM

विश्व के ज्ञात निक्षेपों मे कैडमियम अत्यन्त सीमित मात्रा मे पाया जाता है जस्त-अयस्को मे यह बहुत कम मात्रा मे (0 4% या कम) मिलता है. प्रकृति मे यह बहुधा सल्फाइड खनिज, ग्रीनोकाइट (CdS· Cd, 77 81%; आ.घ, 4 9; कठोरता, 3–3 5) के रूप मे पाया जाता है जिसका रग नारगी पीला, धारियो से युक्त होता है यह जस्ते के अयस्को से सयुक्त रहता है और उनके ऊपर मिट्टी की परत बना लेता है फिर भी ग्रीनोकाइट विरल खनिज है और कहीं भी इसका अलग से उत्खनन नहीं होता है

कैडमियम भारत मे कश्मीर राज्य की अजी घाटी मे, दरावी (33°5′: 74°55′7″) के जस्त अयस्को मे अत्यल्प मात्रा मे पाया गया है. जस्त-अयस्क (जिक ब्लेड) पहाडी के ऊपर शिराओ तथा थोडी मात्रा मे दरावी खड्ड एव अजी नदी के सगम के निकट बडे-बडे खण्डो या छोटे-छोटे ढोको के रूप मे पाया जाता है जिक ब्लेड मे कही-कही नीबू जैसे पीले रग के छोटे-छोटे धब्बे पाये जाते हैं जो सभवतया ग्रीनोकाइट के होते हैं जस्त-अयस्क की विशेषता है कि वह लोह अशुद्धि से मुक्त होता है खनिज के एक विश्लेषण द्वारा निम्नलिखित सरचना प्राप्त हुई: जिक, 67 52; गधक, 31 21; कैडमियम, 0 174, लौह, 0 87; ताँबा, 0 064, अविलेय अवशेष, 0 13% (Middlemiss, *Miner. Surv. Rep., Jammu & Kashmir*, 1929, 34)

विश्व का अधिकाश कैडमियम उत्पादन, जस्ते के विद्युत अपघटनी परिष्करण से उपजात के रूप मे प्राप्त होता है जिन अन्य स्रोतो से यह धातु उपजात के रूप मे प्राप्त होती है वे हैं जिक ब्लेड के भर्जन से प्राप्त धूम्रकण, जस्ते के आसवन से प्राप्त नीला चूर्ण या जस्त की धूलि; लिथोपोन के उत्पादन से प्राप्त कुड-अवशेष; सीस के विद्युत-अपघटनी परिष्करण से प्राप्त विद्युत-अपघट्य, तथा जस्ते के खनिजों से सयुक्त सीसे और ताँबे के अयस्को को वातभट्टी मे गलाने (प्रद्रावण) से प्राप्त धूम्र अभी तक अधिकाश कैडमियम कैडमियम-लौहयुक्त जस्ते के अयस्क के अपचयन के समय प्राप्त आसुत के पहले भागो मे प्राप्त किया जाता था जस्ते की तुलना मे अधिक वाष्पशील होने के कारण आसवित होने वाला प्रथम प्रभाज कैडमियम-समृद्ध रहता है इसे एकत्रित करके कोक के साथ मिलाकर रक्तताप पर (800°) पुन आसवित किया जाता है जिससे कैडमियम आसवित होता है जिसमे बिल्कुल जिक नही रहता. निर्वात मे आसवन करके इसे और शुद्ध कर लिया जाता है.

अब कैडमियम का अधिक परिमाण जस्ते के अयस्को के उपचार के समय उपजात के रूप मे प्राप्त किया जाता है. इस प्रक्रम मे सान्द्र जस्त अयस्क का भर्जन किया जाता है तथा उसे सल्फ्यूरिक अम्ल द्वारा निक्षालित किया जाता है विलयन को 80° तक गर्म करके कैडमियम को अवक्षेपित करने के लिए जस्ते का चूर्ण मिला देते हैं जिससे स्पज सदृश पदार्थ प्राप्त होता है. इस प्रकार प्राप्त कैडमियम को विद्युत-अपघटनी विधि से ऐल्यूमिनियम या कैडमियम कैथोड पर निक्षेपित कर लिया जाता है. इसमे फेरोसिलिकान ऐनोड के रूप मे प्रयुक्त होता है (Thorpe, II, 191, Bray, 67).

कैडमियम एक चमकीली, नीली-श्वेत, आघातवर्ध्य और तन्य धातु है (आ. घ., 8 6; ग वि, 320, क्व.बि., 767°). 85% से भी अधिक कैडमियम विद्युतलेपन के काम आता है. इसका उपयोग गलनीय मिश्रधातुओ के साथ अग्नि प्रशामकों के लिये तथा बियरिंग धातु मिश्रधातुओ के साथ उच्च गति वाले अतर्दाही इजनो के लिए किया जाता है ताँबा-कैडमियम मिश्रधातुओ मे घर्षण प्रतिरोधी गुण होता है. ये विद्युतप्रवाही तारो के निर्माण मे काम आते हैं. कैडमियम टाँको मे वग के एक प्रतिस्थायी के रूप मे प्रयुक्त होता है और लेड-कैडमियम टाके लेड-टिन के टाँको से अधिक सुदृढ पाए गए हैं. दाँतो मे प्रयुक्त कुछ सरसो मे कैडमियम रहता है. कैडमियम का प्रयोग अन्य धातुओ के ऊपर अत्यन्त पतली सुरक्षी परत के रूप मे किया जाता है. इसको विद्युत लेपन या छिडकाव द्वारा लगाया जाता है कैडमियम के यौगिकों का उपयोग फोटोग्राफी की सामग्रियो, विद्युत सेलो तथा प्रलेप और काँच उद्योगो मे होता है कैडमियम वर्णको के रग चमकदार सुनहरे पीले से लेकर नारंगी-लाल तथा लाल-भूरे तक होते हैं. अपक्षय कारको के प्रति अत्यधिक प्रतिरोधी होने के कारण कैडमियम प्रलेपो का प्रयोग रेलगाडियो के रँगने मे किया जाता है कैडमियम-जस्त का सल्फाइड मानचित्रो और वायुयान के निर्देशक चक्रो को प्रकाशित करने के लिए महत्वपूर्ण स्फुरदीपी है.

1967 मे विश्व का कैडमियम उत्पादन लगभग 15,000 टन था. 1944 मे यही उत्पादन 5,800 टन था पहले बेल्जियम, रूस तथा दक्षिण-पश्चिमी अफ्रीका प्रमुख उत्पादक देश थे किन्तु अब कैडमियम उत्पादन करने वाले मुख्य देश सयुक्त राज्य अमेरिका, जापान, सोवियत सघ, कनाडा, मैक्सिको है इस धातु का विश्व उत्पादन कैडमियम और इसके यौगिको की सीमित माँग की पूर्ति के लिए आवश्यकता से अधिक है. भारत मे कैडमियम का उत्पादन नही होता (*Statist. summ., Miner. Ind*, 1962–67, 63).

कैडसुरा कैम्फगेर एक्स जसू (मैग्नोलिएसी) KADSURA Kaempf. ex Juss.

ले – काडसूरा

Fl Br. Ind, I, 45.

यह सदाबहार वलयित, झाडियो का एक वश है जो दक्षिणी और पूर्वी एशिया मे पाया जाता है. भारत मे इसकी तीन जातियाँ पायी जाती है

कै. हेटेरोक्लिटा (रॉक्सबर्ग) क्रैब सिन **कै. रॉक्सबर्गिआना** आर्नेट; **कै. वाइटियाना** आर्नेट (पूर्वी हिमालय–पैटाँगेम्नो, मालाडोरिक; असम–काग-मारी, सौ-जागेव, थीअरवास) पूर्वी हिमालय, असम और पश्चिमी घाट मे मालाबार मे 2,400 मी. की ऊँचाई तक पायी जाने वाली दृढ आरोही झाडी है पता चला है कि अडमान द्वीप समूहों मे भी यह पायी जाती है. इसकी पत्तियाँ चौडी अडाकार से लेकर अडवत्, नुकीली तथा अपेक्षाकृत मासल; पुष्प श्वेत, एकल, अक्षीय; फल लाल, गोलाकार (2·5–5·0 सेमी. व्यास) तथा अधिक या कम जुडे हुए, मासल अडपो से युक्त; और बीज गोलाकार, सपीडित

तथा खाद्य हैं. फल कभी-कभी खाया जाता है (Gamble, 14; Cowan & Cowan, 11).
Magnoliaceae; K. heteroclita (Roxb.); *K. roxburghiana; K. wightiana* Arn.

कैडावा फोर्स्कल (कैप्परिडेसी) CADABA Forsk.

ले. – काडावा

यह लगभग 22 जातियों की झाड़ियों का वंश है जो पुरानी दुनियाँ के उष्णकटिबन्धों में पाया जाता है. इसकी लगभग 3 जातियाँ भारत में पायी जाती है.
Capparidaceae

कै. ट्राइफोलिएटा (रॉक्सवर्ग) वाइट एवं आर्नेट
C. trifoliata (Roxb.) Wight & Arn.

ले. – का. ट्रिफोलिआटा
Fl. Br. Ind., I, 172.

सं. – वलय; त. – मण्डुक्कुरुंडु, विलुति; ते. – चेकोनाडि.

यह कर्नाटक और श्रीलंका में पायी जाने वाली जाति है. इसकी जड़ें तथा पत्तियाँ रेचक, कृमिहर, आर्तवजनक और शोथ-रोधी मानी जाती हैं तथा वातग्रस्त संधियों पर अंतः और बाह्य दोनों प्रकार से प्रयुक्त की जाती हैं. पत्तियाँ ओषधि-युक्त तैलों के बनाने में काम आती हैं (Caius, *J. Bombay nat. Hist. Soc.*, 1939, **14**, 123; Rama Rao, 18).

कै. फैरिनोसा फोर्स्कल सिन. कै. इण्डिका लामार्क
C. farinosa Forsk.

ले. – का. फारिनोसा
D.E.P., II, 3; Fl. Br. Ind., I, 172.

हिं. – कोडाब; त. – कोट्टागट्टी, विल्ली; ते. – एडामोरिनिका; मल. – काटकट्टी; क. – भरगडे, केगनिके.
बम्बई – हुवाब; तमिलनाडु – विलूडी.

यह पंजाब, राजस्थान, मध्य भारत और उत्तरी सरकार, डेकन तथा कर्नाटक के शुष्क जनपदों में पायी जाने वाली जाति है. इसकी जड़ें तथा पत्तियाँ, कृमिहर तथा वाहिनी निर्मलक होती हैं तथा गर्भाशय अवरोधों में काढ़े के रूप में दी जाती हैं. पत्तियाँ घावों में पुल्टिस की तरह भी प्रयुक्त की जाती हैं. पत्तियों में एक ऐल्कलायड विद्यमान बताया जाता है (Kirt. & Basu, I, 194; Cameron, 9; Wehmer, I, 391).

कैथा फोर्स्कल (सेलासट्रेसी) CATHA Forsk.

ले. – काथा
Macmillan, 339.

यह एकल प्ररूपी वंश है जिसमें केवल एक ही जाति, कै. एड्यूलिस फोर्स्कल (खात या काफ़ता; अबीसीनिया की या अफ्रीकी चाय), अत्यधिक उगाई जाती है और उत्तरी एवं पूर्वी अफ्रीका के भागों में उद्दीपक के रूप में प्रयुक्त की जाती है. यह पौधा भूमध्य रेखीय अफ्रीका का मूलवासी है. महाराष्ट्र, श्रीलंका तथा मैसूर में इसके सफलतापूर्वक प्रवर्धित किये जाने की सूचना मिली है. भारत में इसकी खेती से सम्बन्धी विस्तृत सूचना प्राप्त नहीं है (Sampson, *Kew Bull., Addl Ser.*, XII, 1936, 39; Krumbiegel, 66).

यह 2·7–3·6 मी. ऊँची एक छोटी झाड़ी है जिसकी पत्तियाँ पतली और पुरानी पड़ने पर खुरदुरी हो जाती हैं. उद्दीपक गुण के कारण ताजी अथवा सूखी पत्तियाँ और कलियाँ चबाई जाती हैं. पत्तियों का काढ़ा मीठा, सुगन्धित और कषाय होता है. कहा जाता है कि इससे खाँसी, दमा तथा छाती के अन्य रोगों में आराम मिलता है. अरब देश में पत्तियों को सुखाकर तम्बाकू की तरह पिया जाता है (Watt & Breyer-Brandwijk, 110; Greenway, *E. Afr. agric. J.*, 1947, **13**, 98).

पत्तियों में 3 ऐल्कलायड पाये जाते हैं: *d*-नार-आइसो-एफेड्रीन, जो पहले कैथीन कहा जाता था (0·27%), कैथिनीन (0·15%) तथा कैथीडीन (0·32%). इनके अतिरिक्त अपचायक शर्करायें, टैनिन और वाष्पशील तेल भी पाये जाते हैं. कैथा से केन्द्रीय नाड़ी संस्थान पर उत्तेजक मूर्छा लाने वाली क्रिया होती है परन्तु इसकी क्रिया का ठीक से ज्ञान नहीं है. अधिक मात्रा में पेशियों पर प्रत्यक्ष क्रिया के फलस्वरूप पक्षाघात हो जाता है (Henry, 635; Wehmer, II, 717; B.P.C., 1048; U.S.D. 1389).

कै. एड्यूलिस की लकड़ी पीले से गहरे बादामी रंग की होती है और परिमित मध्यम कठोर तथा दृढ़ होती है (भार, 672 किग्रा./घमी.). यह कान्तिमान, सीधे दानों वाली, गठन में उत्तम, समतल तथा कैबिनेट बनाने में उपयोगी होती है. यह उच्च कोटि के सोल्ले बनाने में भी लाभदायक है (Greenway, loc. cit.).
Celastraceae; *C. edulis* Forsk.

कैननवाल ट्री – देखिए कुरूपिटा

कैना लिनिअस (कैनेसी) CANNA Linn.

ले. – कन्ना

यह बूटियों की 67 जातियों का वंश है जो उष्ण और समशीतोष्ण कटिबन्ध में, विशेषतया पश्चिमी गोलार्द्ध में, बहुतायत से पाया जाता है. बागों में उत्पन्न होने वाली अनेक किस्में संकर हैं. इसकी खेती इसके शोभाकारी पत्तों और दिखावटी फूलों के लिये, जिनके रंग हल्के पीले से लेकर गहरे लाल तक होते हैं, की जाती है. कुछ किस्मों को, जिनमें कै. एड्यूलिस भी सम्मिलित है, उनके खाद्य प्रकन्दों के लिये उगाया जाता है.

कैना की लगभग सभी किस्मों की जड़ों में स्टार्च का भंडार रहता है. तुलना में खाद्य किस्मों के प्रकन्द शोभाकारी किस्मों के प्रकन्दों से उत्तम होते हैं और उनमें इसकी तुलना में टैनिन और रेशे कम होते हैं (Culpepper & Moon, *Circ. U.S. Dep. Agric.*, No. 497, 1938, 19).
Cannaceae

भी गलाने के प्रयास किये गये हैं किन्तु कोई भी विधि व्यापारिक स्तर पर संतोषजनक सिद्ध नहीं हुई है (Roberts & Kartar Singh, 453; Matthews, 344; Ash, *Econ. Bot.*, 1948, **2**, 158).

गलाने के पश्चात् रेशों को डंठलों से या तो हाथ से अलग करते हैं जैसे कि भारतवर्ष में होता है अथवा फिर मशीनों द्वारा तोड़कर तथा पीट कर जैसे कि यूरोप और अमेरिका में किया जाता है. पीटने के पश्चात् रेशों को साफ किया जाता है और महीन तन्तुओं में चीर लिया जाता है. इसके लिये इस्पात की पिनों से बने सेटों या कंघों के ऊपर से इन्हें खींचा जाता है (हैकलिंग विधि). साफ किये हुए रेशों को उनके गुण, लम्बाई तथा रंग के अनुसार विभिन्न श्रेणियों में छाँट लिया जाता है (Ash, loc. cit.).

औसत फसल से प्रति हेक्टर 5–7·5 टन तक सूखे तने प्राप्त होते हैं जिनसे लगभग 1–2 टन तक स्वच्छ रेशे प्राप्त होते हैं. रेशों की गुणता उनके तैयार करने की विधि पर निर्भर करती है. इनका रंग तृण-श्वेत, हल्का भूरा, पीला, हल्का पीला या गहरा धूसर, हरा या काला हो सकता है. उत्कृष्ट कोटि के रेशे तृण अथवा श्वेत रंग के होते हैं तथा इनमें लिनेन की तरह की चमक होती है (Macmillan, 401).

भाँग का रेशा मज़बूत, चमकीला और टिकाऊ होता है. व्यापारिक रेशा 1–2 मी. तक लम्बा होता है. इसकी बारीकी लिनेन से कम किन्तु इसकी तनन शक्ति उससे काफी अधिक होती है. सूक्ष्मदर्शी से देखने पर रेशे कोशिकाओं से निर्मित दिखाई देते हैं जो असामान्य रूप से लम्बे, लगभग 2 सेंमी. लम्बे एवं 22 मा. सेंमी के होते हैं. रेशों के सिरे गोल तथा व्यास कुछ असम होता है. इनमें बहुलता से संधियाँ, अनुदैर्घ्य विभंग एवं फूले हुए विदर होते हैं. यह सेलुलोस एवं लिग्नो-सेलुलोस के मिश्रण से बना होता है. भाँग का रासायनिक विश्लेषण इस प्रकार हैं: जल (आर्द्रताग्राही), 8·88; राख, 0·82; वसा तथा मोम, 0·56; जलीय निष्कर्ष, 3·48; सेलुलोस, 77·77; तथा अंतराकोशिकी पदार्थ एवं पेक्टिन पदार्थ, 9·31%.

भाँग का उपयोग बढ़िया रस्सियाँ, सुतली, पाल, जलसह कपड़ा तथा कालीन के सूत बनाने में होता है. नावों, पंपों, इंजिनों और अन्य मशीनों की सन्धि बन्द करने के लिये अवद्ध रेशे काम में लाये जाते हैं. पिछले विश्वयुद्ध के दौरान गलाने से नहीं अपितु छिलका उतारने एवं एकमेल करने की (काटनाइ-जिंग) विधियों से बनाये गये हरे रेशे जूट के प्रतिस्थापी के रूप में सिलने की सुतली और बोरे बनाने के उपयोग में लाये जाते थे. इसका उपयोग अब रस्सियाँ, सुतली और रस्से बनाने के लिए कम किया जाता है. अब मनीला और सिसेल जैसे कठोर रेशों ने इसका स्थान ले लिया है. भाँग के तनों का उपयोग घटिया कागज के निर्माण में किया जा सकता है (*F.A.O. World Fibre Survey*, 1947, 131; Matthews, 343).

भाँग के बीजों का तेल – रेशे के लिये फसल काटने के पश्चात् जो पौधे खेत में रह जाते हैं उनमें बीज लगने दिया जाता है. फलों के पक चुकने के बाद इन्हें काट कर सुखाते और कूट कर एकत्र कर लेते हैं. यदि सिर्फ बीज के लिये फसल उगाई जाए तो प्रति हेक्टर औसतन 1,200–1,500 किग्रा. बीज प्राप्त होते हैं किन्तु हमारे देश में अभी तक जंगली पौधों से बीज प्राप्त करने का अथवा केवल बीज के लिये फसल उगाने का सुनियोजित प्रयास नहीं हुआ है (Macmillan, 401).

भाँग के बीजों, अथवा ठीक से कहें तो फलों की आकृति गोलाई लिए हुए अंडाकार होती है (3–5 मिमी. लम्बे एवं 2 मिमी. व्यास के). इसका स्वाद तैलीय एवं मीठा होता है. बीजों का औसत संघटन इस प्रकार पाया गया हैं: जल, 8·75; प्रोटीन, 21·51; वसा, 30·41; नाइट्रोजनरहित निष्कर्ष, 15·89; रेशा, 18·84; तथा राख, 4·60%. एडेस्टिन नामक एक क्रिस्टलीय ग्लोबूलिन वसारहित खली से प्राप्त हुआ है जिसमें ऐमीनो अम्लों का संघटन निम्नांकित है: ग्लाइकोकाल, 3·8; ऐलानीन, 3·6; वैलीन, +; ल्यूसीन, 20·9; फेनिलऐलानीन, 2·4; टाइरोसीन, 2·13; सेरीन, 0·33; सिस्टीन, 0·25; प्रोलीन, 4·1; ऑक्सिप्रोलीन, 2·0; ऐस्पैटिक अम्ल, 4·5; ग्लूटैमिक अम्ल, 18·74; ट्रिप्टोफेन, +; आर्जिनीन, 14·36; लाइसीन, 1·67; एवं हिस्टीडीन, 2·36% (Winton & Winton, I, 417).

बीजों के पेरने से 32–35% तक हरा-पीला सूखने वाला तेल निकलता है जिसके निम्नलिखित अभिलक्षण होते हैं: आ.घ.$^{15.5°}$, 0·925–0·933; साबु. मान, 190–195; आयो. मान, 140–166; तथा अनुमापन मान, 14–17°. इसके घटक वसा-अम्ल ओलीक, 15; लिनोलीक, 70; लिनो-लेनिक एवं आइसोलिनोलेनिक अम्ल, 15% हैं. भारतीय तेल के अभिलक्षण तथा संघटन लगभग इसी प्रकार है (Winton & Winton, I, 420; Brodie & Sen Gupta, *Bull. Indian Industr. Res.*, No. 10, 1943, 19).

भाँग के बीजों के तेल का उपयोग वार्निश के उद्योग में अलसी के तेल के स्थान पर तथा नर्म साबुन बनाने के लिये किया जाता है. रँगों के पीसने के लिये यह अति उत्तम माध्यम कहा जाता है. यह तेल खाने और जलाने के भी काम में आता है (Jamieson, 261).

बीजों की खली खिलाने के कार्य में प्रयुक्त होती है. खली के विश्लेषण से निम्नलिखित औसत संघटन प्राप्त हुआ है: आर्द्रता, 10·81; वसा, 10·17; प्रोटीन, 30·76; नाइट्रोजन-रहित निष्कर्ष, 40·59; तथा राख, 7·67%.

राख के खनिज अवयव इस प्रकार है: K_2O, 20·28; Na_2O, 0·78; CaO, 23·64; MgO, 5·70; Fe_2O_3, 1·00; Mn_2O_3, रंचमात्र; P_2O_5, 36·46; SO_3, 0·19; SiO_2, 11·90; तथा Cl, 0·08% (Winton & Winton, I, 421).

भाँग के बीज चिड़ियों और मुर्गियों को दाने की तरह दिए जाते हैं.

भाँग की ओषधियाँ

भाँग के पौधे से प्राप्त होने वाली संवेदनमंदक ओषधियाँ भाँग अथवा हशीश, गाँजा और चरस हैं. इन ओषधियों का निष्कर्षण विभिन्न पौधों से किया जाता है एवं इनके बनाने की विधियाँ भी पृथक्-पृथक् हैं. ये ओषधियाँ मादा पौधों के सूखे पुष्पों और फलों के ऐसे शीर्ष हैं जिनसे कोई रेजिन अलग न किया गया हो. अधिकांशतः नर पौधों का पता लगते ही उन्हें उखाड़

दिया जाता है क्योंकि रेजिनी स्राव केवल असपेचित मादा पौधों में बनता है (Yegna Narayan Aiyer, 481).

गाँजे के लिए समूह वरण विधि से प्रजनन करके **कै. सेटाइवा** की सुधरी हुई किस्में उगाने के प्रयास किये गये हैं. पूसा टाइप–1 तथा –2 आशाजनक हैं क्योंकि इनमें मादा पौधों का अनुपात अधिक होता है. टाइप–1 से गाँजे की अधिक मात्रा प्राप्त होती है किन्तु टाइप–2 से प्राप्त गाँजा उच्च कोटि का होता है (*Sci. Rep. agric. Res. Inst., Pusa*, 1932–33, 72; 1934–35, 62).

भाँग, सिद्धि, सब्जी या पत्ती एक ही पदार्थ के अलग-अलग नाम हैं. यह अधिकांशतः जंगली अथवा कृष्य भाँग के नर तथा मादा दोनों ही पौधों की मुरझाई गई पत्तियों और फली हुई शाखाओं से बनता है. यद्यपि कभी-कभी हरी पत्तियाँ भी प्रयोग में लाई जाती हैं. इसमें पौधे के सम्मिश्रित बीज भी हो सकते हैं. भाँग तीनों प्राकृतिक संवेदनमन्दक रूपों में से सबसे अधिक मंद होती है तथा तमिलनाड्, विहार, बंगाल, असम, उत्तर प्रदेश और पंजाब के कुछ जिलों को छोड़कर, जहाँ इस पौधे के उगने पर कोई रोक नहीं है, शेष सभी जगहों में इसकी पत्तियों को इकट्ठा करने या गोदाम में संग्रह करने के हेतु सरकार से लाइसेन्स लेना पड़ता है. भाँग बनाने के लिये पौधों को काटकर उन्हें बारी-बारी से धूप और ओस में रहने दिया जाता है और सूख जाने पर पत्तियों को दाब कर मिट्टी के घड़ों में संग्रहीत कर लिया जाता है. मैदानों में पत्तियों को इकट्ठा करने का सामान्य समय मई से जून तक और पर्वतों में जून से जुलाई तक होता है.

कुछ स्थानों में पत्तियाँ अन्य स्थानों की अपेक्षा अधिक सावधानी से एकत्र की जाती हैं. अतः यह स्वाभाविक है कि कुछ नमूनों में केवल पत्तियाँ ही रहें जब कि दूसरों में पत्तियों के साथ फल और फूलों के शीर्ष भी मिले हुए हों. जब संग्रह सावधानी से किया जाता है तो तने के आधार पर बड़ी पत्तियों को छोड़ दिया जाता है क्योंकि वे निष्क्रिय होती हैं.

भाँग या तो ऐसे ही खाई जाती या द्रव काढ़े के रूप में ली जाती है. इसे खाने की सरलतम विधि मसालों के साथ पीसकर इसकी गोली बनाकर निगल जाना है. यह मिठाई के रूप में भी खाई जाती है. माजून नामक मिठाई इसकी पत्तियों को कूटकर उसमें चीनी मिलाकर तथा मिश्रण को छोटी-छोटी चौकोर बर्फियों में काटकर बनाई जाती है.

गाँजा, भाँग के मादा पौधों के सुखाये गये ऐसे फूलों और फलों के शीर्षों से बनता है जिनसे रेजिन न निकाला गया हो. चपटा या बम्बई-गाँजा, जिसका निर्यात इंग्लैंड को किया जाता है, सरेस से जुड़े हुए, मंद हरे अथवा हरित भूरे रंग के समतल किये हुए पिंडों के रूप में होता है. रेजिन चिपचिपा नहीं रह पाता अपितु कठोर और भंगुर हो जाता है तथा गंध मंद होती है और ताजी औषधि के समान तीव्र नहीं होती. ताजी ओषधि का स्वाद थोड़ी-सी कड़वाहट लिये हुए होता है. इसमें से कुछ भाँग के अंडाकार बीज भी चुनकर निकाले जा सकते हैं. गाँजा केवल कृष्य पौधों से ही प्राप्त किया जाता है क्योंकि सरकार की नीति अन्ततः सभी संवेदनमंदक ओषधियों पर निषेध लगाना है. इसी कारण से गाँजा उगाने वाले क्षेत्रों में कमी होती जा रही है. महाराष्ट्र में अहमदनगर के समीप तीन छोटे गाँवों में सरकार की देखरेख में उगाये गये भाँग पौधों से उत्कृष्ट कोटि की ओषधि प्राप्त होती है.

गाँजा उत्पादन के लिए पौधों को उपजाऊ, घासपात से रहित, अच्छी तरह तैयार की गई और खाद पड़ी हुई भूमि में उगाते हैं. ये उष्णकटिबन्धीय और आर्द्र जलवायु में हल्की दुमट या रेतीली मिट्टी में भली प्रकार उगते हैं तथा मानसून फसल की भाँति जून या जुलाई में बो कर दिसम्बर या जनवरी में काट लिये जाते हैं. अन्य उद्यान-फसलों की ही तरह इनकी सघन खेती होती है. अधिक अंकुरण क्षमता वाले बीज अल्मोड़ा और अन्य अधोहिमालयी क्षेत्रों से प्राप्त किये जाते हैं. इन्हें 1·2 मी. की दूरी पर पंक्तियों में बोया जाता है. बीज दर प्रति हेक्टर 5–8 किग्रा. है. जब पौधे 20 सेंमी. ऊँचे हो जाते हैं तब उन्हें दूर-दूर लगा दिया जाता है. खेतों को खर-पतवारों से रहित रखा जाता है और काफी सिंचाई की जाती है. जैसे-जैसे पौधे बढ़ते जाते हैं उनकी निचली शाखाओं को काट लिया जाता है जिससे फूलने वाली शाखाओं की वृद्धि को बढ़ावा मिलता है. नवम्बर में जब फल आने आरंभ हो जाते हैं तब नर पौधों को काटकर या उपाड़कर निकाल दिया जाता है क्योंकि इनमें रेजिन बिल्कुल नहीं बनता है (Yegna Narayan Aiyer, 480).

जब निचली पत्तियाँ गिर जाती हैं और पुष्प वृन्तों की फुनगियाँ पीली पड़ जाती हैं तब गाँजा के लिये पौधों को काटना शुरू कर देते हैं. फलों के स्पाइकों को काटकर एक बाड़े में ले जाकर डौलों और कंडों में फैला दिया जाता है. अब डौलों को समतल करके उनको रौंदा जाता है जिससे कि पुष्प-प्ररोह दबकर सुसंहत हो जायें. थोड़े समय तक सूखने के बाद सामग्री को उलट-पलट कर सुखाया जाता है और फिर रौंदा जाता है. इसके बाद इस सामग्री को इकट्ठा करके चपटे गोलाकार ढेर में लगा दिया जाता है जिसे चक्की कहते हैं. इसकी अनेक तहें लगाई जाती हैं जब तक ढेर लगभग एक मीटर ऊँचा नहीं हो जाता. सुसंहत किया हुआ यह ढेर कुछ समय तक दबाकर रखा जाता है जिससे शीघ्रतापूर्वक रासायनिक परिवर्तन हो लें. फिर इन ढेरों को तोड़कर उलट-पलट किया जाता है और फिर से एक मोटी तह में फैलाकर रौंदा जाता है. इससे विशेष सायबानों में जमा करने के लिये गाँजा चौथे दिन तैयार हो जाता है. यहाँ पर गाँजे को धूल, कंकड़, बीजों, और पत्तियों से अलग करके अहमदनगर के डिपो में भेज दिया जाता है (Trease, 206).

कम रौंदने से अर्ध शुष्क और अदृढ़ पूली बन जाती है तथा बनाते समय अधिक सावधानी न रखने से निम्न कोटि का पदार्थ बनता है. गाँजा दो प्रकार का होता है: चपटा या बम्बइया गाँजा तथा गोल या बँगला गाँजा. बँगला गाँजा बनाने के लिए कटे हुये पौधों को रौंदकर चपटी टिक्की बनाने के बजाय मुर्झाई हुई फुनगियों को पैरों से या हाथों से सासेज के रूप में अथवा छोटे-छोटे गोलों में बना दिया जाता है. टूटे हुए टुकड़ों तथा चपटे या गोल गाँजे के चूर्ण से चूर-गाँजा या रोड़ा बनता है.

गाँजा की प्रति हेक्टर औसत उपज लगभग 250 किग्रा. है परंतु अच्छी फसल से लगभग 350 किग्रा. तक की प्राप्ति हो जाती है. कभी-कभी प्रति हेक्टर से 425 किग्रा. तक की

इस जाति का मूलस्थान वेस्ट इंडीज़ है और यह भारत मे सीमित मात्रा मे उगाई जाती है यह एकवर्षीय, आधी खडी झाड़ीदार फली है जो 60 सेमी से लेकर 1·50 मी की ऊँचाई तक बढ़ती है और इसमे 20–38 सेमी तक लम्बी तलवार के आकार की लगभग 2 5 सेमी. चौड़ी फलियाँ लगती है फलियो मे 10 से लेकर 12 तक सफेद बीज होते है प्रत्येक बीज मे भूरी नाभिका होती है जो बीज की आधी लम्बाई तक फैली होती है

यह पौधा सहिष्णु, सूखा-सह और अधिकांश नाशकजीवो से प्रतिरक्षित होता है यह चारे अथवा हरी खाद के लिए उगाया जाता है कभी-कभी नई फलियो और कच्चे बीजो की तरकारी बनाई जाती है इससे प्रति हेक्टर 40–50 टन हरा चारा और लगभग 1,200 किग्रा. बीज प्राप्त होते है यह गन्ने, काफी, रबर और सीसल की पंक्तियो के बीच रोपित किया जाता है. इसे हल से जोत कर पौधो के भोजन का उपयोगी स्रोत बनाया जा सकता है पशुओ के चारे के लिये इसकी उपयोगिता सन्देहपूर्ण है क्योकि यह अस्वादिष्ट और अपच्य बताया जाता है. चूहो को खिलाकर किये गये प्रयोगो से यह ज्ञात हुआ है कि जैकबीन मे ताप-अस्थिर विष होता है जिससे आमाशय की श्लेष्म झिल्ली से रक्तस्राव होने लगता है और निरन्तर सेवन करने से अतड़ियो पर भी ऐसा ही प्रभाव पड़ता है यदि साथ मे 30% तक गेहूँ का आटा मिला दिया जाए तो चूर्ण हानिकारक नही रह जाता. भुनी जैकबीन को काफी के स्थान पर अथवा उसमे मिलावट के लिए प्रयुक्त किया जाता है (Wilcox, 309; Burkill, I, 433; *Chem. Abstr*, 1942, **36**, 3532; Charavanapavan, *Trop. Agriculturist*, 1943, **99**, 157).

1926 मे जैकबीन से यूरियेस सक्रियता युक्त ग्लोबुलिन को क्रिस्टलीय रूप मे पृथक् कर लेने के बाद से उसके प्रोटीन पर विस्तार से शोध किया गया है. इसके तीन अन्य क्रिस्टलीय ग्लोबुलिन भी प्राप्त किये गये है जिनके नाम है: कैनावैलिन (अणु भार, 1,13,000), कानकैनावैलिन-ए (अणु भार,



चित्र 62 – कैनावालिया एन्सीफारमिस

96,000) और कानकैनावैलिन-बी (अणु भार, 42,000). ग्लोबुलिन के अतिरिक्त जैकबीन चूर्ण से लगभग 2·5% कैनावैनीन $C_5H_{12}O_3N_4$ [γ-ग्वानीडॉक्सि-α-ऐमीनो ब्यूटिरिक अम्ल; ग.बि., 182–84° (अपघटित)] नामक डाइऐमीनो अम्ल पृथक् किया गया है. सुअर के यकृत-रस में विद्यमान एक एंजाइम द्वारा कैनावैनीन का जल-अपघटन यूरिया और कैनेलीन (α-ऐमीनो-γ-o-हाइड्रॉक्सिल ऐमीनो ब्यूटिरिक अम्ल) में हो जाता है. जैकबीन चूर्ण में विद्यमान अन्य नाइट्रोजनी अवयव इस प्रकार हैं: आर्जिनीन, डेसऐमीनो कैनावैनीन, कोलीन, ट्राइगोनेलीन, बेटोनिसीन और दो क्षारक, कैनीन ($C_{12}H_{24}O_3N_2$; ग.बि., 188–89°) तथा किटोजीन ($C_7H_7O_3N$; ग.बि., 240–42°) (Summer, *J. biol. Chem.*, 1926, **69**, 435; *Chem. Abstr.*, 1937, **31**, 1468, 4275; 1938, **32**, 5034, 7934; 1940, **34**, 2335).

कै. ग्लैडियाटा (जैक्विन) द कन्दोल सिन. कै. एन्सीफारमिस वेकर नान द कन्दोल C. gladiata (Jacq.) DC.

सोर्डबीन

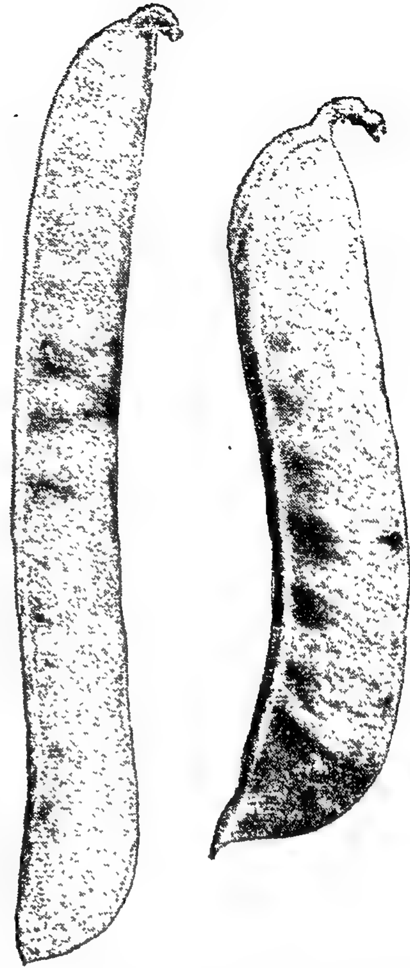
ले.—क. ग्लाडिआटा

D.E.P., II, 97; Fl. Br. Ind., II, 195; C.P., 248; Chatterjee, loc. cit.

हिं.—बड़ा सेम, लाल कदसुम्बल; बं.—माखनसीम; म.—अवाई; त.—सेगापु थमबट्टाई; ते.—येरा टम्मा; क.—शेम्बी अवारे, टुम्बेकाई.

यह विशाल, बहुवर्षी लता है जो समस्त प्राच्य देशों में उगाई जाती है. अभी तक भारत में यह जंगली नहीं पाई गई है किन्तु ऐसा अनुमान है कि इसकी उत्पत्ति सम्भवतः **कै. विरोसा** वाइट और आर्नेट से हुई होगी जो एक जंगली बेल है और पश्चिमी अफ्रीका से फिलिपीन्स तक पाई जाती है. खेती करने पर इसकी फलियों की लम्बाई और बीजों की संख्या में भिन्नता देखी जाती है (Piper & Dunn, *Kew Bull.*, 1922, 134; Haines, III, 278).

अधिकतर यह घरों के पास और खेतों की मेड़ों पर उगाई जाती है और दीवारों और वृक्षों पर फैलने दी जाती है. इसको भूमि संरक्षी-फसल के रूप में, चारे और तरकारियों के रूप में उपयोग में लाते हैं. साधारणतया यह लिपट कर चढ़ती है किन्तु इसकी आधी खड़ी किस्में भी मिलती हैं. यह तेजी से बढ़ती है और इसमें बड़े सफेद अथवा गुलाबी फूल और 20–30 सेंमी. लम्बी एवम् 2·5–4 सेंमी. चौड़ी तलवार जैसी फलियाँ लगती हैं. **कै. एन्सीफारमिस** की फलियों की तुलना में इसकी फलियाँ अधिक मुड़ी होती हैं और इनके किनारे अत्यधिक विकसित होते हैं. इसके बीज गुलाबी अथवा प्याजी रंग के होते हैं. कभी-कभी इनका रंग भूरा या सफेद भी होता है. ये अत्यधिक संपीडित होते हैं और इनकी नाभि पूरे बीज के बराबर लम्बी होती है. नई हरी फलियाँ और बीज भारत, ब्रह्मा, श्रीलंका और पूर्वी एशियाई देशों में बहुतायत से तरकारी के रूप में काम आते हैं. ताजे बीन के विश्लेषण से निम्नलिखित परिणाम मिले हैं: आर्द्रता, 88·6; प्रोटीन, 2·7; वसा, 0·2; खनिज पदार्थ, 0·6; कार्बोहाइड्रेट, 6·4; और रेशे, 1·5%; कैरोटीन, विटामिन ए के रूप में 40 अं.इ./100 ग्रा. (*Hlth Bull.*, No. 23, 1941, 34).



चित्र 63—कैनावालिया एन्सीफारमिस और कै. ग्लैडियाटा की फलियाँ

कै. मेरीटिमा (आब्लेट) थाऊआर्ज (सिन. **कै. आब्ट्यूसीफ़ोलिया** आक्ट. नान द कन्दोल वेकर प्रेन; **कै. रोज़िया** द कन्दोल) एक तटवर्ती जाति है जो दक्षिण भारत के रेतीले तटों पर बहुत ही कम मात्रा में पायी जाती है और रेतबंधक के रूप में उपयोगी समझी जाती है. **कै. विरोसा** (रॉक्सबर्ग) वाइट और आर्नेट (सिन. **कै. एन्सीफारमिस** वेकर नान द कन्दोल, वैर. **विरोजा** बेकर और वैर. **मोलिस** बेकर) सदाहरित बेल है जो प्रायः सम्पूर्ण भारत में झाड़ीदार वनों में जंगली अवस्था में पायी जाती है. इसमें छोटी और सीधी फलियाँ लगती हैं जिनकी लम्बाई 10–15 सेंमी. होती है और इसमें 4–6

कै. डेकुसाटा शुल्ट्स C. decussata Schult.

ले. – कॉं. डेकूस्साटा

D.E.P., II, 127; Fl. Br. Ind., IV, 104.

सं. – शंखपुष्पी, दण्डोत्पल; हिं. – शंखफूली; बं. – डानकुनी; म. – शंखवेल.

यह जाति 1,200 मी. की ऊँचाई तक समस्त भारत में पाई जाती है और नम स्थानों पर उगती है. यह पौधा तिक्त, कषाय एवं तैलीय होता है और रेचक, रूपान्तरक एवं पौष्टिक माना जाता है. इस पौधे का ताजा रस पागलपन, मिर्गी तथा स्नायुओं की दुर्बलता में बताया जाता है (Kirt. & Basu, III, 1659).

कै. डिफ्यूजा (वाल) आर. ब्राउन सारे भारत में पाया जाता है. इसे **कै. डेकुसाटा** के स्थान पर प्रयुक्त किया जाता है (Chopra, 471).

C. diffusa (Vahl) R. Br.

कैपाक – देखिए सीवा

कैपाक, भारतीय – देखिए साल्मेलिया

कैपैरिस लिनिअस (कैपैरिडेसी) CAPPARIS Linn.

ले. – काप्पारिस

यह वृक्षों तथा सीधी, लेटी या आरोही झाड़ियों की लगभग 270 जातियों का वंश है जो संसार भर के उष्ण भागों में पाया जाता है. लगभग 40 जातियाँ भारत में पायी जाती हैं जिनमें से कुछ ही आर्थिक महत्व की हैं.

Capparidaceae

कै. ग्राण्डिस लिनिअस C. grandis Linn.

ले. – का. ग्रांडिस

D.E.P., II, 131; C.P., 264; Fl. Br. Ind., I, 176.

म. – कुन्तेल; गु. – वुती; ते. – वरिदण्ड; त. – नक्कुलिजन; क. – रेवापी; मल. – वागुट्टी.

ब्रह्मा – हकवा-क्वा.

यह छोटा वृक्ष है जो राजस्थान, डेकन प्रायद्वीप, ब्रह्मा एवं श्रीलंका में पाया जाता है. इसका तेल जलाने के काम और इसकी छाल एवं पत्तियों का फांट सूजन एवं फुन्सियाँ होने पर पिलाया जाता है (Kirt. & Basu, I, 199).

इसकी लकड़ी सफेद या भूरी-सफेद, टिकाऊ, मध्यम कठोर तथा भारी (भार, 736 किग्रा./घमी.) होती है. यह खराद के लिये उपयुक्त है. तमिलनाडु में इसका उपयोग हल एवं घन्नाई बनाने में किया जाता है.

कै. जिलैनिका लिनिअस सिन. **कै. हारिडा** लिनिअस पुत्र C. zeylanica Linn.

ले. – का. जेइलानिका

D.E.P., II, 131, 134; C.P., 264; Fl. Br. Ind., I, 174.

सं. – करम्भ; हिं. – अरदण्ड; बं. – कलोकेरा; म. – गोविन्दी; ते. – अडोण्डा; त. – आडोन्छाइ; क. – अन्तुण्डि-काइ.

पंजाब – हिस, करविला; श्रीलंका – वेनाची.

यह कँटीली आरोही झाड़ी है जो भारत, श्रीलंका एवं ब्रह्मा के अधिकांश भागों में पाई जाती है.

इसके फलों का अचार बनता है. इसकी पत्तियाँ खुजली को दूर करने, सूजन, फोड़े एवं बवासीर में पुल्टिस के रूप में प्रयुक्त की जाती हैं. जड़ की छाल तिक्त, शामक, क्षुधावर्धक, पित्तोत्सारी, पसीने को रोकने वाली होती है और हैजे में काम आती है. इसमें एक ऐल्कलायड, एक फाइटोस्टेरॉल, एक म्यूसिलेज युक्त पदार्थ एवं जल-विलेय अम्ल पाया जाता है (Kirt. & Basu, I, 201; Chakravarti & Venkatasubban, *J. Annamalai Univ.*, 1932, 1, 176).

इसकी लकड़ी पीली-सफेद, मध्यम कठोर और भारी (भार, 592–752 किग्रा./घमी.) होती है. इसे ईंधन की तरह काम में लाते हैं; इसका कैलोरी मान 5,146 कै., 9,264 ब्रि.थ.इ. है (Krishna & Ramaswami, loc. cit.).

C. horrida Linn. f.

कै. डेसिडुआ एजवर्थ सिन. **कै. एफाइला** रॉथ C. decidua Edgew.

ले. – का. डेसिडुआ

D.E.P., II, 130; C.P., 264; Fl. Br. Ind., I, 174; Kirt. & Basu, Pl. 75.

सं. – करीर, गूढपत्र; हिं. – कुरेल, करेर; म. तथा गु. – केर; ते. – करीरामु; त. – सेंगम; क. – चिप्पुरी.

पंजाब – करील, डेल्हा (फल); सिन्ध – किराल; बलूचिस्तान-कालर; सीमान्त प्रदेश – करील, केर.

यह सघन शाखाओं वाली झाड़ी या छोटा वृक्ष है जिसमें केवल नये प्ररोहों में अल्पसंख्यक छोटी आशुपाती पत्तियाँ होती हैं. यह डेकन प्रायद्वीप, राजस्थान, पंजाब, सिंध एवं सीमान्त प्रदेश के शुष्क भागों में पाया जाता है.

इसके फल छोटे, गोल, गूदेदार और गुलाबी होते हैं फल तथा फूल की कलियाँ खाद्य हैं तथा सामान्यतया अचार के लिए उपयुक्त हैं. इनकी कलियों की तरकारी बनाई जाती है. फल पाचक और कषाय है तथा हृदय रोगों एवं पित्त विकारों में लाभदायक होते हैं. कोमल टहनियाँ एवं पत्तियाँ सूजन एवं जले हुए स्थानों पर पुल्टिस की तरह इस्तेमाल की जाती हैं. इनका चर्वण करने से दाँत का दर्द जाता रहता है. छाल तीक्ष्ण, रेचक, स्वेदकारी, आंत्र कृमिहर है और खाँसी, दमा एवं सूजन आदि रोगों में लाभप्रद है. जड़ एवं जड़ की छाल चरपरी एवं तिक्त होती है जिन्हें अँतरा ज्वर एवं वात रोगों में दिया जाता है (Kirt. & Basu, I, 198; Dalziel, 20).

लकड़ी हल्के पीले रंग से हल्के भूरे रंग की चिकनी, मध्यम कठोर एवं भारी (624–768 किग्रा./घमी.) होती है और इसमें दीमक नहीं लगती. यह औजारों के दस्तों, गाड़ी के पहियों, नाव की शहतीरों तथा अरों के बनाने के काम आती है. इसे ईंधन के रूप में भी काम में लाते हैं. इसका कैलोरी मान, 4,899 कै., 8,818 ब्रि.थ.इ. है [Chowdhury



चित्र 64 – कैपैरिस डेसिडुआ

& Ghosh, *Indian For. Rec.*, *N.S.*, 1946, 4(3), 64; Krishna & Ramaswami. *Indian For. Bull.*, *N.S.*, No. 79, 1932, 13.

कै. स्पिनोसा लिनिअस C. spinosa Linn. केपर वृक्ष

ले. – का. स्पिनोसा

D.E.P., II, 133; C.P., 264; Fl. Br. Ind., I, 173.

हि. – कबार; ते. – कोकिलाक्षमु; क. – मुल्लु. कत्तरि.
पंजाब – कौर, बरार; सिंध – कालवरी.

यह छोटी लेटने वाली झाड़ी है जो डेकन प्रायद्वीप, राजस्थान एवं उत्तर-पश्चिमी भारत के पथरीले एवं पहाड़ी स्थानों पर पाई जाती है.

यूरोप में केपर नाम से बिकने वाला पदार्थ, **कै. स्पिनोसा** की कलियों का अचार होता है. इसका स्वाद तीक्ष्ण और जलन पैदा करने वाला होता है और यह स्कर्वी में गुणकारी होता है. भारत में फूल एवं फलों का ऐसा ही उपयोग होता है. कलियों में एक ग्लाइकोसाइड, रुटिन (ग.बि., 188°) होता है जिसके अम्ल जल-अपघटन से रैमनोस, डेक्सट्रोस एवं क्वेर्सेटिन बनते हैं. रुटिनेस एंजाइम द्वारा जल-अपघटन होने पर इससे रुटिनोस शर्करा, $C_{12}H_{22}O_{10}$, एवं क्वेर्सिटिन प्राप्त होता है. रुटिनोस के अम्ल जल-अपघटन से रैमनोस तथा डेक्सट्रोस मिलते हैं. कलियों में शुष्क भार के आधार पर 4% पेण्टोसन होता है. इन कलियों में रुटिक अम्ल, पेक्टिक अम्ल, लहसुन की गंध वाला एक यौगिक, एक वाष्पशील वमनकारी अवयव एवं सैपोनिन भी होता है. केपर के बीजों में लगभग 34–36% हल्का पीला तेल रहता है. इस तेल के घटक अम्ल हैं : ओलीक अम्ल, 42–46; स्टीऐरिक अम्ल, 7–9; तथा लिनोलीक अम्ल, 45–51%; अम्ल मान, 7·1–44·1; तथा आयो. मान, 115–125. इसकी छाल तिक्त, रेचक, मूत्रल, कफोत्सारक, आर्तवसारी एवं पौष्टिक होती है. इसका उपयोग गठिया, पक्षाघात, दांत के दर्द, यकृत विकार, कानग्रन्थि रोग तथा तिल्ली आदि रोगों में किया जाता है. इसकी कुचली हुई पत्तियाँ गठिया होने पर पुल्टिस की तरह बाँधी जाती हैं (Winton & Winton, IV, 285; Wehmer, I, 391; Hilditch, 1947, 158; *Chem. Abstr.*, 1941, **35**, 6822; U.S.D., loc. cit.; Kirt. & Basu, I, 196).

बकरियाँ और भेड़ें इसकी पत्तियों एवं फलों को बड़े ही चाव से खाती हैं. पत्तियों में आर्द्रता, 69·6; प्रोटीन, 13·8; ईथर निष्कर्ष, 1·5; अशोधित तन्तु, 7·9; नाइट्रोजनरहित निष्कर्ष, 53·7; अविलेय राख, 5·5; एवं विलेय राख, 17·7% होती है (*Jt Publ. imp. agric. Bur.*, No. 10, 1947, 196).

कै. ब्रेविस्पिना द कन्दोल (सिन. **कै. जेलैनिका** हूकर पुत्र तथा थामसन नान लिनिअस) के हरे फलों का अचार पड़ता है. **कै. हाइनिआना** वालिश की पत्तियाँ गठिया रोग में लाभप्रद हैं. इसके फूल रेचक होते हैं. ये दोनों जातियाँ श्रीलंका एवं दक्षिण भारत में पायी जाती हैं.

कै. माइक्राकैन्था द कन्दोल एक विशाल झाड़ी या एक छोटा वृक्ष है जो ब्रह्मा में पाया जाता है. इसका उपयोग दमा, फेफड़े की सूजन एवं हृदय पीड़ा में किया जाता है. इसकी पत्तियाँ और फल सूजन पर पुल्टिस बाँधने के काम आते हैं. जड़ मूत्रल होती है. इसके बैंगनी, गोल फल पकने पर खाये जाते हैं और मीठे एवं सुगंधित होते हैं. कच्चे फलों को खाना ठीक नहीं है (Burkill, I, 444).

कै. सेपियारिया लिनिअस एक विशाल आरोही झाड़ी है जो भारत, ब्रह्मा, श्रीलंका तथा अंडमान के शुष्क भागों में पाई जाती है. यह ज्वरहारी, रूपान्तरक एवं पौष्टिक होती है तथा त्वचा-रोगों में लाभदायक है. यह कँटीली बाड़ बनाने के लिये भी उपयोगी है (Kirt. & Basu, I, 200).

C. micracantha DC.: *C. sepiaria* Linn.

कैप्सिकम लिनिअस (सोलेनेसी) CAPSICUM Linn.

ले. – कास्पिकूम

यह बूटियों का लघु वंश कभी-कभी बढ़कर झाड़ियों के समान हो जाता है. इसका मूल स्थान उष्णकटिबंधी अमेरिका है. इसकी खेती समस्त उष्णकटिबंधीय क्षेत्रों में की जाती है. कैप्सिकम भारत के बहुत से प्रदेशों में विशेषकर तमिलनाडु, बिहार, आन्ध्र प्रदेश और महाराष्ट्र में तथा कुछ-कुछ उत्तरी भारत के मैदानों में पैदा किया जाता है. इसे पहाड़ों पर भी 1,950 मी. की ऊँचाई तक उगाया जाता है.

वनस्पतिशास्त्रियों ने इस वंश को कई प्रकार से वर्गीकृत किया है. अनेक विशेषज्ञों ने सिर्फ दो जातियाँ ही मानी हैं: **कै. एनुअम** लिनिअस (एकवर्षी, पर्णकक्ष में एक पुष्प होता है) एवं **कै. फ्रूटेसेन्स** लिनिअस (बहुवर्षी, पर्णकक्ष में पुष्पों के गुच्छे). इसकी बहुत-सी किस्में हैं जो आकार, आकृति और फलों की तीक्ष्णता में अन्तर दिखाती हैं. कच्चे फल सामान्यतया हरे होते हैं किन्तु कुछ प्ररूपों में क्रीम, हरे, पीले, नारंगी, बैंजनी या बैंजनी-काले रंग वाले भी होते हैं. पके फल लाल होते हैं किन्तु कुछ प्ररूपों में वे पीले या नारंगी रंग के होते हैं. पतले और अपेक्षाकृत चिकने फलावरणों वाले अत्यधिक तीक्ष्ण फलों का उपयोग मसाले के रूप में, तेज चटनी बनाने में तथा भेषजों में किया जाता है. इनके व्यापारिक नाम लौंग मिर्च, लाल मिर्च, और सूखी मिर्च हैं. और मध्यम तीक्ष्ण तथा अतीक्ष्ण फल, जिनके आवरण मोटे होते हैं, हरे रहने पर तरकारियों को सुरस बनाने और अचार रखने के काम आते हैं. *Solandceae*

कै. एनुअम लिनिअस वैर. एक्यूमिनेटम फिंगरहूथ
C. annuum Linn.

ले.—का. अन्नूम

हि.—लाल मिर्च, गाच मरिच; बं.—लंकामोरिच, लाल मोरिच; ते.—मिरप-काय; त.—मिलागाय; क.—मेणसिन काइ; मल.—मुलागु.

इस किस्म की खेती बड़े विस्तार से भारत भर में की जाती है और यह व्यापार की सूखी मिर्च का प्रमुख स्रोत है. फल चमकीले लाल, पतले और पतली भित्ति वाले होते हैं.

मिर्च की खेती अधिकतर वर्षा ऋतु में की जाती है किन्तु कम वर्षा वाले क्षेत्रों में इसे सिंचाई द्वारा पैदा किया जाता है. गंगा के मैदान में यह शीतकालीन फसल है. इसका रोपण सितम्बर में किया जाता है और जनवरी–फरवरी में फसल ले ली जाती है. पंजाब के कुछ भागों में पाले से बचाने के लिए इसे शीत ऋतु के अंत (मार्च–अप्रैल) में बोते हैं और सितम्बर–दिसम्बर में काटते हैं. महाराष्ट्र, डेकन और तमिलनाडु में जून या जुलाई में इसके बीजों को नर्सरी में बोया जाता है, पौधों का रोपण अगस्त–सितम्बर में किया जाता है और 3–4 माह बाद फसल ले ली जाती है (Shaw & Khan, *Mem. Dep. Agric, India, Bot.*, 1928, **16**, 59; Deshpande, *Indian Fmg*, 1943, 4, 188).

फसल कई प्रकार की मिट्टियों में उगाई जाती है. वर्षा की फसल के लिए अच्छे जल-निकास वाली, नम, भारी मिट्टी चुनी जाती है. मामूली लाल दुमट में और यदि जलाक्रान्त न हो तो काली एवं चिकनी मिट्टी में भी इसे पैदा किया जा सकता है. अधिक चूना वाली मिट्टी में अधिक फसल होती है. जल-निकास ठीक से होना चाहिए. थोड़े समय के लिए भी जलाक्रान्त स्थिति हानिकारक होती है. लाल मिर्च को कभी-कभी धान, मक्का, बाजरा और मूंगफली इत्यादि के साथ बोया जाता है, किन्तु इनसे हेर-फेर करके अकेली फसल बोने का रिवाज है. बैंगन और आलू के साथ हेर-फेर नहीं करना चाहिए क्योंकि ये उसी कुल के अन्तर्गत आते हैं और समान नाशकजीवों और बीमारियों से ग्रस्त होते हैं. ऐसा हेर-फेर भूमि उर्वरता की दृष्टि से भी वांछनीय नहीं है.

सर्वप्रथम नर्सरी में पौधें उगाई जाती हैं. क्यारियाँ सावधानी से 22·5 सेंमी. गहरी खोदकर तैयार की जाती हैं और प्रति वर्ग मीटर में 10–15 किग्रा. के हिसाब से कम्पोस्ट खाद मिलायी जाती है. तम्बाकू की खाद सर्वश्रेष्ठ मानी गयी है. चुनी हुई फलियों से प्राप्त बीज लकड़ी की राख के साथ मिलाकर प्रति वर्ग मीटर 5–7 ग्रा. के हिसाब से छिटकवां बोये जाते हैं. लगभग 1·5 किग्रा. बीजों से इतनी पौधें प्राप्त होती है जो एक हेक्टर भूमि में रोपी जा सकती हैं. बीजों में रहने वाले संक्रमणों को दूर करने के लिए बीजों को पहले पानी में भिगो कर फिर निकाल कर कापर सल्फेट विलयन (1·25%) में 8 मिनट तक रखा जाता है और बुझे हुए चूने की धूल छिड़क दी जाती है. बोने के पश्चात् मिट्टी को हल्का दबाकर पानी से सींच देते हैं और फिर घास-फूस से ढँक देते हैं. फिर प्रतिदिन पानी दिया जाता है. लगभग एक सप्ताह बाद अंकुरण हो जाने के 2–3 दिन बाद घास-फूस को हटा देते हैं. पौधे तेजी से बढ़ें इसलिए अमोनियम सल्फेट का घोल (6 ग्रा./ली.) डाले जाने की राय दी जाती है. गंधक या ताम्र कवकनाशी के छिड़काव से पर्ण चित्ती रोग पर नियंत्रण किया जा सकता है. कभी-कभी रोपण के 10 दिन पहले छोटे पौधों का सिरा चूंट दिया जाता है जिससे पार्श्व शाखाएँ बढ़ सकें (Gopalaratnam, *Madras agric. J.*, 1933, **21**, 7; Paul, *Trop. Agriculturist*, 1940, 94, 271).

खेत को जोत कर उसमें कम्पोस्ट या सड़ी हुई गोबर की खाद डाली जाती है. बहुत से प्रदेशों में मिर्च बोने के पहले खेत में मेड़ें बैठाई जाती हैं. 60–90 सेंमी. की दूरी पर कूंड बना कर और 4–5 सप्ताह पुरानी पौधों को एक साथ 3 या 4 के समूहों में कूंड के एक ही ओर 60–90 सेंमी. की दूरी पर रोपा जाता है और मिट्टी चढ़ाकर छोटी-सी मेंड़ बना दी जाती है. नाइट्रोजन युक्त उर्वरकों विशेषकर नाइट्रेट और अमोनियम लवणों के प्रयोग से अधिक उपज होती है किन्तु ऐसे उर्वरकों से फल जल्दी पक जाते हैं. फॉस्फेट और पोटैश का उपज पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता. जब तक पौधे आत्मनिर्भर नहीं हो जाते तब तक खेत की रोजाना सिंचाई की जाती है. बाद में सप्ताह में एक बार सिंचाई करते हैं (Joachim & Paul, *Trop. Agriculturist*, 1938, 91, 217).

जब पौधे 2½–3½ माह के हो जाते हैं तो फूल लगने लगते हैं और लगभग 3 महीनों तक फूलते रहते हैं. इस काल में ओस और भारी वर्षा घातक होती है. इससे कलियाँ तथा छोटे फल झड़ जाते हैं. इस समय प्रति हेक्टर 150 किग्रा. की दर से अमोनियम सल्फेट खाद बिखेरने से लाभ होता है.

यद्यपि सूखी मिर्च के लिये फसल उगाई जाती है किन्तु प्रारम्भ में हरे मिर्च तोड़ लिये जाते हैं जिससे अधिक फूल लगें. पके या अधपके फलों को 5–10 या कभी-कभी 20 दिन के अन्तर पर तोड़ा जाता है. 3–4 माह के भीतर 6–10 बार चुनाई की जाती है. फल हाथ से तोड़े जाते हैं. रोगग्रस्त तथा न बढ़ने वाले फलों को छोड़ दिया जाता है. एकत्र करने के बाद फलों को घर के भीतर ढेर लगाकर 2–3 दिन तक पड़ा

रहने देते हैं जिससे अधपके फल भी पक जाएँ. इससे सारे एकत्र किये गये फल एक-जैसे लाल रंग के हो जाते हैं. यदि अंशतः पके फलों को बिना उपचारित किये सुखा लिया जाता है तो उनमें सफेद धब्बे पड़ जाते हैं जिससे सूखी मिर्चों का बाजार-भाव घट जाता है. ढेरी में लगे फलों को कठोर सूखी जमीन पर या सीमेण्ट के फर्श पर फैला कर धूप में सुखा लिया जाता है. दो दिन बाद जब फल गीले ही रहें तभी रौंद कर या बेलन चलाकर उन्हें चपटा कर दिया जाता है. इससे बोरों में अधिक मात्रा अँट सकती है और परिवहन तथा संग्रहण में सुविधा होती है. जलवायु की दशा के अनुसार इन्हें सूखने में 3 से 15 दिन तक लग सकते हैं. इससे जो उपलब्धि होती है वह ताजे भार की 25–30% होती है. कभी-कभी मिर्चों को चमकदार बनाने के लिए उन पर **मधूका लांगीफोलिया** (महुआ) का तेल पोत दिया जाता है. नारियल और जिञ्जेली का भूल कर भी इस्तेमाल नहीं करना चाहिए क्योंकि इनसे फफूँद लग जाती है और मिर्चों का रंग उड़ जाता है.

रोग तथा नाशकजीव : पर्ण कुंचन मिर्चों का गंभीर रोग है. इसके लक्षण हैं: पौधे के आकार में घटती, पत्ती का अपाक्ष और अभ्यक्ष कुंचन और अन्तःशिरीय क्षेत्रों का आकुंचन, कभी-कभी शीर्षस्थ मेरिस्टेम का ऊतकक्षय से संलग्न हो जाना. गम्भीर आक्रमण होने पर पत्तियाँ झड़ जाती हैं और पौधा बारहसिंघे के सिर की तरह दिखाई देता है. फल या तो कुंठित हो जाते हैं या पतले सिरों पर टेढ़े हो जाते हैं. ग्रस्त पौधों पर थ्रिप, ऐफ़िड तथा माइट दिखाई पड़ते हैं.

सिरटोथ्रिप डारसैलिस नामक कीट या तो प्रत्यक्ष रूप से अथवा वाइरस रोग वाहक के रूप में, रोग का कारण माना जाता है. यह कीट गुण्टूर और तमिलनाडु राज्य के अन्य क्षेत्रों में पाया जाता है. अधिक, किन्तु एक-जैसी होने वाली वर्षा से कीटों का आक्रमण थमता है. स्पर्श कीट नाशकों, यथा निकोटीन सल्फेट और मृदु साबुन का छिड़काव कीटों को कम करने में प्रभावशाली होता है. खली और अमोनियम सल्फेट डालने से पौधों की बाढ़ को प्रोत्साहित करके भी पौधों को ग्रस्त होने से रोका जा सकता है. एन.पी. 46 ए एवं 390 विभेद, जो कि तमिलनाडु के कृषि विभाग द्वारा विकसित किए गए ह, कीड़ों के प्रतिरोधी माने जाते हैं (Paul & Fernando, *Trop. Agriculturist*, 1939, **92**, 23; Ramakrishna Ayyar *et al.*, *Madras agric. J.*, **1935**, **23** 403; Park & Fernando, *Trop. Agriculturist*, **1938**, **91**, 263; Deshpande, loc. cit.).

खेत में पौधों पर मेलोलान्थिड भृंग के काकचेफर-सुंडों (ग्रबों) का आक्रमण होता है. वे मिट्टी में बिल बनाते हैं और बढ़ते पौधे को जड़ के ऊपर से काट देते हैं. सुंडों को निकाल कर उन्हें नष्ट किया जा सकता है (Gopalaratnam, loc. cit.).

मिर्चों का एक रोग फल-विगलन है जो **कोलिटोट्राइकम कैप्सिकाई** (सिडो) बटलर एवं विस्बी (सिन. **वर्मीकुलेरिया कैप्सिकाई** सिडो) कवक द्वारा उत्पन्न होता है. इससे फलों की तीक्ष्णता जाती रहती है, वे पीले पड़ जाते हैं, सड़ने लगते हैं, कुछ भाग धँस जाते हैं जिनके संकेन्द्री वृत्तों में व्यवस्थित काले बिन्दु दिखने लगते हैं. यही कवक एक प्रकार का डाईबैक उत्पन्न करता है, जिसका आक्रमण पौधे के शीर्ष से आरम्भ होकर क्रमशः नीचे की ओर बढ़ता जाता है और शाखाओं तक को सुखा देता है. नमी, छाया और अधिक ओस से रोग का प्रकोप बढ़ता है. रोकथाम के लिए बोर्डो मिश्रण के छिड़काव की सलाह दी जाती है (Yegna Narayan Aiyer, 281).

ऐंथ्राक्नोज़ (रुक्ष रोग) **कोलिटोट्राइकम नाइग्रम** इलियट और हाल्सटेड, एक अन्य रोग है जो छोटे और अपरिपक्व फलों पर आक्रमण करके उन्हें गिरा देता है. बोर्डो मिश्रण का छिड़काव इस पर प्रभाव नहीं दिखाता. इसे रोकने का एक ही उपाय है कि सभी ग्रस्त फल तोड़कर नष्ट कर दिये जाएँ (Yegna Narayan Aiyer, loc. cit.).

लाल मिर्च में लगने वाले अन्य रोग इस प्रकार हैं: क्लेद गलन रोग **पिथियम** जाति के कवक द्वारा उत्पन्न होता है, इसका आक्रमण बीजांकुरों पर होता है. स्तम्भमूलसंधि विगलन, **कार्टिसियम राल्फसाइ** (सक्कारडो) कुर्जी (सिन. **स्क्लेरोशियम राल्फसाइ** सक्कारडो) द्वारा होता है; पर्णधब्बा **सरकोस्पोरा कैप्सिकाई** हील्ड एवं वुल्फ, द्वारा उत्पन्न है; चूर्ण फफूँदी, **आइडियोप्सिस टारिका** (लेविल्ले) समन द्वारा उत्पन्न होते हैं. फलों का एक रोग **ग्लोइयोस्पोरियम पाइपिरेटम** इलियट एवं इव. से उत्पन्न होता है और जीवाण्विक मुरझान **स्युडोमोनास सोलेनेसिएरम** ई. एफ. स्मिथ (सिन. **बैसिलस सोलेनेसिएरम ई. एफ. स्मिथ**) से उत्पन्न होती है (Paul, *Trop. Agriculturist*, **1940**, **94**, 332).

पतली बाह्य त्वचा वाली, कम बीजों और मजबूत वृन्त वाली, मध्यम आकार की चमकीले लाल रंग की चमकदार और अधिक तीखी, सूखी मिर्चों का बाजार-भाव ऊँचा होता है. वर्षा-पोषी फसल से सूखी मिर्चों की लगभग 250 किग्रा. प्रति हेक्टर उपज मिलती है, जबकि सिंचित फसल से 6 गुनी अधिक उपज प्राप्त होती है. वर्षा-पोषी फसल से अधिक से अधिक 750 किग्रा. प्रति हेक्टर और सिंचित फसल से 2,480 किग्रा. प्रति हेक्टर उपज की सूचना है.

सूखी मिर्च व्यापार की प्रमुख सामग्री है और देश भर में पैदा की जाती है. देश में सूखी मिर्च की बड़ी मात्रा में खपत होती है. इसका निर्यात भी अधिक होता है. प्रमुख निर्यातक देश श्रीलंका और स्ट्रेट्स सेटिलमेण्ट हैं.

अन्य किस्में : नेपाल पैपर वैर. **एक्यूमिनेटम** का एक विशेष रूप है जो नेपाल में पैदा किया जाता है. इसके फल आकार में छोटे, विशिष्ट स्वादयुक्त और अत्यन्त तीक्ष्ण होते हैं. यह कभी-कभी भारत में पहाड़ियों पर उगाया जाता है. वैर. **ग्रोसम** सेण्टनर घंटी मिर्च (बेल पैपर) या मीठी मिर्च कहलाती है. इसके फल आकार में बड़े (5–10 सेंमी.) और छोटे (बैल की नाक जैसे) अथवा लम्बे (हाथी सूंड जैसे) होते हैं. बाह्य त्वचा मोटी और तीक्ष्ण होती है. यह किस्म मुख्यतया तरकारी या सलाद या अचार की तरह उपयोग में लाई जाती है. यह ठंडी जलवायु में फलती-फूलती है और इसकी खेती सीमित क्षेत्र में पहाड़ियों पर की जाती है. वैर. **लौंगम** सेण्टनर हरी मिर्च की खेती मुख्य रूप से हरे कच्चे फलों के लिए की जाती है. इसकी बाह्य त्वचा काफी मोटी होती है. यह शुष्क मिर्च की अपेक्षा कम तीक्ष्ण होती है. कभी-कभी इस किस्म के पके फलों को सुखा कर उन्हें सूखी मिर्च की तरह प्रयुक्त किया

जाता है. भारत में उगने वाली न्यून महत्व की किस्में इस प्रकार हैं: वैर. **कोनोइडीज** ग्राइरिस (टेबेस्को), वैर. **सेरासीफोर्मी** ग्राइरिस (चेरी मिर्च) और वैर. **ग्रॉसम** पाल (पिमेण्टो). अन्तिम किस्म को स्पेनिश मिर्च भी कहते हैं. यह हल्की तीक्ष्ण और मोटी बाह्य त्वचा वाली होती है और डिब्बाबन्दी के लिए सर्वश्रेष्ठ मानी जाती है (Thompson, 484).

रासायनिक संघटन–पोषण अनुसंधान प्रयोगशाला, कुन्नूर में बाजारी नमूनों का विश्लेषण करने पर निम्नांकित मान प्राप्त हुए:

हरी मिर्च–आर्द्रता, 82·6; प्रोटीन, 2·9; वसा (ईथर निष्कर्ष), 0·6; कार्बोहाइड्रेट, 6·1; रेशा, 6·8; खनिज पदार्थ, 1·0; कैल्सियम, 0·03; फॉस्फोरस, 0·08; और लोहा, 0·0012%; विटामिन सी, 111 मिग्रा.; और विटामिन ए के रूप में परिगणित कैरोटीन, 454 अं.इ. प्रति 100 ग्रा. **शुष्क मिर्च**–आर्द्रता, 10·0; प्रोटीन, 15·9; वसा (ईथर निष्कर्ष), 6.2; कार्बोहाइड्रेट, 31.6; रेशा, 30·2; खनिज पदार्थ, 6.1; कैल्सियम, 0.16; फॉस्फोरस, 0.37; लोहा, 0·0023%; विटामिन सी, 50 मिग्रा.; और विटामिन ए के रूप में कैरोटीन, 576 अं.इ. प्रति 100 ग्रा. 100 ग्रा. मिर्च में लगभग 2·4 मिग्रा. टोकोफेराल (विटामिन ई) रहता है. इसमें ऐलुमिनियम, बैरियम, ताम्र, लौह, लिथियम, मैंगनीज़ सिलिकन और टाइटेनियम की लेश मात्रायें सूचित की गई हैं. शुष्क मिर्चों के चूर्ण से प्राप्त वसीय तेल (9–13%) लाल और श्यान तथा तीखे स्वाद का होता है. उसके स्थिरांक इस प्रकार हैं: $n^{20°}$, 1·4812–1·4836; अम्ल मान, 15·9–26·0; साबु. मान, 184–195; आयो. मान, 131·9–141·6; एस्टर मान, 164·4–173·3. शुष्क फलों के भाप आसवन से 0·16–0·39% वाष्पशील तेल प्राप्त होता है. बीजों में आर्द्रता, 6·25, तेल, 26·1; आर्द्रता एवं तेलरहित चूर्ण में प्रोटीन, 28·92; कार्बोहाइड्रेट, 36·37; रेशा, 29·1; राख, 5·61% होती है. बीजों से प्राप्त वसीय तेलों के स्थिरांक इस प्रकार हैं: आ.घ.$^{24.5°}_{25°}$, 0·918; $n^{25°}$, 1·4738; अम्ल मान, 2·2; साबु. मान, 192; आयो. मान (हैनस), 135·5; ऐसीटिल संख्या, 7; और असाबु. पदार्थ, 1·7% (*Hlth Bull.*, 1941, No. 23, 36; *Chem. Abstr.*, 1947, **41**, 5643, 5649; 1940, **34**, 539, Bush, *J. Amer. Chem. Soc.*, 1936, 58, 1821).

मिर्चों में तीक्ष्णता, कैप्सैसिन, $C_{18}H_{27}O_3N$ (ग. वि., 64·5–65°) के कारण होती है जो 3-हाइड्रॉक्सि-4-मेथाक्सि बेंजाइल ऐमीन तथा डिकाइलेनिक अम्ल का संघनन उत्पाद है. व्यापारिक नमूनों में कैप्सैसिन की सांद्रता लगभग 0·1% होती है. कैप्सैसिन को गर्म करने पर एक अत्यन्त उत्तेजक वाष्प निकलती है. यदि तनूकरण द्वारा 10 लाख भाग जल में 1 भाग कैप्सैसिन रहे तो भी उसकी तीक्ष्णता बनी रहती है. मिर्चों के विभिन्न नमूनों का विश्लेषण करने पर देखा गया है कि कैप्सैसिन की अधिकतम सान्द्रता आन्तरिक भित्तियों में पाई जाती है. यह तीक्ष्णता न तो बीजों में होती है और न ही छिलकों में. मिर्चों से कैप्सैसिन प्राप्त करने के लिए इसे सल्फ्यूरिक अम्ल की उपस्थिति में आइसोप्रोपिल ऐल्कोहल से निष्कर्षित किया जाता है (Paul, *Trop. Agriculturist*, 1940, 94, 271; Fuller, 401; *Chem. Abstr.*, 1937, **31**, 8833; 1942, **36**, 3573).

पके फलों के रंजक पदार्थ में, कैप्सैन्थिन, कैप्सोरुबिन, जिआजैन्थिन, ल्यूटाइन, क्रिप्टोजैन्थिन; α- तथा β-कैरोटीन और कुछ अज्ञात जैन्थोफिल रहते हैं. ऐल्कोहली पोटैश से क्रिया करने पर कैप्सैन्थिन से सिट्रॉरिन प्राप्त होता है जो नारंगी के छिलके से निकाले हुए यौगिक के समान होता है. पिमेण्टो उत्पादों में कैप्सैन्थिन की सान्द्रता 0·15 से 0·3% तक रहती है जो पक्वता, तैयार करने की विधि एवं संग्रह की अवधि पर निर्भर करती है. पके कैप्सिकम में समस्त वर्णक की मात्रा 4·07–5·4 ग्रा. प्रति किग्रा. होती है. एक वर्ष के संग्रहण के पश्चात् वर्णक की मात्रा में लगभग 15% तक की कमी देखी गई है (Wehmer, suppl., 40; *Chem. Abstr.*, 1935, **29**, 4795; 1938, **32**, 181, 6351).

कैप्सिकम में विटामिन सी की मात्रा उसकी किस्म, प्राप्ति स्थान और फल की परिपक्वता के अनुसार बदलती रहती है. **पैप्रिका** वैर. **लांगम**, विटामिन सी का एक प्रसिद्ध स्रोत है. हंगेरियन पैप्रिका में प्रति 100 ग्रा. में 280 मिग्रा. और पेरुवियन पैप्रिका में 225 मिग्रा. विटामिन सी रहता है. रोथेनहीम, महमूद और काण्टेज ने बम्बई के समीप पैदा होने वाली विभिन्न प्रकार की मिर्चों पर परीक्षण करके यह सूचित किया है कि विटामिन सी की मात्रा न केवल किस्म के अनुसार अत्यधिक बदलती है बल्कि उसी किस्म के विभिन्न नमूनों में भी बदलती है. यह अन्तर प्रति 100 ग्रा. में 42–168 मिग्रा. तक देखा गया है (*Chem. Abstr.*, 1942, **36**, 3277, 5575; *J. Indian Chem. Soc.*, 1938, **15**, 15).

उपयोग–भारत में सूखी मिर्च अधिकतर मसाले के रूप में प्रयुक्त होती है. सूखी मिर्च को अन्य मसालों के साथ, जैसे जीरा, धनिया, और हल्दी के साथ पीसकर सालन-चूर्ण तैयार किया जाता है.

मिर्च कटिवेदना, तंत्रिकार्ति और आमवात के विकार में प्रतिक्षोभक की भाँति उपयोग में लाई जाती है. खाने पर मिर्च शक्तिवर्द्धक और वातसारी होती है और शक्तिहीनता से उत्पन्न बदहजमी में विशेषतया उपयोगी होती है. जठरीय प्रतिश्याय में यह प्रतिकूल प्रभाव उत्पन्न करती है. अत्यधिक प्रयोग से इससे जठरान्त्रशोथ उत्पन्न हो सकता है. कभी-कभी इसे टैनिन या रोज गरारों में मिलाकर शिथिल गलशोथ और ग्रसनी शोथ में कुल्ली की तरह प्रयोग किया जाता है. इसका प्रयोग चूर्ण के रूप में, टिंचर, लेप, पलस्तर, मलहम, औषधीय ऊन आदि के रूप में किया जाता है. इन सम्पाकों में से कुछ में, जैसे कि **ओलेरेसिना कैप्सिकाई** बी.पी.सी. मिन. कैप्सिसिन में मिर्च के ईथर निष्कर्ष का ऐल्कोहल में विलेय अंश एक क्रियाशील संघटक होता है. भेषजी की आवश्यकताएँ मुख्यतया लाल मिर्च (**कै. फ्रूटेसेन्स**) की अत्यन्त तीक्ष्ण किस्मों से प्राप्त होती है. यह सियरा लीओन, न्यासालैंड और जंजीबार में पैदा की जाती है. इसके स्थान पर व्यापार में भारतीय लाल मिर्च, जो बम्बई लाल मिर्च के नाम से प्रसिद्ध है, उपयोग में लाई जाती है (Martindale, I, 360; B.P.C., 278; Trease, 501).

var. *acuminatum* Fingh.; *Madhuca longifolia*; *Scirtothrips dorsalis* H.; *Colletotrichum capsici* (Syd.) Butler & Bisby; *Vermicularia capsici* Syd.; *Colletotrichum nigrum* Ell. & Halst.; *Pythium* sp.; *Corticium rolfsii* (Sacc.) Curzi syn. *Sclerotium rolfsii* Sacc.; *Cercospora capsici* Heald & Wolf; *Oidiopsis taurica* (Lev.) Salm.; *Gloeosporium piperatum* Ell. & Ev.; *Pseudomonas solanacearum* E.F. Smith; *Bacillus solanacearum* E.F. Smith; var. *grossum* Sendt.; var. *longum* Sendt.; var. *conoides* Irish (Tabasco); var. *cerasiforme* Irish; var. *cuneatum* Paul (Pimiento); *Oleoresina capsici* B.P.C. syn. *Capsicin*

कै. फ्रूटेसेन्स लिनिअस सिन. **कै. मिनिमम** रॉक्सवर्ग
C. frutescens Linn. वर्ड चिली (लौंग मिर्च)

ले.—का. फ्रूटेसेंस
D.E.P., II, 137, 139; Fl. Br. Ind., IV, 239.

लौंग मिर्च 0·9–1·2 मी. ऊँचा बहुवर्षीय पौधा है. इसमें छोटे, 12–15 मिमी. लम्बे, शंकु के आकार वाले फल लगते हैं जो अत्यन्त तीक्ष्ण होते हैं. उष्णकटिबंधों में यह जंगली अथवा अर्ध जंगली अवस्था में उगता है. खेती करने पर एक या दो वर्ष में इसका ह्रास होने लगता है. वैर. **बेकेटम** आइरिश (चिली पिक्विन) उद्यानों का एक शोभाकारी पादप है.

लौंग मिर्च की तीक्ष्णता उसमें प्राप्य कैप्सैसिन की अत्यधिक मात्रा के कारण होती है जो प्रायः 0·2% तक रहती है और कभी-कभी यह 1% तक हो जाती है. लौंग मिर्च ब्रिटिश फार्माकोपिया का अधिकृत नाम है. इसकी पूर्ति प्रमुखतः सियरा लिओन तथा जंजीबार से होती है.

कैनी मिर्च सूखी, महीन पिसी हुई, लौंग मिर्च में लवण (25%) मिलाकर तैयार की जाती है. लौंग मिर्च का उपयोग मिर्च की चटनी और टेवेस्को चटनी जैसी तेज चटनियों के बनाने में किया जाता है. वेस्ट इंडीज में मन्दरम नामक एक क्षुवावर्धक वस्तु तैयार की जाती है जो मसले हुए लौंग मिर्च के फलों में ककड़ी, छोटी प्याज, नीबू का रस और मदिरा मिलाकर बनाई जाती है.
var *baccatum*

कैप्सेला मेडिकस (क्रूसीफेरी) CAPSELLA Medic.

ले.—काप्सेल्ला

यह उत्तरी तथा दक्षिणी शीतोष्ण भागों में पाई जाने वाली एकवर्षी या बहुवर्षी बूटियों का वंश है. अभी तक इस वंश में लगभग 10 जातियाँ सम्मिलित की जाती थी परन्तु बहुत-सी किस्मों को जातियों का पद दे देने के कारण अब यह संख्या 150 तक पहुँच गई है.
Cruciferae

कै. बर्सा-पेस्टोरिस (लिनिअस) C. bursa-pastoris Linn.
मोएंक शेफर्ड्स पर्स

ले.—का. बूर्सा-पास्टोरिस
D.E.P., II, 134; Fl. Br. Ind., I, 159.

यह एक अपतृण है जो भारत के समस्त शीतोष्ण प्रदेशों के कृष्ट भू-भागों में, विशेषकर उत्तर-पश्चिम हिमालय में पाया जाता है. इस जाति के अनेक पौधे कवकों यथा, **सिस्टोपस कैंडीडस** लेविल्ले एवं **पेरोनोस्पोरा पैरेसिटिका** टुलास्ने द्वारा ग्रस्त हो जाते हैं.



चित्र 65—कैप्सेला बर्सा-पेस्टोरिस

यह पौधा तिक्त एवं तीक्ष्ण होता है. तरल सत्व के रूप में अन्तःशिरा या अन्तःमाँसपेशियों में इंजेक्शन देने पर इसमें विभिन्न प्रकार के रक्त स्रावों को वश में करने की अपार क्षमता होती है. इसका उपयोग अतिसार में कषाय के रूप में एवं जलशोथ में मूत्रल के रूप में किया जाता है. सूखे या हरे पौधों का निष्कर्ष गिनीपिग के गर्भाशय को बुरी तरह से संकुचित करने वाला होता है. संभवतः ऐसीटिलकोलीन की उपस्थिति के कारण यह रक्त दाब को कम कर देता है. इसका उपयोग प्रतिस्कर्वी के रूप में भी किया जाता है. ताजे रस की 70–140 मिली. या सूखे पौधे के तरल सत्व की 15–30 बूंदें उचित खुराक मानी गई है (*Chem. Abstr.*, 1941, **35**, 8130; Caius, *J. Bombay nat. Hist. Soc.*, 1939, **40**, 701; *Chem. Abstr.*, 1928, **22**, 2003; U.S.D., 1383).

पौधे में एक ऐल्कलायड, बरसिन (जो कोलीन जैसा होता है या उसके निकटस्थ क्षारक की तरह होता है), कोलीन, डाइ-ओस्मिन, थायोमायनिक, सिट्रिक, मैलिक, फ्यूमैरिक, टारटैरिक, प्रोटोकैटेचुइक, टैनिक एवं बरसीनिक अम्ल, इनासिटाल, सैपोनिन, एक मोम तथा एक बाष्पशील गंधक युक्त यौगिक पाये जाते हैं. टायरामीन तथा हिस्टामीन की उपस्थिति भी सूचित की गई है परंतु यह निश्चित नहीं हो पाया कि इसे स्वयं पौधे उत्पन्न करते हैं या वे कवक करते हैं जिनसे पौधा साधारणतः ग्रस्त होता रहता है. पौधे के ऐल्कोहलीय निष्कर्ष से एक गंधक युक्त ग्लाइकोसाइड पृथक् किया गया है. नई हरी पत्तियों में ऐस्कार्बिक अम्ल पाया जाता है (350–550 मिग्रा. प्रति 100 ग्राम शुष्क भार). हरे भागों की फलभित्ति एवं बाह्यत्वचा में रैम्नोग्लाइकोसाइड और हिस्सोपिन, पाया जाता है. बीजों से लगभग 35% वसीय तेल प्राप्त होता है जिसमें लिनोलीक अम्ल, एक ऑक्सि अम्ल (ग.बि., 117°) और थोड़ा एलिल मस्टर्ड आयल रहता है. तेल की निम्नांकित विशिष्टताएँ हैं: आ.घ.$^{15°}$, 0·9222; साबु. मान, 162·46; आयो. मान, 128·1 (Wehmer, I, 413; U.S.D., loc. cit.; *Chem. Abstr.*, 1932, **26**, 6063; 1947, **41**, 6935; Wehmer, suppl., 40; *Chem. Abstr.*, 1931, **25**, 2858).

Cystopus candidus Lev.; *Peronospora parasitica* Tul.

कैमीराप्स लिनिअस (पामी) CHAMAEROPS Linn.

ले. – कामेरोप्स

Blatter, 44.

यह दो या तीन जातियों का वंश है जिनमें क. **ह्यूमिलिस** लिनिअस, ड्वार्फ फ़ैन पाम अथवा हेयर पाम भी सम्मिलित है जो अत्यन्त विविधतापूर्ण एवं पंखाकार पत्तियों वाली जाति है. यह यूरोप एवं उत्तरी अफ्रीका की देशज है. यह पाम भारत में शोभाकारी वृक्ष के रूप में लगाया जाता है. इसके फल कषाय होते हैं. तने से एक प्रकार का मुड़ा रेशा निकाला जाता है जो पर्दे, दरियों तथा नावों की पाल आदि बनाने के काम आता है. ये रेशे मजबूत और लचीले होते हैं तथा फ्लैक्स काटन बनाने के काम आ सकते हैं.

Palmae; *C. humilis* Linn.

कैमेल थार्न – देखिए **ऐल्हैगी**

कैमोमाइल – देखिए **मैट्रिकेरिया**

कैम्फर (कपूर) – देखिए **सिनामोमम**

कैम्फर, नगई – देखिए **ब्लूमिया**

कैम्फर, बोर्नियो – देखिए **ड्राइओबैलानाप्स**

कैम्फायर – देखिए **लॉसोनिया**

कैम्फेरिया लिनिअस (जिंजिबरेसी) KAEMPFERIA Linn.

ले. – केम्पफेरिआ

यह एक प्रकंदात्मक बूटियों का वंश है जो एशिया एवं अफ्रीका के उष्ण एवं उपोष्ण कटिबंधों में पाया जाता है. लगभग 10 जातियाँ भारत में पायी जाती हैं; कुछ विदेशी जातियाँ सजावट के लिये उगाई जाती हैं.

कैम्फेरिया के पौधे बगीचों में अपने सुन्दर फूलों एवं पत्तियों के लिये उगाए जाते हैं. फूल भूमि के समीप लगते हैं और पौधे प्रायः गमलों में लगाए जाते हैं. इसका प्रवर्धन प्रकंदों को काट कर किया जाता है जिसे हल्की मिट्टी में लगाया जा सकता है. पौधों की वृद्धि के लिये तरल खाद प्रयुक्त की जाती है. दो वर्षों में एक बार प्रकंदों को पुनः लगाना आवश्यक है (Gopalaswamiengar, 494).

Zingiberaceae

कै. गैलेंगा लिनिअस K. galanga Linn.

ले. – के. गालांगा

D.E.P., IV, 561; Fl. Br. Ind., VI 219; Kirt. & Basu, Pl. 938.

सं. – चंद्रमूलिका, सुगंधवच; हिं. – चंद्रमूल; बं. – चंद्रमूल; म. – कचरी, कापूरकचरी; त. – कच्चोलम, कचोलकिलंगु; ते. – कचोरम्; क. – कचोर; मल. – काट्टुजूलम, कच्चोलम.

यह भारत के मैदानी भागों में पायी जाने वाली सुन्दर एवं छोटी बूटी है जो सजावट एवं अपने सुगंधित प्रकंदों के लिये लगायी जाती है. पत्तियाँ दो या तीन, भूमि पर लम्बाई में फैली हुई, वर्तुल-अंडाकार या उपमंडलाकार (6·25–15 सेंमी. × 4·5-10·0 सेंमी.); पर्णवृन्त छोटे, नालीदार; पुष्प श्वेत, पुष्पदंड पर क्रम से खिलने वाले, अल्पजीवी 6 से 12, तथा ओष्ठ द्विपालित तथा नीले या नील-लोहित धब्बों से युक्त होते हैं.

कंदिल प्रकंद कपूरी सुगंध और कटु स्वाद-युक्त होते हैं. इसकी गंध **हेडिकियम स्पाइकेटम** के प्रकंद की गंध से मिलती-जुलती है. कटे हुए प्रकंद के भाप आसवन से 2·4–3·88% (शुष्क भार पर) बाष्पशील तेल प्राप्त होता है. आसुत को ठंडा करने से तेल से एथिल *p*-मेथाक्सिसिनैमेट विलग हो जाता है और इस प्रकार से मुक्त तेल के स्थिरांक निम्नलिखित है: आ. घ.$^{30°}_{30°}$, 0·8792–0·8914; $[\alpha]_D^{30°}$,–2·46 से –4·5; $n_D^{30°}$,

1·4773–1·4855; अम्ल मान, 0·5–1·3; साबु. मान, 99·7–109·0. ऐसीटिलीकरण के पश्चात् साबु. मान, 110·1–116·3. तेल में निम्नलिखित यौगिक उपस्थित बताये गये हैं: *n*-पेंटाडेकेन, एथिल *p*-मेथाक्सिसिन्नामेट (30%), एथिल सिन्नामेट, *l*-Δ^3-कैरीन, कैम्फीन, बोर्निग्रोल और *p*-मेथाक्सिस्टिरीन (संभवतः आसवन के समय बनता है). व्यापारिक स्तर पर इस तेल का उत्पादन नहीं किया जाता (Guenther, V, 130; Panicker *et al.*, *J. Indian Inst. Sci.*, 1926, 9A, 133; Hariharan & Sudborough, ibid., 1925, 8A, 189).

इस बूटी का उपयोग चावल को सुगंधित बनाने के लिए किया जाता है. प्रकंद एवं पत्तियों का उपयोग पाउडरों, सिर धोने के प्रसाधनों में सुगंधि रूप में तथा अंगरागों में होता है. सुगंध के कारण स्त्रियाँ इसे धारण करती हैं और कीड़ों से कपड़ों की रक्षा के लिए भी इसका उपयोग किया जाता है. इसे पान और सुपाड़ी के साथ चुभलाया जाता है (Burkill, II, 1276; Quisumbing, 193).

प्रकंद स्फूर्तिदायक, कफनिस्सारक, वायुनाशक और मूत्रल होते हैं. गरारे के लिए प्रयुक्त होने वाली औषधियों में भी इस प्रकंद का उपयोग होता है; मधु के साथ प्रकंदों का उपयोग खाँसी और सीने की व्याधियों में किया जाता है. फिलिपीन्स में प्रकंदों के क्वाथ का उपयोग अग्निमांद्य, सिर की पीड़ा और मलेरिया के उपचार में किया जाता है. नासावरोध को दूर करने के लिए तेल में पकाये हुए प्रकंदों का वाह्यतः उपयोग किया जाता है. गठिया के उपचार में तथा शोथयुक्त अर्बुदों को शीघ्र पकाने के लिए भुने हुए प्रकंद से गर्म सेंक देते हैं. सिर की रूसी को तथा इल्लियों के काटने से उत्पन्न जलन को दूर करने के लिए प्रकंद के धावन जल से सिर तथा काटे हुए स्थान को धोते हैं. प्रकंदों को तेल में मिलाकर व्रणशोषक के रूप में प्रयुक्त करते हैं. मलाया में हाथी को ठंड लग जाने पर इस प्रकंद का उपयोग किया जाता है. पौधे का रस कुछ टानिकों में प्रयुक्त होता है. पत्तियाँ आँख दुखने, गले के दर्द, सूजन, गठिया और ज्वरों में प्रयुक्त होने वाले मलहमों एवं पुल्टिसों में प्रयुक्त की जाती हैं (Chopra, 501; Kirt. & Basu, IV, 2427; Burkill, II, 1276; Quisumbing, 193–94; Brown, 1941, I, 430).
Hedychium spicatum

कै. रोटंडा लिनिअस K. rotunda Linn.

ले.—के. रोटुण्डा
D.E.P., IV, 561; Fl. Br. Ind., VI, 222; Kirt. & Basu, Pl. 940.

सं.—भूचंपक, भूमिचंप; हिं., बं. और म.—भुइचम्पा; गु.—भुइचंपो; ते.—भूचंपाकाम; त.—कोंडाकलवा, नेरपिचान; क.—नेलासंपिगे; मल.—चेञ्चीनीरकिलंगु, मलंकुआ.

यह सम्पूर्ण भारत में पायी जाने वाली सुरभित, सुन्दर तथा कंदिल प्रकंद युक्त बूटी है जिसे सजावट के लिए उगाया जाता है. पत्तियाँ दो, सीधी, आयताकार या अंडाकार नुकीली, 45 सेंमी. × 11·25 सेंमी.; फूल सुरभित, श्वेत, सघन काँटों पर रोपित एवं क्रमशः खिलने वाले तथा ओष्ठ नील-लोहित या नीलक होते हैं.

पौधे का भूमिगत भाग अर्धगोलाकार कंदिल प्रकंद से युक्त होता है जिसमें छोटे, अंडाकार या गोलाकार कंदयुक्त मांसल मूलरोम निकलते हैं; प्रकंद एवं कंद का स्वाद कड़वा, तीखा और कपूरी होता है. प्रकंद के भाप आसवन से हल्के पीले रंग का 0·2% वाष्पशील तेल निकलता है [आ.घ.$^{15°}$, 0·890–0·900; (α), +12°] जिसकी गंध अरुचिकर होती है. पहले यह गंध कपूरी रहती है पर बाद में यह गंध टेरागान तेल (**आर्टिमीजिया ड्रैकनकुलस लिनिअस से प्राप्त**) से मिलने-जुलने लगती है. प्रकंद से प्राप्त तेल में सिनिओल और संभवतः मेथिल चैविकोल रहता है. प्रकंद और कोमल पत्ते सुगंधक के रूप में व्यवहृत होते हैं. प्रकंद अंगरागों में भी इस्तेमाल किया जाता है. कंदों का उपयोग रंजक के रूप में होता है (Gildemeister & Hoffmann, II, 276; Parry, I, 107; Quisumbing, 193; Mooney, 204).

पौधे के कंद का उपयोग अर्बुदों, शोथ एवं घावों पर लेप के लिए किया जाता है. ये पाचक समझे जाते हैं, अतः इन्हें जठरीय शिकायतों में रोगी को दिया जाता है; इन्हें शरीर में बनने वाले खून के थक्कों एवं अन्य दूषित पदार्थों को दूर करने के लिए भी प्रयुक्त किया जाता है. हाथ और पैर के शोथ को तथा संधियों के स्पंदनों की चिकित्सा में इन कंदों के रस का उपयोग किया जाता है; रस कफनिस्सारक, लालास्राव एवं वमन उत्पन्न करने वाला है. यह बूटी घावों पर मलहमों की तरह लगाई जाती है (Kirt. & Basu, IV, 2428)

कै. **अंगुस्टिफोलिआ** रोस्को (हिं. और बं.—कंजन बुरा, मुइनिरविष) एक कंदिल प्रकंद युक्त बूटी है जो पूर्वी हिमालय की तलहटियों और उत्तरी बंगाल में पायी जाती है. यह पशु चिकित्सा में प्रयुक्त होती है (Chopra, 501).
Artemisia dracunculus Linn ; *K angustifolia* Rosc.

कैरम लिनिअस (अम्बेलीफेरी) CARUM Linn.

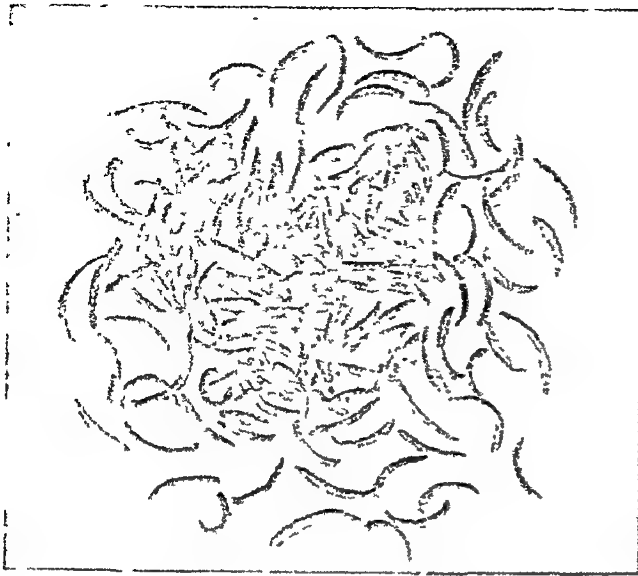
ले.—कारुम

यह बहुवर्षी या एकवर्षी बूटियों की लगभग 37 जातियों का वंश है, जो संसार के शीतोष्ण और उपोष्ण क्षेत्रों में फैला हुआ है. इस वंश की कई जातियाँ अब एक दूसरे वंश, **ट्रैकीस्पर्मम** में स्थानान्तरित कर दी गयी हैं. लक्षणों और स्थानीय नामों की समानता के कारण इन जातियों के अभिज्ञान में काफी भ्रान्ति है.
Umbelliferae; Trachyspermum

कै. कार्वी लिनिअस C. carvi Linn. कैरावे

ले.—का. कार्वी
D.E.P., II, 196; C.P., 284; Fl. Br. Ind. II, 680.

सं.—सुषवी; फारसी—करोया; अरबी—करोया, करव्या; हिं.—सियाहजीरा, जीरा; बं.—जीरा; पं.—जीरा-सियाह; त.—शीमाड-शिम्बु; ते.—शिमईनापु; सिंधी—कालूड्रू.
कश्मीर—गुनयून; बम्बई—विलायती जीरा.



चित्र 66 – कैरम कार्वी के बीज (×2)

यह बहुवर्षी या द्विवर्षी बूटी है, जिसकी ऊँचाई 30–90 सेंमी.; जड़ें मोटी, कन्दिल; पत्तियाँ रेखीय खण्डों युक्त, बहुदली; और फूल छोटे सफेद, घने छत्रकों में रहते हैं. भूरे क्रीमोकार्प (3–7 मिमी. लम्बे और 1·5–2 मिमी. व्यास के) सुगन्धित और दीर्घायत् पार्श्वों में दबे हुए, तनिक वक्र और दोनों सिरों की ओर नुकीले होते हैं. इस पौधे की ऐसी प्रजातियों का उल्लेख किया गया है जिनके फलों की आकृति परस्पर कुछ-कुछ भिन्न होती है (Burkill, I, 468).

यह पौधा दोनों गोलार्द्धों के समशीतोष्ण क्षेत्रों में लगभग सभी स्थानों पर पाया जाता है. यह उत्तरी हिमालयी क्षेत्र में जंगली रूप में मिलता है. यह लगभग समस्त उत्तरी और मध्य यूरोप में, विशेषतया हालैण्ड में और मध्य एशिया में उगाया जाता है. भारत के बाजारों में जीरा मिलता है वह अधिकतर बाहर से आयातित रहता है, देश में इसकी बहुत थोड़ी मात्रा उपजाई जाती है. मैदानों में यह नदियों की फसल के रूप में और कश्मीर, कुमायूं, गढ़वाल और चम्बा की पहाड़ियों में 2,700 से 3,600 मी. की ऊँचाई तक गर्मियों की फसल के रूप में बोया जाता है (Chopra *et al.*, *J. sci. industr. Res.*, 1947, 6, 480).

इस पौधे को सूखी समशीतोष्ण जलवायु चाहिए. यह अच्छी जुती हुई ह्यूमस समृद्ध मिट्टी में अच्छा पनपता है. इसके फलों को छिटकवां या फिर 30 सेंमी. के अंतराल पर पंक्तियों में बोया जा सकता है. द्विवर्षी फसल होने के कारण इसे बीनी मटरों, सरसों अथवा फील्ड बीनों के समान एकवर्षियों के साथ उगाया जा सकता है (Macmillan, 332; *Bull. imp. Inst., Lond.*, 1913, 11, 124; 1941, 39, 113).

फलों को पकने से पहले इकट्ठा कर लेते हैं. तड़के जब पौधे ओस से भीगे होते हैं तो खूब पके फल भी इकट्ठे किए जा सकते हैं. पौधों को सुखाकर, फलों को पीटकर अलग कर लिया जाता है और साफ करके बोरों में भर देते हैं. उपज में काफी भिन्नता रहती है. उर्वर मिट्टी में यह उपज 2,500 किग्रा./हेक्टर हो सकती है पर साधारण भूमि में हालैंड में औसत प्राप्ति 750–2,000 किग्रा./हेक्टर हुई है (*Bull. imp. Inst., Lond.*, 1913, loc. cit.).

पाकशास्त्र में जीरे का प्रयोग मसाले की तरह होता है और रोटियों, बिस्कुटों, केकों और पनीर को स्वाद-गंध देने के लिए इसका उपयोग किया जाता है. यह क्यूमेल के निर्माण में इस्तेमाल होता है और ससेज तथा अचारों के मसालों में भी डाला जाता है. यह मृदुपाचक और वातसारी है और कभी-कभी आध्मान शूल में और सहौषध अथवा औषध के दोष निवारक के रूप में इस्तेमाल किया जाता है. फलों की अपेक्षा वाष्पशील तेल का उपयोग अधिक किया जाता है. बाजार के माल में अक्सर उतरे हुए या सत निकाले हुए काले जीरे के बीज, क्यूमिन के बीज, कैरम के डंठल, बजरी और मिट्टी मिली होती है. जीरे के पाउडर में मिलते-जुलते स्वाद-गंध के सस्ते बीजों का चूर्ण मिलाया जाता है (J. W. Parry, 91; U.S.D., 218).

फलों की संरचना निम्नलिखित होती है: आर्द्रता, 11·5–15·5; राख, 5·5–6·7; जल-विलेय राख, 2·0–2·2; वाष्पशील तेल, 2·7–8·2; स्थिर तेल और रेजिन, *6·2–10·1*; अशोधित तन्तु, 17·5–22·3; तथा नाइट्रोजन, 5·9–6·4%. ब्रिटिश फार्माकोपिया के मानक के अनुसार राख को 9% से अधिक नहीं, और अम्ल अविलेय राख को 1·5% से कम होना चाहिए. यूनाइटेड स्टेट्स फार्माकोपिया के मानक के अनुसार राख को 8% से अधिक नहीं होना चाहिए (Thorpe, II, 277).

ताजे बीजों से आसवित किया गया जीरे का तेल रंगहीन अथवा हल्का पीला होता है: वि. घ.$^{15°}$, 0·907–0·920, $(\alpha)_D^{25°}$, + 70° से + 85°; $n_D^{25°}$, *1·484–1·498*; *80%* ऐल्कोहल के 2–10 आयतन में विलेय; कारवोन अंश 45–65%. कश्मीर का जीरा ब्रि. फा. मानक का तेल देता है. इस वाष्पशील तेल में कारवोन नामक कीटोन (वि. घ., 0·850), एक टर्पीन जो पहले कारवीन कहलाता था, पर वह *dl*-लिमोनीन के रूप में पहचाना जा चुका है, और कारवाक्रोल की अत्यल्प मात्रा का मिश्रण होता है. शुद्ध कारवोन ($C_{10}H_{14}O$) हाइड्रोजन सल्फाइड के द्वारा कारवोन के क्रिस्टलीय यौगिक को विच्छेदित करके प्राप्त किया जाता है (Winton & Winton, IV, 437; Chopra *et al.*, loc. cit.; U.S.D., loc. cit.; Kingzett, 166)

जीरे का तेल मुख्यतः स्वाद-गंध देने के लिए और चिकित्सा में वातसारी के रूप में प्रयुक्त किया जाता है. यह ओषधियों के मतली और मरोड़ प्रवर्ती दोषों के निवारण के लिए भी काम में लाया जाता है. खाज के इलाज के लिए एक मिश्रण, जिसमें जीरे का तेल 5 भाग, ऐल्कोहल 5 भाग और अरण्ड का तेल 75 भाग होता है, इस्तेमाल किया जाता है. बाजारू तेल में अक्सर कारवोन विहीन तेल मिला हुआ होता है. अधिकृत मानक के अनुसार इसमें कारवोन की मात्रा 53% से कम और 63% से अधिक नहीं होनी चाहिए (U.S.D., 219; Trease, 434).

कारवोन विहीन तेल में लिमोनीन और कारवोन की रंच मात्रा होती है; वह बाजार में जीरे के हल्के तेल के नाम से मिलता है. यह सस्ते साबुनों में सुगंध के रूप में डाला जाता है. इस हल्के तेल के लक्षण हैं : वि. घ., 0·848; और $(\alpha)_D$, +103°. गहाई के बाद बचने वाली भूसी और डंठलों से एक घटिया तेल, जिसे जीरे की भूसी का तेल कहते हैं, आसवित किया जाता है (Parry, I, 304; *Bull. imp. Inst., Lond.*, 1913, loc. cit.).

सूखी, तेल-निष्कर्षित और पिसी जीरे की भूसी में 20–23·5% अशोधित प्रोटीन (जिसका 75–85% अंश पचनीय है) और 14–16% वसा रहते हैं. यह पशुओं को खिलाई जा सकती है (Gildemeister & Hoffmann, 550).

कै. बल्बोकैस्टानम डब्लू. काच सिन. **कैरम नाइग्रम** रॉयल C. bulbocastanum W. Koch ब्लैक कैरावे

ले.—का. बुल्बोकास्टानूम

हि.—स्याह-जीरा, काला जीरा; त.—शीमइ-शीरगम, पिलप्पु शीरगम; ते.—शीम जिलाकर; मल.—शीमा जीरकम; क.—शिमेजीरिगे.

कश्मीर—गुनयुन.

यह 15 से 75 सेंमी. तक ऊँची बूटी है जिसके मूल स्थान बलूचिस्तान, अफगानिस्तान तथा कश्मीर हैं. यह 1,800 से 3,300 मी. तक की ऊँचाई पर उगती है और पूर्व में गढ़वाल और कुमायूँ तक पायी जाती है. इसकी खेती कहीं भी नहीं की जाती. यह प्रायः जोते-बोये खेतों में अपतृण की तरह, अथवा पहाड़ों के घासदार ढलानों पर जंगली वृद्धि के रूप में पायी जाती है.

इसके बीज जीरे की ही तरह मसाले के रूप में और देशी दवा के रूप में, वातानुलोमक के रूप में, प्रयोग किये जाते हैं. क्वेटा में गर्म कपड़ों और खालों को कीड़ों से बचाने के लिए इसका प्रयोग करते हैं. बीजों को ग्रामीण लोग इकट्ठा करके मंडियों में भेजते हैं जिनमें अमृतसर, रामपुर और कानपुर प्रमुख हैं. इसका फारस, अफगानिस्तान तथा पास के अन्य देशों से कुछ मात्रा में आयात भी किया जाता है बाजार माल में प्रायः **बप्ल्यूरम फाल्केटम** लिनिअस के फलों को अखरोट की छाल के काढ़े से रँग कर और कभी-कभी गाजर (**डाकस कैरोटा** लिनिअस) के बीजों से मिलावट की जाती है (Kirt. & Basu, II, 1203).

इसके फल में 2% वाष्पशील तैल प्राप्त होता है जिसमें 18% ऐल्डिहाइड रहते हैं (Wehmer, II, 879).
Carum nigrum Royle; *Bupleurum falcatum* Linn.; *Daucus carota* Linn.

कैरम कार्प्टिकम—देखिए **ट्रैकीस्पर्मम** (परिशिष्ट—भारत की सम्पदा)

कैरम पेट्रोसेलीनम—देखिए **पेट्रोसेलीनम क्रिस्पम**

कैरम रॉक्सबर्गियानम—देखिए **ट्रैकीस्पमम** (परिशिष्ट—भारत की सम्पदा)

कैरागैना लामार्क (**लैग्युमिनोसी**) CARAGANA Lam.

ले.—करागना

D.E.P., II, 140; Fl. Br. Ind., II, 115.

यह लगभग 50 काँटों रहित अथवा काँटेदार झाड़ियों या छोटे वृक्षों का एक वंश है जो दक्षिणी रूस से चीन तक और मध्य एशिया में पाया जाता है. इसकी लगभग 11 जातियों के शुष्क, शीतोष्ण एवं पश्चिमी हिमालय में 1,500–2,100 मी. की ऊँचाई वाले ऐल्पाइन प्रदेशों में पाये जाने की सूचना है. इनमें से **कै. एम्बीगुग्रा** स्टाक्स, **कै. ब्रेवीस्पिना** बेंथम एक्स रायल, **कै. पिगमिया** द कन्दोल, एवं **कै. यूलीसिन** स्टाक्स को बकरियों, भेड़ों और ऊँटों के चारे की तरह उपयोग में लाया जाता है. बलूचिस्तान में **कै. एम्बीगुग्रा** के फूल और फल कच्चे अथवा पकाकर खाये जाते हैं.

कै. पिगमिया का उपयोग जलाने के लिए किया जाता है. कुछ जातियाँ झाड़ियों के रूप में शोभाकारी एवं अन्य बाड़ों के लिए उपयोगी होती हैं.
Leguminosae; *C. ambigua* Stocks; *C. brevispina* Benth. ex Royle; *C. pygmaea* DC.; *C. ulicine* Stocks

कैरापा आब्लेट (**मेलिएसी**) CARAPA Aubl.

ले.—करापा

यह सदाहरित वृक्षों की 12 जातियों का एक वंश है जो ज्वारीय वनों और मैंग्रोव में तथा शीतोष्ण प्रदेशों के दलदलों में पाया जाता है. इस नाम के अन्तर्गत वर्णित इण्डो-मलाया के तथा पूर्वी अफ्रीका के पौधे कुछ लोगों के द्वारा एक पृथक् वंश **जाइलोकार्पस** वंश के अन्तर्गत रखे गए हैं और **कैरापा** को वेस्ट इंडीज और पश्चिमी अफ्रीका का एक पृथक् वंश माना गया है.
Meliaceae

कै. ग्रेनेटम (कोएनिग) एल्सटन (**जाइलोकार्पस ग्रेनेटम** कोएनिग सिन. **कै. आबोवेटा** ब्लूम; **कै. मोलुकेन्सिस** डब्लू. पी. हीर्न फ्लो. ब्रि. इं. में, नान लमार्क) C. granatum (Koenig) Alston पज़ल फ्रूट ट्री

ले.—क. ग्रानाटूम

D.E.P., II, 141; Fl. Br. Ind., I, 567.

हि.—पुस्सुर; बं.—पुस्सुर, धुण्डल; त.—कण्डालंगाइ.

यह मँझोले आकार का टेढ़े-मेढ़े तने वाला वृक्ष है जिसका तना प्रायः खोखला होता है. यह भारत के तटीय प्रदेशों, ब्रह्मा, श्रीलंका और मलाया में पाया जाता है.

इसका रसकाष्ठ भूरा-सफेद; अन्तःकाष्ठ हल्का लाल, जो उम्र बढ़ने के साथ लालाभ भूरा होता जाता है, सीधा या अंतर्ग्रंथित दानेदार, मजबूत, टिकाऊ, कठोर और मध्यम भारी होता है (आ. घ., 0·77; भार, 688 किग्रा./घमी.). इसे चीरना और सँवारना कठिन होता है. यह शीघ्र ही सीझ जाता है और हरे रहने पर भी इस्तेमाल किया जा सकता है. लकड़ी का उपयोग नाव, घरों के खम्भों, फर्नीचर और पहियों के अरों में किया जाता है. घटिया किस्म की पेन्सिलें बनाने में भी इसका उपयोग किया जाता है. बंगाल इस लकड़ी का प्रमुख स्रोत है (Pearson & Brown, I, 260; Burkill, I, 453; Rehman & Ishaq, *Indian For. Leafl.*, No. 66, 1945, 2).

पौधे के विभिन्न अंगों में टैनिन पाया जाता है. विश्लेषण करने पर निम्नांकित मान प्राप्त हुए: फल का बाहरी छिलका, 6·57; फल का भीतरी गूदा, 8·57; पत्तियाँ, 7·92; टहनी की छाल, 14·82; शाखों की छाल, 20·58; तने की छाल, 23·73; शाखा-काष्ठ, 4·67; तना-काष्ठ, 4·94%. प्रौढ़ छाल कच्चे चमड़े को कमाने और मछली के जालों को कड़ा बनाने में काम आती है. यह विशेष रूप से तल्ले और भारी चमड़े के कमावक के रूप में लाभदायक बतायी गयी है किन्तु इसकी प्राप्ति ज्यादा नहीं है. इसका उपयोग कपड़ा रँगने में भी किया जाता है [Pilgrim, *Indian For. Rec.*, 1924, **10**, 191; Das, *Tanner*, 1950, **4**(8), 15].

इसके बीजों से कम मात्रा में (1–2%) तेल निकलता है. कैरापा की अन्य जातियों के बीजों से अधिक तेल निकलता है जिसे 'कैरापा वसा' कहते हैं. पेड़ों में फलों की कमी और तेल की न्यून मात्रा के कारण इस तेल का महत्व नगण्य है (Robertson, *Indian For.*, 1925, **51**, 199; Burkill, I, 454).

इसकी छाल कषाय होती है. इसका उपयोग पेचिश, अतिसार एवं अन्य आमाशय-विकारों में एवं ज्वरनाशक ओषधि के रूप में होता है. बीज कड़वे और शक्तिवर्द्धक होते हैं. बीजों की राख को गंधक और नारियल के तेल में मिलाकर मलहम की तरह खुजली में लगाया जाता है (Burkill, loc. cit.; Kirt. & Basu, I, 558).

वास्तविक **कै. मोलुकेन्सिस** लामार्क [**जाइलोकार्पस मोलुकेन्सिस** (लामार्क) रोइमर] अण्डमान द्वीपों के तटवर्ती प्रदेशों में पाया जाता है, किन्तु भारतीय प्रायद्वीप में नहीं पाया जाता. इस जाति के उपयोग **कै. ग्रेनेटम** के समान हैं. **कै. मोलुकेन्सिस** लामार्क वैर. **गंजेटिका** प्रेन (**जाइलोकार्पस गंजेटिकस** प्रेन), **कै. ग्रेनेटम** के अधिक समीप है और बंगाल, मलाया, ब्रह्मा और अण्डमान में पाया जाता है. प्रौढ़ छाल में 20–23% टैनिन रहता है. इससे लालाभ चमड़ा उत्पन्न होता है जो अत्यन्त चीमड़ होता है. इसकी लकड़ी टैनिन-निष्कर्ष तैयार करने के लिए उपयुक्त है जो क्यूब्रेको निष्कर्ष का प्रतिस्थापी है. इसकी लकड़ी (भार, 784 किग्रा./घमी.) **कै. ग्रेनेटम** से मिलती-जुलती है किन्तु इसका रंग अधिक लाल होता है और नावों, औजारों के दस्तों, तथा पहिये के अरों के बनाने के योग्य होती है. समुद्री विमान के बेड़ा बनाने में इसका सफलतापूर्वक उपयोग किया जाता है क्योंकि 3 मिमी. मोटे तख्ते भी लचीले और मजबूत होते हैं. रायफल का कुन्दा बनाने के लिए भी यह उपयुक्त होती है इमारती लकड़ी की भाँति इसकी आपेक्षिक उपयुक्तता के आँकड़े सागौन के उन्हीं लक्षणों की प्रतिशतता के रूप में इस प्रकार हैं: भार, 115; कड़ी के रूप में शक्ति, 95; कड़ी के रूप में दृढ़ता, 95; खम्भे के रूप में उपयुक्तता, 100; अपरूपण, 100; दृढ़ता, 130; आघात प्रतिरोधकता, 95; आकार स्थिरण क्षमता, 80 (Das, loc. cit.; Rodger, 18).

Xylocarpus granatum Koenig syn. *C. obovata* Blume; *C. moluccensis* W.P. Hiern., var. *gangetica* Prain

कैरालिया रॉक्सबर्ग (राइजोफोरेसी) CARALLIA Roxb.

ले.—करालिआ

यह वृक्षों अथवा झाड़ियों की 15 जातियों का एक वंश है जो मेडागास्कर से ऑस्ट्रेलिया एवं फिलीपीन्स तक पाया जाता है.

Rhizophoraceae

कै. ब्रेकियाटा (लॉरीरो) मेरिल सिन. कै. इण्टेगेरिमा द कन्दोल C. brachiata (Lour.)

ले.—क. ब्राकिआटा

D.E.P., II, 140; Fl. Br. Ind., II, 439.

बं.—किअरपा; म.—पनासी, पुंश्ची; ते.—करल्ली; क.—अन्दीपुनार गिडा; मल.—वरंगा.

असम—केन्येकेरा; ब्रह्मा—मेनीआवगा; श्रीलंका—दावता; अण्डमान द्वीप—मनिआप्पा; व्यापार—कैरालिया काष्ठ.

यह मँझोले आकार का सदाहरित वृक्ष है जिसका तना सीधा, बेलनाकार, 12–15 मी. ऊँचा और 1·5–1·8 मी. व्यास का होता है. यह हिमालय के पूर्वी भाग में असम, बंगाल, दक्षिण भारत, श्रीलंका, अण्डमान, ब्रह्मा, मलय प्रायद्वीप और ऑस्ट्रेलिया में पाया जाता है.

काटने पर इसका अन्तःकाष्ठ पहले पीले-लाल से हल्के लाल रंग का रहता है किन्तु समय बीतने पर यह पीत-लालाभ भूरा हो जाता है. यह मध्यम भारी (आ. घ., 0·67; भार, 688–752 किग्रा./घमी.), कठोर, भंगुर और उच्चताप-सह होता है. जब हरा रहे तभी इसे सावधानी से सिझा लेना चाहिए. इसकी इमारती लकड़ी अधिक टिकाऊ होती है और सामान्यतः इस पर कीटों का आक्रमण नहीं होता. इसे सुगमता से चीरा और गढ़ा जा सकता है और इसकी सतह पर अच्छी पालिश चढ़ती है. यदि चतुर्थांश चीरा जाए तो इसके सुन्दर रुपहले दाने दिखाई देते हैं जो ओक से मिलते-जुलते हैं. इमारती लकड़ी के रूप में इसकी आपेक्षिक उपयुक्तता सागौन के उन्हीं लक्षणों की प्रतिशतता के रूप में व्यक्त होने पर इस प्रकार है: भार, 110; कड़ी के रूप में शक्ति, 115; धरन के रूप में कठोरता, 110; खम्भे के रूप में उपयुक्तता, 105; प्रतिरोध क्षमता, 120; आकृति स्थिरण क्षमता, 60; अपरूपण, 130; और कठोरता, 125 (Trotter, 1944, 240).

इसकी लकड़ी घर, खंभे, फर्नीचर, अल्मारी, धान कुटाई के यंत्र, कृषि औजारों, फर्शों, सीढ़ियों, सजावट के कामों और



कैरालिया ब्रेकियाटा (केरेलिया का वृक्ष)

रेल के डिब्बों के पृष्ठावरण बनाने के काम आती है. यह चित्रों के चौखटों एवं ब्रुशों के दस्तों के बनाने के लिए भी उपयोगी है. काष्ठ का कैलोरी मान अधिक होता है (कै. मान, 4,839 कै., 8,711 ब्रि. थ. इ.). स्टीमरों में इसका उपयोग ईंधन के रूप में किया जाता है (Krishna & Ramaswami, *Indian For. Bull.*, *N.S.*, No. 79, 1932, 13; Burkill, I, 448).

इसके फल गूदेदार और खाद्य होते हैं. मलक्का में पत्तियों से चाय जैसा पेय बनाया जाता है. गूदे का सत, हल्दी और चावल के मैदे के साथ मिलाकर सँग्रीमिया में उपयोगी माना जाता है. कनारा में बीजों से निष्कर्षित तेल घी के स्थान में प्रयुक्त होता है. संक्रामक व्रणों में फल और खुजली में छिलके दवा की तरह प्रयुक्त किये जाते है (*Gdns' Bull.*, 1930, 6, 350; Troup, *Forest Pamphlet*, No. 11; *For. Econ. Ser.*, No. 4, 1909, 9; Chopra, 472; Burkill, 449).

कै. केलीसिना बेन्थम श्रीलंका में पाया जाने वाला विशाल वृक्ष है जिसका काष्ठ **कै. ब्रेकियाटा** की तरह होता है किन्तु अपेक्षाकृत भारी (भार, 816–896 किग्रा./घमी.) और मजबूत होता है.

C. integerrima DC.; *C. calycina* Benth.

कैरालूमा आर. ब्राउन (एस्क्लेपियेडेसी) CARALLUMA R. Br.

ले.—काराल्लुमा

D.E.P., II, 141; Fl. Br. Ind., IV, 76.

यह माँसल, सीधी, प्रायः पर्णहीन, तथा प्रायः कोणदार तनों वाली झाड़ियों की लगभग 120 जातियों का वंश है जो भूमध्य सागरीय प्रदेश से लेकर ईस्ट इंडीज तक पाया जाता है. कुछ जातियाँ पंजाब, सिंध, बलूचिस्तान और डेकन प्रायद्वीप के शुष्क चट्टानी भागों में पाई जाती हैं और कुछ (**कै. एडसेण्डेंस** आर. ब्राउन, **कै. एटीनुएटा** वाइट, **कै. एडुलिस** बेंथम, **कै. फिम्ब्रिएटा** वालिश और **कै. इंडिका** (एन. ई. ब्राउन) तरकारी की भाँति उपयोग में लाई जाती हैं. **कै. एडुलिस** रक्त की बीमारी के लिए उपयुक्त मानी जाती है (Kirt. & Basu, III, 1640).

Asclepiadaceae; *C. adscendens* R. Br.; *C. attenuata* Wight; *C. edulis* Benth.; *C. fimbriata* Wall.; *C. indica* N.E. Br.

कैरावे — देखिए कैरम

कैरिका लिनिअस (कैरिकेसी) CARICA Linn.

ले.—कारिका

इस वंश में लगभग 48 जातियाँ सम्मिलित की गयी हैं जिनमें से **कै. पपाया** महत्वपूर्ण और सबसे प्रचलित है. इसकी खेती इसके सुस्वाद फलों के कारण संसार के लगभग समस्त उष्ण और उपोष्ण कटिबंधी प्रदेशों में की जाती है. यह व्यापारिक पैपेन का स्रोत है. अन्य जातियों में, **कै. कैण्डेमार्सेन्सिस** एवं **कै. क्वेर्सिफोलिया** थोड़े महत्व की हैं, क्योंकि इनके द्वारा तुषार प्रतिरोधी जातियों का प्रजनन किया जा सकता है (*Yearb. U.S. Dep. Agric.*, Separate No. 1589, 1937, 43).

Caricaceae

कै. कैण्डेमार्सेन्सिस हुकर पुत्र C. candamarcensis Hook. f. पहाड़ी पपीता

ले.—का. काण्डामार्केन्सिस

Macmillan, 268.

ते.—कोंडापपाया.

यह एक छोटा उपशाकीय वृक्ष है जिसकी पत्तियाँ वृन्दों में, हस्ताकार मुंडक के रूप में, होती हैं. इसकी ऊँचाई 2·4–3 मी. होती है. यह क्रुष्ट **कै. पपाया** से मिलता-जुलता है. इसकी खेती के लिए अधिक ऊँचा स्थान उपयुक्त माना जाता है जहाँ पर साधारण पपीता नहीं फल-फूल सकता. श्रीलंका में इसको प्रविष्ट किया गया है और अर्ध जंगली अवस्था में छुटपुट वृक्ष नीलगिरि में, 1,350 और 2,100 मी. की ऊँचाई तक पाये जाते हैं. इसमें तुषार सहने की शक्ति होती है और यह 0° से भी नीचे बिना किसी गम्भीर क्षति के बना रहता है. इसमें लगभग पूरे वर्ष फल लगते हैं, जिनकी संख्या बहुत अधिक (50–100 फल प्रति वृक्ष) होती है. फल छोटे, लम्बे या आयताकार होते हैं, जिनमें से प्रत्येक का भार 125 ग्रा. से अधिक नहीं होता. ये खाने के लिए उपयुक्त नहीं होते क्योंकि अत्यधिक अम्लीय होते हैं, किन्तु इन्हें सुखाया जा सकता है अथवा इनसे मुरब्बा और अचार बनाया जा सकता है (Sampson, *Kew Bull.*, *Addl Ser.*, XII, 1936, 33; Popenoe, 241).

कै. क्वेर्सिफोलिया बेंथम और हुकर C. quercifolia Benth. & Hook.

ले.—का. कुर्एसिफोलिआ

Bailey, 1947, I, 664.

यह 1·5–1·8 मी. ऊँचा छोटा वृक्ष है, जिसका मूल स्थान दक्षिण अमेरिका है. इसे उत्तर प्रदेश में उगाया जा रहा है. यह **कै. कैंडेमार्सेन्सिस** की अपेक्षा अधिक सहिष्णु है और –4·5° तक का निम्न ताप सह सकता है. इसमें छोटे पीले, 2·5–5 सेंमी. लम्बे फलों के गुच्छे लगते हैं. इसके फल छोटे होते हैं किन्तु उनमें पैपेन की प्रतिशतता **कै. पपाया** से अधिक बताई गई है (Bal, *Indian J. Pharm.*, 1940, 2, 98; Popenoe, 244; *Yearb. U.S. Dep. Agric.*, loc. cit.).

कै. पपाया लिनिअस C. papaya Linn. पपाया, पैपा ट्री

ले.—का. पापाइआ

D.E.P., II, 158; C.P., 269; Fl. Br. Ind., II, 599.

हिं.—पपाया, पपीता; बं.—पपईया, पापेया; म.—पपाया; गु.—पपई; त.—पप्पलि, पप्पाई; ते.—बोप्पाई, परंगिकाया; क.—परंगीमरा.

पपीता एक शाकीय वृक्ष है जिसकी ऊँचाई 3–7·5 मी. होती है, तने के शीर्ष पर बड़ी, गहरी कटी हुई पत्तियाँ रहती हैं जिससे ताड़ जैसी आकृति दिखाई पड़ती है. यह साधारणतः उभयलिंगाश्रयी परन्तु कभी-कभी एकलिंगाश्रयी होता है. उभयलिंगी पुष्पों वाले पौधे भी पाये जाते हैं. फल तने के



चित्र 67 – कैरिका पपाया

शीर्ष के पास, पत्तियों के आधारों के साथ सटे हुए लगते हैं. फलों की संख्या, परिमाण एवं आकार, पपीते की किस्म, मिट्टी, मौसम जलवायु तथा खेती की विधियों पर निर्भर करते हैं. ये आकृति में गोलाकार या बेलनाकार और भार में 9 किग्रा. तक हो सकते हैं (Popenoe, 227).

पपीता उष्णकटिबन्धीय मध्य अमेरिका का मूलवासी माना जाता है परन्तु अब यह विश्व के सभी उष्णकटिबन्धीय एवं उपोष्ण देशों, यथा भारत, श्रीलंका, हवाई, फिलिपीन्स, दक्षिणी अफ्रीका तथा ऑस्ट्रेलिया आदि में उगाया जाता है. भारत में तमिलनाडु, महाराष्ट्र, बंगाल, बिहार तथा उत्तर प्रदेश में इसकी खेती होती है, किन्तु कहीं भी बागान स्तर पर नहीं होती (Jones *et al.*, *Bull. Hawaii agric. exp. Sta.*, No. 87, 1941, 52; *Indian Fmg*, 1942, 3, 277).

भारत में पपीते की अनेक किस्में उगाई जाती हैं जिनमें वाशिंगटन तथा हनी-ड्यू काफी लोकप्रिय हैं. इनके अतिरिक्त विभिन्न क्षेत्रों में अलग-अलग किस्मों का अपना महत्व है. बीज-रहित किस्मों की भी सूचना है किन्तु ऐसी किस्मों का प्रवर्धन कठिन होने से अधिक आर्थिक महत्व की नहीं है. मादा पौधे के फूलों पर थैले चढ़ा कर परागण रोक देने से बीज-रहित फल प्राप्त किए जा सकते हैं. परन्तु ऐसे फल आकार में बहुत छोटे होते हैं (Cheema & Dani, *Bull. Dep. Agric., Bombay*, No. 162, 1930, 11).

खेती

पपीता जलाक्रांत-भूमि के अलावा हर तरह की मिट्टी में उगाया जा सकता है. अच्छे जल-निकास वाली उपजाऊ भूमि में यह बहुत अच्छी तरह पनपता है. यह काफी सूखा प्रतिरोधी होता है परन्तु पाले और तेज हवाओं को नहीं सह सकता. वैसे पपीते के पेड़ का जीवन काल 15 से 20 वर्ष तक है परन्तु 3–5 वर्ष बाद बहुत कम फल लगने लगते हैं और इसका आर्थिक महत्व घट जाता है (Popenoe, 231).

इसका संवर्धन सामान्यतः बीजों द्वारा किया जाता है. कलमें लगाकर या कलम बाँधकर इसका कायिक प्रवर्धन भी सम्भव है लेकिन इनसे संतोषजनक परिणाम नहीं मिले हैं. नर्सरी में पौधे तैयार की जाती हैं और जब वे 22·5–30·0 सेंमी. ऊँची हो जाती हैं तो उन्हें साधारणतः 2·4–3 मी. की दूरी पर बगीचे में रोप दिया जाता है (Naik, *Indian Fmg*, Special No., Developing Village India, 1946, 215).

पपीते का पौधा बहुत तेजी से बढ़ता है और यह अत्यधिक पैदावार देने वाले फल वृक्षों में गिना जाता है. दक्षिण भारत में साल-भर में ही पेड़ फलने लगता है परन्तु उत्तरी भागों में लगभग डेढ़ वर्ष का समय लगता है. इसी तरह दक्षिण भारत में पौधे पर वर्ष भर और उत्तर भारत में जनवरी से 4 मास फल लगते हैं. विभिन्न भागों में प्रति वर्ष प्रति पेड़ में 0·45–7 किग्रा. तक के 30 से 150 तक फल लगते हैं. कई बार पौधा फलों से लद जाता है और उनका विरलन आवश्यक हो जाता है ताकि फलों की उचित संख्या ही अच्छी तरह बढ़ और पक सके (Hayes, 170; Naik, loc. cit.).

न तो भारत में, न अन्यत्र ही पपीते के किसी नाशक-कीट की सूचना है. इसका अपवाद **'डेसीसीज़ रुगोसिलस'** नामक इल्ली है जो कभी-कभी तने में छेद कर देती है. सबसे अधिक नुकसान चिड़ियों, चमगादड़ों तथा सिवेट बिल्लियों से होता है. इनसे रक्षा करने के लिए फलों पर जालियाँ तथा थैले चढ़ाये जाते हैं.

ज्ञात रोगों में कुछेक ही गंभीर होते हैं. **पिथियम** जातियों के कारण [**पिथियम अफ़ेनोडर्मेटम** (एडसन) फिट्स सम्मिलित है] पौधे में तना-विगलन, पाद-विगलन या स्तंभ मूल-संधि-विगलन रोग होता है जो भूमि की सतह पर तने पर आक्रमण करता है जिससे सम्बंधित ऊतक नष्ट हो जाते हैं. रोग की प्रारंभिक अवस्था में ही तने के ग्रस्त भाग को काट कर निकाल देना चाहिए और उस स्थान पर प्रतिरोधी घोल अर्थात् 4 से 5 प्रतिशत लाइसोल का घोल या 50% कार्बोलिक अम्ल का घोल छिड़क कर कोलतार का लेप कर देना चाहिए. अधिक रोगग्रस्त पेड़ों को उखाड़ कर जला देना चाहिए. भूमि में नमी की अधिकता से इस रोग को बढ़ावा मिलता है, अतः बगीचे में जल-निकास का अच्छा प्रबन्ध होना चाहिए (Hayes, 178).

पर्णकुंचन पपीते का एक दूसरा भयानक रोग है जो वाइरस से फैलता है. इस रोग से प्रभावित पौधे जल्दी नहीं मरते

परन्तु उनकी फल उत्पादन-क्षमता कम हो जाती है. यह रोग भी नमी से बढ़ता है इसलिए अच्छे जल-निकास का प्रबन्ध करके रोगग्रस्त पौधों को नष्ट कर देना चाहिए.

इन दो रोगों के अतिरिक्त दो फफूँदियाँ, **आइडियम कैरिकी** नोआक तथा **ओव्यूलेरियोप्सिस पपेई** वैनडिज़्बेट, पत्तियों को प्रभावित करती हैं. कम ताप तथा अधिक नमी में इनका आक्रमण उग्र हो जाता है.

फलों पर कभी-कभी ऐन्थ्राक्नोज़, एक पक्व गलन, का आक्रमण होता है जो संभवतः **ग्लोइयोस्पोरियम** की ही किसी जाति के कारण होता है. यह कवक फलों पर गोल, भूरे चपटे या धँसे हुए दाग बनाता है. ऐसे ही लक्षण **कोलिटोट्राइकम ग्लोइयोस्पोरोइडीज़** (पेंज़िग) सक्कारिडो फफूँद के भी हैं. इस रोग के नियंत्रण के लिए बरगंडी-मिश्रण का छिड़काव करना चाहिए और रोगग्रस्त फलों तथा पर्णवृन्तों को नष्ट कर देना चाहिए (Hayes, 178).

फल के छिलके पर थोड़े से नुकसान से भी सम्पूर्ण फल को क्षति पहुँच सकती है इसलिए फलों को तोड़ने, पेटियों में भरने और उनके परिवहन में विशेष सावधानी बरतनी आवश्यक है अन्यथा उनके विपणन में कठिनाइयाँ आती हैं. भारत में फलों को साधारणतया बाँस की टोकरियों में भरा जाता है जिससे फलों की पूर्ण सुरक्षा नहीं हो पाती और फल निश्चित स्थान तक पहुँचने के बाद ही कुछ ही दिनों तक ठीक से रह पाते हैं. फलों को इस तरह की क्षति से बचाने के लिए उन्हें लकड़ी के बक्सों में लकड़ी के छीलन आदि की सहायता से पैक करना चाहिए और शीत-संग्रहण में रख देना चाहिए. शीत-संग्रहण के बाद अधपके फलों का पकना रुक जाता है और लगभग सभी किस्मों में 12·8–15·6° से नीचे के ताप पर द्रुतशीतन होता है (Wardlaw, *Nature*, 1939, **144**, 178).

पपीते का फल स्वास्थ्यवर्धक होता है और भोजन के बाद खाया जाता है. कच्चे फलों की तरकारी बनाई जाती है. पके हुए फलों का उपयोग मुरब्बा इत्यादि बनाने में होता है. अमेरिका में फलों से हल्के पेय भी तैयार किए जाते हैं. फलों को पागा भी जाता है. नियंत्रित स्थितियों में उनका निर्जलीकरण करके शल्क भी बनाए जा सकते हैं (Hayes, 178; Bally, *Int. Rev. Agric.*, 1933, **24**, 454T).

फलों के विश्लेषण से आर्द्रता, 89·6; प्रोटीन, 0·5; कार्बोहाइड्रेट, 9·5; ईथर निष्कर्ष, 0·1; खनिज पदार्थ, 0·4; कैल्सियम, 0·01; फॉस्फोरस, 0·01%; तथा लोहा, 0·4 मिग्रा./100 ग्रा. प्राप्त होता है. फल के ताजे गूदे में शर्करा, प्रतीप शर्करा, एक रेज़िन पदार्थ, पैपेन, मैलिक अम्ल एवं टार्टरिक तथा सिट्रिक अम्लों के लवण (1·2%) रहते हैं. कच्चे या पके हुए फल में पेक्टिन बहुत मात्रा में पाया जाता है. फलों में निम्नलिखित कैरोटिनॉयड वर्णकों के होने की सूचना प्राप्त है: क्रिप्टोजैन्थिन, वायोलाजैन्थिन, ज़ियाजैन्थिन, β-कैरोटीन, नियो-β-कैरोटीन बी. तथा नियो-β-कैरोटीन यू. पपीते के फल विटामिनों के स्रोत हैं. फल-गूदे के प्रति 100 ग्रा. में कैरोटीन (विटामिन ए), 2,000–3,000 अं. इ.; थायमीन, 15–63 माग्रा.; राइबोफ्लैविन, 23–83 माग्रा.; नाइसिन, 0·15–0·76 मिग्रा.; तथा ऐस्कार्बिक अम्ल, 33–136 मिग्रा. रहते हैं.. फल में कैरोटीन की मात्रा जैविक आमापन से प्राप्त मात्रा से काफी कम होती है. फल के कुछ जैन्थोफिलों में विटामिन 'ए' की सक्रियता होती है (*Hlth Bull.*, 1941, No. 23, 39; Wehmer, II, 807; Krishnamurti & Giri, *Proc. Indian Acad. Sci.*, 1949, **29B**, 155; *Chem. Abstr.*, 1933, **27**, 3480, 5373; 1934, **28**, 3077; Sadana & Ahmed, *J. sci. industr. Res.*, 1949, **8B**, 35; Sherman, 635; *Chem. Abstr.*, 1947, **41**, 2507; 1937, **31**, 7138).

पपीते के बीजों का रंग काला होता है और उनमें से एक विशेष प्रकार की गंध आती है. बीजों में प्रोटीन, 24·3; कार्बोहाइड्रेट, 15·5; वसीय तेल, 25·3; अपरिष्कृत रेशे, 17·0; राख, 8·8; वाष्पशील तेल, 0·09% रहता है. इनके अतिरिक्त एक ग्लाइकोसाइड 'कैरिसिन' जो सिनिग्रिन से मिलता-जुलता है और एक एंजाइम, माइरोसिन, भी बीजों में पाया जाता है. वसीय तेल के गुण इस प्रकार हैं: आ.घ.$^{20°}$, 0·9091; $n_D^{20°}$, 1·4666; साबु. मान, 189·5; आयो. मान, (हैनस), 72·6; अम्ल मान, 3·05; ऐसीटिल मान, 3·8; असाबु. पदार्थ, 1·32; तथा संतृप्त अम्ल, 16·94% (पामिटिक, 11·38; स्टीऐरिक, 5·25; और ऐराकिडिक, 0·31%); असंतृप्त अम्ल, 78·63% (ओलीक, 76·50; और लिनोलीक, 2·13%). बीजों से कैरपेसिमाइन, $C_8H_{10}N_2S$, ग.बि., 165° नामक गंधकधारी क्षारकीय पदार्थ भी मिलता है जिसे बेंजाइल-थायो-यूरिया बताया गया है (Wehmer, loc. cit.; U.S.D., 818; Jamieson, 150; Panse & Paranjpe, *Proc. Indian Acad. Sci.*, 1943, **18A**, 140).

पत्तियों में एक ग्लाइकोसाइड, कार्पोसाइड, तथा एक ऐल्कलायड, कारपेन रहते हैं. पौधे की छाल, जड़ों एवं बीजों में भी कारपेन की अल्प मात्रा पाई जाती है. कारपेन, $C_{14}H_{25}O_2N$, ग.बि., 121°; $[\alpha]_D$, +21·9 (ऐल्कोहल) वस्तुतः हृदय-विष है लेकिन कार्डियक ग्लूकोसाइड की श्रेणी का नहीं है. यह नाड़ी की धड़कन कम कर देता है एवं केन्द्रीय तंत्रिका-प्रणाली का अवसादक है. एक किलोग्राम शरीर भार पर 5 मिग्रा. मात्रा खरगोशों के लिए विषैली पाई गई है. यह एक तीव्र अमीबा-नाशक भी है. मर्क ने कारपेन हाइड्रोक्लोराइड को एक अच्छा हृदय टानिक तथा मूत्रल माना है (Henry, 599).

पत्तियों में विटामिन 'सी', 286 मिग्रा.; तथा विटामिन 'ई', 36 मिग्रा./100 ग्रा. पाये जाते हैं (*Chem. Abstr.*, 1941, **35**, 1832; 1947, **41**, 5643).

जड़ों में सिनिग्रिन की तरह का एक ग्लाइकोसाइड, जो संभवतः कार्पोसाइड के समान होता है, तथा एक माइरोसिन की तरह का एंजाइम पाया जाता है (Wehmer, loc. cit.).

तनें, फल, पत्तियों एवं जड़ों से प्राप्त ताजे लैटेक्स के विश्लेषण से निम्नांकित मान प्राप्त हुए हैं: जल, 75; कुचालक सद्रव्य पदार्थ, 4·5; पेक्टिन पदार्थ एवं लवण, 7; मैलिक अम्ल, 0·44; पैपेन, 5·3; वसा, 2·4; तथा रेज़िन, 2·8%. इनमें एक लैब एंजाइम तथा स्वल्प मात्रा में कारपेन भी उपस्थित रहता है (Wehmer, loc. cit.).

पौधे के प्रत्येक भाग का औषधीय महत्व बताया गया है. पका हुआ फल क्षुधावर्धक, पाचक, वातानुलोमक तथा मूत्रल

होता है. इससे तैयार किए गए पेय एवं मदिरा, कफोत्सारक, प्रशामक तथा बलवर्धक होते हैं. कच्चे फलों का दूधिया रस कृमिनाशक और विशेषकर लुम्ब्रिसी के लिए काफी प्रभावी है. यह प्रसाधन सामग्री एवं त्वचा से बालों को हटाने के लिए उपयोगी है. हरा फल मृदु विरेचक और मूत्रल होता है तथा इसमें गर्भोत्सारक गुण होते हैं.

इसके बीज प्यास दूर करते हैं और कृमि निस्सारक के रूप में उपयोग में लाए जाते हैं.

पत्तियाँ तंत्रिका संबंधी कष्टों को दूर करने के लिए पुल्टिस की तरह तथा हाथी पाव की वृद्धि को कम करने के लिए उपयोग में लायी जाती हैं.

जड़ें दाज एवं बवासीर के उपचार में उपयोगी है और बलवर्द्धक हैं (Kirt. & Basu, II, 1098; Caius, *J. Bombay nat. Hist. Soc.*, 1937, 38, 48).

अफ्रीका और वेस्ट इण्डीज में इसके तने की छाल से रस्सियाँ बटी जाती हैं.

पैपेन

पपीते के विभिन्न भागों में जो औषधीय गुण बताये गये हैं उनका मूल कारण पैपेन ही है जो सारे पौधे में वितरित रहता है किन्तु यह अधिकांशतः फल के दूध (लैटेक्स) में ही सान्द्रित रहता है. व्यापारिक पैपेन फलों के लैटेक्स को सुखा कर तैयार किया जाता है. पैपेन प्रोटीन के पाचन में सहायक होता है तथा पाचन शक्ति को बढ़ाता है. इसका मुख्य उपयोग भोजन, मद्यकरण, चमड़ा-शोधन और ऊन उद्योग में है.

लैटेक्स प्राप्त करने के लिए अच्छी तरह विकसित हरे फल मे 2–4 चीरे लम्बाई में लगभग 3 मिमी. गहरे लगाए जाते हैं. जब तक पूरा फल चीरों से भर नहीं जाता तब तक तीन से सात दिनों के अंतर पर प्रातःकाल चीरे लगाये जाते है. निःस्राव को अधातु बर्तनों में अथवा 'अमेरिकनी' किस्म के लकड़ी के फ्रेम मे कसे हुए कपड़े में जमा कर लिया जाता है (Sanders & Robertson, *E. Afr. agric. J.*, 1944, 9, 173).

जितनी जल्दी हो सकता है, लैटेक्स को सुखा लिया जाता है. शुष्कीकरण की क्रिया को तेज करने के लिए स्कंदित लैटेक्स को चलनी में से छान कर या ऐलुमिनियम में दबा कर धाम मे या विशेष प्रकार के शुष्कन-कक्षों में सुखाया जाता है. शुष्कीकरण के लिए अनेक प्रकार के शुष्कक है. शुष्कीकरण के समय, ताप 37·8° से अधिक नहीं बढ़ने देना चाहिए अन्यथा प्रोटीन-अपघटक क्रिया में एक गहरे रंग का उत्पाद बनने लगता है. लैटेक्स को निर्वात मे सुखाने से अच्छे परिणाम प्राप्त होते है. अन्तिम उत्पाद, जिसे श्रेष्ठ क्रीम-सफेद रंग का और भुरभुरा होना चाहिए, निर्वात डिब्बों मे बंद कर दिया जाता है. इससे उसकी सक्रियता समाप्त नहीं होती (Charavanapavan, *Trop. Agriculturist*, 1945, 101, 72; *Agric. Live-stk India*, 1932, 2, 471; Balls, loc. cit.).

चाहे कितनी भी सावधानी बरती जाए, शुष्कीकरण की क्रिया मे एंजाइम का कुछ भाग निष्क्रिय हो ही जाता है. इससे बचने के लिए अमेरिका मे एक नई लवण-विधि विकसित की गई है जिसमें एंजाइम की सक्रियता सुरक्षित रहती है. ताजे लैटेक्स की सम्पूर्ण मात्रा मे उसका 10% नमक मिला कर मिश्रण को सुखाने के बाद एक गाढ़ी लेई तैयार कर ली जाती है. इस विधि से प्राप्त उत्पाद में एंजाइम-सक्रियता महीनों तक बनी रहती है. साधारण नमक के स्थान पर फार्मेल्डिहाइड का 1% विलयन भी उपयोग में लाया जा सकता है परन्तु इस तरह प्राप्त उत्पाद में एंजाइम सक्रियता 'लवण-लेई' विधि से कम होती है (Balls, *Circ. U.S. Dep. Agric.*, No. 631, 1941; *Bull. imp. Inst., Lond.*, 1941, 39, 372; Sanders & Robertson, loc. cit.).

प्रत्येक पेड से प्राप्त होने वाली पैपेन की मात्रा पपीते की किस्म, फलों की संख्या तथा उनके आकार पर निर्भर करती है. छोटे या अविकसित फलों की तुलना में बड़े फलों से अधिक एंजाइम-शक्ति का पैपेन प्राप्त होता है. इसी तरह लम्बे या गोल आकार के फलों की तुलना में आयतरूप फलों से अधिक पैपेन मिलता है. प्रथम वर्ष में एक पेड़ से लगभग 20–250 ग्रा. पैपेन मिलता है, अर्थात् एक हेक्टर से लगभग 80–175 किग्रा. परन्तु दूसरे और तीसरे वर्षों में यह प्रतिशत घटता चला जाता है. भारत में उगने वाली तीन लोकप्रिय किस्मों के 100 फलों से प्राप्त पैपेन की कुल मात्रा इस प्रकार है— बम्बई, 158·0 ग्रा.; कानपुर, 126·6 ग्रा.; कलकत्ता, 55·4 ग्रा. अक्तूबर माह में पपीते से सर्वाधिक लैटेक्स मिलता है और लगातार पैपेन-प्राप्ति के लिए हर तीसरे माह फलों में चीरे लगाए जाते है. लैटेक्स से लगभग 20% व्यापारिक पैपेन मिलता है (Hayes, 179; Stockdale, *Trop. Agriculturist*, 1927, 68, 3; Hofmeyer & Le Roux, *Trop. Agriculturist*, 1939, 93, 230; *Bull. imp. Inst., Lond.*, 1933, 31, 550, Sen, *J. agric. Sci.*, 1931, 21, 209; *Agric. Live-Stk India*, loc. cit.).

पैपेन निर्माण के लिए लैटेक्स को इकट्ठा करने से फलों के स्वाद में किसी तरह का अंतर नहीं पड़ता. चीरे लगाने से फल कुरूप अवश्य हो जाते है और ऐसे फलों का बाजार-भाव गिर जाता है, फिर भी ऐसे फलों का उपयोग डिब्बाबंदी और मुरब्बा, अचार इत्यादि बनाने में किया जा सकता है.

पैपेन तने, पत्तियों एवं पर्णवृन्तों को निचोड़ कर निकाले गए रस से अमोनियम सल्फेट संतृप्तीकरण या ऐल्कोहल-अवक्षेपण विधियों द्वारा भी प्राप्त किया जा सकता है. इस तरह प्राप्त पैपेन में एंजाइम-सक्रियता लगभग फल से निकाले गए पैपेन के बराबर ही होती है. निचोड़े रस के द्वारा पैपेन का व्यापारिक स्तर पर यांत्रिक-उत्पादन संभव है (Jones *et al.*, loc. cit.).

व्यापारिक पैपेन हल्के भूरे-धूसर या हल्के पीले रंग का विशिष्ट गंध और स्वादयुक्त चूर्ण होता है. विभिन्न विधियों से अलग किए पैपेन-चूर्णों की एंजाइम शक्ति भी भिन्न होती है. व्यापारिक पैपेन को पानी मे घोल कर, हाइड्रोजन-सल्फाइड संतृप्तीकरण एवं ऐल्कोहल-अवक्षेपण करके न्यून ताप पर सुखाने के बाद एक सक्रिय उत्पाद प्राप्त किया जाता है. पैपेन में अरारोट स्टार्च, डैक्स्ट्रिन का दुग्ध-चूर्ण, सटापार्चा, चावल का आटा और कभी-कभी पेप्सिन की मिलावट की जाती है. रंग को उत्तम बनाने के लिए कभी-कभी पैपेन का विरंजन भी किया



कैरिका पपाया (पपीता) – फलित

जाता है परन्तु इससे उसकी एंजाइम-सक्रियता कम हो जाती है (Fuller, 901; Caius, loc. cit.).

व्यापारिक पैपेन में दुग्ध-आतंचन और प्रोटीन पाचन के गुण होते हैं. इसका दुग्ध-आतंचन गुण, हाइड्रोजन परऑक्साइड से ऑक्सिकरण के बाद नष्ट हो जाता है और हाइड्रोजन सायनाइड या हाइड्रोजन सल्फाइड से अपचयन होने के बाद पुनः आ जाता है. इसी प्रकार हाइड्रोजन परऑक्साइड से ऑक्सीकृत करने पर पेप्टोन जल-अपघटनी सक्रियता नष्ट हो जाती है किन्तु अपचयन की क्रिया से वह पुनः प्राप्त हो जाती है. ऑक्सिकरण से इसकी जिलेटिन को जल-अपघटित करने की सक्रियता पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता. लैटेक्स में उपस्थित ग्लूटैथियोन, जो कि कुल SH-यौगिकों का लगभग 5–10% होता है, पैपेन का प्राकृतिक सक्रियकारक है (Ganapathy & Sastri, *Curr. Sci.*, 1940, **9**, 413; *Proc. Indian Acad. Sci.*, 1938, **8B**, 339; *Nature*, 1938, **142**, 539; *Biochem. J.*, 1939, **33**, 1175).

लैटेक्स से क्रिस्टलीय पैपेन एवं काइमोपैपेन नामक दो एंजाइम पृथक् किए गए हैं. पैपेन, प्ररूपी प्रोटीन पाचक एंजाइम है जिसका सम-विभव बिन्दु पी-एच, 9·0 पर और अणु भार, लगभग 27,000 है. इसमें 15·5% नाइट्रोजन तथा 1·2% गंधक रहता है. क्रिस्टलीय पैपेन पी-एच मान, 5–7 के बीच अधिक स्थायी होता है और 30° पर पी-एच, 2·5 से नीचे या पी-एच, 12 से ऊपर शीघ्र नष्ट हो जाता है. इसकी प्रोटीन-अपघटक सक्रियता व्यापारिक उत्पाद से 3–4 गुनी अधिक होती है. काइमोपैपेन में भी एकदम पैपेन की ही तरह दुग्ध-आतंचन सक्रियता होती है लेकिन इसकी प्रोटीन-पाचन सक्रियता उसकी ठीक आधी ही होती है. यह अम्लीय घोलों में स्थायी होता है. अपरिष्कृत लैटेक्स में पैपेन की तुलना में काइमोपैपेन की मात्रा अधिक होती है (Balls *et al.*, *Science*, 1937, **86**, 379; Balls & Line-weaver, *J. biol. Chem.*, 1939, **130**, 669; Balls, *J. biol. Chem.*, 1941, **137**, 459).

विस्तृत पी-एच, परिसर में सक्रिय रहने के कारण पैपेन को अन्य प्रोटीएसों से आसानी से पहचाना जा सकता है. व्यापारिक पैपेन क्षारीय माध्यम में आसानी से क्रिया करता है. निर्वात-शुष्कीकरण से प्राप्त उत्पाद के दो अनुकूलन होते हैं: एक पी-एच, 2·5; और दूसरा पी-एच, 11 पर. एक तीसरी अनुकूलतम स्थिति पी-एच, 3·74, 4·0, 4·5 या 7·1 पर भी सूचित की गई है (B.P.C., 762; Bally, loc. cit.).

पैपेन न केवल प्रोटीन-विच्छेदक एंजाइम है वरन् इसमें पेप्टाइड संश्लेषण सक्रियता भी होती है. बर्गमैन एवं सहयोगियों के अनुसार साधारण पदार्थों से पैपेन क्रिया द्वारा बेंजोल-*l*-ल्यूसाइल-*l*-ल्यूसाइलऐनिलाइड जैसे यौगिकों का निर्माण अत्यन्त आसान है (U.S.D., 819).

विस्तृत पी-एच परिसर में सक्रिय रहने के कारण पैपेन का प्रोटीन पाचक गुण के लिए कई ओषधियों में प्रयोग हुआ है. यह अपच तथा अन्य पाचन संबंधी विकारों में लाभ पहुँचाता है. घटक रूप में इसे ग्लाइ. पैपेन, इलिक्स. पैपेन, लिक्विड पैपेन ए इरिडिन. कई पाचक मिश्रणों, यकृत संबंधी वल्यों, आदि महत्वपूर्ण ओषधियों में मिलाया जाता है. बढ़े हुये टांसिल के उपचार हेतु इसके तरल विरचन तैयार किये जाते हैं. यह कृमिनाशक है तथा आपरेशन के उपरान्त आसंजनों और मृतोतक घावों के उपचार, कारबंकलों, जले हुए अंगों की रक्षा और रोहिणी की झिल्ली को गलाने के लिए उपयोग में लाया जाता है. यह एलर्जिक भी है अतः कभी-कभी प्रवेगी खाँसी, वाहिका प्रेरक, नासाशोथ, कष्टश्वास जैसे भयानक रोग हो जाते हैं. अंतः-शिरा-इंजेक्शन लगाने पर यह शक्तिशाली विष का काम करता है. दक्षिण भारत में 1943–44 के हैजे के संक्रामक प्रकोप में इसे जीवाणुभोजी के रूप में प्रयुक्त किया गया था (Martindale, I, 780; Berger & Asenjo, *Science*, 1940, **91**, 387; U.S.D., loc. cit.; Naik, loc. cit.).

पैपेन का अत्याधुनिक उपयोग प्रोटीनलयित माँस, यकृत तथा केसीन का औद्योगिक निर्माण है. अमेरिका में आयात किए हुए पैपेन का एक बड़ा भाग च्यूइंग-गम के व्यापारिक निर्माण तथा माँस को सुकोमल बनाने में लगाया जाता है. माँस के कोमल उत्पाद तनु-ऐल्कोहल जैसे जीवाणु स्तंभक माध्यमों में बनाए जाते हैं. तनु ऐल्कोहल तथा लैक्टिक अम्ल में 5% पैपेन का विलयन, माँस को कोमल बनाने वाले विलयन के रूप में आमतौर पर बेचा जाता है. अधिक समय तक रखने पर इस विलयन की प्रोटीन-अपघटक सक्रियता समाप्त होने लगती है (Balls, loc. cit.; von Loesecke, 89).

पनीर के व्यापारिक निर्माण में जमाए हुए दूध के प्रतिस्थापी के रूप में पैपेन का प्रयोग होता है. दही बनाने के लिए दूध में 10% विलयन 4:100 के अनुपात में मिला दिया जाता है. इससे कम सांद्रता में स्कंदन बहुत कम होता है (Bally, loc. cit.).

आंशिक अम्लीय माध्यम में भी प्रोटीन-पचन क्षमता के कारण पैपेन मद्यकरण-उद्योग में अतिशीतसह यवसुरा बनाने के लिए अत्यधिक उपयोगी सिद्ध होता है. पैपेन, अवक्षेपित प्रोटीन टुकड़ों को पचा देता है जिससे अतिशीतलन के बाद भी यवसुरा जमती नहीं. अमेरिका में लगभग 80% यवसुरा को इसी विधि से ठंडा किया जाता है (Balls, loc. cit.; U.S.D., 820).

कपड़ा-बुनाई व्यवसाय में पैपेन प्राकृतिक रेशम की गोंद हटाने में बहुत उपयोगी है, विशेषतः जबकि रेशम ऊन या रेयन के साथ मिला हो. ऊन पैपेन-अभिक्रिया के बाद कोमल हो जाती है तथा उसमें रेशम जैसी चमक आ जाती है. इस क्रिया से ऊन सिकुड़ती भी नहीं तथा उसे सूती कपड़ों की ही तरह धोया जा सकता है. दाँत साफ करने के पेस्ट और सौंदर्य-प्रसाधन सामग्री बनाने में पैपेन का उपयोग होता है. चमड़ा-उद्योग में इसे चमड़े या खालों को कोमल बनाने के लिए काम में लाया जाता है (Sanders & Robertson, loc. cit.; Lynch, *J. sci. industr. Res.*, 1940, **5**, 37; *Madras agric. J.*, 1942, **30**, 97).

पैपेन, पेप्सिन का स्थान नहीं ले सकता क्योंकि पेप्सिन में इससे अधिक प्रोटीन-अपघटक-सक्रियता होती है, और साथ ही यह सस्ता भी है (Bally, loc. cit.).

व्यापारिक पैपेन की दो श्रेणियाँ होती हैं: (1) धूप में सुखाया हुआ; और (2) ऊष्मक में सुखाया हुआ. ऊष्मक में शुष्कीकरण से प्राप्त पैपेन, क्रीम रंग का तथा अधिक सक्रियता वाला होता है. यह अधिक मूल्यवान होता है. द्वितीय विश्व-युद्ध से पूर्व लंदन में श्रेष्ठ श्रीलंका-पैपेन का औसत मूल्य 8 शिलिंग प्रति 450 ग्रा. था. ऊष्मक में सुखाया हुआ पैपेन, धूप में सुखाए हुए पैपेन से कई गुना अच्छा माना जाता था.

1940 में कलकत्ता में अपरिष्कृत पैपेन का मूल्य लगभग 31 रु. प्रति किग्रा. और शुद्ध पैपेन का 111 रु. प्रति किग्रा. था. युद्ध से पूर्व यही कीमतें क्रमश: 15·5 और 53·5 रु. मात्र थीं (*Bull. imp. Inst., Lond.*, 1933, **31**, 550; Bal, *Indian J. Pharm.*, 1940, **2**, 98).

श्रीलंका और तंजानिया विश्वभर में सबसे अधिक पैपेन का उत्पादन करते हैं. द्वितीय विश्वयुद्ध से पूर्व निर्यात के लिए प्रशान्त महासागर के कैरोलाइन द्वीपों में पैपेन का उत्पादन किया जाता था. भारत में इसका सीमित उत्पादन होता है. बंगाल एवं उत्तर प्रदेश में कुछ मात्रा में पैपेन बनाया जाता है तथा कलकत्ता की एक फर्म लगभग 750–800 किग्रा. पैपेन प्रति वर्ष बनाती है (Bal, loc. cit.).

पैपेन का सबसे अधिक आयात अमेरिका करता है. 1938 में अकेले संयुक्त राज्य अमेरिका ने 1,00,350 किग्रा. अपरिष्कृत पैपेन का आयात किया जिसकी कीमत 3,29,000 डालर थी. 1937 में 81,000 किग्रा. (मूल्य, 2,05,000 डालर) और 1936 में 24,000 किग्रा. (मूल्य, 50,000 डालर) पैपेन का आयात किया गया था. निर्यात की दृष्टि से 1944 तक श्रीलंका का विश्व में प्रथम स्थान था परन्तु इसके बाद से ही तंजानिया (तत्र टाँगानिका) विश्व में पैपेन का प्रमुख निर्यातकर्ता है. पैपेन की माँग में इतनी वृद्धि का कारण संसार में पैप्सिन की कमी बताई जाती है. पैपेन-उद्योग का भविष्य अनन्नास से प्राप्त होने वाले ब्रोमेलिन की मात्रा पर निर्भर करेगा. यह प्रतियोगिता अनन्नास कैनिंग-उद्योग के पुनर्जीवित होने पर गंभीर रूप धारण कर सकती है (Bal, loc. cit.; *Rep. imp. Inst., Lond.*, 1943, 20).

Dasyses rugosellus Stt.; *Pythium* spp.; *Pythium aphanidermatum* (Edson) Fitz; *Oidium caricae* Noack; *Ovulariopsis papayae* Bouriquet; *Gloeosporium*; *Colletotrichum gloeosporioides* (Penzig) Sacc.

करिया नटाल (जूगलैंडेसी) CARYA Nutt.

ले. – कारिआ
Bailey, 1944, 228.

यह उत्तरी अमेरिका की मूलवासी, पर्णपाती, शोभाकारी वृक्षों की लगभग 25 जातियों का वंश है. कई जातियों से खाद्य गुठलियाँ (हिकॉरी नट) तथा मूल्यवान लकड़ी मिलती है जो शक्ति, प्रत्यास्थता, चीमड़पन और कठोरता के लिए विख्यात है. भारत में पीकन नट के वृक्ष (**कै. इलिनोएनसिस** कॉच सिन. **कै. पीकन** एंग्लर और ग्रेबनर, **कै. आलिवीफार्मिस** नटाल) के उगाने का प्रयत्न किया गया किन्तु अधिक सफलता नहीं मिली (Hayes, 250; Firminger, 185).

Juglandaceae; *C. illinoensis* Koch syn. *C. pecan* Engl. & Graebn.; *C. olivaeformis* Nutt.

कैरियाप्टेरिस बुंगे (वर्बेनेसी) CARYOPTERIS Bunge

ले. – कारिओप्टेरिस
D.E.P., II, 206; Fl. Br. Ind., IV, 597.

यह पर्णपाती झाड़ियों या बूटियों की लगभग 12 जातियों का वंश है जो पूर्वी एशिया में पाया जाता है. भारत में इसकी 3 जातियाँ पाई जाती हैं.

कै. वालिशिआना शाअर = **कै. ओडोरैटा** (हैमिल्टन) बी. एल. राबिन्सन (देहरादून – चिंगारी करनी), एक सामान्य एवं आकर्षक लाइलैक पुष्पों वाली झाड़ी है जो सिन्धु के मैदान से भूटान तक, बाहरी हिमालय में, 2,100 मी. तक की ऊँचाई पर पायी जाती है. इसकी लकड़ी साधारण कठोर और गहरे धूसर रंग की होती है जिसमें चेरी-लकड़ी की-सी गंध आती है. इसका उपयोग छड़ियाँ बनाने में होता है (Trotter, 1944, 229).

Verbenaceae; *C. wallichiana* Schauer = *C. odorata* (Hamilton) B. L. Robinson

कैरियोकार लिनिअस (कैरियोकैरेसी) CARYOCAR Linn.

ले. – कारिओकार
Macmillan, 232.

यह उष्णकटिबंधी अमेरिका की मूलवासी, लगभग 22 जातियों वाले वृक्षों एवं झाड़ियों का वंश है. **कै. न्यूसिफेरम** लिनिअस (बटर नट, सोआरी नट) एक ऊँचा वृक्ष है जो श्रीलंका में उगाया जाता है. इसके फल बड़े, गोल और 1–4 बीज वाले होते हैं. प्रत्येक बीज एक कठोर खोल से ढका रहता है. इसकी श्वेत गिरी में, जो गुठल या बादाम की-सी सुरस वाली होती है और खाद्य है, 60% वसीय-तेल रहता है. इसकी भारी और टिकाऊ लकड़ी मुख्यत: जहाज़ बनाने के काम आती है (Bailey, 1947, I, 678).

Caryocaraceae; *C. nuciferum* Linn.

कैरियोटा लिनिअस (पामी) CARYOTA Linn.

ले. – कारिओटा

यह भारत, श्रीलंका, ब्रह्मा, मलेशिया तथा उत्तरी ऑस्ट्रेलिया के उष्णकटिबंधी प्रदेशों में वितरित ऊँचे ताड़ों की 15 जातियों वाला एक लघु वंश है. भारत में 3 जातियों की सूचना है जिनमें से **कै. यूरेन्स** आर्थिक महत्व की है.

Palmae

कै. आब्ट्यूसा ग्रिफिथ C. obtusa Griff.

ले. – का. ओब्टूसा
Fl. Br. Ind., VI, 422.

असम – बरमा सुवार.

यह ताड़, आदत तथा ऊँचाई में बहुत कुछ **कै. यूरेन्स** की तरह है. इसका तना लम्बा, व्यास 45–60 सेंमी. और शिखर लम्बी पत्तियों से युक्त होता है. यह ताड़ ऊपरी असम तथा मिश्मी की पहाड़ियों में 1,020 मी. की ऊँचाई तक पाया जाता है. तने का केन्द्रीय भाग खाद्य है (Blatter, loc. cit.).

कै. माइटिस लॉरीरो C. mitis Lour.

ले.—का. मिटिस

Fl. Br. Ind., VI, 423; Blatter, 347, Pl. LVIII & Fig. 49.

यह 3·6–12 मी. ऊँचा और 10–17·5 सेंमी. व्यास का एक सुन्दर ताड़ है जिसमें पत्तियों (लम्बाई, 1·2–2·7 मी.) के गुच्छे के साथ अनियमित दंतुर पिच्छिका होती है. यह ताड़ भारत में सामान्य नहीं है किन्तु अण्डमान द्वीपों में विस्तृत रूप से पाया जाता है. पत्तियों के निचले भाग से प्राप्त रेशे गद्दे भरने के काम आते हैं. इनसे आग भी सुलगाई जाती है. फलों की गिरी खाद्य है. फल के ऊपरी छिलके को, जिसमें एक विषैला तत्व होता है, हटाकर फल को सुपारी की तरह पान के साथ चुभलाया जाता है. इससे थोड़ी, किन्तु मजबूत लकड़ी प्राप्त होती है जो डच इण्डीज में चर्खों के पहिये बनाने के काम आती हैं. तने के गूदे को जंगली जातियाँ खाती हैं. फलों का ताजा रस त्वचा पर क्षोभ उत्पन्न करता है (Burkill, I, 471; Kirt. & Basu, IV, 2560).

कै. यूरेन्स लिनिअस C. urens Linn.

किट्टुल, सागो, ताड़ी, फिश टेल पाम

ले.—का. ऊरेन्स

D.E.P., II, 206; C.P., 285; Fl. Br. Ind., VI, 422; Blatter, 339, Pl. LVII & Fig. 48.

सं.—माड, दीर्घ; हि.—मारी; गु.—शंकरजटा, शिवजटा; म.—बर्लि, बलिमाड, भैरव, सुरमाड; त.—तिप्पिलि, कुण्डलपनइ; ते.—जिलुगुजट्टु; क.—बगनि; मल.—आनपना, कुण्डपना, वाड़पना; अ.—बाराफलावर; उ.—सलोपा.

यह एक ऊँचा सुन्दर ताड़ है जिसका तना समतल गोलाकार, छल्लेदार और ऊँचाई 12–18 मी. तथा व्यास लगभग 45 सेंमी. होता है. इसमें 5·4–6 मी. लम्बी तथा 3–3·6 मी. चौड़ी पत्तियाँ निकलती हैं. शिखर पर पत्तियाँ समूह में न हो कर (जैसा कि अधिकांश ताड़ों में होता है), नीचे उत्तरोत्तर थोड़ी-थोड़ी दूरी पर निकलती हैं. पत्तियाँ द्विपिच्छाकार तथा पर्णक मछली की पूँछ के आकार के होते हैं. यह तेजी से बढ़ कर, 10–15 साल में पूरी ऊँचाई प्राप्त कर लेता है, इसके बाद यह फूलने लगता है. यह उभयलिंगाश्रयी है. फूल 3–3·6 मी. लम्बे, निलम्बी पुष्प-क्रम पर लगते हैं जो पहले पत्तियों के वृक्ष में रहते हैं और फिर अवस्था बढ़ने के साथ-साथ बढ़ते जाते हैं जब तक कि ताड़ 20–25 वर्ष का होकर मर नहीं जाता.

यह ताड़ भारत, श्रीलंका और मलय का मूलवासी है और अधिक संख्या में पश्चिमी तथा पूर्वी तटों के आर्द्र जंगली प्रदेशों में तथा छोटानागपुर, उड़ीसा, उत्तरी बंगाल और असम की ठण्डी और छायादार घाटियों में समुद्र की सतह से 1,500 मी. तक की ऊँचाई में पाया जाता है. यह प्रायः उद्यानों में लगाया जाता है.

वाहिनी बंडलों से एक प्रकार का मजबूत और कीमती रेशा प्राप्त होता है जो श्रीलंका में किट्टुल रेशा और उड़ीसा में सलोपा कहलाता है. यह रेशा आच्छदों, पर्णवृन्तों और पुष्पवृन्तों के निचले भागों में नग्नावस्था में लगा रहता है. यह पर्णवृन्तों से सरलता से विलग हो जाता है. इसका गठन अत्यन्त महीन रोम तन्तुओं से लेकर 3 मिमी. तक व्यास वाले भारी स्थूल सूत्रों के रूप तक बदलता रहता है. व्यापारिक रेशे चिकने, मजबूत, चमकीले प्रत्यास्थ और अधिक लम्बाई (60–75 सेंमी.) के होते हैं. इनका रंग गहरे भूरे से काला होता है. ऊपर से ये घोड़े के बालों के समान प्रतीत होते हैं और उनकी जगह गाड़ियों की गद्दियों में भरे जाते हैं. श्रीलंका में इनका उपयोग रस्सियाँ बनाने के लिए किया जाता है जो इतनी मजबूत और टिकाऊ होती हैं कि उनसे हाथी और समुद्री नौकाएँ बाँधी जाती हैं. धनुष की डोरी, मछली की कटिया और जाल बनाने में भी रेशों का प्रयोग होता है. रेशों का प्रमुख उपयोग ब्रश तथा झाड़ू बनाने में होता है. इसके लिए रेशों को साफ करने के बाद भपाया जाता है और अलसी के तेल के साथ उपचारित किया जाता है. इनसे तरह-तरह के ब्रश, जैसे बाल, कपड़े और घोड़े के ब्रश, लिनेन और कपड़ों पर पालिश करने के ब्रश, और मूंज के कपड़ों तथा मखमल को साफ करने के ब्रश, इत्यादि बनाए जाते हैं. झाड़ तथा ब्रश बनाने के लिए श्रीलंका से 1939 में 109·5 टन किट्टुल रेशों का निर्यात हुआ, जिसका मूल्य 78,507 रु. था. युद्ध के वर्षों में निर्यात में भारी कमी हुई और 1944 में केवल 26 टन रेशे निर्यातित हुए, जिनका मूल्य 25,404 रु. था. इसमें से 25 टन इंग्लैण्ड भेजा गया. आजकल श्रीलंका में रेशों का अधिकांश उपयोग ब्रश और झाड़ू बनाने में होता है. कई भारतीय ब्रश कारखाने भी किट्टुल के रेशों का उपयोग करते हैं. इन रेशों के उन्नततर उपयोगों की दृष्टि से भारत में प्रयोगात्मक परीक्षण भी हुए हैं (Matthews, 422; *Bull. imp. Inst., Lond., Commercial Plant Fibres of Br. Empire*, 1936, 21; Molegoda, *Trop. Agriculturist*, 1945, **101**, 251; Sircar, *Bull. Dep. Industr., Bombay*, No. 12, 1940).

फूलने के समय से लेकर मृत्युपर्यन्त, अर्थात् लगभग 4–7 वर्षों तक, इससे पर्याप्त मात्रा में मीठी ताड़ी निकलती है. स्थूल मंजरियों (स्पैडिक्स) के पूर्ण रूप से विकसित होने के पूर्व ही रस निकाल लिया जाता है. रस निकालने की विधि पाल्मीरा या नारियल से रस निकालने के ही समान है जिसमें स्पैडिक्सों के समुचित परिपक्व हो जाने पर स्पेथ को खोल दिया जाता है. स्पेथों को प्रारम्भ में ही इस प्रकार नीचे झुका लिया जाता है कि रस उनके समीप लटके बर्तनों में बह कर आ सके. अकेले ताड़ से कम से कम 3–4 स्पैडिक्सों से रस निकाला जा सकता है. इसकी मात्रा ताड़ के ओज और अवस्था के अनुसार बदलती है. रस 3–6 मासों तक निरन्तर निकलता रहता है और प्रतिदिन 4·5–13·5 ली. से लेकर 20–22·5 ली. तक निकलता है. एक ताड़ से प्रति वर्ष 800 ली. तक रस निकल सकता है (Macmillan, 349).

ताजा निकला रस मीठा और पारदर्शक होता है, किन्तु 24 घण्टे तक रखे रहने पर यह किण्वित हो कर हल्का पीला या धुंधला, और खट्टा मादक द्रव का रूप धारण कर लेता है. ताजे रस में 13·6% सुक्रोस तथा अल्प मात्रा में अपचायक शर्करा होती है. किण्वित रस अथवा ताड़ी में 1% अपचायक

शर्करा, 3–4·5% ऐल्कोहल तथा 0·3% ऐसीटिक अम्ल होना है. अकिण्वित मीठी ताडी प्राप्त करने के लिए बर्तनों को लटकाने के पूर्व या तो चूने से पोत दिया जाता है या धूमित कर दिया जाता है कभी-कभी रस के किण्वन को रोकने के लिए **वेटेरिया एक्युमिनेटा** की चूर्णित छाल या **ऐक्रोनिकिया लारीफोलिया सिन. साईमिनोस्मा पेडंक्युलैटा** की पत्तियाँ डाली जाती है (Joachim & Kandiah, *Trop. Agriculturist*, 1938, **90**, 22, Gokhale, *Bull. Dep. Agric., Bombay*, No. 93, 1919, 49).

अकिण्वित ताडी मीठी, ताजगी लाने वाली और स्वास्थ्यवर्धक है. यह स्वच्छ, धूमित सूखे बर्तनो में एकत्रित की जाती है और मलमल से छानने के बाद सोडियम बेन्जोएट (0·4–0·5 ग्रा. प्रति लीटर), डालकर 15 मिनट तक उबाली जाती है. फिर खौलती हुई ताडी स्वच्छ गर्म बोतलो मे भर कर निर्जमित शिखर-कार्क से बन्द कर दी जाती है (Charavanapavan, *Trop. Agriculturist*, 1945, **101**, 258).

मीठी ताडी का उपयोग अधिकतर मिश्री या गुड बनाने मे होता है. इसके लिए ताडी को चिकनी मिट्टी या ताँबे के खुले बर्तनों में डालकर लकडी की मन्द आँच मे उबालते है. रस को निरन्तर चलाते रहते है और समय-समय पर फेन को निकालते जाते है. इसे तब तक चलाते और उबालते रहते है जब तक दाने नही पड जाते. तब कुछ मिनटो तक इसे ठण्डा होने देते है और फिर साँचो मे जमने के लिए डाल देते है. 10 ली. ताडी रस से 1·25 किग्रा. गुड तैयार होता है गुड के विश्लेषण से निम्नलिखित मान प्राप्त हुए: स्यूक्रोस, 76·6–83·5, अपचायक शर्करा, 0·9–0·76, राख, 1·98–1·65, प्रोटीन, 1·79–1·27, तथा पेक्टिन, गोंद इत्यादि, 8·34–6·6%. ताजी अकिण्वित ताडी से अधिक समय तक चलने वाली मिश्री बनती है. श्रीलंका मे इसका अत्यधिक उपयोग खाने की चीनी के रूप मे तथा कुछ मात्रा मे वायुरोधी टिनो मे भर कर निर्यात के लिये किया जाता है (Molegoda, loc. cit.).

किण्वन हो जाने पर मीठी ताडी गुड बनाने योग्य नही रह जाती. ऐसी ताडी को उबालकर गाढ़ी चाशनी बना कर और सोडियम बेन्जोएट मिलाकर सुरक्षित किया जा सकता है. मिठाई इत्यादि बनाने मे इस प्रकार की चाशनी, मैपिल चाशनी (एसर सैकरम से प्राप्त) से अच्छी मानी जाती है. क्रिस्टलन के पश्चात् जो मिश्री प्राप्त होती है उसे श्रीलंका मे 'वेलि हकुरु' कहते है और यह जैम के स्थान मे प्रयुक्त होती है. मीठी ताडी से प्राप्त होने वाले अन्य उत्पाद, अरक, सिरका तथा खमीर है (Koch, *Trop. Agriculturist*, 1945, **101**, 257, Charavanapavan, loc. cit.).

किट्टुल ताड के मुलायम और मंडमय मज्जे से किट्टुल आटा या साबूदाना (सैगो) प्राप्त होता है, जिसके गुण **मेट्रोक्साइलान सागु** राटबोल से प्राप्त सर्वोत्तम व्यापारिक सागू के समान होते है. आटा बनाने के लिए, वृक्षों को वर्षा ऋतु मे, जब वे प्रसुप्त अवस्था मे हो, काट लिया जाता है, मज्जा को अलग करके उसके टुकडे करके पीस लिया जाता है, फिर उसे पानी मे मिला कर कपडे मे छान लेते है. जो स्टार्ची पदार्थ नीचे बैठ जाता है उसे अलग करके सुखा लेते है. ऐसे वृक्षो से सागू की अधिक मात्रा प्राप्त होती है जिन्हे ताडी निकालने के लिए उपयोग मे नही लाया जाता एक ताड से 100–150 किग्रा. आटा प्राप्त होता है. सागू की रोटी या दलिया बनाये जाते है जो शीतलदायी माने जाते है (Molegoda, loc. cit.).

तने की बाहरी लकडी मजबूत तथा टिकाऊ होती है (भार, 880 किग्रा./घमी.). इसका उपयोग कृषि उपकरणों, पानी की चर्खी, टंकी के पाइप, बाल्टियाँ, ड्रम और धान के मूसर बनाने मे होता है. यह हल की हरीस और घर बनाने की कडियो के काम मे भी लाई जाती है. लकडी के लिए अन्तिम बार फलने के बाद पेड को काटना चाहिए. इस पर दीमक का आक्रमण नही होता है. इसके तने का प्रयोग ढोल बनाने मे होता है.

इसका काठ कोयला जडो के कार्बनीकरण से प्राप्त होता है जिसे सुनार पसन्द करते है.

ताड की शिखर-कलिका खाद्य है और गुड के साथ कच्चा या तरकारी बनाकर या अचार बनाकर खाई जाती है.

इसके फल या नट पकने पर लाल से काले रंग के रहते है और इनका व्यास 1·25–2·5 सेंमी. तक होता है. इनका उपयोग बटन और माले की गुरियाँ बनाने इत्यादि के काम में होता है जिसके लिये इन्हे तराशा, रँगा और पालिश किया जाता है. इसका गूदा तिक्त होता है और त्वचा पर लगाने से उत्तेजना पैदा करता है. यह प्यास तथा थकान दूर करता है और आधासीसी दर्द होने पर सिर मे लगाने के लिए इस्तेमाल किया जाता है (Blatter, 345; Burkill, I, 470, Kirt. & Basu, IV, 2558).

Vateria acuminata, *Acronychia laurifolia* syn. *Cyminosma pedunculata*, *Metroxylon sagu* Rottb.

कैरियोफिलस – देखिए सिजीजियम

कैरिसा लिनिअस (ऐपोसायनेसी) CARISSA Linn

ले. – कारिस्सा

यह घनी शाखाओं वाली, काँटेदार, सीधी या आरोही झाडियो और नीचे वृक्षों की लगभग 32 जातियों का वंश है जो मुख्यत. अफ्रीका, ऑस्ट्रेलिया और एशिया के उष्णतर क्षेत्रो मे पाया जाता है. 8 भारतीय जातियों मे से 3 आर्थिक महत्व की है.

Apocynaceae

कै. इनरमिस वाल सिन. कै. मैक्रोफाइला वालिश C inermis Vahl

ले. – का. इनर्मिस

D.E.P., II, 166, Fl. Br. Ind., III, 631.

यह सीधी या आरोही विशाल झाडी है जिसके काँटे मजबूत और टेढे होते है. यह आमतौर से डेकन प्रायद्वीप मे, विशेषतया

पश्चिमी तट के सदाहरित वनों में पायी जाती है. इसका फल खाद्य और कै. करण्डस के फल से बड़ा और उससे बढ़िया बताया जाता है.
C. macrophylla Wall.

कै. करण्डस लिनिअस C. carandas Linn. करौंदा

ले.—का. कारण्डास
D.E.P., II, 165; C.P., 270; Fl. Br. Ind., III, 630.

सं.—करमृदिका, अविघ्न; हिं.—करौंदा; बं.—करम्चा; म.—करवन्द; गु.—करमदा; ते.—वाका; त.—कारकाड; क.—कवलि गिडा.

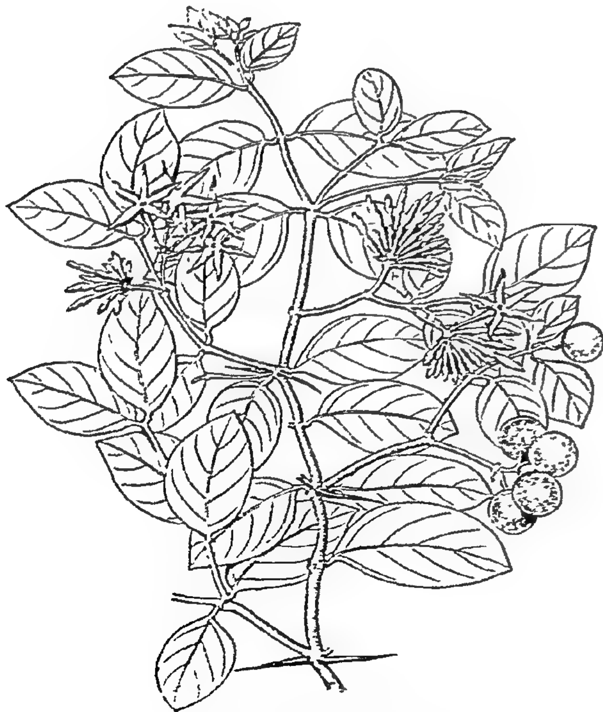
यह युग्मभुजी शाखाओं की विशाल झाड़ी या लघु वृक्ष है, जिसके मजबूत, सरल या द्विशाखित काँटे युग्मों में होते हैं. यह भारत, श्रीलंका और मलक्का में सब जगह, विशेषतया रेतीली या पथरीली भूमि में, जंगली रूप में पाया जाता है. इसे कभी-कभी फलों के लिए बोया भी जाता है.

इसका फल छोटा, दीर्घवृत्तीय, 12–25 मिमी. लम्बा होता है. वह हरे से लाल और अंत में काला, तथा पकने पर चमकदार हो जाता है. कच्चा फल खट्टा और कसैला होता है, और अचार के लिए प्रयुक्त होता है. पका फल मीठा और खाद्य होता है और टार्ट, पुडिंग तथा जेली के लिए विशेष रूप से इस्तेमाल किया जाता है. इस फल में आर्द्रता, 18·2; प्रोटीन, 2·3; वसा, 9·6; कार्बोहाइड्रेट 67·1; और खनिज पदार्थ, 2·8% पाया गया है. कहा जाता है कि इसमें स्कर्वीरोधी गुण होते हैं. यह फल टैनिंग और रँगाई में सहायक पदार्थ की भाँति उपयोगी है (*Hlth Bull.*, No. 23. 1941, 39).

इसकी लकड़ी सफेद, कठोर और चिकनी होती है और चम्मच तथा कंघों के बनाने में इस्तेमाल की जाती है.

जड़ कड़वी, पाचक, और कृमिहर है. इसकी पत्तियों का काढ़ा आन्त्रायिक ज्वर के आरम्भिक दिनों में दिया जाता है.

कै. करण्डस उन वृक्षों में से है जिनकी पत्तियाँ टसर रेशम के कीड़े खाते हैं. इस पौधे की शाखाएँ घनी, काँटे नुकीले और फैले हुए होते हैं. यह बाड़ों के लिए उपयुक्त है (Ghosh, *J. sci. industr. Res.*, 1946, **5**, 243).



चित्र 68—कैरिसा करण्डस

कै. स्पाइनेरम लिनिअस C. spinarum Linn.

ले.—का. स्पिनारुम
D.E.P., II, 166; C.P., 271; Fl. Br. Ind., III, 631.

सं.—करमर्दिका; हिं.—करौंदा; ते.—कलिवी; त.—चीरु, किला; उ.—अंका, कोल.
पंजाब—गान; कश्मीर—गरौंदा.

यह छोटी कँटीली सदाहरित झाड़ी है जो सम्पूर्ण भारत के सूखे क्षेत्रों में, विशेषतया पंजाब और कश्मीर में, पाई जाती है.

इसका फल खाद्य होता है. पत्तियों में प्रचुर टैनिन (9–15%) रहता है जो विशेषतया फाइलैंथस एमब्लिका की टहनियों की छाल जैसे अन्य कषायक पदार्थों के साथ मिलकर, चर्मशोधन के लिए आशाजनक पदार्थ है. इसकी लकड़ी कंघे, चमचे और अन्य वस्तुएँ बनाने के काम आती है (Trotter, 1940, 277).

इसकी जड़ें विरेचक बताई गई हैं (Kirt. & Basu, II, 1548).

यह पौधा अत्यधिक सहिष्णु और न मिटने वाला है. यह बाड़ों के लिए बहुतायत से लगाया जाता है.

कै. ग्रांडिफ्लोरा ए. द कन्दोल का मूलस्थान दक्षिण अफ्रीका है. यह सफेद फूलों और लाल फलों वाला एक शोभाकारी पौधा है. यह लगभग सारे वर्ष फूलता-फलता है और जब इसकी कलम कै. करण्डस पर बाँधी जाती है तो यह अधिक फल देने लगता है. यह भारत में सीमित क्षेत्र में उगाया जाता है (Hayes, 238).
Phyllanthus emblica; *C. grandiflora* A. DC.

कैरेटिया जुस्यू **(विटेसी)** CAYRATIA Juss.

ले.—काइराटिया

यह पूर्वी एवं भूमध्य सागरीय एशिया में वितरित लताओं वाली आरोही झाड़ियों का लघु वंश है. भारत में इसकी 4 जातियाँ पायी जाती हैं.
Vitaceae

कै. कारनोसा (वालिश) गैगनेपेन सिन. **वाइटिस कारनोसा** वालिश; **वा. ट्रिफोलिया** लिनिअस C. carnosa (Wall.) Gagnep. फोक्सग्रेप

ले.–का. कार्नोसा
D.E.P., VI(4), 252; Fl. Br. Ind., I, 654.

सं.–अरण्यवासिनी, अत्यम्लपर्णी; हि.–अमल-बेल, रामचना; बं.–अमल-लता, बुन्दल; म.–अम्बत-वेल, ओरी; गु.–खात, खातुम्ड्; ते.–कृहदिने, कमपुटिगे; त.–तुमन्स; क.–होगोली; मल.–मोरवल्ली.

पंजाब–अमलवेल; असम–घेपेता-लाट; श्रीलंका–वालराट-दियालाव.

यह वृंतीय अथवा कोमल काष्ठमय तने वाली लता है जो भारत, ब्रह्मा और श्रीलंका के समस्त गर्म भागों में पायी जाती है. इसकी जड़ कषाय है. काली मिर्च के साथ पीस कर फोड़ों पर इसकी पुल्टिस बाँधी जाती है. पत्तियों की पुल्टिस रक्तिमाकर की तरह कार्य करती है और फोड़े में तथा बैलों के जुआ रखने से बने घाव में लगायी जाती है. जड़ों या पत्तियों के गर्म काढ़े से सेंकने पर तेज बुखार में पसीना निकलता है (Nadkarni, 895; Burkill, II, 2248).

तनों, पत्तियों एवं जड़ों में हाइड्रोसायनिक अम्ल होता है (*Philipp. Agric.*, 1928, 17, 335; Burkill, loc. cit.).
Vitis carnosa Wall.; *V. trifolia* Linn.

क. पैडाटा (वालिश) गैगनेपेन सिन. **वाइटिस पैडाटा** वाल एक्स वालिश C. pedata (Wall.) Gagnep.

ले.–का. पेडाटा
D.E.P., VI(4), 256; Fl. Br. Ind., I, 661.

सं.–गोधापदी, स्वाहा; बं.–गोआलीलता; म.–गोरपदवेल; ते.–एडाकुलमंडलम आरि, गुम्मडितीगे; त.–काट्पिरंडई; मल.–वेन्नुत्ता मोरिवल्ली, त्रिपदी; उ.–पित्तापोटालो; क.–कामपटिए.

असम–तुमाम्फर-डोखा; श्रीलंका–मेदियावेल.

यह बंगाल, असम, पश्चिमी घाट, श्रीलंका एवं ब्रह्मा में पायी जाने वाली एक काष्ठमय लतर है. पत्तियाँ कषाय होती हैं. पत्तियों का काढ़ा गर्भाशय उलटने से रोकने में काम आता है (Chopra, 538; Nadkarni, 894).

कै. **जैपोनिका** गैगनेपेन और कै. **मोलिसिमा** (वालिश) गैगनेपेन दक्षिणी भारत में पायी जाने वाली लताएँ हैं. दूसरी लता का फल सूजन तथा दर्द करने वाले अंगों में लेप की तरह लगाया जाता है (Burkill, II, 2246).
Vitis pedata; *C. japonica* Gagnep.; *C. mollissima* (Wall.) Gagnep.

करेम्बोला (**करम्बोला**)–देखिए **ऐवरोआ**

कैरोब–देखिए **सेरैटोनिया**

कैलट्राप्स–देखिए **ट्रिब्युलस** (परिशिष्ट–भारत की सम्पदा)

कैला–देखिए **होमैलोनिमा**

कैलाबार बीन–देखिए **फाइसोस्टिग्मा**

कैलाबाश वृक्ष–देखिए **क्रेसेंशिया**

कैलामण्डर वुड–देखिए **डाइआस्पिरास**

कैलामस लिनिअस (पामी) CALAMUS Linn.

ले.–कालामूस
D.E.P., II, 16; C.P., 201; Fl. Br. Ind., VI, 436.

यह ताड़ की लगभग 390 जातियों का वंश है जो उष्ण-कटिबन्धी तथा उपोष्ण प्रदेशों के प्राकृत वनों में पाया जाता है. अधिकांश जातियाँ आरोही लताएँ हैं जो जंगल के वृक्षों पर अपनी पत्तियों या पर्णाच्छद के पंजेदार काँटों की सहायता से या कशाभिका की तरह के पर्ण-रेकिस के प्रवर्धों की सहायता से रेंगती या लिपटती ऊपर चढ़ती हैं. कैलामस की बहुत-सी जातियों के तनों से सामान्य व्यापारिक बेंत प्राप्त होता है. कुछ अन्य सम्बन्धी वंश, जैसे **डेमोनोराप्स, सिरैटोलोबस, प्लैक्टोकोमिया** और **कार्यैल्सिया** भी बेंत प्रदान करते हैं किन्तु यह बेंत अधिक महत्वपूर्ण नहीं है.

कैलामस की लगभग 30 भारतीय जातियाँ हैं जो हिमालय के क्षेत्रों, असम, मालाबार, त्रावनकोर, कुर्ग और श्रीलंका में पायी जाती हैं. इनमें से निम्नांकित आर्थिक दृष्टि से मूल्यवान हैं :

कै. **एकैन्थास्पेथस** ग्रिफिथ (नेपाल–गौरी बेंत; लेपचा–रूह) पूर्वी नेपाल, सिक्किम, भूटान और खासी की पहाड़ियों में पायी जाती है. पर्व, 15 सेंमी. लम्बे और बेंत का व्यास, 2-2·5 सेंमी. होता है.

कै. **अंडमानिकस** कुर्ज अंडमान में पायी जाती है. पर्व, 15-20 सेंमी. लम्बे; और व्यास, 2·5-3 सेंमी. होता है.

कै. **फ्लेजेलम** ग्रिफिथ (असम–नगागोला बेंत; बम्बई–नाग बेंत), एक दृढ़ बेंत है जो उत्तर-पूर्व भारत में पाया जाता है. बम्बई में भी इसके पाये जाने की सूचना है.

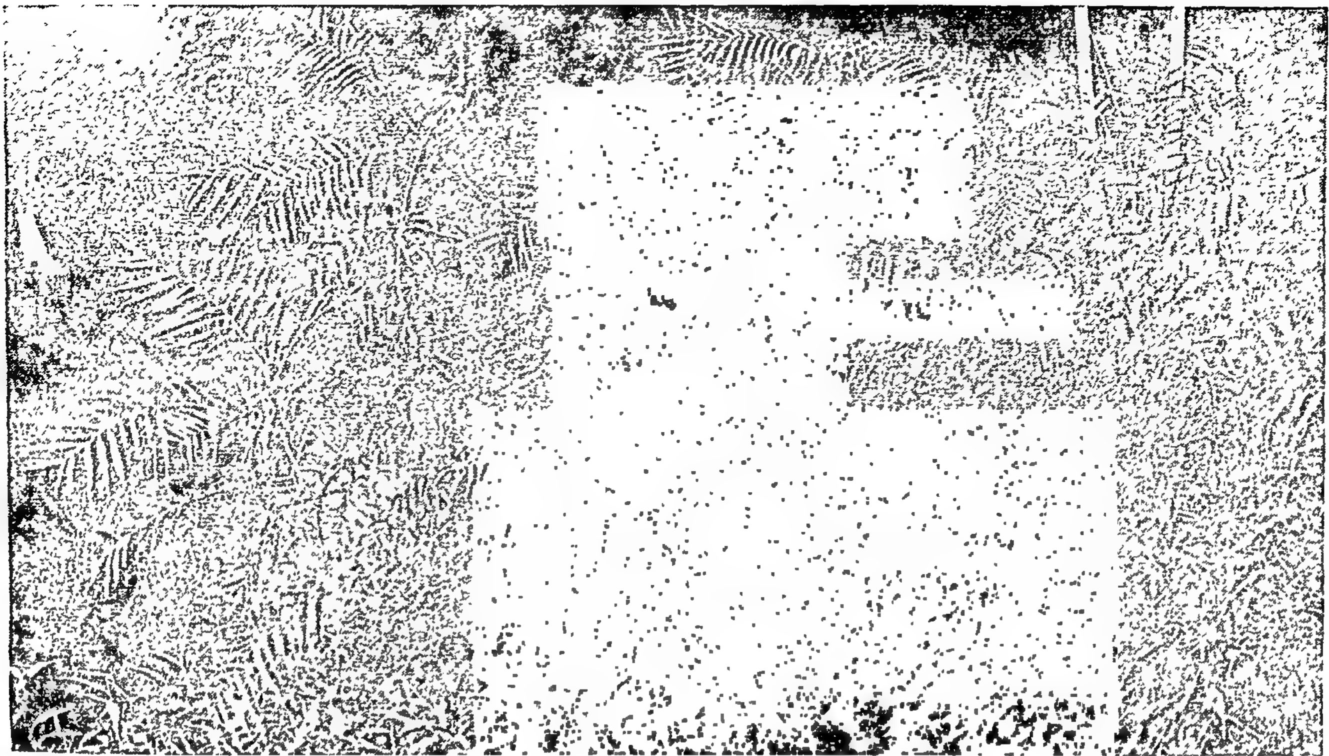
कै. **गुरुबा** बुकनन-हैमिल्टन एक्स कुंथ (उड़ीसा–काँटा बेंत), बंगाल, उड़ीसा, असम और खासी की पहाड़ियों में पाया जाने वाला एक पतला बेंत है.

कै. **लैटीफोलिअस** रॉक्सबर्ग (बं.–कड़क बेंत; लेपचा–रुयाव) पूर्वी बंगाल, और असम में पाया जाता है; पर्व, लगभग 25 सेंमी. लम्बे, बेंत का व्यास लगभग 1·5 सेमी. होता है.

कै. **स्यूडोटेनुइस** बेक्कारी (क.–बेट्टा) एक पतला आरोही बेंत है जो पश्चिमी घाट में अधिकता से पाया जाता है.

कै. **रोटैंग** लिनिअस (सं.–वेत्र; हि. और बं.–नारी बेंत; त.–पेरम्बु; ते.–पेम) मध्य तथा दक्षिण भारत में पाया जाता है. तने पतले किन्तु मजबूत होते हैं.

कै. **टेनुइस** रॉक्सबर्ग (बं.–भंटारी बेंत; हि.–बेंत; अ.–जती बेंत) अधोहिमालय क्षेत्र में देहरादून से असम तक व्यापक



चित्र 69 – कैलामस रोटंग

रूप से पायी जाती है. तने लम्बे होते हैं और **कै. रोटंग** से मिलते-जुलते हैं.

कै. थ्वैटेसाई वेक्कारी (मल.–वलिय, चुरल; क.–जेड्डू बेट्टा) पश्चिमी घाट में पाया जाता है.

कै. विमिनैलिस विल्डेनो वैर. **फैसीकुलेटस** (हि. और बं.–बड़ा बेंत; त. और मल.–पेरम्बु; ते.–पेमु) बंगाल के निचले भाग में तथा उड़ीसा और तमिलनाडु प्रदेश के कुछ भागों में पाया जाता है.

कैलामस की बहुत-सी जातियों में तने लम्बे (कुछ में 90 मी. तक), सामान्यतः बेलनाकार एक समान मोटे, ठोस, तृण-पीत रंग के होते हैं और पर्णाच्छद से थोड़े या अधिक ढके रहते हैं. वे लचीले प्रत्यास्थ और मजबूत होते हैं. बाहर सतह कड़ी, चिकनी और चमकीली होती है. वार्निश की तरह चमकीली सतह का कारण सतह पर सिलिका की पर्त का जमा होना है. **कै. रोटंग** की बाह्य त्वचा में सिलिका की प्रतिशत मात्रा बहुत होती है (लगभग 99%), किन्तु क्रोड स्पंजी होता है. पर्व की लम्बाई तथा मोटाई विभिन्न जातियों में भिन्न-भिन्न होती है, और एक ही जाति के विभिन्न पौधों में भी भिन्नता होती है (Wehmer, I, 122).

भारतीय बेंतों के पूर्ण परिपक्व होने में कितना समय लगता है, यह निश्चित रूप से ज्ञात नहीं है. कुर्ग में यह समय 5 वर्ष माना जाता है. दोनों घाटों के जंगलों में 6 वर्ष का अवधि-चक्र कटाई के लिए निर्धारित किया गया है (Troup, III, 973).

बेंत को एकत्रित करने के लिए प्रौढ़ तनों को आधार से काटते हैं और फिर आधार देने वाले पेड़ों के सिरों से, जिनसे वे लिपटे रहते हैं, उन्हें घसीट लिया जाता है. शिखर के मुलायम भाग निकाल कर फेंक दिए जाते हैं. तनों के ऊपर के आवरण को या तो हँसिया से छील कर या जंगल के पेड़ों के मोटे तनों से रगड़ कर निकाल दिया जाता है. काटने के बाद तुरन्त इन्हें धूप में या आग पर सुखा लिया जाता है. बिना सुखाये बेंतों को रखने पर वे बहुत शीघ्रता से खराब हो जाते हैं (Burkill, II, 1871).

बेंत का औसत वार्षिक उत्पादन (1944–48 के पाँच वर्षों के बीच) इस प्रकार था: बम्बई, 8,700 बोझा (सिर पर), मूल्य, 6,000 रु.; कुर्ग, 123 शकट-बोझ, मूल्य, 5,300 रु.; असम (सदिया, नवगाँव, कछार, सिवसागर, और गारो पहाड़ियाँ) 2,75,35,000 बेंत; त्रावनकोर, 14,58,000 बेंत; और मैसूर, 1,80,000 बेंत (कृषि मंत्रालय से प्राप्त सूचना).

उत्कृष्ट अनम्यता और दृढ़ता के कारण तथा लम्बे होने के कारण बेंत विभिन्न उपयोग में आते हैं. कुछ जातियों से, जैसे **कै. एकैन्थास्पेथस** और **कै. एक्सटेन्सस** रॉक्सबर्ग से बहुत मजबूत बेंत प्राप्त होते हैं, और ये निलम्बित पुलों के रस्सों

तथा केविलों के प्रतिस्थापी के रूप में प्रयुक्त किये जाते हैं. वेंत का उपयोग बुनाई के कार्य में (जैसे कुर्सी, मोढ़ा, आदि के बुनने में), तथा टोकरी और अन्य प्रकार के पात्र बनाने में भी होता है. भारत में इन कार्यों के लिए **कै. एकैन्थास्पेथस**, **कै. अंडमानिकस**, **कै. लैटीफोलिअस**, **कै. रोटैंग** और **कै. टेनुइस** जातियों के वेंतों का ही मुख्य रूप से उपयोग होता है. टोकरी बनाने में मोटा वेंत आधार के लिए तथा पतला वेंत चारों ओर के ताने-बाने के लिए प्रयुक्त होता है. वेंत की टोकरी का उद्योग बंगाल, विहार, रत्नगिरि, कनारा, मैसूर और कुर्ग में पूर्ण विकसित अवस्था में पाया जाता है.

वेंत का सबसे अधिक और व्यापक उपयोग फर्नीचर उद्योग में कुर्सियों और सोफा की पेंदी तथा पीठ बनाने के लिए होता है. इस कार्य के लिए वेंत को चीरा जाता है, बाहर की चिकनी और चमकीली पर्त को अलग कर पतली चपटी कमाची के रूप में काट लिया जाता है और फिर इन कमाचियों से पेंदी और पीठ को बुना जाता है. मलाया से यूरोप में जो वेंत आयात होता है वह मशीन द्वारा छीला हुआ होता है. भारत में चीरने और छीलने का काम हाथ से किया जाता है. **कै. रोटैंग** और **कै. टेनुइस** के तनों को सरलता से चीरा जा सकता है. फलतः फर्नीचर व्यवसाय में इन्हें अधिक पसन्द किया जाता है. अधिक मोटे वेंतों (जैसे **कै. एकैन्थास्पेथस**, **कै. लैटीफोलिअस** और **कै. विमिनैलिस वैर. फैसीकुलेटस** के वेंत) का उपयोग फर्नीचर के फ्रेमों, टहलने की और पोलो खेलने की छड़ियों तथा छातों के हैंडिल बनाने में होता है. **कै. स्यूडोरिवैलिस** बेवकारी विशेष रूप से युद्ध-सामग्री रखने की सन्दूकों के लिए उपयुक्त है. सतह की पर्त निकालने के बाद जो गूदे का भाग बचता है उसे भी कमाची के रूप में छील और काट कर उसका उपयोग फर्नीचर, चलनी और चटाई बनाने में किया जाता है. छिलाई और कटाई में जो नन्हें-नन्हें टुकड़े बचते हैं उन्हें पीस कर संदलित वेंत के नाम से भराई और पैकिंग में तथा सस्ती रस्सी, मोटा टाट, तन्तु-मन्दूक और विभिन्न प्रकार के अन्य सामान बनाने के काम में लाया जाता है (Rodger, 76).

द्वितीय महायुद्ध के पूर्व भारत में बड़ी मात्रा में वेंत का आयात होता था, पूरे आयात का अधिकांश भाग (कुल का 70–80%) स्ट्रेट सेटिलमेंट्स से, और ब्रह्मा तथा मलाया द्वीप समूह से भी आता था. युद्ध के दिनों में आयात बंद हो गया था किन्तु फिर से होने लगा है.

भारत में आयातित वेंतों में कुछ इस प्रकार हैं: **कै. केसिअस** ब्लूम, एक पतला, 6–12 मिमी. व्यास का, फर्नीचर-व्यापार में प्रयुक्त वेंत; **कै. सिपियोनम** लॉरीरो, अपेक्षाकृत मोटा, व्यास 12–37 मिमी., पर्व लगभग 120 सेंमी. लम्बे, मुख्य रूप से उच्च कोटि की टहलने की छड़ियाँ बनाने के लिए प्रयुक्त वेंत; **कै. आनटस** ब्लूम एक्स शुल्ट्ज पुत्र और **कै. मैनन** मिक्वेल जो फर्नीचर के फ्रेम, टोकरियों के आधार, टहलने की और पोलो खेलने की छड़ियों के लिए प्रयुक्त होता है (Burkill, II, 1875, 1882).

कुछ जातियों (जैसे **कै. रोटैंग**) के फलों का श्लेष्मीय, मीठा तिक्त गूदा खाने के काम में भी आता है. **कै. एक्सटेन्सस** रॉक्सबर्ग और **कै. एरेक्टस** रॉक्सबर्ग के बीज सुपारी के प्रतिस्थापी के रूप में प्रयुक्त होते हैं. कुछ जातियों के नये कोमल प्ररोह (जैसे **कै. रोटैंग** के) तरकारी की तरह इस्तेमाल होते हैं. **कै. रोडाई** ग्रिफिथ के सूखे बीजों को चूर्ण करके फोड़ों पर लगाया जाता है, **कै. रोटैंग** की जड़ कम्बोडिया में पेचिश और पित्त में दवा के रूप में तथा ज्वरशामक और टानिक के रूप में प्रयुक्त होती है. पशु-चिकित्सा में इसका उपयोग मृदु विरेचक के रूप में होता है. **कै. ट्रावनकोरिकस** वेडोम एक्स हुकर पुत्र की कोमल पत्तियाँ अग्निमांद्य, पित्त और कान की पीड़ा में तथा कृमिनाशक के रूप में भी प्रयुक्त होती हैं (Caius, *J. Bombay nat. Hist. Soc.*, 1936, **37**, 928).

C. acanthaspathus Griff.; *C. andamanicus* Kurz; *C. flagellum* Griff.; *C. guruba* Buch.-Ham. ex Kunth; *C. latifolius* Roxb.; *C. pseudo-tenuis* Becc.; *C. viminalis* Willd.; *C. pseudorivalis* Becc.; *C. caesius* Blume; *C. scipionum* Lour.; *C. ornatus* Blume ex Schult. f.; *C. manan* Miq.; *C. extensus* Roxb.; *C. erectus* Roxb.; *C. rheedei* Griff.; *C. travancoricus* Bedd. ex Hook. f.

कैलामिंट – देखिए कैलामिन्था

कैलामिन्था मिलर (लेबिएटी) CALAMINTHA Mill.

ले. – कालामिंथा
Fl. Br. Ind., IV, 650.

इस वंश की ऐरोमैटिक बूटियों या झाड़ियों की लगभग 100 जातियाँ शीतोष्ण प्रदेशों में और उष्णकटिबन्धी पर्वतों पर पायी जाती हैं. भारतवर्ष में 4 जातियाँ पायी जाती हैं जिनमें से दो आर्थिक दृष्टि से बहुत कम महत्व की हैं.

कै. क्लाइनोपोडियम बेंथम (अरब – असवा-एल-फनियात) एक प्रकंदी पौधा है जो हिमालय में 1,200–3,600 मी. की ऊँचाई पर कश्मीर से लेकर कुमायूँ तक पाया जाता है. यह पौधा स्तम्भक, वातानुलोमक तथा हृदय टानिक है. इसके प्रकंद में एक टेट्रासैकेराइड, स्टैचिओस ($C_{24}H_{42}O_{21}$) पाया जाता है जो मीठा तथा अन-अपचायक होता है (Chopra, 470; Wehmer, II, 1030).

कै. अम्ब्रोसा फिशर और मेयर (सं. – करिदीर्ण; मल. – करितुम्बा) हिमालय के शीतोष्ण भाग में कश्मीर से भूटान तक 3,600 मी. की ऊँचाई तक, नीलगिरि और पुलनी पहाड़ियों तथा असम, ब्रह्मा और श्रीलंका में पाया जाता है. **कै. क्लाइनोपोडियम** से यह सरलता से पहचाना नहीं जा सकता. त्रावनकोर के कुछ भागों में यह जंगली रूप में बहुत उगता है. पत्तियों और जड़ों में कपूर की-सी सुगन्ध होती है. वायु-शुष्क पत्तियों से एक हल्के पीले रंग का सगंध तेल प्राप्त होता है, (उपलब्धि, 0·35%) जिसकी विशेषताएँ इस प्रकार हैं: वि.घ.$^{27°}$, 0·8854; $n_D^{27°}$, 1·4760; $[\alpha]_D^{30°}$, −45·2°; अम्ल मान, 0·5; ऐसीटिलीकरण के पूर्व तथा पश्चात् के एस्टर मान क्रमशः, 15·9 और 40·7. रासायनिक विश्लेषण से तेल में निर्मोनीन, 65; सिट्रल और वसीय ऐल्डिहाइड, 7; फीनोल, 6; और एस्टर ऐल्कोहल, 12% प्राप्त हुआ. यह तेल 80% ऐल्कोहल में अविलेय है

जिससे इसका उपयोग सीधे सुगंधशाला में नहीं किया जाता (Moudgill, *J. Soc. chem. Ind., Lond.*, 1924, 43, 163T).

कै. ग्रैवियोलेन्स बेंथम के बीजों का भारतवर्ष में फारस से आयात होता है. इनमें उत्तेजक और वाजीकर गुण बताया जाता है (Hooper, *Kew Bull.*, 1931, 306).

Labiatae; *C. clinopodium* Benth.; *C. umbrosa* Fisch. & Mey., *C. graveolens* Benth.

कैलिकोप्टेरिस लामार्क (कोम्ब्रीटेसी) CALYCOPTERIS Lam.

ले – कालिकोप्टेरिस

यह एकल प्ररूपी वंश है जिसका एकमात्र प्रतिनिधि **कै. फ्लोरीबंडा** लामार्क, इण्डोमलय क्षेत्र में वितरित है.

Combretaceae

कै. फ्लोरीबंडा लामार्क C. floribunda Lam.

ले – का. फ्लोरिबंडा

D.E.P., II, 50, Fl. Br. Ind., II, 449.

म. – श्वेतबानकी; हि. – कोकरे; म. – उक्षी; ते. – आदिवीजम वटिमुग्गुड, मुग्गुडनीगे, कालिकार्तागे; क. – मग्गदा; त. – मिंसारगोड़ी; उ. – कुकुँडिया, बोनोती.

मैसूर – मरसदबोली; मध्य प्रदेश – कोहरज; ब्रह्मा – क्यूत-नेनवे, नाहनवे; बम्बई – उक्षी.

यह एक विसर्पी या आरोही झाड़ी है जिसके फूल पीताभ हरे रंग के होते हैं. यह दक्षिण भारत, मध्य प्रदेश, असम, चटगाँव और ब्रह्मा के पर्णपाती वनों में उगती है.

तनों में बड़ी मात्रा में जल इकट्ठा हो जाता है और पानी की कमी होने पर वनवासी आदिम जातियाँ इसके तने का रस पीकर प्यास बुझाती हैं. रस स्वास्थ्य के लिए हानिकारक नहीं है. रस में कुल ठोस, 0·07, कार्बनिक और वाष्पशील पदार्थ, 0·05, और खनिज पदार्थ, 0·02% होते हैं. कार्बनिक पदार्थ में टैनिन, सूक्ष्म मात्रा में ऐल्बुमिनायड और गोंदिल पदार्थ होता है किन्तु स्टार्च और शर्करा नहीं होती. ऐसीटिक अम्ल तथा कुछ अन्य असंयुक्त अम्ल थोड़ी मात्रा में पाये जाते हैं. खनिज पदार्थों में क्लोराइड सल्फेट, सूक्ष्म मात्रा में नाइट्रेट, चूना और फेरिक ऑक्साइड होते हैं (Ryan, *J. Bombay nat. Hist. Soc.*, 1904, 16, 65).

पत्तियाँ कड़वी और कसैली होती हैं और शूल उठने पर काम आती हैं. पीसकर मक्खन के साथ मिलाकर देने पर इनसे पेचिश और मलेरिया-ज्वर ठीक हो जाता है. व्रणों पर लेप के लिए भी इनका इस्तेमाल किया जाता है. ये रेचक और कृमिनाशी भी होती हैं. कृमिनाशक गुण का श्रेय एक चमकदार पीले क्रिस्टलीय फ्लैवोन (5·4′-डाइहाइड्रॉक्सि-3: 6: 7: 8), टेट्रा-मेथाक्सिफ्लैवोन), कैलिकोप्टेरिन, $C_{19}H_{18}O_8$ को है. कैलिको-प्टेरिन निकालने के लिए कोमल टहनियों के बजाय परिपक्व पत्तियाँ अधिक उत्तम स्रोत हैं. कृमिनाशी के रूप में इनकी उपयोगिता को लेकर काफी मतभेद है परंतु मछली और केंचुओं के लिए यह विषैला सिद्ध हुआ है. बहुत संभव है कि चिकित्सा में उपयोगिता सम्बन्धी मतभेद इसलिए पैदा हुआ हो कि भिन्न-भिन्न प्रयोगकर्ताओं ने इसकी अलग-अलग मात्राएँ चुनकर अपने प्रयोग किए. सुझाव यह दिया जाता है कि या तो पत्तियों का गाढ़ा अर्क या शुद्ध कैलिकोप्टेरिन इस्तेमाल किया जाए जिससे निश्चित परिणाम प्राप्त हों. इसके फल का उपयोग कामला या पीलिया के इलाज में किया जाता है (Kirt. & Basu, II, 1033; Rama Rao, 164; Koman, 1919, 8; Seshadri & Viswanadham, *Proc. Indian Acad. Sci.*, 1947, **25A**, 337; Khorana *et al.*, ibid., 1948, **27A**, 121; Khorana & Motiwala, *Indian J. Pharm*, 1948, **10**, 98).

पत्तियों में 7% टैनिन होता है. लकड़ी पीलापन लिए सफेद रंग की और कुछ सख्त होती है, अतः औजारों के हत्थे बनाने के काम आ सकती है (Badhwar *et al.*, *Indian For. Leafl.*, No. 72, 1944, 6).

कैलिट्रिस वेंटेनैट (पाइनेसी) CALLITRIS Vent.

ले. – कालिलट्रिस

यह वृक्षों और झाड़ियों की लगभग 19 जातियों का वंश है, जो ऑस्ट्रेलिया और तस्मानिया में पाया जाता है इस वंश के वृक्षों से रेज़िन, वाष्पशील तेल और लकड़ी प्राप्त होती है.

Pinaceae

कै. कुप्रेसीफार्मिस वेंटेनैट सिन. कै. रॉमबायडिया आर. ब्राउन C. cupressiformis Vent.

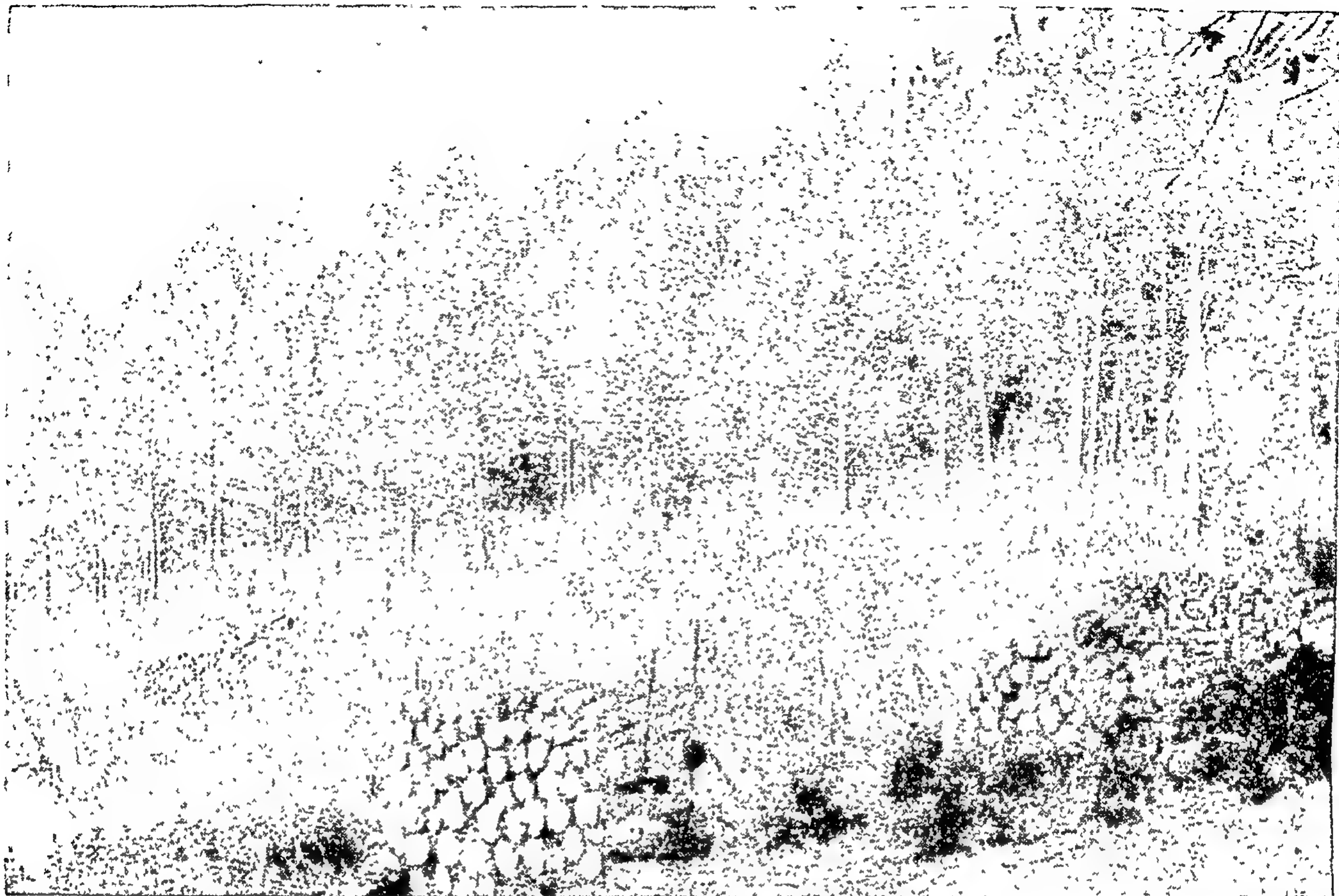
ले. – का. कुप्रेस्सिफोर्मिस

Troup, III, 1168.

त. – कैडिराक्.

यह मध्यम आकार का, साधारणतः 9–15 मी. और कभी-कभी 21 मी. तक ऊँचा शोभाकारी-वृक्ष है जिसकी पत्तियाँ सपल साइप्रस की भाँति होती हैं. भारत में इसको सबसे पहले 1885 में लाया गया और अब यह नीलगिरि पहाड़ के एक बड़े क्षेत्र में फैला हुआ है. तमिलनाडु प्रदेश के अन्य भागों में भी यह सीमित मात्रा में उगाया जाता है. इसकी लकड़ी रेज़िनयुक्त और मुलायम होती है जिससे फर्नीचर-उद्योग में इसकी माँग बहुत कम है. यह मुख्य रूप से ईंधन के लिए उपयोगी है. इस पेड़ का उपयोग बाड़ के लिए तथा अन्य पेड़ों के परिचारक के रूप में भी होता रहा है.

पत्तियों के आसवन से एक सुगंध तेल प्राप्त होता है जिसमें लगभग 50% टर्पीन रहता है. तेल में उपस्थित एस्टर करीब-करीब जिरैनिल ऐसीटेट होता है. *d*, *α*-पाइनीन, *l*-लिमोनीन और डाइपेंटीन भी तेल में पाये जाते हैं. सारणी 1 में विभिन्न स्रोतों से प्राप्त तेल के लक्षण प्रदर्शित किये गये हैं. जिस ऋतु में पत्तियाँ आसवित की जाती हैं, उस पर भी तेल की उपलब्धि निर्भर करती है; गर्मी की ऋतु में शीत ऋतु की अपेक्षा अधिक तेल प्राप्त होता है. किन्तु इसमें संदेह है कि पत्तियों के एकत्रित किये जाने की ऋतु सारणी 1 में अंकित उपलब्धि के



चित्र 70 – कैलिट्रिस कुप्रेसीफार्मिस

सारणी 1 – विभिन्न स्रोतों से प्राप्त तेल के लक्षण*

	नीलगिरि की पत्तियाँ गर्मी में बंगलौर में आसवित की गईं	नीलगिरि की पत्तियाँ शीत ऋतु में वृक्ष के स्थान पर आसवित की गईं	ऑस्ट्रेलिया की पत्तियाँ जनवरी में आसवित की गईं
उपलब्धि, %	0·17	0·039	0·0335
वि.घ.	0·8715 (15° पर)	0·8717 (15° पर)	0·8826 (22° पर)
$n_D^{25°}$	1·4703	1·4723	1·4747
साबु. मान	47·1	51·1	..
एस्टर (जिरैनिल-ऐसीटेट के रूप में)	16·5	17·8	30·43
80% ऐल्कोहल में विलेय	..	21·5 भाग में 1 भाग	7 भाग में 1 भाग

*Finnemore, 55.

अंतरों के लिए उत्तरदायी है (Rao *et al.*, *J. Indian Inst. Sci.*, 1925, **8A**, 144).

कैलिसाय – देखिए सिनकोना

कैलिस्टीफस कैसिनी (कम्पोजिटी)
CALLISTEPHUS Cass.

ले. – काल्लिस्टेफूस

Fl. Br. Ind., III, 249; Firminger, 473.

यह एकल प्ररूपी वंश है और इसका प्रतिनिधि **कै. चाइनेन्सिस** नीस सिन. **कै. होर्टेन्सिस** कैसिनी (चाइना-ऐस्टर) है जो चीन तथा जापान में पाया जाता है. यह भारतीय पुष्प-उद्यानों में भी उगाया जाता है. इसकी अनेक प्रजातियाँ ज्ञात हैं जो फूलों के रंग और आकार में परस्पर विभिन्नता प्रदर्शित करती हैं.

मैदानों में इसके बीज सितम्बर में बोए जाते हैं और पहाड़ों में मार्च में. बेहन 5–5 सेंमी. की दूरी पर लगाई जाती है और बाद में गमलों में अलग-अलग कर ली जाती है.

फूलों से दो मोनोग्लाइकोसाइड, कैलिस्टेफिन और ऐस्टेरिन, प्राप्त किए गए हैं. पहला पेलैर्गोनेनिन का समावयवी है और जल-अपघटित होने पर पेलैर्गोनिन उत्पन्न करता है. ऐस्टेरिन

क्रिसैन्थेमिन के समरूप है जो क्रिसैन्थेमम इंडिकम (गुलदाउदी) से प्राप्त होता है (Wehmer, II, 1217).
Compositae; C. chinensis Nees; *C. hortensis* Cass.; *Chrysanthemum indicum*

कैलिस्टीमान आर. ब्राउन (मिर्टेसी) CALLISTEMON R. Br.

ले. – कालिस्टेमोन
Bailey, 1947, I, 630.

यह वृक्षों और झाड़ियों की लगभग 15 जातियों का एक वंश है. भारत में कुछ जातियाँ शोभाकारी वृक्षों के रूप में उगायी जाती हैं [जैसे, कै. **लैन्सियोलेटस** द कन्दोल. कै. **विमिनैलिस** (सोलांडर) चील, कै. **सैलिगनस** द कन्दोल. और कै. **लिनिएरिस** द कन्दोल]. इस वंश के पौधे सामान्य बोलचाल में बोतल-ब्रुश (या बाटल-ब्रश) के नाम से पुकारे जाते हैं क्योंकि पौधे का फल अंग बोतल के ब्रुश के आकार का होता है.



चित्र 71 – कैलिस्टीमान लैन्सियोलेटस

कै. **लैन्सियोलेटस** (न्यू साउथ वेल्स और क्वीन्सलैंड से प्राप्त) की पत्तियों और टहनियों में 0·06–0·22% सगंध तेल रहता है जिसमें सिनिओल की मात्रा बहुत होती है (35–53%). इस तेल में डाइपेंटीन, सेस्क्वीटर्पीन, लिमोनीन, ऐल्फा-टर्पीनिओल और 0·5% फीनोल भी रहते हैं (Wehmer, II, 830).

इनकी बेरियों के विश्लेषण से आर्द्रता, 51·49; वसा, 5·39; नाइट्रोजनी पदार्थ, 2·97; अपचायक शर्कराएँ, 0·84; अशोधित रेशा, 14·63; और राख, 5·58% प्राप्त हुई. तेल में पामिटिक, स्टीऐरिक, ओलीक, लिनोलिक और लिनोलेनिक अम्ल रहते हैं (*Chem. Abstr.*, 1940, 34, 2623).

न्यू साउथ वेल्स में पाये जाने वाले कै. **विमिनैलिस** की पत्तियों से 2·2% सगंध तेल प्राप्त हुआ जिसमें सिनिओल (लगभग 30%), ऐल्फा-पिनीन, ऐमिल ऐल्कोहल, एक सेस्क्वीटर्पीन और एक फीनोल (2%) उपस्थित पाये गये. क्वीन्सलैंड के तेल में सिनिओल (60–80%), डाइपेंटीन, लिमोनीन, टर्पीनिओल, एक सेस्क्वीटर्पीन और एक फीनोल (0·5%) पाये गये हैं (Krishna & Badhwar, *J. sci. industr. Res.*, 1949, 8, suppl., 199).
Myrtaceae; C. lanceolatus DC.; *C. viminalis* (Soland.) Cheel; *C. salignus* DC.; *C. linearis* DC.

कैलीकार्पा लिनिअस (वर्बिनेसी) CALLICARPA Linn.

ले. – कालिकार्पा

यह झाड़ियों और वृक्षों की लगभग 120 जातियों का वंश है. ये जातियाँ पूर्वी एशिया, मलाया, ऑस्ट्रेलिया, प्रशान्त महासागर के द्वीपों तथा अमेरिका के उष्णकटिबन्धी और उपोष्ण क्षेत्रों में फैली हुई हैं. भारत में लगभग 10 जातियाँ पायी जाती हैं.
Verbenaceae

कै. आर्बोरिया रॉक्सबर्ग C. arborea Roxb.

ले. – का. आरबोरेआ
D.E.P., II, 26; Fl. Br. Ind., IV, 567.

असम – खोजा.

यह एक मध्यम आकार का वृक्ष है जिसका तना प्रायः टेढ़ा-मेढ़ा रहता है, ऊँचाई 3–4·5 मी. और घेरा 45–90 सेंमी. होता है. यह कुमायूँ से बंगाल तक के अधोहिमालय क्षेत्रों, गंगा के ऊपरी मैदान, राजमहल और छोटानागपुर की पहाड़ियों, असम तथा डेकन प्रायद्वीप के उत्तरी सरकार में पाया जाता है.

काष्ठ (भार, 560–608 किग्रा./घमी.; वि.घ., 0·59; कैलोरी मान, 5,164 कै., 9,296 ब्रि.थ.इ.) मध्यम मुलायम होता है और इस पर कीटों का शीघ्र आक्रमण होता है. यह केवल ईंधन की लकड़ी के रूप में और काष्ठ कोयला बनाने के काम आता है (Pearson & Brown, II, 783; Krishna & Ramaswami, *Indian For. Bull.*, N.S., No. 79, 1932, 13).

कै. मैक्रोफिला वाल C. macrophylla Vahl

ले.–का. माक्रोफिल्ला
D.E.P., II, 27; Fl. Br. Ind., IV, 568.

हिं.–दया; बं.–मथरा, मैत्रेया.

यह एक सीधी 1·2–1·8 मी. ऊँची झाड़ी है जो अधो-हिमालय क्षेत्र में हजारा से पूर्व की ओर असम और ब्रह्मा तक पायी जाती है. जड़ से एक सुगन्धित तेल प्राप्त होता है जिसका उपयोग आमाशयी विकार के उपचार में किया जाता है. पत्तियों को गर्म करके आमवात से ग्रसित संधियों के दर्द को दूर करने के लिए बाँधा जाता है (Kirt. & Basu, III, 1922).

कै. लांगीफोलिया लामार्क C. longifolia Lam.

ले.–का. लांगीफोलिआ
D.E.P., II, 27; Fl. Br. Ind., IV, 570.

खासी पहाड़ी–डींग-सोह-कैत-लैंग.

यह पूर्वी बंगाल, असम और ब्रह्मा में पायी जाने वाली एक झाड़ी है. इसकी जड़, पत्ती और छाल स्प्रू रोग के उपाचर में लाभकारी मानी जाती है. पत्तियों का काढ़ा शूल और ज्वर में तथा जड़ों का काढ़ा अतिसार और सिफलिस में दिया जाता है. पत्तियाँ मत्स्य-विष के रूप में प्रयुक्त की जाती हैं (Burkill, I, 403).

कै. लेनाटा लिनिअस=**कै. टोमेण्टोसा** लिनिअस मरे C. lanata Linn.

ले.–का. लानाटा

हिं.–वस्त्र; बं.–मसन्दारी; म.–ऐसर; त.–वेत्तिलैप्पट्टैय वेर्रिलैप्पट्टैय; मल.–नल्लापोंपिल; क.–आदि.

यह एक झाड़ी या छोटा पेड़ है जो समस्त डेकन प्रायद्वीप में तथा श्रीलंका में पाया जाता है.

इसकी लकड़ी गढ़ी जा सकती है और नक्काशी के लिए बहुत उपयुक्त है. श्रीलंका में तथा दक्षिण भारत के कुछ भागों में इसकी छाल पान की तरह चबाई जाती है. छाल और जड़ का काढ़ा ज्वर, यकृत अवरोध तथा त्वचा-रोगों में बहुत लाभदायक है. मुख के ऐपथी रोग में दूध में पत्तियों को उबाल कर उससे कुल्ली की जाती है (Kirt. & Basu, III, 1921).

कै. केना लिनिअस=**कै. कंडिकन्स** (बर्मन पुत्र) होख़रएटिनर (चटगाँव–अड्डुया) लगभग 1·2 मी. ऊँची झाड़ी है जो चटगाँव में पायी जाती है. इससे एक धागा प्राप्त होता है जो कमजोर होता है. पत्तियों का उपयोग उदरीय कष्टों के उपचार के रूप में तथा घावों और फोड़ों पर पुल्टिस के रूप में होता है. मत्स्य-विष के रूप में भी पत्तियाँ काम आती हैं (Burkill, loc. cit.; Quisumbing, *Philipp. J. Sci.*, 1947, 77, 172).

C. cana Linn.; *C. candicans* (Burm. f.) Hochr.

कैलीगोनम लिनिअस (पालीगोनेसी) CALLIGONUM Linn.

ले.–काल्लीगोनूम
D.E.P., II, 27; Fl. Br. Ind., V, 22.

यह झाड़ियों और लघु वृक्षों की लगभग 60 जातियों का वंश है जो उत्तरी अफ्रीका, पश्चिमी एशिया और दक्षिण यूरोप के मरुस्थली क्षेत्रों में पाया जाता है. भारत में केवल एक ही जाति, **कै. पालिगोनायडीज** लिनिअस पायी जाती है.
Polygonaceae

कै. पालिगोनायडीज लिनिअस C. polygonoides Linn.

ले.–का. पोलिगोनोइडेस

अफगानिस्तान–वलंजा, वेरवाजा; पंजाब और सिंध–फोग, फोगल्ली, फोक, तिरनी.

यह धीमी गति से बढ़ने वाली प्रायः पर्णविहीन झाड़ी है जो सिंध से लेकर पंजाब, राजस्थान और बिलोचिस्तान तक पायी जाती है. पौधे में गुलाबी रंग के छोटे फूल निकलते हैं जिनमें रुचिकर गंध होती है. गरीब लोग फूलों को या तो रोटी बनाकर या घी अथवा गरी के तेल में भून कर खाते हैं. फूलों के विश्लेषण से जल, 11·0; पेट्रोलियम ईथर निष्कर्ष, 6·4; ऐल्बुमिनायड, 16·7; शर्कराएँ, 46·1; सेलुलोस, 10·0; और राख, 9·8% प्राप्त हुए. फूलों में काफी प्रोटीन होता है; प्रोटीन और कार्बोहाइड्रेट में 1·0 : 4·8 का अनुपात रहता है जबकि चावल में यह 1·0 : 10·8 होता है (Church, *Kew Bull.*, 1889, 217).

अन्तःकाष्ठ लाल-भूरा, रेशेदार और कड़ा होता है. इसका उपयोग मुख्य रूप से ईंधन के लिए किया जाता है. जड़ का काढ़ा कत्था मिलाकर मसूड़ों की टीस में गरारा करने के लिए प्रयोग किया जाता है (Gamble, 552; Kirt. & Basu, III, 2093).

कैलुम्बा, फाल्स–देखिए **कासीनियम**

कैलुम्बा, मूल–देखिए **जैटिओराइजा**

कैलेंडुला लिनिअस (कम्पोज़िटी) CALENDULA Linn.

ले.–कालेंडूला

यह एकवर्षी और बहुवर्षी बूटियों की लगभग 25 जातियों का वंश है. ये जातियाँ दक्षिण यूरोप, उत्तरी अफ्रीका और पश्चिमी एशिया में फैली हुई हैं. भारत में 2 जातियाँ पायी जाती हैं.
Compositae

कै. आफिसिनेलिस लिनिअस C. officinalis Linn.
गमले का गेंदा

ले.–का. आफिकसिनालिस
D.E.P., II, 24; Fl. Br. Ind., III, 257.

पंजाब–जरगुल.

यह रोमिल, एकवर्षी, 30–60 सेंमी. ऊँचा पौधा है जो उत्तर पश्चिम सीमान्त प्रदेश, पंजाब और सिन्ध में जंगली रूप में

उगता है तथा भारत के अनेक भागों में शोभाकारी वाटिका वृक्ष के रूप में उगाया जाता है. जीभिकाकार पुष्पक चमकीले या नारंगी पीले रंग के होते हैं और सूख जाने पर कैलेंडुला ओषध के नाम से उपयोग में आते हैं.

फूलों में एक अक्रिस्टलीय, तिक्त पदार्थ, कैलेंडुलिन, एक पीला स्वादरहित बसोरिन के सदृश पदार्थ, सूक्ष्म मात्रा में एक सगंध तेल, ओलिएनोलिक अम्ल, एक गोंद, एक स्टेरॉल ($C_{20}H_{34}O_2$, ग.बि., 209°), कोलस्टेरॉल, लॉरिक, मिरिस्टिक, पामिटिक, स्टीऐरिक और पेंटाडिसाइलिक अम्लों के एस्टर, फैराडाइआल (ग.बि., 211°) और आर्नीडाइआल (ग.बि., 257°) पाये गये हैं. यह वर्णक बीटा-कैरोटिन, लाइकोपीन, वायोलैक्सनथिन और कुछ अन्य जैन्थोफिलों का मिश्रण है. पौधों में सैलिसिलिक अम्ल रहता है (0·34 मिग्रा. प्रति किग्रा. ताजे पदार्थ में) और जड़ों में इनुलिन (Wehmer, II, 1256, suppl., 34; *Chem. Abstr.*, 1947, **41**, 1733).

गेंदा एक मृदु ऐरोमैटिक है और इसमें स्वेदल, मूत्रल, तथा उद्दीपक गुण होते हैं. सूखे फूलों का टिंक्चर अनार्तव के उपचार में दिया जाता है और तनु करने के बाद लोशन के रूप में इसका उपयोग मोच तथा नील में होता है. यह पित्त-वर्धक भी माना जाता है. कैलेंडुला का ओषध के रूप में उपयोग अब लगभग अप्रचलित सा है, और यह केसर तथा आर्निका फूलों में मिलावट के लिए प्रयुक्त होता है (B.P.C., 257; *Chem. Abstr.*, 1944, **38**, 5598; Trease, 547).

कैलेन्थी आर. ब्राउन (आर्किडेसी) CALANTHE R. Br.

ले. – कालान्थे
Fl. Br. Ind., V, 847.

यह मुख्य रूप से स्थलीय बूटियों की लगभग 210 जातियों का एक वंश है जिनका उपयोग अलंकरण के हेतु किया जाता है. भारत मे 24 जातियाँ ज्ञात हैं. **कै. वेरैट्रिफोलिया** (विल्डेनो) आर. ब्राउन दक्षिण भारत के पहाड़ी भागों मे तथा श्रीलंका में पाया जाता है. इस पौधे के फलों और पत्तियों मे इंडिकन नामक एक ग्लाइकोसाइड पाया जाता है. इंडिकन को जल-अपघटित करने पर नील प्राप्त होती है.
Orchidaceae, *C. veratrifolia* (Willd.) R. Br.

कैलेमस जड़ – देखिए ऐकोरस

कैलोट्रापिस आर. ब्राउन (ऐस्क्लेपिएडेसी) CALOTROPIS R. Br.

ले. – कालोट्रोपिस

यह लगभग 6 जातियों की झाड़ियों या लघु वृक्षों का वंश है जो उष्णकटिबंधीय और उपोष्ण कटिबंधीय अफ्रीका और एशिया मे फैला हुआ है. भारत में इसकी 3 जातियाँ मिलती हैं जिनमें से दो, कै. जाइगैण्टिया और कै. प्रोसेरा आर्थिक महत्व की हैं.

संरचना और उपयोग में **कै. जाइगैण्टिया** और **कै. प्रोसेरा** एक दूसरे से काफी मिलती-जुलती हैं, दोनों के पौधों से दूध (लैटेक्स) निकलता है जिसमें गटापार्चा सदृश कूचुक और हृदय का एक विष रहता है. बीजों पर छोटे कोमल रेशों वाले चमकदार, हल्के रोम होते हैं. छाल से दृढ रेशा मिलता है.

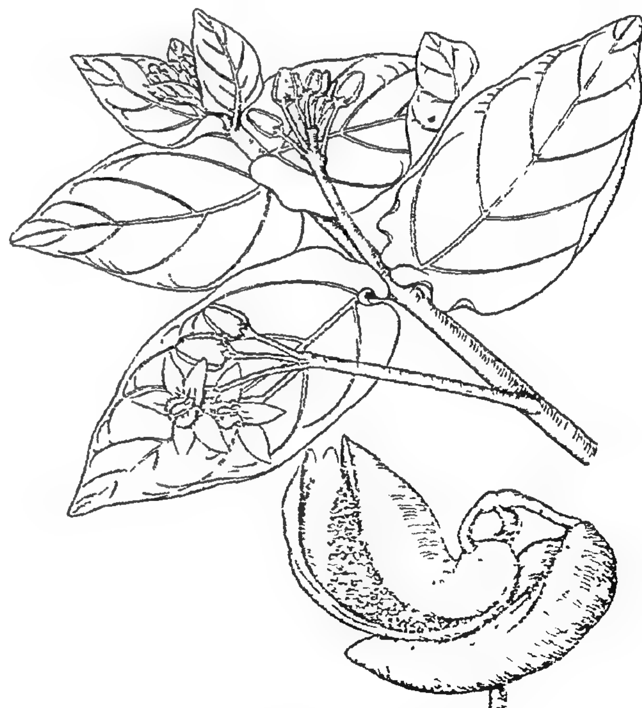
कै. जाइगैण्टिया (लिनिअस) आर. ब्राउन एक्स ऐटन C. gigantea (Linn.) R. Br. ex Ait.

ले. – का. जिगाण्टेआ
D.E.P., II, 33; C.P., 415; Fl. Br. Ind., IV, 17.

सं. – अर्क, मन्दार; हि. – आक; बं. – अकण्डा; म. – रुई; गु. – अकाडो; ते. – जिल्लेडु; त. – अक्कम; क. – एक्क गिडा; मल. – एरिक्क; सिन्ध – बिजालोगा.

यह 2·4–3·0 मी. ऊँची झाड़ी या लघु वृक्ष है जिसमें गंध-रहित, पीत नील-लोहित, या सफेद रंग के फूल होते हैं जिनके दलपुंज पालि फैले हुए होते हैं. यह जाति सारे भारतवर्ष में पायी जाती है.

इसका लैटेक्स पौधे के सभी भागों में रहता है और उसमें जल तथा जल-विलेय अंश, 86·0–95·5; और कूचुक, 0·6–1·9% रहता है. इसके स्कन्दित भाग में कूचुक, 5·1–18·6, रेजिन, 73·6–87·8; और अविलेय पदार्थ, 4·5–13·8%



चित्र 72 – कैलोट्रापिस जाइगैण्टिया

तक होता है. रेज़िन में दो समावयवी रेजिनोल $C_{30}H_{50}O$, α-कैलोट्रोपिग्रोल (ग.वि., 204–205°), और β-कैलोट्रोपिग्रोल, (ग.वि., 216–17°), जो मुख्यतः ऐसीटिक और आइसोवैलेरिक ग्रम्लों के एस्टर-संयोगों के रूप में होते हैं और β-ग्रमीरिन पाये जाते हैं. इससे नाइट्रोजन और गन्धक-धारी हृदय और मछली का विष, जाइगैंटिन (ग. वि., 243°) (अपघटित) भी प्राप्त होता है जो अफ्रीका के कै. जाइगैण्टिया और कै. प्रोसेरा के संयुक्त लैटेक्स से प्राप्त उश्चैरिन के सदृश तो होता है लेकिन समरूप नहीं होता. इसमें थोड़ी मात्रा में बिना पहचाने टेट्रासाइक्लिक यौगिक और कैल्सियम ऑक्सैलेट भी रहते हैं. इसके लैटेक्स में पैपेन के सदृश रंच मात्रा में ग्लुटाथाइग्रोन और एक प्रोटियो-क्लैस्टिक एंजाइम भी रहता है (Budhiraja, *Indian For. Leafl.*, No. 70, 1944, 8; Murti & Seshadri, *Proc. Indian Acad. Sci.*, 1943, **18A**, 145; Bal Krishna *et al.*, ibid., 1945, **22A**, 143; *Chem. Abstr.*, 1941, **35**, 6393; Ganapati & Sastri, *Proc. Indian Acad. Sci.*, 1938, **8B**, 399; Basu & Nath, *J. Indian Chem. Soc.*, 1936, **13**, 34).

इसके लैटेक्स का कोई औद्योगिक उपयोग नहीं हो पाया. इसका सीमित उपयोग चर्मशोधन उद्योग में गन्धहरण, रोम निकालने और त्वचा को पीला रंग प्रदान करने के लिए किया जाता है. इसे फारसी अफीम में मिलावट के लिए प्रयुक्त बताया जाता है (Burkill, I, 414).

इसके तने की छाल में α- और β-कैलोट्रोपिग्रोल, β-ग्रमीरिन, जाइगैण्टियोल, एक रंगहीन मोम, थोड़ी मात्रा में टेट्रासाइक्लिक टर्पीन, और अल्प मात्रा में स्टेरॉल पाये जाते हैं. इसके फूलों में α- और β-कैलोट्रोपिग्रोल, β-ग्रमीरिन, वाष्पशील और दीर्घ-शृंखल वसा-ग्रम्ल, मोमी-ग्रम्लों के एस्टर और ऐल्कोहल रहते हैं (Murti & Seshadri, *Proc. Indian Acad. Sci.*, 1944, **21A**, 8; 1945, **22A**, 304).

इसके तने की छाल से रेशा निकलता है जो सफेद, रेशमी, मजबूत और टिकाऊ होता है. तनन-क्षमता मे यह कपास से अच्छा होता है. इसका उपयोग मत्स्य-जालों और बंसी डोरियों, धनुष डोरियों और डोरा बनाने के लिए किया जाता है. किन्तु फिर भी इस रेशे को निकालने में कठिनाइयाँ उपस्थित होती हैं. कुछ हद तक इसके तने को भफा कर बाद में लकड़ी के बेलनों के बीच दबाकर और मुंगरी से पीटकर पानी में सड़ाने का यत्न किया गया है. छाल को 24–48 घण्टे भिगोकर और पपड़ियों को हटाने के लिए आटोक्लेव करके भी रेशे निकाले जा सकते हैं. इस प्रकार पृथक् किये हुए रेशे को विरंजित करके एक सफेद, प्रत्यास्थ बेलन के आकार का रेशा प्राप्त किया जा सकता है जिसे अकेले या कपास के साथ मिश्रित करके काता जा सकता है. बाजारू सामग्री बनाने के लिए कम मूल्य पर संभरण की नियमितता का आश्वासन होना चाहिए (Sircar, *Misc. Bull. I.C.A.R.*, No. 66, 1948, 43; *Chem. Abstr.*, 1936, **30**, 8603; Burkill, loc. cit.).

इसके बीजों के विश्लेषण से आर्द्रता, 7·4; प्रोटीन, 27; ईथर निष्कर्ष, 26·8; अशोधित तन्तु और नाइट्रोजन रहित निष्कर्ष, 32·4; और राख, 6·55% प्राप्त हुए. इसके बीजों से निष्कर्षित तेल जैतून जैसा हरित तरल होता है जिसके ग्रम्ल प्रभाज में पामिटिक, 15; ओलीक, 52; लिनोलीक, 32; और लिनोलेनिक ग्रम्ल, 0·9% रहते हैं. इसके बीज मोम के असाबुनीकृत प्रभाज (31%) से फाइटोस्टेरॉल, ग.वि., 136°; स्टिग्मास्टेरॉल, ग.वि., 170°; मेलिसिल ऐल्कोहल; और एक हाइड्रोकार्बन, लारेन $C_{20}H_{42}$ (0·6%) प्राप्त हुए (Wehmer, II, 1001).

बीजों पर एक उत्कृष्ट, कोमल, चमकीला और लचीला मलाई के रंग का रेशमी तन्तु होता है, जिसके विश्लेषण से आर्द्रता, 7·2; विलेय पदार्थ, 4·7–9·7; लिग्निन, 15·5; मोम, 6·4; सैकैरोस, 0·4; और राख, 3·64% निकली. इसमें पीताभ-भूरा रंजक पदार्थ, क्लोरोफिल, एक रेजिन, और एक क्रिस्टलीय असंतृप्त पदार्थ रहते हैं. इसमें एक तिक्त विषैले पदार्थ की उपस्थिति भी बताई गई है (Wehmer, loc. cit.).

इसके रेशमी तन्तु गद्दों, तकियों इत्यादि के भरने के काम आते हैं. रेशे छोटे होने के कारण स्वयं नहीं काते जा सकते लेकिन इन्हें कपास के साथ मिलाकर काता जा सकता है. रासायनिक उपचार से भी इन्हें काता जा सकता है लेकिन विरंजित नहीं किया जा सकता (Burkill, loc. cit.).

इसका रेशमी तन्तु कभी-कभी भारतीय सेमल (**सालमैलिया मलाबारिका**) में मिलावट करने के लिए प्रयुक्त किया जाता है लेकिन लचीलेपन में और विकर्षण गुणों में यह घटिया है, भले ही इसमें उत्तम उत्प्लावन गुण पाया जाता है. इंगलैण्ड के व्यापार-मण्डल ने समझौता किया है कि रक्षा-पेटी के काम आने वाले भारतीय सेमल में कैलोट्रापिस का रेशमी तन्तु नहीं रहना चाहिए. इसे अपनी अधिक लम्बाई (3·5–4·5 सेंमी.) और अधिक मोटाई (·0045–·0065 सेंमी. व्यास) के कारण सेमल से पहचाना जा सकता है (Ghose, *Indian For. Leafl.*, No. 32, 1942).

इसकी जड़ की छाल में, β-ग्रमीरिन, 2 समावयवी क्रिस्टलीय ऐल्कोहल-जाइगैण्टियाल, ग.वि., 223–24°, और आइसो-जाइगैण्टियाल, ग.वि., 117–18°, जो सम्भवतः डाइहाइड्रिक हैं और कैलोट्रोपिग्रोल के समान रंग अभिक्रियायें देते हैं, पाये जाते हैं. इससे एक रंगहीन पदार्थ (ग.वि., 162°), जो संभवतः एक टेट्रासाइक्लिक ट्राइटर्पीन ऐल्कोहल है, वसीय पदार्थ के असाबुनीकृत अंश से प्राप्त किया गया है (Murti & Seshadri, *Proc. Indian Acad. Sci.*, 1944, **21A**, 147; 1945, **22A**, 138).

कै. जाइगैण्टिया की राख (12·7%) में प्रचुर पोटैश (20·8%) रहता है. इसकी लकड़ी से हल्का कोयला बनता है जिसका उपयोग बारूद और आतिशबाजी में किया जाता है (*Indian For. Leafl.*, No. 95, 1947, 6).

दूध त्वचा और श्लेष्मक-झिल्ली का उत्तेजक है. इसके निष्कर्ष को मेढक के लसीका-कोश में इन्जेक्शन देने से हृदय की गति मन्द हो गई और तीव्र जठर-आंत्रशोथ उत्पन्न हो गया (Sharma, *Indian J. vet. Sci.*, 1934, 4, 63).

इसका लैटेक्स **यूफोर्बिया नेरीफोलिया** के साथ मिलाकर एक देशी दवा में उग्र-रेचक के रूप में प्रयुक्त किया जाता है. इसे एक स्थानीय उत्तेजक के रूप में भी प्रयुक्त करते हैं (Chopra, loc. cit.).

इसका तना, जड़ की छाल, फूल और पत्ते भी दवा के काम आते हैं. इसकी पत्तियों का एक टिंक्चर विरामी ज्वरों

की चिकित्सा में प्रयुक्त किया जाता है. चूर्णित फूल थोड़ी खुराक में जुकाम, खाँसी, दमा और अजीर्ण की चिकित्सा में उपयोगी बताये जाते हैं. चूर्णित जड़ की छाल पेचिश में आराम पहुँचाती है. क्रिया में जड़ की छाल इपेकाकुअन्हा के समान कही जाती है. थोड़ी खुराक (0·2–0·6 ग्रा.) में यह प्रस्वेदक और कफ-निस्सारक है, किन्तु अधिक मात्रा (2–4 ग्रा.) में यह वमनकारी है. इसकी जड़ की छाल लेई के रूप में, हाथी पाँव में लेप की जाती है (Koman, 1919, 15; B.P.C., 259; Chopra, loc. cit.).

आक-विषाक्तन होने पर शामक और लसदार पेय, दूध, चावल का दलिया, इत्यादि देना चाहिए, और दर्द कम करने के लिए मार्फीन और एट्रोपीन देना चाहिए. त्वचा-दाह में ठंडे पानी से धोकर और बाद में ग्लिसरीन, बेलाडोना जैसे शान्तिदायक विरचनों का प्रयोग करना चाहिए.

Salmalia malabarica; Euphorbia neriifolia

कै. प्रोसेरा (ऐटन) आर. ब्राउन C. procera (Ait.) R. Br.

ले.—का. प्रोसेरा

D.E.P., II, 49; C.P., 413; Fl. Br. Ind., IV, 18.

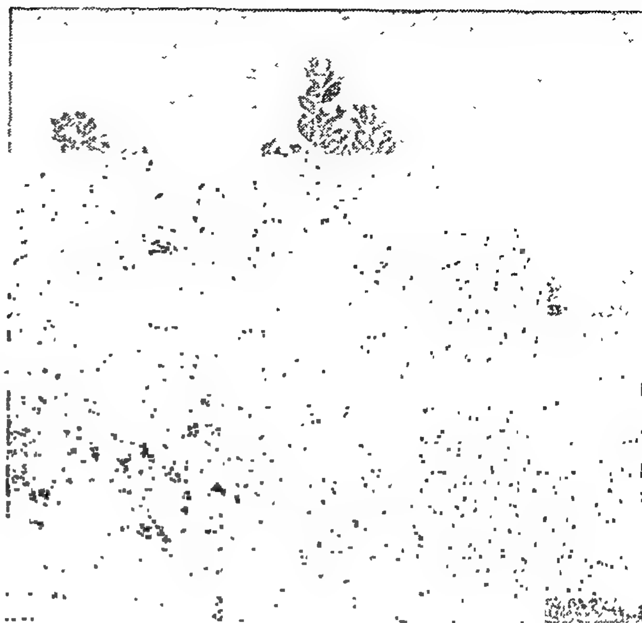
सं.—आलार्क; हिं.—आकडा; म.—मन्दार; त.—वेल्लेरुक्कु.

यह 1·8–2·4 मी. ऊँची झाड़ी है जिसमें बैंगनी-चित्तीदार गुलाबी सुगन्धित फूल लगते हैं. इस जाति की पंखुड़ियाँ **कै. जाइगैण्टिया** जैसी न होकर न्यूनाधिक सीधी होती हैं.

कै. प्रोसेरा के लैटेक्स में जल तथा जल-विलेय पदार्थ, 88·4–93·0; और कूचुक, 0·8–2·5% रहता है. इसके स्कन्दित अंश में रेजिन, 52·8–85·0; और कूचुक, 11·4–22·9% रहता है. इसके लैटेक्स में ट्रिप्सिन, एक सक्रिय लैवएंजाइम, तथा एक हृदय-विष होता है. अफ्रीकी पौधे के लैटेक्स से, α-लैक्ट्युसिरिल आइसोवैलेरेट, ग.वि., 181°; α-लैक्ट्युसेराल ऐसीटेट, ग.वि., 252°, पृथक् किये जा चुके हैं. जल-अपघटन करने से इन दोनों से α-लैक्ट्युसेराल, $C_{30}H_{50}O$, ग.वि., 224·5° प्राप्त होता है जिसे आइसो-लैक्ट्युसेराल, ग.वि., 201° में बदला जा सकता है. **कै. प्रोसेरा और कै. जाइगैण्टिया** में मिश्रित लैटेक्स से, उश्चैरिन, $C_{31}H_{41}O_8NS$, ग.वि., 265° (अपघटित हो जाता है), कैलोटाक्सिन, $C_{29}H_{40}O_{10}$, ग.वि., 244° (अपघटित हो जाता है) और कैलैक्टिन पृथक् किये जा चुके हैं. जल-अपघटन करने पर उश्चैरिन से उश्चरिडिन, ग.वि., 290° (अपघटित हो जाता है) बनता है जो वीरैक्स के साथ कैलोट्रापिन से प्राप्त समरूप, आइसोऐनहाइड्रो कैलोट्रोपैजेनिन उत्पन्न करता है. सोडियम हाइड्रॉक्साइड द्वारा उपचारित करने पर कैलोटाक्सिन, स्यूडो-कैलोट्रोपैजेनिन, ग.वि., 240–42°, उत्पन्न होता है (Budhiraja, loc. cit.; Wehmer, loc. cit.; *Chem. Abstr.*, 1939, **33**, 1742; 1941, **35**, 4387).

कै. प्रोसेरा की पत्तियों और वृन्तों में कैलोट्रापिन, $C_{29}H_{40}O_9$, ग.वि., 221° (अपघटित हो जाता है) और कैलोट्रोपैजेनिन, $C_{23}H_{32}O_6$, ग.वि., 240° रहते हैं (*Chem. Abstr.*, 1937, **31**, 1031).

कै. प्रोसेरा के लैटेक्स के गुण **कै. जाइगैण्टिया** के समान होते हैं और यह वैसे ही प्रयुक्त होता है. इसका रेशमी तन्तु



चित्र 73 – कैलोट्रापिस प्रोसेरा

भी **कै. जाइगैण्टिया** के सदृश है लेकिन छोटे (रेशे की लम्बाई, 3–4 सेंमी.) और पतले (0·0030–0·0045 सेंमी. व्यास में) होते हैं. भारतीय सेमल के साथ **कै. प्रोसेरा** के रेशमी तन्तु का अपमिश्रण वर्जित है क्योंकि यह **कै. जाइगैण्टिया** के रेशमी तन्तु के सदृश, जल लग्नता की प्रवृत्ति दिखाता है. इसके तने से **कै. जाइगैण्टिया** जैसा रेशा प्राप्त होता है.

यदि एनावैन की अंतःशक्ति 100 मान ली जाए तो लैटेक्स में उपस्थित कैलोट्रापिन, उश्चैरिन, और कैलोटाक्सिन इनकी ह्लादकी अन्तःशक्तियाँ क्रमशः 83, 58 और 76 होंगी. आक-रस (**कै. प्रोसेरा और कै. जाइगैण्टिया**) से उश्चैरिन और उश्चरिडिन बनाने के लिए एक विधि पेटेण्ट की जा चुकी है (*Chem. Abstr.*, 1941, **35**, 6393; 1942, **36**, 2921).

कै. प्रोसेरा बहुधा कृष्य भूमियों में अपतृण के रूप में पाया जाता है. 2,4-डाइक्लोरोफीनाक्सी-ऐसीटिक अम्ल का 0·3% घोल छिड़क कर इसे नियंत्रित किया जा सकता है (*Chem. Abstr.*, 1947, **41**, 2196).

कैलोनिक्टियान च्वायसी (कानवलवुलेसी)
CALONYCTION Choisy

ले.—कालोनिक्टिओन

यह बहुवर्षीय वृंतीय आरोही पौधों की लगभग 5 जातियों का वंश है. ये पौधे उष्णकटिबंधी प्रदेशों में पाये जाते हैं. पहले इन्हें **आइपोमिया** में सम्मिलित कर लिया गया था, किन्तु

बाद में पृथक् कर लिया गया है. आजकल पुन. इस समूह को आइपोमिया के अन्तर्गत रखने की प्रवृत्ति है.
Convolvulaceae

कै. ऐकुलिएटम हाउस (**आइपोमिया** एल्वा लिनिअस) सिन. **आइपोमिया बोनानाक्स** लिनिअस = **कैलोनिक्टियान बोनानाक्स** वोजर; **कै. स्पेसीओसम** च्वायसी C. aculeatum House मून फ्लावर

ले. – का. अकूलेआटूम
D.E.P., IV, 483, Fl. Br. Ind., IV, 197.

स. – चन्द्रकान्ति, मन्दवल्ली; हि. और वं. – दूधिया कल्मी; त. – नागनामुक्कोडी; ते. – पंडिती वनकय्या; मल. – मंदवल्ली.
बम्बई – चन्द्रकान्ता, गुलचांदनी.

यह एक शोभाकारी बूटी है जिसमे दूधिया रस निकलता है और रात्रि मे सुगधयुक्त सफेद फूल खिलते हैं यह भारत मे सभी स्थानो मे उगायी जाती है.

इसकी कोमल पत्तियाँ और गूदेदार वाह्यदल-पुज सब्जी के रूप मे प्रयुक्त होते हैं. जड की छाल विरेचक होती है (Burkill, I, 405)

इससे एक रेजिन की तरह का पदार्थ प्राप्त किया गया है जो कैस्टिला लैटेक्स स्कन्दित कर देता है (Wildman *et al.*, *Science*, 1943, **97**, 471).
Ipomoea alba Linn. *Ipomoea bona-nox* Linn. = *Calonyction bona-nox* Bojer, *C. speciosum* Choisy

कै. म्यूरिकेटम डान [**आइपोमिया म्यूरिकेटा** (लिनिअस) जैक्विन] C muricatum Don

ले – का. मूरिकाटूम
D.E P., IV, 487, Fl Br. Ind., IV, 197.

हि. और व. – मिचई; गु. – गरायो; म. – भोणवारी; त. – काट्टुताली.
बम्बई – गैरिया; तमिलनाडु – मुक्कट्टीकैय.

यह जाति हिमालय के क्षेत्रों मे 1,500 मी. की ऊँचाई तक और गगा के मैदान, डेकन की पहाड़ियों, ब्रह्मा और श्रीलंका मे पायी जाती है. यह **कै. ऐकुलिएटम** से छोटी है. इसके फूल नीले या नील-लोहित रंग के होते हैं.

पौधे का रस खटमलों को विनष्ट करने मे प्रयुक्त होता है. फूले पुष्पवृन्त खाद्य हैं. बीज तिक्त और विरेचक हैं और इन्हे चूर्ण करके ज्वरशामक के रूप में प्रयुक्त किया जाता है. बम्बई मे बीज का आयात बडी मात्रा मे तुक्म-ऐ-नील के नाम से होता है (U.S.D., 1495, Kirt. & Basu, III, 1711).

बीजों मे 8·74% अवाष्पशील तेल प्राप्त होता है जिसके अभिलक्षण हैं : आ घ.$^{30°}$, 0·9164, $n_D^{30°}$, 1·4528, आयो. मान (हैनस), 68·57; साबु. मान, 200. इस तेल में पामिटिक, 13·6; स्टीऐरिक, 22·5; लिनोलेनिक, 3·91; लिनोलिक, 15·2; ओलीक, 40·97; और विहेनिक अम्ल, 3·78% पाये जाते हैं. विहेनिक अम्ल की अपेक्षाकृत अधिक सान्द्रता का होना दृष्टव्य है (Kelkar *et al.*, *J. Indian chem. Soc.*, 1947, **24**, 87).
Ipomoea muricata (Linn.) Jacq.

कैलोपोगोनियम देसवो (लेग्यूमिनोसी) CALOPOGONIUM Desv.

ले. – कालोपोगोनिऊम

यह बूटीय या कुछ-कुछ काष्ठीय आरोहियो का लघु वश है जो उष्णकटिबन्धी अमेरिका का देशज है. इसकी एक जाति, **कै. म्यूकुनॉइडीज** देसवो कई उष्णकटिबन्धीय देशो में हरी खाद या भूमि संरक्षी फसल के रूप में उगाई जाती है.
Leguminosae

कै. म्यूकुनॉइडीज देसवो C. mucunoides Desv.

ले. – का. मूकूनोइडेस

यह एकवर्षी या बहुवर्षी, विसर्पी या आरोही पौधा है जो भारतवर्ष और ब्रह्मा मे रबर और अन्य बागानो मे परीक्षण के तौर पर भूमि सरक्षी फसल के रूप मे प्रविष्ट की गई है, किन्तु बाद मे सतोषजनक न होने के कारण परित्यक्त कर दी गई है. इसे जावा, मलय और श्रीलका मे नौतोरो के लिए अत्यन्त उपयोगी बताया गया है. लगभग छः महीनो बाद, इससे 60 टन हरी खाद प्रति हेक्टर उत्पन्न होती है जो अमोनियम सल्फेट के 1,255 किग्रा. के तुल्य है. यह छाया मे जीवित नही रह सकता. इसे जानवर पसन्द नही करते. सूखे मौसम मे यह मुरझा जाता है और इसमे आग लग सकती है (Sampson, *Kew Bull., Addl Ser.*, XII, 1936, 28, Burkill, I, 413; Use of Leguminous Plants, 180).

इसके बीजो मे वसा, 10·34; पूर्ण नाइट्रोजन, 5·82; ऐल्वुमिनी नाइट्रोजन, 4·86; सेलुलोस, 13·74; पेण्टोसन, 6·89; पोलीओस, 20·20, और राख, 4·14% होती है. इसकी वसा मे ऐराकिडिक, पामिटिक, ओलीक और लिनोलिक अम्ल रहते हैं (*Chem. Abstr*, 1936, **30**, 4899).

कैलोफिलम लिनिअस (गुट्टीफेरी) CALOPHYLLUM Linn.

ले. – कालोफिल्लूम

इस वंश मे वृक्षो की लगभग 130 जातियाँ सम्मिलित हैं जो पुरानी दुनिया के उष्णकटिबन्धो मे फैली हुई हैं. इनमे से 7 जातियाँ भारत मे पायी जाती हैं. बहुत-सी जातियों मे मूल्यवान लकड़ी प्राप्त होती है. कैलोफिलम की समस्त भारतीय जातियो की लकडी देखने मे एक-सी होती है और व्यापार मे 'पून' श्रेणी रखी जाती है. कुछ जातियो के फूल बहुत सुन्दर तथा पत्तियों की शिरायें समान्तर होती हैं. इन्हे शोभा के लिए लगाया जाता है.
Guttiferae

कै. इनोफिलम लिनिअस C. inophyllum Linn.

ऐलेक्जेण्ड्रियन लॉरेल

ले.–का. इनोफिल्लूम

D.E.P., II, 29; C.P., 204, Fl. Br. Ind., I, 273.

स.–नागचम्पा, पन्नग; हि. और ब.–सुल्तान चम्पा; म–उण्डी, मुरंगी; ते.–पाउना; त.–पुन्नैवू, पिन्नावू; क.–मुर-होन्ने; मल.–पुन्ना; उ.–पूनंग.

ब्रह्मा–पुन्नयेत, श्रीलंका–दोम्बा, व्यापार–पून.

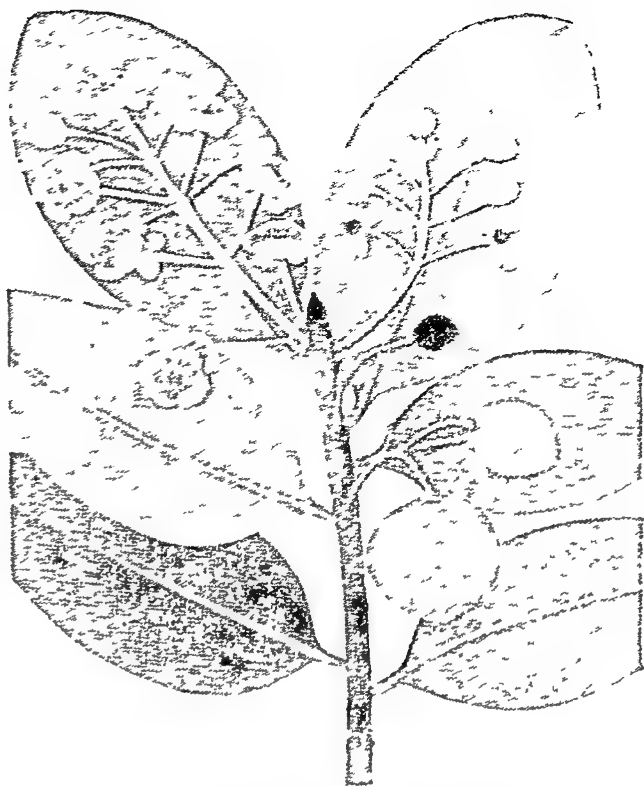
यह मँझोला, सदाहरित, अर्धो-समुद्रीय तथा सुगन्धित फलों वाला वृक्ष है जो दक्षिण भारत के तटीय क्षेत्र, अण्डमान द्वीप, ब्रह्मा और श्रीलंका में पाया और वाटिकाओं में शोभा के लिए उगाया जाता है. दक्षिण भारत और अण्डमान के पेड़ों से लगभग 3·6 मी. लम्बे और 1·2 मी. घेरे के छोटे लट्ठे प्राप्त होते हैं, किन्तु दक्षिण टैनासेरिम में लगभग 9 मी. तक लम्बे सीधे तने के पेड़ पाये जाते हैं और उनसे लम्बे लट्ठे प्राप्त होते हैं. बलुहे क्षेत्रों में पौधों का प्रवर्धन बिना किसी कठिनाई के बीजों द्वारा किया जा सकता है.

काष्ठ हल्के लाल से लाल-भूरा, सामान्य भारी (वि.घ., 0·55–0·90; भार, 608–928 किग्रा./घमी.) अन्तर्ग्रथित दानों वाला और मध्यम गठन का होता है.

इसकी इमारती लकड़ी काफी मजबूत होती है, इसकी अनुप्रम्य शक्ति सागौन की अपेक्षा 24% के भीतर ही, भंजन शक्ति, 9,340; यंग का मापांक, 10,60,000; अनाज के समकक्ष संदलन शक्ति, 470 किग्रा./वर्ग मिमी. है. इमारती लकड़ी भली-भाँति सिझाई जा सकती है लेकिन सतह पर दरारें पड़ने की सम्भावना रहती है. कहते हैं कि यह पानी के अन्दर विशेष रूप से स्थायी होती है. इसे चिकना करके इस पर उत्कृष्ट पालिश की जा सकती है (Pearson & Brown, I, 46).

इसकी लकड़ी स्तम्भों, कड़ियों, फर्नीचर, सवारी डिब्बों, पीपा बनाने और क्रेन दण्डों के लिये प्रयुक्त की जाती है. इसको पोत-निर्माण के लिए, विशेषकर नौतलों और गरारी-पिण्डों के लिए भी, काम में लाया जाता है. मछवाही नावों, अल्मारियों और कभी-कभी रेलगाड़ी के स्लीपरों के लिए भी उपयोग किया जाता है.

ताजे बीजों के विश्लेषण में आर्द्रता, 27·23, राख, 1·07; प्रोटीन, 6·41; वसा, 60·72; कार्बोहाइड्रेट, 4·07% प्राप्त हुए. गिरियाँ (फल की 43–52%), 50–73% गहरा हरा-श्यान तेल प्रदान करती हैं जो डोम्बा, लॉरेल नट, डिल्लो, पिन्नेय या पूनबीज तेल जैसे अनेक नामों से ज्ञात है. निष्कर्षित और संदलित दोनों प्रकार के तेलों में अप्रिय गंध और स्वाद होता है. अनेक कार्यकर्त्ताओं ने इनके लक्षणों की जो सीमायें बताई हैं वे इस प्रकार हैं: वि.घ.$^{15°}$, 0·9415–0·9452, $n_D^{15°}$, 1·4699–1·4772; साबु. मान, 191–202; आयो. मान, 82–98; अम्ल मान, 27–78; आर. एम. मान, 0·13–0·50; असाबु पदार्थ, 0·25–1·4%. असाबुनीकृत पदार्थ में सिस्टोस्टेरॉल पहचाना गया है. इसके तेल में रेजिनी पदार्थों की सान्द्रता 10–30% तक परिवर्तित होती रहती है. एक अपरिष्कृत तेल के नमूने का परीक्षण फारेस्ट रिसर्च इन्स्टीट्यूट, देहरादून, द्वारा किये जाने पर आयो. मान, 92; अम्ल मान, 47·2; साबु. मान, 286·6 निकले. रेजिनी अवयवों से मुक्त मिश्रित वसा-अम्लों के प्रतिशत संघटन में ओलीक, 49·7; लिनोलिक, 23·8; पामिटिक,



चित्र 74 – कैलोफिलम इनोफिलम

16·8; और स्टीऐरिक अम्ल, 9·7% प्राप्त हुये (*Chem. Abstr.*, 1934, **28**, 2207, Jamieson, 45).

इसका तेल साबुन बनाने के लिए उत्तम है लेकिन विषैले अवसीय अवयवों की उपस्थिति के कारण, खाद्य प्रयोजनों के लिए, अनुपयोगी है. इसे जलाने के लिए प्रयुक्त किया जाता है. गठिया और त्वचा के रोगों में इसे बाहर-बाहर लगाते हैं. कोढ़ में पीड़ा से मुक्ति लाने के लिए परिष्कृत तेल का अभ्यान्तरिक पेशी में इंजेक्शन दिया जाता है. संदलित तेल में 10–30% रेज़िन होने से इसका उपयोग वार्निश के रूप में होता है. वटेरिया इंडिका के रेजिन के साथ मिश्रित करके इसका उपयोग नौकाओं की दरारें भरने के लिए किया जाता है (Brown, II, 159, Jamieson, loc. cit., Trotter, 1940, 268).

पूर्णतया वसा-रहित खली का संघटन इस प्रकार पाया गया: आर्द्रता, 6·5; राख, 5·55; अशोधित प्रोटीन, 29·15; अपचायक शर्करायें, 5·10; अनपचायक शर्कराएँ, 6·10; स्टार्च, रंच मात्र; अशोधित तन्तु, 5·55; लिग्निन तथा अनिर्धारित अवयव, 42·05%. इसकी खली सम्भवतः खाद के लिए उपयुक्त है (*Chem. Abstr.*, 1930, *24*, 4649).

इसकी छाल में 11·9% टैनिन बताया गया है. पिसी हुई छाल अण्डशोथ में लगाई जाती है. रस रेचक होता है. इसका

काढ़ा मन्द जख्मों मे लोशन की भाँति प्रयुक्त होता है (Brown, III, 94, Chopra, 569).

इससे एक पीलाभ-हरा सुगन्धित रेजिन छाल से रिसन के रूप मे प्राप्त होता है जिसमे वमनकारी और रेचक गुण होते है (Dymock, Warden & Hooper, I, 174).

इसकी पत्तियो मे सैपोनिन और हाइड्रोसायनिक अम्ल पाये जाते है. ये मछलियो के लिए विषैली होती है (Burkill, I, 411). *Vateria indica*

कै. इलेटम वेडोम सिन. **कै. टोमेंटोसम** टी. ऐंडर्सन अंशतः नान वाइट C. elatum Bedd. पूनस्पार ट्री

ले.–का. एलाटूम
D.E.P., II, 32, C.P., 204, Fl. Br. Ind., I, 274.

म.–नागणी; त.–काट्टुपिन्नैवू, पोंगू, पुन्नपमरम; क.–कूवे, बोबी; मल.–काट्टुपुन्ना, मलंपुन्ना, पुन्नप्पाई.

व्यापार–पूनस्पार; बम्बई–पन; त्रावनकोर–विरी; श्रीलंका–कीना.

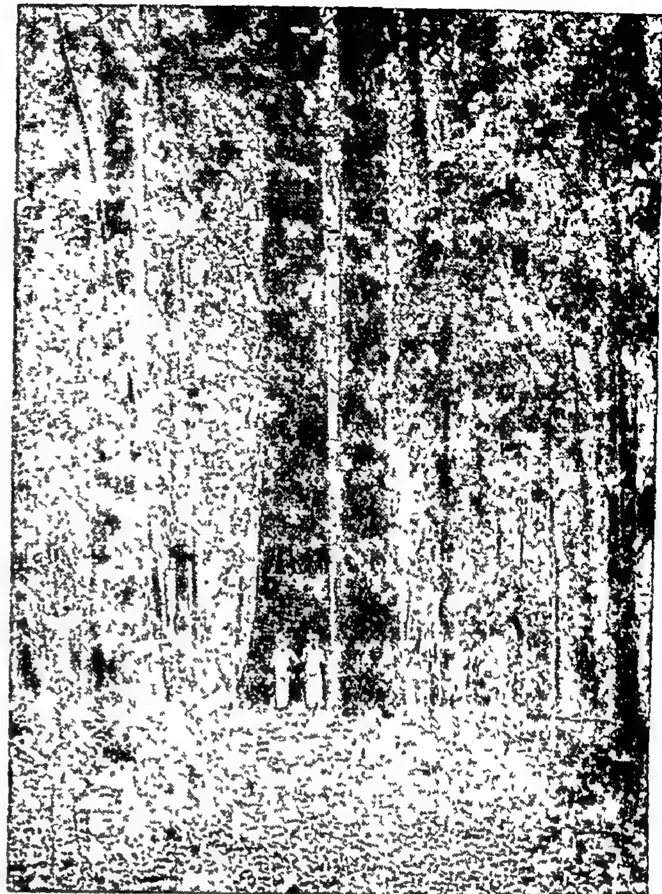
यह एक ऊँचा वृक्ष है जो पश्चिमी तट मे उत्तर कनारा से त्रावनकोर तक 1,500 मी. की ऊँचाई तक सदाहरित जंगलों मे और श्रीलंका मे सामान्य रूप में पाया जाता है. 24 मी. सीधे, ऊँचे और लगभग 4·5 फुट घेरे वाले वृक्ष सामान्य है.

काष्ठ हल्के लाल से हल्के लाल-भूरे रंग का गहरी धारियों वाला, हल्का (आ.घ., 0·51; भार, 528–656 किग्रा./घमी.) अन्तर्ग्रथित या सीधे दाने का, मध्यम गठन का, दृढ और प्रत्यास्थ होता है लकड़ी निम्न ताप पर भट्ठी में भलीभाँति सीझ जाती है और सतह चटकने का दोष लगभग नही के बराबर होता है. त्रिज्य झुकाव से काष्ठ को बचाने के लिए प्रायः पानी मे सिझाया जाता है. केवल एक ही दोष इसमें होता है और वह यह कि तख्तों मे सवलित होने की सम्भावना रहती है लकड़ी छाया में तथा पानी में टिकाऊ होती है. यह सरलता से गढ़ी जा सकती है और पालिश भी सुन्दर चढती है (Krishnamurty Naidu, 51, Pearson & Brown, I, 49).

लकड़ी के रूप मे इसकी आपेक्षिक उपयुक्तता के आँकडे सागौन के मगत गुणों के प्रतिशत के रूप में इस प्रकार है: भार, 90–95; कड़ी के रूप में सामर्थ्य, 85–90; कड़ी के रूप में कड़ापन, 90–95; खम्भे के रूप में उपयुक्तता, 85; आघात प्रतिरोध क्षमता, 80-85; आकार स्थिरण क्षमता, 65; अपरूपण, 85–105; और कठोरता, 85–95 (Trotter, 1944, 241).

लकड़ी, छत के तख्ते, धन्नी, पटरे, सस्ते फर्नीचर, और मस्तूल, आदि बनाने के लिए उपयोगी है. यह सन्दूके, खेमों के खम्भे, गणित के यंत्र बनाने में तथा पुल और सामान्य निर्माण के कार्यों में भी काम आती है. विशेष प्रकार के कार्यो के लिए लकड़ी का सावधानी से कोटि-निर्धारण करना आवश्यक है. सीधे दाने और हल्के रंग की लकड़ी वायुयान के लिए उपयुक्त होती है. कागज की लुगदी के लिए भी यह उपयुक्त मानी जाती है (Rama Rao, 31).

पेड मे एक गोंद प्राप्त होता है जो स्वाद मे कुछ कषाय और ठंडे पानी में विलेय है (Chandrasena, 33).



चित्र 75 – कैलोफिलम इलेटम

बीज की गिरी से एक लाल-भूरे रंग का अरुचिकर तेल प्राप्त होता है (उपलब्धि, 70%). तेल 25° पर जमता है, गर्म करने पर गोंद-सा बन जाता है और उसमे शीघ्र ही ऑक्सिकृत होने के फलस्वरूप एक अरुचिकर स्वाद उत्पन्न हो जाता है. तेल रोशनी करने के लिए प्रयुक्त होता है. वसा-अम्लों के अतिरिक्त अन्य अम्ल अवयव स्वाद मे तिक्त होते है और पूरा बीज संभवतः विषैला होता है. तेल के निम्नांकित अभिलक्षण है: $n_D^{40°}$, 1·4740; साव. मान, 171·0; आयो. मान (विज), 93·5; असात्. पदार्थ, 3·9%; और मुक्त वसा-अम्ल, ओलीक अम्ल के रूप मे, 3·3% (Bolton, 260; Joseph & Sudborough, loc. cit.).

C. tomentosum T. Anders. in part non Wight

कै. ऐपीटेलम विल्डेनो सिन. **कै. वाइटियानम** टी. ऐंडर्सन C. apetalum Willd. त्रावनकोर का पूनस्पार

ले.–का. आपेटालूम
D.E.P., II, 33; C.P., 204; Fl. Br. Ind., I, 274.

म.–बोबी; म.–सर्पुना; त.–सिरुपिन्नैय; क.–इराई; मल.–सिरुपिन्नैय.

यह एक मँझोला वृक्ष है और पश्चिमी घाट के सदाहरित जंगलों में मैसूर से लेकर त्रावनकोर तक 300 मी. की ऊँचाई तक, तथा नदियों और नालों के तटों पर पाया जाता है. फल लाल, करौंदे के आकार का और खाद्य है; त्वचा पतली होती है जिसके भीतर एक नट (औसत भार, 6·4 ग्रा.) रहता है जिसमें क्रीम रंग की गिरी (भार, लगभग 2·5 ग्रा.) रहती है (Cameron, 17).

काष्ठ हल्के लाल से हल्के लाल-भूरे रंग का, गहरी धारियों वाला, मध्यम भारी (आ.घ., 0·64; भार, 672 किग्रा./घमी.), अनियमित दानेदार और मध्यम गठन का होता है. इसमें विशेष अभिलाक्षणिक गंध होती है. इससे 4·5–7·5 मी. लम्बे और 1·5–2·1 मी. घेरे के लट्ठे प्राप्त किये जा सकते हैं. हवा में सुखाने से लकड़ी के विपाटित होने और सतह के चटकने की सम्भावना रहती है. जल या भाप्ट्र में सुखाने से अधिक अच्छी लकड़ी प्राप्त होती है. सावधानी से गढ़ने पर इसकी सतह चिकनी की जा सकती है. लकड़ी के रूप में इसकी उपयुक्तता सागौन के संगत गुणों के प्रतिशत रूप में व्यक्त करने पर इस प्रकार है : भार, 100; कड़ी के रूप में सामर्थ्य, 80; खम्भे के रूप में उपयुक्तता, 80; प्रघात प्रतिरोधी क्षमता, 90; आकृति धारण क्षमता, 65; अपरूपण, 110; कठोरता, 110. काष्ठ का कैलोरी मान, 4,998 कै., 8,997 ब्रि.थ.इ. है. यह एक मजबूत लकड़ी है और इसका उपयोग नौका और तेलघानी बनाने तथा भवन निर्माण कार्य में किया जाता है (Krishna & Ramaswami, *Indian For. Bull., N.S.*, No. 79, 1932, 13; Trotter, 1944, 241).

धूप में सुखाये गये बीजों की गिरी से 45–60% हरा-पीला अभिलाक्षणिक गंध तथा तिक्त स्वाद वाला तेल प्राप्त होता है. तेल के अभिलक्षण हैं : आ.घ.$^{15.5°}$, 0·939; $n_D^{22°}$, 1·4800; $n_D^{40°}$, 1·4733; अम्ल मान, 18; साबु. मान, 187; आयो. मान (विकलर), 102; हेनर संख्या, 92·3; अनुमापन परीक्षण, 21–22°; असाबु. पदार्थ, 1·8%; औसत अणु भार, 297; जमनांक, –5° से –7°. यह स्टीऐरिक, पामिटिक, ओलीक और सम्भवत: लिनोलिक अम्लों के ग्लिसराइडों का मिश्रण है. कास्टिक सोडा विलयन से अभिकृत करके तेल को अत्यन्त सरलता और शीघ्रता से परिष्कृत किया जा सकता है. परिष्करण में तेल की कुछ ही हानि होती है. परिष्कृत तेल हल्के पीले रंग का होता है और इसमें कच्चे तेल का तिक्त स्वाद नहीं रहता. इसका अम्ल मान, 0·3; और अनुमापन परीक्षण, 5–7° होता है (Joseph & Sudborough, *J. Indian Inst. Sci.*, 1922, 5, 133).

C. wightianum T. Anders.

कै. पोलीऐन्थम वालिश C. polyanthum Wall.

ले.–का. पोलिआन्थूम
D.E.P., II, 31; Fl. Br. Ind., I, 274.

बं.–काण्डेब; असम–डॅग-ला-कुरु.
नेपाल–किरोनली; ब्रह्मा–थिटप्यौक.

यह सदाहरित वृक्ष है जो सिक्किम, खासी की पहाड़ियों, चटगाँव के जंगलों और मर्तबान की पहाड़ियों में 1,500 मी. की ऊँचाई तक पाया जाता है. बंगाल की तराई में उगने वाले वृक्षों का सुडौल धड़ 12–18 मी. होता है.

इसकी लकड़ी पीली लालाभ-श्वेत से लेकर हल्की लालाभ-भूरे रंग की गहरी धारियों वाली, हल्की (आ.घ., 0·51; भार, 528 किग्रा./घमी.) संग्रथित दानेदार, स्पष्टतया चौड़ी पट्टियों में और मध्यम संरचना की होती है. वृक्ष को गिराने के पूर्व वलयाकार कटान बना ली जाती है, लेकिन डोंगे तैयार करने के लिए इसे हरा काटते हैं और इसके लट्ठों को गढ़ लेते हैं. कहते हैं कि इसकी इमारती लकड़ी कठोर, टिकाऊ, मजबूत और प्रत्यास्थ होती है और इस पर दीमक नहीं लगती. यह अच्छी प्रकार से गढ़ी और आसानी से चीरी जा सकती है. घरेलू खम्भे, शहतीर, कड़ियाँ, डोंगे, मस्तूल, बल्ले और पतवारें बनाने के लिए यह उत्तम इमारती लकड़ी है (Pearson & Brown, I, 51).

कै. सूलाट्री बर्मन पुत्र सिन. **कै. स्पेक्टैवाइल** विल्डेनो
C. soulattri Burm. f. निकोबार कैनो ट्री

ले.–का. सौलाट्रि
D.E.P., II, 32; Fl. Br. Ind., I, 271.

हि.–लाल चूनी.
ब्रह्मा–पण्टेगा, थारापी; अण्डमान–डकारटालाडा; श्रीलंका–डोम्बकिना.

यह लम्बा, 21–24 मी. ऊँचा और लगभग 2.1 मी. घेरे वाला वृक्ष है जो आमतौर पर टेनास्सेरिम, अण्डमान द्वीपसमूह और श्रीलंका के जंगलों में पाया जाता है.

इसकी लकड़ी हल्के, लालाभ-श्वेत से लेकर हल्के-लालाभ भूरे रंग की गहरी धारियों वाली, साधारण भारी (आ.घ., 0·84; भार, 656 किग्रा./घमी.), संग्रथित दानेदार और मध्यम रचना वाली होती है. यह मजबूत और प्रत्यास्थ इमारती लकड़ी है. यदि प्रत्यास्थ गुणांक और भंजन शक्ति के सूचकांकों को सागौन के लिये इकाई मान लिया जाए तो इस जाति के लिए वे ही मान क्रमश: 1·13 और 1·09 होंगे. इसके पार्श्व एवं सिरे के काट सागौन से दुगुने कठोर होते हैं. देख-रेख रखने पर इसकी लकड़ी अच्छी सीझती है. हवा में सूखी हुई लकड़ी संवलित होती और ऐंठती है इसलिए सावधानी से इसका ढेर लगाना चाहिए. इसे भट्ठे में पकने देना श्रेयकर होता है. इसको आसानी से चीरा जा सकता है, और इस पर अच्छी परिसज्जा की जा सकती है. इसका उपयोग मस्तूलों और बल्लों के लिए होता है. यह सुहागा फेरने, कड़ियों, संदूकों, जोड़ाई के काम और सम्भवत: प्लाईवुड के लिए उत्कृष्ट समझी जाती है. विमानों में प्रयुक्त होने के लिए यह पर्याप्त प्रत्यास्थ नहीं होती.

कै. वाकेरी वाइट एक विशाल वृक्ष है जो दक्षिणी भारत और श्रीलंका में पाया जाता है जिसमें गुलाबी आभायुक्त श्वेत, मीठी गंध वाले फूल लगते हैं. इससे प्राप्त इमारती लकड़ी शहतीरों, कड़ियों, स्तम्भों, दरवाजों के ढाँचों और आलंकारिक फलकों के लिए उपयोगी होती है. इसके बीजों से एक तेल उत्पन्न होता है जो जलाने के काम आता है (Lewis, 21).

C. spectabile Willd.; *C. walkeri* Wight

कैल्था लिनिअस (रैननकुलेसी) CALTHA Linn.

ले. – काल्था
D.E.P., II, 50. Fl. Br. Ind., I, 21.

यह 29 बूटियों का एक वंश है, जो शीतोष्ण प्रदेश में पाया जाता है. इसकी 2 जातियाँ भारत में मिलती हैं. **कै. पालुस्ट्रिस** लिनिअस (पंजाब–मुमीरी) जलीय बूटी है जो 15–60 सेंमी. ऊँची होती है और पश्चिमी हिमालय में पायी जाती है. यह स्वाद में तीखी और जहरीली होती है. कहा जाता है कि इसे खाने से घोड़ों की मृत्यु हो जाती है. इसकी जड़ें विषैली होती हैं और उनमें हेलेबोरिन और वेराट्रिन पाये जाते हैं (*Indian J. agric. Sci.*, 1940, 10, 16; Chopra, 470).
Ranunculaceae, *C. palustris* Linn.

कैसकेरिला छाल – देखिए क्रोटन

कैसावा – देखिए मैनिहाट

कैसिया लिनिअस (लेग्युमिनोसी) CASSIA Linn.

ले. – कास्सिआ

यह 580 जातियों की बूटियों, झाड़ियों एवं वृक्षों का वृहत् एवं प्रमुखतया उष्णकटिबन्धी वंश है जिसके 20 सदस्य भारत में पाये जाते हैं. इनमें से कई ओषधीय हैं और कुछ से आर्थिक महत्व की चर्मशोधक सामग्री प्राप्त होती है.
Leguminosae



चित्र 76 – कैसिया अंगुस्टिफोलिया

कै. अंगुस्टिफोलिया वाल C. angustifolia Vahl

भारतीय सनाय या तिन्नेवेली सेन्ना

ले. – का अंगुस्टिफोलिआ
D.E.P., II, 212. Fl. Br. Ind., II, 264.

सं. – भूमिआरी, मूत्रघ्ना; हि. – सनाय; गु. – नट की सना; बं. – सना-मुक्खी, सोन-पात; म. – सोनामुक्खी; त. – नीलविराइ; ते. – नेल तंगेडु; क. – नेलावरिके; मल. – नीलवाग.

यह 60–75 सेंमी. ऊँची झाड़ी है जिसका मूल स्थान सोमालीलैण्ड और अरब है. यह दक्षिण भारत में तिन्नेवेली, मदुरा तथा त्रिचनापल्ली जिलों में बोयी जाती है. मैसूर में भी इसका प्रचलन किया गया है और वहां अच्छी तरह उगती बतायी जाती है. इसकी पत्तियाँ समपिच्छकी होती हैं. इसके पत्रक, जो सनाय भेषज होते हैं, 2·5–5 सेंमी. लम्बे, 5–15 मिमी. चौड़े, पीताभ हरे और अरोमिल होते हैं.

बम्बई सनाय, मक्का सनाय या अरबी सनाय उन पौधों की सूखी पत्तियां होती हैं जो अरब में जंगली रूप में उगती हैं. ये पत्तियाँ तिन्नेवेली सनाय की अपेक्षा अधिक लम्बोतरी और सँकरी होती हैं, और इनका रंग भूराभ अथवा भूराभ हरा होता है. भेषज गुण में दोनों सनाय एक-सी होती हैं.

सिकन्दरिया सनाय अकोरा और सूडान के **कै. एक्यूटिफोलिया** डेलाइल के जंगली पौधों से प्राप्त की जाती है. इस जाति के पत्रक **कै. अंगुस्टिफोलिया** के पत्रकों से छोटे और सँकरे होते हैं. उल्लेख है कि **कै. एक्यूटिफोलिया** भारत में बोयी जाती है और कुछ सिकन्दरिया कहलाती है. कहा जाता है कि यह तिन्नेवेली और सिकन्दरिया सनाय, दोनों से बढ़िया होती है (Denston, 86).

कै. अंगुस्टिफोलिया की फलियाँ 3·5–7·0 सेंमी. लम्बी, लगभग 2 सेंमी. चौड़ी हरिताभ, भूरी से गहरी भूरी तक होती हैं. उनमें 5–7 अधोमुख अण्डाकार, गहरे भूरे और लगभग चिकने बीज होते हैं. ये फलियाँ सिकन्दरिया किस्म की फलियों से बड़ी और सँकरी होती हैं, और बीजों को घेरने वाली फल-भित्ति का भूरा क्षेत्र बड़ा होता है. वर्तिका के अवशेष तिन्नेवेली किस्म में स्पष्ट होते हैं पर सिकन्दरिया किस्म में नहीं पाए जाते. ये फलियाँ भेषज के रूप में प्रयुक्त की जाती हैं. इनका आर्थिक महत्व है और ये ब्रिटिश तथा संयुक्त राज्य अमेरिका की फार्माकोपियाओं में मान्य हैं (Trease, 409).

कै. अंगुस्टिफोलिया साधारणतया दक्षिण भारत में सूखी भूमि पर बोया जाता है. कभी-कभी यह धान उगाने वाले खेतों में धान कटने के बाद बो दिया जाता है. इसकी हल्की सिंचाई की जा सकती है और यह अर्ध-सिंचित फसल के रूप में उगाया जा सकता है. अधिक सिंचाई से हानि होती है. इसकी बुआई छिटकवां अथवा नालों में की जाती है. प्रति हेक्टर लगभग 15 किग्रा. बीज लगते हैं. बीजों का आवरण

चीमट होना है और समान तथा शीघ्र अंकुरण के लिए उनकी सतह को कुछ घिसना आवश्यक होता है. इसके लिए बीजों को मोटी रेत के साथ ओखली में धीरे-धीरे कूटा जाता है पौधों को तेज धूप और कभी-कभी वर्षा की फुहारों की आवश्यकता होती है वृद्धिकाल में निरंतर वर्षा से पत्तियाँ निम्न कोटि की हो जाती हैं. पौधों को सामान्यतः केवल 3–5 महीने बढ़ने दिया जाता है जब फूलों की पहली डंडिया निकलती है तो उन्हें काट दिया जाता है. इससे पौधों में शाखायें अधिक फूटती हैं जब पत्तियाँ पूरी बढ़ जाती हैं और मोटी तथा नीलाभ हो जाती हैं तो उन्हें हाथ से छील लिया जाता है. दूसरी बार छिलाई लगभग एक महीने बाद की जाती है, और फिर पौधों को फूलने और फलने दिया जाता है

पत्तियाँ कठोर फर्श पर फैलाई जाती हैं और बिना देर किए छाया में सुखायी जाती हैं. एक-सा सूखने देने के लिए उन्हें अक्सर चलाते रहते हैं. 7–10 दिन बाद, जब पत्तियाँ काफी सूख जाती हैं और उनका रंग हरा हो जाता है तो, उनका श्रेणीकरण कर दिया जाता है और हाइड्रॉलिक दाब से गाँठें बना ली जाती हैं. फलियाँ भी सुखाई जाती हैं. उन्हें पीट कर बीज अलग कर लिए जाते हैं और गत्तों के डिब्बों में पैक कर दिये जाते हैं (Pillai, *Madras agric. J.*, 1932, 20, 488; Yegna Narayan Aiyer, 490).

सनाय की असिंचित खेती करने से प्रति हेक्टर 300 किग्रा. तैयार पत्ती और 75–150 किग्रा. फलियाँ प्राप्त होती हैं. गीली भूमि से तैयार पत्तियाँ 750–1,250 किग्रा. और फलियाँ 150 किग्रा. प्राप्त होती हैं गीली भूमियों से एकत्र की गई भेपज बाजार में ऊँचे दामों पर बिकती है.

सनाय अपने विरेचक गुणों के कारण चिकित्सा में प्रयुक्त की जाती है. स्थायी कोष्ठबद्धता में यह विशेष रूप से उपयोगी है. यह वृहदान्त्र की पुरस्सारण गति में वृद्धि करती है सनाय में मरोड़ पैदा हो सकती है अत उसके निराकरण के लिए साथ में ऐरोमैटिक या लवण विरेचक मिलाया जा सकता है फलियों की भेपजीय क्रिया भी पत्तियों की क्रिया के समान होती है, पर वे कम मरोड़ उत्पन्न करती हैं. आकर्षी कोष्ठबद्धता और वृहदान्त्रशोथ में सनाय नहीं दी जानी चाहिए **कै. एक्यूमिनेटा** और **कै. अंगुस्टिफोलिया** ब्रिटिश और संयुक्त राज्य अमेरिका की फार्माकोपियाओं में मान्य हैं.

सनाय के विरेचक पदार्थ पानी और तनु ऐल्कोहल में विलेय और परिशुद्ध ऐल्कोहल में अविलेय है इसके गन्धवान और रंजक अंश ऐल्कोहल और पानी दोनों में विलेय हैं तिन्नेवेली सेन्ना की पत्तियों के पैट्रोलियम ईथर-निष्कर्षण से एक रंगहीन क्रिस्टलीय मोम (ग वि, 80–83°) और मिरीसिल ऐल्कोहल (ग वि, 87–88°) पृथक् किये गये हैं पेट्रोलियम ईथर से निष्कर्षण के बाद जो पत्तियों का चूर्ण बचता है उससे फ्लैवोनाल और एन्थ्राक्विनोन वर्गों के यौगिक प्राप्त किये गये हैं. फ्लैवोनाल अंश में आइसो-रैम्नेटिन और कैम्फेरोल लगभग समान मात्राओं में होते हैं. ऐन्थ्राक्विनोन अंश में अधिकतर रेईन और इमोडीन की अल्प मात्रा होती है एक नया क्रिस्टलीय यौगिक, $C_{15}H_{18}O_9$, ग वि, 258°, (अपघटित हो जाता है) जो ईथर में अविलेय और पानी में अल्प विलेय है, पृथक् किया गया है इस यौगिक की प्रकृति फीनोली है. यह पहचाना नहीं जा सका है. इसमें दो ग्लाइकोसाइड भी उपस्थित पाए गए हैं. इनमें से एक सरलता से जल-अपघटित होकर, इमोडीन प्रदान करता है और सक्रिय विरेचक है दूसरा कठिनता से जल-अपघटित होता है और मन्द विरेचन क्रिया करता है. दो ग्लाइकोसाइड, सेनोसाइड-ए और सेनोसाइड-बी पृथक् किए गए हैं जो सनाय के विरेचक अंग समझे जाते हैं. दोनों का सूत्र एक ही, $C_{21}H_{20}O_{10}$, है पर उनका मुख्य अन्तर अग्लाइकोन अंश और ग्लूकोस के बीच के बन्धों में है सनाय में समय-समय पर जिन अन्य पदार्थों की उपस्थिति का उल्लेख किया गया है वे हैं: मैनिटाल, सोडियम पोटैसियम टार्टरेट, मिरीसिल ऐल्कोहल, मैलिसिलिक अम्ल, क्राइसोफैनिक अम्ल, एक ईथरीय तेल और एक रेज़िन. फूलों में क्राइसोफैनिक अम्ल होता है फलों में 1·33% तक ऑक्सीमेथिल ऐन्थ्राक्विनोन की उपस्थिति बतायी गई है. सूक्ष्मदर्शी द्वारा परीक्षण से सम्पूर्ण पैरेंकाइमा में कैल्सियम ऑक्सैलेट के क्रिस्टलों का समूह दिखाई देता है ऐसा जान पड़ता है कि पत्तियों में उपस्थित अकार्बनिक पदार्थ का अधिकांश पानी से निष्कर्षित किया जा सकता है. कार्बनिक अम्लों के कैल्सियम, पोटैसियम और मैग्नीशियम लवण भी उपस्थित रहते हैं (U.S.D., 1022, *Proc. Indian Acad. Sci.*, 1939, **10A**, 96, Murti & Rangaswami, *Indian J. Pharm.*, 1940, 2, 203; U.S.D., loc. cit., *Chem. Abstr.*, 1939, 33, 5596, Wehmer, I, 505).

भारत में जितनी सनाय उत्पन्न होती है वह सभी निर्यात कर दी जाती है. दूसरे विश्वयुद्ध से पहले जर्मनी और फ्रांस बड़ी मात्रा में भारतीय सनाय की पत्तियाँ मँगाते थे किन्तु आजकल भारतीय सनाय के सबसे महत्वपूर्ण खरीदार सोवियत देश और अलजीरिया हैं (सारणी 1). भारत में पहले पुनर्निर्यात के लिए अदन सनाय की कुछ मात्रा मँगायी जाती थी. पर यह व्यापार अब बन्द-सा हो गया है तिन्नेवेली सनाय अमेरिका और यूरोप को तूतीकोरन और बम्बई से तथा लंदन होकर भेजी जाती है समझा जाता है कि इस व्यापार से अच्छा लाभ होता है यदि इस भेपज की खेती, संग्रह और बाजार के लिए तैयारी की ओर अधिक ध्यान दिया जाएगा तो उससे बहुत अधिक लाभ हो सकता है

सनाय में मिलावट के लिये अधिकतर इसी पौधे की पत्तियों के डंठल और तने, तथा दूसरी **कैसिया** जातियों, जैसे कि **कै. ओबोवेटा** के पत्रक और फल काम में लाये जाते हैं इस मिलावट को सूक्ष्मदर्शी से देखकर पकड़ा जा सकता है

तिन्नेवेली की सनाय की सक्रियता में 5 वर्ष भंडारन के बाद भी किसी प्रकार की कमी नहीं पायी जाती (U.S D., loc. cit.).

C. acuminata, *C. acutifolia* Delile, *C. obovata*

कै. ऐब्सस लिनिअस C. absus Linn.

ले.—का. आबसुस

D.E.P., II, 210, Fl. Br. Ind., II, 265.

हि.—चाकसू, गु.—चीमट; त —मुलाइपाल-विरइ; ते — चनुपल विट्टुलु, मल —करिक्कोल्ला.

यह सम्पूर्ण भारत में पाया जाने वाला, 30–60 सेंमी. ऊँचा, सीधा वार्षिकी पौधा है. पत्तियाँ तिक्त और कषाय है तथा

सारणी 1 — भारत से विश्व के प्रमुख देशों को कैसिया का निर्यात*
(मात्रा : किग्रा.; मूल्य : रु. में)

	अप्रैल '65 — मार्च '66		जून '66 — मार्च '67		अप्रैल '67 — मार्च '68		अप्रैल '69 — मार्च '70	
	मात्रा	मूल्य	मात्रा	मूल्य	मात्रा	मूल्य	मात्रा	मूल्य
इंडोनेशिया	109	407	...	...	...	...	...	...
मलेशिया	14,853	48,941	...	...		...	...	...
बहारिन	...	...	1,150	3,280	6,342	19,380	2,119	9,442
ईरान	...	...	25,425	60,137	3,000	7,800	9,100	38,785
सिंगापुर	...	...	1,316	3,002	...	...	...	...
सोवियत देश	...	...	7,040	21,933	27,425	1,00,786	3,27,625	15,53,362
अल्जीरिया	...	...	...	...	22,010	57,250	1.15,566	4,57,084
चेकोस्लाविया	...	...	...	...	5,000	20,025	10,000	54,750
इथोपिया	..	...	...	...	4,060	11,560	...	...
फ्रांस	..	...	...	...	8,456	24,024	65,950	2,67,671
ईराक	...	...	...	...	1,000	2,432	2,000	9,849
लीबिया	.	...	...	...	6,480	19,949	...	...
नीदरलैंड	...	...	...	...	2,500	7,700	1,44,414	6,16,925
ब्रिटेन	...	...	...	...	5,056	17,380	1,000	4,492

**Monthly Statistics of the Foreign Trade of India*, 166, 67, 68.

खाँसी की दवा में काम आती हैं. दीर्घायत और चपटे बीजों की गिरी नेत्राभिष्यन्द तथा त्वचा उपसर्ग की चिकित्सा में और विरेचक की तरह प्रयुक्त होती है.

बीज की गिरी से दो जल-विलेय समावयवी चतुष्क क्षारक, चैक्सीन तथा आइसोचैक्सीन ($C_{12}H_{21}O_2N_3$ या $C_{11}H_{21}O_3N_3$), कार्बोनेट के रूप में पृथक् किए गए हैं जिनकी उपलब्धि 1·5% है. चैक्सीन सल्फेट पर बेरियम हाइड्रॉक्साइड के उपचार से आइसोचैक्सीन बनता है. मेंढकों के साथ चैक्सीन सल्फेट की भेषजीय क्रिया सम्बन्धी किए गए प्रारम्भिक प्रयोगों से यह ज्ञात हुआ है कि यह हृदय, स्वसन तथा तन्त्रिकाओं का अवसादक है. इसकी घातक मात्रा 0·1 ग्राम प्रति किग्रा. है. बीज तेल में ओलीक अम्ल, 16·32; लिनोलीक अम्ल, 47·32; लिनोलिनिक अम्ल, 0·41; हाइड्रॉक्सि अम्ल, 0·75; पामिटिक अम्ल, 6·28; स्टीऐरिक अम्ल, 8·10; लिग्नोसेरिक अम्ल, 0·82; असाबुनी. पदार्थ, 8·40; ग्लिसरॉल, 10·40; तथा बिना पहचाना पदार्थ, 1·20% हैं (Siddiqui & Ahmed, *Proc. Indian Acad. Sci.*, 1935, 2A, 421; Kapur *et al.*, *J. Indian chem. Soc.*, 1940, 17, 281; Siddiqui & Ahmed, ibid., 1941, 18, 589; Puri *et al.*, *J. sci. industr. Res.*, 1945–46, 4, 701; *Chem. Abstr.*, 1935, 29, 8376).

कै. ऑक्सीडेण्टेलिस लिनिअस C. occidentalis Linn.

नीग्रो काफ़ी

ले. — का. आक्सिडेन्टालिस

D.E.P., II, 221; Fl. Br. Ind., II, 262.

सं. — कासमर्द; हि. — कसौन्दी; बं. — कलकसुंडा; त. — पेड्डुन-तकराई; ते. — कसिंडा; मल. — नाडम तगरा.

यह सम्पूर्ण भारत में पाई जाने वाली छोटी झाड़ी है. इसकी पत्तियाँ, जड़ें तथा बीज रेचक हैं. बीज और पत्तियाँ भी कालिक ज्वररोधी हैं. चर्म रोग होने पर बीजों का बाह्य लेप होता है (Kanny Lal Dey, 70).

फ्रांसीसी अफ्रीका और उत्तरी अर्जेण्टाइना के कुछ भाग में, काफ़ी के स्थान पर बीजों को भून कर प्रयुक्त किया जाता है. भूनने से ओषधीय गुण जाते रहते हैं. बीजों में टैनिक अम्ल, श्लेष्मक (36%), वसीय तेल (2·56%), इमोडिन और एक टाक्सैल्बुमिन पाया जाता है. बीजों के बेंजीन निष्कर्ष में क्राइसैरोबिन [मेथिलडाइहाइड्रॉक्सि ऐन्थ्रानाल, ग.बि., (203–4°)] पृथक् किया गया है. वसीय तेल में संतृप्त वसा-अम्ल, 19·7; लिनोलिक अम्ल, 31·4; ओलीक अम्ल, 30·7; लिनोलेनिक अम्ल, 6·3; वाष्पशील अवयव, 0·7; असाबु. पदार्थ, 7·4% पाये जाते हैं. तेल के निम्नांकित स्थिरांक हैं:

$n_D^{15°}$, 1·4770; साबु. मान, 178·7; अम्ल मान, 10·2; आर. एम. मान, 0·5; आयो. मान (विज्ञ), 113·9 (*Chem. Abstr.*, 1944, **38**, 3033; 1934, **28**, 2207).

कै. ऑक्सीडेण्टेलिस का प्रयोग हरी खाद के रूप में किया जा सकता है. विश्लेषण से पता चलता है कि इसमें **कै. टोरा** अथवा **कै. सोफेरा** की अपेक्षा अधिक पोटैश होता है (Burkill, I, 479).

C. sophera

कै. ऑरीकुलेटा लिनिअस C. auriculata Linn.

टैनर्स कैसिया, अवरम

ले.—का. ऑरीकुलाटा

D.E.P., II, 215; Fl. Br. Ind., II, 263.

हिं.—तरवार; गु.—अवाल; म.—तरवार; त.—अवरम; ते. और क.—तंगेडु; मल.—अवरा.

यह चटकीले पीले फूलों वाली झाड़ी मध्य प्रदेश और पश्चिमी प्रायद्वीप में जंगली रूप में उगती है तथा भारत के अन्य भागों में इसकी खेती की जाती है. यह चर्मशोधक पदार्थ के रूप में, वन्य प्रदेशों को पुनः हरा-भरा करने तथा हरी खाद की फसल के रूप में उपयोगी है.

भारत के बहुत से भागों में इस पौधे की खेती भी की जा सकती है. इसके लिए हल्की भुरभुरी मिट्टी चाहिए. इसे ढोर तथा बकरियाँ नहीं चरते. इसकी आवश्यकताएँ अधिक न होने से इसका रोपण सस्ता एवं सरल है. इसकी खेती की सबसे सस्ती विधि इसे 10–15 सेंमी. गहरे एवं 5–12·5 सेंमी. की दूरी पर बने कूंडों में बोने की है. प्रत्येक कूड की बगल में हल चलाकर दूसरा कूंड बनाकर उसको पाट दिया जाए. यद्यपि एक दिशा में सघन जुताई करके छिटकवाँ बोवाई करने में दुगना खर्च पड़ता है परन्तु एक निश्चित क्षेत्र में प्रथम विधि की अपेक्षा इस विधि द्वारा 27 गुनी अधिक पौधें प्राप्त हो सकती है. एक दिशा में आड़ी जुताई करके समकोण दिशा में तीन दाँतों वाली कुदाली से गुडाई करके, तत्पश्चात् कुदाल द्वारा 15 सेंमी. की दूरी पर बनाये गये कूडों में बीज की बोवाई और अन्त में एक गुंटक द्वारा समतल करने से सबसे अच्छे परिणाम प्राप्त होते हैं; परन्तु यह विधि बहुत महँगी है. यद्यपि पहली ऋतु में विरलन, निराई एवं जुताई अनिवार्य नहीं है किन्तु इससे बाढ़ में सहायता मिलती है. ऐसा देखा गया है कि पुष्ट पौधे दो वर्षों में 2·7 मी. तथा चार वर्षों में 4·8 मी. की ऊँचाई तथा क्रमशः 11·8 सेंमी. और 20 सेंमी. की गोलाई प्राप्त कर लेते हैं. दो-तीन वर्ष की आयु पर शाखायें एवं टहनियाँ काट कर उनकी छाल उतार ली जाती है और छोटे-छोटे कारनेटों में सुखा ली जाती है. छाँटी गई झाड़ी से बहुत से प्ररोह निकलते है तथा एक ही वर्ष बाद दूसरी फसल ली जा सकती है. उतारी गई छाल का अंश टहनियों का 20–23% होता है. चार वर्षों में हरी छाल की उपलब्धि 1,400 किग्रा./हेक्टर तक पहुँच सकती है (पौधों की संख्या, लगभग 9,000) (Bennett, *Indian For.*, 1921, 47, 25).

अवरम की छाल, दक्षिण भारत के चर्मशोधक कारखानों में प्रयुक्त होने वाली प्रमुख देशी चर्मशोधक छाल है. पहले विश्वयुद्ध के बाद से वैटल की छाल और सार द्वारा इसके प्रयोग पर प्रभाव पड़ा है. तमिलनाडु से निर्यात की जाने वाली छाल सामान्यतः क्रस्ट शोधित रहती है लेकिन बाजार में पहुँचने के पश्चात् पूर्ण रूप से चमड़ा कहलाने के पूर्व उनका और भी उपचार किया जाता है. क्रस्ट शोधक के रूप मे अवरम को काफी समय तक गौरव प्राप्त रहा है.

यद्यपि आयु के अनुसार टैनिन की मात्रा बढ़ती जाती है किन्तु यह वृद्धि तीसरे वर्ष के पश्चात् अधिक नहीं होती है. जिन टहनियों की छाल उतारी जाती है, उनका आकार उनकी आयु की तुलना में अधिक महत्वपूर्ण है. पेन्सिल से अधिक मोटाई वाली टहनियाँ, जिनमें कार्क की तरह की छाल न बनी हो, सबसे अच्छी होती है. जिन मिट्टियों में चूने की मात्रा अधिक हो, उनमें उगाए गए पौधों में टैनिन की मात्रा लाल दुमट मिट्टी तथा कँकरीली मिट्टी में उगाए गए पौधों की तुलना में अधिक होती है. सामान्यतः कारखानों में प्रयुक्त किए जाने वाले उत्पाद में औसतन 18% टैनिन और 10% विलेय अटैन रहते हैं. चौधरी और योगानन्दम ने अवरम छाल के आठ प्रतिनिधि नमूनों का विश्लेषण करके उनमें 15·2–19·1% टैनिन की मात्रा प्रदर्शित की है (Edwards, *Indian For. Leafl.*, No. 73, 1945, 5; *Chem. Abstr.*, 1928, **22**, 1872).

95–100° पर निक्षालन द्वारा तैयार किया गया अवरम छाल का सार, अधिक गहरा होने के कारण काम का नहीं होता. 50° पर निक्षालन करने, थोड़ा सल्फर डाइऑक्साइड मिला देने तथा 66% ठोस पदार्थ तक सांद्रित करने से कुछ अच्छा सार प्राप्त होता है. एक बन्द पात्र में दाब अथवा आंशिक निर्वात प्रयुक्त करने पर छाल से हल्के रंग का सार प्राप्त होता है. चर्मशोधन में सार की अपेक्षा छाल को अधिक उपयुक्त समझा जाता है क्योंकि सार चर्म को कड़ा और गहरे रँग का बना देता है. ऐसा देखा गया है कि छालयुक्त टहनियों द्वारा शोधा हुआ चर्म उतारी हुई छाल द्वारा शोधे गए चर्म के समान ही अच्छा होता है और पहली विधि को उन स्थानों में व्यवहृत कर सकते है जो पूर्ति स्थल के निकट है. अवरम टैनिन खाल में शीघ्रता से प्रविष्ट हो जाता है और हल्के रंग एवं अधिक तनन-सामर्थ्य वाला चर्म प्रदान करता है. प्रकाश के प्रभाव से इस चर्म का रंग ईंटिया लाल हो जाता है जो आपत्तिजनक है. किन्तु इसका निराकरण अवरम शोधित चर्म को अन्त में मायरोबलन सार (**टर्मिनेलिया चेबुला रेटिसयस**) में डुबोकर किया जा सकता है (*Chem. Abstr.*, 1938, 32, 4373; Rao & Janniah, *J. Indian Inst. Sci.*, 1934, **17A**, 95; *For. Abstr.*, 1948, **10**, 237).

छाल को सुखा कर सनई के बड़े-बड़े थैलों में जिनमें 100–120 किग्रा. आ सके स्थानीय उपयोग के लिए बाजार भेज दिया जाता है. तमिलनाडु में अवरम के बड़े-बड़े बगीचे नहीं हैं अतः संग्रह कार्य अधिकांश जंगली पौधों से किया जाता है लेकिन इससे आवश्यकता की 1/3 पूर्ति होती है. शेष 28,000 टन प्रति वर्ष मैसूर और आन्ध्र प्रदेश से प्राप्त किया जाता है. नवीन आँकड़ों के अनुसार तमिलनाडु में वार्षिक उत्पादन लगभग 11,000 टन है तथा मैसूर से कुल मिलाकर 12,000 टन आयातित होता है (Raghavan, *A short note on* C. auriculata, 1939; Edwards, loc. cit.).

1914–18 के युद्ध के पूर्व अवरम का मूल्य 7·5 रु. प्रति क्विंटल, युद्ध के पश्चात्, 1920 से 1928 तक, 10 रु. से 20 रु. प्रति क्विंटल तथा 1942 में 8 रु. प्रति क्विंटल था. अवरम का मूल्य अधिक होने से अन्य चर्मशोधक पदार्थों का प्रयोग चर्मशोधन कारखानों में हो रहा है यद्यपि इन प्रतिस्थापियों से सन्तोषजनक परिणाम नहीं प्राप्त हुए हैं.

इसकी छाल कषाय तथा पत्तियाँ और फल कृमिहर होते हैं. जड़ चर्मरोगों के उपचार में काम आती है.
Terminalia chebula Retz.

कै. टोरा लिनिअस C. tora Linn.

ले.–का. टोरा

D.E.P., II, 224; Fl. Br. Ind., II, 263.

सं.–दद्रुमारि; हिं. तथा बं.–चकौंडा, पनेवर; गु.–कोवारियो; म.–टाकला, तंकिल; ते.–तन्तेमु; त.–तगराई.

यह सामान्य शाकीय एकवर्षी है जो सम्पूर्ण भारत में खरपतवार के रूप में पाया जाता है. इसकी फलियाँ 15–22·5 सेंमी. एवं 0·6 सेंमी. तक के व्यास की होती है जिनमें चिपटे गहरे रंग के बीज पाये जाते हैं.

बीजों में एक ग्लाइकोसाइड और एक सुहानी गन्ध वाला स्थिर तेल (5%) रहता है. तेल के साबुनीकरण से ओलीक, लिनोलिक, पामिटिक, और लिग्नोसेरिक अम्ल और साइटोस्टेरॉल बनते हैं. बीजों का प्रयोग काफ़ी के स्थान पर होता है. इसका प्रयोग नील की रँगाई में भी किया जाता है. प्रोटीन समृद्ध पशु खाद्य पदार्थ के रूप में भी इनका प्रयोग किया जा सकता है. साधारणतया हरे रहने पर ये पसंद नहीं किये जाते परन्तु जब इन्हें 15–20 दिन तक धूप में सुखा लिया जाता है और राशन में धीरे-धीरे मिलाकर उनका प्रयोग किया जाता है तो पशुओं में इनके प्रति रुचि उत्पन्न हो जाती है. इस प्रकार 15 दिनों में राशन का 50% इन बीजों द्वारा प्रतिस्थापित किया जा सकता है. इनमें अशोधित प्रोटीन, 21·12; ईथर निष्कर्ष, 7·75; अशोधित तन्तु, 13·16; नाइट्रोजनरहित निष्कर्ष, 51·34; राख, 6·63; CaO, 1·22; P_2O_5, 1·62% पाया जाता है. पत्तियाँ चर्मरोगों में उपयोगी है तथा बीज रेचक होते है (Jois & Manjunath, *J. Indian chem. Soc.*, 1930, 7, 521; Burkill, I, 482; Kehar & Murty, *J. sci. industr. Res.*, 1950, 9B, 77; Kirt. & Basu, II, 878; Kanny Lal Dey, 70).

कै. फिस्टुला लिनिअस C. fistula Linn.

इण्डियन लेबरनम, पर्जिंग फिस्टुला (अमलतास)

ले.–का. फिस्टूला

D.E.P., II, 217; Fl. Br. Ind., II, 261.

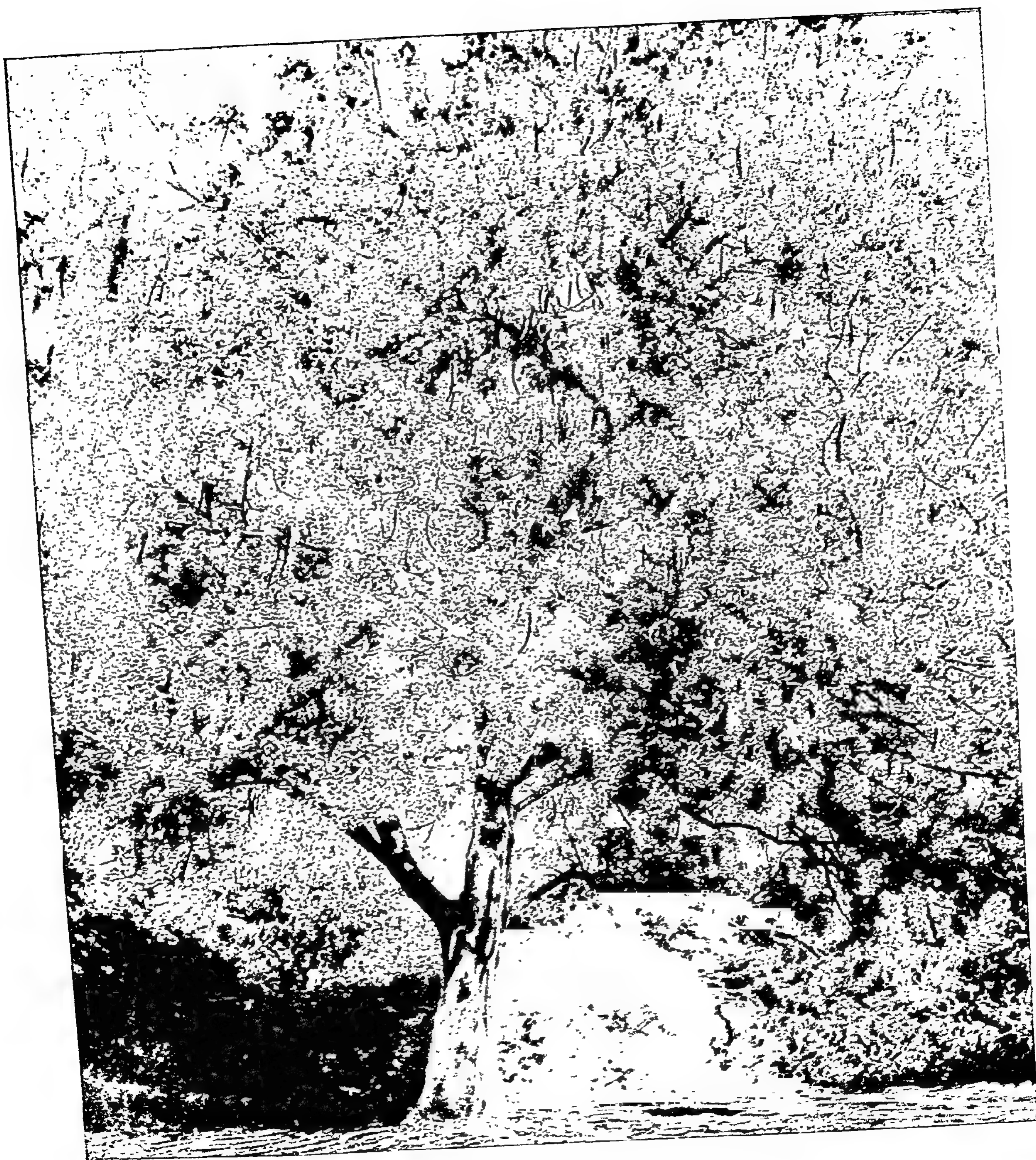
सं.–सुवर्णक, राजतरु; हिं.–अमलतास, गिरिमाला; बं.–सुन्दली, अमुलतास; म.–बहवा, गरमाला; त.–कोन्राइ; ते.–रेला; क.–कक्के.

यह मध्यम आकार का पर्णपाती वृक्ष है. इसका धड़ 3·5–4·5 मी. ऊँचा एवं 1–1·2 मी. घेरे का होता है. यह भारत का मूलवासी है. यह उष्णकटिबन्धी अफ्रीका, दक्षिणी अमेरिका और वेस्ट इण्डीज में प्रकृत हो गया है. यह कभी-कभी अप्रैल–जून में खिलने वाले सुन्दर फूलों के लिए उगाया जाता है. इसके फल निलंबी, बेलनाकार, 25–50 सेंमी. लम्बे, और 1·5–3 सेंमी. व्यास के होते हैं, जिनमें 25–100 बीज रहते हैं. यद्यपि ये बीज प्रारम्भ में एक कोशिका वाले होते हैं किन्तु बाद में बीजों के बीच बढ़ने से अनुप्रस्थ पट बन जाते हैं. ताजी फलियों में बीज पूर्णतया काले गूदे द्वारा ढके रहते हैं जो सूखने पर पटों से चिपक जाते हैं.

कै. फिस्टुला की छाल सुमारी कहलाती है इसे अवरम छाल में मिश्रित करके ईस्ट इण्डिया किप्स के चर्मशोधन में प्रयुक्त किया जाता है. इस उद्योग में इसका प्रयोग, दक्षिणी अफ्रीका से आयातित वैटल छाल के प्रयोग के कारण घट गया है. हाल ही में वैटल का आयात बन्द हो जाने से इसके प्रयोग में फिर से रुचि ली जाने लगी है. **कै. फिस्टुला** से चिकने दानों वाला चर्म उत्पादित होता है किन्तु अवरम के प्रयोग से प्राप्त चर्म की भांति यह चिकना नहीं होता. इस चर्म का रंग पीला होता है. टहनी की छाल धड़ की छाल से श्रेष्ठतर रंग प्रदान करती है. टैनिन की मात्रा काफी परिवर्तनशील है किन्तु सामान्यतः यह 10–12% तक और अटैन की मात्रा 12–14% होती है. यह डिंडीगुल, कोयम्बतूर तथा दक्षिण भारत के अन्य स्थानों के चर्मशोधकों के बीच अधिक प्रिय है प्रति वर्ष दक्षिणी भारत के वनों से 500–1,000 कैण्डियाँ (1 कैण्डी = 225 किग्रा.) एकत्रित की जाती है हाल के अनुमान उपलब्ध नहीं हैं [*Tanner*, 1948–49, 3(3), 13; George, *Bull. Dep. Industr., Travancore*, No. 27, 1929, 2].

फल के गूदे को जल के साथ अन्तःस्रवित करके तथा प्राप्त अन्तःस्राव को मुलायम लेई के रूप में बदलने तक समानीत दाब पर वाष्पन द्वारा तैयार की गई 'कैसिया लुगदी' ब्रिटिश फार्माकोपिया द्वारा मान्य है. इसका प्रयोग सनाय के मुरब्बे के अवयव के रूप में भी होता है. इसमें श्लेष्मक, पेक्टिन, हाइड्रॉक्सिमेथिल एन्थ्राक्विनोन एवं शर्करा का प्रचुर अंश रहता है. यह रेचक है किन्तु अकेले इसका प्रयोग कम ही होता है (B.P.C., 296).

कै. फिस्टुला से उपयोगी इमारती लकड़ी प्राप्त होती है. यद्यपि वृक्ष यूथी प्रकृति का नहीं है फिर भी यह बड़ी संख्या में पाया जाता है और इसकी मध्यम प्राप्ति होती ही रहती है. रसकाष्ठ का रंग श्वेत अथवा हल्का मैला श्वेत होता है. अंतःकाष्ठ का रंग पीलाभ-लाल अथवा लालाभ-भूरा तथा गहरे रंग की धारियों सहित होता है. यह भारी (आ.घ., 0·79; भार, 800 किग्रा./घमी.), कम या ज्यादा सीधे दानों वाला तथा स्थूल गठन वाला होता है. इसकी लकड़ी कठिनता से सींझती है. हवा में पकाने से सतह के चिटकने, गड्ढे पड़ने और उपड़ने की पूरी संभावना रहती है. जल में पकाने से सबसे निकृष्ट परिणाम प्राप्त हुए हैं. वृक्ष के चारों ओर वलय बनाने से अच्छे परिणाम प्राप्त होते हैं. इससे सतह का चिटकना एवं उपड़ना कम हो जाता है. हरी अवस्था में ही रूपान्तरण से अधिक अच्छे परिणाम प्राप्त हुए हैं और वह वलयन से श्रेष्ठतर है. रसकाष्ठ पर कवक और वेधकों द्वारा आक्रमण होने की पूरी संभावना



कैसिया फिस्टुला (अमलतास) – पूरी वहार पर

रहती है. आवरित एवं अनावरित दोनों ही दशाओं में सारकाष्ट टिकाऊ है. औजारों के प्रयोग से लकड़ी के उपड़ने की पूरी संभावना रहती है. इस पर अच्छी और स्थायी पालिश चढ़ती है तथा इसको घर तथा पुल के खंभों, धान के मूसलों, पहियों, हलों एवं हत्थों तथा गाड़ियों के दस्तों के बनाने में प्रयोग किया जाता है. इसे कुल्हाड़ी के हत्थे, मैती, मुंगरी के सिर तथा इसी प्रकार की अन्य वस्तुओं के निर्माण में, जहाँ शक्ति और चीमड़पन पर अधिक ध्यान दिया जाता है, प्रयोग में लाया जाता है (Pearson & Brown, I, 405; Trotter, 1944, 193).

इसकी जड़ की छाल, बीज तथा पत्तियाँ रेचक हैं परन्तु कदाचित् ही प्रयोग की जाती हैं. जड़ की छाल के निष्कर्ष का परीक्षण किया जा चुका है और इसे ब्लैक वाटर ज्वर के उपचार में कैसिया फिस्चुला टिक्विडम के स्थान पर सन्तोषजनक पाया गया है. जड़ की छाल में टैनिन के अतिरिक्त फ्लोबाफीन और ऑक्सिएन्थ्राक्विनोन पदार्थ होते हैं जिनमें संभवतः इमोडिन तथा क्राइसोफैनिक अम्ल का मिश्रण होता है (Kanny Lall Dey, 70; Venkatachalam & Ratnagiriswaran, *Indian med. Gaz.*, 1941, **76**, 211).

कै. स्यामिया लामार्क C. siamea Lam.

ले. – का.. सिआमेआ

D.E.P., II, 223; Fl. Br. Ind., II, 264.

म. – कासोड; त. – मंजे-कोन्नाइ; ते. और क. – सीमे तंगणि.

यह पश्चिमी प्रायद्वीप, श्रीलंका, मलय तथा श्याम में पाया जाने वाला पीले फूलों वाला एक वृहत् वृक्ष है. इसे प्रायः बगीचों और वीथियों में रोपा जाता है. इसकी छाल और फल में क्रमशः 2·5–4% तथा 10% टैनिन पाया जाता है (Wehmer, I, 507).

पत्तियों और फलियों में एक विषैला ऐल्कलायड, $C_{14}H_{19}O_3N$, पाया जाता है जो सुअरों के लिए घातक है. पत्तियाँ खाद के रूप में प्रयोग की जा सकती हैं. फूलों से तरकारी बनाई जाती है (Burkill, I, 480; Prasad, *Indian For.*, 1944, **70**, 5).

काष्ठ में जल, 11·0; लिग्निन, 37·3; पेण्टोसन, 15·6; सेलुलोस, 33·8; ऐल्कोहल-बेंजीन निष्कर्ष, 18·2; राख, 0·3; और मैनान, 0·17% पाया जाता है. केन्द्रीय खोखले स्थान में एक सुनहरे रंग का चूर्ण पदार्थ पाया जाता है जिसका रंग हवा में खुला छोड़ने से गहरा हो जाता है. इस पदार्थ का मुख्य अवयव क्राइसोफैनहाइड्रोऐन्थ्रान, $C_{15}H_{12}O_3$, ग.वि., 206°, है (Wehmer, I, 507; Wehmer, suppl., 42).

रसकाष्ठ श्वेत तथा अंतःकाष्ठ गहरे भूरे रंग का होता है. काष्ठ के त्रिज्य काट में हल्के और गहरे रंग की धारियाँ दिखलाई पड़ती हैं. स्पर्शी काट में यह गहरे धब्बे, टेढ़ी-मेढ़ी पट्टिकाओं के रूप में दिखलाई पड़ते हैं और अलंकृत आकृति उत्पन्न करते हैं. किन्तु सुन्दर काष्ठ अधिक परिमाप में नहीं मिलता है. अन्तःकाष्ठ टिकाऊ होता है. ब्रह्मा में इसका प्रयोग हथियारों के मुट्ठे, छड़ियाँ और मुग्दर बनाने में किया जाता है. श्रीलंका में काष्ठ का प्रयोग रेलवे इंजन के ईंधन के रूप में होता है. इसे लकड़ी के सामान तथा पच्चीकारी के लिए अधिक प्रयोग में लाना होगा. यह जाति लाख के कीटों की परपोषी जातियों में से है (Gamble, 274; Burkill, I, 480).

कैसिया आबोवेटा कोलाड (= **कै. आवट्यूसा** रॉक्सबर्ग सिन. **कै. बरमनाई** वाइट) डाग सनाय अथवा कण्ट्री सनाय, तिन्नेवेली सेन्ना का अपमिश्रक है. इसकी पत्तियाँ चौड़ी तथा अधोमुख अंडाकार होती हैं और फलियाँ स्पष्टतः वक्रित होती हैं (Kraemer, 361).

कै. अलाटा लिनिअस की पत्तियाँ दाद के उपचार में प्रभावकारी होती हैं. पत्तियों को कुचल कर चूने के रस में मिश्रित करके ग्रस्त अंग पर लेप कर दिया जाता है. पत्तियों और फलों के काढ़े का प्रयोग आन्तरिक रूप से किया जाता है. एक्जिमा के चट्टों को धोने में भी इसका प्रयोग होता है. इस पौधे में क्राइसोफैनिक अम्ल पाया जाता है जो पशुओं के लिये विषैला होता है (Kirt. & Basu, II, 871; Burkill, loc. cit.).

कै. सोफेरा लिनिअस में **कै. ऑक्सीडेण्टेलिस** के समान औषधीय गुण पाये जाते हैं. दाद में इसकी पत्तियों का प्रयोग वाह्य रूप से किया जाता है. ऐसा कहा जाता है कि तीव्र श्वसनीशोथ में पूरे पौधे का काढ़ा लाभदायक होता है. पौधे में इमोडिन और संभवतः क्राइसोफैनिक अम्ल भी पाया जाता है (Kirt. & Basu, II, 864; Wehmer, I, 505).

Cassia obovata Collad.; *C. obtusa* Roxb. syn. *C. burmanni* Wight; *C. alata* Linn.; *C. sophera* Linn.

कैसिया छाल – देखिए **सिनामोमम**

कैसिया लिग्निया – देखिए **सिनामोमम**

कैसी – देखिए **अकेशिया**

कैसीथा लिनिअस **(लारेसी)** CASSYTHA Linn.

ले. – कास्सिथा

यह परजीवी झाड़ियों की 20 जातियों का वंश है जिसकी प्रकृति अमरबेल के समान है और जो उष्ण देशों में समुद्रों के किनारे-किनारे पाया जाता है.

Lauraceae

कै. फिलीफॉर्मिस लिनिअस C. filiformis Linn. अमरबेल

ले. – का. फिलिफोर्मिस

D.E.P., II, 226; Fl. Br. Ind., V, 188.

सं. – आकाशवल्ली; हिं. – अमरबेलि; बं. – आकाशबेल; म. – अमरवेल; ते. – नूलुतीगा; त. – एरुमैक्कोट्टन; क. – आकाशवल्लि; मल. – आकाशवल्ली.

यह एक परजीवी, पर्णहीन बेल है जिसका तना, लम्बा, रज्जुवत होता है. यह भारत के अधिकांश भागों में, विशेष रूप से समुद्री तटों के समीप, पायी जाती है. पित्त सम्बंधी रोगों, मूत्रमार्ग शोथ, दीर्घस्थायी आँव और चर्म रोगों में इस पौधे का प्रयोग किया जाता है. तने से तैयार दवाइयाँ आँख धोने और चिर स्थायी नासूर की सफाई करने के काम आती हैं. तनों

का चूर्ण करके तिल के तेल के साथ मिलाकर केश औषध के रूप में प्रयोग किया जाता है. कीटनाशी के रूप में इस पौधे का प्रयोग वर्णित है. पौधे के मेथिल ऐल्कोहल निष्कर्ष से डलसीटाल पृथक् किया गया है. पौधे में लारोटेटैनीन; $C_{19}H_{21}O_4N.H_2O$, नामक ऐल्कलायड पाया गया है जिससे संकुचन होता है और अधिक मात्रा होने पर मृत्यु भी हो सकती है (Kirt. & Basu, III, 2163; Chopra, 473; Burkill, I, 485; Chopra & Badhwar, *Indian J. agric. Sci.*, 1940, **10**, 37, *Chem. Abstr.*, 1941, **35**, 1381; Wehmer, suppl., 43; Burkill, loc. cit.).

कैसीमिरोआ लेव और लेक्स (**रूटेसी**) CASIMIROA Llave & Lex

ले. – कासिमिरोआ

मध्य अमेरिका में पाई जाने वाली सदाहरित झाड़ियों और वृक्षों का एक वंश है जिसमें 5 जातियाँ सम्मिलित हैं. **कै. एडुलिस** लेव और लेक्स (श्वेत सपोता या कोचिल सपोते) से खाद्य फल मिलते हैं और यदा-कदा यह भारतीय उद्यानों में देखा जाता है. वैसे यह स्पष्टत: उपोष्णीय है और मध्यवर्ती अमेरिका मे 1,500–1,800 मी. की ऊँचाई पर उगता है. यह मध्यम आकार का सीधा या फैलने वाला वृक्ष है जिसकी पत्तियाँ हस्ताकार, संयुक्त एवं फल धानी रंग के, नारंगी के आकार के होते हैं. फलों का छिलका पतला और गूदा पीलापन लिए, मीठी या कड़वी मिठास या सुरस से युक्त होता है. इसकी पत्तियाँ अतिसार में औषध रूप तथा कृमिहर के रूप में प्रयुक्त होती हैं. इसके बीजों में दो ऐल्कलायड, कैसिमिरॉइन $C_{22}H_{14}O_6N_2(OMe)_2$, ग.वि., 196–97°; और कैसिमिरॉइडीन $C_{17}H_{24}O_5N_2$, ग.वि., 222–23°,$[\alpha_D]$, –36·5° पाये गए हैं और दोनों ही कायिकीय दृष्टि से अक्रिय हैं (Henry, 772; U.S.D., 1387).
Rutaceae; *C. edulis* Llave & Lex

कैस्टानाप्सिस स्पाख (**फैगेसी**) CASTANOPSIS Spach

ले. – कास्टानोप्सिस

यह एक सदाहरित वृक्षों का वंश है जिसमें लगभग तीस जातियाँ सम्मिलित हैं. इनमें से अधिकतर केवल दक्षिण-पूर्वी एशिया में ही पायी जाती हैं. एक दर्जन भारतीय जातियों में से केवल 3 आर्थिक महत्व की हैं.
Fagaceae

कै. इण्डिका ए. द कन्दोल C. indica A. DC.

इण्डियन चेस्टनट

ले. – का. इंडिका

D.E.P., II, 228; Fl. Br. Ind., V, 620; *Ann. R. bot. Gdn, Calcutta*, 1889, **2**, Pl. 83.

यह एक मँझोला या बड़ा वृक्ष है जिसके फल खाए जाते हैं. यह हिमालय में नेपाल से पूरब की ओर, खासी पहाड़ियों एवं पूर्वी बंगाल, चटगाँव तथा ऊपरी ब्रह्मा की पहाड़ियों में पाया जाता है. इसकी लकड़ी (आ.घ., 0·62; भार, 640 किग्रा./घमी.) का रंग धूसर-पीले से धूसरी-भूरे तक होता है. यह कई बातों में **कै. हिस्ट्रिक्स** की लकड़ी के समान है. पालिश के बाद लकड़ी सुन्दर तथा चमकीली चित्तीदार दिखाई देती है. इसका प्रयोग निर्माण-कार्य तथा शिंगिलों में किया जाता है.

छाल में 6–12% और पत्तियों में 10% टैनिन पाया जाता है. असम में इसकी पत्तियाँ बीड़ियों पर लपेटने के काम आती हैं (Badhwar *et al.*, loc. cit.; Jagdamba Prasad, *Indian For. Leafl.*, No. 60, 1943, 4).

कै. ट्रिबुलायडीज ए. द कन्दोल C. tribuloides A. DC.

ले. – का. ट्रिबूलोइडेस

D.E.P., II, 228; Fl. Br. Ind., V, 622; *Ann. R. bot. Gdn, Calcutta*, 1889, **2**, Pl. 94.

यह एक मध्यम आकार का वृक्ष है जिसके फल खाए जाते हैं. यह गंगा के पूर्व की ओर हिमालय में तथा पूर्वी बंगाल, असम और ब्रह्मा की पहाड़ियों में भी पाया जाता है. इसकी छाल में 6–14% टैनिन होता है. इस जाति की ब्रह्मा में उगने वाली किस्म के तने की छाल में 19% तक टैनिन पाया गया है (Badhwar *et al.*, loc. cit.).

कै. हिस्ट्रिक्स ए. द कन्दोल सिन. **कै. रूफेसेन्स** हुकर पुत्र और थॉमसन C. hystrix A. DC.

ले. – का. इस्ट्रिक्स

D.E.P., II, 228; Fl. Br. Ind., V, 620; *Ann. R. bot. Gdn, Calcutta*, 1889, **2**, Pl. 84.

नेपाल – कटुस, डालने कटुस; असम – हिंगोरी.

यह एक बड़ा वृक्ष है जो उत्तरी हिमालय, खासी की पहाड़ियों एवं ब्रह्मा की पहाड़ियों में बहुतायत से मिलता है. इसमें अच्छी गंध वाले छोटे-छोटे खाद्य नट लगते हैं.

ताजी लकड़ी श्वेत और चमकीली होती है किन्तु पुरानी पड़ने पर इसका रंग हल्के धूसर से धूसरी-भूरा हो जाता है. यह मध्यम भारी (आ.घ., 0·66; भार, 672 किग्रा./घमी.), मजबूत एवं टिकाऊ है लेकिन इसकी सतह और किनारे चिटख सकते हैं तथा इस पर कीटों का आक्रमण हो सकता है. इसको चीरना सहज है. इस पर रंदा चलाकर अच्छा रूप दिया जा सकता है. इमारती लकड़ी के रूप में सागौन के संगत गुणों से तुलना करने पर निम्नांकित प्रतिशत आँकड़े प्राप्त होते हैं: भार, 90; कड़ी के रूप में सामर्थ्य, 75; कड़ी के रूप में दृढ़ता, 90; खम्भे के रूप में उपयुक्तता, 75; प्रघात प्रतिरोध क्षमता, 85; आकार धारण क्षमता, 55; अपरूपण, 90; दृढ़ता, 75. पहाड़ी जनपदों में निर्माण-कार्य के लिए यह उपयोगी लकड़ी है. इसका प्रयोग बहुधा शिंगिल, गाड़ियों के शेफ्ट, धुरे, नाभि, खंभे तथा हल के निर्माण में होता है. परिरक्षकों से उपचारित करने के बाद इसे रेलवे स्लीपरों के निर्माण में भी प्रयुक्त किया जा सकता है. असम और बंगाल से मध्यम संभरण प्राप्त होता है (Trotter, 1944, 240).

छाल में 11–13% तथा पत्तियों मे 12% टैनिन पाया जाता है. टैनिन निष्कर्षों के उत्पादन के लिए **कै. हिस्ट्रिक्स** और **कैस्टानाप्सिस** की अन्य भारतीय जातियों की लकडी और छाल आशाजनक उत्पाद हैं (Badhwar *et al.*, *Indian For. Leafl.*, No. 72, 1944, 7).

कै. आरगाइरोफिला किंग एक्स हुकर पुत्र ब्रह्मा मे पाई जाने वाली जाति है. इसके तने की छाल मे 18·2% टैनिन होता है. **कै. ट्रिबुलायडीज** की लकडी की भाँति इसमे भी अधिक मात्रा मे टैनिन पाया जाता है. यह लकडी चेस्टनट निष्कर्ष के लिए यूरोप से मँगाये गए कच्चे माल की अपेक्षा उत्तम है (लकडी: भार, 592 किग्रा./घमी.) धूसर रंग की होती है किन्तु खुला छोड देने पर रंग भूरा हो जाता है. यह मध्यम कठोर तथा भारी होती है. इसको तख्तो एवं शिंगिल के लिए प्रयोग मे लाते है (Pilgrim, *Indian For. Rec.*, 1923–24, **10**, 263).
C. argyrophylla King ex Hook. f., *C. rufescens* Hook. f. & Thoms ; *Castanopsis*

कैस्टानिया मिलर (फैगेसी) CASTANEA Mill.

ले. – कास्टानेआ

यह पर्णपाती वृक्षों की 10 जातियों का एक वंश है जो उत्तरी समशीतोष्ण कटिबन्ध में पाया जाता है. कुछ जातियों से खाद्य नट प्राप्त होते है और कुछ शोभाकारी है.
Fagaceae

कै. सटाइवा मिलर सिन. कै. वलगैरिस लामार्क
C. sativa Mill. — स्वीट चेस्टनट

ले. – का. साटिवा
D.E.P., II, 227.

यह पश्चिमी एशिया, यूरोप और उत्तरी अफ्रीका का मूलवासी है यह जाति हिमालय के कई भागो (विशेषतया पंजाब, उत्तर पश्चिमी सीमा प्रान्त और दार्जिलिंग) और खासी पहाडियो में उगाई जाती है. प्राकृतिक रूप मे इसकी ऊँचाई 15–24 मी. तक होती है किन्तु भारत मे इसकी इतनी ऊँचाई नही देखी गई. इसके नट के भीतर एक खाद्य गिरी होती है जो एक पतली, चीमड और कषाय त्वचा मे बन्द रहती है और ऊपर से एक कँटीली प्यालिका से घिरी होती है. **कै. सटाइवा** की कई किस्मे है जिनकी गिरी के गुणों मे असमानता पाई जाती है. भारत मे उगाई गई किस्मे यूरोप मे उगाई जाने वाली किस्मों की अपेक्षा निम्न स्तर की है.

गिरी और इसका आटा खाने के काम आते है. गिरी के विश्लेषण मे निम्नांकित मान प्राप्त हुए: जल, 29·34, स्टार्च तथा अन्य पॉलीसैकराइड, 32·64; स्यूक्रोस, 21·6, प्रोटीन, 10·9; वसा, 1·84; तथा राख, 2·25%. आटे के विश्लेषण मे जल, 13; प्रोटीन, 8·1; वसा, 3·62, नाइट्रोजनरहित निष्कर्ष, 73·2; सेलुलोस, 2·1, तथा राख, 2·05% प्राप्त हुए (Wehmer, I, 215).

चेस्टनट की पत्तियाँ बलवर्धक, कषाय एवं खाँसी और श्वसन अंगो की अन्य उत्तेजनाओं मे प्रभावकारी है. इनको जलीय काढे के रूप मे प्रयुक्त किया जाता है. पत्तियो मे आर्द्रता, 46·0; प्रोटीन, 8·0; ईथर निष्कर्ष, 8·1; अशोधित तन्तु, 18·5; नाइट्रोजनरहित निष्कर्ष, 60·9; और राख, 4·4% होते है (*Jt Publ. imp. agric. Bur.*, No. 10, 1947, 198).

इसकी पत्तियो, काष्ठ तथा छाल में टैनिन पाया जाता है किन्तु चर्मशोधन-उद्योग तथा व्यापारिक चेस्टनट निष्कर्ष बनाने मे केवल काष्ठ ही उपयोगी है. निष्कर्ष को बडी मात्रा मे उत्पादन करने वाले प्रमुख देश फ्रास, इटली तथा संयुक्त राज्य अमेरिका है. व्यापारिक द्रव निष्कर्षो मे 29–49% टैनिन रहता है जबकि ठोस निष्कर्षो मे 56–76% (*Bull. imp. Inst.*, *Lond.*, 1927, **25**, 387).

लकडी (भार, 592–864 किग्रा./घमी.) का प्रयोग फर्नीचर और पीपे की पटरियों के बनाने मे किया जाता है. यह सभी प्रकार के निर्माण-कार्यो मे टिकाऊ है और कीट एवं फफूँद के आक्रमण को सहन कर लेता है.

कैस्टेनिया की कुछ अमेरिकी जातियो की काष्ठ-लुगदी कागज तथा रेयन के उत्पादन के लिए उपयुक्त है (*For. Abstr.*, 1947, 8, 411).
C. vulgaris Lam.

कैस्टानोस्परमम ए. कनिघम (लेग्युमिनोसी) CASTANOSPERMUM A. Cunn.

ले. – कास्टानोस्पेरमूम
D.E.P., II, 229.

यह ऑस्ट्रेलिया और न्यू-कैलेडोनिया में पाए जाने वाले वृक्षो की दो जातियो का वंश है

कै. आस्ट्रेल ए. कनिघम (मोरेटन बे चेस्टनट, ब्लैक बीन), एक ऊँचा सदाहरित वृक्ष है जिसकी पत्तियाँ घनी होती है. यह भारत और श्रीलंका के अनेक भागों मे सामान्यतः छायादार वृक्ष के रूप मे उगाया जाता है. फलियाँ 20–22·5 सेमी लम्बी, काले और गोल बीजो से पूर्ण होती है बीज कषाय होते है परन्तु इन्हे भूनकर खाया जा सकता है. भुने बीजो का स्वाद चेस्टनट की तरह होता है. बीजो मे स्टार्च अधिक मात्रा मे पाया जाता है और न्यू साउथ वेल्स मे यह स्टार्च व्यापारिक स्तर पर निष्कर्षित किया जाता है. कच्चे बीज पशुओं के लिए विषैले होते है जिनसे तीव्र जठरान्त्रशोथ हो जाता है परन्तु पके बीज निर्दोष होते है पत्तियां भी पशुओं के लिए विषैली है. पत्तियो मे एक सैपोनिन होने की सूचना है (*Chem. Abstr.*, 1939, **33**, 3424, Burkill, I, 489).

इसकी लकडी अत्यन्त आकर्षक होती है, जिसमे जैतून हरित से लेकर भूरे रंग के विभिन्न शेड होते है, और गहरे रंग की आडी धारियां पडी होती है जो प्राय. सुन्दरता के साथ चित्तियाँ बनाती है. यह कठोर, टिकाऊ एवं भारी (भार, 768 किग्रा./घमी.) होती है तथा इसका अनुकरण कठिन होता है. इसका प्रयोग चौखट, फर्नीचर, कैबिनेट कार्य तथा सजावट मे किया

जाता है. इस पर दीमकों का आक्रमण नहीं होता. यह विद्युत धारा का अतिशय प्रतिरोध करती है जो बहुत-सी कैबिनेट लकड़ियों की अपेक्षा लगभग सौ गुना अधिक होता है (Howard, 79).

Leguminosae; *C. australe* A. Cunn.

कैस्टिला सेर्वाण्टिस (कैस्टिलोआ सेर्वाण्टिस) (अर्टिकेसी) CASTILLA Cerv.

ले. – कास्टिल्ला

यह मध्य अमेरिका में पाई जाने वाली, 10–12 जातियों का एक छोटा-सा वंश है. असम, तमिलनाडु, मैसूर और श्रीलंका में **कै. एलास्टिका** सेर्वाण्टिस को, जिससे रबड़ प्राप्त होती है, प्रचलित करने का प्रयत्न किया गया किन्तु कोई सफलता नहीं मिल पाई.

Castilloa Cerv.; *Urticaceae*

कै. एलास्टिका सेर्वाण्टिस C. elastica Cerv.

यूल ट्री, पनामा रबर वृक्ष

ले. – का. एलास्टिका

D.E.P., II, 229.

यह एक ऊँचा वृक्ष है जो अपने मूल स्थान में 54 मी. ऊँचा और घेरे में 4·5 मी. हो जाता है. यह वृक्ष निम्न अथवा मध्यम ऊँचाइयों पर, 450 मी. तक अच्छी जल-निकास वाली और उर्वर बलुई दुमटों में तथा जलधाराओं के तटों पर सबसे अच्छा बढ़ता है. ये पौधे बीजों से अथवा आयातित पौधों से उगाये जा सकते हैं. इसकी वृद्धि के लिए आवश्यक है कि वर्षा 2,000–3,000 मिमी. हो और ताप औसतन 25–29° रहे और 16° से नीचे न जाए (Troup, III, 892).

इस वृक्ष से रबर निकाली जाती है. जब वृक्ष 8–10 वर्ष पुराने हो जाते हैं तो दूध निकालना आरम्भ किया जाता है और वर्ष में 2–3 बार निकाला जाता है. इसके तने पर तिरछे चीरे बना दिए जाते हैं जिनमें से दूध बहता है और इकट्ठा किया जा सकता है. अधिकतर वृक्ष को गिरा लिया जाता है और थोड़ी-थोड़ी दूर पर तने में वलय बनाकर दूध निकाल लिया जाता है. दूसरी विधि से प्रति वृक्ष 11·25–31·50 किग्रा. रबर प्राप्त होती है (Whaley, *Econ. Bot.*, 1948, **2**, 209).

यह रबर दूध (आ.घ., 1·006–1·016; पी-एच, 4·5–6·0) 2–3 सप्ताह तक खुले बर्तन में रखा जा सकता है. दूध के स्कंदन के लिए उसमें **कैलोनिक्शन ऐकुलियेटम** का रस मिलाया जाता है. दूध आरम्भ में अम्लीय होता है और उदासीनीकरण के बाद किसी अम्ल द्वारा स्कंदित किया जा सकता है. क्षारीय स्कंदक भी प्रयुक्त किए जा सकते हैं. जब क्षीर में गर्म पानी मिलाया जाता है तो रबर पृथक् हो जाती है और सतह पर तिर आती है. स्कंद को गूंध कर टिकिया बनाई और सुखाई जा सकती है अथवा उसे 'हीविया रबर' के समान चद्दरों में परिवर्तित किया जा सकता है. यह माल ग्वायेल (**पार्थेनियम अर्जेण्टेटम**) अथवा **क्रिप्टोस्टेजिया** से प्राप्त रबरों में बढ़िया समझा जाता है. जान पड़ता है कि कैस्टिला की रबर 'हीविया रबर' के स्थान पर स्वीकार की जा सकती है (*Chem. Abstr.*, 1945, **39**, 4251; 1946, **40**, 1344; Blair & Ford, *Industr. Engng Chem.*, 1945, **37**, 760).

कैस्टिला दूध में सूखे आधार पर कूचुक, 86·4; रेज़िन, 12·5; प्रोटीन, 0·9; तथा राख, 0·2% होती है. इसमें सिरोटिक, क्लोरोजेनिक और टैनिक अम्ल, शर्कराएँ, मोम और एक ग्लाइकोसाइड पाया जाता है (Budhiraja & Beri, *Indian For. Leafl.*, No. 70, 1944, 3; Wehmer, I, 245).

Calonyction aculeatum; *Parthenium argentatum* Gray; *Cryptostegia*

कोंजिया रॉक्सबर्ग (वर्बेनेसी) CONGEA Roxb.

ले. – कोंजेआ

D.E.P., II, 517; Fl. Br. Ind., IV, 602.

यह विशाल आरोही झाड़ियों की लगभग 7 जातियों का वंश है, जो ब्रह्मा और मलाया में पाया जाता है. **को. टोमेण्टोसा** रॉक्सबर्ग वैर. **ऐज़ूरिया** (**कों. ऐज़ूरिया** वालिश) पर पीताभ धूमिल लाल फूल आते हैं और यह भारत में उद्यानी वृक्ष के रूप में लोकप्रिय है. इसका प्रवर्धन कलमों से किया जाता है. इस पौधे की बाड़ लगाई जा सकती है.

Verbenaceae; *C. tomentosa* Roxb. var. *azurea*

कोइक्स लिनिअस (ग्रैमिनी) COIX Linn.

ले. – कोइक्स

यह बहुवर्षी तथा एकवर्षी ऊँची घासों की 9 जातियों का वंश है जो उष्णकटिबन्धी एशिया में पाया जाता है. कुछ जातियों का वर्गीकरण संदिग्ध है. **को. लाक्राइमा-जोबी** सबसे महत्वपूर्ण जाति है और अपने चमकदार, नासपाती जैसे फलों के लिए जो सजावट तथा खाने के काम आते हैं, उगाई जाती है.

Gramineae

को. एक्वेटिका रॉक्सबर्ग C. aquatica Roxb.

ले. – को. अकुआटिका

D.E.P., II, 491; C.P., 392; Fl. Br. Ind., VII, 100.

इस जाति का ज्ञान अधूरा है. इसे **को. जाइगैण्टिया** या **को. लाक्राइमा-जोबी** की एक किस्म माना जाता है. यह बंगाल की छिछली झीलों में जंगली तैरते खरपतवार के रूप में मिलती है जिसकी लम्बाई 6 मी. किन्तु कभी-कभी 30 मी. तक पहुँच जाती है. इसको चारे के लिए ऐसी दलदली भूमि में उगाया जा सकता है जहाँ से पानी सरलता से न निकलता हो किन्तु वह पानी रोपे गये धान की फसल के लिये पर्याप्त न हो. प्रति वर्ष चारे की उपज 33·2 टन प्रति हेक्टर बतलाई गई है (Datta & Gossip, *Agric. Live-Stk India*, 1931, **1**, 266).

को. जाइगैण्टिया कोएनिग एक्स रॉक्सबर्ग C. gigantea Koenig ex Roxb. वाइल्ड ऐडले

ले.—को. जिगाण्टेआ
D.E.P., II, 491; C.P., 392; Fl. Br. Ind., VII, 100.

बं.—दांगा गुरगुर.

यह 0·9–3 मी. ऊँची, सहिष्णु, सीधी एकवर्षी या बहुवर्षी घास है जो भारत, ब्रह्मा और श्रीलंका के दलदली क्षेत्रों में पायी जाती है. यह श्रीलंका के धान के खेतों में कष्टकर अपतृण के रूप में बताई जाती है. इसका दाना हल्के, भूरे या चाकलेटी रंग के कड़े चमकदार छिलके में रहता है. इसके फल मालायें, मनके के परदे, सजावटी डोलचियाँ तथा बक्से बनाने में उपयोगी पाये गये हैं. दानों को छिलकों से अलग करके मुर्गियों को खिलाया जा सकता है (De Soyza, *Trop. Agriculturist*, 1937, 88, 208).

को. लाक्राइमा-जोबी लिनिअस सिन. **को. लाक्राइमा** लिनिअस C. lacryma-jobi Linn. ऐडले, जोब के आंसू

ले.—को. लाक्रिमा-जोबी
D.E.P., II, 492; C.P., 392; Fl. Br. Ind., VII, 100.

सं.—जार्गडी; हि.—संक्रू; बं.—गुरगुर; म.—रनमक्काई; त.—नेलपवलम.

खासी पहाड़ी—सोहरियू.

यह ऊँची सीधी, एकवर्षी घास है जो 0·9–1·8 मी. ऊँची और चौड़ी पत्तियों वाली होती है. यह उभय-लिंगाश्रयी है और इसमें बड़े चमकदार नासपाती जैसे फल लगते हैं जो आँसू की बूंदों के समान प्रतीत होते हैं. इसके दाने चावल की भाँति श्वेत अथवा हल्के भूरे रंग के होते हैं.

यह पौधा दक्षिण पूर्वी एशिया का मूलवासी है और संसार के उष्णकटिबंधीय तथा उपोष्णकटिबन्धी क्षेत्रों में मिलता है. उष्णकटिबन्ध में, विशेषत: फिलिपीन्स में इसकी खेती सहायक खाद्य फसल के रूप में की जाती है. भारत में यह मैदानों तथा पर्वतीय ढालों पर 1,500 मी. की ऊँचाई तक पाया जाता है. इसकी आदतों तथा लक्षणों में उल्लेखनीय विषमता पायी जाती है; अनेक प्रजातियों में आकार, रंग, आकृति तथा फलों के बाहरी जाले की कठोरता की मात्रा में काफी भिन्नता पाई जाती है. इनमें से अधिक महत्वपूर्ण प्रजातियाँ निम्नांकित हैं: (1) वैर. **स्टेनोकार्पा** स्टैफ एक्स हुकर पुत्र जिसके लंबोतरे फल लगभग 19 मिमी. लम्बे होते हैं; (2) वैर. **मोनिलिफेरा** वाट जिसके चिपटे, गोलाकार फल कृत्रिम मनकों के समान होते हैं; (3) वैर. **मायुयेन** स्टैफ एक्स हुकर पुत्र जिसके नासपाती जैसे फल आकार और रंग में विविधता लिए होते हैं. अन्तिम किस्म के दो प्रारूप हैं: एक तो जंगली, जिसके कड़े चिकने फल होते हैं तथा दूसरी कृष्ट, जिसके फल अवद्ध, पतले छिलके वाले कम या ज्यादा गहरी खाँचीवाले होते हैं जिनका रंग खड़िया जैसे श्वेत से लेकर पीले या भूरे रंग का होता है. जंगली किस्मों के फल चिकने तथा चमकीले आवरणों वाले होते हैं जिनके रंग



चित्र 77—कोइक्स लाक्राइमा-जोबी

धूसर, नीलाभ धूसर; भूरे या श्याम होते हैं (Burkill, I, 630; Vallaeys, *Bull. agric. Congo belge*, 1948, 39, 247).

ऐडले की खेती फिलिपीन्स, हिन्द-चीन, श्याम तथा ब्रह्मा में बहुतायत से तथा श्रीलंका में कुछ-कुछ होती है. यह ऊँची अच्छी जल-निकाल वाली भूमियों पर पनपती है. इसकी खेती सरल है. मानसून के दिनों में एक हेक्टर में 6–10 किग्रा. बीज बोये जाते हैं. अच्छी पैदावार के लिए पौधों को आरम्भ में पर्याप्त वर्षा तथा दाना पड़ते समय सूखा मौसम चाहिए, प्रचुर मात्रा में कार्बनिक खाद देने से पौधों को विशेष लाभ होता है. बोने के 4–5 मास पश्चात् फसल को जड़ से काट कर दाना और भूसा अलग कर लेते हैं. ऐडले रोगमुक्त होता है परन्तु चूहों और तोतों से खेती को काफी हानि पहुँचती है. स्मट या कंड इस खेती को हानि पहुँचा सकते हैं. विभिन्न देशों में भिन्न-भिन्न उपज बतलाई जाती है. फिलिपीन्स तथा श्रीलंका में भूसी सहित, क्रमश: 3,000 किग्रा. तथा 1,400–1,750 किग्रा. प्रति हेक्टर उपज होती है. भूसी से इन देशों में क्रमश: 30–40 तथा 70 प्रतिशत की हानि हो जाती है. ऐसी विविधता का कारण कदाचित् दोनों देशों में उगाये जाने

वाले विभेदों में अन्तर है (*Trop. Agriculturist*, 1939, **93**, 352; Pieris, ibid., 1937, **89**, 160; *Bull. imp. Inst., Lond.*, 1940, **38**, 182).

फल नासपाती जैसे, लगभग 6 मिमी. लम्बे होते हैं जिनके ऊपर सिलिकायुक्त आवरण रहता है जिसका भार फल के भार का 30–70% तक होता है. दाने श्वेत, पीले तथा बैंगनी होते हैं, श्रीलंका में उगाई गई तीन किस्मों के भूसी रहित दानों के विश्लेषण मान परास इस प्रकार थे: आर्द्रता, 10·1–11·3; प्रोटीन, 10·3–12·1; कार्बोहाइड्रेट, 72·7–74·3; ईथर निष्कर्ष, 3·1–3·8; रेशे, 0·29–0·32; खनिज पदार्थ, 0·70–0·99; कैल्सियम, 0·005–0·006; फॉस्फोरस, 0·3–0·5%. प्रोटीन तथा वसा की मात्रा ऐडले में अन्य अनाजों की तुलना में बढ़कर है परन्तु खनिज की मात्रा कम है. इसी प्रकार फॉस्फोरस की मात्रा अधिक है किन्तु कैल्सियम की कम है. चावल की भाँति इसमें भी रेशे कम होते हैं. दानों से कोइसिन नामक एक प्रोलैमीन पृथक् किया गया है जिसमें प्रचुर ल्युसीन तथा ग्लुटैमिक अम्ल पाये जाते हैं (Joachim *et al.*, *Trop. Agriculturist*, 1939, **93**, 336; *Bull. imp. Inst., Lond.*, loc. cit.).

फिलिपीन्स में ऐडले के दानों को चक्की में पीस कर आटा बनाने तथा रोटी बनाने के प्रयोग किए गये जिससे ज्ञात हुआ कि यह आटा रोटी बनाने के लिए उत्तम होता है, यदि साथ में गेहूँ का आटा मिला लिया जाए. इसके दाने चावल के स्थान पर प्रयुक्त हो सकते हैं और वसा तथा प्रोटीन की मात्रा अधिक होने से यह अधिक स्वास्थ्यप्रद है. उन सभी व्यंजनों में इसका उपयोग किया जा सकता है जहाँ चावल की आवश्यकता पड़ती है और इसमें वैसा ही स्वाद रहता है. जापान में तो दानों से मदिरा बनाई जाती है. नागा जाति के लोग इससे हल्की 'दजू' नामक मदिरा तैयार करते हैं. भूसी निकालने के बाद फलों को मुर्गी के दानों के रूप में प्रयुक्त किया जा सकता है (Burkill, loc. cit.; *Bull. imp. Inst., Lond.* loc. cit.; French, *E. Afr. agric. J.*, 1945, **10**, 152).

फलों का उपयोग चिकित्सा में टिंक्चर या काढे के रूप में श्वास नलिका की रुकावट या मूत्र वाहिनी नालियों की सूजन में होता है. जंगली किस्मों, वैर. स्टेनोकार्पा तथा वैर **मोनिलिफेरा** के फलों से गले के माले, मनकों-जैसे परदे तथा पूजा की माला आदि बनाये जाते हैं. पत्तियाँ मवेशी, घोड़े तथा हाथी के चारे के लिए उपयोगी पाई गई है. इसे गड्ढों में भरकर साइलेज बनाया जा सकता है. सूखी पत्तियाँ और डंठल झोंपड़े छाने के लिए काम आ सकते हैं (U.S.D., 1493; Bor, *Indian For. Rec., N.S., Bot.*, 1941, **2**, 99).

var. *stenocarpa* Stapf; var. *monilifera* Watt; var. *mayuen* Stapf ex Hook. f.

कोऊसो – देखिए हाजेनिया

कोकम – देखिए गार्सीनिया

कोका – देखिए एरिथ्राक्सायलम

कोकिया रॉथ (कीनोपोडिएसी) KOCHIA Roth

ले. – कोचिआ

यह एक दीर्घ रोमी या रोमिल नीची झाड़ियों या बूटियों का वंश है जो मध्य और दक्षिण यूरोप, शीतोष्ण एशिया, उत्तरी और दक्षिणी अफ्रीका, ऑस्ट्रेलिया और उत्तरी पश्चिमी अमेरिका में फैला हुआ है. इसकी तीन जातियाँ भारत में पाई जाती हैं. *Chenopodiaceae*

को. इण्डिका वाइट K. indica Wight

ले. – को. इंडिका

D.E.P., IV, 567; *Fl. Br. Ind.*, V, 11.

पंजाब – कारो-रो, बुई, बुई-छोटी.

यह सीधा, मृदु रोमिल वार्षिक पौधा है जिसमें आधार से मिलती विसरित शाखायें और रेखाकार आयताकार पत्तियाँ होती हैं. यह दिल्ली से पश्चिम की ओर उत्तरी-पश्चिमी भारत में दिल्ली और डेकन प्रायद्वीप में कोयम्बतूर जिले की लवणीय भूमियों में पाया जाता है.

यह पौधा एक सामान्य अपतृण है जो कभी-कभी, विशेष रूप से पंजाब की सिंचित लवणीय भूमियों में दुखदाई है. यह



चित्र 78 – कोकिया इण्डिका

नहर के किनारों, सड़कों के किनारों, आदि में मिलता है. इसका बीजों से प्रवर्धन होता है और यह तेजी से बढ़ता है. **राइजोक्टोनिया** जाति के कारण इसमें म्लानि रोग उत्पन्न होता है (Sabnis, *J. Bombay nat. Hist. Soc.*, 1940–41, **42**, 558; Das Gupta & Sharma, *Proc. Indian Sci. Congr.*, 1954, pt III, 127).

को. इण्डिका मिस्र के मरुस्थली क्षेत्रों में अच्छी प्रकार बढ़ता है जहाँ यह संयोगवश भारत से प्रविष्ट हो गया था और यह ऊँटों का चारा है; यह कभी-कभी शयान हो जाता है जो सम्भवतः मुख्य प्ररोह के चरे जाने या उस पर जानवरों के चलने के कारण हो जाता है. अफ्रीका के मरुस्थलों में अच्छी तरह उपजने के कारण इसका परीक्षण राजस्थान के मरुस्थली क्षेत्रों में भी किया जा सकता है, जो उन्हीं अक्षांशों के बीच स्थित हैं [Chatterjee, *Indian Fmg, N.S.*, 1953–54, **3**(2), 20; Thoday, *Kew Bull.*, 1956, 161].

इसे ऊँट, मवेशी और खच्चर रुचि से खाते हैं. सूखा पौधा ईंधन के काम आता है. दुर्बल और अस्वस्थ्य हृदयों के लिए यह पौधा उद्दीपक के रूप में प्रयुक्त बताया जाता है (Chatterjee, loc. cit.; Kirt. & Basu, III, 2080).

को. प्रोस्ट्रेटा श्रेडर एक बड़े रोओं वाली, नीची झाड़ी है. यह दृढ़ और काष्ठमय प्रकंद, पतली, सीधी या फैलती हुई शाखाओं और चपटी रेखाकार पत्तियों से युक्त होती है. यह पौधा पश्चिमी हिमालय, कुनावर और जान्सकार के सूखे क्षेत्रों, पश्चिमी तिब्बत में 3,000–4,200 मी. की ऊँचाई तक पाया जाता है. यह हल्की चेस्टनट भूमि पर, जो अर्ध-मरुभूमियों और मरुभूमियों की विशिष्टता है, और सोवियत रूस में **आर्टिमिजिया** के साथ-साथ पाया जाता है और वसंत, ग्रीष्म और शरद् ऋतुओं में चारा प्रदान करता है. पौधे के विश्लेषण से निम्नांकित मान (शुष्क आधार पर) प्राप्त हुए हैं: अपरिष्कृत प्रोटीन, 9·8; ईथर निष्कर्ष, 3·0; अपरिष्कृत तंतु, 35·3; और नाइट्रोजनरहित निष्कर्ष, *39·2%*; **पचनीय पोषक**: अपरिष्कृत प्रोटीन, 4·1; और स्टार्च-तुल्यांक, 16·0%. इसमें ऐस्कार्बिक अम्ल होता है (Sabnis, loc. cit.; *Jt Publ. imp. agric. Bur.*, 1947, No. 10, 129, 140, 204, 224; *Chem. Abstr.*, 1954, 48, 12242).

को. स्कोपेरिया श्रेडर 90–150 सेंमी. ऊँची खड़ी शाखाओं वाली बूटी है जो उत्तरी-पश्चिमी भारत में पाई जाती है. कहा गया है कि इसे पशु खाते हैं. कनाडा में किये गये परीक्षण द्वारा प्रति हेक्टर 7·7–12·5 टन शुष्क पदार्थ की वार्षिक उपज प्राप्त की जा सकती है. ताजे कटे पौधों के विश्लेषण से निम्नांकित मान प्राप्त हुए हैं: शुष्क पदार्थ, 86·9; अपरिष्कृत प्रोटीन, 18·7; ईथर निष्कर्ष, 2·1; अपरिष्कृत तन्तु, 17·1; नाइट्रोजनरहित निष्कर्ष, 32·3; और कुल राख, 16·7%; कैरोटीन, 42 मिग्रा./किग्रा. **पचनीय पोषक** (शुष्क आधार पर): अपरिष्कृत प्रोटीन, 18; और कुल पोषक, 57%. यह पौधा अनावृष्टि और टिड्डियों का प्रतिरोधी है, इसमें प्रोटीन और कार्बोहाइड्रेट अधिक पाये जाते हैं और इनसे अच्छी कोटि की शुष्क घास और साइलेज मिलते हैं. प्रौढ़ पौधों (लगभग 90 सेंमी. ऊँचे) में मुख्य तना कठोर और काष्ठमय हो जाता है जिससे यह सूखे चारे की फसल के लिए कम उपयुक्त होता है (Bell *et al.*, *Sci. Agric.*, 1952, **32**, 463).

कभी-कभी इस पौधे से झाड़ू बनाये जाते हैं. चीन में यह औषध के काम आता है. फल और पत्तियाँ कार्डियोटानिक और मूत्रल गुण वाली कही जाती हैं. पत्तियों और बीजों में सैपोनिन होता है (Neal, 284; Roi, 120; Kirt. & Basu, III, 2081; Wehmer, I, 287).

को. स्कोपेरिया की एक किस्म, जो **को. ट्रिकोफाइला** बास (ग्रीष्म सरो, फायर वृक्ष) के नाम से जानी जाती है, उद्यानों में अपनी घनी, गोलाकार या पिरैमिडी प्रकृति, पतली, सुई जैसी पत्तियों के कारण जो पुरानी पड़ने पर बैंगनी हो जाती हैं, उगाई जाती है (Bailey, 1947, II, 1755; Gopalaswamiengar, 441).

K. prostrata Schrad.; *Artemisia*; *K. scoparia* Schrad.

कोकेन प्लाण्ट – देखिए एरिथ्राक्सायलम

कोको – देखिए थियोब्रोमा

कोकोनट, डबल / कोकोनट, सी – देखिए लाडोइसिया

कोकोप्लम – देखिए क्रिसोबैलेनस

कोकोयाम – देखिए कोलोकेसिया

कोकोलोबा लिनिअस = कोकोलोबिस पी. ब्राउन (पोलिगोनेसी) COCCOLOBA Linn.

ले. – कोक्कोलोबा

Bailey, 1947, I, 807.

यह झाड़ियों तथा वृक्षों की लगभग 220 जातियों का वंश है जो अमेरिका के उष्ण तथा उपोष्ण क्षेत्रों में पाया जाता है.

कोकोलोबा यूवीफेरा लिनिअस (सी-ग्रेप) वेस्ट इंडीज का मूलवासी है. इसकी पत्तियाँ सुन्दर और फल कषाय तथा खाद्य होते हैं. इसे भारतीय उद्यानों में भी लाकर उगाया गया है. जमैका किनो, जिसका उपयोग कषाय के रूप में होता है, इस पौधे की लकड़ी तथा छाल के काढ़े के बाष्पन से प्राप्त किया जाता है (*U.S.D.*, *609*).

Coccolobis P. Br.; *Polygonaceae*; *Coccoloba uvifera* Linn.

कोकोस लिनिअस (पामी) COCOS Linn.

ले. – कोकोस

पहले इस वंश के अन्तर्गत को. न्यूसीफेरा के अतिरिक्त मध्य और दक्षिणी अमेरिका में पाई जाने वाली 30 से अधिक जातियाँ सम्मिलित की जाती थीं. अब इसे सामान्यतः एकल प्ररूपी माना जाता है जिसके अंतर्गत केवल **को. न्यूसीफेरा** है और अन्य जातियों को **एरीकैस्ट्रम**, **बूटिया**, **सायग्रस** तथा अन्य कुछ वंशों में वर्गीकृत कर दिया गया है. फिर भी भारत में पाई जाने वाली कुछ जातियों का, जो पहले कोकोस वंश के अन्तर्गत रखी जाती थीं, संक्षिप्त विवरण यहाँ दिया जा रहा है.

को. प्लूमोसा हुकर पुत्र (= **एरीकैस्ट्रम रोमंजोफिएनम** बेक्कारी) पक्षमय नारियल का ताड़, रानी ताड़, कभी-कभी भारतीय उद्यानों में देखा जाता है और इसके स्तम्भ की ऊँचाई 12 मी. और व्यास 25–30 सेंमी. तक होता है. शिखर पर 3·6–4·5 मी. लम्बी झुकी हुई पत्तियों का मुकुट-सा रखा होता है. फल गोल (2·5 सेंमी. व्यास के), नारंगी रंग के, मीठे और गूदेदार और बाहर से रेशेदार होते है जिन्हें बच्चे रुचि से खाते हैं. कुछ देशों में इससे वृक्ष-वीथियाँ बनाई जाती हैं (Blatter, 529; Benthall, 448; Williams, 203).

को. शिजोफिला मार्शियस (= **एरीक्यूरीरोबा शिजोफिला** बेक्कारी) – एरीक्यूरीताड़ – नीचा और तना-रहित ताड़ है जिसके पक्षवत् पर्ण 1·8–2·4 मी. लम्बे होते हैं. पर्णकों से हैट बनाये जाते हैं. कहा जाता है कि आँखों की सूजन में इसके कच्चे फलों का रस उपयोगी होता है (Blatter, 531).

को. यटे मार्शियस (= **बूटिया यटे** बेक्कारी) – यटे ताड़ – अर्जेण्टाइना का मूलवासी है. इसका तना मजबूत और लगभग 7·5 मी. तक ऊँचा, और पत्तियाँ 2·7 मी. लम्बी होती हैं. फल नुकीले, 2·5 सेंमी. लम्बे, पीले या ललाई लिए नारंगी रंग के होते हैं. ये घोड़ों, खच्चरों और मवेशियों को आहार में दिये जाते हैं. बीज खाद्य है और इनसे तेल निकाला जाता है. फल का गूदेदार अंश कृमिहर होता है. पत्तियाँ हैट बनाने के काम में लाई जाती हैं (Blatter, 532).

को. कोरोनाटा मार्शियस (= **सायग्रस कोरोनाटा** बेक्कारी), सहिष्णु, सूखा-सह, ब्राजील देश का ताड़ है जिसका तना 9 मी. ऊँचा और 20 सेंमी. व्यास का होता है. यह शुष्क और मरुक्षेत्रों में वनरोपण के लिए उपयोगी सिद्ध हुआ है. इसकी पत्तियों से रस्से, बोरे, चटाइयाँ और हैट बनाये जाते हैं. इसकी पत्तियों से एक प्रकार का कठोर, भंगुर पीला मोम भी, जिसे ओरीक्यूरी मोम या लिक्यूरी मोम (ग.बि., 83·8°) कहते हैं, प्राप्त होता है. सूखी पत्तियों में 0·48% मोम रहता है और प्रति वर्ष प्रति ताड़ 0·5–1 किग्रा. मोम निकलता है. यह मोम कारनौबा मोम (**कोपरनीसिया सेरीफेरा** से प्राप्त) से मिलता-जुलता है और उसी प्रकार प्रयुक्त होता है किन्तु उसकी विलेयता कार्बनिक विलायकों में अधिक होती है. फल खाद्य है और गिरी में से 57–62% तेल निकलता है. स्वाद तथा रंग में यह तेल नारियल के तेल के समान होता है (Badhwar & Griffith, *Indian For.*, 1946, **72**, 64; U.S.D., 1649).

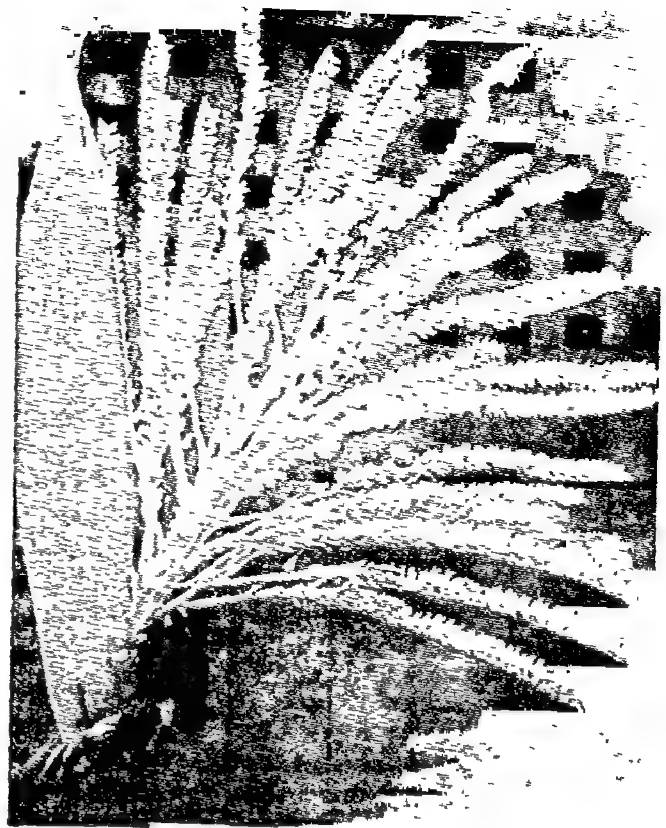
Palmae; *C. plumosa* Hook. f.; *Arecastrum romanzoffianum* Becc.; *C. schizophylla* Mart.; *Arikuryroba schizophylla* Becc.; *C. yatay* Mart.; *Butia yatay* Becc.; *C. coronata* Mart.; *Syagrus coronata* Becc.; *Copernicia cerifera*

को. न्यूसीफेरा लिनिअस C. nucifera Linn.

नारियल (कोकोनट)

ले. – को. नूसिफेरा

D.E.P., II, 415; C.P., 349; Fl. Br. Ind., VI, 482; Blatter, 499.



चित्र *79* – कोकोस न्यूसीफेरा – पुष्पगुच्छ

सं. – नारिकेल; हिं. तथा गु. – नारियल; बं. – डाब, नारिकेल; म. – नारल; ते. – कोब्बरिचेट्टु, नारिकेलमु, टंकाया; त. – तेन्नाबूमरम तेनकाइ; क. – तेंगिन मरा; मल. – तेन्ना, तेंगा, नारिकेलम्.

यह एक ऊँचा और शानदार ताड़ है जो पूर्णतः प्रौढ़ होने तक 24 मी. या इससे भी अधिक ऊँचाई तक जाता है जिसके शीर्ष पर पिच्छाकार पत्तियों का एक मुकुट होता है. इसका तना मजबूत (व्यास, 30–45 सेंमी. तक), बिल्कुल सीधा या कुछ-कुछ तिरछा होता है. यह एक फूले हुए आधार से उठता है जो चारों ओर से जड़ों से घिरा होता है. इसमें शायद ही शाखाएँ रहती हों. किन्तु इसके चारों ओर पर्णों के क्षत चिह्न रहते हैं जो स्पष्ट दिखाई नहीं पड़ते. पत्तियाँ 1·8–5·4 मी. तक लम्बी पिच्छाकार, पर्णक 60–90 सेंमी. तक लम्बे, पतले और गावदुम होते हैं. प्रत्येक पत्ती के कक्ष में एक स्पेथ रहता है जिसके भीतर एक 1·2–1·8 मी. लम्बी, मजबूत, सीधी शाखाओं युक्त नारंगी या हल्के पीले रंग की स्थूल मंजरी छिपी रहती है. यह ताड़ उभयलिंगाश्रयी है. मादा फूल संख्या में अपेक्षाकृत कम, गोलाई लिए 2·5 सेंमी. लम्बे, और पुष्पगुच्छ के निचले भाग पर लगे रहते हैं. नर फूल संख्या में अधिक, छोटे-छोटे, सुगन्धित तथा पुष्पगुच्छ के अग्र-भाग में खिलते है. फल अण्डाभ, तिकोना 15–30 सेंमी.



कोकोस न्यूसीफेरा (नारियल) – बागान

लम्बा और एक बीज वाला होता है. फल के मोटे और तन्तुमय बाह्य स्तर (जटा) के भीतर एक अस्थि के समान कठोर अन्तःस्तर होता है. अन्तःस्तर के भीतर की ओर चिपका हुआ बीज-कवच रहता है जिसमें दलदार ऐल्बूमिनी भ्रूणपोष (माँस, गिरी) होता है. कठोर अन्तःस्तर के एक ओर तीन छेद होते हैं, जिनमें से एक के नीचे, गिरी में धँसा हुआ भ्रूण रहता है. भ्रूणपोष के मध्य में एक बड़ी गुहा होती है जिसमें अपरिपक्व फल में तरल पदार्थ (नारियल का पानी) भरा रहता है. परिपक्व फल में इस तरल पदार्थ की मात्रा बहुत कम हो जाती है.

नारियल की खेती उष्णकटिबन्धीय देशों में बहुतायत से की जाती है. इसकी खेती प्राचीन काल से इतने विस्तृत भू-भागों में होती आ रही है कि इसके मूल स्थान का पता लगाना कठिन है. कई कारणों से उसका मूल स्थान मिलानेसियाई क्षेत्रों में माना जा सकता है. उस क्षेत्र में कोकोस की कई किस्में और साथ ही एक बड़ी संख्या में इसकी विशिष्ट कीट जातियाँ भी पाई जाती हैं. ऐसे भी प्रमाण मिलते हैं कि कोकोस का उद्भव स्थान न्यू गिनी के उत्तर-पश्चिम के जलनिमग्न भू-भाग हैं (Beccari, *Philipp. J. Sci.*, 1917, **12C**, 27; Werth, *Ber. dtsch. bot. Ges.*, 1933, **51**, 301; Lepesme, *Les Insectes des Palmiers*, 1947, 113; Mayuranathan, *J. Bombay nat. Hist. Soc.*, 1938, **40**, 174).

नारियल का पेड़ उष्णकटिबन्धीय प्रदेशों में खूब पनपता है. इसके प्रमुख क्षेत्र भूमध्य रेखा के 20° उत्तर और 20° दक्षिण तक पाये जाते हैं. इन क्षेत्रों के परे 27° उत्तर और 27° दक्षिण तक भी यह पाया जाता है किन्तु यह वहाँ फलता नहीं है और इसकी खेती सफल नहीं हुई (Patel, 6; Moore, *Econ. Bot.*, 1948, **2**, 119).

संसार में नारियल उत्पादक देशों में भारतवर्ष, श्रीलंका, मलेशिया, इण्डोनेशिया, फिलिपीन्स द्वीप और प्रशान्त महासागर के दक्षिणी समुद्री द्वीप प्रमुख हैं. पूर्वी अफ्रीका, पश्चिमी इण्डीज और मध्य अमेरिका में छोटे पैमाने पर इसकी खेती की जाती है. भारतवर्ष में नारियल की खेती अधिकांशतः दक्षिण भारत के समुद्र तटवर्ती भागों और मुहानों में केन्द्रित है. समुद्र से हटकर भीतरी क्षेत्रों में भी इसकी सफल खेती सम्भव है. इसके बड़े-बड़े बगीचे मैसूर प्रदेश के टुमकुर, हसन और मैसूर जिलों के ऐसे भागों में जहाँ कि भूमि और मौसम नारियल के लिए अनुकूल हैं, समुद्र तल से 600–900 मी. की ऊँचाई पर लगाये गये हैं. बंगाल तथा उड़ीसा के कुछ भागों में भी नारियल की खेती की जाती है. भारतवर्ष में इसकी खेती के मुख्य क्षेत्र त्रावनकोर और कोचीन; तमिलनाडु में मालाबार, दक्षिणी कनारा, पूर्वी गोदावरी और तंजोर के जिले; उड़ीसा में पुरी और कटक जिले; महाराष्ट्र में रत्नगिरि और उत्तर कनारा; मैसूर में मैसूर, टुमकुर और हसन जिले हैं.

जलवायु और भूमि – नारियल की सफल खेती के लिए उष्णकटिबन्धीय जलवायु, प्रचुर वर्षा और अच्छे जल-निकास वाली भूमि की आवश्यकता होती है. उष्णकटिबन्धीय भागों में समुद्री तट, नदियों के किनारे और पहाड़ी ढलान उसकी खेती के सर्वोत्तम स्थान होते हैं. व्यवसाय के लिए नारियल की खेती करने के पूर्व यातायात की सुविधाएँ तथा अन्य परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए स्थान का चुनाव करना पड़ता है (Int. Inst. Agric., *Oils & Fats: Production & Int. Tr.*, pt 1, 1939, 179; Deasy, *Econ. Geogr.*, 1941, *17*, *130*).

नारियल का पेड़ सबसे अधिक उन स्थानों में पनपता है जहाँ का अधिकतम ताप 29·4° होता है और दैनिक उतार-चढ़ाव 7° तक रहता है. यह 21·1° से नीचे ताप वाले प्रदेशों में नहीं उगाया जा सकता है. प्रति वर्ष 125–225 सेंमी. समवृष्टि नारियल की खेती के लिए आदर्श है. यदि भूमि में से पानी का ठीक से निकास होता रहे तो नारियल का ताड़ 225 सेंमी. से कहीं अधिक वार्षिक वर्षा सह सकता है. सिंचाई के साधन उपलब्ध होने पर यह ऐसे स्थानों में भी उगाया जा सकता है जहाँ वार्षिक वर्षा 100 सेंमी. से भी कम हो. इसके लिए सूर्य का प्रचुर प्रकाश चाहिए अतः उन भागों में जहाँ प्रायः बदली रहती है यह नहीं पनप पाता. इसीलिए इसकी खेती उष्णकटिबन्ध में एक संकीर्ण पेटी तक ही सीमित है (E.M.B., 61, *Survey of Oil Seeds & Vegetable Oils*, II, 1932, 7).

नारियल के ताड़ के लिए भुरभुरी तथा अच्छे जल-निकास वाली मिट्टी की आवश्यकता होती है. ऐसी भूमि में इसकी जड़ें बिना रोक-टोक के फैलती हैं. इसलिए समुद्र तट की जलोढ़ और बलुई मिट्टी में जहाँ भूमिगत जल का उतार-चढ़ाव और पृष्ठ प्रदेश का जल-निष्कासन होता रहता है, इसे बढ़ने में सहायता मिलती है. समुद्र से दूर (पहाड़ियों की तलहटी में) समान परिस्थितियाँ मिलने पर यह ताड़ सुगमता से लग सकता है. नारियल के पेड़ प्राकृतिक वनों (मैंग्रोव के दलदलों) में और इसी प्रकार के अन्य क्षेत्रों में जहाँ इन्हें प्रतिद्वन्दी वृक्षों के साथ निरन्तर संघर्ष करना पड़ता है, अनिश्चित काल तक जीवित नहीं रह पाते हैं.

खेती

किस्में – कोकोस की स्पष्ट किस्मों की संख्या का ठीक-ठीक निर्धारण नहीं हो पाया है क्योंकि एक तो यह पृथ्वी के अनेक भागों में पाया जाता है; दूसरे परपरागण के कारण इसकी आनुवंशिक शुद्धता स्थिर नहीं रह पाई है. अनुमान है कि इसकी किस्मों की संख्या 30 से अधिक नहीं है. सम्भव है कि सूक्ष्म अध्ययन के फलस्वरूप यह संख्या और घट जाए. इन किस्मों को दो भागों में बाँटा गया है: लम्बी किस्में और बौनी किस्में. किस्मों और रूपों के अन्तर फलों की संख्या रंग, आकार, आदि गुणों पर आधारित है. फल का रंग गहरे हरे से लेकर चटक नारंगी या ईंटिया लाल तक होता है. इसी प्रकार प्रत्येक किस्म के फलों के रूप और आकार भी भिन्न होते हैं, कुछ छोटे लम्बोतरे और आड़ी काट में त्रिभुजाकार दिखलाई पड़ते हैं तो कुछ बड़े और गोलाकार. सारणी 1 में प्रत्येक विशिष्ट किस्म और रूप के मुख्य लक्षण संक्षिप्त में दिये गये हैं (Hunter & Leake, 327; Copeland, 117; Narayana & John, *Madras agric. J.*, 1949, 36, 349).

बौने ताड़

भारतवर्ष में पाई जाने वाली बौनी किस्में मलाया से लाई गई हैं और विभिन्न नामों से जानी जाती हैं; जैसे कि राजा

सारणी 1 — नारियल किस्मों के अभिलक्षण*

किस्म या रूप	प्रेक्षण के समय ताड़ की आयु	प्रथम पुष्पन के समय आयु	आधार पर तने की गोलाई	मुकुट में पत्तियों की संख्या	पत्तियों की लम्बाई	पर्णवृन्त की लम्बाई	प्रतिवर्ष मादा फूलों की औसत संख्या	प्रतिवर्ष प्रतिवृक्ष से नटों की अधिकतम प्राप्ति	मुलायम नट में पानी की मात्रा	जटा सहित नट का भार	जटारहित नट का भार	जटा सहित नट का आयतन	जटारहित नट का आयतन	गिरी की औसत मोटाई	जटा की मोटाई (जटा के मध्य में)	प्रति नट गिरी की औसत मात्रा	गरी में तेल (ईथर निष्कर्ष)	प्रति ताड़ से प्रति दिन रस की प्राप्ति
	वर्ष	वर्ष	सेंमी.	..	सेंमी.	सेंमी.	..	..	मिली.	ग्रा.	ग्रा.	मिली.	मिली.	सेंमी.	सेंमी.	ग्रा.	%	मिली.
वेर. टाइपिका	25	10	73	34	594	129	320	80	300	1,134	454	2,264	465	1·21	2·45	159	71·6	899
फार्मा लैकेडिव	16	4	76	39	533	137	648	160	290	1,219	510	2,170	500	1·25	3·04	157	72·2	1758
,, पुमिला	16	6	91	30	526	144	522	400	261	709	225	1,200	250	1·12	1·40	60	75·3	1234
,, कण्पाडान	..	..	..	..	..	..	..	35	894	1,929	193	5,750	1,135	1·48	4·30	332	61·7	..
,, सियामिग्रा	15	10	93	32	487	132	175	59	841	1,899	737	3,915	855	1·10	3·60	221	74·3	41
,, जाइगैंटिया	16	8	114	38	579	152	199	35	500	1,786	878	6,900	800	1·29	6·30	180	67·1	..
प्रारूप अंडमान सामान्य	16	7	91	31	533	144	451	40	377	1,701	552	3,640	700	1·28	3·70	170	67·1	1339
फार्मा नोवा-गिनियाना	15	7	91	31	579	152	744	93	348	1,105	368	3,600	580	1·12	5·20	213	65·6	541
,, मलायेंसिस	15	10	91	29	465	114	220	44	609	1,616	935	3,200	996	1·22	2·40	200	69·0	680
,, कोचीन-चाइनेंसिस	15	8	83	30	609	137	208	88	464	1,162	652	2,340	750	0·82	2·30	140	66·2	758
,, मलाडी-वियाना	15	5	71	27	396	106	140	86	348	623	317	1,053	450	0·96	1·55	84	66·2	310
वैर. स्पिकैटा	8	4	78	30	513	134	978	25	210	510	283	1,950	500	1·25	2·10	141	70·6	..

*Narayana & John, *Madras agric. J.*, 1949, 36, 366.

नारियल, निकोबार बौना, अडमन बौना, मलय बौना, कोकोनीना, नय्युर गडिग और गंगाबोण्डाम. ये ताड ऊँचाई मे छोटे होते हैं और 30–35 वर्ष तक जीवित रहते हैं. ये बहुत नाजुक होते हैं और केवल उर्वर भूमि और आर्द्र जलवायु वाले क्षेत्रों मे पनपते हैं. ये लम्बी किस्मो की अपेक्षा जल्दी फलने और फलने लगते हैं और इनमे चौथे वर्ष से फल लगने लगते हैं.

बौनी किस्मे व्यापारिक दृष्टि से महत्वपूर्ण नही है. भारत मे कही भी इनके बडे बगीचे नही लगाये जाते इन्हे सीमित मात्रा मे उगाया जाता है ये किस्मे जल्दी फलती है और इनके सुकुमार फलो मे प्रचुर मात्रा मे मीठा पानी भी होता है ये नाशक-कीटो और रोगो की शिकार हो जाती हैं. थोडे भी समय तक वर्षा न होना इनके लिये हानिकारक सिद्ध होता है (*Annu. Rep. Coconut Res. Scheme, Ceylon, 1947, 8*)

लम्बे ताड़

भारतवर्ष मे तथा अन्य देशो मे व्यापारिक पैमाने पर उगाये गये ताड इस वर्ग से सबधित होते हैं बौनी किस्मो की अपेक्षा ये सहिष्णु, दीर्घजीवी और मिट्टी, जलवायु और खेती की विधि मे अन्तर आने पर भी खूब पनपते हैं. ये बोने के 8–10 वर्ष बाद फूलने लगते है और 80–90 वर्ष तक जीवित रहते हैं.

फलो के आकार, रग और गुणो के आधार पर लम्बे ताडो की बहुत-सी किस्मे ज्ञात हैं (सारणी 1). इनमे से कुछ किस्मे काफी अच्छी मात्रा मे गिरी के लिए, कुछ मीठे जल के लिए और कुछ ताडी निकालने के लिए लगाई जाती है. इसके अतिरिक्त भी कुछ अन्य किस्मों की अपनी-अपनी विशेषताएँ होती है पर व्यावसायिक दृष्टि से उनका कोई महत्व नही हैं उदाहरणार्थ **थैरु थेंगाई** ताड के नारियलो के भीतर पानी नही होता और फल के भीतर की गुहा एक स्वादिष्ट थक्केदार जिलेटिनी पदार्थ से भरी रहती है. प्राय ये नारियल अकुरित नही होते किन्तु कभी-कभी कुछ ऐसे फल भी लग जाते हैं जो बोने पर अकुरित होते है एक और किस्म है **कैथायाली** जिसके रेशे इतने कम विकसित होते है कि जटा वाला भाग भी नरम और गूदेदार होता है. अत इसे कच्चा ही खाया जा सकता है

बीजों का चुनाव

नारियल के ताड का प्रवर्धन पौधो से किया जाता है जो पके फलो को बो कर तैयार की जाती है बीजो का चुनाव उन उच्च-उपज-क्षमता वाले सग्रहो मे से किया जाता है जिनमे अन्य वाछनीय गुण भी हो बीजो के चुनाव मे ध्यान इस बात पर रखा जाता है कि अधिक से अधिक गिरी प्राप्त हो. गिरी की मात्रा इस पर निर्भर रहती है कि प्रत्येक ताड पर कितने बडे और सख्या मे कितने अधिक फल लगे है. शोध से ज्ञात हुआ है कि अधिक गिरी देने वाले ताडो मे निम्नलिखित विशेष लक्षण होते है. (1) छोटा तथा सीधा तना जिस पर पत्तो के क्षत चिह्न पास-पास दिखलाई पडे; (2) वृक्ष के शिखर पर नाटे अपुष्प पर्ण; (3) अपुष्प पर्णो की अधिक सख्या अत समूहो की भी अधिकता; (4) पुष्प गुच्छों की छोटी डडियाँ तथा उनमे 100 तक मादा फूल, तथा (5) फलो की अधिकता (प्रति वर्ष प्रति ताड 100 से अधिक फल). इन लक्षणो के अतिरिक्त जिन ताडो से बीज छाँटे जाएँ, वे स्वस्थ हो, मध्य वय के हो और नियमित रूप मे प्रति वर्ष गोल तथा बडे-बडे नारियल देने वाले हो (Sampson, 96, Peiris, *Trop. Agriculturist*, 1934, **82**, 75, *Leafl. Coconut Res. Scheme, Ceylon*, No 1).

ऐसा कहा जाता है कि उच्च-उपज क्षमता वाले ताडो से ही बहुधा उच्च-उपज देने वाले पेड तैयार होते हैं किन्तु इतने पर भी परागण के कारण नरवंश का पता ही नही चलता और मादा वश स्वय विषम-जननाग्री होता है अत. इस बात की कोई गारटी नही है कि वास्तविक उच्च-उपज-क्षमता वाले ताड की सन्तति भी वैसी ही निकलेगी. कुछ कहा जा सकता है तो बस इतना ही कि चुने ताडो के नारियलो से उत्कृष्ट सन्तति की कुछ अधिक सम्भावना रहती है (Smith, *Malay agric. J.*, 1933, **21**, 265).

परिपक्व फलो को ही बीज के काम मे लाना चाहिए स्पेथ के खुलने के समय से लेकर 12 महीने की अवधि तक फलो को ताड पर ही लगे रहकर पक जाना चाहिये. फलो को इतना सूख जाना चाहिए कि उनमे नाममात्र को पानी रहे और वे चिटके हुए न हो उन्हे गुच्छे के बीच वाले फलो मे से चुनना चाहिए बीज को तोडने का समय मौसम पर निर्भर करता है. भारत के पश्चिमी समुद्र तट पर उन्हे फरवरी से मई तक एकत्र किया जाता है (John, *Indian Coconut J.*, 1948–49, *2*, 63).

नर्सरी का प्रबन्ध—आमतौर से नारियलो को सीधा खेत मे नही रोपा जाता है क्योकि पौधो का चुनाव भी उपज के लिए महत्वपूर्ण है इसलिए पहले पौधे नर्सरी मे तैयार की जाती है. नर्सरी मे वृद्धि की प्रारम्भिक अवस्था मे सिंचाई तथा नाशकजीवो का नियन्त्रण हो सकता है

नारियल पैदा करने वाले देशो मे नारियल की पौध तैयार करने की भिन्न-भिन्न विधियाँ प्रचलित हैं नर्सरियाँ बलुई, हल्की दुमट भूमि पर बनाई जाती हैं नर्सरी के निकट एक पानी का प्राकृतिक स्रोत (जैसे कुँआ या सोता) होना चाहिए किन्तु भूमि मे पानी नही रुकना चाहिए. पौधो के ऊपर घनी छाया नही पडनी चाहिए और जहा तक हो सके वे उस बगीचे के निकट उगाई जाएँ जहाँ पौधे लगानी हो (Patel, 16, *Leafl Coconut Res. Scheme, Ceylon*, No. 2)

क्यारियो को धरती के सामान्य स्तर से 20–25 सेमी. उठी हुई और सिंचाई की सुविधा के लिए लम्बी और सँकरी होना चाहिए क्यारियो के बीच मे छिछली नालिया होती है, जिनके मिलने से एक बडी नाली बन जाती है वर्षा के दिनो मे इनसे होकर अधिक जल बाहर निकल जाता है बोते समय दो नारियलो के बीच की दूरी इस बात पर निर्भर करती है कि रोपने से पहले कितने दिनो तक पौधे क्यारी मे रहेगी. यदि पौधे लगभग 30 सप्ताह मे रोपी जाती हैं तो केन्द्र से केन्द्र तक 22·5–30 सेमी का अतर पर्याप्त होता है यदि पौधो को एक वर्ष से अधिक नर्सरी मे रखना होता है तो यह अतर 45 सेमी तक रखा जाता है क्यारियो मे 22·5 सेमी. के अन्तर मे 10 सेमी. गहरी सीधी नालियाँ बनाकर उनमे नारियलो को उचित स्थानो मे रखकर, उनके चारो ओर मिट्टी चढा देना

सुविधाजनक रहता है. हर पौधे को 22·5 सेंमी. × 30 सेंमी. स्थान देने और 30% क्षेत्र नालियों आदि के लिए छोड़ने पर प्रति हेक्टर नर्सरी में लगभग 1,00,000 नारियल बोये जा सकते हैं.

नर्सरी में नटों को बोने का समय इस बात पर निर्भर करता है कि फसल कब चाहिए और पौधें किस आयु में रोपनी हैं. पश्चिमी तट पर अप्रैल से जुलाई सबसे अच्छा समय समझा जाता है. इन दिनों बोने से पौधों को मानसूनी वर्षा का लाभ मिल जाता है और सिंचाई का खर्च बच जाता है. कुछ स्थानों में नारियल अक्तूबर–नवम्बर में बोये जाते हैं (Patel, 17).

खड़े नारियलों की अपेक्षा लिटाकर बोये गये नारियलों से अच्छी पौधें मिलती हैं. व्यवहार में नारियलों को क्षैतिजतः लिटाया नहीं जाता, आँखें ऊपर करके उन्हें थोड़ा-सा ऊर्ध्व रखा जाता है. नारियलों के चारों ओर मिट्टी चढ़ी होनी चाहिए, किन्तु उन्हें मिट्टी से पूरा ढका नहीं होना चाहिए. आँखों (अंकुरण अंगों) को खुला रहना चाहिए (Espino, *Philipp. Agric.*, 1923, 11, 191; *Annu. Rep. Coconut Res. Scheme, Ceylon*, 1935, 5).

बोने के लगभग 16वें सप्ताह के बाद अंकुर कड़ा छिलका वेधकर निकल आता है. पहले यह समझा जाता था कि छिलके में संचित पोटैश बढ़ते हुए पौधे की आवश्यकता की पूर्ति करने में कम से कम रोपण की अवस्था तक के लिए पर्याप्त होता है किन्तु यह मत ठीक नहीं प्रतीत होता. यह निश्चित हो गया है कि जड़ें फैलती नहीं, वे सीधी पृथ्वी में जाती हैं. नर्सरियों में पोटैश उर्वरक देने का लाभ पौधों पर स्पष्ट दिखाई देता है (*Annu. Rep. Coconut Res. Scheme, Ceylon*, 1941, 5).

पौध का चुनाव – बोये गये बीजों में आनुवंशिक शुद्धता का अभाव होने के कारण घटिया पौध निर्ममतापूर्वक निकाल दी जानी चाहिए. यह चुनाव उन लक्षणों के आधार पर किया जाता है जिनसे युक्त होने पर प्रौढ़ वृक्षों में अधिक फल लगने की सम्भावना हो. देर में उगने वाली और मंद गति से बढ़ने वाली पौधें त्याग दी जाती हैं. ये लगभग 5–10% होती हैं. दुबारा जब (7–8 महीने की आयु में) रोपाई की जाती है, तब इनकी छँटाई सख्ती से की जाती है. केवल वे ही सशक्त पौधें इस्तेमाल की जाती हैं, जो साधारण गति से बढ़ी हों और जो पौधों के **पेस्टालोशिया पामेरम** के समान रोगों से मुक्त हों. त्यागी गई पौधें 50% तक हो सकती हैं, इसलिए नर्सरी में बोए गए बीजों की संख्या रोपण के लिए आवश्यक पौधों की संख्या से लगभग दुगनी होनी चाहिए (Sampson, 106).

पौध लगाना – जिन गड्ढों में पौधें रोपी जाती हैं वे साधारणतया 90 सेंमी. × 90 सेंमी. × 90 सेंमी. होते हैं. मिट्टी जितनी कड़ी या भारी होती है उसी के अनुसार भी गड्ढे बड़े होने चाहिए. ये गड्ढे रोपने से 1–3 महीने पहले खोदे जाते हैं. गड्ढों में कूड़ा-करकट या सूखी पत्तियाँ जलाकर यदि उनकी बगलों को झुलसा दिया जाता है तो कहते हैं कि पौधों में दीमक नहीं लगती. गड्ढों को ऊपरी बढ़िया मिट्टी के साथ लकड़ी की राख मिलाकर भरते हैं. यदि नारियल की जटाएं प्राप्य हों तो मिट्टी भरने से पहले गड्ढों की तली में इनकी दो परतें बिछा देते हैं (*Leafl. Coconut Res. Scheme, Ceylon*, No. 4; John, loc. cit.).

पौधें लगाने की गहराई, मिट्टी की किस्म और जल-स्तर की ऊँचाई पर निर्भर करती है. यदि जल-स्तर ऊँचा होता है तो रोपण गहरा नहीं किया जाता. यदि गर्मियों में जल-स्तर नीचे चला जाता है तो बहुत ऊपर रोपण नहीं किया जाना चाहिए. भारत में अक्सर पौधों को भूस्तर से 90 सेंमी. गहराई में रोपा जाता है; इससे वृक्ष की प्रौढ़ता में विलम्ब होता है. श्रीलंका में पौधों को साधारणतया भूस्तर से 30 सेंमी. गहराई पर रोपा जाता है. पौधे लगाने का काम बरसात में किया जाता है. इससे पौधों को स्थापित होने के लिए अनुकल परिस्थिति प्राप्त होती है. सूखे दिनों में पौधों को कम से कम दो वर्ष तक पानी दिया जाता है. कुछ स्थानों पर यह सिंचाई 5 वर्षों तक की जाती है (Patel, 24; John, loc. cit.).

अंतरण – मिट्टी की किस्म और भौगोलिक रचना के अनुसार नारियल के वृक्षों के बीच की अल्पतम दूरी 2·7 मी. और अधिकतम 13·8 मी. रखी गई है. भारतीय बागानों में 7·5–9·0 मी. का अन्तर रखा जाता है, अर्थात् प्रति हेक्टर 75–150 वृक्ष लगाए जाते हैं. कुछ विशेष उर्वर मिट्टियों में प्रति हेक्टर 250 वृक्ष रोपे जा सकते हैं. उसी अंतरण पर त्रिभुजाकार रोपण में वर्गाकार रोपण की अपेक्षा प्रति हेक्टर अधिक वृक्ष लगाए जा सकते हैं (Patel, 23; Peiris, *Bull. Coconut Res. Scheme, Ceylon*, No. 5, 1945, 10; John, loc. cit.).

अंतर्वर्ती और संरक्षी फसलें – पौधों के रोपण के 4–5 वर्ष बाद तक उनके बीच की खाली भूमि में साधारणतया अन्तर्वर्ती फसलें बोई जाती हैं. श्रीलंका में सामान्य अन्तर्वर्ती फसलें हैं: कैसावा (**मैनिहाट यूटिलिसमा** पोल), मूंग (**फैजिओलस ऑरियस** रॉक्सबर्ग) और लोबिया (**वाइगना कैटजंग** वाल्प). भारत के विभिन्न भागों में जो अन्तर्वर्ती फसलें बोई जाती हैं वे बहुत प्रकार की हैं, और उनमें कंद, धान्य और दालें सम्मिलित हैं. रागी (**एल्यूसाइनी कोराकाना** गेर्तनर) की खेती भारत और श्रीलंका दोनों में ही की जाती है. यह धान्य काफी पानी माँगता है और यदि मानसून वर्षा औसत के नीचे हुई तो इसकी खेती प्राय असफल रहती है. उपजाने के लिए सबसे उत्तम फसलें दालें हैं जो भूमि का नवीकरण करती हैं. केले और अनन्नास भी कभी-कभी उगाए जाते हैं. बीच की फसलों की सफलता के हेतु और नारियल ताड़ों के शीघ्र फलने हेतु पर्याप्त खाद देना आवश्यक है. संरक्षी फसलें केवल घासपात की वृद्धि को ही नहीं रोकतीं बल्कि हरी खाद भी प्रदान करती हैं. भारत में जिन फसलों की परीक्षा की गई है उनमें से **वाइगना कैटजंग** और **क्रोटालेरिया स्ट्रिएटा** द कन्दोल से संतोषजनक फल प्राप्त हुए हैं. श्रीलंका में **टैफ्रोसिया कैंडिडा** द कन्दोल काफी लोकप्रिय हैं और **कैलोपोगोनियम म्युकुनायडीज** देसवो तथा **सैंट्रोसेमा पुबेसेंस** बेंथम की संस्तुति की गई है [Patel, 25, 169; Joachim, *Trop. Agriculturist*, 1931, **77**, 325; A manual of Green Manuring, 137; Salgado, *Leafl. Coconut Res. Scheme, Ceylon*, No. 3; *Annu. Rep. Coconut Res. Scheme, Ceylon* 1945, 7; 1946, 8; John, *Indian Coconut J.*, 1947–48, **1**(2), 10].

खाद देना—भारत में साधारणतया लकडी की राख, गोबर की खाद तथा कभी-कभी हरी खाद काम मे लाई जाती है राख, जो नारियल-ताड की पत्तियो, छिलको आदि को जलाकर प्राप्त की जाती है उसमे अच्छी उर्वरा शक्ति होती है और वह सस्ती एवं प्रचुर मात्रा मे उपलब्ध भी रहती है. पश्चिमी तट मे इसे प्रति वर्ष प्रति ताड 9 किग्रा. या अधिक की दर से डालते हैं. यह मात्रा ताड की आयु के साथ बढती जाती है एक प्रौढ ताड को पौध से लगभग 4–5 गुनी अधिक राख की आवश्यकता होती है. कुछ क्षेत्रो में मछलियाँ (ताजी मछलियाँ 18 किग्रा. प्रति वृक्ष) और मत्स्य-उत्पाद को (खानो या खली 4·5 किग्रा. प्रति वृक्ष) खाद के रूप मे डालते हैं गोदावरी के डेल्टा-क्षेत्र मे गोबर की खाद (45 किग्रा./ताड प्रति वर्ष) का प्रयोग सामान्य है, प्राय. इन स्थानो में भेडे बिठाई जाती है. भारत मे नारियल रोपण मे शायद ही कही कृत्रिम उर्वरक डाला जाता हो.

श्रीलका मे प्रयोगो से यह प्रदर्शित हुआ है कि पोटैश को सर्वाधिक आवश्यकता होती है. प्रति ताड 0·34 किग्रा पोटैश डालने से उन वृक्षो की अपेक्षा, जिन्हे पोटैश नही दिया गया 25% अधिक प्राप्ति हुई और प्रति वर्ष 0·7 किग्रा. पोटैश डालने से 39% वृद्धि हुई है. ताडो पर फॉस्फेट डालने का कोई प्रभाव नही पडता. अनुपजाऊ लैटेराइट बजरी इसके अपवाद है. नाइट्रोजनी उर्वरको का प्रभाव केवल प्रथम तीन वर्षो मे दिखाई देता है, जिसके बाद कोई अनुक्रिया नही होती. कैल्सियम सायनामाइड, अमोनियम सल्फेट या मूँगफली की खली के रूप मे नाइट्रोजन का प्रयोग करने से अनुक्रिया मे कोई भी अतर नही पाया गया. नाइट्रोजन की अधिक मात्रा डालने से विपरीत प्रभाव पडता है जो सभवत: पोटैश के ग्रहण मे विघ्न पडने के कारण होता है. इसी प्रकार की विपरीत पारस्परिक क्रिया फॉस्फोरिक अम्ल और पोटैश के अधिक सम्प्रयोग से भी प्राप्त होती है (Salgado, *Trop. Agriculturist*, 1946, **102**, 149, 206, 1947, **103**, 5; *Bull. Coconut Res Scheme, Ceylon*, No. 6, 1948, 14).

सामान्य प्रथा यह है कि उर्वरक को खली या राख या हरी खाद के साथ डालते हैं प्रति ताड सस्तुत मात्रा, हरी खाद जोतने के अतिरिक्त, 1·4 किग्रा अमोनियम सल्फेट या 4·5 किग्रा. मूँगफली की खली + 9 किग्रा राख है. श्रीलका मे प्रति ताड 0·23 किग्रा नाइट्रोजन, 0·45–0·54 किग्रा पोटैश, और 0·27 किग्रा. फॉस्फोरिक अम्ल प्रदान करने वाले मिश्रणो की सस्तुति की जाती है (John, *Indian Coconut J*, 1948–49, **2**, 63, *Leafl. Coconut Res. Scheme, Ceylon*, No. 12)

खाद, साधारणतया मई–जून या अक्टूबर–नवम्बर मे, जब भूमि मे काफी नमी रहती है, डाली जाती है. राख और अमोनियम सल्फेट के डालने के बीच एक माह का अन्तर रखने की सलाह दी जाती है. भारत मे खाद को भूमि पर बिखेर कर उसे जोत देते है. गोबर की खाद हरी खाद की फसल बोने के पहले डालते है. श्रीलका मे उर्वरक प्रयोग करने की सबसे सामान्य विधि वृक्ष के तने से 90 सेमी के अन्तर पर बनी हुई 90 सेमी. चौडी और 15 सेमी. गहरी वलयाकार खाइयो मे उर्वरक को डालना है. हल्की मिट्टियो मे नालियाँ नही बनाते बल्कि उर्वरक को उसी दूरी पर ताड के चारो तरफ पाँचे से खोद कर मिला देते है. पंक्तियों के मध्य मे 3 मी. चौडी और 15 सेमी गहरी लम्बी नालियाँ खोदकर हरी खाद और नारियल-छिलके को अन्य खादो के साथ गाड देने की भी प्रथा है. भारतीय रोपणो मे भी ऐसी ही विधि अपनाने की सलाह दी गई है जहाँ दुबारा पौधे लगाये गये है तथा ऐसी कठोर कँकरीली भूमियाँ जिसमे ताड की जडें दूर-दूर तक नही फैलती, यह विधि वहाँ पर नही अपनाई जाती (Salgado, *Leafl. Coconut Res. Scheme, Ceylon*, No. 12).

साधारणतया यह मान लिया गया है कि नारियल-ताड को अपने विकास के लिए लवण की आवश्यकता होती है. भारत और श्रीलका मे किये गये प्रयोगो से प्रदर्शित हुआ है कि नमक के प्रयोग से कोई लाभ नही पहुँचता (Patel, 150, Salgado, *Leafl. Coconut Res Scheme, Ceylon*, No. 13, 1946).

नारियल-ताड़ो मे सूक्ष्ममात्रिक तत्वों के न्यूनता-लक्षणों के उत्पन्न होने का कोई निश्चित प्रमाण प्राप्त नही है प्रवाल द्वीपों मे नारियल की उपज मे वृद्धि का कारण फेरस सल्फेट के रूप में लोह डालना बताया गया है. ताड़ के भिन्न भागो मे, मुख्यत: छिलको मे गन्धक की कुछ मात्रा पाई जाती है, खाद्य गिरी मे प्रति 100 ग्रा. मे लगभग 44 मिग्रा गंधक उपस्थित रहता है. ऐसा प्रतीत होता है कि ताड को बोरान, जस्ता एव मैंगनीज की भी आवश्यकता होती है किन्तु उपेक्षणीय मात्रा मे (Masters & McCance, *Biochem. J.*, 1939, **33**, 1308, Dodd, *Analyst*, 1929, **54**, 15, Morris, *Trop. Agriculturist*, 1941, **96**, 174, Newcomb & Sankaran, *Indian J. med. Res.*, 1929, **16**, 788).

कृषि पद्धतियाँ

रोपण के लिए जो कृषि पद्धति अपनाई जाती है उसमे वर्षा, भूमि प्रकार और भूमि के ढाल पर ध्यान दिया जाता है. हल्की भूमियो पर गहरी जुताई करना ठीक नही होता बारबार हैरो चलाने मे भी उल्टा प्रभाव होता है भारत मे प्राय. भूमि को वर्ष मे एक या दो बार गोड देने या कुछ बार जोत देने की आम प्रथा है. नियमानुसार अन्त:कर्षण करने से खाद न देने पर भी उपज बढ जाती है (Bageler 218, Joachim, *Trop. Agriculturist*, 1929, **73**, 222, Patel, 28).

जब पहाडी ढलानो पर रोपण किए जाते है तो यह आवश्यक होता है कि भूमि-अपरदन को नियत्रित करने के लिए खेतो को सीढीनुमा बनाया जाए और उपयुक्त बाँध तैयार किये जाएँ, जिन निचले क्षेत्रो मे पानी भरता है वहाँ जल-निकास के लिए नालियाँ बना दी जावे. नारियल के क्षेत्रो मे, जहाँ ग्रीष्म मे मिट्टी मे कम नमी होती है, सिचाई की आवश्यकता हो सकती है.

साधारणतया नारियल के खेतो मे अपरदन कोई गहन समस्या के रूप मे नही होता क्योकि ये समतल चौरस या केवल कुछ ही ऊँचे-नीचे होते है और कभी भी घासपात से रहित नही होते फिर भी समतल लगने वाले खेतो मे भी मिट्टी बहती देखी गई है इसलिए अपरदन के खतरे से सदैव सावधान रहना उचित है. अपरदन रोकने के उपायो को, जैसे बाट, सवारी फसलें,

सम्मोच्च रोपण और उचित जल-निकासी अपनाना चाहिए (*Rep. Ceylon Committee on Soil Erosion*, Paper III, 1931, **19**, 24).

नाशकजीव और रोग

नारियल-ताड़ के नाशकजीवों और रोगों की अभिलेखित संख्या बहुत बड़ी है. लेपेस्मे तथा ब्रिटन-जोन्स ने विशेष पुस्तिका में इनका वर्णन किया है. भारत में ताड़ में लगने वाले केवल अधिक सामान्य और गम्भीर नाशकजीवों और रोगों का यहाँ उल्लेख किया गया है.

नाशकजीव – काले भृंग या गैंडा भृंग (**आरिक्टेस राइनोसेरास** लिनिअस) नारियल-ताड़ के सबसे सामान्य नाशक-कीट हैं. यह भारत में अत्यन्त व्यापक है और पुष्प गुच्छों तथा पत्तियों को हानि पहुँचाता है जिसके फलस्वरूप नारियल-नटों की उपज घट जाती है. यह नये ताड़ों को भी प्रभावित करता है. मादा भृंग सड़ते हुए किसी भी वनस्पति पदार्थ पर अंडे देती है. ताड़ को वयस्क भृंग द्वारा हानि पहुँचती है जो कली के जीवित ऊतकों में छेद बना कर अनखुली पत्तियों को खा जाता है. इससे नये ताड़ों को इतनी गम्भीर हानि हो सकती है कि उनकी मृत्यु हो जाए. भृंग के लिए प्रजनन-स्थान बनने वाले सड़ते हुए कूड़ा-करकट को जलाकर इन पर नियंत्रण प्राप्त किया जा सकता है. श्रीलंका में ऐसे उपाय को विधि-व्यवस्था द्वारा अनिवार्य बना दिया गया है. चारायुक्त और हल्के जाल सफल नहीं सिद्ध हुए. कुछ देशों में पाश-गड्ढों के प्रयोग का समर्थन किया गया है. इन गड्ढों को सड़ते हुए मलवे से, जो भृंग के लिए आकर्षक होते हैं, भर देते हैं और अंडों, लारवों तथा प्यूपों को नियत समय पर जलाकर या अन्य प्रकार से नष्ट कर देते हैं. इस विधि से ठीक प्रबन्ध की आवश्यकता पड़ती है और यह केवल उत्तम व्यवस्था वाले रोपणों में ही काम में लाई जा सकती है (Cherian & Anantanarayanan, *Indian J. agric. Sci.*, 1939, **9**, 541; *Plant Protection Ordinance*, No. 10 of 1924; *Proc. 3rd ent. Meeting, Pusa*, 1919, **1**, 182).

नारियल भृंग पर **मेटारीज़ियम ऐनिसोप्लिई** फफूँद पलता है किन्तु इस नाशकजीव पर फफूँद द्वारा नियंत्रण प्राप्त करने के प्रयत्न असफल रहे हैं. कुछ निश्चित **स्कोलीडों** द्वारा भी, जो **ओराइक्टीज** के लारवों पर आश्रित रहते हैं, जैविक नियंत्रण असफल रहा है.

जहाँ बागान पहले से ही संक्रमित रहता है वहाँ भृंगों को व्यवस्थित ढंग से एकत्रित कर नष्ट कर देने की प्रणाली भारत या श्रीलंका में प्रचलित है. भृंग पकड़ने वाले लोग लोहे के नुकीले डंडे लेकर चारों ओर घूमते हैं तथा उन सभी भृंगों को छेदते चलते हैं जो मुकुट में छिद्र बनाते हुए पाये जाते हैं तथा छेदे हुए स्थानों पर हल्का तारकोल लगा देते हैं.

लाल घुन (**रिंकोफोरस फेरुजिनियस** फैब्रीसिकस) के लारवों द्वारा ताड़ को तब क्षति पहुँचती है जब वे काले भृंग या अन्य कारणों से पहले ही क्षतिग्रस्त हुए रहते हैं. ग्रस्त ताड़ों की ओर मादा आकर्षित होती है और दरारों में अंडे देती है. लारवे तने या मुकुट के ऊतकों के अन्दर बेधते हैं. आक्रमण की प्रथम सूचना है तने में छोटे-छोटे छेदों का होना जिनमें से चूसे हुए रेशों के टुकड़े बाहर निकले हुए रहते हैं और एक भूरा द्रव बाहर निकल आता है. इस अवस्था में ग्रब को खोदकर निकाल लेने तथा क्षत-स्थान का उपचार करके ताड़ को बचाया जा सकता है. यदि आक्रमण को नहीं रोका जाता है तो तने का भीतरी भाग ग्रब द्वारा आन्दोलित पिंड बन जाता है तथा तने के बाहर बड़े-बड़े घाव प्रकट हो जाते हैं. काले भृंगों को नियन्त्रित करने के उपायों से लाल घुन का लगना भी रुक जाता है. नये ताड़ों को घाव लगने से बचाना चाहिए. यदि घाव हो ही जाए तो उस पर तुरन्त तारकोल लगा देना चाहिए (Ghosh, *Mem. Dep. Agric. India, Ent.*, 1911, 2, No. 10, 193; Hutson, *Leafl. Dep. Agric. Ceylon*, No. 22, 1933).

नारियल इल्ली या काले शीर्ष वाली इल्ली (**नेफंण्टिस सेरिनोपा**) यद्यपि छुटपुट होती है किन्तु किन्हीं विशेष वर्षों में गम्भीर हानि पहुँचाती है. नाशकजीव निचले पर्णांग-पत्रों के पर्णकों के भीतरी भाग को धीरे-धीरे खा जाते हैं. पत्तियाँ धूसर हो जाती हैं और ताड़ जला हुआ जान पड़ता है. नियंत्रण के लिए पतंगों को हल्के पाशों द्वारा पकड़ना, और ग्रस्त पर्णांग-पत्रों को काटकर जला देना चाहिए. ये उपाय केवल आंशिक रूप से ही प्रभावशाली सिद्ध हुए हैं. श्रीलंका और भारत के कुछ भागों में नाशकजीव प्राकृतिक परजीवियों द्वारा नियंत्रित किए गये हैं. यूलोफिड परजीवी, **ट्राइकोस्पिलस पपिवोरा** द्वारा जैविक नियन्त्रण का विस्तार से अध्ययन किया गया है. इल्ली के जैविक नियन्त्रण के लिए किसी केन्द्रीय स्थान में प्रजनित किए गये परजीवियों को बड़ी संख्या में लगातार छोड़ना आवश्यक है क्योंकि परजीवी अनन्त काल तक स्थिर नहीं रह पायेंगे (Ramachandra Rao *et al.*. *Agric. J. India*, 1926, **21**, 452; *Yearb. Dep. Agric. Madras*, 1926, 39; 1927, 11; Anantanarayanan, *Bull. ent. Res.*, 1934, **25**, 55; Jayaratnam, *Trop. Agriculturist*, 1941, **96**, 3; **97**, 115).

भारत तथा श्रीलंका में नारियल की पत्तियों पर अनेक अन्य कम महत्वपूर्ण इल्लियों द्वारा आक्रमण होने की सूचना है (Lepesme, loc. cit.).

नारियल स्केल (**ऐस्पिडियोटस डेसट्रक्टर**) सर्वव्यापी प्रतीत होता है. भारत में नारियल-ताड़ पर इसे सबसे पहले 1919 में अभिलेखित किया गया है. ग्रस्त पर्णांग-पत्र पीले धब्बों से ढक जाते है जिनमें असंख्य पीले चिह्न रहते है और प्रत्येक चिह्न निचली सतह में एक स्केल की स्थिति को सूचित करता है. जीवों के चूषण-अंग पत्तियों के भीतर प्रविष्ट होकर धीरे-धीरे उसका रस निकाल लेते है और आसपास के ऊतकों को समाप्त कर देते हैं. गम्भीर आक्रमणों में निचली सतह पूर्णतया ढकी रहती है, और स्केल एक सूखी हुई परत बना लेते है. पत्तियाँ अन्त में मुरझा कर मर जाती है और ताड की जीव-शक्ति पर धक्का पहुँचता है. किन्तु शायद ही कभी यह हानि गम्भीर होती हो क्योंकि संक्रमण को अनेक कीट परजीवियों द्वारा, विशेषकर **चिलोकोरस निग्रिटस** द्वारा नियंत्रित कर लिया जाता है. शुष्क मौसम नाशकजीवों के लिए अनुकूल होता है परन्तु वर्षा आरम्भ होते ही ये नाशकजीव लुप्त हो जाते हैं

(Ramakrishna Ayyar, *J. Bombay nat. Hist. Soc.*, 1918–21, **26**, 621).

रोग – वास्तविक कली-विगलन **फाइटोफ्थोरा पामीवोरा** बटलर फफूंद द्वारा उत्पन्न होता है जो नारियल का अत्यन्त गंभीर रोग है. इसके फलस्वरूप नारियल का विनाश हो जाता है. अगस्त–सितम्बर में यह रोग सबसे अधिक लगता है, नई पत्तियों पर गोल रंगहीन धब्बे प्रकट होते हैं. कलियाँ सड़ जाती हैं और दुर्गन्ध आने लगती है. सबसे पहले नई अनखुली पत्तियाँ मुरझा जाती हैं और इसके बाद बारी-बारी से बाहरी पर्णांग-पत्र सूखने लगते हैं. अन्त में सारी पत्तियाँ सूख जाती हैं और केवल तना बचा रहता है. जो ताड़ कली-विगलन द्वारा आक्रमित हो जाता है उसे बचाया नहीं जा सकता. रोग फैलने से रोकने के लिए उसे तुरन्त काट कर जला देना चाहिये (Butler, *Agric. J. India*, 1906, **1**, 304).

भारत में फिर भी यह रोग यदा-कदा होता है. यह नारियल के बजाय खजूर का रोग है. बिजली गिरने तथा अन्य कारणों से कदाचित् ताड़ को **फाइटोफ्थोरा** कली-विगलन के प्रति पहले से प्रवृत्त कर देते हैं. इस विषय पर 1924 से पर्याप्त विवाद चल रहा है (Sharples, *Rep. imp. bot. Conf., Lond.*, 1924, 147; Briton-Jones, 3; Altson, *Malay. agric. J.*, 1941, **29**, 249).

प्ररोह-विगलन कली-विगलन से इस बात में भिन्न है कि इसमें क्षय पहले प्ररोह के शीर्ष से प्रारम्भ होता है. यह रोग **ग्लीओस्पोरियम** जातियों के द्वारा फैलता है जो एक दुर्बल परजीवी है और सामान्य मौसम में बिल्कुल आक्रमण नहीं करता. रोग-ग्रस्त भाग को काट देना और मुकुट पर 1% बोर्डो-मिश्रण का छिड़काव करना नियंत्रण उपायों में बताए जाते हैं. पोटैसियम की कमी ताड़ को संक्रमण के प्रति पहले से प्रवृत्त करती है और पोटैश खादों का प्रयोग रोग होने से बचाता है (Sundararaman & Krishnaswami, *Bull. Dep. Agric. Madras*, No. 32, 1933, 43; John, *Indian Coconut J.*, 1948–49, 2, 63).

पर्ण-विगलन पश्चिमी तट में सामान्य रूप से होने वाला एक गम्भीर रोग है. यह **हेल्मिंथस्पोरियम हैलोडीज** ड्रेश्लर, काले **टोट्राइकम पासीजेटम** पेच और **ग्लिओक्लैडियम रोजियम** बैनिअर द्वारा फैलता है. इनमें से पहला सबसे अधिक उग्र होता है. नये पर्णों में पर्णकों के दूरवर्ती किनारों का काला पड़ना और सिकुड़ जाना इस रोग के लक्षणों में से है. पत्रदल नष्ट हो जाते हैं और नटों की उपज पर प्रभाव पड़ता है. फफूंद-संक्रमण मुख्यतः वर्षा के समय गम्भीर होता है क्योंकि नमी अधिक होती है. त्रावनकोर और कोचीन में एक प्रकार के म्लानि रोग होने की सूचना है जो जड़ों को प्रभावित करता है और ताड़ों को गम्भीर क्षति पहुँचाता है. इस रोग से सम्बद्ध जीव हैं: **बोट्रिओडिप्लोडिया थेयोब्रोमी**, **मैक्रोफोमिना फंजियोलाई** ऐशबी, **फ्यूज़ेरियम** जाति, **पेनिसिलियम** जाति तथा दो प्रकार के बैक्टीरिया. रोग के लक्षणों के अन्तर्गत पर्णों का पीला पड़ना, मुरझाना, अपरिपक्व नटों का गिरना और जड़ों का क्षय सम्मिलित हैं. यह रोग हर आयु तथा प्रत्येक प्रकार की मिट्टी में उगने वाले ताड़ों को प्रभावित करता है. यह मुख्य रूप से प्रबल ताड़ वृक्षों को प्रभावित करता है. रोग का आपात पहले से प्रवृत्त कर देने वाले भौतिक या शरीर-क्रियात्मक कारणों से सम्बंधित है (Menon *et al.*, *Indian Coconut J.*, 1949–50, **3**, 5, 81).

तना-रस स्रवण रोग **सेरेटोस्टोमेला पैराडाक्सा** (ड. सेनीज़) डेड फफूंद के कारण फैलता है और नारियल उत्पादक देशों में आम होता है तथा इसे कोई विशेष रोग नहीं समझा जाता. कम जल-निकास वाली मिट्टी में इसका आक्रमण गंभीर होता है. यह सुदृढ़ परिपक्व ताड़ों को प्रभावित करता है और स्कंध की दरारों में से जंग के रंग का द्रव बहता है. स्कंध से नीचे बहते ही द्रव गहरी वर्ण रेखा तथा धब्बे बना लेता है. क्षय हुए ऊतकों को काट कर, घावों पर कोलतार पोतकर तथा जहाँ आवश्यक हो जल-निकास को सुधार कर इसका उपचार किया जा सकता है (*Trans. Brit. mycol. Soc.*, 1928, **13**, 184; Sundararaman, *Bull. agric. Res. Inst., Pusa*, No. 127, 1922; Briton-Jones, 119).

अन्य प्रकार के भी तना-रस स्रवण ज्ञात हैं जो केवल शरीर-क्रियात्मक कारणों से होते हैं. ये खाद देने से और सूखा के बाद अधिक वर्षा होने के कारण हो सकते हैं (Salgado, *Trop. Agriculturist*, 1942, **98**, 97).

धूसर अंगमारी एक पर्ण रोग है जो कई फफूंदों द्वारा, मुख्यतः **पेस्टालोटिया पामेरम** द्वारा उत्पन्न होता है. यह रोग स्वयं विशेष महत्वपूर्ण नहीं है. यह अनुपजाऊ मिट्टी या विपरीत संवर्धकीय परिस्थितियों में उपजाए हुए ताड़ों को प्रभावित करता है. श्रीलंका में पोटैश न्यूनता इसका एक कारण है. परिपक्व ताड़ों को केवल खाद और कर्षण के अतिरिक्त और किसी उपचार की आवश्यकता नहीं होती.

बिजली गिरने से ताड़ों को सम्भवतः अन्य किसी कारक से कहीं अधिक हानि पहुँचती है. अधिक परिमाण में बिजली गिरने से भीषण उष्मा उत्पन्न होती है जिससे संवहन प्रणाली फट जाती है. एक सामान्य और वस्तुतः विशिष्ट लक्षण यह भी है कि तने के क्षत में से एक श्वेत झागदार द्रव बहता है जो सूखकर लाल धब्बे बनाता है. हल्के विसर्जनों द्वारा जैसे व्रश विसर्जन से, क्षतिग्रस्त पौधे गावदुमाकार होकर अन्त में मर जाते हैं. नये ताड़ों पर कदाचित् ही बिजली गिरती है (Petch, *Ann. R. bot. Gdns, Peradeniya*, 1915, **6**, 31; Briton-Jones, 115).

नारियल बागानों में नाशकजीवों और रोगों के अतिरिक्त आर्थिक हानि होने के दो और भी कारण हैं: गावदुमाकार होना तथा नटों का गिरना. गावदुमाकार नुकीले तने की म्लानि या नुकीली पेन्सिल रोग के नाम से वर्णित है. पर्णों का पीला होना तथा पर्ण आकार का धीरे-धीरे घटना और साथ-साथ तने के मृत होने तक ताड़ के व्यास में भी कमी होना इस रोग के लक्षण है. मन्द तथा लगातार उपवास के कारण जो लक्षण उत्पन्न होते हैं वे हैं: (क) जलाक्रांति; (ख) कठोर स्तर अर्थात् वे ताड़ जो वृद्धि कर रहे हों या जो कठोर दृश्यांश लोहा पत्थर या अन्य प्रकार की संरचनाओं पर वृद्धि करने को प्रयत्नशील हों; (ग) मिट्टी में न्यूनतायें, जैसा कि पहले से जोते गए रेत में होती हैं; तथा (घ) बुढ़ापा. किन्तु जब ये प्रत्यक्ष कारक कार्य नहीं करते तो भी गावदुमाकार रोग देखा जाता है (Briton-Jones, 78; Park & Fernando, 1941, 36).

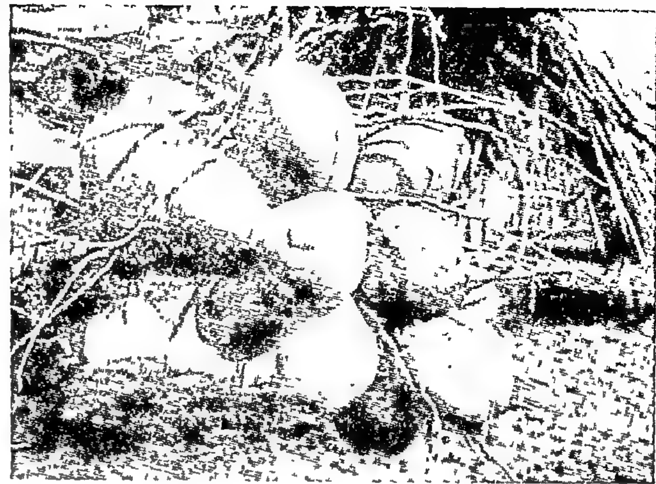
स्थूल मंजरी के प्रकट होने के दो माह भीतर अपरिपक्व या बटन नटों का झड़ जाना एक साधारण घटना है क्योंकि ताड़ में इतने मादा पुष्पक तैयार होते हैं कि ताड़ के पेड़ को उन्हें सँभाल पाना दुष्कर हो जाता है. 50–70% बटनों का गिरना रोग सूचक नहीं बल्कि सामान्य घटना है. श्रीलंका में निरीक्षणों से यह पता चला है कि केवल 29–35% मादा पुष्प ही परिपक्वता तक पहुँच पाते हैं. अपरिपक्व नटों का बटनों से अधिक मात्रा में गिरना शोच्य है (Gadd, *Leafl. Dep. Agric. Ceylon*, No. 53, 1922; *Annu. Rep. Coconut Res. Scheme, Ceylon*, 1944, **11**; 1947, **12**).

तीन या चार माह के अपरिपक्व नट प्रायः गिरते देखे जाते हैं. लम्बे शुष्क मौसम के बाद नटों का गिरना प्रायः अधिक होता है. कभी सूखे मौसम के बाद, प्रथम वर्षा के साथ, इनका गिरना बढ़ जाता है. जिन उपायों से मिट्टी की जल-धारण शक्ति बढ़ती है उनसे नट गिरने कम हो जाते हैं. एक दूसरा कारण गुच्छ-डंठलों का कमजोर होना है. नारियल-ताड़ लगभग एक माह के अन्तर पर नई पुष्पी शाखायें तैयार करता है. स्थूल मंजरी के निकलने बाद से काष्ठफल के पूर्ण परिपक्व होने तक साधारणतया 12–13 महीने लगते हैं. ताड़ में इस प्रकार किसी एक समय 12 या अधिक फलों के गुच्छे विकास की भिन्न अवस्थाओं में पाये जाते हैं. अपरिपक्व नटों का एक गुच्छा भार में 22·5 किग्रा. से अधिक हो सकता है; यहाँ तक कि गुच्छ-डंठल भार से टूट भी सकता है. नियंत्रण के लिए छोटे गुच्छ-डंठल वाले ताड़ों में से बीजनट चुनना और गुच्छों को तने के चारों ओर गाड़े गये कँटीले डंडों द्वारा सहारा देना चाहिए.

फाइटोफ्थोरा पामीवोरा को एक प्रकार के नट गिरने का कारण माना जाता है. फफूँद पकने के पूर्व से लेकर पूरे विकसित नटों को प्रभावित करता है. एक विशेष प्रकार का पर्ण-झुकान जो फफूँद द्वारा पर्णाग-पत्रों के आधार में आक्रमण का कारण होता है, नट गिरने से सम्बन्धित है. नम मौसम में फफूँद का आक्रमण अन्य समय की अपेक्षा अधिक उग्र होता है. गंधक छिड़कना, ताम्र पायस का प्रयोग, मुकुट के निचले पर्णों का काटना, मिट्टी की जल-निकासी में सुधार, विशेष प्रकार की खादों का प्रयोग, लवण का प्रयोग तथा शीर्षकली को हानि पहुँचाये बिना जलाना आनुभविक नियंत्रणों में से हैं किन्तु नट गिरने पर इनका कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ता (Briton-Jones, 157; Park & Fernando, loc. cit.; *Trop. Agriculturist*, 1941, **96**, 253).

संचय

अनुकूल दशाओं में नारियल-ताड़ रोपण के 5–6 वर्ष बाद उपज देने लगते हैं और दसवें वर्ष के बाद से तो पूर्ण उपज मिलने लगती है. दुमट और अनुपजाऊ मिट्टी में यह अवधि काफी लम्बी होती है और ताड़, 10 या यहाँ तक कि 20 वर्ष बाद फल देना प्रारम्भ करते हैं, जब तक कि कोमल नटों की कोई विशेष आवश्यकता न हो. फलों को तभी इकट्ठा किया जाता है जब वे पूरी तरह पक जाते हैं. बहुत से क्षेत्रों में लोग वृक्षों के ऊपर चढ़ जाते हैं और गुच्छों को काट देते हैं.



चित्र 80 – नारियलों का गुच्छा

तंजोर जिले में तथा श्रीलंका में गुच्छों को लग्गे में बंधे चाकू से काट कर नीचे गिराते हैं (John, *Indian Coconut J.*, 1948–49, **2**, 63).

क्षेत्र के अनुसार कटाइयों की संख्या और उनकी अवधि बदलती रहती है. पश्चिमी तट पर वर्ष में 6–8 बार नट एकत्र किये जाते हैं जबकि श्रीलंका, महाराष्ट्र में और तंजोर तथा तमिलनाडु के गोदावरी जिले में ये 6 बार एकत्र किए जाते हैं. उड़ीसा में 4 बार कटाई की जाती है तथा बंगाल में एक या दो बार (Patel, 30).

उपज – प्रति ताड़ नटों की उपज मिट्टी, वर्षा, अंतरण, किस्म, ताड़ की आयु, कर्षण, खाद, तथा नाशकजीवों और रोगों के आपात जैसे कारकों पर निर्भर करती है. पहले के कुछ वर्षों में उपज कम मिलती है और पूर्ण उपज तो कहीं 7–15 वर्ष की आयु हो जाने पर प्राप्त होती है. उसके बाद स्थिर रूप से लगातार 40–45 वर्ष तक उपज मिलती रहती है. अच्छे स्थानों पर उत्तम प्रकार से देखभाल किये गए बागानों में प्रति वृक्ष नटों की संख्या 60–100 के बीच होती है. असावधानी बरतने तथा ठीक प्रकार से न जोतने पर खेतों से प्रति वर्ष प्रति वृक्ष से 20 नट या इससे भी कम मिल सकते हैं (John, *Indian Coconut J.*, 1948–49, **2**, 63; *Agric. Marketing, India*; *Rep. Marketing Coconuts & Coconut Products, Marketing Ser.*, No. 46, 1944, 25).

दो हेक्टर क्षेत्रफल में 292 ताड़ों से नारियल की उपज सारणी 2 में दी गई है.

50–60 वर्ष पुराने हो जाने पर ताड़ों की उपज घट जाती है. अलाभकर ताड़ों तथा पेड़ों के नीचे की पौधों को काट देना ही श्रेयस्कर होता है. कभी-कभी पुराने ताड़ों के नीचे पौधें तभी लगा दी जाती है जब तक उनकी उपज पूरी तरह नहीं घट पाती. जल्दी से अवरोपण की सलाह नहीं दी जाती है क्योंकि इससे नये तथा पुराने ताड़ों में होड़ लग जाती है तथा उपज पर प्रभाव पड़ता है.

सारणी 2*

रोपण के बाद वर्ष	फलने वाले ताड़ों की संख्या	नटों की कुल संख्या	प्रति ताड़ नटों की औसत संख्या	प्रति हेक्टर नटों की औसत संख्या
छठे	20	191	9·5	90
सातवें	159	2,440	15·3	1,220
आठवें	247	11,320	45·8	5,660
नवें	288	14,880	51·7	7,440
दसवें	291	15,410	53·0	7,705
ग्यारहवें	291	11,835	40·7	5,918
बारहवें	291	12,790	44·0	6,395

**Annu. Rep. Coconut Res. Scheme, Ceylon*, 1946, 9.

नारियल उत्पाद

नारियल-ताड़ से कई तरह के उत्पाद प्राप्त होते हैं जिनमें से पके नारियल, गिरी, नारियल का तेल तथा जटा मुख्य हैं. पका नारियल घरेलू कार्यों में धार्मिक अनुष्ठानों और पौधे तैयार करने में काम आता है. कतरी तथा सुखाई हुई गिरी व्यापार का मुखाया हुआ नारियल है. नारियलों का प्रमुख उपयोग गिरी तैयार करने में होता है जिससे नारियल का तेल और नारियल की खली प्राप्त होती है.

ताज़ी गिरी का उपभोग सारे भारत में होता है तथा यह भारतीय व्यंजनों की सामग्री का अंग है. इसे या तो कच्चा खाते हैं या हलवा, मिठाइयाँ, कढ़ी तथा चटनी बनाने के प्रयोग में लाते हैं. गिरी के विश्लेषण से निम्नांकित मान प्राप्त हुए: आर्द्रता, 36·3; प्रोटीन, 4·5; वसा, 41·6; कार्बोहाइड्रेट, 13·0; रेशा, 3·6; खनिज पदार्थ, 1·0; कैल्सियम, 0·01; एवं फॉस्फोरस, 0·24%; लोहा, 1·7 मिग्रा.; विटामिन सी, 1 मिग्रा.; तथा विटामिन बी₁, 15 अं.इ. प्रति 100 ग्रा.; विटामिन ए, नाममात्र; विटामिन ई, 0·2 मिग्रा./100 ग्रा.; ताज़ी नारियल गिरी में प्रति 100 ग्रा. में ताम्र, 0·32 मिग्रा.; गंधक, 44 मिग्रा. होता है (*Hlth Bull.*, No. 23, 1941, 35; *Chem. Abstr.*, 1947, 41, 5643; McCance & Widdowson, 83).

गिरी – गिरी (खोपरा) परिपक्व या लगभग परिपक्व नटों से तैयार की जाती है. तोड़े जाते समय नट की अवस्था का प्रभाव गिरी की उपज तथा कोटि पर पड़ता है. शुष्क ग्रीष्मकालीन महीनों में इकट्ठे किए गए नट वर्षाकालीन महीनों में इकट्ठे किए गए नटों से अधिक उपज देते हैं. नारियल के पकने में प्राय: 12 मास लग जाते हैं. 10 माह के पूर्व के इकट्ठे किए गये नटों से जो गिरी मिलती है उसमें तेल की मात्रा कम रहती है. पूर्ण तथा पके नटों से दो प्रकार की गिरियाँ बनाई जाती हैं: पेरने के लिए तथा खाने के लिए. भारत में जितनी गिरी पैदा की जाती है उसका लगभग 4/5 भाग पेरने के लिए प्रयुक्त होता है.

पेरने वाली गिरी मुख्यत: पश्चिमी तट में त्रावंकोर और कोचीन तथा मालाबार और दक्षिणी कनारा जिलों में तैयार की जाती है. यह ताजे या इकट्ठे किए हुए नटों को धूप या भट्टी में सुखाकर या दोनों प्रकार से बनाई जाती है. इसको तैयार करने के लिए सबसे पहले नटों के छिलके निकाले जाते हैं जिसके लिए मिट्टी में हल की फाल के नुकीले भाग को ऊपर रखते हुए काफी गहराई तक गाड़कर छिलकों को इसी नुकीले हिस्से से विदीर्ण कर दिया जाता है. इस प्रकार से कुशल कामकर प्रति दिन लगभग 1,000–2,000 नटों की छाल उतार सकता है. छाल उतारे हुए नटों को एक भारी चाकू से दो अर्ध भागों में काट लेते हैं. पानी निकाल देने के पश्चात् टूटे हुए खण्डों को तश्तरियों या रेकों में रखकर धूप में या आग पर (नारियल खोलों या छालों को ईंधन के रूप में प्रयोग करके) तब तक सुखाते हैं जब तक कि नारियल की गिरी खोलों में संकुचित होकर सुगमता से अलग न हो जाए. इसे पेरने के पहले धूप में या विशेष प्रकार के शुष्ककों या भट्टियों में फिर सुखाया जाता है.

विभिन्न देशों में भिन्न प्रकार के शुष्कक या भट्टियाँ प्रयोग में लाई जाती हैं. इनमें से अधिक देश नारियल की खोलों को ही ईंधन के रूप में उपयोग में लाते हैं. देशी भट्टियाँ, जो भारत के पश्चिमी तट और गोदावरी जिले के क्षेत्रों में काम में लाई जाती हैं, उनमें से कुछ भोंडी होती हैं जिससे उनसे निकला धुआँ अन्तिम उत्पाद को बदरंग कर देता है. श्रीलंका में सुधरी भट्टियाँ प्रयोग में लाई जाती हैं जिनमें गर्म वायु द्वारा सुखाने का काम लिया जाता है [Menon, *Indian Coconut J.*, 1947–48, 1 (4), 39; Kuruvila, ibid., 1948–49, 2, 26].

खाद्य गिरी दो रूपों में मिलती है: गोला गिरी और प्याला गिरी. गोला गिरी बिना छाल उतारे हुए पके नटों से, जो बाँस के मचान पर छाया में 8–12 माह तक रखे रहते हैं, प्राप्त की जाती है. नट का पानी धीरे-धीरे उड़ जाता है और अन्त में नट को हिलाने से खोल के अन्दर खड़खड़ाने की आवाज सुनाई पड़ती है. इसके बाद छाल एवं खोल दोनों को सावधानी से हटा देते हैं. गोला गरी तैयार करने के लिए **प्युसिला** या **लकादीव स्माल** किस्म सबसे उत्तम मानी गई है. प्याला गिरी ताज़े नटों से या संग्रहीत नटों से, गिरी को अर्ध भागों में काटकर और धूप में सुखाकर बनाई जाती है. श्रीलंका में श्वेत खाद्य गिरी गर्म वायु शुष्ककों में तैयार की जाती है. पियर्सन शुष्कक सबसे उत्तम है. खाद्य गिरी से पेरने वाली गिरी की अपेक्षा अधिक कीमत प्राप्त होती है. मैसूर राज्य तथा तमिलनाडु के गोदावरी जिले में अधिकतर खाद्य गिरी ही उत्पन्न की जाती है (Narayana & John, *Madras agric. J.*, 1949, 36, 349; Menon, loc. cit.).

पके नटों से गिरी की उपज उनकी किस्म, कटाई के मौसम तथा स्थान के अनुसार घटती-बढ़ती है. श्रीलंका, फिलिपीन्स तथा इण्डोनेशिया में उपजाये गये नारियल बड़े आकार के होते हैं और एक टन गिरी के लिए 4,500–5,000 नटों की आवश्यकता होती है. भारत में एक टन गिरी के लिए नटों की संख्या का अनुमान इस प्रकार है: मालाबार तथा द. कनारा में 6,200;

त्रावंकोर तथा कोचीन में 6,850; गोदावरो जिले में 7,000; तथा मैसूर में 8,000 (*Rep. Marketing Coconuts*, 46).

गिरी में संग्रह करने का गुण उसकी आर्द्रता पर निर्भर करता है. 5% आर्द्रता तक सुखाई गिरी यदि वहुत लम्बे अर्से तक न रखी जाए तो खराव नहीं होती. श्रीलंका में 6–7% आर्द्रता तक गिरी सुखाई जाती है और फिर अच्छे हवादार गोदामों में एक समान ताप पर संचय की जाती है. 6% से नीचे सुखाने से शायद ही कोई लाभ हो सके क्योंकि औसतन वायुमण्डलीय परिस्थितियों में आर्द्रता पुनः शोषित हो जाती है. यदि आर्द्रता की मात्रा 6% से बढ़ जाती है गिरी पर फफूंदी और कीट के आक्रमण होने लगते हैं जिससे तेल की गुणता पर प्रभाव पड़ता है (Child, *Trop. Agriculturist*, 1937, 88, 137; Walker, *Philipp. J. Sci.*, 1906, **1**, 117; Passmore, *Bull. imp. Inst., Lond.*, 1931, **29**, 171; Corbett & Ward, *Bull. Dep. Agric. S.S. & F.M.S., Sci. Ser.*, No. 20, 1937; Cooke, ibid., *Gen. Ser.*, No. 28, 1936).

नारियल का तेल – गिरी की गुणता उसमें उपस्थित तेल की मात्रा से जानी जाती है. विभिन्न उत्पादक देशों द्वारा गिरी में तेल की प्रतिशत मात्रा 57–75% के बीच सूचित की गई है. किन्तु ये आँकडे विश्वसनीय नहीं हैं और प्रतिनिधि नहीं कहे जा सकते. ऐसा संकेत किया गया है कि फफूंदी द्वारा आंशिक रूप से विकृत गिरी में असाधारण रूप से अधिक तेल निकलता है. इसी प्रकार सात माह को पौध में लगी हुई गिरी से प्राप्त गिरी में भी तेल की मात्रा 77% तक बताई गई है. तेल की इन उच्च प्रतिशत मात्राओं का कारण फफूंदी द्वारा या अंकुर द्वारा अन्दर की परत का सदुपयोग होना है जिनमें तेल की मात्रा कम होती है और जो परतें बची रहती है वे तेल में भरपूर होती हैं (Cooke, *Bull. Dep. Agric. S.S. & F.M.S., Gen. Ser.*, No. **8**, 1932, 69; Child & Nathanael, *Trop. Agriculturist*, 1947, **103**, 90; Patel, 226).

अच्छे पके नटों से प्राप्त सामान्य गिरी में तेल की प्रतिशत मात्रा विशेष रूप से घटती-बढ़ती है तथा इस समय जितना भी ज्ञान है उसके आधार पर तेल की मात्रा पर जलवायु, मिट्टी की दशाओं तथा आनुवांशिक अन्तरों के प्रभावों के बारे में निष्कर्ष निकाल पाना सम्भव नहीं है. ऐसा कहा गया है कि तेल की प्रतिशत मात्रा नटों के आकार से व्युत्क्रमतः संबंधित है (Cooke, *Bull. Dep. Agric. S.S. & F.M.S., Gen. Ser.*, No. 23, 1936, 93).

भारत में खाद के प्रयोग से गिरी की उपज तथा उसमें तेल की प्रतिशतता में थोड़ी वृद्धि का उल्लेख हुआ है (Patel, 210).

गिरी से तेल की प्राप्ति गिरी में नमी की मात्रा तथा पेराई उपकरणों की दक्षता पर निर्भर करती है. भारत तथा श्रीलंका में गिरी का तेल निकालने के लिए बैलचालित चेक्कू या घानी, घूर्णी-घानी निष्कासक तथा द्रवचालित दावक काम में लाए जाते हैं. एक चेक्कू में प्रतिदिन लगभग 25–50 किग्रा. गिरी पेरी जा सकती है. इससे अपेक्षतया कम, औसतन 55% तेल निकलता है. सावधानी से किए गए एक प्रयोग में तेल की प्राप्ति 59·5% थी और यह सम्भवतः किसी भी ग्रामीण चेक्कू द्वारा प्राप्त अधिकतम प्राप्ति कही जा सकती है (*Annu. Rep. Coconut Res. Scheme, Ceylon*, 1944, 5).

घूर्णी-घानी वास्तव में एक शक्तिचालित चेक्कू है. भारत में पश्चिमी तट में जितने भी प्रतिष्ठान हैं उनमें बाष्प या तेल इंजन, दो या तीन तेल की टंकी, एक हाथ पंप, एक गिरी कर्तक तथा कई घूर्णी-घानियाँ पंक्ति में लगी रहती हैं. कोचीन और मालाबार में पेरने को आसान बनाने के लिए प्रति 100 किग्रा. गिरी के लिए 600–1,200 ग्रा. पानी में पहले से भिगोए हुए अरबी गोंद को डालने का आम रिवाज है. 24 घंटे में लगभग 600 टन गिरी पेरी जा सकती है. इससे अच्छी प्राप्ति होती है और यह किसी निष्कासक द्वारा प्राप्त उत्पाद से न्यून नहीं होती, फिर भी उत्पादन देखते हुए शक्ति-व्यय अधिक होती है और ओखली काफी घिस जाती है (Patel, 229).

बम्बई में तथा श्रीलंका के छोटी बड़ी मिलों में निष्कासकों का व्यवहार होता है. तेल निष्कासक वास्तव में बलकृत प्रचलित स्क्रू प्रेस होता है जिसमें तेल प्रेस-पीपे या पिंजरे में लगातार घूमते हुए वार्म शैफ्ट द्वारा उत्पन्न दाव से निकलता रहता है. तेल निकलने के लिए पीपे में छिद्र बने होते हैं. घर्षण से पर्याप्त ऊष्मा उत्पन्न होती है तथा कभी-कभी वार्म दावक का जल-शीतलन आवश्यक होता है.

भारत, श्रीलंका, जावा, फिलिपीन्स, यूरोप तथा संयुक्त राज्य अमेरिका के अधिकतम प्रतिष्ठानों में केवल द्रवचालित दावकों का प्रयोग होता है. द्रवचालित दावक में कठोर दाव देने के पूर्व निष्कासक में हल्का दाब देना एक साधारण प्रथा है.

विलायक निष्कर्षण संयंत्र फिलिपीन्स में प्रयुक्त किया गया है परन्तु प्रत्यक्ष रूप से अन्य नारियल उपजाने वाले देशों में इसका प्रयोग नहीं होता. ताजे, बिना सुखाए हुए नारियल के गूदे से तेल की एक निष्कर्षण विधि का उल्लेख हुआ है (*Chemurgic. Digest*, 1949, 8, 18).

मिलों में भेजी जाने वाली गिरी में 64·5% तेल और 6·5% आर्द्रता रहती है. ऐसी गिरी को पेरने से आर्द्रता तेल में पहुँच कर उसे गंदला कर देती है और अन्त में पानी संग्रह-टंकियों में तलछट के रूप में पृथक् हो जाता है. कणीकरण के पश्चात् तथा पेरने से पूर्व गिरी का ऊष्मा-उपचार होना सामान्य है, जिससे इस अवस्था में इसमें 4% या कम आर्द्रता रहे. कार्यक्षम दाब से 100 किग्रा. गिरी से लगभग 62·5 किग्रा. नारियल का तेल और 35 किग्रा. नारियल की खली प्राप्त होगी. नारियल की खली में 7–10% तेल होता है. व्यापारिक गिरी से अधिकतम स्वाभाविक तेल की प्राप्ति 62·5% होती है. गिरी को समतुल्य तेल में व्यक्त करने के लिए 63% तेल लिया जाता है (*Review of Oilseed, Oil and Oil Cake Markets*, Fehr. & Co., 1946).

64·5% तेल तथा 6·5% आर्द्रता वाली गिरी को सुखाने और भिन्न प्रकार के कोल्हुओं में पेरने से प्राप्त पूनक की तेल प्राप्ति और तेल मात्रा सारणी 3 में प्रदर्शित है. ऐसा विश्वास किया जाता है कि निष्कासक तथा द्रवचालित दावकों से प्राप्त पूनक में 10% तथा चेक्कू से प्राप्त पूनक में 12% आर्द्रता होती है.

सारणी 3 – तेल तथा पूनक उत्पाद
(मिल को भेजी गई गिरी का %)

	द्रव चालित दाबक	निष्कासक			चेक्कू
		क्षम	औसत क्षम	अक्षम	
पूनक मे तेल की मात्रा %	5	8	10	15	22
तेल प्राप्ति	62 5	61 5	60 9	58 5	55 0
पूनक प्राप्ति	33 5	34 5	35 1	37 7	42 0
सूखन तथा यांत्रिक हानि	4 0	4 0	4 0	3 8	3 0

भौतिक गुणधर्म – उष्णकटिबन्धी देशो मे तैयार किया गया नारियल का तेल रगहीन से लेकर फीके भूरे-पीले रग का होता है. शीतोष्ण जलवायु मे यह ग्रीज के समान कुछ-कुछ क्रिस्टलीय, सफेद से पीले ठोस वसा के रूप मे दिखता है व्यापारिक उत्पाद मे नारियल की विशिष्ट गंध रहती है इसकी निम्न-लिखित विशेषताएँ है : आ घ, 15° पर 0·926, 25° पर, 0·9188, तथा 30° पर, 0·9150, $n_D^{40°}$, 1·4530–1·4560, 40° पर, 1·4477–1·4495, तथा 60° पर, 1·4410–1·4420, साबु मान, 251–63, आयो. सख्या, 8·0–9·6, पोलेन्स्के मान, 15–18, ग वि, 23°–26°, वसा-अम्लो का अनुमाप, 20·4°–23·5°, पूर्णतया हाइड्रोजनीकृत वसा का ग वि, 44·5°, 37·8° पर गतिक श्यानता, 28·58–29·79, 99° पर, 5·83–6·06 सेण्टीस्टोक (Jamieson, 147, Rescorla & Carnahan, *Industr. Engng Chem*, 1936, **28**, 1212, Chowdhary *et al*, *Bull Indian industr Res*, No. 19, 1940, *Bull Univ. Philippines*, No. 4, 1934, 61).

खरीददारो के विनिर्देशो पर विभिन्न रग-मापक्रम काम मे लाए जाते है लॉवीबाण्ड रग-मापक्रम पर ब्रिटिश स्टैंडर्ड स्पेसिफिकेशन 628 के अनुसार रग को 5 पीली इकाई + 1·2 लाल इकाई से अधिक नही बढना चाहिये (*Handling, Sampling and Testing of Fatty Acids*, Armour & Co, Chicago, 1947).

तेल के अन्य भौतिक गुण इस प्रकार है दहन-ऊष्मा, 9,285 कैलोरी/ग्रा सम्पूर्ण, या 8,679 कैलोरी/ग्रा नेट, वाष्प दाब 202° पर, 0·054 मिमी, 227° पर, 0·16 मिमी, और 250° पर, 0·37 मिमी ; अधिकाश अहाइड्रॉक्सिलिक कार्बनिक विलायकों मे अपने गलनाक से ऊपर पूर्णतया मिश्रणीय, परिशुद्ध ऐल्कोहल के दो आयतनो मे 32° पर पूर्णतया विलेय तथा 60° पर 90% ऐल्कोहल के 2 आयतनो मे विलेय सामान्य वनस्पति-तेलो मे नारियल का तेल वैलेण्टा परीक्षण के भिन्न रूपातरणो मे सबसे कम आविलता दिखाता है वैद्युरोधन गुण मे यह उत्तम है; इसमे उच्च प्रेरणिकता होती है (*Chem. Abstr.*, 1948, **42**, 1074).

रासायनिक संघटन – नारियल तेल का उद्गम चाहे कोई देश क्यो न हो, उसके सघटन मे बहुत ही कम अन्तर पाया जाता है यह व्यापारिक वसाओ मे सबसे कम परिवर्तनशील जाना जाता है. सारणी 4 मे घटक वसा-अम्लो के मान की सीमा दी गई है

नारियल का तेल, ताडगिरी तेल तथा पामो के अन्य बीजो की वसा की ही तरह लॉरिक और मिरिस्टिक अम्ल की उच्च मात्रा के कारण, जिनके साथ ओर भी निम्नतर वसा-अम्ल रहते है, पहचाना जाता है. अनडेकेनाइक तथा ट्राइडेकेनाइक अम्ल भी पाये जाते है (*Chem Abstr*, 1948, **42**, 6140).

नारियल तेल के ग्लिसराइड बहुत ही अतरंग मिश्रण बनाते है जिससे वे मात्रात्मक रूप मे पृथक् नही किए जा सकते है. बाम्बर ने इसमे एक बहुत ही श्रमसाध्य विधि से मात्रात्मक क्रिस्टलो की विधि द्वारा कुछ मिश्रित ग्लिसराइडो (सारणी 5) की उपस्थिति सिद्ध की है (Collin & Hilditch, *J Soc. chem Ind*, *Lond.*, 1928, **47**, 261T).

नारियल तेल के एक नमूने के परीक्षण से पूर्णतया सतृप्त ग्लिसराइडो की मात्रा 84, मोनोओलियो डाइ सतृप्त ग्लिसराइडो की 12 तथा डाइ ओलियो मोनो सतृप्त ग्लिसराइडो की मात्रा 4% पाई गई है (Hilditch, 1947, 257).

साधारण उपयोग मे आने वाले वनस्पति तेलो मे नारियल के तेल का साबु मान सर्वाधिक तथा आयो मान न्यूनतम होता है. व्यापारिक अपरिष्कृत तेलो मे मुक्त वसा-अम्लो का निश्चित अनुपात होता है. बासी गिरी से निकाले गये तेल मे यह

सारणी 4 – घटक वसा-अम्ल

कैप्रोइक अम्ल	0 2–0 5	सतृप्त अम्ल 91%
कैप्राइलिक अम्ल	5 4–9 5	
कैप्रिक अम्ल	4 5–9 7	
लॉरिक अम्ल	44 1–51 3	
मिरिस्टिक अम्ल	13 1–18 5	
पामिटिक अम्ल	7 5–10 5	
स्टीऐरिक अम्ल	1 0–3 2	
ऐराकिडिक अम्ल	0 0–1 5	
ओलीक अम्ल	5 0–8 2	असतृप्त अम्ल 9%
लिनोलीक अम्ल	1 0–2 6	

सारणी 5 – नारियल के तेल मे उपस्थित मिश्रित ग्लिसराइड

ग्लिसराइड	ग वि.	मात्रा
कैप्रिलोलॉरोमिरिस्टिन	15 0	अधिक
डाइलॉरोमिरिस्टिन	33 0	अत्यधिक
लॉरोडाइमिरिस्टिन	38 1	कम
डाइमिरिस्टोपामिटिन	45 1	बहुत कम
डाइपामिटोस्टीऐरिन	55 0	बहुत कम

अनुपात बढ़ जाता है. श्रीलंका से प्राप्त कारखानों के व्यापारिक तेल में 2% से अधिक मुक्त अम्ल (लॉरिक अम्ल के रूप में परिगणित) कभी नहीं पाया जाता. असाबुनीकृत-पदार्थ (0·25%) में फाइटोस्टेरॉल (ग.बि., 121·5–123·8°) तथा स्क्वैलिन होते हैं (*Chem. Abstr.*, 1941, **35**, 2022; 1944, **38**, 883).

उपयोग – नारियल के तेल का उपयोग अधिकतर खाद्य एवं व्यावसायिक कार्यों के लिए किया जाता है. पश्चिमी घाट पर इस तेल का उपयोग प्रायः भोजन के लिए और घरेलू कार्यों में किया जाता है. ताजे नारियल की गिरी को जल के साथ मसलकर उबालते हैं. इससे तेल जल के ऊपर तैरने लगता है जिसे निकाल लेते हैं. इस प्रकार से प्राप्त तेल दीर्घ काल तक सुरक्षित रखा जा सकता है.

खाने के लिए औद्योगिक तेल का परिष्कार करने के लिए मुक्त वसा-अम्लों को कास्टिक सोडा से उदासीन करते हैं और गुनगुने पानी से धोते हैं, फिर इसे उच्च निर्वात गन्धहारक में अतितप्त भाप के द्वारा गन्धरहित करते हैं. भारत में सुप्रसिद्ध परिष्कृत तेल कोकोजम है. कुछ शोधक इस तेल को जमाते हैं. इस प्रकार पृथक् हुए स्टीऐरिन को उद्योग में नारियल का मक्खन अथवा चाकलेट वसा कहते हैं जो मिठाइयाँ बनाने के काम आता है (Jamieson, 146).

नारियल का तेल अन्य तेलों की अपेक्षा सुगमता से पच जाता है इसीलिए यह अनेक घी-प्रतिस्थापकों के अवयवी पदार्थ के रूप में काम में लाया जाता है. हाइड्रोजनित तेलों के प्रचार से अब ठोस वनस्पति वसा के रूप में नारियल के तेल का महत्व घट गया है. इंग्लैण्ड में आज भी थोड़ी मात्रा में इसका उपयोग मार्गेरिन के अवयवी पदार्थ के रूप में किया जाता है [Menon, *Indian Coconut J.*, 1947–48, **1**(1), 17].

नारियल के तेल का प्रमुख औद्योगिक उपयोग साबुन बनाने में किया जाता है. नारियल के तेल से बने साबुनों में आसानी से काफी झाग उठाने का विशेष गुण है. नारियल के तेल में निम्न एवं मध्यम अणुभार वाले वसा अम्लों का अनुपात अपेक्षाकृत अधिक होता है जिससे ये साबुन जल में अधिक विलेय होते हैं और विद्युत-अपघट्यों द्वारा लवणीयन प्रभाव से बहुत कम प्रभावित होते हैं. कठोर जल के साथ झाग देने वाले तथा नमक के विलयन में भी विलेय समुद्री साबुन नारियल के तेल से ही बनाये जाते हैं. नारियल के तेल से बना साबुन टाइफ़ायड बैसिलस के विरुद्ध साधारण ताप पर अत्यंत सक्रिय होता है. इसकी रोगाणुनाशी सक्रियता का कारण इसमें संतृप्त वसा-अम्लों की अधिक मात्रा का होना है. यह सक्रियता क्षारों की उपस्थिति में बढ़ जाती है (Moore, *Econ. Bot.*, 1948, **2**, 119; Patel, 233).

नारियल के तेल का उपयोग दूध-वसा में मिलावट करने, दूध में पूरक के रूप में, दूध को गाढ़ा बनाने तथा बच्चों के लिए तैयार किए जाने वाले कृत्रिम दूध में अवयवी पदार्थ के रूप में किया जाता है. इसका उपयोग मरहम, केश तेल एवं अंगराग, शैम्पू, लेप, लोशन, फुलेल आदि के अवयवी पदार्थ के रूप में किया जाता है. इसे जूट के धान-संघटनों में एवं विसंक्रामक, कीटनाशी, परजीवीनाशक पदार्थों के अवयवी के रूप में प्रयुक्त किया जाता है. नारियल के तेल तथा उसमें उपस्थित वसा-अम्लों से प्राप्त उत्पादों का उपयोग विविध प्रकार से भोजन, कपड़ा, चमड़ा, कागज और कृत्रिम रेज़िन उद्योगों में किया जाता है. नारियल के तेल के वसा-अम्लों के ऐमाइडों और एथिलीन ऑक्साइड और पिरिडीन हाइड्रोक्लोराइड की अभिक्रिया से जो उत्पाद बनते हैं उनका उपयोग पेट्रोलियम उद्योग में विपायसीकारक के रूप में किया जाता है (Gregory, II, 83, 84; Gregory, I, 194; Gilmore, *Chem. metall. Engng*, 1949, **56**, 256; *Chem. Abstr.*, 1946, **40**, 5239, 2328, 448).

नारियल के तेल को उच्च दाब और ताप के अन्तर्गत हाइड्रोजनीकृत करके वसा-अम्लों के संगत वसीय ऐल्कोहलों का मिश्रण तैयार किया जाता है. इन ऐल्कोहलों को सल्फोनीकृत एवं उदासीन करके अशुद्ध सोडियम लॉरिल सल्फोनेट तैयार करते हैं. α-ब्रोमोलॉरिक, ब्रोमो सक्सिनिक, क्लोरोऐसीटिक डाइक्लोरोऐसीटिक, γ-क्लोरो ब्युटिरिक एवं γ-क्लोरो वैलेरिक एस्टरों का प्रयोग तृतीयक ऐमीनों से अभिक्रिया कराकर साबुनीकरणीय उत्पादों के लिए प्रारम्भिक पदार्थों के रूप में किया जाता है और अकेले ही अथवा अन्य साबुनों और पूरकों के साथ अपमार्जक के रूप में होता है जिन्हें पेटेण्ट द्वारा गुप्त रखा गया है (Gilmore, loc. cit.; Gregory, I, 194).

356–88° ताप और 3·24 किग्रा./सेंमी.² दाब पर नारियल के तेल का भंजन करके मोटर ईंधन (46·2%) और डीज़ल तेल बनाये जाते हैं. उच्च दाब की दशा में भंजन करने से मोटर ईंधन की मात्रा बढ़ जाती है. नारियल के तेल के वसा-अम्लों से बने कैल्सियम साबुन को उच्च क्वथनांक वाले हाइड्रोकार्बन का तेल (जो पूर्व धान में बनाया गया हो) और चूने की अधिक मात्रा के साथ आसवित करने से भी गैसोलिन से मिलता-जुलता पदार्थ प्राप्त किया जा सकता है (*Chem. Abstr.*, 1948, **42**, 3934).

औषध में नारियल के तेल का उपयोग चर्म में तुरन्त प्रविष्ट कर जाने एवं काफी जल अवशोषित करने की क्षमता के कारण मरहम के आधार के रूप में किया जाता है (U.S.D., 309).

रिकेटी भोजन में नारियल का तेल मिलाने से कैल्सियम और फॉस्फोरस का अवशोषण और अवधारण दोनों ही बढ़ जाते हैं. पैराडाइमेथिलऐमीनो ऐजोबेंजीन द्वारा उत्पन्न यकृत-अर्बुद पर हाइड्रोजनीकृत नारियल का तेल एवं उसके वसा-अम्ल विरोधी प्रभाव डालते हैं. आहार में 20% नारियल तेल के अम्लों के होने से रंजकहीन चूहे की प्रायोगिक यक्ष्मा प्रगति का अवरोध होता है (*Chem. Abstr.*, 1948, **42**, 8275, 8323, 6902).

नारियल के तेल में (अन्य वसाओं की तरह जिनमें लॉरिक और निम्न अम्लों के ग्लिसराइड होते हैं) कीटोन की-सी विकृतगंधिता होती है. इसका कारण नमी की उपस्थिति में कुछ कवकों, जैसे पेनिसिलिया और ऐस्परजिलाई आदि की क्रिया का होना है जो संतृप्त अम्लों, विशेषकर कैप्रिलिक, कैप्रिक और लॉरिक अम्लों आदि के β-ऑक्सीकरण को बढ़ावा देते हैं. ऑक्सीकरण से अन्तिम उत्पादों के रूप में मेथिल कीटोन बनते हैं जिनमें वेधने वाली गंध होती है. मैलीइक अम्ल, डाइसोडियम फॉस्फेट तथा पैरा-हाइड्रॉक्सि-प्रोपिल बेंजोएट (नीपासाल)

ऑक्सीकारी विकृतगंधिता को रोकते हैं (*Chem. Abstr.*, 1942, 36, 3978).

नारियल के तेल के बनाते, लाते-ले-जाते तथा संचित करते समय निम्नांकित सावधानियाँ बरतने से सन्तोषजनक उत्पाद प्राप्त होता है. तेल बनाते समय (1) भली भाँति सूखा खोपरा अर्थात् 6% नमी वाला शुष्क, फफूँदी रहित खोपरा होना चाहिए, (2) खोपरे को निचोड़ कर तेल को स्वच्छ पात्र में एकत्र करना चाहिए, (3) केक के अवशेष को तुरन्त ही अशुद्ध तेल से अलग कर देना चाहिए, (4) यह कार्य जब निस्तारण विधि से किया जाता है तो उस हौज को बहुधा साफ करते रहते हैं, (5) तेल को नमी रहित होना चाहिये. यदि तेल को जल से धोया गया हो (जैसा कि शुद्ध तेल के साथ होता है) अथवा इसके साथ क्रिया की गई हो तो इसे छानना या 110°–120° तक गर्म करना आवश्यक होता है जिससे पूरी तरह से नमी हट जाए. गर्म करने से तेल का निर्जर्मीकरण भी हो जाता है. तेल के लाते-ले-जाते एवं संचित करते समय (1) इसे प्रकाश और वायु से बचाकर रखना चाहिए, (2) परिष्कृत तेल की थोड़ी मात्राओं को मिट्टी के तेल के पीपों में भरकर टांका लगा देना चाहिए तथा अधिक मात्रा होने पर ड्रमों का प्रयोग करना चाहिए, एवं (3) वायु के प्रभाव से बचाने के लिए पीपों और ड्रमों को यथासम्भव ऊपर तक भरना चाहिए.

अपमिश्रक – नारियल के तेल में प्रायः मूंगफली का तेल और खनिज तेल अपमिश्रक के रूप में मिलाया जाता है और ऊपर कृत्रिम नारियल तेल का इत्र सुवास के लिए डाला जाता है. इस तेल के राइकर्ट मान एवं पोलेन्स्के मान ज्ञात करके अपमिश्रकों की मात्रा का अनुमान लगा लिया जाता है. ऐनिलीन बिन्दु ज्ञात करके मिश्रण में उपस्थित खनिज तेल की भी मात्रा को ज्ञात कर लिया जाता है (Iyer, *J. sci. industr. Res.*, 1950, **9B**, 93; Kane, *Curr. Sci.*, 1948, **17**, 150).

नारियल केक – खोपरे से 33 से 42% तक पूनक प्राप्त होती है. इसका संघटन तेल निष्कर्षण के लिए प्रयुक्त विधि के अनुसार बदलता रहता है (सारणी 3). जलशक्ति द्वारा संपीडित पूनक बाजार में चपटी गोलाकार होती है और निचोड़ी गई पूनक काले रंग के टूटे-फूटे टुकड़ों में मिलती है. पूनक के विश्लेषण के परिणाम सारणी 6 में संक्षेप में दिए गए है.

ताजे नारियल की गिरी में (सावधानीपूर्वक सुखाए गए निर्जलीकृत खोपरे के रूप में) विलेय शर्करा पूर्णतः स्यूक्रोस (5·5%) होता है. इस आधार पर मिल की पूनक के नमूने में 16% स्यूक्रोस होगा. मशीन में निचोड़ते समय, कुछ न कुछ कैरामलीकरण हो ही जाता है. इसके उच्च कार्बोहाइड्रेटों के संबंध में कोई खोज नहीं हुई है (Child & Nathanael, *Annu. Rep. Coconut Res. Scheme, Ceylon*, 1947, 5).

नारियल का पूनक जल अवशोषण की प्रवृत्ति दिखाता है, इसीलिए वह जल्दी से फफूँदी द्वारा प्रभावित हो कर नष्ट होने लगता है. विभिन्न आपेक्षिक आर्द्रता की दशाओं में पूनक में साम्य-आर्द्रता इस प्रकार होती है : 40–70% आपेक्षिक आर्द्रता पर 10%; 80% आपेक्षिक आर्द्रता पर 20%; 90% आपेक्षिक आर्द्रता पर 30%. पूनक को लम्बी अवधि तक, विशेषकर वर्षा के दिनों में संचित करके नहीं रखना चाहिए. अभी तक पूनक को सुरक्षित रखने की परिस्थितियाँ ठीक से बताई नहीं गई (Snow *et al.*, *Ann. appl. Biol.*, 1944, **31**, 111; Desikachar & Rao, *Indian Coconut J.*, 1948–49, **2**, 185).

नारियल की पूनक मवेशियों के लिए अत्यंत गुणकारी आहार है चेक्कू पूनक में एक्सपेलर खली की अपेक्षा अधिक केक रहता है और सामान्यतः यह दुधारु मवेशियों को नहीं दिया जाता. इसका उपयोग सुअरों को मोटा करने तथा मुर्गी-पालन में किया जाता है. मवेशियों को नारियल की खली खिलाकर अनेक प्रयोग किए गए हैं. इन प्रयोगों से ज्ञात हुआ है कि इससे दुधारु गायों में दूध की मात्रा बढ़ जाती है और इस दूध से निकाला गया मक्खन अच्छे गठन और श्रेष्ठ सुवास वाला होता है जो अन्य खलियों को खिलाने से प्राप्त नहीं होता. प्रत्येक गाय को प्रतिदिन अधिक से अधिक 1·8–2·2 किग्रा. तक यह खली खिलाई जा सकती है. इससे अधिक खली खिलाने से दूध से प्राप्त मक्खन में पशु-वसा की-सी महक आने लगती है. खली में विकृतगंधिता नहीं होनी चाहिए क्योंकि ऐसा होने से दूध और मक्खन में भी दुर्गन्ध आने लगती है. इस खली में चूने की कमी होती है अतः खली के साथ कैल्सियम युक्त अन्य खाद्य पदार्थ मिलाकर यह कमी पूरी की जा सकती है. यदि अन्य प्रकार से भोजन सन्तुलित हो तो नारियल ग्लोबुलिन प्रोटीन का एक मात्र यथेष्ठ स्रोत होता है. चावल आहार के लिए खली उपयोगी पूरक है (Crawford, *Indian Fmg*, 1949, **10**, 80; *Chem. Abstr.*, 1947, **41**, 6352; Johns & Jones, loc. cit.; Kuppuswamy *et al.*, *Sci. & Cult.*, 1946–47, **12**, 249).

यदि कभी कोकोनट पूनक की अधिकता हो जाए तो इसका उपयोग उर्वरक के रूप में किया जा सकता है. केक में नाइट्रोजन, 3·02; फॉस्फोरिक अम्ल (P_2O_5), 1·90; और पोटैश (K_2O), 1·77% होता है (Salgado, *Trop. Agriculturist*, 1940, **95**, 3; *Indian Fmg*, 1943, 4, 556).

सारणी 6 – पूनक का विश्लेषण

	मिल पूनक (%)	एक्सपेलर पूनक (%)	चेक्कू पूनक (%)
आर्द्रता	11·0	10·0	13·3
तेल	6·0	10·0	26·7
प्रोटीन* (N×6·25)	19·8	19·1	14·3
कार्बोहाइड्रेट	45·3	43·8	32·8
तन्तु	12·2	11·8	8·9
राख	5·7	5·3	4·0

*विश्लेषण में पूनक में प्रोटीन का नाइट्रोजन जेल्डाल विधि द्वारा ज्ञात नाइट्रोजन में 6·25 से गुणा करके प्राप्त करते हैं इससे अधिक उपयुक्त गुणक 5·7 है क्योंकि नारियल के ग्लोबुलिन में जोकि नारियल के पूनक का प्रमुख प्रोटीन है, 17·5% नाइट्रोजन रहता है (Johns & Jones, *J. biol. Chem.*, 1920, 44, 283, 291).

श्रीलंका, फिलिपीन्स और न्यूगिनी में नारियल की श्वेत गिरी में से भूरे रंग की कतरन अथवा बीज-चोल को हटाकर औद्योगिक उत्पाद के रूप में **निर्जलीकृत नारियल** बनाया जाता है. सफेद गिरी को विखण्डित करके गर्म वायु शुष्ककों में 60°–76·6° पर सुखाते हैं जिससे नमी 2% से भी कम हो जाती है. कतरनें प्रायः हाथ से तैयार की जाती हैं यद्यपि इस कार्य के लिए मशीनें भी बनाई गई हैं. ताजे नारियल से प्राप्त गिरी के टुकड़ों को बहते पानी में धोते हैं और फिर चूर्णकों में डालते हैं. अब चूरी हुई गिरी को, चाय उत्पादन में प्रयुक्त शुष्ककों की ही तरह शुष्ककों में भेजते हैं जहाँ पर इसे 20–25 मिनिट तक सुखाया जाता है. सूखे पदार्थ को जस्तेदार मेज पर रखकर ठंडा होने देते हैं, फिर चलनी द्वारा मोटी, मध्यम और उत्तम (महीन) श्रेणियों में वर्गीकृत करके, ग्रीजसह कागज के अस्तर लगे प्लाईवुड के खोखों में प्रत्येक में 58·5 किग्रा. रखकर बन्द कर देते हैं. निर्जलीकृत नारियल बर्फ की तरह श्वेत रंग का होता है, इसमें ताजे नारियल का स्वाद तथा 0·1% से कम ही मुक्त वसा-अम्ल होते हैं (Child, *J. Coconut Industr., Ceylon*, 1940, 4, 9; Bolton, 166).

निर्जलीकृत नारियल का उपयोग केक, पेस्ट्री, और चाकलेट के औद्योगिक उत्पादन में किया जाता है. यह अनेक भारतीय मिठाइयों एवं चूसने की मिठाइयों का महत्वपूर्ण अवयव है. 1936 तक भारत में निर्जलीकृत नारियल का आयात नगण्य था किन्तु 1943 में बढ़कर 1,400 टन हो गया. यह फिर 1947 में घटकर 102·4 टन रह गया. भारत में निर्जलीकृत नारियल के उत्पादन की सम्भावनाओं पर गोपालन ने विचार-विमर्श किया है. विखण्डित नारियल में कभी-कभी चीनी, स्टार्च और पपाया डंठल के तन्तु मिला दिए जाते हैं [*Indian Coconut J.*, 1947–48, **1**(4), 23; *Chem. Abstr.*, 1948, **42**, 994].

निर्जलीकृत नारियल के औद्योगिक उत्पादन में कतरन का तेल, कतरन की खली और अपवाह तेल उपजात के रूप में प्राप्त होते हैं. कतरनों को (1,000 नारियलों में से 4–4·5 किग्रा.) जो गिरी का 12–15% होती हैं सुखाकर और निचोड़कर तेल निकाल लेते हैं जिसकी मात्रा 60–62% होती है. कतरन के तेल (आयो. मान, 19·25; साबु. मान, 237–244; अम्ल मान, प्रायः औद्योगिक नारियल के तेल के मान से अधिक) का संघटन साधारण नारियल के तेल के संघटन से कुछ भिन्न होता है और इसका रंग काला होता है. इसका उपयोग साबुनों तथा स्नेहकों के उत्पादन में किया जाता है. कतरन के तेल का उत्पादन श्रीलंका, फिलिपीन्स, अमेरिका और यूरोप में किया जाता है (Armstrong *et al.*, *J. Soc. chem. Ind., Lond.*, 1925, **44**, 62T).

कतरन की खली का संघटन साधारण नारियल की केक से मिलता-जुलता है. इसकी अधिक मात्रा उत्पादित नहीं की जाती. इसकी केवल स्थानीय खपत है.

कुछ कारखानों में सम्पूर्ण वोवन को, जिसमें नारियल का जल भी मिला होता है, विस्तारक तालों में एकत्र करते हैं. सतह पर जो मल एकत्र हो जाता है उसे निकाल कर उबालते हैं और संपीडित करके एक घटिया श्रेणी का ड्रेन तेल अथवा अवसाद तेल एवं संपीडित खली प्राप्त करते हैं जिसकी उपयोगिता उर्वरक के रूप में है (Joachim & Kandiah, *Trop. Agriculturist*, 1932, **78**, 15; *Annu. Rep. Coconut Res. Scheme, Ceylon*, 1943, 5).

नारियल का जल नारियल के पकने एवं अंकुरण में अत्यंत सहायक है. पकने की प्रारम्भिक अवस्था में जब भ्रूणपोष बनने लगता है, नारियल के जल में ऐमीनो अम्ल एवं प्रतीप शर्करा एकत्र होने लगते हैं. नारियल के पकने के साथ-साथ प्रतीप शर्करा की सान्द्रता बढ़ती रहती है और पाँचवे या छठे मास में यह अधिकतम हो जाती है. इसके पश्चात् स्यूक्रोस बनने लगता है और सम्पूर्ण शर्करा की सान्द्रता घटने लगती है जैसे-जैसे नारियल पकने लगता है इसके साथ-साथ कुल ठोस (2·5 ग्रा./100 मिली. प्रारम्भिक स्थिति में) की भी मात्रा बढ़ती जाती है जो सातवें माह में गिरी बनने से पूर्व, अधिकतम हो जाती है और इसके बाद घटने लगती है. अंकुरण की अवधि में, समाप्त होने के पहले इसके जल में 100 मिली. में 2 ग्रा. ठोस रहता है.

नारियल के जल का विश्लेपण करने पर निम्नांकित मान प्राप्त हुए: जल, 95·5; प्रोटीन, 0·1; वसा, <0·1; खनिज पदार्थ, 0·4; कार्बोहाइड्रेट, 4·0; कैल्सियम, 0·02; फॉस्फोरस, <0·01%; लोहा, 0·5 मिग्रा./100 ग्रा. इसमें आर्जीनीन, ऐलैनिन, सिस्टीन और सेरीन की प्रतिशत मात्रा गोदुग्ध से अधिक होती है. शर्कराएं नारियल के जल के एक महत्वपूर्ण अवयव हैं. नारियल जल को पेय के रूप में लिया जाता है तो इसमें शर्करा की सान्द्रता अधिक होती है और बड़े नारियल के जल में 28 ग्रा. से भी अधिक शर्करा घुली रहती है. नारियल के जल में सोडियम, 105·0; पोटैसियम, 312; कैल्सियम, 29; मैग्नीशियम, 30; लोहा, 0·10; ताँबा, 0·04; फॉस्फोरस, 37; गंधक, 24; क्लोरीन, 183 मिग्रा./100 ग्रा. रहते हैं. इसका मुख्य अवयव पोटैश है जिसकी सान्द्रता पर पोटैश उर्वरकों का प्रभाव स्पष्ट लक्षित होता है. इसका पी-एच मान 4·8 से 5·3 तक होता है और इसमें ऐस्कार्बिक अम्ल 2·2 से 3·7 मिग्रा./100 मिली. होता है. हरी और नर्म गिरी वाले नारियल के जल में इसकी मात्रा अधिक होती है किन्तु ज्यों-ज्यों नारियल पकता है इसकी मात्रा घटती जाती है. बी-समूह के विटामिनों का मान इस प्रकार बतलाया गया: निकोटिनिक अम्ल, 0·64; पैण्टोथेनिक अम्ल, 0·52; बायोटिन, 0·02; राइबोफ्लैविन, <0·01; और फोलिक अम्ल, 0·003 माग्रा./मिली. और थायमिन पिरिडोक्सिन, रंच मात्र (*Hlth Bull.*, No. 23 1941, 433; *Chem. Abstr.*, 1943, **37**, 2422; Child & Nathanael, *Annu. Rep. Coconut Res. Scheme, Ceylon*, 1947, 5; Salgado, *Annu. Rep. Coconut Res. Scheme, Ceylon*, 1946, 13; Biswas & Ghosh, *Sci. & Cult.*, 1935–36, **1**, 518; Ganguli, ibid., 1936–37, **2**, 224; Vandenbelt, *Nature*, 1945, 156, 174).

पेय रूप में कच्चे नारियल के पानी से यह लाभ होता है कि यह निर्जमित होता है. इसके पीने से ताजगी आ जाती है. सूक्ष्मजैविक कार्य में इसका उपयोग संवर्धन माध्यम की तरह किया जाता है. यह रेचक, मूत्रल तथा कृमिहर है. कच्चे

या कोमल नारियल की ताजी लुगदी मूत्रल होती है और इसका जल घावों में तरल लेप का काम करता है.

पके नारियलों का जल खोपरा और निर्जलीकृत नारियल उद्योगों का अनुपयोगी उपजात है. इसमें कुल ठोस, 3·9–5·5; अपचायक शर्कराएँ (जैसे प्रतीप शर्करा), 0·23–1·20; अन्य शर्करायें (जैसे सूक्रोस), 0·98–3·15; कुल शर्कराएँ, 1·70–3·38; और राख, 0·50–0·84ग्रा./100 मिली. होती है. नारियल के किण्वित जल का उपयोग रबर-स्कंदक के रूप में किया जाता है. प्रति लीटर हेविया लेटेक्स (15% शुष्क रबर) के लिए 100 मिली. किण्वित जल की आवश्यकता होती है. नारियल के पानी का उपयोग खाद या कम्पोस्ट के रूप में हो सकता है. दूध में मिलावट के लिए इसका उपयोग किया जाता है (*Chem. Abstr.*, 1943, **37**, 281; Child & Nathanael, *Trop. Agriculturist*, 1947, **103**, 85; *Chem. Abstr.*, 1941, **35**, 5197).

नारियल की खोल (नरोटी) – नारियल की खोलों का उपयोग प्रायः ईंधन के रूप में किया जाता है. ये कमंडल, बड़े चम्मच, करवा, रबर लेटेक्स एकत्र करने के प्याले, ऐसे ही पात्रों के बनाने में भी काम आते हैं. इससे चूड़ियाँ, बटन एवं अन्य सस्ती वस्तुएँ भी बनाई जाती हैं. बताया गया है कि प्रति वर्ष कोचीन, मालाबार और बंगाल में एक करोड़ खोलों के हुक्के बनाये जाते है (*Rep. Marketing Coconuts*, 135; Child, *Curr. Sci.*, 1944, **13**, 4, 150).

किन्तु इन कार्यों में प्रयुक्त खोल सम्पूर्ण खोलों का अल्पांश है. भारत में प्रति वर्ष 400–500 हजार टन खोलें उपलब्ध हो सकती हैं जिनमें से केवल आधी ही एकत्रित हो पाती है. इन एकत्रित खोलों में से 2/3 जलाने के काम आती हैं और शेष अन्य कार्यों में प्रयुक्त होती हैं [*Rep. Marketing Coconuts*, 136; Moudgill, *Indian Coconut J.*, 1947–48, **1**(1), 27].

नारियल की खोलों का संघटन कठोर काष्ठों से मिलता-जुलता है. इनमें सेलुलोस का अंश कुछ कम होता है किन्तु लिग्निन अधिक होता है. विश्लेषण से प्राप्त परिणाम इस प्रकार है: आर्द्रता, 8·0; राख, 0·6; विलायक निष्कर्षित अंश, 4·2; लिग्निन, 29·4; पेण्टोसन, 27·7; यूरोनिक ऐनहाइड्राइड, 3·5; सेलुलोस, 26·6; मेथाक्सिल अंश, 5·6; और नाइट्रोजन, 0·11%. खोलों के पेण्टोसनों में अधिकतर जाइलोसन होते हैं जिनसे 4% सल्फ्यूरिक अम्ल द्वारा जल-अपघटन से प्रचुर मात्रा में जाइलोस प्राप्त हो सकता है. सान्द्र अम्ल के प्रयोग से फरफ्यूरल मिलता है (Child, *Trop. Agriculturist*, 1948, **104**, 38).

महीन चूर्णित नारियल की खोल का उपयोग प्लास्टिक उद्योग में पूरक की तरह किया जाता है और यह एक निर्यात करने योग्य सामग्री है. यह साँचे में ढाली गई वस्तुओं में चिकनी चमक उत्पन्न करती है और नमी तथा ऊष्मा के प्रतिरोध को बढ़ाती है. खोल को गर्म करने पर एक तेल-जैसा पदार्थ निकलता है जिसका उपयोग लकड़ी और लोहे को रँगने में किया जाता है. यह घावों पर मरहम के रूप में लगाया जाता है (Schueler, *Plastics*, 1946, **10**, 84; *Yearb. Dep. Agric., Madras*, 1927, 33).

1940 से पहले के वर्षों में गैस अधिशोषी कार्बन के उत्पादन में खोल के चारकोल की बहुत माँग थी. 1937–40 के बीच श्रीलंका ने 60,000 टन चारकोल का निर्यात किया जिसका मूल्य 40 लाख रु. था. इसी अवधि में दक्षिण भारत में भी नारियल की खोल के चारकोल का कुछ उत्पादन किया गया किन्तु अधिकांश निर्यातित चारकोल गड्ढे में जलाकर बना होने के कारण अशुद्ध होता था (Child, *Curr. Sci.*, 1944, **13**, 245).

1939 में श्रीलंका में नारियल की खोल का भंजक आसवन व्यापारिक पैमाने पर किया गया. इससे प्राप्त उपजात ये हैं: चारकोल, 35%; पायरोलिग्नियस अम्ल, 38·2%; जमा हुआ तार, 5·6%; और गैस. पायरोलिग्नियस अम्ल से प्राप्त पदार्थ हैं: ऐसीटिक अम्ल (अशुद्ध), 13·9; और काष्ठ स्पिरिट, ऐसीटोन सहित, 3·2%. 280° तक आसवन करने में जो कोलतार मिलता है उसमें 25% पिच होता है. कुल जमा हुए कोलतार में 30% फीनोल रहते हैं जिसमें साधारण फीनोल का अनुपात अधिक रहता है. ऊँचे ताप पर उबलने वाले फीनोलों की ठीक से खोज नहीं हो पाई है. ऐसा लगता है कि इनमें या तो ग्वाइआकॉल बिलकुल ही नहीं होता और यदि होता भी है तो वह बहुत ही कम मात्रा में. श्रीलंका सरकार के ऐसीटिक अम्ल कारखाने में किए गए खोल के औद्योगिक आसवन का विस्तृत वर्णन प्रकाशित हो चुका है (*Annu. Rep. Coconut Res. Scheme, Ceylon*, 1944, 6; Poti, *Indian Coconut J.*, 1948–49, **2**, 36).

ऑस्ट्रेलिया के एक पेटेण्ट के अनुसार नारियलों या इनके किन्हीं अंगों का वायुरुद्ध रिटार्ट में 150–800° पर आसवन करने से अनेक उपयोगी पदार्थ प्राप्त होते हैं. 550° पर आसवन करने से निम्नांकित उत्पाद मिले: चारकोल, 11·5; ईंधन गैस, 11·0; खोपरा स्पिरिट, 37·5; ओलीन आसुत, 12·5; काला तेल, 12·5; अशुद्ध ऐसीटिक अम्ल, 1; ग्लिसराल, 0·15; और ऐसीटोन तथा मेथिल ऐल्कोहल, 0·85%. चारकोल रन्ध्रमय और हल्का होता है और गैस हटाने, गंध हरने तथा विरंजीकरण में उपयोगी होता है. यह पूरक, ऊष्मारोधी एवं वर्णक के रूप में भी अत्यन्त उपयोगी है. गैस को अधिशोषी चारकोल की परत में होकर मार्जित किया जाता है (इस कार्य के लिए रिटार्ट में बचा अवशेष काम में लाते हैं) और बेंजीन और अन्य हल्के हाइड्रोकार्बन पुनः स्रवर में से प्राप्त कर लिए जाते हैं. विलयन में ऐसीटिक अम्ल मुख्य रूप से रहता है. गैस (ईंधन मान, 39,300 ब्रि.थ.इ./घमी.) को अकेले अथवा अन्य गैसों के साथ मिलाकर ईंधन की तरह काम में लाते हैं. तेल प्रभाज में बेंजीन मिलाकर मोटर-ईंधन तैयार किया जाता है. इसके ओलीन प्रभाज में ओलीक एवं अन्य वसा-अम्ल रहते हैं जो द्रव साबुन बनाने में उपयोगी हैं. काले तेल में फीनोल, क्रेसाल, ग्लिसराल तथा कोलाइडी कज्जल निलम्बित रहते हैं. इसका उपयोग चित्रकारी, निघर्षण तथा ईंधन के रूप में किया जाता है. यह बोरैक्स और क्युप्रिक ऑक्साइड के साथ मिलाकर भेड़ों के उपचार में प्रयुक्त हो सकता है (*Chem. Abstr.*, 1942, **36**, 3348).

नारियल की जटा (कॉयर) – नारियल की जटा को हरे छिलके से प्राप्त करते हैं. त्रावनकोर और कोचीन में, जहाँ विरंजन की सुविधाएँ प्राप्त हैं, नारियल की जटा का अच्छा

व्यवसाय होता है. जटा प्राप्त करने के लिए छिलके को जल के भीतर सड़ाकर मुलायम बनाते हैं जिसमें तन्तुओं को बाँध रखने वाले बन्धक पदार्थ विघटित होकर विलग हो जाते हैं. सड़ाने का कार्य पश्च-जलों में किया जाता है. सड़ने का समय (6–10 महीने) जल के ताप और उसके खारीपन के अनुसार बदलता रहता है. श्रीलंका में यह अवधि बहुत कम होती है. सड़े हुए छिलके को जल से धोकर लकड़ी के हथौड़े से पीटते हैं जिससे इसके रेशे विलग हो जाते हैं. रेशों को सुखाकर लकड़ी से हल्के-हल्के पीटते हैं और समय-समय पर उन्हें स्वच्छ करने वाले यंत्र में से होकर गुजारते रहते हैं. एक हजार छिलकों से 81 किग्रा. जटा प्राप्त होती है. नारियल की छीलन को सड़ाने की अनेक उन्नत विधियाँ निकाली जा चुकी हैं किन्तु भारत में इनमें से किसी का भी प्रयोग नहीं हुआ [E.M.B., *Coir*, 1933, 71; Baruah & Baruah, *Sci. & Cult.*, 1944–45, **10**, 201; 1945–46, **11**, 369: *Rep. Marketing Coconuts*, 133; Varier & Moudgill, *Indian Coconut J.*, 1947–48, **1**(3), 44].

तीन प्रकार के रेशे तैयार किये जाते हैं. ये हैं: चटाई के रेशे, शूक रेशे तथा घुंघराले रेशे. भारत के पश्चिमी घाट में तैयार होने वाले अधिकांश रेशे प्रथम प्रकार के होते हैं जिनके धागे बटकर उनसे कुटीर-उद्योग के रूप में चटाइयाँ, रस्से और सुतलियाँ तैयार की जाती है. घुंघराले रेशे बिना सड़ाई खोलों से प्राप्त होते हैं और चटाइयों तथा कमरों को सजाने के लिए सामग्री के लिए काम में लाये जाते हैं. भारत में शूक रेशों का उत्पादन नहीं किया जाता है (Karunakaran, *Indian Coconut J.*, 1948–49, **2**, 170).

श्रीलंका में मशीनों की सहायता से भी जटा निकाली जाती है. छिलकों को एक सप्ताह से लेकर एक महीने तक पानी के भीतर सड़ाते हैं और फिर लोहे के बेलनों द्वारा कुचलते हैं और रेशों को मशीनों द्वारा पृथक् करते हैं. 1,000 नारियल के छिलकों से लगभग 25 किग्रा. छोटे और कड़े रेशे और 62·5 किग्रा. गद्दी वाले रेशे प्राप्त होते हैं. छोटे और कड़े रेशों को, इनकी लम्बाई और गुणों के अनुसार वर्गीकृत करते और लच्छे बना लेते हैं. श्रीलंका, त्रिनिदाद एवं अन्य स्थानों पर बिना सड़ाये ही शुष्क छिलकों का कुछ कारखानों में क्रिस्टी-नोरिस खोल भंजक मशीन द्वारा अलग करते हैं. इससे चटाई बनाने वाले रेशे तैयार होते हैं. इसमें से निकला गूदा (मल) खाद की तरह इस्तेमाल होता है क्योंकि छिलकों में पोटैश का अंश सुरक्षित रहता है. यह अंश जल के साथ घुलकर बाहर नहीं जा पाता जैसा कि सड़ाये गये छिलकों में होता है (Nataraja, *Indian Coconut J.*, 1948–49, **2**, 77).

छिलकों की राख में K_2O, 30–35; और P_2O_5, 2% होता है. छिलके में पोटैश सरलता से विलेय अवस्था में रहता है. छिलकों से अधिकाधिक लाभ उठाने के लिए इन्हें भूमि में गाड़ देना चाहिए. सूखा पड़ने पर इनके द्वारा नमी को धारण करने का गुण महत्वपूर्ण होता है. इनकी स्पंजी रचना, जड़ों के विकास में सहायक होती है (Salgado, *Leafl. Coconut Res. Scheme, Ceylon*, No. 5).

जटा व्यवसाय में प्राप्त उपजात, जैसे कि नारियल जटा की धूलि या कोकोपीट, भूमि की भौतिक दशा सुधारने का काम करते हैं. इसकी खाद अच्छी नहीं होती किन्तु इसमें खरपतवारों के बीज नहीं रहते (Hume, *Madras agric. J.*, 1949, **36**, 574).

बिना काते रेशों का उपयोग नावों की दरारें भरने में किया जाता है. केबिल-निर्माण में जटा का रेशा अन्य समस्त रेशों से श्रेष्ठ माना जाता है. वह हल्का, लचीला और जल का प्रबल प्रतिरोधी होता है. जटा का उपयोग प्रघात-सह पैकिंग पदार्थों के लिए एवं कठोर गत्तों के उत्पादन में, जिनसे मेज के उपरले, दरवाजे, चौखटें और बैटरी रखने के पात्र बनाए जाते हैं, सफलतापूर्वक किया गया है. कच्चे नारियलों को उपचारित करके कठोर गत्ते बनाये गये हैं. इन गत्तों में आकर्षक चमक, उच्च तनन-सामर्थ्य और उच्च घनत्व होता है और ये रेल के डिब्बों के भीतरी भागों तथा छतों को तैयार करने में काम आते हैं (Matthews, 418; Menon, *J. sci. industr. Res.*, 1943–44, **2**, 172, 174).

मीठी ताड़ी या नारियल का रस बन्द स्पेडिक्स को भेद करके प्राप्त किया जाता है. इसके लिए स्पेडिक्स पर छोटे-छोटे मूसलों से हल्की चोट करते हैं, जैसा कि ताड़ से रस निकालने में किया जाता है. इसे निकालने की विधि, समय एवं अवस्था स्थान के साथ बदलती रहती है. रस निकालना शुरू करने के तीसरे माह में रस की मात्रा सर्वाधिक होती है. मीठी ताड़ी की प्राप्ति बदलती रहती है. एक ताड़ से एक दिन में औसतन 1·5 किग्रा. रस मिलता है. जिन पेड़ों पर अधिक ताड़ लगते हैं वे अधिक रस देते हैं. श्रीलंका में 600 मिली. से लेकर 3,000 मिली. तक रस मिलने का उल्लेख है. वर्ष में प्रायः आठ महीने रस निकाला जाता है और शेष चार महीने ताड़ को विश्राम देते हैं. श्रीलंका के आबकारी विभाग की गणना के अनुसार आठ महीने की रस निकालने की अवधि में औसतन प्रति ताड़ प्रति वर्ष 270 ली. रस मिलता है. यद्यपि बौने ताड़ों से कम रस मिलता है किन्तु इनसे रस निकालने का कार्य खर्चीला नहीं होता क्योंकि एक तो इनसे आसानी से रस निकल आता है और दूसरे इन वृक्षों को पास-पास लगाया जा सकता है. कहते हैं कि रस निकालते रहने से कम रस देने वाले वृक्षों से अधिक रस निकलने लगता है (Patel, 242; Browning & Symons, *J. Soc. chem. Ind., Lond.* 1916, **35**, 1138; *Trop. Agriculturist*, 1912, **39**, 392; Nambiyar, *Yearb. Dep. Agric., Madras*, 1923, **9**; Jack & Sands, *Malay. agric. J.*, 1929, **17**, 164).

ताजे रस का मुख्य अवयव स्यूक्रोस है. अकिण्वित रस के विश्लेषण मानों के परास इस प्रकार हैं: आ.घ.$^{20°}$, 1·058–1·077; कुल ठोस, 15·2–19·7; स्यूक्रोस, 12·3–17·4; राख, 0·11–0·41; प्रोटीन, 0·23–0·32 ग्रा./100 मिली. ताजे रस में ऐस्कार्बिक अम्ल की मात्रा 16–30 मिग्रा. प्रति 100 मिली. होती है और तीव्र किण्वन के समय 24 घंटे तक इसकी सान्द्रता में कोई परिवर्तन नहीं होता है. मीठी ताड़ी प्रशीतक और मूत्रल है (Browning & Symons, loc. cit.; Cowap & Goeke, *Analyst*, 1932, **57**, 627; Banerjee, *Curr. Sci.*, 1935–36, **4**, 28; Blatter, 519).

तालचीनी (जैगरी) – जब मीठी ताड़ी को छान करके क्रिस्टलन बिन्दु तक उबालते हैं तो चीनी (उपलब्धि, 12–15%) प्राप्त होती है. रस को बालू-छन्नों से छानकर और

इसमें थोड़ा-सा चूना मिलाने से प्रस्वेद्य चीनी प्राप्त होती है जिसका रंग हल्का होता है और यह अधिक समय तक सुरक्षित रह सकती है. नारियल से प्राप्त चीनी के विश्लेषण से निम्नलिखित परिणाम प्राप्त हुए: अविलेय पदार्थ, 1·52; राख, 2·19; आर्द्रता, 10·92; प्रोटीन, 1·64; प्रतीप शर्करा, 6·58; चीनी, 68·36; अनिश्चित कार्बनिक पदार्थ, 8·72% (Norris *et al.*, *Agric. J. India*, 1922, **17**, 353; Viswanath & Nair, ibid., 1924, **19**, 485; *Bull. Dep. Industr., Travancore*, No. 32, 1934, 3).

नारियल से प्राप्त तालचीनी का उत्पादन तमिलनाडु के कुछ जिलों में किया जाता है. सारणी 7 में 1948–49 का उत्पादन प्रदर्शित है. मीठी ताड़ी से शुद्ध चीनी बनाने की सम्भावनाओं पर बहुत विचार-विनिमय किया जा चुका है. इसमें जो मुख्य तकनीकी कठिनाई है वह पर्याप्त मात्रा में रस का एकत्र करना और उसे अकिण्वित अवस्था में केन्द्रीय परिष्करण-शाखा में संसाधन के लिए सुरक्षित रखना है. रस निकालने और एकत्रित करने में जो व्यय होता है वह समतुल्य गन्ने की कटाई और पेराई की लागत से अपेक्षाकृत बहुत अधिक होता है. दक्षिण भारत में लघु-उद्योग के रूप में गुड़ तैयार किया जा सकता है जिसे एकत्रित करके केन्द्रीय कारखाने में परिष्कृत कर लिया जावे (Child, *Ceylon Tr. J.*, 1936, **1**, 410).

किण्वित ताड़ी – यदि मीठी ताड़ी को ठीक से स्वच्छ काँच के बर्तन में रखा जावे तो यह बहुत समय तक किण्वित नहीं होती है किन्तु साधारण विधि से संचित करने पर इसका शीघ्र ही किण्वन होने लगता है. फिर भी यदि पात्र में चूना लगा दिया जाए तो तीव्र किण्वन रुक सकता है. खोजों से पता चला है कि रस में सल्फानिलैमाइड की सूक्ष्म मात्रा (1–6 भाग प्रति लाख भाग में अथवा 10–55 मिग्रा./ली.) मिलाने से रस को 5–20 दिन तक ताजी अवस्था में रखा जा सकता है (Browning & Symons, loc. cit.; Damodaran, *J. Indian Inst. Sci.*, 1928, **11A**, 63; Walawalkar, *Nature*, 1950, **165**, 370).

सारणी 7 – तमिलनाडु में तालचीनी का उत्पादन (1948–49)*

	वृक्षों की संख्या जिनका रस निकाला गया	उत्पादित चीनी	
		मात्रा (टन)	मूल्य (रु.)
कोयम्बतूर	38,608	629	3,67,319
दक्षिण कनारा	20,000	1,327	1,74,450
मालाबार	30,107	924	5,90,530
योग	88,715	2,880	11,32,295

*कृषि मंत्रालय के ताड़ गुड़ विभाग से प्राप्त आँकड़े.

किण्वित ताड़ी की खपत पेय पदार्थ के रूप में होती है. श्रीलंका के होटलों में बिकने वाली ताड़ी के नमूनों का विश्लेषण करने पर निम्नलिखित परिणाम प्राप्त हुए: आ. घ., 0·998–1·033 (औसत, 1·012); अम्लता (एसीटिक अम्ल के रूप में), 0·32–0·67% (औसत, 0·51%); ऐल्कोहल, 2·7–5·8% (औसत, 4·2%). इनके निम्नलिखित विश्लेषण सूचित हैं: जल, 98·3; प्रोटीन, 0·2; ईथर से निष्कर्षित पदार्थ, 0·1; कार्बोहाइड्रेट, 1·3; खनिज पदार्थ, 0·1; कैल्सियम, <0·01; फॉस्फोरस, 0·01%; विटामिन $बी_1$, <5 अं.इ. प्रति 100 ग्रा. (*Hlth Bull.*, No. 23, 1941, 44).

नारियल का सिरका – नारियल की ताड़ी 24 घंटे से अधिक समय तक किण्वित करते रहने से, ऐसीटिक किण्वन के कारण स्वादहीन हो जाती है. श्रीलंका, फिलिपीन्स तथा अन्य देशों में नारियल की ताड़ी से सिरके का व्यावसायिक उत्पादन किया जाता है. इकट्ठा किए गए इस रस को ऐसीटीकारक कुंडों में (900–1,350 ली. क्षमता वाले) डालकर किण्वन करते हैं और उन्हें हल्के लकड़ी के तख्तों और पटसन-हेशन या कभी-कभी नारियल के पर्णाग-पत्रों से ढक देते हैं जिससे हवा का आवागमन होता रहे. ऐसीटीकरण की क्रिया पूरी होने में लगभग 10–14 सप्ताह तक लग जाते हैं. अन्त में यीस्ट-वृद्धि की तह पात्र की पेंदी में बैठ जाती है और द्रव स्वच्छ दिखाई देने लगता है. तब ऐसीटीकृत सिरके को बन्द पीपों में भर कर पकने के लिए छोड़ देते हैं. यह पकने का समय भिन्न-भिन्न होता है और ज्यों-ज्यों समय बढ़ता जाता है इसका सुवास भी बढ़ता जाता है. कभी-कभी ऐसीटीकरण करते समय सिरके में काली-मिर्च, जायफल और दालचीनी मिलाकर सुवास उत्पन्न करते हैं. बोतलों में बंद करने से पूर्व सिरके को कैरामेल से रँग देते हैं.

श्रीलंका में प्रति वर्ष लगभग 2,70,000 ली. नारियल का सिरका तैयार किया जाता है. असली नारियल की ताड़ी के सिरके का संघटन इस प्रकार होता है: आ. $घ._{30°}^{30°}$, 1·010–1·013; निलम्बित पदार्थ, रंच मात्र से 0·006; ऐसीटिक अम्ल, 4·7–5·4; कुल ठोस, 1·25–1·36; राख, 0·41–0·51; पोटैश (K_2O), 0·16–0·19; नाइट्रोजन, 0·025–0·033 ग्रा./100 मिली. इसमें प्रायः औद्योगिक ऐसीटिक अम्ल की मिलावट की जाती है. मिलावट करने से सिरके में पोटैश का अंश घट जाता है और इसी आधार पर सिरके में मिलावट की पहचान की जा सकती है.

किण्वित ताड़ी को आसवित करके अर्क (किण्वित रस) तैयार किया जाता है. 4,500 ली. किण्वित ताड़ी से लगभग 787·5 ली. अर्क मिलता है [Daftary, *Indian Coconut J.*, 1947–48, **1**(2), 26].

श्रीलंका में सरकारी उत्पाद-शुल्क विभाग की देखरेख में बड़ी-बड़ी मद्यनिर्माणशालाओं में आसवन किया जाता है. 1924 के बाद ताड़ी बनाने एवं संग्रह करने, उसके परिपक्वन, और बोतलबन्दी की विधियों में अनेक सुधार किए गए हैं. सूचित वैश्लेपिक मान (भाग प्रति 1,00,000 परिशुद्ध ऐल्कोहल) इस प्रकार हैं: एस्टर, 164–258; कुल अम्ल, 116–158; अवाष्पशील अम्ल, 6–13; वाष्पशील अम्ल, 105–152; फरफ्यूरल, 0·45–1·32 (*Adm. Rep. Excise Commissioner, Ceylon*, 1939).

विविध उत्पाद – नारियल उत्पादक क्षेत्रों में नारियल का तना मकान बनाने के काम आता है लेकिन यह व्यापारिक इमारती लकड़ी नही है. इसका बाहरी काष्ठ सघन दानेदार, कठोर और भारी होता है, तो भी वह कुछ अन्य ताड़-वृक्षों के समान कठोर नहीं होता. इसका उपयोग सजावट के लिए पारकुपाइन काष्ठ के नाम से होता है. सिझाई गई लकड़ी में गहरी शराब के रंग के आकर्षक दाने होते हैं, और यह नक्काशी के लिए उपयुक्त होती है. तने के भीतरी कोमल भाग को निकाल देने के बाद उसके खण्डों से पानी निकालने की अवनालिकायें तथा मोरियाँ बनाई जाती हैं. किन्तु अस्थाई इमारतों, बाड़ों और धारक-दीवारों तथा ऐसे ही अन्य कार्यो के लिए नारियल के पेड़ का उपयोग वर्जित है क्योंकि सड़ने पर लट्ठों में काले भृंगों का प्रजनन होता है और वे नारियल के घातक नाशकजीव हैं (Pieris, *Trop. Agriculturist*, 1938, 90, 297).

पर्णांग-पत्रों के विश्लेषण से निम्नांकित मान प्राप्त हुए: **वृन्त और पर्णवृन्त** – आर्द्रता, 11·29; राख, 5·23; K_2O, 0·26; P_2O_5, 0·17; CaO, 0·27; MgO, 0·44%; **पर्णक** – आर्द्रता, 8·45; राख, 4·28; K_2O, 0·56; P_2O_5, 0·25; CaO, 0·28; MgO, 0·57%. नारियल के इलाकों में पर्णकों का उपयोग पलवार (मल्च) के रूप में होता है. इनका पेण्टोसन लिग्निन अनुपात कम होता है अतः खाद के लिए ये अधिक उपयोगी नहीं हैं. यद्यपि पत्तों के डंठल आसानी से सड़ जाते हैं किन्तु भृंगों के लिए आकर्षक प्रजनन-स्थान होने के कारण इन्हें खाद के लिए अथवा बाड़े बनाने के लिए जमीन में गाड़ने की सलाह नही दी जाती. सामान्य प्रथा यह है कि पत्तों के डंठलों को जलाकर राख प्राप्त कर ली जाती है जिसे वृक्षारोपण के समय खाद के रूप में इस्तेमाल करते हैं. जिन स्थानों में खोपरा (गिरी) को सुखाने के लिए गर्म वायु शुष्कक प्रयुक्त किये जाते है, वहाँ इन डंठलों से ईंधन का काम लिया जाता है. नारियल के पर्णांग-पत्रों को बुनकर उनसे छप्पर, परदे और अस्थायी दीवारें बनाने का काम लिया जाता है. बुनने के लिए डंठलों को काटकर अलग कर देते हैं और पर्णांग-पत्रों की काट-छाँट करने के बाद उन्हें लम्बाई में चीर लेते हैं. फिर इन्हें लचीला बनाने के लिए एक या दो दिन तक पानी में भीगने देते हैं. बाद में दो अर्धांशों के सिरों को पकड़ कर रखते हैं और तिरछा बुन दिया जाता है. बुने पर्णांग-पत्रों को हर दो वर्षों के बाद नया करना पड़ता है. पत्तियों से पंखे, छतरियों के चँदोवे और अनेक अन्य उपयोगी वस्तुएँ बुनकर बनाई जाती हैं (Sampson, 196; Patel, 240; Salgado, *Bull. Coconut Res. Scheme, Ceylon*, No. 3, 17; Dharmalingham, *Madras agric. J.*, 1918, 6, 323; Blatter, 517).

पर्णवृन्तों की मध्य शिराओं का उपयोग मजबूत झाड़ुओं, पक्षियों के पिंजड़ों, केंकड़े और मछली पकड़ने के जालों में होता है.

नारियल की पत्तियों से उपयोगी रेशा प्राप्त होता है. ताजी पत्तियों को पानी में उबालकर उन्हें ऊपरी और निचले दो अर्द्ध भागों में बाँट लेते हैं. फिर हर अर्ध भाग को हाथ से या किसी अन्य उपयुक्त विधि से चीरकर उचित चौड़ाई की पट्टियाँ बना ली जाती हैं. फिर इन पट्टियों को सोडियम कार्बोनेट विलयन (5–8%) के साथ उबालते हैं. इसके बाद साफ पानी से धोकर 1–3 दिन तक किसी विरंजक विलयन मे सीझने दिया जाता है और बीच-बीच में हिलाते रहते हैं. उन्हें पुनः धोकर छाया में सुखाया जाता है. इस प्रकार उपर्युक्त पट्टियों से चिकने, अर्ध-पारदर्शक और जलरुद्ध तन्तु प्राप्त होते हैं जो मजबूत, लचीले और हल्के होते हैं. कहा जाता है कि ऐसे पदार्थ के बने टोप और बानेट पनामा टोपों के समान ही उत्तम होते हैं. चटाइयों, थैलों और स्लीपरों को बनाने के लिए भी इन तन्तुओं का उपयोग किया जाता है (Matthews, 417).

नारियल की जड़ों की कोई व्यापारिक उपयोगिता नही है. कभी-कभी वे देशी औषध के रूप में इस्तेमाल की जाती हैं. जड़ों का क्वाथ कषाय होता है और वह मुंह धोने तथा गरारा करने के काम आता है. जड़ों को भूनकर और पीस कर दंत-मंजन बनाया जाता है. कली अथवा तने के शीर्ष का भीतरी भाग खाद्य है. अंकुरण की आरंभिक अवस्था में भ्रूण के बढ़ने से जो स्पंजी गेंद जैसा आकार बनता है वह खाने में अत्यन्त स्वादिष्ट होता है अतः इसका उपयोग व्यंजनों के अवयव के रूप में होता है.

उत्पादन और व्यापार

संसार के नारियल उत्पादक देशों में 1921 तक भारत का प्रथम स्थान था. उसके बाद स्थिति बदल गई. इण्डोनेशिया और फिलिपीन्स में उत्पादन बढ़ जाने से, अब भारत का तीसरा स्थान है. संसार के उत्पादन का लगभग 65% इन्हीं तीन देशों में होता है. अन्य नारियल उत्पादक देश श्रीलंका, मलाया, दक्षिणी समुद्री द्वीप-समूह (ओसीनिया), श्याम, इण्डोचीन, न्यूगिनी, पूर्वी अफ्रीका के कुछ भाग, मध्य तथा दक्षिणी अमेरिका और वैस्ट इंडीज हैं.

विभिन्न देशों में नारियल की खेती के क्षेत्रफल और उसके उत्पादन सम्बन्धी आँकड़े ठीक से ज्ञात नहीं हैं. अधिकांश प्रदेशों में ताड़ की खेती छोटे-छोटे और दूर-दूर तक फैले गाँवों में की जाती है जिनके आँकड़े उपलब्ध नहीं हैं (E.M.B., 61, *Survey of Oilseeds & Vegetable Oils*, II, 1932; Int. Inst. Agric., *Oils & Fats Production and int. Tr.*, pt I, 1939, 165).

भारत में केरल, तमिलनाडु, मैसूर, आन्ध्र प्रदेश तथा बंगाल और उड़ीसा के तटवर्ती क्षेत्रों में नारियल पैदा होता है. विभिन्न प्रदेशों में नारियल की खेती के क्षेत्रफल और उसके उत्पादन की 1970 के लिए सूचना सारणी 8 में संक्षेप में दी गई है.

अनुमानतः भारत में प्रति वर्ष लगभग 5 अरब नटों का उत्पादन होता है जिनमें से लगभग 70% केरल में, 4% आंध्र प्रदेश में, 11% मैसूर में, 9% तमिलनाडु में और शेष देश के अन्य भागों में पैदा होते हैं. अंडमान और निकोबार द्वीप समूहों के काफी क्षेत्रफल में नारियल की खेती की जाती है. पोर्ट-ब्लेअर में 1,000 हेक्टर भूमि में नारियल की खेती की जाती है. इन द्वीप समूहों से काफी अधिक मात्रा में नारियल का निर्यात किया जाता है (*Indian Coconut J.*, 1948–49, 2, 145).

सारणी 8 – भारत में नारियल के उत्पादन का क्षेत्रफल और उपज*

राज्य	क्षेत्रफल (1,000 हेक्टर)	क्षेत्रफल (प्रतिशत)	उत्पादन (लाख नट)	उत्पादन (प्रतिशत)
आन्ध्र प्रदेश	34·9	4	1,858	3
केरल	685·9	70	38,343	71
तमिलनाडु	88·9	9	7,348	14
मैसूर	108·2	11	4,486	8
गोवा, दमन, दीव	19·7		700	
अंडमान और निकोबार द्वीप	8·7		378	
महाराष्ट्र	9·2		328	
उड़ीसा	7·8		271	
प. बंगाल	6·7		220	
लक्षद्वीप, मीनीकाय और अमीनदीवी द्वीप समूह	2·7	6	182	4
पांडिचेरी	1·5		147	
असम	3·7		113	
त्रिपुरा	0·2		2	
कुल	978·1		54,376	

**Coconut Bulletin*, Aug. 70, Vol. 1, No. 4.

नारियल – नारियलों (नटों) के कुल उत्पादन का लगभग आधा गिरी बनाने और बाकी खाने तथा पौध उगाने के काम आता है. सूखे और कच्चे दोनों ही प्रकार के नारियल खाने के काम आते हैं. ताज़े नारियलों की खपत उत्पादक केन्द्रों के आसपास ही हो जाती है. सूखे नट (कोट्टाई या सूखा के नाम से ज्ञात) तोड़े हुए नटों को 8–10 महीनों तक संग्रह करने के बाद प्राप्त होते हैं और ये देश के विभिन्न भागों में बिकने के लिए भेज दिए जाते हैं. नटों को तीन श्रेणियों में विभाजित किया जाता है: बड़े, मँझोले और छोटे या फिर बिना छिलकेदार, आंशिक छिलकेदार और छिलकेदार. इन्हें 1,000 की ढेरी के हिसाब से बेचा जाता है (*Rep. Marketing Coconuts*, 101).

गिरी या खोपरा – खाने और पेरने के लिए इस्तेमाल होने वाले नटों का अनुपात विभिन्न प्रदेशों में अलग-अलग है. गिरी की अधिकांश मात्रा भारत के पश्चिमी समुद्र-तट में पैदा की जाती है. पेरी जाने वाली गिरी प्रायः त्रावनकोर, और कोचीन में तथा तमिलनाडु के मालाबार और दक्षिणी कनारा जिलों में पैदा होती है. मैसूर में और तमिलनाडु के गोदावरी जिले में पैदा होने वाली गिरी की संपूर्ण मात्रा खाने के काम आती है.

गिरी का श्रेणी विभाजन उसके आकार तथा बाहरी छिलके और गिरी के रंग के अनुसार किया जाता है. विभिन्न स्थानों की गिरी में विशेष गुण पाये जाते हैं. खाद्य गिरी का विभाजन मोटे तौर पर दो श्रेणियों में किया जाता है. गोला और प्याला. इन दोनों श्रेणियों को आकार और उत्पत्ति-स्थान के आधार पर पुनः विभाजित किया जाता है. मैसूर की गोला गिरी मालाबार की अपेक्षा उत्तम मानी जाती है और गोदावरी जिले की गिरी इन दोनों के बीच की कोटि की मानी जाती है. प्याला गिरी का वर्गीकरण गिरी की सफेदी के अनुसार किया जाता है. बाहरी त्वचा के रंग के अनुसार उसका लाल और काली दो श्रेणियों में पुनः विभाजन किया जाता है. खूब तैयार नटों से निकली गिरी का छिलका काला होता है किन्तु कम तैयार नटों की गिरी का छिलका लाल रहता है. पेरी जाने वाले गिरी का श्रेणी-विभाजन भी इसी प्रकार किया जाता है जिनमें से सबसे उत्तम किस्म **वेट्टुमेनी** अथवा 'आफिस पास' है. अन्य किस्में **थिरु राशि, राशि** और **काजिप्पु** हैं. पेरी जाने वाली गिरी के कोटि-निर्धारण में उसकी शुष्कता की प्रतिशतता महत्वपूर्ण मानी जाती है (*Rep. Marketing Coconuts*,113).

गिरी के सबसे महत्वपूर्ण व्यापारिक केन्द्र पश्चिमी तट में अल्लेप्पि, कालीकट, बड़ागरा, कोचीन, पोन्नानि, मंगलोर और कन्नानोर; मैसूर में आर्सिकेर और तिप्तूर; गोदावरी डेल्टा प्रदेश में अम्बाजीपेट, बोडासकुरु, राजोल, नरसापुर और पालाकोल तथा कावेरी डेल्टा प्रदेश में अय्यामपेट, अदिरापतनम, ताम्बिकोटाइ और मुटुपेट हैं (*Indian Coconut J.*, 1948–49, 2, 227; 1949–50, 3, 45, 106).

देश में 1967 में 2,74,300 टन गिरी का उत्पादन हुआ. यह उत्पादन फिलिपीन्स तथा इण्डोनेशिया के बाद तीसरे क्रम पर आता है (सारणी 9).

देश के अन्दर खपत होने वाली गिरी की अधिकांश मात्रा सड़क, रेल, अथवा तटीय जहाजरानी द्वारा व्यापारिक केन्द्रों को भेजी जाती है. प्रति वर्ष खाने के काम आने वाली गिरी की मात्रा का मोटा अनुमान इस प्रकार है: महाराष्ट्र – 15,000 टन; मैसूर – 7,000 टन; उत्तर प्रदेश – 6,000 टन; पंजाब – 4,000 टन; तमिलनाडु – 2,000 टन; आन्ध्र प्रदेश – 2,000 टन; बंगाल – 1,000 टन; तथा अन्य – 5,000 टन (*Rep. Marketing Coconuts*, 57).

नारियल का तेल – तेल के प्रमुख उत्पादक केन्द्र त्रावनकोर, कोचीन, मालाबार, दक्षिणी कनारा और बम्बई में स्थित हैं. अनुमानतः गिरी पेरने में 15,000 घानियाँ, 14,000 घर्णी मिलें, और 35 तेल निकालने वाले यंत्र लगे हैं. विभिन्न क्षेत्रों में पेरी जाने वाली गिरी की अनुमानित मात्रा इस प्रकार है: त्रावनकोर – 80,000 टन; तमिलनाडु – 42,000 टन; महाराष्ट्र – 30,000 टन; कोचीन – 28,000 टन; और अन्य – 3,000 टन (*Rep. Marketing Coconuts*, 60).

पेर कर निकाला हुआ नारियल का तेल पेरी गई गिरी के भार का 58 से 65% होता है. यह मात्रा गिरी में विद्यमान तेल की मात्रा और प्रयुक्त उपकरणों की क्षमता पर निर्भर करती है. 2,23,000 टन गिरी पेरने से लगभग 1,38,000 टन तेल और 79,000 टन खली प्राप्त होती है (2,23,000 टन गिरी में से 1,76,000 टन भारत में पैदा होती है और शेष 47,000 टन बाहर से मँगाई जाती है) (*Rep. Panel on Oils and Soaps Industr.*, 1948, 9).

भारत में प्रति वर्ष 1,50,000 टन नारियल के तेल की खपत होती है जिसका ब्योरा इस प्रकार है: खाने के लिए 66,000

सारणी 13 – विश्व के प्रमुख देशों में गिरी का आयात*
(1,000 मैट्रिक टन)

	1966	1967	1968	1969
एशिया :				
भारत	33·8	23·7	17·8	7·0
इजरायल	107·6	112·1	126·1	50 4
हांगकांग	10·9	..	..	..
पाकिस्तान	10·5	2·0	0·4	1·2
प. मलेशिया	26·7	15·4	16·6	6·9
प. यूरोप :				
जर्मन फेडरल रिपब्लिक	289·0	237·9	157·1	10·0
नीदरलैंड	167·7	125·9	141·7	77·1
डेनमार्क	32·0	21·0	24·1	16·8
नार्वे	31·3	17·7	20·1	9·6
स्वीडेन	71·9	67·1	45·0	20·2
अमेरिका :				
अमेरिका	243·3	276 6	291·8	126·8
अफ्रीका	7·6	3·0	5·2	3·0
पूर्वी यूरोप और सोवियत देश :				
मेडागास्कर	3·4	2·2	2·7	1·8
ओसीनिया :				
ऑस्ट्रेलिया	34 0	29·4	29·5	16·2
न्यूजीलैंड	3·2	5·4	5·3	3·3

**Coconut Situation*, Food & Agriculture Organization of the United Nations No 22.

असम, बिहार और उत्तर प्रदेश की कलकत्ता बन्दरगाह से होती है उड़ीसा और आन्ध्र प्रदेश की आवश्यकता गोदावरी क्षेत्र से पूरी होती है (*Rep. Marketing Coconuts*, 108, 117, 122).

मूल्य – नारियल और उसके उत्पादों का मूल्य उनकी कोटि के अनुसार भिन्न-भिन्न होता है. इनका मूल्य-निर्धारण नट के आकार पर निर्भर करता है : छोटे-छोटे नटों की अपेक्षा बड़े नटों का अधिक मूल्य होता है, ताजे नटों की अपेक्षा संग्रहीत नटों से अधिक कीमत मिलती है. जिन स्थानों में सड़ाने की सुविधा होती है, वहाँ छिलकेदार नट अधिक मूल्य में बिकते हैं किन्तु भीतरी इलाकों में जहाँ ऐसी सुविधायें प्राप्त नहीं है, छिलकेदार और बिना छिलकेदार नटों का मूल्य लगभग एक ही-जैसा होता है.

गिरी का मूल्य उसमें रहने वाले तेल की मात्रा के अनुसार बदलता रहता है. चिपटी गिरी की अपेक्षा गोल गिरी का मूल्य अधिक होता है तथा खाद्य गिरी पेरने योग्य गिरी से ऊँचे मूल्य पर बिकती है. पेरने योग्य गिरी का मूल्य तेल के मूल्य के अनुसार घटता-बढ़ता रहता है.

भारतीय बाजारों में नारियल के तेल का मूल्य संसार के अन्य बाजारों से, विशेषतः लंदन और कोलम्बो के बाजारों के अनुरूप, घटता-बढ़ता है. स्वच्छ, सफेद, न्यून मुक्त वसा-अम्लों वाला और कीचट रहित तेल ऊँचे मूल्यों में बिकता है. नारियल के तेल का मूल्य गिरी के मूल्य का लगभग डेढ़ गुना होता है किन्तु नारियल के तेल अथवा गिरी के मूल्य की घटबढ़ का प्रभाव खली के मूल्य पर विशेष नहीं पड़ता है (*Rep. Marketing Coconuts*, 155).

1930–40 के बीच श्रीलंका से सस्ती गिरी और नारियल के तेल के आयात से भारतीय बाजारों में बाढ़ आ गई थी जिससे उनके मूल्यों में भारी गिरावट हुई थी. इसके अतिरिक्त आम आर्थिक मन्दी तथा दूसरे तेलों और वसाओं के अधिक उत्पादन से कीमतें और भी कम हो गयीं थीं. 1940 के बाद, विशेषरूप से जब श्रीलंका से निर्यातित गिरी और नारियल के तेल की कुल मात्रा ब्रिटेन के युद्धपूर्ति मंत्रालय ने खरीद ली तो मूल्य एकाएक बढ़ गए. साबुन और शृंगार उद्योगों के प्रसार होने से भी देश में नारियल के तेल की माँग बढ़ी है. 1946 के अंत तक तो मूल्य इतने बढ़ गए थे कि सरकार ने गिरी और नारियल के तेल के मूल्यों पर नियंत्रण करना आवश्यक समझा. उसने महत्वपूर्ण उत्पादक और खपत वाले स्थानों में गिरी और नारियल के तेल के न्यूनतम और अधिकतम मूल्य निर्धारित कर दिए. सभी उत्पादक क्षेत्रों में गिरी का न्यूनतम मूल्य 800 रु. प्रति टन और नारियल के तेल का न्यूनतम मूल्य 1,230 रु. प्रति टन नियत कर दिया गया. जुलाई 1970 में नारियल और उसके उत्पादों के मूल्य सारणी 14 में दिए गए हैं [Thomas, *Indian, Coconut J.*, 1947–48, **1**(1), 22; *Coconut Bulletin*, 1970, **1**(4)].

Vigna catjang; *Crotalaria striata* DC.; *Tephrosia candida* DC.; *Calopogonium mucunoides* Desv.; *Centrosema pubescens* Benth.; *Oryctes rhinoceros* Linn.; *Metarrhizium anisopliae* Metch.; *Scoliidae*; *Rhynchophorus ferrugineus* Fab.; *Nephantis serinopa* M.; *Trichospilus pupivora* F.; *Aspidiotus destructor* Sign.; *Chilocorus nigritus* F.; *Phytophthora palmivora* Butler; *Gloeosporium*

सारणी 14 – नारियल उत्पादों का मूल्य*
(1 से 31 जुलाई 1970 तक)

	कोचीन (रु.)	अलेप्पी (रु.)	कालीकट (रु.)
प्रति 1,000 जटा रहित नारियल	542·50 से 562·50	587·50 से 600 00	532·00 से 555·00
गिरी (प्रति क्विंटल)	440·00 से 460·00	455·00 से 495·00	465·00 से 485·00
नारियल का तेल (प्रति क्विंटल)	680 00 से 692·00	680·00 से 691·25	695·00 से 710·00
नारियल की खली (प्रति क्विंटल)	103·75 से 107·50	101·25 से 105·00	101·00 से 111·50

**Coconut Bulletin*, Aug. 1970, Vol. 1, No. 4.

spp.; *Helminthosporium halodes* Drechsler; *Colletotrichum paucisetum* Petch; *Gliocladium roseum* Bainier; *Botryodiplodia theobromae* Pat.; *Macrophomina phaseoli* (Maubl.) Ashby; *Fusarium* sp.; *Penicillium* spp.; *Ceratostomella paradoxa* (de Seynes) Dade.; *Pestalotia palmarum* Cke.

कोक्को – देखिए अल्विज़िया लेबेक

कोक्यूलस द कन्दोल (मेनिस्पर्मेसी) COCCULUS DC.

ले. – कोक्कूलूस

यह अधिकांशतः आरोही झाड़ियों की 20 जातियों का वंश है जो उष्णकटिबन्धी तथा उपोष्ण क्षेत्रों में पाया जाता है.
Menispermaceae

को. पेण्डुलस (फोर्स्कल) डिल्ज़ सिन. को. लोएवा द कन्दोल C. pendulus (Forsk.) Diels.

ले. – को. पेण्डूलूस

D.E.P., II, 397; Fl. Br. Ind., I, 102.

पं. – इलारविलार परवत्ती; गु. – परवत्ती; सिंधी – उलार-विलार; ते. – दुसरातिगे.

यह एक आरोही झाड़ी है जो पश्चिमी भारत के अधिक शुष्क भागों में, पंजाब, सिन्ध तथा कर्नाटक में पाई जाती है. इसकी जड़ अँतरा ज्वर में दी जाती है तथा **ऐनामिर्टा कोक्यूलस** के प्रतिस्थापी के रूप में प्रयोग की जाती है. इसमें दो ऐल्कलायड; पेलोसीन, 2%; तथा सैंगोलीन, 3%; और एक एमेरॉयड, कोलम्बिन, रहते हैं. कहा जाता है कि अरबवासी इसके फलों के रस से एक मादक पेय बनाते हैं (Wlth India, I, 75; Caius, *J. Bombay nat. Hist. Soc.*, 1938, **40**, 85).
Anamirta cocculus

को. हिरसुटस (लिनिअस) डिल्ज़ सिन. को. विलोसस द कन्दोल C. hirsutus (Linn.) Diels

ले. – को. हिरसूटूस

D.E.P., II, 397; Fl. Br. Ind., I, 101.

सं. – वासन्ती निवत, पाताल गारुड़ी; हि. – जामतीकी बेल; बं. – हूयेर; गु. – वेवर्ती; म. – वमन वेल; त. – काट्टुक्कोड़ी; ते. – दुसाराडटिगे; क. – धगडी बल्ली, दुसरी बल्ली.

यह एक आरोही झाड़ी है जो पूरे भारत में पाई जाती है. पत्तियों के रस में एक म्यूसिलेज होता है जिसे पानी के साथ मिलाने पर एक जेली बनती है जो सुजाक में शीतलकारी औषध के रूप में दी जाती है. अपरस, खाज तथा इम्पेटिगो में इसका लेप किया जाता है. इसकी जड़ कड़वी, रूपान्तरक, मृदु विरेचक तथा शामक होती है और दूसरे अवयवों के साथ, पैत्तिक दुष्पचन, आमवात तथा बच्चों के पेट के दर्द में दी जाती है (Kirt. & Basu, I, 87; Dymock, Warden & Hooper, I, 57; Nadkarni, 228).

को. लारीफोलियस द कन्दोल एक सीधी झाड़ी अथवा छोटा पेड़ है जो पूर्वी भारत तथा उपोष्ण हिमालयी भागों में पाया जाता है. इसकी छाल तथा पत्तियों में कोक्लारीन, $C_{17}H_{19}O_3N$, ग.वि. 221°, होता है जिसकी क्रिया लकवा उत्पन्न करने वाले वानस्पतिक विष की भाँति होती है. मलाया में इस विष को बाणों में लगाया जाता है (Wehmer, I, 332; Caius, loc. cit.).
C. villosus DC.; *C. laurifolius* DC.

कोक्यूलस इंडिकस – देखिए ऐनामिर्टा

कोक्लोस्पर्मम कुंथ (कोक्लोस्पर्मेसी) COCHLOSPERMUM Kunth

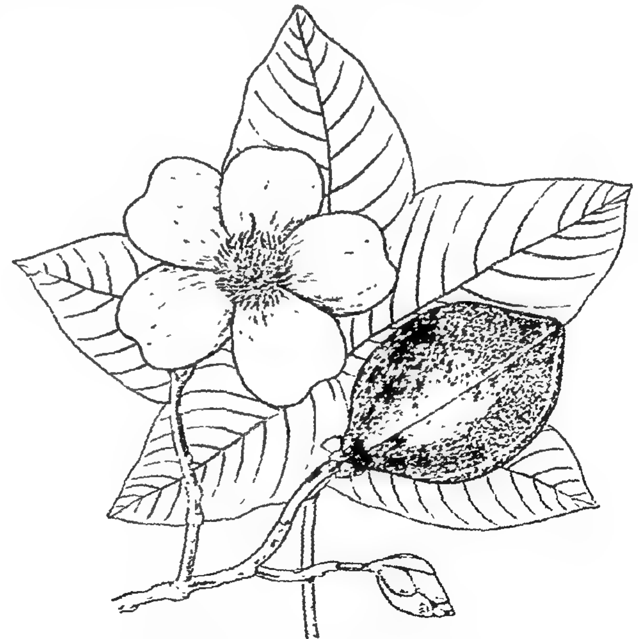
ले.–काक्लोस्पेरमूम

यह उष्ण क्षेत्रीय वृक्षों और झाड़ियों की लगभग 20 जातियों का वंश है जिनमें से का. **रिलिजिओसम** भारत में आमतौर से पायी जाती है.
Cochlospermaceae

को. रिलिजिओसम लिनिअस ऐल्सटन सिन. को. गॉसीपियम द कंदोल C. religiosum (Linn.) Alston सिल्क काटन ट्री

ले. – का. रेलिजिओसूम

D.E.P., II, 413; Fl. Br. Ind., I, 190.



चित्र 81–कोक्लोस्पर्मम रिलिजिओसम

अरबी–कतीरा; हिं.–कुम्बी, गलगल; म.–गणेरी, गांगले; ते.–कोण्डागोगु, कोंगु; त.–कोंगीलम, तनक्कु; क.–अरसिनबुरुग अडवीबुरुग; मल.–अप्पाकुडक्का; उ.–कोन्तोपलास.

यह छोटा या मँझोले आकार का पर्णपाती, मुलायम काष्ठ वाला वृक्ष है जिसकी ऊँचाई 2·4–5·4 मी. तक और व्यास 30 सेंमी. तक होता है. पत्तियाँ हस्ताकार, 5-पालि वाली; फूल बड़े चटक पीले शाखों के अग्रभाग पर गुच्छाकार होते हैं. पतझड़ के बाद दिसम्बर से अप्रैल तक फूल बराबर खिलते रहते हैं, जिनके बाद नाशपाती के आकार के डोंडीदार 5–7·5 सेंमी. व्यास के फल लगते हैं जो जून–जुलाई तक पक जाते हैं.

यह वृक्ष गढ़वाल, बुन्देलखंड और पश्चिमी उपहिमालयी क्षेत्रों से लेकर बंगाल, बिहार, उड़ीसा, मध्य भारत और दक्षिण प्रायद्वीप तक सारे भारत में पाया जाता है. यह विशेष रूप से उष्ण, शुष्क तथा पथरीले भागों में सामान्य है. यह उन गिनी-चुनी जातियों में से है जो जंगलों में लगने वाली आग को सह सकती हैं. खुली, चट्टानी और अनाच्छादित पहाड़ियों के वनरोपण में यह उपयोगी सिद्ध हुआ है. इसे अक्सर मन्दिरों के अहातों तथा उद्यानों में अपने सुन्दर पीले फूलों के लिए लगाया जाता है (Talbot, I, 72; Gamble, 37).,

कतीरा गोंद इस पौधे से प्राप्त होता है जो रेशेदार, गहरी खाँचेदार छाल से रिसता है. देखने में तथा गुणों में यह गोंद **स्टरक्यूलिया यूरेन्स** रॉक्सबर्ग से प्राप्त कड़िया गोंद के समान होता है और इसी नाम से पुकारा भी जाता है. इसे हाग गोंद भी कहते हैं. इसका प्रयोग ट्रेगेकैन्थ गोंद (**एस्ट्रेगेलस गमीफर** ला विलार्डिएरे **से प्राप्त**) के स्थान पर किया जाता है. कतीरा गोंद हल्का पीला, अर्धपारदर्शक, आड़ी धारियों वाला तथा चपटे शल्कों में उपड़ने वाला होता है. नम हवा लगने पर यह धीरे-धीरे ऐसीटिक अम्ल बनाता है. यह जल में अविलेय है किन्तु जल के सम्पर्क में आने पर फूल कर एक पारदर्शी लेई का रूप धारण कर लेता है. एक भाग कतीरा और 3 भाग अरबी गोंद को जल में मिलाने से चिपकाऊ लेई तैयार होती है.

गोंद में 50% से अधिक पेण्टोसन और गैलेक्टन रहता है और खनिज अम्लों के साथ जल-अपघटित होकर यह 14% ऐसीटिक अम्ल, गोण्डिक अम्ल, $C_{23}H_{28}O_{21}$, α-कोक्लोस्पर्मिक अम्ल, जाइलोस, और गैलैक्टोस बनाता है. गत कुछ वर्षों से इस गोंद का तथा कड़िया गोंद का महत्व बहुत कुछ बढ़ गया है और अब प्रति वर्ष इसकी हजारों किग्रा. मात्रा तैयार की जाती है. इन गोंदों का प्रयोग सिगार चिपकाने और आइसक्रीम जमाने के उद्योग में होता है. कागज और चमड़े के उद्योगों में तथा सूती वस्त्रों की छपाई में ट्रेगेकैन्थ गोंद के स्थान पर यही गोंद काम में लाया जाता है. टसर रेशम पर पालिश करने में भी इसका प्रयोग किया जाता है. यह गोंद स्वाद में कुछ मीठा, शीतलता पहुँचाने वाला, शामक और खाँसी में गुणकारी है. कहा जाता है कि सुखाई हुई पत्तियाँ और फूल उद्दीपक होते हैं (Wehmer, II, 797; Hill, 170; Kirt. & Basu, I, 215).

बीजों को लपेटने वाली रुई मुलायम और लचीली होती है. जावा कपोक (**साइबा पेण्टैण्ड्रा से निकली**) और भारतीय कपोक (**सालमेलिया मालाबारिका से निकली**) के स्थान पर यह रुई गद्दों, तकियों और गद्दियों तथा जीवन-पेटियों में भरने के लिए काम में लाई जा सकती है. इसमें 45·9–46·3% सेलुलोस रहता है. यह रुई अन्य व्यापारिक रुइयों से घटिया किस्म की होती है. बीज छोटे, गुर्दे के आकार के तथा कठोर आवरण से युक्त होते हैं, गिरी की महक कुछ बादाम की सी और स्वाद हल्का कड़वा होता है. बीज के विश्लेषण से निम्नलिखित मान प्राप्त हुए हैं: आर्द्रता, 9·25; ईथर निष्कर्ष, 14·25; ऐल्बूमिनी पदार्थ, 20·94; कार्बोहाइड्रेट, 35·78; अशोधित तन्तु, 14.63; और राख, 5·15%. ताजे पेरे हुए तेल का रंग भूरा होता है किन्तु विसरित प्रकाश में कई दिनों तक खुला रखे रहने पर हल्का पीला हो जाता है. इस तेल में एक विशिष्ट स्वाद और गंध होती है. तेल का आ.घ.$^{15°}$, 0·922; साबु. मान, 186·29; आयो. मान, 95·97; अम्ल मान, 14·24; हेनर मान, 95·19; आर. एम. मान, 0·19; और जमनांक, 1° है. यह न सूखने वाला तेल है जिसका प्रयोग साबुन बनाने में हो सकता है. तेल पेरने के बाद बची हुई खली से ऐल्बुमिनॉयड, 21·5; तेल, 8·1; कार्बोहाइड्रेट, 39·88; तन्तु, 15·17; और राख, 5·45% रहती है. यह पशुओं को खिलाने और खाद के रूप में काम में लाई जा सकती है (*Bull. imp. Inst., Lond.*, 1905, **3**, 221; Dey, *Agric. Ledger*, 1906, No. 5, 115).

लकड़ी मुलायम और हल्की होती है (272 किग्रा./घमी.) और इमारती लकड़ी के रूप में अनुपयोगी है. वृक्ष की छाल से जहाजी रस्सों के लिए रेशा मिलता है.

C. gossypium DC.; *Sterculia urens; Astragalus gummifer* Labill.; *Ceiba pentandra; Salmalia malabarica*

कोक्सकोम्ब – देखिए सिलोशिया

कोक्सफुट – देखिए डैक्टिलिस

कोचीनियल या किरमिजी रंजक COCHINEAL

ले. – कोचिनेआल

D.E.P., II, 398; C.P., 347.

बं. – करमदाना; म. – किरमज; पंजाब – किर्म.

कोचीनियल या किरमिजी रंजक में कोचीनियम कीटों (गण – **होमोप्टेरा**; कुल – **काक्सीडी**; वंश – **डैक्टिलोपियस**) के सुखाए गए शव रहते हैं. ये कीट काँटेदार नागफनी पर पलते हैं और इनका उपयोग कार्मीन नामक सिंदूरी रंग प्राप्त करने के लिए किया जाता है. ये कीट अन्य मीलीबगों से इस बात में भिन्न हैं कि इनके शरीर में एक गहरा किरमिजी रंजक रहता है. ये मैक्सिको, पीरू तथा मध्य अमेरिका के देशी कीट हैं. वहीं से ये अन्य देशों में लाए गए हैं.

इस कीट के नरम, अण्डाकार तथा खंडित शरीर के ऊपर एक मोमीला रक्षक आवरण चढ़ा रहता है जो मोम-छिद्रों द्वारा स्रवित होता है और त्वचा के ऊपर पुंज रूप में वितरित रहता है. इनके शरीर पर अनेक खंडित काँटे भी रहते हैं. मादाएँ पंख-रहित तथा अर्धगोलाकार, और साधारणतः उन पौधों से सटी रहती हैं जिनसे वे अपना भोजन ग्रहण करती हैं. नरों में दो पारदर्शक पंख तथा शरीर के पिछले सिरे पर दो पतले

मोमी प्रवर्ध होते हैं. नर तथा मादा के सिर में यह अन्तर रहता है कि नर के सिर पर एक अल्पवर्धित चोंच और दो लम्बी परयुक्त स्पर्श शृंगिकाएँ होती हैं.

डैक्टिलोपियस की तीन जातियाँ ज्ञात हैं, जिनके नाम हैं: **डै. कोकस** कोस्टा (**कोकस कैक्टाई** लिनिअस), **डै. इण्डिकस** ग्रीन, तथा **डै. टोमेण्टोसस** लामार्क. इनमें से **डै. कोकस** व्यापार में **ग्रैना फिना** के नाम से प्रसिद्ध है और विशुद्ध किरमिजी रंजक का स्रोत है. अन्य दो जंगली रूप हैं. इनसे घटिया किस्म का किरमिजी रंजक, **ग्रैना सिल्वेस्ट्रिस**, मिलता है. **डै. कोकस** आकार तथा संरचना में जंगली जातियों से भिन्न है. इसका आकार बड़ा और शरीर का मोमीला आवरण पतला होता है. त्वचा के मोम-छिद्रों के किनारे मोटे होते हैं और पुंजों में पाए जाते हैं. दंडित काँटे भी बहुत स्पष्ट नहीं होते हैं. **डै. कोकस** के एक किग्रा. भार में 44,000 से अधिक कीट रहते हैं जिनसे 45 ग्रा. रंजक प्राप्त होता है. **ग्रैना फिना** अल्जीरिया, कैलिफोर्निया, मैक्सिको, पीरू, केनेरी द्वीप, जावा, वेस्ट इण्डीज, दक्षिणी स्पेन, तथा अन्य यूरोपीय देशों में तैयार किया जाता है (Ayyar, *Agric. Live-Stk India*, 1931, **1**, 229).

भारत में कई बार **डै. कोकस** लाया गया किन्तु **नोपालिया कोचीनिलोफेरा** साल्म-डिक सिन. **ओपन्शिया काक्सीनेलीफेरा** तथा **ओ. टूना** नामक अपने भक्ष्य पौधों के अभाव में यह स्थापित नहीं हो पाया. बाहर से मँगाए गए **नो. कोचीनिलीफेरा** पौधों में इसे संवर्धित करने के प्रयत्न सफल नहीं हुए.

डै. इण्डिकस को भारत में दक्षिणी अमेरिका से लाया गया और यहाँ पर 170 वर्षों से है. इसके त्वचीय छिद्र अस्पष्ट और मोटे किनारों से रहित होते हैं. इसमें असंख्य दंडित काँटे रहते हैं. यह **ओपन्शिया वल्गेरिस** (**ओ. मोनाकैंथा**) पर अपना जीवन निर्वाह करता है. एक किग्रा. **डै. इण्डिकस** में लगभग 1,55,000 प्राणी होते हैं जिनसे 45 ग्रा. रंजक प्राप्त होता है. किसी समय ये कीट तथा वे पौधे, जिन पर ये रहते हैं, सारे भारत में दूर-दूर तक पाए जाते थे किन्तु अब उत्तरी भारत में वे कम हो गए हैं और दक्षिण से एकदम लुप्त हो चुके हैं. **डै. इण्डिकस** श्रीलंका, कैलिफोर्निया, न्यूयार्क तथा अर्जेंटाइना में पाया जाता है (Ayyar, loc. cit.).

डै. टोमेंटोसस जो काँटेदार नागफनी, **ओपन्शिया डिलेनाई** को खाता है, कई लक्षणों में **डै. इण्डिकस** के समान है. इसके भी त्वचीय मोम-छिद्र **डै. इण्डिकस** की भाँति अस्पष्ट होते हैं परंतु कुछ बड़े पुंजों में पाए जाते हैं. साथ ही साथ अनेक छितरे हुए एकाकी छिद्र भी होते हैं. दंडित काँटे स्पष्ट एवं असंख्य होते हैं किन्तु आधार सँकरे होते हैं. यह 1926 में कँटीली नागफनी के विस्तार को रोकने के लिए श्रीलंका से भारत लाया गया था. यह दक्षिण भारत में तुरंत ही फैल गया और अब तूतीकोरिन, तिन्नेवेली, मदुरा, रामनद, तंजौर, नेगापट्टम, कुड्डलोर तथा अन्य जिलों में पाया जाता है. जंगली कोचीनियलों में यह सबसे छोटा होता है और इसके एक किग्रा. भार में 1,55,000 से अधिक प्राणी रहते हैं (Ayyar, loc. cit.).

विभिन्न जातियों का जीवनवृत्त स्थान तथा जलवायु के अनुसार काफी परिवर्तित होता रहता है. अनुकूल परिस्थितियों में एक वर्ष में 3 से 5 तक पीढ़ियाँ जन्म ले सकती हैं. अकेली मादा लगभग 200 अण्डे देती है जो तार के रूप में एक सेल में, जो शरीर के गुदा भाग के सिकुड़ने से बनता है, बाहर कर दिए जाते हैं. अंडे फूटने के बाद निम्फ सेल से निकल आते हैं और कैक्टस के रसीले तनों पर झुंड के झुंड बैठ जाते हैं. अंडे से निकले निम्फ, लाल बच्चे जैसे लगते हैं. उनमें लिंग-भेद नहीं किया जा सकता. कुछ दिनों तक तनों पर घूमने के बाद निम्फ परस्पर लिपट कर झुंड बना लेते हैं.

ये कीट एक सूती आवरण में बन्द होकर झुण्डों में पड़े रहते हैं. नर का आवरण एक सिरे पर खुले हुए लम्बे थैले की तरह होता है. कीटों से ग्रस्त कैक्टस सफेद पैवंदों से ढका हुआ प्रतीत होता है. 4 या 6 सप्ताह बाद, नर दो पतले पश्च प्रवर्धों के साथ दो पंख वाले किरमिजी रंजक कीट के रूप में बाहर निकलता है. इस तरह 2 या 3 सप्ताह तक कीट निकलते रहते हैं. सूती पैवंदों के निकट नर अपने पर फड़फड़ाता है और मादा को निषेचित करने के बाद मर जाता है और मृत शरीर हवा में उड़ जाता है. गर्भाधान के बाद मादा शीघ्रता से बढ़ने लगती है और 8 से 12 सप्ताह की आयु प्राप्त कर लेने पर अंडे देने लगती है. इस अवस्था में यह सिकुड़ी रहती है और उसे पेड़ में से सरलता से बिलग किया जा सकता है. निम्फों के यूथन के बाद मादा मर जाती है और काली पड़ जाती है.

कोचीनियम कीटों के संवर्धन में सावधानी की जरूरत होती है. हवा तथा वर्षा इनके लिए घातक है. ऐसे क्षेत्र, जहाँ अधिक वर्षा होती है, इनके संवर्धन के लिए अनुपयुक्त होते हैं जब तक मादा कीट को पालने तथा सुरक्षित रखने अथवा बीज भण्डार को साये के भीतर रखने का पर्याप्त प्रबन्ध न हो. मैक्सिकोवासी इन्हें जाड़े के मौसम में काँटेदार नागफनी की शाखाओं पर घर के भीतर पाल रखते हैं. बसंत ऋतु में वे उन्हें कैक्टस में लटकाये हुए तिनके के घोंसलों में बाहर रख देते हैं. जातिप्रवर्धन के लिए निम्फों के चल होने के पूर्व दूसरे कैक्टस पर स्थानान्तरित कर देते हैं. 8–10 मादाओं को काटनगेज या टिशू पेपर में, जिसमें छोटे-छोटे छेद हों, जल्दी से भर लिया जाता है. इस थैले को कैक्टस के तने के नीचे बाँध दिया जाता है. निम्फ बाहर निकलकर तने पर फैल जाते हैं. इस कार्य के लिए तेज धूप वाले दिन अच्छे रहते हैं. जाड़े की फसल के लिए कैक्टस को अक्तूबर–नवम्बर में संक्रमित किया जाता है और कोचीनियम संग्रह करने के लिए फरवरी–मार्च में तैयार हो जाता है. कैक्टसों को जब मार्च में संक्रमित किया जाता है तो कोचीनियम अक्तूबर–नवम्बर में संग्रह के लायक हो जाता है.

कीटों को थैलों में या चादरों में झाड़ लेते हैं और उन्हें गर्म पानी में डालकर अथवा धाम में या भाप अथवा गर्म हवा में खुला रख करके मार देते हैं. सुखाए हुए कीड़े काले दानों की तरह लगते हैं जिनकी सतह लम्बाई की दिशा में मुड़ी हुई झुर्रीदार होती है. पहली पीढ़ी से सबसे अच्छी फसल मिलती है क्योंकि इसमें अधिक रंजक होता है और सामान्यतः इससे अच्छे दाम मिलते हैं (Kraemer, 828).

बनाने की विधि के अनुसार कोचीनियम या किरमिजी रंजक की तीन श्रेणियाँ हैं. जब कीटों को धूप में सुखाकर अथवा भट्टी में गर्म करके मारा जाता है तो 'सिल्वर ग्रेन'

प्राप्त होता है. इस उपचार से कुछ मोमीला आवरण बचा रह जाता है जिससे कुछ-कुछ सफेदी आ जाती है, जब कीटों को उबलते हुए पानी में डुबोया जाता है तो 'ब्लैक ग्रेन' प्राप्त होता है. इस प्रक्रम में, मोमीला आवरण निकल जाता है और कीट की नील-लोहित काली सतह दिखाई पड़ने लगती है. ब्लैक ग्रेन से ऊँचे दाम मिलते हैं. ग्रैनिला, घटिया श्रेणी का होता है और इसमें चालने के बाद छोटे-छोटे मादा कीट बचे रहते हैं (Kraemer, loc. cit.; Denston, 267).

कोचीनियम का रंजक द्रव्य, कार्मिनिक अम्ल, $C_{22}H_{20}O_{3}$ [$(\alpha)^{15°}_{645°}$, 51·6°; 130° पर काला पड जाता है; और 250° पर कार्बनीकृत हो जाता है] है जो हाइड्राक्सिऐन्थ्रापरप्युरीन का व्युत्पन्न है. कोचीनियम में यह 10% तक उपस्थित रहता है. इसका निष्कर्षण पीसे हुए कीटों को पानी में पकाकर किया जा सकता है और अशुद्ध रंजक द्रव्य के विलयन (5 भाग पानी में 1 भाग) को ऐसीटिक अम्ल (4 आयतन) द्वारा तनु करके शुद्ध किया जा सकता है. छने हुए विलयन को सल्फ्यूरिक अम्ल के ऊपर रखने से धीरे-धीरे क्रिस्टलीय कार्मिनिक अम्ल पृथक् हो जाता है. एक दूसरा रंजक, नियो-कार्मिनिक अम्ल, मातृद्रव से पृथक् किया गया है. औद्योगिक कोचीनियम में ईथर अविलेय मोम कोक्सेरिन, ईथर विलेय कोचीनियल वसा, ऐल्बुमिनॉयड तथा अकार्बनिक पदार्थ रहते हैं. कोक्सेरिन (0·5–4%) कोक्सेरिल ऐल्कोहल ($C_{31}H_{68}O_{2}$) तथा कोक्सेरिक अम्ल का एस्टर है. वसा (कीट का 0·7–14%) की निम्नलिखित विशेषताएँ हैं: आयो. मान, 50; अम्ल मान, 89; असाबुनी. पदार्थ, 3%; तथा ग्लिसरॉल, 8%. मिरिस्टिक, ओलीक तथा लिनोलिक अम्ल इसके घटक वसा-अम्ल हैं (Thorpe, III, 226, 230; Mayer & Cook, 138).

ऐज़ो रंजकों के सूत्रपात के होने से सिल्क के रंजक के रूप में किरमिजी रंजक का महत्व घट गया है. अब रँगने तथा छपाई में इसका सीमित उपयोग होता है. किरमिजी रंजक प्रकाश में काफी पक्का होता है. ऊन पर दो प्रकार के लाल रंग प्राप्त होते हैं: किरमिजी, जो ऐल्यूमिनियम सल्फेट रंगबन्धक का उपयोग करने पर प्राप्त होता है; तथा सिन्दूरी, जिसके लिए स्टैनस तथा स्टैनिक क्लोराइड प्रयुक्त किए जाते हैं. पोटैसियम डाइक्रोमेट द्वारा रंगबन्धित ऊन, किरमिजी रंजक के साथ नील-लोहित रंग देता है जबकि फेरस सल्फेट तथा टार्टार के साथ नील-लोहित या स्लेटी अथवा हल्का रंग उत्पन्न होता है. फिर भी ये रंगबंधक प्रयुक्त नहीं किए जाते हैं. किरमिजी रंजक लुधियाना तथा कश्मीर के शालों को रँगने में काम आता है. कोलेगल तथा मैसूर में किरमिजी रंजक, स्थायी गहरा किरमिजी तथा लाल रंग प्राप्त करने और सिल्क रंगने के काम में आता है. सिल्क को पहले पीले रंग में रँगना ठीक रहता है, फिर टिन के नाइट्रो-म्यूरिएट द्वारा रंग-बन्धित किया जाता है और एक दूसरे कुण्ड में टार्टार क्रीम डालकर रँगा जाता है. चाहें तो सिल्क को एक ही कुण्ड में, किरमिजी रंजक, स्टैनस क्लोराइड तथा आक्सैलिक अम्ल के साथ रँग सकते हैं (Perkin & Everest, 89, 90; Ayyar, loc. cit.; Phadke, *History of Dyes and dyeing in the Bombay Presidency*, 1947, 39, 44).

किरमिजी रंग औषधियों तथा मिठाइयों के लिए तथा रूज और अन्य शृंगार-सामग्रियों के बनाने में प्रयोग किया जाता है.

सारणी 1 – किरमिजी रंजक का आयात

	मात्रा (टन)	मूल्य (रु.)
1939–40	59·30	2,42,136
1940–41	18·30	65,804
1941–42	19·25	70,103
1942–43	0·05	877
1943–44	0·10	537
1944–45	0·05	424
1945–46	403·3	82,868
1946–47	244·15	4,49,901
1947–48	3·35	44,024
1948–49	3·15	36,700
1949–50	0 20	2,626

प्रयोगशाला में यह एक अभिरंजक के रूप में प्रयुक्त होता है. औद्योगिक किरमिजी रंजक में 2% से अधिक विजातीय कार्बनिक द्रव्य तथा 7% से अधिक राख नहीं रहनी चाहिए और जब बिना पिसे किरमिजी रंजक के दाने पानी में रखे जाएँ तो कोई अविलेय चूर्ण विलग नहीं होना चाहिए (Redgrove, 115, 121; B.P., 144).

किरमिजी रंजक में प्रायः अकार्बनिक पदार्थ मिला दिए जाते हैं. बेरियम कार्बोनेट, लेड कार्बोनेट अथवा लेड सल्फेट का प्रयोग 'सिल्वर ग्रेन' का भार बढ़ाने के लिए, तथा ग्रेफाइट, मैंगनीज डाइऑक्साइड अथवा चुम्बकीय रेत को ब्लैक ग्रेन में लेप चढाने के लिये प्रयोग किया जाता है. रंजक उत्पाद में राख की मात्रा अधिक होने से मिलावट का पता लग जाता है (B.P.C., 340).

भारत में उत्पादित ग्रैना सिल्वेस्ट्रिस उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारंभ में इंगलैण्ड को भेजा जाता था किन्तु यह उत्पाद घटिया था और मैक्सिको के ग्रैना फिना का-सा रंग प्राप्त करने के लिए इसकी चार गुनी मात्रा डालनी पड़ती थी. इससे इस उद्योग की महत्ता जाती रही और अब किरमिजी रंजक आयातित पदार्थ है. सारणी 1 में 1939–40 से 1949–50 की अवधि में इस रंजक का आयात दिखाया गया है.

Homoptera; *Coccidae*; *Dactylopius*; *D. coccus* Costa; *Coccus cacti* Linn.; *D. indicus* Green; *D. tomentosus* Lam.; *Nopalia cochenillifera* Salm Dyck.; *Opuntia coccinellifera*; *O. tuna*; *Opuntia vulgaris*; *O. monacantha*; *Opuntia dillenii*

कोटुला लिनिअस (कम्पोज़िटी) COTULA Linn.

ले. – कोटूला

यह छोटी बूटियों की लगभग 57 जातियों का वंश है जो सभी क्षेत्रों में, विशेषतया दक्षिणी गोलार्ध में पाया जाता है. भारत में लगभग 3 जातियाँ मिलती हैं. **को. ऐन्थिमोयडीज़** लिनिअस, जो पंजाब, गंगा के ऊपरी मैदान और बिहार में मिलती है, एक विसरित बहुत-सी शाखाओं वाली एकवर्षी जाति है. यह देशी चिकित्सा में काम आती है. इसके पौधे को

तेल में गर्म करके गठिया में लगाते हैं. इसका फांट आँख धोने के काम आता है. इसका काढ़ा सिर और छाती में ठंड लगने में लाभदायक बताया जाता है. **को. आस्ट्रेलिस** हुकर पुत्र दक्षिण भारतीय चाय बागानों के भूक्षरण को रोकने में उपयोगी बताई गई है (Kirt. & Basu, II, 1387; Watt & Breyer-Brandwijk, 197; A Manual of Green Manuring, 83).

Compositae; *C. anthemoides* Linn.; *C. australis* Hook. f.

कोटोनिऐस्टर मेडिकस (रोज़ेसी) COTONEASTER Medic.

ले. – कोटोनेग्रास्टेर

D.E.P., II, 581; Fl. Br. Ind., II, 384.

यह झाड़ियों और वृक्षों की लगभग 80 जातियों का वंश है जो उत्तरी समशीतोष्ण क्षेत्रों में फैला हुआ है. इसकी लगभग 11 जातियाँ भारत में मिलती हैं, जिनमें से कुछ ही आर्थिक महत्व की हैं.

को. बसिलेरिस वालिश एक्स लिंडले = **को. एफिनिस** लिंडले वैर. **बैसिलरिस** (लिंडले) श्नाइडर (पंजाब – री, रौ, खरीज; कश्मीर – लीनू) झाड़ी या छोटा वृक्ष है जो नमक की पहाड़ियों और उत्तर पश्चिमी तथा मध्य हिमालय में 450–3,000 मी. तक पाया जाता है. लकड़ी कठोर और भारी (भार, 896–976 किग्रा./घमी.), चिकनी, लचकोली, घने और सम दानों वाली पर चटकने और ऐंठने वाली होती है. यह खरादी जा सकती है और छड़ियों, छातों के दस्तों, गोल्फ के डंडों, कुल्हाड़ी के बेंटों, थैलों की पट्टियों, धनुष, खूँटों और खेती के उपकरणों के बनाने के काम आती है. पत्तियों से 0·057% हाइड्रोसायनिक अम्ल मिलता है (Wehmer, I, 438).

को. ऐक्यूमिनेटा लिंडले, **को. फ्रिजिडा** वालिश एक्स लिंडले और **को. माइक्रोफाइला** वालिश एक्स लिंडले (कश्मीर – खरीज, लूनी; कुमायूँ – गर्री) अन्य हिमालयी जातियाँ हैं, जिनकी लकड़ी खरादने लायक होती है. इनकी टहनियों से छड़ियाँ और टोकरियाँ बनाई जाती हैं. **को. फ्रिजिडा** की पत्तियों में सार्बिटाल होता है. **को. माइक्रोफाइला** की पत्तियों में सार्बिटाल और सायनोजन प्रदान करने वाला एक ग्लूकोसाइड, प्रूलौरैसीन होता है. नई टहनियों से भी सार्बिटाल और हाइड्रोसायनिक अम्ल प्राप्त होता है. **को. नुम्मुलेरिया** फिशर और मायर कश्मीर और पश्चिमी तिब्बत में पायी जाती है. यह मृदुविरेचक, कफोत्सारक और पाचक है. इसके बीजों में हाइड्रोसायनिक अम्ल रहता है (*Chem. Abstr.*, 1930, **24**, 5796; 1938, **32**, 621; Wehmer, loc. cit.; Kirt. & Basu, II, 991).

Rosaceae; *C. bacillaris* Wall. ex Lindl. = *C. affinis* Lindl var. *bacillaris* (Lindl.) Schneid.; *C. acuminata*; *C. frigida*; *C. microphylla*; *C. nummularia* Fisch & Mey.

कोडिएम जुस्यू (यूफोर्बिएसी) CODIAEUM Juss.

ले. – कोडिएऊम

Fl. Br. Ind., V, 399.

यह झाड़ियों और वृक्षों की लगभग 13 जातियों का एक वंश है जो मलेशिया, ऑस्ट्रेलिया और प्रशान्त प्रदेश में पाया जाता है. सुन्दर चितकबरी पत्तियों वाले **को. वैरीगेटम** ब्लूम नामक पौधे को शोभा के लिए उद्यानों में लगाया जाता है जिसे सामान्यतया क्रोटन कहते हैं. इस जाति की अनेक किस्मों की खेती की जाती है. प्रौढ़ पौधे के भाग तिक्त होते हैं. कुटी पत्तियों की पुल्टिस मूल-रोगों से पीड़ित बच्चों के उदर पर बाँधी जाती है. एक बिना पहचानी किस्म में रेचक और स्वेदकारी गुण पाये जाते हैं. लैटेक्स में 6–8% टैनिन होता है (Burkill, I, 616).

Euphorbiaceae; *C. variegatum* Blume

कोडोनाप्सिस वालिश (कैम्पैनुलेसी) CODONOPSIS Wall.

ले. – कोडोनोप्सिस

D.E.P., II, 459; Fl. Br. Ind., II, 430.

यह कुछ-कुछ सीधी अथवा लिपटने वाली झाड़ियों की 44 जातियों का एक वंश है जो हिमालय से लेकर पूर्व की ओर जापान तक फैला है.

को. ओवेटा बेन्थम, (चिनाब–लुट्ट) पश्चिमी हिमालय में कश्मीर से लेकर गढ़वाल तक के क्षेत्र में, 2,400–3,600 मी. की ऊँचाई तक पायी जाती है. इसकी मूसला जड़ बहुत बड़ी होती है जिससे खाद्य आटा तैयार किया जाता है. जड़ों और पत्तियों की पुल्टिस फोड़ों और घावों में लगायी जाती है (Kirt. & Basu, II, 1454).

Campanulaceae; *C. ovata* Benth.

कोनियम लिनिअस (अम्बेलीफेरी) CONIUM Linn.

ले. – कोनिऊम

D.E.P., II, 517.

यह बूटियों की 5 जातियों का वंश है जो उत्तरी समशीतोष्ण क्षेत्रों में पाया जाता है. यूरोप की **को. मैकुलेटम** लिनिअस (विषैला हेमलाक) में कई ऐल्कलायड होते हैं, जिनमें कोनीन मुख्य है. यह आकर्षी रोगों में प्रयुक्त किया जाता था. अब इसका बहुत कम उपयोग किया जाता है.

Umbelliferae; *C. maculatum* Linn.

कोनैरस लिनिअस (कोनैरेसी) CONNARUS Linn.

ले. – कोन्नारुस

यह झाड़ियों और वृक्षों की लगभग 120 जातियों का वंश है जो उष्णकटिबंधी क्षेत्रों में पाया जाता है. भारत, ब्रह्मा, अंडमान और श्रीलंका में इसकी 12 जातियाँ मिलती हैं.

Connaraceae

को. मोनोकार्पस लिनिअस C. monocarpus Linn.

ले. – को. मोनोकार्पूस

D.E.P., II, 517; Fl. Br. Ind., II, 50.

म. – सुन्दर; त. – चेडी पुल्लीक्कोडी; क. – तोलगे; मल. – कुरीला, कुरिएल.

श्रीलंका – राडालिवा, चेट्टपुलुकोडी.

यह बहुशाखित, विसरी झाड़ी है जो भारतीय प्रायद्वीप के पश्चिमी भागों और श्रीलंका में मिलती है. इसके फूल पीले और फल लम्बे, चटक लाल होते हैं.

फलों का गूदा आँखों के रोगों में और जड़ का काढ़ा सिफलिस में काम आता है. जड़ों के भंजक आसवन से एक तेल मिलता है जिसका प्रयोग सूजन पर किया जाता है. छाल और लकड़ी भी व्रणों के उपचार में उपयोगी हैं. इसके बीजों से मिलने वाला वसीय तेल विशेष महत्वपूर्ण नहीं है (Chopra, 477; Kirt. & Basu, I, 685, Rama Rao, 104; Lewis, 132).

को. पैनिकुलेटस रॉक्सबर्ग विशाल आरोही झाड़ी है जो तमिलनाडु, बंगाल, असम और ब्रह्मा में मिलती है. इसके बीजों से साबुन बनाने योग्य तेल प्राप्त किया जा सकता है. **को. सेमिडिकेंड्रस** जैक सिन. **को. ग्रिफियाई** हुकर पुत्र और **को. ग्रैंडिस** जैक उन जातियों में हैं जो भारत में पाई जाती हैं और जिनमें औषधीय गुण होते हैं.

C. paniculatus Roxb.; *C. semidecandrus* Jack syn. *C. griffithii* Hook f.; *C. grandis* Jack

कोनैसी छाल – देखिए होलारेना

कोनोसिफैलस ब्लूम (मोरेसी) CONOCEPHALUS Blume

ले. – कोनोकेफालून

Fl. Br. Ind., V, 545.

यह आरोही झाड़ियों की लगभग 27 जातियों का वंश है जो इण्डोमलाया क्षेत्र में पाया जाता है. पूर्वी हिमालय और खासी पहाड़ियों में पाया जाने वाला **को. स्वाविओलेंस** ब्लूम, एक विशाल आरोही है, जिसके तनों के काटने से एक पेय जल जैसा रस निकलता है जो नेत्र रोगों में भी इस्तेमाल किया जाता है इसकी जड़ों की पुल्टिस खुजली पर लगाई जाती है (Burkill, I, 651).

Moraceae; *C. suaveolens* Blume

कोपरनीसिया मार्शियस (पामी) COPERNICIA Mart.

ले. – कोपरनीसिया

Blatter, 151.

यह ताड़ों की लगभग 47 जातियों का वंश है जो उष्ण-कटिबंधी अमेरिका और वेस्ट इण्डीज में फैला हुआ है.

को. सेरीफेरा (ऐरुडा) मार्शियस, ब्राज़ील का मोमीताड़ है जिससे सुपरिचित कारनूबा मोम प्राप्त होता है. यह कहीं-कहीं भारत में बगीचों में उगाया गया है. यह मोम पत्तियों की दोनों सतहों पर निकलता है. पत्तियों को सुखाया जाता है और पीट कर चूरा बना लेने के बाद फिर मोम को गर्म पानी से पृथक् करते हैं. मोम (ग.वि., 84–86°) के प्रमुख रचक मिरिसिल सेरोटेट, मिरिसिल ऐल्कोहल, सिरिल ऐल्कोहल और सिरोटिक अम्ल हैं. इसके 50% से अधिक अंश को साबुनीकृत नहीं किया जा सकता. यह मोम अधिकतर मोमबत्तियाँ, बूट पालिश और फोनोग्राफ के रिकार्ड बनाने के काम आता है. यह फर्नीचर पर पालिश करने के लिए भी उपयुक्त है. इसके कड़वे फल और स्थूल-मंजरियाँ खाई जाती हैं. पत्तियाँ छप्परों, जीनों, टोपों आदि अनेक कामों के लिए इस्तेमाल की जाती हैं. जड़ें सारसापरीला के स्थान पर काम में आती हैं. प्रौढ़ वृक्षों के निचले भाग की लकड़ी टिकाऊ होती है और खुली स्थितियों में भी वर्षों चलती है (U.S.D., 1648).

Palmae; *C. cerifera* (Arruda) Mart.

कोपल ट्री, इंडियन – देखिए वटेरिया

कोबाल्ट COBALT

कोबाल्ट के मूल अयस्क सल्फाइड, आर्सेनाइड तथा सल्फार्सेनाइड हैं. ये बहुधा निकेल, ताम्र तथा रजत के अयस्कों के साथ शिराओं में पाये जाते हैं. प्राथमिक अयस्कों में कोबाल्ट, कोबाल्ट-ब्लूम – जलयोजित सल्फेट, आर्सेनेट तथा कार्बोनेट – के रूप में अयस्कों की सतह पर पाया जाता है.

भारत तथा ब्रह्मा में निम्नलिखित कोबाल्टधारी खनिजों की उपस्थिति सूचित की गई है:

कोबाल्टाइट, CoAsS (कोबाल्ट, 35·5%; आ.घ., 6·3; कठोरता, 5·5; लोहा, कोबाल्ट के कुछ भाग को विस्थापित कर सकता है) का रंग रजत-श्वेत से लेकर हल्का रक्ताभ या इस्पात-धूसर तक हो सकता है और द्युति धात्विक, तथा वर्णरेखा धूसर-श्याम होती है. यह खेतड़ी (राजस्थान) के ताम्र अयस्कों के साथ मिला हुआ पाया जाता है और सेहटा के एक अवयव के रूप में होता है जो कोबाल्टाइट तथा डैनेट का मिश्रण है.

डैनेट, कोबाल्ट-युक्त आर्सेनोपाइराइट (FeAsS, जिसमें कोबाल्ट, लोहे के कुछ भाग को विस्थापित करता है) है जिसका रंग धूसर, हल्की पीली मलिनता से युक्त इस्पात-धूसर होता है.

मिडिल्टन के अनुसार जयपुराइट अथवा साइपुराइट, CoS या Co_2S (वि.घ., 5·45) जयपुर की ताम्र खानों में बहुतायत से पाया जाता है किन्तु मैलट को खेतड़ी खानों से केवल दो कोबाल्ट खनिज – कोबाल्टाइट तथा डैनेट – मिले. यदि मिडिल्टन ने ठीक से पहचान की है तो यह नया खनिज इस क्षेत्र की किसी अन्य खान से प्राप्त हुआ होगा (*Rec. geol. Surv. India*, 1881, 14, 190).

लिनीआइट, Co_3S_4 (Co, 57·9%; वि.घ., 4·8–5·0) जिसे कभी-कभी कोबाल्ट पाइराइट भी कहते हैं, एक इस्पात-धूसर खनिज है जो धूमिल होकर ताँबे जैसे लाल रंग का हो जाता है. इस खनिज की पहचान सिक्किम के ताँबे के अयस्कों में की गई है (*Rec. geol. Surv. India*, 1910, 39, 234).

एस्बोलाइट या कोबाल्ट-युक्त वैड, जलयोजित मैंगनीज ऑक्साइड तथा कोबाल्ट, निकेल, ताम्र, लोह आदि के ऑक्साइडों का मिश्रण है. यह काला अथवा नीला लिए काला, नरम तथा अक्रिस्टलीय पदार्थ है जो देखने में मटमैला तथा भार में हल्का होता है. यह मैंगनीज अयस्कों के साथ मध्य प्रदेश, उड़ीसा तथा अन्य क्षेत्रों में पाया जाता है.

एरिथ्राइट अथवा कोबाल्ट ब्लूम ($Co_3As_2O_8.8H_2O$) सामान्यतः कोबाल्ट शिरा-निक्षेपों के अपक्षीण दृश्यांशों पर सिलाओं तथा

खनिजों पर किरमिजी लाल रंग की पपड़ी के रूप में पाया जाता है और अपने नीचे कोबाल्ट अयस्कों के होने के सूचक की भाँति कार्य करता है. यह बाडविन खानों के सीस-रजत-यशद अयस्कों में पाया जाता है.

नेपाल में कोबाल्ट के प्राथमिक अयस्क, सम्भवतः कोबाल्ट तथा निकेल के सल्फार्सेनाइड, अनेक स्थानों में पाए जाते हैं, किन्तु खनिज की जातियों को वास्तविक पहचान के बारे में सूचना प्राप्त नहीं है.

वितरण

उड़ीसा – कालाहांडी रियासत में, ओलातुरा (20°20′: 83°36′) से प्राप्त वैड के एक नमूने में 0·82% CoO पाया गया. सम्भव है कि इससे ज्यादा प्रतिशत वाला कोबाल्ट-युक्त वैड आसपास मिल जाय (*Mem. geol. Surv. India*, 1909, **37**, 525).

तमिलनाडु – त्रावनकोर राज्य में तोवला तालुके के जटिल सल्फाइड अयस्कों में कोबाल्ट तथा निकेल दोनों पाए जाते हैं. अयस्क की सतह पर के एक नमूने में जिसमें पाइरोटाइट, पाइराइट, चाल्कोपाइराइट तथा मालिब्डिनाइट थे, उसमें 1·20% ताँबा, 0·64% निकेल, तथा 0·08% कोबाल्ट पाया गया. साथ ही प्रति टन अयस्क से 0·78 ग्रा. सोना और 3·9 ग्रा. चाँदी भी पाई गई. इस निक्षेप की विस्तार में कोई जानकारी नहीं है (*Rec. geol. Surv. India*, 1910, **39**, 265).

मध्य प्रदेश तथा महाराष्ट्र – मध्य भारत के कुछ मैंगनीज अयस्कों में कोबाल्ट तथा निकेल को सूक्ष्म मात्रा पाई गई है. धार जंगल में पोला खाल (22°28′: 76°20′) से एकत्रित सिलोमिलेन से बँधे हुए गुटिकाश्म के एक नमूने का विश्लेषण करने पर 0·27% CoO तथा 0·56% NiO प्राप्त हुआ. झाबुआ रियासत की कजली डोंगरी खान (22°57′ : 74°31′) से प्राप्त सिलोमिलेन के एक नमूने में 0·90% CoO मिला (*Mem. geol. Surv. India*, 1909, **37**, 525, 114).

होशंगाबाद जिले में सोंतुलाई (22°21′:76°56′) में सिलोमेलेन (वैड) के एक नमूने का विश्लेषण करने पर 1·23% NiO और 0·55% CoO मिला. नागपुर-बालाघाट क्षेत्र में सिलोमेलेन में कोबाल्ट की प्रतिशतता 0·20 से 0·35 पायी जाती है.

राजस्थान – कोबाल्ट अयस्क का स्थानीय नाम सेहटा है यह भूतपूर्व जयपुर रियासत में खेतड़ी के पास बबाई (27°52′: 75°49′) की ताम्र खानों में पाया जाता है. यह कोबाल्टाइट तथा डैनेट के छोटे-छोटे रुपहले क्रिस्टलों से बना होता है जो काली स्लेट में, जिसमें कापर पाइराइट रहता है, दूर-दूर छितरे होते हैं. कभी-कभी यह अयस्क कापर पाइराइट के पिंडों के बीच में पतली परतों में पाया जाता है. खेतड़ी से लगभग 3 किमी. दक्षिण की ओर बागोर की खानों में भी सेहटा पाया जाता है. स्लेटों के पिसे हुए टुकड़ों को धोने से सान्द्र सेहटा प्राप्त हो सकता है. ऐसे सान्द्र पहले बनाये भी जाते थे और जयपुर में कोबाल्ट-नील इनैमल के तैयार करने में इनका उपयोग भी होता था. यह दस रुपया प्रति किलो के भाव से बेचा जाता था. 1908 से ही इसका उत्पादन बन्द हो गया है (*Trans. Min. geol. Inst. India*, 1935, **29**, pt 4).

अन्य देशों में वितरण

नेपाल – नेपाल में कोबाल्ट के प्राथमिक सल्फार्सेनाइड अयस्क के निक्षेप बहुतायत से पाए जाते हैं. सबसे महत्वपूर्ण निक्षेप समर-भामर स्थान के पास हैं (यह स्थान निकटतम मोटर स्टेशन, बुटवल, से 80 किमी. दूर है). रांगचे, लामडले, लैंडले तथा कालाचौरे की खानों में पहले खुदाई होती थी; लगभग 35 वर्ष पहले नेपाल सरकार द्वारा बैंस खानी इलाका की खानों की खुदाई कराई जाती थी. कहा जाता है कि इनमें कोबाल्ट अयस्कों के बड़े-बड़े भण्डार हैं. काठमांडू से 64 किलोमीटर पूर्व के क्षेत्र में कोबाल्ट तथा निकेल के अयस्क पाए गये हैं. नेपाल से औसतन 8·7% कोबाल्ट वाले अयस्क तथा औसतन 17·3% कोबाल्ट वाले स्पाइस का निर्यात हुआ है. कुछ अयस्कों में (यथा तुमखास की खानों से) 18·72% कोबाल्ट तथा स्पाइस में (यथा लैंडले खानों से) 35·3% कोबाल्ट की उपस्थिति सूचित की गई है.

नेपाल के कोबाल्ट निक्षेप अत्यन्त आशाजनक हैं और भारतीय भूगर्भ सर्वेक्षण विभाग ने अभी हाल में इस क्षेत्र का सर्वेक्षण किया है.

ब्रह्मा – कोबाल्ट-ब्लूम अथवा एरिथ्राइट, बाडविन की खानों के सल्फाइड अयस्कों के ऊपर पपड़ी के रूप में पाया जाता है. यह कोबाल्ट-युक्त गर्संडार्फाइट (NiAsS) के अपघटन से प्राप्त होता है जो सीस-रजत-यशद अयस्कों में सूक्ष्म मात्रा में पाया जाता है. निकेल स्पाइस में औसतन 31·32% निकेल तथा 6·69% कोबाल्ट रहता है. यह स्पाइस नामतू (उत्तरी शान राज्य) में प्राप्य बाडविन के सीस-रजत-यशद अयस्कों के प्रगलन के समय उपजात के रूप में 1927 से लगातार निकाला जाता रहा है (*Rec. geol. Surv. India*, 1937, **72**, 349).

उपचार

कोबाल्ट अयस्कों को (जिनमें As, Ag, Cu, इत्यादि रहते हैं) तोड़ा जाता है, गालक मिलाया जाता है और स्पाइस तथा धातुमल बनाने के लिए एक वात्या-भट्टी में प्रगलित किया जाता है. आर्सेनिक को वाष्पीभूत करने के लिए स्पाइस को कूटकर एक परावर्तनी-भट्टी में ऑक्सिकृत और फिर सोडियम क्लोराइड के साथ जारित करके क्लोराइडीकृत किया जाता है. जारित पदार्थ को विलोडित की जाने वाली टंकियों में भरा जाता है और इसमें से सायनाइड विलयन द्वारा चाँदी निकाल ली जाती है. अवशेष के रूप में कोबाल्ट, निकेल, लोहा, ताँबा तथा आर्सेनिक बचे रहते हैं जिन्हें तनु सल्फ्यूरिक अम्ल में विलयित किया जाता है और अम्ल को चूर्णित कैल्सियम कार्बोनेट द्वारा उदासीन करते हैं जिससे लोहा तथा आर्सेनिक, फेरिक आर्सेनेट के रूप में अवक्षेपित हो जाते हैं. विलयन में से ताँबे को सोडा राख द्वारा निकाल दिया जाता है और दूधिया चूना तथा विरंजक चूर्ण मिलाकर कोबाल्ट तथा निकेल का हाइड्रॉक्साइड के रूप में प्रभाजी अवक्षेपण कर लेते हैं.

उपयोग

कोबाल्ट (आ.घ., 8·8) एक रजत श्वेत धातु है जो लोहे तथा निकेल से कड़ी होती है. लोहे के बाद चुम्बकीय धातु

के रूप में इसका नाम आता है. 1,150° तक गर्म करने पर भी इसका चुम्बकत्व स्थायी रहता है. इसका उपयोग स्थायी चुम्बकीय इस्पातों के औद्योगिक उत्पादन में किया जाता है स्टेनलेस-इस्पात, उच्च वेग इस्पात और ताप प्रतिरोधी तथा संक्षरण-प्रतिरोधी मिश्रधातुओं का यह आवश्यक अवयव है. इसका उपयोग विद्युत-लेपन में हाइड्रोजन तथा कार्बन-मोनोऑक्साइड से कार्बनिक यौगिकों का संश्लेषण करते समय उत्प्रेरक के रूप में तथा काटने वाले अति कठोर औजारों के सिरों पर लगे हुए टंगस्टन कार्बाइड के बंधक के रूप में होता है.

अब काटने के औजारों तथा तेल के कुँए खोदने के औजारों के कर्तक भागों के बनाने में उच्च-वेग इस्पात के स्थान पर क्रोमियम तथा टंगस्टन के साथ कोबाल्ट की मिश्रधातुएँ इस्तेमाल की जाती हैं जिन्हें स्टेलाइट कहते हैं. स्टेलाइट की कठोरता काटने वाले सिरे को लाल-तप्त कर देने पर भी कम नहीं होती. इसका उपयोग छुरी-कांटे के औद्योगिक निर्माण में होता है विद्युत भट्टियों में कोबाल्ट क्रोमियम-ऐलुमिनियम की मिश्रधातुएँ प्रयुक्त होती हैं. नकली दाँतों की मिश्रधातुओं में तथा जहाजी नोदकों की नाभि में प्रयुक्त बेरीलियम-ताम्र मिश्रधातुओं में कोबाल्ट अवश्य रहता है.

रंजकों के औद्योगिक निर्माण में कोबाल्ट के अनेक यौगिक काम आते हैं, जैसे कोबाल्ट सल्फेट, कोबाल्ट ऐल्युमिनेट, कोबाल्ट कार्बोनेट तथा कोबाल्ट नाइट्रेट. कोबाल्ट के रंग अत्यन्त स्थायी होते हैं किन्तु महँगे होते हैं और ठीक से चढ़ते नहीं. तथापि इनैमल करने और चीनी मिट्टी के उद्योग में नीले रंजक के रूप में कोबाल्ट यौगिकों के सिवा और कोई पदार्थ नहीं प्रयुक्त होता ऑक्सिकरण अभिक्रियाओं में कोबाल्ट के यौगिक उत्प्रेरक की तरह प्रयुक्त किए जाते हैं.

कोबाल्ट के कार्बनिक यौगिक ऑयल पेण्टों को कम समय में सुखाने के लिए प्रयुक्त किए जाते हैं. कोबाल्ट के आर्द्रताग्राही विलेय लवणों का उपयोग गुप्त स्याही बनाने में होता है. प्रयोगशाला में खनिजों के फूंक-नली परीक्षण में, विशेषतः ऐल्युमिनियम, यशद तथा मैग्नीशियम की पहचान के लिए कोबाल्ट नाइट्रेट का प्रयोग होता है

उत्पादन तथा सम्भावनाएँ

विश्वभर मे 1965 मे कोबाल्ट का उत्पादन लगभग 15,500 टन था (सारणी 1). अग्रणी देशों में गणराज्य कांगो, मोरक्को, कनाडा, जाम्बिया, संयुक्त राज्य अमेरिका, तथा ब्रह्मा के नाम गिनाए जा सकते हैं. विश्व का 75% से अधिक उत्पादन गणराज्य कांगो, रोडेशिया तथा मोरक्को के कोबाल्टमय ताम्र अयस्कों से प्राप्त किया जाता है (*Miner. Ind. Brit. Emp.*, 1938-44, 93; *Indian Miner. Yearb.*, 1965, 350).

भारत में कोबाल्ट का कोई उत्पादन नहीं होता यह बाहर से मँगाया जाता है (सारणी 2). ब्रह्मा में कोबाल्ट-युक्त निकेल स्पाइस (Co, 6·69, Ni, 31·32; Cu, 8·60%; Ag, 425 ग्रा. प्रति टन) का उत्पादन नामतु स्थित प्रगलन कारखाने मे 1927 से एक उपजात के रूप में होता रहा है. 1938 तक यह स्पाइस जहाज द्वारा हेम्बर्ग भेज दिया जाता था जहाँ इसका और आगे उपचार होता था. 1939 में ब्रह्मा मे स्पाइस का उत्पादन 3,015 टन था जिसका मूल्य 11,66,323 रुपये था (*Indian Miner. Yearb.*, 1965, 349).

जयपुर रियासत की खेतड़ी स्थित खानों से 1908 तक प्रति वर्ष लगभग एक टन सेहटा निकाला जाता था और इसका उपयोग कोबाल्ट-नील इनैमल तथा नीले कांच की चूड़ियों के बनाने में होता था. 1908 में भारत के कांच उत्पादकों ने जर्मनी तथा ऑस्ट्रिया से कोबाल्ट ऑक्साइड का आयात प्रारंभ कर दिया तबसे सेहटा का उत्पादन बंद कर दिया गया है. भारतीय भूगर्भ सर्वेक्षण ने यह इंगित किया था कि खेतड़ी खानों मे फिर से खुदाई नहीं की जानी चाहिए क्योंकि इन खानों से प्राप्त अशुद्ध पदार्थ उस आयातित कोबाल्ट ऑक्साइड की बराबरी नहीं कर सकता जिसे कनाडा एक उपजात के रूप में उत्पन्न करता है इस प्रकार 1908 से खेतड़ी की खानें बेकार पड़ी हैं (*Rec. geol. Surv. India*, 1916, 47, 20).

1936 में नेपाल में 5 टन कोबाल्ट अयस्क जिसमें 14·4% Co था तथा 5 टन कोबाल्ट स्पाइस जिसमें 22·13% Co था, उत्पादित होने का उल्लेख है (*Rec. geol. Surv. India*, 1937, 72, 259).

भारत में कोबाल्ट के किसी महत्वपूर्ण निक्षेप का पता नहीं है. यदि खेतड़ी खानों को यथाविधि विकसित किया जाए तो कांच, इनैमल तथा सिरैमिक उद्योगों की आवश्यकताओं की पूर्ति हो सकती है. कोबाल्ट धातु के उत्पादन के लिए नेपाल से कोबाल्ट धातु के सान्द्रित अयस्कों को आयातित करना अनिवार्य होगा.

सारणी 1 – कोबाल्ट का विश्व उत्पादन*
(मात्रा : टनों में)

देश	1961	1962	1963	1964	1965
कनाडा	1,443	1,579	1,372	1,450	1,720
कांगो गणराज्य	8,326	9,683	7,376	7,892	8,386
जाम्बिया	1,543	863	706	1,408	1,447
मोरक्को	1,290	1,436	1,371	1,678	1,897

**Indian Miner Yearb.*, 1965, 350

सारणी 2 – भारत में कोबाल्ट का आयात*
(मात्रा : टन; मूल्य : हजार रु. में)

वर्ष	मात्रा	मूल्य
1961	17	281
1962	23	397
1963	50	934
1964	25	449
1965	50	1,125
1966	47	1,143

**Indian Miner Yearb.*, 1965, 350, 294

कोयला COAL

कोयला, भारत जैसे देश के लिए जिसका तेजी से औद्योगीकरण हो रहा हो और जिसके पास तेल-ईंधन न हो, सर्वोपरि महत्व का ईंधन है. विश्व का वार्षिक कोयला-उत्पादन 1 अरब 50 करोड टन है. इसके प्रमुख उत्पादक देश सयुक्त राज्य अमेरिका और जर्मनी हैं. इनके बाद ग्रेट ब्रिटेन और रूस आते है. इन चार देशो मे कुल मिलाकर विश्व भर के कोयला-उत्पादन का 70% प्राप्त किया जाता है. भारत का वार्षिक कोयला-उत्पादन 3 करोड टन है जो विश्व उत्पादन के 2% से भी कम है इस उत्पादन का एक-तिहाई रेलवे मे भाप बनाने के काम आता है और लगभग छठा भाग लोहा और इस्पात उद्योगो के लिए कठोर धातुकर्मी कोक बनाने मे प्रयुक्त होता है.

भारत मे औद्योगिक कार्यो के लिए कोयले का उत्पादन 1775 से प्रारम्भ हुआ जब मेसर्स जे समनर और एस. जी. हीटली ने सीतारामपुर के पास रानीगज कोयला-क्षेत्र मे पहली कोयले की खान खोली थी. उस समय खान से निकला कोयला दामोदर नदी द्वारा असता ले जाया जाता था जहाँ से उसे कलकत्ता भेजा जाता था.

संघटन

रासायनिक दृष्टि मे कोयला जटिल कार्बनिक यौगिको का एक मिश्रण है जिसमे थोडी आर्द्रता और अकार्बनिक खनिज पदार्थ भी मिले रहते है. इसके मुख्य अवयव कार्बन, हाइड्रोजन और ऑक्सिजन है परन्तु नाइट्रोजन तथा गन्धक की भी अल्प मात्राएँ पाई जाती है. विकास की क्रमिक शृंखला दलदली जगलो के वनस्पति-अवशेष को पीट, लिग्नाइट और कोयले के साथ सम्बन्धित करती है. लकडी से प्रारम्भ करके ऐन्थ्रासाइट तक पहुँचने मे कार्बन की मात्रा मे स्थायी वृद्धि और ऑक्सिजन की मात्रा मे कमी होती जाती है. हाइड्रोजन की मात्रा भी घटती है किन्तु कुछ कम ही (सारणी 1)

कोयले मे मुक्त कार्बन की कोई निश्चित सीमा नही है. सम्भवत निम्न कोटि के ईंधनो मे, जैसे कि लिग्नाइट मे, मुक्त कार्बन नही रहता, किन्तु उच्च कोटि के ईंधनो मे, जैसे कि ऐन्थ्रासाइट मे, यह उपस्थित रहता है कायान्तरित शैलो के साथ पाए जाने वाले ग्रेफाइटी कोयले मे मुक्त कार्बन की बहुलता

सारणी 1—औसत सघटन (%)

	कार्बन	हाइ-ड्रोजन	ऑक्सि-जन	नाइ-ट्रोजन
काष्ठ	49 65	6 23	43 20	0 92
पीट	55·44	6 28	35 56	1 72
लिग्नाइट	72 95	5 24	20 50	1 31
बिटुमेनी कोयला	84 24	5 55	8 69	1 52
ऐन्थ्रासाइट	93 50	2 81	2 72	0 97

प्रतीत होती है जब कोयले को वायु के सम्पर्क से दूर रखकर लाल तप्त (लगभग 900°) किया जाता है तो इसके अपघटन से बनने वाले वाष्पशील पदार्थ (गैसे तथा द्रव उत्पाद) आसवित हो जाते है और राख मिला कोक का अवशेष बच रहता है. जब इस अवशेष को अतिम रूप से वायु मे गर्म किया जाता है तब केवल राख बचती है और इस बाद वाली क्रिया मे जितनी हानि होती है उसे स्थिर-कार्बन मान लिया जाता है.

कोयले के अतिम सघटन और विश्लेषणो के अध्ययन से यह स्पष्ट हो गया है कि जब कार्बन की मात्रा कम और ऑक्सिजन की मात्रा अधिक होती है तो उसमे वाष्पशील अवयवो की मात्रा उच्चतम होती है जैसे कि लिग्नाइट और अर्ध-बिटुमेनी कोयले मे परन्तु जिस ऐन्थ्रासाइट कोयले मे कार्बन की कुल मात्रा अधिक और ऑक्सिजन की मात्रा कम होती है, उसमे वाष्पशील पदार्थो की मात्रा कम होती है. स्थिर-कार्बन और वाष्पशील द्रव्य के समानुपात या कोयले के ईंधन-अनुपात से कोयले की किसी किस्म के गुणधर्मो की जानकारी हो सकती है. लिग्नाइटो और अर्ध-बिटुमेनी कोयलो का ईंधन-अनुपात 2 3 से 3 2 तक बदलता रहता हैं किन्तु वास्तविक बिटुमेनी कोयलों मे यह 3·2 से 4·1 से भी अधिक होता है हिल का नियम है कि ऊपरी सतह से सस्तर की गहराई जितनी अधिक होगी कोयले मे वाष्पशील पदार्थ की मात्रा उतनी ही कम होगी. झरिया कोयला-क्षेत्र से प्राप्त कोयले पर यह नियम पूर्णत. लागू होता है. बाराकर श्रेणी का कोयला (निम्न परमियन) रानीगंज श्रेणी (उच्च परमियन) की अपेक्षा अधिक पुराना है और अधिक गहराई के कारण उस पर अधिक दाब पडता है तथा रानीगज श्रेणी के कोयले की अपेक्षा उसमे वाष्पशील पदार्थ कम रहते है.

कोयले के पूर्ण दहन पर जो अकार्बनिक अवशेष बचता है वह राख है. कोयले की राख का कुछ भाग उन अकार्बनिक अवयवो (अन्तर्निहित खनिज पदार्थ) का होता है जो मूल वनस्पति पदार्थ मे पाए जाते है और कुछ भाग मिट्टी या अन्य महीन दानेदार प्लास्टिक अवसाद का होता है जो सडती हुई वनस्पति के साथ चला आता है और अब कोयले के साथ अच्छी तरह मिल गया है या धूल के रूप मे मिला रहता है इसमें शेल और कोयले से संबधित अन्य स्तरो से मिलने वाले महीन मृत्तिकामय पदार्थ भी मिले रह सकते है कभी-कभी वे पाइराइट के पिंडक और प्रकीर्णन और कार्बोनेट खनिज, जो कोयले मे पाए जाते है, राख का एक भाग होते है शायद ही कभी कोयले की राख 1 या 2% से कम होती है वह 5% तक जा सकती है जैसे कि असम के कोयलो में; परन्तु गोंडवाना कोयलो (भारत के मुख्य कोयले) मे यह प्राय: 10% मे ऊपर रहती है विभिन्न कोयलो और यहाँ तक कि एक ही कोटि के कोयलो मे, राख की मात्रा अलग-अलग होती है. इसका कोयले के दूसरे अवयवो के अनुपात से कोई सम्बन्ध नहीं है. राख एक निष्क्रिय पदार्थ है जिसकी अधिक मात्रा होने से कोयले का मूल्य घट जाता है. राख के संघटन और प्रकृति से कोयले का मान भी प्रभावित होता है यदि राख का संघटन ऐल्युमिनियम सिलिकेट जैसा होता है तब यह राख उस की अपेक्षा अधिक दुर्गलनीय होगी जिसमे ऐल्युमिना का एक अश चूना, मैग्नीशिया तथा लोह ऑक्साइड द्वारा प्रतिस्थापित हो. उच्च राख वाला कोयला जिस की राख आसानी से गल जाए ऐसी

निम्न राख वाले कोयले की अपेक्षा जिसकी राख नहीं गलती अधिक उपयोगी होगा. कोयले में उपस्थित आर्द्रता मुक्त और आसंजित आर्द्रता के अन्तर्गत रखी जा सकती है. कोयला आसंजित आर्द्रता को, वायु में सुखाने पर, ग्रहण करता है इसलिए इसको अंतर्निष्ठ आर्द्रता कहते हैं. मोटे तौर पर इससे कोयले की कोटि जानी जा सकती है. उच्च कोटि के कोयले कम प्रतिशत अंतर्निष्ठ आर्द्रता ग्रहण करते हैं और निम्न कोटि के कोयले उच्च प्रतिशत. खान से निकले लिग्नाइट और भूरे कोयले में आर्द्रता की मात्रा 30–45% होती है परन्तु हवा में खुला रखने पर यह 15–20% हो जाती है. बिटुमेनी कोयला वायु-शुष्क होने के बाद 1–12% आर्द्रता धारण कर सकता है. कोयले में लगभग 5% मुक्त आर्द्रता होने से बायलरों को गर्म करने या कोक बनाने में लाभ होता है. उच्च आर्द्रता वाला कोयला, आर्द्रता की हानि से कड़कड़ाने लगता है और हाथ से छूने पर या शुष्क वायु में अधिक समय तक रखा रहने पर चूर्ण हो जाता है.

कोयले में गन्धक तीन रूपों में पाया जाता है–खनिज सल्फाइड (पाइराइट और मार्केसाइट), कार्बनिक सल्फर यौगिक और सल्फेट (आमतौर पर कैल्सियम और लोह सल्फेट). कभी-कभी गंधक तत्व रूप में भी होता है, जैसे कि कुछ भूरे कोयलों में. कोयलों में गन्धक की मात्रा 0·5–10% तक बदलती रहती है. यदि कोयले में पाइराइट या मार्केसाइट सूक्ष्म प्रकीर्णन के रूप में हो तब मार्केसाइट का ऑक्सिकरण हो जाता है, कोयला टूट जाता है और उसका स्वतः दहन हो सकता है. सल्फाइड के पिंडक कम कष्टकारक होते हैं क्योंकि उसी तेजी से ऑक्सिकृत नहीं होते और तुरन्त निकाले भी जा सकते है. कोयलों में गंधक आपत्तिजनक अशुद्धि है, विशेषकर उन कोयलों में जो धातुकर्म के लिए प्रयुक्त किए जाते हैं.

अधिकतर कोयलो में फॉस्फोरस की मात्रा कम होती है. कोयलों को जलाने पर यह तत्व राख में रह जाता है और उसकी उपस्थिति की कोई विशेषता नहीं है किन्तु कोयलों में फॉस्फोरस की मात्रा का महत्व तब होता है जब उन्हें धातुकर्म के लिए कोक-निर्माण में, और विशेषतः कच्चे लोहे के उत्पादन में, प्रयुक्त करते है. कोक में 0·02% से अधिक फॉस्फोरस नहीं होना चाहिए. कहा जाता है कि दामोदर घाटी और गिरिडीह कोयला-क्षेत्र से प्राप्त कोयले में फॉस्फोरस दो रूपों में मिलता है–प्राथमिक अवयव के रूप में, सम्भवतः मूल वानस्पतिक पदार्थ में कार्बनिक संयोग मे रहता है तथा द्वितीय अकार्बनिक कैल्सियम फॉस्फेट के रूप में, जो उच्चतर फॉस्फेटीय अभ्रक-पेरिडोटाइटों के आग्नेय अंतर्वेधन से बनता है. संभवतः कोयले का अधिकांश फॉस्फोरस, ऐपेटाइट के रूप में उपस्थित रहता है.

पपड़िया कोयला

कोयले के भंजक आसवन से विभिन्न वाष्पशील अवयव (रक्त ताप पर) निकल भागते हैं. इस प्रक्रम के दौरान कुछ कोयलों का आंशिक गलन हो जाने से उनकी पपड़ी (केक) बन जाती है. इन अभिक्रियाओं के कारण ठोस पदार्थ की संरचना कोशिकामय हो सकती है जबकि दूसरे कोयलों का गलन भी नहीं होता और उनके अवयवों के मूल आकार में कोई परिवर्तन भी नहीं होता. प्रयोगशाला में कोक शब्द का प्रयोग ठोस अवशेष के लिए होता है जिसमें कोयले का स्थिर (नियत) कार्बन और राख सम्मिलित हैं. व्यवहार में, कोक संपीडित उत्पाद के लिए आता है जो कोयले को कोक-ऊष्मक में गर्म करने पर प्राप्त होता है. जब संपीडित उत्पाद प्राप्त नहीं होता तब कोयले को अपपड़िया कहते हैं. कुछ कोयले आयतन में बिना वृद्धि के ही कठोर कोयला उत्पन्न करते है. ये, न फूलने वाले पपड़िया कोयले हैं. यदि कोक अच्छी गुणता का हुआ तब वह वात्या-भट्टी के लिए उपयुक्त होता है क्योंकि तोड़ने में बल लगता है. गिरिडीह, झरिया और रानीगंज कोयला-क्षेत्रों की बाराकर श्रेणी का कोयला कोककर (पपड़िया) कोयला है. असम का कुछ कोयला मजबूत कोक देता है परन्तु उसमें गन्धक की मात्रा अधिक होती है. रानीगंज श्रेणी के झरिया और रानीगंज कोयला-क्षेत्रों के कुछ कोयले भट्टी में बहुत फूल जाते हैं जिससे सरन्ध्र और निर्बल कोक बनते हैं. इसका कारण संभवतः उनके गर्म होने पर विट्रान पट्टियों का फल जाना है. इस प्रकार का कोयला जब अन्य कोककर कोयले के साथ मिलाया जाता है तो इससे कठोर कोक बनाया जा सकता है. न्यून वाष्पशील पदार्थ (17% से कम), उच्च आर्द्रता (5% से अधिक) और उच्च वाष्पशील पदार्थ (40% से अधिक) वाला कोयला कदाचित् ही अच्छे कोककारी गुणों वाला होता है. वस्तुतः वे कोयले जिनमें H:O का अनुपात 58 से अधिक होता है अच्छे कोककारी कोयले होते हैं. कोक से युक्त कोयले खरल में चूर्ण करते समय मूसली में चिपकते है. महीन चूर्णित कोयले को यकायक उच्चताप तक गर्म करके उसकी कठोरता बढ़ाई जा सकती है. चूर्णित कोयले को संपीडित अवस्था में कोक-भट्टी में रखकर अच्छा कोक प्राप्त किया जा सकता है.

ऊष्मामान

कोयले का ऊष्मामान कैलोरी प्रति ग्राम या ब्रिटिश थर्मल इकाई (ब्रि. थ. इ.) द्वारा व्यक्त किया जाता है. कोयले की ऊष्मा-उत्पादकता (या कैलारी मान) ऊष्मा इकाइयों की उस संख्या से व्यक्त की जाती है जो कोयले के इकाई भार का दहन करने पर उत्पन्न होती है, यदि यह मान लिया जाए कि दहन वायुमण्डलीय दाब और ताप पर होता है. कोयले की ऊष्मा-उत्पादकता, कैलोरीमापी से या कोयले के परम विश्लेषण द्वारा निर्धारित की जा सकती है. इसके अतिरिक्त, जिन कोयलों को मुख्यतया भाप बनाने में प्रयुक्त करना होता है उनका परीक्षण बायलर से करना ठीक रहता है. इंजनों में ईंधन के लिए प्रयुक्त होने वाले कोयले की परीक्षा किसी ज्ञात भार की मालगाड़ी में निश्चित दूरी की यात्रा तय करने के अनुसार की जा सकती है. सामान्यतया कोयले की ऊष्मा-उत्पादकता कोयले में कार्बन की मात्रा में वृद्धि के साथ बढ़ती जाती है. साथ ही अधिक वाष्पशील कोयले, जिनसे लम्बी लपट निकलती है, कम वाष्पशील कोयलों की अपेक्षा जिनसे छोटी लपट निकलती है, कम ऊष्मा प्रदान करते हैं. 20% वाष्पशील पदार्थ वाले कोयलों की ऊष्मा-उत्पादकता उच्चतम अर्थात् शुद्ध कोयला (आर्द्रता और राख से मुक्त) के आधार पर 16,000 ब्रि. थ. इ. होती है.

भौतिक अभिलक्षण

भारत में कोयला संस्तर सदैव स्तरों का एक अंग होता है और समविन्यासी श्रेणी में संस्तर के रूप में होता है. कभी-कभी कोयला संस्तर कार्बनयुक्त शेल में एक या अनेक दिशाओं में पाए जाते हैं. वस्तुतः भारत का कुल कोयला स्तरित संरचना का है. सामान्यतः द्युतिमान और द्युतिहीन कोयलों का एक के बाद एक होना स्तरण का कारण है. लिग्नाइटी कोयलों में कोयले का रंग हल्के भूरे और पीले-भूरे से काला-भूरा और गहरा भूरा-काला और बिटुमेनी कोयले का रंग धूसर काले और नीले-काले से लोह-काला और गहरे काले तक बदलता रहता है. लिग्नाइट में धारियाँ हल्की भूरी से भूरी और बिटुमेनी कोयले में गहरी भूरी से धूसर काली तक होती हैं. ऐन्थ्रासाइट कोयला काली धारियाँ देता है. आमतौर से जो कोयला कार्बन में जितना समृद्ध होगा वह उतनी ही अधिक काली धारियाँ देगा. कोयले में धातु जैसी काचीय, पिच जैसी रेजिनी या द्युतिहीन चमक हो सकती है. कोयले का आपेक्षिक घनत्व उसके प्रकार और राख की मात्रा के अनुसार बदलता है. कोककर कोयले के लिए घ. = 1·27+अ, जहाँ पर घ. = आभासी आपेक्षिक घनत्व (आर्द्रता से संतृप्त कोयला) और अ = प्रति इकाई भार राख की मात्रा है. व्हिटेकर के अनुसार यह सूत्र केवल 40% राख वाले कोयलों पर लागू होता है. ऐन्थ्रासाइट का आपेक्षिक घनत्व अधिकतम (लगभग 1·5), लिग्नाइट का निम्नतम (लगभग 1·2) और बिटुमेनी कोयले का मध्यवर्ती होता है. कठोर बिटुमेनी कोयले और ऐन्थ्रासाइट में कोयले की कठोरता 2·5 से 3 तक बदलती है. साधारण बिटुमेनी कोयले की औसत कठोरता 2 है. कुछ लिग्नाइट तो सड़ी लकड़ी की तरह नर्म होते हैं. कोयले का विभंग, शंखाभ और असम दोनों तरह का होता है. आमतौर पर विट्रान का विभंग, शंखाभ होता है और इसी तरह ऐन्थ्रासाइट का भी होता है. स्तरित कोयलों का अधिकतर विदलन होता है. कोयले के विदलन में ऊर्ध्वाधर तल का विदलन भी सम्मिलित है. इसके कारण स्तरित कोयला चिकने पृष्ठों में, सामान्यतः दो निश्चित दिशाओं में टूटता है जो एक दूसरे से और स्तरण से समकोण बनाते हैं. विदलन तल एक दूसरे के पास या दूर भी हो सकते हैं. पहली स्थिति में कोयला या तो टुकड़ों में प्राप्त होगा या छूने से चूरा हो जाएगा. दूसरे में कोयले के बड़े-बड़े टुकड़े निकाले जा सकते हैं.

दृश्य अवयव

बिटुमेनी कोयलों में से अधिकांश, जैसे कि झरिया और रानीगंज कोयला-क्षेत्रों के कोयले, स्तरित या पट्टित संरचना के होते हैं. इस प्रकार की संरचना निम्नलिखित चार दृश्य पदार्थों के अंतःस्तरण के कारण होती है जो कोयला नमूने के विभंगित पृष्ठ पर साफ-साफ दिखाई देते हैं :

(1) **विट्रान** (ऐन्थ्राक्साइलान आफ थीसेन) – यह चमकदार समरूप गठन का, काचीय द्युति वाला काला कोयला पदार्थ है जिसका विभंग शंखाभ होता है. यह पट्टित बिटुमेनी कोयले में स्पष्ट स्तरों (मततः मसूर की तरह) के रूप में पाया जाता है. इस समांग पदार्थ में प्रायः पादप-संरचना नहीं दिखाई देती किन्तु कोशिकाओं के अवशेष कभी-कभी पतले खण्डों के रूप में सूक्ष्मदर्शी से देखने पर दिखाई पड़ते हैं.

2. **क्लैरेन** – यह भी विट्रान की भाँति कोयले का दूसरा अत्यधिक द्युतिमान घटक है. क्लैरेन स्वभाव से पट्टित या धारीदार होता है जिससे वह प्रकाश का प्रकीर्णन करता है. इसमें रेशम जैसी कान्ति होती है और विभंग शंखाभ नहीं होता. विट्रान स्वयं पट्टित नहीं है, उसमें काचीय द्युति होती है तथा उसका विभंग शंखाभ होता है. यह संभव है कि विट्रान और क्लैरेन एक ही होते हों और एक ही पदार्थ को प्रकट करते हों. प्रायः ये दोनों एक साथ चमकीले कोयलों के रूप में वर्गीकृत किए जाते हैं.

3. **डुरेन** या **द्युतिहीन कोयला** (अट्राइटस आफ़ थीसेन) – यह बिटुमेनी कोयले का बिना द्युति का घटक है. इसकी परतें क्रमरहित और खुरदुरे पृष्ठों में टूटती हैं जिनमें कोई द्युति नहीं होती. यह अंग विट्रान काचीय पृष्ठ से भिन्न है. डुरेन के पतले काट में अपारदर्शी कणों के मैट्रिक्स में स्पोर, क्यूटिकल और काष्ठ के टुकड़े लिपटे दिखाई देते हैं. द्युतिहीन कोयले में चमकीले कोयले की अपेक्षा राख अधिक होती है किन्तु ऐसा सदैव नहीं होता. उदाहरणार्थ, गिरिडीह कोयला-क्षेत्र के निम्न करहरबाड़ी संस्तर का कोयला कम राख वाला, अच्छी किस्म का कोयला है. कुल मिलाकर सूक्ष्म गठन वाले द्युतिहीन कोयले में राख की मात्रा अधिकतर बदलती रहती है और वे कार्बनमय शेल में बदल जाते हैं. फिर भी परीक्षण से पता चलता है कि कम राख वाले और शेल-जैसे द्युतिहीन प्रकारों की द्युति में अन्तर होता है. न्यून राख वाले कोयलों में रेशमी चमक होती है और शेल-जैसे कोयले मिट्टी से युक्त होते हैं और उनसे मिट्टी की-सी गंध आती है.

4. **फ़ुज़ैन** या **खनिज काठकोयला** (**मातृ कोयला**) – यह आमतौर पर नर्म रेशमी तन्तुमय परतों में मिलता है जिसमें काष्ठ की कोशिका-संरचना स्पष्ट दिखाई देती है. इस पर प्रायः ग्रेफाइटी चूर्णित पदार्थ की तह चढ़ी होती है. यह साधारणतया (अनियमित अंतराल पर) बिटुमेनी कोयले की द्युतिमान और द्युतिहीन परतों में अलग हो जाता है. साधारण कोयले के गंदे तथा धूल भरे होने के लिए यही उत्तरदायी है क्योंकि यह अत्यन्त भंगुर होता है और तुरन्त महीन चूर्ण बन जाता है. किन्तु इसमें से कुछ नर्म और अलग होने वाले रेशमी तन्तुओं वाला नहीं भी होता. बल्कि कठोर, न अलग होने वाले तन्तुओं से युक्त होता है और काठकोयले से अधिक समान होता है. किसी भी कोयला-संस्तर में फ़ुज़ैन लगभग 2–5% तक होता है.

वर्गीकरण

जिन पादप अवशेषों से कोयले बनते हैं उन्हीं की प्रकृति के अनुसार ये दो प्रकारों में बाँटे जाते हैं — सैप्रोपेलिक कोयले तथा ह्यूमिक कोयले. सैप्रोपेलिक कोयले, काष्ठहीन कोयले हैं जो कार्बनिक पदार्थों के रिसने से बनते हैं और स्पोर, तेल शैवाल और मर्दित पादप-अवशेष से युक्त समांग पिंड के रूप में होते हैं. इसके उदाहरण टोर्बेनाइट और कैनल कोयले हैं. इनमें साधारण कोयलों की अपेक्षा कार्बन कम रहता है और कभी-कभी इनमें इतना अधिक वाष्पशील पदार्थ रहता है कि ये दियासलाई से

जलाए जा सकते हैं. ये अपट्टित और विशेष रूप से भारी होते हैं. आसवित करने पर पर्याप्त तेल प्रदान करते हैं. सैप्रोपेलिक कोयले ज्यादा महत्व के नहीं हैं और अभी तक भारत में अज्ञात हैं. ह्यमिक कोयले में काष्ठ और छाल के अवशेष प्रमुख होते हैं. इस समूह के कोयले दलदली स्थानों में उगने वाले पौधों से, उनके जल में सड़कर पीट बनने और फिर पीट से वास्तविक कोयले में परिणत होने से प्राप्त होते हैं. वनस्पति-पदार्थों से कोयला बनाने में जिस हद तक भौतिक तथा रासायनिक परिवर्तन हुए रहते हैं उसके अनुसार उन्हें पीट, लिग्नाइट, अर्ध-बिटुमेनी, बिटुमेनी, सुपर-बिटुमेनी, अर्ध-ऐन्थ्रासाइट और ऐन्थ्रासाइट में विभाजित किया जाता है. ह्यमिक कोयलों की इस श्रेणी में कई श्रेणियों का प्रतिनिधित्व रहता है जो पीट से ऐन्थ्रासाइट बनने में होती हैं. सामान्यतः स्थिर कार्बन और कुल कार्बन, इन दोनों की प्रतिशतता में सतत वृद्धि होती है और आर्द्रता तथा वाष्पशील अवयवों की मात्रा में कमी होती रहती है. समान रासायनिक संघटन और लगभग समान ऊष्मा-उत्पादकता वाले कोयले एक कोटि में रखे जाते हैं. लिग्नाइट निम्नतम कोटि का है और पीट से बहुत मिलता-जुलता है. ऐन्थ्रासाइट उच्चतम कोटि का कोयला है जो लगभग शुद्ध कार्बन की कोटि का है, यद्यपि इसमें लगभग 3% हाइड्रोजन और 3% ऑक्सिजन भी रह सकते हैं.

पीट को कोयला नहीं माना जाता, भले ही ऊँचे भागों के कम ढालू पृष्ठों पर या निचले भू-भागों के छिछले बेसिनों में, यह कोयला बनने की प्रथम अवस्था को बताता है. पीट नम स्थानों में वानस्पतिक पदार्थ से क्षय होने से बनता है. पीट दलदल का ऊपरी तल हल्के रंग का (भूरी परतों का रंग भूरी लुग्दी की तरह गहरा होता जाता है) होता है, उसमें वनस्पतियों की आकृतियाँ साफ दिखाई देती हैं. अधिक गहराई पर और कुछ जेली-जैसे (प्लास्टिक) गुण वाला परिपक्व पीट मिलता है, जिसमें वनस्पतियों की आकृतियाँ दीख भी सकती हैं और नहीं भी. संयुक्त राज्य अमेरिका के भूविज्ञान सर्वेक्षण वर्गीकरण के अनुसार पीट में लगभग 85% आर्द्रता (जो शुष्क और अर्ध-शुष्क क्षेत्रों में वायु-शुष्कन से बहुत कम हो जाती है), 10·4% वाष्पशील पदार्थ, 4·6% स्थिर कार्बन होता है. इसका कैलोरी मान 2,870 ब्रि. थ. इ./किग्रा. होता है. इसको सुखाने और प्रयोग लायक बनाने में इतना खर्च होता है कि पीट सस्ता ईंधन नहीं रह पाता. परन्तु इसमें गन्धक कम होने से कोयले के गोले बनाए जा सकते हैं. पीट का उपयोग उर्वरक के रूप में या उर्वरक बनाने में किया जाता है क्योंकि इसमें नाइट्रोजन की प्रतिशतता अधिक (कभी-कभी 2%) होती है. भारत में वास्तविक पीट केवल दक्षिण में नीलगिरि पहाड़ियों पर 1,800 मीटर की ऊँचाई पर दलदली स्थानों पर पाया जाता है. इन दलदलों में विशाल भण्डारों का अनुमान है. प्रायः सुखाये गये पीट को गाड़ियों द्वारा ऊटकमण्ड भेजा जाता है जहाँ यह ईंधन के रूप में प्रयुक्त होता है. पीट-जैसा पदार्थ हुगली नदी के दोनों ओर 5·4–10·5 मी. की गहराई पर, और कलकत्ता के आसपास पाया जाता है. कश्मीर और नेपाल में भी पीट की उपस्थिति बताई गई है परन्तु ये निक्षेप संभवतः लिग्नाइट में वर्गीकृत होने चाहिए.

लिग्नाइट या भूरा कोयला—लिग्नाइट का पीट से घनिष्ट सम्बन्ध है और यह पीट तथा साधारण कोयले के बीच की कड़ी है. यह भूरे रंग का होता है और वायु में रखने पर इसका रंग गहरा हो जाता है. इसकी बनावट लकड़ी-जैसी या सूक्ष्म विभाजित पादप-ऊतकों की-सी होती है. जब लकड़ी के तन्तु दिखाई पड़ते हैं तो वे मर्दित वनस्पति कणों के अक्रिस्टलीय चूर्णित पिण्ड में बँसे होते हैं. उसमें प्रायः रेजिन के छोटे-छोटे कण भी होते हैं. लिग्नाइट, संस्तरण के समान्तर टूटता है परन्तु नमी की अधिकता (25–45%) होने से हवा में निकालने पर सूख जाता है, सिकुड़ता है और फिर आसानी से बिखर जाता है. इसलिए इसे खान से दूर नहीं भेजा जा सकता. इसका स्वतोदहन हो सकता है क्योंकि यह सरलता से ऑक्सिजन का अवशोषण कर सकता है इसलिए इसे खुले में संग्रह नहीं करना चाहिए. यह लम्बी, धुएँदार लौ के साथ जलता है. इसकी ऊष्मा-शक्ति निम्न होती है. लिग्नाइट की ऊष्मा-उत्पादकता 13,000–17,000 ब्रि. थ. इ./किग्रा. है. असम, पंजाब, कश्मीर और बलूचिस्तान में पाया जाने वाला तृतीयक कोयला आमतौर पर भूरा कोयला होता है. भारत का क्रिटेशस कोयला भी भूरा कोयला है. पीट-जैसा लिग्नाइट मुख्य रूप से पलना (राजस्थान) में पाया जाता है. इस लिग्नाइट में 40–45% आर्द्रता होती है परन्तु हवा में कुछ दिन रखने के बाद आर्द्रता 15% ही रह जाती है. 1884 में बोस ने लिग्नाइट की उपस्थिति का वर्णन रायपुर से 4·8 किलोमीटर दक्षिण-पश्चिम करुण नदी की रेती के नीचे जलोढ पीटमय मिट्टी में संस्तरित 15 सेंमी. गोलाई के लट्ठों के रूप में किया है. ऐसे ही निक्षेप आसपास के अन्य स्थानों में बताए जाते थे. लिग्नाइट, त्रावनकोर और मालाबार तटों में पाया जाता है. लिग्नाइट का एक 6–21 मी मोटा निक्षेप तमिलनाडु के आरकाट जिले के दक्षिण में पाया गया है. लिग्नाइट का सबसे अधिक उपयोग प्रोड्यूसर गैस बनाने में किया जाता है. ईंधन के रूप में इसका दोष यह है कि इसका शीघ्र चूरा बन जाता है, परिवहन में काफी हानि होती है तथा अदग्ध चूर्ण धुएँ में चला जाता है. लिग्नाइट अधिकतर कोयले के गोले के रूप में उपयोग में लाया जाता है.

अर्ध-बिटुमेनी कोयला या **काला लिग्नाइट**—यह काले रंग का (लिग्नाइट से अधिक गहरे रंग का) मंद मोमी चमक का कोयला है. यह लिग्नाइट की अपेक्षा भारी और कठोर होता है. इसमें नमी की मात्रा कम (12–25%) होती है. अधिकांश अर्ध-बिटुमेनी कोयले बिटुमेनी कोयले की ही भाँति पट्टित संरचना वाले होते हैं, परन्तु वे संस्तरण के समान्तर शिथिलता पूर्वक जुड़े रहते हैं जिसके कारण वे आयताकार टुकड़ों में न टूट करके सिल्लियों में टूटते हैं. कुछ किस्में (लिग्नाइट की भाँति) वायु में रखने पर छितर जाती हैं इसलिए उनके परिवहन में कठिनाई होती है. अर्ध-बिटुमेनी कोयला एक अच्छा ईंधन है जो सरलता से जल जाता है. इसका कैलोरी मान 15,500–24,000 ब्रि. थ. इ./किग्रा. है. यदि इसमें गन्धक कम रहे तो इसका उपयोग गैसें बनाने में हो सकता है. भारत के कुछ इओसीन कोयले अर्ध-बिटुमेनी कोयले की भाँति हैं.

बिटुमेनी कोयला—यह सामान्य घरेलू कोयला है. इसमें वास्तविक बिटुमेन नहीं रहता है परन्तु बिटुमेन की भाँति

धुएँदार पीली लौ के साथ जलने के कारण और आसवन पर विटुमेनी प्रकृति का कोलतार प्राप्त होने के कारण यह नाम पड़ा है. विटुमेनी कोयला काला होता है और द्युतिमान कोयले के स्तरों के कारण आमतौर पर पट्टित होता है. यह खड़े संधानों (जिन्हें क्लीट कहते हैं) के साथ आयताकार, स्तम्भीय या घनीय टुकड़ों में टूटता है. कभी-कभी यह विभंग शंखाभ होता है. विटुमेनी कोयला भारी तथा कठोर होता है और लिग्नाइट और अर्ध-विटुमेनी कोयले की अपेक्षा हवा में अधिक समय तक रखा जा सकता है. यह भाप, गैस और उपजात कोयलों के बनाने के लिए उत्तम है. इसका ईंधन अनुपात 2·5 से कम होता है और कैलोरी मान (संयुक्त राज्य अमेरिका भूविज्ञान सर्वेक्षण वर्गीकरण के अनुसार) 24,000 से 33,000 ब्रि. थ. इ./किग्रा. तक बदलता रहता है. विटुमेनी कोयला शायद संसार का सबसे अधिक काम में लाया जाने वाला ईंधन है क्योंकि इसमें उत्तम तापन गुण हैं और आसानी से धरा-उठाया जा सकता है. भारत में गोंडवाना-कोयला अधिकतर विटुमेनी कोयला है. विटुमेनी कोयला, उच्च वाष्पशील और निम्न वाष्पशील कोयलों में विभक्त किया गया है. उच्च वाष्पशील कोयलों का ईंधन अनुपात 2 से अधिक होता है. रानीगंज श्रेणी का कोयला आमतौर पर उच्च वाष्पशील कोयला है. ऐसा कोयला लम्बी लौ देता है और इसका उपयोग गैस उद्योग, कोलतार आसवन तथा कांच के कारखानों में किया जाता है.

अति-विटुमेनी या **अर्ध-विटुमेनी कोयला** – विटुमेनी कोयलों में यह सर्वोत्तम ग्रेड का कोयला है. इसका कैलोरी मान 27,000 से 34,000 ब्रि थ. इ./किग्रा. है और ईंधन अनुपात 2·5 से 5 तक होता है. यह लगभग धुआँरहित है. ऐन्थ्रासाइट और अन्य कोयलों की अपेक्षा इसके अच्छे ग्रेड के कोयलों में उच्चतर तापन-शक्ति होती है. इसमें संधान या विदलन का गुण अधिक प्रकट है जिसके कारण यह छोटे-छोटे प्रिज्मों में टूट जाता है.

उप-ऐन्थ्रासाइट या **अर्ध-ऐन्थ्रासाइट** – यह अति-विटुमेनी कोयले की अपेक्षा कठोर होता है परन्तु ऐन्थ्रासाइट-जैसा कठोर नहीं होता. ऐन्थ्रासाइट की अपेक्षा यह जल्दी सुलगता है और छोटी पीली ज्वाला के साथ जलता है जो नीली हो जाती है. इसका ईंधन अनुपात 5 से 10 के बीच है.

ऐन्थ्रासाइट काला और कठोर कोयला है जिसमें उपधात्विक द्युति और शंखाभ विभंग दिखाई देते हैं, किन्तु संधान विभंग और अधिक स्पष्ट होते हैं. ऐन्थ्रासाइट में वाष्पशील पदार्थों की प्रतिशतता बहुत कम और स्थिर कार्बन की प्रतिशतता उच्च होती है. इसका ईंधन अनुपात 10 से अधिक है. यह कठिनाई से जलता है और इससे छोटी, नीली, धुआँरहित लौ बनती है, हाथ गंदे नहीं होते हैं. इसे लकड़ी से नहीं जलाया जा सकता परन्तु यदि इसे विटुमेनी कोयले की गैस से जलाया जाए तो यह पूरा जल जाता है. ऐन्थ्रासाइट कोयलों की ऊष्मा-उत्पादकता 31,000 से 33,000 ब्रि. थ. इ./किग्रा. है. इसके जलने से उत्पन्न भीषण ऊष्मा निकलने तथा धूमरहित होने के कारण यह धातुकर्म और नौसैनिक कार्यों तथा मन्द दहन-स्टोवों में प्रयोग करने के लिए विशेष रूप से उपयुक्त है. वानस्पतिक पदार्थ से कोयले के रूपान्तरण से जो अंतिम पदार्थ बनता है यह ऐन्थ्रासाइट ही है. यह विटुमेनी कोयले से दाब तथा ताप के वशीभूत होकर बना है. भारत में सुपर-विटुमेनी कोयले, जो ऐन्थ्रासाइटी प्रकार के निकट है, कश्मीर की बाह्य हिमालय पहाड़ियों के निम्न टर्शरी (इओसीन) संरचना में पाए जाते हैं. दार्जिलिंग में निम्न गोंडवाना (परमियन) स्तरों में पाया जाने वाला दलित संस्तर कोयला सुपर-विटुमेनी या ऐन्थ्रासाइटी कोयला है.

भारतीय कोयला क्रमनिर्धारण वर्गीकरण

1924 में भारत सरकार ने निर्यातित कोयले के वर्गीकरण तथा प्रमाणीकरण करने की व्यवस्था के लिए एक "कोयला क्रमनिर्धारण बोर्ड" स्थापित किया. बोर्ड ने भारतीय कोयले के कई क्रम निश्चित किए (सारणी 2). प्रारम्भ में ये क्रम दामोदर घाटी कोयला क्षेत्रों से प्राप्त कोयलों के लिए बनाए गए थे.

भारत से निर्यातित कोयले को मानकीकृत करने के लिए इस प्रकार से कोयले का व्यापारिक वर्गीकरण हुआ था परन्तु जब सरकार ने 1944 में कोयलों की कीमतें निश्चित कर दीं तो बाहर न भेजे जाने वाले कोयले के लिए एक संशोधित और सरलीकृत योजना अपनाई गयी (सारणी 3). इस योजना को कोयला कमिश्नर क्रमनिर्धारण या रेलवे क्रमनिर्धारण के नाम से जाना जाता है.

कोयले की उत्पत्ति

यह अब सामान्य रूप से मान लिया गया है कि पत्थर-कोयला वनस्पति पदार्थ के अपघटन से उत्पन्न हुआ है, और

सारणी 2 – कोयला क्रमनिर्धारण बोर्ड का वर्गीकरण

वर्गीकरण	निम्न वाष्पशील कोयला (बाराकर संस्तर का मुख्य स्तर)	उच्च वाष्पशील कोयला (रानीगंज संस्तर का मुख्य स्तर)
वरित क्रम	13% तक राख; 7,000 कैलोरी/ग्रा. से अधिक या 12,600 ब्रि. थ. इ./पौं.	11% तक राख; 6,800 कैलोरी/ग्रा. से अधिक या 12,240 ब्रि. थ. इ./पौं., 6% से कम आर्द्रता.
क्रम सं. 1	15% तक राख; 6,500 कैलोरी/ग्रा. से अधिक या 11,700 ब्रि. थ. इ./पौं.	13% तक राख; 6,300 कैलोरी/ग्रा. से अधिक या 11,340 ब्रि. थ. इ./पौं., 9% से कम आर्द्रता.
क्रम सं. 2	18% तक राख; 6,000 कैलोरी/ग्रा. से अधिक या 10,800 ब्रि. थ. इ./पौं.	16% तक राख; 6,000 कैलोरी/ग्रा. से अधिक या 10,800 ब्रि. थ. इ./पौं., 10% से कम आर्द्रता.
क्रम सं. 3	ऊपर्युक्त से निम्न श्रेणी वाले कुल कोयले.	

सारणी 3 – कोयला कमिश्नर की श्रेणीकरण योजना

	रानीगंज संस्तरों के कोयले के लिए		रानीगंज संस्तरों के अतिरिक्त अन्य संस्तरों के कोयले के लिए	
वर्गीकरण	राख + आर्द्रता (%)		राख (%)	
वरित ए	17·5 से कम	कैलोरी मानों की आवश्यकता नहीं है	15 से कम	कोयले में आर्द्रता की मात्रा 2% से अधिक नहीं होनी चाहिये : कैलोरी मानों की आवश्यकता नहीं है
वरित बी	17·5–19·0		15–17	
क्रम सं. 1	19·0–2·40		17–20	
क्रम सं. 11	..		20–24	
क्रम सं. 111 ए	..		24–28	
क्रम सं. 111 बी	..		28–35	

सारणी 4 – कोयले का निर्माण (हड्डी और ह्यूमस)

(अ) आरम्भिक पदार्थ

लिग्नोसेलुलोस, वनस्पति प्रोटीन, रेजिन, वसा और मोम

(आ) परिवर्तन की प्रथम अवस्था

(क)	(ख)	(ग)
किण्वन, CH_4, CO_2, H_2O निकलते है और पीट-दल बनता है	पानी द्वारा मर्दन और संभवतया पृथक्करण भी, जिससे (1) कोलायडी जेल और (2) अविलेय पदार्थ बनते हैं.	पानी द्वारा स्थानान्तरण और अन्य स्थान पर पुनः निक्षेपण (कभी-कभी).

(इ) परिवर्तन की दूसरी अवस्था

(क)	(ख)
नये संस्तरों द्वारा आवरणन और संपीडन और दाव द्वारा पिंड का निर्जलीकरण.	भ-संचलनों द्वारा स्तरित रचना का निर्माण.

(ई) परिवर्तन की तीसरी या विटुमेनीकरण अवस्था

दाव और (आधीनतः) धीरे-धीरे बढ़ने वाले ताप के प्रभाव से :
(क) उत्तरोत्तर निर्जलीकरण
(ख) आन्तरिक संघनन से CO_2, H_2O और CH_4 की हानि
(ग) अम्लीय और क्षारकीय ह्यमस पदार्थों का मिश्रण
(घ) फीनोली पदार्थों से कोककर रचकों का विकास

(उ) परिवर्तन की चौथी या ऐन्थ्रासाइटीकरण अवस्था

तीव्र भू-संचलनों के कारण दाव और ताप के प्रभाव से विटुमेनित पदार्थ का ऐन्थ्रासाइटीकरण

अनेक प्रकार के कोयलों के मूल पदार्थ में रासायनिक अपघटन और भौतिक परिवर्तन की कोटियाँ भिन्न-भिन्न मात्राओं में होती हैं. मूल कार्वनिक मलवे से कोयला निर्माण की विभिन्न अवस्थायें सारणी 4 में दी गई हैं.

यह वनस्पति पदार्थ विभिन्न स्थानों पर किस प्रकार एकत्रित हुआ, इसके सम्वन्ध में दो विपरीत मत प्रकट किए गए हैं. वे **स्वस्थाने** और **स्थानान्तरण** मत कहलाते हैं: दोनों सिद्धान्त निम्नस्तरी पीट दलदल से आरम्भ होते हैं किन्तु एक मत के अनुसार कोयले का संस्तर और उसके नीचे की मिट्टी (अथवा निम्न मृत्तिका, अग्नि मृत्तिका) ही वह स्थान है जहाँ पर दलदल था अर्थात् वनस्पति पदार्थ वहीं उपजा और क्षय हुआ जहाँ हमें कोयला मिलता है. दूसरे मत के अनुसार वह वनस्पति मलवा पानी के द्वारा वहा कर उस दलदल से निकटवर्ती लैगूनों, झीलों अथवा ज्वार नदमुख में पहुँचाया गया.

स्वस्थाने कोयले की उत्पत्ति के पक्ष में निम्नलिखित तर्क दिये जाते है.

1. वर्तमान पीटी दलदलों में, जैसे कि वरजीनिया के ग्रेट डिस्मल स्वाम्प में क्षयित वनस्पति पदार्थ स्वस्थाने एकत्रित होता रहा है.

2. कोयले के संस्तर प्रायः अग्नि मृत्तिका (अधो मृत्तिका) की तह पर आधारित होते हैं. सामान्य मिट्टी में जो अवयव (क्षार, चूना और लोह ऑक्साइड) गालक की भाँति काम करते हैं वे इसमें से उन पौधों द्वारा निकाल लिए गए होते हैं जो उन पर उगे थे.

3. अधो मृत्तिकाओं और कभी-कभी कोयले के साथ वालुकाश्मों और अन्य चट्टानों में वृक्षों के तनों के अथवा जड़ों के सीधे खड़े जीवाश्म मिलते हैं. जिनकी संख्या कभी-कभी इतनी अधिक होती है कि मानो वे किसी वृक्ष-वन के जीवाश्म हों.

4. कोयला संस्तर के विशाल क्षेत्र अपनी रचना में प्रचुर समानता दर्शाते हैं. यदि यह पदार्थ वह कर अपनी वर्तमान स्थिति में पहुँचा होता, तो एक कोयला संस्तर के विभिन्न भागों में राख की मात्रा में अधिक भिन्नता मिलनी चाहिये थी. कोयले में उसके साथ वह कर आने वाले पदार्थो, यथा रेत अथवा मिट्टी, का भी अभाव पाया जाता है.

5. कोयले में कोई जलीय जीवाश्म नहीं पाए जाते; इससे भी उसके स्वस्थाने उत्पन्न होने के सिद्धान्त को समर्थन प्राप्त होता है.

स्थानांतरण सिद्धान्त के समर्थक स्वस्थाने सिद्धान्त मे दोष निकालते हैं और अपने पक्ष में निम्नलिखित बातों की ओर ध्यान आकर्षित करते हैं.

1. आधार-मृदा प्रायः अनुपस्थित रहती है और कोयले के संस्तर सीधे वालुकाश्म, संगुटिका या शेल पर स्थित होते हैं, और उनमें छोटी जड़ों का नामोनिशान नहीं रहता.

2. आमतौर से लेटे या तिरछे तनों का अनुपात खड़े तनों की अपेक्षा अधिक होता है.

3. झरिया कोयला-क्षेत्र के समान क्षेत्रों में, जहाँ बहुत से संलग्न संस्तर तलछटों द्वारा विलगाए हुए पाए जाते हैं, स्वस्थाने उत्पत्ति सिद्धान्त के लिए यह आवश्यक है कि भू का दोलन-संचलन तेज और बारम्बार हुआ हो — पहले थल धरातल पर पीट बना हो, वह नीचे धँसा और दब गया हो, और ये क्रियायें बहुत बार हुई हों.

4. यह अनुमान लगाया गया है कि 1 मी. कोयला बनाने के लिए 10 मी. पीट की आवश्यकता होती है. जिसका अर्थ यह हुआ कि 9 मी. ऊँचे कोयला-संस्तर के निर्माण के लिए 90 मी. मोटी पीट की तह चाहिए. यह मात्रा आजकल मिलने वाले सभी पीट-निक्षेपों से बहुत अधिक है.

5. स्थानान्तरण सिद्धान्त के समर्थन में एक प्रमाण उन कोयलों से मिलता है जो किन्हीं नदियों के मुहानों में, जैसे कि मिसीसिपी और गंगा के मुहानों में पाए जाते हैं.

6. कोयला-संस्तरों के लक्षण तलछटी चट्टानों के लक्षणों के समान होते हैं. बहुत से संस्तरों में परतें पायी जाती हैं. ये ऐसी कोयले की तहों से निर्मित हैं जिनके बीच में शेल, मिट्टी या बालुकाश्म की तहें होती हैं. इन तहों की मोटाई सामान्य झिल्ली की मोटाई से लेकर कई मीटर तक हो सकती है. कार्बनयुक्त शेल प्राय: शुद्ध कोयले के संस्तरों में पार्श्व से प्रवेश कर जाते हैं.

इस मत के अनुसार शुद्ध कोयले का संस्तर उस क्षेत्र को सूचित करता है जहाँ सबसे हल्के और बढ़िया पदार्थ की पहुँच थी. कोयले के संस्तर उन बीच-बीच में आने वाले भू-संचलनों के कारण बने होंगे जिनमें धरातल में गड्ढे बने, जो बाद में बालुकाश्म के समान मोटे पदार्थ से भरे और फिर सबसे ऊपर सबसे हल्के बहे हुए काष्ठ और पौधों के अवशेष आ गये. ऐसे क्षेत्र की कल्पना करना कठिन है जहाँ केवल सबसे हल्का पदार्थ ही इतने समय तक पहुँचता रहा हो जितने समय में 10 मी. या अधिक मोटा कोयला संस्तर तैयार हो जाये. पर यह समझा जाता है कि स्थानान्तरित अपघटित वनस्पति अपने इन विश्राम स्थलों पर कम या अधिक सघनित और असपीड्य स्थिति में पहुँची होगी. इस मत के अनुसार 10 मी. मोटे शुद्ध कोयले के संस्तर के निर्माण के लिए कई गुने आयतन वाले पदार्थ की आवश्यकता नहीं पड़ेगी. जब कोयले के संस्तर जमा हो रहे थे तो सघनित वनस्पति-लुगदी तेजी से कठोर होकर कोयला बनती जा रही थी, यह बात अधिकतर कोयला-क्षेत्रों के कोयला-संस्तरों के बालुकाश्म में बँधे हुए कोयले के कोणीय अथवा गोल गुटिकाओं के मिलने से प्रमाणित होती है; कभी-कभी इन गुटिकाओं की बनावट साधारण कोयले के समान, एक के बाद एक चमकदार और मन्द तहों की पायी जाती है.

सभी भारतीय कोयला-संस्तरों का विशिष्ट लक्षण यह है कि उनके बीच में सदा ही बालुकाश्मों और शेलों की तहें पाई जाती हैं, जो (मीठे या समुद्री पानी में) तलछटों के रूप में जमा हुई थीं. अधिकांश दशाओं में इन तहों के पूर्ण क्रम से ऐसा जान पड़ता है कि उनका पानी में सतत निक्षेपण हुआ है. इससे यह निष्कर्ष निकाला जाता है कि यह वनस्पति पदार्थ (जो कोयले में परिवर्तित हो चुका था) स्थानान्तरित हुआ है और अपेक्षाकृत शान्त पानी में निक्षेपित हो गया है. कुछ दशाओं में कोयले के संस्तरों के नीचे अग्नि मृत्तिकायें या अधो मृत्तिकायें नहीं पाई जातीं. गोंडवाना, मेसोज़ोइक और तृतीयक कोयला-क्षेत्रों में जड़ों युक्त खड़े तनों के प्राप्त होने का कोई उल्लेख नहीं पाया जाता. भारत में कोयला वाली विभिन्न चट्टानों से जो वनस्पति जीवाश्म अभी तक प्राप्त हुए हैं, वे अधिकांशत: स्थलीय दशाओं में पाये गए हैं. इन प्रमाणों से इस सामान्य विश्वास का समर्थन होता है कि भारतीय कोयला उस स्थलीय वानस्पतिक पदार्थ से बना है जो झीलों, नदी घाटियों, मुहानों और समुद्र में भी ले जाया गया है.

भारतीय कोयले का भूवैज्ञानिक वितरण

भूवैज्ञानिक दृष्टि से भारतीय कोयला-क्षेत्रों को चार शीर्षकों के अन्तर्गत रखा जा सकता है: (1) गोंडवाना कोयला-क्षेत्र; (2) जुरैसिक कोयला-क्षेत्र; (3) क्रिटेशस कोयला-क्षेत्र; और (4) तृतीयक कोयला-क्षेत्र. इनमें गोंडवाना कोयला-क्षेत्र अत्यंत महत्वपूर्ण हैं. 1946 में भारत में खोदे गए सम्पूर्ण कोयले का 98·78% इन्हीं क्षेत्रों से निकाला गया था और शेष भाग तृतीयक कोयला-क्षेत्रों से था. भारतीय कोयले का भूवैज्ञानिक वितरण सारणी 5 में दिया गया है.

अध: गोंडवाना कोयला-क्षेत्र

भारत के गोंडवाना कोयला-क्षेत्र खण्डों में बँटे हुए मिलते हैं जो मुख्यत: सीमित क्षेत्र में प्रारम्भिक ताजे जल बेसिनों (द्रोणियों) के भ्रंशन के कारण परिरक्षित हैं. इनके नाम है: (1) दामोदर-बेसिन; (2) सोन-पालामऊ बेसिन; (3) महानदी बेसिन; (4) छत्तीसगढ़-रीवाँ बेसिन; (5) गोदावरी-वर्धा बेसिन; (6) सतपुड़ा बेसिन; तथा (7) पूर्वी हिमालय बेसिन. अत: गोंडवाना काल के कोयला-क्षेत्र मुख्यत: बंगाल, बिहार, उड़ीसा, मध्य भारत, उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश, आन्ध्र प्रदेश, तमिलनाडु और पूर्वी हिमालय में पाए जाते हैं (Fox, *Mem. geol. Surv. India*, 1934, **59**; Gee, *Rec. geol. Surv. India*, **76**, *Bull.*, 16, 1945).

गोंडवाना कोयले का अधिकांश भाग निचले गोंडवाना के शेल-समूहों में पाया जाता है, यथा दामुड़ा या दामोदर श्रेणी जिसमें दो कोयला-वाहक अवस्थाएँ होती हैं: अध: परमियन काल के निचले या बाराकर कोयला-संस्तर और ऊर्ध्व परमियन काल के ऊपरी या रानीगंज कोयला-संस्तर. बाराकर-अवस्था का कोयला रानीगंज-अवस्था के कोयले से अपेक्षाकृत अधिक परिपक्व है. पहले में 1–3% आर्द्रता और 20–30% वाष्पशील पदार्थ होता है जब कि दूसरे में 3–8% या इससे अधिक आर्द्रता और 30–36% वाष्पशील पदार्थ होता है. बाराकर संस्तर के कोयले में 56–65 निश्चित (स्थिर) कार्बन होता है और यह पिंड बन जाता है परन्तु रानीगंज संस्तर के कोयले में 56–60% निश्चित (स्थिर) कार्बन होता है और ये उत्तम गैस कोयले तथा लम्बी लपटों वाले भाप कोयले हैं.

बिहार के कोयला-क्षेत्र

राजमहल क्षेत्र के कोयला-क्षेत्र

(1) हुरा और जिलबारी कोयला-क्षेत्र – फुलबरा ग्राम के निकट एक 2·7 मी. मोटे कोयला-संस्तर की सूचना है.

जिलवारी के निकट दो कोयला-संस्तर पाए गए हैं जिनमें से ऊपरी लगभग 1·8 मी. मोटा है.

(2) **चुपरभीटा कोयला-क्षेत्र** – यह कोयला-क्षेत्र लगभग 11·2 किमी. लम्बा है. मलिकबाथन के निकट दो कोयला-संस्तर मिलते है जिनकी मोटाई 2·7 मी. और 1·8 मी. है किन्तु यह कोयला निम्न कोटि का है.

(3) **पचवाड़ा कोयला-क्षेत्र** – इस क्षेत्र में अधिक नमी और लम्बी लपटों वाला, पिंड न बनाने वाला कोयला प्राप्त हुआ है और वार्गो तथा चिलगो के निकट इसकी खुदाई भी होती है. इसका उपयोग आसपास के स्थानों में ईंट पकाने के लिए होता है.

(4) **ब्राह्मणी कोयला-क्षेत्र** – सरसावाद के पश्चिम और उत्तर पश्चिम में पंचवाहिनी से सालदह का क्षेत्र आशाजनक है.

अनुमान किया जाता है कि उपर्युक्त कोयला-क्षेत्रों का समस्त क्षेत्रफल लगभग 180 वर्ग किलोमीटर है जिनमें लगभग 2,000 लाख टन भण्डार होने का अनुमान है. भूरा कोयला-क्षेत्र के दो संस्तर आशाजनक प्रतीत होते हैं.

सारणी 5 – खुदाई योग्य प्राप्य कोयला-संस्तरों का भूवैज्ञानिक अनुक्रम (फाक्स)

भूवैज्ञानिक काल	कालारम्भ से व्यतीत समय (लाख वर्षों में)	भारत, पाकिस्तान एवम् ब्रह्मा के कोयला-क्षेत्र	
प्लीस्टोसीन या अभिनूतन काल	60	ब्रह्मा के उत्तरी शान राज्यों में लशियो नम्मा आदि	
प्लाइओसीन	150	कश्मीर का कड़ेवा	
माइओसीन या अल्पनूतन काल[1]	300	नामचिक, मकूम, जयपुर, नजीरा और असम की नागा पहाड़ियों के कोयला-क्षेत्र; तमिलनाडु में दक्षिणी अर्काट का लिग्नाइट	
ऊर्ध्व इओसीन या आदिनूतन काल	450	असम की खासी और जयन्तिया पहाड़ियों में चेरापूंजी, माओलांग आदि; उत्तरी ब्रह्मा में कलेवा और याव नदियों के कोयला-क्षेत्र	तृतीयक कोयला-क्षेत्र
निम्न इओसीन काल	600	राजपूताना में पलना; बलूचिस्तान में खोस्ट और माच; कश्मीर में कालाकोट और पश्चिमी पंजाब के दंदोत एवं मकरवाल	
क्रिटेशस काल[2]	1,350	असम में गारो पहाड़ी में दारांगिरी और रांगरेनगिरि आदि; तथा खासी और जयन्तिया पहाड़ियों के कुछ कोयला-क्षेत्र	क्रिटेशस कोयला-क्षेत्र
ऊर्ध्व जुरैसिक काल, निम्न जुरैसिक काल	1,920	कच्छ कोयला-संस्तर, नर्मदा घाटी का लमेटा घाट कोयला, ब्रह्मा में लोअन, पनलौंग नदी के क्षेत्र; पंजाब में कालावाग कोयला	जुरैसिक कोयला-क्षेत्र
ऊर्ध्व परमियन काल	2,400	रानीगंज और भरिया कोयला-क्षेत्र और दामोदर घाटी में बोकारो कोयला-क्षेत्र के कुछ संस्तर, दार्जिलिंग हिमालय कोयला-क्षेत्र	गोंडवाना कोयला-क्षेत्र
निम्न परमियन काल	2,700	प्रायद्वीपीय भारत का सम्पूर्ण निचला गोंडवाना कोयला-क्षेत्र जिसमें दामोदर घाटी, महानदी-ब्राह्मणी घाटी, प्रन्हिता-गोदावरी घाटी, पेंच घाटी, वर्धा घाटी, सोनघाटी आदि कोयला-क्षेत्र सम्मिलित हैं	

[1]ऊपरी असम के माइओसीन कोयला-क्षेत्र अब ऊर्ध्व-इओसीन काल के माने जाते हैं.
[2]असम के क्रिटेशस कोयला-क्षेत्र अब निम्न इओसीन काल के माने जाते हैं.

देवघर कोयला-क्षेत्र

(1) **कुंदित करैया कोयला-क्षेत्र** – इस क्षेत्र में खैरवानी ग्राम के निकट दो पतले कोयला-संस्तर पाये जाते हैं.

(2) **सहजुरी कोयला-क्षेत्र** – यहाँ 5·4–7·5 किमी. मोटे दो कोयला-संस्तर हैं, जिनमें विभिन्न स्थानों पर खुदाई होती है. लगभग 220 लाख टन कोयले का भण्डार अनुमान किया जाता है किन्तु यह कोयला निम्न कोटि का है.

(3) **जयन्ती कोयला-क्षेत्र** – इस क्षेत्र में निम्न वाष्पशील कोयले के तीन संस्तर हैं जिसमें निचला संस्तर 130 सेंमी. मोटा है और वह उच्च कोटि का है. इसका कैलोरी मान 7,215 है. कुल भण्डार 20 लाख टन है जिसमें से 10 लाख टन कोककर कोयला है.

हजारीबाग कोयला-क्षेत्र

(1) **गिरिडीह** या **करहरवाड़ी कोयला-क्षेत्र** – इसका क्षेत्रफल लगभग 28·5 वर्ग किलोमीटर है जिसमें 18 वर्ग किलोमीटर क्षेत्र उत्पादक है. इस क्षेत्र में तीन संस्तर हैं — निचला और ऊपरी करहरवाड़ी संस्तर और पहाड़ी संस्तर. ऊपरी करहरवाड़ी संस्तर, जिसकी मोटाई 1·2–3 मी. है, समाप्तप्राय है. निचला करहरवाड़ी संस्तर 3–7·2 मी. मोटा है. इस संस्तर का कोयला भारत में उपलब्ध न्यून-फॉस्फोरसीय धातुकर्मक पिंड बनाने वाले कोयलों में सर्वश्रेष्ठ है, किन्तु यह कोयला अब पूर्णतया रेल-इंजनों में काम आता है. गिरिडीह कोयला-संस्तरों में गंधक की मात्रा 0·5% से भी कम है. गिरिडीह का कोयला धूमिल होता है. अनुमान किया जाता है कि इस क्षेत्र में उच्च कोटि का कुल कोककर कोयला 200 लाख टन है और इस कोयला-क्षेत्र की आयु 25 वर्ष से अधिक नहीं है.

(2) **चोप कोयला-क्षेत्र** – इस क्षेत्र में केवल 1·2 मी. मोटाई का एक कोयला-संस्तर ज्ञात है.

(3) **इटखोरी कोयला-क्षेत्र** – इस क्षेत्र में तीन कोयला-संस्तरों का उल्लेख मिलता है. सबसे निचले संस्तर की मोटाई 2·4 मी., बीच वाले की 1·2 मी. और ऊपरी संस्तर की मोटाई ज्ञात नहीं है. कोयले की मात्रा 15 लाख टन आँकी जाती है.

दामोदर घाटी कोयला-क्षेत्र

(1) **झरिया कोयला-क्षेत्र** – यह भारत का सबसे महत्वपूर्ण कोयला-क्षेत्र है और भारत में निकाले जाने वाले समस्त कोयले के 40% उत्पादन का श्रेय इसी क्षेत्र को प्राप्त है. झरिया क्षेत्र की कोयला-युक्त चट्टानों का कुल क्षेत्रफल 270 वर्ग किलोमीटर है. इस क्षेत्र की बाराकर श्रेणी में 18–20 कोयला-संस्तर खोदे जाने योग्य मोटाई के हैं और रानीगंज श्रेणी में 9 संस्तर हैं. बाराकर श्रेणी के कोयला-संस्तर 1 से लेकर 18 संख्या तक हैं. सबसे निचले संस्तर की संख्या 1 और सबसे ऊपर की संख्या 18 है. ऊपरी नौ संस्तरों में पाया जाने वाला कोयला सामान्यतया उच्च कोटि का पिंड बनाने वाला कोयला होता है. झरिया क्षेत्र के कोयला-संस्तरों में बहुधा निम्नलिखित वनस्पति फॉसिल पाये जाते हैं – **ग्लासोप्टेरिस** की पत्तियाँ और जड़ें जिसे **वर्टेब्रेरिया** कहते हैं और **शीज़ोन्यूरा** के तने और पत्तियाँ तथा **डैडोक्सिलान** पेड़ के सिलिकामय स्तम्भ. झरिया क्षेत्र के बाराकर संस्तर के कोयले को तीन भागों में विभाजित किया जा सकता है: (1) 26% तक वाष्पशील पदार्थों से युक्त कोयला; (2) 26–28% वाष्पशील पदार्थों वाला, मध्यम वाष्पशील कोयला; और (3) 28% से अधिक वाष्पशील पदार्थों वाला उच्च वाष्पशील कोयला. रानीगंज संस्तर के कोयले की आर्द्रता उपर्युक्त कोयलों से किंचित अधिक है अन्यथा वे इस क्षेत्र के उच्च वाष्पशील बाराकर कोयले के समान हैं. झरिया कोयला-क्षेत्र में खुदाई योग्य कुल भंडार इस प्रकार हैं:

सतह से 150 मी. की गहराई तक	20,000 लाख टन
सतह से 300 मी. की गहराई तक	35,000 लाख टन
सतह से 600 मी. की गहराई तक	45,000 लाख टन

इस कोयला-क्षेत्र की आयु मुख्यतः संस्तर संख्या 9 के ऊपर पाए जाने वाले उच्च स्तर के प्राप्त कोयले की मात्रा पर निर्भर है. ऐसा अनुमान है कि 600 मी. की गहराई तक 8,600 लाख टन कोयला होगा. बालू के भराव के कारण अब इस क्षेत्र की आयु 30–40 वर्ष तक होने की आशा की जा सकती है.

झरिया कोयला-क्षेत्र की ऊपरी संस्तरों में (संस्तर 10 और उसके ऊपर) अत्यधिक मात्रा में उत्तम कोककर कोयला होने के कारण इस क्षेत्र को भारतीय धातुकर्मक कोयले का अत्यंत महत्वपूर्ण भण्डार कहा जाता है. झरिया क्षेत्र में पाया जाने वाला निम्न कोटि का पिंड बनाने वाला (अधिक राख वाला, पिंड बनाने वाला कोयला) घरेलू ईंधन के लिए भारत में उपलब्ध सर्वश्रेष्ठ मृदु कोक है. परन्तु मृदु कोक खुले स्थान में बनाया जाता है इसलिए करोड़ों रुपयों के उपजात की हानि होती है.

(2) **चन्द्रपुरा कोयला-क्षेत्र** – झरिया कोयला-क्षेत्र की पश्चिमी सीमा पर चन्द्रपुरा रेलवे स्टेशन के निकट 160 हेक्टर का यह एक छोटा थाली के आकार का गोंडवाना कोयला-क्षेत्र है. यहाँ छः-सात अण्डाकार दृश्यांशित कोयला-संस्तर पाए गए हैं जिनमें एक तो 7·5 मी. से भी अधिक मोटा है किन्तु दूसरा 3 मी. ही मोटा है जो कहीं-कहीं भ्रंशन के कारण अस्तव्यस्त हो गया है. कोयले का अधिकांश भाग द्वितीय कोटि का अच्छा कोयला है.

(3) **बोकारो कोयला-क्षेत्र** – इस क्षेत्र में वेधन द्वारा 29 कोयला-संस्तरों का पता चला है. ये 1·2 से 20·7 मी. तक मोटे हैं. कोयले का कुछ भाग अत्यन्त कोककर और उच्च कोटि का है जिसका कैलोरी मान 7,000 कै. से भी अधिक है. इसमें फॉस्फोरस की मात्रा 0·3% से कम है. पूर्वी बोकारो क्षेत्र का करगली संस्तर अत्यंत महत्वपूर्ण है; इसका एक खंड 37·5 मी. मोटा है जिसमें कार्बनयुक्त शैल की पतली पट्टियाँ भी हैं. यहाँ लगभग 8,000 लाख टन कोयला होगा जिसमें से 3,000 लाख टन अच्छी कोककर श्रेणी का है.

(4) **रामगढ़ कोयला-क्षेत्र** – इस क्षेत्र की कोयला से युक्त चट्टानें लगभग 77 वर्ग किलोमीटर में हैं. इसमें कई मोटे कोयला-संस्तर भी हैं किन्तु यह कोयला निम्न कोटि का है.

(5) **दक्षिणी करनपुरा और उत्तरी करनपुरा कोयला-क्षेत्र** – 15 मी. मोटाई तक के कई कोयला-संस्तर (अरगदा संस्तर 27 मी. मोटा है) दक्षिणी करनपुरा क्षेत्र में हैं. उत्तरी करनपुरा क्षेत्र में भी कई संस्तर हैं जिनमें से कुछ तो 21·6 मी. से

भी अधिक मोटे है. ये कोयले सामान्यतया देखने मे धूमिल है. दक्षिणी करनपुरा मे अर्ध-पिण्डन और उत्तरी करनपुरा मे अपिटन कोयले पाये जाते है. दक्षिणी करनपुरा कोयले का कैलोरी मान 6,500 से 6,900 कै. होता है जिसमे से अरगदा सस्तर का कैलोरी मान सबसे अधिक है. करनपुरा क्षेत्र मे 600 मी की गहराई तक उच्च स्तर के 7,500 लाख टन कोयले का भण्डार है.

(6) **औरंगा कोयला-क्षेत्र** – इसका क्षेत्रफल लगभग 259 वर्ग किलोमीटर है जिसमे कई कोयला-संस्तर है. कुछ की मोटाई तो 12 मी. तक है.

(7) **हुतार कोयला-क्षेत्र** – यह क्षेत्र पालामऊ जिले मे औरंगा कोयला-क्षेत्र से 19 किलोमीटर पश्चिम मे स्थित है. इसका क्षेत्रफल लगभग 207 वर्ग किलोमीटर है इस क्षेत्र की खोज अधूरी है इसमे विभिन्न मोटाइयो के कई कोयला-संस्तर है जिनमे से एक की मोटाई 4·1 मी है. यह कोयला अकोककर है और इसमे अपेक्षाकृत अधिक आर्द्रता होती है

(8) **डाल्टनगंज कोयला-क्षेत्र** – इस क्षेत्र के 82·9 वर्ग किलोमीटर मे कोयलायुक्त बाराकर चट्टाने है. लगभग 9 मी. मोटा एक कोयला-सस्तर राजहारा रेलवे स्टेशन के पास है. वेधन से 15 सेमी से 1.5 मी. मोटाई के 14 कोयला-संस्तरो के होने के प्रमाण मिले है राजहारा के निकट 2·59 वर्ग किलोमीटर क्षेत्र मे 90 लाख टन कोयले के भण्डार होने का अनुमान है.

बंगाल और बिहार के कुछ भाग के कोयला-क्षेत्र

(1) **रानीगंज कोयला-क्षेत्र** – इस क्षेत्र की वर्तमान ज्ञात सीमाओ का कुल क्षेत्रफल लगभग 1,554 वर्ग किलोमीटर है लेकिन यह इन सीमाओ से भी आगे तक फैला हुआ है जहाँ पर मोटे जलोढ आवरण के नीचे कोयला-युक्त चट्टाने है. रेलवे और कई सार्वजनिक सस्थाओ द्वारा इस क्षेत्र के समय-समय पर जो वेधन हुए है उनसे कोयले का पता चला है रानीगज कोयला-क्षेत्र के दोनो सस्तरो, बाराकर एवम् रानीगज, मे कोयला-सस्तर मिलते है बाराकर-अवस्था के महत्वपूर्ण कोयला-सस्तर निम्नांकित है:

दामागरिया सस्तर – अकोककर कोयला,	कैलोरी मान	7,150 कै.
लैकडीह सस्तर – उत्तम कोककर कोयला,	कैलोरी मान	7,600 कै.
रामनगर सस्तर – कोककर कोयला,	कैलोरी मान	7,000 कै.
वेगुनिया सस्तर, कैलोरी मान		7,200 कै.

रानीगज-अवस्था के महत्वपूर्ण कोयला-संस्तर निम्नलिखित है:

पनिहाटी संस्तर,	कैलोरी मान	7,200 कै.
दिशरगढ सस्तर,	कैलोरी मान	7,200 कै.
जम्वद-नेगा सस्तर,	कैलोरी मान	6,800 कै.
घुसिक सस्तर,	कैलोरी मान	6,900 कै.

साधारणतया रानीगज क्षेत्र के निम्नलिखित सस्तरो का कोयला अकेले या झरिया के अतिकोककर कोयले के साथ मिलाकर धातुकर्मक-कोक बनाने के उपयोग मे लाया जाता है: रामनगर, लैकडीह, वेगुनिया, पनिहाटी और दिशरगढ. दिशरगढ, सैंक्टोरिया और पनिहाटी संस्तरो से उत्तम गैस-कोयला प्राप्त होता है.

रानीगंज क्षेत्र के निम्नलिखित संस्तरो मे उच्च कोटि का कोकर कोयला पाया जाता है: दामागरिया-सालनपुर के "ए" सस्तर, गौरंगडीह सस्तर, समला संस्तर, रघुनाथवत्ती सस्तर, जम्वद-नेगा सस्तर, घुसिक संस्तर, और बादशा सस्तर.

रानीगज क्षेत्र मे 600 मी. की गहराई तक कोयलो का सम्पूर्ण भण्डार 90,000 लाख टन है जिसमे उच्च कोटि के कोकर कोयले की मात्रा केवल 2,300 लाख टन है. इस क्षेत्र की वर्तमान उत्पादन क्षमता लगभग 85 लाख टन है जो भारतीय कोयला उत्पादन का 29% है.

2. **दार्जिलिंग कोयला-क्षेत्र** – दार्जिलिंग जिले के तिनधारिया और लीशू तथा रामती नदियों के बीच के इलाको से आशाजनक कोयला-निक्षेपों के पाये जाने की सूचना है. तिनधारिया कोयला-सस्तर 3·3 मी. मोटा है. लीशू क्षेत्र मे कई कोयला-सस्तर पाए गए है जिनमे से कुछ तो उत्तम कोककर कोटि के है. दार्जिलिंग के गोडवाना कोयलो की औसत राख मात्रा 13–26% है. कोयले का भण्डार लगभग 50 लाख टन है. चमुर्ची गढी के पश्चिम, डायना वन विज्ञान-गृह के उत्तर, जलपाईगुडी जिले मे बगाल-भूटान सीमा पर डायना नदी के किनारो पर ग्रेफाइट शेल के कई सस्तर पाए गए है जिसमे से कुछ मे स्थिर कार्बन 40% से अधिक है. अवोर, मीरी, डफला, आका, तथा भूटान की पहाडियो और वक्साद्वार कुछ ऐसे अन्य हिमालयी क्षेत्र है जहाँ कोयला पाया जाता है. किन्तु ये सस्तर भ्रंशित, वलित और सदलित है

उड़ीसा के कोयला-क्षेत्र

(1) **तालचीर कोयला-क्षेत्र** – इस क्षेत्र मे तालचीर के निकट 28·5 वर्ग किलोमीटर क्षेत्र मे खुदाई के योग्य कोयला-सस्तर है. इसके ऊपरी और निचले सस्तर क्रमशः 2·7 तथा 3·9 मी. मोटे है. इस क्षेत्र का कोयला धूमिल और बहुधा शेल की तरह होता है. इस कोयले मे लगभग 10% आर्द्रता होती है यद्यपि राख कुछ कम है. इन सस्तरो के कुछ अश उच्च कोटि के है और उनका कैलोरी मान 6,000 से 7,000 कै. तक है.

(2) **ईब नदी या रामपुर (संभलपुर) कोयला-क्षेत्र** – यह दक्षिणी रीवाँ और पूर्वोत्तर मध्य प्रदेश के कोयला-क्षेत्रो का एक भाग है जो दक्षिण-पूर्व मे उड़ीसा तक चला गया है. इसमे कई कोयला-सस्तर है जिसमे ईब नदी कोयला-खान मे खुदा हुआ ईब नदी (रामपुर) कोयला-सस्तर उच्च कोटि का है, यद्यपि इसमे आर्द्रता अधिक है. इसका कैलोरी मान लगभग 6,600 कै. है. तथाकथित बँगलो-सस्तर का कैलोरी मान लगभग 6,000 कै. है. 51·8 वर्ग किलोमीटर के क्षेत्र मे 180 मी. की गहराई तक रामपुर सस्तर मे 1,000 लाख टन कोयले का अनुमान किया जाता है.

(3) **हिंगिर कोयला-क्षेत्र** – यह कोयला-क्षेत्र गंगापुर राज्य की हिंगिर जमीदारी मे स्थित है. अभी यहाँ खोज नहीं हुई. यह कोयला-क्षेत्र लगभग 104 वर्ग किलोमीटर है. बाराकर और रानीगंज दोनो ही श्रेणियों की चट्टाने इस क्षेत्र मे है. कम

से कम एक अच्छी कोटि के 13·5 मी. मोटे एक संस्तर का पता है. गंजाम जिले के गोछापुवा और कटरंगिया के बीच के इलाकों में सतह से 9–10·5 मी. नीचे, 60 सेंमी. मोटे कोयला-संस्तर पाये जाने की सूचना है.

दक्षिणी रीवाँ कोयला-क्षेत्र

(1) **सिंगरौली कोयला-क्षेत्र** – यह लगभग 1,295 वर्ग किलोमीटर में विस्तृत है. यह उत्तर प्रदेश के मिर्जापुर जिले तक फैला हुआ है. नाऊनगर के निकट 5·4 मी. का संस्तर और परारी के निकट प्राप्य दूसरा संस्तर जो 1·8 मी. मोटा है, आशाजनक हैं.

(2) **कोरार कोयला-क्षेत्र** – यह उमरिया खान के निकट है और इसका क्षेत्रफल 23·3 वर्ग किलोमीटर में फैला हुआ है. चार 1·2–2·4 मी. मोटाई वाले संस्तर ज्ञात हैं और इनका कोयला भी अच्छा है.

(3) **उमरिया कोयला-क्षेत्र** – इस कोयला-क्षेत्र का विस्तार केवल 15·5 वर्ग किलोमीटर में है. इस क्षेत्र की सबसे बड़ी विशेषता है तालचीर के ऊपर समुद्री जीवाश्मों की प्राप्ति. इस क्षेत्र में कोयले के छः संस्तरों में से केवल चार खुदाई योग्य हैं. इनकी कुल मोटाई लगभग 7·5 मी. है. इनका कैलोरी मान 4,600 से 6,300 कै. तक है. कोयले का प्राप्य भंडार लगभग 2.4 करोड़ टन है.

(4) **जोहिल्ला नदी कोयला-क्षेत्र** – उत्तरी जोहिल्ला क्षेत्र का विस्तार 30 वर्ग किलोमीटर तथा दक्षिणी जोहिल्ला क्षेत्र का 9 वर्ग किलोमीटर है. इसमें एक 5·1 मी. मोटा ऊपर और 1·8 मी. मोटा नीचे का संस्तर एक दूसरे से 6 मी. अंतर पर चले गए हैं. यह कोयला अत्युत्तम से लेकर उत्तम वर्ग तक का है. 150 मी. की गहराई से प्राप्त हो सकने वाले कोयले का भंडार लगभग 3 करोड़ टन है.

(5) **सोहागपुर कोयला-क्षेत्र** – इसका क्षेत्रफल लगभग 3,108 वर्ग किलोमीटर है. इस क्षेत्र में 0·9 से 1·5 मी. मोटाई के नौ संस्तर हैं. इनमें से कुछ के कोयले उत्तम गुण के हैं. इनमें 10–15% राख होती है.

मध्य प्रदेश तथा महाराष्ट्र के कोयला-क्षेत्र

मध्य प्रदेश के कोयला-क्षेत्र तीन समूहों में वर्गीकृत हैं: छत्तीसगढ़, सतपुड़ा तथा वर्धा घाटी.

छत्तीसगढ़ कोयला-क्षेत्र

(1) **तातापानी-रामकोला कोयला-क्षेत्र** – यह कोयला-क्षेत्र यद्यपि मध्य प्रदेश में है किन्तु वास्तव में दामोदर घाटी के पूर्वी छोर पर सिरगुजा राज्य में पड़ता है. इसमें दो विभिन्न क्षेत्र हैं—पूर्वी क्षेत्र एवं पश्चिमी क्षेत्र. यह पूरा क्षेत्र 2,072 वर्ग किलोमीटर में फैला हुआ है, जिसमें से 259 वर्ग किलोमीटर में कोयला है. पूर्वी अर्थात् तातापानी खण्ड में 5,600 कैलोरियों वाला एक 90 सेंमी. का कोयले का संस्तर, एक 1·85 मी. मोटा संस्तर लगभग 6,200 कैलोरियों वाला और एक 2·4 मी. का संस्तर लगभग 4,200 कैलोरियों का है. रामकोला कोयला-क्षेत्र में एक 90 सेंमी. का संस्तर लगभग 6,000 कैलोरियों तथा एक 5·1 मी. का संस्तर है.

(2) **झिलीमिली कोयला-क्षेत्र** – यह कोयला-क्षेत्र पहले की सिरगुजा रियासत में स्थित है. इसमें 1·2 मी. से अधिक मोटाई के 3–4 संस्तर हैं. कुछ कोयलों का कैलोरी मान लगभग 7,000 कै. है. इनमें से कुछ कोककर हैं. इस क्षेत्र में अनुमानित कोयला भण्डार 95 लाख टन है.

(3) **सनहट कोयला-क्षेत्र** – कोरिया राज्य के इस कोयला-क्षेत्र का विस्तार लगभग 855 वर्ग किलोमीटर में है. इसे कोयले की तीन परतों में विभाजित किया जा सकता है: (क) पूर्वी क्षेत्र में 25·6 किलोमीटर लम्बी एक पट्टी जिसमें लगभग 1·5 मी. मोटाई वाले 4 संस्तर हैं; (ख) नागर क्षेत्र जिसमें 1 से 3 मी. मोटा एक संस्तर है; (ग) चर्चा क्षेत्र जिसमें 90 सेंमी. का एक संस्तर है. पहले क्रमांक के कुछ कोयलों में लगभग 15% राख रहती है. कहा जाता है कि इस कोयला-क्षेत्र में उपर्युक्त संस्तरों के अतिरिक्त अन्य कोयले के संस्तर भी मिले हैं.

(4) **झगराखण्ड कोयला-क्षेत्र** – इसका क्षेत्रफल 57 वर्ग किलोमीटर है. यह रीवाँ रियासत के सोहागपुर कोयला क्षेत्र के सुदूर पूर्वी छोर पर स्थित है, किन्तु कोरिया राज्य की भौगोलिक सीमा के भीतर होने के कारण इसका दूसरा नाम रख दिया गया है. इस क्षेत्र में कोयले की तीन परतें है जिनमें से एक समतलप्राय, 1·5–2·4 मी. मोटी है. इसमें राख की मात्रा 12% है. इसका तथा साथ में कुरेसिया क्षेत्र का सबसे विचित्र लक्षण यह है कि इनमें शुद्ध बालुकाश्म के डाइक (अवरोध) पाए जाते हैं जिनसे कोयले के संस्तर कट गये हैं.

(5) **कुरेसिया कोयला-क्षेत्र** – पूर्व दिशा में (कुरेसिया क्षेत्र) 30 सेंमी. तक मोटी छः परतों वाला कोयले का संस्तर पाया जाता है. पश्चिम में (चिरमिरी क्षेत्र में) सात संस्तरों में 10·8 मी. गहरा कोयला है जिसमें से कुछ कोयला तो अत्युत्तम गुणता का है. बहुत से कोयला-संस्तरों का कैलोरी मान 7,000 कै. है. संस्तर लगभग 1 : 30 दक्षिण-पश्चिम झुके हुए हैं.

(6) **कोरियागढ़ कोयला-क्षेत्र** – यद्यपि इस क्षेत्र का ठीक से सर्वेक्षण नहीं हो पाया है फिर भी 0·9–1·5 मी. मोटाई तक के बहुत से कोयला-संस्तरों का पता लग चुका है. इसका विस्तार लगभग 15·5 वर्ग किलोमीटर है.

(7) **विश्रामपुर कोयला-क्षेत्र** (सिरगुजा राज्य) – राजनसुही के समीप 0·6–1·8 मी. मोटे कोयले के अनेक संस्तर हैं; दो संस्तर बागरा के समीप तथा बहुत से कोयला-संस्तर कोटिया के समीप हैं. गागर नाले के समीप वाले कोयला-संस्तर में केवल 7% राख है. माहन नदी में एक 2·2 मी. मोटा कोयला-संस्तर है जिसका कैलोरी मान लगभग 6,000 कै. है. पनडीह के निकट रेड़ नदी के किनारे तुलसी नामक स्थान के समीप कोयले के बहुत से संस्तर दिखते हैं. इनका ठीक से पूर्वेक्षण नहीं हो पाया है. इसका विस्तार 1,036 वर्ग किलोमीटर है.

(8) **बनसार कोयला-क्षेत्र** – यह एक अन्य कोयला-क्षेत्र है जिसका ठीक से सर्वेक्षण नहीं हो पाया है.

(9) **लखनपुर कोयला-क्षेत्र** (सिरगुजा राज्य) – इसका क्षेत्रफल 350 वर्ग किलोमीटर है जिसे पूर्वी तथा पश्चिमी खण्डों

में बाँटा गया है. लखनपुर का पूर्वी खण्ड 130 वर्ग किलोमीटर में है और पश्चिमी खण्ड, जिसे लिंगाह खण्ड कहते हैं, 220 वर्ग किलोमीटर में है. ऐसा कहा जाता है कि पूर्वी खण्ड में 0·6 मी. तथा 1·6 मी. मोटाई के दो संस्तर हैं. पश्चिमी खण्ड में भी दो संस्तर हैं जिनमें से एक 1 मी. तथा दूसरा 2·25 मी. मोटा है. दूसरे में राख की मात्रा 20·5% है. सलीह के समीप नाले में दो अन्य संस्तर मिले हैं जिनमें राख की मात्रा 12% है.

(10) **पंचवाहिनी कोयला-क्षेत्र** (सिरगुजा राज्य) – इसका विस्तार 11·6 वर्ग किलोमीटर में है. इस क्षेत्र में लगभग 90 सेंमी. मोटाई के दो कोयला-संस्तर हैं. ये दोनों ही संस्तर विशिष्ट गुणता के हैं.

(11) **दमहामुण्डा कोयला-क्षेत्र** (सिरगुजा राज्य) – इसका विस्तार लगभग 11·6 वर्ग किलोमीटर है. इस क्षेत्र मे कोयले के अनेक छिछले संस्तरों का पता लगा है.

(12) **सेन्दुरगढ़ कोयला-क्षेत्र** (सिरगुजा राज्य) – इसका विस्तार लगभग 51·8 वर्ग किलोमीटर में है. इस क्षेत्र में अनेक बहुमूल्य दृश्यांश पाये गये हैं जिनमें बुकभुकु के समीप का 3 मी. मोटाई का है. यह अकोककर है तथा इसमें 23·1% राख है. अम्लीबहारा के समीप एक 1·2 मी. मोटाई का संस्तर है जिसमें 6·4% राख है. कोयले का भण्डार लगभग 4 करोड़ टन है.

(13) **रामपुर कोयला-क्षेत्र** (सिरगुजा) – इस क्षेत्र का पूर्वी (रामपुर) खण्ड माण्ड नदी के द्वारा मध्य खण्ड से विलग हो गया है जिससे सुप्रा-बाराकर चट्टान दिखती है. इसके संस्तर सामान्य रूप से पतले हैं. किन्तु एक 3·6 मी. मोटा संस्तर भी है. यहाँ के कोयले तरह-तरह के हैं — कुछ में 5% राख है तो कुछ में 30%.

(14) **कोरबा कोयला-क्षेत्र** – इस क्षेत्र में कोयला उत्पन्न करने वाली चट्टानों का विस्तार लगभग 518 वर्ग किलोमीटर है. चम्पा नामक रेलवे स्टेशन से लगभग 40 किलोमीटर पश्चिम में कोरबा कोयला-क्षेत्र स्थित है. हासदो नदी के पश्चिमी तट पर कोरबा संस्तर, जिसकी मोटाई का अनुमान 21 मी. है, दो पृथक् भागों में भूमि से ऊपर निकला हुआ है. इस क्षेत्र में अन्य स्थानों पर 45 मी. मोटाई के संस्तर की सूचना है. अहरान नदी की तलहटी में भी एक अन्य 1·5 मी. मोटा संस्तर खोजा गया है. इस संस्तर में 6·8–13·41% राख है. कहा जाता है कि कोरबा से 35·2 किलोमीटर पश्चिम गंजर नाले में एक 6·6 मी. मोटे संस्तर का दृश्यांश है. घोघरी नाले, गंजर एवं डोंगरा नाले के सन्धि-स्थल के समीप, बागदेवा से लगभग 1·6 किलोमीटर उत्तर-पश्चिम तथा रेल के लगभग इतना ही उत्तर-पूर्व खोलर नाले में अन्य दृश्यांशों का उल्लेख है. जटराज तथा कसमुण्डा के मोटे संस्तर सम्भवतः कोरबा संस्तरों जैसे हैं. इस खदान के भण्डार का अनुमान 25 करोड़ टन है जिसमें से 2·5 करोड़ टन कोयला उत्तम गुणता का है.

सोनपुरी अथवा ऊपरी कसमुण्डा संस्तर की मोटाई 21·6 मी. है जिसमें लगभग 8·4 मी. तक का कोयला तीन अनुभागों में है. ये हैं — तली, मध्य तथा ऊपरी — जिनके ऊष्मीय मान क्रमशः 9,000, 8,800 तथा 10,500 ब्रि. थ. इ. प्रति पौण्ड है. घोरदेवा के दक्षिण-पूर्व, भैरोताल के समीपवर्ती क्षेत्र में कोरबा संस्तर तथा निचले 1·5 मी. के संस्तर के बीच एक 6 मी. का कोयला-संस्तर है. बाद वाले को घोरदेवा संस्तर कहते हैं. इसका कैलोरी मान लगभग 11,000 ब्रि. थ. इ. प्रति पौण्ड है. घोरदेवा क्षेत्र में एक या दो अन्य संस्तरों का भी अनुमान है. राजगामर ग्राम से लगभग डेढ़ किलोमीटर पश्चिम फुलकडीह नाले में एक काफी महत्वपूर्ण 1·8 मी. का संस्तर है. इसका कैलोरी मान लगभग 11,000 ब्रि. थ. इ. प्रति पौण्ड है. इस कोयला-क्षेत्र की अभी तक भली-भाँति खोज नहीं हो पाई है फिर भी इस क्षेत्र से काफी आशाएँ हैं. रेलवे लाइन के निकट अच्छे गुणों वाला दृश्यांश विन्ध्यांचल चूना-पत्थर की पेटी का है जो सीमेण्ट बनाने के लिए अत्युत्तम है. ऐसा प्रतीत होता है कि यह कोयला-क्षेत्र भ्रंश से मुक्त है तथा इस क्षेत्र में कोयले की पेटी से ढकी हुई कोई डाइक भी नहीं मिल पाई है.

(15) **माण्ड नदी कोयला-क्षेत्र** – कोरबा कोयला-क्षेत्र माण्ड नदी कोयला-क्षेत्र का पश्चिमी विस्तार है. बाराकर चट्टान की एक पतली पट्टी माण्ड नदी कोयला-क्षेत्र को कोरबा क्षेत्र से जोड़ती है. यह क्षेत्र 518 वर्ग किलोमीटर में विस्तृत है. इस क्षेत्र के उत्तरी भाग में गोपाल नाले के संस्तर में बहुत से दृश्यांश हैं. इस क्षेत्र में अभिनति में कोयले के चार संस्तर वलित हैं. कुछ संस्तर 4·8–6 मी. मोटे हैं. वेधन से जुबली संस्तर एवं हीरालाल संस्तर (क्रमशः 5·7 तथा 3·9 मी. मोटे) पाए गए हैं. हीरालाल संस्तर में 35% राख है.

(16) **कनकनी कोयला-क्षेत्र** – यह रायगढ़ से 19·2 किलोमीटर उत्तर-पश्चिम में स्थित है. इसकी खोज होनी चाहिए.

(17) **रायगढ़-हिंगीर कोयला-क्षेत्र** – रायगढ़ क्षेत्र में बाराकर कोयला-क्षेत्र 518 वर्ग किलोमीटर तक विस्तृत है. इस क्षेत्र में कोयले के अनेक संस्तर हैं जिनमें से अधिकांश पतले हैं. कालो नदी में एक 1·8 मी. का संस्तर तथा बेन्द्रा नदी के मुहाने में समीप के दो शल्कीय कोयले के संस्तर जिनकी मोटाई 1·8 मी. है, उपादेय जान पड़ते हैं. रायगढ़ क्षेत्र की ठीक से खोज नहीं हो पाई.

(18) **दक्षिणी रायगढ़ कोयला-क्षेत्र** – इस क्षेत्र का विस्तार लगभग 65 वर्ग किलोमीटर है. दिब्डोरा के समीप वेधन करने पर एक 4·2 मी. का संस्तर मिल चुका है.

सतपुड़ा कोयला-क्षेत्र

(1) **मोहपानी कोयला-क्षेत्र** – इस कोयला-क्षेत्र में कोयले के चार संस्तर हैं. इसका कैलोरी मान प्रति ग्रा. 6,000 तथा 7,000 कै. के बीच है. इस क्षेत्र का अनुमानित कोयला भण्डार 40 लाख टन है.

(2) **सोनाडा कोयला-क्षेत्र** – इस क्षेत्र में खुदाई के योग्य कोई कोयला-संस्तर नहीं मिला. लाक्षणिक तालचीर चट्टान' में कोयले की पतली परतें रहती हैं जिन पर जीवाश्म पत्तियों के चिह्न पाये जाते हैं. इस कोयला-क्षेत्र की भी ठीक से खोज नहीं हुई.

(3) **शाहपुर कोयला-क्षेत्र** – इसमें कोयले वाले तीन क्षेत्र हैं. ये हैं: गुरगुण्डा, मरदानपुर तथा कटासुर क्षेत्र. बाराकर कोयला-क्षेत्र सँकरी पट्टियों में पाये जाते हैं. इनके संस्तर 1·5 मी. मोटे होते हैं.

(4) **दुल्हारा कोयला-क्षेत्र**—इसका विस्तार 3·9 वर्ग किलोमीटर में है. वेधन से एक 1·8 मी. मोटे संस्तर का पता चला है.

(5) **पथखेरा कोयला-क्षेत्र**—पथखेरा के समीप 1·4 मी., 1·8 मी. तथा 4·2 मी. मोटे तीन संस्तरों का पता चला है. इनसे लगभग 1·5 करोड़ टन अच्छा कोयला प्राप्त हो सकता है जो 41·4 वर्ग किलोमीटर के क्षेत्र में है.

(6) **वम्हनवारा कोयला-क्षेत्र**—यहाँ कोयला तो नहीं मिला, परन्तु एक नदी की तली में कोयले के खंड मिले हैं.

(7) **ऊपरी तावा घाटी कोयला-क्षेत्र**—टाण्डसी गाँव के समीप एक 1·5 मी. मोटे संस्तर का पता लगा है.

(8) **कान्हन घाटी कोयला-क्षेत्र**—इन कोयला-क्षेत्रों में मध्य प्रदेश का बहुत बड़ा कोयला-क्षेत्र पाया जाता है जो कान्हन नदी से पेंच घाटी तक फैला हुआ है. यह 6 क्षेत्रों में उपविभाजित है: (अ) **दमुआ-कालीछापर**—इस क्षेत्र के बाराकर पूर्व-पश्चिम में विस्तृत तथा उत्तर में धँसे हुए हैं. यहाँ कालीछापर के समीप एक संस्तर है जो उत्तर की ओर क्रमशः झुकता गया है. दृश्यांश के समीप यह 2·7 मी. मोटा है और आगे बढ़कर 4·5 मी. तक हो गया है. कालीछापर से 800 मी. उत्तर की ओर एक भ्रंश ने इस संस्तर को प्रभावित किया है. संभवतः भ्रंश के उत्तर की ओर बहुत बड़ी मात्रा में कोयला है. दमुआ के समीप कोयले के तीन दृश्यांश हैं. इनमें से एक 4·2 मी. मोटा है, इसकी खुदाई कान्हन खदान में हो रही है. इस कोयले का कैलोरी मान 6,500 कै. प्रति ग्राम है. यह अच्छा कोककर कोयला है.

(आ) **घोरावारी-नामखेरा क्षेत्र**—यह दमुआ क्षेत्र के पूर्व स्थित है. घोरावारी कोयला-क्षेत्र के जिस संस्तर की खुदाई हुई है, वह 4·5 मी. मोटा है, किन्तु खुदाई केवल 2·4 मी. तक ही हो पायी है. इसका कैलोरी मान 6,348 कै./ग्रा. है. इस संस्तर में 17–19% राख है परन्तु आपेक्षिक आर्द्रता (2–2·5%) निम्न है. इससे प्राप्त कोयला कठोर और ठोस होता है. घोरावारी संस्तर के नीचे दो और कोयले के संस्तर हैं जो तीन-तीन मीटर मोटे हैं. पास के नाले में और भी बहुत से गौण संस्तर दिखते हैं. संभवतः दमुआ संस्तर और घोरावारी संस्तर दोनों एक ही हैं जो भ्रंश से दूर हो गये हैं.

(इ) **पनारा-जिन्नौर क्षेत्र**—जुन्नोरदेव कोयला-क्षेत्र में केवल एक संस्तर में खुदाई हुई है जो 4·2 मी. मोटा है. संभवतः यह संस्तर घोरावारी संस्तर से ऊँचाई पर है. इस कोयले का कैलोरी मान 5,226 कै./ग्रा. है. पूर्व-पश्चिम के अनेक भ्रंशों ने इसमें विघ्न डाल दिया है.

(ई) **डाल्टा-जमई क्षेत्र**—डोंगरियाँ कोयला-क्षेत्र में डाल्टा संस्तर की खुदाई हुई है. इसकी प्राप्ति तकिया नाला और यादेव गाव के पास भी हुई है. यह कोयला कोककर है. इसका कैलोरी मान, 3,602 कै./ग्रा. है. डोंगरियाँ संस्तर से नीचे की ओर दो निम्न गुण वाले संस्तर हैं जिनमें से एक 3 मी. मोटा है.

(उ) **जामकुण्डा क्षेत्र** तथा (ऊ) **हिंगला देवी**—ये दोनों क्षेत्र लगातार फैले हैं. इस क्षेत्र के घोवरी कोयला-क्षेत्र में कोयले का 1·7 मी. मोटा एक संस्तर है. इसका कैलोरी मान लगभग 5,500 कै./ग्रा. है. जामकुण्डा तथा अम्बारा के समीप हुए वेधनों से 4 कोयला-संस्तरों का पता चला है जिनमें से प्रत्येक की मोटाई 1·5 मी. से कम है. नजरपुर में ऊपरी संस्तर 1·6 मी. मोटा है.

(9) **पेंचघाटी कोयला-क्षेत्र**—इन क्षेत्रों में गोंडवाना संस्तरों के ऊपर डेकन ट्रैप का प्रवाह एक संगुटिका के साथ होता है जो कभी-कभी नीचे भी हो जाता है. इस भाग में लगभग 9–10 अलग-अलग कोयला-क्षेत्र है. ये निम्नांकित हैं:

(अ) **गजानदोह क्षेत्र**—2·4 मी. शेल के नीचे 1·5 मी. के कोयला संस्तर की सूचना है. ट्रैप के नीचे ये संस्तर उत्तर की ओर झुके हैं. इस क्षेत्र में संस्तरों का सातत्य बताने के लिए ट्रैप में से होकर वेधन करना पड़ता है.

(आ) **बरकुही क्षेत्र**—यह क्षेत्र बरकुही रेलवे स्टेशन के समीप है. इस क्षेत्र में 2·1 मी. मोटाई के संस्तर की खुदाई हुई है और कहा जाता है कि इसके ऊपर भी 1·2 मी. का संस्तर है.

(इ) **भण्डारिया-भुठारिया क्षेत्र**—इस क्षेत्र में घोघरा नाले के समीप, परसिया से लगभग 1·6 किलोमीटर दक्षिण-पश्चिम एक कोयला-संस्तर का पता है, जिसकी मोटाई 2·4 मी. है.

(ई) **चन्दामेटा-डोंगर चिकली क्षेत्र**—चन्दामेटा में वेधन क्रिया से अनेक संस्तर प्रकाश में आये हैं जिनमें से एक 2·85 मी. मोटा है. यह कान्हन जैसी श्रेणी का कोयला है परन्तु यह कोककर नहीं है. इस क्षेत्र से 1·5 करोड़ टन कोयला प्राप्त हो सकता है.

(उ) **इक्लेरा-न्यूटन चिख्ली क्षेत्र**—समान्तर भ्रंशों से इस क्षेत्र में व्यवधान हो गया है. इस संस्तर का लगभग 2·4 मी. कोयला उत्तम है. इसमें आर्द्रता की मात्रा अधिक है और कोयला कोककर नहीं है.

(ऊ) **परसिया-खिरसादोह क्षेत्र**—इस क्षेत्र में 1·8 मी., 1·5 मी. तथा 1·35 मी. मोटाई के 3 संस्तर प्राप्त हुए हैं. ऊपरी संस्तर पेंचघाटी क्षेत्र का मुख्य संस्तर है.

(ए) **रावनवारा-हरई क्षेत्र**—इस क्षेत्र में 6,300 कै./ग्रा. कैलोरी मान के कोयले के पतले संस्तर मिले हैं.

(ऐ) **दिघवानी-छिन्दा क्षेत्र**—4·65 मी. मोटाई के एक खण्ड में कोयले के तीन संस्तर, जिनकी सम्पूर्ण मोटाई 3·7 मी. है, मिले हैं. सतिया-हरई भ्रंश अथवा पेंच के दक्षिण, बाढ़ से आई हुई मिट्टी, इस क्षेत्र को ढक लेती है.

(ओ) **सिरगोरा-हारनभटा क्षेत्र**—18 मी. कठिन वेधन के बाद कोयले के दो संस्तर मिले है जिनमें से एक पेंचघाटी-क्षेत्र का मुख्य संस्तर है.

वर्धा घाटी के कोयला-क्षेत्र

इस क्षेत्र में कोयले के 9 क्षेत्र हैं जिनमें से निम्नलिखित 6 महत्वपूर्ण हैं:

(1) **बान्दर कोयला-क्षेत्र**—मोरेपुर ग्राम के निकट वेधन करने से कोयले के 4 संस्तर मिले हैं जिनमें से एक 25·5 मी. गहराई पर 2·1 मी. मोटा, दूसरा 38·7 मी. पर 5·1 मी. मोटा, तीसरा 72·9 मी. पर 0·9 मी. मोटा तथा चौथा 48·6 मी. पर 1·8 मी. मोटा है. सब से निकट की रेलवे लाइन से यह क्षेत्र 48 किलोमीटर की दूरी पर है

ग्रौर यहाँ ग्रभी भी खुदाई नहीं हुई है. सम्पूर्ण ग्रनुमानित भण्डार 10·8 करोड़ टन है.

(2) **वारोरा कोयला-क्षेत्र**—ग्रनुमान है कि यह क्षेत्र 168 हेक्टर में विस्तृत है. 6·6 मी. तथा 3 मी. मोटे दो संस्तरों का वर्णन प्राप्त हैं. यहाँ के कोयले का कैलोरी मान लगभग 5,500 कै./ग्रा. है. कुछ स्थानों पर वेधन करने से 4 संस्तरों का पता चला है. इस क्षेत्र से लगभग 1·2 करोड़ टन कोयला प्राप्त हो सकता है.

(3) **राजुर** ग्रथवा **वुन कोयला-क्षेत्र**—वरार जिले के यवतमाल नामक स्थान में यह कोयला-क्षेत्र स्थित है. पिसगाँव में 23 मी. गहराई तक वेधन करने से 8·1–9·3 मी., राजुर में 48 मी. की गहराई में 5·4–9·0 मी. कोयले की प्राप्ति हुई हैं. गणेशपुर में भी 73·5 मी. नीचे वेधन करने से इसी प्रकार का कोयला मिला है. राजुर के कोयलों का कैलोरी मान 6,540 कै. प्रति ग्रा. है. यह भी वरोरा, वल्लरपुर तथा घुघुस में प्राप्त कोयले जैसा है. इस क्षेत्र का ग्रनुमानित भंडार 24 करोड़ टन है.

(4) **घुघुस-तेलवासा कोयला-क्षेत्र**—तेलवासा के सम्मुख जुनारा में वेधन करने से 18 मी. कोयला पृथक्-पृथक् खण्डों में मिला है जहाँ वर्धा नदी के पूर्वी तट पर कोयले का 17·7 मी. मोटा संस्तर मिला है. एक नवीन वेधन द्वारा सतह से 37·5 मी. के भीतर 2·4 मी., 6·3 मी. तथा 3·9 मी. मोटाई के खुदाई योग्य तीन संस्तरों की प्राप्ति तेलवासा के पास हुई है. इसके 3·9 मी. के एक भाग का कोयला ग्रत्युत्तम प्रकार का है. घुघुस में कोयले के दो मोटे संस्तर हैं जिनमें से एक 11·1 मी. तथा दूसरा 9·9 मी. का है. घुघुस के कोयले का कैलोरी मान 6,100 से 7,000 कै./ग्रा. है. यह ग्रत्यधिक ग्रार्द्रतामय तथा ग्रकोककर कोयला है. इस क्षेत्र में लगभग 150 करोड़ टन कोयला है. घुघुस का मोटा संस्तर दक्षिण की ग्रोर बहुत दूर तक फैला है किन्तु इसकी स्थिति प्रमाणित नहीं है. कामठी तह इसके ऊपर ग्राकर कोयले के संस्तर को ढक लेती है. संभवतः इस क्षेत्र में 259 वर्ग किलोमीटर तक कोयला भण्डार गुप्त है.

(5) **चन्दा कोयला-क्षेत्र**—चन्दा कस्वे से पूर्व की ग्रोर महाकाली खदान में 24·3 मी. गहराई पर 5·7 मी. मोटा तथा 36 मी. पर एक ग्रन्य 7·8 मी. मोटा संस्तर भरपत नाले के वेधन से प्रकाश में ग्राये हैं. कामठी चट्टान के नीचे इस क्षेत्र में भी कोयले का बहुत बड़ा ग्रंश छिपा है.

(6) **वल्लरपुर कोयला-क्षेत्र**—सास्ती के समीप हुए वेधन से 18·6 मी. गहराई पर 9·6 मी. मोटाई के एक संस्तर का पता चला है. वल्लरपुर के कोयले ग्रकोककर हैं ग्रौर उनका कैलोरी मान 6,000 से 6,400 कै./ग्रा. है. इस क्षेत्र के कोयले का भण्डार 4 करोड़ टन है किन्तु यदि सारा क्षेत्र मिला दिया जाए तो यह 200 करोड़ टन हो जायेगा.

प्राण्हिता-गोदावरी कोयला-क्षेत्र

गोंडवाना की तहें, जो मुख्य रूप से कामठी वालुकाश्म की हैं, वर्धा घाटी से ग्रान्ध्र प्रदेश होते हुए तमिलनाडु तक पहुँचती हैं ग्रौर 11,655 वर्ग किलोमीटर में फैली हैं जिसमें से लगभग 518 वर्ग किलोमीटर महाराष्ट्र में, 1,554 वर्ग किलोमीटर तमिलनाडु में, तथा शेष 9,583 वर्ग किलोमीटर ग्रान्ध्र प्रदेश में है.

ये कोयला-क्षेत्र दो समूहों में विभाजित किए जा सकते हैं: (1) वे जो ग्रान्ध्र प्रदेश में स्थित हैं; तथा (2) वे जो तमिलनाडु में हैं.

ग्रान्ध्र प्रदेश के कोयला-क्षेत्र

(1) **सास्ती क्षेत्र**—सास्ती के कोयले को बहुधा वल्लरपुर का कोयला कहते हैं. वर्धा नदी के पश्चिम तथा सास्ती के दक्षिण-पूर्व इसका क्षेत्र लगभग 518 वर्ग किलोमीटर है. सास्ती के ग्रासपास 15 मी. तक लगातार कोयला ही कोयला है. सास्ती में शैफ्टों के द्वारा 23·4 मी. की गहराई में 8·1 मी. मोटा कोयले का संस्तर मिला है. इस मोटाई का ग्रधिकांश भाग कठोर ग्रच्छा कोयला है. पौनी में भी एक 18 मी. का संस्तर मिला है. सास्ती के कोयलों का कैलोरी मान लगभग 6,175 कै./ग्रा. है.

(2) **ग्रन्तरगाँव-ग्रक्सापुर कोयला-क्षेत्र**—ग्रन्तरगाँव के दक्षिण वाराकर दृश्यांश के ऊपर कामठी ग्रा गया है. लाठीघाट के दक्षिण ग्रन्तरगाँव के निकट एक 1·8 मी. का संस्तर है. इसमें लगभग 20% राख है. ग्रन्तरगाँव के पश्चिम में एक ग्रपनति है. ग्रनार श्रेणी में कुछ दूरी तक 1·5 मी. संस्तर का एक दृश्यांश है.

(3) **तन्दूर कोयला-क्षेत्र**—कोयले की सीमा तन्दूर से होते हुए वेलमपल्ली रेलवे स्टेशन के पूर्व तक है. यहाँ एक ग्रन्य दृश्यांश वारीपेट के पास है. ग्ररेगुरा (कैरगुरा) के पास एक 4·5 मी. का कोयला-संस्तर है. परीक्षण से इसमें 12·2% राख तथा 9·4% ग्रार्द्रता पायी गयी है. वाराकर दृश्यांश में दो खुदाई योग्य कोयले के संस्तर मिले हैं. इन कोयला-संस्तरों की मोटाई भिन्न है तथा इनका कैलोरी मान 6,460 कै./ग्रा. है. सारंगपल्ली, येंकटपुरम तथा टेटमाटला ग्रामों के समीप इस क्षेत्र के दक्षिण में कोयला होने की सम्भावना है. चिनूर के समीप एक ग्रंश के छोर पर ऊर्ध्वपात के ऊपर कोयला मिलता है. ग्रतः ग्राशा की जाती है कि तन्दूर तथा गोदावरी नदी के मध्य 259 वर्ग किलोमीटर के क्षेत्र में भी कोयला मिल सकेगा.

(4) **चिनूर क्षेत्र**—चिनूर, कामठी चट्टान के ऊपर स्थित है किन्तु इसके पश्चिम में वाराकर चट्टानें दिखती हैं. गोदावरी के उस पार से सन्द्रापली से ग्रागे तक ये उत्तर-पूर्व में नमित हैं. ऐसा प्रतीत होता है कि सिरोंचा के समीप नदी तल में मुख्य कोयला-क्षेत्र है. चिनूर तथा सन्द्रापली के बीच वाराकर दृश्यांश की पूरी लम्बाई 22·4 किलोमीटर है. सम्भव है कि सिरोंचा के निकट कामठी के भीतर 259 वर्ग किलोमीटर में खोदने योग्य गहराई में कोयले की खदानें हों. कामठी चट्टानों का एक विशाल दृश्यांश गोदावरी के दक्षिण प्राण्हिता नदी के संगम के ऊपर तथा नदी के पश्चिम संगम के नीचे है. विस्तृत कामठी के नीचे वाराकर ग्रन्तर्निहित हो गये हैं किन्तु फिर भी इस गुप्त कोयला-क्षेत्र में, कामठी के नीचे कोयले के होने में कोई सन्देह नहीं है.

(5) **कार्लापल्ली कोयला-क्षेत्र**—बाराकर चट्टानें कार्लापल्ली नाले में हैं जो पेंगडी नदी में मिलता है. इस कोयला-क्षेत्र का क्षेत्रफल 0·62 हेक्टर है. इसके दो संस्तर 2·7 मी. तथा 1·8 मी. मोटाई के हैं किन्तु नति अधिक होने से इस क्षेत्र में कार्य नहीं हो पाया है. इन दो संस्तरों का अनुमानित कोयला लगभग 37·5 लाख टन है.

(6) **वण्डाला-अल्लापल्ली क्षेत्र**—इस क्षेत्र के कोयला-संस्तर की मोटाई 1·8 मी. ज्ञात है. यह क्षेत्र किंचित विलग है. यहाँ खोज की आवश्यकता है.

(7) **लिगाला क्षेत्र**—पश्चिम की ओर झुके कोयले के 4 संस्तर हैं. इनमें से दो संस्तर 60 सेंमी. के हैं तथा एक संस्तर 1·5 मी. का है जिसका दृश्यांश गोदावरी नदी के मध्य में है. एक 60 सेंमी. संस्तर का कोयला हैदराबाद के तट पर इस क्षेत्र में ज्ञात है.

(8) **सिंगरेनी कोयला-क्षेत्र**—इस कोयला-क्षेत्र में सिंगरेनी से लगभग 8 किलोमीटर उत्तर-उत्तरपूर्व एलाण्डलपद के निकट निम्न गोण्डवाना चट्टानें पाई जाती हैं. इस कोयला-क्षेत्र का विस्तार 49·21 वर्ग किलोमीटर है, यह लगभग 17·6 किलोमीटर लम्बा और 3·2 किलोमीटर चौड़ा है. वेधन द्वारा इसके चार संस्तर प्रमाणित किए गए हैं. ऊपर का संस्तर 1·8 मी. मोटा है और इसका कोयला अच्छा है. इसके नीचे के दो संस्तर पतले हैं. सबसे नीचे के संस्तर में लगभग 10·2 मी. मोटा ठोस कोयला है. इसके बाद जो वेधन किए गए हैं उनमें इस मोटे संस्तर से नीचे छः और संस्तर ज्ञात हुए हैं. इनमें से एक (किंग संस्तर), जो सबसे निचले संस्तर से ऊपर है, 1·8–2·1 मी. मोटा है और इसका कोयला अत्युत्तम है. इसमें 7% आर्द्रता और 11% राख पाई गई है. इसका कैलोरी मान लगभग 6,000 कै./ग्रा. है. मोटे संस्तर का और किंग संस्तर का सम्पूर्ण कोयला भण्डार पहले 15·6 करोड़ टन आँका गया था पर क्षेत्र के धमक जाने के कारण अनुमान है कि इसमें से केवल 3·6 करोड़ टन ही निकाला जा सकता है.

(9) **कोट्टागुडेम कोयला-क्षेत्र**—यह क्षेत्र सिंगरेनी क्षेत्र से 38·4 किलोमीटर पूर्व में है. यहाँ लगभग 120 मी. की गहराई पर कोयला-संस्तर पाए गए हैं.

(10) **कन्नेगिरी कोयला-क्षेत्र**—इस क्षेत्र में बाराकर चट्टानों की उपस्थिति प्रमाणित की गई है पर अभी तक कोयला नहीं पाया गया है. ऐसा जान पड़ता है कि अभी तक यहाँ वेधन नहीं किए गए हैं. यद्यपि कोट्टागुडेम कोयला-क्षेत्र की मुरेरू घाटी, जहाँ एक कुएँ में कोयला पाया गया है, इस क्षेत्र से केवल 16 किलोमीटर उत्तर में है.

(11) **दमारचेर्ला क्षेत्र**—इस क्षेत्र में वेधनों से तीन कोयला-संस्तर मिले हैं. इनमें से सबसे नीचे का संस्तर, जो 94·2 मी. गहराई पर और 1·8 मी. मोटा है, आशाप्रद जान पड़ता है. लगता है कि टोटापल्ले के निकट, कोयले के संस्तर कम गहराई पर हैं.

(12) **बेडाडानुरु क्षेत्र**—इस क्षेत्र में तमिलनाडु की ओर बाराकर चट्टानों के कोयले के दृश्यांश पाए जाते हैं जो आन्ध्र प्रदेश की ओर कामठी चट्टानों के नीचे चले जाते हैं. 56·4 मी. की गहराई तक वेधन करने पर 4 संस्तर पाए गए हैं. इनमें से एक 1·35 मी. मोटा है. यह क्षेत्र अभी अच्छी तरह अन्वेषित नहीं हुआ है. इस क्षेत्र और अश्वराव-पेठ के पूर्व में स्थित क्षेत्र को प्रमाणित करने के लिए 450 मी. की गहराई तक वेधन की आवश्यकता होगी.

तमिलनाडु में गोण्डवाना कोयला

तमिलनाडु के सब बाराकर दृश्यांश पूर्वी गोदावरी जिले में पाए जाते हैं. यह स्थान आन्ध्र प्रदेश की सीमा पर स्थित लिंगाला, भद्राचलम और बेड्डाडानोल हैं. इस दिशा में कोयला युक्त चट्टानें कामठी चट्टानों के नीचे फैली हुई हैं. लिंगाला क्षेत्र में चार संस्तर पाए गए हैं जिनमें से तीन 60 सेंमी. मोटे और एक 1·5 मी. मोटा है. अंतिम दृश्यांश नदी के बीच में है. कोयला युक्त चट्टानें लगभग 13 वर्ग किलोमीटर में फैली हुई हैं. यहाँ का कोयला बिक्री के योग्य है. आन्ध्र प्रदेश के दमारचेर्ला क्षेत्र के सामने गनपरम क्षेत्र में राजाभोमपल्ली गाँव के निकट अच्छी किस्म के कोयले का एक संस्तर पाया गया है. इसकी औसत मोटाई 1·65 मी. है. पिछली शताब्दी के अंतिम दशक में इस क्षेत्र से कई हजार टन कोयला निकाला गया था. इस क्षेत्र का विस्तार लगभग 25·9 वर्ग किलोमीटर है और अनुमान है कि इसमें लगभग 2·4 करोड़ टन कोयला होगा. गोदावरी जिले में कोयले से सम्बन्धित विस्तृत जानकारी के लिए डा. एम. एस. कृष्णन का मेमॉयर देखा जा सकता है (*Trans. Min. geol. Inst. India*, 1949, **45**, 81).

उत्तर प्रदेश में कोयला-क्षेत्र

रीवाँ के दक्षिण का सिंगरोली कोयला-क्षेत्र पूर्व में उत्तर प्रदेश के मिर्जापुर जिले तक चला गया है. इस क्षेत्र का यह भाग कोटा क्षेत्र कहलाता है. इसमें घटिया किस्म के कोयले के अनेक पतले संस्तर ऊपर दिखाई देते हैं जिनमें से दो या तीन का कोयला कुछ अच्छा है और निकाला भी जा सकता है. भारतीय भू-विज्ञान सर्वेक्षण विभाग ने यहाँ जो वेधन किए हैं उनसे बढ़िया कोयले के संस्तरों की उपस्थिति ज्ञात हुई है (Dubey, *Quart. J. geol. Soc. India*, 1942, **14**, 45).

तृतीयक कोयला क्षेत्र

यद्यपि भारत का लगभग 2% ही कोयला तृतीयक चट्टानों से निकला है, फिर भी इस काल के कोयला-क्षेत्र उन क्षेत्रों के लिए काफी महत्वपूर्ण हैं जहाँ वे पाये जाते हैं. ये असम, कश्मीर, तमिलनाडु और राजस्थान में पाये गये हैं (Gee, *Rec. geol. Surv. India*, **76**, *Bull.*, 16, 1945).

तृतीयक कोयलों की आयु और उत्पत्ति की विधा निम्न-गोंडवाना कोयलों से भिन्न है. ये तृतीयक कोयले लैगूनी और समुद्री परिस्थितियों के अन्तर्गत निक्षेपित हुए. काफी कम आयु के होने के कारण ये अभी सामान्यतः लिग्नाइट अवस्था में ही पहुँचने चाहिए किन्तु ऊँचे विवर्तनिक दाब के कारण ये और आगे की बिटुमेनी अवस्था को प्राप्त कर चुके हैं. कश्मीर के कोयले अक्सर ऐंथ्रासाइटी प्रकृति के हैं.

तृतीयक कोयलो मे गंधक की मात्रा अधिक होती है (3–8%). यह गंधक अंशत: कार्बनिक गन्धक के रूप मे और अंशत: उनमे उत्पन्न पाइराइट और सल्फेटो के रूप मे रहता है. पाइराइट ढोको के रूप मे सस्तर के ही भीतर तथा पूरे कोयले मे समान रूप से सूक्ष्मत: वितरित पाया जाता है. ये आसानी से ऑक्सिकृत होकर तथा अपक्षीण होकर चूर्णित हो जाते है और अपने आप दहनशील हो सकते है.

असम

उत्खनन के योग्य कोयलो की दृष्टि से दो स्तरीय उपविभाग महत्वपूर्ण है – ऊपरी असम क्षेत्र की वडाइल श्रेणी और पश्चिमी क्षेत्र की जयन्तिया श्रेणी. वडाइल श्रेणी ऊर्ध्व इओसीन और जयन्तिया श्रेणी निम्न इओसीन काल से सम्बन्धित है.

असम मे उत्खनन के योग्य कोयला तीन सस्तरो मे पाया जाता है:

(1) निम्नतम सस्तर — तूरा वालुकाश्म अवस्था (निम्न इओसीन) — इसमे गारो, खासी और जयन्तिया पहाडियो के सस्तर और मिकिर पहाडियो के पतले आतरायिक सस्तर आते है.

(2) दूसरा सस्तर — कोपिली अवस्था (निम्न इओसीन) — यह सिलहट चूना-पत्थर के ऊपर है इसमे खासी और जयन्तिया पहाडियो के कुछ पतले कोयले के सस्तर सम्मिलित है.

(3) सबसे ऊपरी सस्तर — तिकक पर्वत अवस्था (ऊर्ध्व इओसीन, यद्यपि निम्न आलिगोसीन तक चला जाता है) — इसमे ऊपरी असम के महत्वपूर्ण सस्तर आते है

असम के कोयलो मे गंधक, 3–8%; आर्द्रता, 2%; और राख भी इतनी ही अल्प; तथा वाष्पशील पदार्थ, लगभग 45% पाया जाता है कोयलो से काफी अच्छा कोक प्राप्त होता है इन कोयलो को उचित उपयोग मे लाने की प्रमुख समस्या गंधक की प्राप्ति के साथ-साथ विगंधकीकरण है.

ऊपरी असम के कोयला-क्षेत्र

(1) **नमफुक-नमचिक क्षेत्र** – कोयला-सस्तर के दृश्याश 27°25′30″, 96°5′30″ विन्दु के लगभग नमफुक से लेकर नमचिक नदी के दक्षिण की पहाडियो मे 3 2 या 4 8 किमी. तक देखे जा सकते है इस स्थान पर लगभग 108 मी. गहरे स्तर मे करीब 18 मी मोटे कोयले का सस्तर पाया जाता है जिसमे सबसे उत्तम सस्तर 8·8 मी मोटा है इसका ढाल खडा है.

(2) **माकूम क्षेत्र** – यह क्षेत्र लखीमपुर और शिवसागर जिलो की दक्षिणी सीमा पर तिराप नदी के पश्चिम और दक्षिण-पश्चिम मे स्थित है. इन सस्तरो मे एक सस्तर अच्छी कोटि के लिग्नाइटी-कोयले का भी है जो मोटाई मे (पट्टियो सहित) 4·5 मी. से लेकर 24 मी. तक होता है लेकिन औसत सस्तर 15 मी. मोटा होता है. कई सस्तर पतले भी होते है ढाल प्राय: खडा होता है.

(3) **जैपुर क्षेत्र** – कोयला-सस्तर के दृश्याश 32 किमी. से अधिक तक चलते चले जाते है और पूर्व की ओर मध्यम से लेकर खडे कोणो मे झुकते चले जाते है दिसाग नदी क्षेत्र मे 6 सस्तर पाए जाते है जिनमे 13·5 मी. मोटा कोयले का सस्तर सम्मिलित है.

(4) **नाजिरा क्षेत्र** – कोयला-सस्तर करीब 25·6 किमी से भी अधिक लम्बाई तक चलते चले जाते है, जिनका झुकाव दक्षिण-पूर्व की ओर बढता जाता है. सफराई नदी क्षेत्र मे लगभग 21 मी. मोटाई वाले कोयले के कई पतले सस्तर है जिनमे 5 मे खुदाई हो सकती है अन्य छोटे क्षेत्र, जाजी और दिसाई, नाजिरा क्षेत्र के दक्षिण-पश्चिम मे क्रमश: 12 8 किमी. और 32 किमी. तक फैले है

मिकिर पहाड़ियों के कोयला-क्षेत्र – मिकिर पहाडियो मे कोयला कई स्थानो पर दिखाई देता है, जहाँ इसकी मोटाई 3·6 मी. तक हो सकती है किन्तु यह ऊपरी असम कोयले की तुलना मे निकृष्ट गुणो वाला होता है ये स्थान है: लागलाई पहाडी, जहाँ 3·6 मी. मोटा एक सस्तर है; डिसोमा नदी, जहाँ लगभग 1 मी. मोटे 2 सस्तर है और नम्बोर तथा डोइग्रग नदियाँ, जहाँ 1–2 मी. मोटाई का एक निम्न कोटि का सस्तर मिला है ये सस्तर निम्न इओसीन से सम्बन्धित है

खासी और जयन्तियाँ पहाड़ियों के कोयला-क्षेत्र – चेरापूजी से ऊपर तथा उसके चारो ओर कई स्थानो पर जिनमे रागा-मानोवा, लैत्रिगेव और मावलॉग स्थान भी सम्मिलित है, इओसीन कोयला बाहर दिखता है यह वडी तेजी से निकाला जा रहा है. जयन्तियाँ पहाडियो मे अनवी और लकाडोग मे भी इसी प्रकार कोयला मिलता है यह कोयला प्राय कोककर, कुछ अधिक गंधकमय तथा 5 से 20% राख वाला होता है किन्तु इसका कैलोरी मान 6,500 और 7,750 कै./ग्रा. के बीच होता है खासी पहाडियो मे इओसीन की निचली परत के कोयले मे रेजिन के चिह्न पाये गए है, किन्तु साधारणत यह ऊपरी परत के कोयले से निकृष्ट होता है, या तो अकोककर होता है या केवल थोडा-बहुत कोककर होता है क्योकि इसमे आर्द्रता की मात्रा अधिक होती है.

गारो पहाड़ियों के कोयला-क्षेत्र – हाल के अध्ययन से सिद्ध होता है कि गारो पहाडियो मे निम्न इओसीन (तूरा वालुकाश्म आवरण) के कई महत्वपूर्ण कोयलाधारी क्षेत्र है इन क्षेत्रो मे पास-पास स्थित बाल्जोग, डोग्रिग ओर वाडमोग क्षेत्र सम्मिलित है, काइलस चोटी के नीचे ढाल पर सिमसाग घाटी के पूर्व मे स्थित है पहले वाले क्षेत्र मे दो मुख्य सस्तर है ऊपरी सस्तर लगभग 1 मी मोटा और निचला करीब 62·5 मी की गहराई पर लगभग 2 मी मोटा है. दोनो उत्तम कोटि के क्षेत्र है डोग्रिग क्षेत्र मे, निचला सस्तर 2–3 मी मोटा है. वाडमोग (चतसग) मे तीन सस्तर है, जिनमे ऊपरी लगभग 1·35 मी., बीच का लगभग 60 सेंमी और निचला 1·5 मी तक मोटा है ये सभी अच्छी कोटि के है इन क्षेत्रो के उत्तर मे तूरा श्रेणी के दक्षिण की ओर दो महत्वपूर्ण सस्तर पाये गए है, जो सम्भवतया पहाडी इलाके के नीचे कम गहराई मे ही है स्तरो मे हल्का झुकाव है और सरचना साधारण है. दृश्याश के नमूनो से सस्तरो की उत्कृष्टता का पता चलता है. तूरा श्रेणी के उत्तर की ओर सिमसाग घाटी मे दारागिरी और गग्रेनगिरि के चारो ओर खुदाई योग्य सस्तर है.

कश्मीर

निम्न इओसीन युग का कोयला हिमालय की निचली पहाडियो मे कश्मीर राज्य के दक्षिण-पश्चिमी सीमान्त पर मिलता है.

इन क्षेत्रों का विस्तृत ग्रध्ययन किया गया है. कई स्थानों पर संस्तर काफी मोटे ग्रौर ग्रच्छी कोटि के हैं. भविष्य में रेल-परिवहन की सुविधा होने पर इनका महत्व निश्चित रूप से बढ़ेगा. मुख्य क्षेत्र जम्मू प्रान्त के रियासी जिले में चिनाव नदी के दोनों ग्रोर पहाड़ी इलाके में हैं (Middlemiss, *Min. Surv. Rep., Jammu and Kashmir Coalfields*, 1929).

जम्मू के कोयला-संस्तर लम्बे गुम्बदों के उत्तर-पूर्वी ग्रौर दक्षिण-पश्चिमी पार्श्वों में हैं, जो तीन समूहों में विभाजित किए जा सकते हैं – (1) चिनाव नदी के पश्चिम में दक्षिण का प्रमुख समूह, जिसमें कालाकोट, मेटका, महोगला, चाकर ग्रौर डांडली कोयला-क्षेत्र हैं; (2) धन्साल-सवालकोट कोयला-क्षेत्रों का ग्रधिकांश उत्तरी समूह; ग्रौर (3) चिनाव का पूर्वी समूह जिसमें लड्डा ग्रौर ग्रन्य कोयलाधारी क्षेत्र ग्राते हैं.

कश्मीर में दो कोयला-संस्तर (दोनों तृतीयक) पाये गए हैं. निचला कोयला-संस्तर बाक्साइटी श्रेणी से सम्बद्ध है ग्रौर ऊपरी संस्तर के नीचे पाया जाता है. इन क्षेत्रों का ग्रधिकांश कोयला ऐंथ्रासाइटी है जो बिटुमेनी कोयले ग्रौर शुद्ध ऐंथ्रासाइट के बीच का है. इसमें से काफी कोककर हैं.

तमिलनाडु

लिग्नाइट के महत्वपूर्ण निक्षेप दक्षिणी ग्रर्काट जिले में. कडालोर क्षेत्र के कडालोर बालुकाश्मों (मायोसीन) में पाए गए हैं. भारतीय भूवैज्ञानिक सर्वेक्षण ने वेधन करके ग्रर्काट जिले के वृद्धचलम ग्रौर कडालोर तालुकों में कोयला प्राप्त किया है. यह क्षेत्र नेवली स्टेशन (दक्षिण भारतीय रेलवे स्टेशन) के चारों ग्रोर 6·4–8·0 किमी. के घेरे में है. वेधन क्रियाग्रों द्वारा 134·7 वर्ग किलोमीटर क्षेत्र का पूर्वेक्षण किया गया है, जिसमें से करीब 60·6 वर्ग किलोमीटर में लिग्नाइट संस्तर होने के प्रमाण मिल चुके हैं, जिसकी मोटाई 3–15 मी. तक हो सकती है. संस्तर की ग्रौसत मोटाई लगभग 6·6 मी. ग्रौर ऊपरी मलवे की 49 मी. (ग्रधिकतम, 76 मी.; निम्नतम, 45 मी.) है. इस ऊपरी मलवे का लिग्नाइट से निम्नतम ग्रनुपात, 4·5:1; उच्चतम, 24·1:1; ग्रौर ग्रौसत ग्रनुपात, 8·8:1 है.

इनके नमूनों का बड़ी संख्या में विश्लेपण हुग्रा है ग्रौर उन्हें ग्रलग-ग्रलग संस्तरों के लिए ग्रौसत मान लिया गया है. विश्लेपणों से सिद्ध होता है कि लिग्नाइट बहुत ग्रच्छी कोटि का है जिसके कैलोरी मानों का ग्रौसत 9,000 ब्रि. थ. इ. से ग्रधिक है ग्रौर 50% से ग्रधिक नमूनों में यह ग्रौसत 9,500 ब्रि. थ. इ. से भी ग्रधिक है. ग्रार्द्रता, ग्रौसतन, 14%; वाष्पशील पदार्थ, 43%; ग्रौर स्थिर कार्बन, ग्रौसतन, 35% होता है. राख का प्रतिशत सामान्यतया कम, फॉस्फोरस की मात्रा नगण्य ग्रौर गन्धक ग्रौसतन 1% से कम होता है. कुल भण्डार 49·8 करोड़ टन ग्रांका गया है (West, *Rec. geol. Surv. India*, 1948, **81**, pt 1, 44; Krishnan, *Indian Minerals*, 1949, **3**, 122).

राजस्थान

पलना कोयला-क्षेत्र – बीकानेर से 20·8 किमी. दक्षिण-पश्चिम को ग्रोर पलना का लिग्नाइटी संस्तर बीकानेर राज्य के बलुहे रेगिस्तान में इग्रोसीन नुमुलाइटीय चूना-पत्थर के नीचे स्थित है. इसकी मोटाई 6 मी. तक हो सकती है. इस कोयले में साधारणतया ग्रार्द्रता ग्रधिक (20–30%), वाष्पशील पदार्थ भी ग्रधिक ग्रौर कैलोरी मान निम्न होता है. यह सुखाने पर टूटता है ग्रौर स्वतः दहनशील हो जाता है. इस लिग्नाइट को गोलियाँ बनाकर इस्तेमाल किया जा सकता है.

जोधपुर (पहले रियासत) के पश्चिमी भाग में शिग्रो से करीब 64 किमी. पश्चिम को ग्रोर एक कुयें में लगभग 99 मी. की गहराई पर लिग्नाइट की 3 मी. मोटी एक तह पाई गई है.

हिमालय

पाइराइट ग्रंथिकाग्रों से युक्त कोयले का एक संस्तर, जो कोयले की ग्रपेक्षा गंधक का उत्तम स्रोत है, मंडी (पहले रियासत) के दक्षिणी भाग में पाया गया है. बिलासपुर (पहले रियासत) में देहलाग स्थान में 60 सेंमी. मोटा कोयले का संस्तर मिला है. कोयले के विश्लेषण से शुष्क ग्राधार पर नियत कार्बन, 60%; राख, 29%; ग्रौर वाष्पशील पदार्थ, 11% मिले.

कोयला उत्खनन की विधियाँ

भारत में कोयले की खानें लगभग सभी जगह पट्ट ग्रौर स्तम्भ (बोर्ड एण्ड पिलर) विधि से खोदी जाती हैं. इस विधि में कोयला-संस्तर की लम्बाई में ग्रौर उसके ग्रार-पार सुरंगें खोदी जाती हैं जिन्हें शिल्पविज्ञान की शब्दावली में दीर्घा (गैलरी) कहते हैं. ये सुरंगें (गैलरियाँ) प्रायः 12 मी. चौड़ी खोदी जाती हैं. कोयला-संस्तर के झुकाव की ग्रोर खोदी गई गैलरियाँ नति दीर्घायें (डिप गैलरी) कहलाती हैं ग्रौर जो उसके क्षैतिज विस्तार में खोदी जाती हैं वे समतल दीर्घायें (लेवेल गैलरी) कहलाती हैं. विशिष्ट नति गैलरियाँ, जो कोयला खीचने या खनकों के ग्राने-जाने के लिए मार्ग के रूप में प्रयुक्त की जाती हैं, प्रमुख दीर्घायें (मेन गैलरी) कहलाती हैं. कोयले की खान खोदने की पहली ही ग्रवस्था में इतनी सारी दीर्घायें बनने से संस्तर ग्रनेक कोयला-खण्डों ग्रौर कई सुरंगों में उपविभाजित हो जाता है. ये खण्ड 12 मी. लम्बे × 12 मी. चौड़े × संस्तर की ऊँचाई के बराबर ऊँचे (3 मी. से ग्रधिक नहीं) होते हैं, ग्रौर ये सुरंगें भी न तो 3 मी. से ग्रधिक चौड़ी ग्रौर 3 मी. से ग्रधिक ऊँची होती हैं. 12 मी. × 12 मी. (ग्राधार पर) ग्राकार के ये ब्लाक कोयला-स्तम्भ कहलाते हैं. खुदाई की पहली ग्रवस्था में लगभग 40% कोयला निकाल लिया जाता है जबकि शेष 60% स्तम्भों में रह जाता है. इन स्तम्भों से कोयला निकालना ही खुदाई की दूसरी ग्रवस्था है, जिसे विस्तम्भन ग्रवस्था भी कहते हैं. ग्रधिकांश कोयला इसी ग्रवस्था में निकाला जाता है, परन्तु तब भी प्रायः 20% के लगभग कोयला खानों में ही रह जाता है. कोयले के संरक्षण ग्रौर खानों में दुर्घटनाग्रों को कम करने के लिए भारत सरकार ने ऐच्छिक बालूकाभरण एक्ट लागू कर दिया है. बालुकाभरण की यह विधि खानों के उन खाली स्थानों को बालू से भरने की क्रिया है जो कोयला

निकालने के बाद खाली हो जाते है. खाली स्थानों को भरने और कोयला निकालने की यह क्रिया साथ-साथ चलती है. इस प्रकार खानों में आकस्मिक धसकाव नही हो पाता है, प्राणों का खतरा कम हो जाता है और कोयला भी अधिक निकाला जा सकता है. उचित वालुकाभरण विधि से संस्तर मे से 90% से अधिक कोयला निकाला जा सकता है.

जब ऊपरी मलवा मुलायम होता है तो कोयला-संस्तर को खुली-खान बना लेते है अर्थात् खुदाई विवृत साँचा-निर्मित विधि से की जाती है. जब तक ऊपरी मलवे की मोटाई कोयला-संस्तर की मोटाई से अधिक नही होती तब तक खुली-खान वाली विधि कम खर्चीली रहती है और भूमिगत कोयले के खनन की अपेक्षा लागत कम आती है.

उत्पादन और साधन

1961–65 की अवधि में विश्व के अन्य देशों की तुलना में भारत में कोयले और लिग्नाइट का उत्पादन सारणी 6 में प्रदर्शित है. 1965 में 69,462 हजार टन कोयले और

सारणी 6 – विश्व का कोयला एवं लिग्नाइट उत्पादन (1961–65)*
(हज़ार टन में)

देश		1961	1962	1963	1964	1965
अफ्रीका (दक्षिणी)	कोयला	39,564	41,280	42,456	44,946	48,540
आस्ट्रिया	कोयला	107	100	103	103	59
	लिग्नाइट	5,664	5,712	6,048	5,760	5,448
ऑस्ट्रेलिया	कोयला	24,396	24,876	25,260	27,876	31,860
	लिग्नाइट	16,536	17,412	18,756	19,344	21,012
इटली	कोयला	742	692	586	472	382
	लिग्नाइट	1,524	1,776	1,368	1,200	1,020
कनाडा	कोयला	7,428	7,284	7,896	8,460	8,640
	लिग्नाइट	2,004	2,052	1,740	1,812	1,872
कोरिया	कोयला	5,880	7,440	8,856	9,624	10,248
चीन†	कोयला	2,50,000	2,50,000	2,70,000	2,90,000 (अ.)	3,00,000 (अ.)
जर्मनी (पश्चिमी)	कोयला	1,43,616	1,41,900	1,42,788	1,42,704	1,35,468
	लिग्नाइट	97,272	1,01,256	1,06,656	1,10,940	1,01,904
जर्मनी (पूर्वी)	कोयला	2,676	2,580	2,484	2,340	2,250
	लिग्नाइट	2,36,928	2,46,984	2,54,220	2,56,932	2,51,100
जापान	कोयला	54,480	54,396	52,056	50,928	49,536
	लिग्नाइट	1,308	1,116	912	696	576
जेकोस्लोवाकिया	कोयला	26,232	27,144	29,292	28,200	27,756
	लिग्नाइट	65,304	69,480	73,296	75,600	73,212
तुर्की	कोयला	3,768	3,888	4,152	4,452	4,452 (अ.)
	लिग्नाइट	1,620	1,932	2,412	2,988	2,496
नीदरलैंड	कोयला	12,624	11,568	11,508	11,484	11,448
न्यूजीलैंड	कोयला	769	712	672	692	673
	लिग्नाइट	2,208	1,884	2,112	2,232	2,028
पोलैंड	कोयला	1,06,608	1,09,608	1,13,148	1,17,360	1,18,836
	लिग्नाइट	10,344	11,088	15,348	20,280	22,632
फ्रांस	कोयला	52,356	52,356	47,748	53,028	51,336
	लिग्नाइट	2,904	2,880	2,472	2,244	2,712

क्रमशः

सारणी 6 — क्रमशः देश		1961	1962	1963	1964	1965
बुलगारिया	कोयला	590	636	658	608	552
	लिग्नाइट	16,968	19,104	20,280	23,748	24,468
बेल्जियम	कोयला	21,528	21,228	21,420	21,300	19,800
भारत	कोयला	56,065	61,370	65,956	62,440	67,162
	लिग्नाइट	64	211	999	1,569	2,300
युगोस्लाविया	कोयला	1,308	1,188	1,284	1,308	1,200
	लिग्नाइट	22,764	23,508	26,088	28,248	28,788
रोडेशिया (दक्षिण)	कोयला	3,072	2,820	2,736	3,036	3,400
संयुक्त राज्य अमेरिका	कोयला	3,78,660	3,95,520	4,30,452	4,54,704	4,74,060
	लिग्नाइट	2,736	2,772	2,448	2,676	2,616
संयुक्त राज्य (यू.के.)	कोयला	1,93,524	2,00,604	1,98,936	1,96,740	1,90,540
सोवियत रूस	कोयला	3,77,016	3,86,436	3,95,124	4,08,864	5,78,004
	लिग्नाइट	1,33,512	1,30,980	1,36,596	1,45,128	
स्पेन	कोयला	13,800	12,696	12,996	11,964	12,876
	लिग्नाइट	2,088	2,484	2,580	2,556	2,784
हंगरी	कोयला	3,072	3,336	3,708	4,128	4,368
	लिग्नाइट	25,104	25,308	26,772	27,420	27,072
विश्व भर का योग† (अ.)	कोयला	18,23,592	18,68,099	19,41,297	20,11,538	20,62,894
	लिग्नाइट	6,57,592	6,80,305	7,13,193	7,42,076	7,40,432
विश्व भर का सम्पूर्ण उत्पादन† (सभी क्रम)		24,81,184	25,48,404	26,54,490	27,53,614	28,03,326

Indian Miner. Yearb., 1965, 347–48; †Data from the U.S. Minerals Yearbook (1964); (अ.) — अनुमानित.

सारणी 7 — क्रम के अनुसार भारतीय कोयले का उत्पादन (1965)*
(टन में)

राज्य	कोककर	वरित ए	वरित बी	अकोककर क्रम I	क्रम II	क्रम III ए	क्रम III बी	अन्य	योग (अकोककर)	कुल
असम	..	..	..	..	..	..	..	6,30,143	6,30,143	6,30,143
आंध्र प्रदेश	..	..	..	..	..	..	..	40,40,326	40,40,326	40,40,326
उड़ीसा	..	..	..	9,49,317	2,77,604	..	..	..	12,26,921	12,26,921
जम्मू और कश्मीर	..	..	..	..	..	..	..	3,168	3,168	3,168
प. बंगाल	4,49,012	40,90,991	24,70,699	10,596,934	16,92,315	1,61,191	2,40,096	2,82,042	1,95,34,268	1,99,83,280
बिहार	1,65,49,386	2,19,147	3,52,226	61,64,809	28,20,914	20,50,481	24,27,633	4,22,265	1,44,57,475	3,10,06,861
मध्य प्रदेश	..	..	7,45,968	42,01,095	23,18,085	..	13,39,959	5,25,647	91,30,754	91,30,754
महाराष्ट्र	..	..	..	1,99,309	7,04,226	..	2,36,710	..	11,40,245	11,40,245
भारत (कुल)	1,69,98,398	43,10,138	35,68,893	2,21,11,464	78,13,144	22,11,672	42,44,398	59,03,591	5,01,63,300	6,71,61,698

Indian Miner. Yearb., 1965, 333.

सारणी 8 – भारत में पब्लिक और प्राइवेट सेक्टरों में कोयले का क्रमानुसार उत्पादन (1964–65)*
(हजार टन में)

क्रम	1964			1965		
	पब्लिक सेक्टर	प्राइवेट सेक्टर	कुल	पब्लिक सेक्टर	प्राइवेट सेक्टर	कुल
कोककर कोयला	2,828	13,894	16,722	2,759	14,239	16,998
अकोककर						
वरित A	138	4,517	4,655	157	4,153	4,310
वरित B	90	3,573	3,663	71	3,498	3,569
क्रम I	4,275	14,514	18,789	5,556	16,555	22,111
क्रम II	38	6,992	7,030	107	7,706	7,813
क्रम III	172	6,071	6,243	98	6,358	6,456
अन्य	4,129	1,209	5,338	4,644	1,260	5,904
कुल	11,670	50,770	62,440	13,392	53,769	67,162

**Indian Miner. Yearb.*, 1965, 334.

सारणी 9 – भारत में कोयले तथा कोक का आयात (1964–69)*
(मात्रा : टन; मूल्य : हजार रु. में)

वर्ष	कोयला		कोक	
	मात्रा	मूल्य	मात्रा	मूल्य
1964	1,813	821	429	138
1965	2,490	994	588	207
1966	2,902	1,588	1,367	622
1967	1,057	714	113	83
1968	241	195	601	169
1969	1,085	790	8,588	3,457

**Indian Miner. Yearb*, 1965, 346; *Monthly Bulletin of Mineral Statistics & Information*, Nov. & Dec 1968, 1969.

सारणी 10 – भारत से कोयले का निर्यात (1964–69)*
(मात्रा : हजार टन; मूल्य : हजार रु. में)

वर्ष	मात्रा	मूल्य
1964	1,245	39,223
1965	925	35,141
1966	361	19,972
1967	250	15,111
1968	469	25,549
1969	280	16,025

**Indian Miner Yearb.*, 1965, 345.
Monthly Bulletin of Mineral Statistics & Information, Nov. & Dec. 1968, 1969

सारणी 11 – विभिन्न देशों को भारत से कोयले का निर्यात (1964–65)*
(मात्रा : टन; मूल्य : हजार रु. में)

देश	1964		1965	
	मात्रा	मूल्य	मात्रा	मूल्य
अफगानिस्तान	80	4	..	..
जापान	11,000	582	5,500	311
नेपाल	10,460	664	11,746	855
पाकिस्तान	1,49,110	8,918	1,85,972	7,536
बंगला देश	9,09,833	21,536	5,78,590	19,673
ब्रह्मा	1,46,449	6,747	1,11,952	5,238
मालदीव	..	..	3	..
मोजैम्बिक	4,890	101	..	..
वियतनाम (दक्षिण)	2,000	104	..	..
श्रीलंका	11,600	567	30,738	1,528
संयुक्त राज्य अमेरिका	..	..	3	..
योग	12,45,422	39,223	9,24,504	35,141

**Indian Miner. Yearb.*, 1965, 345.

सारणी 12 – भारत में कोयले (ऐन्थ्रासाइट) का आयात (1965–69)*
(मात्रा : किग्रा.; मूल्य : रु. में)

	अप्रैल '65 – मार्च '66		जून '66 – मार्च '67		अप्रैल '67 – मार्च '68		अप्रैल '68 – मार्च '69	
	मात्रा	मूल्य	मात्रा	मूल्य	मात्रा	मूल्य	मात्रा	मूल्य
अमेरिका	3,474	13,83,752	1,539	10,61,165	1,087	7,50,851	..	..
इटली	5	3,860	490	3,48,061	12	8,480	.	.
नार्वे	500	2,21,983	999	6,52,079	995	6,42,719	..	..
श्रीलंका	..	..	..	..	..	..	6,493	3,28,481
जापान	..	..	..	..	.	..	5,500	4,31,852
नेपाल	.	..	..	..	..	..	450	28,411

**Monthly statistics of the foreign trade in India*, 1966, 67, 68, 69.

लिग्नाइट का उत्पादन हुआ जबकि 1948 और 1949 में कुल उत्पादन क्रमश: 2,97,30,000 और 3,14,56,807 टन था (*Monthly Statist. Production Selected Industr., India*, Jan.-Dec. 1949, 2).

1965 मे क्रम के अनुसार भारतीय कोयले का उत्पादन सारणी 7 मे अंकित है. सारणी 8 मे पब्लिक और प्राइवेट सेक्टरों में कोयले का क्रमानुसार उत्पादन दिया गया है.

विभिन्न कोटि के कोयले की कीमतें (गर्त-शीर्ष) अब सरकार ने नियत कर दी हैं. अधिकांश खान-संस्तरों के कोयले के नमूनों की (विशेषतया बंगाल और विहार क्षेत्रों मे प्राप्त) आर्द्रता और राख के लिए परीक्षण किया जा चुका है और इस प्रकार 'कोल कमिश्नर्स ग्रेडिंग स्कीम' के अनुसार ही संस्तर श्रेणीकृत किए जाते है.

1964–69 की अवधि मे भारत मे आयात किए जाने वाले कोयले और कोक की मात्रा सारणी 9 में तथा 1965–69 तक की अवधि मे केवल ऐंथ्रासाइट कोयले का आयात सारणी 12 में दिया गया है. सारणी 10, 11 तथा 13 मे भारत से निर्यात किए गए कोयले के आँकड़े प्रस्तुत हैं. स्पष्ट है कि 1964–69 की पाँच वर्ष की अवधि मे कोयले का निर्यात घटा है. यह निर्यात मुख्यत: पाकिस्तान, ब्रह्मा, श्रीलंका और जापान तक ही सीमित है. भारत से कोक का भी निर्यात किया जाता है (सारणी 15).

प्रोफेसर एन. एन. चटर्जी के अनुसार, 30 सेमी. मोटाई और 600 मी. की गहराई तक भारत मे सभी कोटि के गोंडवाना कोयले का भण्डार 6,000 करोड़ टन है. 1·2 मी. से कम मोटाई के संस्तरों की खुदाई व्यावहारिक न होने से खुदाई योग्य कुल भण्डार 2,000 करोड़ टन कोयला बचता है, जिसमे 25% से अधिक राख नहीं होती और तृतीयक कोयले का भण्डार मोटे तौर पर 230 करोड़ टन के लगभग है (*Proc. Indian Sci. Congr.*, 1945, pt 2, 94).

कोयले का उपयोग

कोयले का मुख्य उपभोक्ता रेलवे है. इसके बाद इंजीनियरी कारखानो, और मिलो (सूती, ऊनी, जूट इत्यादि), लोहा और इस्पात कारखानो और विविध उद्योगों का नम्बर आता है सारणी 14 मे पब्लिक और प्राइवेट सेक्टरों द्वारा कोयले और लिग्नाइट की खपत सम्बन्धी आँकड़े दिये हुए है जिनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि चाहे पश्चिम बंगाल हो या विहार, प्राइवेट सेक्टर मे ही कोयले की अधिक खपत है (Indian Coals, 5).

स्पष्ट है कि आजकल देश का अधिकांश कोयला भाप पैदा करने और घरेलू ईंधन के रूप में ही प्रयुक्त होता है. कोयले का बहुत कम अंश (50 लाख टन से भी कम) जमशेदपुर, कुल्टी और बर्नपुर की वात्या-भट्टियों की आवश्यकता पूर्ति के लिए कोकित किया जाता है. भारत के बड़े शहरों – कलकत्ता, बम्बई – मे गैस सप्लाई कम्पनियाँ है, जो अति वाष्पशील कोयले की थोड़ी मात्रा की ही खपत कर पाती है. आंशिक रूप से धातुकर्मीय हार्ड-कोक स्वयं धातुकर्म सम्बन्धी संस्थाओं द्वारा बनाया जाता है, और इसकी पूर्ति कोयला-क्षेत्रो में स्थित कोयला-भट्टियो द्वारा की जाती है. यद्यपि देश मे प्राप्त लौह अयस्क कई शताब्दियों तक देश की आवश्यकता पूर्ति करते रहने के लिए पर्याप्त है, परंतु यह भी सच है कि उच्च कोटि के धातुकर्मीय कोयले का ज्ञात भण्डार केवल 80 करोड़ टन ही है. यह हमारा दुर्भाग्य है कि बायलरों तथा अन्य विविध कार्यों मे अधिकतर धातुकर्मीय कोयला ही जलाया जाता है, जबकि इनमे इस कोयले का इस्तेमाल नहीं होना चाहिए. यदि इसी गति से कोयले की खपत होती रही तो शीघ्र ही देश में धातुकर्मीय कोयले का अकाल हो जायेगा. इसलिए कहना पड़ेगा कि "भारत के औद्योगिक भविष्य के लिए कोककर कोयले का संरक्षण अत्यन्त महत्वपूर्ण है".

भारत मे प्राकृतिक पेट्रोलियम के सीमित साधनो को देखते हुए कोयले का एक महत्वपूर्ण उपयोग यह होगा कि उससे

सारणी 13 – भारत से विश्व के प्रमुख देशों को कोयले का निर्यात*
(मात्रा : किग्रा.; मूल्य : रु. में)

	अप्रैल '65–मार्च '66		जून '66–मार्च '67		अप्रैल '67–मार्च '68		अप्रैल '68–मार्च '69	
	मात्रा	मूल्य	मात्रा	मूल्य	मात्रा	मूल्य	मात्रा	मूल्य
ऐंथ्रासाइटी कोयला								
जापान	5,500	3,10,588	4,912	3,07,000	4,551	3,63,471	5,500	4,31,852
नेपाल	70	5,000	1,957	1,98,146	3,518	1,61,924	450	28,411
श्रीलंका	..	..	..	..	..	..	6,493	3,28,481
बिटुमेनी कोयला								
अमेरिका	3	150	..	..	..	..	..	..
इथोपिया	..	..	..	..	..	..	7,000	4,55,000
नेपाल	1,716	1,25,567	3,218	2,00,833	9,093	3,67,066	5,655	3,09,885
पाकिस्तान	1,55,664	55,89,791	..	..	..	..	..	..
बंगला देश	3,16,875	1,15,07,862	..	..	..	..	..	..
ब्रह्मा	1,17,821	52,95,411	1,35,230	90,12,629	1,36,359	92,08,325	2,33,787	1,27,88,363
श्रीलंका	68,638	34,34,643	1,54,014	80,28,369	1,14,333	58,66,990	1,35,705	70,02,425
हांगकांग	..	..	..	..	9,093	3,67,066	12,455	5,98,365

**Monthly statistics of the foreign trade in India*, 1966, 67, 68, 69.

सारणी 14 – भारत में पब्लिक और प्राइवेट सेक्टरों द्वारा कोयले और लिग्नाइट की खपत*
(दस लाख टन में)

क्षेत्र और सेक्टर	मार्च '69	फरवरी '70	मार्च '70
पश्चिम बंगाल			
पब्लिक सेक्टर	..	..	..
प्राइवेट सेक्टर	1·62	1·40	1·50
बिहार			
पब्लिक सेक्टर	0·61	0·50	0·55
प्राइवेट सेक्टर	1·91	1·55	1·78
ओटलेइंग कोयला-क्षेत्र			
पब्लिक सेक्टर	0·54	0·52	0·56
प्राइवेट सेक्टर	0·77	0·75	0·75
सिंगरानी	0·28	0·29	0·29
तमिलनाडु और राजस्थान लिग्नाइट	0·35	0·33	0·33
कुल	5·76	5·34	6·08

**Provisional Coal Statistics*, March 1970.

सारणी 15 – भारत से कोक का निर्यात (1964–69)*

वर्ष	मात्रा (टन)	मूल्य (हजार रुपये)
1964	9,024	860
1965	4,920	493
1966	11,067	1,536
1967	6,216	1,042
1968	28,732	2,993
1969	29,314	2,870

**Indian Miner. Yearb.*, 1965, 346.
Monthly Bulletin of Mineral Statistics & Information, Nov. & Dec. 1968, 1969.

हाइड्रोजनीकरण द्वारा या फिशर ट्राप्श की संश्लेषण विधि से या दोनों के संयोग से संश्लेपित पेट्रोल का उत्पादन किया जाए. डीजल-तेल और मोटर-स्पिरिट के उत्पादन के लिए अकोककर कोयले के विशाल भण्डार का भी उपयोग हो सकता है. इसकी ओर विशेषज्ञों का ध्यान आकर्षित हुआ है.

कोरंडम CORUNDUM

हीरे के बाद कठोरतम खनिजों में कोरंडम (हिं. – कोरंड, कुरण्ड) का नाम आता है. प्राचीन काल में प्राकृत क्रिस्टलों का उपयोग मिस्र वासियों द्वारा सम्भवत: पत्थर के मकबरों पर नक्काशी करने के लिए किया जाता था. व्यापारिक

अपघर्षक के रूप में इसके दानों का उपयोग अपेक्षाकृत नया है यद्यपि अपघर्षण कार्यों के लिए एमरी को (जो लौह-ऑक्साइड युक्त किस्म है) सदियों से नैक्सोस द्वीप (यूनान) स्थित एमरी अन्तरीप की खानों से खोदा जाता रहा है. कोरंडम की रत्न किस्मों का उपयोग कीमती पत्थरों के रूप में अत्यन्त प्राचीन-काल से होता रहा है. कोरंडम (Al_2O_3; वि.घ., 3·9–4·1; कठोरता, 9) षट्कोणीय समान्तर षट्फलकीय वर्ग में क्रिस्टलित होता है और यह सामान्यतः ढोलकाकार या पिरैमिडी क्रिस्टलों के रूप में तथा स्थूल दानेदार एवं अन्य रूपों में मिलता है. इसमें विदलन न होकर आधारिक विभाजन होता है. सामान्य कोरंडम पारभासी या अपारदर्शी होता है तथा इसका रंग काचाभ या मंद चमकयुक्त, धूसर, बादामी, हरा या लाल होता है. न तो यह फुँकनी की ज्वाला में गलता है और न अम्लों का ही इस पर कोई प्रभाव पड़ता है. जब इसे महीन पीसकर कोबाल्ट नाइट्रेट के साथ मिला करके काठ-कोयले पर खूब गर्म किया जाता है तब इसका लाक्षणिक नीला रंग उत्पन्न होता है.

एमरी (वि.घ., 2·7–4·3; कठोरता, 8) दानेदार कोरंडम, मैग्नेटाइट तथा कुछ हीमैटाइट का समांग मिश्रण है. इसके अतिरिक्त, एमरी की कुछ किस्मों में स्पिनेल तथा/या फेलसपार मिला रहता है. यह खनिज स्थूल, महीन या मोटे दानों वाला और लगभग अपारदर्शी है तथा इसमें धूसर-कृष्ण, नील-कृष्ण या कभी-कभी चित्तीदार रंग होता है. यह कुछ-कुछ चुम्बकीय होता है.

माणिक्य या लाल (रूबी) कोरंडम के पारदर्शक लाल रंग की किस्म है. इसका रंग गहरे लाल से लेकर अनेक आभाओं से होता हुआ गुलाबी तक पाया जाता है. यह एक अक्षीय ऋणात्मक खनिज है जिसके अपवर्तनांक n_γ तथा n_α क्रमशः 1·768 और 1·760 हैं. अतः इसका द्विअपवर्तन (0·008) बहुत कम है. इसका वर्ण-विक्षेपण भी क्षीण है (0·018) जिसके कारण इसमें कान्ति नहीं होती. प्राकृतिक माणिक्य के भिन्न-भिन्न भागों के रंगों में अन्तर होता है और इसके वर्ण-पट्टों की रूपरेखा वक्र न होकर समांतर या अनियमित होती हैं. प्राकृतिक माणिक्य में विभिन्न परिमापों की षट्कोणीय या अनियमित तथा प्रायः दीर्घाकृत या कोणीय छोटी-छोटी गुहिकाएँ होती हैं जो सूक्ष्मदर्शी की सहायता से देखी जा सकती हैं. इनके आधार पर कृत्रिम माणिक्यों एवं प्राकृतिक माणिक्यों में अन्तर किया जा सकता है. कृत्रिम दलों की गुहिकाएँ समान्यतः ज्यामितीय न होकर काँच के बुलबुलों की भाँति गोल या गोलाकार होती हैं. वास्तविक माणिक्य में अनियमित रूप से अन्तवश रहते है जबकि कृत्रिम रत्नों में ये सामान्यतः वक्र धारियों के किनारे-किनारे वक्रों में व्यवस्थित रहते हैं.

नीलम (सैफ़ायर) कोरंडम की पारदर्शक नीली किस्म है. सामान्यतया नीलम के क्रिस्टल माणिक्य के क्रिस्टलों से लम्बे होते हैं. नीलम में नीले से लेकर पीत-नीले तक की बहुवर्णता पाई जाती है. इसके अन्य प्रकाशिक गुणधर्म, जैसे कि अप-वर्तन, वर्ण-विक्षेपण इत्यादि माणिक्य से बिल्कुल मिलते-जुलते हैं. व्यापार में लाल कोरंडम को छोड़कर शेष सभी बहुमूल्य कोरंडम नीलम कहलाते हैं परंतु नीले कोरंडम (असली नीलम) को छोड़कर अन्य किस्में अलग-अलग नामों से सूचित की जाती है, जैसे : सफेद नीलम, पीत-नीलम (ओरियण्टल टोपैज), हरा नीलम (ओरियण्टल एमेरेल्ड) तथा नील-लोहित नीलम (ओरि-यण्टल ऐमेथिस्ट).

माणिक्य तथा नीलम कृत्रिम रत्नों के विपरीत रेशमी आभा और 'तारापुंज' नामक गुण प्रदर्शित करते हैं. प्रथम में महीन तन्तुओं की समान्तर श्रेणियाँ अंतवश के रूप में उपस्थित रहती हैं. दूसरी अवस्था में जब पत्थर को मण्डप के आकार में इस प्रकार काटें जिससे उसका आधार क्रिस्टल के आधारिक तल से संपाती हो जाए और प्रकाश में परीक्षण करें, तो पत्थर के धरातल पर षट्किरणी या द्वादश किरणी तारा दिखाई देता है. यह तारापुंज या तारा-प्रभाव क्रिस्टल रेखाओं को अनुगमन करने वाली सिल्क की अपसामान्य मात्रा के कारण होता है. तारा माणिक्य तथा तारा नीलम बहुमूल्य रत्न हैं (Iyer, *Rec. geol. Surv. India*, 1942, **76**, *Bull.*, No. 6, 23).

कोरंडम अधिक ऐलुमिनायुक्त चट्टानों में पाया जाता है. अत्यधिक ऐलुमिनायुक्त मृत्तिका कोरंडमयुक्त नाइस या शिस्ट में, कायान्तरिक हो सकती है जिनमें प्रायः ऐण्डालूसाइट, काय-नाइट तथा सिलीमैनाइट जैसे खनिज भी सम्मिलित हों. इसी प्रकार, जब चूना-पत्थर क्रिस्टलीय किस्म में कायांतरित होता है, तो चूना-पत्थर में उपस्थित ऐलुमिना कोरंडम बना सकता है. ऐसे दो प्रकार के आग्नेय-शैल हैं जिनमें ऐलुमिना अधिकता से पाया जाता है. एक प्रकार में साइयेनाइट-नेफेलिन तथा कोरंडम साइयेनाइट आते हैं जिनमें अधिक क्षार होता है. दूसरे प्रकार से पेरिडोटाइट तथा ऐनार्थोसाइट जैसे अत्यल्प-सिलिक शैल आते हैं. इसके प्ररूपी उदाहरण हैं – सोना पहाड़ तथा रीवाँ के कोरंडम युक्त नाइस तथा शिस्ट, मोगोक पत्थर के क्रिस्टलीय चूना-पत्थर में उपस्थित कोरंडम, सलेम जिले में पालाकोड़ के कोरंडम-साइयेनाइट, कोयम्बतूर जिले में शिवमलाई के नेफेलिन-साइयेनाइट, तथा पूर्वी संयुक्त राज्य अमेरिका के अत्यल्पसिलिक शैल. कोरंडमयुक्त चट्टानों से होकर बहने वाली जल धाराओं से प्राप्त जलोढ़ निक्षेपों में कोरंडम मिल सकता है. सामान्यतया क्वार्ट्ज़ की तरह यह मुक्त सिलिका के बिलकुल पास ही नहीं पाया जाता है. एमरी, पेरिडोटाइट जैसे आग्नेय शैलों में पृथक्करणों के रूप में या क्रिस्टलीय चूना-पत्थर, हार्नब्लेण्ड, शिस्ट तथा नाइस में पिंडों के रूप में पाया जाता है. अभी तक एमरी भारत में नहीं पाया गया.

वितरण

असम – कोरंडम नांगस्टोइन राज्य में नागमावीट ग्राम (25°39′30″: 91°4′) से 2·5 किलोमीटर की दूरी पर उत्तर-पूर्व में सोना पहाड़ नामक स्थान में खासी पहाड़ियों में सिलीमैनाइट के साथ पाया जाता है. इस क्षेत्र के अधिकांश स्थूल सिलीमैनाइट-कोरंडम-निक्षेपों में कोरंडम अल्प मात्रा में रहता है किन्तु इनमें से एक या दो निक्षेपों में प्रधानतः कोरंडम ही रहता है. जिस सबसे महत्वपूर्ण निक्षेप में कोरंडम की प्रचुर मात्रा पाई जाती है वह अममाव्ली नदी के पूर्व में स्थित पहाड़ी की चोटी पर है, जो सोना पहाड़ से 5 किमी. पूर्व-उत्तर-पूर्व है तथा जो घाटी के पार पूर्व-उत्तर-पूर्व से पश्चिम-दक्षिण-पश्चिम की ओर लगभग 180 मी. तक फैला हुआ है. यह

निक्षेप उस पहाड़ी चोटी पर 30 मी. × 24 मी. के एक कोरंडम-सिलीमैनाइट शेल-दृश्यांश के रूप में है. इस चट्टान के बड़े-बड़े खंड, 6–9 मी. × 3–4·5 मी. तक के तथा कई भार में कई टन है पहाड़ी ढालों पर पाये जाते है. ये संधियों के कारण दृश्यांश से अलग हो गए हैं. अममाव्ली के पूर्व स्थित कोरंडम चट्टान के एक नमूने में 88·25% Al_2O_3 तथा 10·28% SiO_2 पाया गया (Dunn, *Mem. geol. Surv. India*, 1929, **52**, pt 2, 169).

आन्ध्र प्रदेश – कोरंडम के छोटे-छोटे टुकड़े कन्नगिरि पहाड़ियों से होकर बहने वाली धाराओं की बजरियों में तथा वर्षा के बाद वारंगल जिले के गोवुगुरू (17°17′: 80°25′), बुंजूर (17°15′: 80°25′) तथा गोलगुड़ा (17°15′: 80°21′) के खेतों में भी मिलते है. नलगोंडा जिले के अनेक भागों में भी कोरंडम पाया जाता है (La Touche, loc. cit.).

उड़ीसा – कटक जिले के उत्तर-पूर्व सीमांत में नीलगिरि पहाड़ियों में कोरंडम पाये जाने की सूचना मिली है.

कश्मीर – सूमजाम (सुमसाम 33°27′: 76°23′) की प्रसिद्ध नीलम खान सूमजाम से पश्चिम 30° उत्तर में लगभग 4 किलोमीटर की दूरी पर समुद्र-तल से 4,440–4,485 मी. की ऊँचाई तक स्थित है (सूमजाम सबसे ऊँचा गाँव है जिसमें जनस्कार क्षेत्र को चिनाब अपवाह क्षेत्र से अलग करने वाली ऊँची पर्वत-श्रेणी के दक्षिण पार्श्व में कुछ मकान मात्र हैं). यहाँ नीलम, ग्रेनाइटी तथा क्रिस्टलीय शिस्ट में अन्तर्वेधी आग्नेय ढेरों के साथ मिश्रित हैं तथा इन ढेरों के पेग्माटाइटी प्रशाखाओं में प्रचुरता से सांद्रित रहते हैं. ये कगार-पाद के शेल-निक्षेपों में भी पाये जाते हैं. सूमजाम खानों की पहले 1881–82 में खोज हुई और नीलम की खुदाई 1887 तक चलती रही. परंतु उसके पश्चात् 1927 में कश्मीर सरकार द्वारा पुनः अन्वेषण कार्य प्रारंभ किये जाने तक यह काम बन्द रहा. कोरडम तथा नीलम की बड़ी मात्राएँ प्राचीन खानों से दक्षिण-पूर्व में नई खानों वाले क्षेत्र के मध्य भाग से प्राप्त हुई हैं. नवीन खानों में 2·5–5·0 सेंमी. लंबे कोरंडम-नीलम के क्रिस्टल, ऐक्टिनोलाइट या ट्रेमोलाइट शिस्ट के लेन्सों में अन्तर्वेधी होकर केओलिनीकृत पेग्माटाइट के छोटे-छोटे टुकड़ों में वैसे ही वितरित हैं जैसे हलवे में किशमिश. नीलमयुक्त पेग्माटाइट इन नई खानों के उत्तर-पूर्व में कुड़ी के पूर्व में स्थित पहाड़ी-स्कंध पर दांगेल से पूर्व सूमजाम से 5 किमी. पश्चिम-उत्तर-पश्चिम पर भी पाये गये हैं. कोरंडमयुक्त नाइस किश्टवार-अथोली मार्ग पर अथोली (33°18′: 76°5′) के पश्चिम-उत्तर-पश्चिम में प्रायः 13 किलोमीटर की दूरी पर, 1,650 मी. की ऊँचाई पर मिलता है.

अनुमान है कि नीलमयुक्त चट्टान इस क्षेत्र में अभी तक प्राप्त सूचना से कहीं अधिक विस्तृत है. कश्मीर के नीलम के साथ-साथ अन्य पत्थर, जैसे ऐक्वामेरीन-लाल, बेरिल या वैडूर्य, रुबेलाइट, हरा टूर्मैलीन तथा गार्नेट भी मिलते हैं. कश्मीरी नीलम हल्के नीले से लेकर आसमानी तक विविध रंगों में प्राप्त हैं. प्राकृतिक अवस्था में कश्मीरी नीलम केओलिन की पतली पपड़ी से प्रलेपित पाये जाते हैं.

तमिलनाडु – अनन्तपुर जिले में अनंतपुर, धर्मवरम, हिन्दुपुर तथा कल्याणदुर्ग ताल्लुकों में अनेक स्थानो पर कोरंडम के खंड खेतों मे विखरे पाये जाते हैं.

उत्तर अर्काट जिले में तिरुपति से 38·4 किलोमीटर पर वोम्मर्वतिपूडि के समीप कोरंडम के अण्डे जैसे आकार के टुकड़े मिलने की सूचना है.

कोरंडम कोयम्बतूर जिले में अनेक स्थानों पर ऊपरी सतह पर विखरा हुआ और कनुटपलाड्याम (11°2′30″: 77°31′) में भी शिवमलाई-शैलमाला के कोरंडम फेल्सपार चट्टान के अवयव के रूप में पाया जाता है. इस जिले में कोरंडम की एक लाल किस्म के विरलता से पाये जाने की सूचना है.

सलेम जिले में कोरंडम पापरपत्ति (12°13′: 78°3′30″) तथा पालकोड़ में कोरंडम-फेल्सपार चट्टान या कोरंडम-साइयेनाइट के अवयव के रूप में पाया जाता है. कावेरी पर स्थित दोन्न-कुट्टहाली से रायकोट्टाई के समीप चिन्तलकुट्टाई तक लगभग 64 किलोमीटर की दूरी तक कोरंडम की चट्टान बीच-बीच में पायी जाती है. यहाँ पर पहले कोरंडम की काफी मात्रा अपक्षीण-ऊपरी सतह से इकट्ठी की जाती थी किन्तु अब वह चुक गया है. किन्तु खनिज चट्टान में प्राप्य है और उसे पाने के लिए चट्टान को खोदना पड़ेगा.

इस जिले का एक दूसरा प्रमुख स्थान सीतमपुण्डि (11°14′: 77°54′30″) है जहाँ कोरंडम 16 किलोमीटर लम्बी पट्टी में, किन्तु मुख्यतः 6·4 किलोमीटर × 3·2 किलोमीटर के क्षेत्रफल में ऐनार्थाइट-हार्नब्लेण्ड नाइस में पार्फ़िराइटी क्रिस्टलों के रूप में मिलता है. इस कोरंडम का रंग हरित धूसर या मांसलोहित होता है तथा यह कैल्साइट कवच में बँधा रहता है. लाल रंग का कोरंडम कभी-कभी माणिक्य में बदल जाता है. इस जिले की कुछ कोरंडम खानों में, विशेषतः त्रिचिनगोड ताल्लुका के चोलाशिगमणि (11°15′: 77°56′) के पास, महीन माणिक्यों का पता चला है (La Touche, 141).

दक्षिण कनारा जिले में, पुत्तूर तहसील में, उप्पिनंगडि (12°50′: 75°16′) तथा इसके पड़ोस के गाँवों में नेत्रवती नदी की सहायक नदियों की घाटियों तथा नदीतलों पर अपरदी-निक्षेपों के रूप में कोरंडम अल्प मात्रा में पाया जाता है.

दक्षिणी कनारा जिले के उप्पिनंगडि ताल्लुका में अन्य कई स्थानों पर भी कोरंडम के निक्षेप प्राप्त हैं. वे सम्भवतः मैसूर राज्य के समरूप निक्षेपों के उत्तर-उत्तर-पश्चिम के सिल-सिले के रूप में है (Heron, *Rec. geol. Surv. India*, 1936, **71**, 37).

पंजाब – कांगड़ा जिले में कुल्लू के हमता दर्रे (32°16′: 77°26′) की चढ़ान पर नीलम पाये जाने की सूचना मिली है (La Touche, 182).

बिहार – कोरंडम (नीली किस्म) मानभूम जिले में सालबनी ग्राम के पास एक कायनाइट शिरा में पाया जाता है. यह शिरा 60 से 80 सेंमी. मोटी है तथा गाँव के दोनों ओर 4·8 किलोमीटर तक बीच-बीच में पाई जाती है. इस चट्टान में कोरंडम के क्रिस्टल बहुत कम पाए जाते है. कहते हैं, हजारीबाग के पूर्व-स्थित टुटकी घाट (23°57′: 85°42′) पर भी कोरंडम पाया जाता है.

खरसवान राज्य के प्रसिद्ध कायनाइट के लाप्सा बुरु निक्षेप में कभी-कभी कायनाइट चट्टान में महीन कोरंडम पाया जाता है जिसके कारण उस चट्टान का आ.घ. (3·7) कुछ अधिक है (Dunn, op. cit., 218).

मध्य प्रदेश तथा महाराष्ट्र – रीवा राज्य में पिपरा (23°58′ 30″: 82°41′) के सिलीमैनाइट-शिस्ट में एन्स्टाटाइट युक्त चट्टानों (पाइरॉक्सीन ग्रेनुलाइट तथा पाइरॉक्सीन-फेल्सपार चट्टान) के साथ पिंडित संस्तर के रूप में कोरंडम पाया जाता है. प्रमुख कोरंडम संस्तर केन्द्रीय कटक के आरपार 18 मी. × 60 मी. क्षेत्रफल में व्याप्त है. यह खनिज महीन दानेदार तथा प्रायः धूसर या नील-लोहित और कभी-कभी बैंगनी रंग का होता है. इम्पीरियल इन्स्टीट्यूट में नील-लोहित किस्म के नमूने का विश्लेषण करने पर 93·91% Al_2O_3 तथा 3·81% SiO_2 पाया गया. जिओलाजिकल सर्वे आफ इण्डिया की प्रयोगशाला में अन्य प्रारूपिक नमूनों के विश्लेषण से क्रमशः 50·49 तथा 63·44% Al_2O_3 और 33·40 तथा 33·25% SiO_2 पाया गया.

काराकोटा ग्राम (23°54′: 82°40′) के उत्तर में लगभग डेढ़ किलोमीटर की दूरी पर रेंड नदी से पश्चिम की ओर ऊपरी मिट्टी से कोरंडम की थोड़ी मात्रा खोद कर निकाली गई है. यह निक्षेप पिपरा निक्षेप के लगभग 5 किलोमीटर पश्चिम-उत्तर-पश्चिम में है किन्तु इसमें कोरंडम की मात्रा कम लगती है (Dunn, op. cit., 191).

कहा जाता है, ग्वालियर राज्य में पानियारी से लगभग डेढ़ किलोमीटर ऊपर कोआँरी नदी के दक्षिणी तट पर एक सहायक नदी के जलोढक में कोरंडम पाया जाता है.

भंडारा जिले में पोहरा ग्राम के 1·6 किलोमीटर दक्षिण-पूर्व में एक छोटी पहाड़ी की तली पर कोरंडम तथा सिलीमैनाइट का निक्षेप पाया जाता है. संपीडित कोरंडम का दृश्यांश स्वस्थाने नहीं पाया गया है, किन्तु 5–7·5 सेंमी. के टुकड़ों के रूप में लगभग 84 वर्गमीटर के क्षेत्रफल में पहाड़ी वाह से प्राप्त किया जाता है. यहाँ का कोरंडम गहरा धूसर, हल्का धूसर, सफेद और बैंगनी रंगों वाला होता है. महीन नील-धूसर-टूर्मेलीन के धब्बों के कारण इसका रंग गहरा धूसर होता है. कोरंडम चट्टान प्रायः महीन दानेदार होती है और जलोढक में 1·2 मी. या अधिक गहराई तक पाई जाती है. इस क्षेत्र में कोरंडम की औसत मात्रा 10·8 किग्रा./वर्गमीटर है. वस्तर राज्य की नुकमा तहसील में केरियापाल (18°18′: 81°32′) के पश्चिम में सिलीमैनाइट से मिश्रित लाल कोरंडम के लघु निक्षेप मिलते हैं.

मैसूर – मैसूर राज्य में कोरंडम अनेक कोटियों तथा रंगों में आमतौर से पाया जाता है. यह परिवर्तित अल्पसिलिक तथा अत्यल्पसिलिक शैलों में ग्रेनाइट, साइयेनाइट या पेग्माटाइट के सम्मिलन स्थलों पर कणिकाओं या क्रिस्टलों के रूप में स्वस्थाने मिलता है परन्तु प्रायः यह अधःस्थ कोरंडमयुक्त शैलों से व्युत्पन्न ऊपरी सतह के अवद्ध दानों या क्रिस्टलों के रूप में रहता है. यह खनिज बंगलौर, हसन, कादूर, कोलार, मैसूर तथा तुमकुर जिलों में अनेक स्थानों पर पाया गया है. यह खनिज श्रृंगेरी जागीर में अर्सिकेरे के पश्चिम तथा दक्षिण-पश्चिम में, पावगाडा, मद्दगिरि तथा गोरिबिदनूर तालुकों में मांड्या के आसपास के क्षेत्रों में पाया गया है. अर्सिकेरे तालुका के बागेशपुरा, आदिहल्लि तथा कल्याडि के निकट कोरंडम के कई प्राप्ति स्थानों का विस्तृत परीक्षण करने पर यह मालूम हुआ कि यहाँ के अधिकांश स्थानों में यह खनिज विरलता से पाया जाता है तथा अवद्ध क्रिस्टलों के रूप में रहता है, किन्तु कल्याडि के पास एक स्थान में एक मीटर चौड़ी कोरंडम चट्टान 300 मी. से अधिक दूर तक फैली हुई है. इस संस्तर में लगभग 3,000 टन चट्टान से 500 टन कोरंडम मिल सकता है (Rao, *Rec. geol. Dep., Mysore*, 1938, *37*, 22).

कोप्पा ताल्लुका में मेलकोप्पा के समीप एक उत्तम रंग के लाल कोरंडम के निक्षेप का पता लगा है. यह खनिज अपघटित ग्रेनाइट-नाइस के रूप में 12 मिमी. तक लम्बे अवद्ध क्रिस्टलों के रूप में मिलता है, परंतु क्रिस्टलों में अधिक विभंजन होने से उनकी ठीक से पालिश नहीं हो पाती. लाल कोरंडम कभी-कभी कादूर जिले में श्रृंगेरी के पास कादमने (13°26′ 30″: 75°18′) के कोरंडम-गर्तों में पाया जाता है (La Touche, 181).

अन्य देशों में वितरण

नेपाल – इस्मा तथा मूसिकोट के पास पहाड़ी ढालों में विलग पिंडों के रूप में वृहत् मात्रा में कोरंडम के मिलने का पता चला है.

ब्रह्मा – ब्रह्मा बहुत पहले से रत्नों – लाल, नीलम तथा स्पिनेल – के लिए प्रसिद्ध रहा है. ये रत्न अत्यधिक क्रिस्टलीय चूना-पत्थरों की दीर्घ पट्टियों में छिपे रहते हैं. कुछ फेल्सपाती-आग्नेय-शैलों तथा कोरंडमयुक्त साइयेनाइट में भी नीलम पाए जाते हैं. ये रत्न रत्नधारी बजरी से प्राप्त किये जाते हैं (स्थानीय नाम ब्योन है) जो जनक शैलों के अपक्षय से बन करके पहाड़ी ढालों पर चूना-पत्थर की कन्दराओं तथा सन्धियों में और नदी-घाटियों में अपरदी-निक्षेपों के रूप में एकत्रित होती रहती है. उत्तरी ब्रह्मा में तीन सुस्पष्ट माणिक्य प्रखण्ड हैं: (1) मोगोक प्रस्तर मार्ग (माणिक्यखान जिला); (2) सागियन पहाड़ी प्रस्तर मार्ग (मांडले जिला); तथा (3) नानियाज़ीक प्रस्तर मार्ग (माइतकाइने जिला). मोमीक तथा केंगतुंग राज्यों में भी प्रस्तर प्रखण्ड मिलने की सूचना है. प्रथम रत्न प्रखंड अर्थात् माणिक्यखान प्रखंड सर्वाधिक महत्वपूर्ण है और यह विश्व के माणिक्य संभरण का प्रधान स्रोत रहा है. इस प्रखण्ड का क्षेत्रफल 1,554 वर्ग किलोमीटर है और मोगोक, कायटपाइन कार्थे तथा लूड़ा की घाटियाँ यहाँ के प्रमुख खुदाई-स्थल हैं. इस प्रखंड में माणिक्यों के साथ नीलम भी जलोढ निक्षेपों में पाए गए हैं. मोगोक प्रखंड के अधिकांश माणिक्य कार्थे, क्यांगडिवन, इनगांग, ग्वेविन तथा कवाइंग के निकट से और बर्नार्डम्यों तथा चागई से आये हैं (Iyer, loc. cit.).

अपारदर्शी कोरंडम की अल्प मात्रा मोगोक तथा ननियाज़ीक प्रखण्डों के रत्नों के साथ पायी गयी है. रत्नों की खुदाई करते समय यह उपजात के रूप में मिला है तथा इसका उपयोग अपघर्षण कार्यों में होता है.

श्रीलंका – रत्नधारी बजरी में (स्थानीय नाम इल्लम) जो लंका की अनेक चौड़ी घाटियों के ऊपरी जलोढक के नीचे 1·8–9 मी. की गहराई तक है, कोरंडम तथा माणिक्य, तारा माणिक्य, नीलम, तारा नीलम, सफेद नीलम, ओरियण्टल ऐमेथिस्ट तथा ओरियण्टल टोपैज़ नामक रत्न किस्मों की प्रचुर मात्रा में उपस्थिति का ज्ञान बहुत पहले से है. श्रीलंका विश्व के प्रमुख उत्पादक देशों में से एक है तथा बालंगुडा, रकवाना तथा रत्नपुरा के पास रत्नों के प्रमुख खुदाई क्षेत्र हैं (Iyer, loc. cit.).

कैंडी के पास तालाटुओया से लगभग 3 किलोमीटर की दूरी पर स्थित टेन्नहिना में फेल्सपाती-ग्रेनुलाइट की कुछ पतली पट्टियों में चटक नीले रंग का कोरंडम स्वस्थाने मिला है. कैंडी से 12·8 किलोमीटर की दूरी पर कांडेयाया राज्य में मिट्टी की ऊपरी सतह में भी यह पाया गया है. कुरुवीटा (सबर-गमुवा) के पैराड़ाइज इलाके के सम्मुख स्थित पट्टूलेवलदेनिया कोरंडम क्रिस्टलों के लिए प्रसिद्ध है. अनण्डेल रियासत के दक्षिण-पूर्वी सीमा के समीप ऊपरी मिट्टी में तथा वटुगमना के अगिरि कन्दुरा (या गेम्मर की धारा) की बजरी तथा बालू में भी कोरंडम क्रिस्टल प्राप्त होते हैं (*Ceylon Adm. Rep.*, pt IV, *Miner. Surv.*, 1903–08).

खनन तथा कोटि निर्धारण

भारत का अधिकांश कोरंडम ऊपरी सतह से हाथ से चुनकर प्राप्त किया जाता है और खनिज में किसी प्रकार की संलग्न अशुद्धि न रहने से इसको अपरिष्कृत अवस्था में ही बेचा जा सकता है. जहाँ कोरंडम स्वस्थाने पाया जाता है, जैसे असम तथा रीवाँ, वहाँ पर कोरंडम चट्टानों के शेल-मलवा-गोलाश्मों को विस्फोट एवं स्लेज हथौड़ों की सहायता से छोटे-छोटे टुकड़ों में तोड़कर, और फिर छँटाई करके विलग किया जाता है. कोरंडम की खुदाई में खुली ढलाई विधियाँ काम में लाई जाती हैं.

जहाँ पर कोरंडम, मृदु-अपक्षीण-अभ्रकी नाइस तथा शिस्ट से युक्त हो, वहाँ पर क्रिस्टलों को हाथ से निकाला जा सकता है तथा पदार्थ को विशेष ढंग से आसंजित धातु के बेलनाकार घूर्णी पात्रों में डालकर साफ किया जाता है जिससे क्रिस्टलों में से मृदु-गैंग पृथक् हो जाता है. कठोर दानेदार निक्षेपों में कोरंडम के सांद्रण के लिए कूटने, पीसने, चालने तथा पटलन जैसी साधारण आर्द्र-विधियों का सहारा लिया जाता है.

कोरंडम को कूटकर, पीसकर, तथा छान करके बेचने योग्य आकार में परिणत कर लिया जाता है. अपघर्षी कार्यों में प्रयुक्त कोरंडम का वर्गीकरण या कोटि-निर्धारण उस छालनी या स्क्रीन के आधार पर किया जाता है जिसमें से होकर वह निकल सकता है. इस भाँति मोटे पदार्थ की कोटि-संख्या सामान्यत: 8 है तथा महीन पदार्थ की 180 या 220 होती है. जो पदार्थ 220 छिद्र से भी महीन होता है, वह चूर्ण या एफ-कोटि का कहलाता है. अत्यन्त महीन या चूर्ण कोरंडम पिसे हुए खनिज को जल में निलम्बित करके कुछ सेकंड से लेकर एक घंटे तक के अन्तरालों में प्राप्त अवसादों को संग्रह करके तैयार किया जाता है. जो जितने अधिक समय तक निलम्बित अवस्था में रहता है, वह उतना ही अधिक महीन पदार्थ होता है (Coggin Brown, *Bull. Indian Industries & Labour*, 1921, 12, 33).

क्रिस्टलीय कोरंडम (अवद्ध क्रिस्टल तथा 3 मिमी. से बड़े टुकड़े) चट्टानी कोरंडम या गोलाश्म कोरंडम की अपेक्षा अधिक मूल्यवान होता है और कोरंडम के छोटे क्रिस्टलों की अपेक्षा बड़े क्रिस्टलों की अधिक माँग है. अपघर्षी कार्यों के लिए प्रयुक्त कोरंडम में चटक काँचाभ द्युति होनी चाहिए तथा विखंडित दानों में विदलन तथा विसंधि-तल नहीं होने चाहिए, उन्हें कोणीय, असम तथा तीक्ष्ण होना चाहिए.

कोरंडम रत्नों का खनन—ब्रह्मा में 'द बर्मा रुबी माइन्स कम्पनी' द्वारा 1925 तक (लगभग 40 वर्षो तक) आधुनिक विधियों से माणिक्यों की खुदाई होती रही, परन्तु इसी वर्ष यह कम्पनी स्वेच्छा से दीवालिया बन गई. मोगोक घाटी के तल से संग्रहीत रत्न-युक्त जलोढक को धावन-मिलों में धोकर सान्द्र किया जाता था तथा सांद्रों को टुकड़ों के आकार तथा आपेक्षिक घनत्व के आधार पर कुछ तो हाथ से और कुछ छलनियों तथा पछोरने की मशीनों से अलग किया जाता था. ब्रह्मा की देशी खुदाई की विधियाँ अब भी प्रचलित हैं. उनका विस्तृत वर्णन छिब्बर ने किया है. वे ऋतुओं और देश की प्रकृति के अनुसार बदलती रहती हैं. शुष्क मौसम में जलोढ निक्षेपों में घाटियों के तलों पर ब्योन (रत्नधारी बजरी) तक, जो प्राय: 6 या 12 मी. की गहराई पर होता है, गड्ढे खोदे जाते हैं जिन्हें ट्विन या ट्विनलान कहते हैं. ब्योन को ऊपर लाने के लिये या गड्ढों से जल निकालने के लिए बाँस के उत्तोलक काम में लाये जाते हैं. पहाड़ी ढालों पर माणिक्य-युक्त चूना-पत्थर के दृश्यांश को धोते हुए बहने वाली धार में उपस्थित खुली कटानों को म्याडविन या म्यास कहते हैं. इनमें साल भर कार्य हो सकता है और ये लोकप्रिय भी हैं. पहाड़ी ढाल की किसी दूर स्थित धारा को कटान तक लाया जाता है और उसे ऊपरी मिट्टी पर फुहारों के रूप में छिड़का जाता है, जिससे वह ढीली होकर निकल जाती है और भीतरी ब्योन दिखाई पड़ने लगता है. तब ब्योन को अवशिष्ट धारा में धोया जाता है, जहाँ भारी पदार्थ गड्ढों या जालियों में रुक जाता है जिससे समय-समय पर रत्नों को अलग कर लिया जाता है (*The Mineral Resources of Burma*, 1934, 8; Iyer, *op. cit.*, 19).

चूना-पत्थर में दरारों तथा सन्धियों पर किनारे-किनारे बनाए गए कन्दरामय छिद्र या कुंडली सुरंगें लूड्विनज या लूस कहलाती हैं जो अपरद से भरी रहती हैं. कोटिकाओं में कभी-कभी प्रचुर मात्रा में ब्योन रहता है. किन्तु ये भयावह हैं और अब अप्रचलित हैं. ब्रह्मा में जनक-शैलों (चूना-पत्थर) से माणिक्यों को बनाने का कार्य रत्नों की कमी होने के कारण लाभप्रद नहीं रह गया है. यही नहीं, आधुनिक वैज्ञानिक विधियों से यंत्रों द्वारा खुदाई अलाभकर हुई है और भविष्य में पुरानी विधियों के ही प्रयुक्त किए जाने की संभावना है.

श्रीलंका में रत्नयुक्त बजरी (इल्लम) से रत्नों की खुदाई की देशी विधियों का वर्णन कुमारस्वामी ने किया है. ये विधियाँ भूमि की प्रकृति तथा इल्लम की उपस्थिति के अनुसार बदलती रहती हैं. सामान्यत: जलोढक में अन्तस्थ रत्नयुक्त बजरी तक छोटे-छोटे छेद या गड्ढे बनाए जाते हैं. भूमिगत जल तथा इल्लम को लम्बे खम्भे वाले लीवरों द्वारा, जिन्हें स्थानीय लोग अंडिया कहते हैं, बाल्टियों से या कभी-कभी नाँद तथा बोझ उठाने की चर्खी की सहायता से ऊपर लाया जाता है. जब अवद्ध तथा कीचड़युक्त मिट्टी में गड्ढ खोदे जाते हैं तो उसके पार्श्व काष्ठनिर्मित होते हैं. जब इल्लम सरिता-तल से ऊपर पाया जाता है, तो गड्ढे दूर-दूर पर बनाये जाते हैं और परस्पर सुरंगों द्वारा मिला दिये जाते हैं. जब तक गड्ढे का इल्लम समाप्त नहीं होता तब तक इल्लम को उसके बाहर एकत्र किया जाता है, फिर इसे छोटी-छोटी टोकरियों में पास

ही की जलधारा में ले जाकर के विशेष प्रकार की वनी टोकरियों में धोया जाता है (*Ceylon Adm. Rep.*, pt IV, *Miner. Surv.*, 1904).

कश्मीर की पुरानी नीलम खानों की कार्यविधि के वारे में ऐसी कोई सूचना प्राप्त नहीं है कि उनमें शेल-फलक कार्य प्रणाली थी या अनियमित विल थे या सुरंगें अथवा गर्त थे. केओलिनीकृत छोटे, अनियमित, मसूराकार विम्ब या केक-जैसे लगभग उर्ध्वाधर पिंडों को निकालने के लिए पहले नई नीलम की खानों की खुदाई खड़े ढाल पर खुली खाइयों द्वारा की जाती थी. इन पिंडों में छोटे-छोटे गड्ढे बना करके कोरंडम-नीलम के मैट्रिक्स को, जो कठोर न होकर चीमड़ मृदायुक्त पदार्थ का बना होता है, गर्तो से ढोकों या सिल्लियों के रूप में निकाला जाता है. इस अपरिष्कृत पदार्थ में केओलिन (80%), क्वार्ट्ज़ के शेल-खंड, फेल्सपार, अभ्रक, काला टूर्मलीन तथा कुछ कोरंडम एवं नीलम रहते हैं. कोरंडम-नीलम तथा खनिज से प्राप्त अपरिष्कृत चट्टान का आकलित अनुपात 1:20 है. कश्मीर रियासत के स्वर्गीय खनन इंजीनियर श्री मलहोत्रा से प्राप्त समाचार के अनुसार, खुदाई का स्थान ऊँचाई पर होने से वर्ष में खुदाई का कार्य केवल 6–9 सप्ताह तक ही चल पाता है. इसलिए नीलमयुक्त पेग्माटाइटी 'लेण्टिकिलों' का अनुगमन सुरंगों के माध्यम से किया जाता है जिससे प्रति मीटर वनी सुरंग से अधिकतम लाभ हो सके. कुल मिलाकर 540 मी. लम्वी सुरंगों का जाल वना है जिसका तीन-चौथाई नई खानों में है. 1936 में नीलम खानों के विकास के लिए एक नियमित योजना चलाई गई और तीन नई सुरंगें वनाई गई जिनमें दो सुरंगों को प्रधान खनन-केन्द्रों से सम्वद्ध कर दिया गया है.

उपयोग – कोरंडम का मुख्य उपयोग अपघर्षण कार्यो में होता है; इसकी वहुमूल्य किस्में माणिक्य तथा नीलम-रत्नों के रूप में प्रयुक्त की जाती है. रंगीन रत्नों के मुख भाग को चमकीला और पृष्ठ भाग को सोपान की तरह काटा जाता है. नीलम के क्रिस्टल का रंग देखने की दिशा के अनुसार वदलता रहता है और सी-अक्ष से देखने पर क्रिस्टल का सर्वोत्कृष्ट रंग दिखाई देता है. अतः क्रिस्टलों को ऐसा काटा जाता है ताकि देखने वालों की आँखें सी-अक्ष पर पड़ें. इस दशा में तल क्रिस्टल के आधार-फलक के समांतर होता है. तारा-माणिक्य तथा नीलम को 'एन कैवोचोन' काटा जाता है.

कठोरता के कारण कोरंडम एवं उसकी किस्में, सूक्ष्म वैज्ञानिक यंत्रों में धुराग्र-टेकों, तथा घड़ियों के रत्न-वेयरिंगों के रूप में प्रयुक्त की जाती है. ऐल्युमिनियम का खनिज होने से कोरंडम का प्रयोग ऐल्युमिनियम ताम्र तथा ऐल्युमिनियम-लोह की मिश्र-धातुओं के वनाने में हो सकता है.

महीन और चूर्णित कोरंडम अवद्ध दानों के रूप में रत्नों तथा चट्टानों के नमूनों पर पालिश करने के लिए और कांच को पीसने तथा प्रवणित करने के लिए काम आता है. कोरंडम के दानों का प्रयोग कोरंडम-वस्त्र तथा कोरंडम कागज वनाने में होता है. अधिक कठोर होने के कारण पीसने तथा पालिश करने के लिए शुद्ध कोरंडम को अपघर्षक की तरह प्रयुक्त न करके इसकी एक किस्म, एमरी को इस कार्य के लिए उत्तम माना जाता है क्योंकि एमरी में उपस्थित नर्म अवयव (मैग्नेटाइट, हीमैटाइट, फेल्सपार, इत्यादि) कोरंडम की कठोरता को कम कर देते हैं.

श्रेणीकृत दानेदार कोरंडम को वन्धक पदार्थो के साथ मिलाकर कोरंडम-चक्र वनाए जाते हैं. कोरंडम-चक्र तीन प्रकार के होते हैं – (1) काचित चक्र, जो कोरंडम दानों को मृत्तिका तथा फ्लक्स पदार्थ के साथ मिश्रित करके साँचों में ढालकर, सुखाकर और अधिक ताप पर विशेष प्रकार की भट्टियों में पका कर वनाए जाते हैं. (2) रासायनिक चक्र, जिनमें वंधक पदार्थ सोडियम सिलिकेट होता है और जिन्हें वनाने के लिए उच्चताप अपेक्षित नहीं है; तथा (3) सीमेण्ट चक्र, जिनमें चपड़े या रवड़ को वन्धक के रूप में प्रयुक्त किया जाता है. कोरंडम चक्रों का उपयोग काटने तथा पैनाने के कामों में होता है (Coggin Brown, loc. cit.).

उत्पादन

विश्व में कोरंडम की वार्षिक खपत लगभग 20,000 टन है. कोरंडम का उत्पादन करने वाले प्रमुख देश संयुक्त राज्य अमेरिका, कनाडा, दक्षिण अफ्रीका, भारत, मैडागास्कर, तथा रूस हैं. यूनान, तुर्की, रूस तथा संयुक्त राज्य अमेरिका प्रमुख एमरी-उत्पादक देश हैं. विश्व में कोरंडम रत्न किस्मों का अधिकांश संभरण व्रह्मा, श्याम, श्रीलंका तथा कश्मीर से होता है. अफगानिस्तान, चीन, रूस तथा संयुक्त राज्य अमेरिका से भी इसकी अल्प मात्राएँ प्राप्त की जाती है. भारत में कोरंडम और नीलम का उत्पादन सारणी 1 और 2 में दिया हुआ है. 'द वर्मा रुवी माइन्स कम्पनी' ने अपने लगभग 40 वर्ष के जीवन काल (1885–25) में 3·75 करोड़ रुपयों के माणिक्य, नीलम तथा स्पिनेल निकाले. सामान्यतः श्रीलंका में रत्न-खनिजों का वार्षिक उत्पादन 15–20 लाख रुपयों के मूल्य का होता है (विस्तृत विवरण उपलब्ध नहीं है).

असम के सोना पहाड़ से कोरंडम का उत्पादन 1916 से 1921 तक हुआ था. 1917 में अधिकतम उत्पादन 2,060 टन रहा किन्तु 1921 में यह 63·5 टन ही था (Dunn, *Mem. geol. Surv. India*, 1929, **52**, pt 2, 180).

आंध्र प्रदेश के महवूवनगर, गुलवर्गा तथा नलगोंडा जिलों में वहुत पुराने समय से कोरंडम निकाले जाने की सूचना मिली है, परंतु उसका विवरण प्राप्त नहीं है.

कोरंडम की रत्न किस्मों की अच्छी माँग है. वढ़िया किस्म के लाल और नीलम यूरोप और अमेरिका पहुँच जाते हैं किन्तु छोटे पत्थरों की भारत में वहुत माँग है. श्रीलंका और व्रह्मा की रत्न-वजरियों के चुकने के कोई लक्षण दिखाई नहीं देते. कहा गया है कि कश्मीर के रत्न प्रदाता पैग्माटाइट लेंसों का विस्तार, जितना अव तक समझा जाता था, उससे कहीं अधिक है. ऐसा लगता है कि श्रीलंका और व्रह्मा में रत्न निकालने की देशी विधि ही इस्तेमाल की जाती रहेगी. श्रीलंका के जिन खेतों में रत्नधारी वजरी पाई जाती है वे वहुत से छोटे-छोटे खण्डों में वँटे हुए है और उनके स्वामी अलग-अलग हैं. ऐसी दशा में वहाँ रत्न निकालने के लिए हाइड्रॉलिक विधियों का उपयोग सम्भव नहीं है. कश्मीर में वहुत ऊँचाइयों पर रत्न पाए जाते हैं. वहाँ वारहों महीने खनन नहीं किया जा सकता.

सारणी 1 – भारत में कोरंडम का उत्पादन (1964–69)*
(मात्रा : टनों; मूल्य : हज़ार रु. में)

राज्य	1964 मात्रा	1964 मूल्य	1965 मात्रा	1965 मूल्य	1966 मात्रा	1966 मूल्य	1967 मात्रा	1967 मूल्य	1968 मात्रा	1968 मूल्य	1969** मात्रा	1969** मूल्य
मध्य प्रदेश	540	303	481	271	385	217	304	171	157	82	249	140
महाराष्ट्र	..	..	..	..	..	..	20	3	13	2	6	1
मैसूर	..	..	..	..	..	2	2	1	156	94	197	118
योग	540	303	481	271	385	219	326	175	326	185	452	259

*Indian Miner. Yearb., 1965, 369; Monthly Bulletin Miner. Statistics & Information, Vol. 7, 8, 9, 1967, 1968 & 1969.
**केवल अप्रैल तक के लिए.

सारणी 2 – भारत में नीलम का उत्पादन (1963–68)*

वर्ष	कच्चा (ग्रा.)	धुला/ग्रेडित मात्रा (ग्रा.)	धुला/ग्रेडित मूल्य (हज़ार रु.)
1963	..	50,000	23
1964	2,03,280	1,97,147	112
1965	2,24,830	..	..
1966	1,85,000	..	..
1967	1,89,000	..	..
1968	1,45,000	..	..

*Indian Miner. Yearb., 1965, 369; Monthly Bulletin Miner. Statistics & Information, Vol. 7, 8, 9, 1967, 1968 & 1969.

सैफायर माइनरेंज में खान के सामने के ढलानों में कुछ नये पैग्माटाइट लेंटिकिलों का पता लगा है. यदि ये लेंटिकिल खनन के योग्य पाए गए तो कश्मीर में एक तीसरी नीलम-खान विकसित होने की सम्भावना है (*Adm. Rep. Govt Mineralogist, Ceylon*, 1941, 15).

कोरंडम के खनन योग्य निक्षेप असम, रीवाँ, मैसूर, कश्मीर, तमिलनाडु और मध्य प्रदेश में पाए जाते हैं. असम के सोना पहाड़ में कोरंडम-सिलीमैनाइट की न्यूनतम उपलभ्य राशि 82,600 टन; और रीवाँ में पिपरा के आसपास उच्च श्रेणी के कोरंडम की राशि 1,06,000 टन अनुमानी गयी है. ये भारत के सबसे महत्वपूर्ण निक्षेप हैं. अतीत में नियमित रूप से यहाँ खनन नहीं किया जा सका है; अंशतः इसलिए कि ये क्षेत्र ऐसे स्थानों पर हैं जहाँ पहुँचने में कठिनाई होती है, और परिवहन की पर्याप्त सुविधाएँ नहीं हैं. हाल में परिवहन स्थिति में कुछ सुधार हुआ है और इन निक्षेपों का भविष्य उज्ज्वल प्रतीत होता है (Dunn, op. cit., 180, 193).

तमिलनाडु के सलेम जनपद और मैसूर में अच्छे लक्षणों वाले कोरंडम की बड़ी मात्राएँ पाई जाती हैं. मैसूर में स्थानीय कोरंडम का उपयोग करके अपघर्षी कागज और कपड़े बनाने के प्रयत्न किए गए हैं. कहा जाता है कि प्राप्त परिणाम संतोषजनक हैं (*Rec. geol. Dep. Mysore*, 1943, **41**, 15).

कोरंडम को बड़े पैमाने पर खनन करने, सान्द्रित करने, पीसने और बाजार की माँग के अनुसार विभिन्न श्रेणियों में तैयार करने का कोई सुसंगठित प्रयास नहीं किया गया है. दक्षिण भारत का कोरंडम अपनी कठोरता तथा अन्य गुणों में ट्रांसवाल की किस्मों के तुलनीय है; और हाल की हुई पूछताछ से ज्ञात होता है कि यदि नियमित रूप से माल दिया जा सके तो ब्रिटेन में अच्छे दक्षिण भारतीय क्रिस्टली कोरंडम की काफी माँग है. पिछले दिनों विदेशों में अपघर्षियों के निर्माण में जो उन्नति हुई है, उससे यह तो हो सकता है कि भारत का समुचित रूप से संसाधित और श्रेणीकृत कोरंडम विदेशों में न बिके, पर यह बिल्कुल सम्भव है कि देश की भीतरी माँग को, जिसकी निकट भविष्य में बढ़ने की सम्भावना है, पूरा करने के लिए देश में एक विकासोन्मुखी अपघर्षी-उद्योग की स्थापना की जाए (Sahni, *Rec. geol. Surv. India*, 1942, **76**, *Bull.*, No. 12, 9; Roy, *Indian Minerals*, 1949, **3**, 136).

कोरल ट्री – देखिए होवेनिया

कोरल ट्री, इंडियन – देखिए एरिथ्रायना

कोरल प्लांट – देखिए जैट्रोफा

कोरल वुड – देखिए एडनैनथेरा

कोरिएण्ड्रम लिनिअस (अम्बेलीफेरी)
CORIANDRUM Linn.

ले. – कोरिआण्ड्रूम

यह एकवर्षी, सुगंधयुक्त बूटियों की 6 जातियों का वंश है जिनमें से भारत में को. सेटाइवम नामक जाति व्यापक रूप से उगाई जाती है. इसके फल मसाले के काम आते हैं.
Umbelliferae

को. सेटाइवम लिनिअस C. sativum Linn. — धनिया

ले.—को. साटिवूम

D.E.P., II, 567; C.P., 427; Fl. Br. Ind., II, 717.

सं.—धन्या, कस्तुम्बरी; हि.—धनियाँ, धन्या; बं.—धाने; गु.—कोथमिर; म.—धणे, कोथिम्बीर; ते.—धनियालु; त.—कोतामल्ली; क.—कोत्तुम्बरी; मल.—कोतम्पालरि.

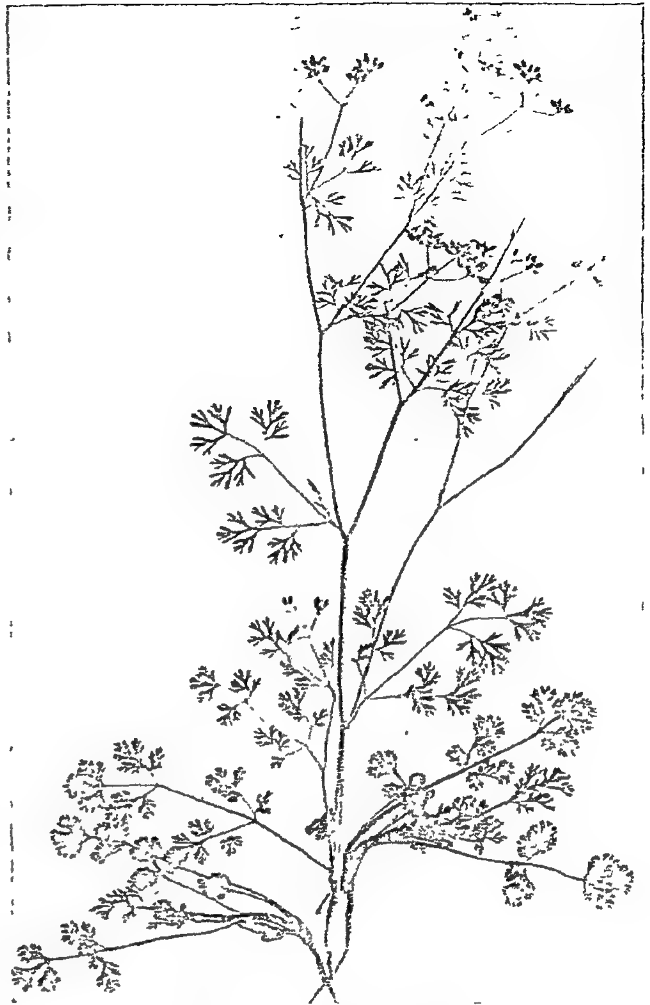
यह एकवर्षी बूटी है जो 30–90 सेंमी. ऊँची होती है. इसमें श्वेत और गुलाबी फूल पुष्प-छत्र के रूप में लगते हैं. नीचे की पत्तियाँ चौड़ी होती हैं जिनकी कोर कुंठदंती पालियों से युक्त और ऊपर की पत्तियाँ पतली, बारीक कटी हुई और लम्बी पालियों वाली होती हैं. फल गोल, रेखेदार, पीले-भूरे और व्यास में 2–3·5 मिमी. होते हैं. दबाने से फल दोफलांशकों में विभाजित हो जाता है जिनमें एक-एक बीज होता है.

धनिया भूमध्य सागरी क्षेत्र का मूलवासी है और भारत, रूस, मध्य यूरोप, एशिया माइनर और मोरक्को में बड़े पैमाने पर उगाया जाता है. भारत के सभी प्रदेशों में इसकी खेती की जाती है और यह मध्य प्रदेश, दक्षिण की काली मिट्टी और उत्तरी भारत की उपजाऊ दुमट की एक महत्वपूर्ण गौण फसल है. तमिलनाडु में विशेषकर गुण्टूर, बेलारी, अनन्तपुर, त्रिचनापल्ली और तिन्नेवेली जिलों में धनिया की खेती लगभग 40,000 हेक्टर भूमि में की जाती है. महाराष्ट्र में लगभग 4,000 हेक्टर में धनिया उगाया जाता है जिसमें प्रधान क्षेत्र पूर्वी खानदेश और सतारा जिले हैं. पंजाब के सभी जिलों में इसकी खेती होती है (*Seas. Crop. Rep. Madras*, 1947–48).

धनिया की फसल अकेली और मिश्रित बोई जाती है जो सामान्यतया केवल वर्षा पर अवलम्बित होती है. कुछ क्षेत्रों में यह सिंचित फसल के रूप में उगाई जाती है. बुवाई का समय विभिन्न स्थानों में अलग-अलग होता है. बंगाल और उत्तर प्रदेश में बुवाई जाड़ों में, महाराष्ट्र में वर्षा में तथा तमिलनाडु में पतझड़ के मौसम में की जाती है. मैसूर तथा तमिलनाडु के कुछ भागों में यह दो ऋतुओं में उगाई जाती है, पहली फसल मई से अगस्त तक और दूसरी अक्टूबर से जनवरी तक (Yegna Narayan Aiyer, 303).

बोने के पहले फलों को मसला जाता है ताकि उसके फलांशक अलग-अलग हो जावें. फिर ये या तो छिटक कर या ड्रिलों द्वारा पंक्तियों में बो दिए जाते हैं. बीजांकुरण 10–15 दिन में हो जाता है. बीज की मात्रा पंजाब में प्रति हेक्टर 16 से 25 किग्रा. तक और दक्षिण भारत में 10 से 15 किग्रा. रखी जाती है. फसल की 2–3 बार निराई की जानी चाहिए और आवश्यकता पड़ने पर सिंचाई करनी चाहिए.

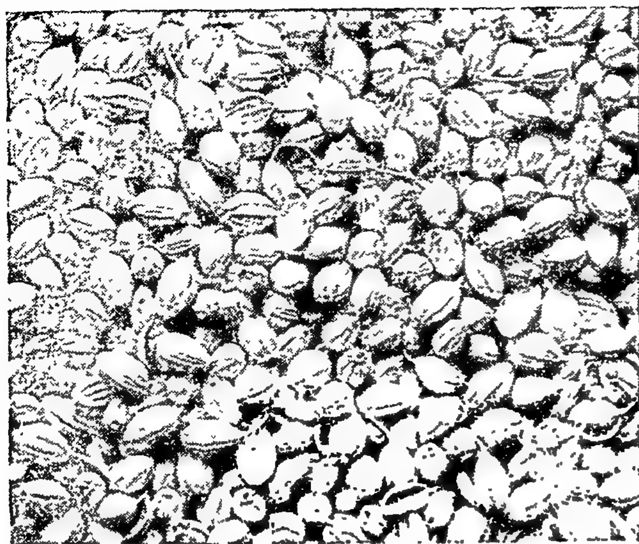
बोने के 3–3½ माह बाद फसल पक जाती है. तब पौधों को जड़ सहित उखाड़ लिया जाता है और सुखाने के बाद फलों को झाड़ लिया जाता है. फिर धूप में सुखाकर, फटक कर बोरियों में भर लेते हैं. क्षेत्र, मौसम तथा फसल लेने की विधि अर्थात एकल है या मिश्रित, सिंचित है या असिंचित, के अनुसार उपज घटती बढ़ती है. पंजाब में 700–1,000 किग्रा. प्रति हेक्टर की उपज बताई जाती है जबकि मैसूर में अकेले बोने पर 1,800–2,000 किग्रा. और मिश्रित फसल के रूप में 800 किग्रा. हुई है (Roberts & Kartar Singh, 381; Yegna Narayan Aiyer, 304).



चित्र 82—कोरिएण्ड्रम सेटाइवम

भारत में धनिया की खेती करते समय खाद देने पर बहुत कम ध्यान दिया गया है. यूरोपीय देशों के अनुभवों से ज्ञात होता है कि खाद से फलों की मात्रा में अत्यधिक वृद्धि होती है. रूस के प्रयोगों से पता चला है कि उर्वरकों के उपयोग से फलों में तैल की मात्रा बढ़ती है. नाइट्रोजनी, फॉस्फेटी और पोटैशी उर्वरकों को यदि प्रारम्भिक अवस्था में दिया जाय तो महत्वपूर्ण परिणाम मिलते हैं (*Chem. Abstr.*, 1948, 42, 6033).

धनिया में फफूंदी और म्लानि की बीमारियाँ लगती हैं. फफूंदी उस समय लगती है जब पौधे फूलते होते हैं, विशेषकर



चित्र 83 – धनिया के बीज (×1·5)

यदि मौसम नम और गीला हो. इसका प्रभावशाली उपचार गंधक या बोर्डो मिश्रण का छिड़काव है. म्लानि के विरुद्ध अभी तक कोई नियन्त्रण की विधि नहीं निकली है. एक अर्बुदजनक कवक, **प्रोटोमाइसीज मैक्रोस्पोरस** उंगर, जो बीज नहीं बनने देता, सर्वत्र पाया जाता है (Mundkur, 107).

इस फसल में कोई भयानक नाशकजीव आक्रमण नहीं करता. कभी-कभी कठ-कीट, पत्ती खाने वाली इल्लियाँ और छेद करने वाले कीट पौधों पर पाए जाते हैं.

धनिया की शाखाओं, पत्तियों और फलों से सुहावनी गंध आती है. जब छोटा होता है तो पूरा पौधा चटनी बनाने के काम आता है और पत्तियों से कढ़ी और सालन को सुवासित करते हैं. फलों को पीसकर भाँति-भाँति की भोजन सामग्रियाँ, जैसे अचार, सब्जियाँ, माँस इत्यादि में मसाले की तरह मिलाया जाता है. फल, कुछ मिठाइयों, पेस्ट्री, केक तथा तम्बाखू की बनी वस्तुओं को भी सुरस बनाने के लिए प्रयुक्त होता है. अमेरिका और यूरोप में धनिया मदिराओं, विशेषकर जिन को सुरस करने के काम आता है (J. W. Parry, 103).

चिकित्सा में धनिया के बीज वायुनाशक, मूत्रल, बल्य, पाचक, पित्त-नाशक, जीव तापहर और कामोत्तेजक समझे जाते हैं. ये विशेष रूप से दूसरी ओषधियों की गंध को दबाने में तथा रुवर्ब और सनाय की मरोड़ को कम करने के काम आते हैं. मुँह की दुर्गंध दूर करने के लिए लोग बीज चबाते हैं. यह भी समझा जाता है कि यह मदिरा के नशे को कम करते हैं (U.S.D., 329).

बाजार के धनिया में काफी विजातीय पदार्थ जैसे डंठल, धूल, मेथी और धान्य मिले रहते हैं. शुद्ध पदार्थ में 2% से अधिक विजातीय कार्बनिक पदार्थ और 7% से अधिक राख नहीं होनी चाहिए (B.P.C., 360).

फलों के विश्लेषण में निम्नांकित मान मिले: आर्द्रता, 11·2; प्रोटीन, 14·1; वसा (ईथर निष्कर्ष), 16·1; कार्बोहाइड्रेट, 21·6; रेशा, 32·6; खनिज पदार्थ, 4·4; कैल्सियम, 0·63; और फॉस्फोरस, 0·37%; लोहा, 17·9 मिग्रा./100 ग्रा. पत्तियाँ विटामिन सी (250 मिग्रा./100 ग्रा.) और कैरोटिन (5,200 माग्रा./100 ग्रा.) के उत्तम स्रोत हैं (*Hlth Bull.*, No. 23, 1941, 36; Basu *et al.*, *J. Indian chem. Soc.*, 1947, 24, 358).

धनिया के फलों में जो सुगंध और स्वाद पाया जाता है वह एक प्रकार के सौरभिक तेल के कारण हैं. फलों के स्रोत के अनुसार तेल की मात्रा बदलती रहती है. भारतीय धनिया में तेल की मात्रा अपेक्षाकृत कम होती है (सारणी 1). यूरोपीय देशों के फलों में तेल की मात्रा अधिक पाई जाती है और नार्वे में परीक्षण क्षेत्रों से प्राप्त नमूनों से 1·4–1·7% तक तेल प्राप्त किया गया (U.S.D., 329).

भारतीय धनिया में तेल की कम मात्रा होने का कारण यह बतलाया जाता है कि फलों के सूखते समय वाष्पशील तेल के एक अंश की हानि हो जाती है. किन्तु इस कथन की पुष्टि प्रयोगों द्वारा सिद्ध नहीं हो सकी है. फिर भी यूरोपीय तेलों की अपेक्षा भारतीय तेलों में अच्छी किस्म की गंध होती है और एस्टर की प्रतिशतता भी अधिक होती है (Rao *et al.*, *J. Indian Inst. Sci.*, 1925, 8A, 182).

धनिया का तेल एक रंगहीन, हल्का पीला द्रव है, जिसकी विशिष्ट गंध और स्वाद धनिया ही जैसा होता है. भारतीय धनिया के तेल के वैश्लेपिक स्थिरांक इस प्रकार हैं: आ.घ.$^{15°}_{15°}$, 0·8715–0·876; $n^{25°}_{D}$, 1·4569–1·4612; $[\alpha]^{25°}_{D}$, +10° से +13°; साबु. मान, 30·0–54·3. पैरी ने स्थिरांकों के परास इस प्रकार सूचित किये हैं: आ.घ., 0·870–0·885; n, 1·4635–1·4760; $[\alpha]$, +7° से +14°; अम्ल मान, 1–5; एवं एस्टर मान, 3–22. तेल का मुख्य अवयव कोरिएण्ड्राल ($C_{10}H_{17}OH$) है जो एक टर्पीन तृतीयक ऐल्कोहल है और अब d-लिनालूल (आ.घ., 0·868; क्व.बि., 194–98°) से अभिन्न पाया गया है. इसकी सान्द्रता भिन्न स्रोतों से प्राप्त तेलों में 45 से 70% तक पायी जाती है. तेल के अन्य सूक्ष्म अवयव इस प्रकार हैं: α- एवं β-पिनीन, p-साइमीन, डाइ-पेण्टीन, γ-टर्पीनीन, फेलाण्ड्रीन, टर्पिनोलीन एवं जेरेनिआल,

सारणी 1 – धनिया में तेल की मात्रा*

स्रोत	सौरभिक तेल, % (ऊष्मक शुष्क आधार पर)
मोरक्को	0·470–0·482
रूस	0·892–1·117
भारत :	
तूतीकोरिन	0·503–0·592
कोयम्बतूर	0·405–0·432

*Viswanath & Ayyar, *Agric. Live-Stk India*, 1934, 4, 583.

ओनिग्राल, n-डिसाइलिक ऐल्डिहाइड तथा ऐसीटिक एवं डिसाइलिक अम्लों के एस्टर के रंच. यदि तेल को देर तक त्वचा के सम्पर्क में रखा जाय तो उत्तेजना उत्पन्न होती है (Rao *et al.*, loc. cit.; Parry, I, 307; Thorpe, III, 364; *Chem. Abstr.*, 1946, 40, 7525).

कच्चे फल एवं पौधे के अन्य भागों से थोड़ी मात्रा में निम्न श्रेणी का तेल प्राप्त होता है. यह तेल खटमल जैसी गंध वाला होता है जो रखे रहने पर सुगन्ध तत्व के बहुलकीकरण के कारण नष्ट हो जाता है (Parry, I, 308).

यह तेल मुख्यतः मद्यसारिक द्रवों के सुगन्धकारक के रूप में एवं कोको और चाकलेट उद्योगों में व्यवहृत होता है. दवाओं में भी यह वातहर या सुरसता उत्पन्न करने के लिए प्रयुक्त होता है. यह जी मिचलाने वाली और ऐंठन उत्पन्न करन वाली दवाओं का दुष्प्रभाव दूर करने तथा कड़वी दवाओं के स्वादों के ठीक करने के काम में लाया जाता है. अपनी श्रेणी के अन्य तेलों की अपेक्षा यह अधिक स्थिर है और इसकी गंध अधिक समय तक टिकती है. डेसिलऐल्डिहाइड (प्राप्ति, धनिया के तेल के भार का 0·1%), तेल को बाइसल्फाइट के साथ उपचारित करने पर प्राप्त होता है और यह इत्रसाजी में उपयोगी माना गया है. व्यापारिक तेल में सन्तरे का तेल, सीडर काष्ठ तेल, तारपीन एवं ऐनिथोल या सौंफ का तेल व्यापक रूप से मिलावट के लिए प्रयुक्त होते हैं (U.S.D., 330; *Chem. Abstr.*, 1942, **36**, 3781; Finnemore, 639).

सौरभिक तेल के अतिरिक्त धनिया में 19–21% वसीय तेल भी पाया जाता है जिसका रंग काला, भूराभ हरा और गंध भी धनिया के साधारण तेल-जैसी होती है. इस तेल के निम्नांकित लक्षण हैं: आ.घ.$^{15°}$, 0·9262–0·9284; $n_D^{30°}$, 1·4704; साबु. मान, 182–190; आयो. मान, 93–100; एवं असाबु. पदार्थ, 2·3%. इसके घटक अविलेय वसा-अम्ल हैं: पामिटिक, 8; पेट्रोसेलिनिक, 53; ओलीक, 32; तथा लिनोलीक अम्ल, 7%. यह तेल रखने पर जम जाता है. इससे तैयार सोडियम साबुन सुगंधित होता है और अच्छा झाग देता है. यह नरम और हरे रंग का होता है (Jamieson, 247; *Chem. Abstr.*, 1930, 24, 4411, 3666).

वाष्पशील तेल निकाल लेने के बाद बचे अवशेष को मवेशियों को आहार के रूप में दिया जाता है. अवशेष के विश्लेषण से प्रोटीन, 11–17; तथा वसा. 11–20% प्राप्त हुए (*Bull. imp. Inst., Lond.*, 1913, **11**, 129).

व्यापार

धनिया महत्वपूर्ण मसाला है जिसका भारत में बहुतायत से प्रयोग होता है. इसके उत्पादन एवं आंतरिक व्यापार के विवरण प्राप्त नहीं हैं. उत्पादन की खपत अधिकतर भारत के अन्दर ही हो जाती है जिससे अल्प मात्रा में ही इसका निर्यात होता है. यह निर्यात मुख्यतः श्रीलंका, स्ट्रेट सेटिलमेण्ट्स, मलाया, पूर्वी अफ्रीका और पड़ोसी देशों में किया जाता है. 1949–50 में 3,368 टन धनिया का निर्यात किया गया जिसका मूल्य 26,30,517 रु. था.

यद्यपि विभिन्न क्षेत्रों में उगाई गई फसलें एक ही जाति की होती हैं, किन्तु फलों के आकार, रूप एवं गुणों में बहुत अन्तर रहता है. व्यापारिक गुणों को बहुधा स्थानों के नाम पर ही रखा जाता है. निर्यात-बाजारों में भारतीय धनिया से होड़ लेने वाली मोरक्को की एवं रूसी जातियाँ हैं जो अधिक मूल्यवान मानी जाती हैं. ऐसा समझा जाता है कि भारतीय नमूनों में अधिकांशतः डंठल, बाह्य बीज, कण एवं धूल की मिलावट रहती है इसलिए उनकी कीमत कम आँकी जाती है, भले ही वे गुणों में मोरक्को के नमूनों से किसी तरह कम नहीं होते. यदि कटाई और उड़ावन के समय समुचित सावधानी बरती जाय तो ये कमियाँ दूर हो सकती है और भारतीय उपज को समादरित स्थान प्राप्त हो सकेगा (*Indian Tr. J.*, 1934, **115**, 7).

कोरिऐरिया लिनिअस (**कोरिऐरिऐसी**) CORIARIA Linn.

ले. – कोरिआरिआ

इस कुल का यह एकमात्र वंश है. इसमें झाड़ियों की लगभग 15 जातियाँ सम्मिलित हैं, जो भूमध्य सागर से जापान और न्यूजीलैण्ड, एवं चिली से मैक्सिको तक पाई जाती हैं. **को. नेपालेन्सिस** जाति भारत में पायी जाती है.
Coriariaceae

को. नेपालेन्सिस वालिश C. nepalensis Wall.

ले. – को. नेपालेंसिस

D.E.P., II, 569; Fl. Br. Ind., II, 44.

हि. – मसुरी, मकोला; कश्मीर – बलेल, टड्रेलू.

यह एक पर्णपाती झाड़ी या छोटा वृक्ष है जो बाह्य हिमालय में सिन्धु नदी से भूटान तक उत्तर पश्चिम की ओर 2,400 मी. की ऊँचाई तक और सिक्किम में 3,300 मी. तक पाया जाता है.

इसका फल सामान्यतः मसूरी बेरी कहलाता है. यद्यपि यह स्वादहीन होता है किन्तु खाया जाता है और प्यास तथा उदरशूल उत्पन्न करने वाला माना जाता है. ऐसा कहा जाता है कि बीजों से टिटैनस जैसे लक्षण उत्पन्न होते हैं. अधिक मात्रा में पत्तियाँ विषैली होती हैं. कभी-कभी सनाय की पत्ती में इसकी मिलावट की जाती है. **को. नेपालेन्सिस** रेशम के कीटों, **एक्टिआस सेलीन** हुब्नर का भोज्य पदार्थ है.

पत्तियों में 20% टैनिन होता है (*Indian For. Leafl.*, No. 72, 1944, 8).

लकड़ी (भार, 656–848 किग्रा./घमी.) में सुन्दर चिह्न बने होते हैं. इसमें अच्छी पॉलिश चढ़ती है और इसका उपयोग सन्दूक बनाने में होता है. काष्ठ में टैनिन अधिक होता है (Gamble, 224).
Actias selene Hubn.

कोरिडैलिस वेंटेनैट (**पैपावरेसी**) CORYDALIS Vent.

ले. – कोरिडालिस

D.E.P., II, 573; Fl. Br. Ind., I, 124.

यह भूमिगत कन्दों वाली बहुवर्षी बूटियों की लगभग 260 जातियों का शोभाकारी वंश है जो यूरोप तथा एशिया में पाया

जाता है. लगभग 25 जातियाँ हिमालय क्षेत्र तथा खासी पहाड़ियों में पाई जाती हैं. **को. गोवैनियाना** वालिश (सं.–भुटाकिसी; हिं. तथा बं.–भुटकिस) तथा **को. रैमोसा** वालिश (कुर्रम घाटी–ममीराँ) औषधीय हैं. पहले की जड़ें पौष्टिक, मूत्रल, रूपान्तरक तथा कालिक ज्वर-निरोधी समझी जाती हैं. इसे उपदंश तथा अंडकोष एवं त्वचीय व्याधियों में भी दिया जाता है. **को. रैमोसा** नेत्र रोगों की चिकित्सा में काम आती है (Kirt. & Basu, I, 136).

इस वंश की कई जातियों से अनेक प्रकार के ऐल्कलायड पृथक् किये गये है किन्तु जहाँ तक जानकारी है, वे सभी आइसोक्विनोलीन के व्युत्पन्न जान पड़ते हैं. **को. कार्नुटा** रॉयल में प्रोटोपीन तथा स्टाइलोपीन पाये जाते हैं. **को. आफियोकार्पा** हुकर पुत्र तथा थामसन में *l*-ऐडलूमीन, बरबेरीन, *l*-कनैडीन, *l*-कोरिपामीन, क्रिप्टोकैवीन, α-ऐलोक्रिप्टोपीन, ओफियोकार्पीन तथा प्रोटोपीन के पाये जाने का उल्लेख है. **को. सिबिरिका** परसून में बाइक्युकुलीन, कीलैन्थिफोलीन, कार्ल्युमीन, क्रिप्टोपीन, आकोर्टेसीन, आकोबिरीन, प्रोटोपीन तथा स्कूलेरीन पाए गए हैं. ऐंडरसन तथा चेन द्वारा परीक्षित 15 कोरिडैलिस ऐल्कलायडों में आकोर्टेसीन सबसे अधिक विषैला है. उनका यह भी कथन है कि यह खरगोश अथवा गिनी पिग के विलग गर्भाशय में उत्तेजना लाता है; विलग की गई खरगोश की आँत का निरोध करता है तथा अंत:शिरा इंजेक्शन देने पर ईथरीकृत बिल्लियों के रक्त चाप को गिराता है (Henry, 170, 314).

Papaveraceae; C. govaniana Wall.; *C. ramosa* Wall.; *C. cornuta* Royle; *C. ophiocarpa* Hook. f. & Thoms.; *C. sibirica* Pers.

कोरिफा लिनिअस (पामी) CORYPHA Linn.

ले.–कोरिफा

ऊँचे तथा सुदृढ़ ताड़ों की लगभग 10 जातियों का एक वंश है जो सम्पूर्ण उष्ण एशिया में वितरित है. भारत मे इसकी तीन जातियों के पाये जाने का उल्लेख है.

Palmae

को. अम्ब्राक्युलीफेरा लिनिअस C. umbraculifera Linn.

टैलीपाट पाम, फैन पाम

ले.–को. उम्ब्राकुलिफेरा

D.E.P., II, 575; C.P., 428; Fl. Br. Ind., VI, 428; Blatter, Pl. 18–20.

सं.–करालिक, श्रीतालन, ताली; बं.–बजरबटुलेर, तालि, तारित; म.–बजरबट्टू, ताली; ते.–द्रियतालमु श्रीतालमु; त.–कुडाईप्पन्नाइ, तालि पन्नाइ; क.–बिसणिगे मरा; मल.–कुडप्पना, शीतलम, तालिप्पना.

यह एक सीधा, देखने में अत्यन्त सुंदर ताड़ है जिसका धड़ 18–24 मी. ऊँचा, 45–90 सेंमी. व्यास वाला, सुदृढ़ तथा छल्लेदार होता है: इसके शीर्ष पर 1·5–3·0 मी. लम्बे सुदृढ़ पर्णवृन्त वाली पंखाकार पत्तियों का छत्र होता है. पत्तियों का व्यास 2·4–4·8 मी. तक होता है. वे बीचो-बीच तक 80–100 तक सीधे खण्डों में बँटी होती हैं. धड़ की चोटी पर पाया जाने वाला पुष्पक्रम ऊँचा 3–6 मी., शूच्याकार तथा अनेक यूथपर्णों से युक्त रहता है. फूल छोटे तथा अपेक्षाकृत पतले स्पाइकों के गुच्छों में होते हैं. फल छोटे, अर्ध-गोलाकार, एक बीज वाले तथा 2·5–3·0 सेंमी. व्यास के होते हैं.

इस ताड़ का मूल स्थान उत्तरी मालाबार माना जाता है. वहाँ नम, निचले तटीय प्रदेशों में यह बहुतायत से पाया जाता है. बंगाल, अंडमान द्वीप समूह, ब्रह्मा तथा श्रीलंका में इसकी खेती होती है. भारत के बहुत से भागों में इसे शोभाकारी पौधे के रूप में लगाते हैं.

यह ताड़ अपने जीवन में केवल एक बार, 30–40 वर्ष की अवस्था में, तथा सामान्यत: ग्रीष्म ऋतु के प्रारंभ में, फूल देता है और 9–10 महीने बाद जब बीज पक जाते है तो वह स्वयं ही नष्ट हो जाता है.

इस ताड़ की पत्तियों से पंखे, चटाइयाँ, छतरियाँ तथा टोकरियाँ बनाई जाती है और छप्पर डालने तथा छतों में लगाने के लिए काम आती हैं. इसकी पत्तियों से काटकर बनाई गई पट्टिकायें, जिन्हें ओला कहते हैं समुचित संसाधन और पालिश करने के बाद लोहे की कलम से लिखने के काम में आती थीं. इस संसाधन के अन्तर्गत पहले पत्तियों की कड़ी नसें निकाल दी जाती थीं, फिर मुलायम पत्तियों को छोटी-छोटी पट्टियों में काटा जाता था और तब खौलते पानी में पकाकर पहले छाया में, फिर धूप में सुखाना होता था. संसाधित पत्तियाँ शोभाकारी चोटियों के बनाने तथा तिनके और लेगहार्न-टोप बनाने के काम आती है.

पत्तियों के डंठल से मजबूत भूरा लपेटने वाला कागज तैयार किया जाता है. किन्तु लुगदी सरलता से विरंजित नहीं होती जिससे सफेद कागज बनाने के लिए समुचित लुगदी प्राप्त करने में काफी मात्रा में विरंजक चूर्ण लग जाता है (*Bull. imp. Inst., Lond.*, 1922, **20**, 33, 287).

धड़ के कोमल भागों में स्टार्च की काफी मात्रा संचित रहती है. इसके गूदे से एक प्रकार का साबूदाना निकाला जाता है. इसके वाही-तन्तु-पुंजों से किट्टुल (**कैरियोटा यूरेन्स**) के समान का एक धागा तैयार हो सकता है. धड़ का निचला भाग ढोल बनाने के काम आता है. इसकी लकड़ी कोमल होती हैं किन्तु अभी तक इसका कोई उपयोग नहीं हो सका है.

इस ताड़ के बीज कड़े और सफेद होते हैं. इनका उपयोग गोलियों तथा अन्य अलंकृत वस्तुओं के निर्माण में हाथी-दाँत के स्थान पर किया जा सकता है. रँग करके इनसे नकली मूँगे भी बनाये जा सकते हैं और आभूषणों में इनका उपयोग हो सकता है. फलों की कुटी हुई लेई मछलियों को फँसाने के काम आती है (Lewis, 361; Benthall, 436).

Caryota urens

को. टालिएरा रॉक्सबर्ग C. taliera Roxb.

ले.–को. टालिएरा

D.E.P., II, 577; Fl. Br. Ind., VI, 428; Benthall, 437, Fig.

बं.–तारा, तालियर, तारित.

यह एक सुदृढ़ ताड़ है जिसका धड़ लगभग 9 मी. ऊँचा तथा 60 सेंमी. व्यास वाला होता है. पर्णवृन्त भूरे रंग वाले तथा लम्बे काले शूलों से युक्त होते हैं. इसके पटल लगभग गोलाकार (व्यास, 2·4–3·6 मी.) तथा बीचो-बीच तक 90–100 नुकीले खण्डों में विभक्त होते हैं. इसका मूल स्थान बंगाल माना जाता है; किन्तु यह तमिलनाडु के उत्तरी-पूर्वी समुद्री तट पर भी पाया जाता है.

इसकी पत्तियों का उपयोग छप्पर डालने, घरों की कड़ियाँ बाँधने तथा चटाइयाँ और टोकरियाँ बनाने में किया जाता है. जब कागज का आविष्कार नहीं हुआ था तो इसकी पत्तियाँ समुचित उपचार के बाद लिखने के काम आती थीं.

को. यूटान लामार्क सिन. **को. एलाटा** रॉक्सबर्ग C. utan Lam.
बड़ा पाम, गेबंग अथवा अगेल पाम

ले. – को. ऊटान

D.E.P., II, 577; Fl. Br. Ind., VI, 428; Benthall, 439, Fig.

बं. – बाजूर, बाजुरबाटल.

यह ऊँचा ताड़ है जिसका स्तम्भाकार धड़ 18–21 मी. ऊँचा तथा 45–60 सेंमी. व्यास वाला होता है. इसके ऊपर 2·4–3 मी. व्यास वाली पंखाकार पत्तियों का एक छत्र होता है. इसके पर्णवृन्त **को. अम्ब्राक्युलीफेरा** की अपेक्षा पतले होते हैं. पत्तियाँ लगभग गोलाकार, अनेक खण्डों में, मध्य भाग तक अनेक खण्डों में विदरित; पुष्पक्रम गठा हुआ, 4·5–6 मी. लम्बा तथा गुच्छेदार फूलों वाला होता है. फल गोलाकार तथा एकबीजी होते हैं.

यह ताड़ बंगाल का मूलवासी माना जाता है, भले ही यह वहाँ जंगली अवस्था में कभी भी नहीं पाया गया. यह ब्रह्मा तथा अंडमान द्वीप समूह में पाया जाता है और जावा, सेलीबीज, मलक्का तथा फिलिपीन्स तक फैला हुआ है.

यह पौधा भी **को. अम्ब्राक्युलीफेरा** के समान उपयोग में आता है. आंतरिक भाग से एक प्रकार का साबूदाना प्राप्त किया जाता है. निकलते हुए पुष्प-क्रम के आधार से एक मीठा रस निकाला जाता है जिसको ताड़ी या सिरके के रूप में किण्वित किया जा सकता है या उबाल कर चीनी बनाई जा सकती है. कम आयु के फलों की गिरी खाद्य है. पकने पर फल विपैले हो जाते हैं और पके बीज इतने कठोर हो जाते हैं कि उनसे मनके तथा बटन बनाये जा सकते हैं (Brown, I, 202; Burkill, I, 668).

फिलिपीन्स तथा अन्य हिन्देशियाई द्वीपों में इस ताड़ की पत्तियाँ कई प्रकार की घरेलू वस्तुओं के निर्माण में प्रयुक्त होती हैं. अनखुली पत्तियों को काटकर उनकी पट्टियाँ बना ली जाती हैं जिनसे बोरे, चटाइयाँ तथा पाल बुने जाते हैं जिनका आकार कभी-कभी काफी बड़ा होता है. फिलिपीन्स में बुने हुए बोरों का उपयोग चीनी भरकर बाहर भेजने में होता है. अच्छी तथा अपेक्षाकृत ठीक ढंग से तैयार की गई पट्टियाँ हैट, चटाइयाँ तथा टोकरियाँ बनाने के काम आती हैं. अपरिपक्व तथा कम अवस्था के ताड़ों के पर्ण-वृन्तों से बुण्टल नामक रेशा प्राप्त होता है जिससे लूकबान टोप बनाए जाते हैं. इन्हें 'बैंकाक टोप' भी कहा जाता है. अनखुली पत्तियों के पर्णवृन्तों से बड़ी रैफिया नामक रेशा प्राप्त होता है जिसे तकियों के गिलाफ, पर्दों तथा थैलों के कपड़े बनाने के काम में लाते हैं. अनखुली पत्तियों की नसों से एक और भी रेशा मिलता है जो कला-सिग्राव अथवा पोटोटन टोप, टोकरियाँ, तश्तरियाँ, सिगार केस आदि बनाने के लिए उपयोगी है. समूची नसें झाड़ू बनाने के काम आती हैं (Brown, I, 194).

C. elata Roxb.

कोरिलस लिनिअस (**बेटुलैसी**) CORYLUS Linn.

ले. – कोरिलूस

यह उत्तरी शीतोष्ण भागों में पाया जाने वाला झाड़ियों और वृक्षों की लगभग 20 जातियों का एक वंश है. कई जातियों से नट तथा खाद्य गिरियाँ प्राप्त होती हैं. कुछ शोभाकारी भी हैं.

Betulaceae

को. ऐवेलाना लिनिअस C. avellana Linn.
फिलबर्ट, हेज़ेल नट, यूरोपियन हेज़ेल

ले. – को. अवेल्लाना

D.E.P., II, 574.

हिं. – फिंदक, बिंदक.

यह लगभग 4·5 मी. ऊँची झाड़ी है जिसका मूल स्थान यूरोप तथा पश्चिमी एशिया है. इसकी कई किस्में पाई जाती हैं जिनकी पत्तियों तथा फलों के गुण भिन्न होते हैं. पर्वतीय स्थानों के उद्यानों में यह सामान्य रूप से पाई जाती है. मैदानों में इसके पौधों को उगाने के प्रयत्न असफल रहे हैं (Firminger, 184).

इसका फल सहपत्रचक्र से आवृत होता है जिसके अंदर खाद्य गिरी भी होती है. यूरोप के बहुत से भागों में हेज़ेल नट व्यापक रूप से उगाए जाते हैं. भारत में नटों का आयात होता है.

यूरोपियन नटों की गिरी के विश्लेषण से प्राप्त फल इस प्रकार हैं: प्रोटीन, 12·7; कार्बोहाइड्रेट, 17·7; वसा, 60·9; तथा फॉस्फोरस, 0·35%. इसमें फॉस्फोरस अधिक होता है (Sherman, 623, 628).

गिरी में 50–65% की मात्रा में एक सुनहरे पीले रंग का विशिष्ट सुगंध वाला तेल भी रहता है. इसे खाने के काम में तथा साबुन बनाने में प्रयोग किया जाता है. इस तेल की विशेषताएँ निम्नलिखित हैं: आ.घ.$^{15°}$, 0·9152–0·9156; $n_D^{20°}$, 1·4691–1·4698; अम्ल मान, 0·3–1·7; साबु. मान, 189–192; आयो. मान, 84·7–86·8; थायोसायनोजन मान, 82·1; तथा असाबु. पदार्थ, 0·35–0·58%. वसा-अम्ल अवयव इस प्रकार हैं: ओलीक, 88·1; पामिटिक, 3·1; स्टीऐरिक, 1·6; लिनोलीक, 2·9; तथा मिरिस्टिक, 2·2% (Thorpe, VI, 189).

पत्तियों में मिरिसिट्रोसाइड (या मिरिसिट्रिन, $C_{21}H_{20}O_{12}$, ग.बि., 197°) मिरिसिटॉल का एक रैमनोसाइड और अलाण्टोइक अम्ल पाए जाते हैं (*Chem. Abstr.*, 1937, **31**, 7473; 1939, **33**, 5406).

छाल में लिग्नोसेरिल ऐल्कोहल, वेटुलिनाल, 16° पर द्रवित होने वाला एक हाइड्रोकार्बन तथा साइटोस्टेरॉल, ग.वि., 135° पाये जाते हैं (*Chem. Abstr.*, 1934, **28**, 3527).

हेजेल की लकड़ी, जिसे नट वुड भी कहते हैं, गाढ़ी धारियों से युक्त गुलावी-सफेद होती है. यह गाँठदार, अपेक्षाकृत खुले दाने वाली, मुलायम, तथा कम टिकाऊ होती है. छोटी-छोटी शाखाएँ पीपों की हाल तथा इसी तरह के दूसरे कार्यों के लिए उपयोगी हैं (Howard, 244).

को. कालुरना लिनिअस C. colurna Linn. तुर्की हेजेल

ले.—को. कोलुरना

D.E.P., II, 575, C.P., 428; Fl. Br. Ind., V, 625.

पंजाब—ठांगी, अरनी; कश्मीर—विरिन; कुमायूँ—कपासी, भोटिया वादाम.

यह पश्चिमी शीतोष्ण हिमालय में कश्मीर से कुमायूँ तक, 1,650–3,000 मी. की ऊँचाई पर पाया जाने वाला लघु वृक्ष है. कश्मीर के जंगलों में तो यह सामान्य रूप से पाया जाता है. इसमे हर तीसरे वर्ष फल आते है जिनसे नटो की अच्छी प्राप्ति होती है. तुर्की में, जहाँ नटों के लिए इसे बड़ी मात्रा मे उगाया जाता है, चौथे वर्ष से शुरू होकर वीसवे वर्ष तक प्रति वर्ष फल लगते रहते है. नट गोलाकार तथा कठोर होता है. उत्तमता मे यह अंग्रेजी हेजेल के समान वताया जाता है (*Bull. imp. Inst., Lond.*, 1916, **14**, 261).

को. फेरॉक्स वालिश, हिमालयी हेजेल (नेपाल—कुर्री; भूटिया—लगूरा) एक अन्य जाति है जो मध्य तथा पूर्वी हिमालय में 2,400–3,000 मी. की ऊँचाई पर पाई जाती है. नट चारो ओर से कँटीले प्याले से घिरा होता है. इसकी गिरी खाद्य हैं (Gamble, 684).

C. ferox Wall.

कोरेलोकार्पस वेलविट्श एक्स वेंथम और हुकर पुत्र (कुकरविटेसी) CORALLOCARPUS Welw. ex Benth. & Hook. f.

ले.—कोराल्लोकार्पूस

यह प्रतानयुक्त आरोही वूटियों की लगभग 43 जातियों का वंश है जो उष्णकटिवन्धीय अफ्रीका, फारस की खाड़ी क्षेत्र तथा भारत में पाया जाता है.

Cucurbitaceae

को. एपिगेअस वेंथम एक्स हुकर पुत्र C. epigaeus Benth. ex Hook. f.

ले.—को. एपिगेऊस

D.E.P., II, 533; Fl. Br. Ind., II, 828.

सं.—पातालगारुड़; हिं.—आकाशगड्डा, राकसगड्डा; म.—आकाश गरुदण्ड; ते.—नाग डोंडा; त.—आकाश गरुण्डन; क.—आकाश गरुड गड्डे; मल.—कोल्लान्होवा किजोना.

भारत के कई भागों में पाई जाने वाली इस जाति की जड़े पीताभ श्वेत होती हैं और उन पर ऊपर-ऊपर चक्राकार निशान बने होते हैं. इनका स्वाद कड़वा और कुछ-कुछ तीक्ष्ण होता है और इनमें रूपान्तरक तथा रेचक गुण होते हैं. इनका प्रयोग सिफलिसी-गठिया, पुरानी पेचिश और पुराने श्लेष्मीय आंत्रार्ति में होता है, किन्तु उग्र पेचिश पर इनका कोई प्रभाव नही होता. जीरे के बीज, प्याज तथा रेंडी के तेल के साथ इनका लेप तैयार करके पुराने वातरोग में लगाया जाता है. जड़ों में ब्रायोनिन-जैसा एक तिक्त पदार्थ होता है (Koman, 1920, 3; Kirt. & Basu, II, 1167).

कोलचिकम लिनिअस (लिलिएसी) COLCHICUM Linn.

ले.—कोलचिकूम

यह छोटे घनकंदों वाली वूटियों की लगभग 85 जातियों का वंश है जो यूरोप, पश्चिमी एशिया तथा उत्तरी अफ्रीका में पाया जाता है. **को. आटमनेल** लिनिअस के घनकन्द तथा बीज ब्रिटिश फार्माकोपिया में मान्य है. **को. ल्यूटियम** भी **को. आटमनेल** के स्थान पर उपयोगी है तथा भारतीय फार्माकोपिया सूची मे अंकित है.

Liliaceae; C. autumnale Linn.

को. ल्यूटियम वेकर C. luteum Baker

ले.—को. लूटेऊम

D.E.P., II, 501; Fl. Br., Ind., VI, 356.

सं.—हिरण्यतूठ; हिं.—हिरण्यतूतिया, सुरिजन; उर्दू—सुरंजनेतल्ख. पंजाब—सरिजन-ए-तल्ख.

यह एकवर्षीय पौधा है जो पश्चिमी हिमालय में 600–2,700 मी. की ऊँचाई पर पाया जाता है. मरी पर्वत से कश्मीर और चम्वा के खुले चरागाहों अथवा जंगलों की सीमाओं तक यह बहुतायत से पाया जाता है.

पौधा उगाने के लिए वीजों को मई के वाद क्यारी में या वक्सों में हल्की मिट्टी से दवा कर वोया जाता है. वीजों को खुला नही डाला जाता. कभी-कभी वीजों के अंकुर फूटने मे काफी समय लग जाता है. जव पौधें एक साल की हो जाती है तो खेतो में 90 सेंमी. की दूरी पर लगाते है. दो वर्ष के वाद घनकन्द तोड़ने के लिए तैयार हो जाते हैं. कश्मीर घाटी मे यह कन्द जून–जुलाई मे तोड़े जाते है तथा उड़ी, डोमल, किश्तवार तथा वध्रवाह के पर्वतीय क्षेत्रों मे प्रति वर्ष मिलाकर 2–4 टन उपज होती है (Dutt, 92).

इसके घनकन्द कुछ शंकु जैसे नुकीले अथवा चौड़े अण्डाकार या लम्वे चपटे उत्तल काट के, भूरे या राख वर्ण के पारभासक या अपारदर्शी होते है. चपटे तल पर लम्वाई मे गहरी धारियाँ और वक्र तल पर अनिश्चित तथा अनियमित, हल्की लम्वी धारियाँ बनी होती है. ताजे घनकन्द 15–35 मिमी. लम्वे तथा 10–20 मिमी. व्यास के होते हैं. सूखे कन्द वहुधा आसानी से टूट जाते हैं; टूटा भाग देखने में श्वेत स्टार्च जैसा प्रतीत होता है. घनकन्द में कोई महक नही होती और स्वाद में यह कड़वा तथा अत्यन्त तीक्ष्ण होता है (I.P.L., 31).

शल्कमय छिलकों को निकालकर घनकन्दों को चौड़ाई में तराश कर 65° से कम ताप पर सुखाया जाता है. भारतीय कोलचिकम का उपयोग वातानुलोमक रेचक, वाजीकर, मृदु विरेचक तथा रूपान्तरक के रूप में होता है और वात, गठिया तथा यकृत और प्लीहा रोगों में दिया जाता है. सूजन तथा दर्द कम करने के लिये ऊपर से इसका लेप किया जाता है (I.P.L., loc. cit.; Kirt. & Basu, IV, 2525; Chopra, 125).

को. ल्यूटियम के सूखे बीज भूराभ श्वेत, अंडाकार अथवा कुछ-कुछ गोलाकार (2–3 मिमी. व्यास के), गंधहीन तथा तिक्त होते हैं. ये औषधीय होते हैं और इनके निष्कर्ष या टिंक्चर का प्रयोग घनकन्द के ही समान किया जाता है. इसके बीज भारतीय बाजारों में नहीं मिलते.

भारतीय कोलचिकम के घनकन्द में पर्याप्त स्टार्च तथा ऐल्कलायड, कोलचिसाइन (सूखे घनकन्द का 0·21–0·25%), रहता है. बीजों में 0·41–0·43% ऐल्कलायड पाया जाता है (Chopra *et al.*, *J. sci. industr. Res.*, 1947, 6, 480).

कोलचिसाइन, $C_{22}H_{25}O_6N$, पीले पत्रकों, क्रिस्टलों या श्वेत-पीले पाउडर के रूप में पाया जाता है. गीले रहने तथा गर्म करने पर भूसे जैसी महक निकलती है, स्वाद अत्यन्त तिक्त होता है और प्रकाश पड़ने पर यह काला हो जाता है. पराबैंगनी प्रकाश में इसका रूपान्तर होकर ल्यूमीकोलचिसाइन प्राप्त होता है जो इसका समावयवी है. कोलचिसीन, $C_{21}H_{23}O_6N$ (ग.बि., 172°), जिसका मेथिल ईथर कोलचिसाइन है, कोलचिकम निष्कर्षों में पाया जाता है और कोलचिसाइन से ही बनता होगा. इसकी क्रिया कोलचिसाइन जैसी ही होती है परन्तु वह अधिक सक्रिय तथा विषैला है. कोलचिसाइन की अधिक मात्रा खा लेने से अंतड़ियों में पीड़ा, अत्यधिक दस्त तथा उलटी होती है. सीसे से मिलाकर बनी ओषधि के साथ कोलचिसाइन, सैलीसिलेट रूप में गठिया निवारण में उपयोगी है. हाल ही में कोलचिसाइन को वनस्पति-प्रजनन में बहुरूपता उत्पन्न करने के हेतु प्रयुक्त किया गया है. इस कार्य के लिये विभिन्न सान्द्रताओं वाले कोलचिसाइन विलयन काम में लाए जाते हैं और उपचार की विधि और अवधि पौधों के अनुसार बदलती रहती है. कहा जाता है कि यह ऐल्कलायड एक प्रकार के स्पिंडल के समान क्रिया करता है और यह छिन्न क्रोमोसोमों के विलगाव को रोकता है. यह भी सूचित किया गया है कि यह कैंसर कोशिकाओं को एक्स-किरणों द्वारा प्रभावित होने में भी सहायक है. इसका कारण कदाचित् माइटामिन पर क्रिया है (B.P.C., 346; Henry, 650; Sekharan & Sarathy, 168; U.S.D., 318).

कोलब्रुकिया स्मिथ (लैबिएटी) COLEBROOKEA Sm.

ले. – कोलेब्रूकेआ

D.E.P., II, 503; Fl. Br. Ind., VI, 642.

यह एकल प्ररूपी वंश है जिसका प्रतिनिधित्व **को. अपोजिटीफोलिया** स्मिथ (हिं. – बिन्दा, पन्सरा) करती है जो सघन लोमश झाड़ी है और भारत के पर्वतीय भागों में 1,200 मी. की ऊँचाई तक पायी जाती है.

पत्तियाँ चोट तथा त्वचा की खरोंच आदि में लगायी जाती हैं. संथाल जाति इसकी जड़ों का उपयोग मिर्गी नामक रोग में करते हैं. इसकी लकड़ी धूसराभ या श्वेत, सघन दानेदार, मध्यम कठोर तथा भारी (भार, 736–768 किग्रा./घमी.) होती है. इससे बारुद के लिये कोयला बनाया जाता है.

Labiatae; *C. oppositifolia* Sm.

कोलराबी – देखिए ब्रैसिका

कोला शॉट (स्टरकुलिएसी) COLA Schott

ले. – कोला

D.E.P., II, 500.

यह 64 जातियों के वृक्षों का एक वंश है जो अफ्रीका में पाया जाता है. **को. निटिडा** (वेंटेनैंट) कवैलियर व्यापारिक कोला नटों का स्रोत है. **को. एक्यूमिनाटा** (बीवो) शॉट भारत में मिलता है जिसके नट घटिया किस्म के होते हैं. कोला नटों में कैफीन (1–2·5%), अल्प मात्रा में थियोब्रोमीन, कोला लाल, वसा, शर्करा तथा स्टार्च रहता है. **को. एक्यूमिनाटा** में कैफीन की मात्रा कम होती है. लाल कोला, जो कायिकी रूप में सक्रिय है, कोला कैटेकिन ऑक्सिकरण से बनता प्रतीत होता है. कोला के बीज चबाये जाते हैं या पेय बनाने के काम आते हैं. यह कुछ अमेरिकी मृदु पेयों में टानिक का कार्य करता है (Burkill, I, 632; Hill, *Bot. Mus., Leafl., Harv.*, 1942, **10**, 151; Thorpe, VII, 152; U.S.D., 610).

Sterculiaceae; *C. nitida* (Vent.) Cheval.; *C. acuminata* (Beauv.) Schott

कोला नट – देखिए कोला

कोलिबिया (फ्रीज़) (अगैरिकेसी) COLLYBIA (Fr.) Quel.

ले. – कोल्लिबिआ

यह कवकों की लगभग 200 जातियों का वंश है. इनमें से **को. ऐल्बुमिनोसा** (बर्कले) पेच (**जिम्नोपस ऐल्बुमिनोसस** वान ओवरीम) और **को. माइक्रोकार्पा** होनेल खाद्य हैं. पहली बंगाल, मध्य प्रदेश और विदर्भ में होती है और उसमें शुष्क भार के आधार पर प्रोटीन, 12·8%; और कार्बोहाइड्रेट, 14·8% होते हैं. **को. वेलुटिपीज** (डब्लू. कुर्टिस एक्स फ्रीज़) भी, जो स्वादहीन होती है, खायी जाती है (Burkill, I, 638; Bose & Bose, *Sci. & Cult.*, 1940–41, 6, 143).

Agaricaceae; *C. albuminosa* (Berk.) Petch; *Gymnopus albuminosus* van Overeem; *G. microcarpa* Hohnel; *C. velutipes* (W. Curtes ex Fr.) Quel.

कोलियस लॉरीरो (लैबिएटी) COLEUS Lour.

ले. – कोलेऊस

यह बूटियों तथा झाड़ियों की लगभग 200 जातियों का वंश है जो एशिया, ऑस्ट्रेलिया, अफ्रीका तथा प्रशान्त महासागर के द्वीपों के उष्णकटिबन्धी प्रदेशों में पाया जाता है. भारत में

लगभग 8 जातियाँ पाई गई है. कई जातियों को अपनी सजावट के लिए तथा खाद्य कन्दों के लिए उगाया जाता है.
Labiatae

को. अम्बोइनिकस लॉरीरो सिन. **को. एरोमैटिकस** वेंथम
C. amboinicus Lour. देहाती वोरेज, भारतीय वोरेज

ले. – को. अम्वोइनिकूस
D.E.P., II, 503; Fl. Br. Ind., IV, 625; Kirt. & Basu, Pl. 753 B.

सं. – पापाण भेदी; हिं. – पाथरचूर; वं. – पाथेरचूर; म. – पाथुरचूर; त. – कर्पूरवल्ली.

यह एक विशाल रसदार वूटी है जिसकी पत्तियाँ सुगन्धित तथा फूल हल्के नील-लोहित, छोटे होते हैं. यह भारत के सभी वगीचों में उगाई जाती है. यह पूर्वी द्वीप समूहों की मूलवासी है.

पत्तियों में सुहानी सुगन्धित महक, और तीखा स्वाद होता है. इसे माँस तथा सलाद में सुरस के लिए मिलाते हैं. मदिरा और यवसुरा में भी सुरस के लिए वोरेज (**वोरैगो ऑफिसिनैलिस** लिनिअस) के स्थान पर इसका प्रयोग किया जाता है. इसकी सुगंधि इसमें एक वाष्पशील तेल के कारण होती है जिसमें कावाक्रोल रहता है जो अल्प मात्रा में होता है (Burkill, 634; Parry, I, 269).

पत्तियाँ मूत्र रोगों की चिकित्सा में उपयोगी हैं. पत्तियों के रस को चीनी के साथ मिलाकर एक सुगंधित वातानुलोमक तैयार किया जाता है. यद्यपि यह मादक है किन्तु दुष्पचन में दिया जाता है. पत्तियों का काढ़ा चिरकालिक खाँसी और दमे में दिया जाता है.
C. aromaticus Benth.; *Borago officinalis* Linn.

को. पार्वीफ्लोरस वेंथम सिन. **को. ट्यूबरोसस** बेन्थम
C. parviflorus Benth. देहाती आलू

ले. – को. पारवीफ्लोरूस
Fl. Br. Ind., IV, 625; Mukerjee, *Rec. bot. Surv. India*, 1940, **14**, 53.

त. तथा मल. – कूर्कन किजंगु.

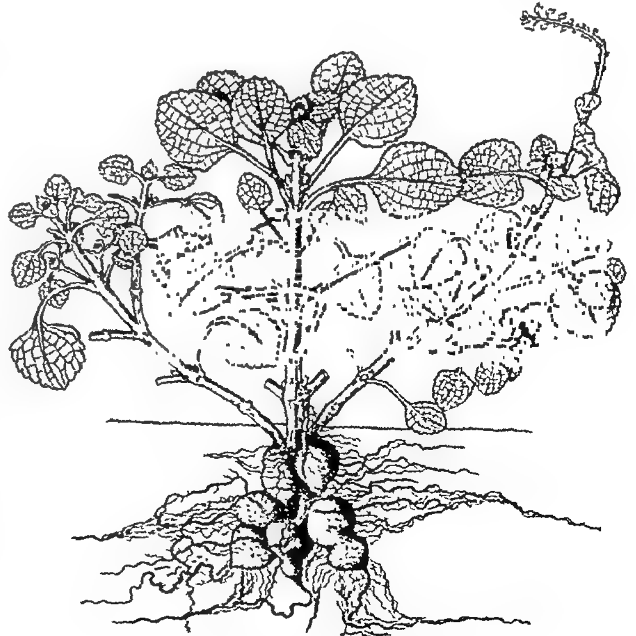
यह एक छोटा, वूटीय, वार्षिक 30–60 सेंमी. ऊँचा, शयान अथवा आरोही है जिसका तना रसदार तथा पत्तियाँ सुगंधित होती हैं. इसकी जड़ें गहरे भूरे रंग की, कन्दों से युक्त, गुच्छेदार होती हैं. इस जाति की तथा इसकी किस्मों की नाम-पद्धति एवं वानस्पतिक पहचान में काफी भ्रम है. कुछ की धारणा है कि **को. पार्वीफ्लोरस** तथा **को. रोटंडीफोलियस** (पोएरेट) कवैलियर तथा पेरा एक ही नाम है जिसे ही **को. डिसेण्टेरिकस** वेकर भी कहते हैं. परन्तु अन्यों का विचार है कि ये तीनों पृथक्-पृथक् जातियाँ हैं (Greenway, loc. cit.; Dalziel, 459; Sampson, *Kew Bull., Addl Ser.*, XII, 1936, 54; White, *Trop. Agriculturist*, 1948, **104**, 151).

यह पौधा भारत, श्रीलंका, जावा, श्याम तथा अफ्रीका के उष्णकटिवन्धी प्रदेशों में अपने छोटे खाद्य कन्दों के लिए उगाया जाता है जिन्हें आलू की ही तरह खाते हैं (Raghavachari, *Madras agric. J.*, 1918, **6**, 24; Macmillan, 293; Sheikh Daud, *Malay. agric. J.*, 1947, **30**, 130).

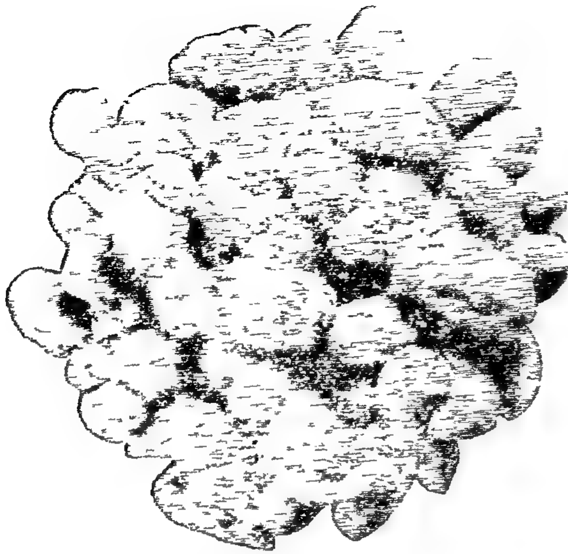
केवल मालावार में इस पौधे की खेती वरसाती फसल के रूप में वड़े पैमाने पर की जाती है. वर्षा आरम्भ होते ही मई–जून में इसे रोप दिया जाता है और दिसम्बर–जनवरी में फसल ले ली जाती है. यह अच्छे जल-निकास वाली लेटराइट और रेतीली मिट्टियों में खूब पनपता है.

इस पौधे का प्रवर्धन साधारणतया अंकुरित कंदों से प्राप्त कल्लों से किया जाता है. फसल वोने के लिए बहुत थोड़े वीजों की आवश्यकता होती है. मिट्टी को खोद कर उसमें पशुओं की खाद (5,000 किग्रा./हेक्टर) और लकड़ी की राख (1,000–2,000 किग्रा./हेक्टर) की प्रचुर मात्रा डाल दी जाती है. पिछले वर्ष की फसल से छाँटे हुए बीज कंदों को खेत के एक छोटे से अंश में वो देते हैं. वे 10–15 दिन में उग आते हैं और उनमें वहुत से कल्ले निकलते हैं. कंद वोने के लगभग एक महीने वाद, सवसे वड़े कल्ले जिनमें प्रत्येक में 4–5 पत्तियाँ होती है, चूंट लिए जाते है, और तैयार किए गए खेत में 15–20 सेंमी. के अन्तर से वो दिए जाते है. ये शीघ्र ही लग जाते हैं, और लगभग पन्द्रह दिनों में इनमें से नए कल्ले निकल आते हैं जिन्हें रोपने के काम में लाया जा सकता है. इस प्रकार 1/5 हेक्टर में वोए गए 15–20 किग्रा. वीज-कंदों के कल्लों से 2 महीनों में एक हेक्टर भूमि वो दी जाती है. एक कंद से लगभग 100 नए पौधे प्राप्त किए जा सकते है (मद्रास कृषि विभाग से प्राप्त सूचना).

एक वार लग जाने के वाद पौधों की ओर विशेष ध्यान देने की आवश्यकता नहीं होती. खेत की कुछ निराइयाँ कर दी जाती हैं और पौधों की जड़ों पर मिट्टी चढ़ाई जाती है.



चित्र 84 – कोलियस पार्वीफ्लोरस



चित्र 85 – कोलियस पार्वीफ्लोरस के कन्द

यदि मिट्टी चढ़ाते समय थोड़ा-सा अमोनियम सल्फेट दे दिया जाता है तो अधिक कंद मिलते हैं. इन पौधे में साधारणतया कीट और रोग नहीं लगते. कभी-कभी संवर्धन अवस्था में पत्तियों पर एक सूंडी लग जाती है जिसे लेड आर्सेनेट छिड़क कर वश में किया जा सकता है.

रोपने के 6–8 महीने बाद फसल खुदाई के लिए तैयार हो जाती है. प्रति हेक्टर औसत उपज 3–5 टन होती है किन्तु अनुकूल परिस्थितियों में 7·5–15 टन तक जा सकती है. छोटे, श्यामल भूरे कंद स्टार्चमय, सुगंधयुक्त और मीठे होते हैं. वे आलू की भांति साग-तरकारियों और दूसरे व्यंजनों में इस्तेमाल किए जाते हैं. कंदों में आर्द्रता, 77·6, प्रोटीन, 1·3 कार्बोहाइड्रेट, 19·7, वसा, 0·1, रेशे, 0·4, और खनिज पदार्थ, 0·9% होता है (White, loc. cit.).

C. tuberosus Benth., *C. rotundifolius* (Poir.) Cheval. & Perrot, *C. dysentericus* Baker

को. फोर्सकोहलाई ब्रिकेट सिन. को. बारबेटस बेंथम *C. forskohlii* Briq.

ले – को. फोर्स्कोलिई

D.E.P., II, 504; Fl. Br. Ind., IV, 625; Mukerjee, loc. cit.

यह एक बहुवर्षी सुगन्धित सुगन्धित बूटी है जो 30–60 सेंमी. ऊँची तथा मोटी जड़ वाली और हिमालय की तराई में 2,400 मी. तक, विशेषकर कुमायूँ तथा नेपाल में तथा दक्षिणी पठार, गुजरात तथा बिहार में पायी जाती है. यह शुष्क, बीरान पर्वतों पर सामान्यतया उत्पन्न होती है. वैसे बम्बई के आसपास के क्षेत्रों में इसकी जड़ों का अचार डाला जाता है जिसके लिए इसको बोया जाता है. यह जाति 'काफिर आलू' नामक समस्त कन्दों का असली जंगली पूर्वज है (Greenway, *E. Afr. agric. J.*, 1944, **10**, 34).

C. barbatus Benth.

को. वेट्टीवेरोइडीज के. सी. जेकब *C. vettiveroides* K. C. Jacob

ले. – को. वेट्टीवेरोइडेस

Jacob, *J. Bombay nat. Hist. Soc.*, 1941, **42**, 320.

त. – कुरुवेर, वेट्टीवेर.

यह छोटी, रसीली, 45–53 सेंमी. ऊँची बूटी है जिसका तना आनत और पत्तियाँ मोटी, बैंगनी-सी, रोमिल होती हैं. इस पौधे में 35–50 सेंमी. लम्बी, तिनके जैसे रंग वाली रेशीली जड़ों में से तेज सुगंध आती है.

यह बूटी जंगली नहीं है. इसका प्रवर्धन कलम लगाकर करते हैं. इस पौधे को कहीं फूलते नहीं देखा गया है. इसकी खेती तंजौर, मद्रास और तिन्नेवेली जनपदों में, नदियों के किनारे, रेतीली दुमट में की जाती है. इसे अधिक खाद और जल्दी-जल्दी सिंचाई की आवश्यकता पड़ती है. जब पौधे लगभग 4 महीने के होते हैं तो जड़ों को निकाल लिया जाता है. ताजी सुगन्धित जड़ें मन्दिरों में मूर्तियों के शृंगार हेतु और बालों के शृंगार में भी इस्तेमाल की जाती हैं (Gopala Chetty, *Madras agric. J.*, 1939, **27**, 369).

को. ब्लूमी बेंथम पतले तने और सुहावनी रंग-बिरंगी पत्तियों वाली बूटी है. यह साधारणतया उद्यानों में उगाई जाती है. कहा जाता है कि इसकी पत्तियों का काढ़ा मंदाग्नि में पिलाया जाता है (Burkill, I, 635).

C. blumei Benth.

कोलोकेसिया शॉट (एरेसी) COLOCASIA Schott

ले – कोलोकासिया

यह एक लघु वंश है जिसकी लगभग 13 बहुवर्षी बूटीय जातियाँ दक्षिणी-पूर्वी एशिया तथा पोलीनेशिया के उष्णकटिबन्धी प्रदेश में पाई जाती हैं. भारत में 5 या 6 जातियाँ पाई गई हैं. **को. एस्कुलेंटा** की विस्तृत खेती खाद्य कन्दों के लिए की जाती है.

इसकी कृष्य जातियों के नाम अस्पष्ट हैं. कुछ वनस्पति-शास्त्री **को. एस्कुलेंटा** तथा **को. ऐण्टीकोरम** को पृथक्-पृथक् जातियाँ मानते हैं किन्तु कुछ लोग प्रथम जाति को **को. ऐण्टीकोरम** की एक किस्म बताते हैं.

Araceae, *C. antiquorum*

को. एस्कुलेंटा (लिनिअस) शॉट सिन. को. ऐण्टीकोरम शॉट *C. esculenta* (Linn.) Schott तारो, दशहीन, ईडो कोकोयाम

ले – को. एस्कुलेंटा

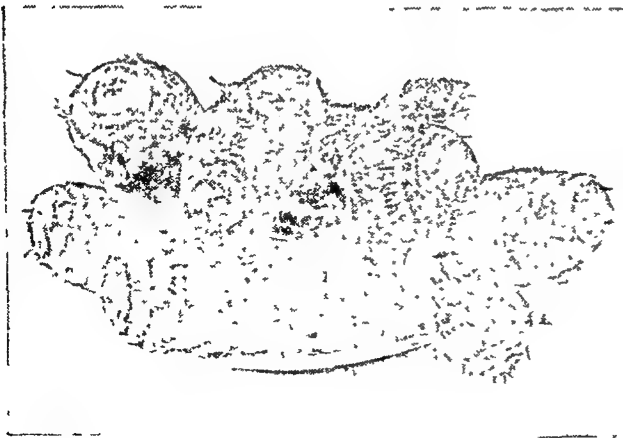
D.E.P., II, 509; C.P., 398; Fl. Br. Ind., VI, 523.

सं. – कचुः; हि. – अरवी, घुइयाँ; वं. – कचू; म. – आलू; त. – सेप्पन-किलंगु; ते. – चेमदुम्प, चेमेगड्ड; क. – कैसाविनागड्डे, शामेगड्डे; मल. – सेम्बु; उ. – सरु.

यह एक बहुवर्षी कंदीय पौधा है जिसमे विशाल हृदयाकार पत्ते, 0·45–2·1 मी. लम्बे पर्णवृन्तो पर लगे होते हैं जो भूमिगत घनकंदों के समूह से फूटकर बाहर निकले होते हैं. ये घनकंद रूप तथा आकार मे काफी भिन्नता प्रदर्शित करते हैं लेकिन बीच का घनकन्द काफी सुस्पष्ट होता है.

यह पौधा दक्षिणी पूर्वी एशिया का मूलवासी माना जाता है. यह भारत मे नदियों, तालावों तथा दलदली स्थानों के किनारो पर तथा वनों के नम तथा छायादार स्थानों पर जंगली उगता है. वहुत से क्षेत्रों में 2,400 मी. की ऊँचाई तक इसकी खेती भी की जाती है.

इसकी बहुत-सी जातियाँ ज्ञात हैं, जो पत्तियों तथा पर्णवृन्तों के रंगो तथा कंदों के रूप, आकार, रंग, स्वाद और पोषक मान के अनुसार भिन्नता प्रदर्शित करती हैं. इसकी लगभग 1,000 उद्यानीय किस्मों की सूचना है. इसके प्रमुख दो समूहों की पहचान की जा सकती है जिसमे एक की पत्तियाँ तथा पर्णवृन्त नील-लोहित तथा दूसरे मे ये दोनो भाग हरे होते हैं. विभिन्न किस्मो मे कंदों के आकार काफी भिन्न होते हैं जो 1·2–2·5 सेमी. व्यास के लघु गोलाकार से लेकर 15 सेमी. व्यास के लम्बे कंदों तक, जिनकी 60 सेंमी. लम्बाई तक के हो सकते हैं. कुछ मे कंदों की संख्या कम होती है और सभी लगभग एक-समान आकार वाले होते हैं किन्तु अन्यों मे ये सख्या मे अधिक तथा विभिन्न आकार वाले होते हैं. कंद का गूदा सफेद, पीला तथा नारंगी से लाल या नील-लोहित रंग तक का होता है. कन्दों का एक विशेष लक्षण तीक्ष्णता है (**ऐरम** कुल के कंदो का लक्षण है) जो विभिन्न जातियों मे वदलती रहती है. कुछ में तो यह उवालने के पश्चात् भी रह जाती है और नष्ट नही होती. कुछ जातियों मे या तो वहुत कम घनकद लगते है या ये घनकंद खाने योग्य नही होते (Greenwall, *Econ. Bot.*, 1947, **1**, 276; *Fmrs' Bull., U.S. Dep. Agric.*, No. 1396, 1924, 4).



चित्र 86 – कोलोकेसिया एस्कुलेंटा के प्रकन्द

प्रजातियों तथा किस्मों के इतने वरण किए गए हैं जो ऐसी भिन्न परिस्थितियों के लिए उपयुक्त हो सकते हैं, जैसे निचले वंगाल के दलदल, असम तथा तमिलनाडु की आर्द्र पहाड़ियाँ, डेकन के शुष्क पठार तथा हिमालय के ठंडे प्रदेश. इसकी जंगली जातियाँ, जिन्हें वंगाल मे सामान्य रूप से **काला कचू**, **चार कचू** तथा **वान कचू** कहते है, अपनी पत्तियों तथा पर्णवृन्तो के लिए कंदों की अपेक्षा अधिक मूल्यवान समझी जाती हैं. वंगाल में दो कृष्य किस्में भी उगाई जाती हैं: **गुरी कचू** तथा **अशू कचू**. इनमें से दूसरी किस्म पहली से जल्दी तैयार हो जाती है. एक तीसरी किस्म **सार कचू** को जलीय अवस्था मे उगाया जाता है जिससे 15–30 सेमी. लम्बे घनकन्द मिलते हैं. दक्षिण भारत में भी कई किस्में उगाई जाती हैं (Kidavu, *Madras agric. J.*, 1915, **3**, 127).

एक ही पौधे से प्राप्त कंदों को विभिन्न स्थानीय नामों से पुकारा जाता है. उदाहरणार्थ, पंजाव में वीच के घनकंद को जो आकार में वड़ा तथा सुस्पष्ट होता है, कचालू और पार्श्वीय लघु कंदों को अरवी कहते हैं. अन्य प्रदेशों में भी इसी प्रकार से विभिन्न नाम रखे गए हैं (Purewal, 76).

अपने विभिन्न रूपों में **को. एस्कुलेंटा** उष्ण-नम प्रदेशों की फसल है. यह सभी प्रकार की भूमियों पर उगती है परंतु गहरी, अच्छे निकासवाली, भली-भाँति खाद दी हुई और भुरभुरी भूमि में सवसे अच्छी उगती है. कम उर्वर तथा कम नमी वाली भूमियो मे इसकी उपज कम होती है. जिन मिट्टियो मे पानी रुकता है उनमे घटिया कन्द पैदा होता है. धान के खेतो, तालावों तथा नदियों के वाँधों का उपयोग पौधों को उगाने के लिए किया जाता है. प्रायः गहन सिचाई तथा खेती के द्वारा इसे घरेलू वगीचों मे उगाया जाता है.

पौधे का कायिक प्रवर्धन अंतःभूस्तारियों तथा घनकंद शीर्षो द्वारा होता है. किस्म तथा स्थान के अनुसार कंदो के मुडक, जिन पर पर्णवृन्त रहते है या घनकंद के छोटे-छोटे टुकड़े जिनमे 2–3 आँखे होती हैं, 22·5 सेमी. के अंतर पर पंक्तियों में 7·5–12·5 सेमी. गहराई पर रोप दिए जाते है. इसे वर्ष भर रोपित किया जा सकता है परंतु भारत मे इसे प्रायः फरवरी से जलाई तक ही लगाते है. स्थानीय अवस्थाओं के अनुसार एक हेक्टर भूमि के लिए 600–1,230 किग्रा. कंदों की आवश्यकता होती है. लगाने से पहले खेतो मे गोवर की खाद और राख या रासायनिक उर्वरकों का मिश्रण डाल दिया जाता है (Kidavu, loc. cit.; Dhanna Lal, *Nagpur agric. Coll. Mag.*, 1937, **12**, 96; Firminger, 122, Roberts & Kartar Singh, 377; *Madras agric. J.*, 1943, **31**, 201).

रोपण के 4–8 महीने पश्चात् फसल खोद ली जाती है. इस वीच समय-समय पर खरपतवार निकालते रहते हैं. प्रत्येक गुड़ाई के वाद मिट्टी दोनों ओर चढा दी जाती है. अच्छी उपज तथा समान आकार वाले कंद प्राप्त करने के लिये कुछ प्ररोहों को भी निकाल दिया जाता है. जहाँ वर्षा अपर्याप्त होती है वहाँ जल्दी-जल्दी खेतों की सिचाई की जाती है.

यह पौधा सामान्यतः नाशकजीवो तथा रोगों का प्रतिरोधी है. **फाइटोफ्थोरा कोलोकेसिई** के द्वारा अंगमारी से पत्तियाँ

तथा पर्णवृन्त प्रभावित होते हैं. नियंत्रण के लिए रोगग्रस्त पत्तियों को तोड़कर नष्ट कर देना, स्वस्थ कंदों को लगाना तथा फसलों के हेर-फेर की संस्तुति की जाती है. बोर्डो मिश्रण छिड़कने से भी रोग से बचाव होता है. सूचित किया गया है कि जीवाणवीय पर्ण धब्बा रोग से पत्तियाँ नष्ट हो जाती हैं जिससे घनकंदों की उपज कम हो जाती है (Mundkur, 68; Asthana, *Curr. Sci.*, 1946, **15**, 356).

जब पत्तियाँ पीली पड़ने लगती हैं तो फसल खोद ली जाती है. जल्दी खुदाई करने से जो कंद निकलते हैं वे खाने के लिए तो अच्छे होते है किन्तु उन्हें संचित नहीं किया जा सकता. विभिन्न किस्मों तथा विभिन्न स्थानों के अनुसार फसलों की खुदाई का समय भी बदलता रहता है. कुछ किस्में बोने के 4–5 महीने बाद ही तैयार हो जाती हैं किन्तु अधिकांश किस्में 6–8 महीने तथा कुछ तो 9 महीने या इससे भी अधिक समय के पश्चात् तैयार होती हैं. कंदों को या तो हाथ से उखाड़ लिया जाता है या फावड़े से खोदकर निकाला जाता है. इन्हें साफ करने के बाद छँटाई होती है जिसमें बीच के घनकंदों को अगल-बगल वाले कंदों से अलग कर लेते हैं. किस्म एवं कृषि के अनुसार इनकी उपज बदलती रहती है. प्रति हेक्टर न्यनतम उपज 2,000–2,500 किग्रा. और अनुकूल परिस्थितियों में अधिकतम उपज 8,000 से 16,000 किग्रा. तक जा सकती है (Macmillan, 288).

तारो के सभी भाग खाद्य हैं. कंदों में स्टार्च अधिक होता है, इसलिए इसे आलू की भाँति खाने के काम में लाते हैं. यह आलू से कुछ अधिक मीठा है और उससे अधिक सरलता से पकाया जा सकता है, गूदा पर्याप्त होता है तथा पकाने पर गिरी की सुरस आती है. कंदों के विश्लेषण से निम्नांकित मान प्राप्त हुए हैं: आर्द्रता, 73·1; प्रोटीन, 3·0; वसा, 0·1; खनिज पदार्थ 1·7; कार्बोहाइड्रेट, 22·1; कैल्सियम, 0·04; फॉस्फोरस, 0·14%; लोहा, 2·1 मिग्रा./100 ग्रा.; विटामिन ए के रूप में परिकलित कैरोटीन, 40 अं.इ./100 ग्रा.; विटामिन बी$_1$, 80 अं.इ./100 ग्रा.; तथा विटामिन सी की रंच मात्रा पाई जाती है. हेमीसेलुलोस तथा म्यूसिलेज दोनों ही जल-अपघटन करने पर *d*-गैलेक्टोस तथा *l*-एरैबिनोस उत्पन्न करते हैं. कहा जाता है कि इसमें कार्बोहाइड्रेट तथा प्रोटीन अधिक होते हैं और यह आलू से लगभग डेढ़ गुना अधिक पोषक है. उबाले हुए कंदों में 30% स्टार्च तथा 3% शर्करा होते हैं और यह उच्च ऊर्जायुक्त खाद्य होता है. खाने वाले पौधों में, स्टार्च के दाने सबसे छोटे होते हैं और यह कहा जाता है कि अन्य स्टार्चमय खाद्यों की अपेक्षा यह सबसे जल्दी पच जाता है. यह कैल्सियम तथा फॉस्फोरस का भी अच्छा स्रोत है (*Hlth Bull.*, No. 23, 1941, 31; Winton & Winton, II, 134; *Fmrs' Bull., U.S. Dep. Agric.*, loc. cit.; Greenwell, loc. cit.).

कंदों को छील कर कत्तल बना लिए जाते हैं और उन्हें पका लिया जाता है, फिर इनमें मिर्च-मसाले डाल कर खाया जाता है. बीच के घनकंद (कचालू) पार्श्व कंदों की अपेक्षा कम श्लेष्मायुक्त होते हैं और पकाने के बाद कुछ-कुछ सूखे, अधिक मांसलो तथा पार्श्व कंदों की अपेक्षा अधिक सुरस होते हैं. हवाई द्वीपों में घनकंदों से कुछ-कुछ किण्वित, पतला लेईदार, व्यंजन तैयार किया जाता है जिसे 'पोई' कहते हैं जो अत्यन्त लोकप्रिय है. पोई से रोटियाँ, डबल रोटियाँ तथा टोस्ट भी बनाए जाते हैं जो शीघ्र पचने वाले होते हैं. बड़े कंदों की कत्तलें या पपड़ियाँ भी बनाई जा सकती हैं (Purewal, loc. cit.; *Fmrs' Bull., U.S. Dep. Agric.*, loc. cit.).

स्टार्च के कणों के अत्यन्त छोटे होने तथा श्लेष्मक पदार्थों के उपस्थित रहने के कारण स्टार्च को कंदों के अन्य अवयवों से पृथक् करना कठिन है और अभी तक इसे पृथक् करने के लिए कोई भी सरल व्यापारिक प्रक्रम नहीं निकल पाया है. स्टार्च दो प्रकार के दानों का मिश्रण होता है: एक 1–1·5 मा. (μ) तथा दूसरे 3–4 मा. (μ) व्यास वाले. यह स्टार्च वस्त्रों को चिपकाने में वहाँ उपयोगी पाया गया है जहाँ प्रलेपन शक्ति के बजाय भेदन शक्ति पर ध्यान जाना है (*Chem. Abstr.*, 1936, **30**, 5066; *Fmrs' Bull., U.S. Dep. Agric.*, loc. cit.).

तारो-श्लेष्मक का उपयोग अपारगम्य कागज को चिकनाने में किया जा सकता है. कंद का प्रयोग ऐल्कोहल के औद्योगिक उत्पादन में किया जा सकता है. कंदों के रस में एमाइलेस होता है (Burkill, I, 642; Shukla, *J. Indian chem. Soc.*, 1944, **21**, 223).

कच्चे अथवा पहले से पकाये गए कंदों से तारो का आटा तैयार किया जाता है लेकिन पकाये गए कंदों का आटा अच्छा माना जाता है. यह आटा आलू के आटे के समान गुण वाला होता है जिसका उपयोग रोटी, बिस्कुट, सूप, शोरबा, दलिया, तथा पैनकेक बनाने में किया जाता है. यह हलवा तथा यखनी के लिए उत्तम है क्योंकि यह गेहूँ के आटे जैसा ग्लूटेनी (चोकरयुत) नहीं होता है. आटे से तैयार किये गए तारो-बेक्टिन तथा तारो-माल्ट बच्चों के तथा रोगियों के लिय उत्तम आहार है (Greenwell, loc. cit.).

नये पत्त तथा पर्णवृन्त खाद्य हैं और सलाद या साग की भाँति पकाकर इस्तेमाल किए जा सकते हैं. इन्हें अन्य हरी तरकारियों की भाँति पकाया जाता है परन्तु इनकी कड़वाहट को दूर करने के लिए थोड़ा खाने वाला सोडा डालना पडता है. अनखुली या खुलने वाली पत्तियाँ पुराने पत्तों की अपेक्षा अधिक स्वादिष्ट होती हैं. पर्णवृन्त के विश्लेषण से निम्नांकित परिणाम प्राप्त हुए: आर्द्रता, 93·4; प्रोटीन, 0·3; वसा, 0·3; खनिज पदार्थ, 1·2; रेशे, 0·6; कार्बोहाइड्रेट, 4·1; कैल्सियम, 0·06; फॉस्फोरस, 0·02%; तथा लोहा, 0·5 मिग्रा. प्रति 100 ग्रा. पत्ते तथा पर्णवृन्त प्रोविटामिन ए तथा विटामिन सी के अच्छे स्रोत माने जाते हैं (*Hlth Bull.*, No. 23, 1941, 32; Greenwell, loc. cit.).

पौधे के सभी अंगों में कड़वाहट होती है जिसका कारण ऊतकों में शूच्याकार कैल्सियम आक्सेलेट के क्रिस्टलों की उपस्थिति है. उत्तेजना उत्पन्न होने का कारण ऊतकों पर इन क्रिस्टलों की यांत्रिक क्रिया होती है और यह कड़वाहट उबालने तथा खाने का सोडा डालने से दूर हो जाती है.

पर्णवृन्त से निचोड़े गए रस का उपयोग रक्त स्तम्भक या कषाय के रूप में किया जाता है. कंदों में सैपोटॉक्सिन पाए जाने की भी सूचना है (*Chem. Abstr.*, 1939, **33**, 5033).

को. जाइगेण्टिया हुकर पुत्र ब्रह्मा तथा जावा में पायी जाती है. इसके पत्तों तथा पर्णवृन्तों को पका कर खाया जाता है. इसमें हाइड्रोसायनिक अम्ल रहता है (Burkill, I, 642).

को. वाइरोसा कुन्थ (=**स्टीउड्नेरा वाइरोसा** प्रेन) (व.—विश कचू) भारत के कुछ भागो मे जगली दशा मे पायी जाती है और विषैली होती है.
C. antiquorum Schott, *Phytophthora colocasiae* Rac., *C. gigantea* Hook. f., *C. virosa* Kunth, *Steudnera virosa* Prain

कोलोसिंथ — देखिए **सिट्रलस**

कोल्जा — देखिए **ब्रैसिका**

कोल्ट्स फुट — देखिए **टसिलैगो** (परिशिष्ट — **भारत की सम्पदा**)

कोल्डेनिया लिनिअस (**बोराजिनेसी**) COLDENIA Linn.

ले.—कोल्डेनिया
D.E.P., II, 502, Fl. Br. Ind., IV, 144.

स.—त्रिपक्षी; हिं. तथा म.—त्रिपुन्की; त.—सेरुपडी; ते.—हसपादु

यह फैलने वाली रोमयुक्त बूटियो की लगभग 24 जातियो का वश है जो उष्णकटिबन्ध तथा उसके समीपवर्ती प्रदेशो मे पाया जाता है **को. प्रोकम्बेंस** लिनिअस भारत का एक सामान्य अपतृण है जिसे फोडो पर लगाकर उन्हे पकाया जाता है. इसकी ताजी पत्तियो को पीस कर लेप करने से जोडो के दर्द मे लाभ होता है (Kirt. & Basu, III, 1684).
Boraginaceae, *C. procumbens* Linn.

कोल्यूटीआ लिनिअस (**लेग्यूमिनोसी**) COLUTEA Linn.
ब्लाडर सेन्ना

ले.—कोलूटेआ
D.E.P., II, 514, Fl. Br. Ind., II, 103.

यह झाडियो की 14 जातियो का वश है जो उत्तरी यूरोप से हिमालय तक पाया जाता है. **को. नेपालेंसिस** सिम्स (सिन. **को. आर्बोरेसेंस** लिनिअस वैर. **नेपालेंसिस**) हिमालय पर 2,400 से 3,450 मी की ऊँचाई पर पायी जाती है. पत्तियाँ रेचक है और सनाय के प्रतिस्थापी तथा अपमिश्रक के रूप मे प्रयुक्त होती है किन्तु इसकी क्रिया क्षीण होती है (U.S.D., 1409).
Leguminosae; *C. nepalensis* Sims, *C. arborescens* Linn. var. *nepalensis*

कोल्यूब्रिना रिचार्ड एक्स ब्रांगनिअर्ट (**रैमनेसी**) COLUBRINA Rich. ex Brongn.

ले.—कोलूब्रिना

यह सीधी झाडियो की लगभग 28 जातियो का वश है जो उष्णकटिबधी तथा उपोष्ण कटिबधी प्रदेशो मे पाया जाता है.
Rhamnaceae

को. एशियाटिका ब्रांगनिअर्ट C. asiatica Brongn.

ले.—को. एसियाटिका
Fl. Br. Ind., I, 642.

म.—गुटी; त.—मट्टरमाणिक्कन.

यह शोभाकारी, कँटीली, रेगने वाली झाडी है जो दक्षिणी भारत, अण्डमान, ब्रह्मा, श्रीलका तथा मलाया प्रायद्वीप के तटवर्ती वनो मे पाई जाती है इसका अत.काष्ट श्वेत, चिकना, कठोर और चाँदी जैसे दानो से युक्त होता है किन्तु आकार अत्यन्त छोटा होने के कारण इसका बहुत ही कम उपयोग हो पाता है. छाल मे सैपोनिन होता है और मलोआ मे इसे चटाइयाँ साफ करने के काम मे लाते है (Burkill, I, 642).

क्यूमिनम लिनिअस (**अम्बेलिफेरी**) CUMINUM Linn.

ले.—कूमिनूम

अधिकाश लेखको के अनुसार यह वश एकल प्ररूपी है परन्तु बर्किल के अनुसार इसकी दो जातियाँ होती है—एक कृष्ट जीरा और दूसरी सूडान से प्राप्त एक अज्ञात पौधा (Burkill, I, 701).
Umbelliferae

क्यू. साइमिनम लिनिअस C. cyminum Linn. जीरा

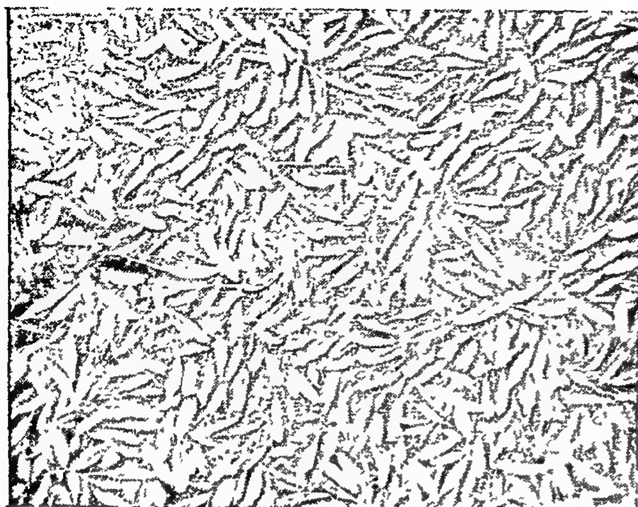
ले.—कू. सिमिनूम
D.E.P., II, 642, C.P., 442, Fl. Br. Ind., II, 718, Kirt. & Basu, II, 1227, Pl. 485A

स.—जीरक, जीरा; हिं.—जीरा, बं.—जीरा; म.—जिरैं; त.—सीरगम; ते.—जिलकर, जीरकम्; क.—जीरिगे; मल.—जीरकम.

पजाब—जीरा-सफेद; सिन्ध—जीरो

यह लगभग 30 सेमी ऊँची, पतली, वार्षिक झाडी है जिसका तना अत्यधिक शाखाओ वाला, कोणीय, अथवा धारीदार होता है. तने मे नीले-हरे रग की 2 अथवा 3 लम्बी विभक्त पत्तियाँ होती है, तथा आधार आवरणयुक्त होते है इसके पुष्प श्वेत अथवा गुलाबी रग के होते है, जिनमे सयोजित पुष्पछत्र रहते है फल स्लेटी रग के, लगभग 6 मिमी. लम्बे होते है. ये आधार तथा शीर्ष दोनो ओर से नुकीले होते है इनके पृष्ट पर लम्बी-लम्बी धारियाँ होती है जो कुछ पैपिलामय तन्तुओ से आच्छादित रहती है कुछ प्रकारो मे इस प्रकार के तन्तु उपस्थित नही रहते.

इस पौधे को अधिकाशत: दक्षिणी पूर्वी यूरोप, उत्तरी अफ्रीका के भूमध्य सागरीय तटवर्ती क्षेत्रो, भारत तथा चीन मे उत्पन्न किया जाता है भारत मे बगाल तथा असम को छोडकर अन्य सभी प्रदेशो मे इसकी खेती की जाती है. इसके क्षेत्रफल एव उपज के आँकडे उपलब्ध नही है. इसके मुख्य क्षेत्र पजाब तथा उत्तर प्रदेश है. जयपुर मे खालसा इलाके मे लगभग 5,572 हेक्टर क्षेत्र मे जीरे की खेती होती है. उत्तरी गुजरात मे लगभग 800 हेक्टर क्षेत्रफल मे जीरा बोया जाता है. तमिलनाडु मे इसकी खेती कोयम्बतूर, कुडप्पा तथा



चित्र 87 – क्यूमिनम साइमिनम के बीज

कुरनूल जिलों तक ही सीमित है (Sidhu, *Indian Fmg*, 1949, **10**, 119; Ambekar, *Bull. Dep. Agric., Bombay*, No. 146, 1927, 91).

यह पौधा मध्यम जलवायु में समुद्रतल से 3,000 मी. की ऊँचाई तक बढ़ता है. इसको सामान्यतः बागान परिस्थितियों मे छोटे पैमाने पर बगीचो में उगाया जाता है, वृहत् पैमाने पर नही. तमिलनाडु तथा मैसूर मे यह नाजुक तथा निःशक्त करने वाली फसल मानी जाती है. इसकी खेती अच्छी तरह खाद डाली गई, अच्छे जल-निकास वाली, उपजाऊ दुमट भूमियों में की जाती है. कभी-कभी जीरे की फसल को खाद न देकर उसके पहले बोई गई फसल को दी जाती है (Naidu, *Madras agric. J.*, 1940, **28**, 125).

फसल दो मौसमों मे उगाई जाती है, प्रथम दक्षिण-पश्चिमी मानसून के प्रारम्भ होने से पूर्व अथवा उत्तरी पूर्वी मानसून के समाप्त होने के पश्चात्. फसल अत्यधिक उष्णता अथवा आर्द्रता अथवा भारी वर्षा को सहन नही कर सकती. अगेती फसल के लिए अप्रैल के अन्त अथवा मई माह के प्रारम्भ मे बुआई की जाती है तथा विलम्बित फसल के लिए अक्टूबर के अन्त में बुआई की जाती है. बीज छिटकवाँ बोये जाते हैं (बीज दर, लगभग 30–35 किग्रा./हेक्टर). फसल के लिए बुआई से लेकर फलने तक मध्यम एवं नियमित सिंचाई आवश्यक होती है. निराई आवश्यक है. बोने के 60–90 दिन बाद फल लगने लगते है और उनके पकने पर पौधों को जड़ सहित उखाड़ कर सुखा लिया जाता है और दाँय चलाई जाती है. प्रति हेक्टर 250–300 किग्रा. उपज होती है और अच्छी फसल होने पर 400 किग्रा. भी हो सकती है. जयपुर में 440 किग्रा./हेक्टर तक की उपज होती है (Yegna Narayan Aiyer, 309; Sidhu, loc. cit.).

फसल पर कभी-कभी फफूंद का आक्रमण हो जाता है. इससे पौधे काले पड़ जाते हैं तथा सूख जाते हैं. इस पर नियन्त्रण रखने के लिए फसल पर समय-समय पर गंधक का छिड़काव किया जाता है. गुजरात के खैरा जिले की फसलों पर कभी-कभी आल्टरनेरिया अंगमारी (**आल्टरनेरिया बर्नसाई** उप्पल इत्यादि) का भी आक्रमण हो जाता है. फसल को इससे विशेष हानि नहीं होती. कभी-कभी पत्तियों को खाने वाली इल्लियाँ तथा जड़ों को नष्ट करने वाले कृमि भी पाए जाते हैं (*Leafl. Dep. Agric., Bombay*, No. 8, 1932; Naidu, loc. cit.; *Indian J. agric. Sci.*, 1938, **8**, 49).

जीरे के बीजों में ऐरोमैटिक सुगन्धि होती है, तथा मसालों के समान विशेष प्रकार का तीक्ष्ण स्वाद होता है. इनका मसाले की भाँति अत्यधिक उपयोग किया जाता है. इनका उपयोग सभी प्रकार के मिश्रित मसालों तथा कढ़ी बनाने वाले चूर्णो में अनिवार्य रूप से किया जाता है तथा सूप, अचार, पनीर, आदि को सुगंधित करने तथा रोटियों तथा केकों को पकाने के लिए भी इनका उपयोग किया जाता है. इनको पागा भी जाता है. यूरोप में सुगन्धित मसाले के रूप में सफेद जीरे के स्थान पर अधिकांशतः काले जीरे का उपयोग किया जाने लगा है. देशी ओषधियों मे जीरे का उपयोग प्रारम्भ से ही वायुनाशक तथा उद्दीपक के रूप में किया जाता रहा है. जीरा पाचक तथा कषाय होता है तथा यह अतिसार तथा अपच में उपयोगी है. आजकल इसका उपयोग मुख्यतः पशुओं की ओषधियों में किया जाता है. बीजों में 2% से अधिक विजातीय कार्बनिक पदार्थ तथा 8% से अधिक राख नही होनी चाहिए (I.P.L., 36; B.P.C., 375).

बीजों के विश्लेषण से निम्नलिखित मान प्राप्त हुए: आर्द्रता, 11·9; प्रोटीन, 18·7; ईथर निष्कर्ष, 15·0; कार्बोहाइड्रेट, 36·6; तन्तु, 12·0; खनिज पदार्थ, 5·8; कैल्सियम, 1·08; तथा फॉस्फोरस, 0·49%; लोहा, 31·0 मिग्रा./100 ग्रा.; विटामिन ए के रूप में कैरोटीन, 870 अं.इ./100 ग्रा.; तथा विटामिन सी, 3 मिग्रा./100 ग्रा. (*Hlth Bull.*, No. 23, 1941, 36).

बीजों के आसवन से एक वाष्पशील तेल मिलता है (तेल की मात्रा, 2·0–4·0%) जिसमें एक विशेष प्रकार की मसालों की अरुचिकर गंध होती है, तथा स्वाद मसाले जैसा कड़वा होता है. ताजा तेल रंगहीन अथवा पीला होता है, परन्तु अधिक समय तक रखने पर इसका रंग गहरा हो जाता है. भारतीय तेल के विश्लेषणात्मक स्थिरांक इस प्रकार हैं: आ.घ.$^{15°}_{15°}$, 0·8945; $n_D^{25°}$, 1·4910; $[\alpha]_D^{25°}$, +3·6°; ऐल्डिहाइड, 16%. यह तेल 80% ऐल्कोहल के 11 आयतनों में 20° पर विलेय है. पैरी द्वारा सूचित स्थिरांकों की सीमाएं इस प्रकार है: आ.घ., 0·900–0·930; *n*, 1·494–1·507; [α], +3·0 से. +8·0°; ऐल्डिहाइड, 25–35% (Rao *et al.*, *J. Indian Inst. Sci.*, 1925, **8A**, 182; Parry, I, 311).

वाष्पशील तेल में मुख्यतः क्युमैल्डिहाइड, $C_{10}H_{12}O$ (पैरा-आइसो-प्रोपिल बेंजैल्डिहाइड, क्व.वि., 235°) उपस्थित रहता है जो तेल का 20–40% होता है. ऐल्डिहाइड के अतिरिक्त तेल में पैरा-साइमीन, पाइनीन, डाइपैण्टीन, क्यूमीन, क्यूमिनिक ऐल्कोहल, ऐल्फा-टर्पिनिओल तथा बीटा-फेलैण्ड्रीन भी पाए जाते

है. क्यूमनिक अम्ल का चूने तथा बैराइटा के साथ आसवन करने पर क्यूमीन (C_9H_{12}; ग.वि., 152°) प्राप्त होता है. क्यूमैल्डिहाइड का उपयोग इत्रों में किया जाता है तथा क्यूमिन का उपयोग आँत की ताँत के निर्जमित करने के लिए किया जाता है. क्यूमैल्डिहाइड को थाइमोल में परिवर्तित किया जा सकता है (Parry, loc. cit.; Gregory, 218; Kingzett, 272).

तेल का उपयोग इत्रों में और मद्यों तथा पुष्टिकर द्रवों को सुगन्धित बनाने के लिए किया जाता है. इसका उपयोग वातानुलोमक के रूप में भी होता है (B.P.C., 375).

वाष्पशील तेल के निष्कर्षण के पश्चात् अवशेष में 17·2% प्रोटीन तथा 30·0% वसा पाये जाते हैं. इसका उपयोग पशु-आहार के रूप में किया जा सकता है (Finnemore, 641).

वाष्पशील तेल के अतिरिक्त बीजों में 10% स्थिर तेल होता है जो हरे-भूरे रंग का होता है, तथा इसमें तीव्र ऐरोमैटिक गंध होती है. तेल के विश्लेषणात्मक स्थिरांक इस प्रकार हैं: आ.घ.$^{15°}$, 0·9256; $n^{25°}$, 1·4756; जमनांक, −8°; साबु. मान, 179·3; आयो. मान, 91·8; एस्टर मान, 176; अम्ल मान, 3·3; असाबु. पदार्थ, 2·06% (Winton & Winton, IV, 422).

व्यापार

जीरे के मुख्य व्यापारिक केन्द्र जबलपुर, रतलाम, जयपुर तथा गंगापुर हैं. भारत से जीरे का निर्यात श्रीलंका, मलाया, पूर्वी अफ्रीका, तथा स्ट्रेट्स सैटलमेण्ट्स को किया जाता है. सीमान्त देश अफगानिस्तान से भारत में जीरे का आयात भी होता है.

क्राइनम लिनिअस (**ऐमारिलिडेसी**) CRINUM Linn.

ले. – क्रिनूम

यह बड़े गोल कन्दाकार वृक्षों की 165 जातियों का वंश है जो उष्ण तथा उपोष्ण कटिबंधीय प्रदेशों में, विशेषतः समुद्री किनारों पर पाई जाती है. इनके फूल सुन्दर होते हैं.
Amaryllidaceae

क्रा. एसियाटिकम लिनिअस C. asiaticum Linn.

ले. – क्रि. आसिआटिकूम
D.E.P., II, 589; Fl. Br. Ind., VI, 280.

सं. – नागदमनी, नागपत्र; हि. – कँवल, पिण्डार; बं. – नागदौन; गु. – नागदमनी; म. – नागदवण; ते. – केसरचेट्टु, विशमुंगलि; त. – विशमुंगिल; क. – विशमूंगिलि.
डेकन – नागिन का पत्ता.

यह 1·8 मी. तक लम्बी पत्तियों वाली कन्दयुक्त बूटी है जो भारत के समस्त उष्णकटिबंधीय भागों में जंगली अवस्था में अथवा कृष्य रूप में पाई जाती है. इसका शल्ककन्द कड़वा, शक्तिप्रद, दस्तावर और कफ़ निस्सारक होता है. यह पैत्तिक तथा अश्मीय तथा मूत्र संबंधी अन्य रोगों में प्रयुक्त होता है. ताज़ी जड़ें मितली उत्पन्न करने वाली, स्वेदजनक तथा वमनकारी होती हैं, किन्तु मरोड़ या विरेचन नहीं करतीं. पत्तियाँ कफ़ निस्सारक होती हैं. ये सूजन को कम करने के लिए बाहर से लगाई जाती हैं (Kirt. & Basu, IV, 2472; Burkill, I, 681; Nadkarni, 251).

इसकी जड़ों में नारसिसीन (लाइकोरीन) नामक ऐल्कलायड पाया जाता है. **क्रा. एसियाटिकम** वैर. **जैपोनिकम** से क्राइनैमीन नामक गौण ऐल्कलायड भी पृथक् किया गया है. नारसिसीन स्तनियों के प्रति विषैला नहीं है (Henry, 406; *Chem. Abstr.*, 1939, **33**, 2653).
var. *japonicum*

क्रा. डेफिक्सम केर-गालर C. defixum Ker-Gawl.

ले. – क्रि. डेफिक्सूम
Fl. Br. Ind., VI, 281.

सं. – विषमण्डल; बं. – सुकदर्शन; गु. – नग्रीकंद; ते. – केसर-चेट्टु. तमिलनाडु – विशमुंगिल.

यह जाति भारतवर्ष से बोर्नियो तक पाई जाती है और **क्रा. एसियाटिकम** से छोटी तथा साधारणतः नदी के किनारों तथा डेकन और बंगाल के दलदली भागों में पाई जाती है.

शल्ककंद मितली लाने वाला, वमनकारी, चमड़े को मुलायम करने वाला तथा स्वेदजनक होता है. यह जले घावों, बिटलो तथा ज़हरबाद के उपचार में काम आता है (Kirt. & Basu, IV, 2473).

इसके शल्ककंद मवेशियों के लिए विषैले होते हैं. जानवरों को खिलाकर देखा गया है कि शल्ककंदों में एक विषैला पदार्थ होता है जो जल में अंशतः विलेय है. इस औषध को खाने के 15 मिनट बाद ही कष्टदायक जठरांत्रीय जलन होने लगती है, दम घुटने लगता और हृदय के दाँये भाग में रक्ताधिक्य के कारण शरीर के अनेक आन्तरिक अंगों से रक्तस्राव होने लगता है. इसकी अल्पतम घातक खुराक शरीर के प्रति एक किलोग्राम भार के लिए 1·75 ग्रा. होती है. इस ओषधि का एक निश्चित संचयी प्रभाव भी होता है. पत्तियों में विषैला पदार्थ नहीं पाया जाता (Sastry *et al.*, *Indian J. vet. Sci.*, 1943, **13**, 65).

क्रा. लैटिफोलियम लिनिअस C. latifolium Linn.

ले. – क्रि. लाटिफोलिऊम
Fl. Br. Ind., VI, 283.

सं. – मधुपर्णिका, वृषकर्णी; बं. – सुखदर्सन; त. – विशमुंगिल; महाराष्ट्र – गदमविकन्दा.

यह जाति भी भारतवर्ष में साधारणतया पायी जाती है. शल्ककंद अति तीक्ष्ण होता है. चूर्णित तथा भूंजे शल्ककंद गठिया में रक्तिमाकर की तरह प्रयुक्त होते हैं.

क्रामीरिया लोफलिंग (**लेग्युमिनोसी, पोलीगैलेसी**) KRAMERIA Loefl.

ले. – क्रामेरिआ
D.E.P., IV, 568; Bailey, 1947, II, 1757.

यह मूलतः अमेरिका के गर्म क्षेत्रों की काष्ठमय झाड़ियों अथवा बहुवर्षी बूटियों का एक छोटा-सा वंश है. इसकी कुछ जातियों की जड़ें ओषधीय होती हैं.

क्रा. ट्राइएण्ड्रा रुइज़ लोपेज़ और पैवन पीरू और बोलिविया में पायी जाने वाली, नीचे-नीचे फैलने वाली छोटी झाड़ी है. इस पौधे की सूखी जड़ें पहले ब्रिटिश फार्माकोपिया और अमेरिकी फार्माकोपिया में पेरुवियन रैटेनी और क्रामीरिया मूल (रैडिक्स रैटनी) नामों से मान्य थीं और ये भारत में आयातित बताई जाती हैं. पेरुवियन रैटेनी में एक गँठीला और बहुशीर्ष शिखर होता है तथा बहुसंख्यक शाखादार मूलिकाएँ होती हैं. इसकी छाल मोटी, जड़ की त्रिज्या की तिहाई, होती है और उसे आसानी से छीला जा सकता है. ओषधि गंधहीन होती है; छाल का स्वाद अत्यधिक कषाय होता है परन्तु इसकी लकड़ी प्रायः स्वादहीन होती है.

ओषधि की क्रियाशीलता उसमें विद्यमान एक फ्लोबेटेनिन, क्रामीरिया टैनिक अम्ल (8–9%), के कारण होती है जो मुख्यतः छाल में होता है. ओषधि में विद्यमान अन्य रचक हैं: क्रामीरिया रेड (टैनिन के अपघटन से बना हुआ), रेटानिन (*N*-मेथिल टाइरोसीन, 0·7%), क्रामीरिक अम्ल, स्टार्च, सैकरीन द्रव्य, एक मोम, एक गोंद और कैल्सियम आक्सैलेट. इसकी जड़ों में कुल का 40% टैनिन होता है; इनका उपयोग अन्य टैनिनों के साथ चमड़ा कमाने और उसे गहरा भूरा रंग देने के लिए किया जाता है (B.P., 1948, 302; U.S.D., 1955, 1731; Youngken, 442–44; Trease, 424–25; Wehmer, I, 507; Brady, 592–93; Howes, 1953, 280).

पेरुवियन रैटेनी का उपयोग शुष्क सत्व और टिंक्चर के रूप में स्तम्भक और बल्य की तरह किया गया है. चिरकारी अतिसार और निष्क्रिय रक्तस्राव के उपचार में तथा स्थानिक तौर पर श्वेत प्रदर और नेत्राभिष्यंद में इसका उपयोग सफलतापूर्वक किया गया है. खड़िया मिट्टी अथवा लोहवान के साथ मिलाकर इसका चूर्ण मंजन के रूप में, विशेष रूप से स्पंजी तथा रक्तस्रावशील मसूड़ों के लिए, लाभकारी है. मूत्र असंयति और आर्त्तव विकारों में होने वाले श्लेष्मा विसर्जन के लिए भी इसका उपयोग किया जाता है. रैटेनी और कोकैन युक्त इसकी टिकियाँ खाँसी और गले के व्रणों के लिए लाभकर बताई जाती हैं. टिंक्चुरा क्रामीरिया (पानी से तनु करने के बाद) का उपयोग गले में सूजन होने पर गरारे करने के लिए तथा मुंह सड़ने पर धावक के रूप में किया जाता है. एक्सट्रैक्टम क्रामीरियाइ-सिक्कम की गोलियाँ आन्त्र-स्तम्भक के रूप में दी जाती हैं; अफीम के साथ मिलाकर इसका उपयोग रक्तस्रावशील अथवा भ्रंश अर्श में वर्त्तिका के रूप में किया जाता है. मरहम के रूप में यह घावों के शीघ्र भरने में सहायक है. क्रामीरिया के विरेचन जिलेटिन और लोहे के लवणों के साथ नहीं दिये जाते (Wren, 295; Allport, 209–10; Steinmetz, II, 377; U.S.D., 1955, 1731; B.P.C., 1949, 466).

क्रा. अरजेण्टिया मार्शियस नामक ब्राजीलियन जाति से पैरा-रैटेनी प्राप्त होता है जिसका उपयोग पेरुवियन रैटेनी के स्थान पर किया जाता है. रैटेनी मूल प्रदान करने वाली क्रामीरिया की अन्य जातियाँ हैं: **क्रा. टोमेंटोसा** सेंट हिलरे सिन. **क्रा. इक्सिना** लिनिअस (सैवानिला रैटेनी) और **क्रा. पार्वीफोलिया** बेंथम (रेंज रैटेनी) (Wallis, 357; Trease, 424; Youngken, 442; B.P.C., 1949, 465; U.S.D., 1955, 1731; Wehmer, I, 508; Krochmal *et al.*, *Econ. Bot.*, 1954, 8, 3).

भारतीय सार्सपरिला (**हेमिडेस्मस इंडिकस** आर. ब्राउन से) की जड़ें कभी-कभी रैटेनी के प्रतिस्थापी की तरह प्रयुक्त की जाती हैं. भारतीय सार्सपरिला के बड़े-बड़े टुकड़े कदाचित् पैरा-रैटेनी के छोटे टुकड़ों से मिलते-जुलते हैं. सार्सपरिला के टुकड़े पैरा-रैटेनी के टुकड़ों से अपनी क्यूमैरिन जैसी सुहानी गंध से और अनुप्रस्थ काँटों में अन्तर द्वारा तुरन्त पहचाने जा सकते हैं (Wallis, 358).

Leguminosae; Polygalaceae; K. triandra Ruiz & Pav.; *K. argentea* Mart.; *K. tomentosa* St. Hil.; *K. ixina* Linn.; *K. parvifolia* Benth.; *Hemidesmus indicus* R. Br.

क्रिप्टेरोनिया ब्लूम (सोनेरेटिएसी) CRYPTERONIA Blume

ले. – क्रिप्टेरोनिआ

यह पौधों की पाँच जातियों का वंश है जो उत्तर-पूर्व भारत तथा मलेशिया में पाया जाता है.

Sonneratiaceae

क्रि. पेनिकुलेटा ब्लूम सिन. क्रि. प्यूबेसेन्स ब्लूम C. paniculata Blume

ले.–क्रि. पानिकुलाटा

D.E.P., II, 623; Fl. Br. Ind., II, 574.

असम – गोरु-मोरा; ब्रह्मा – अनम्बो.

यह एक मध्यम आकार का पौधा है जिसकी ऊँचाई 6–7·5 मी. और घेरा 1·5–1·8 मी. होता है. यह असम, बंगला देश तथा ब्रह्मा में पाया जाता है.

इसकी लकड़ी हल्की लाल, लाल-भूरी, सीधी दानेदार, सुन्दर तथा सुगठित होती है और अंतःकाष्ठ अस्पष्ट होता है. यह हल्की (आ.घ., 0·59; भार, 624 किग्रा. प्रति घमी.), मध्यम कठोर तथा पर्याप्त टिकाऊ है. पौधा काटने के बाद इसे शीघ्र ही सिझा लेना चाहिए. यह गृह-निर्माण तथा गाड़ियों के पहिये बनाने के काम आती है. इससे फर्श के लिए तख्ते प्राप्त होते हैं (Pearson & Brown, II, 573).

पत्तियाँ कड़वी होती हैं. नवीन प्ररोहों को इण्डोनेशिया में चावल के साथ मिलाकर उसे सुस्वादु बनाकर खाया जाता है (Burkill, I, 693).

C. pubescens Blume

क्रिप्टोकेरिया आर. ब्राउन (लॉरेसी) CRYPTOCARYA R. Br.

ले. – क्रिप्टोकारिआ

यह सदाहरित वृक्षों तथा झाड़ियों की लगभग 155 जातियों का वंश है जो उष्ण तथा उपोष्ण कटिबन्धी प्रदेशों में पाया

जाता है. इनमें से 15 जातियाँ भारत, श्रीलंका तथा अण्डमान द्वीपों में पाई जाती हैं.
Lauraceae

क्रि. वाइटिआना थ्वेट्स C. wightiana Thw.

ले. – क्रि. विघटिआना
D.E.P., II, 624; Fl. Br. Ind., V, 120.

सं. – नील वृक्ष; त. – पालइ, करिमरम; क. – गुलिमावु; मल. – काटमार्म्पारि; सिंहली – गलमोड़ा, गोल-मोड़ा.

यह एक बड़ा वृक्ष है जो पश्चिमी घाट में कनारा से दक्षिण की ओर तथा श्रीलंका में पाया जाता है.

इसकी लकड़ी हल्की पीली-भूरी, साधारण कठोर, भारी (भार, 704 किग्रा. प्रति घमी.) मध्यम टिकाऊ तथा उपड़ने वाली होती है. यह कड़ियों तथा साधारण इमारती कार्यों में प्रयुक्त की जाती है. इससे दियासलाई के बक्से और तख्ते बनाए जाते हैं.

पत्तियों को पीस कर तथा तेल में उबालकर हाथी पाँव के इलाज में प्रयुक्त किया जाता है. चूर्णित छाल तथा पत्तियाँ गठिया तथा सूजन में लगाई जाती हैं (Rama Rao, 340).

क्रि. एमिग्डेलिना नीस (नेपाल – पटमारो; असम – बोन्सम, खरिका-चापा), एक मँझोला फैले शीर्ष का वृक्ष है जो हिमालय प्रदेश में नेपाल से पूर्व, असम, सिलहट, चटगाँव तथा अण्डमान द्वीपों में पाया जाता है. इससे मजबूत लकड़ी प्राप्त होती है जो पहले चाय के बक्से बनाने में प्रयुक्त होती थी. **क्रि. फेरिया** ब्लूम तथा **क्रि. ग्रिफिथियाना** वाइट ब्रह्मा में पाये जाने वाले इमारती लकड़ी के वृक्ष हैं. पहले की छाल में एक विषैला ऐल्कलायड रहता है और दूसरे का फल विषैला होता है. **क्रि. मेम्ब्रैनेसिया** थ्वेट्स श्रीलंका में पाया जाने वाला वृक्ष है जिससे भारी, सघन दानेदार, धूसर-पीत लकड़ी प्राप्त होती है. यह लकड़ी मध्यम टिकाऊ, आसानी से गढ़ी जाने योग्य और खिड़की के चौखटों तथा तस्वीरों के फ्रेमों के बनाने में प्रयुक्त होती है (Fl. Assam, IV, 50; Burkill, I, 694; Lewis, 323).
C. amygdalina Nees; *C. ferrea* Blume; *C. griffithiana* Wight; *C. membranacea* Thw.

क्रिप्टोकोराइने फिशर (एरेसी) CRYPTOCORYNE Fisch.

ले. – क्रिप्टोकोरिने

यह फैलने वाली प्रकन्द युक्त अकाष्ठिल दलदल में पाये जाने वाले वृक्षों की 54 जातियों का वंश है जो इण्डोमलाया क्षेत्र में पाया जाता है.
Araceae

क्रि. स्पाइरेलिस फिशर एक्स विडलर C. spiralis Fisch. ex Wydler

ले. – क्रि. स्पिरालिस
Fl. Br. Ind., VI, 494.

त. – नाटतीवडायम; ते. – नट्टि-अति-वास.

यह जाति बंगाल, डेकन प्रायद्वीप तथा श्रीलंका में पाई जाती है. इसका प्रकंद अन्य ओषधियों के साथ मिलाकर बच्चों के लिए वमन तथा खाँसी की दवा के रूप में और वयस्कों के लिए ज्वर तथा उदर-विकारों में दिया जाता है. यह कुछ-कुछ वर्तुलाकार होता है तथा इपिकाक से बाह्य समानता रखता है परन्तु इसमें इमेटिन या सिफेलिन नहीं होते. कहा जाता है कि 'ईस्ट इण्डियन इपेकेकुआना या नकली इपेकेकुआना के नाम से यह इंगलैण्ड में प्रविष्ट हुआ है (Kirt. & Basu, IV, 2599; B.P.C., 557).

क्रिप्टोमेरिया डी. डान **(पाइनेसी)** CRYPTOMERIA D. Don

ले. – क्रिप्टोमेरिआ

यह एकल प्ररूपी इमारती लकड़ी प्रदान करने वाला वंश है जो जापान तथा चीन में पाया जाता है.
Pinaceae

क्रि. जैपोनिका (लिनिअस पुत्र) डी. डान C. japonica (Linn. f.) D. Don जापानी देवदार

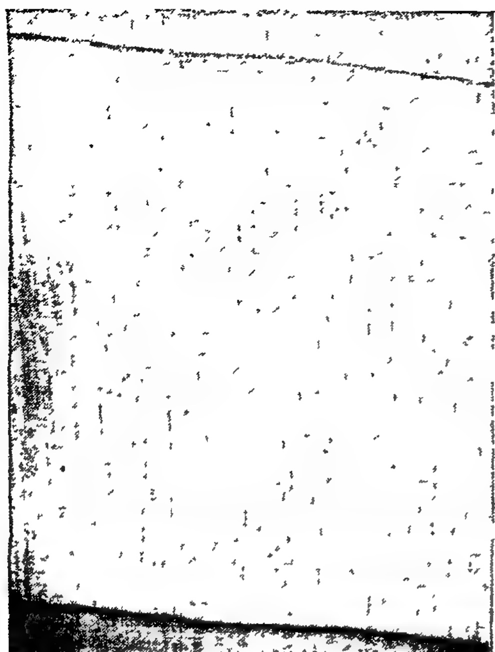
ले. – क्रि. जापोनिका
D.E.P., II, 624.

नेपाल – धूपी.

यह विशाल, सुन्दर, सदाहरित पौधा है जिसकी पत्तियाँ आकर्षक होती हैं. यह भारत में बाहर से लाया गया है. प्राकृतिक आवास में इसकी ऊँचाई लगभग 45 मी. तथा घेराव 6–7·5 मी. तक होता है. जापान में इसकी खेती इमारती लकड़ी तथा वनरोपण के लिए की जाती है.

क्रि. जैपोनिका सामान्यत: पश्चिमी हिमालय, शिमला, दार्जिलिंग, असम, नीलगिरि, तथा अन्य पहाड़ी स्थानों में उगता है. यह पश्चिमी हिमालय तथा शिमला में उतनी अच्छी तरह से नहीं उगता जितना कि सुदूर-पूर्वी क्षेत्रों के पर्वतों में. यह दार्जिलिंग पहाड़ियों में प्राकृतिक रूप से नम मिट्टी पर 1,200–2,100 मी. की ऊँचाई पर भली-भाँति उगता है. इन ऊँचाइयों के बाहर इसका विकास रुक जाता है, दार्जिलिंग में 50 वर्ष के पुराने पौधों की ऊँचाई 23·4 मी. तथा घेरा 2·1 मी. तक पाया गया है. इस पौधे को काँगड़ा तथा उत्तर प्रदेश के जौनसार क्षेत्र में उगाने के प्रयास विफल रहे हैं (Troup, III, 1168).

क्रिप्टोमेरिया आर्द्र तथा शीतल जलवायु में, जहाँ वर्षा अच्छी होती हो, उपजाऊ मिट्टी में खूब उगता है. इसका प्रवर्धन बीजों द्वारा किया जाता है जिन्हें लकड़ी की राख महीन मिट्टी या पत्तियों की फफूँदी के साथ मिश्रित करके ढके स्थानों में बो कर प्रतिदिन सिंचाई की जाती है. बीज 3 या 4 सप्ताहों में अंकुरित हो जाते हैं. जून के महीने में चारों ओर 7·5–10 सेंमी. स्थान छोड़कर इनको छोटे-छोटे गड्ढों में रोप देते हैं. तीन माह बाद आच्छादन हटा दिया जाता है और जून या दिसम्बर–जनवरी में चारों ओर 1·8 मी. जगह छोड़ कर तीन साल की आयु की पौधों को दूसरे खेत में प्रतिरोपित कर देते हैं (Homfray, *Indian For.*, 1935, **61**, 500).



चित्र 88 – क्रिप्टोमेरिया जैपोनिका (बंगाल) के काष्ठ की अनुप्रस्थ काट (×5)

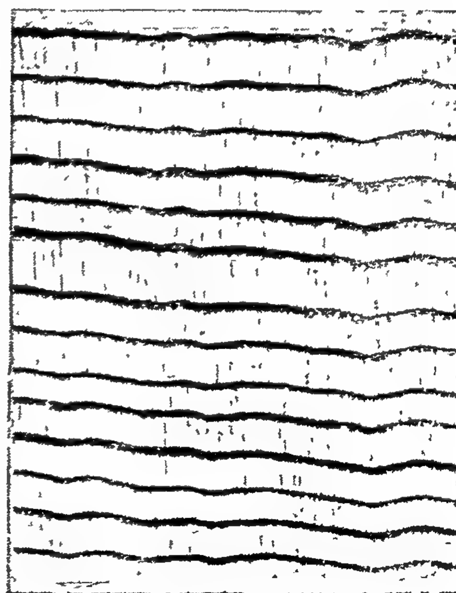
टहनियों की कलम द्वारा पौधे उगाने का कार्य भारत में सफल नहीं हुआ. अन्य देशों में α-पाइरोलऐसीटिक अम्ल तथा हेटेरोऑक्सिन आदि वृद्धिकारकों का प्रयोग क्रिप्टोमेरिया की कलमों की जड़ों की वृद्धि के त्वरण के लिए सफलतापूर्वक किया गया है. अभी तक भारत मे ऐसे प्रयास नहीं हुए हैं. क्रिप्टोमेरिया को **माइकेलिया एक्सेल्सा** ब्लूम या **एल्नस नेपालेन्सिस** डी. डान, जैसी अन्य जातियो के साथ मिश्रित करके उगाने के प्रयोग किए गए हैं. इससे पौधो का विकास इतनी तेजी से हुआ कि लकड़ी अधिक नर्म बन गई जो अनेक कार्यो के लिए निरर्थक है. अच्छी लकडी प्राप्त करने के लिए मन्द गति से वृद्धि होनी चाहिए, अतः यह पाया गया कि शुद्ध घने प्रतिरोपण से अधिक अच्छे फल प्राप्त होते है इसलिए 1918 से शुद्ध पौधों का ही प्रतिरोपण हो रहा है (*Chem. Abstr.*, 1947, **41**, 4546).

उच्च मूल्य वाली तथा अधिक मात्रा मे निर्यातित होने वाली जापानी लकड़ी (भार, 480 किग्रा. प्रति घमी.) मे प्रति सेमी. 4–5 वलय रहते है जबकि भारतीय लकड़ी मे कठिनाई से एक वलय होता होगा. शुद्ध प्रतिरोपित पौधों मे भी, जिन्हें अधिकतम लकडी की आशा से उगाया जाता है, केवल 5–6 वलय प्रति 4 सेमी. देखे गए हैं. यह देखा गया है कि भारत में उत्पादित लकड़ी की गुणता पर, ऊँचाई पर रोपण का तथा खुले या बन्दावरण मे उगाने का कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ता है (Homfray, loc. cit.).

भारतीय लकड़ी नरम, हल्की (भार, 256 किग्रा. प्रति घमी.) तथा सुगंधित होती है. रस-काष्ठ सफेद होता है और अंतःकाष्ठ लाल-भूरा और कभी-कभी जापान के पुराने पौधो की तरह काला होता है. लकड़ी के रूप में इसकी तुलनात्मक उपयोगिता के आँकड़े जो सागौन के समान गुणों के प्रतिशत के रूप मे ज्ञात किये गये है, इस प्रकार हैं: भार, 40; कड़ी के रूप में सामर्थ्य, 25; कडी के रूप मे कठोरता, 20; खम्भे के रूप मे उपयुक्तता, 25; घात-प्रतिरोधकता, 35; रूप-धारण-क्षमता, 70; अपरूपण, 50; तथा कठोरता, 20 (Trotter, 1944, 242).

जापान मे यह लकड़ी पटरी, नाँद, पीपे तथा भवन-निर्माण और लकड़ी के सामान बनाने के लिए बडे पैमाने पर प्रयुक्त होती है. बंगाल की लकड़ी जापानी लकड़ी की अपेक्षा घटिया होती है. इसको चीरना तथा रंदा करना अपेक्षाकृत सरल है और यह सस्ते खिलौने, हल्की पेटियाँ तथा विभाजक पर्दो के बनाने मे काम आती है. यह छिलने के लिए या प्लाइवुड के लिए बेकार है. उचित रासायनिक उपचार के बाद इससे बोतलों के कार्क तथा क्राउन लाइनर बनाए जा सकते है. प्रारंभिक खोजो से पता चला है कि यह कागज की लुगदी बनाने के लिए सन्तोषजनक सामग्री है (Troup, III, 1167; Howard, 565; Narayanamurti *et al.*, *Indian For. Leafl.*, No. 6, 1941; *For. Abstr.*, 1946, **7**, 497).

क्रि. जैपोनिका की लकड़ी भाप-आसवन से एक वाष्पशील तेल (लगभग 1·5%) देती है, जो सूगी तेल या जापानी



चित्र 88(अ) – क्रिप्टोमेरिया जैपोनिका (जापान) के काष्ठ की अनुप्रस्थ काट (×5)

देवदारु की लकड़ी का तेल कहलाता है. इसके लक्षण निम्नलिखित हैं: वि.घ., 0·9453; $[\alpha]_D$, —23°1′; और एस्टर संख्या, 3·81. यह एक गाढ़ा हरिताभ द्रव है जिसमें लगभग 40% सेस्क्वीटर्पीन ऐल्कोहल रहते हैं. प्रधान सेस्क्वीटर्पीन कदाचित् कैडिनीन है, और ऐल्कोहलों में से क्रिप्टोमेरिओल ($C_{15}H_{25}OH$) एक है. शोधित सूगी तेल में तेज सुगन्ध होती है और वह 90% ऐल्कोहल के 14 आयतनों में विलेय है (Finnemore, 10; Wehmer, I, 44; *Chem. Abstr.*, 1930, **24**, 2237).

इसकी पत्तियों से प्राप्त वाष्पशील तेल (उपलब्धि, 0·7%) तीव्र गन्धवान, भूराभ पीला द्रव है: वि.घ.$_{15·5°}^{15·5°}$, 0·9217; $[\alpha]_D^{15°}$, 19·29° (10% क्लोरोफार्म विलयन); $n_D^{20°}$, 1·4895; अम्ल मान, 1·0; एस्टर मान, 6·5; ऐसीटिलीकरण के बाद एस्टर मान, 14·35. इसके रचक हैं: टर्पीन (मुख्यतया डाइपेण्टीन), 34; सेस्क्वीटर्पीन (मुख्यतया वह जिसका क्व.वि., 266–68° है), 30; ऐल्कोहल, $C_{10}H_{18}O$, 4·5; क्रिप्टोमेरीन, 18; और सेस्क्वीटर्पीन ऐल्कोहल, 12%. *d-α*-पिनीन, कैडिनीन, α-क्रिप्टोमेरीन और एक लैक्टोन ($C_{20}H_{30}O_2$) की उपस्थिति का उल्लेख है (Finnemore, 11).

इसकी छाल में 6% टैनिन और एक वाष्पशील तेल होता है. तेल में एक सेस्क्वीटर्पीन और उससे संगत ऐल्कोहल रहता है (Finnemore, loc. cit.).

क्रि. जैपोनिका से एक रेज़िन प्राप्त होता है, जिसमें से क्रिप्टोपिमेरिक अम्ल, $C_{20}H_{30}O_2$ (ग.वि., 159–61°), और एक फीनॉली कीटोन, $C_{20}H_{28}O_2$ (ग.वि., 283–84°), पृथक् किए गए हैं (*Chem. Abstr.*, 1937, **31**, 3932; 1940, **34**, 5848).

Michelia excelsa Blume; *Alnus nepalensis* D. Don

क्रिप्टोलिपिस आर. ब्राउन (एस्क्लेपिएडेसी)
CRYPTOLEPIS R. Br.

ले. – क्रिप्टोलेपिस

यह यमलक अरोमिल झाड़ियों की 28 जातियों का एक वंश है जो पुरानी दुनियाँ के उष्णकटिबन्धीय प्रदेशों में पाया जाता है.
Asclepiadaceae

क्रि. बुखनानी रोइमर और शुल्ट्ज़े C. buchanani Roem. & Schult.

ले. – क्रि. बुख़ानानी

हिं. – करन्ता; ते. – अदाविपल्ला टिगे.

यह एक आरोही पौधा है जो पूरे भारत तथा श्रीलंका में पाया जाता है. इससे रेशा प्राप्त होता है जो तमिलनाडु में विजयानगरम् की पहाड़ी जातियों द्वारा रस्सा तथा एक प्रकार का कपड़ा बनाने के लिए प्रयुक्त होता है.

इस पौधे से रबड़-क्षीर मिलता है जिसकी रचना निम्नलिखित है: जल तथा जल-विलेय पदार्थ, 42·4%; कूचुक, 6·5%; स्कन्द में कूचुक, 11·3; रेज़िन, 47·6; तथा अविलेय पदार्थ, 41·1%. देहरादून से प्राप्त एक दूसरे रबड़-क्षीर के नमूने के विश्लेषण से जो परिणाम मिले वे इस प्रकार हैं: जल तथा जल-विलेय पदार्थ, 47·1; तथा कूचुक, 6·3%; इसके स्कन्द में कूचुक, 11·8; रेज़िन, 72·6; तथा अविलेय पदार्थ, 15·6% (Budhiraja & Beri, *Indian For. Leafl.*, No. 70, 1944).

क्रिप्टोस्टेजिया आर. ब्राउन (एस्क्लेपिएडेसी)
CRYPTOSTEGIA R. Br,

ले. – क्रिप्टोस्टेगिआ

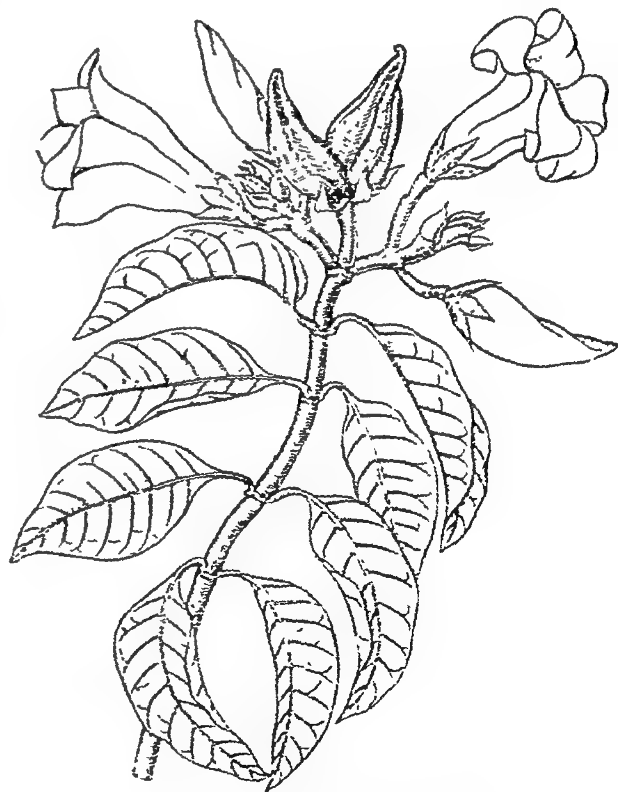
यह काष्ठमय आरोहियों का अत्यन्त लघु वंश है जो उष्णकटिबन्धी अफ्रीका तथा मेडागास्कर का मूलवासी है. भारत में **क्रि. ग्रैण्डीफ्लोरा** काफी समय पूर्व लायी गयी बताई जाती है.
Asclepiadaceae

क्रि. ग्रैण्डीफ्लोरा आर. ब्राउन C. grandiflora R. Br.

ले. – क्रि. ग्रांडिफ्लोरा
D.E.P., II, 625; Fl. Br. Ind., IV, 6.

म. – विलायती वाखण्डी; त. – पालाई, गरुडापालाई; मल. – पाला.

यह जाति समस्त भारत में पाई जाती है और प्रायः शोभाकारी पौधे के रूप में इसे उगाया जाता है. द्वितीय विश्वयुद्ध के कुछ वर्षों तक इस पौधे से रबड़ बनाने के अनेक प्रयत्न किए गए किन्तु सफलता नहीं मिल सकी.



चित्र 89 – क्रिप्टोस्टेजिया ग्रैण्डीफ्लोरा

क्रि. ग्रैण्डीफ्लोरा विभिन्न प्रकार की मिट्टियों में उगती है. यह शुष्क तथा अर्धशुष्क जलवायु में, 12·5–62·5 सेंमी. की वर्षा और 450 मी. की ऊँचाई तक जंगली रूप में उगती है. सम्भवत: अच्छे जल-निकास वाली हल्की ढालू मिट्टी, 300 मी. की ऊँचाई तथा 150 सेंमी. वर्षा इसके लिए सबसे उपयुक्त है. इसका प्रवर्धन बीज और कलम दोनों से किया जा सकता है, परन्तु पहली विधि ही साधारणतया अपनाई जाती है. समान अंकुरण के लिए बीजों को बोने से पहले पानी में भिगो देते हैं और हल्के, न उगने योग्य तथा क्षति-ग्रस्त बीजों को, जो सतह पर तैरने लगते हैं, पृथक् कर देते हैं. पौध को नर्सरी में उगाते हैं अथवा वर्षा होने से पूर्व बीजों को सीधे खेत में ही बो देते हैं. नर्सरी में पौध उगाने के लिए एक किग्रा. बीज प्रति 0·01 हेक्टर भूमि में बोना ठीक होता है जिससे 3·5–8 हेक्टर भूमि के लिए पर्याप्त पौधें मिल जाती हैं. मानसून की प्रथम निश्चित वर्षा के पश्चात्, जब पौध की आयु लगभग 6 सप्ताह की होती है, प्रतिरोपण कर दिया जाता है. पौधा तेजी से बढ़ता है और उसमें सामान्य पत्रयुक्त तने के अतिरिक्त लम्बे और सीधे प्ररोह निकल आते हैं जो 3–6 मी. लम्बे होते हैं. इन्हें कमची कहते हैं (Griffith, *Indian For. Leafl.*, No. 64, 1944; Viswanath, *J. sci. industr. Res.*, 1942–43, **1**, 335).

तने की लकड़ी को छोड़कर पौधे के प्रत्येक भाग में रबड़ पाई जाती है. रबड़ के लिए विभिन्न ऊतकों के विश्लेषण से निम्नलिखित मान पाए गए हैं: **पुराना पौधा** – तने (व्यास, 2·5 सेंमी.), 0·39; जड़ें, 2·36; टहनियाँ (व्यास, 0·3 सेंमी.), 0·28; **नया पौधा** – तने (व्यास, 0·26 सेंमी.), 1·26; परिपक्व हरी पत्तियाँ, 4·53; परिपक्व पीली पत्तियाँ, 4·31; शुष्क गिरी हुई पत्तियाँ, 1·59%. साधारणतया रबड़ की मात्रा ऋतु, मिट्टी तथा पौधे की आयु तथा उसके ऊतक पर निर्भर करती है. अन्य भागों की अपेक्षा पत्तियों में रबड़ अधिक होता है. **क्रि. ग्रैण्डीफ्लोरा** तथा **क्रि. मैडागास्करिएंसिस** बोजर से उत्पन्न संकर पौधे की पत्तियों में से इनके मूल पौधे की पत्तियों की अपेक्षा रबड़ की अधिक मात्रा प्राप्त होती है. संकर पौधे की परिपक्व पत्तियों में रबड़ की मात्रा 8·6% तक पाई गई है (Viswanath, loc. cit.; Polhamus *et al.*, *Tech. Bull.*, *U.S. Dep. Agric.*, No. 457, 1934).

पत्तियों में रबड़ की प्रमुख मात्रा वाहिनी तंत्र से सर्वथा पृथक् पर्णमध्योतक हरित ऊतक की क्षीरहीन **गोलिकाओं** में होती है. गोलिकाओं का विशेष सम्बन्ध क्लोरोफ़िल की उपस्थिति से है, क्योंकि ये पूर्ण परिपक्व पत्तियों की खंभ कोषिकाओं में सबसे बड़े आकार और अधिक संख्या में पाई जाती हैं. यद्यपि हरित-ऊतक-रबड़ में सिस-पालीआइसोप्रीन आणविक रचना होती है, फिर भी क्षीरवाहिनी रबड़ की अपेक्षा इसका अणुभार कम होता है. गोलिकाओं में लगभग 65% रबड़ हाइड्रोकार्बन और 35% ऐसीटोन-विलेय रेज़िन रहते हैं (Whittenberger & Kelner, *Amer. J. Bot.*, 1945, **32**, 619).

कमचियों से स्रवण द्वारा रबड़-क्षीर एकत्र किया जाता है. कमची की छाल में आयु के साथ-साथ रबड़ की मात्रा भी बढ़ती रहती है. 3–4 मिमी. व्यास की नरम कमचियों की मज्जा में 75% तक रबड़ होता है, किन्तु लगभग 17 मिमी. या अधिक व्यास की कमचियों की छाल में 74% रबड़ रहता है.

पौधे के विभिन्न भागों से रबड़ निकालने की तरह-तरह की विधियाँ प्रयुक्त की गई हैं. कमची-स्रवण में कमची का सिरा काट दिया जाता है और रबड़-क्षीर के टपकने पर कटे हुए सिरे को एक लकड़ी या काँच के पात्र में लगा दिया जाता है. लगभग 2 मिनट पश्चात् टपकना बंद हो जाता है और कटे हुए सिरे पर स्कंदित रबड़-क्षीर का प्लग बन जाता है. यदि कमची का लगभग एक इंच लम्बा भाग फिर काट दिया जाए, तो रबड़-क्षीर फिर से टपकने लगता है और प्लग बन जाता है. एक कमची में एक दिन में 4 या 5 बार कटनी की जा सकती है. इसके पश्चात् रबड़-क्षीर का प्रवाह बंद हो जाता है. रबड़-क्षीर तथा प्लग दोनों को एकत्रित करके रबड़ प्राप्त करने के लिए संसाधन किया जाता है. रबड़-क्षीर तीन दिन में एक बार सरलतापूर्वक निकाला जा सकता है. निष्पत्रण काल में क्षीर नहीं निकालना चाहिए. चाहे जिस भी विधि से क्षीर निकाला जाए, क्षीर का पुनरुद्भवन तीव्र होता है.

रबड़-क्षीर (5% स्कंद पदार्थ) का पी-एच 4·6 से 5·6 तक होता है. 4·0 से 7·5 पी-एच परिसर में रबड़-क्षीर स्थायी है. इससे ऊपर किसी भी पी-एच पर यांत्रिक विलोडन द्वारा अथवा कैल्सियम क्लोराइड, सोडियम क्लोराइड या अमोनिया के मिलाने पर या केवल गर्म पानी में तनु करने पर ही स्कंदन किया जा सकता है. रबड़-क्षीर की 1 मात्रा में 10 मात्रा जल मिला देने पर स्कंदन हो जाता है. स्कंद का 98% भाग रबड़, रेज़िन तथा प्रोटीन होता है; शेष सीरम में कुल ठोस पदार्थ 8% रहता है. विभिन्न स्थानों से प्राप्त स्कंद के नमूनों में औसतन 80% रबड़ तथा 10% रेज़िन पाया गया है. 2·9 किग्रा. रबड़-क्षीर से 15·5 सेंमी. × 10·6 सेंमी. × 1 सेंमी. माप की 148·5 ग्रा. भारी रबड़ की चादर बनाई जा सकती है. प्लग से रबड़ प्राप्त करने के लिए पृथक् संसाधन किया जा सकता है. यदि एक हेक्टर भूमि में 10,000 पौधे हों, जिनमें प्रत्येक में क्षीर निकालने योग्य 62 प्ररोह हों तथा एक वर्ष में 50 बार क्षीर निकाला जा सके, तो प्लग से प्रति हेक्टर प्रति वर्ष 275 किग्रा. रबड़ उत्पन्न हो सकती है. संग्रह का मूल्य अधिक पड़ता है, और जब तक रबड़-क्षीर का उत्पादन और रबड़-क्षीर में रबड़ की सांद्रता को संशोधित विधियों द्वारा बढ़ाया नहीं जाता, **क्रिप्टोस्टेजिया, हेविया** की तुलना नहीं कर सकती जो कम खर्चीली है (Budhiraja, *Curr. Sci.*, 1943, **12**, 154; Viswanath, loc. cit.).

क्रिप्टोस्टेजिया से रबड़ प्राप्त करने के लिए विलायक-निष्कर्षण-विधि आर्थिक दृष्टि से खर्चीली समझी जाती है. पूर्व जल-अपघटन होने या न होने पर बारीक पीसे हुए पदार्थ को अधिक दाब वाली भाप से अभिकृत करने का प्रयत्न किया गया है. इस विधि को अपनाने पर पौधे के विभिन्न ऊतकों से निम्नलिखित प्रतिशतता में रबड़ प्राप्त होती है: मज्जा, 0·96; छाल, 0·07; टहनियाँ, 0·19%. व्हाइट तथा सहयोगियों ने पत्तियों से रबड़ प्राप्त करने के लिए किण्वन के पूर्व-उपचार का विकास किया है. **क्रिप्टोस्टेजिया** ऊतकों के अपघटन हेतु ऑक्सी-किण्वन तथा रबड़ की पुन: प्राप्ति की सम्भावनाओं का अध्ययन हुआ है. यांत्रिक पेषण और प्लवन से उपयोगी फल प्राप्त हुए

हैं. वैज्ञानिक तथा औद्योगिक अनुसंधान परिषद् की प्रयोगशालाओं में टहनियों से रबड़ निकालने की विधि ज्ञात की गई है. प्रथम, काटी हुई, थोड़ी सूखी टहनियों को, खौलते हुए तनु सोडियम हाइड्रॉक्साइड विलयन (0·3–0·4%) में 4 घण्टे तक पड़ा रहने देते हैं. पके हुए पदार्थ को जल से धोकर, उसका पी-एच 9·0–9·5 पर स्थिर कर लिया जाता है. बाल मिल में 3 घण्टा पीस कर तथा पेषित सामग्री को 10 गुने जल के साथ मथ कर ऊपर तैरती रबड़ को छान लिया जाता है. यदि बाल मिल के घान में *p*-फेनिलीन डाइऐमीन (0·01–0·5% सान्द्रता) मिला दिया जाए, तो उत्पाद का रंग सुधर जाता है. इस प्रकार टहनियों में उपस्थित कुल रबड़ का 88·9% उपलब्ध हो जाता है. पत्तियों से रबड़ निकालने के लिए कुछ कम सूखे पदार्थ को जल के साथ, जिसमें एक प्रति-ऑक्सिकारक तथा पृष्ठ सक्रिय पदार्थ मिला होता है, पीस लिया जाता है. पिसे पिंड से रबड़ को प्लवन द्वारा पृथक् कर लेते हैं. कहते हैं कि इससे मात्रात्मक उपलब्धि प्राप्त होती है. ये प्रक्रम पेटेण्ट हो चुके हैं (Viswanath, loc. cit.; *Chem. Abstr.*, 1945, **39**, 3037; Siddiqui & Rao, *J. Indian chem. Soc., Ind. & News Edn*, 1945, **8**, 18; Bhatnagar *et al.*, *J. sci. industr. Res.*, 1944–45, **3**, 263, 441; 1945–46, **4**, 654; *Indian Patent*, No. 32352, 1945; 32971, 1947).

क्रिप्टोस्टेजिया की रबड़ के गुण **हेविया** की रबड़ के तुल्य हैं. यदि रबड़ 100, सल्फर 3, मरकैप्टो-बेंजोथायजोल 1, स्टीऐरिक अम्ल 1, जिंक ऑक्साइड 2, और कार्बन 40 के मिश्रण को वल्कनित किया जाता है तो **क्रिप्टोस्टेजिया** रबड़ से जो वल्कनीकृत पदार्थ प्राप्त होगा उसके तनन गुण, काल-प्रभावन के पहले तथा बाद में, उतने ही अच्छे हैं जितने कि **हेविया ब्राजीलिएन्सिस** म्यूलर रबड़ के होते हैं. इसमें अम्ल की मात्रा कम होने के कारण वल्कनीकरण के बाद वांछित गुण लाने के लिए अम्ल मिलाना आवश्यक होता है. यह ऑक्सिकरण के प्रति संवेदनशील है अतः संसाधन की प्रारम्भिक अवस्था में प्रति-ऑक्सिकारक मिलाने की संस्तुति की जाती है. साधारणतया **क्रिप्टोस्टेजिया** के वल्कनीकृत पदार्थ में, धूमित-चद्दरी-वल्कनीकृत पदार्थ की तुलना में न्यून तनन-सामर्थ्य, प्रतिक्षेपक लचक, अपघर्षक प्रतिरोध, ऊष्मा-पोषण और अधिक वितान्यता पाई जाती है. इसमें दरारें भी कम पड़ती हैं. **क्रिप्टोस्टेजिया** रबड़ ब्यूटाडाईन-स्टाइरीन-सह-बहुलक रबड़ के योग रूप में **हेविया** रबड़ के समान है (*Chem. Abstr.*, 1946, **40**, 3919; 1943, **37**, 6489).

रबड़ के अतिरिक्त, **क्रिप्टोस्टेजिया** की पत्तियों में 1·3 से 1·5% मोम (ग.बिं., 222–30°) होता है. ऐल्कोहलीय पोटैश से साबुनीकरण करने पर मोम से असोलिक अम्ल बनता है. साबुनीकृत द्रव्य के उदासीन प्रभाज में पैराफिन हाइड्रोकार्बन मिश्रित रहते हैं. स्टुवर्ट और हमर ने सूखे रबड़-क्षीर से एक अज्ञात ऐल्कोहल-विलेय क्रिस्टलीय पदार्थ पृथक् किया है. विभिन्न रबड़-क्षीरों की जाँच करने पर ज्ञात हुआ है कि क्रिस्टलीय पदार्थ और सम्पूर्ण हाइड्रोकार्बन तथा अविलेय द्रव्यों की सान्द्रता में सरल प्रतिलोमी सहसम्बन्ध है. बीजों में एक कम सूखने वाला स्थिर तेल (10·8%) पाया जाता है. इसके स्थिरांक इस प्रकार हैं: आ.घ.$^{35°}$, 0·9137; $n^{36·5°}$, 1·4638; साबु. मान, 181·89; सूखने के पश्चात् साबु. मान, 250·67; आर. एम. संख्या, 0·9; पोलेन्स्के संख्या, 0·6; आयो. मान, 112·88; सूखने के पश्चात् आयो. मान, 48·71; अम्ल मान, 5·81; 110° पर 3 मिनट रखने के पश्चात् अम्ल मान, 19·72; ऐसीटिल मान, 7·61; तथा असाबु. पदार्थ, 3·90%. तेल में ओलीक अम्ल, 38·45; लिनोलीक अम्ल, 27·61; पामिटिक अम्ल, 8·65; स्टीऐरिक अम्ल, 9·48; तथा ऐराकिडिक अम्ल, 3·74% पाये जाते हैं. बीजों में स्थिर तेल के अतिरिक्त रबड़ 4·7% और रेज़िन 17·5% होता है (*Chem. Abstr.*, 1945, **39**, 3037; *Bot. Gaz.*, 1944–45, **106**, 333; Siddiqui & Warsi, *Indian J. Pharm.*, 1945, **7**, 75).

क्रिप्टोस्टेजिया के रेज़िन सभी ऊतकों में पर्याप्त मात्रा में पाये जाते हैं किन्तु अभी तक ये ज्ञात नहीं हो सके. इनका आर्थिक मूल्य भी नहीं आँका जा सका है. छाल से प्रचुर मात्रा में रेशा प्राप्त होता है (औसत लम्बाई, 30 मिमी.), जिसमें प्रचुर सेलुलोस होता है. यह व्यवसायिक उपयोग में लाया जा सकता है. 1903 में प्रायोगिक-स्तर पर तैयार किये गये रेशे की जाँच इम्पीरियल इंस्टीट्यूट, लंदन में की गई थी. यह मछलियों की बंसी बनाने के लिए उपयुक्त है (Burkill, I, 694).

C. madagascariensis Bojer; *Hevea; Hevea brasiliensis* Muell. Arg.

क्रिसैन्थेमम लिनिअस (**कम्पोजिटी**) CHRYSANTHEMUM Linn.

ले. – क्रिसान्थेमूम

एक प्रकार से यह सर्वदेशीय वंश है जिसमें बूटियों तथा झाड़ियों की लगभग 300 जातियाँ सम्मिलित हैं जिनमें से कुछ से व्यापारिक कीटनाशी पाइरेथ्रम का उत्पादन होता है. **क्रि. सिनेरेरिईफोलियम** से डालमाशियन पाइरेथ्रम तथा **क्रि. कोक्सीनियम** से ईरानी कीट पाउडर तैयार किया जाता है. प्रथम दो जातियों का भारत में भी प्रचार हो गया है. देश के कुछ भागों में इनकी खेती की जा रही है. पाइरेथ्रम शब्द का प्रयोग प्रायः इन तीनों जातियों में से किसी के भी सुखाये पुष्प-मुण्डकों के लिए किया जाता है.

क्रिसैन्थेमम की बहुत-सी जातियाँ शोभाकारी हैं और उद्यानों में अपने बड़े-बड़े भड़कीले और बहुरंगी फूलों के लिये उगाई जाती हैं.

Compositae

क्रि. इण्डिकम लिनिअस C. indicum Linn.

ले. – क्रि. इंडिकूम

D.E.P., II, 272; Fl. Br. Ind., III, 314.

सं. – सेमन्ती; हिं. – गुलदाउदी; उर्दू – गुलेदाउदी; म. – शेवती; त. – अक्करक्कारम; ते. – चामन्ति; क. – सेवन्तिगे.

पंजाब – गेंदी, बगोर.

यह चीन और जापान की मूलवासी जाति समझी जाती है. यह अपने बहुरंगी शोभाकारी फूलों के लिए भारत के बगीचों में विस्तृत रूप से उगाई जाती है.

इसके फूल में एक तेज कड़वा स्वाद होता है और यह क्षुधावर्द्धक तथा मृदुविरेचक समझा जाता है. हिंद-चीन में इसकी पत्तियाँ विशोधक समझी जाती हैं और माइग्रेन में दी जाती हैं. फूलों के निष्कर्षों में कीटनाशक गुण नहीं पाया जाता (Kirt. & Basu, II, 1380).

फूलों के रंजक पदार्थ अधिकतर कैरोटिनायड हैं. लाल किस्म में क्रिसैन्थेमन पाया जाता है और पीली किस्म में फ्लैवोन रंजक, लुटिग्रोलिन, जो इसके ग्लूकोसाइड के रूप में रहता है. बीजों में 15·8% एक कम सूखने वाला तेल [अम्ल मान, 93·2; साबु. मान, 200·5; एस्टर मान, 107·2; और आयो. मान (हुब्ल), 124·2] होता है (Rao, *Proc. Indian Acad. Sci.*, 1942, **15A**, 123; Wehmer, II, 1238; *Chem. Abstr.*, 1940, **34**, 6767).

फूलों में आकर्षक विशाल **क्रिसैन्थेमम** (**क्रि. मोरीफोलियम** रामातुयेल्ले सिन. **क्रि. साइनेन्से** सेबिने; **क्रि. होर्टोरम** बेली) इस वंश की जातियों के बीच अनेक किस्मों और संकरों के मेल से उत्पन्न किया गया है. बहुत-सी उद्यानी नस्लों में मुण्डक के सब फूल किरण पुष्पकों और कभी-कभी नलिका पुष्पकों में परिवर्तित हो गए हैं.
C. morifolium Ramat.; *C. sinense* Sabine; *C. hortorum* Bailey

क्रि. कोक्सीनियम विल्डेनो सिन. क्रि. रोजिअम एडमसन C. coccineum Willd.

ले. – क्रि. कोक्सीनेऊम
Bailey, 1947, I, 757.

इस जाति का मूल स्थान ईरान है और यही व्यापारिक ईरानी पाइरेथ्रम का स्रोत भी है. असम में यह सीमित पैमाने पर ही उगायी जाती है. इसकी अनेक उद्यान संबंधी जातियाँ पायी जाती हैं. इसकी खेती सामान्यतः शोभाकारी पौधे के रूप में की जाती है.

पुष्प-मुण्डक कुछ चपटे तथा डालमाशियन जाति के मुण्डकों के ही आकार के होते हैं. सहपत्र हरिताभ अथवा गहरा भूरा होता है. रश्मि-पुष्पक लालभ भूरे अथवा रक्ताभ नील-लोहित होते हैं. ऐकीन 10 शिराओं वाले होते हैं. यह जाति 1,800–2,100 मी. की ऊँचाई पर खूब फलती-फूलती है. इससे **क्रि. सिनेरैरिईफोलियम** की अपेक्षा जल्दी उपज मिलने लगती है और रोगों का भी प्रभाव कम पड़ता है. किन्तु उपज और बीज कम मिलते हैं.

ईरानी कीट-चूर्ण का रंग हल्का भूरा होता है और यह डालमाशियन चूर्ण की अपेक्षा कम सक्रिय होता है. मरी की पहाड़ियों में उगाये गये पौधों के खुले मुण्डकों में सक्रिय अवयवों की 0·25% मात्रा होने का उल्लेख है (Bal, loc. cit.).
C. roseum Adam.

क्रि. कोरोनैरियम लिनिअस C. coronarium Linn.

ले. – क्रि. कोरोनारिऊम
D.E.P., II, 272; C.P., 294; Fl. Br. Ind., III, 314.

सं. – चन्द्रमल्लिका, शेवान्तिका; हिं. तथा बं. – गुलदाउदी; म. – गुलेस्वाती, तुर्सीफल; त. – शमांतिप्पु; ते. – चमान्ति; क. – शेवान्ति.

महाराष्ट्र – सेवती; पंजाब – बगौर, ज़ायनिल.

इसका मूल स्थान भूमध्यसागरी क्षेत्र है. भारत में इसकी खेती शोभाकारी फूलों के लिए की जाती है. अरे, नीबू जैसे पीले अथवा लगभग सफेद होते हैं.

असम में कोमल प्ररोहों की तरकारी बनाई जाती है. फूलों को एक सुगंधित तिक्त तथा पाचक कैमोमील (**एंथेमिस नोबिलिस**) के काम चलाऊ प्रतिस्थापी के रूप में प्रयुक्त किया जाता है. छाल रेचक होती है (Kirt. & Basu, II, 1381).
Anthemis nobilis

क्रि. सिनेरैरिईफोलियम (ट्रेविसन) वाक. सिन. पाइरेथ्रम सिनेरैरिईफोलियम ट्रेविसन C. cinerariaefolium (Trev.) Bocc.

ले. – क्रि. सिनेरारिएफोलिऊम

यह नील-हरित वर्ण की बहुवर्षी बूटी है जिसकी ऊँचाई 45–60 सेंमी. होती है. इसकी पत्तियाँ सुन्दर ढंग से कटी हुई होती हैं और अनेक पुष्प-मुंडक, जिनके व्यास बन्द रहने पर 6–9 मिमी. तथा खुले रहने पर 9–12 मिमी. तक होते हैं. प्रत्येक पुष्प-मुण्डक 4–8 मिमी. व्यास वाले आधार-पात्र पर खिलता है और अनेक पीले बिम्ब पुष्पक श्वेत या क्रीम रंग के रश्मि-पुष्पकों के घेरे से घिरे रहते हैं. ऐकीनों में 5 शिरायें रहती हैं. **क्रि. सिनेरैरिईफोलियम** से **क्रि. कोक्सीनियम** की अपेक्षा पुष्प-मुण्डकों एवं बीजों की अधिक उत्पत्ति होती है. किन्तु यह रोगों तथा क्षति का उतना प्रतिरोध नहीं कर पाती (*Bull. imp. Inst., Lond.*, 1930, **28**, 300).

वैसे **क्रि. सिनेरैरिईफोलियम**; डालमाशिया, हर्जगोविना तथा मांटेनेग्रो का मूलवासी है किन्तु इसकी खेती अल्जीरिया, डालमाशिया, ऑस्ट्रेलिया, ब्राज़ील, बुल्गेरिया, कैलीफोर्निया, चीन, जापान, फ्रांस, इटली, केन्या, फारस, रूस, स्पेन तथा स्विट्ज़रलैंड में व्यापारिक पैमाने पर की जाने लगी है. इंगलैण्ड और भारत में भी इसकी खेती की जाती है. 'डालमाशियन पाइरेथ्रम' शब्द का प्रयोग ऐड्रियाटिक सागर के पूर्वी तट पर उगाये जाने वाले **क्रि. सिनेरैरिईफोलियम** के लिए किया जाता है.

जापानी पाइरेथ्रम जो **क्रि. सिनेरैरिईफोलियम** से ही व्युत्पन्न है, देखने में डालमाशियन पाइरेथ्रम से मिलता-जुलता है. डालमाशियन तथा जापानी फूलों में सक्रिय अवयव, पाइरेथ्रिन, की मात्रा क्रमशः 0·38 से 0·58 और 0·58 से 1·21% तक होती है. केन्या पाइरेथ्रम में इससे भी अधिक पाइरेथ्रिन, 1·43 से 1·89%, की सूचना दी गई है (Gnadinger, 143, 399).

द्वितीय विश्वयुद्ध के प्रारंभिक वर्षों में कश्मीर एवं नीलगिरि की पहाड़ियों में पाइरेथ्रम की खेती प्रयोग के रूप में शुरू की गई थी. इसके परिणाम इतने आशाजनक लगे और विश्वयुद्ध के कारण विदेशी स्रोतों से संभरण बन्द हो जाने से इसकी आवश्यकता इतनी बढ़ गई कि तेजी से इसकी खेती अधिक

क्षेत्रफल में की जाने लगी ताकि कम से कम सैनिक आवश्यकताओं की पूर्ति तो हो ही सके. 1947 में लगभग 700 हेक्टर में खेती की गई जिसमें से लगभग 300 क्विंटल की उपज हुई थी जिसका मूल्य 31,520 रुपये था.

1944–47 में नीलगिरि में पाइरेथ्रम का क्षेत्रफल 747·2 हेक्टर था. 1944–45, 1945–46 तथा 1946–47 में फूलों की उपज क्रमश: 48,560, 43,466 और 40,108 किग्रा. थी. तब से क्षेत्रफल में क्रमिक ह्रास होता रहा है. 1949–50 में पाइरेथ्रम का क्षेत्रफल केवल 240 हेक्टर तथा उत्पादन 1,017 किग्रा. रह गया.

भारत के अन्य भागों में भी पाइरेथ्रम की खेती के प्रयत्न किये गये हैं. कुलू, पालमपुर, मयूरभंज, कुमायूँ, असम, मैसूर, त्रावनकोर एवं कोडाईकेनाल से आशाजनक परिणाम मिले हैं. 1947 में कश्मीर को छोड़कर पाइरेथ्रम की खेती का क्षेत्रफल 800 हेक्टर आँका गया था. देहरादून, सहारनपुर, धारवाड़, पूना, सकरंद तथा राँची में इस पौधे को उगाने के प्रयास विफल रहे हैं (Chopra *et al.*, *Indian Fmg*, 1947, **8**, 78; Burns, ibid., 1941, **2**, 58).

खेती

पाइरेथ्रम शुष्क जलवायु में अच्छे जल-निकास वाली, बलुई भूमि पर भली-भाँति उगता है. लाल लैटेराइटी दोमट भी इसके अनुकूल है. यह पहाड़ी ढालों तथा बंजर भूमि में भी उगाया जा सकता है किन्तु अधिक उपजाऊ भूमि, जलाक्रांत परिस्थितियाँ तथा तीव्र पाला इसके विकास में बाधक हैं (*Indian J. Pharm.*, 1939, **1**, 89).

बुवाई सामान्य रूप से वसंत या शरद् ऋतु में की जाती है. कश्मीर में शरद् ऋतु में बोये गये बीजों का अंकुरण अधिक होता है किन्तु असम में मार्च में बुवाई करने से अधिकतम पौधें प्राप्त होती हैं. बोने वाले बीजों का एकत्रीकरण चुने हुये पौधों से, जब फूल परिपक्व हो चुके हों और बीज झड़ने वाले हों तभी करना चाहिए. ज्यादा दिनों तक रखे रहने से उनकी अंकुरण-क्षमता जाती रहती है. बोने के पहले बीजों को पानी में भिगोकर, कपड़े या टाट में लपेट कर नम बालू में गाड दिया जाता है. फिर अच्छे जल-निकास वाली रोपण-क्यारी में समान रूप से बो देते हैं. एक किग्रा. बीज से 30,000 से अधिक पौधें प्राप्त होती हैं. क्यारियाँ नरम बलुई भूमि में बनाई जाती हैं जिन्हें ठीक से जोत करके उन्हें बोने लायक बना लिया जाता है. कम उपजाऊ भूमि में अच्छी तरह सड़ी गोबर की खाद मिलाई जा सकती है. बोने के बाद बीजों के ऊपर मिट्टी छिड़क दी जाती है और क्यारियों के ऊपर पुआल बिछाकर आच्छादन कर दिया जाता है. अधिक काल तक सूखा मौसम रहने पर सूर्यास्त होने के बाद नियमित रूप से सिंचाई कर देनी चाहिए (Majumdar, *Allahabad Fmr*, 1942, **16**, 121; *Bull. imp. Inst., Lond.*, loc. cit.; Fotidar, *Indian Fmg*, 1941, **2**, 413).

10–15 दिन में बीज उग आते हैं. जब प्ररोह निकल आते हैं तो आच्छादन हटा दिया जाता है. जब पौधें 5–15 सेंमी. ऊँची हो जाती हैं तो खाद (विष्ठा की खाद वरेण्य है) दूसरी बार दी जाती है. निराई विधिपूर्वक होनी चाहिए. पौधें (10–12·5 सेंमी. ऊँची) 30–60 सेंमी. के अंतर पर बनी पंक्तियों में 17·5–30 सेंमी. के फासले पर मेड़ों पर रोपित कर दी जाती हैं. 45 सेंमी. × 45 सेंमी. के अंतरण से एक हेक्टर में 50,000 पौधें उगाई जा सकती हैं. वसंत में बोई पौधों को अप्रैल–जुलाई तक और पतझड़ में बोई पौधों को अक्टूबर–नवम्बर में रोपित किया जा सकता है. यदि ऐसा संभव न हो सके तो पौधों को क्यारियों में ही छोड़ देना चाहिए और अगले वर्ष वसंत के आते ही उनको रोप देना चाहिए (Majumdar, loc. cit.).

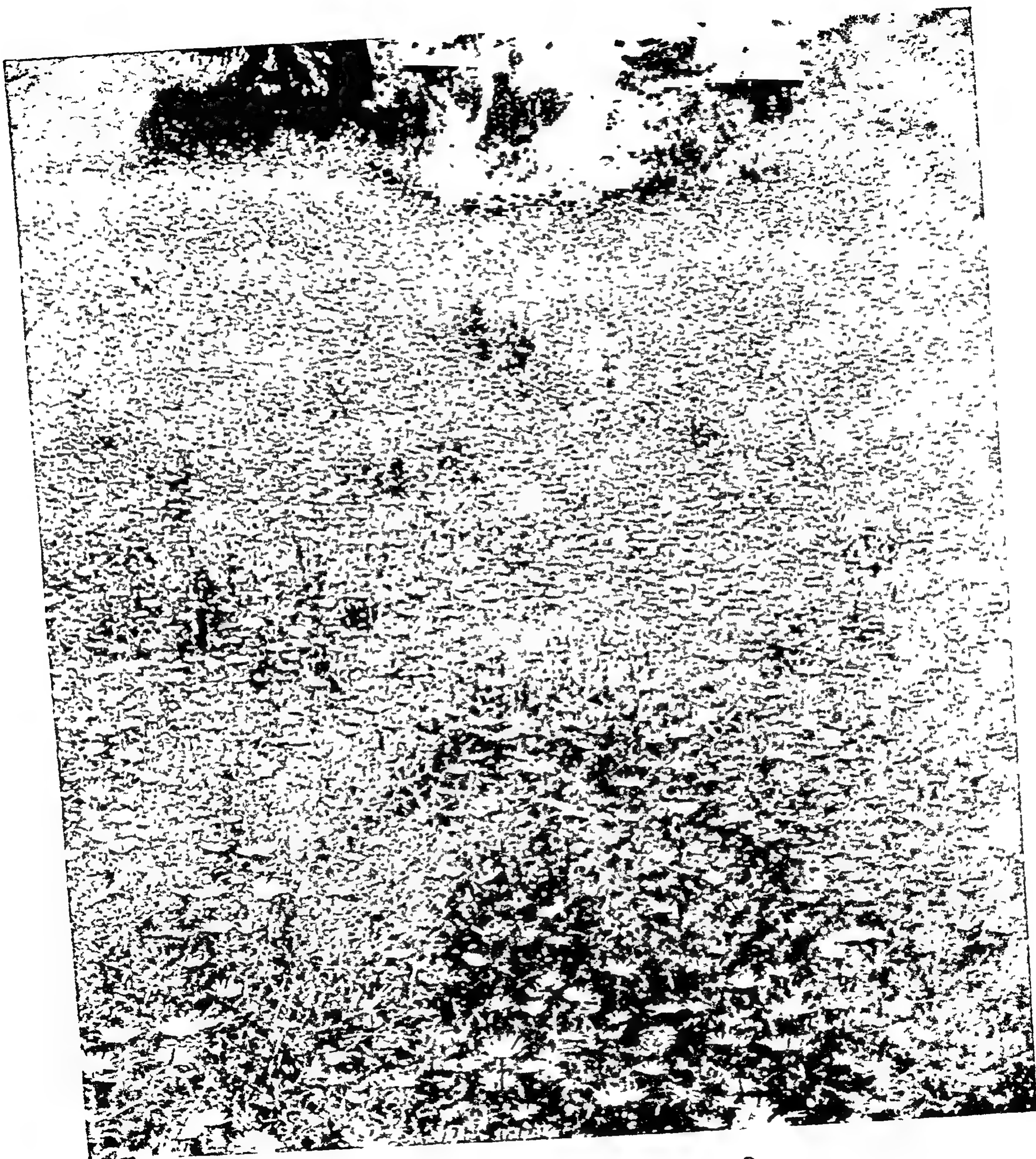
जैसा केन्या में होता है, पौधों को कलमों तथा खण्डों से भी तैयार किया जा सकता है. पौधों की अपेक्षा बड़े होने के कारण विखण्डों को पकड़ने में सुविधा रहती है. साथ ही पौधों को रोपण क्यारियों से उगाने की भी आवश्यकता नहीं रह जाती. पौधे जल्दी फूलते भी हैं. किन्तु कायिक प्रवर्धन सामान्य प्रथा नहीं है क्योंकि इससे पौधे की आयु घट जाती है (Beckley, *Bull. imp. Inst., Lond.*, 1938, **36**, 31).

आवश्यकता पड़ने पर ही खेतों की सिंचाई करनी चाहिये. भूमि अच्छे जल-निकास वाली होनी चाहिए और पानी न भरने देने के लिए हर सम्भव सावधानी बरतनी चाहिए. पहले साल में दो निराइयाँ, किन्तु बाद के सालों में प्रति वर्ष केवल एक निराई, करनी चाहिए.

नाइट्रोजनी खादों की अधिक मात्रा डालने से पत्तियाँ तो अधिक निकलती हैं किन्तु फूलों की संख्या घट जाती है. होकैडो के उद्यानों में दी जाने वाली मुख्य खाद बाड़े का कूड़ा-कचरा है, जिसके साथ विष्ठा, पौधों की राख, मछली की खली या कैल्सियम-सुपरफॉस्फेट खाद के रूप में दिए जाते हैं. बाड़े की खाद प्राय: रोपण के समय दी जाती है और सहायक खाद फूल चुनने के बाद (*Bull. imp. Inst., Lond.*, loc. cit.).

रोपण के एक वर्ष बाद पौधों में फूल आने लगते हैं, किन्तु उपज कम होती है. पंजाब में मार्च के अंत में फूल आने प्रारम्भ होते हैं और मई तक लगते रहते हैं. कश्मीर में फूल आने का समय जून–जुलाई है. तमिलनाडु में वर्ष-भर फूल आने का उल्लेख पाया जाता है किन्तु फसल बोने के तीसरे वर्ष ही बेचने लायक फसल प्राप्त होती है और 3–4 वर्ष तक वार्षिक कटाई चलती रहती है (Chopra *et al.*, *Indian Fmg*, 1947, **8**, 78; Venkataraman, *Indian J. Hort.*, 1949, **6**, 22; Chopra *et al.*, *J. sci. industr. Res.*, 1948, **7**, 532).

जब पुष्प-मुण्डक तीन-चौथाई खुल जाते हैं तो उनका संग्रह किया जाता है. ऐसा देखा गया है कि पुष्प-मुण्डकों के विकास के साथ-साथ सक्रिय तत्वों की भी वृद्धि होती रहती है. बिम्ब पुष्पकों के खुलते-खुलते यह मात्रा चरम सीमा पर पहुँच जाती है. सिद्धान्तत: फूल उस समय चुना जाना चाहिए जब अंतिम पुष्पक खुलने को हों; किन्तु व्यापारिक उद्यानों में व्यावहारिक रूप से ऐसा संभव नहीं है. इतना ही नहीं, अधिक दिन तक रखे रहने की क्षमता भी परिपक्वता पर निर्भर करती है. अपरिपक्व अथवा लगभग परिपक्व फूलों की अपेक्षा अति-परिपक्व फूलों में सक्रिय तत्व शीघ्रता से विघटित होते हैं. सामान्यत: फूल हाथ से ही तोड़े जाते हैं. संयुक्त राज्य अमेरिका तथा यूरोप के कुछ भागों में इसके लिए एक डोंगे का प्रयोग



क्रिसेन्थेमम सिनेरेरिईफोलियम (गुलदाउदी) – पुष्पित

किया जाता है जो मुण्डकों को काट कर पीछे लगे एक पात्र में संग्रह करता जाता है (Wallis, 162).

स्थान की ऊँचाई के अनुसार भी उपज घटती-बढ़ती रहती है. केन्या में 1,500–1,800 मी. की ऊँचाई पर प्रति हेक्टर लगभग 450 किग्रा. उपज होती है. किन्तु अनुकूल परिस्थितियों में इससे भी अधिक पैदावार, 780 किग्रा. तक, प्राप्त की गई है. 2,550–2,850 मी. की ऊँचाई पर प्रति हेक्टर 1,120–1,680 किग्रा. उपज होती है. कश्मीर में 1,500–2,400 मी. ऊँचाई पर व्यापारिक खेती संभव है. यहाँ लगभग 1,800 मी. की ऊँचाई पर सर्वोत्तम उपज मिली है. औसत उपज (90 किग्रा. प्रति हेक्टर) केन्या की अपेक्षा कम है. असम में 1,200–1,800 मी. की ऊँचाई पर प्रति हेक्टर 400 किग्रा. की उपज का उल्लेख है. कुमायूँ (उ. प्र.) में परीक्षण के तौर पर दो वर्ष की आयु वाले पौधों से 54 किग्रा. सूखे मुण्डकों की प्राप्ति की गई. मैसूर में प्रति हेक्टर 75 किग्रा. उपज की सूचना प्राप्त है. उड़ीसा में की गई प्रायोगिक खेती से 40 किग्रा. प्रति हेक्टर की प्राप्ति हुई.

शीत तथा नमी से उपज घट जाती है. फूल तोड़ने के पश्चात् शुष्क मौसम के प्रारम्भ में पौधे को सुदृढ़ बनाये रखने के लिए हल्की छँटाई कर देना आवश्यक है. ठीक से देखभाल करने पर बगीचे से 8–10 वर्ष तक उपज मिल सकती है. लगाने के तीन वर्ष बाद से चुने गये फूलों में पाइरेथ्रिन की मात्रा में क्रमिक ह्रास होने लगता है. 3–4 फसलें ले लेने के बाद उत्पादन घाटे में चलने लगता है और फिर से बगीचा लगाना पड़ता है. कश्मीर में तोड़े गये मुण्डकों को प्रायः धूप में सुखाते हैं. उन्हें पुआल की चटाइयों पर दूर-दूर बिखेर दिया जाता है. सामान्य रूप से सूखने के लिए बीच-बीच में उलटते-पलटते रहते हैं और रात में ढक देते हैं. 5–7 दिन में सारा पानी दूर हो जाता है. यदि वे अंगूठे और उँगली के बीच में दबाने पर टूट कर चूर्ण हो जाएँ तो उन्हें पूरी तरह शुष्क समझना चाहिए. कश्मीर में ऐसा देखा गया है कि छाया की अपेक्षा धूप में सुखाये गये मुण्डकों में पाइरेथ्रिन की मात्रा अधिक होती है. प्रारम्भ में तीन दिन तक अंशतः धूप में सुखाकर फिर छाया में सुखाने से सर्वोत्तम उत्पाद प्राप्त होता है (Chopra *et al.*, *J. sci. industr. Res.*, 1948, **7**, 532; *Indian Fmg*, 1947, 8, 78; Chopra *et al.*, *Curr. Sci.*, 1945, **14**, 104; *Indian Fmg*, 1947, **8**, 78).

पाइरेथ्रम फूलों को सुखाने के लिए यान्त्रिक शुष्कक भी बनाये गये हैं. केन्या में ऊर्ध्व वायु प्रवाह वाले शुष्कक अपेक्षाकृत अधिक प्रचलित हैं. इसमें फूलों से भरी तश्तरियों की श्रेणी में से होकर उष्ण वायु प्रवाहित की जाती है. जब फूल अँगूठे और उँगली के बीच में दबाने से चूर-चूर नहीं होता बल्कि कस कर लपेटने से चूर-चूर होता है तो समझते हैं कि फूल समुचित अवस्था तक सूख गया है. इस अवस्था में 10% आर्द्रता रहती है, फूल का प्राकृतिक रंग बना रहता है और पदार्थ को बिना किसी नुकसान के हाथों-हाथ गट्ठरों में बांधा जा सकता है. ज्यादा सूखने से फूल भंगुर होते हैं और हाथ से छूने पर टूट जाते हैं. ताजा रहने पर चूर्ण पीला होता है; किन्तु कुछ महीनों तक रखे रहने से अथवा पुराने तथा ठीक से देखभाल न किये जाने पर फूलों से प्राप्त पदार्थ मलिन भूरे रंग का हो जाता है.

सूखे तथा चूर्णित मुण्डकों में एक मनोहर तथा लाक्षणिक सुगंध होती है. ये स्वाद में तिक्त तथा जिह्वा एवं ओठ को सुन्न करने वाले होते हैं. यदि इन्हें रंगीन वायुरुद्ध काँच के जारों में अथवा अंशतः निर्वातित कलईदार पीपों में संग्रह किया जाता है तो ये ज्यादा दिनों तक रह आते हैं.

संघटन

पुष्प-मुण्डकों के मुख्य सक्रिय तत्व पाइरेथ्रिन I तथा पाइरेथ्रिन II हैं. फूल के विभिन्न भागों में उनका वितरण तथा भारत के विभिन्न भागों एवं अन्य स्रोतों से संग्रहीत फलों में उनकी मात्रा सारणी 1 तथा 2 के अनुसार है.

स्टाडिंजर तथा रुजिका द्वारा पौधों के ओलियोरेज़िन से पृथक्कृत पाइरेथ्रिन I तथा पाइरेथ्रिन II, श्यान तैलीय द्रव हैं जो हाइड्रोकार्बन विलायकों में विलेय हैं. पाइरेथ्रिन I के जल-अपघटन से एक असंतृप्त कीटोनी ऐल्कोहल, पाइरेथ्रोलोन, तथा क्रिसैन्थेमम मोनो-कार्बोक्सिलिक अम्ल बनते हैं किन्तु पाइरेथ्रिन II से पाइरेथ्रोलोन तथा क्रिसैन्थेमम डाइ-कार्बोक्सिलिक अम्ल बनते हैं. इधर की नवीन खोजों से पता चला है कि पाइरेथ्रिन I तथा पाइरेथ्रिन II ऐसे पदार्थों के मिश्रण हैं जिनमें क्रिसैन्थेमम मोनो- तथा डाइ-कार्बोक्सिलिक अम्ल एक से अधिक, संभवतः कई, कीटोनों से एस्टरीकृत रहते हैं. एक नया कीटोन, सिनेरोलोन, भी पृथक् किया गया है और क्रिसैन्थेमम मोनो- तथा डाइ-कार्बोक्सिलिक अम्लों के साथ इसके एस्टरों को क्रमशः सिनेरिन I तथा सिनेरिन II की संज्ञा दी गई है. पाइरेथ्रिन अत्यंत ही अस्पष्ट पदार्थ है जो हाइड्रोजनीकरण से अक्रिय हो जाता है. वायु एवं सूर्य के प्रकाश में 20–25° ताप पर तीन दिन के अंदर पृथक्कृत पाइरेथ्रिन का 97% विघटित हो जाता है (Gnadinger, 423).

व्यापारिक उत्पादों में पाइरेथ्रिन तथा सिनेरिन का अनुपात घटता बढ़ता रहता है और उसके साथ ही उनकी कीटनाशी क्षमता भी बदलती रहती है. सिनेरिनों की अपेक्षा पाइरेथ्रिन 1·3 गुना अधिक विषैले होते हैं. पाइरेथ्रिन I तथा सिनेरिन I क्रमशः पाइरेथ्रिन II तथा सिनेरिन II की अपेक्षा घरेलू मक्खी पर 4 गुना अधिक कारगर हैं (*Chem. Abstr.*, 1947, **41**, 3766; 1948, **42**, 3899).

फूलों से ओलियोरेज़िन के निष्कर्षण के लिए विभिन्न विलायकों तथा विलायक मिश्रणों का प्रयोग हुआ है. यह निष्कर्षण ऐल्कोहल, ऐसीटोन तथा किरोसिन के मिश्रण से किया जाता है. फिर न्यून दाब पर 60° के नीचे ऐसीटोन तथा ऐल्कोहल को निष्कर्ष में से निकाल दिया जाता है. बचे हुए पदार्थ में पाइरेथ्रिन की मात्रा 10–12% होती है (*Indian Patent*, No. 35338, 1946).

पाइरेथ्रिन, सिनेरिन, फीनोलिक पदार्थों तथा मोनो-क्रिसैन्थेमम एवं डाइ-क्रिसैन्थेमम अम्लों के अलावा पाइरेथ्रम में प्रोटोकैटेचूइक, आइसोवैलेरिक, कैप्रोइक, लॉरिक, पामिटिक, ओलीक तथा लिनोलीक अम्ल भी स्वतंत्र तथा संयुक्त दोनों अवस्थाओं में पाये जाते हैं. कोलीन तथा स्टेकीड्रीन भी उपस्थित रहते हैं. फूलों से एक सगंध तेल (प्राप्ति, 0·07%) प्राप्त होता है, जिसमें एक पैराफिन ($C_{14}H_{30}$; ग.बि., 54–56°),

सारणी 1 – फूल के विभिन्न भागो मे पाइरेथ्रिन की मात्रा*

अंग	पाइरेथ्रिन (%) पुष्प-मुण्डक	पाइरेथ्रिन (%) खुले फूल
ऐकीन	2·27	4·54
पत्र	0 26	0 27 (अ)
सहपत्र शल्क	0 15	..
बिम्ब-पुष्पक	लेशमात्र	0 48
रश्मि-पुष्पक	लेशमात्र	0 18
तना	0 15	..

*Bal, *Indian J. Pharm*, 1940, 2, 132
(अ) – पत्र तथा शल्क.

सारणी 2 – विभिन्न स्रोतो से प्राप्त फूलो मे पाइरेथ्रिन का वितरण*

स्रोत	पाइरेथ्रिन I (%)	पाइरेथ्रिन II (%)	सम्पूर्ण पाइरेथ्रिन (%)
असम	..	..	1·41
उडीसा (मयूरभंज)	..	..	1·15
उत्तर प्रदेश (देहरादून)	0 63	0 15	0 78
उत्तर प्रदेश (गढवाल)	0 29	0 28	0 57
कश्मीर (टागमर्ग)	0 35	0 57	0 92
कश्मीर (बारामूला)	0 32	0 62	0 94
तमिलनाडु (कोडाईकनाल)	0 76	0 62	1 38
तमिलनाडु (कुनूर)	0 44	0 45	0 89
पजाब (पालमपुर)	0 22	0 68	0 90
मैसूर (बगलौर)	..	..	0 80
हिमाचल प्रदेश (कुलू)	0 35	0·40	0 75
श्रीलका (हकगाला)†	0 47	0 57	1·04
केन्या	0 77	0·56	1·33
डालमाशिया	0 35	0 63	0 98
जापान	0·38	0 63	1 01

*Puntambekar, *Curr Sci*, 1943, 12, 232
†*Bull imp Inst, Lond*, 1940, 38, 162

62° पर द्रवित होने वाला एक पदार्थ, एक फीनोल और संभवतः पामिटिक तथा ब्यूटिरिक अम्ल भी उपस्थित रहते है. नीलगिरि मे प्राप्त फूलो के विश्लेषण से प्राप्त परिणाम इस प्रकार है: β-करोटीन, 0·69 माग्रा.; तथा कुल कैरोटिनायड, 4·7 माग्रा. प्रति ग्राम (Gnadinger, 34; Henry, 773, Parry, I, 303; Subbaratnam & Pillay, *J. sci. industr. Res.*, 1947, 6B, 100).

समतापी प्राणियो के लिए अंतर्ग्रहण किए जाने पर पाइरेथ्रिन लगभग विषहीन होते हैं किन्तु रुधिर परिसचार मे प्रविष्ट हो जाने पर स्पष्ट रूप से विषैले हैं. इनकी क्रिया का मुख्य स्थान मेरु-रज्जु है. जिन लोगो को पाइरेथ्रिनो से ऐलर्जी है उन्हे त्वचा शोथ तथा चर्म-रोग होते देखा गया है. किन्तु फूलों या इनके सार के विषैले प्रभाव सभवतः पाइरेथ्रिनो के कारण न होकर उनमे उपस्थित फीनोलिक अवयवो के कारण है, क्योकि 93% सान्द्रता पर भी पाइरेथ्रिन निष्क्षोभक होते है (Subbaratnam *et al.*, *Proc. Indian Sci. Congr.*, 1947, 22).

पाइरेथ्रम एक स्पर्शी विष है कीडो के लिए यह अत्यन्त ही विषैला है इसे या तो बुकनी या फुहार के रूप मे प्रयुक्त किया जाता है. फुहार के लिए समुचित द्रव निष्कर्ष, निलम्बन तथा पायस तैयार किये गये हैं. डठल तथा पत्तियो मे भी पर्याप्त कीटनाशक क्षमता होती है. विशिष्ट उद्देश्य से प्रयोग होने वाले पाइरेथ्रम चूर्णो मे भी इन्हे मिला दिया जाता है. मलेरिया निरोधक उपायो मे पाइरेथ्रम से निर्मित पदार्थो का महत्वपूर्ण स्थान है. इससे अनेक कृषि तथा उद्यान सम्बन्धी नाशकजीवो से रक्षा होती है (सारणी 3).

पराश्रयी कीडो से पशुधन की रक्षा के लिए पाइरेथ्रम का प्रयोग फुहार की तरह किया जाता है. इस कार्य के लिए भारी तेल मे बना हुआ पायस विशेष रूप से अनुकूल होता है. पहले इसका ज्ञात सान्द्र तैयार कर लिया जाता है और प्रयोग के पहले भारी तेल मिला कर आवश्यक तनुता प्राप्त कर ली जाती है. 5% देवदार का तेल मिला देने से पराश्रयी जन्तुओ के विरुद्ध प्रतिकर्षक क्षमता मे वृद्धि होती है और साथ ही तेल की दुर्गंध भी दब जाती है (Gnadinger, 240).

यदि पाइरेथ्रम के साथ कुछ वर्धी मिला दिये जाते है तो विशिष्ट प्राणियो के प्रति इसकी क्षमता काफी बढ जाती है. तिल का तेल, सीसामिन, आइसोसीसामिन, तथा असारिनिन मिलाने से घरेलू मक्खियो का सरलता से विनाश हो जाता है. ऐल्कानामाइड, पिपेरिक तथा थैलिक अम्लो के सजात तथा अन्य बहुत से यौगिक योगवाहक का कार्य करते है और पाइरेथ्रम विरचनो मे उनके प्रयोग पेटेंट हो चुके है (Gnadinger, 525; *Chem. Abstr.*, 1946, 40, 672, 1947, 41, 5251, 1948, 42, 1377, 1016, 6757, 9063, 2722, 3129, 318).

यूका तथा स्कैबीज होने पर पाइरेथ्रम का वाह्य लेप किया जाता है. ऊन की मज्जा, पेट्रोलैटम तथा पैरेफिन के मलहमी आधार मे व्यासृत 0·75% सयुक्त पाइरेथ्रिन्स की मात्रा स्कैबीज का एक उत्तम उपचार है. पशु-चिकित्सा मे इसे **ऐस्कारिस लिनिएटा** तथा आतों के अन्य पराश्रयी कीडो पर कृमिहर के रूप मे प्रयोग किया जाता है (Roy & Ghosh, *Indian med. Gaz.*, 1941, 76, 333; U.S.D., 943, Rebrassier, *Indian J. vet. Sci.*, 1934, 4, 275).

चूर्णित पाइरेथ्रम मे प्रचुर मिलावट रहती है. इनमे से पाइरेथ्रम पौधे के डठल तथा पत्तियाँ, **कम्पोजिटी** कुल के अन्य सदस्यो, विशेषतः **क्रि. ल्यूकैन्थेमम** लिनिअस के चूर्णित मुण्डक सामान्य अपमिश्रक है. लेड क्रोमेट, हल्दी तथा फ्यूस्टिक मिलाकर चूर्ण को पीला कर लिया जाता है. अधिकाश अपमिश्रको की पहचान सूक्ष्मदर्शी परीक्षण द्वारा या फिर रासायनिक परीक्षण से हो जाती है.

पाइरेथ्रम की क्षमता का पता लगाने के लिए अमेरिकी व्यापार-जगत मे एक सरल तथा शीघ्र सम्पन्न होने वाली विधि

सारणी 3 – फसलों के कुछ नाशकजीवों पर पाइरेथ्रम कीटनाशियों का प्रभाव

	नाशकजीव	संतोपजनक ढंग	रोकथाम की प्रकृति
1.	तम्बाकू का थ्रिप, **फ्रैंक्लिनिएला फुस्का**	चूर्ण	संतोपजनक
2.	सतरंगा काफी बग, **ऐंटेस्टिया क्रुसिएटा**	चूर्ण	94–98% मृत्यु
3.	बदरंग प्लाण्ट बग, **लाइगस प्रैटेन्सिस**	चूर्ण	पूर्ण
4.	चुकंदर का लीफ हापर, **युटेटिक्स टैनेलस**	फुहार	98% मृत्यु
5.	स्क्वाश बग, **अनैसा ट्रिस्टिस**	चूर्ण तथा फुहार	पूर्ण, फुहार अच्छे परिणाम देता है
6.	मटर की लाही, **मैक्रोसिफ्युम ओनोब्राइकिस**	फुहार	उत्तम
7.	कांचघर की सफेद मक्खी, **ट्राइ-एल्यूरोडीज़ वैपोरैरिओरम**	फुहार	उत्तम
8.	गन्ने का फ्राग हापर, **टोमैस्पिस सक्करीना**	चूर्ण	प्रौढ़ों की 80–99% मृत्यु
9.	मक्के का भुट्टा कृमि, **हेलिओ-थिस आर्मिगरा**	फुहार	उत्तम
10.	फाल आर्मीवर्म, **लैफाइग्मा फ्रूगीपर्डा**	फुहार	संतोपजनक
11.	एशियाई धान की सूंडी, **किलो सिम्प्लेक्स**	फुहार	अंडों की पूर्ण मृत्यु
12.	आलू का लीफ हापर, **इम्पोस्का फैबी**	चूर्ण	पूर्ण
13.	कोर्डलिंग पतिंगा, **साइडिया पोमोनेला**	फुहार	लारवों प्यूपों तथा वयस्कों पर पूर्ण प्रभाव
14.	डायमंड बैक पतिंगा, **प्लुटेला मैकूलिपेनिस**	चूर्ण	प्रभावशाली
15.	टमाटर का पिन-वर्म, **कीफेरिया-लाइको पासिकेला**	चूर्ण	प्रभावशाली
16.	धारीदार पिस्सू भृङ्ग, **फाइलो-ट्रेटा विटाटा**	चूर्ण	संतोपजनक
17.	आलू का पिस्सू भृङ्ग, **इपीट्रिक्स कोकुमेरिस**	चूर्ण	संतोपजनक
18.	ककड़ी का भृङ्ग, **डाइब्रोटिका डुओडेसिमपुंक्टाटा**	फुहार	संतोपजनक
19.	ककड़ी का **डाइब्रोटिका विटाटा**	चूर्ण	संतोपजनक
20.	प्रदाही भृङ्ग, **इपीकोटा पेन्सिल-वैनिका**	फुहार	69% मृत्यु
21.	जापानी भृङ्ग, **पोपिलिया जैपो-निका**	फुहार	सफल
22.	मैक्सिको का सेम भृङ्ग, **इपी-लैक्ना वैरिवेस्टिस**	फुहार	उत्तम
23.	तम्बाकू का पतिंगा, **एफेस्टिया एलुटेला**	फुहार	प्रभावशाली
24.	कार्न वीविल, **कैलेण्ड्रा ग्रैनेरिया**	फुहार	प्रभावशाली
25.	ऐफिड, **कोलैफेलस बोरिंगाइ**	फुहार	95% से अधिक मृत्यु
26.	आयातित करमकल्ले का वर्म, **पिएरिस रेपी**	फुहार	95% से अधिक मृत्यु
27.	पिस्सू भृङ्ग, **फीडन ब्रैसिकी**	फुहार	95% मृत्यु
28.	टैक्सस मीलीबग, **स्यूडोकोकस कस्पीडैटाई**	फुहार	उत्तम
29.	लीफ हापर, **इम्पोस्का फिलामेंटा**	चूर्ण तथा फुहार	उत्तम
30.	बगीचे का पूली हापर, **हाल्टिकस ब्रैक्टीएटस**	चूर्ण	उत्तम
31.	संशय पूर्ण आटा-भृङ्ग, **ट्राइ-बोलियम कन्फ्यूसम**	फुहार	संतोपजनक
32.	भारतीय मीलमाथ, **प्लोडिया इण्टरपंक्टेला**	फुहार	लारवों पर प्रभावशाली
33.	आड़ू का हरा ऐफिड, **माइजस पर्सिकी**	फुहार	संतोपजनक
34.	लौकी का भृङ्ग, **औलैकोफोरा फोविकोलिस**	फुहार	प्रभावशाली

1–24: Gnadinger, 547, 548, 549, 554, 544, 254, 268, 551, 554, 552, 559, 546, 269, 270, 559, 551, 254, 254, 246, 254, 545, 558, 254, 268, 559, 503. 25–34: *Chem. Abstr.*, 1940, **34**, 4512; 1942, **36**, 5603, 6298; 1947, **41**, 7636; 1948, **42**, 5606, 6051, 7479; 1940, **34**, 575.

अपनायी है जिसमें 200 मिग्रा. (या 3 ग्रेन) चूर्ण के साथ एक मक्खी को कस कर डाट लगी हुई परीक्षण नली में बंद कर दिया जाता है. यदि मक्खी 3 मिनट के अन्दर गति करना बंद कर दे और फिर शीघ्र ही मर जाए तो चूर्ण को प्रभावशाली घोषित कर दिया जाता है (*Bull. imp. Inst., Lond.*, 1930, 28, 300).

पाइरेथ्रम सान्द्रों को मुहरबंद पात्रों में प्रति-ऑक्सिकारक मिला करके रखना चाहिए. प्रतिस्थापित डाइहाइड्रॉक्सि बेंजीन, ऐमीनो ऐन्थ्राक्विनोन, उच्चतर फीनाल, भिलावां गेल द्रव के सल्फोनेटीकरण से प्राप्त पदार्थ या दूसरी पेटेंट सामग्रियाँ मिला देने से सक्रिय अवयवों का जैवस्थायित्व निश्चित रहता है. जैव रूप से स्थायी जलीय पायस की फुहारें भारत में तैयार की गई हैं. द्वितीय विश्वयुद्ध के दिनों में ये तथा बिना ग्रीज वाली मच्छर प्रतिकर्षक पाइरेथ्रम-क्रीमों का सैनिक-प्रयोग के लिए बड़ी मात्रा में निर्माण होता था (*J. sci. industr. Res.*, 1946, **5**, 28; *Indian Patent*, No. 35567).

सिनेरिन I (*dl*-सिस-ट्रांस क्रिसैन्थेमम मोनो-कार्बोक्सिलिक अम्ल का *dl*-2-ऐलिल-4-हाइड्रॉक्सि-3-मेथिल-2-साइक्लोपेंटीन 1-ओन एस्टर) के ऐलिल संजात ऐलेथिन, पाइरेसाइड, पाइरेसिन नाम के व्यापारिक नामों से संश्लेषित हो चुके हैं. कीटनाशक फुहारों में यह पाइरेथ्रम निष्कर्ष के समान ही प्रभावशाली बताया जाता है. यह रंग तथा गंध में अपेक्षाकृत हल्का, किन्तु अधिक स्थायी होता है [*Oil Paint Drug Rep.*, 1950, **157** (12), 4; *Chem. Engng News*, 1950, **28**, 1234, 1248].

बहुत से क्लोरीनीकृत संश्लेपित कीटनाशी पदार्थों का अत्यधिक व्यापारिक मात्रा में उत्पादन हुआ है जिनमें से डाइक्लोरो-डाइफेनिल ट्राइक्लोरोएथेन (डी-डी-टी) तथा हेक्सा क्लोरोबेंजीन उल्लेखनीय हैं. पाइरेथ्रम के स्थान पर इनका प्रयोग हो रहा है किन्तु कृषि एवं दुग्ध उद्योग में इनका प्रयोग खतरे से खाली नहीं है. चूहों को डी-डी-टी मिला भोजन देने से (50 भाग प्रति करोड़ भाग तक की कम मात्रा में) उनके यकृत को हानि पहुँची. डी-डी-टी अवशेष मिला चारे खाने से दूध देने वाले पशुओं से डी-डी-टी मिश्रित दूध प्राप्त हुआ है. पाइरेथ्रम विरचनों से विषैले अवशेष नहीं बचते हैं. कृषि कार्यों में इनके उपयोग से कोई हानि नहीं होती (*Chem. Engng News*, 1949, **27**, 1439).

भारत में उत्पादित पाइरेथ्रम का एक भाग कीटनाशियों के निर्माण में काम आ जाता है और शेष का निर्यात होता है. इसकी भारतीय उद्योगों में खपत लगभग 50 टन प्रति वर्ष है. फरवरी–मई 1950 के बीच भारत से 93,572 रु. मूल्य का 46·9 टन पाइरेथ्रम निर्यात हुआ. अक्टूबर 1949 से जनवरी 1950 के बीच कोई निर्यात नहीं हुआ (कस्टम्स कलक्टर, बम्बई से प्राप्त सूचना).

भारत में पाइरेथ्रम की वार्षिक आवश्यकता लगभग 4,000–6,000 टन आँकी जाती है किन्तु वास्तविक उत्पादन इससे बहुत कम है यद्यपि पाइरेथ्रम की खेती के विस्तार की संभावना है. नीलगिरि में पाइरेथ्रम की खेती के क्षेत्र के कुछ भाग में बैंटल की खेती की जाने लगी है. क्लोरिनीकृत कीटनाशियों के दोष, जो आये दिन स्पष्टतर होते जा रहे हैं, पाइरेथ्रम की माँग में वृद्धि ला सकते हैं. पाइरेथ्रम कीटनाशकों के विकास के लिए संगठित प्रयत्न की तथा बड़े पैमाने पर इसके इस्तेमाल किए जाने के प्रति भारत में पर्याप्त जागरुकता है (Chopra *et al.*, *J. sci. industr. Res.*, 1948, **7**, 532; *Rep. Panel, Fine Chemicals, Drugs & Pharmaceuticals*, 1947, 18).

Pyrethrum cinerariaefolium Trev.; *Compositae; C. leucanthemum* Linn.; *Frankliniella fusca; Antestia cruciata; Lygus pratensis; Eutettix tenellus; Anasa tristis; Macrosiphum onobrychis; Trialeurodes vaporariorum; Tomaspis saccharina; Heliothis armigera; Laphygma frugiperda; Chilo simplex; Empoasca fabae; Cydia pomonella; Plutella maculipennis; Keiferia lycopersicella; Phyllotreta vittata; Epitrix cocumeris; Diabrotica duodecimpunctata; Diabrotica vittata; Epicauta pennsylvanica; Popillia japonica; Epilachna varivestis; Ephestia elutella; Calandra granaria; Colaphellus bowringi; Pieris rapae; Phaedon brassicae; Pseudococcus cuspidatae; Empoasca filamenta; Halticus bracteatus; Tribolium confusum; Plodia interpunctella; Myzus persicae; Aulacophora foveicollis.*

क्रिसोपोगान ट्रिनिअस (ग्रेमिनी) CHRYSOPOGON Trin.

ले. – क्रिसोपोगोन

यह अधिकांशत: उष्णकटिबन्धी बहुवर्षी घासों का एक वंश है जिसमें लगभग 32 जातियाँ हैं जिनमें से कुछ चारे के रूप में उपयोगी हैं.

Gramineae

क्रि. एसीकुलेटस ट्रिनिअस C. aciculatus Trin.

ले. – क्रि. असिकुलाटूस

D.E.P., II, 273; Fl. Br. Ind., VII, 188; Bor, *Indian For. Rec., N.S., Bot.*, 1941, **2**, 96, Pl. 19.

हिं. – मुरवाला, लम्पा; बं. – चोरकाँटा; ते. – पुट्टुलीगड्डी.

यह एक बहुवर्षी छोटी घास है, जिसके प्रकंद विसर्पी और पुष्पित-डंठल 30–60 सेंमी. लम्बे, सीधे होते हैं. यह भारत के समस्त मैदानी क्षेत्रों, निचले पहाड़ी इलाकों एवं दक्षिणी पूर्वी एशिया में पाई जाती है. यह आमतौर पर नम और चरोहर भूमि में खरपतवार के रूप में मिलती है और उन कुछ घासों में से है जो अधिक चराई के बाद भी पनप सकती हैं और कुछ न मिलने पर ही इसे पशु खाते हैं. हर हालत में पुष्पित और फलित डंठल जो वर्षा समाप्त होने पर निकलते हैं, त्याज्य हैं क्योंकि फूलों के लम्बे तेज कैलस से मुँह में घाव हो जाता है.

यदि इसकी मशीन से जल्दी-जल्दी कटाई होती रहे तो यह घास लान के लिए उपयुक्त है. जावा में डण्ठलों की बुनाई करके सिगरेट की डिब्बियाँ बनाई जाती हैं. इन्हें ब्रुश उद्योग में भी काम में ला सकते हैं (Burkill, I, 535).

क्रि. ओरियण्टैलिस ए. कैमस सिन. ऐण्ड्रोपोगान वाइटिएनस स्ट्यूडेल C. orientalis A. Camus

ले. – क्रि. ओरिएण्टालिस

Fl. Br. Ind., VII, 191; Fl. Madras, 1938.

ते. – कारप्प गड्डी.

यह एक परिवर्तनशील वहुवर्षी घास है, जो तमिलनाडु में कडप्पा के दक्षिण की ओर से नीलगिरि तक 2,100 मी. की ऊँचाई तक पाई जाती है. घास के विश्लेषण से निम्नलिखित परिणाम प्राप्त हुए: आर्द्रता, 7·79; अपरिष्कृत प्रोटीन, 4·45; कार्बोहाइड्रेट, 42·64; तंतु, 35·55; वसा, 1·13; तथा राख, 8·44% (Ramiah, *Bull. Dep. Agric., Madras*, No. 33, 1941, 14).

Andropogon wightianus Steud.

क्रि. ग्राइलस ट्रिनिअस C. gryllus Trin.

ले. – क्रि. ग्रिल्लुस

D.E.P., II, 274; Fl. Br. Ind., VII, 187; Blatter & McCann, 67, Pl. 41.

उत्तर प्रदेश – सलूम, सलीमा, कुस.

सीधे पोरों वाली यह बहुवर्षी घास 60–150 सेंमी. ऊँची होती है जिनके पत्ते 60 सेंमी. लम्बे, बड़े, सघन गुच्छों से युक्त होते हैं. यह आमतौर पर शुष्क, पथरीले और अनुपजाऊ स्थानों पर पाई जाती है. यह घास हिमालय के ठण्डे इलाकों में तथा कश्मीर से सिक्किम और खासी पहाड़ियों की 1,200–2,700 मी. की ऊँचाई तक पाई जाती है. ऑस्ट्रेलिया में इसे चारे के लिए अच्छी घास मानते हैं. यह छप्पर छाने के लिए अति उत्तम है. यह सायनोजनी घास बताई जाती है (Bor, *Indian For. Rec., N.S., Bot.*, 1941, 2, 93; Burkill, I, 534).

क्रि. माण्टेनस ट्रिनिअस सिन. ऐंड्रोपोगान माण्टीकोला शुल्ट्जे; क्रि. कोएरुलस डुथी; क्रि. सेरुलेटस ट्रिनिअस C. montanus Trin.

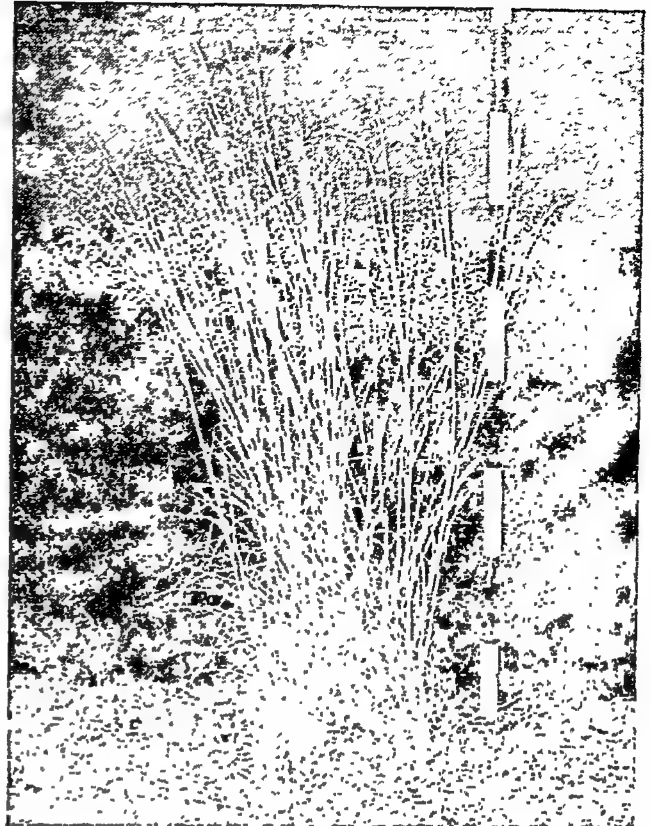
ले. – क्रि. मोण्टानूस

D.E.P., II, 274; III, 422; Fl. Br. Ind., VII, 193; Bor, *Indian For. Rec., N.S., Bot.*, 1941, 2, 94, Pl. 17 & 18.

हिं. – गोरिया, गुरला घोलू, चिकुआ; ते. – गोगड गड्डी, गुर्रा बट्टोकेलु; क. – गंजिगरिके हुल्लु.

बम्बई – अगीवा.

यह एक बहुवर्षी घास है जिसमें 30–180 सेंमी. लम्बे घने गुच्छेदार डंठल होते हैं जिनमें 90 सेंमी. लम्बी रेखीय पत्तियाँ निकलती हैं. यह घास बहुत ही परिवर्तनशील है. यह समस्त भारतवर्ष में, विशेषकर उत्तरी-पश्चिमी हिमालय से दक्षिण में 1,800 मी. की ऊँचाई तक के पहाड़ी क्षेत्रों में पाई जाती है.



चित्र 90 – क्रिसोपोगान माण्टेनस

इसकी कई किस्मों का विवरण दिया गया है परन्तु वे आपस में मिली हुई हैं जिससे किस्मों को अलग नहीं किया जा सकता (Haines, 1037; Blatter & McCann, 70).

यह घास, उथली, अच्छे जल-निकास वाली, बलुई या पथरीली भूमि में होती है जिसमें जल धारण शक्ति कम या बिल्कुल न हो. दक्षिणी भारत की लैटराइट मिट्टी में यह प्रचुरता से उगती है. प्रवर्धन बीज या प्ररोहों से होता है (Saini & Malik, *Indian Fmg*, 1949, **10**, 51).

यह घास उपयोगी चारा है और फूल आने के पूर्व ही (सितम्बर–अक्टूबर में) काट ली जाती है. इसके विश्लेषण से (शुष्क पदार्थ के आधार पर) निम्नलिखित मान प्राप्त हुए: अपरिष्कृत प्रोटीन, 4·48; तंतु, 26·48; नाइट्रोजन रहित निष्कर्ष, 57·58; ईथर निष्कर्ष, 1·86; कुल राख, 9·60% (CaO, 0·64; P_2O_5, 0·19; MgO, 0·15; और K_2O, 1·28%) (Sen, loc. cit.).

इस घास की उपज लगभग 14 टन प्रति हेक्टर है जो जनवरी से जुलाई तक 5 बार में काटी जाती है. लगभग तीन वर्ष में अच्छे चरागाह तैयार किए जा सकते हैं परंतु

प्रथम वर्ष चराई नहीं होनी चाहिए. इसमें जल की मात्रा अधिक रहती है, इसलिए यह घास साइलेज के लिए उपयुक्त नहीं है. इसे बलुही भूमियों के सुधार में प्रयुक्त किया जा सकता है (Burns *et al.*, *Bull. Dep. Agric. Bombay*, No. 78, 1916, 2; Badhwar & Griffith, *Indian For.*, 1946, **72**, 70).

Andropogon monticola Schult.; *C. coerulus* Duthie; *C. serrulatus* Trin.

क्रि. लैन्सिएरिअस (हुकर पुत्र) हेंज सिन. ऐंड्रोपोगान लैंसिएरिअस हुकर पुत्र C. lancearius (Hook. f.) Haines

ले. – क्रि. लांसेआरिऊस

Fl. Br. Ind., VII, 190; Haines, 1036; Blatter & McCann, 69.

बिहार – कोरपो दुम्बाऊ, कोरपो बिम्बू.

यह 0·9–1·8 मी. लम्बे डण्ठल वाली एक बहुवर्षी घास है, जो सिक्किम हिमालय, बिहार, छोटा नागपुर और उड़ीसा तथा पश्चिमी प्रायद्वीप में पाई जाती है. यह आमतौर पर पहाड़ियों और उनके थलों पर छायादार स्थानों में पाई जाती है और चारे के लिए अच्छी होती है. घास का विश्लेषण (शुष्क आधार पर) करने पर निम्नलिखित मान प्राप्त हुए हैं: अपरिष्कृत प्रोटीन, 4·71; तंतु, 27·64; सम्पूर्ण राख, 16·31; हाइड्रोक्लोरिक अम्ल में विलेय राख, 14·5% (CaO, 1·86; P_2O_5, 0·62; MgO, 1·22; K_2O, 2·23%) (Sen, *Misc. Bull., I.C.A.R.*, No. 25, 1946, 18, 19).

Andropogon lancearius Hook. f.

क्रिसोफिलम लिनिअस (सैपोटेसी) CHRYSOPHYLLUM Linn.

ले. – क्रिसोफिल्लुम

यह एक उष्णकटिबन्धी अमेरिकी वंश है. इसमें छोटे बड़े सदाहरित पेड़ों की लगभग 170 जातियाँ पाई गई हैं, जिनमें से एशिया में कुछ ही के पाए जाने का उल्लेख है. भारतवर्ष में दो जातियाँ पाई जाती हैं.

Sapotaceae

क्रि. कैनिटो लिनिअस C. cainito Linn.

वेस्ट इंडियन स्टार एपिल, कैनिटो

ले. – क्रि. काइनिटो

Bailey, 1947, I, 767.

क. – हाले, आले.

यह लम्बे या मँझोले आकार का 9–18 मी. ऊँचा, जो शायद ही 30 मी. तक जाता हो, वृक्ष है. इसका मूल स्थान वेस्ट इण्डीज़ तथा मध्य अमेरिका है. भारत में यह सुन्दर पत्तियों के लिए उगाया जाता है जिनका ऊपरी भाग गहरा हरा और चमकीला तथा नीचे का सुनहरा होता है. वृक्ष



चित्र 91 – क्रिसोफिलम कैनिटो

केवल शोभाकारी पत्तियों के लिए ही नहीं अपितु स्वादिष्ट फलों के लिए भी मान्य है.

क्रि. कैनिटो गहरी, उपजाऊ तथा अच्छे जल-निकास वाली मिट्टी में ठीक से उगता है परन्तु यह बलुई तथा मटियार भूमि में भी पैदा हो सकता है. इसका प्रवर्धन बीज से होता है किन्तु चुनी हुई किस्मों के लिए परिपक्व तने की कलमों एवं चश्मे से प्रवर्धन करना ठीक होता है. पाले से इसे हानि पहुँचती है.

इसके फल कठोर, गोल और सेब के आकार के होते हैं (5–10 सेंमी. व्यास) जिसमें 4–10 बीज तारों की तरह से गूदे के अन्दर चुने रहते हैं. पौधे की कई किस्में विदित हैं जो फल के आकार एवं गुणों में भिन्न हैं. इसकी दो प्रजातियाँ सामान्य हैं, एक में हरे फल लगते हैं और दूसरी में नील-लोहित, परन्तु फलों के स्वाद और सुरस में कोई अन्तर नहीं होता. कच्चे फल कषाय होते हैं और उनमें एक प्रकार का चिपचिपा सफ़ेद दूध रहता है. पेड़ पर पकने से फलों का गूदा मीठा,

स्वादिष्ट एवं सुरस हो जाता है. इन्हें ताजा या अचार बना कर भी खाया जा सकता है. भली-भाँति विकसित पेड़ से प्रति वर्ष 67·5 किग्रा. फल प्राप्त होते हैं (Popenoe, 344; Naik, 430).

हवाई द्वीप से प्राप्त फलों के विश्लेषण से निम्नलिखित मान निकले: शुष्क पदार्थ, 11·47; प्रोटीन, 2·34; वसा, 1·39; मैलिक अम्ल के रूप में अम्ल, 0·17; सम्पूर्ण शर्कराएं, 4·40; तंतु, 0·86; और राख, 0·39%. बीजों में एक कड़वा पदार्थ, लुकुमिन, 1·2; वसीय तेल, 6·6; सैपोनिन, 0·19; डेक्सट्रोस, 2–4; और राख, 3·75% पाई जाती है. पत्तियों में अल्प मात्रा में रेज़िन, रेज़िनिक अम्ल, एक ऐल्कलायड और एक अक्रिस्टलीय कड़वा पदार्थ पाया जाता है. लकड़ी हल्की, भूरी और मुलायम होती है (Winton & Winton, II, 835; Wehmer, II, 938; Gamble, 443).

क्रि. रॉक्सबर्गाई जी. डान C. roxburghii G. Don

स्टार ऐपिल

ले. – क्रि. रॉक्सबुर्घिई

D.E.P., II, 273; Fl. Br. Ind., III, 535; Beddome, Pl. 236.

बं. – पेटकारा; म. – तारसी; त. – कप्पालाइ, कादिलुप्पइ; क. – हाले; मल. – अडप्पाला.

असम – वाप्पिया, पियोगार्ब.

यह एक विशाल 21–36 मी. ऊँचा सदाहरित वृक्ष है जो असम, बंगाल और पश्चिमी घाटों में 1,200 मी. तक की ऊँचाई में पाया जाता है. यह 3·6 मी. या अधिक गोलाई तक का होता है जिसका साफ तना लगभग 30 मी. ऊँचा होता है.

पेड़ में गोलाकार (3·7–5 सेंमी. व्यास) फल लगते हैं जिनमें 3–8 बीज होते हैं जो पारभासी सफेद गूदे से घिरे रहते हैं. ये फल स्वादहीन होते हैं.

लकड़ी (भार, 576-648 किग्रा./घमी.) सफेद, सघन दानेदार और कुछ कठोर होती है. यह अच्छी तरह से सिझाई और चिकनाई जा सकती है. यद्यपि इसका प्रयोग मकान एवं तख्ते बनाने में होता है फिर भी इसकी विशेष माँग नहीं है क्योंकि इनमें भृङ्ग लगने से इसका शीघ्र ही क्षय होने लगता है. ऐसा कहा जाता है कि यह दियासलाई की तीलियाँ और बक्से बनाने तथा गन्ना पेरने की मिलों के लिए उपयुक्त है (Gamble, 443; Bourdillon, 207; Rama Rao, 64; Krishnamurty Naidu, 60).

इस वंश का दूसरा पेड़ **क्रि. मोनोपाइरेनम** स्वार्टज (डेट-प्लम) है जो श्रीलंका में उगाया जाता है. इसमें खजूर के आकार के मीठे फल लगते हैं जो अपने माधुर्य के लिए प्रसिद्ध है (Macmillan, 253).

C. monopyrenum Sw.

क्रिसोबेरिल CHRYSOBERYL

क्रिसोबेरिल और इसकी किस्म सिमोफेन या कैट्स आई (हि. – लहसुनिया; सिंहली – वयीरोडिया) प्राचीन काल के सुपरिचित रत्न पत्थर हैं. क्रिसोबेरिल शब्द की उत्पत्ति ग्रीक के दो शब्दों से हुई है जिनका अर्थ है सुनहला बेरिल.

अलेक्जैंड्रिया किस्म (सिंहली – पैसिंगल) सबसे पहले 1833 में यूराल पर्वतों से प्राप्त हुई थी.

क्रिसोबेरिल $BeO.Al_2O_3$ (Be, 7·1%; आ.घ., 3·67; कठोरता, 8·5) समचतुर्भुजीय (षट्कोणवत्) प्रिज्मीय क्रिस्टलों के रूप में पाया जाता है जिनके बीच सूक्ष्म पिनेकॉयडीय विदलन से दिखाई देते हैं. इसका रंग पीले से हरे रंगों की विभिन्न छायाओं में पाया जाता है. आलिवीन की पीली-हरी किस्म को, क्रिसोबेरिल के समान रंग होने के कारण, कभी-कभी क्रिसोलाइट भी कहते हैं परंतु यह क्रिसोबेरिल की अपेक्षा कम कठोर (कठोरता, 6·5) है. क्रिसोबेरिल को रगड़ने से धन विद्युत पैदा होती है जो अन्य मिलते-जुलते गुणों वाले खनिजों की अपेक्षा प्रायः अधिक समय तक ठहरती है.

कैट्स आई या क्रिसोबेरिल की कैट्स आई (*क्वार्ट्ज की कैट्स आई से अन्तर बताने के लिए) को काइमोफेन भी कहते हैं* जो क्रिसोबेरिल की एक हरी, रेशेदार, अल्प पारदर्शी और दूधिया किस्म है. अति सूक्ष्म, समान्तर ढंग से व्यवस्थित नलिकाओं के कारण इसमें रंग परिवर्तन का गुण (कैटोयेंसी) देखा जाता है. जब पत्थर के गोल पृष्ठ को नलिकाओं के समान्तर काटा जाता है तो पत्थर को घुमाने पर उसकी सतह के चारों ओर प्रकाश की लुभावनी रेखा आर-पार दिखाई पड़ती है. इसकी चमक बिल्ली की पुतली के समान होती है इसलिए इसका नाम 'बिल्ली की आँख' वाला पत्थर या लहसुनिया (कैट्स आई स्टोन) पड़ा.

क्रिसोबेरिल की एक किस्म अलेक्जैंड्राइट है जो दिन के प्रकाश में नीली-हरी या गहरी हरी दिखाई पड़ती है और कृत्रिम प्रकाश में रसभरी के लाल रंग जैसी दिखाई पड़ती है. यह बहुवर्णी है. खनिज में क्रोमियम की थोड़ी मात्रा होती है इसलिए अलेक्जैंड्राइट में रंग आता है.

क्रिसोबेरिल तथा इसकी किस्में ग्रेनाइट एवं पेग्माटाइट में मिलती हैं; परंतु कभी-कभी समीपवर्ती नाइस और अभ्रक-शिस्ट में पाई जाती हैं. ये नदियों के निक्षेपों (रत्न बजरी) में भी पाये जाते हैं, जो ऊपर की चट्टानों से ही उत्पन्न हुए रहते हैं.

वितरण

उड़ीसा – पीले क्रिसोबेरिल के छोटे क्रिस्टल ग्रेनाइट शिरा में कटक जिले के रामिडी नामक स्थान में नीले ऐपैटाइट के साथ पाए जाते हैं [Iyer, *Rec. geol. Surv. India*, 1942, 76 (6), 29].

तमिलनाडु – कोयम्बटूर जिले में कंगायाम के पड़ोस में (11°0:77°34′) क्रिसोबेरिल के गंधक जैसे पीले रंग के क्रिस्टल नीले ऐपैटाइट के साथ कोरंडमधारी फेल्सपार चट्टान में पाए जाते हैं. इन पत्थरों में अत्यन्त अनुप्रस्थ भ्रंश होते हैं और ये रत्नों के लिए अनुपयुक्त हैं (La Touche, 157).

राजस्थान – किशनगढ़ राज्य में सरवर (26°4′:75°4′) के पास गोविन्द सागर में पेग्माटाइट शिराओं में, क्रिसोबेरिल के पारदर्शक पीले क्रिस्टल, अभ्रक तथा बेरुज के साथ पाए जाते हैं किन्तु भोला को इन पेग्माटाइट में कोई भी क्रिसोबेरिल नहीं मिले (*Trans. Min. geol. Inst., India*, 1935, 29, 299, 397).

क्रिसोबेरिल को कीमती पत्थर माना जाता है. इसकी लहसुनिया और अलेक्जैंड्राइट किस्में प्रचलित रत्न पत्थर हैं.

क्रिसोबेरिल और अलेक्जेंड्राइट ही केवल रंगीन पत्थर हैं जो हीरे की तरह कटने पर सबसे अच्छे लगते हैं. पतले नमूने या तो 'स्टेप' काट या मिश्र काट के होते हैं. अलेक्जेंड्राइट को काटते समय रंगों की ओर विशेष ध्यान देना चाहिए क्योंकि वे भिन्न-भिन्न दिशाओं में भिन्न-भिन्न दिखाई पड़ते हैं. लहसुनिया को गोल काट या अंडाकार उत्तल पृष्ठ के रूप में काटते हैं. अच्छा मूल्य पाने के लिए लहसुनिया की 'रेखा' चटक एवं स्पष्ट होनी चाहिए, और बहुत चौड़ी न होकर पत्थर के बीचों-बीच समान रूप से आरपार होनी चाहिए.

क्रिसोबेरिल का प्रयोग घड़ियों और कालमापी के धुराग्र बेयरिंगों के बनाने में होता है. क्रिसोबेरिल का मुख्य उत्पादक देश रूस है. क्रिसोबेरिल रत्न ब्रह्मा और श्रीलंका के छोटे रत्नों में से है. ये लालमणि, नीलम और स्पिनेलों के साथ बेचे जाते हैं. भारतवर्ष में क्रिसोबेरिल के साफ, पारदर्शी और निर्दोष क्रिस्टल नहीं पाये जाते.

क्रिसोबैलेनस लिनिअस (रोज़ेसी) CHRYSOBALANUS Linn.

ले. – क्रिसोबालानूम
Bailey, 1947, I, 766.

यह 7 जातियों का वंश है जो अमेरिका और पश्चिमी अफ्रीका के उष्ण तथा उपोष्ण तटीय क्षेत्रों में पाया जाता है. क्रि. इकैको लिनिअस श्रीलंका और मालाबार में कुछ हिस्सों में लाकर उगाया गया है.

क्रि. इकैको (कोको-प्लम) एक झाड़ी या छोटा वृक्ष है, जिसके फल आलूबुखारे के समान गूदेदार होते हैं, जो खाए जाते हैं और अचार के लिए प्रयोग किये जाते हैं. फल के गूदे में प्रोटीन, 0·46; अपचायक शर्कराएँ, 4·18–5·18; स्यूक्रोस, 0·00 से 0·36; और राख, 0·91–0·96% रहती है. गूदे में गैलो-टैनिक तथा इलैजी-टैनिक अम्ल होते हैं जो या तो अकेले या अन्य चमड़ा कमावकों के साथ मिलाकर मुलायम और रंध्री चमड़ा उत्पादन में प्रयोग किये जाते हैं (Winton & Winton, II, 664, Burkill, I, 533).

बीजों में आर्द्रता, 2·43; प्रोटीन, 10·74; कार्बोहाइड्रेट, 63·83; और राख, 1·72% मिलती है. कभी-कभी बीजों से एक वसीय तेल, इकैको तेल, औद्योगिक उपयोग के लिए निकाला जाता है (Padilla *et al.*, *Philipp. Agric.*, 1933, **22**, 408, Wehmer, I, 483; Record & Hess, 454).

छिलका, जड़ें और पत्तियाँ कषाय होती हैं और फल अतिसार तथा आँत के अन्य विकारों में काम आता है (Record & Hess, loc. cit.; Burkill, loc. cit.).
Rosaceae; *C. icaco* Linn.

क्रेसा लिनिअस (कानवलवुलेसी) CRESSA Linn.

ले. – क्रेस्सा
D.E.P., II, 588; Fl. Br. Ind., IV, 225.

यह बूटियों अथवा झाड़ियों की 5 जातियों का छोटा-सा वंश है जो उष्ण तथा उपोष्ण कटिबंध में पाया जाता है.

क्रे. क्रेटिका लिनिअस (हिं. तथा बं. – रुद्रवन्ती; म. – खर्दी, चवेल; गु. – उना; ते. – उप्पूसनागा) जो सारे भारत में पायी जाती है. यह रूपान्तरक, अग्निवर्धक, शक्तिप्रद तथा वाजीकर ओषधि के रूप में काम आती है. इसका स्वाद खट्टा अप्रिय होता है (Kirt. & Basu, III, 1740).
Convolvulaceae; *C. cretica* Linn.

क्रेसेन्शिया लिनिअस (बिगनोनिएसी) CRESCENTIA Linn.

ले. – क्रेसेण्टिआ

यह मध्यम आकार वाले वृक्षों की लगभग 10 जातियों का वंश है जो उष्णकटिबंधीय अमेरिका में पाया जाता है.
Bignoniaceae

क्रे. कुजेट लिनिअस C. cujete Linn. कलावाश का पेड़

ले. – क्रे. कुजेटे
Benthall, 348.

हिं. – विलायती बेल; त. – तिरुवोत्तुक्के.

यह जाति भारतवर्ष में भी लाई जा चुकी है और सामान्यतया उद्यानों में पाई जाती है. फल अंडाकार या गोल, 30 सेंमी. तक के व्यास के होते है जिनका खोल कठोर, चिकना और काष्ठमय होता है, जिसके भीतर खट्टा गूदा और चपटे बीज रहते हैं. बढ़ते हुए फलों में रस्सी बाँधकर उन्हें विविध आकार प्रदान किये जा सकते हैं.

फलों का गूदा मूत्रवर्धक, मृदुविरेचक, शीतलताप्रदायक तथा ज्वरहारी होता है. यह पक्षियों तथा छोटे स्तनियों के लिए विषैला है. खोलों पर सुन्दर पालिश चढ़ सकती है और इन्हें रसोई के पात्रों के रूप में काम में लाया जाता है (Burkill, I, 680; Kirt. & Basu, III, 1853; Macmillan, 437).

छाल का काढ़ा घाव धोने के और पिसी हुई पत्तियों से बनाया गया प्रलेप सिर दर्द दूर करने के काम आता है (Burkill, loc. cit.).

फल के गूदे में क्रेसेण्टिक, टार्टरिक, सिट्रिक तथा टैनिक अम्ल होते हैं. क्लोरोजेनिक अम्ल की भी उपस्थिति सूचित की गई है. कहा जाता है कि रस में एक रंजक होता है. कभी रेशम को काला रंगने के काम आता था. बीजों से एक अवाष्पशील तेल निकलता है जो मूंगफली तथा जैतून के तेल के समान होता है. इस तेल में संतृप्त अम्ल, 19·7; ओलीक, 59·4; लिनोलीक, 19·3; तथा लिनोलेनिक अम्ल, 1·6% पाए जाते हैं. इसका आयो. मान, 88·7; साबु. मान, 191·2; तथा असाबुनीकृत पदार्थ, 0·81% है (Dymock, Warden & Hooper, III, 24; Wehmer, II, 1137; *Chem. Abstr.*, 1929, **23**, 2574; 1947, **41**, 2259).

क्रैटीगस लिनिअस (रोज़ेसी) CRATAEGUS Linn.

ले. – क्राटेगूस

यह कँटीली झाड़ियों और छोटे वृक्षों का वंश है जिसमें लगभग 150 जातियाँ हैं, जो उत्तरी गोलार्ध के शीतोष्ण कटिबन्ध

मे पाई जाती हैं. कुछ लेखक इस वंश में एक हजार से भी अधिक जातियाँ मानते हैं. कई जातियाँ शोभाकारी हैं. भारत में लगभग चार जातियाँ पाई जाती हैं.
Rosaceae

क्रै. आक्सीएकान्था लिनिग्रस C. oxyacantha Linn.
अंग्रेजी हॉथार्न

ले.—क्रा. आक्सिआकान्था
D.E.P., II, 583; Fl. Br. Ind., II, 383.

पंजाब की पहाड़ियाँ—रिंग, रिंगो, पिग्यात, फिण्डक, वन संजली.

यह 6–9 मी. ऊँचा एक शोभाकारी वृक्ष है जो 1,800–2,700 मी. की ऊँचाई तक उत्तर-पश्चिम हिमालय में सिन्धु से रावी तक पाया जाता है. भारत के मैदानों में यह अच्छी तरह नहीं फूलता-फलता है. फल खाद्य हैं. इसके बहुत से प्रकार हैं जो एक दूसरे से पर्ण समूहों पुष्पों और फलों के गुणों के कारण भिन्न होते हैं. हिमालय में पाये जाने वाले वृक्षों के फल, यूरोप में उत्पन्न होने वाले फलों की अपेक्षा अधिक उत्तम माने जाते हैं. इनसे अचार और मिठाइयाँ बनाई जाती हैं. फलों का रस (जिसमें सायनोजनी ग्लूकोसाइड उपस्थित रहता है) हृदीय टानिक के रूप में तथा आंगिक एवं क्रियाशील हृदय के विभिन्न रोगों जैसे दुःश्वसन, अपर्याप्त अतिवृद्ध कपाट और हृदय दमन के उपचार के लिए उपयोगी सिद्ध हुआ है. इससे रक्त-चाप कम हो जाता है. इसका प्रभाव स्थायी नहीं है. दवा बन्द करने पर रक्त-चाप अपने पूर्व स्तर पर पुनः आ जाता है. ग्राहम् की खोज से ज्ञात होता है कि जब पशुओं को क्रैटीगस टिंक्चर पिलाया जाता है, तब इसका बहुत कम प्रभाव पड़ता है परन्तु अन्तःशिरा द्वारा प्रविष्ट करने पर श्वसन कम हो जाता है और हृदय पर भी प्रभाव पड़ता है. पहले रक्त-चाप में थोड़ी-सी कमी और हृदय-बल में वृद्धि होकर पुनः हृदीय अनियमितता प्रारम्भ हो जाती है. दीर्घकालिक विपाक्तता से यकृत का क्षय होता है. इस औषध से गर्भाशय और आँतें शिथिल हो जाती हैं परन्तु श्वास नलिका और हृदय धमनी संकुचित हो जाती हैं (Martindale, I, 489; U.S.D., 1474).


चित्र 92—क्रैटीगस आक्सीएकान्था

हॉथार्न के मुरब्बे में काफी विटामिन सी (1·5 मिग्रा./ग्रा. तक) रहता है अतः यह इस विटामिन का मूल्यवान स्रोत है. छाल और बीज से बनाए हुए चाय-जैसे मादक पेय में भी विटामिन की प्रचुर मात्रा रहती है (*Chem. Abstr.*, *1939*, **33**, 5457).

ताजे फल में सिट्रिक, टार्टरिक तथा क्रैटीगस अम्ल, पैक्टिन और वसीय तेल (0·76%) पाये जाते हैं. इसमें शुष्क भार के अनुसार 35% तक शर्कराएँ, मुख्यतः ग्लूकोस और फ्रक्टोस, रहती हैं. बीजों में एमिग्डैलिन और इमल्सिन पाए जाते हैं. छाल की वसा में पामिटिक, स्टीऐरिक, मिरिस्टिक तथा रेजिनिक अम्ल, सीरिल-ऐल्कोहल, टैनिंग पदार्थ, प्रतीप शर्करा, बहु-शर्कराइड, ऑक्सैलिक और टार्टरिक अम्ल के लवण, एसक्युलिन तथा ल्यूपिओल जैसे यौगिक पाये जाते हैं. लकड़ी में 25% पेंटोसन रहते हैं. पत्तियों मे ऑक्सैलिक अम्ल, मुख्यतः कैल्सियम लवण के रूप में पाया जाता है. पुष्पों में एक वाष्पशील तेल (0·157%), ट्राइमेथिलऐमीन, क्वेर्सिट्रिन और क्वेर्सिटिन पाये जाते हैं. नई टहनियों में एक सायनोजनी ग्लूकोसाइड उपस्थित रहता है (Wehmer, I, 439; *Chem. Abstr.*, 1946, **40**, 7311; *1928*, **22**, *611*).

इसकी लकड़ी पीले-भूरे रंग की सघन तथा सम दानेदार, चिकनी, टिकाऊ, कठोर और भारी (भार, 736–896 किग्रा./घमी.) होती है. यह कुल्हाड़ियों के हत्थे और छड़ियाँ बनाने के काम में आती है. यह नक्काशी के लिए उपयुक्त है तथा बाक्स वुड जैसी उत्तम मानी जाती है (Howard, 244).

क्रै. क्रेन्युलेटा रॉक्सबर्ग = **पायरेकान्था क्रेन्युलेटा** रोइमर एक बड़ी झाड़ी है जो हिमालय मे सतलज से भूटान तक 750–2,400 मी. की ऊँचाई वाले प्रदेशों में पाई जाती है. इसकी लकड़ी (भार, 768–800 किग्रा./घमी.) क्रै. आक्सीएकान्था से मिलती-जुलती है और कुल्हाड़ी के हत्थे, लाठियाँ और छड़ियाँ बनाने के लिए काम में लाई जाती है. इसके फल में शर्कराएँ, गोंद और टैनिन पाये जाते हैं (Wehmer, loc. cit.; Gamble, 326).
C. crenulata Roxb.; *Pyracantha crenulata* Roem.

क्रैटीवा लिनिग्रस (कैपेरिडेसी) CRATAEVA Linn.

ले.—क्राटेवा

यह उष्णकटिबन्धीय प्रदेशों में पाये जाने वाले वृक्षों और झाड़ियों का एक वंश है जिसमें 11 जातियाँ सम्मिलित हैं. *Capparidaceae*

क्रै. नुर्वला (बुखनन-हैमिल्टन) **सिन. क्रै. रेलिजिओसा** हूकर पुत्र तथा थामसन नान फार्स्टर पुत्र C. *nurvala* Buch.-Ham.

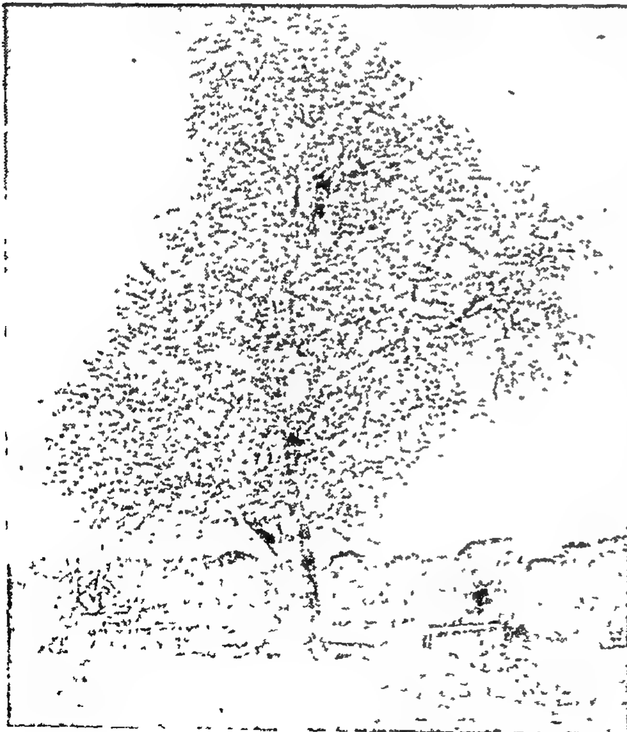
ले. – क्रा. नूर्वाला
D.E.P., II, 583; C.P., 429; Fl. Br. Ind., I, 172.

सं. – वरुण, अस्मरिघ्न; हिं. – वरन, विलासी; बं. – वरुन; म. – वयवरन, हरावरन; त. – मारालिगम.

यह मँझोले आकार का एक पर्णपाती वृक्ष है, जो सामान्यतः सम्पूर्ण भारत, ब्रह्मा तथा श्रीलंका मे जंगली या कृष्ट रूप में पाया जाता है.

भारतीय भेषजीय पौधों के लेखक भ्रम से इस वृक्ष को कहीं-कहीं **ईगली मार्मेलोस** (बेल) समझ बैठे हैं जो उससे भिन्न है और **रुटैसी** कुल का वृक्ष है.

इसकी छाल में टैनिन और सैपोनिन रहता है और यह कटु कालिक ज्वर रोधी, टानिक और शामक है. यकृत पर इसका उत्तेजक प्रभाव पड़ता है. इसका निष्कर्ष मृदुरेचक और क्षुधा बढ़ाने के लिए काम में लाया जाता है. यह मूत्रीय अंगों की पथरी और अन्य रोगों के लिए भी उपयोगी है. जड़ों की छाल रक्तिमाकर और प्रतिक्षोभक है (Wehmer, I, 392; Caius, *J. Bombay nat. Hist. Soc.*, 1939, 41, 130).



चित्र 93 – क्रैटीवा नुर्वला

पत्तियों में त्वचा को लाल करने, यहाँ तक कि फफोले डालने का भी गुण पाया जाता है*. इनकी पुल्टिस बनाई जाती है. पुष्प कषाय और पित्त वर्धक हैं (Kirt. & Basu, I, 191).

लकड़ी (भार, 528–752 किग्रा./घमी.) चमकीली, श्वेताभ, पीली, साधारण कठोर, चिकनी और सघन दानेदार होती है. इस पर कीड़ों का आक्रमण हो सकता है. यह कंघियाँ, अन्य छोटी-छोटी वस्तुएँ एवं दियासलाइयाँ बनाने के काम में आती है (Howard, 160; Gamble, 32; Trotter, 1944, 228; Burkill, I, 677).

C. religiosa Hook. f. & Thoms. non Forst. f.; *Aegle marmelos*; *Rutaceae*; *C. roxburghii* R. Br.

क्रैटोजाइलम ब्लूम (हाइपेरिकेसी) CRATOXYLUM Blume

ले. – क्राटोक्सिलूम
D.E.P., II, 588; Fl. Br. Ind., I, 257.

यह वृक्षों और झाड़ियों की लगभग 19 जातियों का वंश है जिसका मूल स्थान उष्णकटिबन्धीय एशिया है.

क्रै. लाइगूस्ट्रिनम (स्पाख) ब्लूम सिन. **क्रै. पोलिएन्थम** कोर्थल्स एक मँझोले आकार का वृक्ष है जो अण्डमान द्वीपों में पाया जाता है. इसकी लकड़ी पीताभ भूरी या रक्ताभ कठोर और बारीक दानों वाली होती है. यह इमारती कामों, अल्मारियों आदि के लिए उपयोगी बताई गई है. **क्रै. कोचीनचाइनेन्स** (लॉरीरो) ब्लूम सिन. क्रै. **फारमोसम** बेंथम और हुकर पुत्र साधारणतया एक छोटा अरोमिल वृक्ष है, जिसका मूल स्थान अण्डमान द्वीप है, और जो कभी-कभी कलकत्ता के बगीचों में लगाया जाता है. कहते हैं कि इससे उपयोगी लकड़ी मिलती है. इसकी छाल का काढा शूल में उपयोगी बताया जाता है और छाल से प्राप्त एक रेजिन, जो धीरे-धीरे लाल पड़ जाता है, खुजली में काम आता है (Burkill, I, 678).

क्रै. नेरीफोलियम कुर्ज़ (ब्रह्मा का बेव्या) की लकड़ी हल और औजारों के बेंट बनाने के काम आती है और जब काफी बड़ी होती है तो इमारती कामों के लिए भी इस्तेमाल की जाती है. यह गहरे रंग की कठोर, सघन दानेवाली और कुछ भारी होती है (भार, 864 किग्रा./घमी.). यह कोयला बनाने के उपयुक्त है. **क्रै. आर्बोरेसेन्स** (वाल) ब्लूम ब्रह्मा में होती है और इसकी लकड़ी मकान, खम्भे और तख्ते बनाने के काम आती है (Rodger, 4, 71; Burkill, loc. cit.).

Hypericaceae; C. ligustrinum (Spach) Blume syn. *C. polyanthum* Korth.; *C. cochinchinense* (Lour.) Blume syn. *C. formosum* Benth. & Hook. f.; *C. neriifolium* Kurz; *C. arborescens* (Vahl) Blume

*यह गुणधर्म क्रै. रॉक्सबर्गाई आर. ब्राउन (सिन. क्रै. रेलिजिओसा हूकर पुत्र तथा थामसन नान फार्स्टर पुत्र वैर. रॉक्सबर्गाई) पौधे में और कभी-कभी इसकी पत्तियों में ही पाया जाता है. कुछ लोग इस जाति को क्रै. नुर्वला बुखनन-हैमिल्टन समझते हैं, ओर कुछ इसे इससे भिन्न मानते हैं.

क्रैम्बी लिनिअस (क्रूसीफेरी) CRAMBE Linn.

ले. – क्राम्बे

D.E.P., II, 582; Fl. Br. Ind., I, 165.

यह बूटियों या नीची झाड़ियों की लगभग 28 जातियों का वंश है जो यूरोप, अफ्रीका, एशिया, पोलीनेशिया तथा पेण्टागोनिया में पाया जाता है.

क्रै. कोर्डीफोलिया स्टीवेन्सन उत्तर-पश्चिमी हिमालय, कश्मीर, बलूचिस्तान, अफगानिस्तान और फारस में 2,400–4,200 मी. की ऊँचाई पर पायी जाती है. इसमें 30 सेंमी. व्यास की पत्तियाँ आती हैं जिनकी तरकारी बनाई जाती है. जड़ भी खाद्य है. कभी-कभी इस पौधे का उपयोग खुजली के उपचार में किया जाता है (Kirt. & Basu, I. 178).

क्रै. मारिटिमा लिनिअस (समुद्री केल) यूरोप में तरकारी की तरह प्रयोग में लाई जाती है और भारत में भी इसका प्रयोग तरकारी के रूप में किया गया किन्तु इसमें सफलता नहीं मिली (Firminger, 169).

Cruciferae; *C. cordifolia* Steven.; *C. maritima* Linn.

क्रोकस लिनिअस (इरिडेसी) CROCUS Linn.

ले. – क्रोकूस

यह 80 जातियों का एक बड़ा वंश है जिसमें कंदीय बूटियाँ पायी जाती हैं. **क्रो. सैटाइवस**, जिससे केसर निकलती है, भारतवर्ष में सीमित मात्रा में उगायी जाती है.

Iridaceae

क्रो. सैटाइवस लिनिअस C. sativus Linn.

ले. – क्रो. साटिवुस

D.E.P., II, 592; C.P., 429; Fl. Br. Ind., VI, 2761.

सं. – केशर; फारसी – जाफ़रान; अरबी–जफ़रान, जहाफ़रान; हिं. – केसर, जाफ़रान; बं. – जाफ़रान; गु. – केशर; म.– केशर; ते. – कुंकुमपुवा; त. – कुंगुमपू; क. – कुंकुमकेसरि.

कश्मीर – कांग.

यह छोटा गोलाकार बहुवर्षी है जो 15–25 सेंमी. ऊँचा होता है और अपने बड़े, सुगंधित, नीले तथा मोतिया रंग वाले फूलों के लिए उगाया जाता है. फूलों में त्रिशाख तथा नारंगी रंग के वर्तिकाग्र होते हैं. यह वर्तिकाग्रों सहित बाजार में केसर के नाम से मिलते हैं.

यह पौधा दक्षिणी यूरोप का मूलवासी है और इसे स्पेन, फ्रांस, इटली, यूनान, तुर्की, फारस, भारत एवं चीन में उगाया जाता है. भारत में इसका उत्पादन मुख्यतः कश्मीर में पामपुर (समुद्र तट से 1,590 मी. ऊँचाई पर) और जम्मू में किश्तवर की पठारी भूमि तक ही सीमित है. भारतवर्ष के अन्य भागों में भी इसे उगाने का प्रयत्न किया गया है (Inam-ul-Haq & Sayeeduddin, *Curr. Sci.*, 1932–33, **1**, 394; Firminger, 341).

केसर के पौधे ठंडे प्रदेशों में, जिनकी जलवायु थोड़ी गर्म या उपोष्ण कटिबंधीय होती है, भली प्रकार पनपते हैं. इसके लिए उपजाऊ, अच्छे जल-निकास वाली रेतीली या दुमट भूमि चाहिए. इसे कायिकप्र वर्धन द्वारा शल्ककन्दों से उगाया जाता है. श्रीनगर के समीप पामपुर में अगस्त–सितम्बर में ऊँची क्यारियों में (1·5 मी. वर्गाकार) शल्ककन्द रोपित किये जाते हैं. क्यारियों के चारों ओर 22·5 सेंमी. चौड़ी × 15 सेंमी. गहरी नालियाँ बना दी जाती हैं. क्यारियों की गुड़ाई करके घास-पात निकाल दी जाती है. पौधों को लगा देने के बाद न तो कोई खाद ही दी जाती है और न सिंचाई ही करनी पड़ती है. जम्मू घाटी में स्थित किश्तवर में, जहाँ की भूमि हल्की तथा अच्छे जल-निकास वाली है, शल्ककन्दों को सपाट मैदानों में लगाया जाता है. एक बार शल्ककन्दों को प्रतिरोपित करने के बाद पौधा स्वयं ही दस–पन्द्रह वर्षो तक उगता रहता है क्योंकि प्रति वर्ष नए शल्ककन्द उत्पन्न होते हैं और पुराने सूखकर नष्ट हो जाते हैं. एक हेक्टर भूमि में बुवाई के लिए 5 टन शल्क-कन्दों की आवश्यकता होती है; यदि भूमि अच्छी हो तो ती वर्ष में शल्ककन्द बढ़कर 6·25 टन हो जाते हैं. दस वर्षो में उनका भार दुगुना हो जाता है (Fotidar, *Agric. Live-Stk India*, 1934, **4**, 242).

अक्टूबर–दिसम्बर में पौधों में फूल आते हैं. केसर बनाने के लिए प्रतिदिन प्रातः ओस गिर जाने के बाद फूलों को इकट्ठा किया जाता है. इस काल में भारी वर्षा बाधक होती है. वर्तिका तथा वर्तिकाग्र को अलग करके धूप अथवा कृत्रिम ऊष्मा में सुखा लेते हैं. दूसरी विधि में पदार्थ को छन्नियों पर रखकर मिट्टी की भट्टियों अथवा हल्की आँच वाले बर्तनों में रख देते हैं. अंतिम उत्पाद के गुण फूल अंशों की निष्कर्षण विधि एवं परवर्ती उपचार पर निर्भर करते हैं. ताजे चुने गये फूल के आवश्यक भाग के निकाले गए वर्तिकाग्रों को धूप में सुखाने से जो केसर प्राप्त होता है वह सर्वोत्तम माना जाता है. कश्मीर में केसर प्राप्त करने के लिए पूरे फूल को धूप में 3–5 दिन तक सुखाते है और इसके बाद छड़ी से हल्की चोट देकर अन्त में मोटी छन्नियों से छान लेते हैं. छन्नियों में निकले अंश को पानी में डालते हैं; पानी के ऊपर तैरती पंखुड़ियों को निकाल कर फेंक देते हैं और पानी में डूबे भाग को एकत्र करके सुखा लेते हैं. इस विधि से प्राप्त केसर सर्वोत्तम अथवा मोगरा-केसर है. वह भाग जो छन्नियों से नीचे नहीं आता उसे एकत्र करके उपर्युक्त समस्त क्रियाओं को दो या तीन बार दुहराते हैं. इस प्रकार प्रत्येक बार प्राप्त केसर पहले से घटिया किस्म का होता जाता है.

केसर की प्रति हेक्टर उपज बहुत कम होती है किन्तु मजदूरी काफी लगती है. एक किग्रा. उत्तम किस्म की केसर 1,60,000 से अधिक फूलों से प्राप्त होती है. कश्मीर में ताजे फूलों की औसत पैदावार प्रति हेक्टर 140 किग्रा. है जो 5 किग्रा. सूखी केसर के बराबर है. किश्तवर में अपेक्षाकृत कम उपज मिलती है. पहले वर्ष कम उपज मिलती है और मध्यम गुणवाली मिट्टियों में पौधा लगाने के तीसरे वर्ष तथा छठे वर्ष के बीच अधिकतम उपज प्राप्त होती है. केसर की अधिकतम उपज 6 किग्रा. प्रति हेक्टर है (Wentzel, *Nat. geogr. Mag.*, 1948, **93**, 523; Fotidar, loc. cit.).

जम्मू और कश्मीर दोनों ही जगहों की उपज अन्य देशों की अपेक्षा बहुत कम है क्योंकि उन देशों में प्रति हेक्टर 8–11



चित्र 94 – क्रोकस सैटाइवस

किग्रा. केसर पैदा होती है. अधिक उपज सिंचाई तथा उपयुक्त खाद पर निर्भर करती है. स्पेन में यह सिंचित फसल के रूप में उगाई जाती है. फ्रांस में केसर के पौधे को हर तीसरे साल जड़ से उखाड़ देते हैं. इटली में इसे वार्षिक फसल के रूप में उगाया जाता है (Fotidar, loc. cit.).

बाजार में बिकने वाली केसर ढीली चटाई जैसी पिंडाकार, गहरे लाल-भूरे रंग की वर्तिकाग्रों से युक्त होती है जिसमें विशिष्ट सुगंध तथा कटु स्वाद होता है. ताजे वर्तिकाग्र चमकीले एवं छूने में चिकने होते हैं किन्तु कुछ समय तक रखे रहने पर वे चमक रहित और भंगुर हो जाते हैं (Wallis, 143).

केसर को मुख्यत: उसके रंजक तथा सुवासकारी गुणों के कारण प्रयोग में लाया जाता है. इसे मक्खन, पनीर तथा पुडिंग, पेस्ट्री तथा मिठाइयों में रंग लाने के लिए काम में लाते हैं.

केसर अपने औषधीय गुणों के कारण भी प्रसिद्ध है. यह तंत्रिकाओं को शान्त करने तथा ऋतुस्राव को उत्तेजित करने वाली ओषधि के रूप में उपयोगी है. कभी-कभी फफोलों को बढ़ाकर, त्वचा रोग दूर करने के लिए इसका प्रयोग करते हैं. इसका उपयोग ज्वर, विषाद रोग और यकृत के बढ़ने पर होता है. इसमें उद्दीपक तथा अग्निवर्धक गुण भी पाया जाता है जिससे इसे बच्चों के कफ़ रोगों के लिए उपचार माना गया है. आधुनिक फार्माकोपियाओं में इसका उपयोग अन्य ओषधियों को रँगने या हृदय रोग की ओषधियों के सहायक के रूप में बताया गया है. केसर का उपयोग गर्भस्रावक के रूप में किया गया है और ऐसे कई उल्लेख भी हुए हैं. केसर के शल्ककन्द कम आयु के जानवरों के लिए विषैले होते हैं और वर्तिकाग्र अधिक मात्रा में ग्रहण करने पर संवेदन-मंदक (नार्कोटिक) होते हैं (U.S.D., 1416; Fotidar, loc. cit.; Martindale, I, 262; Chopra & Badhwar, *Indian J. agric. Sci.*, 1940, **10**, 40).

केसर में बहुधा वर्तिका, परागकोष और दलपुंज के भागों से मिलावट की जाती है. घटिया केसर, **कम्पोज़िटी** परिवार के कुछ फूल या फूलों के भाग जैसे – **कैलेण्डुला** (एक प्रकार का गेंदे का फूल) और कुसुम्भ (**कार्थमस टिंक्टोरिअस**), कार्न सिल्क और कोलतार से प्राप्त रंजकों से रंगे अन्य पदार्थ केसर में मिलावट के लिए प्रयुक्त होते हैं. भार बढ़ाने के लिए पानी, ग्लिसरीन या तेल डाला जाता है. बाजार में मिलने वाली केसर की टिकिया में कुसुम के पुष्पकों के साथ मीठे पदार्थ रहते हैं (U.S.D., loc. cit.; Wallis, 144).

ब्रिटिश ओषधिकोश से मान्य केसर में 8% से अधिक वर्तिका तथा परागकोष और 2% से अधिक अन्य कार्बनिक पदार्थ नहीं रहने

चाहिए. ईथर या पेट्रोलियम स्पिरिट के साथ इसे अत्यन्त हल्का रंग देना चाहिए और इसके 0·1 ग्रा. भार को 50 मिली. जल में विलयित होने पर जो पीला रंग प्राप्त हो उसकी कान्ति उतने ही जल में 0·275 ग्रा. क्रोमिक ऐन-हाइड्राइड विलयन के समान होनी चाहिए. इसमें आर्द्रता, 9–14; जल निष्कर्ष, 50; नाइट्रोजन, 2·22–2·43; तथा राख, 5–7% होनी चाहिए. कश्मीर से प्राप्त केसर में 8·5–10·2% जल और 5·9–13·3% राख रहती है (B.P.C., 371; Trease, 165; Budhiraja, *J. Indian chem. Soc., Industr. & News Edn*, 1942, 5, 135).

व्यापारिक केसर का औसत संघटन इस प्रकार है: जल, 15·6; स्टार्च तथा शर्कराएँ, 13·35; वाष्पशील तेल, 0·6; स्थिर तेल, 5·63; नाइट्रोजन रहित कुल निष्कर्ष, 43·64; अशोधित तन्तु, 4·48; और राख, 4·27%. वाष्पशील तथा स्थिर तेलों की प्राप्ति क्रमश: 1·37 और 13·4% तक बताई गई है. राख में पोटैसियम और फॉस्फोरस अधिक मात्रा में रहते हैं किन्तु बोरन अल्प मात्रा में पाया जाता है.

केसर में क्रोसिन तथा पिक्रोक्रोसिन नामक ग्लाइकोसाइड के साथ-साथ लाइकोपीन, β-कैरोटीन, γ-कैरोटीन तथा जिया-ज़ैन्थीन और एक क्रिस्टलीय हाइड्रोकार्बन पाये जाते हैं. क्रोसिन केसर का मुख्य रंजक द्रव्य है. जल-अपघटन करने पर क्रोसिन से डाइजेन्शियोबायोस तथा कैरोटिनायड वर्णक क्रोसीटिन प्राप्त होता है. रंगहीन तथा कड़वा ग्लाइकोसाइड, पिक्रोसिन के जल-अपघटन से ग्लूकोस तथा सेफ्रैनाल नामक ऐल्डिहाइड देता है. केसर से प्राप्त वाष्पशील तेल (आ.घ.$^{15°}$, 0·9514–0·9998) को रखने पर स्टीऐरोप्टीन (ग.बि., 106°) नामक तृतीयक ऐल्कोहल नीचे बैठ जाता है. भारत में केसर की काफी मात्रा स्पेन तथा फ्रांस से आयात की जाती है. 1943–44 और 1944–45 में केसर का आयात बिलकुल बन्द था. 1945–46 से पुन: आयात प्रारंभ हो गया है.

भारतवर्ष से केसर की थोड़ी मात्रा अरब, बहरीन द्वीप समूह, ब्रह्मा, हांगकांग तथा पड़ोस के अन्य देशों को भेजी जाती है. भारतीय केसर का निर्यात 1942–43 में तेजी से घट गया तथा 1944–45 से बिलकुल बन्द हो गया.

क्रोजोफोरा नेकर (यूफोर्बिएसी) CHROZOPHORA Neck.

ले. – क्रोजोफोरा

D.E.P., II, 620; Fl. Br. Ind., V, 408; Fl. Madras, 1316.

यह बूटियों और छोटी झाड़ियों की 11 जातियों का वंश है जो भारत, पश्चिम अफ्रीका और भूमध्य सागरीय क्षेत्र में पाया जाता है. भारत में इसकी पाँच जातियाँ मिलती हैं. **क्रो. रोटलेरी** क्लोत्स (सिन. **क्रो. प्लिकेटा** ए. जसू अंशतः), एक खड़ी बूटी या लघु झाड़ी है जिसकी पत्तियाँ बड़ी और फूल पीली पंखुड़ियों और लाल वर्तिकाग्र वाले होते हैं. यह पौधा भारत के सभी उष्णतर भागों में पाया जाता है. यह तीखा और विषैला होता है. इसकी सम्पुटिकाएँ भिगोने पर नीला रंग देती हैं. **क्रो. हीरोसोलिमिटाना** स्प्रेंगेल (सिन. **क्रो. टिंक्टोरिया** ए. जसू अंशतः), एकवर्षी बूटी है जो पंजाब और अफ़गानिस्तान में पाई जाती है और भूमध्य सागरीय पौधे, **क्रो. टिंक्टोरिया** (लिनिअस) ए. जसू से बहुत मिलती है और अक्सर उसके साथ इसका भ्रम हो जाता है. **क्रो. टिंक्टोरिया** असली टर्नसोल है जिससे एक बैंगनी रंग प्राप्त होता है जो ऑर्चिल और लिटमस से बहुत मिलता है. **क्रो. प्रोस्ट्रेटा** डाल्ज़ेल (सिन. **क्रो. प्लिकेटा** 3 फ्लो. ब्रि. इं.) और **क्रो. पार्वीफोलिया** क्लोत्स (सिन. **क्रो. प्लिकेटा** 2 फ्लो. ब्रि. इं.) दो लेटने वाली जातियाँ भारत-भर में पाई जाती हैं किन्तु इनसे रंग नहीं प्राप्त होता.

क्रोजोफोरा की विभिन्न जातियों में हल्के औपधीय गुण बताए गए हैं परंतु साहित्य में विभिन्न जातियों की पहचान के विषय में इतना अधिक भ्रम है कि निश्चित रूप से यह कहना संभव नहीं है कि कौन-सी जाति किस काम लाई जाती है. **क्रो. प्रोस्ट्रेटा** की पत्तियाँ विशोधक बताई गई हैं और इसके बीज विरेचक की भाँति प्रयुक्त किए जाते हैं. इसकी जड़ की भस्म बच्चों की खाँसी में दी जाती है. **क्रो. रोटलेरी** में वामक, उग्र, और क्षारक गुण होते हैं. इसके बीज विरेचक के लिए काम में लाये जाते हैं (Caius, *J. Bombay nat. Hist. Soc.*, 1938, 40, 276).

Euphorbiaceae; *C. rottleri* Klotzsch; *C. plicata* A. Juss.; *C. hierosolymitana* Spreng.; *C. tinctoria* A. Juss.; *C. prostrata* Dalz.; *C. parvifolia* Klotzsch

क्रोटन लिनिअस (यूफोर्बिएसी) CROTON Linn.

ले. – क्रोटोन

लगभग 800 जातियों के पौधों, झाड़ियों एवं बूटियों का यह बृहत्-वंश विश्व के उष्ण प्रदेशों में पाया जाता है. इसकी लगभग 15 जातियाँ भारत में पायी जाती हैं. **क्रो. टिग्लियम**, फार्माकोपियाओं में वर्णित क्रोटन तेल (ओलियम क्रोटोनिस, ओलियम टिग्लिई) का स्रोत है.

Euphorbiaceae;

क्रो. टिग्लियम लिनिअस C. tiglium Linn. पर्जिग क्रोटन

ले. – क्रो. टिग्लिऊम

D.E.P., II, 615; C.P., 437; Fl. Br. Ind., V., 385.

हिं. तथा म. – जमालगोटा; गु., ते. तथा क. – नेपाला; त. तथा मल. – नेर्वालम.

यह एक छोटा सदाहरित, 4·5–6·0 मी. ऊँचा वृक्ष है, जो बंगाल, असम, दक्षिण भारत, ब्रह्मा तथा श्रीलंका में प्राकृतिक या कृष्य रूप में पाया जाता है. इसके फल दीर्घायत, कुंठाग्र रूप से त्रिफलीय, 17–25 मिमी. लम्बे, लगभग अरोमिल तथा त्रि-बीज युक्त होते हैं. साधारण समरचना में इसके बीज रेंडी के बीजों की तरह होते हैं. ये ऐल्बुमिनी, दीर्घायत तथा सिरों पर गोल होते हैं और उनके अपाक्ष फलक अभ्यक्ष फलक से अधिक उत्तल होते हैं. इसका कवच नरम, पीत-भूरा तथा अविचर्म से ढका होता है और इसकी भीतरी सतह काली तथा चिकनी होती है. इसका भ्रूण-पोष अधिक तेलयुक्त तथा लाल-भूरा होता है.



चित्र 95 – क्रोटन टिग्लियम

तेल, जो सम्पूर्ण बीजों का 30 से 45% तक (या गिरी का 43–63% तक) होता है, विभिन्न राष्ट्रीय फार्माकोपियाओं की आवश्यकताओं के अनुसार, कवचयुक्त या कवचरहित बीजों से दबाकर या विलायकों से निष्कर्षित करके व्यापारिक मात्रा में प्राप्त किया जाता है. तेल का रंग, उसकी कायिकीय क्रियाशीलता तथा ऐल्कोहल में विलेयता, निष्कासन विधि पर निर्भर करते हैं. तेल श्यान तथा घिनौनी गंध वाला होता है. इसका स्वाद पहले मृदु रहता है परन्तु बाद में तीक्ष्ण और उग्र हो जाता है. भारतीय तेल का रंग हल्का पीला होता है किन्तु विलायती क्रोटन का तेल गहरा भूरा होता है (Kraemer, 459).

बीज और तेल दोनों को बड़ी सावधानी से प्रयोग में लाना चाहिये क्योंकि उनमें न केवल खतरनाक, जहरीला और रेचक गुण पाया जाता है अपितु इनमें स्फोटक गुण भी होता है. चेरव्यूलीज के अनुसार त्वचा पर तेल लगाने पर भी इसका रेचक प्रभाव होता है (Thorpe, III, 434).

क्रोटन तेल के अभिलक्षण निम्न हैं: आ.घ.$^{15°}$, 0·9320–0·9501; $n_D^{20°}$, 1·4734–1·4810; अम्ल मान, 2–55; साबु. मान, 200–215; आयो. मान (विज), 102–115; आर. एम. मान, 12·0–13·6 (ल्यूकोविल्स), 6·4–8·4 (ऐंड्रिएन्स); पोलेन्सके मान, 1·3; वास्तविक ऐसीटिल मान, 19·8–32·7 (ल्यूकोविल्स), 5·6–11 (ऐंड्रिएन्स); $[\alpha]_D^{20°}$, +5° से +9°; ग.वि., –7° से –16°. तेल के विश्लेषण से निम्नांकित फल प्राप्त हुए : विषैले रेजिन, 3·4% (इस प्रभाज में उपस्थित संयुक्त अम्लों को आगे के अंकों में सम्मिलित नहीं किया गया है); ओलीक अम्ल, 37·0; लिनोलीक अम्ल, 19·0; ऐराकिडिक अम्ल, 1·5; स्टीऐरिक अम्ल, 0·3; पामिटिक अम्ल, 0·9; मिरिस्टिक अम्ल, 7·5; लॉरिक, टिग्लिक, वैलरिक, ब्यूटिरिक अम्लों की मात्रा अत्यल्प; ऐसीटिक अम्ल, 0·6; फ़ॉर्मिक अम्ल, 0·8; हल्के पेट्रोलियम में अविलेय अम्लों की मात्रा, 6·9; अज्ञात अम्लों की मात्रा, 0·6; ग्लिसराल, 7·2; तथा एक स्टेरॉल सहित असाबुनीकृत पदार्थ (ग.वि., 131°), 0·25%; हानि, 13·8% (Thorpe, loc. cit.).

तेल में एक विषैला रेज़िन, जिसे फ्लैश्वेनट्रेगर का नेचर-गिफ्टस्टाफ कहते हैं, पाया जाता है. इसी के कारण शरीर पर बीजों तथा तेल से फफोले उत्पन्न होते हैं. बीजों से मेथेनाल द्वारा तेल का निष्कर्षण किया जा सकता है और इनसे 1–3% तेल प्राप्त होता है. डंस्टन तथा ब्रूले का क्रोटन-रेज़िन विषैले रेज़िन का रूपान्तर या सम्भवत: आंशिक-अपघटन उत्पाद है. क्रोटन रेज़िन, क्रोटन-तेल के विषैले तथा फफोले उत्पन्न करने के गुण को अधिक अंश में प्रदर्शित करता है और वह क्षारों द्वारा साबुनीकृत होकर शरीर-क्रियात्मक दृष्टि से निष्क्रिय उत्पादों का मिश्रण बनाता है जिसमें फार्बोल (एक त्रिचक्रीय फीनालीय यौगिक) भी है जो विषैले क्रोटन पदार्थों का मूल पदार्थ माना जाता है. क्रोटन तेल विषैले तथा ओषधीय गुणों में ऐसीटिल-फार्बोन के समान है (Thorpe, loc. cit.; U.S.D., 1417).

तेल के रेचक गुणों के विषय में विशेष जानकारी नहीं है. यह क्रोटन-रेजिन से भिन्न प्रतीत होता है क्योंकि तेल में से अधिकांश रेज़िन विलग कर लेने पर भी रेचक क्रियाशीलता बनी रहती है. हाइड्रोजनीकरण से क्रोटन तेल तथा क्रोटन रेज़िन दोनों के विशिष्ट शरीर-क्रियात्मक प्रभाव नष्ट हो जाते हैं.

क्रोटन तेल रेचकों में सर्वाधिक प्रबल है. इसकी थोड़ी-सी भी मात्रा से अधिक दस्त और वमन होते हैं. सीमित रूप में प्राय: तनुकारकों के साथ मिलाकर तीव्र रेचक की तरह प्रयोग में लाया जाता है; बहुधा यह न्यूमोनिया तथा शियाटिका इत्यादि रोगों में रक्तिमाकर लेप के अवयव के रूप में प्रयुक्त होता है. इन कार्यों में भी इसका प्रयोग असुरक्षित है क्योंकि इसके प्रयोग से चमड़े की ऊपरी पपड़ी गिर जाती है. आधुनिक संशोधित ब्रिटिश, अमेरिकी तथा डच फार्माकोपियाओं से ओलियम क्रोटानिस तथा ओलियम टिग्लिई को निकाल दिया गया है. चिकित्सा-जगत में क्रोटन तेल के लिए कोई स्थान नहीं रह गया. इसके लेप अब भी ब्रिटिश फ़ार्माकोपिया कोडेक्स में वर्णित हैं. यह कभी-कभी पशुओं के फफोलों के लिए मरहम बनाने में प्रयुक्त होता है परन्तु रेचक के रूप में कदाचित् ही इसका उपयोग होता है.

वनस्पति तेल में मिले क्रोटन तेल की उपस्थिति की पहचान दुगुने आयतन के परिशुद्ध ऐल्कोहल में तेल के विलयन को पोटैसियम हाइड्रॉक्साइड के सान्द्र विलयन में डालने से द्रवों के संधिस्थल पर एक अभिलाक्षणिक लाल वलय बनने से की जा सकती है (Thorpe, loc. cit.).

फफोले उत्पन्न करने वाले तथा रेचक पदार्थों के अतिरिक्त जो दाब या निष्कर्षण द्वारा प्राप्त तेल में चले जाते हैं, बीज गुठलियों में दो विषैले प्रोटीन, क्रोटन ग्लोबुलिन तथा क्रोटन ऐल्बुमिन, स्यूक्रोस तथा क्रोटानोसाइड नामक ग्लाइकोसाइड होते

हैं. बीज-गुठली में ग्लाइकोसाइड की मात्रा 1–4% होती है. यह 2-हाइड्रॉक्सि-6-ऐमीनो-प्यूरिन का *d*-रिवोसाइड है और इसकी अल्प मात्रा से कोई हानिकारक शरीर-क्रियात्मक प्रभाव नहीं पड़ता (Thorpe, loc. cit.).

क्रो. टिग्लियम की लकड़ी अल्प मात्रा में स्वेद-कारक, तथा अधिक मात्रा में रेचक तथा वमनकारी होती है.

क्रो. काउडेटस गीसलर तथा **क्रो. ऑब्लांगीफोलियस** रॉक्सवर्ग में कम ओषधीय गुण होते हैं. इनमें से पहले की पत्तियाँ तथा दूसरे की छाल मोच में वाह्य प्रयोग के लिये तथा यकृत के रोगों में उपयुक्त बतायी गई है. **क्रो. ऑब्लांगीफोलियस** के बीजों में एक वसा-अम्ल होता है जो **क्रो. टिग्लियम** के समान है (Wehmer, II, 672).

C. caudatus Geiseler; *C. oblongifolius* Roxb.

क्रो. स्पार्सिफ्लोरस मोरोंग = क्रो. वोनप्लाण्डिआनम वैलान C. sparsiflorus Morong

ले. – क्रो. स्पार्सिफ्लोरस

Haines, 105.

त. – एलियमनक्कू, नाइमेलाकाइ; ते. – कुक्क मिरपा.

यह दक्षिण अमेरिका से भारत लाई गई है. यहाँ (विशेषकर दक्षिण भारत में) यह कष्टदायक अपतृण सिद्ध हुई है.

इस पौधे में पोटैश तथा नाइट्रोजन प्रचुर मात्रा में पाए जाते हैं और यह कम्पोस्ट बनाने के उपयुक्त है. इसके बीज बहुत छोटे होते हैं (धूप में सुखाये 100 बीजों का भार, 0·73 ग्रा.) तथा इनमें पोटैश और नाइट्रोजन प्रचुर मात्रा में पाए जाते हैं. धूप में सुखाये बीजों का विश्लेपण करने पर निम्नलिखित फल प्राप्त हुए: आर्द्रता, 8·03; विलायक-निष्कर्पणीय पदार्थ, 38·44; तथा राख, 3·62%. राख के विश्लेपण से K_2O, 14·33; P_2O_5, 29·88% मिले. इसके बीजों के तेल के निम्नांकित स्थिरांक हैं: आ.घ.$^{30.5°}$, 0·9270; $n^{40°}$, 1·4709; श्यानता, 28·85 मिलीप्वाइस; अम्ल मान, 9·18; साबु. मान, 189·5; एस्टर मान, 180·7; ऐसिटिलीकरण मान, 0·02; थायोसायनोजन-आयो. मान, 90·4; आर. एम. मान, 1·1; पोलेन्स्के मान, 4·18; आयो. मान (विज), 172. तेल के अवयवी वसा-अम्ल निम्नलिखित हैं: पामिटिक, 5·49; स्टीऐरिक, 4·75; ओलीक, 5·72; लिनोलीक, 65·70; लिनोलेनिक, 9·36%; तथा असाबुनीकृत पदार्थ, 0·98%. तेल में उपस्थित लिनोलीक अम्ल साधारण बीज-वसीय-अम्ल का एक समावयवी है. पूर्ण संतृप्त ग्लिसराइड अनुपस्थित होते हैं तथा तेल में β-लिनोलिओ-डाइ-α-लिनोलेनिन होता है. ऐण्टिमनी ट्राइक्लोराइड के साथ इस तेल का परीक्षण करने पर विटामिन 'ए' की उपस्थिति निश्चित रूप से पायी जाती है. इसमें संतोपजनक शुष्कण गुण पाये जाते हैं: इसकी पतली परत 120 घण्टे में सूख जाती है जबकि अपरिष्कृत अलसी के तेल की परत को सूखने में 95 घण्टे लगते हैं. तेल निकालने के बाद बची हुई खली (N, 4·97%) खाद के रूप में उपयोगी सिद्ध हो सकती है (Anantakrishnan *et al.*, *Proc. Indian Acad. Sci.*, 1941, **14A**, 609, 616).

C. bonplandianum Baill.

क्रोटालेरिया लिनिअस (लेग्युमिनोसी) CROTALARIA Linn.

ले. – क्रोटालारिआ

एकवर्षी या वहुवर्षी बूटियों या झाड़ियों की लगभग 470 जातियों का विशाल वंश है जो पृथ्वी के उष्ण और उपोष्ण भागों में सर्वत्र पाया जाता है. भारत में लगभग 80 जातियाँ मिलती हैं, जिनमें सबसे महत्वपूर्ण **क्रो. जन्सिया** है जो इस देश में अपने रेशे, सन, और हरी खाद के लिए बोई जाती है. **क्रोटालेरिया** की कुछ अन्य जातियाँ भी हरी खाद अथवा रेशों के लिए प्रयोग के रूप में बोई गई हैं. वहुत-सी जातियाँ, यथा **क्रो. ऐलेटा, क्रो. अनाजिरायडीज, क्रो. बुर्हिया, क्रो. फेरूजिनिया, क्रो. जन्सिया, क्रो. मेडिकाजिनिया, क्रो. सेरीसिया,** और **क्रो. इस्ट्रिएटा** उपयोगी चारा बताई जाती हैं पर उनमें से कुछ पशुओं के लिए विषैली हैं. कुछ जातियाँ भेपजीय समझी जाती हैं. **क्रो. अलबिडा** हेने एक्स रॉथ और **क्रो. ट्राइफोलियास्ट्रम** विल्डेनो की जड़ें विरेचक की भाँति प्रयुक्त की जाती हैं. **क्रो. वैरुकोसा** लिनिअस की पत्तियाँ स्कैवी और इम्पैटिगो में प्रयोग में लाई जाती हैं (De Sornay, 99; A Manual of Green Manuring, 69; Use of Leguminous Plants, 190; Sampson, *Kew Bull.*, 1928, 161; Burkill, I, 684; *Fmrs' Bull. U.S. Dep. Agric.*, No. 1980, 1946; Kirt. & Basu, I, 693).

Leguminosae; *C. albida* Heyne ex Roth; *C. trifoliastrum* Willd.; *C. verrucosa*

क्रो. अनाजिरायडीज हम्बोल्ट, बोनप्लांड और कुंथ C. anagyroides H. B. & K.

ले. – क्रो. अनागिरोइडेस

A Manual of Green Manuring, 69, Fig.

यह उपोष्ण कटिबन्धी दक्षिण अमेरिका का मूलवासी है और मलाया, जावा, श्रीलंका और भारत में अस्थायी छायादार पौधे के रूप में एवं चाय, काफ़ी, रबर और नारियल के बगीचों में हरी खाद के लिए लाया गया है. यह तेजी से बढ़कर 3·6–4·2 मी. तक ऊँचा हो जाता है, इसकी बार-बार छँटाई हो सकती है और थोड़े ही समय में प्रचुर मात्रा में हरा पदार्थ प्रदान करता है. कतरनें शीघ्रता से विघटित हो जाती हैं जिनसे उच्च कोटि की खाद मिलती हैं. जल्दी से बढ़ने तथा गहराई तक जड़ें जाने के कारण यह नौतोरों के पुनर्नवीकरण के लिए विशेष रूप से अनुकूल है. खुले में उगाये जाने पर इसमें ठीक से बीज बैठते हैं. यह पशुओं के लिए विषैला नहीं है और वे इसे रुचि से खाते हैं (*Chem. Abstr.*, 1946, **40**, 6681; Burkill, I, 685).

क्रो. उसरमोएन्सिस ई. जी. बेकर C. usaramoensis E. G. Baker

ले. – क्रो. ऊसारामेंसिस

A Manual of Green Manuring, 123, Fig.

इसका मूल स्थान पूर्वी उष्णकटिवन्धी अफ्रीका है किन्तु इसे जावा, श्रीलंका तथा ब्रह्मा में हरी खाद के पौधे के लिये लाया गया है. यह क्रो. स्ट्रिएटा से मिलती-जुलती है परन्तु इससे अधिक मात्रा में हरा पदार्थ मिलता है. यह कटाई को अच्छी तरह सह लेता है. इसके तनों के रेशों की दृढ़ता सनई की तुलना में कम होती है (Sampson, *Kew Bull.*, 1928, 169, 174; Burkill, I, 688).

क्रो. ऐलेटा बुखनन-हैमिल्टन C. alata Buch.-Ham.

ले.–क्रो. अलाटा
Fl. Br. Ind., II, 69.

यह 30-60 सेंमी. ऊँची, प्रायः सीधी छोटी झाड़ी है, जो कुमायूँ, असम, खासी पहाड़ियों तथा तमिलनाडु के कुछ भागों में (उत्तरी सरकार) 1,650 मी. की ऊँचाई तक पाई जाती है. मलाया तथा ईस्ट इण्डीज में हरी खाद के रूप में इसका परीक्षण हुआ है और यह समोच्च वाड़ों के लिए उपयोगी सिद्ध हुई है. यह केवल अन्तिम समय में ही काष्ठमय होती है और चुँटाई करने से इसमें प्ररोह तथा वीज अधिक स्वतंत्रतापूर्वक लगते हैं और काफी हरा चारा उत्पन्न होता है. किन्तु इसमें नाशक कीड़े लगते हैं. अन्य हरी खाद की फसलों के प्रतिकूल यह छाया में खूब पनपती है. सुमात्रा में यह चारे के रूप में प्रयुक्त होती है किन्तु क्वीन्सलैंड में यह विषैली वताई गई है (Burkill, I, 684).

क्रो. जन्सिया लिनिअस C. juncea Linn.

सन या सन हेम्प

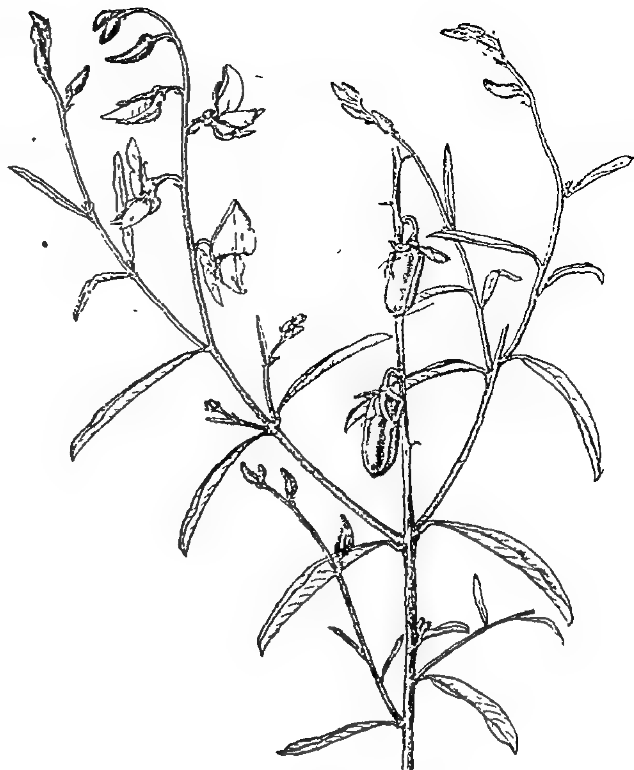
ले.–क्रो. जूनसेआ
D.E.P., II, 595; C.P., 403; Fl. Br. Ind., II, 79.

सं.–शण; फारसी–सन; हिं.–सनई, सन; बं.–सोनपत, शन, घोरे सन; गु.–शण; म.–ताग; त.–सन्नप्पु, सनल; ते.–जनुमु; क.–हव सेंणवु; मल.–उक्कु नार.

यह एक सीधा, झाड़ीनुमा एकवर्षी पौधा है जिसकी ऊँचाई 1·2-3 मी. तक; पत्तियाँ सादी, तंग और अनु-अवृन्त तथा फूल काफी वड़े पीले रंग के होते हैं. इसकी फलियाँ कड़ी छाल वाली और प्रत्येक में तमाम छोटे-छोटे वीज होते हैं.

सन या सन हेम्प, जो भारतीय अथवा वम्वइया सन के नाम से भी जाना जाता है, भारत में आमतौर पर उगाई जाने वाली रेशेदार फसलों में से एक है और यह जूट के वाद वास्ट रेशे वाली फसल के रूप में स्थान ग्रहण करता है. यह लगभग समस्त भारत में या तो इसके तनो को पानी में सड़ा कर रेशे के लिए या किसी अनाज की या नकदी फसलों के हेर-फेर में हरी खाद की फसल के रूप में उगाया जाता है. यह चारे की भी अच्छी फसल है.

यह पौधा शायद भारत का देशज है, भले ही यह कभी भी जंगली रूप में न पाया जाता रहा हो. देश के विभिन्न भागों में इसकी अनेक किस्में मिलती हैं जो एक दूसरे से आकृतिक लक्षणों, परिपक्वता के समय, नाशकजीवों और रोगों के प्रति प्रतिरोध, उपज तथा रेशों के गुण में भिन्न होती हैं. अभी



चित्र 96 – क्रोटालेरिया जन्सिया

तक इन किस्मों का कोई क्रमवद्ध वर्गीकरण नहीं हो सका है, किन्तु किसी प्रदेश विशेष के लिए उन्नत किस्म के चुनाव करने के प्रयत्न किये गये हैं. सन हेम्प की दो किस्मों का अध्ययन किया गया है जिनमें से एक पूसा की और दूसरी जवलपुर की किस्में थीं (यह दूसरी, रॉक्सवर्ग के अनुसार **क्रो. टेनुइफ़ोलिया** है). इससे यह निष्कर्ष निकाला गया कि दूसरी किस्म जो जल्दी तैयार होती है, निश्चय ही पूसा वाली किस्म से रेशे की शक्ति और टिकाऊपन, दोनों मे अच्छी थी. कानपुर नं. 12 जो देर से तैयार होती है और उत्तर प्रदेश में पैदा की जाती है, सदैव अच्छी किस्म का रेशा प्रदान करती है. इसकी उपज भी अधिक होती है. मध्य भारत की दो किस्में एम-18 और एम-35, रेशा पैदा करने के लिए आशाजनक हैं. ये तुरन्त तैयार होने वाली है और अच्छी उपज देती हैं. ये कम वर्षा वाले प्रदेशों में उपयोगी सिद्ध हो सकती है (Sircar, *Misc. Bull., I.C.A.R.*, No. 66, 1948; *Mem. Dep. agric. India, Bot.*, 1910, 3, 177; Sabnis, *Rep. Hemp, Marketing in India*, 1931, 5).

क्षेत्रफल और वितरण

सन की खेती सारे भारत में की जाती है. उत्तर प्रदेश के वाराणसी, जौनपुर, आजमगढ़, इलाहावाद, प्रतापगढ़, पीलीभीत और मुरादावाद जिलों में यह रेशे के लिए उगाई जाती है.

मध्य प्रदेश के छिंदवाड़ा, मंडला, जबलपुर, सिवनी, बेतूल और होशंगाबाद जिलों में व्यापारिक गुणों वाली सनई उगाई जाती है. गुजरात के रत्नगिरि, अहमदनगर, बेलगाँव और पंचमहल जिलों में भी यह उगाई जाती है. बिहार के मुख्य सन उत्पादक केन्द्र पटना, मुंगेर, भागलपुर, मुजफ्फरपुर, दरभंगा, सारन, चम्पारन और पूर्णिया जिले हैं. उड़ीसा में सम्बलपुर, गंजाम, बालासोर और कटक जिले महत्वपूर्ण केन्द्र हैं. तमिलनाडु में गुण्टूर, मैसूर के पूर्वी गोदावरी और कृष्णा जिलों तक ही रेशे के लिए सन की खेती की जाती है. पंजाब और हरियाणा में होशियारपुर, जालन्धर, गुरदासपुर, रोहतक, करनाल, अम्बाला और फीरोजपुर प्रमुख उत्पादक जिले हैं. कांगड़ा में भी इसका उत्पादन होता है. आन्ध्र प्रदेश में वारंगल, गुलबर्गा, और तन्दूर जिलों में प्रमुख केन्द्र पाये जाते हैं (*Agric. Marketing in India, Marketing Ser.*, No. 61; *Bull. Marketing Sann Hemp*, 2).

जिन क्षेत्रों में सनई रेशे के लिए उगाई जाती है उनके आँकड़े विश्वसनीय नहीं हैं, क्योंकि इन क्षेत्रों में दूसरे रेशे वाले पौधे भी उगाये जाते हैं. उदाहरणार्थ **एगेव** जातियाँ, **हिबिस्कस कैनाबिनस** तथा **कैनाबिस सैटाइवा**. बहुधा हरी खाद की फसल या चारे के लिए उगाई गई फसल भी इस क्षेत्रफल में सम्मिलित रहती है जिससे केवल रेशे के लिए उगाये गये क्षेत्रफल का सही ज्ञान नहीं हो पाता. भारत के विभिन्न राज्यों में सन हेम्प की उपज और क्षेत्रफल का संक्षिप्त वर्णन सारणी 1 में दिया गया है.

राज्यों में क्षेत्रफल का वितरण (1968–69 में) इस प्रकार है: उत्तर प्रदेश, 36·5; पंजाब और हरियाणा, 4·4; प. बंगाल, 1; बिहार, 4·5; महाराष्ट्र और गुजरात, 12·4; तमिलनाडु, उड़ीसा और अन्य राज्य, 19·0; मध्य प्रदेश, 18·6; और आन्ध्र प्रदेश, 3·6%. हरी खाद या चारे के लिए सनई का क्षेत्रफल विभिन्न राज्यों में भिन्न-भिन्न है. तमिलनाडु में इस फसल का 85% खाद और चारे के लिए प्रयोग होता है. अन्य राज्यों में चारे के लिए सन का उपयोग इतना प्रचलित नहीं है, यद्यपि कुछ क्षेत्रों का ऊपरी हिस्सा, कटाई के बाद, पशुओं को खाने के लिए दिया जाता है (*Bull. Marketing Sann Hemp*, 2).

यद्यपि बाहरी बाजारों से सन हेम्प की अत्यधिक माँग है, परन्तु इसका कृष्य क्षेत्रफल अधिक नहीं बढ़ाया गया. रेशे के लिए सन हेम्प की सबसे अच्छी उपज अच्छे जल-निकास वाली ऊँची भूमियों पर होती है. ऐसे क्षेत्रों में पतझड़ के समय सड़ाने के लिए पानी की कमी रहती है. डंठलों को सड़ाने के लिये श्रम भी काफी महँगा पड़ता है (Howard, *Crop Production in India*, 1924, 140).

सारणी 1 — सनई का उत्पादन और उत्पादन क्षेत्रफल*
(क्षेत्रफल: हजार हेक्टर; उत्पादन: हजार टन में)

	1964–65		1965–66		1966–67		1967–68		1968–69	
	क्षेत्रफल	उत्पादन	क्षेत्रफल	उत्पादन	क्षेत्रफल	उत्पादन	क्षेत्रफल	उत्पादन	क्षेत्रफल	उत्पादन
आन्ध्र प्रदेश	7·5	11·4	7·2	1·5	6·4	1·2	7·2	1·6	6·2	1·0
असम	..	..	..	..	..	..	..	..	..	..
बिहार	10·5	4·6	9·2	4·9	8·1	2·9	7·8	3·5	7·8	2·8
गुजरात	..	..	..	..	..	..	1·3	0·5	1·7	0·7
हरियाणा	3·6	1·8	3·8	0·4	3·9	0·8	4·3	1·1	3·2	0·8
जम्मू कश्मीर	1·3	0·6	1·0	0·3	1·2	0·6	1·1	0·5	0·9	0·3
मध्य प्रदेश	37·0	13·9	31·1	9·4	30·7	8·5	32·1	11·7	32·2	11·3
महाराष्ट्र	19·3	5·5	19·6	6·2	25·4	5·7	19·8	6·2	19·8	6·3
मैसूर	7·3	1·2	3·9	0·9	6·8	2·0	5·8	4·6	5·7	4·4
उड़ीसा	7·1	3·9	7·7	5·2	8·6	8·7	6·3	3·8	10·8	8·7
पंजाब	4·3	0·8	3·5	0·6	5·0	1·5	5·0	1·5	4·4	1·3
राजस्थान	23·0	3·6	15·7	3·4	15·4	4·2	17·0	6·1	14·5	3·5
तमिलनाडु	0·8	0·6	0·5	0·4	0·6	0·4	0·6	0 5	0·5	0·4
उत्तर प्रदेश	69·2	28·5	62·0	31·1	64·8	19·0	63·0	28·2	63·0	23·1
प. बंगाल	4·7	3·7	2·9	2·2	2·1	1·7	2·0	1·5	1·7	1·3
हिमाचल प्रदेश	0·4	0·1	0·7	0·1	0·7	0·1	0·7	0·1	0·7	0·1

**Estimates of Area & Production of Principal Crops in India*, 1968-69; Directorate of Economics & Statistics, Ministry of Food & Agriculture, Community Development & Co-operation, Govt. of India, 1969.

खेती

सन हेम्प हर प्रकार की भूमि पर उगता है किन्तु रेशे के विकास के लिए हल्की दुमट, अच्छे जल-निकास वाली भूमि की आवश्यकता होती है. चिकनी तथा निचली भूमि में इसकी तेजी से बाढ़ होती है परन्तु रेशा मोटा और उपज कम होती है. जलाक्रान्ति हानिकारक है [E.M.B., Publ. No. 25, *Indian Sunn* (or *Sann*) *Hemp*, 1930, 7].

रेशे या हरी खाद के लिए सन को अकेले ही उगाते हैं. परन्तु जब इसे बीज के लिए उगाया जाता है तो अन्य फसलों के साथ बोते हैं. इसकी कृषि मुख्यतः खरीफ फसल के रूप में होती है अर्थात् यह जून माह में मानसून के प्रारम्भ होते ही बो दी जाती है और अक्तूबर के अन्त तक काट ली जाती है. महाराष्ट्र और बंगाल के कुछ क्षेत्रों में यह रबी की फसल के रूप में बोई जाती है. उस दशा में इसकी बुवाई सितम्बर या अक्तूबर में की जाती है और कटाई फरवरी या मार्च में की जाती है. तमिलनाडु के कुछ भागों में यह रबी और खरीफ दोनों फसलों की तरह उगाई जाती है. भारत के विभिन्न भागों में इसकी बुआई का समय कुछ-कुछ भिन्न होता है जो स्थानीय दशाओं पर निर्भर करता है (*Bull. Marketing Sann Hemp*, Appx II).

अप्रैल में पहली वर्षा के तुरन्त बाद खेत को दो-तीन बार हल से जोत देते हैं. साधारणतया कोई खाद नहीं डाली जाती परन्तु यदि सन को हरी खाद के लिए उगाया जाता है और उसके बाद में धान बोना होता है तो उस दशा में बुआई के पहले 170 किग्रा./हेक्टर के हिसाब से सुपरफॉस्फेट डालते ह (Yegna Narayan Aiyer, 354).

इसके बीज छींट कर बोये जाते हैं किन्तु कभी-कभी बीज बोने की ड्रिलों का भी उपयोग किया जाता है. इन्हें काफी पास-पास बोते हैं ताकि फसल में अधिक शाखायें न निकलें. बीज दर 60-80 किग्रा. प्रति हेक्टर है. बंगाल के कुछ भागों में प्रति हेक्टर बीज दर 120 किग्रा. तक हैं जबकि तमिलनाडु के कुछ भागों में यह केवल 25 किग्रा. है. हरी खाद के लिए बीज दर 80 किग्रा. प्रति हेक्टर रखी जाती है.

अगर अंकुरण संतोषप्रद हो तो फसल कटने तक किसी संवर्धन की आवश्यकता नहीं पड़ती. प्रायः खेत की सिंचाई नहीं की जाती.

नाशकजीव तथा रोग – सन हेम्प को अधिक हानि पहुँचाने वाले कीड़ों में सन हेम्प पतंगा, **यूटेयोसा पलचेला** लिनिअस, जिसकी इल्ली पत्तों और फलियों पर पलती है तथा दूसरा तनों का वेधक, **लैसपीरेसिया स्यूडोनेक्टिस** हैं. दूसरा पौधे की ऊपरी शाखाओं को छेदता है. इससे पौधे ठिगने रह जाते है और इनसे प्राप्त रेशा छोटा और मोटा होता है.

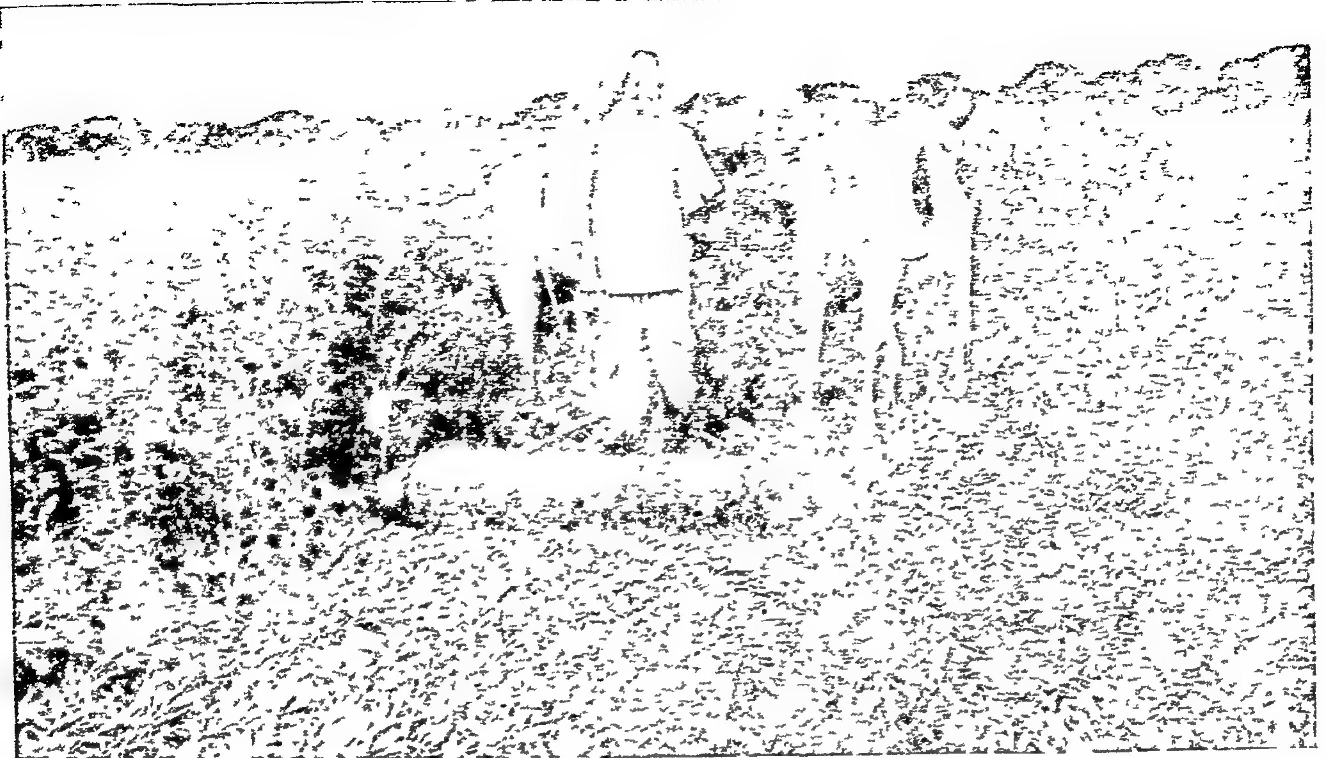
सन में दो सामान्य किन्तु गम्भीर रोग लगते हैं. ये हैं: **फ्यूज़ेरियम उडुम** बटलर वैर. **क्रोटोलेरिई** पैडविक द्वारा उत्पन्न म्लानि (मुरझा) और **कौलेटोट्रीकम करकेटम** ब्रायण्ट और मार्टिन द्वारा उत्पन्न ऐन्थ्राक्नोज. म्लानि से तरुण तथा पुराने पौधे समान रूप से प्रभावित होते हैं, जिससे वे सूख जाते हैं. ऐन्थ्राक्नोज ने पौधों को काफ़ी हानि पहुँचती है. समय से कुछ पहले बुआई करने से, बुआई से पहले बीजों को निर्जमित बनाने से या नये पौधों पर बोर्डो या बर्गण्डी मिश्रण का छिड़काव करने से रोग पर नियंत्रण प्राप्त किया जा सकता है. ऐसे विभेदों को विकसित करने के प्रयत्न किये गये हैं जिससे वे रोग और कीड़ों के प्रभाव का प्रतिरोध कर सकें. कानपुर न. 12, म्लानि और ऐन्थ्राक्नोज़ का प्रतिरोधी है और एम-35 और एस-19 शीर्ष प्ररोह-वेधकों से अप्रभावित रहते हैं (Mitra, *Indian J. agric. Sci.*, 1937, 7, 443).

हरी खाद – सन हेम्प एक अत्यन्त उत्तम हरी खाद माना जाता है, क्योंकि इसमें अत्यधिक मात्रा में मूल ग्रंथिकायें उत्पन्न होती हैं. यह शीघ्र बढ़ने वाली, सहिष्णु तथा सूखा प्रतिरोधी फसल है. जब बहुत घनी बोई जाती है तब समस्त खरपतवारों को दबा लेती है. यह गन्ना, धान, तम्बाकू, आलू, जूट इत्यादि के हेर-फेर से उत्पन्न की जाती है और ये सभी इसके द्वारा भूमि को नाइट्रोजन और ह्यमस प्रदान करने के कारण लाभान्वित होती हैं. यहाँ तक कि (काँस) घास (**सैकेरम स्पांटेनियम** लिनिअस) भी, जो दीर्घस्थायी अपतृण है, दब जाती है. काफी-चाय, नारियल और रबर के बगीचों में यह हरी खाद तथा भूमि संधारी फसल के रूप में लोकप्रिय होती जा रही है, यद्यपि इसका दोष यह है कि यह अल्पजीवी है (Tambe & Wad, *Agric. Live-Stk, India*, 1938, 8, 397).

हरी खाद बनाने के लिए या तो पौधों को जड़ से उखाड़ लिया जाता है या जब ये 2-2½ माह के हो जाते हैं तो इनको भूमि के पास से काट कर मिट्टी में जोत दिया जाता है. सामान्यतः पूरा पौधा मिट्टी में दबा दिया जाता है, किन्तु यदि इसके सिरे तथा पत्तियाँ इस कार्य के लिए प्रयुक्त हों और डंठलों को रेशों के लिए छोड़ दिया जाये तो ज्यादा लाभकर होगा (Joshi, *Agric. J. India*, 1928, 23, 86; Hutchinson, *Bull. agric. Res. Inst., Pusa*, No. 63, 1916).

सन हेम्प की एक हेक्टर अच्छी फसल से लगभग 18,000-28,000 किग्रा. कार्बनिक पदार्थ मिलता है जो विघटित होने पर प्रति हेक्टर 60-100 किग्रा. नाइट्रोजन प्रदान करता है. इसके साथ ही काफी मात्रा में पोटैश और फॉस्फोरस भी मिलता है (Patil, *Bull. Dep. Agric. Bombay*, No. 47, 1911; Singh & Singh, *J. Amer. Soc. Agron.*, 1936, 28, 216).

रेशा – परिपक्व होने के लिए फसल को 4-4½ माह लगते हैं, तब यह बीज के लिए काटी जा सकती है किन्तु रेशा निकालने के लिए इसे इससे पहले काटना पड़ता है. काटने के लिए परिपक्वता की अवस्था के सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न रायें हैं. रेशों को उस अवस्था तक विकसित होने के लिए आवश्यक समय, जबकि उनमें वांछित व्यापारिक रेशे के गुण, जैसे कि शक्ति, रंग और चमक आ जाये, जलवायु और अन्य कारणों के अनुसार बदलता रहता है. उत्तर प्रदेश और मध्य प्रदेश में फलियाँ आने पर कटाई करने से अच्छे परिणाम मिले हैं. तमिलनाडु में कटाई का सबसे उत्तम समय फूल आने के पहले या पूर्ण पुष्प-अवस्था है. बिहार में देशी किस्मों के लिए हरी फली की अवस्था और परवरिया (पिछाई) किस्मों के लिये फूल निकलने से पहले की अवस्था उत्तम मानी जाती है. परिपक्व होने से बाद की अवस्था कटाई के लिए उपयुक्त मानी जाती है, क्योंकि इससे बीज भी एकत्रित किये जा सकते हैं (Sabnis,



चित्र 97 – क्रोटालेरिया जन्सिया की हरी खाद के लिए जुताई

loc. cit.; *Bull. Marketing Sunn Hemp*, 6; Sircar, loc. cit., *Agric. & Anim. Husb. India*, 1933–34 & 1934–35, pt 1, 95, E M B, loc. cit., 9).

रेशों के लिये या तो पूरे पौधे को उखाड़ लिया जाता है अथवा हँसिये से डठलों को भूमि के निकट से काट लिया जाता है. बिहार के कुछ भागों तथा उत्तर प्रदेश में, काटने के तुरन्त बाद, चोटियों को चारे के लिये काट लिया जाता है. गुजरात तथा मध्य प्रदेश में, जहाँ बीज बनने के बाद कटाई की जाती है, चोटी को सूखने पर ही काटते हैं. फिर उनमें से बीज इकट्ठा करते हैं.

कटे हुये पौधों को 50–100 तनों के हिसाब से बाँधकर गट्ठे बना लिए जाते हैं. इन्हें 2–3 दिन तक खेत में पड़ा रहने दिया जाता है ताकि पत्ते सूख कर गिर जायें. कुछ क्षेत्रों में, विशेषकर मध्य प्रदेश में, तनों को सुखाने के बाद ही सड़ाया जाता है. उत्तर प्रदेश, बिहार, बंगाल और तमिलनाडु के कुछ भागों में तने को बिना बाँधे अथवा सुखाये सड़ा दिया जाता है. नम क्षेत्रों में तुरन्त सड़ा देना उत्तम माना जाता है यद्यपि पहले सुखाने से अच्छी किस्म का रेशा मिलता है.

सड़ाने से तन्तु उन बन्धक पदार्थों से अलग हो जाते हैं जो उनको ऊतकों में बाँधे रहते हैं. सड़ाने का समय और ढंग जल के ताप और कटाई के समय फसल की स्थिति के अनुसार बदलते रहते हैं. सड़ाने का कार्य साफ, स्थिर या मन्द-मन्द बहते पानी में करना चाहिए. जहाँ साफ पानी नहीं मिल सकता (सड़ाने के समय), जैसा कि उत्तर प्रदेश के कुछ भागों में होता है, वहाँ डठलों को सुखा लेना चाहिए और ले जाकर साफ पानी के सुरक्षित कुण्डों में सड़ाना चाहिए. गट्ठों को सड़ाने के लिए पानी में डालने से पहले उनकी चोटियाँ और जड़ काट देना चाहिए. अगर जड़ें नहीं काटी जाती तो एक-सा विरंजन नहीं होता और जड़ के निकट का चमकहीन सन बाजार-भाव पर बुरा प्रभाव डालता है. गट्ठों को पानी में डुबोकर रखने के लिए उन पर पत्थर, रेत के बोरे लकड़ी के लट्ठे या कभी मिट्टी भी डाल दी जाती है. स्थिर और गँदले कुण्डों में सड़ाने से रेशे के रंग और चमक पर असर पड़ता है. बहते पानी में सड़ाने से अच्छी किस्म का साफ रेशा मिलता है, परन्तु इसमें अधिक समय लगता है.

सड़े हुए सन से रेशा निकालने का ढंग भिन्न-भिन्न स्थानों पर एक-सा नहीं होता. उत्तर प्रदेश के बहुत से भागों में, बिहार, उड़ीसा तथा रत्नगिरि जिले में रेशों को पृथक्-पृथक् डठलों से निकाला जाता है, परन्तु तमिलनाडु में और इलाहाबाद जिले (उ.प्र.) में पूरे गट्ठे से रेशा निकाला जाता है. मध्य प्रदेश

के कुछ क्षेत्रों में सड़े तनों को 4–5 दिनों तक धूप में सुखाया जाता है. हर एक डंठल से रेशा निकालने की कार्य विधि एक साथ मुट्ठे में से रेशा निकालने से अधिक अच्छी मानी जाती है. दूसरी विधि में रेशा कुछ उलझ जाता है जिससे सफाई करते समय नुकसान होता है.

रेशा निकालने के लिये सड़े हुए डंठलों को जड़ की ओर से तोड़ा जाता है और ऊपर की ओर रेशे को छीला जाता है. अगर सड़न संतोषप्रद होती है तो रेशा आसानी से निकल आता है. सूखे पदार्थ से प्रति व्यक्ति दिन में 8 घंटा कार्य करके 2·7–3·6 किग्रा. तक रेशा निकाला जा सकता है. यह विधि महँगी है, इसलिए ऐसे उपकरण की आवश्यकता है जिससे श्रम की बचत हो सके.

रेशा निकालने के बाद उसे पीट कर धोया जाता है और धूप में सुखाया जाता है, सूखे रेशे को मरोड़ लिया जाता है और कभी-कभी तह कर लिया जाता है और बेचने से पहले पूलों या लच्छों में बाँध कर रखा जाता है. कसी और सघन मरोड़ से रेशों की सामर्थ्य पर बुरा प्रभाव पड़ता है और सफाई तथा छँटाई के समय खोलने में अधिक श्रम लगता है.

रेशे की उपज प्रति हेक्टर 1–10 क्विंटल तक और औसत 4–10 क्विंटल है. पौधे में रेशे की मात्रा सूखे तने के भार की लगभग 8% होती है.

सामान्यत: फसल का थोड़ा-सा हिस्सा बीजों के लिए छोड़ दिया जाता है किन्तु मुख्य फसल तो रेशे या हरी खाद के लिए काट ली जाती है. इधर बीजों की माँग बढ़ी है क्योंकि हरी खाद की फसल के रूप में सन हेम्प की माँग भारत तथा विदेश, दोनों में, बढ़ी है. राज्यों के कृषि विभाग केवल बीजों के लिए सन हेम्प के उत्पादन को विशेषकर उन क्षेत्रों में जहाँ रेशा उत्पन्न करने के साधन नहीं हैं, प्रोत्साहन देते हैं. बीज की औसत उपज 400–600 किग्रा. प्रति हेक्टर है (Patil, loc. cit.).

रेशे के लक्षण

रेशे की गुणता उसकी लम्बाई, बारीकी, रंग, समानता और उसमें संगुणित बाह्य पदार्थ की मात्रा द्वारा जानी जाती है. कम वर्षा के मौसम में पौधे नाटे होते हैं और रेशे कमज़ोर और छोटे होते है. सड़ाने का भी उसके गुणों पर प्रभाव पड़ता है. अत: यदि सड़ाने पर ध्यान दिया जाये तो भारतीय सन हेम्प पर लगाये जाने वाले सभी आरोप, जैसे कि एक-रूपता का अभाव, कीचड़ चिपकना तथा मैट पदार्थ की उपस्थिति, दूर हो सकते हैं.

जूट की तरह सन हेम्प रेशा है. यह हल्के रंग का होता है और इसकी तनन-सामर्थ्य अधिक होती है और खुले में जूट से अधिक टिकाऊ होता है. व्यापारिक रेशे की लम्बाई 90–150 सेंमी. तक होती है. अन्तिम रेशे लगभग 5–10 मिमी. लम्बे और 0·03 मिमी. व्यास वाले होते हैं. इसके अन्तिम रेशे असली हेम्प (**कैनाबिस सटाइवा**) के विपरीत किसी विन्दु की ओर पतले नहीं होते बल्कि ये घने या गोल किनारों वाले होते हैं जिनमें मन्ना जैसी विषमता होती है. अनुप्रस्थ काट में सन हेम्प रेशे में भिन्न-भिन्न कोशिकाओं के मध्य लिग्निन की मोटी तह और एक मोटी-सी ल्यूमेन होती है जिसमें प्राय: पीले रंग का पदार्थ होता है. असली हेम्प से यह इन्हीं बातों से भिन्न है क्योंकि असली हेम्प में ल्यूमेन सपाट, तंग और रिक्त होता है. जब सन हेम्प पर आयोडीन और सल्फ्यूरिक अम्ल की क्रिया की जाती है तो हरा-नीला रंग बनता है. जिंक के क्लोरआयोडाइड के साथ भूरा-नीला रंग मिलता है. इससे यह सूचित होता है कि रेशा शुद्ध सेलुलोस का बना है किन्तु उसके ऊपर काष्ठमय ऊतक की एक तह चढ़ी हुई है (Matthews, 355).

कच्चे सन हेम्प के विश्लेषण से निम्नलिखित फल प्राप्त हुए: राख, 0·61; जल (आर्द्रता ग्राही), 9·60; जलीय निष्कर्ष, 2·82; वसा तथा मोम, 0·55; सेलुलोस, 80·01; पेक्टिन पदार्थ, 6·41% (Matthews, 356).

कातने के परीक्षणों से यह पता चला कि श्रेणी के अनुसार, 5·4–21·6 किग्रा. सन हेम्प से 13,000 मी. सूत मिलता है. अच्छे गुणों वाले 4 किग्रा. सन हेम्प से 13,000 मी. सूत काता जा सकता है (Sircar, loc. cit.).

वास्तव में सन हेम्प एक डोरिया रेशा है. इसकी प्रचुर मात्रायें बिना चिकनाई रस्सी (धागा) बनाने के काम आती हैं जिससे मछली पकड़ने के जाल, चारपाई की बुनाई, चटाई तथा डोरियाँ बनाई जाती हैं. मध्य प्रदेश के कुछ जिलों और तमिलनाडु में घटिया कैन्वस और बोरे भी इसी रेशे से बनाए जाते हैं और वहाँ इसका कुटीर-उद्योग होता है. सन हेम्प को सन कातने वाली मशीन से कात कर पानी छिड़कने के मोटे पाइप, पेटी और कैन्वस के लिए घटिया कपड़े बनाए जा सकते हैं जो अभी तक बाहर से आयात किये जाते हैं (Handbook of Commercial Information, 1937, 333; Sircar, loc. cit.).

ब्रिटेन और बेल्जियम में सन हेम्प का उपयोग असली हेम्प के स्थान पर धागों, डोरियों, चटाई, बोरे, तारपुलिन, जूतों तथा सैण्डिल के तले तथा जहाजों की डोरियों के लिए किया जाता है. भारतीय सन हेम्प से बनी डोरी रूसी हेम्प की अपेक्षा समुद्रीय जल में अधिक खटाऊ है परन्तु दोनों ही मनीला, सीसल या फोरमियम डोरों से घटिया हैं. द्वितीय विश्वयुद्ध के समय सन हेम्प की काफी मात्रा छद्मावरण के लिए जाल बनाने में प्रयुक्त होती थी. यह लपेटने वाले कागज के उत्पादन के लिए उपयुक्त है. संयुक्त राज्य अमेरिका में इससे सिगरेट का कागज बनाया जाता है.

रेशों को झाड़ने से प्राप्त टुकड़े जहाजों की झिरियों को बन्द करने के काम आते हैं. कम्बल, दरी, आग बुझाने के पाइप, जाल तथा पलंग और मेज पर बिछाये जाने वाले कपड़ों के लिए भी इस रेशे का उपयोग किया जाता है.

सन हेम्प के डंठलों को सुखा कर पशुओं के चारे की भाँति प्रयोग में लाते हैं. इस चारे में आर्द्रता, 14·39; ईथर निष्कर्ष, 1·12; ऐल्बुमिनायड, 11·31; विलेय कार्बोहाइड्रेट, 35·85; काष्ठमय तन्तु, 27·39; विलेय खनिज पदार्थ, 6·42%; ऐल्बुमिनायड अनुपात, 3·39; और खाद्य इकाइयाँ, 66·9 पाई जाती हैं. मुलायम पत्तियाँ तथा तने विषैले नहीं होते, परन्तु इसके बीज और फलियाँ विषैले माने गये हैं अत: उन्हें पशुओं को खिलाने से पहले अलग कर लेना चाहिये (Rangaswami Ayyangar & Narayanan, *Madras agric.*

J., 1940, 28, 54; Sen, *Bull. agric. Res. Inst., Pusa*, No. 70, 1917, 19; *Rhod. agric. J.*, 1920, 17, 497).

बीजों में आर्द्रता, 8·6; कच्चा प्रोटीन, 34·6; वसा, 4·3; स्टार्च, 41·1; तन्तु, 8·1; राख, 3·3%; खाद्य इकाइयाँ, 138; और पोषण अनुपात, 1:1·5 पाये गये हैं. इसके बीज-प्रोटीनों से उपयुक्त आसंजक बनाये जा सकते हैं (*Bull. imp. Inst., Lond.*, 1921, 19, 454; *Indian For. Leafl.*, Nos. 52 & 59, 1943).

व्यापार

रेशे के औसत वार्षिक उत्पादन में से, 20–30% निर्यात किया जाता है और शेष का उपयोग देश में हो जाता है. उत्पादक अपने उपयोग के लिए जो मात्राएँ बचा रखते हैं, वे देश के विभिन्न भागों में अलग-अलग हैं. पंजाब, तमिलनाडु और आन्ध्र प्रदेश में उत्पादन का अधिकतर भाग रख लिया जाता है, जब कि बिहार, उत्तर प्रदेश और मध्य प्रदेश में क्रमश: 20–25, 5–20, और 1–10% रखा जाता है. इस रेशे का उपयोग खेती के विभिन्न कामों के लिए – रस्से, रस्सियाँ और सुतली बनाने में किया जाता है. मध्य प्रदेश में उत्पन्न सनई की काफी मात्रा अब कलकत्ता के रस्से बनाने के कारखानों में इस्तेमाल की जाती है (*Bull. Marketing Sunn Hemp*, 7, 10).

सनई के उपयोग के विश्वसनीय आँकड़े प्राप्त नहीं हैं, और देश के भीतरी व्यापार पर जो सामग्री प्रकाशित की गई है उसमें अन्य रेशे भी सम्मिलित हैं.

उपयोग से बचा हुआ रेशा किसानों द्वारा विभिन्न मंडियों में आढ़तियों के हाथ बेच दिया जाता है. वे उसे इकट्ठा करके 37–145 किग्रा. की कच्ची गाँठ के रूप में पक्की गाँठे बनाने के केन्द्रों को भेजते हैं. इन एकत्रण मंडियों में आढ़तिये रेशे को साफ या श्रेणीबद्ध नहीं करते, जिससे विभिन्न उत्पादक क्षेत्रों के विभिन्न लक्षणों वाले रेशे आपस में मिल जाते हैं.

भारत में सनई की गाँठें बनाने के मुख्य केन्द्र शिवपुर (बनारस के निकट), कलकत्ता, बम्बई, बिमलीपाटम और विजयानगरम में हैं. इन केन्द्रों में कच्ची गाँठों को खोला जाता है और रेशे के एक-एक लच्छे को श्रेणीबद्ध किया जाता है. उन्हें साफ किया जाता है, लोहे के कंघों में से गुजार कर सँवारा जाता है. निर्यात के लिए टाट में लपेटकर और लोहे की पत्तियों से कसकर लगभग 122·5 सेंमी. × 50 सेंमी. × 45 सेंमी. आकार की 180 किग्रा. की पक्की गाँठे बनाई जाती हैं.

व्यापार में तीन प्रकार के रेशे उपयोगी समझे जाते हैं – सफेद, हरे या गंजाम और देवधुड्डी रेशे. बम्बई के रत्नगिरि जिले से आने वाला देवधुड्डी सबसे अच्छा होता है. इसके बाद मध्य प्रांत का हरा या गंजाम सन आता है और फिर बंगाल का सफेद रेशा, जो साफ और मजबूत होता है. बनारस की सनई, जिसका रंग बंगाल के माल के रंग के समान होता है, उलझी और कमजोर होती है. पीलीभीत का सन घटिया होता है, यह रंग में हरिताभ, कमजोर और बहुधा गर्द और मिट्टी से भरा होता है. तमिलनाडु का रेशा पीलीभीत के रेशे की तुलना में कुछ मजबूत और साफ होता है. विभिन्न केन्द्रों के रेशों के लक्षणों का सारांश सारणी 2 में दिया गया है.

ऐग्रीकल्चरल प्रोड्यूस (ग्रेडिंग एण्ड मार्केटिंग) एक्ट, 1937, के अनुसार सन की प्रत्येक व्यापारिक किस्म की 4 श्रेणियाँ मानी गई हैं. केवल श्रेणीकृत लक्षणों का ही माल, निर्यात किए जाने के कारण, गाँठों पर एगमार्क लेबिल लगाकर उन पर उनकी श्रेणी अंकित की जाती है. सारणी 3 में सन हेम्प (ग्रेडिंग एण्ड मार्केटिंग) रूल्स, 1942, में निर्धारित विशिष्टताओं का सारांश दिया गया है.

इस रेशे की भारत से निर्यात की जाने वाली मात्रा में प्रति वर्ष काफी अंतर होता है. 1909–43 की अवधि के लिए वार्षिक औसत 80–100 लाख रुपये मूल्य का 26–27 हजार टन था. निर्यात की मात्रा और उसके लिए प्राप्य मूल्य बहुत कुछ इस बात से प्रभावित होता है कि यूरोप के बाजारों में इटली और रूस का सन कितना पहुँचता है. विश्व युद्ध के छिड़ जाने के कारण इस रेशे की माँग बहुत बढ़ गई थी, पर साथ ही देश में भी गोपन जालों, रस्सों और जहाजी रस्सियों के लिए उसकी आवश्यकता बढ़ जाने से उसकी विशेष मात्रा निर्यात नहीं की जा सकी. 1947 के बाद निर्यात में वृद्धि हुई है. 1948–49 में 339 लाख रुपये का 33 हजार टन सन निर्यात किया गया था.

सन के प्रमुख बाजार ब्रिटेन और बेल्जियम हैं. युद्ध से पहले जर्मनी भी था. पिछले वर्षों में संयुक्त राज्य अमेरिका बड़ी मात्रा में सन मँगाता रहा है. हाल के वर्षों में सन मँगाने वाले अन्य देश अर्जेण्टाइना, फ्रांस और इटली हैं.

यह रेशा मुख्यत: बम्बई, कलकत्ता और विजिगापट्टम से निर्यात किया जाता है. 1938–39 में समाप्त होने वाले पाँच वर्षों में कलकत्ता से निर्यात माल देश के सम्पूर्ण निर्यात के 82% से अधिक था; बम्बई और मद्रास बंदरगाहों के भाग क्रमश: 10·9% और 6·5% थे.

सन के बाजार-भाव में काफी घट-बढ़ होती रहती है; यह बहुत कुछ दूसरे रेशों अर्थात् जूट, सीसल और रूस तथा इटली के सनों के भावों पर निर्भर करता है.

सारणी 4 में सन के प्रकारों और श्रेणियों (सँवारी और बेसँवारी) के अप्रैल 1945 के मूल्यों का सारांश दिया गया है. ये मूल्य (लागत-बीमा-भाड़ा) ब्रिटेन के बन्दरगाहों के लिए बम्बई या कलकत्ता से माँगे गए थे.

क्रो. फेरूजिनिया ग्राहम C. ferruginea Grah.

ले. – क्रो. फेरुजिनेआ

Fl. Br. Ind., II, 68.

यह एक बलिष्ट जाति है जो नेपाल से असम तक 1,500–1,800 मी. तक पाई जाती है. जावा में हरी खाद की फसल के रूप में इसका परीक्षण किया गया, किन्तु कीड़े इसे क्षति पहुँचाते हैं. यह काफी घनी छाया को भी सहन कर लेती है और इस पर सूखे का कोई प्रभाव नहीं पड़ता. भेड़ें इसकी पत्तियाँ खाती हैं (Burkill, loc. cit.; Use of Leguminous Plants, 192).

सारणी 2 – कुछ व्यापारिक किस्मों के लक्षण*

नाम	स्रोत	रेशे की औसत लम्बाई (मी.)	रंग और सामर्थ्य	अन्य लक्षण	कुल उत्पादन का %
बनारस	पूर्वी और मध्य उत्तर प्रदेश, पश्चिमी बिहार	0·9–1·35	सफेद से धूमिलाभ; मुलायम, बारीक दुर्बल	उलझा; सफाई और सँवारने में कठिनाई	40–45
बंगाल	बंगाल और पूर्वी बिहार	1·2–1·5	पीताभ श्वेत से धूमिलाभ श्वेत; चमकदार मुलायम, मजबूत	सुलझा; अत्यल्प मुड़ाव, सफेद सनों में सर्वोत्तम	12
गोपालपुर	गंजाम (उड़ीसा)	1·2–1 65	पीताभ श्वेत से हल्का भूरा; काफी मजबूत	साफ, उलझाव मुक्त	अत्यल्प
इटारसी	बैतूल (मध्य प्रदेश)	1.2–1 8	श्वेत-पीत से पीताभ हरित; मजबूत और मुलायम	उलझाव और मोड़ रहित; हरे सनों में सर्वोत्तम	10
सिवनी	सिवनी (मध्य प्रदेश)	1 2–1·8	हरिताभ धूमिल से भूराभ; काफी मजबूत	साफ, सुलझा, रंग में इटारसी से तनिक घटिया	
जबलपुर	जबलपुर (मध्य प्रदेश)	1·2–1·8	मजबूत और लम्बा; सिवनी से घटिया	मुड़ाव अपवर्तन की मात्रा अधिक	
पीलीभीत	पीलीभीत और मुरादाबाद (उ. प्र.)	0·9–1·5	हल्के पीले से भूरा; मजबूत	चिपके हुए; धूल आदि युक्त; सुलझा पैकिंग से पहले सँवारा	3·5
दोहद और गोधरा	पंचमहल, बेलगांव और अहमदनगर (गुजरात)	1·2–1 5	मैला हरा; काफी मजबूत	अधिक मुड़ाव, प्राय: पैकिंग से पहले सँवारा जाता है और 'बम्बई सँवारा' कहलाता है.	2·5
देवघुड्डी	रत्नगिरि (महाराष्ट्र)	1·5–1·8	चमकदार, हल्का पीला; मुलायम और बारीक, मजबूत	उलझाव और मुड़ाव रहित; सर्वोत्तम भारतीय	1·0

Bull. Marketing Sunn Hemp, 16, 17.

क्रो. बुरहिया बुखनन-हैमिल्टन C. burhia Buch.-Ham.

ले. – क्रो. बूर्हिआ

D.E.P., II, 595; Fl. Br. Ind., II, 66; Kirt. & Basu, I, 693, Pl. 286A.

म. – घगरी; गु. – घुघरो.
पंजाब – सिस, सिसई, खिप; सिंध – ड्रन्न.

यह एक नीची, छरहरी प्रशाखित झाड़ी है जो बलूचिस्तान, पंजाब, राजस्थान, गुजरात और कैम्बे के शुष्क भागों में 1,200 मी. की ऊँचाई तक पाई जाती है. इस मरुस्थली जाति से सनई की तरह का रेशा निकलता है परन्तु इससे बनी रस्सी सस्ती होने पर भी कमजोर होती है (Gee, 3).

राजस्थान में यह ऊँटों को चराई जाती है. इसकी पत्तियाँ और शाखायें शीतलकारी औषधि के रूप में प्रयोग में लाई जाती हैं.

क्रो. मेडिकाजिनिया लामार्क C. medicaginea Lam.

ले. – क्रो. मेडिकागिनेआ

D.E.P., II, 613; Fl. Br. Ind., II, 81; Kirt. & Basu, I, 696, Pl. 289B.

हिं. – गुलाबी; गु. तथा म. – जँज्यू, जेंजारु.

यह अत्यन्त परिवर्तनशील सदाबहार बूटी है जो सारे भारतवर्ष में बहुतायत से मिलती है. पंजाब में यह पौधा 'गुलाबी' के नाम से बेचा जाता है तथा दवा की तरह प्रयुक्त होता' है. इस जाति की एक किस्म, वैर. **लक्जूरियन्स** जो पश्चिमी उत्तर प्रदेश में सामान्य है, ऊँट का उत्तम चारा मानी जाती है. इसके बीजों को नमक के साथ पका कर पशुओं को भोजन की तरह दिया जाता है. बीजों में वसा, 6·76; प्रोटीन, 23·31; तथा कार्बोहाइड्रेट, 42·04% पाये जाते हैं (Duthie, I, 207; Patel & Shah, *Proc. Indian Sci. Congr.*, 1944, 126).

सारणी 3—व्यापारिक सनई की श्रेणियों के नाम*

श्रेणी (ग्रेड)	अधिकतम मुड़ाव प्रति गाँठ† (किग्रा.)	गूँडी की औसतन न्यूनतम लम्बाई (सेंमी.)	रेशे का रंग	श्रेणी (ग्रेड)	अधिकतम मुड़ाव प्रति गाँठ† (किग्रा.)	गूँडी की औसतन लम्बाई (सेंमी.)	रेशे का रंग
बंगाल 1	1·8	90	पीताभ श्वेत	जबलपुर** बारीक	9·0	90	पीताभ हरे से हल्का भूरा
„ 2	2·7	75	पीताभ	„ 1‡	9·0	75	हरिताभ भूरे से धूमिल
„ 3	4·0	..	पीताभ से धूमिलाभ श्वेत	पीलीभीत अत्यन्त बारीक	4·5	100	हल्का पीला
बनारस बारीक	9·0	..	श्वेत	पीलीभीत बारीक	6·3	90	हल्का पीला से धूमिलाभ श्वेत
„ 1	18·1	..	हल्का पीताभ से श्वेत	„ 1	9·0	65	धूमिल से भूराभ
„ 2	22·7	..	धूमिलाभ श्वेत	देवघुड्डी अत्यंत बारीक	1·8	100	चमकीला पीताभ पीला
„ 3	36·3	..	धूमिलाभ या हल्का भूरा	देवघुड्डी बारीक	3·6	90	गंदा श्वेत से पीताभ पीला
छपरा 1	2·7	..	श्वेत	„ 1	5·4	75	हल्का श्वेताभ पीला
„ 2	4·5	..	पीताभ श्वेत	„ 2	6·8	60	„ „
„ 3	6·3	..	धूमिलाभ श्वेत	बम्बई (लाल सँवारा)	1·4	90	श्वेत पीत से हल्का हरा
गोपालपुर श्वेत	2·7	90	पीलाभ श्वेत	„ (हरा सँवारा)	2·7	75	हल्का हरा से हल्का धूमिल
„ भूरा	2·7	90	धूमिलाभ से हल्का भूरा	„ (काला सँवारा)	3·6	75	गहरा धूमिल
„ छोटे	..	..	पीताभ श्वेत से हल्का भूरा	गंजाम (लाल सँवारा)	1·8	100	हल्का पीला
इटारसी अत्यंत बारीक	3 6	100	पीताभ से पीताभ हरित	„ (हरा सँवारा)	2·7	100	हल्का हरिताभ
„ बारीक	5·4	90	हल्का हरे से हल्का धूसर	„ (काला सँवारा)	3·6	90	हरा या भूरा
सिवनी बारीक**	7·2	75	हरिताभ धूसर से बहुत हल्का भूरा	टो (गंजाम सन से)			
				लाल टो	9 0	..	हल्का पीला
				हरा टो	11·3	..	हल्का हरा से हल्का भूरा
				काला टो	13·5	..	हरिताभ भूरे से धूमिल

*Bull. Marketing Sunn Hemp, Appx V.
**इसमें इटारसी रेशे 60 सेंमी. या ऊपर के सम्मिलित हो सकते हैं.
†इसमें डण्डियां, छोटे और कमजोर तन्तुओं के उलझे पिण्ड, मिट्टी, धूल, आदि सम्मिलित हैं.
‡इसमें सिवनी 60 सेंमी. या ऊपर के सम्मिलित हो सकते हैं.

सारणी 4 – यू.के. के बन्दरगाहो मे मूल्य (लागत-बीमा-भाडा)*

नस्ल	श्रेणी का नाम	मूल्य प्रति टन पो. शि
श्वेत	बनारस न. 1	31–10
	,, न. 2	29–10
	बगाल नं. 1	44–0
	,, न. 2	41–0
	,, न. 3	38–10
गजाम (हरी)	बारीक इटारसी	51–0
	,, सिवनी	48–0
	,, जबलपुर	45–0
देवघुड्डी	,, देवघुड्डी	60–0
	देवघुड्डी न. 1	57–0
बम्बई (सवारा)	लाल सवारी	61–0
	हरी ,,	58–0
	काली ,,	55–0
	टो	44–0
गंजाम (सवारा)	†लाल सवारी	59–0
	हरी ,,	56–0
	काली ,,	53–0

**Bull Marketing Sunn Hemp*, Appx X-XVI
†मार्च 1945 के लिये

क्रो. रेटुजा लिनिअस C. retusa Linn.

ले. – क्रो. रेटूसा
D E.P., II, 613, Fl. Br. Ind., II, 75, Talbot, I, Fig. 215.

स. – शणरघण्टिका; हिं – घुनघुनियाँ; बं. – विल-भुनभुन, म. – घाग्री; ते. – पोट्टि-गिलिगिच्चा; त. – किलुकिलुप्पाइ, क. – गेज्जे गिडा.

यह एक सीधी, दृढ, उपझाडी है जो भारत, श्रीलका तथा मलाया मे पायी जाती हे जिसकी ऊँचाई कभी-कभी 4·5 से 6·0 मी तक पहुँच जाती हे. इसे कभी-कभी रेशो के लिए उगाया जाता हे. इसके रेशो को सनई से मिश्रित करके कैन्वस तथा रस्से बनाये जाते है. इसका रेशा कडा होता है परन्तु खेती मे सावधानी बरतने पर इसके गुणो मे सुधार हो सकता है महाराष्ट्र मे यह पौधा "महाबलेश्वर की विभूति" के नाम से विख्यात हे और फ्लोरिडा मे तथा अमेरिका के उष्णकटिबधी प्रदेश मे इसकी खेती इसके सुन्दर फूलो के लिए की जाती हे (Lewis, 134).

पत्तियो मे इण्डिकान होता है. बीजो मे मोनोक्रोटैलीन नामक विषैला ऐल्कलायड, $C_{16}H_{23}O_{6}N$, ग.वि, 197–98° पाया जाता है (Wehmer, I, 531, Henry, 604).

जावा मे इसका प्रयोग हरी खाद के रूप मे हुआ है किन्तु कीटो द्वारा आक्रमित होने से यह अनुपयुक्त पाया गया. भारत के अनुभव से यह पता चला है कि यह पौधा लैस्पीरेसिया स्यूडोनेक्टिस वेधक के आक्रमण से प्रतिरक्षित है. पूर्वी अफ्रीका मे इसके रजक पौधे के रूप मे होने का उल्लेख है. यह पौधा खुजली तथा इम्पेटिगो रोगों के उपचार मे प्रयुक्त होता है (Burkill, I, 686, Yegna Narayan Aiyer, 356, Greenway, *Bull imp Inst., Lond*, 1941, 39, 222, Kirt. & Basu, I, 697).

Laspeyresia pseudonectis

क्रो. लैबुर्निफोलिया लिनिअस C. laburnifolia Linn.

ले. – क्रो. लाबुर्निफोलिआ
Fl Br. Ind, II, 84

हिं – मूना; ते. – पेद्दा-गलिगिस्ता.

यह सीधा झाडीनुमा सदाहरित पौधा है जो पश्चिमी प्रायद्वीप, उत्तरी सरकार, तथा श्रीलका मे पाया जाता हे इसे प्राय. उद्यानो मे बडे तथा पीले फूलो के लिए उगाया जाता है. भारत, श्रीलका और डच इण्डीज मे चाय के खेतो मे हरी खाद के रूप मे इसका प्रयोग किया गया हे यद्यपि इससे अधिक पत्तियाँ उत्पन्न होती हैं किन्तु यह जल्दी ही काष्ठमय हो जाता है और नाशकजीव इस पर आक्रमण कर सकते है. यह कटाई भली-भाँति सहन नही कर पाता हे (Burkill, I, 686).

इस पौधे के काढे को मुह की सूजन तथा गले की खराश मे गरारा करने के लिए प्रयोग मे लाया जाता है (Lewis, 135).

क्रो. सेम्पेरफ्लोरेन्स वेण्टेनैट C. semperflorens Vent.

ले. – क्रो सेम्पेरफ्लोरेस

यह 3 मी. तक ऊँची, लम्बी झाडी है जो नीलगिरि पर्वत, श्रीलका तथा पश्चिमी मलेशिया मे पायी जाती है. यह दक्षिण भारत मे ऊँचाई पर स्थित चाय बागानो मे उगायी जाती है क्योकि यह चाय की झाडियो की तेज हवा से रक्षा करती हैं. यह काफी बागानो मे हरी खाद के रूप मे प्रयुक्त होती है परन्तु इसकी उपयोगिता निश्चित नही हो पाई हे (A Manual of Green Manuring, 71, Sampson, *Kew Bull.*, 1928, 171).

क्रो. सेरीसिया रेत्सियस = क्रो. स्पेक्टाबिलिस रॉथ
C. sericea Retz.

ले. – क्रो सेरिसेआ
D E.P., II, 614, Fl. Br. Ind, II, 76.

स. – घण्टारव; हिं – झुनझुनियाँ, ब. – पिपुली झुनझुन, झुमझुमो.

यह एक सीधी, शाकीय उपझाडी है जो भारत मे सर्वत्र पायी जाती है. इससे काफी मजबूत रेशे प्राप्त होते हैं. यह पौधा खुजली तथा इम्पेटिगो मे प्रयुक्त होता है (Kanjilal, 109, Kirt. & Basu, I, 698).

इसकी खेती सयुक्त राज्य अमेरिका मे चारे के रूप मे की जाती है. अब इसके स्थान पर अन्य चारो का उपयोग किया जाने लगा है क्योकि इसके सभी अगो मे मोनोक्रोटैलीन नामक

विषैला ऐल्कलायड पाया जाता है जो बीजों में प्रचुर मात्रा में रहता है (*Yearb. U.S. Dep. Agric.*, 1943/47, 441; *Fmrs' Bull. U.S. Dep. Agric.*, loc. cit.; Neal *et al.*, *J. Amer. chem. Soc.*, 1935, **57**, 2560; Adams *et al.*, ibid., 1939, **61**, 2815).
C. spectabilis Roth

क्रो. स्ट्रिएटा द कन्दोल = क्रो. मुक्रोनेटा देस्वो
C. striata DC.

ले. – क्रो. स्ट्रिआटा

D.E.P., II, 614; Fl. Br. Ind., II, 84; A Manual of Green Manuring, 71, Fig.

हिं. – सेन, सन

असम – घण्टाकर्ण, झुनझुनिया.

यह 90–120 सेंमी. ऊँची एक सीधी शाकीय झाड़ी है जो भारत, श्रीलंका तथा मलेशिया में पायी जाती है. कुछ लेखकों द्वारा यह **क्रो. स्ट्रिएटा** द कन्दोल के नाम से तथा कुछ अन्य लेखकों द्वारा **क्रो. सल्टिआना** ऐण्ड्रस के नाम से वर्णित हुई है. कुछ लोग इन्हें **क्रो. मुक्रोनेटा** देस्वो के पर्यायवाची कहते हैं.

चाय, रबर तथा नारियल के बागानों में भूमि-संरक्षण-सस्य के रूप में यह झाड़ी लगायी जाती है. तमिलनाडु में नारियल के बगीचों में इसके प्रयोग से आशाजनक परिणाम मिले हैं. छाया और धूप दोनों में ही हरे पदार्थ की अधिक प्राप्ति (8,500–8,750 किग्रा./हेक्टर) अंकित की गई है. यह आसानी से उगाई और काटी जा सकती है तथा डेढ़ से दो वर्षों तक जीवित रहती है. इससे सनई जैसे रेशे प्राप्त होते हैं (Use of Leguminous Plants, 194; *Rep. agric. Res. Sta., Madras*, 1944–45, 184; Fl. Assam, II, 16).

इसके पत्तों में एक ऐल्कलायड होता है जो बकरियों के लिए विषैला है. शुष्क पत्तियाँ विषैली नहीं होतीं. इसके बीजों में भी एक विषैला ऐल्कलायड होता है परन्तु धुले हुये तथा पकाए हुए बीज अविषैले होते है. इसके बीज कभी-कभी काफ़ी के प्रतिस्थापी के रूप में प्रयोग किये जाते हैं. ये किण्वित पदार्थों के बनाने में भी काम आते हैं (Burkill, I, 687).

मेडागास्कर तथा पूर्वी अफ्रीका में इस पौधे से एक काला रंजक द्रव्य बनाया जाता है (Baron, *Kew Bull.*, 1890, 203; Greenway, loc. cit.).
C. mucronata Desv.; *C. saltiana* Andr.

क्रोमाइट CHROMITE

क्रोमाइट, जिसे क्रोम अयस्क, क्रोम लौह अयस्क, क्रोमिक लौह अयस्क आदि अनेक नामों से पुकारा जाता है, क्रोमियम धातु का मुख्य अयस्क है. यह उन गिने-गिनाये कुछ खनिजों में से एक है, जिसका उपयोग वर्तमान उद्योग धन्धों में अनेक प्रकार से किया जाता है. यह संसार के कुछ ही देशों में मिलता है, जिसमें भारत भी सम्मिलित है. सामान्यतः सोवियत रूस को छोड़कर, जहाँ क्रोम अयस्क का उत्पादन अधिक होता है, अधिकांश देश इस धातु को अन्य उत्पादक देशों से आयात करके अपनी आवश्यकता पूरी करते है. इसीलिए द्वितीय विश्व युद्ध में सम्मिलित अधिकांश देशों की सामरिक खनिजों की सूची में क्रोमाइट का उच्च स्थान था. सामान्य दिनों में भी, क्रोमाइट की अच्छी माँग रहती है. इस धातु का अधिकांश भाग फेरो-क्रोम, स्टेनलेस इस्पात, रिफ्रैक्टरी तथा चमड़ा उद्योग में रसायन के रूप में प्रयुक्त होता है.

क्रोम अयस्क या क्रोमाइट ($FeO.Cr_2O_3$) को लोहे का क्रोमेट माना जा सकता है, जिसमें सिद्धान्ततः 68% क्रोमिक सेस्क्वीऑक्साइड (Cr_2O_3) तथा 32% लोह ऑक्साइड (FeO) होना चाहिए. किन्तु प्रकृति में यह अयस्क कभी भी शुद्ध रूप में नहीं मिलता, इसमें क्रोमियम के स्थान पर फेरिक-लोह तथा ऐल्युमिनियम और फेरस आयरन के स्थान पर मैग्नीशियम विभिन्न मात्राओं में प्रवेश कर जाते हैं. फलस्वरूप इसमें 50–52% से अधिक क्रोमिक ऑक्साइड नहीं रहता.

क्रोमाइट (आ.घ., 4·0–4·6; कठोरता, 5·5) में अष्ट-भुजाकार क्रिस्टल होते हैं परन्तु साधारणतया इसका गठन स्थूल दानेदार से लेकर संहत तक होता है. इसका रंग गाढ़े भूरे से लेकर अत्यधिक काला होता है और साधारणतया भूरा निशान छोड़ता है. इस खनिज में धात्विक से लेकर अल्प-धात्विक चमक होती है. यह कुछ-कुछ चुम्बकीय होता है. यह काफी कठोर होता है और चाकू द्वारा कठिनाई से खुरचा जा सकता है. संघटन के अनुसार इसका गलनांक 1545° से 1730° तक होता है.

क्रोमाइट को फुँकनी परीक्षण (ब्लो-पाइप टेस्ट) द्वारा आसानी से पहचाना जा सकता है. उपचायक ज्वाला में यह खनिज गर्म रहने पर सुहागा-मनका को रक्ताभ-पीत कर देता है और ठंडा होने पर पीताभ हरा रंग प्रदान करता है (लोह की अभिक्रिया) और अपचायक ज्वाला में मांणिक हरित (क्रोमियम की अभिक्रिया). माइक्रोकास्मिक लवण का मनका क्रोमाइट के साथ उपचायक तथा अपचायक दोनों ही ज्वालाओं में, गर्म रहने पर गंदा हरा रंग और ठंडा होने पर निखरा हरा रंग उत्पन्न करता है. सोडियम कार्बोनेट के साथ गलाने पर क्रोमाइट अपारदर्शी पीला मनका बनाता है.

उपस्थिति

क्रोमाइट साधारणतया पराक्षारकीय शिलाओं (पेरिडोटाइट, पाइरोक्सेनाइट और ऐम्फीबोलाइट) तथा उसके व्युत्पन्न, सर्पेण्टाइन, टैल्क और टैल्क क्लोराइटिक शिस्ट से प्राप्त होता है. साधारण-तया यह मैग्नेसाइट के साथ पाया जाता है, पर कुछ स्थानों में इसका मेल प्लैटिनम, टाइटैनीफेरस मैग्नेटाइट, निकल और कोबाल्ट खनिज पदार्थों और ऐस्बेस्टास आदि के साथ रहता है.

मुख्य निक्षेपों में क्रोमाइट या तो उत्पादक शिला में दानों के रूप में छिटका हुआ मिल सकता है, या पृथक्कृत छुटपुट खण्डों में पाया जा सकता है. यह शिराओं, लेंसों तथा सपाट अयस्क पिंड के रूप में भी पाया जा सकता है. मुख्य निक्षेप के रूप में क्रोमाइट अयस्क पिंड या तो पराक्षारकीय शिलाओं के ठोस होने के पूर्व ही पृथक्कृत हो जाते हैं या बाद में, जब संपिण्डित मैग्मा में जल-तापीय परिवर्तन होता रहता है जिसमें मूल शिलाओं में अंतर्भेदन और समावेशन होते रहते हैं.

ऐसे भी दृष्टान्त हैं जब अवशिष्ट मान्द्रता द्वारा वितरित क्रोमाइट के मुख्य निक्षेप खुदाई के योग्य गौण निक्षेपों में रूपान्तरित हो गये जिससे बचा हुआ अविलेय क्रोमाइट ढकने वाली शिलाओं के हट जाने से धरातल पर रह गया. पानी द्वारा अवशिष्ट क्रोमाइट के बहा ले जाने से इसके जलोढ निक्षेप भी मिलते हैं.

वितरण

भारत में क्रोमाइट के महत्वपूर्ण निक्षेप बिहार, महाराष्ट्र, तमिलनाडु, मैसूर, तथा उड़ीसा में पाये जाते हैं.

उड़ीसा – नौसाही (21°17′ : 86°20′) के पास क्योंझर में क्रोमाइट परिवर्तित पेरेडोटाइट में, लेंसों और शिराओं के रूप में पाया जाता है. यह अयस्क उत्तम श्रेणी का है और विश्लेषण किये गये नमूनों में 52–54% Cr_2O_3 प्राप्त हुआ है. सुरक्षित भण्डार लगभग 43,000 टन है (Coulson, *Rec. geol. Surv. India*, 1945, **76**, 11; Borooah, *Trans. Min. geol. Inst., India*, 1948, **44**, 79).

कश्मीर – कश्मीर राज्य के खनिज सर्वेक्षण से ज्ञात हुआ है कि क्रोम ओलीवीन चट्टानों के बड़े-बड़े पिंड पाये जाते हैं जिनसे लद्दाख में पहाड़ियाँ एवं पर्वत मालायें बनी हुई हैं. उनसे बड़ी मात्रा में क्रोमाइट प्राप्त हो सकता है. इन स्थलों पर केवल टेढ़े-मेढे दुर्गम मार्गों से ही ऊँचे दर्रों तथा जंगलों के बीच पहुँचा जा सकता है इसलिए यहाँ पर खनिज पदार्थ निकालने का कार्य प्रारम्भ नहीं किया जा सका.

तमिलनाडु – क्रोमाइट सलेम जिले की चाक पहाड़ियों में पतली-पतली शिराओं के रूप में, जो कुछ सेंटीमीटर से लेकर 0·9–1·2 मी. तक है तथा मैग्नेसाइट के बीच-बीच बड़े-बड़े खण्डों के रूप में पाया जाता है. आर्थिक दृष्टि से इन निक्षेपों की खुदाई लाभप्रद नहीं है और ये निक्षेप तभी उपयोगी सिद्ध हो सकते हैं जब अन्य स्थलों से पूर्ति में कठिनाई आ पड़े. यह अयस्क अच्छी कोटि का भी नहीं है. इसके दो नमूनों की जाँच से उनमें 35·6 और 44·5% क्रोमियम ऑक्साइड प्राप्त हुआ है. चाक पहाड़ी के अतिरिक्त शंकरी दुर्ग के 19·2 किमी. दक्षिण कावेरी के तट पर येदीची-कोलूम में तथा सलेम जिले में चेट्टी चावाडे जागीर के मैग्नेसाइट निक्षेप के उत्तरी सिरे पर भी क्रोमाइट मिलने की सूचना है. सलेम जिले के सित्तमपुण्डी स्थान (11°14′: 77°54′) के निकट ऐम्फीबोलाइट और ऐम्फीबोल शिस्ट तथा कोरण्डम युक्त एनार्थोसाइट के संयोग में भी क्रोमाइट मिला है. यह क्रोमाइट वाला क्षेत्र लगभग 12·8 किमी. लम्बाई और औसतन 400 मी. चौड़ाई तक फैला है. यह अयस्क निम्न श्रेणी (20–25% Cr_2O_3) का है. अनुमानित भंडार 2,00,000 टन होगा (Coulson, *Rec. geol. Surv. India*, 1945, **76**, 12).

कोण्डापल्ली (बेजवाड़ा) के आसपास कृष्णा जिले में उच्च श्रेणी (46–50% Cr_2O_3) के अयस्क के विस्तृत क्षेत्र पाये जाने की सूचना है. विश्वास है कि यह भण्डार लगभग 50,000 टन होगा. किन्तु अभी तक इन निक्षेपों के सम्बन्ध में कोई प्रामाणिक सूचना प्रकाशित नहीं हुई है.

बिहार – क्रोमाइट की खोज पहले बिहार के सिंहभूम जिले में 1907 में आर. सौबोल द्वारा की गई जिन्होंने अपने पूर्वेक्षण के दौरान चैबासा तथा सोना के बीच सूरा दर्रा के निकट इस अयस्क के नमूने प्राप्त किये. फिर 1918 में फर्मर ने इस क्षेत्र का पुनरीक्षण किया और यह देखा कि यह अयस्क पृथक्कृत पट्टियों एवं लेंसों के रूप में अंशतः परिवर्तित पेरिडोटाइट में पाया जाता है, जो ड्यूनाइट तथा एन्स्टैटाइट सेक्सोनाइट के साथ सर्पेण्टाइन के मिलने से बना है. ये परिवर्तित पराक्षारकीय शिलाएँ धारवाड़ युगीन चट्टानों में मसूर जैसे अन्तर्वेधनों के रूप में वितरित मिलती हैं और शेल, स्लेट तथा इसी कोटि की अन्य शिलाओं के साथ मुड़ी हुई हैं. ये जोहाटू के पास तीन विभिन्न स्थलों पर, रोरो चिटंग बुरु, कित्ताबुरु, किम्सीबुरु तथा चैबासा के पश्चिम में, कोल्हन इलाके की विभिन्न पहाड़ियों में पाये जाते हैं (*Rec. geol. Surv. India*, 1921, **53**, 255).

इस क्षेत्र के अनेक क्रोमाइट के निक्षेपों में रोरोचिटंग बुरु में पाये जाने वाले निक्षेप बहुत महत्वपूर्ण हैं. इनमें विभिन्न ग्रेडों के अयस्क मिलते हैं जिनमें क्रोमियम ऑक्साइड (Cr_2O_3) की मात्रा 40–53% होती है. रोरोचिटंग बुरु की एक पतली पहाड़ी है जिसकी दो चोटियाँ हैं – रोरोबुरु और चिटंगबुरु. इनमें से पहली चोटी रोरोबुरु के उत्तरी ढाल पर दो स्थानों पर क्रोमाइट निकाला जाता है. एक में यह निम्न श्रेणी के फ्लोट अयस्क (44% Cr_2O_3) के रूप में 1·5–4·5 मी. मलबे के नीचे मिलता है तथा दूसरे में सर्पेण्टाइन की कठोर तह में उत्तम श्रेणी के अयस्क के रूप में 30 सेंमी. मोटाई तक पाया जाता है जिसमें 53% क्रोमियम ऑक्साइड (Cr_2O_3) होता है. यह अयस्क दानेदार है और पेरिडोटाइट के विपरीत भ्रंशन के कारण कहीं-कहीं बहुत मोटा हो गया है. चोटी के दक्षिण में उत्तम कोटि का अयस्क सघन पिंड के रूप में पाया जाता है और सर्पेण्टाइनीकृत पराक्षारकीय पिंड की स्थानीय चट्टानों की सीमा तक समान्तर चला गया है. यह एक खाई में से खोदा जाता है जो कुछ किलोमीटर लम्बी तथा 12 मी. चौड़ी है.

किट्टाबुरु मे क्रोमाइट की तहें अस्त-व्यस्त है और 3 से 10·5 मी. की गहराई पर मिलती हैं. यहाँ का अयस्क निम्न कोटि का है. किम्सीबुरु में अभी तक क्रोमाइट की पर्तों की खोज नहीं हो पायी है किन्तु अनुमान है कि यहाँ का अयस्क-भण्डार उच्च कोटि का है, तथा दूर-दूर तक फैला है.

जोजोहाटु क्षेत्र में क्रोमाइट अयस्क को चार प्रकारों में विभाजित किया गया है: (1) **बोल्डर अयस्क**, जो बोल्डरों के रूप में पाया जाता है और जिसमें 48 से 52% क्रोमियम ऑक्साइड (Cr_2O_3) रहता है; (2) **रीफ अयस्क**, जो पतली-पतली शिराओं के रूप में मिलता है जिसमें पतली शाखाएँ फूटी हैं तथा सर्पेण्टाइन द्वारा संयोजित हो गया है. इसको 48% तक लाने के लिए तोड़कर अपद्रव्य से मुक्त करने की आवश्यकता पड़ती है; (3) **पीला रीफ अयस्क**, जिसमें कुछ पीले रंग के क्रोमाइट के गँठीले पिंड होते हैं जो देखने में रामरज जैसे लगते हैं परन्तु ये रीफ अयस्क से अच्छे होते हैं. इसमें 52% क्रोमियम ऑक्साइड (Cr_2O_3) होता है; (4) **लैटेराइटी अयस्क**, जो लैटेराइट आच्छादन के नीचे पाया जाता है. इसके ऊपर हमेशा गेरू का आवरण रहता है. इसमें क्रोमियम

ऑक्साइड की प्रतिशतता केवल 35–40 होती है (Bhadaura, *Quart. J. geol. Soc. India*, 1939, **11**, 123).

सिंहभूम में अयस्क को खान से निकालने के बाद हाथ से छँटाई करते हैं और तोड़कर, छाँटकर सान्द्रित कर लेते हैं अर्थात् एक छोटी रुखानी की आकृति के हथौड़े से अयस्क के खण्डों को लिपटे हुए स्थानीय चट्टान के टुकड़ों से विलग करते हैं. जब अयस्क के टुकड़े बहुत छोटे होते हैं तो उन्हें लोहे की चद्दर पर धुरमुट से चूर्ण कर लेते हैं. पिसे हुए अयस्क को ओसा कर तथा धोकर सान्द्रित कर लेते हैं. टाटा लौह और इस्पात कम्पनी ने किस्ताबुरु खान में एक संयंत्र स्थापित किया है जो अयस्क की पिसाई करेगा. इसके साथ में सान्द्रण के लिए एक हाइड्रॉलिक श्रेणीकारक तथा एक विल्फ्ले टेबुल की भी व्यवस्था की गई है.

सिंहभूम की खान से सबसे नजदीक रेलवे स्टेशन चैबासा है जो 24 किमी. की दूरी पर है. वहाँ तक अयस्क को बैल गाड़ियों तथा ट्रकों से पहुँचाया जाता है. चैबासा से यह कलकत्ता तथा अन्य स्थानों को रेल द्वारा भेजा जाता है. 1909 में लगभग 400 टन अयस्क निकाला गया. 1913 से क्रोमाइट का व्यापारिक पैमाने पर लगातार उत्पादन किया जाने लगा. सिंहभूम में 25 वर्षों (1913–38) में 81,290 टन अयस्क निकाला गया. 1935 में सर्वाधिक उत्पादन 11,397 टन हुआ. इस क्षेत्र की मुख्य उत्पादक कम्पनी की क्रोमाइट की तीन विभिन्न श्रेणियों में उत्पादन-क्षमता प्रति वर्ष 8,000–10,000 टन आँकी गई है.

भागलपुर जिले की मन्दार पहाड़ी से 8 किमी. दूर वैदाचीक में भी क्रोमाइट निकाला जाता है. बिहार के राँची जिले में होटाग की पहाड़ी तथा सिली में भी खनिज के मिलने के संकेत हैं. सरायकेला इलाके के जानोआ तथा रंजराकोचा स्थानों में परिवर्तित पराक्षारकीय चट्टानों में टैल्क के साथ क्रोमाइट मिलता है (Dunn, *Mem. geol. Surv. India*, 1942, **78**, 97).

महाराष्ट्र – महाराष्ट्र के रत्नगिरि जिले में कनकौली के निकट जनौली नदी के किनारे और गाड़ नदी के दक्षिण सावन्तवादी इलाके में बागड़ा के निकट क्रोमाइट के पाये जाने का उल्लेख सर्वप्रथम 1910 में मिलता है. तबसे निक्षेपों के अध्ययन से ज्ञात हुआ कि इन दोनों क्षेत्रों में क्रोमाइट अनियमित शिराओं तथा लेंसों के रूप में सर्पेण्टाइन चट्टानों में मिलता है जिसका सम्बन्ध प्राचीनतर पूर्व-कैम्ब्रियन शिस्टों तथा नायसों से है. ये दोनों स्थान मालवन तथा देवगढ़ बन्दरगाहों से अच्छी सड़कों द्वारा जुड़े हैं. कनकौली की खदान से प्राप्त अयस्क में 31·6–36·49% और बागड़ा निक्षेप में 33·4–39·0% Cr_2O_3 रहता है. 1937 में इसकी खुदाई व्यापारिक पैमाने पर आरम्भ हुई. तब लगभग 500 टन उत्पादन हुआ. ऐसा अनुमान है कि इन दोनों क्षेत्रों में क्रोमाइट का कुल भंडार 67,000 टन है (Iyer, *Rec. geol. Surv. India*, 1939, **74**, 372).

मैसूर – सर्वप्रथम स्लेटर ने 1899 में शिमोगा जिले के हारनहाल्ली स्थान के पास टाल्फोरा चट्टान के कणों में क्रोमाइट के पाए जाने की सूचना दी. बाद में मैसूर, हसन, कादूर और चित्तल दुर्ग जिलों में इस खनिज की प्राप्ति हुई. इन जिलों में अधिकांशतः क्रोमाइट छोटे-छोटे कणों के रूप में सर्पेण्टाइनीकृत पराक्षारकीय चट्टानों में (जिन्हें धारवाड़ शिस्ट की अन्तर्भेदी चट्टानें समझा जाता है) छुटपुट वितरित हैं. इसका व्यावसायिक महत्व नहीं है. लेकिन मैसूर और हसन जिलों के कुछ स्थानों में यह क्रमबद्ध शिराओं, लेंसों तथा खण्डों के रूप में पाया जाता है जिसकी खुदाई की जा सकती है. मैसूर जिले में क्रोम-अयस्क शिराओं, लेंसों तथा पृथक्कृत खण्डों में कतिपय सर्पेण्टाइनीकृत पराक्षारकीय चट्टानों में पाया जाता है जो मैसूर तथा नंजनगढ़ के बीच, विशेषतया काडाकोला के पश्चिमी भागों में, ऊपर दिखाई पड़ते हैं. इनमें सिंदुवल्ली के पास का निक्षेप सर्वश्रेष्ठ है. इस क्षेत्र में जो काडाकोला रेलवे स्टेशन से 4·8 किमी. पश्चिम स्थित है, उत्तर-दक्षिण कई किलोमीटर तक फैली हुई सर्पेण्टाइनीकृत पेरिडोटाइट चट्टानों के बीच सँकरी पट्टी में छोटी-छोटी शिराओं में ठोस क्रोमाइट पाया गया है जो भूमि के अन्दर खुदाई करने पर बड़े-बड़े लैंसों में बदला पाया गया. इस अयस्क की खुदाई भूमिगत विधि द्वारा कुछ भागों में 120 मी. से भी अधिक गहराई तक की गयी है. इस खान से लगभग 1,36,000 टन उच्च श्रेणी का अयस्क प्राप्त किया जाता है जिसमें 48–52% Cr_2O_3 है. खुदाई योग्य श्रेणियाँ कुछ स्थलों पर ऊपरी सतह से 144 मी. से अधिक गहराई पर लुप्त हो गई हैं. इसके आगे 24–30 मी. तक कुछ अत्यन्त पतली वर्ण रेखाओं के अलावा कोई क्रोमाइट प्राप्त नही हुआ. ऐसा लगता है कि इन खानों का अयस्क समाप्त-प्रायः है.

सुदूर पश्चिम तालचूर, उरादावूर और डोडकाटूर आदि स्थानों पर 40–44% Cr_2O_3 से युक्त क्रोमाइट के मसूर जैसे खण्ड सर्पेण्टाइनीकृत पराक्षारकीय चट्टानों के बीच पाये जाते हैं. इन सबों से 20,000 टन निम्न श्रेणी की धातु से अधिक का उत्पादन नहीं किया जा सकता है. इसके अतिरिक्त कुम्बर, कोप्पाल, सोलपुर, चिक्कातूर, उत्तनहाली और मारसोत्तीहाली आदि अन्य स्थानों पर क्रोम अयस्क के निक्षेप है जिनमें सामान्यतः 30% से कम Cr_2O_3 रहता है. इनमें से कुछ को सान्द्रित करके अच्छा बनाया जा सकता है. अभी यहाँ खुदाई प्रारम्भ नहीं हुई है.

हसन जिले में नुग्गेहाली के पश्चिम जाम्बूर से लेकर अर्सीकेरे तक फैली सँकरी शिस्ट की पट्टी में बड़े-बड़े अयस्क पिंडों का पता चला है. शिस्ट की इस पट्टी का नामकरण नुग्गेहाली गाँव के नाम पर है और यह उत्तर-उत्तर-पश्चिम की ओर फैली है. इसकी कुल लम्बाई 56 किमी., चौड़ाई 0·8 किमी. है तथा इसमें गहरे रंग के हार्नब्लेंड युक्त शिस्ट, ऐम्फीबोलाइट तथा अन्य परिवर्तित पराक्षारकीय चट्टानें पायी जाती हैं. इस क्षेत्र में क्रोमाइट अयस्क मोटे लैंसों और पट्टियों में टैल्क-सर्पेण्टाइन शिस्ट (जोकि एन्स्टैटाइट-पेरिडोटाइट का परिवर्तित रूप है) में पाया जाता है. उत्तर से दक्षिण जाने पर इस पट्टी में जाम्बूर, टागदूर, रंगनहाली, अलादहाली, चिक्कनहाली, भक्तरहाली, ब्यारापुर, गोवालीहाली और पेंसामुद्रा स्थानों पर निक्षेप पाये गये हैं. इनमें से कई निम्न श्रेणी के हैं जिनमें 42% से कम Cr_2O_3 पाया जाता है. इस क्षेत्र में सभी प्रकार के अयस्कों का अनुमानित भण्डार लगभग 5,00,000 टन होगा जिसमें उच्च श्रेणी का अयस्क 90,000 टन से कुछ कम है. इसमें 47% से अधिक Cr_2O_3 है. 1916 से ही इन निक्षेपों

की खुदाई खदान विधि से की जा रही है. इस क्षेत्र का कुल उत्पादन लगभग 3,00,000 टन है जिसमें व्यारापुर का उत्पादन भी सम्मिलित है.

कादूर जिले के तारीकेरे तालुके में बान्दे, वानूर एवं गाजकाट्टे गाँवों के समीप, जो सिवानी रेलवे स्टेशन के पास हैं, क्रोम-लौह अयस्क रीफों, लेन्सों एवं सपण्टाइन में पृथक्कृत खण्डों के रूप में पाया जाता है और यह ऐम्फीवोलाइट से व्युत्पन्न हुआ रहता है. ये सभी निम्न श्रेणी के अयस्क हैं, जिनमें 30% से अधिक Cr_2O_3 नहीं रहता. इनसे कुल 20,000 टन प्राप्ति हो सकती है. कादूर तालुके के कुप्पालू, वानेनहल्ली और चामेनहाली स्थानों के आस-पास अयस्क के गोलिका-स्तर और निम्न श्रेणी के छोटे लेन्स पाये जाते हैं.

चित्तलदुर्ग जिले में कालानगावी पहाड़ी के निकट निम्न श्रेणी का क्रोमाइट परिवर्तित पराक्षारकीय चट्टानों में छुटपुट लेन्सों के रूप में और ग्रंथियों के रूप में मिलता है. इस क्षेत्र की अनुमानित उत्पादन-क्षमता लगभग 25,000 टन अयस्क है. इस क्षेत्र से एकत्र किये गये बारह नमूनों के विश्लेषण से केवल एक नमूने में Cr_2O_3, 31·3% निकला है और अन्य सबों में 30% से कम.

शिमोगा जिले मे क्रोमाइट हारेनहाली, भंडीमाटी और अन्तारगंगे के पास लौह अयस्क के साथ पाया गया है. शिमोगा तालुके में अम्बलीकाट्टे पहाड़ी के दक्षिण में सर्पेण्टाइन के साथ क्रोमाइट के दो-तीन छोटे-छोटे क्षेत्र पाये गये हैं. कम मात्रा तथा निम्न श्रेणी के होने के कारण इनका व्यावसायिक महत्व नहीं है.

मैसूर में 1907 में क्रोमाइट की खुदाई शुरू हुई. 1915 में क्रोमाइट का उत्पादन मुख्यतया सिन्दूवाली खान से होता था जिसके उत्पादित एवं निर्यातित अयस्क की कुल मात्रा 12,186 टन थी. 1916 के बाद 1929 तक हसन जिले की खानें अग्रणी थीं, जिनका निर्यात मैसूर जिले की निर्यातित मात्रा से चौगुना था. 1922 का निर्यात सबसे अधिक था.

अभी हाल तक मैसूर का पूरा का पूरा अयस्क-उत्पादन निर्यात के लिए किया जाता रहा है और उच्च श्रेणी का अयस्क जिसमें 48% से अधिक Cr_2O_3 रहता था वह खुले बाजार में बिक जाता था. लेकिन ऐसी निम्न श्रेणियों की माँग जिसमें 42–44% Cr_2O_3 रहता है, कभी-कभी होती थी. यदि अयस्क में 40% से कम क्रोमियम ऑक्साइड रहे तो उसे बाजार में बेचना कठिन है. खोजों से पता चला है कि निम्न श्रेणी का अयस्क गुरुत्व सान्द्रण द्वारा सुधारा जा सकता है. मैसूर क्रोमाइट लिमिटेड थोड़ी मात्रा में निम्न श्रेणी के अयस्कों को सान्द्रित करता है जिससे क्रोमियम का प्रतिशत 38 से बढ़कर 50 या इससे भी अधिक हो जाता है. ऐसे सान्द्रित अयस्क का मूल्य रीफ अयस्क से 48% से अधिक नहीं मिलता इसलिए निर्यात के उद्देश्य से निम्न श्रेणी के अयस्कों का सान्द्रण लाभ-दायक प्रतीत नहीं होता (Rama Rao, *Quart. J. geol. Soc. India*, 1942, **14**, 13–15; Sen, *Bull. Mysore geol. Dep.*, No. 11, 1931, 65; Smeeth & Iyengar, ibid., No. 7, 1916, 110; Venugopal, ibid., *Popular studies*, No. 2, 1941).

अण्डमान द्वीप – दक्षिणी अण्डमान द्वीप के पोर्टब्लेयर के पास चकरावोगान गांव के 90 मी. दक्षिण क्रोमाइट के होने के संकेत मिले हैं.

उत्खनन और प्रसाधन

यदि पतली शिरायें एवं लेंस लगातार काफी दूर-दूर तक फैले होते हैं तो भूमिगत उत्खनन बहुधा लाभदायक होता है. लेकिन जहाँ इसका वितरण छुटपुट मोटे लेंसों के रूप में होता है वहाँ खुली खदानों का ही प्रचलन है. कुछ परिस्थितियों में, जैसे मैसूर के सिन्दूवाली में कुछ गहराई तक खुली विधि द्वारा खुदाई करके क्रोमाइट एकत्रित करना तथा बाद में भूमिगत खनन विधि का प्रयोग अधिक लाभदायक हो सकता है. किसी क्षेत्र में खुदाई की विशेष विधि काम में लाने के पूर्व भूभौतिकी मापन विधि से या अभ्यन्तर वेधन द्वारा यह निश्चित कर लेना आवश्यक है कि क्रोमाइट का रूप क्या है और भूमिगत फैलाव, लम्बाई तथा गहराई कितनी है.

कई बार तो खुदाई किया गया अच्छी श्रेणी का रीफ इतना शुद्ध हो सकता है कि जैसा बाजारू ग्रेड हो और इसमें हाथ से चुनाई करने के अतिरिक्त मुश्किल से किसी प्रकार के संसाधन की आवश्यकता पड़े. पृथक्कृत निक्षेपों तथा अन्य खनिजों या स्थानीय चट्टानों से मिश्रित होने के कारण निम्न श्रेणी के अयस्कों में, जिनमें 40% या उससे कम Cr_2O_3 रहता है, सांद्रण विधि द्वारा काफी सुधार किया जा सकता है और उन्हें 50% या अधिक Cr_2O_3 तक लाया जा सकता है. इसके लिये अयस्क की महीन पिसाई की जाती है और अयस्क की प्रकृति के अनुसार मिलती हुई स्वभाव की छलनियों से सान्द्रण मेजों या जिगों द्वारा मिली हुई अशुद्धियों को निकाल दिया जाता है. जहाँ-जहाँ अयस्क के साथ क्रोमाइट और मैग्नेटाइट भली-भाँति मिले रहते हैं, वहाँ चुम्बकीय पृथक्करण विधि से मैग्नेटाइट को विलग करके सान्द्रण किया जा सकता है.

अमेरिका में निम्न श्रेणी वाले क्रोमाइट का जलोढ निक्षेप, जिसमें से लगभग 6% Cr_2O_3 प्राप्त होता है सफलतापूर्वक सांद्रण विधि से शुद्ध करने का यत्न हुआ है. सान्द्रण संयंत्रों में कई यूनिटें होती हैं – जैसे छनाई और धुलाई यूनिट, विलगावक यूनिट, कुण्डलीदार स्वच्छ करने वाला सांद्रक और सहायक पम्प, वर्गीकरण यूनिट एवं छोटे कर्षण यंत्र. इस विधि के द्वारा औसतन अयस्कों की लगभग 90% मात्रा का सान्द्रण हो जाता है जिसमें 25% Cr_2O_3 रहता है [Huttl, *Engng Min. J.*, 1943, **144** (10), 68].

जब क्रोमाइट में क्रोमियम ऑक्साइड की न्यून मात्रा होने से ही अयस्क निम्न श्रेणी का होता है और उसमें अन्य खनिजों का अपमिश्रण नहीं होता तो परिष्करण-विधि का प्रयोग नहीं करते क्योंकि इससे क्रोमियम ऑक्साइड की मात्रा भले ही बढ़ाई जा सके किन्तु इससे शायद ही क्रोमियम : लौह के अनुपात में सुधार होता हो. मैसूर जियोलाजिकल डिपार्टमेंट की रासायनिक प्रयोगशाला में राज्य में प्राप्य कुछ क्रोम अयस्कों के साथ की गई खोजों से पता चला है कि इस अनुपात को किसी भी इच्छित स्तर तक, परिष्करण की लागत को उचित सीमाओं के भीतर रखते हुए, रासायनिक विधि द्वारा सुधारा जा सकता है. यह भी बताया गया है कि निम्न श्रेणी के पिण्ड को चूने के साथ एक विद्युत भट्टी में गलाने से क्रोमियम : लौह अनुपात सुधर जाता है जो मानक फेरोक्रोम अथवा एक्स-फेरोक्रोम के स्थान पर प्रयुक्त होने वाले क्रोम-एक्स के उत्पादन के लिये उचित होता है (*Miner. Ind.*, 1941, **50**, 62).

श्रेणीकरण और विपणन

क्रोम पिण्ड का मूल्य क्रोमियम ऑक्साइड की प्रतिशत मात्रा पर निर्भर करता है. व्यापारिक अयस्क में 40–55% तक क्रोमियम ऑक्साइड रहता है. 48% से अधिक क्रोमियम ऑक्साइड वाले अयस्क उच्च श्रेणी के तथा इससे कम और 40% तक के अयस्क निम्न श्रेणी के कहलाते हैं. हाल में ये सीमाएं और भी कम कर दी गई हैं. वर्तमान वर्गीकरण के अनुसार उच्च तथा निम्न श्रेणी की न्यूनतम सीमायें क्रमशः 45%, 35% स्वीकार की जाती है. 35% से कम क्रोमियम ऑक्साइड की मात्रा वाले अयस्क फेरुगिनस क्रोमाइट अथवा क्रोमिक लौह अयस्क एवं 10% से कम मात्रा वाले अयस्क क्रोम स्पाइनेल कहलाते हैं–जैसे पिकोटाइट और अन्य किस्में.

यदि अयस्क में उपस्थित क्रोमिक ऑक्साइड और लौह की मात्राएँ ज्ञात हो तो अधिकाश ग्राहक सतुष्ट रहते है. किन्तु कभी-कभी सिलिका और ऐल्युमिनियम की प्रतिशतता वाछनीय होती है. फेरोक्रोम उत्पादन करने वाले कारखाने अधिकतर 50% वाले क्रोमिक ऑक्साइड और 15% से कम लौह वाले अयस्क के प्रति आकर्षित होते है. कैलिफोर्निया स्टेट माइनिंग ब्यूरो के द्वारा निर्धारित विनिर्देश के अनुसार फेरोक्रोम उत्पादन के लिए धातुकर्मीय अयस्क मे कम से कम 40% क्रोमिक ऑक्साइड और 0·2% से कम फॉस्फोरस होना चाहिए. धातुकर्मीय ग्रेड के क्रोमाइट के लिए सयुक्त राज्य अमेरिका के ब्यूरो आफ फेडरल सप्लाई द्वारा दिये गये विनिर्देश सारणी 1 मे अंकित है.

रासायनिक व्यापार के लिए 50% क्रोमिक ऑक्साइड से अधिक मात्रा वाले उच्च श्रेणी के अयस्क की आवश्यकता होती है लेकिन इसके लिए लौह की मात्रा पर विशेष ज़ोर नही दिया जाता और इसमें 16 या 17% तक की छूट दी जाती है. अयस्क समरूप होना चाहिए और उसमें सिलिका की मात्रा अधिक नहीं होनी चाहिए (6% से कम). ऐलुमिना की प्रतिशतता भी ऊँची नही होनी चाहिए.

उच्च ताप (रिफ्रैक्टरी) कार्यों के लिए अयस्क मे सिलिका को 7–8% से अधिक नही होना चाहिए और कुछ उत्पादक तो इस प्रकार के अयस्क को चाहे उसमें 38–42% Cr_2O_3 ही क्यो न हो, मोल ले लेते हैं. संयुक्त राज्य अमेरिका मे

सारणी 1 – धातुकर्मीय क्रोमाइट के विनिर्देश

		ग्रेड-ए	ग्रेड-बी
Cr_2O_3	(न्यूनतम)	48%	45%
Cr : Fe	(,,)	3 : 1	2·8 : 1
सिलिका	(अधिकतम)	8%	8%
गंधक	(,,)	0·05%	0·05%
फॉस्फोरस	(,,)	0·02%	0·02%

रिफ्रैक्टरी निर्माण के लिए काम मे लाये जाने वाले क्रोमाइट के लिए निम्नांकित विनिदेश स्वीकार किये हैं :

(1) Cr_2O_3, 40–50, Fe_2O_3, 15 (उच्चतम); और SiO_2, 8% (उच्चतम).

(2) Cr_2O_3, 40 (न्यूनतम); Fe_2O_3, 15 (उच्चतम); और SiO_2, 6% (उच्चतम).

औद्योगिक उपयोग

क्रोमाइट का व्यापक उपयोग उद्योगो मे होता है. साधारणतः उच्च श्रेणी के अयस्क जिनमे 48% से अधिक क्रोमिक ऑक्साइड रहता है, धातुकर्मीय तथा रासायनिक उद्योगो मे प्रयुक्त होते हैं. निम्न श्रेणी के अयस्कों का उपयोग रिफ्रैक्टरी या दुर्गलनीय पदार्थ के लिए किया जाता है.

सयुक्त राज्य अमेरिका मे, जहाँ क्रोमाइट का सर्वाधिक उपभोग होता है, अनुमानतः प्रति वर्ष लगभग 45% अयस्क धातुकर्म मे, 40% रिफ्रैक्टरी मे तथा शेष 15% रासायनिक उद्योगो मे काम आता है.

धातुकर्म सम्बन्धी उपयोग – क्रोमाइट का प्रमुख धातुकर्मीय उपयोग लोह, निकेल तथा कोबाल्ट के साथ क्रोमियम की मिश्र-धातुएँ बनाने मे होता है. इनमे से फेरोक्रोम प्रमुख है. इसके उत्पादन मे उच्च श्रेणी का अयस्क, जिसमे 48% Cr_2O_3 हो, आवश्यक होता है. इस समय ऐसे अयस्क काम मे लाये जाते हैं जिनमे कम से कम 45% क्रोमिक ऑक्साइड के साथ 0·1% से कम गन्धक और फॉस्फोरस भी रहता है और क्रोमियम तथा लौह का अनुपात 2·8:1·0 या इससे अधिक होता है. अयस्क के रिफ्रैक्टरी गुण पर भी ध्यान दिया जाता है. अयस्क मे जितना कम रिफ्रैक्टरी गुण होगा, वह उतना ही अधिक लाभदायक होगा क्योकि इसके उत्पादन मे बिजली का खर्च उसी अनुपात से घट जावेगा. फेरोक्रोम का उत्पादन या तो विद्युत भट्टी मे कार्बन या सिलिकन के साथ क्रोम अयस्क का अपचयन कराकर अथवा उष्मा-विधि द्वारा किया जाता है और इसमे 60–70% तक क्रोमियम रहता है. जब कार्बन के साथ अयस्क को अपचित किया जाता है तो मिश्रधातु कार्बन की कुछ मात्रा को आत्मसात् कर लेती है. कार्बन की मात्रा के अनुसार दो प्रकार की मिश्रधातुएँ बनती हैं – उच्च कार्बन फेरोक्रोम तथा निम्न कार्बन फेरोक्रोम. पहले मे 4% या इससे अधिक कार्बन रहता है और दूसरे मे 1% तक. न्यून कार्बन-फेरोक्रोम अधिक उपयोगी होता है. इसका उपयोग उच्च श्रेणी के मिश्र-इस्पात, विशेषकर स्टेनलेस स्टील, मे किया जाता है.

कनाडा मे उच्च प्रतिशत लौह वाले क्रोमाइट से फेरोक्रोम निर्मित करने की एक नई विधि विकसित की गई है, इससे नवीन मिश्रधातु जिसे क्रोम-एक्स कहते हैं और जो क्रोमियम ऑक्साइड और फेरोक्रोम-सिलकन का मिश्रण है, प्राप्त होती है. इस पदार्थ के साथ स्टेनलेस के उत्पादन मे प्रयुक्त अधिक खर्चीली विद्युत भट्टी का प्रयोग न करके खुली भट्टी का उपयोग किया जा सकता है.

विभिन्न श्रेणियो एव गुणो के क्रोम इस्पातो का उत्पादन क्रोमियम के विभिन्न अनुपातों का प्रयोग करते हुए (1% से भी कम से लेकर 50–60% तक) या तो अकेले या निकेल,

कोबाल्ट, मैंगनीज, टंगस्टन, तांवा, मालिब्डनम, टाइटैनियम, वैनेडियम, सिलिकन, ऐल्युमिनियम, कोलम्बियम, सेलेनियम और जिर्कोनियम जैसे दूसरे तत्वों के साथ मिलाकर किया जाता है. प्रयुक्त क्रोमियम के अनुपात, कार्वन की मात्रा तथा मिश्रधातुओं में उपस्थित अन्य तत्वों के अनुसार इन इस्पातों के गुणों में काफी लम्बे परास वाले गुण प्राप्त किये जा सकते हैं जैसे, दृढ़ता, चर्मिलता, कठोरता, उच्च विद्युत तथा क्षरण प्रतिरोधकता, रासायनिक संक्षारण एवं ऑक्सिकरण के प्रति प्रतिरोधकता.

क्रोमियम की प्रतिशत मात्रा के आधार पर क्रोम इस्पातों को निम्नलिखित श्रेणियों में बाँटा जा सकता है :

(1) निम्न मिश्रधातु, संरचनात्मक तथा उष्मा उपचारित उच्च तनन इस्पात, जिसमें 3·5% तक क्रोमियम रहे.

(2) विशिष्ट उद्देश्यों वाला इस्पात, जिसमें 3·5–10% तक क्रोमियम हो.

(3) स्टेनलेस इस्पात, जिसमें 10–16% तक क्रोमियम हो.

(4) क्रोमियम निकेल स्टेनलेस इस्पात, जिसमें 16–22% तक क्रोमियम हो.

(5) उच्च संक्षारण और ऑक्सिकरण निरोधक इस्पात, जिसमें 22% से अधिक क्रोमियम हो.

प्रथम श्रेणी के क्रोमियम इस्पात का प्रयोग मुख्यतः स्वचालित यंत्रों के निर्माण और लारी, टैंक, रेलगाड़ी एवं कलपुर्जो आदि के लिए किया जाता है. द्वितीय श्रेणी में परिगणित होने वाली मिश्रधातुओं में कार्वन कम रहता है और अपने उत्तम भौतिक गुणों तथा मध्यम संक्षारण प्रतिरोधकता के कारण उनका रासायनिक एवं पेट्रोलियम उद्योगों में अत्यधिक प्रयोग किया जाता है.

शेफील्ड में विकसित प्रारम्भिक स्टेनलेस इस्पात या मोरचा-रहित प्रकार श्रेणी 3 के अन्तर्गत आता है. इन इस्पातों का प्रयोग छुरी-काँटों तथा भोजन पकाने के बर्तनों, हाइड्रॉलिक टर्वाइन के पंखों तथा उच्च दाब भाप के कार्य के लिए वाल्वों और फिटिंग के लिये होता हैं. चतुर्थ श्रेणी के क्रोम-इस्पात में सर्वोत्तम स्टेनलेस इस्पात और स्टेनलेस क्रोम निकेल-इस्पात सम्मिलित हैं. इस श्रेणी के इस्पातों का प्रयोग मुख्यतया हल्की संरचनाओं के लिए, जहाँ अधिक शक्ति की आवश्यकता होती है, जैसे कि वायुयान में, जल पोतों की सुपर संरचना में, तीव्र-गामी रेल गाड़ियों में, किया जाता है. इन मिश्रधातुओं में मालिब्डनम, टंगस्टन, टाइटैनियम, कोलम्बियम आदि की लघु मात्रायें मिला देने से इनकी अम्लों और ऑक्सिकरण के प्रति संक्षारण प्रतिरोधकता वढ़ जाती है.

हाल में क्रोम-निकेल मिश्रधातु इस्पातों के मानक संघटन में कुछ परिवर्धन किया गया है. इसमें निकेल के कुछ अंश के स्थान पर मैंगनीज और ताँवे का प्रयोग किया जाता है. पहले प्रकार से ऐसा मिश्रधातु-इस्पात प्राप्त होता है जो देखने में सुहावना, चांदी-जैसा लगता है और सजावट के लिए अच्छा होता है. किन्तु दूसरे प्रकार का इस्पात सरलता से नया रूप ले सकने के कारण वेलने तथा रचना के कार्यों में प्रयुक्त होता है.

पाँचवीं श्रेणी के क्रोमियम इस्पात में 22% से अधिक क्रोमियम रहता है और यह संक्षारण तथा ऑक्सिकरण का प्रतिरोधी होता है. ये मिश्रित धातुएँ, संशोधन अथवा विना संशोधन किए अधिक ताप वाले कामों के लिए ढलवाँ सामानों के लिये प्रयुक्त होती हैं. इनका प्रयोग चद्दरों और वेल्लित वस्तुओं के लिए होता है तथा इन्हें किसी भी आकार में ढाला जा सकता है, जैसे पम्प का खोल और आन्तरनोदक. ये इस्पात 1100° तक ऑक्सिकरण का अच्छा प्रतिरोध कर सकते हैं.

धात्विक क्रोमियम – क्रोमियम कांतिमय धूसर-श्वेत धातु है जिसमें कुछ-कुछ नीली आभा रहती है. इसका आ.घ., 7·8; और ग.विं., 1,830° है. शुद्ध धातु का वनाना कठिन है. विद्युत भट्टी में क्रोम अयस्क को सिलिकन के साथ अपचित करके या ऐल्युमिनो-उष्मा विधि द्वारा इसे तैयार किया जाता है. व्यापार के लिए सर्वोत्कृष्ट क्रोमियम की प्राप्ति क्रोमिक अम्ल विलयन के विद्युत अपघटन द्वारा की जाती है.

99% तक की शुद्धता रहने पर भी ढलवाँ धातु कठोर, भंगुर, खुरदुरी, क्रिस्टलीय तथा काम के लायक नहीं होती है. अतः व्यापारिक दृष्टिकोण से केवल अलौह मिश्रितधातुओं के योग के रूप में तथा विद्युतलेपन के अतिरिक्त वहुत कम प्रयोग की जाती है.

अव निकेल प्लेटिंग के वजाय क्रोमियम विद्युत लेपन होने लगा है जो अधिक टिकाऊ होता है. पतला लेप (लेप की मोटाई, 0·0005 मिमी.) सजावट के लिए और धव्वा न पड़ने देने तथा सैनिटरी फिटिंग, विजली के सामान, स्टोव, काफी की केतली आदि में लेपन के लिए होता है. गाढ़े लेप (लेप की मोटाई, 0·25 मिमी.) का प्रयोग क्षरण तथा संक्षारण से रक्षा करने के उद्देश्य से किया जाता है. इसका प्रयोग छपाई की प्लेटों, स्वचालित मशीनों के पुर्जो, नलों के फिक्सचर, पावर मशीनों के सामानों और अन्य वहुत से यंत्रों पर किया जाता है. आजकल क्रोमियम प्लेटिंग की विधि में बहुत सुधार हुआ है और नास्ट विधि से ऐसी परत चढ़ जाती है जो न तो निकल सकती है और न झर सकती है. किन्तु लेपन के कार्यो में प्रयुक्त क्रोमियम अंश अल्प ही है.

क्रोमियम का प्रयोग अनेक अलौह मिश्रधातुओं और निम्न लौह वाली लौह-मिश्रधातुओं के उत्पादन में किया जाता है. इनमें स्टेलाइट वर्ग विशेष महत्व का है. स्टेलाइट मुख्यतः कोवाल्ट और क्रोमियम के साथ-साथ कुछ टंगस्टन अथवा मालिब्डनम से युक्त मिश्रधातु है, जिसमें 40–90% कोवाल्ट तथा 10–30% क्रोमियम रहता है. यह मिश्रधातु अत्यन्त कठोर होती है, इसमें अच्छी धार आ सकती है और यह उच्च गति वाले औजारों के लिए विशेष रूप से उपयुक्त है. एक अन्य मिश्र-धातु, जिसमें 60% निकेल, 14% क्रोमियम और 15% लौह रहता है, निक्रोम के नाम से प्रसिद्ध है. इसका मुख्य प्रयोग उच्च ताप प्रतिरोधी मिश्रितधातु के रूप में होता है और यह अनीलन वक्सों, कार्वनीकरण वक्सों, रिटार्टो आदि में प्रयुक्त होती है. उचित उष्मा उपचार द्वारा क्रोमियम-वैनेडियम इस्पातों में काफी विस्तृत परास के भौतिक गुण उत्पन्न किये जा सकते हैं.

एक वर्ग की मिश्रधातुएँ, जो मुख्यतया क्रोमियम निकेल, मालिब्डनम और लौह से युक्त होती हैं, हाइड्रोक्लोरिक अम्ल के प्रति प्रतिरोधी होती हैं. 20% क्रोमियम होने पर ये मिश्रधातुएँ ऑक्सिकरण की प्रतिरोधक वन जाती हैं और इनका उपयोग विशेषकर उत्प्रेरक नलिकाओं, संमिश्रक के हिस्सों,

आग्नेक्षिन वक्सों में किया जाता है. क्रोमियम-ताँबे की मिश्रधातु का प्रयोग विशेषत: उच्च ताप पर कुछ मात्रा में विद्युत संवहन में किया जाता है. ढलवाँ ताँबे की मिश्रधातुओं में थोड़ी मात्रा में क्रोमियम मिलाने से कणों की वृद्धि नहीं हो पाती.

रिफ्रैक्टरी उपयोग या उच्च ताप के लिए प्रयोग—क्रोमाइट में उच्च संक्षारण प्रतिरोधकता होने एवं एकाएक ताप परिवर्तनों को सहन करने की शक्ति होने के कारण इनका प्रयोग दुर्गलनीय क्षेत्रों में अधिक होता है. यह रासायनिक दृष्टि से उदासीन होता है. इसका प्रयोग विशेषकर वहाँ किया जाता है जहाँ पर अम्लीय और क्षारकीय रिफ्रैक्टरी प्रयुक्त नहीं किये जा सकते. क्रोम-रिफ्रैक्टरियों के उत्पादन के लिए 41–45% क्रोमिक ऑक्साइड वाले तथा 5% से कम सिलिका वाले निम्न श्रेणी के अयस्क का प्रयोग किया जाता है. अधिक सिलिका तथा निम्न क्रोमिक ऑक्साइड वाले अयस्कों का प्रयोग मिश्र ईंटों के बनाने में सफलतापूर्वक किया जाता है. अयस्क में पाई जाने वाली लौह ऑक्साइड की मात्रा प्रमुख प्रभाव डालती है. 15% तक लौह मात्रा को सहन किया जा सकता है किन्तु इससे अधिक होने पर अयस्क का रिफ्रैक्टरी गुण घट जाता है. रासायनिक संघटन के अतिरिक्त अयस्क की भौतिक दशा का, विशेषत: क्रिस्टल के आकार का, प्रभाव रिफ्रैक्टरी विशेषताओं पर पड़ता है. इस कार्य के लिए सूक्ष्म कणों वाला पतली तहों में निक्षेपित क्रोमाइट अधिकतर काम में लाया जाता है.

क्रोमाइट का उपयोग रिफ्रैक्टरी पदार्थों के लिए तीन रूपों में किया जाता है: (1) खने गये पिंड अयस्क के रूप में; (2) क्रोमाइट ईंटों के रूप में; (3) क्रोम सीमेण्टों के रूप में.

अभी हाल तक क्रोम ईंटें कच्चे अयस्क को पकाकर तथा विभिन्न प्रकार के बन्धकों का प्रयोग करके, जिनमें कार्बनिक बन्धक सामान्य हैं, बनाई जाती थीं. मैग्नेसाइट (5–10%) की अल्प मात्रा मिला करके इन ईंटों के गुणों में काफी हद तक सुधार किया जा सकता है. क्रोम ईंटों का प्रयोग खुली इस्पात भट्ठी के क्षारीय अस्तर में किया जाता है. बिना पकी रासायनिक-बन्धित-क्रोम ईंटें, जिनमें एकदम जले मैग्नेसाइट की अल्प मात्रा मिली रहती है, विशेषत: खुले चूल्हे वाली भट्ठी की आमने-सामने वाली दीवालों पर तथा जहाँ पर अधिक ताप बनाये रखना होता है, प्रयोग की जाती हैं.

क्रोम लेई, जिसे महीन पिसे हुए क्रोम अयस्क को भिगोकर तैयार करते हैं भट्ठी के अस्तर के संक्षारित भागों पर चिप्पी लगाने के लिए काम में लाते हैं. क्रोम अयस्क को भट्ठी की अन्तिम दीवालों में बने गड्ढों को भरने के लिए प्रयुक्त करते हैं. महीन पिसा क्रोम अयस्क, गारे के रूप में, भट्ठियों की छतों पर सुरक्षी-तह चढ़ाने में काम आता है. मैग्नेसाइट की लेई के साथ क्रोम अयस्क का प्रयोग इस्पात भट्ठी के अस्तरों की मरम्मत में किया जाता है. यह क्रोम-मैग्नेसाइट अथवा मैग्नेसाइट ईंटों से सस्ता पड़ता है.

क्रोम रिफ्रैक्टरियों का प्रयोग, क्षारकीय खुले चूल्हे वाली भट्ठियों के अस्तरों में होने के अतिरिक्त विद्युत इस्पात भट्ठी के महराबों को बनाने, ताँबे और निकेल को गलाने वाली भट्ठी में अस्तर लगाने तथा उच्च दाब भाप वायलरों के दहन कक्षों के बनाने, कागज की लुगदी तैयार करने के सोडा प्रक्रम में सोडा की पुन:प्राप्ति के लिए प्रयुक्त होने वाले रोस्टरों में अस्तर लगाने में किया जाता है. क्रोम रिफ्रैक्टरी, मैग्नेसाइट और सिलिका-ऐलुमिना के मिश्रणों से अधिक टिकाऊ और कम खर्चीले होने के कारण अच्छे माने जाते हैं.

क्रोम ईंटों के बनाने में जलकर खाक हुए मैग्नेसाइट की कुछ मात्रा मिलाना एक प्रथा बन चुकी है. इधर कुछ वर्षों से बहुत बड़ी मात्रा में इसका प्रयोग होने लगा है और इस प्रकार से तैयार क्रोम मैग्नेसाइट ईंटें लौह-भट्ठियों के लिए अत्यन्त अनुकूल हो गई हैं.

दूसरे प्रकार का रिफ्रैक्टरी उत्पाद, जो सीमेनसिट कहलाता है, फेरोक्रोम के उत्पादन के समय उत्पन्न स्लैग को क्रोम अयस्क, मैग्नेसाइट तथा ऐलुमिना के साथ मिश्रित करके तैयार किया जाता है. यह 2000° से भी अधिक ताप सह सकता है और इसकी रन्ध्रता 2% से कम है.

हाल के वर्षों में बिना पकाई क्रोम-ईंटों का प्रचलन बढ़ा है जिनमें ओलीवीन तथा मैग्नेसाइट दोनों को क्रोम अयस्क के साथ मिलाते हैं. ये उच्च तथा कम-ज्यादा होने वाले तापों पर उत्खंडन (स्पालन) का प्रतिरोध करती हैं और क्रोम-मैग्नेसाइट ईंटों से कम कीमत की होने के कारण उनके स्थान पर प्रयुक्त होती हैं.

क्रोमाइट और सिलिका से बनी रिफ्रैक्टरी ईंटें अधिक मात्रा में तैयार की जाती हैं क्योंकि इस संयोग में भार वहन करने, दुर्गलनीयता और स्लैग प्रतिरोधकता की अधिक क्षमता होती है (क्रोमियम रिफ्रैक्टरी की तुलना में, जो भार होने पर उच्च ताप पर निर्बल होता है लेकिन क्षार तथा अम्ल स्लैगों का प्रतिरोध करता है).

आधुनिक खोजों से यह सिद्ध होता है कि क्रोमाइट और डायस्पोर का रिफ्रैक्टरी यौगिक, क्रोमाइट से बने रिफ्रैक्टरी से इस्पात बनाने के तापों पर भार-वहन-क्षमता में तथा एकाएक, अत्यधिक ताप परिवर्तनों के अन्तर्गत होने वाले उत्खंडन का प्रतिरोध करने के कारण अच्छा है.

रासायनिक प्रयोग—क्रोमाइट का उपयोग मुख्यतया सोडियम और पोटैसियम क्रोमेट और डाइक्रोमेट बनाने में किया जाता है. अन्य क्रोमियम लवण भी बनाये जा सकते हैं जिनके बनाने में उच्च श्रेणी के क्रोमाइट अयस्क (Cr_2O_3, 48–50%; SiO_2, 6% और न्यून मात्रा में ऐल्यूमिनियम) का प्रयोग किया जाता है. क्रोमेट, डाइक्रोमेट तथा अन्य क्रोमियम लवण, जैसे क्रोम फिटकरी, क्रोमियम ऐसीटेट और क्रोमियम क्लोराइड आदि का व्यापक प्रयोग चमड़ा कमाने, रँगने, वर्णक, सेरैमिक, काँच तथा अन्य उद्योगों में किया जाता है.

टैनिंग उद्योग में क्रोमियम लवणों की प्रचुर मात्राएँ खर्च होती हैं. क्रोम से कमाया गया जूतों के तल्लों का चमड़ा अधिक दिनों तक चलता है.

ऊनी कपड़ों की रँगाई में सोडियम और पोटैसियम के क्रोमेट तथा डाइक्रोमेट, क्रोम फिटकरी, क्रोमियम क्लोराइड, क्रोमियम फ्लोराइड, और क्रोमियम ऐसीटेट का प्रयोग किया जाता है. ये लवण रंगबन्धक का काम करते हैं और ऊनी वस्तुओं में वांछित आभा ला देते हैं.

लेड क्रोमेट का अत्यधिक प्रयोग रंग उद्योग में किया जाता है. सामान्य लेड क्रोमेट पीले रंग का और क्षारकीय लेड क्रोमेट लाल रंग का होता है. लेड क्रोमेट के साथ पोटैसियम और

सोडियम नाइट्रेट मिलाने से सिंदूर बनता है. सामान्य लेड क्रोमेट के साथ प्रशियन-नील मिलाने से हरा वर्णक बनता है. अन्य वर्णक अनार्द्र तथा जलमय क्रोमिक ऑक्साइड से बनाये जाते हैं, जिनमें से पहले से अल्टामैरीन-हरा और दूसरे से बोरिक अम्ल अथवा अमोनियम फॉस्फेट मिलाये जाने पर तरह-तरह की हरे रंग की आभाएँ प्राप्त होती हैं.

सेरैमिक कार्यों के लिए या तो क्रोमाइट अथवा इसके उत्पाद जैसे पोटैसियम डाइक्रोमेट, लेड क्रोमेट और क्रोमियम ऑक्साइड का प्रयोग किया जाता है. जब क्रोमाइट का प्रयोग करना होता है तब इसे पूर्णतया अच्छी तरह पीस करके महीन कर लेते हैं और 300 छिद्रों वाली चलनी से चाल लेते हैं. यह फर्श के टाइलों तथा वैद्युत पोर्सलीन को मोती-जैसा चमकीला धूसर रंग प्रदान करता है. जब क्रोमियम लवण का प्रयोग किया जाता है तब साधारणतया निस्तापन करने से पहले उचित मात्रा में फ्लक्स मिलाते हैं. अपचायक वातावरण में क्रोमिक ऑक्साइड हरे रँग का होता है और ऑक्सिकारी वातावरण में पाण्डु अथवा लाल रंग का होता है. इन रंगों का प्रयोग चीनी मिट्टी के सामान पकाने से पहले या बाद में प्रयुक्त किया जाता है.

क्रोमाइट का महीन चूर्ण (2-6%) काँच के घान के साथ मिलाया जाता है जिससे तैयार माल में तरह-तरह की हरी आभायें आ जायें. रँग की गहराई घान के साथ मिलाई गई क्रोमिक ऑक्साइड की मात्रा पर निर्भर करती है. जब घान में पोटैसियम डाइक्रोमेट, लोहा, ताँबा की अल्प मात्राएँ मिलती हैं तब हरा और नीला रंग मिलता है.

उत्पादन एवं अनुमानित भण्डार

सारणी 2 से भारत में क्रोमाइट उत्पादन करने वाले प्रत्येक प्रमुख क्षेत्र से प्राप्त मात्रा का अनुमान हो जावेगा. प्रत्येक भण्डार की क्रोमाइट क्षमता के उपयुक्त आँकड़ें उपलब्ध नहीं हैं.

प्राप्त अपूर्ण सूत्रों के अनुसार भारत का अनुमानित सुरक्षित भंडार 1,00,000 से 2,00,000 टन है जिसमें 45% अथवा अधिक Cr_2O_3 वाले उच्च श्रेणी के तथा शेष निम्न श्रेणी के हैं जिनमें 30-44% Cr_2O_3 रहता है. इसलिए बहुत से क्षेत्रों के पूर्वेक्षण करने की आवश्यकता है.

ये अनुमान सन्निकट मान हैं और रूढ़िवादी हैं. विभिन्न क्षेत्रों के निक्षेपों के सर्वेक्षण की आवश्यकता है जिससे यह पता चल सके कि वास्तव में उनमें कितना अयस्क है. 1965-68 की अवधि में देश से सर्वाधिक क्रोमाइट निर्यात 1968 में हुआ जो 1,08,822 टन था. आयातित मात्रा नगण्य है (सारणी 3).

विस्तार की सम्भावनाएँ

डाइक्रोमेट उद्योग—महायुद्ध पूर्व के वर्षों में भारत हर साल लगभग 250 टन पोटैसियम डाइक्रोमेट और लगभग 750-800 टन सोडियम डाइक्रोमेट आयात करता था. 1934-35 से 1939-40 तक के 6 वर्षों में दोनों लवणों का कुल आयात

सारणी 2—भारत में क्रोमाइट का उत्पादन*
(मात्रा: टन; मूल्य: हजार रु. में)

	1965		1966		1967		1968	
	मात्रा	मूल्य	मात्रा	मूल्य	मात्रा	मूल्य	मात्रा	मूल्य
उड़ीसा	56,803	3,518	76,166	5,075	1,13,631	7,999	2,01,563	13,031
बिहार	233	8	..	..	..	..	..	..
महाराष्ट्र	999	78	1,490	122	237	23	627	68
मैसूर	1,650	119	..	..	..	..	3,469	207
कुल	59,685	3,723	77,656	5,197	1,13,868	8,022	2,05,659	13,306

*_Monthly Bulletin of Mineral Statistics & Information_, Vols. 6, 8, Nos. 11 & 12, Nov. & Dec. 1966, 1968.

सारणी 3—क्रोमाइट का कुल आयात और निर्यात*
(मात्रा: टन; मूल्य: हजार रु. में)

	1965		1966		1967		1968	
	मात्रा	मूल्य	मात्रा	मूल्य	मात्रा	मूल्य	मात्रा	मूल्य
आयात	1	5	1	5	5	6	..	..
निर्यात	33,362	4,433	43,736	7,584	77,211	15,624	1,08,822	19,456

*_Monthly Bulletin of Mineral Statistics & Information_, Vols 6, 8; Nos. 11 & 12, Nov. & Dec. 1968.

लगभग 6,638 टन था. युद्ध के कारण देश में विभिन्न स्थानों पर सोडियम डाइक्रोमेट के कई कारखाने स्थापित हुए. यह उद्योग प्रतिवर्ष 1,000 से 1,500 टन तक उच्च श्रेणी का क्रोमाइट उपयोग करता है. अब यह उद्योग स्थिर हो गया है. चमड़ा कमाने के उद्योग के अतिरिक्त, जिसमें कि अधिक मात्रा में क्रोमाइट का उपभोग होता है, इसका प्रयोग विशेषतया संयुक्त राज्य अमेरिका में लौह और इस्पात की रक्षा के लिए, लेड क्रोमेट और अन्य पीले रंगों के लेपों के स्थान पर किया जाता है. यदि डाइक्रोमेट की इस नई विधि का उपयोग भारत में हो तो क्रोमेट की माँग बढ़ जावेगी और साथ ही साथ क्रोम अयस्क का उत्पादन भी बढ़ जावेगा.

फेरोक्रोम – मैसूर में प्राप्त उच्च श्रेणी के अयस्क में लौह की मात्रा इतनी अधिक होती है कि वह प्रामाणिक विनिर्देश के अन्तर्गत नहीं आता. वायरापुर के अयस्क में क्रोमियम और लोहे का अनुपात 2:1 है जबकि सिन्दुवाल्ली के अयस्क में यही अनुपात 2·4:1 है. सिहभूम के उच्च श्रेणी के क्रोम अयस्क मैसूर अयस्क की तरह अधिक लोहा होने से फेरोक्रोम के उत्पादन के लिए आवश्यक विनिर्देश के अन्तर्गत नहीं आते.

लम्बे अर्से से मैसूर में फेरोक्रोम का छोटा संयंत्र स्थापित करने का प्रयास चल रहा है जिसकी वार्षिक उत्पादन क्षमता 3,000 टन होगी. अधिक एवं कम कार्बन युक्त 60–70% फेरोक्रोम उत्पादन करने की सम्भावना के संबंध में किये गये 1929 के प्रयोग उत्साहवर्धक रहे हैं.

मैसूर और बिहार के अयस्क में लोहे और क्रोमियम का अनुपात निस्संदेह 70% फेरोक्रोम उत्पादन करने के मापदण्ड से अधिक है लेकिन अमेरिका में की गई नवीन खोजों से यह प्रकट है कि निम्न श्रेणी के अयस्क और अधिक लोह से युक्त अयस्कों का उपयोग फेरोक्रोम तथा स्टेनलेस इस्पात और अन्य वर्ग के क्रोम इस्पात के उत्पादन में सफलतापूर्वक किया जा सकता है. उचित उपचार द्वारा क्रोमियम और लोहे के अनुपात को क्रोमाइट अयस्क में इच्छानुसार बढ़ाये जाने की सम्भावना है. फलस्वरूप केवल अयस्क की रासायनिक संरचना को फेरोक्रोम एवं अन्य क्रोम-मिश्रधातुओं के उत्पन्न करने के लिए क्रोम अयस्क के स्थानीय उपभोग में बाधा नहीं पड़नी चाहिए. सस्ती बिजली होने से इन कार्यों के लिए भट्टी में क्रोमियम को गलाने का भविष्य उज्ज्वल है.

विशिष्ट इस्पातों की माँग अब तेजी से बढ़ती जा रही है. भारत में रेलवे एवं इंजीनियरी कार्यशालाओं, सरकारी हथियार बनाने के कारखानों आदि में उच्च गति वाले औजार-इस्पात की माँग तेजी से बढ़ रही है. वायुयान, मोटरगाड़ी, इंजन, कल-पुर्जे एवं हथियार उत्पादन की आयोजनाओं में क्रोम अयस्क के उपयोग की आवश्यकता का अनुभव हुआ है जिससे फेरोक्रोम तथा अन्य इस्पात मिश्रधातुओं के बड़े पैमाने पर उत्पादन को बढ़ावा मिला है.

रिफ्रैक्टरी – आशा है कि निम्न श्रेणी के क्रोम अयस्कों की माँग, जिनमें 40–44% क्रोमिक ऑक्साइड रहता है, लौह तथा इस्पात गलाने की भट्टियों में अस्तर लगाने, ईंटें बनाने तथा अन्य रिफ्रैक्टरी उत्पादों के तैयार करने में भी काफी बढ़ेगी.

क्रोसेण्ड्रा सेलिसबरी (**एकेन्थेसी**) CROSSANDRA Salisb.

ले. – क्रोस्साण्ड्रा

Fl. Br. Ind., IV, 492.

यह बूटियों और लघु झाड़ियों की लगभग 40 जातियों का वंश है जो उष्णकटिबन्धी एशिया, अफ्रीका और मेडागास्कर में पाया जाता है. **क्रो. अण्डुलेफोलिया** सेलिसबरी = **क्रो. इनफण्डिबुलिफार्मिस** (लिनिअस) नीस (त. – पवलक्कुरिन्जा; ते. – गोब्बी, कनकम्बरामु; क. – अब्बोलिगे; तमिलनाडु – कनकम्बरम्) एक सामान्य शोभाकारी पौधा है जिसमें नारंगी पीले फूल आते हैं. *Acanthaceae*; *C. undulaefolia* Salisb. = *C. infundibuliformis* (Linn.) Nees

क्लबमास – देखिए **लाइकोपोडियम**

क्लवेरिया वैल. एक्स फ्रीज (**क्लवेरिएसी**) CLAVARIA Vaill. ex Fr.

ले. – क्लावारिआ

यह कवकों की लगभग 150 विश्वव्यापी जातियों का वंश है. इनमें से **क्ल. फ्लेवा** शैफर तथा **क्ल. बोट्रिटिस** पर्सून खाद्य हैं. दूसरी जाति खासी की पहाड़ियों में पाई जाती है. **क्ल. बोट्रिटिस** के विश्लेषण से निम्नांकित परिणाम प्राप्त हुए: जल, 89·35; प्रोटीन, 1·31; वसा, 0·29; नाइट्रोजन रहित निष्कर्ष, 7·66; तन्तु, 0·73; तथा राख, 0·66% (Winton & Winton, II, 35). *Clavariaceae*; *C. flava* Schaeff.; *C. botrytis* Pers.

क्लाइटोरिया लिनिअस (**लेग्युमिनोसी**) CLITORIA Linn.

ले. – क्लिटोरिआ

यह खड़ी या आरोही बूटियों अथवा झाड़ियों की लगभग 48 जातियों का वंश है जो उष्णकटिबन्धी औरउ पोष्णकटिबन्धी क्षेत्र में सभी जगह पाया जाता है. भारत में इसकी 5 जातियाँ मिलती हैं. *Leguminosae*

क्ला. टरनेटिया लिनिअस C. ternatea Linn.

ले. – क्लि. टेरनाटेआ

D.E.P., II, 375; Fl. Br. Ind., II, 208; Kirt. & Basu, Pl. 326.

हिं. और बं. – अपराजित; म. – गोकुरना; त. – कक्कानम, कक्काट्टन.

यह सुन्दर बहुवर्षी आरोही है जिसके फल नीले या सफेद होते हैं. यह भारत में सभी जगह मिलता है.

इसके फूलों की पंखुडियों से प्राप्त नीला रंग लिटमस के स्थान पर इस्तेमाल किया जा सकता है. बीजों से एक नीला रंग प्राप्त होता है. बीजों में एक स्थिर तेल और एक कड़वा रेजिनी पदार्थ होता है. बीजों में और जड़ की छाल में टैनिन पाया जाता है (Burkill, I, 588; Dymock, Warden & Hooper, I, 460).

इसकी पत्तियाँ भेड़ों और बकरियों को खिलाई जा सकती हैं. शुष्क पदार्थ, पचनीय प्रोटीन, कुल पचनीय पोषक, स्टार्च के वैश्लेपिक मान और सूखे चारे के पोषण अनुपात क्रमश: 89·41, 10·98, 52·97, 38·81% और 1:3·8 हैं (*Chem. Abstr.*, 1945, **39**, 2356).

पौधे की जड़ का स्वाद तीखा और कड़वा होता है और यह जैलप के समान शक्तिशाली विरेचक है. यह मूत्रल भी है. इसके बीजों का चूर्ण अदरक के साथ मिलाने पर मृदु विरेचक होता है, किन्तु इससे पेट में मरोड़ उत्पन्न होती है. जड़ की छाल मूत्रल और मृदु विरेचक है. फिलिपीन्स द्वीपों में जड़ का उपयोग जोड़ों की सूजन में पुल्टिस की भाँति किया जाता है (Chopra & Badhwar, *Indian J. agric. Sci.*, 1940, **10**, 23; Koman, 1920, 4; Burkill, loc. cit.).

क्लाइटोसाइब (फ्रीज़) क्वेल (अगैरिकेसी) CLITOCYBE (Fr.) Quel.

ले. – क्लिटोसिबे

यह सर्वत्र पाई जाने वाली लगभग 150 कवक जातियों का वंश है. **क्ला. डिएलबैटा** (सौवरबी एक्स फ्रीज़) गिलिज़ को कुछ लोग खाद्य मानते हैं. उसमें कभी-कभी मसकैरीन नामक ऐल्कलायड उपस्थित रहता है. यह जाति छत्रक की क्यारियों को संदूषित करती है. खाद्य बताई जाने वाली अन्य जातियाँ **क्ला. नेबुलेरिया** बाट्श, **क्ला. हाइपोकैलैमस** वान ओवरीम और **क्ला. लैक्कैटा** स्कॉपोली हैं. **क्ला. इलूडेंस** स्फुरदीप्त होती है; यह खाद्य नहीं है (U.S.D., 1526; Burkill, I, 587; Kraemer, 26).
Agaricaceae; *C. dealbata* (Sow. ex Fr.) Gill.; *C. nebularia* Batsch; *C. hypocalamus* Van Overeem; *C. laccata* Scop.; *C. illudens*

क्लाइडिआन ब्लूम (यूफोर्बिएसी) CLEIDION Blume

ले. – क्लेइडिआन

D.E.P., II, 368; Fl. Br. Ind., V, 444.

यह उष्णकटिबन्धीय झाड़ियों और वृक्षों की लगभग 37 जातियों का वंश है जिनमें से 2 जातियाँ भारत में मिलती हैं. **क्ला. स्पीसीफ्लोरम** (बर्मन पुत्र) मेरिल सिन. **क्ला. जावानिकम** ब्लूम (त. – वेल्लाराई; मल. – यालैरी) एक मँझोले आकार का सदाहरित वृक्ष है जो बंगाल, दक्षिण भारत, ब्रह्मा और श्रीलंका में पाया जाता है. इसकी लकड़ी एक-सी सफेद या पीताभ, सामान्य भारी (भार, 640 किग्रा./घमी.), मुलायम और घने दानों की होती है. इस पर अच्छी पालिश चढ़ती है किन्तु इसमें शीघ्र कीड़े लग जाते हैं.
Euphorbiaceae; *C. javanicum* Blume; *C. spiciflorum* (Burm. f.) Merrill

क्लाइनहोविया लिनिअस (स्टरकुलिएसी) KLEINHOVIA Linn.

ले. – क्लेइनहोविआ

यह वृक्षों का एकल प्ररूपी वंश है जो उष्णकटिबन्धीय एशिया, अफ्रीका और ऑस्ट्रेलिया में पाया जाता है.
Sterculiaceae.

क्ला. हॉस्पिटा लिनिअस K. hospita Linn.

ले. – क्ले. आस्पिटा

D.E.P., IV, 566; Fl. Br. Ind., I, 364; Blatter *et al.*, Pl. XIX.

बं. – बोला; त. – पनायट्टिकु.

यह एक सुन्दर मँझोले आकार का गोलाकार, शिखरयुक्त और फैली शाखाओं वाला वृक्ष है. यह उद्यानों में और भारत के कुछ भागों में वीथिवृक्ष के रूप में बहुतायत से उगाया जाता है. इसकी पत्तियाँ सरल, एकान्तर, अण्डाकार-हृदयाकार, 10–15 सेंमी. × 7·5–12·5 सेंमी., संपूर्ण, लम्बाग्र होती हैं; फूल अंतस्थ, अधिक शाखित सुन्दर बड़े, गुच्छों में, छोटे, गुलाबी; सम्पुटिका झिल्लीदार, फूली हुई, 5, कपाट वाली; और बीज ग्रन्थियुक्त, प्रत्येक कोशिका में 1 या 2 होते हैं.

वृक्ष में वर्ष पर्यन्त पत्तियाँ बनी रहती हैं और पुष्पित वृक्ष आकर्षक दिखता है. फूल शीत ऋतु में और मई से नवम्बर तक विश्राम दे-देकर निकलते हैं; पुराने फूलों के डण्ठलों पर विचित्र फलों का सूक्ष्म नक्काशी का काम एक नया ही आकर्षण भर देता है. झाड़ीयुक्त होने के कारण और शाखाओं के लगभग जमीन तक पहुँचने के कारण, यह वृक्ष झाड़ियों के जंगल में आकर्षण का केन्द्र बन जाता है. इसका प्रवर्धन बीजों, दाबों, और कलमों के द्वारा किया जाता है (Benthall, 55; Gopalaswamiengar, 232; Cameron, 35; Chittenden, III, 1105).

फिलिपीन्स में इस वृक्ष की नई पत्तियाँ और पुष्प तरकारी की तरह खाए जाते हैं. पत्तियों का काढ़ा फुंसियों और स्कैबीज में प्रयोग किया जाता है; पत्तियों का रस आँखों को धोने के काम आता है. छाल और पत्तियाँ विषैली होती हैं और ढीलों और जुंओं को मारने तथा बालों को धोने के काम आती हैं. पत्तियों में हाइड्रोसायनिक अम्ल होता है (Fox, *Philipp. J. Sci.*, 1952, **81**, 237; Quisumbing, 605; Burkill, II, 1281).

लकड़ी सफेद मुलायम और हल्की (भार, 448 किग्रा./घमी.) होती है. इसका तना कभी-कभी गाँठदार होता है और इससे प्राप्त लकड़ी मुड़ी हुई कुछ काले चिह्नों से युक्त होती है. जावा में इससे चाकुओं और खंजरों के हत्थे बनाये जाते हैं. वास्ट से मजबूत रेशा प्राप्त होता है (लम्बाई, 0·933–2·4 मिमी.; व्यास, 0·008–0·031 मिमी.; औसत तनन सामर्थ्य, 309 किग्रा./वर्ग सेंमी. (शुष्क) और 286 किग्रा./वर्ग सेंमी. (आर्द्र) जो बाँधने और रस्सी बनाने के लिए प्रयुक्त किया जाता है (Gamble, 99; Burkill, II, 1281; Brown, I, 321, 322, 397).

क्लाइनोगाइन बेंथम (मारैंटेसी) CLINOGYNE Benth.

ले. – क्लिनोगिने

यह उष्णकटिबन्धी झाड़ियों का वंश है जिसमें लगभग 20 जातियाँ पाई जाती हैं, जिनमें से 3 के भारत में पाये जाने की सूचना है.
Marantaceae

क्ला. डाइकोटोमा सेलिसबरी (**डोनैक्स अरुण्डीनैस्ट्रम** लॉरीरो) सिन. **फ्राइनियम डाइकोटोमम** रॉक्सबर्ग
C. dichotoma Salisb.

ले. – क्लि. डिकोटोमा
D.E.P., V, 196; VI(I), 216; C.P., 775; Fl. Br. Ind., VI, 258.

बं. – सीतलपाटी, मुक्तपट.
असम – मुर्टा.

यह एक झाड़ी है जिसका तना सीधा, चमकदार, हरा, 3–4 मी. ऊँचा और 20 मिमी. व्यास का होता है. यह असम, बंगाल और कोरोमण्डल तट पर पाया जाता है. बंगाल में छोटे पैमाने पर इसकी खेती होती है. इसकी जड़ के खण्ड अथवा कलम रोपे जाते हैं.

इस पौधे के चीरे हुए तने चटाइयाँ बनाने के काम आते हैं. पट्टियों को तने पर से उतार कर उन्हें या तो सुखाकर और रात की ओस में रखकर, अथवा गर्म पानी में भिगो और उबालकर संसाधित किया जाता है. ये पट्टियाँ लगभग 1·2 मी. लम्बी और 1·2 मिमी. चौड़ी, बाहर की ओर हल्की धूसर और बेंत की तरह चमकदार, और भीतर की ओर बारीक धारियों से युक्त होती हैं. इनको परस्पर बुनकर सुपरिचित चमकदार चिकनी चटाइयाँ, जिन्हें शीतलपाटी कहते हैं, बनाई जाती हैं. असम के कछार जनपद के कालीगंज क्षेत्र में लगभग 450 परिवार इस उद्योग में लगे हुए हैं. प्रति मास लगभग 8,000 चटाइयाँ तैयार की जाती हैं. ये कुछ-कुछ मोटी होती हैं और दो आकारों, 225 सेंमी. × 150 सेंमी. और 202 सेंमी. × 135 सेंमी., में मिलती हैं. बढ़िया चटाइयाँ करीमगंज तहसील में बनाई जाती हैं जहाँ एक चटाई का मूल्य 4–12 रु. है. यह माल निर्यात नहीं किया जाता. तने की पट्टियाँ, टोकरियाँ, मछली के फन्दे आदि बनाने के लिए भी इस्तेमाल की जाती हैं. यह सुझाया गया है कि यह रेशा टोप बनाने के लिए पनामा रेशे के स्थान पर इस्तेमाल किया जा सकता है. इसकी मज्जा कागज बनाने के काम आ सकती है (*Agric. Ledger*, No. 41, 1896, 3).

क्ला. डाइकोटोमा के प्रकन्दों से व्यापारिक स्टार्च प्राप्त होता है (Winton & Winton, I, 33).

क्ला. ग्रैंडिस बेंथम (**डोनैक्स कैनिफॉर्मिस** के. शुमाखर), जो अण्डमान द्वीपों में होता है, **क्ला. डाइकोटोमा** की भाँति इस्तेमाल किया जा सकता है (Burkill, I, 853).

Donax arundinastrum Lour.; *Phrynium dichotomum* Roxb.; *C. grandis* Benth.; *Donax canniformis* K. Schum.

क्लाइस्टैन्थस हुकर पुत्र एक्स प्लांखान (यूफोर्बिएसी) CLEISTANTHUS Hook. f. ex Planch.

ले. – क्लेइस्टान्थूस

यह झाड़ियों और वृक्षों की लगभग 175 जातियों का वंश है जो उष्णकटिबन्धीय क्षेत्रों में पाया जाता है. भारत में इसकी 10 जातियाँ मिलती हैं.

Euphorbiaceae

क्ला. कालिनस (रॉक्सबर्ग) बेंथम और हुकर पुत्र सिन. **लेबिडिएरोप्सिस आर्बिकुलेरिस** म्यूलर आव् आर्गो
C. collinus (Roxb.) Benth. & Hook. f.

ले. – क्ले. कोल्लिनूस
D.E.P., IV, 615; Fl. Br. Ind., V, 274.

हिं. – गडारी; बं. – कर्लाजूरी; ते. – काडिशे; त. – निलाइ-प्यालाइ, ओडूवान; क. – वडेंडरीगे, सण्णगोजे.

यह छोटा पर्णपाती वृक्ष है जो डेकन प्रायद्वीप से उत्तर की ओर गंगा नदी तक पाया जाता है. यह सूखी पथरीली भूमि पर अच्छा पनपता है. इसके फल (सम्पुटिकाएँ) लगभग गोलाकार (व्यास में 15–25 मिमी.) 3-कपाटित, 3-बीजी, भूरे और चमकदार होते हैं. इसके बीज गोलाकार (व्यास में लगभग 4 मिमी.) और रंग में गहरे रक्ताभ भूरे होते हैं. इसकी पत्तियाँ और जड़ें तथा फल विशेष रूप से तीव्र उदर-आंत्र-क्षोभक का कार्य करते हैं. इसकी छाल, पत्तियाँ और फल मत्स्य विष की तरह प्रयुक्त किये जाते हैं. इसकी पत्तियाँ गर्भस्रावी हैं और कभी-कभी तो लोग उन्हें आत्महत्या के लिये खाते हैं. इसका क्रियाशील तत्व ओडुविन ($C_{22}H_{34}O_{12}$) है, जो एक पीताभ श्वेत क्रिस्टलीय ग्लूकोसाइड (ग.बि., 192°–94°) है. यह ऐल्कोहल और क्लोरोफार्म में विलेय है. यह पीड़ाजनक और मन्द विष है (Caius, *J. Bombay nat. Hist. Soc.*, 1938, **40**, 276; Modi, 560; *J. Inst. Chem. India*, 1944, **16**, 59).

पत्तियों और छाल में सैपोनिन और टैनिन होते हैं. टैनिन सब भागों में रहता है: हरे फल, 14; टहनी की छाल, 21; पत्तियाँ, 19; और छाल, 33% (Badhwar *et al.*, *Indian For. Leafl.*, No. 72, 1944, 8).

इसकी लकड़ी (भार, 864 किग्रा./घमी.) गहरे रंग की रक्ताभ भूरी, चीमड़, सख्त और महीन दानों की होती है. यह घरों में थूनियों के लिये इस्तेमाल की जाती है. ट्राटर ने बिजली के खम्भों के लिए इसके उपयोग का सुझाव दिया है (Gamble, 597; Trotter, 1944, 209).

क्ला. मालाबेरिकस म्यूलर आव् आर्गो कोंकण और उत्तर कनारा में पाया जाता है. इसकी लकड़ी घटिया किस्म की होती है.
Lebidieropsis orbicularis Muell. Arg.; *C. malabaricus* Muell. Arg.

क्लाउंसवर्ट – देखिए स्टैकाइस

क्लाओज़ाइलान ए. जसू (यूफोर्बिएसी) CLAOXYLON A. Juss.

ले. क्लाओक्सिलौन
Fl. Br. Ind., V, 410.

यह झाड़ी अथवा छोटे वृक्षों की प्राय: 90 जातियों का वंश है जो संसार के उष्णकटिबन्धीय प्रदेशों में पाया जाता है. दक्षिण भारत में पाई जाने वाली **क्ला. इण्डिकम** हस्कारी [**क्ला. पोलोट** (बर्मन पुत्र) मेरिल] की पत्तियाँ रेचक होती हैं. इनका प्रयोग चटनी बनाने में होता है. जावा में इनका प्रयोग पुल्टिस बाँधने के लिए किया जाता है (Burkill, I, 576).

Euphorbiaceae; *C. indicum* Hassk.; *C. polot* (Burm. f.) Merrill

क्लासेना वर्मन पुत्र **(रूटेसी)** CLAUSENA Burm. f.

ले. – क्लाउसेना

यह गंधयुक्त शाखिका रहित झाड़ियों अथवा वृक्षों की प्रायः 23 जातियों का वंश है जो एशिया, अफ्रीका तथा ऑस्ट्रेलिया के उष्णकटिबन्धीय प्रदेशों में पाया जाता है. भारत में 9 जातियाँ पाई जाती है, जिनमें से 5 आर्थिक महत्व की हैं. *Rutaceae*

क्ला. एक्सकैवेटा वर्मन पुत्र C. excavata Burm. f.

ले. – क्ला. एक्सकावाटा
Fl. Br. Ind., I, 504.

यह अरुचिकर गंधयुक्त एक झाड़ी है जो अधोहिमालय क्षेत्र के पूर्वीय प्रदेश में बंगाल तथा ब्रह्मा में पाई जाती है. यह पौधा मूत्रल होता है तथा पाचन क्रिया के विकारों के उपचार मे लाभदायक है. जड़, फूल या पत्तियों का काढ़ा उदर-शूल में दिया जाता है. इसकी कुटी हुई जड़ की पुल्टिस व्रणों में बाँधी जाती है. इसकी लकड़ी सफेद होती है और कुल्हाड़ों के बेंट के लिए प्रयुक्त होती है (Kirt. & Basu, I, 476; Burkill, I, 577).

क्ला. पेण्टाफिला (रॉक्सवर्ग) द कन्दोल C. pentaphylla (Roxb.) DC.

ले. – क्ला. पेण्टाफिल्ला
D.E.P., II, 359; Fl. Br. Ind., I, 503.

हिं. – रतन जोत.

यह एक तीव्र गन्धयुक्त झाड़ी है जो गढ़वाल से सिक्किम तक के अधोहिमालय प्रदेश तथा तराई के जंगलों में पाई जाती है. इसकी छाल का प्रयोग देशी पशु-चिकित्सा में घाव तथा मोच के उपचार में लाभकारी होता है जिसके लिए छाल के चूर्ण को मीठे तेल के साथ पुल्टिस की तरह काम में लाते हैं (Kirt. & Basu, I, 477).

क्ला. विल्डेनोवाई वाइट और आर्नेट = **क्ला. डेंटाटा** (विल्डेनो) रोइमर C. willdenowii Wight & Arn.

ले. – क्ला. विल्डेनोविई
Fl. Br. Ind., I, 506.

त. – काट्टुकैरिवेप्पिलई; मल. – करिवेप्पिला.

यह एक विशाल झाड़ी है जो सिक्किम के हिमालय क्षेत्र में 600 मी. की ऊँचाई तक, भारतीय प्रायद्वीप के दक्षिणी एवं पश्चिमी भाग में तथा श्रीलंका में उगती है. इस जाति के सम्भवतः दो रूप दक्षिण भारत में पाये जाते हैं (Webber & Batchelor, I, 175).

इसका फल चेरी के आकार का, स्वादिष्ट और काली झरबेरी (**राइब्स निग्रम**) से मिलता-जुलता तथा मुरस होता है. यह मैदानी भागों में ठीक से नहीं बढ़ता.

इसकी पत्तियाँ गन्धयुक्त होती हैं. पत्तियों से प्राप्त सौरभिक तेल (शुष्क आधार पर प्राप्ति, 0·69%) का रंग पीला होता है तथा गन्ध फलों जैसी मन्द किन्तु रुचिकर होती है. हवा में रखने पर यह शीघ्रता से ऑक्सिजन अवशोषित कर लेता है जिससे यह मृदुट्य रेजिन-जैसे पदार्थ में परिणत हो जाता है. इण्डियन इंस्टीट्यूट आफ सांइस, बंगलौर में परीक्षित तेल के दो नमूनों के निम्नांकित स्थिरांक प्राप्त हुए: आ.घ.$_{30°}^{30°}$, 0·9317, 0·9341; $n_D^{30°}$, 1·5114, 1·5112; $[\alpha]_D^{30°}$, –1·1°, –0·2°; अम्ल मान, 0·4, 1·2; एस्टर मान, 9·2, 13·4; ऐसीटिलीकरण मान, 13·2, 24·4.

तेल के अवयव निम्नांकित हैं: α-क्लासेनन ($C_{10}H_{12}O$), 58·0; डाइ-α-क्लासेनन ($C_{20}H_{24}O_2$), 23·0; β-क्लासेनन ($C_{10}H_{14}O$), 6·0; कीटोन, $C_{20}H_{16}O$, के रूप में, 1·0; एस्टर, फरफूरिलगेरैनेट के रूप में, 4·0%. विभिन्न क्षेत्रों में उगाये गये पौदों से वर्ष के एक ही समय में एकत्र की गई पत्तियों से यद्यपि एक-जैसा उत्पाद प्राप्त होता है किन्तु α-क्लासेनन की मात्रा पर्याप्त नहीं होती.

तेल के वैश्लेपिक स्थिरांक इस प्रकार थे: आ. घ.$_{30°}^{30°}$, 0·9333–0·9349; $n_D^{30°}$, 1·5112, –1·5129; $[\alpha]_D^{30°}$, –1·6° से –2·1°; अम्ल मान, 0·2–0·4; एस्टर मान, 9·1-9·5; ऐसीटिलीकरण मान, 20·1–23·7. इस तेल में γ-क्लासेनन ($C_{10}H_{12}O$), जो α-क्लासेनन का समावयवी है, पाया गया. पांडिचेरी में उगाये गये पौधों की पत्तियों से प्राप्त तेल में 11% एस्टर ($C_{10}H_{17}OCOMe$ के रूप में) तथा 6·2% ऐल्कोहल ($C_{10}H_{18}O$) पाये गये (Rao & Subramanian, *Proc. Indian Acad. Sci.*, 1934, **1A**, 189; 1936, **3A**, 31).

दक्षिण चीन के **क्ला. लैन्सियम** (लॉरीरो) स्कील्स (सिन. **क्ला. वैम्पी** ब्लैंको) की खेती भारत में छोटे पैमाने पर की जाती है. इसमें खाद्य अधोअम्लीय गुलमेंहदी के समान गन्ध वाले फल लगते हैं, जिनका उपयोग जैम बनाने में होता है. **क्ला. इण्डिका** ओलिवर पश्चिमी घाट के सदाबहार जंगलों में पाया जाता है. इसके फल (1·25 सेंमी. व्यास) खाद्य तथा पत्तियाँ गन्धयुक्त होती हैं, जिनका उपयोग रसदार तरकारियों को सुवासित करने में होता है. यह सुझाव दिया गया है कि इस जाति का संकरण **क्ला. लैन्सियम** अथवा ऐसी किसी अन्य जाति के साथ करना चाहिए जिससे खाद्य फल उत्पन्न हो सकें (Burkill, I, 578; Bailey, 1944, 441; Webber & Batchelor, I, 172).

C. dentata (Willd.) Roem.; *Ribes nigrum*; *C. wampi* Blanco; *C. indica* Oliver; *C. lansium*

क्लिर्यांग नट ट्री – देखिए **स्ट्रिकनोज**

क्लीओम लिनिअस **(केपेरिडेसी)** CLEOME Linn.

ले. – क्लेओमे

यह बूटियों और लघु झाड़ियों की लगभग 140 जातियों का वंश है जो उष्ण और उपोष्ण क्षेत्रों में पाया जाता है.

उनमें से बहुत-सी जातियाँ सामान्य अपपादप हैं. भारत में लगभग 12 जातियाँ मिलती हैं.
Capparidaceae

क्ली. आइकोसैण्ड्रा लिनिअस सिन. क्ली. विस्कोसा लिनिअस C. icosandra Linn.

ले. – क्ले. इकोसाण्ड्रा
D.E.P., II, 371; Fl. Br. Ind., I, 170.

सं. – आदित्यभक्ता, अर्ककान्ता; हिं. – हुलहुल, हुरहुर; बं. – हुरहुरिया; म. – कानफूटी; गु. – तालवाणी; ते. – कुक्कावोमिण्टा; त. – नाइक्कदुगु, वेल्लाइ कोराइ; क. – काटुसासिवे; मल. – अरियविला.

यह दूर-दूर तक पाई जाने वाली बूटी है जिसका तना चिपचिपा; फूल पीले और गन्ध तीव्र वेधक होती है.

कहा जाता है कि गरीब जाति के लोग इस पौधे को तरकारी की तरह इस्तेमाल करते हैं. इसके खाद्य भाग (फूलों और फलियों को छोड़कर) के विश्लेषण से निम्नलिखित मान प्राप्त हुये हैं: आर्द्रता, 80·41; प्रोटीन, 5·64; ईथर निष्कर्ष, 1·85; राख, 3·75; कैल्सियम, 0·881; फॉस्फोरस, 0·073%; लोहा, 24·45 मिग्रा./100 ग्रा.; विटामिन सी, 203·6 मिग्रा./100 ग्रा. (Theophilus & Arulanantham, *Indian J. med. Res.*, 1949, **37**, 29).

इसकी पत्तियाँ रक्तिमाकर, छाले डालने वाली और स्वेदकारी होती हैं. पत्तियों का रस घी के साथ मिलाकर कान की सूजन की चिकित्सा में इस्तेमाल किया जाता है. पत्तियाँ घावों और व्रणों पर भी लगायी जाती हैं. इसके बीज छोटे, गहरे भूरे या काले और दानेदार होते हैं. उनमें रक्तिमाकर, विस्फोटक और कृमिनाशी गुण बताये जाते हैं. क्रिया में वे सरसों के बीजों के समान होते हैं; और उनकी पुल्टिस पुराने जोड़ों के दर्द में प्रतिक्षोभक की भाँति उपयोगी होती है. ये गोलकृमि के संक्रमणों में लाभ नहीं पहुँचाते. इसके बीज कभी-कभी दालों और तरकारियों में मसाले की तरह प्रयुक्त किये जाते हैं (Chopra, 573; Koman, 1918, 3).

सूखे बीजों के बेंजीन निष्कर्ष से एक स्थिर तेल (उपलब्धि, 36·6%) प्राप्त किया गया है. रखा रहने पर इसमें से पामिटिक और मिरिस्टिक और एक नया अम्ल (ग.वि., 97°), जो विस्कोमिक अम्ल है, नीचे बैठ जाते हैं. ऐल्कोहली निष्कर्ष से एक फ्लैवोन, विस्कोसिन, 0·04% उपलब्धि में विलग किया गया है. विस्कोसिन, ग.वि., 294–95° (अपघटन), एक मोनोमेथाक्सी-ट्राइहाइड्रॉक्सी फ्लैवोन है जो 4,100 Å–4,620 Å के बीच एक सुनिश्चित अवशोषण बैंड, अधिकतम 4,425 Å पर दर्शाता है (Gupta & Dutt, *J. Indian chem. Soc.*, 1938, **15**, 532).

क्ली. ब्रेकिकार्पा वाल एक्स द कन्दोल पंजाब, सिन्ध और निकटवर्ती क्षेत्रों में पाया जाता है. इसे गठिया, स्कैबीज और सूजन में उपयोगी बताया गया है. **क्ली. केलीडोनाई** लिनिअस पुत्र (**पोलैनिसिया केलीडोनाई** द कन्दोल) की जड़ों में कृमि निस्सारक गुण होते हैं. यह दक्षिण भारत का एक सामान्य पौधा है (Kirt. & Basu, I, 183; Burkill, I, 581).

क्ली. फ़ेलिना लिनिअस पुत्र स्कर्वीरोधी है. इसके बीजों से छाले पड़ते हैं किन्तु उन्हें कृमि निस्सारण के लिए खिलाया जाता है (Kirt. & Basu, I, 186).

C. viscosa Linn.; *C. brachycarpa* Vahl ex DC.; *C. chelidonii* Linn. f. (*Polanisia chelidonii* DC.); *C. felina* Linn. f.

क्लीमेटिस लिनिअस (रेननकुलेसी) CLEMATIS Linn.

ले. – क्लेमाटिस
D.E.P., II, 369; Fl. Br. Ind., I, 2.

यह आरोही पौधों की लगभग 280 जातियों का विशाल वंश है. पौधे अपने सुन्दर और आकर्षक फूलों के लिए बहुत पसन्द किये जाते हैं और संसार भर में पाये जाते हैं. इसकी अनेक जातियाँ तीखी और विषैली होती हैं. इसकी लगभग 25 जातियाँ भारत में शीतोष्ण हिमालय, पश्चिमी घाट और डेकन में मिलती हैं.

क्ली. ट्रिलोबा हेन एक्स रॉथ (सं. – लघुपर्णिका, मुरवा; हिं. – मुरहरि; म. – रंजनी; क. – मोरहारी) कोंकण, डेकन और पश्चिमी घाट में होता है. यह पौधा कुष्ट, रक्त विकारों और ज्वरों में दिया जाता है. इससे एक रेशा मिलता है जो खेती के कामों के लिए उपयोगी है. **क्ली. ओरिएंटेलिस** लिनिअस सिन. **क्ली. ग्रेविओलेन्स** लिंडले, में इनासिटाल पाया जाता है (Rama Rao, 1; Wehmer, I, 325).

क्ली. गौरिआना रॉक्सबर्ग की कुटी हुई पत्तियों और तनों से शरीर पर छाले पड़ जाते हैं. **क्ली. नेपोलेन्सिस** द कन्दोल, **क्ली. ओरएंटेलिस**, **क्ली. ट्रिलोबा** के समान कुछ जातियों के तीखे और विषैले गुण सम्भवतया एनिमोनिन की उपस्थिति के कारण हैं. यह पदार्थ कुछ विदेशी जातियों में भी पाया गया है. **क्ली. स्मिलेसिफ़ोलिया** वालिश कोरवेचर में उपयोगी बताया जाता है (Krishna & Badhwar, *J. sci. industr. Res.*, 1947, **6**, suppl., 8; Kirt. & Basu, I, 6).
Ranunculaceae; *C. triloba* Heyne ex Roth; *C. orientalis* Linn.; *C. graveolens* Lindl.; *C. gouriana* Roxb.; *C. nepaulensis* DC.; *C. smilacifolia* Wall.

क्लीवर्स – देखिए गैलियम

क्लेरोडेण्ड्रम लिनिअस (वर्बेनेसी) CLERODENDRUM Linn.

ले. – क्लेरोडेण्ड्रम

यह झाड़ियों और वृक्षों की लगभग 350 जातियों का वंश है जो पृथ्वी के उष्ण और उपोष्ण क्षेत्रों में पाया जाता है. इसकी लगभग 30 जातियाँ भारत में मिलती हैं जिनमें से कुछ भेषजीय हैं.
Verbenaceae

क्ले. इण्डिकम (लिनिअस) कुन्त्ज़े सिन. क्लेरोडेण्ड्रान साइफोनेन्थस (आर. ब्राउन) सी. बी. क्लार्क C. indicum (Linn.) Kuntze

ले. – क्ले. इंडिकूम
D.E.P., II, 375; Fl. Br. Ind., IV, 595; Kirt. & Basu, Pl. 747.

सं.–भार्गी; हिं.–भारंगी; त.–कवलई; ते.–भारंगी, हुंजिका.

यह एक विशाल झाड़ी है जो दक्षिण और पूर्वी भारत में आमतौर से पाई जाती है और सजावट के लिए लगाई जाती है. देशी भाषाओं में इसके अधिकतर नाम वे ही हैं जो **क्ले. सेरेटम** के हैं और सम्भव है कि दोनों ही जातियाँ बिना भेद-भाव के देशी चिकित्सा में प्रयोग की जाती हों. यह पौधा तनिक कड़वा और कसैला होता है. इस पौधे से प्राप्त एक रेजिन, सिफ़लिसी गठिया में काम आता है.

इसकी जड़ दमा, खाँसी और स्क्रोफुली विकारों में उपयोगी समझी जाती है. पत्तियों और मुलायम फुनगियों का रस घी के साथ फुन्सियों और छालों पर लगाया जाता है. पत्तियाँ कृमिनिस्सारक और कड़वे टानिक की भाँति इस्तेमाल की जाती हैं. कृमिनाशी गुण पत्तियों में एक कड़वे पदार्थ की उपस्थिति के कारण बताया गया है (Chopra, *Indigenous Drugs Enquiry*, 1941, 32).

Clerodendron siphonanthus (R. Br.) C. B. Clarke

क्ले. इनफार्च्यूनेटम लिनिअस C. infortunatum Linn.

ले.–क्ले. इनफोर्टुनाटूम

D.E.P., II, 373; Fl. Br. Ind., IV, 594; Kirt. & Basu, Pl. 746.

सं.–र्वाहचूड, भण्टक; हिं. और बं.–भांट; म.–भण्डीरा; त.–करुकन्नी; ते.–गुर्रापुकट्टियाकू; मल.–पेरुक, पेरुवेल्लम; क.–वासवनपद, इव्वाने.

यह यूथी झाड़ी है जो समस्त भारत, ब्रह्मा और श्रीलंका में पाई जाती है. इस पौधे के सभी भागों में एक कड़वा तीखा स्वाद होता है.

इसकी पत्तियों से अरुचिकर गन्ध आती है और इसका उपयोग कटु टॉनिक, कालिक ज्वर रोधी, कृमिनिस्सारक, मृदुरेचक और पित्तरेचक की भाँति किया जाता है. इसकी पत्तियाँ और जड़ें फोड़ों और कुछ त्वचा रोगों पर लगाई जाती हैं. पत्तियों के ताजे रस का इंजेक्शन एस्करिडों के लिए गुदा में दिया जाता है (Nadkarni, 220).

इसकी पत्तियों के विश्लेषण से निम्नलिखित मान प्राप्त हुए: राख, 8·0; प्रोटीन, 21·2; अशोधित रेशा, 14·8; अपचायक शर्कराएँ, 3·0; तथा कुल शर्करायें, 17·0. वायु-शुष्क पत्तीचूर्ण के पेट्रोलियम ईथर-निष्कर्ष (3·85%) से एक कड़वा पदार्थ, क्लेरोडिन ($C_{13}H_{18}O_3$; ग.बि., 161–62°) पृथक् किया गया है जो कृमिनाशी होता है. पौधे के विभिन्न भागों से क्लेरोडिन निम्नलिखित विभिन्न मात्राओं में प्राप्त होता है: वर्षा के पहले एकत्र की गई नयी टहनियों और पत्तियों से, 0·12; वर्षा के बाद एकत्र की गई नयी टहनियों और पत्तियों से, 0·55; तथा पुरानी पत्तियों से, 0·05% (शुष्क भार के आधार पर). तनों और जड़ों में इसकी रंच मात्रा पाई जाती है. क्लेरोडिन मनुष्य की लाल रक्त संख्या पर रक्त संलायी क्रिया नहीं करता और बैसिलस कोलाई पर जीवाणुनाशी गुण नहीं दर्शाता. इसके जलीय विलयन में केंचुए 30 मिनट में मर जाते हैं. इस कड़वे पदार्थ के अतिरिक्त, पत्तियों में निम्न-लिखित लक्षणों का एक स्थिर तेल रहता है: आयो. मान, 111·4; उदासीनकरण मान, 183·9; असाबु. पदार्थ, 4·75. इस तेल में लिनोलेनिक, ओलीक, स्टीऐरिक और लिग्नोसेरिक अम्लों के ग्लिसराइड रहते हैं. असाबु. पदार्थ में एक स्टेरॉल (ग.बि., 138–40°), जैन्थोफिल और कैरोटीन पाये जाते हैं. पत्तियों में एक प्रोटीनेस और एक पेप्टीडेस होता है (Banerjee, *J. Indian chem. Soc.*, 1937, **14**, 51; *Chem. Abstr.*, 1940, **34**, 7949).

Bacillus coli

क्ले. इनर्मे (लिनिअस) गेर्तनर C. inerme (Linn.) Gaertn.

ले.–क्ले. इनेर्मे

D.E.P., II, 372; Fl. Br. Ind., IV, 589; Kirt. & Basu, Pl. 743.

सं.–कुंडली, वनजाय; हिं.–लंजई, संगकूपी; बं.–बंजाई, वटराज; म.–वनजाई; त.–अंजलि; ते.–तक्कोलकमु, एतीपि-सीनिका; क.–कुंडली, नइतेक्किले; मल.–नीरनोच्ची.

यह छितरी झाड़ी है जो भारत और श्रीलंका के तटीय क्षेत्रों में बहुतायत से होती है. इसकी पत्तियाँ श्लेष्मामयी, कड़वी और सुगन्धित होती हैं और उनके भेषजीय गुण चिरायते (**स्वेर्टिया चिरायटा** बुखनन-हैमिल्टन) के समान होते हैं. ताजी और सूखी पत्तियों में रूपान्तरक और ज्वरनाशी गुण होते हैं. पत्तियों की पुल्टिस गिल्टियों को बैठाने के लिए बाँधी जाती है. इसकी जड़ों को तेल में उबालने से एक लेप प्राप्त होता है जो गठिया में उपयोगी होता है.

इसकी पत्तियों में चिरायते में पाये जाने वाले पदार्थ के समान एक अक्रिस्टलीय कड़वा तत्व होता है. एक रेज़िन, एक गोंद और एक भूरा रंजक पदार्थ भी पाये जाते हैं. भाप आसवन से स्टीऐरोप्टेन जैसा पदार्थ प्राप्त होता है जिसमें ताजे पौधे के समान फलीय गंध आती है. इसका ईथर-निष्कर्ष सुगन्धित होता है. पत्तियों की राख में सोडियम क्लोराइड प्रचुर मात्रा में रहता है (Dymock, Warden & Hooper, III, 76).

क्ले. फ्लोमिडिस लिनिअस पुत्र (क्ले. फ्लोमॉइडीज़ लिनिअस पुत्र) C. phlomidis Linn. f.

ले.–क्ले. फ्लोमिडिस

D.E.P., II, 374; Fl. Br. Ind., IV, 590; Kirt. & Basu, Pl. 744.

सं.–अग्निमन्था, अग्निमन्थिनी; हिं., गु. तथा म.–अरणी; त.–तक्करि, तालु दलाइ; ते.–तक्कोलमु; क.–तगिग; मल.–तिरुताली.

यह बड़ी झाड़ी है जो भारत के बहुत से भागों में मिलती है. इसकी जड़ सुगन्धित और कसैली होती है और इसका काढ़ा सुजाक में शामक की तरह प्रयुक्त किया जाता है. यह कड़वे टॉनिक के रूप में भी दी जाती है. पत्तियों का रस रूपान्तरक-जैसा उपयोगी है (Nadkarni, 220).

C. phlomoides Linn. f.

क्ले. सिरेटम (लिनिअस) मून C. serratum (Linn.) Moon

ले. – क्ले. सेर्राटूम

D.E.P., II, 374; Fl. Br. Ind., VI, 592; Kirt. & Basu, Pl. 745.

सं. – भारंगी; हिं. – बारंगी; गु. और म. – भारुँगी; त. – अंगारवल्ली; ते. और क. – गंटुवरंगी; मल. – चेरुतेक्कु, कनक-भरनी.

यह नीले फूलों की झाड़ी है जो भारत में व्यापक रूप से पायी जाती है. इसकी जड़ें स्वाद में तीखी, कड़वी और चरपरी होती हैं, और ज्वरों, गठिया तथा मन्दाग्नि की चिकित्सा में दी जाती हैं. जड़ का क्वाथ श्लेप्मी श्वसनी शोथ में लाभ-कारी नहीं है. अदरक और धनिये के साथ इसकी जड़ का क्वाथ मतली में लाभकर है (Koman, *1919*, 14).

इसकी पत्तियों का उपयोग ज्वर में किया जाता है और शीर्षार्ति तथा नेत्रभिप्यन्द में लगायी जाती हैं. इसके बीज मृदु विरेचक होते हैं और कभी-कभी जल शोफ में प्रयोग किये जाते हैं.

क्लैडियम पी. ब्राउन (साइपरेसी) CLADIUM P. Br.

ले. – क्लाडिऊम

Fl. Br. Ind., VI, 673.

यह झाऊ की 30 जातियों का वंश है जो संसार के समस्त उष्ण प्रदेशों में पाया जाता है. इसकी एक विश्वव्यापी जाति **क्लै. जमाइसेन्स** क्राण्ट्ज सिन. **क्लै. मैरिसकस** आर. ब्राउन कश्मीर में 1,560 मी. की ऊँचाई पर पाई जाती है. इस पौधे को आरी घास (सॉ-ग्रास) भी कहते हैं. इसे कागज की लुगदी बनाने के लिए कच्चे माल के रूप में प्रयुक्त किया जा सकता है (Burkill, I, 576).

Cyperaceae; *C. jamaicense* Crantz syn. *C. mariscus* R. Br.

क्लैवीसेप्स टुलास्ने (हाइपोक्रीएलीज) CLAVICEPS Tul.

ले. – क्लाविसेप्स

यह कवकों का एक वंश है जिसमें 10 विश्वव्यापी जातियाँ सम्मिलित हैं. इनसे **क्लै. परप्यूरिया** अर्गट का स्रोत है.

Hypocreales

क्लै. परप्यूरिया फ्रीज टुलास्ने C. purpurea Fr. Tul.

अर्गट

ले. – क्ला. पुरपुरेआ

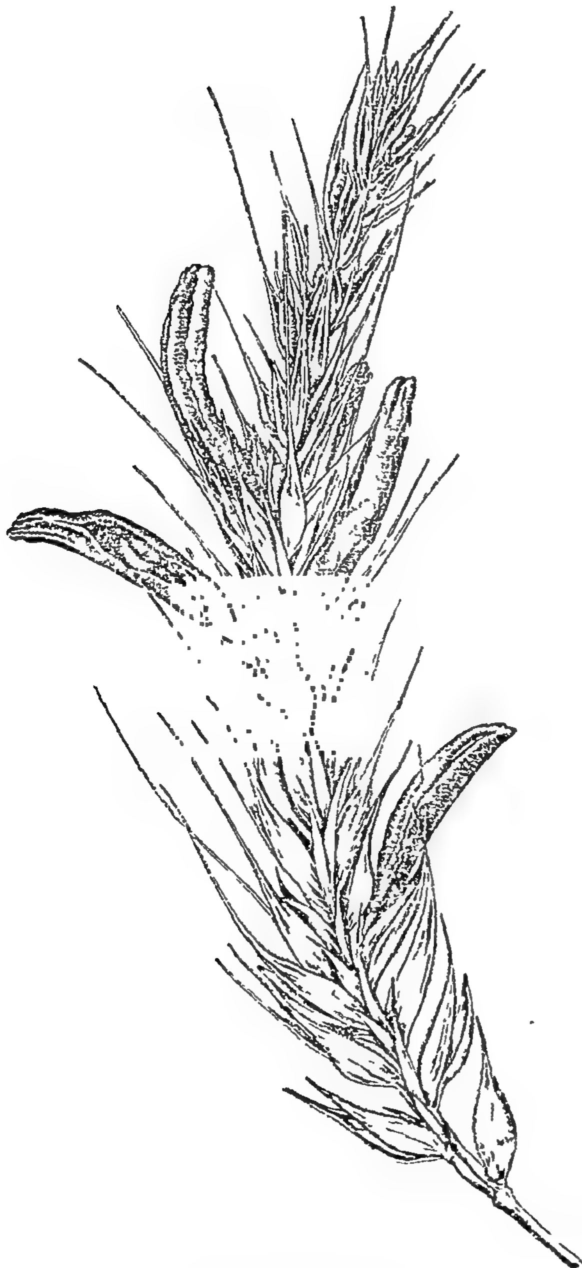
यह एक कवक है जो घासों तथा धान्य फसलों पर विशेषतः राई (सेकेल सीरिएल लिनिअस) पर पराश्रयी है. भारत में इसकी उपस्थिति **ब्रैकिपोडियम सिलवैटिकम** बीवो, **ऐण्ड्रोपोगोन** जाति, **सिनोडोन डैक्टिलोन** पर्सून तथा ईख पर देखी गई है (Padwick & Azamatullah, *Curr. Sci.*, 1943, **12**, 257; Tirumalachar, *Curr. Sci.*, 1943, **12**, 330; 1944, **13**, 288).

अर्गट विशेष औषधीय महत्व का है, क्योंकि प्रामाणिक फार्माकोपियाओं द्वारा स्वीकृत मुख मार्ग द्वारा दी जाने वाली एकमात्र गर्भाशय संकोचक औषध यही है. यह धान्य फसलों और घासों के लिए नाशक है, अतएव महत्वपूर्ण है, क्योंकि इससे संक्रमित अनाजों, अनाज की फसलों और घासों को खाने पर पशुओं पर विशेष प्रभाव देखे जाते हैं. संक्रमित अनाज एवं भूसे को खाने से पशुओं को अर्गटात्यय नामक रोग हो जाता है. मनुष्यों में अब यह रोग उतना सामान्य नहीं है जितना कि पिछली शताब्दी में था परंतु अभी भी यह यूरोप के कुछ देशों में किसानों में पाया जाता है. भारत में भी ऊपर से सामान्य दिखने वाले, परंतु फफूंद द्वारा, विशेषतः अर्गट द्वारा संक्रामित जौ, गेहूँ तथा विशेषतः ज्वार-बाजरा आदि में विपाक्त गुणों का उल्लेख मिलता है. तीक्ष्ण विपाक्तन विरले ही होता है परन्तु कुछ परिस्थितियों में जब इसकी अधिक मात्रा खा ली जाए तो ऐसा सम्भव हो सकता है. अर्गट से मितली, वमन तथा अतिसार हो सकता है जिससे कभी-कभी अचेतनता एवं अन्ततः अवसन्नता तक हो सकती है. थोड़ी मात्रा में बहुत काल तक अर्गट लेता रहने से, जैसा कि संक्रमित राई की बनी रोटी खाने से, गैंग्रीन (कोथ) युक्त अर्गटात्यय तथा आक्षेपी अर्गटात्यय नामक रोग होता है. चूहों के साथ किये गये प्रयोगों से यह देखा गया है कि दीर्घकालीन विपालुता का एक लक्षण, प्रारम्भिक अवस्था में, उनके शरीर की वृद्धि में गतिरोध करता है. यह प्रभाव कम प्रोटीनयुक्त भोजन देने से और भी बढ़ जाता है (Weniger, *Bull. N. Dak. agric. Exp. Sta.*, 1924, 176; U.S.D., 424).

औषधीय अर्गट राई के अण्डाशय में विकसित कवक की कठोर पट्टिका होती है. यह कवक पौधे को उस समय ग्रस्त करता है जब वह फूलता होता है; कवक अण्डाशय में प्रवेश कर जाता है और अपने जीवन-चक्र की एक अवस्था में वह सुगठित पिण्ड अथवा स्क्लेरोशियम बनाता है जो आभासी मृदूतक कवक-जाल युक्त ऊतक का बना होता है. स्क्लेरोशियम आरक्त, बैंगनी अथवा प्रायः काले रंग का, कुंचित दंड जैसा 10–40 मिमी. लम्बा और 2–7 मिमी. व्यास का होता है जिसकी काट अवतलोत्तल, दोनों छोरों की ओर शुण्डाकार और अवतल भाग के ऊपर अनुदैर्ध्य खाँचा होता है. स्क्लेरोशियम का भीतरी भाग सफेद अथवा हल्के गुलाबी रंग का होता है. इसका स्वाद लाक्षणिक तथा गन्ध अरुचिकर होती है.

इस कवक की कई जैविक प्रजातियाँ ज्ञात हैं जो परपोषी के अनुसार हैं. अर्गट में ऐल्कलायड की मात्रा परपोषी पर निर्भर करती है तथा औषधीय अर्गट तो एकमात्र राई के पौधों से प्राप्त होता है. सामान्यतः अर्गट की अधिक मात्रा मध्य यूरोप, स्पेन तथा पुर्तगाल से प्राप्त की जाती है. भारत में अर्गट-उत्पादन के लिए परीक्षण के तौर पर राई की खेती 1942 में उस समय प्रारंभ की गई जब महायुद्ध के कारण विदेशों से उसका मिलना बन्द हो गया था. आजकल प्रायः 40 हेक्टर भूमि में नीलगिरि में अर्गट का उत्पादन किया जाता है और इस क्षेत्रफल को बढ़ाने की योजनाएँ कार्यरूप में परिणत की जा रही हैं. राई की बुवाई अप्रैल में की जाती है तथा जुलाई में इनकी बालों के ऊपर कवक के दानेदार बीजाणुओं का छिड़काव किया जाता है. इस क्रिया को मध्य अगस्त में फिर से दुहराया जाता है. कवक द्वारा राई पर अधिकतम संक्रमण के लिए 6 से 8 छिड़कावों की आवश्यकता पड़ती है.

छिड़काव के 15 दिनों के वाद स्क्लेरोशिया दिखने लगता है. प्रति हेक्टर से धूप में सुखाया हुआ 95 किग्रा. स्क्लेरोशिया प्राप्त होता है. 1944 से 1949 के अन्तर्गत नीलगिरि मे लगभग 2,600 किग्रा. अर्गट का उत्पादन हुआ था. यद्यपि यह उत्पादन तमिलनाडु की आवश्यकताओं की ही पूर्ति कर सकता है किन्तु नीलगिरि का यह क्षेत्र सारे भारत की अर्गट



चित्र 98 – राई पर अर्गट

आवश्यकता की पूर्ति के लिए उपयुक्त है. विभेदों के सतत वरण के द्वारा उत्पाद के गुणों में सुधार किया गया है जिससे उच्च ऐल्कलायड मात्रा मिली तथा सम्पूर्ण ऐल्कलायड (अर्गोटॉक्सिन के रूप में परिगणित) 0·19% से वढ कर 0·40% हो गया. अर्गट की खेती के लिए शिलांग को उपयुक्त क्षेत्र के रूप में सुझाया गया है क्योंकि यहाँ की प्राकृतिक दशा तथा जलवायु संबंधी परिस्थितियाँ ऑस्ट्रेलिया के न्यू साउथ वेल्स राज्य की परिस्थितियों जैसी है, जहाँ हाल के वर्षों में अर्गट के संवर्धन में महत्वपूर्ण प्रगति हुई है. अर्गट के संवर्धन के परीक्षण शिमला की पहाड़ियों एवं मैसूर राज्य मे उपयोगी सिद्ध हो सकते हैं क्योंकि इन क्षेत्रों में उगने वाली घास **क्लै. पर्प्यूरिया** द्वारा संक्रमित पाई गई है. साहा तथा भट्टाचार्य ने दिखाया है कि वंगाल के उष्णकटिवन्धीय मैदानी भागों में ऐल्कलायड से समृद्ध अर्गट उत्पन्न किया जा सकता है. सफल संवर्धन की क्रिया अनेक कारकों पर, विशेषकर राई के फूलने के समय उच्च आर्द्रता पर, निर्भर करती है. अर्गट के उत्पादन के साथ ही साथ अन्य धान्य फसलों एवं जंगली घासों के संक्रमण के खतरे, मनुष्य एवं पशुओं के विपीकरण आदि का भी ध्यान रखना आवश्यक है. मुखर्जी तथा वोस का मत है कि जिन क्षेत्रों में अर्गट के संवर्धन का कार्य आजकल हो रहा है वहाँ इस प्रकार का वहुत कम खतरा है (Thomas & Ramakrishna, *Madras agric. J.*, 1942, **30**, 411; Chopra *et al., J. sci. industr. Res.*, 1949, **8**, 14; Marudarajan *et al., Proc. Indian Acad. Sci.*, 1950, **31B**, 103; *Nature*, 1945, **156**, 363; *Sci. & Cult.*, 1942–43, **8**, 267).

अनाजों से अर्गट के स्क्लेरोशिया को हाथ से चुन कर अलग करने की वर्तमान पद्धति अत्यन्त श्रमसाध्य है अतः श्रम वचाने की विधि निकाली गयी है. ऑस्ट्रेलिया की काउन्सिल फार साइण्टिफिक एण्ड इण्डस्ट्रियल रिसर्च ने एक ऐसी ही प्लवन-विधि निकाली है (*Circ. Coun. sci. industr. Res., Aust., Industr. Chem.*, 1943, No. 4).

नीलगिरि अर्गट में ऐल्कलायड की औसत मात्रा (अर्गोटॉक्सिन के रूप में परिकलित) 0·4% है जवकि ब्रिटिश फार्माकोपिया के अनुसार इसे 0·19% होना चाहिए. स्क्लेरोशियम की लम्बाई 10–30 मिमी. तथा मोटाई 4–5 मिमी. होती है. इनमें से कुछ वक्र तथा कुछ वेलनाकार होते हैं किन्तु सवों के छोर नुकीले होते हैं. ये गहरे रंग के और कठोर होते हैं. इनका भीतरी भाग पीले रंग का होता है. औपध के विश्लेपण से निम्नांकित मान प्राप्त हुए है: आर्द्रता, 7·9; राख, 3·0; वसा (पेट्रोलियम ईथर निष्कर्ष), 27·3; निर्जल अर्गोटॉक्सिन के रूप में कुल ऐल्कलायड, 0·425; जल में अविलेय ऐल्कलायड (निर्जल अर्गोटॉक्सिन के रूप में), 0·303; अर्गोमेट्रिन के रूप में जल में विलेय ऐल्कलायड, 0·0654%. वसा द्रव रूप में होती है और उसकी विशेपताएँ इस प्रकार है: $n_D^{30°}$, 1·466; सावु. मान, 196·2; आयो. मान (विज, 1 घंटा), 72·9; हेनर संख्या, 96·5; असावुनीकरणीय पदार्थ, 1·7% (Mukerji & Dey, *Curr. Sci.*, 1943, **12**, 87; Rangaswami & Seshadri, *Proc. Indian Acad. Sci.*, 1943, **18A**, 206).

अर्गट में अर्गोस्टेरॉल, फंजाईस्टेरॉल, क्लैवीसेप्सिन, स्क्लेरेएरिथिन, अर्गोक्राइसिन, अर्गोफ्लैविन, अकार्वनिक लवण तथा

जटिल प्रोटीनयुक्त पदार्थों की सूचना प्राप्त है. इसके अतिरिक्त बड़ी संख्या में सामान्य क्षारक एवं ऐमीनो-अम्लों को विलग किया गया है. इनमें पैरा-हाइड्रॉक्सि-बीटा-फेनिलएथिलैमीन (टाइरामीन), अर्गोथायोनीन (थायोलहिस्टिडीन बीटेन), 4-β-ऐमीनोएथिल ग्लायक्सालिन (हिस्टामिन), सिकेलेमिनोसल्फोनिक अम्ल $NH_2.C_{15}H_{26}O_{15}.SO_3H$ (अर्गोटिक अम्ल), δ ग्वानिडिलब्यूटिलऐमीन (एग्मेटीन), पुट्रेसीन, कैडावरीन, आइसोएमाइलैमीन, ट्राइमेथिलैमीन, कोलीन, ऐसीटिल-कोलीन, बीटेन, क्लैवीन, टाइरोसीन, हिस्टिडीन, ट्रिप्टोफेन तथा एक क्रिस्टलीय पोटैसियम लवण, $C_7H_9O_{11}NK$ भी सम्मिलित हैं. यद्यपि इनमें से कुछ कायिकीय रूप से क्रियाशील हैं और अपरिष्कृत औषध तथा इनके औषधीय पदार्थों की सम्पूर्ण क्रियाशीलता पर कुछ प्रभाव डालते हैं परन्तु अर्गट का विशिष्ट प्रभाव उनमें उपस्थित ऐल्कलायडों की उपस्थिति के कारण ही होता है.

अर्गट ऐल्कलायड समावयवी ऐमाइड की 6 युग्मों की एक श्रेणी बनाते हैं जिसमें प्रत्येक युग्म का एक अवयव लाइसर्जिक अम्ल तथा दूसरा अवयव आइसोलाइसर्जिक अम्ल का व्युत्पन्न होता है (सारणी 1). लाइसर्जिक अम्ल के व्युत्पन्न यौगिक का प्रतिनिधित्व अर्गोटॉक्सिन द्वारा होता है. ये वामावर्ती और भेपजीय दृष्टि से अति क्रियाशील होते हैं. आइसोलाइसर्जिक अम्ल के व्युत्पन्न यौगिक का प्रतिनिधि यौगिक अर्गोटिनिन है जो अत्यन्त दक्षिणावर्ती तथा भेपजिकीय दृष्टि से कम शक्ति का होता है यद्यपि यह प्रभाव उनके समावयी वामावर्ती ऐमाइड के समान ही होता है. इन समावयवी 12 ऐल्कलायडों में से तीन, अर्गोटॉक्सिन, अर्गोटामीन तथा अर्गोमेट्रिन, चिकित्सा में प्रयुक्त होने के कारण महत्वपूर्ण हैं और इन पर भेपजी और रोगी पर प्रभाव से सम्बन्धित प्रचुर साहित्य उपलब्ध है. अर्गोटॉक्सिन समूह के ऐल्कलायड पीड़क प्रभाव डालते हैं; गैंग्रीन (कोथ) उत्पन्न करते हैं. सामान्य अथवा माँसपेशी विशेषतः गर्भाशय की माँसपेशियों पर ऐड्रेनलिन के प्रभाव से उत्क्रम अथवा विपरीत प्रभाव उत्पन्न करते हैं तथा प्रसूति माँसपेशियों पर संकुचन प्रभाव को उत्प्रेरित करते हैं. इस अन्तिम प्रभाव के कारण अर्गोटॉक्सिन तथा अर्गोटैमीन का चिकित्सा शास्त्र में औषध के रूप में प्रयोग होता है. मिग्रेन

सारणी 1 – अर्गट ऐल्कलायड*

लाइसर्जिक अम्ल के व्युत्पन्न यौगिक			आइसोलाइसर्जिक अम्ल के व्युत्पन्न यौगिक			सूत्र
अर्गोटॉक्सिन समूह	ग.वि.	विशिष्ट घूर्णन‡	अर्गोटिनीन समूह	ग.वि.	विशिष्ट घूर्णन‡	
अर्गोटॉक्सिन (हाइड्रोअर्गोटिनिन)	190–200°	−226°	अर्गोटिनीन	229° (अपघटित)	+466°	
अर्गोटैमीन†	180° (अपघटित)	−192°	Ψ अर्गोटिनीन	239° (अपघटित)	+513°	
			अर्गोटैमिनीन	241–43° (अपघटित)	+462°	$C_{33}H_{35}O_5N_5$
अर्गोसीन	228° (अपघटित)	−193°	अर्गोसिनीन	228° (अपघटित)	+522°	$C_{30}H_{37}O_5N_5$
अर्गोक्रिस्टीन†	160–75° (अपघटित)	−217°	अर्गोक्रिस्टिनीन	226° (अपघटित)	+460°	$C_{35}H_{39}O_5N_5$
अर्गोक्रिप्टीन	212° (अपघटित)	−226°	अर्गोक्रिप्टिनीन	240–42° (अपघटित)	+508°	$C_{32}H_{41}O_5N_5$
अर्गोकार्नीन	182–84° (अपघटित)	−226°	अर्गोकार्निनीन	228° (अपघटित)	+512°	$C_{31}H_{39}O_5N_5$
अर्गोमेट्रिन	162–63° (अपघटित)	−16° (पिरिडीन विलायक)	अर्गोमेट्रिनीन	195–97° (अपघटित)	+520°	$C_{19}H_{23}O_2N_3$

*हेनरी, 520.

†अर्गोक्रिस्टीन का क्रिस्टलन B. C_3H_6O तथा अर्गोटैमीन का क्रिस्टलन B. $2H_2O.2C_3H_6O$ के रूप में होता है. उपर्युक्त ग.वि. ऐल्कलायड के क्रिस्टलों के ग.वि. हैं.

‡विशिष्ट घूर्णन क्लोरोफार्म में विलयनों के लिये है जब तक कि दूसरे विलायक का नाम न लिया जाए.

में अर्गोटैमीन का प्रयोग केन्द्रीय स्नायु प्रणाली पर उसके प्रभाव के कारण प्रचुर मात्रा में होता है. चूहों पर अर्गोटॉक्सिन की अपेक्षा अर्गोटैमीन का कम विषालु प्रभाव होता है तथा इसका अनुकम्पी तंत्रिका सम्बन्धी प्रभाव एवं अति-ज्वर उत्पन्न करने की क्रियाशीलता भी कम होती है. अर्गोमेट्रिन का अनुकम्पी तन्त्रिका पर प्रभाव उतना स्पष्ट नहीं होता, पीड़क क्रिया कम होती है तथा अर्गोटॉक्सिन की अपेक्षा यह कम विषालु होता है. अर्गोमेट्रिन की सर्वाधिक विशिष्ट क्रिया अनुसूति गर्भाशय में अधिक समय तक बने रहने वाले लयबद्ध शक्तिशाली संकुचन उत्पन्न करने में है और यह प्रभाव इस औषध को मुख द्वारा, अंत:पेशीय अथवा अंत:शिरा द्वारा प्रविष्ट करने से उत्पन्न होता है. इसके प्रयोग से अनुसूति गैंग्रीन (कोथ) होने का खतरा नहीं होता है (Henry, 335).

कभी-कभी पशु-चिकित्सा में भी अर्गट का उपयोग गर्भाशय संकोचक के रूप में किया जाता है (U.S.D., 1740).

अर्गट तथा इससे निर्मित गैलेनिकल दवायें संग्रह किये जाने पर, विशेषत: भारत के उष्ण एवं नम शीतोष्ण जलवायु में नष्ट हो सकती है. अत: अर्गट को ठंडे स्थानों में, विशेषत: रेफ्रिजरेटर में, नमी तथा प्रकाश से सुरक्षित बन्द शीशी में संचित करना चाहिए. यदि अर्गट को चूर्ण अवस्था में रखना है तो यह उचित होगा कि किसी उपयुक्त विलायक, जैसे पैट्रोलियम ईथर के प्रयोग द्वारा उसके वसा अंश को निष्कर्षित कर लिया जाय (Bose *et al.*, *Indian med. Gaz.*, 1942, *77*, 286; Wallis, 260).

अर्गट के द्वारा कभी-कभी उन क्षेत्रों में विषीकरण होता है जहाँ पर अर्गट के द्वारा खाद्य अन्नों के संदूषण की सम्भावना रहती है अत: इसको जानने की रीतियाँ खोज निकाली गई. अर्गट की उपस्थिति को जानने के लिए एक विश्वसनीय रासायनिक परीक्षण किया जाता है जिसमें स्क्लेरेएरिथ्रिन की वर्ण प्रक्रिया काम में लाई जाती है. स्क्लेरेएरिथ्रिन एक आरक्त बैंगनी रंजक पदार्थ होता है, जो सम्भवत: कैल्सियम लवण के रूप में वल्कुट कवक तन्तु की दीवारों में रहता है. इस परीक्षण मे 0·1 ग्राम अर्गट-चूर्ण को 5 मिली. ईथर तथा कुछ बूंद तनु सल्फ्यूरिक अम्ल के साथ 5 मिनट तक अच्छी तरह हिलाया जाता है. इसके बाद ईथर विलयन को निथार लिया जाता है और 10 मिली. तक तनुकृत कर लिया जाता है. इस विलयन के आधे भाग में 2 मिली. संतृप्त सोडियम बाइकार्बोनेट विलयन डालकर अभिक्रिया कराने से जलीय स्तर में गहरा बैंगनी रंग उत्पन्न होता है, जो अर्गट की उपस्थिति का सूचक है (Rangaswami & Seshadri, loc. cit.).

गुंधे हुए आटे को ऊपर से रँग कर नकली अर्गट बनाने का उल्लेख मिलता है. **क्लै. परप्यूरिया** को धान्य माध्यम में संवर्धित करके प्राप्त किया गया है. कवक की वृद्धि मन्द रहती है और अन्य कवकों तथा जीवाणुओं के संदूषण बिना इसे प्रचुर मात्रा में प्राप्त करना कठिन होता है जिसके कारण इस प्रक्रम के व्यापारिक विकास में बाधा पड़ती है (Wallis, 261; *Chem. Abstr.*, 1936, **30**, 8531).
Secale cereale Linn.; *Brachypodium sylvaticum* Beauv.; *Andropogon* sp.; *Cynodon dactylon* Pers.

क्लोज – देखिए साइजीगियम

क्लोरिस स्वार्ट्ज (ग्रेमिनी) CHLORIS Sw.

ले. – क्लोरिस

यह लगभग 85 जातियों का वंश है जो संसार के गर्म भागों में ही पाई जाती हैं. इसकी अनेक जातियों का चारे के रूप में उपयोग किया जाता है.
Gramineae

क्लो. इनकम्प्लीटा रॉथ सिन. क्लो. रॉक्सबर्गाई एजवर्थ
C. incompleta Roth

ले. – क्लो. इनकोमप्लेटा

D.E.P., II, 269; Fl. Br. Ind., VII, 290; Blatter & McCann, 253, Pl. 168.

हिं. – बामन, मथनियाँ, हीका गाडी; ते. – कंथरी गड्डी; क. – मालिगे हुल्लु.

यह बहुवर्षी घास है जो सारे भारत में अनेक प्रकार की मिट्टियों तथा परिस्थितियों में पैदा होती है. इसे फूल निकलने के पूर्व चारे के रूप में प्रयोग में लाना अच्छा माना जाता है. वायु-शुष्क घास के विश्लेषण से निम्नलिखित मान प्राप्त हुए हैं: आर्द्रता, 8·38; राख, 6·36; प्रोटीन, 5·48; वसा, 1·24; रेशा, 33·51; और कुल कार्बोहाइड्रेट, 45·03% (Ramiah, *Bull. Dep. Agric. Madras*, No. 33, 1941, 14).
C. roxburghii Edgew.

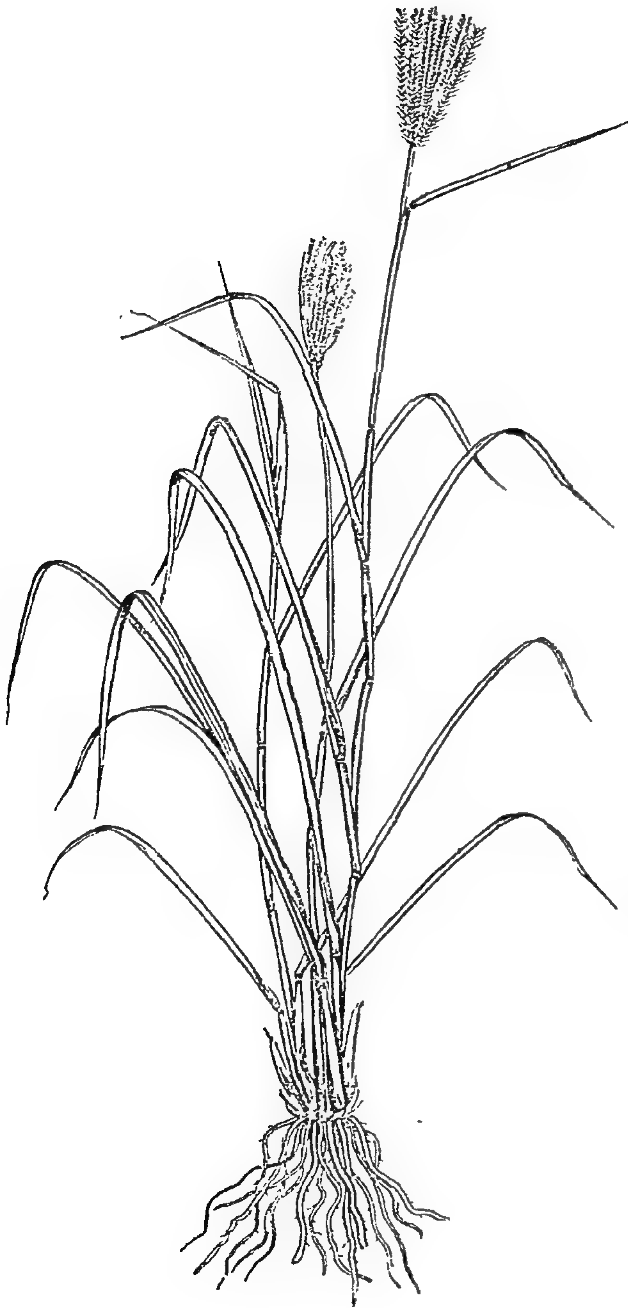
क्लो. इनफ्लेटा लिंक सिन. क्लो. बारबेटा स्वार्ट्ज
C. inflata Link

ले. – क्लो. इनफ्लाटा

D.E.P., II, 269; Fl. Br. Ind., VII, 289; Blatter & McCann, 256, Pl. 171.

हि. – जरगी, गंदी; ते. – उप्पा गड्डी; त. – कोडाइपुल्लु, सेवरगु पुल्लु; क. – हेब्बु मंचद कालु हुल्लु.

यह कलंगीदार घास है जो भारत, ब्रह्मा तथा श्रीलंका में 600 मी. की ऊँचाई तक सर्वत्र पाई जाती है. यह बलुई मिट्टी में अच्छी उगती है लेकिन अन्य अनेक प्रकार की मिट्टियों में भी पैदा हो सकती है. यह सूखा-सह है और बहुत दिनों तक पानी न मिलने पर भी जीवित रह सकती है. यह उन थोड़ी-सी घासों में से है जो क्षारीय मिट्टियों में भी पनप सकती है. फूल निकलने से पूर्व इसका उपयोग चारे के रूप में किया जा सकता है क्योंकि फूल निकलने या पकने पर मवेशी इसे खाना पसंद नहीं करते. गड्ढों में दबाकर या सुखाकर रखना इसे अधिक लाभदायक नहीं माना जाता क्योंकि सूखने पर इसका भार अत्यधिक कम हो जाता है (Jacob, *Madras agric. J.*, 1939, 279; Bor, loc. cit.).
C. barbata Sw.



चित्र 99 — क्लोरिस गायना

क्लो. गायना कुंथ C. gayana Kunth रोड्स घास

ले. – क्लो. गाइग्राना
Bor, *Indian For. Rec., N.S., Bot.*, 1941, **2**, 90.

यह बहुवर्षी या एकवर्षी घास है जिसे दक्षिणी ग्रफीका से लाकर भारत में प्रविष्ट किया गया है. यह 90–120 सेंमी. तक बढ़ती है ग्रौर उष्ण ग्रौर ग्रार्द्र जलवायु में तथा तराई की भारी मिट्टियों में खूब पनपती है. इसका कायिक प्रवर्धन प्रकन्दों से किया जाता है जो 45–60 सेंमी. की दूरी पर रोपे जाते हैं ग्रौर एक हेक्टर के लिए 25–37·5 हजार ग्रंकुरित प्रकंद पर्याप्त होते हैं. इसका रोपण वर्ष के किसी भी समय किया जा सकता है किन्तु पंजाब में किये गये परीक्षणों से ज्ञात हुग्रा है कि फरवरी में रोपण करने से ग्रच्छी उपज होती है. इसकी कटाई साल में 7 या 8 वार की जा सकती है जिससे 40 टन प्रति हेक्टर उपज प्राप्त हो सकती है. वरसात के मौसम में इसकी वहुत ग्रच्छी वृद्धि होती है. यद्यपि इस घास को हरी ग्रवस्था में गड्ढों में ग्रथवा सुखाकर भी रखा जा सकता है, तथापि सामान्यतः इसका ऐसा प्रयोग वहुत ही कम किया जाता है क्योंकि इससे ग्रधिक उपज देने वाले चरी के ग्रन्य पौधे उसी मौसम में उपलब्ध रहते हैं ग्रौर रबी की फसल में इसकी पैदावार गिनी घास की तुलना में बहुत ही कम होती है. इस घास को सभी मवेशी चाव से खाते हैं लेकिन ग्रश्व-विशेषज्ञ इसे घोड़ों के लिए हानिकारक वताते हैं क्योंकि इसको खाने से चर्म-रोग हो जाते हैं (Littlewood & Rao, *Madras agric. J.*, 1930, **18**, 63; Roberts & Kartar Singh, 415; Sayer, *Agric. Live-Stk, India*, 1936, **6**, 519).

क्लो. टेनेला कोइनिग एक्स रॉक्सवर्ग घास पतली तथा एकवर्षी होती है जो सिंध, राजस्थान, मध्य भारत तथा तमिलनाडु में सर्वत्र पाई जाती है ग्रौर एक ग्रच्छा चारा समझी जाती है. **क्लो. विरगेटा** स्वार्ट्ज (सिन. **क्लो. टेट्रास्टेकिया** हेकल) ग्रपेक्षाकृत शुष्क क्षेत्रों में पैदा होने वाली एक बहुवर्षी घास है जो उत्तर-पश्चिमी, केन्द्रीय तथा दक्षिणी भारत में सर्वत्र पाई जाती है. उत्तर-पश्चिमी भारत के क्षारीय-भूखण्डों में प्रायः यही एकमात्र वनस्पति उत्पन्न होती देखी गई है. यह एक पौष्टिक चारा मानी जाती है (Burkill, I, 529).

C. tenella Koenig ex Roxb.; *C. virgata* Sw.; *C. tetrastachya* Hack.

क्लोरेंथस स्वार्ट्ज (क्लोरेंथेसी) CHLORANTHUS Sw.

ले. – क्लोरान्थूस
Fl. Br. Ind., V, 100.

यह बूटियों तथा झाड़ियों की लगभग 12 जातियों का वंश है जो दक्षिण-पूर्वी एशिया तथा मलाया में पाया जाता है. **क्लो. ग्लेवर** (थनवर्ग) मैकिनो सिन. **क्लो. ब्रेकाइस्टेकिस** ब्लूम तथा **क्लो. ग्रॉफिसिनैलिस** ब्लूम (इनमें से पहली, खासी पहाड़ियों तथा दक्षिण भारत में पाई जाती है तथा दूसरी, हिमालय के पूर्वी ग्रंचल में पाई जाती है) में उद्दीपक गुण वताए जाते हैं. जावा द्वीप में पेय वनाने के लिए **क्लो. ग्रॉफिसिनैलिस** की जड़ों तथा पत्तियों का प्रयोग चाय की तरह किया जाता है. इसकी

पीने से खूब पसीना आता है इसलिए ज्वर में इसका प्रयोग उपयोगी है (Kirt. & Basu, III, 2138; Burkill, I, 528). *Chloranthaceae*; *C. glaber* (Thunb.) Makino; *C. brachystachys* Blume; *C. officinalis* Blume.

क्लोरोज़ाइलन द कन्दोल (रूटैसी) CHLOROXYLON DC.

ले. – क्लोरोक्सिलोन

यह लकड़ी प्रदायक वृक्षों का एकल प्ररूपी वंश है जिसके मूल स्थान भारत और श्रीलंका हैं.
Rutaceae

क्लो. स्वीटेनिया द कन्दोल C. swietenia DC.
ईस्ट इंडियन सैटिन वुड

ले. – क्लो. स्विएटेनिआ
D.E.P., II, 270; C.P., 294; Fl. Br. Ind., I, 569.

हिं. – भिर्रा, गिरया; म. और गु. – हल्दा, भेरिया, बिल्लू, हरदी; ते. – बिल्लू, बिल्लिडू; त. – पोरासू; क. – हुरुगलुमरा, मासि.

मध्य प्रदेश – बेहरा, गिरया; मैसूर – हुरागलू; श्रीलंका – बुरुटा, मुतिराई.



चित्र 001 – क्लोरोज़ाइलन स्वीटेनिया



चित्र 101 – क्लोरोज़ाइलन स्वीटेनिया की पुष्पित शाखा

यह मँझोले आकार का वृक्ष है जिसका तना कुछ छोटा और शिखर कुछ फैला हुआ होता है. यह भारतीय प्रायद्वीप के सूखे पर्णपाती वनों में आमतौर से मिलता है. श्रीलंका में भी पाया जाता है जहाँ इसका आकार बड़ा हो जाता है.

भारत में इस पौधे की खेती बड़े पैमाने पर नहीं की जाती है. देहरादून में किए गए परीक्षणों से प्रकट है कि प्रत्यक्ष बुवाई द्वारा और पौधों का रोपण करके, दोनों प्रकार से इसका प्रवर्धन किया जा सकता है. पौधों को आरम्भिक वर्षों में सीधी धूप से बचाने की आवश्यकता होती है, यद्यपि प्रौढ़ वृक्ष को बहुत अधिक प्रकाश चाहिए. इसमें पुनर्जीवन की बड़ी शक्ति होती है; इसकी जड़ों में से प्रायः कल्ले फूट आते हैं. यह उन क्षेत्रों में भी, जहाँ आग लगती रहती है या कटाई होती रहती है, जीवित रह सकता है. इसकी पत्तियों में एक तीखा तेल होता है जिसके कारण पशु इसे नहीं चरते. इसकी बढ़ने की गति कुछ मंद है; आरम्भिक वर्षों में इसका घेरा प्रति वर्ष औसतन 22·5 मिमी. बढ़ता है, पर बाद में यह वृद्धि 15 मिमी. से भी कम होती है (Troup, I, 200).

इसकी लकड़ी हल्की पीली से स्वर्णाभ-पीली, और बीच में गहरे रंग की होती है, परन्तु अंतःकाष्ठ स्पष्ट नहीं होता. यह सुगंधित, संकीर्ण अंतर्ग्रंथित दानों वाली, एक-सी और बारीक

गठन वाली होती है. चौकोर चिराई में इस पर सैटिन के समान चमक और रूपहला दाना निकलता है, और इसकी अरीय सतह पर धारीदार अथवा धब्बेदार आकृतियाँ होती हैं. इनके कारण यह भारतीय सजावटी लकड़ियों में स्थान पाती है. साथ ही यह मजबूत, कठोर और भारी होती है (वि.घ., 0·84; भार, 864–1,072 किग्रा./घमी.). इमारती लकड़ी के रूप में इसके आपेक्षिक उपयोगिता संबंधी अंक सागौन के उन्हीं गुणों के प्रतिशत के रूप में इस प्रकार हैं: भार, 155; कड़ी के रूप में सामर्थ्य, 110; कड़ी के रूप में दृढ़ता, 105; खम्भे के रूप में उपयोगिता, 115; प्रघात प्रतिरोधकता, 115; आकृति स्थिरण क्षमता, 70; अपरूपण, 180; कठोरता, 195 (Trotter, 1944, 242).

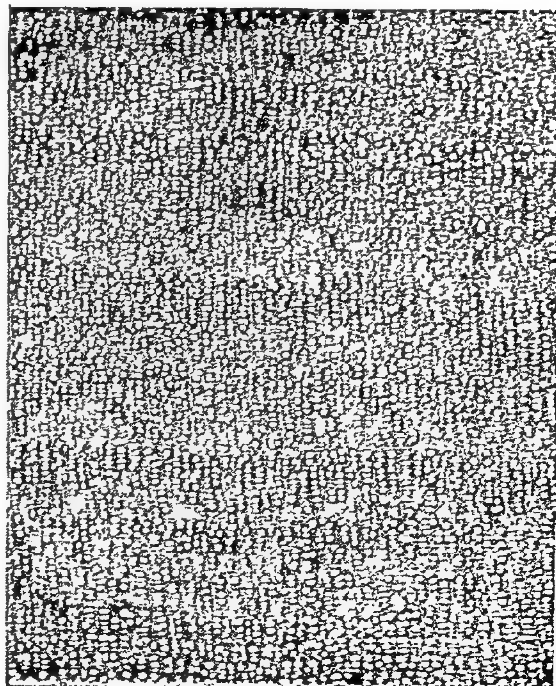
यह उच्च ताप-सह लकड़ी है और इसे सिझाने में विशेष सावधानी बरतनी पड़ती है. सतह के चटकने को कम करने के लिए चारों ओर मेखला बना देना चाहिए. तड़कने और ऐंठने को रोकने के लिए चिने हुए माल को समतल चट्टे में चिन कर रखा जाता है. लट्ठों को सुखाने से सतह पर दरारें पड़ जाती हैं. इस लकड़ी को चिराई के तुरंत बाद अत्यधिक तेजी से सूखने से बचाना चाहिए, और लट्ठों की चिराई वर्षा ऋतु में करनी चाहिए. इसे भट्टी में सुखाने के परीक्षण किए गए हैं. जब ताज़ी लकड़ी इस्तेमाल की जाती है तो इस क्रिया में काफी सफलता मिलती है. जल-सुखावन से लकड़ी का रंग गहरा पड़ जाता है (Pearson & Brown, I, 211).

यह लकड़ी टिकाऊ होती है. इस पर कीट और फफूंदी नहीं लगती. इसकी चिराई, विशेषतया सूखी अवस्था में, कठिन होती है. इसकी रंदाई भी ग्रथित दानों और ऐंठे हुए तन्तुओं के कारण उतनी ही कठिन है और इसके लिए उच्च गति वाले कर्तकों की आवश्यकता होती है. ब्रह्मा के सागौन की तुलना में इसकी चिराई की लागत 25% और रंदाई की 40% अधिक मानी गई है. यह अच्छी खरादी जा सकती है. इसकी सतह सुन्दर निकलती है और उस पर बढ़िया तथा टिकाऊ पालिश आती है. यह सभी प्रकार के फर्नीचरों के लिए इस्तेमाल की जा सकती है. यह इमारती लकड़ी के रूप में और तख्तेबंदी के लिए विशेष उपयोगी है. यह कृषि औजारों, रेल के स्लीपरों, खम्भों, गाड़ियों की धरनों, धुरों, अरों, पुलों, कूप-नालियों और बाबिनों के लिए इस्तेमाल की जाती है. यह अलमारियों, चित्रों के चौखटों, ब्रुश-पृष्ठों, नक्काशी और खराद के लिए बहुत पसन्द की जाती है. यह गणित के उपकरणों, स्टैथस्कोपों, और रेल के ऊँचे दर्जे के डिब्बों की तख्तावंदी के लिए भी उपयोग में लाई जाती है. इस वृक्ष की छोटी शाखाएँ जलाने के काम आती हैं (कैलोरी मान, 4,539 कै.; 8,172 ब्रि. थ. इ.) (Pearson & Brown, loc. cit.; Limaye, *Indian For. Rec.*, *N.S.*, *Util.*, 1943, 1A, 18; Krishna & Ramaswami, *Indian For. Bull.*, *N.S.*, No. 79, 1932, 15).

ईस्ट इंडियन सैटिन वुड की ब्रिटेन और अमेरिका में माँग है. वहाँ यह अलमारियों और ब्रुश-पृष्ठों के लिए इस्तेमाल की जाती है. कभी-कभी दक्षिण भारत और बंगाल से इस लकड़ी का निर्यात होता है किन्तु श्रीलंका इसकी अधिकांश माँग पूरी करता है. कहा जाता है कि सुन्दर चिह्नों से युक्त पुष्पित सैटिन वुड 70–90 पाउंड प्रति घमी. पर बिकती है (Howard, 532; Macmillan, 216).

कभी-कभी ईस्ट इंडियन सैटिन वुड के कारण आरा-घरों के कर्मियों की त्वचा पर छाले पड़ जाते हैं. लकड़ी के रासायनिक परीक्षण से ज्ञात होता है कि उसमें कैल्सियम ऑक्सैलेट की काफी मात्रा, दो रेज़िन (एक अक्रिस्टलीय और एक क्रिस्टलीय), एक पीताभ भूरा स्थिर तेल (वि.घ., 0·965) और एक ऐल्कलायड, क्लोरोज़ाइलोनीन [$C_{18}H_{11}O_3N\ (OCH_3)_4$ ग.बि., 182–83°] रहता है. इन रचकों के भेषजीय प्रभाव के अध्ययन से ज्ञात हुआ है कि क्लोरोज़ाइलोनीन एक शक्तिशाली और क्रिस्टलीय रेज़िन एक मंद क्षोभक है. अक्रिस्टलीय रेज़िन और स्थिर तेल निष्क्रिय हैं पर जिन कर्मियों को क्लोरोज़ाइलोनीन से एक बार त्वचा-शोथ हो जाता है उनके लिए सभी रचक क्षोभक हो जाते हैं (Auld, *J. chem. Soc.*, 1909, 95, 965T; *Bull. imp. Inst.*, *Lond.*, 1909, 7, 93; ibid., 1911, 9, 351).

सैटिन वुड के विभिन्न नमूनों में क्लोरोज़ाइलोनीन की मात्रा अलग-अलग होती है. जिन नमूनों की परीक्षा की गई थी, उनमें से 50% में इस ऐल्कलायड की केवल लेशमात्रा पायी गयी और शेष में यह 0·013–0·07% तक था. इससे इस बात की व्याख्या हो जाती है कि सैटिन वुड के कर्मियों में त्वचाशोथ हमेशा न होकर, कभी-कभी ही क्यों होता है. यह सुझाया गया है कि आरा-घरों में पंखों का उपयोग किया जाए



चित्र 102 – क्लोरोज़ाइलन स्वीटेनिया – काष्ठ की अनुप्रस्थ काट (×10)

जिससे इसका बुरादा कर्मियो के हाथो और चेहरो के सम्पर्क मे न आए वल्कि दूर उड़ जाए (*Bull. imp. Inst., Lond.*, 1911, loc. cit.).

सैटिन वुड की धूप मे सूखी छाल से एक ऐल्कलायड, स्किमियानीन, जिसकी पहचान क्लोरोजाइलोनीन के रूप मे हुई हे और एक अक्षारकीय कडवा क्रिस्टलीय रचक (ग.वि., 186°) पृथक् किए गए हैं. वीजो से 16% एक पतला हल्का पीला, न सूखने वाला तेल मिलता हे जिसके लक्षण हैं: वि.घ.$^{30°}$, 0·909; $n_D^{30°}$, 1·473; अम्ल मान, 9·0; सावु. मान, 164; ऐसीटिल मान, 0; आयो. मान, 84·3; आर. एम. मान, 0·1; और असावु. अंश, 0. इसके रचक वसा-अम्ल स्टीऐरिक, पामिटिक, मिरिस्टिक, ओलीक और लिनोलेनिक हैं (Mookerji & Bose, *J. Indian chem. Soc.*, 1946, **23**, 1, Rau & Simonsen, *Indian For. Rec.*, 1922, **9**, 97).

इस वृक्ष से एक रक्ताभ भूरा गोद और पीला रंग मिलता है. लकडी से एक वाष्पशील तेल प्राप्त होता हे. छाल मे 17% टैनिन होता हे (Krishna & Badhwar, *J. sci. industr. Res.*, 1948, **7**, suppl., 129, Badhwar *et al.*, *Indian For. Leafl.*, No. 72, 1944, 7).

इसकी छाल कषाय होती है. पत्तियाँ घावो पर लगाई जाती हैं और आमवात मे दी जाती है (Kirt. & Basu, I, 564).

क्लोरोफाइटम केर-गालर **(लिलिएसी)**
CHLOROPHYTUM Ker-Gawl.

ले. – क्लोरोफिटूम
D.E.P., II, 269, Fl. Br. Ind., VI, 333.

यह वश लगभग 175 जातियो की प्रकदीय वूटियो का हे जो विश्व के उष्णकटिवंधी क्षेत्रो मे पाई जाती हैं और अपने शोभाकारी फूलो के लिए उगाई जाती हैं. पूर्व हिमालय, विहार और असम मे पाई जाने वाली **क्लो. अरुण्डिनेसियम** वेकर (हि. – सफेद मूसली) जाति की जडे टॉनिक की भाँति प्रयुक्त की जाती हैं. **क्लो. ट्यूबेरोसम** वेकर मध्य भारत और दक्षिण प्रायद्वीप मे उगती हे. इसकी जडे खाई जाती है (Chopra, 474; Shiv Nath Rai, 17).
Liliaceae, *C. arundinaceum* Baker; *C. tuberosum* Baker

क्लोरोफोरा गाडिशो **(मोरेसी)** CHLOROPHORA Gaudich.

ले. – क्लोरोफोरा

यह वृक्षो की 5 जातियो का वंश है जो अमेरिका तथा अफ्रीका महाद्वीप के उष्णकटिवंधीय भूखंडो मे पाया जाता हे.
Moraceae

क्लो. एक्सेल्सा वेंथम और हुकर पुत्र C. excelsa Benth. & Hook. f.
इरोको

ले. – क्लो. एक्सेल्सा
Sharma, *Indian For.*, 1944, **70**, 80.

यह एक पर्णपाती विशाल वृक्ष हे जिसकी ऊँचाई 30–48 मी. और तना वेलनाकार, 15–24 मी. तक साफ होता हे. इसे कुछ ही समय पहले भारत मे प्रविष्ट किया गया है और वंगाल, तमिलनाडु, महाराष्ट्र तथा अडमान द्वीप समूह मे वहुतायत से उगाया जाता हे.

इरोको गहरी आर्द्रतायुक्त मिट्टी मे वढता है. ऊँचे ढलानो पर स्थित घास के मैदानो मे इसका प्राकृतिक पुनरुद्भवन काफी सफल रहता है. इसे प्रकाश की अत्यन्त आवश्यकता होती है किन्तु यदि पहले वर्ष इसके ऊपर छाया रहे तो अच्छा होता हे. वीजो को उगा कर तैयार की गई एक वर्ष की पौधो को रोपकर तथा ठूँठो को रोपकर कृत्रिम पुनरुद्भवन करना प्राकृतिक पुनरुद्भवन से अधिक सफल होता हे. वीजो की प्रतिशत अकुरण क्षमता मद्रास मे अधिक वतायी गयी है. लेकिन यह देहरादून मे अत्यन्त कम है शायद इसका कारण वहाँ पडने वाली कडाके की सर्दी है जिसके कारण छोटी-छोटी पौधे मर जाती है. दो साल के ठूठो को लगाना श्रेयस्कर हे. चीतल, साँभर, अरने तथा हाथी इस वृक्ष की कोपलो को वडे चाव से खाते हैं इसलिए इन वन्य पशुओ से इस वृक्ष की रक्षा करने मे अत्यन्त कठिनाई होती हे. वृक्ष की जाति वनरोपण के लिए भी उपयोगी है (Uppin, *Indian For.*, 1944, **70**, 356, Dalziel, 275).

इसकी लकडी का रंग हल्के भूरे से गहरा भूरा होता हे जो धूप मे रखने पर उड जाता हे. यह कठोर तथा किंचित भारी होती हे (भार, 640–720 किग्रा./घमी.). लकडी मे प्रचुर अन्तर्ग्रथन तथा ढालू दाने होने से उसमे अनुदैर्घ्य सकुचन, ऐंठन तथा भुकाव आ जाने की सम्भावना अधिक रहती हे इसलिए यह खुले हुए निर्माण कार्यो के लिए अनुपयुक्त हे.

यह दीमक, काष्ठनाशक घुन तथा कवक के आक्रमण और अग्नि से जलने तथा पानी मे सडने की क्रिया का प्रचुर प्रतिरोध कर सकती है. इसे सरलता से सवारा जा सकता है, यह खरादी जा सकती हैं और इसमे भली-भाँति कीले गड सकती हैं. इस पर चमकदार पालिश चढ सकती हे (Tippo & Spackman Jr., *Trop. Woods*, 1946, No. 87, 1).

यह लकडी अफ्रीका मे अत्यन्त मूल्यवान मानी जाती है और काफी मात्रा मे यूरोप को निर्यात की जाती हे. इससे गाडियो के भारी पहिए, तोप गाडियाँ, गोल्फ क्लवो के सिरे, खिड़कियो की चौखटे, दरवाजे, फलक, फर्शपटल, फर्नीचर तथा लकडी के पीपे वनाए जाते हैं रेलवे के स्लीपर तथा डिब्बे वनाने के लिए यह लकड़ी सर्वोत्तम समझी जाती है. लकडी के तरत, धुलाई के पात्र, चावल कूटने की ओखली-मूसल, डोंगियाँ आदि वनाने के लिए भी उपयोगी हे (Dalziel, loc. cit.; Howard, 260).

इरोको का फल खाद्य वताया जाता हे. इसका रस सुरस वनाने के लिए प्रयोग मे लाया जाता है. इसकी छाल चमड़ा तथा कपडा रँगने के काम लाई जाती है (Dalziel, loc. cit.).

इसके पेड से प्राप्त क्षीर (दूध) को रवड मे मिलाया जाता हे. इस क्षीर के स्कद मे 0·9% कूचुक, 77·5% रेजिन, और 21·6% अविलेय पदार्थ होता हे. वृक्ष के तने मे चूनामय नग्रयन ($CaCO_3$ 70–94%) पाया जाता है. लकडी मे से एक अक्रिस्टलीय फीनाल, क्लोरोफोरिन [$C_{25}H_{30}O_4$; ग.वि., 157–59°], जो शायद एक स्टिलवीन व्युत्पन्न है, 2–8% निकाला

गया है (Budhiraja & Beri, *Indian For. Leafl.*, No. 70, 1944, 6; *Chem. Abstr.*, 1934, 28, 6759; *Nature*, 1949, 163, 564).

इस पेड़ का दूधिया रस दाहक होता है जो दाद-खाज आदि मे प्रयुक्त किया जाता है. अफ्रीका मे इसकी छाल सूजन पर लगाये जाने वाले मरहमों का रचक होती है.

क्लो. टिंक्टोरिया (लिनिअस) गाडिशो से पीली रंजक लकड़ी प्राप्त होती है जिसका व्यापारिक नाम 'फस्टिक' है.
C. tinctoria (Linn.) Gaudich.

क्लोवर – देखिए **ट्राइफोलियम (परिशिष्ट – भारत की सम्पदा)**

क्लोवर, येलो – देखिए **मेडिकागो**

क्लोवर, स्वीट (बोखारा) – देखिए **मेलीलोटस**

क्लोव सॅटेड क्रीपर – देखिए **रीविया**

क्वरकस लिनिअस (फैगासी) QUERCUS Linn.

ले. – कुएरकूस

यह सदाहरित और पर्णपाती वृक्षों और झाडियो का एक विशाल वंश है जो उत्तरी गोलार्द्ध के शीतोष्ण कटिबन्धीय क्षेत्रो मे और अमेरिका एव एशिया के उपोष्ण और उष्णकटिबन्धीय ऊँचे क्षेत्रों तक पाया जाता है. भारत के हिमालय प्रदेश मे लगभग 23 जातियाँ पाई जाती है जिनमे अधिकांश सदाहरित रहती है.

भारतीय शाहबलूत आर्थिक और वन विज्ञान दोनो ही दृष्टि से महत्वपूर्ण है. इनसे मुख्यतः इमारती लकडी और ईंधन प्राप्त होता है. कई जातियों की छाल मे प्रचुर मात्रा मे टैनिन रहता है. इनकी पत्तियो और गुटिकाओं मे भी टैनिन रहता है किन्तु इनका औद्योगिक उपयोग नही हो पाया है. इनमे से कुछ जातियाँ कतिपय महत्वपूर्ण शंकुवृक्षो के सम्वर्धकों और साथियो के रूप मे सम्बद्ध है जो वन विज्ञान की दृष्टि से विशेष महत्वपूर्ण है [Troup, III, 914; Edwards *et al.*, *Indian For. Rec., N.S. Chem. & Minor For. Prod.*, 1952, 1(2), 145].
Fagaceae

क्व. इंकाना रॉक्सबर्ग Q. incana Roxb.

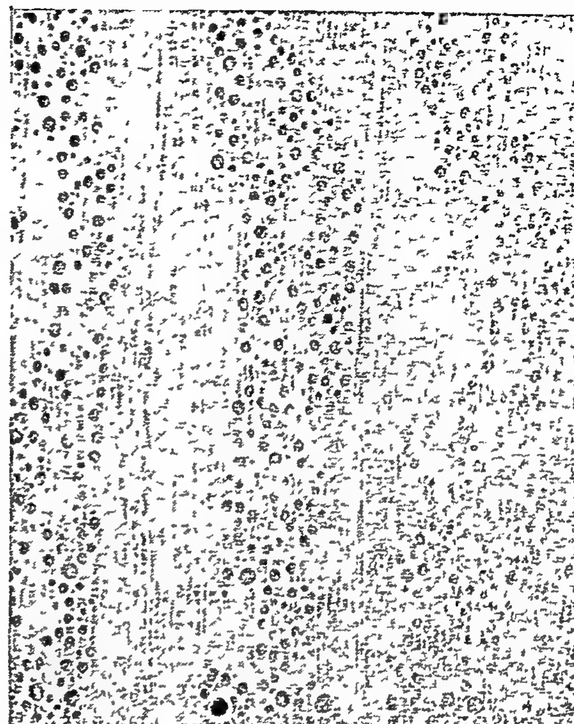
बान शाहबलूत, धूसर शाहबलूत

ले. – कु. इंकाना

D.E.P., VI(1), 382; C.P., 911; Fl. Br. Ind., V, 603; Troup, III, Fig. 339–43.

कश्मीर – सिला मुपाडी, इरी, शिहर; पंजाब – रिन, रिज, बारी, शिन्दर; कुमायू – बान, वंग; जौनसार – इनाई, बानी; गढ़वाल – फनत.

कश्मीर और पश्चिमी हिमालय के क्षेत्रो में नेपाल तक, 1,000–2,400 मी. की ऊँचाई तक और कभी-कभी नीचे की ओर कांगडा और कुल्लू के नम क्षेत्रों मे भी पाया जाने वाला मध्यम से वृहत् आकार का यह सदाहरित वृक्ष 25 मी. ऊँचा और 3 मी. घेरे का होता है. छाल धूसर से धूमर भूरी, प्रारम्भिक अवस्था मे रजत श्वेत गोल छिलको मे निकलने वाली; पत्तियाँ आयताकार या अंडाकार, नुकीली, पृष्ठ गुच्छेदार; नर स्पाइक सघन, रोमिल, गुच्छित; मादा पुष्प सामान्यतः वृन्तहीन, वंजफल अकेले या जोडे मे; काष्ठ फल अंडाकार, भूरा जिसके शीर्ष के समीप धूसर रोयें होते हैं.



चित्र 103 – क्वरकस इंकाना – काष्ठ की अनुप्रस्थ काट (×10)

क्व. इंकाना सामूहिक वृक्ष है. कभी-कभी काफी बड़े क्षेत्र मे केवल इसी वृक्ष के वन पाये जाते है. **रोडोडेंड्रान आर्बोरियम, सिड्रस देओदारा, पाइनस वालिशियाना** और **पा. रॉक्सबर्गाई** सामान्यतः इसके साथ-साथ पाये जाते है. यह अनेक प्रकार की भूगर्भीय संरचनाओं पर यहाँ तक कि अभ्रक युक्त रेतीली भूमि पर भी उगता है. ठंडी उत्तरी स्थितियो मे गहरी नम मिट्टी में यह सबसे अधिक ऊँचाई प्राप्त कर लेता है. यह अत्यन्त शुष्क ढालों पर भी उगता है किन्तु ऐसी परिस्थितियो मे यह गठीला और बौना रह जाता है जबकि नम घाटियों मे यह सीधा और लम्बा होता है. इसके लिए स्वाभाविक जलवायु समशीतोष्ण है जहाँ छाया मे ताप कभी ही 35° से अधिक बढता हो और वर्षा 100–230 सेंमी. तक होती हो. यह भीतरी शुष्क घाटियों में नहीं पनपता (Troup, III, 915; Bor, 120).

इसका प्राकृतिक प्रवर्धन बीजों से होता है. बीज बड़ी मात्रा में उत्पन्न होते हैं किन्तु पकने के पूर्व ही पशु और पक्षी इन्हें अत्यन्त रुचि से खा जाते हैं. यदि वृक्षों के नीचे की मिट्टी खोदी न जाए जिससे बंजुफल मिट्टी से ढककर छिप जायें तो इस वृक्ष की अतिजीविता कठिन है. बीज बो कर या फिर पौधे लगाकर इसकी खेती की जाती है. पौध का विकास मन्द होता है और पहले कुछ वर्षों में पौधा पर्याप्त मात्रा में छाया में रह लेता है. इसके पश्चात् पूर्ण विकास के लिए पौधे को पूरा प्रकाश चाहिए. लगभग एक मीटर के घेर में यह भली-भाँति फैलता है. चरे जाने पर या बार-बार चारे के लिए काटे जाने पर इसे हानि पहुँचती है. लोरेंथस और विस्कम जातियाँ तथा बहुत से अन्य गलनकारी फफूँदों से यह प्रभावित होता है. बहुत से वेधक तथा अन्य कीट-लारवे लकड़ी और बंजुफल को काट डालते हैं या पत्तियों को विकृत कर देते हैं [Troup, III, 919–20; Chaturvedi, *Indian Fmg*, *N.S.*, 1957–58, 7(9), 12; Seth, *Bull. For. Dep., Uttar Pradesh*, No. 26, 1957; Bagchee & Ujagar Singh, *Indian For. Rec., N.S., Mycol.*, 1954, 1, 291; Mathur & Balwant Singh, *Indian For. Bull., N.S.*, No. 171(7), 1959, 96].

काष्ठ हल्का, गेरुये से हल्के धूसर भूरे रंग का, दानों के साथ गहरी धारियों वाला, सीधे या कुछ लहरिया दानेदार, मध्यम उत्तम किन्तु असमान गठन का, अति कठोर, मध्यम दृढ़ और मध्यम से भारी (आ.घ., 0·74; भार, 750 किग्रा./घमी.) होता है. लकड़ी उपड़ या ऐंठ सकती है और इसे उपचारित करना कठिन है. ढके रहने पर लकड़ी सामान्यत: टिकाऊ है किन्तु बड़े कीड़े इसमें छेद कर देते हैं. सूख जाने पर इसे सरलता से चीरा जा सकता है. चीरी जाने पर चिकना तल निकल आता है और इस पर पालिश भी अच्छी चढ़ती है (Pearson & Brown, II, 990).

लकड़ी प्राय: इमारतों के लिए और खेती के औजारों के लिए काम में लाई जाती है. यह औजारों के बेंट बनाने के लिये उपयोगी है. इसका अधिक उपयोग ईंधन के लिए लकड़ी (कैलोरी मान: रसकाष्ठ, 4,633 कै., 8,339 ब्रि. थ. इ.; अन्त:काष्ठ, 4,566 कै., 8,221 ब्रि. थ. इ.) और कोयले के रूप में होता है. लकड़ी की लुगदी को रेशे रहित करके उच्च कोटि के मजबूत और जल निरोधक हार्डबोर्ड बनाये जा सकते हैं (Pearson & Brown, II, 991; Gamble, 676; *Indian For.*, 1952, 78, 369; 1948, 74, 280; Krishna & Ramaswami, *Indian For. Bull., N.S.*, No. 79, 1932, 22; Narayanamurti & Kultar Singh, *Curr. Sci.*, 1962, 31, 97; *Chem. Abstr.*, 1954, 48, 368).

छाल का उपयोग चर्मशोधन के लिए बड़ी मात्रा में होता है. इसमें 6–23% टैनिन होता है. छाल के एक नमूने में 16% टैनिन और 8% अटैनिन द्रव्य प्राप्त हुए. देखा गया कि इसके निष्कर्ष (टैनिन, 85·4%) से शोधित चर्म का रंग हल्के बिस्कुट के रंग का हो गया. यह रंग बबूल से प्राप्त रंग से अच्छा था और चटखता भी नहीं था. तने की छाल में फ्रीडेलिन होता है जो एक अन-पहचाना हुआ ट्राइटर्पेनाइड है. इसके अतिरिक्त इसमें बीटा-साइटोस्टेरॉल, और ल्यूको-ऐंथोसायनिडिनों का एक मिश्रण (जिसमें ल्यूकोपेलार्गोनिडिन भी रहता है) भी पाया जाता है. काष्ठ में 4–5% टैनिन रहता है [Edwards *et al.*, *Indian For. Rec., N.S., Chem. & Minor For. Prod.*, 1952, 1(2), 145; Santhanam & Barat, *Bull. cent. Leath. Res. Inst. Madras*, 1960–61, 1, 20; Kalra *et al.*, *Curr. Sci.*, 1966, 35, 204].

पहाड़ों में पत्तियाँ पशुओं के लिए चारे के काम आती हैं. शुष्क पदार्थ के आधार पर इनमें अपरिष्कृत प्रोटीन, 9·56; ईथर निष्कर्ष, 4·8; तन्तु, 31·3; नाइट्रोजन रहित निष्कर्ष, 48·4; कुल राख, 5·2; कैल्सियम, 0·99; और फॉस्फोरस, 0·15% पाया जाता है. पत्तियों में सुपाच्य पोषक तत्व इस प्रकार हैं: कुल पोषक तत्व, 43·8; प्रोटीन, 5·8; कार्बोहाइड्रेट, 34·8; और ईथर निष्कर्ष, 1·4%; और पोषक अनुपात, 6·6. पत्तियों से दो फ्लैवोनाइड, क्वर्सेटिन और एक क्वर्सेटिन-3-डाइसैकेराइड (जिनमें पहचानी गई शर्कराओं में गैलैक्टोस और ऐरैबिनोस हैं) पृथक् किये गए हैं (Lander, 280; Sen, *Bull. Indian Coun. agric. Res.*, No. 25, 1964, 66–67; 114–15; Kalra *et al.*, loc. cit.).

देशी औषधियों में बंजुफल मूत्रक, सूजाक की औषध के रूप में और अतिसार (वह भी विशेषकर बच्चों के लिये) स्तम्भक के रूप में व्यवहृत होते हैं. इन्हें कुछ काल तक भूमि में गाड़ दिया जाता है जिससे वे अंखुये निकलने से टैनिन और तत्संबंधित द्रव्यों से मुक्त हो जायें. इनमें स्टार्च की मात्रा पर्याप्त होती है (सूखे पदार्थ में 65%). किन्तु ये मनुष्यों के खाने योग्य नहीं हैं क्योंकि इनमें टैनिन की मात्रा (6%) अधिक है. गर्म जल से बार-बार निष्कर्षित करके, फिर चूने के पानी और पोटैसियम परमैंगनेट से अभिकृत करके भोजन के उपयुक्त आटा प्राप्त किया जा सकता है जिसमें लगभग 76% स्टार्च होता है.

बंजुफल में 81% गिरी का अंश रहता है. गिरी को पेट्रोलियम ईथर से निष्कर्षित करने से 16% एक पतला पीले रंग का वसीय तेल प्राप्त हुआ जिसमें निम्न विशेषताएँ हैं: आ.घ.$^{25°}$, 0·9081; $n^{30°}$, 1·4576; आयो. मान (हैनस), 81·5; साबु. मान, 19·2; अम्ल मान, 13·0; ऐसीटिल मान, 14·8; हेनर मान, 96·1; और असाबु. पदार्थ, 0·8%. तेल के घटक वसा-अम्ल हैं: पामिटिक, 17·1; लिग्नोसेरिक, 0·9; और ओलीक, 82·0% (Kirt. & Basu, *III*, 2358; Lander, 280; *For. Res. India*, 1952–53, pt I, 114; 1953–54, pt I, 70; Puntambekar & Krishna, *J. Indian chem. Soc.*, 1934, 11, 721; Puntambekar & Varma, *Indian For.*, 1934, 60, 752).

ईरान और ईराक में पौधे से एक मीठा स्राव प्राप्त करते हैं जिसे ओक मन्ना कहते हैं. इसका उपयोग मिठाई बनाने में किया जाता है (Harrison, *Kew Bull.*, 1950, 407).

क्व. इनफेक्टोरिया ओलीवियर Q. infectoria Olivier
माजूफल, डायर्स गाल्डवलूत

ले.—कु. इनफेक्टोरिया

D.E.P., VI(1), 383; C.P., 911; Howes, 1953, 256, Pl. XVI, Figs. 1 & 2.

हि. – माजूफल, माजू, मुफल; बं. – माजूफल; त. – मचाकाई; क. – माचीकाई; मल. – माजाकानी.

यह लगभग 2–5 मी. ऊँची झाड़ी या वृक्ष है जो यूनान, एशिया माइनर, सीरिया और ईरान का मूलवासी है. पत्तियाँ 4–6 सेंमी. लम्बी, अत्यन्त अनम्य, सामान्यतः कंटीली दंतुर, निर्लोम और वंजुफल, बेलनाकार होते हैं.

इस पेड़ से माजूफल प्राप्त होते हैं जिनका प्रयोग रँगाई और चर्मशोधन में प्रचुर मात्रा में किया जाता है. वे फल जो नवीन शाखाओं पर अपवृद्धि के रूप में प्राप्त होते हैं, हाइमेनॉप्टेरीय कीड़ों, एडलेरिया गाली टिंक्टोरिई ओलीवियर, द्वारा अंडे दिये जाने पर उत्पन्न होते हैं. मादा मक्खी नवीन अंकुर के केम्बियम या उसके अंदर अंडे देती है. अंडे से लारवा बनता है जिसके चारों ओर विकसित होने वाले फल के ऊतक फैल जाते हैं. कीट के बाहर निकलने के पूर्व ही फल एकत्र करके भली-भाँति सुखा लिए जाते हैं. ये गोल या नासपाती-जैसे, 6–50 मिमी. व्यास के होते हैं. पूर्ण विकसित सूखे माजूफल की सतह ऐसी चिकनी और चमकीली और लाल-भूरे रंग की होती है मानो उस पर तुरन्त वार्निश की गई हो, किन्तु साधारणतः तल खुरदुरा और रंग धूसर भूरा होता है. यदि फलों को ठीक समय पर अर्थात् कीटयुक्त होने के पूर्व एकत्र कर लिया जाता है तो आन्तरिक ऊतक मृदु, गहरे हरे-पीले रंग का, अत्यन्त कसैले स्वाद का होता है जो बाद में मीठा लगने लगता है (Howes, 1953, 258).

इस पौधे के तथा अन्य तत्सम्बन्धित जातियों के फल भारत तथा अन्य देशों में भी आयात किये जाते हैं. इनके व्यावसायिक नाम अलेप्पो माजूफल, मक्का माजूफल, तुर्की माजूफल, लेवान्त माजफल, स्मरना माजूफल, सीरियाई माजूफल इत्यादि हैं. वे आकार, रंग और रूप में भिन्न होते हैं. एशिया माइनर के माजूफल, विशेष रूप से अलेप्पो (हालेब) माजूफल कहलाते हैं. सर्वाधिक टैनिन अंश के कारण ये सामान्य रूप से सर्वश्रेष्ठ गुणधर्म वाले माने जाते हैं. पूर्वी यूरोप से प्राप्त होने वाले माजूफल नोपर या वंजुफल माजूफल कहे जाते हैं और मुख्यतः क्व. रोबर और अन्य जातियों से प्राप्त होते हैं. ये देखने में अलेप्पो या तुर्की माजूफलों से बिल्कुल भिन्न होते हैं. बसरा माजूफल, जो ईराक में दजला या फरात नदी के ऊपरी घुमावों पर एकत्र किये जाते हैं सामान्यतः बम्बई बंदरगाह पर उतारे जाते हैं. वे कभी-कभी बम्बइया या भारतीय माजूफल के नाम से पुनः निर्यात कर दिये जाते हैं. कुमायूँ, गढ़वाल और बिजनौर के जंगलों से प्राप्त होने वाले कुछ देशी माजूफल भी भारत में पाये जाते हैं.

माजूफल में प्रमुख तत्व टैनिक अम्ल (गैलोटैनिक अम्ल, 50–70%) है. इसमें गैलिक अम्ल, इलैगिक अम्ल, गोंद, स्टार्च, शर्करा और सुगंध तैल भी रहता है (Thorpe, V, 425).

माजूफल का बाह्य उपयोग उसके कषाय प्रभाव के कारण होता है. बवासीर में मरहम की तरह और प्लास्टर में भी इसे काम में लाते हैं. माजूफल से निष्कर्षित टैनिक और गैलिक अम्ल पेचिश एवं अतिसार में और गरारा करने के लिए व्यवहृत होते हैं. माजूफल का उपयोग चर्मशोधन, रंजन, रंगस्थापन तथा स्याही निर्माण में बड़ी मात्रा में होता है (Burkill, II, 1850; U.S.D., 1955, 1772; B.P.C., 1963, 327; Steinmetz, I, 224; Hill, 125; Hoppe, 753).

देश में माजूफल की थोड़ी-सी मात्रा, 18,000–70,000 किग्रा. प्रति वर्ष आयात की जाती है. निर्यात करने वाले प्रमुख देश ईरान, लेवानान और तुर्की हैं (सारणी 1). माजूफलों का थोड़ा निर्यात भी होता है (सारणी 2). इनमें से कुछ भाग विदेशों से प्राप्त करके फिर बाहर भेजा जाता है और कुछ इस देश में प्राप्त होने वाली क्वरकस जाति से प्राप्त फलों से निर्यात किया जाता है.

क्व. इलेक्स लिनिअस Q. ilex Linn.

होली या होम शाहबलूत

ले. – कु. इलेक्स

D.E.P., VI(1), 381; Fl. Br. Ind., V, 602; Troup, III, Fig. 360.

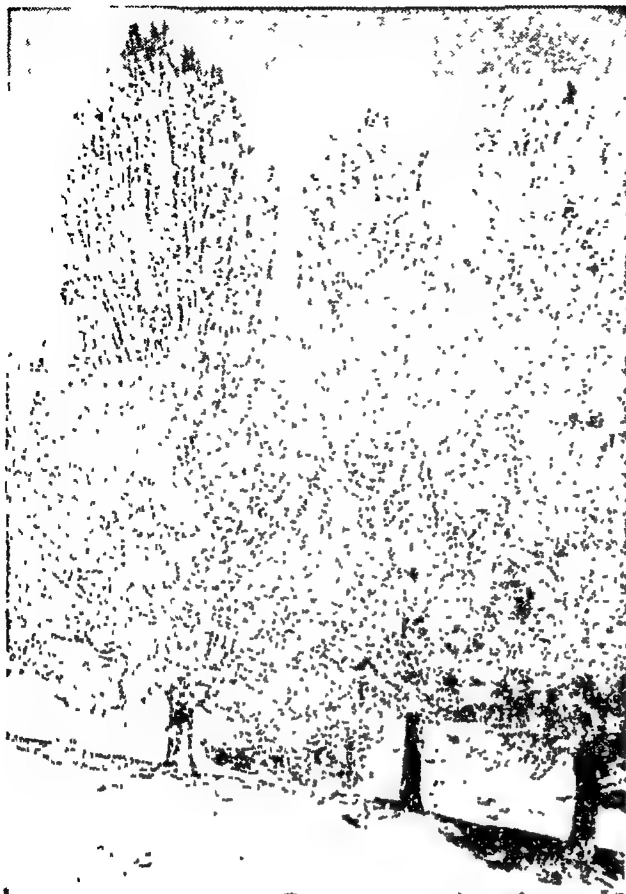
पंजाब – ब्रेचुर, इर्री.

यह 12 मी. तक ऊँची सदाहरित झाड़ी या वृक्ष है जो हिमालय के भीतर शुष्क क्षेत्रों में सतलज घाटी से पश्चिम की

सारणी 1 – भारत में माजूफल का आयात
(मात्रा : किग्रा.; मूल्य : रु. में)

वर्ष	निर्यातक देश				कुल मात्रा	कुल मूल्य
	ईरान	लेवानान	तुर्की	अन्य		
1962–63	1,763	7,525	8,782	376	18,446	56,273
1963–64	29,793	5,210	9,975	100	45,078	2,07,672
1964–65	23,670	12,943	4,549	106	41,268	2,12,000
1965–66	40,141	..	..	..	40,141	1,88,981
1966–67*	67,758	..	..	3,813	71,571	3,75,204

*जून 1966 से मार्च 1967 की अवधि के आँकड़े.



चित्र 104 – क्वरकस डाइलैटेटा के वृक्ष

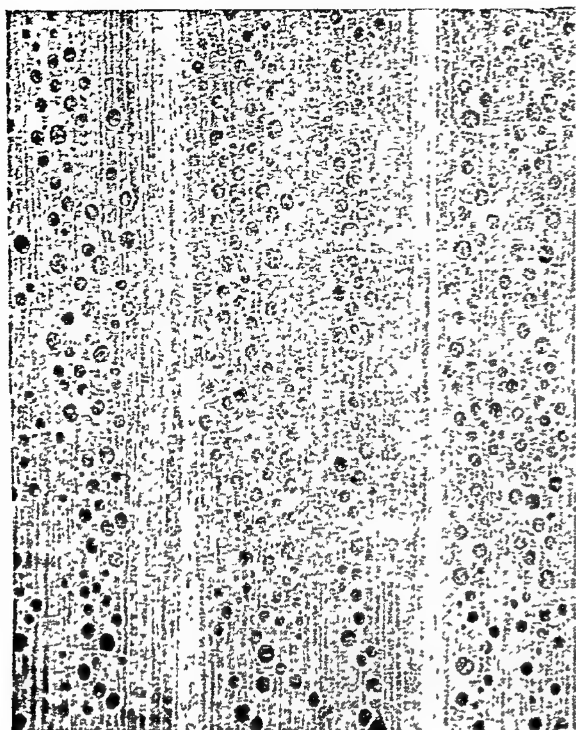
जाता है. यह गहरी, उपजाऊ, नम, किन्तु अच्छी जल-निकास वाली मिट्टियों में अधिकतम विकसित होता है. वर्षा ऋतु में अगस्त से अक्टूबर तक वृक्ष से गिरे बीजों से इसका स्वाभाविक प्रजनन होता है. कृत्रिम प्रवर्धन पके बीजों को बो कर या फिर स्वाभाविक परिस्थिति में दो वर्ष पुरानी पौध को रोप कर किया जाता है. बीजारोपण या पौध लगाने का काम नम दुमट मिट्टी मे, ठंडी परिस्थिति में 1·5 मी.×1·5 मी. का अन्तर देकर करना चाहिए. वृक्ष काटे जाने पर पुनः अंकुरण की सीमा अनिश्चित है और नवीन पौधों के नवांकुरों को बकरियों द्वारा चरे जाने की आशंका रहती है. पौधों का विकास यथेष्ठ तेजी से होता है. प्रारम्भ में पौधें सूखे और कीटों के आक्रमण के प्रति विशेष संवेदनशील होती हैं. वृक्ष पर फफूंद का भी बड़ा दुष्प्रभाव पड़ता है जिससे अनेक प्रकार का गलन उत्पन्न हो जाता है. अनेक लारवे लकड़ी को छेद डालते हैं [Troup, III, 923, 926; Gamble, 673; Bagchee & Ujagar Singh, *Indian For. Rec., N.S., Mycol.*, 1954, 1, 290; Mathur & Balwant Singh, *Indian For. Bull., N.S.*, No. 171(7), 1959, 94].

रसकाष्ठ धूसर, पतला; अन्तःकाष्ठ हल्के गेरुए से पीले, धूसर भूरे रंग की हल्की धारियों से युक्त, भारी (आ.घ., 0·91; भार, 910–960 किग्रा. प्रति घमी.), अत्यधिक कठोर, दृढ़ और प्रत्यास्थ, काफी सीधे-दानेदार, मध्यम बारीक किन्तु असमान गठन का होता है. लकड़ी विशेषतः उपचार के पश्चात् टिकाऊ होती है. तब कीटों और कवकों का इस पर कोई विशेष प्रभाव नही पड़ता. इसे सिझाना कठिन है. लकड़ी को चीरने और सँवारने में काफी कठिनाई होती है (Pearson & Brown, II, 987).

लकड़ी का उपयोग इमारती सामान, खेती के उपकरण, स्लीपर, कुल्हाड़ी के बेंट, बल्लियाँ, टहलने की छड़ियाँ, छातों की डंडी इत्यादि बनाने में होता है. भारी पहियों के अरे और काठ के पीपे बनाने के लिए शाहबलूत की जो लकड़ी आयात की जाती है उसके स्थान पर इसे प्रयुक्त किया जा सकता है. ईंधन के लिए इसकी लकड़ी उत्तम है (कैलोरी मान: रसकाष्ठ, 4,804 कै. या 8,656 ब्रि. थ. इ.; अन्तःकाष्ठ, 4,790 कै. या 8,624 ब्रि. थ. इ. इससे लकड़ी का कोयला भी बनाया जाता है (Pearson & Brown, II, 988; *For. Res. India*, 1947–48, pt I, 56; Krishna & Ramaswami, *Indian For. Bull., N.S.*, No. 79, 1932, 22).



चित्र 105 – क्वरकस डाइलैटेटा – पुष्पित और फलित शाखाएँ



चित्र 106 – क्वरकस डाइलैटेटा – काष्ठ की अनुप्रस्थ काट (×10)

इसकी पत्तियाँ और प्ररोह भेड़ों और बकरियों को चराने के लिए काटे जाते हैं. पत्तियों पर कीटों द्वारा उत्पन्न प्रस्फोट मीठे और खाद्य बताये जाते हैं. मुक्तेश्वर से प्राप्त पत्तियों के शुष्क पदार्थ का विश्लेषण करने पर जो परिणाम प्राप्त हुए वे इस प्रकार हैं: अपरिष्कृत प्रोटीन, 9·6; ईथर निष्कर्ष, 4·5; अपरिष्कृत रेशे, 29·1; नाइट्रोजन रहित निष्कर्ष, 51·7; कुल राख, 5·1; कैल्सियम, 1·61; और फॉस्फोरस, 0·3%. शुष्क पदार्थ के आधार पर पत्तियों के पचनीय पोषक तत्व इस प्रकार हैं: कुल पोषक तत्व, 43·2; प्रोटीन, 4·2; कार्बोहाइड्रेट, 38·5; और ईथर निष्कर्ष, 0·2%; पोषक अनुपात, 9·3. वंजुफल से नारंगी रंग का एक वसीय तेल निकला जिसके भौतिक-रासायनिक गुण इस प्रकार हैं: आ.घ.$^{25°}$, 0·9084; $n^{20°}$, 1·4588; साबु. मान, 188·4; अम्ल मान, 22·2; ऐसीटिल मान, 21·1; आयो. मान (हैनस), 90·3; हेनर मान, 88·2; और असाबु. पदार्थ, 2·3% (Jain, *Indian For.*, 1956, 82, 24; Lander, 280; Sen, *Bull. Indian Coun. agric. Res.*, No. 25, 1964, 66–67, 118–119; Puntambekar & Krishna, *J. Indian chem. Soc.*, 1934, 11, 721).

क्व. डाइलैटेटा की पत्तियों को चर्मशोधक पदार्थों के निर्माण में प्रयुक्त करने की संस्तुति की गई है. इसमें 9·8% टैनिन और 8·3% अटैनिन पदार्थ रहते हैं. छाल में 5·0% टैनिन और 9·6% अटैनिन पदार्थ होते हैं. क्व. इंकाना की तुलना में इसकी छाल में टैनिन की मात्रा कम रहती है (Tej Singh *et al.*, *Indian For.*, 1958, 84, 574; Sarin & Kapur, *Bull. reg. Res. Lab., Jammu*, 1963, 1, 137).

क्व. लामेलोसा स्मिथ Q. lamellosa Sm.

ले. – कु. लामेल्लोसा

D.E.P., VI(1), 384; C.P., 911; Fl. Br. Ind., V, 606; Troup, III, 945, Fig. 366.

नेपाल – शाल्शी, फरतसिंघली, बुजरत; लेपचा – बुक.

यह पूर्वी हिमालय में नेपाल से भूटान तक और असम तथा मणिपुर की नागा और डुफला पहाड़ियों पर, 1,500–2,700 मी. की ऊँचाई पर पाया जाने वाला एक विशाल सदाहरित वृक्ष है जिसकी ऊँचाई 30–35 मी., घेरा 6–9 मी. और साफ तना 9–12 मी. तक होता है. छाल धूसर भूरी, खुरदुरी; पत्तियाँ चौड़ी, आयताकार या दीर्घाकार भालाकार, दंतुर; नर स्पाइक एकाकी; मादा पुष्प एकाकी या छोटे स्पाइकों के रूप में; और वंजुफल डंठल रहित होते हैं. यह वृक्ष सामान्यतया मिले-जुले जंगलों में, 2,100–2,700 मी. तक की ऊँचाई तक दार्जिलिंग जिले में पाया जाता है. यह अप्रैल-मई में फूलता है और वंजुफल नवम्बर-दिसम्बर में दूसरे वर्ष पकते हैं. यह खूब फैलता है. इसकी जड़ों से अंकुर नहीं निकलते और प्राकृतिक अवस्था में रोपण अच्छा नहीं होता क्योंकि वंजुफलों की अधिकांश मात्रा पशु खा जाते हैं या कीड़े नष्ट कर देते हैं. कृत्रिम रोपण के लिए बीज बोना अच्छा रहता है. पौध की स्थिति के पश्चात् ऊपर से पूर्ण प्रकाश मिलने पर वृक्ष भली-भाँति विकसित होता है. यह वृक्ष पाले और सूखे को अच्छी तरह सह लेता है किन्तु इसे अग्नि-काण्ड से सदैव आशंका रहती है. इसकी गोलाई में प्रति वर्ष 1·2–2·0 सेंमी. की वृद्धि होती है. दार्जिलिंग के चाय-बागान क्षेत्रों में ईंधन के लिए इसकी खेती की गई किन्तु ठीक से प्रगति नहीं हो पाई. सूखी लकड़ी में अनेक भृंग और लारवे छेद कर देते हैं [Troup, III, 945–49; Gamble, 678; Macalpine, *Tocklai exp. Sta. Memor.*, No. 24, 1952, 97; Mathur & Balwant Singh, *Indian For. Bull., N.S.*, No. 171(7), 1959, 100].

लकड़ी हल्के गेरुये से धूसर भूरे रंग की, भारी से अति भारी (आ.घ., 0·95; भार, 689–961 किग्रा./घमी.), सीधे से कम या अधिक अनियमित, दानेदार, मध्यम रुखे से असमान गठन की होती है. इसके सिरों के फट जाने की संभावना रहती है. यह उच्चताप-सह लकड़ी है और केवल आंशिक रूप में उपचारित की जा सकती है. इसको हरी अवस्था में रूपान्तरित करने, चट्टे लगाने और मंद पकाई करने की सलाह दी जाती है. यदि इसे नमी और सीलन वाली परिस्थितियों में न रखा जाय तो यह टिकाऊ रहती है. इसे गढ़ना और चीरना आसान नहीं है और न हाथ के औजारों से ही इस पर सरलता से काम हो सकता है. लेकिन इस पर फिनिश बढ़िया आता है. इस लकड़ी के आपेक्षिक उपयुक्तता सम्बंधी मान सागौन के समान गुणों के प्रतिशत के रूप में इस प्रकार हैं: भार, 125;

कड़ी के रूप में सामर्थ्य, 105; कड़ी के रूप में दृढ़ता, 120; खम्भे के रूप में उपयुक्तता, 95; आघात प्रतिरोध क्षमता, 130; आकृति स्थिरण क्षमता, 45; अपरूपण, 145; और कठोरता, 140 (Pearson & Brown, II, 996; Limaye & Sen, *Indian For. Rec., N.S., Timb. Mech.*, 1953, 1, 96; Trotter, 1944, 254).

काष्ठ भारी निर्माण-कार्य के लिए इमारती लकड़ी के रूप में मान्य है और मकानों तथा पुलों के निर्माण में, खम्भों और कड़ियों के बनाने में काम में लाया जाता है. यह दरवाजों के लट्ठे, खिड़कियों की चौखटें और कड़ियाँ बनाने और विभिन्न कृषि औजारों तथा बैलगाड़ियों के पहिये बनाने के काम भी आता है. यह अच्छे किस्म का ईंधन भी है (कैलोरी मान: रसकाष्ठ, 5,150 कै., 9,270 ब्रि. थ. इ.; अन्तःकाष्ठ, 5,180 कै., 9,324 ब्रि. थ. इ.) (Pearson & Brown, II, 996; Gamble, 678; Krishna & Ramaswami, *Indian For. Bull., N.S.*, No. 79, 1932, 22).

इसकी छाल (टैनिन, 12·6%) चमड़ा कमाने के काम में आती है. छाल और बंजुफल स्तम्भक हैं और औषध में उपयोगी हैं [Edwards *et al.*, *Indian For. Rec., N.S., Chem. & Minor For. Prod.*, 1952, 1(2), 145; Hooper, *Agric. Ledger*, 1902, 55].

क्व. लिनियाटा ब्लूम Q. lineata Blume

ले.—कु. लिनेआटा
Fl. Br. Ind., V, 605.

नेपाल—फलट; लेपचा—सिरी.

यह एक छोटा अथवा मध्यम आकार का वृक्ष है जो पूर्वी हिमालय में 1,800–2,700 मी. की ऊँचाई पर तथा खासी और नागा पहाड़ियों में पाया जाता है. इसकी छाल मोटी, धूसर भूरी; पत्ते दीर्घवत् आयताकार अथवा अंडाकार-भालाकार; नर स्पाइक छोटी-छोटी पूलियों में; और मादा स्पाइक दूसरे वृक्षों पर होते हैं. बंजुफल एकाकी और वृन्तहीन होते हैं.

दार्जिलिंग पहाड़ियों का यह एक महत्वपूर्ण वृक्ष है जहाँ यह साधारणतया **क्व. लामेलोसा** के साथ उगता पाया जाता है. कीट और अन्य नाशकजीव इसके बंजुफलों पर आक्रमण करते हैं जिससे इसके प्राकृतिक प्रजनन पर बुरा प्रभाव पड़ता है. कृत्रिम रूप में इसे **क्व. लामेलोसा** की ही तरह प्रवर्धित किया जाता है. इसकी वृद्धि अपेक्षतया तेजी से होती है. पौधे और लकड़ी दोनों पर कुछ कवकों और कीटों का आक्रमण होता है [Gamble, 677; Troup, III, 949; Macalpine, *Tocklai exp. Sta. Memor.*, No. 24, 1952; Bagchee & Ujagar Singh, *Indian For. Rec., N.S., Mycol.*, 1954, 1, 292; Mathur & Balwant Singh, *Indian For. Bull., N.S.*, No. 171(7), 1959, 101].

इसका काष्ठ (भार, 865 किग्रा./घमी.) भूरा या धूसरपन लिए भूरा, अत्यन्त कठोर, उच्चताप-सह होता है और आंशिक रूप से ही उपचारित किया जा सकता है. कब्रगाहों में परीक्षणों से इसका औसत जीवन 6 वर्ष का पाया गया. लकड़ी के रूप में इसकी उपयुक्तता के आपेक्षिक मान सागौन के समान गुणों के प्रतिशत के रूप में इस प्रकार हैं: भार, 130; कड़ी के रूप में सामर्थ्य, 105; कड़ी के रूप में दृढ़ता, 120; खम्भे के रूप में उपयुक्तता, 105; आघात प्रतिरोध क्षमता, 115; आकृति स्थिरण क्षमता, 45; अपरूपण, 130; और कठोरता, 160 (Trotter, 1944, 13, 254–55; Gamble, 677; Purushottam *et al.*, *Indian For.*, 1953, 79, 49).

ईंधन लकड़ी के रूप में यह मध्यम अच्छी है (कैलोरी मान: रसकाष्ठ, 4,899 कै., 8,818 ब्रि. थ. इ.; अन्तःकाष्ठ, 5,183 कै., 9,330 ब्रि. थ. इ.). पत्तों में 9–11% और छाल में 15% टैनिन होता है [Krishna & Ramaswami, *Indian For. Bull., N.S.*, No. 79, 1932, 22; Edwards *et al.*, *Indian For. Rec., N.S., Chem. & Minor For. Prod.*, 1952, 1(2), 145].

क्व. लैनेटा स्मिथ सिन. क्व. लैनुगिनोसा डी. डान
Q. lanata Sm. — वुली ओक

ले.—कु. लानाटा
D.E.P., VI(1), 384; Fl. Br. Ind., V, 603.

नेपाल—बंगा; कुमायूँ—रंज, रायबंज; गढ़वाल—किम्रानी.

यह एक विशाल सदाहरित वृक्ष है जो लगभग 25 मी. ऊँचा होता है और कुमायूँ से लेकर पूर्व की ओर भूटान और उत्तर-पूर्व सीमान्त प्रदेश (नेफा) तक 1,200 से 2,400 मी. तक की ऊँचाइयों पर पाया जाता है. इसकी छाल धूसर या भूरी, खुरदुरी तथा अनियमित उपड़ने वाली होती है. नये प्ररोह रोएंदार होते हैं; पत्ते दीर्घवत् भालाकार या अंडाकार-भालाकार होते हैं; नर मंजरी (कैटकिन) घनी रोएँदार, मादा फूल एक ही पर्णवृन्त पर 2–5; बंजुफल वृन्तविहीन और 2–5 के गुच्छ में होते हैं.

यह वृक्ष अत्यन्त स्थानीय रूप से वितरित है लेकिन बहुधा छोटे-छोटे निगडा खंडों में पाया जाता है. यह **क्व. इंकाना, क्व. डाइलैटेटा, रोडोडेंड्रान आर्बोरियम, पाइनस रॉक्सबर्गाइ** इत्यादि के साथ में भी पाया जाता है. इसे प्रकाश की अधिक आवश्यकता होती है किन्तु **क्व. डाइलैटेटा** की तुलना में इसकी भूमि और अनावरण संबंधी माँग कुछ कम है. इससे अच्छे किल्ले निकलते हैं. सफल प्राकृतिक प्रजनन के लिए इसे **क्व. इंकाना** जैसी ही परिस्थितियाँ चाहिए. सीधे बो कर अथवा नर्सरी मे पौध लगाकर, इसका कृत्रिम प्रजनन भी सफलतापूर्वक किया जा सकता है (Troup, III, 935).

काष्ठ (भार, 850–930 किग्रा./घमी.) धूसर भूरे रंग का, अत्यन्त कठोर लेकिन ऐंठने और विपाटित होने की प्रवृत्ति रखता है. यह ईंधन का काम देता है. इसके पत्ते और नई टहनियाँ पशुओं के चारे के काम आती हैं (IS: 399–1952, 7).

Q. lanuginosa D. Don; *Rhododendron arboreum*; *Pinus roxburghii*

क्व. लैन्सियेफोलिया रॉक्सबर्ग सिन. कैस्टैनाप्सिस लैन्सियेफोलिया हिकेल और ए. कैमुस
Q. lanceaefolia Roxb.

ले.—कु. लांसिएफोलिआ
D.E.P., VI(1), 384; Fl. Br. Ind., V, 616.

नेपाल – पातले काटस; लेपचा – मिरी; असम – वकलाई; गारो – शिग्रा, चौको; खासी – डिंगस्लिन.

यह छोटा सदाहरित वृक्ष है जो सिक्किम और भूटान के अधोहिमालय प्रदेश मे, 1,500 मी. तक की ऊँचाई से लेकर असम, खासी पहाड़ियों और मणिपुर तक पाया जाता है. छाल धूसरपन लिए भूरी होती है जिसमें पास-पास दरारें होती हैं; पत्ते भालाकार या दीर्घवत् भालाकार; फूल अन्त में स्थित, बड़े और घने रोमिल पुष्प गुच्छों मे लगे स्पाइकों में होते हैं. लकड़ी (भार, 721–961 किग्रा./घमी.) धूसरपन लिए सफेद और कठोर होती है. असम में इसका उपयोग निर्माण कार्य में होता है. इसके वंजुफल पक्षी पकड़ने में चारे की तरह इस्तेमाल मे आते वतलाए जाते हैं. इसकी छाल मे 10–11%, पत्तो में 6–21%, और लकड़ी में 1–3% टैनिन होता है [Gamble, 681; Edwards *et al.*, *Indian For. Rec., N.S., Chem. & Minor For. Prod.*, 1952, 1(2), 145].

Castanopsis lanceaefolia Hickel et A. Camus

क्व. सुबर लिनिअस Q. suber Linn.

कार्क ओक (ओक)

ले.–कु. सूवेर

D.E.P., VI(1), 387; Fl. Europaea, I, 62.

यह मध्यम आकार का एक सदाहरित वृक्ष है जिसका तना अपेक्षतया कम लम्बा, शाखाएँ फैली हुई और शिखर एक-समान होता है. यह भूमध्य सागर के पश्चिमी तटवर्ती क्षेत्रों का मूलवासी है. छाल मोटी, गहरे खाँचों से युक्त, स्पंजी तथा प्रत्यास्थ होती है. पत्ते अंडाकार से अडाकार-दीर्घवत्, लहरदार, दंतुर, और उनकी सीमाएँ तरंगी और दंतुर; नर पुष्प धागे सदृश कैटकिनों के समूहों में और वजुफल अनेक आकार-प्रकार के होते हैं. कार्क अधिकाशतया जगली उगने वाले वृक्ष की छाल से प्राप्त किया जाता है. कार्क का उत्पादन करने वाले प्रमुख देश हैं : यूरोप के पुर्तगाल, स्पेन, फ्रांस और इटली देश; उत्तर अफ्रीका मे अल्जीरिया देश एवं मोरक्को और ट्यूनीशिया. अनुमान है कि इस भू-भाग मे कार्क के वनो का विस्तार लगभग 20,00,000 हेक्टर होगा जिससे औसत वार्षिक उपज लगभग 3,40,000 टन होगी. संसार की कुल उपज का 80% से भी अधिक कार्क पुर्तगाल (लगभग 50%), स्पेन (लगभग 22%), और अल्जीरिया (लगभग 12%) से आता है और शेष पडोसी देशो से (Cooke, G. B., 1–3, Willimott, *World Crops*, 1963, 15, 172).

कार्क ओक शीतोष्ण कटिबंध का वृक्ष है और उन प्रदेशों में वहुतायत से पाया जाता है जहाँ का औसत वार्षिक ताप 10 से 21° के बीच रहा करता है. इसकी मातृभूमि की जलवायु समुद्री कही जा सकती है. कहते हैं कि यह घटिया भूमि में सबसे अच्छी तरह उगता है जहाँ यह सर्वोत्तम गठन का कार्क देता है. नर्सरी मे बीजो को बो कर और वहाँ से बाद मे अनुकूल क्षेत्रों में स्थानान्तरित करके कार्क वृक्षों का प्रवर्धन किया जा सकता है. सीधे बीज द्वारा इसे उपजाने की विधि सबसे सफल और सस्ती है. विभिन्न देशों में कार्क ओक के वन उगाने के प्रयत्न किये गए हैं. कहा जाता है कि कैलिफोर्निया (संयुक्त राज्य अमेरिका) में किये गए प्रयास काफी सफल रहे हैं. भारत में भी, विशेषतया नीलगिरि पहाड़ियों के क्षेत्र में, कार्क ओक वृक्ष लगाने के प्रयास हुए हैं [Cooke, G. B., 13; Willimott, loc. cit.; Bal, *Manufacturer*, 1950, 11(1), 18; Krishnamurthi, 225; Information from the Central Sylviculturist, Forest Research Institute, Dehra Dun].

सामान्यतः जब कार्क ओक वृक्ष 20 वर्ष के हो जाते है तो पहले पहल उनकी छाल छील कर उतार ली जाती है और उसके पश्चात् प्रति 8–10 वर्ष के अन्तर पर उतारी जाती है. यह वृक्ष 150 वर्ष तक उर्वर रहता है. छीलने के उपरात छाल के चट्टे लगा दिये जाते हैं और उसे कुछ सप्ताह तक सूखने के लिए छोड़ देते हैं जिससे छाल सूख कर चपटी हो जाती है. फिर उसमें से विभिन्न टैनिन और अन्य जल-विलेय पदार्थ विलग करने के लिए छाल को थोड़ी देर तक उवाला जाता है और अन्त में उसे सुखा लिया जाता है. प्रति वृक्ष कार्क की उपज अनेक वातों पर निर्भर करती है और यह 20 से 200 किग्रा. या इससे भी अधिक हो सकती है (Cooke, G. B., 9, 13–17; Willimott, loc. cit.).

कार्क के विविध प्रकार के उपयोगों के लिए विशेष रूप से उपयुक्त होने के कई कारण हैं, जैसे अल्प आपेक्षिक घनत्व (औसतन, 0·16), संपीड्यता, प्रत्यास्थता, वायु और जल दोनों के प्रति अप्रवेश्यता, अल्प उष्मा-संवाहकता और न छीजने का गुण. कुछ कामों के लिए तो विशुद्ध प्राकृतिक कार्क काम में लाया जाता है. दूसरे कार्यों के लिए मोटे अथवा महीन पिसे प्राकृतिक कार्क को आसजक पदार्थों मे मिलाकर और साँचों मे ढाल कर बनाया जाता है. कार्क का सर्वाधिक उपयोग बोतलों तथा अन्य पात्रों की डाट बनाने के लिए किया जाता है. चटाइयाँ, जूतों के तले, अस्तर, कृत्रिम हाथ-पैर, जीवन रक्षा पेटियाँ तथा अन्य असंख्य चीजें बनाने मे भी इसका उपयोग होता है. विसंवाहक पदार्थ बनाने में कार्क-अवशेष का काफी इस्तेमाल होता है. साथ ही लिनोलियम बनाने मे यह काम आता है. कार्क अवशेष से निकाला गया मोम काफी कठोर होता है और जूतों के पेस्ट बनाने के काम आता है (Thorpe III, 365; Cooke, G. B., 33–60; Warth, 256).

कार्क की रासायनिक संरचना उसकी उम्र, उगने की परिस्थितियों और उसकी छाल के ग्रेड के अनुसार वदलती है. एक अच्छे नमूने के मान निम्नलिखित प्रकार के हैं : आर्द्रता, 3–7, वसा-अम्ल 20–38; अन्य अम्ल, 10–18; विभिन्न टैनिन, 2·0–6·5; ग्लिसरिन, 1·0–6·5, लिग्निन, 12·6–18·0, सेलुलोस, 1·8–5·0; विभिन्न सेराइड (मोम, स्टीऐरिन, आदि), 4·5–15·0; राख, 0·1–4·0; और अन्य पदार्थ, 8–21%. सुवेरिन कार्क का विशिष्ट अवयव माना जाता है. यह मुख्यतया हाइड्रॉक्सि वसा-अम्लो के उच्च आणविक पालीमराइडो द्वारा विरचित है जिनका मुख्य अवयव फीलॉनिक अम्ल (22-हाइड्रॉक्सि डाकोसैनाइक अम्ल) है. अन्य उपस्थित वसा-अम्ल इस प्रकार हैं : फ्लोइयानिक (9, 10-डाइहाइड्रॉक्सि आक्टाडेकानेडायोइक) और फ्लाइयानोलिक (9, 10, 18 ट्राइहाइड्रॉक्सी आक्टाटेकानॉइक) और इसका प्रकाश समावयवी (ग.बि., 133°), सिस- और ट्रान्स-9-आक्टाडेसिनाइक, 18-हाइड्रॉक्सि-

9-ग्राक्टाडेसिनाइक; ग्रौर ग्रन्य कई ग्रज्ञात ग्रम्ल. कच्चे मोम में सीरिन (जो इसका मुख्य रचक है), फ्रीडेलिन, विभिन्न स्टेराइड, विभिन्न ग्रम्ल ग्रादि रहते हैं (Ribas, *Chim. et Industr.*, 1952, **68**, 333; Thorpe, III, 366; Cooke, G. B., 25–32; Dictionary of Organic Compounds, III, 1685, 1771; IV, 2736; suppl., 1965, 162; *Chem. Abstr.*, 1956, **50**, 806; Warth, 256–58).

भारत में प्रति वर्ष 1,000 से 3,000 टन कच्चा कार्क ग्रौर थोड़ी मात्रा में कार्क का बना सामान ग्रायात किया जाता है जिसका मूल्य 20–30 लाख रुपये है (सारणी 3).

क्व. रोवर लिनिग्रस (इंगलिश या यूरोपियन ग्रोक) ग्रौर इसकी एक निकट सम्बंधी किस्म **क्व. सेसीलिफ्लोरा**, सेलिसवरी की खेती नीलगिरि पर्वतों में होती बतलाई जाती है जहाँ यह भली-भाँति उगती है. जो ग्रन्य विदेशी किस्में नीलगिरि में उगती बतलाई जाती हैं वे हैं: **क्व. सेरिस** लिनिग्रस (तुर्की ग्रोक), **क्व. काक्सीनिया** (लारेल ग्रोक), **क्व. मैक्रोकार्पा** (वर ग्रोक), ग्रौर **क्व. मोण्टाना** विल्डेनो (चेस्टनट ग्रोक) (Burkill, II, 1849; Krishnamurthi, 224–25; Information from the Curator, Government Botanic Gardens, Ootacamund). *Q. rober* Linn.; *Q. sessiliflora* Salisb.; *Q. coccinea* Muench.; *Q. macrocarpa* Michx.; *Q. montana* Willd.

क्व. सेमीसेरैटा रॉक्सवर्ग Q. semiserrata Roxb.

ले.–कु. सेमिसेर्राटा

D.E.P., VI(1), 386; Fl. Br. Ind., V, 604.

लुशाई–सेहोप; कछार–रामरोतोर.

यह विशाल ग्रथवा मँझोला वृक्ष है जिसकी ऊँचाई 30 मी. ग्रौर व्यास 1·5 मी. होता है. यह ग्रसम की खासी ग्रौर गारो पहाड़ियों ग्रौर मणिपुर में लगभग 1,200 मी. की ऊँचाई तक पाया जाता है. छाल धूसर, खुरदुरी ग्रौर कठोर; पत्ते दीर्घवत् भालाकार; नर स्पाइक पतले ग्रौर पुष्प बहुत छोटे होते हैं. लकड़ी (ग्रा. घ., 0·99; भार, 820 किग्रा./घमी.) लालाभ भूरी, सीधी या कुछ-कुछ रेशेयुक्त दानेदार, मध्यम वारीक किन्तु ग्रसम गठन वाली, कठोर ग्रौर भारी होती है. यह बैलगाड़ियों के पहियों के ग्ररे ग्रौर पुट्ठे बनाने के काम ग्राती है (Pearson & Brown, II, 993; Gamble, 677).

क्व. सेमेकार्पिफोलिया स्मिथ Q. semecarpifolia Sm.

हिमालय का ग्रे ग्रोक, खारशू ग्रोक

ले.–कु. सेमेकार्पिफोलिग्रा

D.E.P., VI(1), 385; C.P., 911; Fl. Br. Ind., V, 601; Troup, III, 928–35, Fig. 350–54.

सारणी 3–भारत में कार्क ग्रौर कार्क उत्पादों का ग्रायात
(मात्रा : टन; मूल्य : हजार रु. में)

	मात्रा					मूल्य				
	1962–63	1963–64	1964–65	1965–66	1966–67*	1962–63	1963–64	1964–65	1965–66	1966–67*
प्राकृतिक कार्क										
1. कच्चा कार्क, जिसमें प्राकृतिक प्रखण्ड ग्रौर चादरी कार्क सम्मिलित हैं	2,056·3	1,382·2	1,950·3	2,996·1	794·4	2,911·5	2,162·9	2,447·6	3,194·7	1,361·9
2. कार्क ग्रवशिष्ट	4·0	28·2	301·2	90 4	754·2	5·6	28·8	222·8	114·8	1,291·8
कार्क निर्माण										
1. कार्क चादरें	29·4	71·1	47·7	29·6	51·5	140·7	367·7	213·9	168·6	439·1
2. ग्रन्य समुचित कार्क सामग्री	31·2	11·9	13·6	31·5	70·6	70·4	51·3	79·9	109·4	574·8
3. बोतलों के लिए कार्क	24·1	0·8	1·4	0·1	..	315·3	8·0	12·4	1·1	..
4. गैस्कैटों का कार्क	2·9	9·9	0·5	..	..	22·7	53·5	5·8	..	..
5. कार्क वोर्ड	2·9	3·3	..	0·3	..	5·7	6·9	..	0·8	..
6. कार्क की ग्रन्य वस्तुएँ	79·3	52·1	50·1	69·3	13·4	552·9	473·4	325·6	348·9	74·1

*जून 1966 से मार्च 1967 तक का विवरण.

नेपाल – घेसी, कसरु; पंजाब – बनचर, खरेऊ, क्लार्शू; कुमायूँ – कारशू.

यह एक सदाहरित अथवा उप-सदाहरित वृक्ष है जो 30 मी. तक ऊँचा होता है. इसका तना 10–12 मी. तक स्वच्छ और 2 मी. या अधिक घेरे वाला होता है. यह शीतोष्ण हिमालय पर्वत शृंखला में सर्वत्र कश्मीर से लेकर पूर्व में भूटान तक और असम और मणिपुर में भी 1,800–3,600 मी. की ऊँचाई तक पाया जाता है. यह बहुधा वृक्ष उगने की अधिकतम ऊँचाई के निकट तक पाया जाता है. इसकी छाल गहरे धूसर रंग की, खुरदुरी, और अनियमित चैलियों में उपड़ने वाली होती है. पत्ते दीर्घवृत्ताकार या दीर्घवत् और कंटकमय दंतुर या अदंतुर होते हैं. नर स्पाइक संपुंजित; और मादा स्पाइक छोटे होते हैं. बंजुफल कुछ कम गोल (या लगभग गोलाकार), 3 या अधिक के समुच्चय में लगभग 2·0–2·5 सेंमी. व्यास वाले होते हैं.

खारशू ओक के वन भारी हिमपात और साधारण वृष्टि वाले क्षेत्रों में होते हैं. यह वृक्ष हिमालय के अन्तर्वर्त्त, अपेक्षाकृत शुष्क क्षेत्रों में नहीं पाया जाता. यह यूथी वृक्ष है जिससे अपने क्षेत्र के अन्तर्गत चोटियों और ऊपरी ढलानों पर इसके विशुद्ध वन पाए जाते हैं. यह स्प्रूस (**पिसिया स्मिथियाना**), सिल्वर फर (**एबीज पिंड्रो**) आदि के साथ में भी पाया जाता है. यह सुरक्षित क्षेत्रों की गहरी उपजाऊ नम मिट्टी में और पहाड़ी कंटकों के शृंगों की चट्टानी भूमि, दोनों पर, उगता है. चट्टानी भूमि में इसकी वृद्धि रुक जाती है और यह टेढ़ा-मेढ़ा, गाँठ-गँठीला हो जाता है.



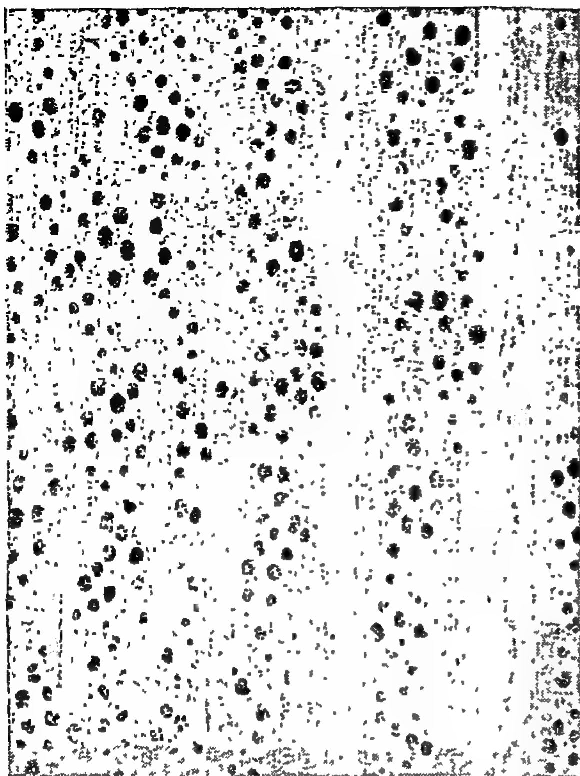
चित्र 107 – क्वरकस सेमेकार्पिफोलिया – पुष्पित और फलित शाखाएँ

प्रकृति में इसका प्रजनन बीजों से बड़ी मात्रा में होता है, विशेषतया यदि इसे ऊपर से पर्याप्त प्रकाश उपलब्ध हो. यह बहुधा **स्ट्रोबिलैंथीज वालिशाई** नीस नामक खरपतवार से, जो काफी घना उगता है, दब जाता है. खारशू ओक को कृत्रिम रूप से, समोच्च रेखाओं में या छिद्रों में बीज डालकर उगाया जा सकता है. इसे बहुत अधिक प्रकाश चाहिये. इसमें खूब कल्ले फूटते हैं, साथ ही ऊपर से छँटनी करके इसे गोलाकार बनाया जा सकता है. कल्लों की वृद्धि बहुत मंद होती है. इसे बारम्बार काटते और लगाते रहना चाहिए. कई प्रकार के विगलनकारी कवक और छेदक लारवा इस पर आक्रमण करते हैं [Troup, *III*, 928; Bagchee & Ujagar Singh, *Indian For. Rec.*, *N.S.*, *Mycol.*, 1954, **1**, 292; Mathur & Balwant Singh, *Indian For. Bull.*, *N.S.*, No. 171(1), 1959, 102].

इसका काष्ठ हल्का गुलाबी लिए भूरे से लेकर लालाभ भूरे रंग का, भारी से लेकर बहुत भारी (आ.घ., 0·95–1·4), सीधे दानेदार से अनियमित दानेदार, मध्यम महीन और असमान गठन वाला होता है. इमारती काष्ठ के रूप में यह बहुत कठोर, अच्छी कोटि का और टिकाऊ होता है. यह आसानी से नहीं सीझता तथा औजारों से इस पर काम करने में भी कठिनाई होती है. इसे आसानी से चीरा भी नहीं जा सकता, लेकिन इसे फाड़ने में कठिनाई नहीं होती (Pearson & Brown, II, 983).

यद्यपि खारशू ओक बढ़िया और मजबूत किस्म की इमारती लकड़ी है तो भी इसका उपयोग अधिक नहीं होता क्योंकि यह जहाँ उगता है वहाँ इससे भी अधिक मूल्यवान और सरलता से सँवारी जा सकने वाली लकड़ियाँ उपलब्ध होती हैं. इसे स्थानीय भवन-निर्माण, फर्नीचर और हल बनाने के काम में लाया जाता है. इसे विदेशों से आयातित ओक के प्रतिस्थायी के रूप में भी काम में ला सकते हैं जिससे व्हिस्की को पुराना बनाने के विशेष पात्र (केग) बनाए जाते हैं. लकड़ी से विभिन्न प्रकार के हार्डबोर्ड बनाये जा सकते हैं. यह बढ़िया ईंधन है और लकड़ी का कोयला बनाने के लिए उत्तम है (कैलोरी मानः रसदारु, 4,819 कै., 8,676 ब्रि. थ. इ.; अन्तःकाष्ठ, 4,815 कै., 8,668 ब्रि. थ. इ.) (Pearson & Brown, II, 983; Trotter, 1944, 207; *For. Res. India*, 1947–48, pt I, 56; Narayanamurti & Kultar Singh, *Indian Pulp & Pap.*, 1961–62, **16**, 543; Krishna & Ramaswami, *Indian For. Bull.*, *N.S.*, No. 79, 1932, 22).

इसकी पत्तियाँ पशुओं के लिए उत्तम चारा हैं और पुआल के लिए भी उत्तम होती हैं. ये पिछली शताब्दी के अन्त में चीन से लाये गये रेशमकीट, **एंथरेया पर्निई**, की इल्लियों को खिलाने के लिए भी बहुत उपयुक्त हैं. पत्तियों में 8% और छाल में 7–11% टैनिन होता है. कहा जाता है कि खारशू की छाल



चित्र 108 – क्वरकस सेमेकार्पिफोलिया – काष्ठ को अनुप्रस्थ काट (×10)

के कुछ नमूनों से 23·7% तक टैनिन प्राप्त किया जा चुका है. चमड़ा कमाने के लिए इसकी छाल **क्व. इंकाना** की छाल से घटिया पाई गई है. छाल के टैनिन से प्रोटोकैटेचुइक अम्ल और 'ओक रेड' प्राप्त होता है [Gamble, 671; Edwards *et al.*, *Indian For. Rec.*, *N.S.*, *Chem. & Minor For. Prod.*, 1952, **1**(2), 145; Troup, III, 929; Wehmer, I, 225].

Picea smithiana; *Abies pindrow*; *Strobilanthes wallichii* Nees; *Antheraea pernyi* Guer. Mene.

क्वरकस जातियाँ – देखिए लिथोकार्पस

क्वामोकिल – देखिए पियेसेलोबियम

क्वामोक्लिट – देखिए आइपोमिया

क्वार्ट्ज तथा सिलिका QUARTZ AND SILICA

D.E.P., II, 167; VI(1), 378; C.P., 561.

भूपटल का 60% भाग सिलिका (सिलिकन-डाइऑक्साइड, SiO_2) से बना हुआ है. सिलिका भूपटल का एक मुख्य अवयव है, और यह क्रिस्टलीय तथा अक्रिस्टलीय दोनों ही रूपों में विभिन्न शैल समूहों में बहुतायत से पाया जाता है. इसकी निर्जल क्रिस्टलीय किस्में क्वार्टज कहलाती हैं, तथा अक्रिस्टलीय किस्मों (यौगिक जल की विभिन्न मात्राओं से युक्त सिलिका) के अन्तर्गत ओपल और डायटमी मृदा आदि आते हैं. फेल्सपार के पश्चात् क्वार्टज ही अत्यधिक प्रचुर एवं विस्तृत रूप से वितरित खनिज है, तथा यह विविध रूपों और रंगों में पाया जाता है. क्वार्टज तथा सिलिका की अनेक किस्में कम कीमती रत्नों के रूप में काम में लाई जाती हैं; तथा बहुत-सी किस्में इलेक्ट्रानिकी, प्रकाशीय, अपघर्षी, काँच, उच्चताप-सह और अन्य उद्योगों में प्रयुक्त होती हैं (Mellor, VI, 137; Encyclopaedia Britannica, XVIII, 830; Ladoo & Myers, 419).

क्वार्टज (आ.घ., 2·60–2·66; कठोरता, 7; अपवर्तनांक, 1·544–1·553) एक कठोर, भंगुर और पारदर्शी से लेकर अपारदर्शी खनिज है, इसकी द्युति काँचसम से ग्रीज जैसी और भंग शंखाभीय होता है. यह खनिज कभी-कभी विदलन भी प्रदर्शित करता है; तथा हाइड्रोफ्लोरिक अम्ल के अतिरिक्त अन्य सब अम्लों में अविलेय होता है. क्वार्टज शुद्ध होने पर रंगहीन रहता है किन्तु साधारणतया अन्तर्वेशों की प्रकृति के अनुसार यह लाल, नारंगी, पीले, हरे, बैंगनी, तथा काले रंगों में पाया जाता है. गर्म करने पर इसके बहुत से रंग अदृश्य हो जाते हैं. क्वार्टज के एक खनिज स्फटिक, शैल क्रिस्टल, में दाब-विद्युत गुण होते हैं.

क्वार्टज दो रूपान्तरों में पाया जाता है: α-क्वार्टज, जो क्वार्टज शिरा और रत्न क्रिस्टलों में पाया जाने वाला सामान्य रूप है; तथा β-क्वार्टज जो ग्रेनाइट चट्टानों मे पाया जाता है. α-क्वार्टज 575° से कम ताप पर बनता है और इससे अधिक ताप पर β-क्वार्टज ही स्थायी रूप है जो कि 870° पर ट्राइडाइमाइट मे तथा 1,470° पर क्रिस्टोबेलाइट मे परिवर्तित हो जाता है. क्वार्टज प्रतिबिम्ब रूपी होता है, इसके साधारण क्रिस्टल ध्रुवण-तल के घूर्णन के सम्बन्ध में दक्षिणावर्ती अथवा वामावर्ती होते हैं. क्वार्टज प्रायः अन्तर्वेशी यमलन वाले यमल क्रिस्टल के रूप मे पाया जाता है (Ladoo & Myers, 420; Dana, 470–72; Webster, I, 158; Encyclopaedia Britannica, XVIII, 831).

क्वार्टज के विभिन्न रूप लक्ष्य-क्रिस्टलीय, गूढ़-क्रिस्टलीय, संपुंजित और दानेदार अथवा दलित (खण्ड युक्त) किस्मों के अन्तर्गत वर्गीकृत किए जाते हैं. लक्ष्य-क्रिस्टलीय किस्में, काँचसम द्युति वाले प्राथमिक क्रिस्टल के रूप में प्राचीन अधिसिलिक आग्नेय चट्टानों मे अथवा द्वितीयक आपूर्णन के रूप मे जियोड में पाई जाती हैं. गूढ़-क्रिस्टलीय क्वार्टज या तो क्रिस्टलीय क्वार्टज और अक्रिस्टलीय ओपल का मिश्रण होता है अथवा अनेक सूक्ष्म छिद्रों वाला क्रिस्टलीय क्वार्टज का एक जाल सूत्र माना जाता है. संपुंजित किस्में मोटी अथवा सूक्ष्म दानेदार क्रिस्टलीय से गूढ़-क्रिस्टलीय रूप तक में पाई जाती हैं, तथा साधारणतया क्वार्टज शिराओं और पेग्माटाइट चट्टानों में मिलती हैं. दानेदार अथवा दलित किस्मों के अन्तर्गत बालू, बलुआ पत्थर और क्वार्टजाइट आते हैं (Dana, 471–72; Deer *et al.*, IV, 181, 209–10; Ladoo & Myers, 185, 561).

ओपल सजल गूढ़-क्रिस्टलीय अथवा कोलाइडी सिलिकामय पदार्थ की अत्यन्त पतली परतों के निक्षेपण से बने हुए माने जाते हैं. इनका रंग रंगहीन से काले तक बदलता रहता है.

ओपल की सामान्य किस्में मौक्तिक दूधियापन तथा बहुमूल्य किस्में हल्का-सा वर्ण-विलास दर्शित करती हैं (Deer *et al.*, IV, 210; Webster, I, 184).

सिलिका के व्यापारिक खनिज दो वर्गों में विभाजित किए जाते हैं. प्रथम वर्ग के अन्तर्गत रत्न श्रेणी की किस्में तथा द्वितीय वर्ग के अन्तर्गत सामान्य किस्में (अर्थात् जो रत्न नहीं हैं) आती हैं. रत्न श्रेणी के खनिजों के रंग तथा प्राप्ति स्थानों का संक्षिप्त विवरण सारणी 1 में दिया गया है. ओपल के अतिरिक्त अन्य सब रत्न खनिज क्रिस्टलीय होते हैं. क्वार्टज के सामान्य खनिज वर्ग के अन्तर्गत निम्नलिखित खनिज आते हैं: (अ) गूढ़-क्रिस्टलीय किस्म के खनिज जैसे कि बरस्टोन, फ्लिण्ट, और चर्ट; (आ) रवेदार और दलिक किस्में जैसे कि वालू और वजरी, वलुआ पत्थर, तथा क्वार्टजाइट; और (इ) अक्रिस्टलीय खनिज जैसे कि डायटमी मृत्तिका तथा ट्रिपोली.

बरस्टोन एक श्वेत, भूरा अथवा पीला कठोर कैल्सेडोनी, सरंध्र, अपघर्षी पदार्थ है. यह बड़े ढेरों में पाया जाता है. फ्लिण्ट और चर्ट अति संहत गूढ़-क्रिस्टलीय रूप हैं जो प्राय: जैव उत्पत्ति के होते हैं और ग्रंथिकाओं में पाये जाते हैं.

वालू और वजरी परिवर्ती आकार के अत्यधिक सिलिकामय कणों से युक्त असंपिडित समुच्चय होते हैं जिनमें विभिन्न अशुद्धियों की न्यूनाधिक मात्राएँ पाई जाती हैं. छोटे कणों का समुच्चय वालू और मोटे कणों का समुच्चय वजरी कहलाता है. वालू के अनेक उपयोग होते हैं और इन्हीं के अनुसार इसके विभिन्न व्यापारिक नाम भी हैं जैसे इमारती वालू, पॉलिश करने की वालू, फिल्टर वालू, अग्निसह वालू, काँच वालू, साँचा वालू आदि. इनका विस्तृत विवरण "वालू" शीर्षक के अन्तर्गत किया गया है. काँच वालू का भी विस्तृत विवरण "काँच वालू" नामक शीर्षक से किया गया है.

वलुआ पत्थर विभिन्न श्रेणियों में संहत और सिलिका, लोह, चूना इत्यादि से संयोजित वालू के कणों से वनी हुई अवसादी चट्टानें होती हैं, जो कि मुख्यतया इमारती सामान के रूप में काम में लाई जाती हैं. इनका वर्णन एक पृथक् शीर्षक "पत्थर, इमारती" के अन्तर्गत किया गया है.

सारणी 1 – सिलिका के रत्न खनिजों के रंग और प्राप्ति स्थान*

खनिज	रंग	प्राप्ति स्थान	खनिज	रंग	प्राप्ति स्थान
लक्ष्य-क्रिस्टलीय			**गूढ़-क्रिटस्लीय (कैल्सेडोनी)**		
शैल क्रिस्टल	रंगहीन	सुस्पष्ट क्रिस्टल, प्राथमिक; जियोडों में द्वितीयक आपूर्णन के रूप में भी	ऐगेट	रंग विरंगी पट्टिकाएँ, द्रुमाकृतिक भी	जियोड तथा वजरी के संस्तरों में
श्वेत अथवा दूधिया क्वार्टज	श्वेत	शिरा क्वार्टज, प्राय: स्वर्ण-युक्त	ऑनिक्स	काली और श्वेत पट्टियाँ	,,
			सार्डोनिक्स	लाल तथा श्वेत पट्टियाँ	,,
भूरा क्वार्टज	हल्के भूरे से काला	अपक्षीण ग्रेनाइट के मलवे में, वजरी के संस्तरों में भी	क्रिसोप्रेज	सेव जैसे आकर्षक हरे से धुँधला हरा-सा पीला	सर्पेण्टाइन तथा वजरी के संस्तरों में
मोरिओन	काला	,,	प्रेज	मन्द हरा	वजरी के संस्तरों में
कैयर्नगार्म	लालाभ से पीलाभ भूरा	,,	प्लाज्मा	श्वेत अथवा पीले धब्बों सहित गहरा हरा	,,
धूमित क्वार्टज	धूमित भूरा	,,			
सिट्रिन	हल्का सुनहला पीला से लाल-सा पीला	वजरी के संस्तरों में	ब्लडस्टोन अथवा हीलियोट्रोप	चमकीले लाल धब्बों से युक्त प्लाज्मा	,,
ऐमिथिस्ट	फीका बैंगनी से भड़कीला जामुनी	गुहिकाओं में	कार्नीलियन	पाण्डु रंग से गहरा लाल	,,
गुलावी क्वार्टज	गुलावी	पेग्माटाइट डाइक में	सार्ड	पीताभ से भूराभ लाल	,,
कैंट्स आई क्वार्टज	शहद के समान पीला, भूराभ से धूसराभ हरा	वजरी के संस्तरों में	जैस्पर†	पीला, भूरा, लाल, अथवा हरा	,,
क्रोसिडोलाइट	पीले से सुनहरी रेशम द्युति वाला सुनहला भूरा	शिराओं में			
एवेन्टुराइन	हरा	क्वार्टजाइट चट्टानों में	अक्रिस्टलीय (जल योजित) ओपल	लाल, हरे, नीले से स्पेक्ट्रम के सब रंगों में	शिराओं, दरारों तथा गुहिकाओं में

*Webster, I, 158–91; Weinstein, 93, 178; Dana, 472; †रंगीन खनिजों से रंजित गूढ़-क्रिस्टलीय सिलिका का विपमजातीय द्रव्य.

क्वार्टज़ाइट अवसादी अथवा आग्नेय सिलिकामय चट्टानों के कायांतरण का अभिलाक्षणिक उत्पाद होता है. यह संपुंजित अथवा दानेदार रूप में पाया जाता है.

डायटमी मृदा, डायटमी सिलिकामय-जैविक कंकालों और कवचों से बने निक्षेपों से बनती है. ट्रिपोली का निर्माण चर्ट के परिवर्तन अथवा प्रचुर सिलिकामय चूना-पत्थर के अपघटन से होता है. डायटमी मृदा तलों में, ट्रिपोली संहत चूना-पत्थरों में परतों के रूप में पाया जाता है (Ladoo & Myers, 185, 561).

यद्यपि क्वार्टज तथा सिलिका की प्रचुर मात्राएँ सम्पूर्ण विश्व में उत्पादित की जाती हैं, किन्तु इलेक्ट्रानिक श्रेणी के क्रिस्टल मुख्यतया ब्राजील में ही पाये जाते हैं. क्वार्टज के रत्न श्रेणी के खनिज ब्राजील, संयुक्त राज्य अमेरिका, सोवियत संघ, दक्षिण अफ्रीका, श्रीलंका, मिस्र, स्विट्जरलैंड, जर्मनी, और फ्रांस देशों में पाये जाते हैं. ओपल के प्रमुख उत्पादक ब्राजील, मैक्सिको और चेकोस्लोवाकिया हैं. भारत में अल्प मूल्य के रत्न जैसे कैल्सेडोनी, ऐमिथिस्ट, स्फटिक और ओपल उत्पादित किये जाते हैं. भारत में काँच, सिरैमिक्स तथा अन्य उद्योगों में उपयोगी निम्न श्रेणी का सिलिका भी प्रचुर मात्रा में निकाला जाता है (Mellor, VI, 137; Jahns in Gillson *et al.*, 409–11; Ladoo & Myers, 428–29; *Indian Miner. Yearb.*, 1964, 717).

वितरण

रत्न खनिज

स्फटिक (शैल क्रिस्टल) भारत के बहुत से भागों में बहुतायत से पाया जाता है. स्फटिक के उत्तम क्रिस्टल (लगभग 9 किग्रा. भार तक के) गुजरात में टनकारा (22°40′ : 70°48′) नामक स्थान पर पाये जाते हैं और कैम्बे स्थित कारखानों में प्रसाधित किये जाते हैं. स्फटिक के क्रिस्टल क्वार्टज की शिराओं में मिकिर पहाड़ियों के रेंगडाँग खड्ड (26°19′ : 93°39′) तथा उत्तरी कछार, असम में भी पाये जाते हैं. स्फटिक, धुमैला क्वार्टज, सिट्रीन, तथा कैयर्नगार्म की गुटिकाएँ कुडेलौर बलुआ पत्थरों पर बहती हुई सरिताओं के संस्तरों से वेलम पत्थर के नाम से इकट्ठी की जाती हैं; तथा तंजाऊरू और तिरुचिरापल्ली में इन गुटिकाओं से घड़ियों के शीशे, चश्मों के लैंस तथा अन्य आलंकारिक और उपयोगी वस्तुएँ बनाई जाती हैं. दूधिया और धुमैला क्वार्टज सन्थाल परगना में राजमहल ट्रैप के जियोडों में पाया जाता है. उड़ीसा में बड़े अर्धपारदर्शी क्रिस्टल बौद्धफुलबनी में तराभा (20°44′ : 84°10′) के निकट पाये जाते हैं; ऐसे क्रिस्टलों का विजकोमार (20°40′ : 83°31′), बैंदीपाली, गन्ड्रेल (बोलनगिर के निकट), सगरिया-घाट (20°20′ : 83°14′), पान्द्री (21°10′ : 84°06′), कोइनसार (21°15′ : 84°07′), भरीमुरा, जुगोमुरा, भोइपाली (21°26′ : 84°04′), मेघपाल, तथा सतसामा नामक स्थानों से भी पाये जाने का उल्लेख है. स्फटिक, चित्तूर में भाकरापाट (13°39′ : 79°10′) के निकट, राँची में कोंजोरा (22°45′ : 84°46′) स्थान पर, दिल्ली के निकट औरंगपुर (28°28′ : 77°16′) में तथा पश्चिम बंगाल के बाँकुरा जिले में मुजराकुंडी (23°18′ : 87°01′) और बालीदुमदुर्मा नामक स्थानों पर पाया जाता है. राजस्थान के जयपुर जिले में दौसा, टोंक जिले में निवाई (26°22′ : 75°59′) और हथोना, तथा किशनगढ़ में भाना चौकी नामक स्थानों पर स्फटिक प्राप्त हुआ है (Chatterjee, 184; Coggin Brown & Dey, 626).

गुलाबी क्वार्टज आन्ध्र प्रदेश में कोड्यूर (18°16′ : 83°36′) स्थान पर शिराओं में तथा सदानन्दपुरम (18°14′ : 83°37′) स्थान पर असंहत क्रिस्टलों के रूप में पाया जाता है. यह खनिज वारंगल (17°57′ : 79°41′) स्थान के निकट भी पाया जाता है, तथा सस्ते रत्नाभूपणों और अंगूठी में जड़ने के नगीने बनाने के काम में लाया जाता है. आकर्षक रंग का गुलाबी क्वार्टज विहार राज्य के हजारीबाग जिले में पारसावाद स्थान के निकट अभ्रक मेखला की पेग्माटाइट चट्टानों में पाया जाता है. गुलाबी क्वार्टज के पाये जाने का वर्णन गुजरात राज्य के साबरकंठा जिले में रेडा (23°55′ : 73°00′), मध्य प्रदेश के छिंदवाड़ा जिले में दुधारा पहाड़ी (21°30′ : 78°57′) और खैरी (21°32′ : 78°53′), तथा राजस्थान के डूंगरपुर जिले के जरियाना नामक स्थानों से भी प्राप्त होता है. गुलाबी क्वार्टज की शिरायें उड़ीसा राज्य के संभलपुर जिले में रंगिया टीकरा (21°51′ : 84°17′), धिचामुरा (21°46′ : 84°06′) और बुढ़िया काटा (21°18′ : 84°08′) स्थानों के निकट पाई जाती हैं (Chatterjee, 184–87).

ऐमिथिस्टीय क्वार्टज बगौद (22°20′ : 75°53′) नामक स्थान के निकट बुन्देलखंड ग्रेनाइट की कुछेक क्वार्टज भित्तियों में बनी गुहिकाओं और शिराओं में पाया जाता है. इन्दौर में इस क्वार्टज से कई प्रकार के बटन बनाये जाते हैं. डेकन ट्रैप चट्टानों के जियोडों में पाये जाने वाले छोटे-छोटे ऐमिथिस्ट जबलपुर के निकट नर्मदा नदी के तल से एकत्र किए जाते हैं और माला के मनके और रत्नाभूषण बनाने के काम में आते हैं. ऐमिथिस्ट शिवपुरी जिले में अंडार (25°32′ : 78°06′) के निकट; तथा दतिया जिले में चिताई (26°07′ : 78°39′), गंगारी (25°36′ : 78°28′) और चंदेवा (25°42′ : 78°32′) के निकट पाया जाता है. आन्ध्र प्रदेश में आकर्षक ऐमिथिस्ट सिकन्दराबाद जिले के बोवेनपल्ली स्थान पर पाया जाता है; यह हैदराबाद के निकट स्थित ग्रेनाइट चट्टानों मे, तथा हैदराबाद के उत्तर में लगभग 96 किमी. की दूरी पर वेंकोनेनपेट नामक स्थान पर भी पाया जाता है. यह कुर्नूल जिले में कोइलकुन्तला (15°14′ : 78°19′) नामक स्थान पर भी पाया जाता है. ऐमिथिस्ट क्रिस्टल के अस्तर वाले क्वार्टज जियोड संथाल परगना में बरहेट (24°53′ : 87°40′) स्थान के निकट पाये जाते है. राजस्थान में किशनगढ़ (26°36′ : 74°51′) के उत्तर, रोण्डील (27°14′ : 75°53′) और सामोद (27°12′ : 75°48′); तमिलनाडु के कोयम्बतूर जिले में कंगयाम (11°00′ : 77°34′); हिमाचल प्रदेश की सतलज नदी घाटी में अनेक स्थानों; जम्मू-कश्मीर के जास्कर; तथा केरल में कोलिनगोड (10°37′ : 76°41′), नामक स्थानों में ऐमिथिस्ट के पाये जाने की सूचना है (Chatterjee, 168–69).

कैट्स आई क्वार्टज (बिडालाक्ष क्वार्टज) गुजरात राज्य में रतनपुर (21°43′ : 73°11′) के निकट स्थित बोवा गोरी और बोवा अब्बास पहाड़ियों पर तथा इनकी तलहटी में पाया जाता है. यह आन्ध्र प्रदेश में पालनद के निकट कृष्णा नदी की तलहटी

में, तथा केरल में कोचीन और त्रिवलॉन के निकट भी पाया जाता है (Chatterjee, 184).

एवेण्टुराइन क्वार्टज मुख्यतया मैसूर राज्य में पाया जाता है. यह हरे रंग का होता है. गहरा नीला-सा हरा एवेण्टुराइन क्वार्टज हसन जिले में बेलवाड़ी स्थान के निकट तथा एक पट्टित किस्म का पदार्थ सिन्दार्गार स्थान के निकट पाया जाता है. बेल्लारी जिले में मेत्रा (15°19′: 76°37′) स्थान के निकट एक छोटी पहाड़ी पर एवेण्टुराइन खंडों के रूप में पाया जाता है. आन्ध्र प्रदेश में नेल्लूर स्थान पर गहरे बैंगनी रंग की पट्टियों से युक्त आकर्षक फीके नीले-हरे रंग का मोटे दानेदार क्वार्टजाइट पाया जाता है. यही तमिलनाडु के कोयम्बतूर जिले में भी पाया जाता है (Webster, I, 172–73; Iyer & Thiagarajan, *Bull. geol. Surv. India, Ser. A*, No. 18, 1961, 64).

कैल्सेडोनी गूढ़-क्रिस्टलीय सिलिका का प्ररूप पदार्थ है; इसके अन्तर्गत ऐगेट, कार्नीलियन, ऑनिक्स, प्लाज्मा, ब्लडस्टोन, क्रिसोप्रेज, जैस्पर तथा अन्य खनिज आते हैं. कैल्सेडोनी सिलिका सामान्यतया ज्वालामुखी चट्टानों में यथा डेकन, राजमहल और पंजाल ट्रैप की गुहिकाओं में पाया जाता है. ये इन चट्टानों के क्षेत्र में बहती हुई नदियों की बजरी के संस्तरों से कैल्सेडोनी सिलिका की खनिज-गुटिकाओं के रूप में एकत्रित किए जाते हैं.

ऐगेट (गोमेद) गुजरात राज्य में रनपुर (22°21′: 71°46′), रतनपुर (21°43′: 73°11′) और इसके आसपास, कापदवंज (23°02′: 73°08′) तथा टनकारा (22°40′: 70°48′) के निकट ख़िजारिया नामक स्थानों पर पाया जाता है. इन स्थानों पर पाया जाने वाला पदार्थ उत्तम श्रेणी का होता है जिसे कैम्बे के रत्न कारखानों में प्रयुक्त किया जाता है. ऐगेट गोहिलवाड क्षेत्र, जूनागढ़, पूर्वी कच्छ, तथा वेराटिया (22°23′: 70°26′) के निकटवर्ती नदी वेदिकाओं में भी पाया जाता है. मॉस ऐगेट ख़िजारिया स्थान के अतिरिक्त लतीपुर (22°37′: 70°35′), बदनपुर (22°47′: 70°40′) तथा खाखरा (22°22′: 70°30′) स्थानों पर पाया जाता है. मध्य प्रदेश में भेड़ाघाट अथवा संगमरमर चट्टानों (23°07′: 79°51′) में नर्मदा घाटी से प्राप्त किया गया ऐगेट जबलपुर के जौहरियों द्वारा प्रयुक्त किया जाता है. इन स्थानों के अतिरिक्त, ऐगेट मध्य प्रदेश में नीमच तथा भोपाल के निकट शहडोल में जोहिल्ला घाटी तथा बार के डेकन ट्रैप क्षेत्रों में भी पाया जाता है. महाराष्ट्र में औरंगाबाद, पैथान (19°28′: 75°23′) तथा बल्लरपुर (19°51′: 79°20′) नामक स्थानों पर ऐगेट पाया जाता है; इससे माला के मनके, मुहर के स्टैण्ड, तथा पेपरवेट बनाये जाते हैं.

आन्ध्र प्रदेश में राजमहेन्द्री और पनगड़ी (17°01′: 81°39′) स्थानों के निकट गोदावरी नदी के तल से तथा पालनद क्षेत्र में कृष्णा नदी के जलोढक से ऐगेट चुन लिया जाता है. बिहार राज्य में ऐगेट की ग्रंथिकाएँ बरहेट (24°53′: 87°40′) और इसके निकटवर्ती स्थानों में पाई जाती हैं. राजस्थान में बायना और बुनीराह (24°26′: 73°44′) स्थानों के निकट नदियों के तल में तथा मैसूर में गुलबर्गा जिले में थानागुण्डी (16°48′: 77°08′) के निकट तथा हसन जिले के कुछ गाँवों के आसपास ऐगेट पाया जाता है. ऐगेट के पाये जाने का वर्णन उत्तर प्रदेश के मिर्जापुर जिले की राबर्ट्सगंज (24°41′: 83°03′) तहसील, उड़ीसा के मयूरभंज जिले के वामनघाटी (22°13′: 86°10′) क्षेत्र; तथा जम्मू और कश्मीर राज्य की पांगोंग झील के उत्तर तथा रुडोक स्थान के निकट भी, किया गया है (Ladoo & Myers, 420; Dana, 472; Chatterjee, 165).

कार्नीलियन अन्य कैल्सेडोनी सिलिका के खनिजों के साथ में गुजरात राज्य के राजपीपला क्षेत्र में; आन्ध्र प्रदेश में राजमहेन्द्री के निकट गोदावरी नदी के तल में; मध्य प्रदेश के बार जिले की डेकन ट्रैप चट्टानों में; राजस्थान में बनास और अन्य नदियों के तल में; जम्मू तथा कश्मीर में रुडोक स्थान के निकट और पांगोंग झील के उत्तर में; तथा बिहार में डुबराजपुर (24°24′: 87°27′) के निकट ट्रैप चट्टानों की गुहिकाओं में पाया जाता है (Chatterjee, 165–68).

ऑनिक्स गुजरात राज्य में विजरखी (22°25′: 70°14′) और खोजरी (22°23′: 70°28′) स्थानों के निकट, तथा हालार क्षेत्र के संस्तरित लावा में और गुजरात के राजपीपला क्षेत्र में, बहुतायत से पाया जाता है. ऑनिक्स, ऐगेट और अन्य कैल्सेडोनी खनिजों के साथ आन्ध्र प्रदेश के पालनाद क्षेत्र में कृष्णा नदी के जलोढक में; तथा राजस्थान में बनास तथा अन्य नदियों की तलहटी में पाया जाता है (Chatterjee, 165–68, 183).

प्लाज्मा कैल्सेडोनी सिलिका के अन्य खनिजों के साथ में गुजरात राज्य के राजपीपला क्षेत्र में; तथा भोपाल और औरंगाबाद की डेकन ट्रैप चट्टानों में पाया जाता है (Chatterjee, 166).

हीलियोट्रोप (ब्लडस्टोन) अन्य कैल्सेडोनी खनिजों के साथ गुजरात राज्य के राजपीपला क्षेत्र में, तथा मध्य प्रदेश की जोहिल्ला घाटी में पाया जाता है. महाराष्ट्र में हीलियोट्रोप औरंगाबाद की ट्रैप चट्टानों में तथा अमरावती की गोविलगढ़ पहाड़ियों में पाया जाता है; पूना की मुटा-मुला नदी ब्लडस्टोन के सुन्दर प्रतिरूप प्रदान करने के लिए प्रसिद्ध है (Chatterjee, 166–68).

क्रिसोप्रेज कैल्सेडोनी सिलिका की अन्य किस्मों के साथ गुजरात राज्य के राजपीपला क्षेत्र में ऐगेट-युक्त संगुटिकाओं से प्राप्त किया जाता है (Chatterjee, 166).

जैस्पर गुजरात में टनकारा (22°40′: 70°48′) स्थान के निकट पाया जाता है, इसमें चमकीली लाल धारियाँ और धब्बे पाये जाते हैं और इन्हें कैम्बे के जौहरी काम में लाते हैं; गुजरात में यह खनिज राजपीपला क्षेत्र में भी पाया जाता है. बिहार राज्य के दक्षिण सिंहभूम की लोह अयस्क श्रेणी में हरी और लाल दोनों किस्मों के जैस्पर के आकर्षक प्रतिरूप पाये जाते हैं. प्रायद्वीपीय धारवाड़ और बीजावाड़ शैल समूहों में सर्वत्र जैस्पर सामान्य रूप से पाया जाता है; तथा इन शैल समूहों से उत्पन्न जैस्पर गुटिकाएँ नदियों के तलों में पाई जाती हैं. मैसूर में बेल्लारी जिले के संडूर तालुके में तिमप्पागढ़ के निकट खनन योग्य, आकर्षक और भड़कीले लाल तथा बैंगनी से धूसर रंग की पट्टित जैस्पर हेमाटाइट की 90 से 120 मी. ऊँची ढलवाँ चट्टानें पाई जाती हैं. उत्तर प्रदेश के मिर्जापुर जिले में अगोरी (24°33′: 82°58′) तथा टिटीहोदार (24°31′: 82°44′) नामक स्थानों के बीच क्वार्टजाइट के साथ में जैस्पर बहुतायत से पाया जाता है. आन्ध्र प्रदेश में राजमहेन्द्री के निकट गोदावरी नदी के तल से, तथा राजस्थान में बनास नदी के

तल से अन्य कैल्सेडोनी खनिजों के साथ जैस्पर की गुटिकाएँ भी एकत्रित की जाती हैं. जैस्पर की गुटिकाएँ मध्य प्रदेश और महाराष्ट्र की ट्रैप चट्टानों वाले क्षेत्रों में भी पाई जाती हैं (Chatterjee, 165–68, 182; Coggin Brown & Dey, 624).

ओपल आन्ध्र प्रदेश के श्रीकाकुलम जिले की मैंगनीज खानों में सामान्यतया पाया जाता है; उत्तम श्रेणी के ओपल कोड्यूर (18°16′: 83°36′), कोटाकरा (18°22′: 83°33′), और हैदराबाद शहर के निकट पाये जाते हैं. यह खनिज बिहार राज्य में संथाल परगना जिले की राजमहल पहाड़ियों में पाया जाता है; 30 से 60 सेंमी. तक व्यास वाले ओपल के ढेर साहिबगंज (25°14′: 87°38′) के निकट पाये गये हैं. मध्य प्रदेश में नेवाज नदी के निकट गऊ-घट्टो स्थान के आस-पास वाली ट्रैप चट्टानों में श्वेत ओपल की वातामकी गुटिकाएँ पाई जाती हैं. यह ओपल मोती के समान चमकीला और रंग-विरंगा दिखाई देता है. सेद्राह बानकवेह, और कारकोरी स्थानों के निकट भी ओपल बिखरा हुआ पाया जाता है.

महाराष्ट्र राज्य के उस्मानाबाद जिले में सिना नदी के तटों पर अन्दरगाँव (18°02′: 75°38′) और पउडा (18°16′: 75°31′) नामक स्थानों के बीच ज्वाला जैसी रंगदीप्ति वाले दूधिया-श्वेत ओपल के अतिसुन्दर प्रतिरूप पाये जाते हैं. अमरावती में गोविलगढ़ तथा नागपुर में कान्द्री (21°25′: 79°20′), कोडेगाँव (21°25′: 79°01′) और सीताबाल्दी (21°09′: 79°05′) स्थानों से भी ओपल के पाये जाने का वर्णन किया गया है. ज्वाला-ओपल गुजरात राज्य में राजपीपला के निकट पाई जाने वाली लोहमय बजरी में भी पाया जाता है. तमिलनाडु में अलुंदलीप्पुर के निकट तथा अरियालूर (11°09′: 79°05′) के निकटवर्ती मालवई स्थान पर वृक्ष के तनों में प्रतिस्थापी वुड ओपल और दूधिया-श्वेत ओपल पाया जाता है. राजस्थान राज्य के अजमेर जिले में श्रीनगर (26°26′: 74°50′) स्थान के निकट संपुंजित दूधिया-श्वेत ओपल पाया जाता है. उड़ीसा के गंजाम जिले में बोईरानी (19°35′: 84°49′) स्थान पर ओपल पाया जाता है. अण्डमान निकोबार द्वीप समूहों के रूटलैण्ड द्वीप (11°25′: 92°40′) में सर्पेण्टाइन-युक्त छोटे संस्तरों में भूरा ओपल पाया जाता है (Chatterjee, 183–84).

सामान्य खनिज

संपुंजित क्वार्ट्ज सामान्यतया क्वार्ट्ज की शिराओं और पेग्माटाइट चट्टानों में पाया जाता है. संपुंजित क्वार्ट्ज इतने अधिक स्थानों पर पाया जाता है कि इनका विस्तार से वर्णन कर सकना सम्भव नहीं है. संपुंजित क्वार्ट्ज की प्रचुर मात्राएँ आन्ध्र प्रदेश, बिहार और राजस्थान राज्यों में खोदी जाती है, आन्ध्र प्रदेश में नेल्लूर जिले की अभ्रक खानों से शुद्ध शिरा क्वार्ट्ज की वृहत् मात्राएँ खोदी जाती हैं; दूधिया-श्वेत पदार्थ की प्रचुर मात्राएँ कुर्नूल जिले में अनेक स्थानों पर पाई जाती हैं. बिहार राज्य के हज़ारीबाग और सिंहभूम जिले में अनेक स्थानों पर शिरा क्वार्ट्ज की खुदाई की जाती है; कोडरमा और अन्य स्थानों पर पेग्माटाइट से अभ्रक का खनन करते समय भी शिरा क्वार्ट्ज एक उपोत्पाद के रूप में मिल सकता है. राजस्थान राज्य में जयपुर और अजमेर के निकट संपुंजित क्वार्ट्ज का उत्खनन किया जाता है. पाली जिले में भी यह अनेक स्थानों पर पाया जाता है. भित्ति क्वार्ट्ज के उत्तम निक्षेप मध्य प्रदेश में जबलपुर जिले में लमेटा घाट पर पाये जाते हैं. विशेष शुद्ध क्वार्ट्ज उड़ीसा राज्य में सम्भलपुर और कोरापुत में शिराओं में पाया गया है. शिरा क्वार्ट्ज तमिलनाडु के तिरुचिरापल्ली जिले में, मैसूर के बंगलौर, गुलबर्गा और शिमोगा जिलों में तथा पश्चिम बंगाल के बाँकुरा और पुरुलिया जिलों में पाया जाता है (Chatterjee, 417–22; Coggin Brown & Dey, 389; *Indian Miner. Yearb.*, 1964, 711).

क्वार्टज़ाइट आर्कियन, धारवाड़ और प्राचीनतर पुराने शैल समूहों में सामान्यतया पाया जाता है. यह टेढ़े-मेढ़े किनारों वाले क्वार्ट्ज के क्रिस्टलों से बने दानेदार अन्त:ग्रथित पिण्ड का बना हुआ होता है. उच्चताप-सह के रूप में उपयोगी क्वार्टजाइट उड़ीसा राज्य के गंजाम, कोरापुत और संभलपुर क्षेत्रों में, बिहार में मुंगेर के निकट, तथा दिल्ली क्षेत्र में भी पाया जाता है [Chatterjee & Majumdar, *Indian Ceram.*, 1955–56, 2, 141; Minhas & Bhaskar Rao, *NML Tech. J.*, 1959, 1(2), 32].

इमारती पत्थर और रोड़ी (रोड मेटल) के लिए उपयोगी क्वार्टजाइट व्यावहारिक रूप से भारत के सभी राज्यों में पाया जाता है. इनका विस्तृत वर्णन क्रमश: इमारती पत्थर और रोड़ी (रोड मेटल) के अन्तर्गत अलग से किया गया है.

फ्लिण्ट और चर्ट चूने के पत्थरों में ग्रन्थिकाओं और पिण्डों के रूप में तथा नदी की बजरी में गुटिकाओं के रूप में पाये जाते हैं. आन्ध्र प्रदेश में राजमहेन्द्री के निकट गोदावरी नदी के तल से तथा कुर्नूल जिले में वेरवदूर दुर्ग के पूर्व में लगभग 3·2 किमी. पर नदी की बजरी से फ्लिण्ट की गुटिकाएँ प्राप्त की जाती हैं. बिहार राज्य के कोलहान और ढालभूम स्थानों में लोह अयस्क की पहाड़ियों के पास की सरिताओं तथा बरहेट नामक स्थान से फ्लिण्ट की गुटिकाएँ प्राप्त की जाती हैं. फ्लिण्ट की गुटिकाएँ, गुजरात में रतनपुर (21°43′: 73°11′) के निकट, मध्य प्रदेश के छतरपुर स्थान पर केन नदी के निकट पुलको पहाड़ी में, तथा उत्तर प्रदेश के मिर्जापुर जिले में चकारी (24°28′: 83°01′) और खियोना (24°31′: 83°01′) स्थानों के बीच रिहंद नदी के बाएँ किनारे पर भी पाई जाती हैं. यूरोप के खड़िया मिट्टी शैल-समूह जैसी फ्लिण्ट की एक पट्टी, तमिलनाडु के तिरुचिरापल्ली जिले में कुरचीकुलम और सेंदेराई स्थानों के निकट मृत्तिका और शैल चट्टानों में पाई जाती है. शुद्ध और श्वेत चर्ट के संस्तर बिहार राज्य में, विशेषकर जामदा (22°10′: 85°26′) स्थान के उत्तर पूर्व में लोह अयस्क श्रेणी में पाये जाते हैं. इन निक्षेपों से प्राप्त गुटिकाएँ, पेषण चक्कियों में उपयोगी होती हैं. ये इस क्षेत्र में बहने वाली सरिताओं के आस-पास बिखरी हुई पाई जाती हैं. अशुद्ध चर्ट के संस्तर सिंहभूम जिले के चांदिल (22°57′: 86°04′) स्थान के उत्तर में बहुतायत से पाये जाते हैं (Dana, 473; Coggin Brown & Dey, 463; Chatterjee, 1).

बरस्टोन चक्की के पाट बनाने के काम आता है; भारत में इसके न पाये जाने से स्वदेशी चक्कियों के पाट बलुआ पत्थर से बनाये जाते हैं.

डायटमी मृदा निकोबार द्वीप समूह के कमोरटा और त्रिनकुट्टे द्वीपों में पाई जाती है; यह निम्न श्रेणी की होती है. व्यापारिक दृष्टि से अनुपयोगी निक्षेप, आन्ध्र प्रदेश मे निम्मायापलेम (16°03′: 79°40′) के निकट पाया जाता है. डायटम युक्त गाद (सिल्ट) के निक्षेप केरल समुद्र तट से दूर नेराकल और अल्लेपी के निकट तथा मद्रास के उत्तर मे पुलीकट झील के समीप बकिंघम नहर के किनारों पर पाये जाते है. ट्रिपोली अथवा ट्रिपोलाइट भारत मे नहीं पाया जाता [Coggin Brown & Dey, 464, Chatterjee, 145; Sahni, *Rec. geol. Surv. India*, 1942, **76**(12), 19].

खनन एवं उपचार

शिरा क्वार्टज तथा सिलिका बालू खुली खनन विधि द्वारा निकाले जाते हैं. क्वार्टज के क्रिस्टल आसानी से टूट जाते है तथा अप्रत्याशित रूप से वितरित रहते है जिससे इनके उत्खनन मे विस्फोटक पदार्थ और मशीनरी का प्रयोग करना आर्थिक दृष्टि से उपयुक्त नहीं हे. अभ्रक का खनन करते समय क्वार्टज, एक उपोत्पाद के रूप मे प्राप्त होता है; यह क्वार्टज मुख्यतया भूमिगत खानो मे निकाला जाता हे. अन्य खनिजो के साथ निकाला गया क्वार्टज छोटे-छोटे टुकडो मे तोड लिया जाता है, तथा हाथ मे छाँटकर अलग कर लिया जाता है. क्वार्टज की गुटिकाएँ नदियों की बजरी मे से एक-एक करके बीन ली जाती हैं, तथा जौहरियों अथवा उनके प्रतिनिधियों को बेच दी जाती हैं. काट-छाँट करके साफ की गई ऐगेट की गुटिकाएँ महीनो तक धूप मे रखी जाती है तथा बिक्री केन्द्रो मे भेजने से पूर्व इन्हे निश्चित ताप तक गर्म किया जाता हे, गर्म करने से इनका धुंधलापन दूर हो जाता हे और रंगो मे तीव्रता आ जाती हे.

उद्योग मे प्रयुक्त करने से पूर्व सिलिका बालू को मृत्तिकामय पदार्थ से मुक्त करने के लिए, सामान्यतया धोया और छाना जाता हे. सपुंजित क्वार्टज पेषण से पूर्व गर्म किया जाता है; गर्म करने से इसकी पिसाई मे सुविधा होती है [*Indian Miner. Yearb.*, 1964, 712, Waesche in Gillson *et al.*, 689, Desai, *Indian Min. & Engng J.*, 1967, 6(1), 25].

गुण तथा उपयोग

रत्न खनिज

शैल क्रिस्टल (स्फटिक, सूर्यकान्तमणि, सीतामणि) प्राय: शुद्ध क्वार्टज होता है; यह षट्कोणीय समुदाय के त्रिसमनताक्ष-समलम्ब फलक वर्ग मे क्रिस्टलित होता हे, तथा इसके क्रिस्टल रंगहीन और पारदर्शक होते हैं. शैल क्रिस्टल एकमात्र रंगहीन प्रस्तर हे, जो प्रचुर मात्रा में पाया जाता हे; इसके क्रिस्टल अति सूक्ष्म से 450 किग्रा. मे भी अधिक भार के, विशालकाय रूपो में पाये जाते हैं. शैल क्रिस्टल मे न तो सममिति तल और न ही सममिति केन्द्र होता है; किन्तु सममिति अक्ष अवश्य होते हैं. शैल क्रिस्टल ताप-विद्युत गुण दर्शित करते हैं, तथा ताप मे परिवर्तन से प्रिज्म के प्रत्यावर्ती किनारो पर धनात्मक और ऋणात्मक आवेश आ जाते हे. शैल क्रिस्टल पर यांत्रिक दाब का प्रयोग करने से दाब-विद्युत उत्पन्न होती हे. नियंत्रित दाब तथा विद्युत आवेश के प्रयोग से उच्च आवृत्ति वाले कम्पन उत्पन्न होते है जिनमे वृद्धि भी की जा सकती हे. दाब-क्वार्टज (पीजो-क्वार्टज) के एक परिच्छेद (सेक्शन) के फलकों पर विद्युत आवेश के अति तीव्र दोलन का प्रयोग करने से पराश्रव्य आवृत्ति के अत्यन्त तीक्ष्ण और स्पष्ट कम्पन उत्पन्न होते हे. शैल क्रिस्टल में सिलिकन और ऑक्सिजन के परमाणु सर्पिल रूप मे क्रम-बद्ध होते है, जिससे शैल क्रिस्टल में ध्रुवित प्रकाश के घूर्णन की क्षमता आती है. शैल क्रिस्टल परावैंगनी किरणो के प्रति पारदर्शी है (Weinstein, 179–80; Webster, I, 161; Deer *et al.*, IV. 184).

यद्यपि शैल क्रिस्टल कलाकृतियों की रचना के लिए मूल्यवान कच्चा माल माना जाता हे, किन्तु इलेक्ट्रानिकी मे इसके आधुनिक उपयोग कहीं अधिक महत्वपूर्ण हैं. 50 ग्रा. से अधिक भार वाला उच्च श्रेणी का क्रिस्टल अनेक कार्यो मे प्रयुक्त होता है. यह यथार्थमापी, इलेक्ट्रानिक और आवृत्ति नियंत्रण घटको तथा रेडियो और टेलीफोन, दोनो ही सेवाओ मे काम मे आने वाले कम्पित्र और फिल्टर आदि के काम मे लाया जाता हे. शैल क्रिस्टल यथार्थ घड़ियो के नियत्रण, भूमिगत जल सकेतन, भूकम्प लेखी, ध्वनिक पनडुब्बी नाशी युक्तियो, तथा दूरी और दिशा सूचक यंत्रो मे भी काम मे लाया जाता हैं. पराश्रव्य युक्तियो मे ट्रासड्यूसर के रूप मे क्वार्टज क्रिस्टल का उपयोग, बेरियम टाइटेनेट और चुम्बकीय विरूपण युक्तियों मे होड होने पर भी बढ गया हे. रेडार मे उपयोगी विलम्ब रेखाओ के निर्माण में भी शैल क्रिस्टल प्रयुक्त होता हे (Waesche in Gillson *et al.*, 687, Webster, I, 163, Parthasarathi *et al.*, *Def. Sci. J.*, 1959, 9, 94).

संश्लिष्ट क्वार्टज क्रिस्टल – केवल सुस्पष्ट शैल क्रिस्टल ही इलेक्ट्रानिक उपयोग के लिए प्रयुक्त होते हे; इन्हे दरार, अनुप्रस्थ भ्रश, अनियमित वृद्धि और अतर्वेशो तथा प्रकाशिक और वैद्युत यमलन मे भी मुक्त होना चाहिए. ब्राजील से प्राकृतिक शैल क्रिस्टल की माँग की पूर्ति न हो पाने तथा इसकी माँग बढ जाने के कारण सयुक्त राज्य अमेरिका की बेल टेलिफोन प्रयोगशाला मे एक ऐसे प्रक्रम का, जो उष्ण-जलीय प्रक्रम कहलाता हे, विकास किया गया हे, जिसमे निर्मल शुद्ध क्वार्टज की चिप्पियाँ तथा ऐसे छोटे क्रिस्टल मूल पदार्थ की तरह काम मे लाये जाते हे जो इलेक्ट्रानिक श्रेणी के क्रिस्टल की परिमाण सम्बन्धी विहित आवश्यकताओ की पूर्ति नही करते. सश्लिष्ट क्वार्टज क्रिस्टल किसी भी मात्रा और आकार मे उत्पादित किए जा सकते है. छोटे दानो अथवा केन्द्रक क्रिस्टलों (बीजो) की ठीक-ठीक कटाई करके क्रिस्टलो का ऐसा सरूप विकसित किया जा सकता है जिसमे काट-छाँट की क्रिया अधिक प्रभावशाली होती हैं.

सश्लिष्ट उत्पाद के क्रिस्टल-फलक क्रिस्टल इकाइयो मे कटाई के लिए स्टाक के सुगम दिक्‌विन्यास मे मदद करते हैं. सश्लिष्ट क्वार्टज क्रिस्टल, प्राकृतिक क्वार्टज मे बहुधा पाये जाने वाले वाह्य पदार्थो मे मुक्त होता हे, तथा बिना किसी प्रकाशिक वैद्युत यमलन के तैयार किया जा सकता हे. सश्लिष्ट क्रिस्टल आजकल विश्व के अनेक देशों मे व्यापारिक रूप से तैयार किये जाते हैं. भारत मे अतिशुद्ध क्वार्टज की विविध क्रिस्टलीय समष्टियो ने लगभग 2·5 सेमी. व्यास वाले सश्लिष्ट क्वार्टज क्रिस्टलो (लगभग 7 ग्रा. भार वाले) का विकास कलकत्ता के

केन्द्रीय कांच और मृत्तिका गवेषणा संस्थान द्वारा किया गया है [Coggin Brown & Dey, 625, *Times Rev. Ind., N.S.*, 1961, **15**(175), 79, Waesche in Gillson *et al.*, 687, Bandyopadhyay & Saha, *Res. & Ind.*, 1966, **11**, 78; *Chem. Weekly*, 1965, **10**(20), 24].

प्रकाशीय क्वार्टज सामान्यतया 500 ग्रा. या अधिक भार वाले टुकडों मे प्राप्य स्वच्छ शैल क्रिस्टल होता है. इसे अनुप्रस्थ भ्रंश, विकृति, तथा प्रकाशीय यमलन से मुक्त होना चाहिए; किन्तु वैद्युत यमलन से मुक्त होना आवश्यक नही. प्रकाशीय क्वार्टज अधिक विभेदन प्राप्त करने के लिए परावैंगनी प्रकाश वाले सूक्ष्मदर्शियो की लेंस रचनाओ मे; तथा स्पेक्ट्रम लेखी के प्रिज्मो और लेसो मे भी प्रयुक्त होता हे. यह पेट्रोग्राफिक सूक्ष्मदर्शियो की फन्नियो तथा क्वार्टज अपवर्तनाक मापियो के घटको के लिए भी काम मे लाया जाता है (Ladoo & Myers, 422, Webster, I, 163, Waesche in Gillson *et al*, 687).

प्रकाशिक गुण वाले बडे क्रिस्टलो की कमी होने के कारण, वैद्युत यमलन के अतिरिक्त समस्त दोषो और अशुद्धियो से मुक्त सगलित क्वार्टज प्रकाशीय घटको के निर्माण मे प्रयुक्त किया जाता है. स्वच्छ सगलित क्वार्टज सावधानी से छांटी हुई रेडियो कोटि के शैल क्रिस्टलो की रद्दी से बनाया गया स्वच्छ और रगहीन उत्पाद होता है. यह लेस रचनाओ, परावैंगनी सचरण नलिकाओ, विद्युत घटको (सेलो), और लेसो, उच्च तनाव वैद्युत रोधियो, वैज्ञानिक यत्रो मे मरोड निलबन, तथा प्रयोगशाला-पात्रो के लिए प्रयुक्त होता है. कांचसम सिलिका, सगलित-सिलिका अथवा पारभासी सगलित-क्वार्टज, सिलिका बालू से निर्मित पारभासी अथवा अपारदर्शी प्ररूप होते हैं. सगलित क्वार्टज से इनका घनत्व और यांत्रिक सामर्थ्य न्यून तथा सरन्ध्रता उच्च होती है. ये कम कान्तिक कामो मे प्रयुक्त होते हैं (Ladoo & Myers, 423, Waesche in Gillson *et al.*, 687).

शैल क्रिस्टल यद्यपि निर्मल और शुद्ध होता हे, किन्तु इसमे 'चमक' नही होती. इस पर अच्छी पालिश हो जाती हे. प्रचुर मात्रा मे पाये जाने के कारण इसका मूल्य कम होता हे. फलकित पाषाण और माला के मनके आदि मे काटने पर शैल क्रिस्टल का मूल्य इसके कटाई के मूल्य से कुछ ही अधिक होता है. शैल क्रिस्टल आसानी से रँगा जा सकता है. इसके बडे-बडे क्रिस्टलो को काट कर बडी-बडी कला-कृतियाँ बनाई जाती हैं. भारत मे, ईसा से पूर्व चौथी सदी से, शैल क्रिस्टल का प्रयोग कलश, रत्न पेटी तथा कई प्रकार के अलकृत कलश बनाने मे होता रहा ह. हार मे रगीन पत्थरो के बीच लगाये जाने वाले छोटे-छोटे मनके जो राण्डेल कहलाते हैं, प्राय: शैल क्रिस्टल से ही बनाये जाते हैं. सग्रथित सूदे एमरेल्ड के आधे भाग प्राय: प्राकृतिक अनुप्रस्थ भ्रंश युक्त शैल क्रिस्टल के ही बने हुए होते हैं. शैल क्रिस्टल को पालिश करके क्रिस्टल गेंजिगवाल बनाई जाती है, ऐसी बाल कांच से भी बनाई जा सकती है. शैल क्रिस्टल से बनाई गई बाल बहुत ठडी प्रतीत होती हैं; तथा प्रकाशित अक्ष के अतिरिक्त इसके आरपार किसी बिन्दु को देखने पर उसके दो चित्र दिखाई देते हैं (Webster, I, 161; Weinstein, 179–82, Coggin Brown & Dey, 625).

श्वेत क्वार्टज अथवा **दूधिया क्वार्टज** शैल क्रिस्टल की सूक्ष्म गुहिकाओ मे गैस अथवा द्रव के अंतर्वेशन से बना उत्पाद होता हे जो किन्ही कोणो से देखने पर वर्णिक प्रभाव दर्शित करता है. कभी-कभी इसका दूधियापन, केवल सतह तक ही सीमित होता है. शिरा क्वार्टज बहुधा श्वेत क्वार्टज होता है जो प्राय: स्वर्ण-युक्त होता है. स्वर्ण-कणों मे युक्त माल से प्लेट अथवा कैबोकोन आकृतियाँ बनाई जाती हैं. दूधिया क्वार्टज चन्द्रकांतमणि के समान होता है, तथा कभी-कभी लटकन और गले के आभूषण बनाने के काम आता है. इसका रंग अन्य पत्थरो के साथ आकर्षक लगने के कारण यह फैशन-आभूषणो के बनाने मे बहुत उपयोगी हो सकता है (Weinstein, 182, Webster, I, 164).

भूरा क्वार्टज द्विप्रावस्था ऋणात्मक क्रिस्टल गुहिकाओ से युक्त होता है; गुहिकाओ मे द्रव प्रावस्था प्राय: अन्तर्वेश के रूप मे कार्बन डाइऑक्साइड होती हैं. यह सुस्पष्ट द्विवर्णता दर्शित करता है जिसमे एक किरण भूरी और दूसरी गुलाबी-सी भूरी होती है. इसका रग शैल क्रिस्टल मे प्राय: सिलिका के परमाणुओ के कोलाइडी वितरण अथवा जैविक कार्बनमय पदार्थ की उपस्थिति के कारण होता है.

भूरे क्वार्टज का रग हल्के भूरे से लगभग काले रग तक पाया जाता हे. धूमिल रग का भूरा क्वार्टज, धूमिल क्वार्टज कहलाता हे. गर्म करने पर भूरे क्वार्टज का रंग प्राय: हल्का पड जाता हे; अन्तिम रंग, ताप तथा प्रक्रम की अवधि पर निर्भर करता है. अधिक काला क्वार्टज मोरिआन कहलाता है यह विशेष महत्वपूर्ण नही होता. लालाभ भूरा अथवा भूराभ पीला क्वार्टज कैर्नगार्म अथवा स्काच टोपैज कहलाता है (Webster, I, 165, Weinstein, 182).

पीला क्वार्टज हल्के सुनहले पीले से लाल-से पीले रंग तक का होता हे, यह सिट्रिन अथवा छद्म टोपैज भी कहलाता है. इसका रग सम्भवत: फैरिक ऑक्साइड की सूक्ष्म मात्रा की उपस्थिति के कारण होता है. यह सुस्पष्ट द्विवर्णता दर्शित करता हे. सिट्रिन रत्नाभूषणो मे प्रयुक्त सस्ता पत्थर है. प्राकृतिक सिट्रिन बहुत कम पाया जाता है. बाजार मे मिलने वाला सिट्रिन मुख्यतया भूरे क्वार्टज अथवा ऐमिथिस्ट को गर्म करके बनाया जाता है (Webster, I, 165, Weinstein, 184–85).

ऐमिथिस्ट (नीलमणि) क्वार्टज का एक मूल्यवान खनिज हे, जो अद्भुत यमलन दर्शित करता हे. यह फीके बैंगनी से भडकीले जामुनी रग तक मे प्राप्त होता है. इसके रग की उत्पत्ति के अनेक कारण माने जाते हैं, जैसे कि मैंगनीज, पोटैसियम फेरोमायनाइड, फेरिक सायनाइड और कोई जैव पदार्थ की उपस्थिति, यमल पटलिका के सम्पर्क क्षेत्र मे विभिन्न खनिजो के अणुओ का सान्द्रण, कोलाइडी अवस्था मे लोह, अथवा टाइटेनियम की उपस्थिति. ऐमिथिस्ट बहुधा रग-बिरगा होता हे, तथा इसके उदग्र-अक्ष के लम्ब कोण पर लिए गये काट प्राय गहरे बैंगनी रग के एकान्तर त्रिभुजाकर त्रिज्य-खड दर्शित करते हैं, जबकि अन्य एकान्तर त्रिज्य-खड लगभग रगहीन होते हैं अत: कटे हुए ऐमिथिस्ट मे लगभग 60° के कोण वाले वर्ण-विच्छेद, अथवा सीधी पट्ट रचना सामान्य है.

ऐमिथिस्ट स्पष्ट द्विवर्णता दर्शित करता है, यमल वर्ण नीलाभ-बैंगनी तथा लालाभ-बैंगनी होते हैं. यह द्विवर्णता उष्मा-उपचारित भूरे पत्थरो मे नहीं पाई जाती. चेलमिया रग के

फिल्टर के नीचे ऐमिथिस्ट लाल-सा दृष्टिगोचर होता है. ऐमिथिस्ट का उपयोग रत्नाभूषणों में लोकप्रिय है, तथा अँगूठी में जड़ने के रत्न, मुद्रा, वस्त्रों पर लगाने के रत्न-जटित सुरक्षित पिन, माला के मनके, लटकन और कण्ठाभरणों आदि के बनाने में प्रचुर मात्रा में काम में लाया जाता है. घने अनुप्रस्थ अंश युक्त संपुंजित ऐमिथिस्टाइन क्वार्टज से नक्काशी करके अनेक कलाकृतियाँ बनाई जाती हैं. नकली ऐमिथिस्ट पवनावर्त चिह्नों से युक्त न्यून अपवर्तनांक वाले काँच, तथा उपयुक्त रंग के संश्लिष्ट कोरंडम से बनाये जाते हैं (Webster, I, 166–71; Weinstein, 185–88).

गुलाबी क्वार्टज लगभग श्वेत से गुलाबी रंग का होता है. यह प्रायः कम पाया जाता है, और संपुंजित धुँधला तथा दरारों से पूर्ण होता है. इसका यह रंग टाइटेनियम ऑक्साइड अथवा मैंगनीज की उपस्थिति के कारण माना जाता है. यह गहरे रंग के माल में बहुत तीव्र द्विवर्णता दर्शित करता है. गुलाबी क्वार्टज का रंग बहुत मन्द होता है और गर्म करने या सूर्य के तेज प्रकाश में रखने पर और भी फीका पड़ जाता है. यह मुख्यतया छोटी मूर्तियाँ बनाने, राखदानी और छोटी कलाकृतियाँ बनाने के काम में लाया जाता है. गुलाबी क्वार्टज कृत्रिम रूप से भी रँगा जाता है (Webster, I, 171; Weinstein, 189).

कैट्स आई क्वार्टज (लहसुनिया, विडालाक्ष मणि) प्राकृतिक रूप में एक हरिताभ अथवा हरिताभ भूरा पत्थर होता है, जो प्रकाश की कैट्स आई वर्ण रेखा दर्शित करने के लिए काटने पर क्रिसोबेरिल कैट्स आई का निकटतम अनुरूप हो सकता है. काटे हुए प्रस्तर का रंग शहद के समान पीले, भूरे से भूरे-हरे तक हो सकता है. कैट्स आई क्वार्टज की वर्ण अस्थिरता आतिथेय क्वार्टज के मुख्य अक्ष के समान्तर व्यवस्थित बारीक ऐस्बेस्टास के तंतुओं के समूह के कारण होती है. यह प्रायः गहरे नीले अथवा गुलाबी धब्बों से युक्त होता है. यह मुद्रा, छड़ी और छातों के दस्ते, पेटी, तथा लोकप्रिय आभूषण बनाने के काम आता है (Webster, I, 172; Weinstein, 188).

क्रोसिडोलाइट क्वार्टज (टाइगर्स आई क्वार्टज) क्वार्टज की भूराभ-पीत और कभी-कभी हल्के नीले रंग की किस्म है. यह क्रोसिडोलाइट ऐस्बेस्टास का सिलिकामय कूटरूपी होता है तथा उचित रूप से काटने पर कैट्स आई प्रभाव दर्शित करता है. गर्म करने पर इसका रंग परिवर्तित होने लगता है जो अन्त में लाल हो जाता है. इसे कभी-कभी रँगा भी जाता है. क्रोसिडोलाइट क्वार्टज समतल प्लेट, माला के मनके, केबोकोन तथा केमियो आदि बनाने के काम में आता है. यह अल्प पारभासी से अपारदर्शी, सुनहरी रेशम की द्युति के पीले से सुनहले भूरे पत्थर की सतह प्रत्यावर्ती भूरी पट्टियों युक्त तथा चमकीली पीली पट्टरचना दर्शित करती है और पत्थर को घुमाने पर उत्क्रमित रंगों को दिखाई देती है (Weinstein, 189; Webster, I, 172).

एवेण्टुराइन क्वार्टज हरे क्रोम-अभ्रक के पट्टित क्रिस्टल अथवा लोह खनिज के अन्तर्वेशों से युक्त एक संपुंजित, अपारदर्शी और गहरे हरे रंग का पत्थर होता है. इसमें जगमगाहट होती है. भारत अधिकांश हरे एवेण्टुराइन क्वार्टज की व्यापारिक पूर्ति करता है. यह क्वार्टज भारतीय जेड भी कहलाता है. यद्यपि पाश्चात्य देशों में इस पत्थर को विशेष महत्व नहीं दिया जाता किन्तु चीनवासी इसे आदर की दृष्टि से देखते हैं. एवेण्टुराइन के उत्तम श्रेणी के बड़े खण्ड अपेक्षाकृत कम पाये जाते हैं. यह नक्काशी किए हुए आभूषणों और माला के मनकों में प्रयुक्त होता है. लाल-सी भूरी एवेण्टुराइन का नकली माल जो कि गोल्ड-स्टोन कहलाता है पिघले हुए काँच में ताम्र-पत्रक प्रवेश करके, बनाया जाता है. यह पर्यटकों के लिए सस्ते व्यापारिक रत्नाभूषण बनाने के काम में आता है (Webster, I, 172; Weinstein, 190).

ऐगेट (गोमेद, अकीक) मोमी द्युति वाली कैल्सेडोनी की पट्टित अथवा द्रुमाकृतिक किस्म है. पट्टियाँ चौड़ी अथवा बारीक लेकिन एक दूसरे के समान्तर होती हैं. ये सीधी, तरंगित, अथवा टेढ़ी-मेढ़ी आकृतियों की तथा प्रायः संकेन्द्री होती हैं. परतों की सरंध्रता के कारण ऐगेट सुगमता से रँगा जा सकता है. द्रुमाकृतिक ऐगेट (मॉस ऐगेट अथवा मोचा स्टोन) में प्रायः मैंगनीज डाइऑक्साइड, लोह ऑक्साइड अथवा क्लोराइट के खनिज अन्तर्वेशों से वृक्ष जैसी आकृतियाँ बनी होती हैं. भारतीय मॉस ऐगेट उत्तम श्रेणी के माने जाते हैं. पट्टित ऐगेट का रंग विभिन्न परतों में अलग-अलग हो सकता है. यह दूधिया-श्वेत, कुछ-कुछ नीला और हरा होता है. ऐगेट से अनेक प्रकार के आभूषण जैसे कि हार, अँगूठियाँ, तावीज, कर्ण-फूल, वस्त्रों में लगाने की अलंकृत सुरक्षित-पिनें, कलाई पर बाँधने की पट्टियाँ, तथा माला के मनके आदि बनाये जाते हैं. ऐगेट, नाजुक तुलाओं के आलम्ब शल्क (फलक्रम), छोटी खरल और मूसल, रोशनाई-स्टेण्ड, घड़ियों के बाहरी ढाँचे, चाकू के दस्ते, तथा कलेण्डर आदि बनाने में भी काम में लाया जाता है. ऐगेट की गुटिकाएँ बाल-मिलों में पेषण-पत्थर के रूप में प्रयुक्त होती हैं (Webster, I, 178; Weinstein, 192; Sahni, *Indian Miner.*, 1948, 2, 251; भारत की सम्पदा – प्राकृतिक पदार्थ, I, 208).

ऑनिक्स (गोमेद, गोमेदक) प्रायः काले और श्वेत प्रत्यावर्ती रंगों वाला ऐगेट होता है. यदि प्रत्यावर्ती पट्टियाँ लाल और श्वेत रंग की होती हैं तो यह सार्डोनिक्स कहलाता है. ऑनिक्स और सार्डोनिक्स के केमियो, कप और कलश आदि बनाये जाते हैं. आभूषणों में काम आने वाला काला ऑनिक्स रंजित कैल्सेडोनी होता है (Webster, I, 177; Weinstein, 195).

क्रिसोप्रेज अति मूल्यवान कैल्सेडोनी होता है. इसका रंग सेब-जैसे आकर्षक हरे से धुंधला हरिताभ-पीला तक बदलता रहता है. क्रिसोप्रेज का रंग ऑक्साइड अथवा सिलिकेट के रूप में उपस्थित निकेल के कारण होता है. यह प्रायः केबोकोन, माला के मनके, मुद्रा तथा केमियो बनाने में प्रयुक्त होता है. ऐक्टिनोलाइट के बाल-जैसे क्रिस्टल समूह से युक्त कैल्सेडोनी एक मंद हरे रंग का पत्थर है जो प्रेज कहलाता है. अन्तर्वेश के रूप में क्लोराइट से युक्त कैल्सेडोनी एक गहरा हरा, श्वेत और पीले धब्बों वाला चितकबरा पत्थर होता है जो प्लाज़्मा कहलाता है. प्लाज़्मा अल्प पारभासी से अपारदर्शी तक होता है, और कभी-कभी आभूषण बनाने के काम आता है. यदि जैस्पर के कारण प्लाज़्मा के धब्बे चमकदार लाल रंग के होते हैं तो यह पत्थर ब्लडस्टोन (हीलियोट्रोप) कहलाता है. मुहर

बनाने में ब्लडस्टोन का उपयोग लोकप्रिय है. डेकन ट्रैप चट्टानों में पाया जाने वाला भारतीय ब्लडस्टोन सर्वोत्तम माना जाता है. यह अँगूठियों में जड़ने के काम आता है (Webster, I, 175–78; Weinstein, 188–99).

कार्नीलियन एक अल्प-पारभासी भूरा-सा लाल अथवा पाण्डु-रक्त रंग का फेल्सेडोनी है. इसका रंग हीमेटाइट के अन्तर्वेश के कारण हो सकता है. अधिक समय तक नमी में खुला रखने तथा सूर्य प्रकाश के उष्मा प्रभाव और पराबैंगनी विकिरण के कारण भी कार्नीलियन के रंग की उत्पत्ति हो सकती है. वाणिज्य का कार्नीलियन विशेषतया, रंजित अथवा गर्म किया हुआ होता है.

कार्नीलियन से माला के मनके, केबोकोन, अँगूठी में जड़ने के नगीने, वस्त्रों पर लगाने के अलंकृत सुरक्षित पिन, लटकन और कर्णफूल बनाये जाते हैं. कार्नीलियन पर की गई चीन देश की नक्काशी सर्वोत्तम श्रेणी की मानी जाती है. भारत में इस पत्थर से माला के मनके, प्याले और कलश बनाये जाते हैं. यह प्रायः अप्रसाधित तथा फीके पीले रंग का होता है. यदि कैल्सेडोनी में लिमोनाइट का अन्तर्वेश होता है तो यह प्रस्तर पीताभ और भूराभ लाल होता है तथा सार्ड कहलाता है. ग्रीस और रोम वासी इसे मीना किए हुए नगीने और मुहर बनाने के काम में लाते हैं. सार्ड विशेष आकर्षक नहीं होता है और कभी-कभी ही आभूषणों में प्रयुक्त होता है (Weinstein, 196–98; Webster, I, 177).

जैस्पर (आ.घ., 2·58–2·91; कठोरता, 7) अनेक अशुद्धियों से युक्त एक अपारदर्शी, गूढ़-क्रिस्टलीय, संपुंजित और संहत क्वार्टज है. इसके रंग, यथा गहरा लाल, भूरा, पीला, हरा अथवा धूसर बहुत मंद होते हैं; तथा फेरिक ऑक्साइड, लोह-सिलिकेट और मृत्तिका आदि से जन्य होते हैं. यह नकली लाजवर्द (लेपिस लेजुली) बनाने में प्रयुक्त होता है, किन्तु इसकी परिवर्तनशील सरन्ध्रता के कारण नीला रंग एक समान नहीं बैठता. घटिया माल स्विस-लेपिस के नाम से बेचा जाता है. जैस्पर प्रायः बड़े सजावटी कामों में प्रयुक्त होता है; संकोणाश्मित जैस्पर पर पालिश अच्छी जमती है, तथा यह आभूषण बनाने के काम में आता है. बेसेनाइट एक मखमली-काला और सूक्ष्म कणों वाला चकमकी जैस्पर होता है तथा बहुमूल्य धातुओं के परीक्षण के लिए जौहरियों द्वारा उपयोग में लाया जाता है (Weinstein, 198; Webster, I, 182; Dana, 473).

ओपल (दूधिया पत्थर) (आ.घ., 2·15; कठोरता, लगभग 6; अपवर्तनांक, 1·45) कड़ा सिलिका जेल होता है; इसकी बहुमूल्य किस्मों में 6–10% जल होता है. ये किस्में सिलिका के रत्नों की सबसे मूल्यवान किस्में मानी जाती हैं. स्पेक्ट्रम की सम्पूर्ण छटाओं में प्राप्त अपने अभिलाक्षणिक वर्ण विलास के कारण ओपल एक अद्वितीय पत्थर माना जाता है. ओपल सापेक्षतः कोमल होने के कारण आसानी से खरोंचा जा सकता है, तथा इसमें दरार पड़ने और टूटने की प्रवृत्ति पाई जाती है. अम्ल, क्षार, तथा गर्म जल से भी ओपल को क्षति पहुँचती है. किन्तु सावधानी से उपयोग में लाने पर यह लगभग चिरस्थायी रहता है, तथा आसानी से पालिश किया जा सकता है.

आभूषणों में काम में आने वाले 4 प्रकार के ओपलों में, कुछ-कुछ काली पृष्ठ भूमि में लाल अथवा हरी दीप्ति दर्शित करने वाले चमकदार द्रव्य से युक्त काला ओपल बहुमूल्य रत्नों से अधिक सुन्दर और मूल्यवान होता है. फायर ओपल नारंगी से लाल रंग का तथा पारदर्शक से अल्प पारभासी होता है. श्वेत ओपल हल्की श्वेत पृष्ठ भूमि में अति आकर्षक वर्ण विलास दर्शित करता है; तथा वाटर ओपल जल-समान श्वेत प्रस्तर में रंग की भड़कीली दीप्ति दर्शित करता है. हायलाइट, ओपल की रंगहीन और पारदर्शक किस्म है. श्वेत ओपल, पराबैंगनी प्रकाश में प्रायः दीर्घस्थायी हरित स्फुरदीप्ति सहित, श्वेत से नीलाभ, कुछ-कुछ भूरे अथवा हरे रंगों में परिवर्ती संदीप्ति दिखाता है; काले ओपल सामान्यतया अक्रिय होते हैं.

ओपल केबोकोन आकृति में काटे जाते हैं, तथा जड़ाव के नगीने बनाने में प्रयुक्त होते हैं. ये लटकन तथा वस्त्रों पर लगाने के रत्न जटित सुरक्षित पिनों के बीच में जड़ने के नगीनों के रूप में, तथा केमियों में भी उपयोग में लाए जा सकते हैं. उत्तम ओपल की पतली पट्टियों को निम्न श्रेणी के ओपल अथवा ऑनिक्स के द्वारा प्रबलित करके ओपल ढिक् बनाये जाते हैं, और इन्हें एक ही पत्थर-जैसी आकृति दी जाती है. ओपल के त्रिक् भी बनाये जाते हैं; तथा ओपल के अनेक टुकड़ों को एक साथ संयोजित करके माला के मनके बनाये जाते हैं (Weinstein, .93; Webster, I, 184).

सामान्य खनिज

संपुंजित क्वार्टज, क्वार्टजाइट, बालू, बलुआ पत्थर, फ्लिण्ट, चर्ट, तथा **डायटमी मृदा** सिलिका के सामान्य खनिज (अर्थात् खनिज जो रत्न नहीं हैं) होते हैं. इन सब खनिजों का बारीक पिसा हुआ पाउडर लकड़ी पर पालिश और परिष्कार करने, तथा पूरक के रूप में लकड़ी, उर्वरक, कीटनाशी, रबड़ और सड़क पर ऐस्फाल्ट की सतह डालने के मिश्रणों में प्रयुक्त होता है. अनेक विनिर्देशों के अनुसार पेषण होने के पश्चात् ये खनिज रेगमाल के अपघर्षी पदार्थ, धातुओं और प्रस्तरों को माँजने और पालिश करने के मसाले, अश्म मुद्रण बालू, दंत मंजन, निस्यंदन माध्यम तथा रंग लेपों में अक्रिय विस्तारक आदि के रूप में काम में लाये जाते हैं. परिमित रूप से शुद्ध बालू, संपुंजित क्रिस्टलीय क्वार्टज, बलुआ पत्थर, क्वार्टजाइट, अथवा चर्ट, सिलिकन, फेरो-सिलिकन तथा सिलिकन की मिश्रधातुओं के विनिर्माण में प्रयुक्त होते हैं. संपुंजित क्वार्टज तथा क्वार्टजाइट क्षारकीय अयस्कों के प्रगलन के लिए गालक के रूप में, तथा ऐसिड टावर में अस्तर के रूप में प्रयुक्त होते हैं. शुद्ध पिसा हुआ क्वार्टज बालू, ट्रिपोली तथा डायटमी मृदा, सोडियम सिलिकेट और अन्य रसायनों के तैयार करने में तथा शुद्ध क्वार्टज बालू सिलिकन कार्बाइड और सामान्य काँच की तैयारी में प्रयुक्त होता है. अति शुद्ध सिलिका मृत्तिका शिल्प में पिंडों, ग्लेज, तथा इनैमेल में संघटक के रूप में काम में लाया जाता है. क्वार्टजाइट, सिलिका की उच्चताप-सह ईंटों में, बालू तथा ट्रिपोली ढलाई करने के कारखानों में, तथा डायटमी मृदा उष्मा और ध्वनि-रोधियों तथा अपघर्षी पदार्थों में प्रयुक्त होते हैं. फ्लिण्ट की गोल गुटिकाएँ पेषण गुटिकाओं के रूप में काम में लाई जाती हैं (Ladoo & Myers, 428).

उत्पादन तथा व्यापार

सिलिका की विभिन्न रत्न एवं सामान्य किस्मों के उत्पादन के पृथक् आँकड़े उपलब्ध नहीं है. संपुंजित, दानेदार और दलित किस्मों सहित क्वार्टज और सिलिका का उत्पादन सारणी 2 में दिया गया है. जैसा कि कहा जा चुका है, बालू का वर्णन पृथक् शीर्षक के अन्तर्गत किया जावेगा. संपुंजित, दानेदार अथवा दलित किस्मों सहित क्वार्टज का उपयोग सारणी 3 में दिया गया है.

सिलिका की रत्न किस्मों का उत्पादन भारत में प्राचीन काल से होता आया है, इन रत्नों के प्रसाधन हेतु जौहरियों के कारखाने कैम्बे, जयपुर, जबलपुर, बाँदा, तंजाउरू, तथा तिरुचिरापल्ली स्थानों पर स्थित हैं. मुख्यतया कैल्सेडोनी किस्मों (ऐगेट, कार्नीलियन, ऑनिक्स आदि) के भारतीय सिलिका रत्न सर्वोच्च श्रेणी के माने जाते है, तथा वृहत्तम मात्रा में उत्पादित किए जाते हैं. शैल क्रिस्टल ऐमिथिस्ट तथा अन्य क्रिस्टलीय किस्में और ओपल भी प्रचुर मात्रा में निकाले जाते है. ऐगेट गुटिकाओं के उत्पादन के मुख्य केन्द्र गुजरात के कैम्बे क्षेत्र में स्थित हैं. गुजरात में हाल ही के कुछ वर्षो में हुआ ऐगेट का उत्पादन सारणी 4 में दिया गया है. बाल मिलों में उपयोग के लिए भारत में उत्पादित कैल्सेडोनी गुटिकाओं का मूल्य 1964 में 58,000 रु. था (*Indian Miner. Yearb.*, 1964, 110, 826; Jahns in Gillson *et al.*, 409–11; Coggin Brown & Dey, 621; Wlth India — Industrial Products, pt VI, 183).

निर्यात तथा आयात — क्वार्टज एवम् सिलिका बालू की प्रचुर मात्राएँ निर्यात की जाती हैं; जापान इनका मुख्य क्रेता है. इन खनिजों की लघु मात्राएँ मुख्यतया ब्रिटेन, नीदरलैंड, स्वीडन, संयुक्त राज्य अमेरिका, तथा जर्मनी से आयात की जाती हैं. कुछ वर्षो में हुए क्वार्टज एवम् सिलिका बालू के निर्यात और आयात के आँकड़े सारणी 5 में दिए गये हैं. ऐसा अनुमान लगाया जाता है कि लगभग 2,750 किग्रा. क्वार्टज के क्रिस्टल इलेक्ट्रानिक उद्योगों में उपयोग के लिए प्रति वर्ष आयातित किए जाते हैं [*Indian Miner. Yearb.*, 1964, 720–21; *Chem. Weekly*, 1965, 10(20), 24].

भारतीय सिलिका रत्न तथा इनसे बनाई गई वस्तुओं का अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार बहुत समय से होता आया हैं. अल्प मूल्य की कैल्सेडोनी किस्में जैसे कि ऐगेट, कार्नीलियन, तथा ऑनिक्स अनेक देशों को निर्यात की गई हैं किन्तु सिलिका रत्नों के व्यापार के पृथक् आँकड़े उपलब्ध नहीं है (Coggin Brown & Dey, 621).

डायटमी मृदा तथा ट्रिपोली के आयात के आँकड़े सारणी 6 में दिए गए हैं. संयुक्त राज्य अमेरिका, ब्रिटेन, जर्मनी, बेल्जियम, इटली, अल्जीरिया तथा केन्या इनके मुख्य निर्यातक देश है (*Statist. Summ. Miner. Ind.*, 1960–65, 126).

मूल्य — क्वार्टज और सिलिका बालू की विभिन्न श्रेणियों के मूल्य सारणी 7 में दिए गये हैं. 1964–67 मे क्वार्टज और सिलिका बालू के मूल्यों में कोई विशेष अन्तर नही आया है.

सारणी 2 — भारत में क्वार्टज एवम् सिलिका का उत्पादन (1963–67)
(मात्रा : टन; मूल्य : हजार रु. में)

	1963*		1964*		1965†		1966†		1967†	
	मात्रा	मूल्य	मात्रा	मूल्य	मात्रा	मूल्य	मात्रा	मूल्य	मात्रा	मूल्य
आन्ध्र प्रदेश	16,588	69	18,759	88	48,350	199	65,001	204	31,782	201
केरल	11,146	30	4,943	10	7,388	18	6,131	15	4,935	12
गुजरात	23,550	108	36,491	137	29,637	149	28,493	117	37,086	136
तमिलनाडु	3,768	19	1,739	8	2,063	10	1,019	6	6,030(आ)	16(आ)
बिहार	42,998	1,115	21,278	353	19,099	261	35,166	409	35,765	479
मध्य प्रदेश	54,135	322	46,124	240	84,228	568	32,925	297	25,983	293
महाराष्ट्र	18,812	140	23,226	169	21,183	151	17,272	125	13,934	101
मैसूर	33,655	372	40,118	527	30,070	461	40,145	545	40,917	413
राजस्थान	45,193	441	52,293	577	53,700	640	49,428	675	54,266	675
अन्य (अ)	121	1	2,691	16	1,415	16	607	10	8,142	103
योग	2,49,966	2,617	2,47,662	2,125	2,97,133	2,473	2,76,187	2,403	2,58,840	2,429

Indian Miner. Yearb., 1964, 715;
†*Mon. Bull. Miner. Statist. & Inform.*, 1966, 6(11 & 12), I· 27; 1967, 7(11 & 12), I: 27.
(अ) दिल्ली, उड़ीसा, पंजाब, हरियाणा तथा पश्चिम बंगाल.
(आ) चर्ट के उत्पादन सहित.

खपच्ची और लकड़ी के रूप में उपयोगी है (IS: 399–1952, 37; Chowdhury & Ghosh, *Indian For. Rec., N.S., Util.*, 1946, 4(3), 19; Lewis, 84).

लकड़ी और जड़ से एक कटु पदार्थ निकलता है जो क्वासिन जैसा ही बताया जाता है. लकड़ी का काढ़ा एक तिक्त टॉनिक माना जाता है और क्वासिया के स्थान पर व्यवहृत होता है. काष्ठ और छाल का काढ़ा पाचक तथा आर्तवजनक के रूप में दिया जाता है (Wehmer, I, 641; Kirt. & Basu, I, 508; Burkill, II, 1946).

बीज की गिरी से सुनहरा पीला, कटु, वसीय तैल (37%) निकलता है जिसमें ऐल्कोहल विलेय पदार्थ विलग कर देने पर निम्न अभिलक्षण पाये जाते हैं: आ.घ.$^{25°}$, 0·9204; $n_D^{25°}$, 1·4713; अम्ल मान, 0·2; आयो. मान, 115; साबु. मान, 187; और असाबु. पदार्थ, 0·7%. तेल के वसा-अम्ल इस प्रकार हैं: पामिटिक, 9; ओलीक, 36; और लिनोलीक, 48%. ऐल्कोहल विलेय प्रभाज से ग्लूकोसाइड समाडेरोसाइड-ए (ग.वि., 275–76°; $[\alpha]_D^{17°}$, +97·4°) और समाडेरोसाइड-बी (ग. वि., 301–03°; $[\alpha]_D$, ±0). इससे समाडेरिन, इनासिटाल और रेज़िन विलग किये जाने की भी सूचना मिली है (Mitra & Garg, *Naturwissenschaften*, 1962, 49, 327; Hilditch, 1956, 247; Wehmer, I, 643).

इंडोनेशिया में बीजों का उपयोग वमनकारी, रेचक और पित्तीय ज्वरों की औषधियों के रूप में होता है. बीज का तेल गठिया रोग में मालिश के काम आता है. पत्तियों को कुचल कर दाद में बाह्य लेप किया जाता है. सोलोमन टापू में भिगोकर गलाई गई पत्तियों को नारियल के तेल में मिलाकर बाल साफ करने के प्रयोग में लाते हैं. पत्तियों का काढ़ा खुजली में तथा जुयें, मक्खी और दीमक मारने में काम आता है [Burkill, II, 1945–46; Kirt. & Basu, I, 508; Fl. Malesiana, Ser. I, 6(2), 201].

Samadera indica Gaertn.; *S. lucida* Wall.

क्वासिया जमैका – देखिए पिकरास्मा

क्विस – देखिए साइडोनिया

क्विस, फोल्स – देखिए डोसाइनिया

क्विलैजा मोलिना (रोज़ेसी) QUILLAJA Molina

ले. – कुइल्लाजा

Bailey, 1947, III, 2891.

यह झाड़ियों या वृक्षों का एक लघु वंश है जो दक्षिण अमेरिका का मूलवासी है. इसकी एक जाति **क्वि. सैपोनेरिया** भारत में लाकर लगाई गई है.

क्वि. सैपोनेरिया मोलिना (**सोप बार्क, क्विलैश्रा बार्क**) एक सदाहरित शोभाकारी वृक्ष है जो चिली और पीरू में ऐण्डीज पर्वत के पश्चिमी ढलानों का मूलवासी है किन्तु इसको भारत में प्रविष्ट किया गया है और नीलगिरि पर्वत स्थित ऊटकमंड के वनस्पति-उद्यानों में उगाया जा रहा है. यह ठंडी और आर्द्र जगहों में उपजाने के उपयुक्त बतलाया जाता है (Krumbiegel, 28; Information from the Curator, Government Botanic Gardens, Ootacamund).

क्वि. सैपोनेरिया औद्योगिक और चिकित्सीय कार्यों के लिये क्विलैश्रा छाल का स्रोत है और भारत और ब्रिटिश फार्माकोपियाओं में यह अधिकृत माना गया है. क्विलैश्रा छाल लगभग सम्पूर्ण सैपोनिनयुक्त आन्तरिक छाल (फ्लोएम) पर आवृत होती है और बाहरी छाल को उतार देने के बाद प्राप्त की जाती है जिसमें टैनिन और रंजक पदार्थ तो विद्यमान होते हैं लेकिन सैपोनिन नहीं होता. क्विलैश्रा छाल गंधरहित चपटे टुकड़ों के रूप में बिकती हैं जिनकी लम्बाई लगभग एक मीटर, चौड़ाई 10–20 सेंमी. और मोटाई 3–10 मिमी. होती है (Trease, 373; I.P., 514; B.P., 1963, 692).

क्विलैश्रा छाल के चूरे को पानी में घोलने पर काफी झाग उठता है और इसका उपयोग मुलायम कीमती कपड़ों के धोने में किया जाता है. युद्धकाल में लेंसों को साफ करने के काम आने वाले उत्कृष्ट पदार्थों में यह भी एक था. यह प्रक्षालक के रूप में इस्तेमाल होता है. इसके साथ ही, विभिन्न शैम्पुओं, केश टॉनिकों और अन्य कांतिवर्धकों, टार-विलयनों और धातु-पालिशों में यह पायसीकर और फेनकर के रूप में काम आता है. आग बुझाने के घोलों में भी इनका उपयोग होता है. चिकित्सा में यह कफोत्सारक और मूत्रल होने के साथ ही त्वचा-उद्दीपक बतलाया जाता है, कुछ विशिष्ट त्वचा-रोगों में सिर धोने के काम आने वाले लोशनों में इसके अर्क का उपयोग किया जाता है. यवसुरा या अन्य मृदु पेयों में इसकी छाल का चूर्ण मिलाने पर उनकी फेनोत्पादक क्षमता बढ़ जाती है. लेकिन इस काम के लिये इस छाल का इस्तेमाल हानिकर है क्योंकि यह हृदय और श्वसन का अवसादक और रुधिर की लाल कणिकाओं का नाशक है (Trease, 373; Hill, 209; *Econ. Bot.*, 1955, 9, 303; Hocking, 186; Wren, 283; Youngken, 420; Allport, 106; Claus, 1961, 152).

क्विलैश्रा के प्रक्षालक और चिकित्सा सम्बंधी गुण उसमें विद्यमान एक या अधिक विभिन्न रुधिरलयी-सैपोनिनों (9–10%) के कारण है. इनमें से सर्वाधिक महत्वपूर्ण क्विलैश्रा-सैपोनिन (ग.वि., 207°) है. जल-अपघटन करने पर क्विलैश्रा-सैपोनिन से ग्लूकुरोनिक अम्ल और क्विलेग्रक अम्ल ($C_{30}H_{46}O_5$; ग.वि., 294°) प्राप्त होते हैं. क्विलेग्रक अम्ल एक ट्राइटर्पेनायड सैपोजेनिन है (U.S.D., 1955, 1153; McIlroy, 67).

Rosaceae; *Q. saponaria* Molina

क्विसक्वैलिस लिनिअस (कम्ब्रेटैसी) QUISQUALIS Linn.

ले. – कुइसकुआलिस

यह काष्ठमय प्ररोहियों का एक लघु वंश है जो उष्णकटिबंधीय और दक्षिणी अफ्रीका तथा इण्डो-मलेशियाई क्षेत्र में पाया जाता है. भारत में इसकी दो जातियां पाई जाती हैं जिनमें से **क्वि. इंडिका** संभवतया बाहर से लाई गयी है क्योंकि भारत में यह कहीं भी जंगली रूप में उगती नहीं पाई जाती.

Combretaceae

क्वि. इंडिका लिनिअस सिन. क्वि. डेंसीफ्लोरा वालिश एक्स मिक्वेल Q. indica Linn. रंगून क्रीपर

ले. – कु. इंडिका

D.E.P., VI(1), 388; Fl. Br. Ind., II, 459; Fl. Malesiana, Ser. I, 4(5), 544, Fig. 8 & 9.

हिं. – रंगून की बेल; गु. – बारमासी वेल; ते. – एट्रागुट्टि-लटिब्बा, रंगोनीमल्ले, टिगेगन्नेरु; त. – इरानगुनमल्लि, इलेनगारा-मल्लिगाइ.

महाराष्ट्र – बारमासी, लाल चमेली, रंगूनाचावेल.

यह एक विशाल, काष्ठमय, आरोही झाड़ी है जो संभवतया उष्णकटिबंधीय अफ्रीका और उष्णकटिबंधीय हिन्द-मलेशिया, दोनों में देशज रूप में पाई जाती है और सम्पूर्ण भारत में 300 मी. की ऊँचाई तक बागों में उगाई जाती है. पत्ते आमने-सामने, कागज जैसे, दीर्घवृत्तीय या दीर्घायत लम्बाक्ष दीर्घवृत्तीय, तीक्ष्णाग्र, समग्र; फूल असंख्य, सफेद या लाल, सुगंधित, कक्षस्थ अथवा अग्रस्थ, लोल असीमाक्षों में लगे हुए; फल सूखा, चर्मिल, अंडाकार-दीर्घवृत्तीय, 2·5–4·0 सेंमी. × 0·75–1·25 सेंमी., 5-कोणीय या 5-पक्षीय तथा 1-बीज युक्त होता है.

क्वि. इंडिका सहिष्णु लतर है जो बागों में आमतौर पर अपने चटक, भड़कीले फूलों के लिए लगाई जाती है. इसकी कुछ किस्में प्रसिद्ध हैं जिनमें फूलों के रंग और पत्तों के आकार में विविधता पाई जाती है. यह पौधा जड़ के टुकड़ों, कलमों और दाब डालियों द्वारा सरलता से उगाया जा सकता है. यह अच्छी भूमि में अच्छी तरह बढ़ता है. तेजी से बढ़ने के कारण इसे दृढ़ जाल के आधार की आवश्यकता होती है. इसे मेहराबों और वृक्षों पर भी चढ़ाया जाता है. लम्बी नई टहनियों को काटकर इसे झाड़ी के रूप में सीमित भी रखा जा सकता है. यह पौधा वर्षपर्यन्त फूलों से लदा रहता है. फूल लटके गुच्छों में एक के बाद एक लगातार निकलते रहते हैं. शाम को वे सफेद फूलों के रूप में खिलते हैं जो सुबह तक हल्के गुलाबी हो जाते हैं किन्तु तीसरे पहर तक गहरे लाल रंग में बदल जाते हैं. वे मधुर गंध से युक्त होते हैं. उत्तर भारत में इस पौधे में फल विरले ही लगते हैं (Bor & Raizada, 179–80; Gopalaswamiengar, 362; Percy-Lancaster, *Bull. nat. bot. Gdns, Lucknow*, No. 74, 1962).

क्वि. इंडिका के फलों और बीजों में कृमिनाशक गुण पाये जाते हैं. इसके अधपके फलों को जब वे कड़वे होते हैं, पानी में मसल कर द्रव को पिलाया जाता है; इस काम के लिए पके फलों के बीजों का भी उपयोग किया जा सकता है. पके बीज मीठे होते हैं किन्तु उन्हें बहुत कम खाया जाता है. कहते हैं 4 या 5 से अधिक बीज खा लेने से कई बार उदर शूल हो जाता है. बीजों में बीजाणुकारी गुण होता है. अधिक मात्रा में खा लेने से मूर्छा उत्पन्न होती है. चीन में इसके बीजों को भून कर प्रवाहिका और ज्वर में दिया जाता है. इंडोचाइना में इसे बच्चों को रिकेट होने पर भी दिया जाता है. तेल के साथ पीस कर बीजों का लेप तैयार किया जाता है जिसे परजीवी त्वचा रोगों में लगाया जाता है. बीजों से निकाले गए तेल में विरेचक गुण पाये जाते हैं (Burkill, II, 1860–61; Monachino, *Econ. Bot.*, 1956, **10**, 42; Kirt. & Basu, II, 1037; Quisumbing, 656).

बीजों के कृमिनाशक गुणों का कारण इनमें प्राप्य सैण्टोनिन से मिलते-जुलते एक सक्रिय तत्व की उपस्थिति मानी जाती है. बीजों (भार, 1·0–1·5 ग्रा.) की निकटतम संरचना इस प्रकार है: आर्द्रता, 6·5; नाइट्रोजनी पदार्थ, 10·7; वसा, 23·9; नाइट्रोजन रहित निष्कर्ष, 48·6; सेलुलोस, 3·9; और राख, 6·5%. इनमें मैलिक, सिट्रिक और सक्सिनिक अम्ल, कई अज्ञात ऐल्कलायड और पोटैसियम सल्फेट (3·9%) की भी उपस्थिति बताई जाती है. इनसे साफ, पीला और वसायुक्त तेल (23–27%) निकलता है जिसके लक्षण हैं: आ.घ.$^{30°}$, 0·907; $n^{30°}$, 1·4585; साबु. मान, 187–202; आयो. मान, 59–67; ऐसीटिल मान, 3–21; आर. एम. मान, 1·4; और असाबु. पदार्थ, 1·0–1·5%. तेल की वसा-अम्ल संरचना इस प्रकार है: मिरिस्टिक, 4·5; पामिटिक, 29·2; स्टीऐरिक, 9·1; ओलीक, 48·2; और लिनोलीक अम्ल, 9%. फलों में ट्राइगोनेलीन होता है. गहरे लाल फूलों में सायनिडिन मोनोग्लाइकोसाइड रहता है (Claus, 1961, 188; Mensier, 482; Adriaens, 252–54; *Chem. Abstr.*, 1951, **45**, 3564, 5687; 1941, **35**, 4913; Wehmer, II, 822; Eckey, 705; Sharma & Seshadri, *J. sci. industr. Res.*, 1955, **14B**, 211).

जड़ों और पत्तों से निकाले गए निष्कर्ष भी कृमिनाशक होते हैं. मलायावासी इसके पत्तों के रस को फोड़ों और व्रणों में लोशन की तरह इस्तेमाल करते हैं. आध्मान से आराम पाने के



चित्र 110 – क्विसक्वैलिस इंडिका – पुष्पित शाखा

लिए इसके पत्तो का सयुक्त काढा बनाकर पिया जाता है (Burkill, II, 1860. Kirt. & Basu, II, 1037).

इण्डोनेशिया मे इसकी ताजी प्ररोहो को कच्चा या भाप मे मुलायम बनाकर खाया जाता है. टोगोलैंड मे इसके लम्बे लचीले तने टोकरी बनाने, मछलियो के लिए जलरोध और जाल बनाने के काम आते है (Burkill, II, 1861, Irvine, 1961, 127–28).

Q. densiflora Wall. ex Miq.

क्वींसलैंड अरारोट – देखिए कैना

क्वींसलैंड नट – देखिए मैकाडेमिया

क्वींसलैंड हैम्प – देखिए साइडा

क्वेल – देखिए पक्षी

क्वेल घास – देखिए सिलोशिया

क्षारीय मिट्टियाँ और झीलें

ALKALINE SOILS AND LAKES

क्रूड नेचुरल सोडा — हि – रेह, सज्जीमट्टी, फूली; ते – सोउडू; क – चौऊलू, सिंधी – छनिहो, कल्लर, दल्ला

क्रूड नेचुरल सोडियम सल्फेट — हि – खारी; जोधपुर – रोहर.

भारत मे अत्यन्त प्राचीन काल से रेह मिट्टिया (जिनमे क्षारीय उत्फुल्लन होता है) और खारी झीलो से क्षारीय लवण निकाले जाते रहे है, परन्तु इनका सुयोजित सर्वेक्षण अभी कुछ वर्ष पूर्व ही किया गया है सिंध और निकटवर्ती क्षेत्रो की खारी झीलो और उत्तर प्रदेश (पहले संयुक्त प्रान्त) के रेह उत्फुल्लनो का विवरण प्रकाशित हुआ है (Cotter, *Mem. geol. Surv. India*, 1923, 47, 202, Auden *et al*, *Rec. geol. Surv. India*, 1942, 77).

क्षारीय मिट्टियाँ

रेह वस्तुत. सोडियम कार्बोनेट, सोडियम सल्फेट और सोडियम क्लोराइड का मिश्रण होती है. ये लवण जलोढ मिट्टी मे उपस्थित प्लैजिओक्लेस फेलस्पार जैसे खनिजो के कणो के विघटन से उत्पन्न हुए है. ये भूमिगत जल मे विभिन्न मात्राओ मे पाए जाते है. पर ऐसा कुछ ही क्षेत्रो मे होता है कि जल के समुचित निकास मे पडने वाली बाधा और पानी के अत्यधिक उडने के कारण वे केशिका क्रिया द्वारा ऊपर आ जाते है और सतह पर सान्द्रित हो जाते है. रेह पंजाब, राजस्थान, बिहार और उत्तर प्रदेश के कुछ भागो मे बहुतायत से पाई जाती है. इसी प्रकार के निक्षेप महाराष्ट्र, गुजरात, मैसूर और बरार मे भी मिलते है. रेह की पपडी जमने के बाद भूमि खेती के लिए बिल्कुल बेकार हो जाती है.

क्षारीय मिट्टियाँ उन क्षेत्रो मे पाई जाती है जहाँ की परिस्थितियाँ रेगिस्तानी होती है. अधिक वर्षा वाले क्षेत्रो मे भी यदि कभी बहुत दिनो तक सूखा पड़ जाता है तो रेह लवणों के निर्माण मे सहायक जलवायु-परिस्थितियाँ उत्पन्न हो सकती है. ऑडेन और सहयोगियो का विचार है कि उत्तर प्रदेश और बिहार मे रेह बनने का मुख्य कारण भूमिगत जलस्तर का ऊँचा होना है ऐसी स्थिति मे भूमिगत जल की केशिका-सतह धरातलीय वाष्पन के प्रभाव मे पहुँच जाती है.

रेह के कुछ निक्षेपो मे मुख्यतः सोडियम कार्बोनेट और सोडियम सल्फेट तथा सोडियम क्लोराइड की रच मात्रा होती है, जबकि कुछ मे सोडियम क्लोराइड की मात्रा कहीं अधिक पाई जाती है. ये दूसरे प्रकार के उत्फुल्लन पंजाब, राजस्थान और महाराष्ट्र के शुष्कतर क्षेत्रों मे पाए जाते है.

वितरण

आन्ध्र प्रदेश – यहाँ की क्षारीय मिट्टी मे मुख्यतः सोडियम सल्फेट और सोडियम कार्बोनेट की अल्प मात्रा होती है, यह मिट्टी इस क्षेत्र मे खार नीमक कहलाती है. यह हल्की सफेद चूर्णित पपडी के रूप मे सत्यवरम् के निकट मखतल तालुक के कुछ हिस्सो मे, खानापुर, काडमूर, राईकोड, मण्टनगोड और सोडमपल्ली, तथा यादगीर तालुक के कुछ हिस्सो मे पाई जाती है. मनिकोंडा और गाज्यूलपेट मे कांच बनाने के लिए जो सोडा ऐश इस्तेमाल किया जाता था वह खार नीमक से निकाला जाता था (*J. Hyderabad geol. Surv.*, 1941, 4, 1, 78).

उत्तर प्रदेश – 1922 के अनुमान के अनुसार इस प्रात मे लगभग 4,845 वर्ग किमी. क्षेत्र मे रेह था, जिनमे से केवल 260 वर्ग किमी से रेह निकाली जा सकती है, जिनमे प्रति वर्ष 5,40,900 टन सोडियम कार्बोनेट; 5,56,300 टन सोडियम बाइकार्बोनेट, और 3,07,300 टन सोडियम सल्फेट की उपलब्धि अनुमानी गई है (Watson & Mukherjee, *J. Indian Industr.*, 1922, 2, 13, Auden *et al*, loc cit.).

आजकल उत्तर प्रदेश मे हजारो वर्ग किलोमीटर भूमि मे क्षारीय मिट्टियाँ पाई जाती है. मेरठ जिले मे हिण्डन नदी के पूर्वी किनारे पर पचलीखुर्द (28°58′ 77°36′) के निकट और पुथाम (29°2′· 77°35′) के आसपास, तथा हर्रा (29°7′· 77°29′) और नन्दपुरा (28°59′ 77°29′) के बीच रेह पाई जाती है. रेह का एक महत्वपूर्ण इलाका गाजियाबाद तहसील के लोनी परगने मे यमुना के पूर्वी तट पर, पाली सादिकपुर (29°47′· 77°17′) और देहरोती (28°43′. 77°6′) के बीच स्थित है. लगभग 16 लाख वर्ग मी. के इस क्षेत्र से रेह का वार्षिक उत्पादन 7,670 टन के लगभग अनुमाना गया है (Auden *et al.*, loc cit.).

मुरादाबाद जिले की हसनपुर तहसील मे गगा के किनारे अनेक क्षेत्रो मे रेह का उत्फुल्लन पाया जाता है इनमे से एक गढमुक्तेश्वर के सामने, गगा के उस पार नदी किनारे, 11·2 किमी तक फैला हुआ है. एक दूसरा क्षेत्र ककाठेर स्टेशन और टिगरी के बीच, और तीसरा ककाठेर और मटेना के बीच स्थित है यहाँ ढीली मिट्टी के खण्डो के रूप मे अक्सर 5·0–7·5 सेमी. मोटी पपड़ी पाई जाती है. इन खण्डो से मिलने वाली रेह की मात्रा अलग-अलग 2·5 से 15 किग्रा. प्रति वर्ग मी. तक होती है. इस क्षेत्र मे सबसे मोटी पपडी रखेरा

(28°45′: 78°12′) और दियावली (28°44′: 78°12′) के बीच मिलती है, जिससे प्रति वर्ग मीटर लगभग 25 किग्रा. रेह मिलती है. इस इलाके की रेह अधिकतर मुरादाबाद, बिजनौर और रामपुर भेजी जाती है.

मेरठ और मुरादाबाद जिलों की रेहों में क्रमशः सोडियम कार्बोनेट, 3·81 और 9·66; सोडियम बाइकार्बोनेट, 4·12 और 8·55; सोडियम क्लोराइड, 3·25 और 1·92; और सोडियम सल्फेट, 1·70 और 8·66% होते हैं.

रेह के काफी बड़े निक्षेप मुजफ्फरनगर जिले में लाहस्कर स्टेशन से दक्षिण और दक्षिण-दक्षिण पश्चिम में स्थित हैं. लगभग 2,000 टन सज्जी मिट्टी, जो अधिक कार्बोनेट अनुपात वाली रेह होती है, प्रति वर्ष बनारस, आजमगढ़, जौनपुर, तथा गाजीपुर से कलकत्ता भेजी जाती थी (*Rec. geol. Surv. India*, 1930, 64, 432).

बिहार – बिहार में चम्पारन, मुजफ्फरपुर और सारन जिलों में सोडियम सल्फेट पाया जाता है. गया और मुंगेर जिलों में भी इसके छोटे-छोटे निक्षेप मिलते हैं. चम्पारन जिले की बेतिया और सदर तहसीलों में रेह कहीं-कहीं पायी जाती है. (अनुमानित उपलब्धि, लगभग 370 टन प्रति वर्ष). पिपरा और केसरिया थानों के लगभग सभी गाँवों में खारी अथवा अशोधित सल्फेट मिलता है. इस लवण (SO_4, 38·95; HCO_3, 0·38%) का वार्षिक उत्पादन लगभग 700 टन आँका गया है. पिछले दिनों सारन जिले की गोपालगंज, सेवान और छपरा तहसीलों में रेह मिट्टियों के पाये जाने का उल्लेख किया गया है. यहाँ से लगभग 1,250 टन रेह प्रति वर्ष निकाली जाती है. इस जिले में खारी मिट्टी (SO_4, 13·21%) का सबसे अधिक उल्लेखनीय स्रोत गोपालगंज तहसील में है. यहाँ से प्रति वर्ष लगभग 3,700 टन अशोधित लवण (SO_4, 45·3%) निकाला जा सकता है. 1908 और 1923 के बीच, बिहार में खारी का औसत वार्षिक उत्पादन 14,850 टन था; इसका मूल्य लगभग 3·5 लाख रु. था.

महाराष्ट्र तथा गुजरात – परनतीज नगर (23°26′: 72°54′) से 1·5 किमी. उत्तर की ओर रेह की उपस्थिति का उल्लेख किया गया है. इसके विभिन्न नमूनों के विश्लेषणों से सोडियम लवणों की मात्रा में काफी विविधता पाई गई (NaCl, 2·84–15·81; Na_2SO_4, 2·29–3·87; Na_2CO_3, 8·96–59·59%). ये निक्षेप आसपास के क्षेत्र में साबुन बनाने के काम में लाए जाते हैं (Ghosh, *Rec. geol. Surv. India*, 1942, *77*, 242).

काठियावाड़ के सूखे इलाकों और तटीय भागों का काफी बड़ा क्षेत्र रेह की पपड़ियों से ढका हुआ है. पता चला है कि काठियावाड़ के दक्षिणी समुद्री तट पर, कोडिहार (20°47′: 70°44′) और भेराई (20°58′: 70°8′) के बीच कई स्थानों पर रेह उपस्थित है.

मैसूर – इस राज्य में मैसूर, मण्ड्या, तुमकूर और चीतलदुर्ग जिलों में रेह मिट्टी पाई जाती है. विशेष बात यह है कि ये उत्फुल्लन ग्रेनाइटों और नाइसों से निर्मित मिट्टी में मिलते हैं. साधारणतया जनवरी से अप्रैल तक रेह 3–4 बार निकाली जाती है. इस क्षेत्र के धोबी इसे कपड़े धोने के लिए इस्तेमाल करते हैं. खोजबीन से पता चला है कि मैसूर जिले में चामराजनगर के निकट डोडमोल स्थित रेह क्षेत्र से प्रति वर्ष 35–40 टन सोडा प्राप्त किया जा सकता है (*Rec. geol. Dep. Mysore*, 1943, **42**, 35).

मिट्टियों को पानी में हिलाकर रेह निकाली जाती है और यह घटिया काँच तथा साबुन बनाने में काम आती है. यह छोटी बड़ी खालों के तैयार करने और चमड़े की कमाई में भी इस्तेमाल होती है. इससे धोबी कपड़े धोते हैं और बर्तन भी साफ किए जाते हैं.

क्षारीय झीलें

भारत की मुख्य खारी झीलें राजस्थान में हैं. बरार की लोनार झील, अहमदाबाद जिले में खाराघोडा के कड़वे और नमकीन पानी के कुयें, तथा ध्रंगध्रा में कूड़ा स्थित नमक का कारखाना क्षारीय लवणों के कुछ अन्य स्रोत हैं. आजकल केवल खाराघोडा के कुछ कड़वे पानी का उपयोग किया जा रहा है.

ऐसा विश्वास है कि झीलों में पाए जाने वाले क्षारीय कार्बोनेट, लवण और जिप्सम, तथा कैल्सियम बाइकार्बोनेट के मध्य रासायनिक अभिक्रियाओं के फलस्वरूप उत्पन्न हुए हैं. पहले दो से कैल्सियम क्लोराइड और सोडियम सल्फेट बनते हैं, और सोडियम सल्फेट तथा कैल्सियम बाइकार्बोनेट से सोडियम कार्बोनेट बनता है. दूसरा मत यह है कि सोडियम सल्फेट, शैवाल के समान कार्बनिक पदार्थों द्वारा अपचित होता है और जीवाणुओं की क्रिया से प्राप्त कार्बन डाइऑक्साइड की अभिक्रिया द्वारा क्षारीय कार्बोनेट में परिणत हो जाता है.

वितरण

महाराष्ट्र – लोनार झील (19°58′: 76°34′) डेकन ट्रैप में एक विशाल वृत्ताकार ताल है जो बुल्डाना जिले में स्थित है. समझा जाता है कि यह झील या तो बुझे ज्वालामुखी का मुख है, अथवा चट्टानों के धसकने से बना हुआ विशाल प्राकृतिक गड्ढा है; इसके क्षारीय लवण आग्नेय चट्टानों के अपघटन से निर्मित हुए हैं, पर ट्रैप में उपस्थित क्लोरीन का न्यून अनुपात इस विचार का समर्थन नहीं करता (La Touche, *Rec. geol. Surv. India*, 1912, **41**, 266; Christie, ibid., 276).

1910 में इस झील में, लगभग 2,000 टन सोडियम कार्बोनेट की उपस्थिति का अनुमान लगाया गया था और ऊपरी 1·5 मी. कीचड़ में लगभग 4,500 टन सोडियम कार्बोनेट रहा होगा. इसके पानी से अशोधित सोडे की अल्प मात्राएँ (1931 में लगभग 40 टन) प्रभाजी क्रिस्टलन द्वारा तैयार की गई हैं. इस सोडे को डल्ला कहते हैं और इसकी संरचना उराव ($Na_2CO_3.NaHCO_3.2H_2O$) के अनुरूप पाई गई.

राजस्थान – जयपुर और जोधपुर क्षेत्रों में स्थित साँभर झील (26°55′: 75°11′) से सोडियम कार्बोनेट और सोडियम सल्फेट बड़ी मात्राओं में प्राप्त हो सकते हैं. लवण निकालने के बाद जो कड़वा मातृद्रव बचता है, उसमें सोडियम लवण अपेक्षाकृत कुछ उच्च सांद्रता में उपस्थित रहते हैं (सोडियम क्लोराइड, 19·8; सोडियम सल्फेट, 6·9; सोडियम कार्बोनेट, 3·8%). इसे सुरक्षित क्षेत्रों में बहा दिया जाता है. ऐसा सबसे बड़ा क्षेत्र 'पूर्वी लेक बिटर्न' क्षेत्र है जो लगभग 7·8 वर्ग

किमी. में फैला हुआ है. यहाँ लवण निक्षेप की मोटाई 30 सेंमी. है. इसमें से 8 संस्तर 1–8 देखे जा सकते हैं. सब से ऊपर वाला (1) और सबसे नीचे वाले स्तर (8) अत्यन्त पतले होते हैं और उनमें शुद्ध सोडियम क्लोराइड होता है. (2–7) स्तरों की प्रतिशत संरचना सारणी 1 में दी जा रही है.

अनुमान है कि इस क्षेत्र में सोडियम सल्फेट की मात्रा लगभग 17 लाख टन है और झील की तली में 3·6 मी. की गहराई तक 58 लाख टन सोडियम सल्फेट और 23 लाख टन सोडियम कार्बोनेट होंगे.

साँभर झील से सामान्य लवण का वार्षिक उत्पादन लगभग 2,00,000 टन है और इसके खारी पानी से लगभग 20,000 टन सोडियम सल्फेट प्राप्त किया जा सकता है.

जोधपुर क्षेत्र में स्थित डिडवाना झील (27°23′: 74°35′) के लवणों में भी सोडियम सल्फेट पाया जाता है. इस झील का क्षेत्रफल लगभग 10·5 वर्ग किमी. है. इसके खारी पानी में से पानी के पूर्णतया उड़ जाने के बाद जो क्रिस्टलित लवण मिलते हैं, उनमें सोडियम सल्फेट का अनुपात अधिक रहता है

सारणी 1 – साँभर के लवणीय निक्षेप के विभिन्न स्तरों का संघटन

स्तर	2	3	4	5	6	7	2-6 स्तरों में लवणों का औसत भार (%)
औसत मोटाई, सेंमी.	5·6	6·8	1·3	6·3	1·3	8·7	..
सोडियम क्लोराइड, %	18·8	11·8	100	35·1	61·4	100	28·6
सोडियम कार्बोनेट, %	10·6	32·0	..	4·5	..	..	14·5
सोडियम सल्फेट, %	64·2	21·6	..	49·6	33·6	..	40·5
सोडियम बाइ-कार्बोनेट, %	4·3	22·0	..	2·8	..	..	9·1

(सोडियम क्लोराइड, 2·45; सोडियम सल्फेट, 87·5%). अनुमान है कि प्रति 100 टन सामान्य लवण के साथ यहाँ से 25 टन सोडियम सल्फेट (85–90%) अर्थात् प्रति वर्ष लगभग 9 हजार टन सोडियम सल्फेट निकाला जा सकता है (Dunnicliff, *Curr. Sci.*, 1943, 12, 7; Auden *et al.*, loc. cit.).

यह सोडियम सल्फेट (85–90%) मारवाड़ बालिया स्टेशन पर 95 रु. प्रति टन के भाव से पहुँचाया गया था.

पचभद्र नमक घाटी – पचभद्र की नमक घाटी (25°50′: 72°10′) जोधपुर क्षेत्र में स्थित है. इसके भूमिगत जल में प्रचुर मात्रा में सोडियम सल्फेट के भंडार पाये जाते हैं. इस क्षेत्र के अशोधित लवण में सोडियम क्लोराइड, 25; और सोडियम सल्फेट, 67% बताया जाता है.

रेगिस्तान में वर्षा के पानी का काफी भाग रेतीली सतह में से रिसता हुआ अंत में चिकनी मिट्टी की उस जल-अभेद्य तह पर ठहरता है जो रेगिस्तान की तली है. इन झीलों में इस तली की तहें खुली हुई हैं. रिसता हुआ पानी झीलों के किनारे में स्रोत की भाँति निकलता है और उनमें भर जाता है. रिसता पानी अपनी यात्रा में रेत मिट्टी में से लवणों को घोलता है और झीलों में ले आता है.

सूखे मौसम में यह पानी काफी तेजी से उड़ता है जिससे लवण सान्द्रित हो जाते हैं और लोनी के रूप में झील के चारों ओर निकल आते हैं. इन झीलों की उत्पादकता वर्षा की मात्रा और पानी के रिसने पर निर्भर होती है और जल प्रवाह में परिवर्तन के अनुसार घटती-बढ़ती रहती है. सिंध में स्थित रेगिस्तानी झीलों के खारे पानी का वि.घ., 1·081–1·265, और एक लीटर में कुल ठोस, 103·7–202·0; सोडियम कार्बोनेट, 13·3–124·0; सोडियम सल्फेट, 4·0–55·3; और सोडियम क्लोराइड, 22·6–148·7 ग्रा. पाया गया है. विभिन्न स्थानों से मिलने वाली लोनी में सोडियम कार्बोनेट, 18·0–30·2; और सोडियम बाइकार्बोनेट, 12·8–18·5; सोडियम क्लोराइड, 2·9–35·4; और सोडियम सल्फेट, 3·7–21·0% होता है.

क्षारीय झील तथा मिट्टियों से सोडियम सल्फेट और सोडियम कार्बोनेट प्राप्त किये जा सकते हैं. साँभर और डिडवाना झीलों के खारी पानी सोडियम सल्फेट के अच्छे स्रोत हैं. प्राकृतिक साधनों से शुद्ध कार्बोनेट की प्राप्ति भारत में आर्थिक दृष्टि से अभी संतोषजनक नहीं कही जा सकती.

अनुक्रमणिका

ख

ग